ॐ

कल्याण

ईश्वराङ्क

(परिशिष्टाङ्कसहित)

ओं नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने ।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे ॥



तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

सम्पादक

हनुमानप्रसाद पोद्दार

स० सम्पादक

गौरीशङ्कर द्विवेदी साहित्यरत्न

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण—१८२५०]

Approved by the Directors of Public Instructions United Provinces, Bihar and Orissa, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।

कल्याण बाहरका विज्ञापन नहीं छापता।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≋)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् जगमय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्क स०३)
विदेशमें ४)
साधारण प्रति।)
विदेशमें।≋)

Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur



श्रीहरिः

प्रेमी ग्राहकों और पाठक-पाठिकाओंसे निवेदन

(१) जिन सज्जनोंने अभीतक आगामी वर्षका मूल्य नहीं भेजा है, उनकी सेवामें लगभग दो तीन सप्ताह बाद ईश्वरांक परिशिष्टांकसमेत वी० पी० से भेजनेका विचार है। परन्तु कामकी अधिकतासे वी० पी० जानेमें और भी देर हो सकती है। इसके सिवा, जिस प्रकारसे इस समय मनीआर्डरसे नये पुराने ग्राहकोंके रुपये आ रहे हैं वैसे ही आते रहे तो सम्भव है वी०पी भेजनेके लिये बहुत ही कम अंक बच रहें। अतएव इस सूचनाको पढ़ते ही ४≈) भेजनेकी कृपा करें।

(२) जिन सज्जनोंके नाम वी०पी० जायगी, उनमेंसे सम्भव है इधरसे वी० पी० जानेके समय ही कोई सज्जन रुपये मनीआर्डरसे भेज दें, ऐसी हालतमें उन सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वी०पी लौटावें नहीं। भरसक वहींपर दूसरा नया ग्राहक बनाकर वी० पी० छुड़ानेकी कृपा करें और उनका नाम हमें लिख भेजें।

(३) आनन्दकी बात है कि हजारों प्रेमी ग्राहकोंने मनीआर्डरसे रुपये पहले भेज दिये हैं, उन लोगोंको अंक भेजे जा रहे हैं, परन्तु पोस्ट-आफिस ५०० से १००० रजिस्टर्ड पैकेटसे अधिक किसी प्रकार लेता नहीं, अतः एक साथ भेजनेमें बड़ी लाचारी है। इस कारण जिन महानुभावोंका अंक देरसे मिले तो वे हमारी परिस्थिति समझकर कृपया क्षमा करें। वी०पी० मँगानेवालोंसे रुपये मनीआर्डरसे भेजनेवालोंको अंक पहिले ही मिलेंगे। अतएव अब भी ग्राहक महोदय वी० पी० की प्रतीक्षा न कर ४≈) मनीआर्डरसे तुरन्त भेज दें। ——संचालक-कल्याण, गोरखपुर यू. पी.

(४) चित्रोंकी छपाईमें विलम्ब होने तथा दो मशीनोंके पुर्ज़े टूट जानेके कारण ईश्वरांकके प्रकाशनमें देर हुई है, इसके लिये ग्राहक-अनुग्राहकगण कृपापूर्वक क्षमा करें।

(५) इस बार भी पृष्ठसंख्या बहुत बढ़ गयी, परिशिष्टांकसहित कुल ६२६ पृष्ठ हैं। चित्रोंमें अबकी बार २५ चित्र बहुरंगे हैं, इसपर भी मूल्य दोनोंका मिलाकर ३) ही है। धर्मार्थ बाँटने, इनाम देने, उपहार देने, संग्रहमें रखनेके लिये बड़ी ही सुन्दर निर्दोष शिक्षाप्रद वस्तु है। इसकी १८२५० प्रतियाँ छपी हैं इससे बहुत ही जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है।

इतना होनेपर भी चार रुपये तीन आने भेजकर ग्राहक बननेवालोंको ये दोनों बहुमूल्य अंक सातवें वर्षकी पहली और दूसरी संख्याके तौरपर यों-ही मिल जायँगे। ग्राहक बनने-बनानेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ईश्वरांकके प्रकाशनमें बहुत अधिक खर्च करना पड़ा है। इस स्थितिमें प्रत्येक प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे यह सानुरोध प्रार्थना है कि वे कृपापूर्वक कुछ परिश्रम करके कम-से-कम दो-दो ग्राहक नये बना देवें। कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकागण कृपापूर्वक थोड़ा-सा प्रयत्न करेगें तो ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है।

किसी भी मान-सम्मान, नाम-प्रकाशन या आर्थिक लाभकी कुछ भी आशा न रखकर जो सज्जन निःस्वार्थभावसे कल्याणके ग्राहक बना रहे हैं, उनके हम लोग बड़े ही आभारी हैं; भगवान्के कार्यमें सहायता करनेवाले सज्जन श्रीभगवान्के बड़े कृपापात्र होते हैं।

(७) यह स्मरण रहे कि कल्याणमें विज्ञापन आदिकी कोई आमदनी नहीं है। यह सिर्फ ग्राहक-संख्यापर ही निर्भर करता है। कल्याणके निकलनेके समयसे लेकर अबतकके हिसाबमें पूरी कीमत रखनेपर ८१००) लगभग पुराने स्टाकपर लग रहे हैं। यह स्टाक यदि पूरी कीमतमें बिक जायगा तो हिसाब बराबर है, घाटा नफा कुछ नहीं। जितना नहीं बिकेगा उतना ही घाटा है। ऐसी अवस्थामें प्रेमियोंको ग्राहक बनानेकी तथा पुराने फाइल बिकवानेकी विशेष कोशिश करनी चाहिये।

गीता और रामायणके सम्बन्धमें पाठकोंसे निवेदन

कल्याणके पाठकोंको विदित है कि कुछ समयसे गीतापुस्तकालयकी ओरसे गीता-सम्बन्धी साहित्यकी खोज और उसका संग्रह हो रहा है और उसी खोजके फलस्वरूप दुनियाकी भिन्न भिन्न भाषाओंमें प्रकाशित गीता-साहित्य और गीता-सम्बन्धी चित्रोंका संग्रह हुआ है और हो रहा है। गीताकी भाँति श्रीरामायण-सम्बन्धी साहित्यकी खोजकर उसका संग्रह करनेका भी विचार हो रहा है। इस कार्यमें सभी भाइयोंकी सहायता आवश्यक है, अतएव समस्त सज्जनोंसे यह सविनय निवेदन है कि श्रीगीता और रामायण-सम्बन्धी दुनियाकी किसी भी भाषाके साहित्य और चित्रोंकी जिनको जानकारी हो, वे कृपापूर्वक पुस्तकका नाम, हस्तलिखित या छपी हुई, टीका, अनुवाद, लेख, प्रबन्ध, चित्र आदि सबका पूरा विवरण मन्त्री गोविन्द-भवन-कार्यालय १० बाँसतल्ला गली, कलकत्ताको लिखनेकी कृपा करें। यदि इस निवेदनपर ध्यान देकर सज्जनगण हमारी सहायता करेंगे तो गीता-सम्बन्धी संग्रह बढ़नेपर और निश्चित होनेके बाद रामायण-सम्बन्धी संग्रह होनेपर बहुत सुभीता हो जायगा।

सम्पादक—'कल्याण'

श्रीगीता-परीक्षा

श्रीगीता-परीक्षा आगामी कार्तिक वदी ५ सं० १९८९ ता० १९-१०-३२ से आरम्भ होगी। केन्द्रोंमें अभीसे तैयारी होनी चाहिये। भाद्रपदके अन्ततक परीक्षार्थियोंके आवेदनपत्र कार्यालयमें आ जाने चाहिये।

इस बार भी विशेष उत्साहसे इस कार्यमें भाग लेनेके लिये देशवासियोंसे प्रार्थना की जाती है।

संयोजक, श्रीगीता-परीक्षा-समिति गीता-प्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेस गोरखपुरमें मिलनेवाली अच्युतग्रन्थमाला काशीकी पुस्तकें—

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ऽ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥ऽ) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।ऽ) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।ऽ) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखापढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने दो महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम, पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी कभी तो डेढ़ दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये।

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

संगृहीत लेख और कविताएँ

चित्र-सूची



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ } गोरखपुर, श्रावण १९८९ अगस्त १९३२ { संख्या १ / पूर्ण संख्या ७३

ॐ विश्वानि देव सवितर्
दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आसुव

वैदिक प्रार्थना

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (ऋग्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (शुक्ल यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ सह नाववतु॥ सह नौ भुनक्तु॥ सह वीर्यं करवावहै॥ तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (कृष्ण यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (सामवेदीय शान्तिपाठ)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (अथर्ववेदीय शान्तिपाठ)

ॐ मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो॥ मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान् नो वनस्पतिः मधुमानऽस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ (ऋग्वेद १।६।१८)

ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ (श्वे० २।१७)

महिमा और स्तुति

ॐसहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥
(पु० सू० १)

पुरुष एवेद ् सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
(पु० सू० २)

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(पु० सू० ३)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेता० ६।११)

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेता० ६।१२)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वेता० ६।१३)

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
(काठ० २।५।९)

यच्च किंचित् जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणःस्थितः॥
(नारायणोपनिषद्)

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥
(श्वेता० ३।११)

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च॥
(सूर्योपनिषद्)

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
प्रपद्ये शरणं देवीं दुं दुर्गे दुरितं हर॥
(देव्युपनिषद्)

आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्।
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥
(गणपत्युपनिषद्)

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्॥
(राम० र० उ०)

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे।
अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः॥
(गो० पू० ता०)

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२४।२६)

त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः।
सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः॥
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च।
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च॥
(वा० रामायण युद्ध० ११७।२०।२२)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ११)

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरदहित, हठि-हठि अधम उधारे।
खग,मृग,व्याध,पषान,बिटप जड,जवन कवन सुर तारे॥
देव,दनुज,मुनि,नाग,मनुज, सब मायाबिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो हि नीर भरो।
जब दोनों मिल एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजामें राखत इक घर बधिक परो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रमजाल कहावै सूरदास सिगरो।
अबकी बार मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥

हिन्दुओंकी प्रार्थना

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥१॥

जो सबसे पूर्व ब्रह्माको रचते हैं तथा उनके लिये वेदोंको प्रकाशित करते हैं, मैं मुमुक्षु होकर आत्मबुद्धिसे प्रकाशमान उन परम देवताके शरणापन्न होता हूँ॥१॥

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥२॥

हे जगत्के कारण सत्स्वरूप परमात्मा, तुझे नमस्कार हो। हे सर्व लोकोंके आश्रय, चित्स्वरूप, तुझे नमस्कार हो। हे मुक्ति प्रदान करनेवाले अद्वैततत्त्व, तुझे नमस्कार हो। शाश्वत और सर्वव्यापी ब्रह्म, तुझे नमस्कार हो॥२॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम्॥३॥

तुम्हीं एक शरणमें जाने योग्य अर्थात् आश्रयस्थान हो, तुम्हीं एक पूजा करने योग्य हो। तुम्हीं एक जगत्के पालक और अपने प्रकाशसे प्रकाशित हो। तुम्हीं एक जगत्के कर्ता, पालक और संहारक हो। तुम्हीं एक निश्चल और निर्विकल्प हो॥३॥

भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम्॥४॥

तुम भयोंको भय देनेवाले हो, भयंकरमें भयंकर हो, प्राणियोंकी गति हो और पावनोंको पावन करनेवाले हो। अत्यन्त उच्च पदोंके तुम्हीं नियन्त्रण करनेवाले हो, तुम परसे पर हो, रक्षण करनेवालोंका भी रक्षण करनेवाले हो॥४॥

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो
वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥५॥

हम तुम्हारा स्मरण करते हैं, हम तुमको भजते हैं, हम तुम्हें जगत्‌के साक्षीरूपमें नमस्कार करते हैं। एकमात्र सत्स्वरूप निरालम्ब तथा इस भवसागरकी तरणिरूप ईश्वरके हम शरणमें जाते हैं ॥५॥

बौद्धोंकी प्रार्थना

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।
बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।
दुतियम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि।
दुतियम्पि धम्मं सरणं गच्छामि।
दुतियम्पि संघं सरणं गच्छामि।
ततीयम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि।
ततीयम्पि धम्मं सरणं गच्छामि।
ततीयम्पि संघं सरणं गच्छामि।
पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।
अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।
कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी
सिक्खापदम् समादियामि।
मुसावादा वेरमणी सिक्खापदम् सिमादियामि।
सुरा-मेरय-मज्ज-पमा-दट्ठाना
वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।

'पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो। पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो। पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो। मैं बुद्धके शरणमें जाता हूँ, धर्मके शरणापन्न होता हूँ, संघके शरणमें जाता हूँ। द्वितीय बार मैं बुद्धके शरणापन्न होता हूँ, धर्मके शरणमें जाता हूँ, संघके शरणमें जाता हूँ। तीसरी बार मैं बुद्धके शरणापन्न होता हूँ, धर्मके शरणमें जाता हूँ, संघके शरणमें जाता हूँ।' 'मैं जीवकी हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं उस वस्तुके न लेनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ, जो मुझे न दी गयी हो। कामनाओंमें मिथ्याचरण न करनेकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। असत्य वचनसे बचनेकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं सुरा-मद्यादि मादक वस्तुओंसे बचनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।'

जैनियोंकी प्रार्थना

अरिहंत नमो भगवन्त नमो
परमेश्वर जिनराज नमो।
प्रथम जिनेश्वर प्रेमे पेखत
सिद्धं सघला काज नमो॥

प्रभु पारंगत परम महोदय
अविनाशी अकलंक नमो।
अजर-अमर अद्भुत अतिशय निधि
प्रवचन जलधि मयंक नमो॥

सिद्ध बुद्ध तूँ जगजन सज्जन
नयनानन्दन देव नमो।
सकल सुरासुर नरवर नायक
सारे अहो निश सेव नमो॥

तूँ तीर्थंकर सुखकर साहिब
तूँ निःकारण बन्धु नमो।
शरणागत भविने हितवत्सल
तुँ ही कृपारस सिन्धु नमो॥

केवल ज्ञानादर्श दर्शित
लोकालोक स्वभाव नमो।
नाशित सकल कलंक कलुषगण
दुरित उपद्रव भाव नमो॥
जगचिन्तामणि जगगुरु जगहित
कारक जगजन नाथ नमो।
घोर अपार भवोदधि तारण
तूं शिवपुरणो साथ नमो॥
अशरण शरण निराग निरंजन
निरुपाधिक जगदीश नमो।
बोध दीनुं अनुपम दानेसर
ज्ञानविमल सूरीश नमो॥

सिक्खोंकी प्रार्थना

एक ओं सतनाम कर्त्तापुरुष निर्भउ निर्वैर
अकाल मूरत अजूनी सैभं गुरुप्रसाद जप।
आदि सच जुगादि सच है भी सच
नानक होसी भी सच॥ वाह गुरु॥

पारसियोंकी प्रार्थना

यानीम मनो यानीम वचो यानीम पयओथनेम अषओनो जरथुश्त्रहे। फ्रा अमेषा स्पेन्ता गाथाओ गेयुरवाइन। नेमो वे गाथाओ अषओनीश।

अहया यासा नेमड्हा उस्तान—ज़स्तो रफेध्रह्या मइनयँयुश मज़्दाओ पउरवीम स्पेंतह्या अषा विस्पेंग षयओथना।

यड्हेउश खतूम मनड्हो या पनेग्रीशा गेयूश्चा उर्वानेम। या पयओथनाम हाइतिम यज़्मइदे।

अहुनवइतिम गाथाम अषोनिम अषहे रतुम यज़्मइदे। अहुनवइतियाओ गाथिशाओ हन्दाता यज़्मइदे। यँगहे हाताम आअत्येस्ने पइतिवेंगहो मज़्दाओ। अहुरो वइथा अषत हचा याओंगहाम चा।

तास चा ताओसचा यज़्मइदे।
नमस्चा यआर्मेतीश जाय चा।
नमस्चा यआर्मेतीश जाय चा।
नमस्चा यआर्मेतीश जाय चा।
अशेम वोहु वहेश्तम् अस्ति, उस्ता अस्ति,
उस्ता अहमाइ ह्यदषाइ वहेश्ताइ अषेम।

पुण्यात्मा जरथुश्त्रके कर्म धन्य थे, वचन धन्य थे और विचार धन्य थे। पवित्र (स्वर्गीय) आत्माओंने धर्म ग्रन्थोंका प्रकाश किया। हे दिव्य धर्म ग्रन्थ! तुम्हारा हम स्तवन करते हैं।

हे मज़्द! तुम्हारी अर्चना करते हुए हम तुम्हारी कृपा प्राप्तिकी अभिलाषा करते हैं और तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाये तुम्हारे दानशील आत्माके प्रसादके लिये प्रार्थना करते हैं। हम अत्यन्त नम्रतापूर्वक विनती करते हैं कि सबके प्रति हमारे कर्म सत्यभावनासे सम्पादित हों और तुम्हारी उदारचित्तताके समझनेके लिये हम तुमसे करबद्ध प्रार्थना करते हैं जिससे हम गौकी आत्माके प्रति श्रद्धा दिखला सकें।

हम पवित्र अहुनावद्-गाथाकी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं जो परम पावन है। अहुनावद्-गाथाकी प्रार्थनाका हम श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

यषओथनेम नामक हा की हम उपासना करते हैं। पवित्रताके अधिष्ठातृ देवता दिव्य अहुनावद्-गाथाकी हम उपासना करते हैं। अहुनावद्-गाथाकी प्रार्थनाकी हम अर्चना करते हैं। हम उन नर-नारियोंका स्तवन करते हैं जिन्हें अहुरमज़्द (ईश्वर) ने पवित्रताके द्वारा उपासनामें श्रेष्ठ माना है। पवित्रता सर्वोत्तम वस्तु है। आनन्द उसको होता है जो पवित्रताके उद्देश्यसे ही पवित्र रहता है।

ईसाइयोंकी प्रार्थना

Almighty God! unto whom all hearts be open, all desires known, and from whom no secrets are hid; cleanse the thoughts of our hearts by the inspiration of Thy Holy Spirit, that we may perfectly love Thee, and worthily magnify Thy Holy Name. Through Christ our Lord. Amen.

O Lord Christ! we Thy faithful soldiers dedicate this new-born day to Thee, praying that it may shine in Thy service as a pure pearl in the chaplet of our life, O Thou Great King of Love, to whom be praise and adoration for evermore. Amen.

Teach us, O Lord! to see Thy life in all men and in all the peoples of Thine earth, and guide our Nation through its leaders to preserve Thy peace, that the menace of war be far from our days. Through Christ our Lord. Amen.

To the most Holy and Adorable Trinity, Father, Son and Holy Spirit, Three Persons in one God; to Christ our Lord, the only Wise Counseller, the Prince of Peace; to the Seven Mighty Spirits before the Throne; and to the glorious Assembly of just men made perfect, the Watchers, the Saints, the Holy Ones, be praise unceasing from every living creature; and honour, might and glory, henceforth and for evermore. Amen.

The peace of God, which passeth all understanding, keep your hearts and minds in the knowledge and love of God, and of His Son Christ our Lord; and the blessing of God, Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghost, be amongst you, and remain with you always. Amen.

सर्वशक्तिमान् प्रभु जो सबके हृदयको देखते हैं, सबकी अभिलाषाओंको जानते हैं और जिनसे कोई भी भेद छिपा नहीं है, अपने दिव्य आत्माकी प्रेरणासे हमारे हृदयके विचारोंको शुद्ध करें, जिससे हम प्रभुसे पूर्णतः प्रेम करें तथा प्रभुके पवित्र नामकी महिमा यथार्थतः बढ़ावें। अपने प्रभु यीशूमसीहके द्वारा। आमीन।

हे प्रभु यीशू! हम तुम्हारे भक्त-सैनिक इस नवजात दिवसको तुम्हें समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह हमारे जीवनरूपी मालामें शुद्ध मुक्ताके समान तुम्हारी सेवामें प्रकाशित होवे। हे प्रेमके अधिराजा, तुम्हारा स्तवन और उपासना सदा-सर्वदा होती रहे। आमीन।

हे प्रभु! हमें शिक्षा दो कि सब मनुष्योंमें तथा तुम्हारी पृथ्वीके समस्त देशोंमें तुम्हारे जीवनको देखें; तथा हमारे राष्ट्रको इसके नेताओंके द्वारा अपनी शान्तिको कायम रखनेके लिये सञ्चालित करो जिससे युद्धकी भीषणता हमसे दूर रहे। हमारे प्रभु यीशूमसीहके द्वारा। आमीन।

पवित्रतम और पूज्य Trinity का—पिता, पुत्र और पवित्र आत्माका जो एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं, शान्तिके राजकुमार, ज्ञानी, उपदेष्टा प्रभु यीशूका, प्रभुके सिंहासनके समीप सात शक्तिमान् आत्माओंका, रक्षकों, सन्तों और महात्माओंका सदा-सर्वदा प्रत्येक प्राणीके द्वारा स्तवन हो तथा अद्यावधि और सदा-सर्वदा उसकी शक्ति और ऐश्वर्यकी अभ्यर्थना हो। आमीन।

ईश्वरीय शान्ति जो अचिन्त्य है, तुम्हारे हृदय और मनको ईश्वर तथा उसके पुत्र हमारे प्रभु यीशूके प्रेम और ज्ञानमें रत रक्खे। तथा सर्वशक्तिमान् परमपिता ईश्वर, पुत्र (यीशू) तथा दिव्य आत्माओंका आशीर्वाद (प्रसाद) तुमपर हो तथा सदा तुम्हारे साथ रहे। आमीन।

मुसलमानोंकी प्रार्थना

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम।
अलहम्दोलिल्लाहे रब्बिल आलमीन।
अर्रहमानिर्रहीम। मालिके यौमिद्दीन्।
इय्याका ना'बदो व इय्याका नस्त' ईन्।
इह्देनस् सिरातलमुस्तकीम। सिरातल्लज़ीना अन' अम्त' अलैहिम गैरिल मग़दूबे' अलैहिम वलज़्ज़ालीन्। आमीन्।

दयालु, करुणामय प्रभुके नामपर अखिल विश्वके प्रभु, भगवान्‌की अभ्यर्थना हो। वह दयालु, करुणामय, धर्म-दिवसका अधिपति है। वही ज्ञानमय है, वही शक्तिमान् है। उस सत्पथमें हमारा तू मार्ग-प्रदर्शक बन, जो पथ तुझमें रमण करनेवालोंका है; उनका नहीं है जो तुझे नहीं मानते तथा अधर्माचरण करते हैं।

एक प्रार्थना

लीलामय ! तुम्हारी लीलाका रहस्य कौन जान सकता है ? कब तुम किस क्रीड़ामें रत रहते हो, और उससे संसारमें कैसे कैसे अचिन्त्य परिवर्तन हो जाते हैं, इस बातको कोई भी नहीं जान सकता। आज जगत्‌में जो कुछ हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, और इस खेलका कब दूसरा दृश्य आवेगा, कोई नहीं कह सकता। कितना परिवर्तन हो गया ? विद्वान् कहलानेवाले लोग तुम्हें स्वीकार करनेमे भी सकुचाने लगे हैं। कुछ उच्चशिक्षित लोग तो तुम्हारा नाम ही मिटानेको कमर कसे हुए हैं। इधर अविश्वासी पुजारी प्रायः तुम्हारे नामपर लोगोंको ठगनेमें लगे हैं। मन्दिर, मठ, मस्जिद, आश्रम, गिर्जा, विहार, तीर्थ किसीमें भी आज वह पहले-सा सरल विश्वास नहीं दिखाई देता; कथा बाँचनेवाले दूसरोंको सिद्धान्त बतलाते हैं, पर स्वयं शंकाशील हैं; उपदेशक, आचार्य, संपादक, कवि और वक्ता लोगोंको ईश्वर, धर्म, कर्म, देशसेवा आदि जिन कार्योंके लिये बड़े-बड़े सुन्दर और जोशीले शब्दोंमें उत्साहित करते हैं, स्वयं उन्हीं कार्योंमें सच्चे हृदयसे कुछ भी करना नहीं चाहते, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर विपरीत आचरण करते हैं। तुलसी-सूर, ज्ञानदेव-एकनाथ, कबीर-पल्टू, मीरा-सहजो प्रभृति महान् आत्माओंकी कविताओं और भावनाओंसे बढ़कर कविता और भावनाका स्वरूप सामने रक्खा जाता है, परन्तु उनका-सा हृदय आज कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलता; फिर भी कहा जाता है कि हमारी उन्नति हो रही है, क्रमशः हम विकासको प्राप्त हो रहे हैं; यह उन्नति या विकास दैवी है या आसुरी, आत्माका है या अनात्माका, इस बातका निर्णय तो कौन करे, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, यह सब तुम्हारी लीला है, तुम्हारे अभिनयका एक सीन है।

खेलो, खूब खेलो, खिलाड़ी ! सबको अपने साथ खेलाते रहो, यही तो तुम्हारा काम है। आप ही 'सब कुछ' बनकर, आप ही सदा 'सब कुछ' को लेकर 'सब कुछ' में खेलते हो और अलग रहकर देखते भी रहते हो; तुम्हारे खेलमें क्यों विराम हो, नये-नये पर्दे पड़ते रहें, सीन बदलते रहें, तुम्हारा लीला-प्रवाह सदा अविच्छिन्न गतिसे चलता रहे; इसमें हम क्यों आपत्ति करें ? तुम जबतक चाहो, हमें अपने संकल्पसे अलग कल्पित कर हमसे खेलते रहो, पर हमारी इतनी आँखें जरूर खोल दो कि तुम्हारे इस संकल्पके आधारपर टिके हुए अपने भिन्न अस्तित्वके सिवा शेष सब खेलोंमें, खिलौनोंमें, सबमें सब समय केवल तुम्हारी ही छवि दीख पड़े, तुम और हम दो ही रह जायँ, तुम हमें जानो और हम तुम्हें, तुम हमें देखो और हम तुम्हें !

बस, यही एक प्रार्थना है !

ईशस्तवन

(लेखक—आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

जागर्ति देव तव शक्तिरनन्तरूपा
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे भुवि नरे च नरेश्वरे च
तोयेऽनले मरुति मृद्यपि साऽऽविरास्ते ॥

भगवन् ! आपकी शक्ति और सत्ताकी इयत्ता नहीं । वह अनन्त है और इस चराचर त्रिभुवनमें अनेक रूपवाली बनकर व्याप्त है । वह है कहाँ नहीं ? आग और पानीमें, पृथ्वी और आकाशमें, नर और नरेश्वरमें, यहाँतक कि मरुत् (हवा) और मृत्तिकातकमें भी वह अपना काम कर रही है।

पश्यामि तां भुवननायक भूतमात्रे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तया विहीनम् ।
पतन्मुहुर्मुहुरहं मनसा विचिन्त्य
पारं न यामि परमेश्वर ते महिम्नः ॥

भुवनेश्वर ! मैं तो उसे भूतमात्रमें विद्यमान देख रहा हूँ । ऐसी एक भी तो वस्तु नहीं जिसमें आपकी शक्ति या सत्ता न पायी जाती हो । परमेश ! इन्हीं सब बातोंका विचार मन-ही-मन करके मैं हैरान हो रहा हूँ । आपकी महिमा या महत्ताका ओर-छोर नहीं । मैं पामर भला उसके पार कैसे जा सकता हूँ ? यह तो मेरे लिये सर्वथा असम्भव है ।

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीयं
सत्वं चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि ।
तस्यैव कोऽपि भुवनाधिपते सदंशो
रथ्यारजःकणगणेषु विराजतेऽयम् ॥

समस्त लोकोंके लिये देदीप्यमान दीपकका काम देनेवाले भगवान् भास्कर जिस दीप्तिके द्वारा त्रिलोकीका अन्धकार दूर करते हैं वह उनकी निजकी चीज़ नहीं । वह तो उन्हें आपहीने दी है, आपहीकी कृपासे वह उन्हें प्राप्त हुई है । परन्तु इससे कोई यह न समझे कि वह एकमात्र उन्हींके हिस्सेमें पड़ी है । नहीं, आपकी वही दीप्ति, वही शक्ति, वही सत्ता, अलक्ष्य भावसे, गलियोंमें पड़े हुए रजःकणों तकमें भी व्याप्त है । ओह, आपकी सत्ता और शक्तिमत्ता इतनी अद्भुत !

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्य्ययोऽत्र ॥

यह अपना है, यह पराया है—इसप्रकारकी भेद-बुद्धि तो आपको छू ही नहीं गयी, उसका तो आपमें लवलेश भी नहीं । कारण यह कि आप तो परब्रह्म, अतएव सभीकी आत्मा हैं, सभीमें आप व्यापक हैं। इसीसे तत्त्ववेत्ता आपको समदर्शी और स्वयं सुखानुभवकर्ता कहते हैं । रागादि दोषोंके सम्पर्कसे आप सर्वथा अछूते हैं । तथापि आपकी सर्वव्यापकता और समदर्शितामें एक विशेषता है । वह यह कि जो आपकी सेवा करता है, जो अनन्यभावसे आपकी शरण जाता है—उसीको आप, उसकी सेवाके अनुरूप कल्पवृक्षके सदृश फल देते हैं। उसे सेवानुरूप ही आपका प्रसाद प्राप्त होता है । इसमें कदापि विपर्यय नहीं होता ।

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम् ।
तत्साम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः करुणावलेपः ॥

भगवन् ! आप समदर्शी हैं और समदर्शियोंका क्या कर्तव्य होता है, यह तो आपको बतानेकी बात नहीं। उनके सम्मुख चाहे शत्रु आ जाय, चाहे मित्र । आत्म-समर्पणभर वह कर दे । फिर चाहे उसने जितना भीषण अपराध किया हो, चाहे उसमें बड़े-से-बड़े दोष ही क्यों न हों । समदर्शियोंका हृदय तो, ऐसी दशामें, ऐसोंपर भी दयार्द्र ही हो जाता है । आपका हृदय भी ऐसा ही है । तो फिर आप ही बताइए—क्या कारण है जो अब भी आप मुझ दीन, गतिविहीन और पुण्यहीन पामर पर कृपा नहीं करते ? मेरे विषयमें आपको अपनी करुणाकी याद क्यों नहीं आती ?

अभ्युद्गमोऽयमशनेरमृतांशुबिम्बात्
स्वामिन्नसौ दिनमणेस्तिमिरप्ररोहः ।
युष्मादृशस्य करुणाम्बुनिधेरकस्माद्
अस्मादृशेष्वशरणेष्ववधीरणं यत् ॥

आपके पास करुणाकी कमी तो है नहीं। लोटे-दो-लोटे या घड़े-दो-घड़ेकी तो बात ही नहीं; उसका तो अथाह सागर ही आपके विशाल हृदयमें लहरा रहा है। इस दशामें स्वामिन्! यदि आप मुझे उसका एक कण या एक बूँद तक पानेका पात्र या अधिकारी न समझकर मुझ निःशरण और निराश्रय जनका तिरस्कार करेंगे तो मैं यही समझूँगा कि पीयूषवर्षी चन्द्रबिम्बसे वज्रपात हो गया—उसमे बिजली गिर गयी अथवा भुवन-भास्करने संसारको अन्धकारसे आच्छादित कर दिया।

स्वामिन् निसर्गमलिनः कुटिलश्चलोऽह-
मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः।
भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम्॥

स्वामिन्! बानक बहुत ही अच्छा बना है। देखिये, जैसा कि मैं स्वभावहीसे मलिन, कुटिल और चञ्चल हूँ वैसा ही मेरा शत्रु काल भी नितान्त मलिन, कुटिल, और चञ्चल है। सन्तोषके लिये जगह इतनी ही है कि आपकी भौंह भी मलिन (काली) कुटिल (टेढ़ी) और चञ्चल (चलायमान) है। अतएव आप अपने भ्रू-निक्षेपसे समगुणवाले कृतान्तके कोपकी शान्ति सहज ही कर सकते हैं। क्योंकि विष चाहे जितना भी विषम क्यों न हो, उसका विकार उसीके सदृश विषहीसे शान्त हो सकता है। उसके लिये आयुर्वेदमें इसी अचूक औषधका निर्देश है।

क्षीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा
त्वामाश्रितोऽस्मि सवितारमिवामृतांशुः।
नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्या
पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम्॥

मेरी दशा, इस समय, अमावास्याके चन्द्रमाके सदृश हो रही है। उस तिथिको अपनी सारी कलाओंके नाशके कारण चन्द्र अत्यन्त ही क्षीण हो जाता है और उसका सारा तेज न मालूम कहाँ चला जाता है। तब अपने पुनरुज्जीवनका और कोई उपाय न देखकर वह सूर्यका आश्रय लेता है। और सूर्य करुणाका वशवर्ती होकर उस शरणार्थीको अपनी रश्मियोंसे फिर जिला देता है। भगवन्! मेरी दशा भी, आजकल उसी चन्द्रमाके सदृश है। जन्म, जरा, मरणकी चिन्तासे मैं भी क्षीण हो रहा हूँ। मुझमें भी विद्या, साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई कला शेष नहीं। तेजस्कताने तो मेरा साथ सर्वथा ही छोड़ दिया है। अतएव आपको परमकारुणिक दिनकर समझकर ही चन्द्रमाके समान मैं आपका आश्रय चाहता हूँ। यदि आप अपने पादार्पणके द्वारा मुझपर कृपा न करेंगे तो फिर मेरा निस्तार नहीं—तो फिर मेरी जीवन-कला गयी ही समझिए।

पश्चात्पुरः प्रतिदिशश्च विमृश्य पश्यन्
क्रूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम्।
भूमौ पतामि कृपणं प्रलपामि पाद-
पीठे लुठामि भगवन् कठिनोऽसि कस्मात्॥

आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, इधर-उधर, जहाँ-कहीं देखता हूँ, हाथमें नागपाश लिये हुए क्रूरात्मा काल सर्वत्र ही मुझे दिखायी दे रहा है। भगवन्! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किसको पुकारूँ? मैं आपके पैरों पड़ता हूँ; मैं पृथ्वीपर लोटकर दण्डवत् प्रणाम करता हूँ; मैं दीनता दिखाता हूँ; मैं विनती करता हूँ। मुझे बचा लीजिए। अरे, क्यों इतने कठोर—क्यों इतने निर्दय हो गये?

किं कार्यमेभिरनिशं पुनरुक्तशुक्तै-
रुद्वेगकारिभिरलब्धफलैः प्रलापैः।
एवं विदन्नपि मुहुर्मुखरं विरौमि
पश्यामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम्॥

मैंने बहुत कुछ कहा; मैंने बहुत सिर पटका। पर अबतक आपने मेरी एक भी न सुनी। अतएव बार-बार उन्हीं बातोंको दोहराने—उन्हींकी पुनरुक्ति करनेसे क्या लाभ? वह सब व्यर्थ होगा। इस तरहके इन निष्फल प्रलापोंसे तो मेरा हृदय और भी उद्विग्न हो उठता है। यह सब मैं जानता हूँ और अच्छी तरह जानता हूँ। परन्तु फिर भी मैं करुणाजनक रुदन न करूँ—फिर भी मैं न रोऊँ-धोऊँ—तो करूँ क्या? आपके सिवा मुझे कहीं अन्यत्र शरण मिलनेकी आशा तो नहीं। मेरे शरण्य तो एकमात्र आप ही हैं।

अन्यद्ब्रवीमि किमहं जगदेकबन्धो
बन्धुर्न कोऽपि मम देव सुतोऽपि नास्ति।
तत्ते पदाब्जविमुखस्य महाधमस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे गतिर्मे॥

जगदेकबन्धो! मैं और अधिक बातें बनाना नहीं चाहता; और अधिक कहने-सुननेकी शक्ति भी मुझमें

नहीं। मेरा कोई सहायक भी तो नहीं। आपसे छिपा नहीं; मैं तो बन्धु-बान्धवोंसे भी रहित हूँ; संसारमें सुत-दारा आदि आत्मीय भी मेरा कोई नहीं। अतएव, करुणा-सागर! आपके पाद-पद्मसे सर्वथा विमुख मुझ निःसहाय और महाअधमकी गति केवल आपके हाथ है। मुझे तो बस एक आपकाही भरोसा है। चाहे पार लगा दीजिये, चाहे संसृतिके गहरे गर्तमें पड़ा ही रहने दीजिये। 'यदिच्छसि तत्कुरु' [सङ्कलित]

ईश्वरविषयक उपदेश

[एक जिज्ञासुके साथ श्रीउड़ियावाबाजीका ईश्वर-विषयक सम्भाषण]

जिज्ञासु—ईश्वरकी सत्तामें क्या प्रमाण है?

स्वामीजी—पहले तुम यह बतलाओ, तुम आये कहाँसे हो?

जिज्ञासु—हाथरससे।

स्वामीजी—क्या तुम हाथरसमें ··· ··· ···को जानते हो?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—क्या तुम कलकत्तेके ··· ··· ···को जानते हो?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—क्या तुमने कलकत्ता देखा है?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—इससे सिद्ध होता है कि तुम सबको नहीं जानते और न तुमने सब वस्तुएँ ही देखी हैं।

जिज्ञासु—जी।

स्वामीजी—तो तुम अल्पज्ञ हुए।

जिज्ञासु—जी।

स्वामीजी—इसी प्रकार सब जीव अल्पज्ञ हैं, किन्तु वे निरन्तर अधिकाधिक जानने—सर्वज्ञ बननेका प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही, कोई भी जीव संसारके सब पदार्थोंको नहीं बना सकता क्योंकि जीवकी शक्ति अल्प है; फिर भी वह इस प्रयत्नमें अवश्य रहता है कि वह अधिक-से-अधिक वस्तुओंकी रचना कर सके। वह अल्पशक्ति होकर भी सर्व-शक्तिमान् बननेकी चेष्टा करता है। जीवकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जबतक वह सर्वशक्तिमान् या सर्वज्ञ नहीं बन जाता तबतक उसकी दौड़-धूप शान्त भी नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-मान् भी है। अल्पज्ञता ही सर्वज्ञताका अनुमापक लिंग है। अल्पज्ञ है, इसलिये कोई सर्वज्ञ भी होना चाहिये। जगत् है, इसलिये इसका रचयिता भी होना चाहिये। नियम्य है, इसलिये कोई नियामक भी होना चाहिये। इस प्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जगत्‌का रचनेवाला और उसका नियामक है वही ईश्वर कहलाता है।

ईश्वराराधन

ईश्वर सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप हैं, वे आनन्द, शक्ति और अमृतत्वके मूल हैं। वे कल्याणमय, एक, अद्वितीय, पवित्र, निरञ्जन, निराकार, स्वतन्त्र, अनुपम, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी हैं।···वे ही सृष्टिकर्ता और प्रति-पालक हैं। इस सृष्टिके पहले कुछ नहीं था, वह ईश्वर ही थे; उस समय न दिन था न रात। पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नहीं थे। ईश्वरने अपनी इच्छासे इन सबका सृजन किया। ईश्वर ही मूल सत्य हैं। ईश्वरमेंसे ही सब पदार्थों-की सृष्टि हुई है। प्रत्येक पदार्थमें प्राणरूपसे परमेश्वर ही ओतप्रोत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और प्रत्येक घटनाके निरीक्षक हैं। उनसे छिपाकर कुछ भी नहीं रक्खा जा सकता। वे अन्तर्यामी, असीम, अनन्त तथा मन-वाणीके अगोचर हैं, स्वयंज्योति और स्वयम्भू हैं। वे स्वयं यदि मनुष्यके हृदयमें प्रकट न हों तो मनुष्य उनके दर्शन करनेमें असमर्थ है। वे आनन्द, शान्ति और अमृतके निर्झर हैं। मंगलदाता, पवित्र और सचेत जाग्रत्‌भावसे सर्वत्र व्यापक हैं। इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपका विचार करके उनकी पूजा करनेको आराधना कहते हैं। समस्त विश्वमें उनकी महिमा-के दर्शनकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करना आराधना है।

ईश्वरके चिन्तनका नाम ही ध्यान है। परमेश्वर हमारे हृदयमें विराजमान हैं, इसप्रकार सतत चिन्तन करनेसे अन्तःकरणमें प्रभुका प्रकाश होता है और प्रभुकी दिव्य ज्योतिके दर्शन होते हैं।··· ···

प्रभुका प्रकाश मिलते ही उनका स्तवन करनेकी स्वयमेव इच्छा होती है। उनका गुण-कीर्तन और उसकी महिमाका गान ही स्तवन है। इस स्तवनकी भी समाप्ति नहीं है। स्तवन करते-करते जब मन आनन्द-सागरमें डूबने लगता है तब उनके चरण-कमलोंमें आत्मसमर्पण किये बिना रहा ही नहीं जाता।

—आचार्य श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

(श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्री १९०८ श्रीशङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज)

हौत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृ
होमादिसर्वाकृतिभासमानम्।
यद्ब्रह्मतद्बोधवितारिणीभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम्॥

अखण्ड भूमण्डलमें ऐसा एक भी मनुष्य न होगा जिसने अत्यन्त मूर्ख या अत्यन्त विचारशून्य होते हुए भी यह जिज्ञासा कभी भी न की हो कि हमारा स्वरूप क्या है और हमारा लक्ष्य क्या है अर्थात् हम कहाँसे आये हुए हैं, कहाँ जानेवाले हैं और वहाँ पहुँचनेके लिये हमें किन साधनोंसे काम लेना चाहिये इत्यादि। इस जिज्ञासासे प्रेरित होकर जो विचार करनेवाले हैं वे ही विद्वान् या विचारवान् हैं और जो नहीं करते हैं वे ही मूर्ख वा विचारशून्य गिने जाते हैं। परन्तु इस विषयमें तो शङ्का हो नहीं सकती कि मनुष्य-मात्रके मनमें उक्त जिज्ञासा कभी न कभी अवश्य ही उत्पन्न हुआ करती है।

इस जिज्ञासाका अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि जबतक मनुष्य पता नहीं लगाता कि हम कहाँसे आये हैं, अब क्या हैं और कहाँ जानेवाले हैं, तबतक उसका अपने ध्येय या लक्ष्यमें पहुँचानेवाले साधन या साधनोंकी ओर ध्यान ही नहीं लग सकता। फिर साधनोंकी प्राप्ति और उनके द्वारा अपने लक्ष्यमें पहुँचनेकी आशा उसे कैसे हो सकती है? अतः इस महत्त्वशाली विषयके दिग्दर्शनार्थ इस लेखमें प्रयत्न किया जाता है।

इस विचारमें पहली आवश्यकता इस बातकी है कि प्रकृत आकाङ्क्षाकी पूर्त्तिके लिये किस प्रमाणके आधारपर हमें अपने सिद्धान्तका निश्चय करना है। केवल लौकिक या बाह्यदृष्टिसे देखनेवालोंका तो आग्रहपूर्वक कहना है कि हम प्रत्यक्ष-प्रमाणको ही मानते हैं और किसीको नहीं। परन्तु यह तो अपसिद्धान्त है और इसके निराकरणके लिये अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि इसी जन्मके ऐहिकमें भी केवल इन्द्रियगोचर विषयोंका भी जब केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणसे निश्चय नहीं होता, तब इस जन्मसे पिछले तथा अगले जन्मों और परिस्थितियोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्त अतीन्द्रिय विषयोंका प्रत्यक्ष प्रमाणसे हम कैसे निश्चय कर सकते हैं?

दूसरा प्रमाण है अनुमान। इससे जगत्के कुछ काम तो हो जाते हैं, परन्तु सब काम नहीं हो सकते। शब्द-रूपी प्रमाणके आधारपर ही लौकिक व्यवहार भी प्रायशः निर्भर हुआ करते हैं। उदाहरणार्थ, अनुमानसे हमें इतना ही सिद्ध हो सकता है कि हमारी भी कोई जन्मदात्री अवश्य होगी, परन्तु शब्द प्रमाणको छोड़कर किसी प्रकारके अनुमानके बलसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक स्त्री ही हमारी माता है। फिर पारलौकिक अतएव अत्यन्त अतीन्द्रिय विषयोंका अनुमानसे क्या निश्चय हो सकता है! इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने बताया है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान आप्तवचनरूपी शब्द-प्रमाणसे ही प्राप्त हो सकता है।

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'
'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'
'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'

इत्यादि श्रुतियों—

'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादि वेदान्त सूत्रों—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'

इत्यादि भगवद्गीता वचनों और अन्यान्य प्रमाणोंसे यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि शब्द प्रमाणसे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द प्रमाणपर अन्ध श्रद्धा करनी चाहिये। युक्ति, विचार, अनुमान आदिका इसमें कोई काम नहीं है इत्यादि। तात्पर्य इतना ही है कि साक्षात्काररूपी अनुभववाले गुरुसे ही सिद्धान्तका श्रवण करना चाहिये। इसीलिये श्रुतिने कहा है कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः,' स्मृतिने 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते' कहा और भगवान् श्रीकृष्णने भी 'परिप्रश्नेन' इस शब्दसे विचारपर जोर दिया है और—

'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'

—कहनेवाले अर्थात् आज्ञा माँगनेवाले शिष्य और शरणागत अर्जुनको भी आज्ञा न देकर अनेक प्रकारोंसे समझा-समझाकर सब शंकाओंका समाधान करके अन्तमें 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ' इत्यादि प्रश्न पूछकर और 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' अर्जुनसे यह उत्तर पाकर इसी तत्त्वको अपने उज्ज्वल आचरणसे भी सिद्ध किया है कि आप्त-वचनके द्वारा श्रवण किये हुए सिद्धान्तको, मनन (अर्थात् तदनुकूल युक्तियोंके विचार) से अपनी बुद्धिमें और निदिध्यासन (अर्थात् सतत धाराप्रवाहरूपी अनुसन्धान) से अपने हृदयके भीतर अटलरूपसे बैठाना चाहिये ।

इस कार्यप्रणालीके अनुसार अब हमें पहले-पहल श्रवण करना है अर्थात् श्रुत्यादिरूपी शब्द-प्रमाणसे पता लगाना है कि परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के सम्बन्धमें शास्त्रोंका क्या सिद्धान्त है, उसके बाद उसी सिद्धान्तका मनन अर्थात् युक्तियोंसे स्थापन और पोषण करना है ।

वैदिक सिद्धान्तके विशेष विस्तारके साथ प्रतिपादनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपने-अपने साम्प्रदायिक राग-द्वेषों (Prepossessions and prejudices) और स्वाभाविक पक्षपातों (Natural or unconscious partialities) को प्रयत्नपूर्वक अपने हृदयसे सर्वथा हटाकर केवल सत्यके जिज्ञासु (Seeker after truth) की हैसियतसे शास्त्रोंका अध्ययन करनेवाले प्रत्येक मनुष्यको सर्वथा स्पष्ट होगा कि वेदादि ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के पारस्परिक सम्बन्धका विवेचनापूर्वक उल्लेख आता है, वहाँ-वहाँ इन तीनोंका एकत्व ही बताया जाता है—भेद नहीं, बल्कि भेदका साक्षात् निषेध भी खूब पाया जाता है ।

इस सिद्धान्तके समर्थनके लिये वैदिक मन्त्र आदि हज़ारों प्रमाणोंका विवरण किया जा सकता है; परन्तु यहाँ कतिपय ख़ास-ख़ास प्रमाणोंको ही उद्धृत करके सिद्धान्त बताया जाता है; क्योंकि इन प्रमाणोंका अर्थ इतना स्पष्ट है कि सच्चे जिज्ञासुके हृदयमें इन प्रमाणोंके अध्ययनके बाद अद्वैतके विषयमें शंका रह ही नहीं सकती ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।'

'नेह नानास्ति किंचन ।'

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।'

'द्वितीयाद्वै भयं भवति ।'

'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति तदात्मानं स्वयं अकुरुत ।'

'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।'

'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः ।'

'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।'

'यस्मिन् एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।'

'ऐतदात्म्यमिदꣳ सर्वं ।'

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं ।'

'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।'

इत्यादि (उपनिषदोंमें मिलनेवाले) स्पष्ट प्रमाणोंका केवल उल्लेख करना ही पर्याप्त है और उपनिषदोंके सिद्धान्तके विवरणार्थ एक ही माण्डूक्य उपनिषद्को लेकर विचार करना भी पर्याप्त होगा, जिसके सम्बन्धमें मुक्तिकोपनिषद्में सब उपनिषदोंका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा—

'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ।'

अर्थात् मुमुक्षुओंकी मुक्तिके लिये केवल माण्डूक्य ही पर्याप्त है । इस माण्डूक्य-उपनिषद्ने तो आरम्भमें ही केवल अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा की है कि—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।'

भूतं भवति भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।'

'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म' ।

अर्थात् भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कालके सब पदार्थ और त्रिकालातीत पदार्थ भी ओंकार ही है, यह सब जगत् और यह जीव ब्रह्म ही है । इत्यादि, और आगे बढ़ते हुए माण्डूक्यउपनिषद्ने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंके व्यष्टिरूपी जीवोंका समष्टिरूपी जीवके साथ और व्यवस्थातीत निर्गुण परमात्माके साथ भी अकार, उकार, मकार और ओंकारके रूपकके द्वारा एकता बताकर परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वस्तुतः एकताको अत्यन्त स्पष्ट किया है । माण्डूक्य उपनिषद्के आधारपर (जो अक्षरोंके हिसाबसे केवल बारह मन्त्रवाली और सबसे छोटी उपनिषद् है, परन्तु अर्थके हिसाबसे मुक्तिकोपनिषद्के अनुसार एवं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके अनुसार सब उपनिषदोंकी शिरोमणि है), यहाँतक कहा

जा सकता है कि माण्डूक्य-उपनिषद्को मानें और अद्वैत-सिद्धान्तको न मानें, ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं।

इसके अतिरिक्त और एक प्रकारसे भी अद्वैत-सिद्धान्त सिद्ध किया जा सकता है जो उपनिषदोंके बताये हुए सृष्टि-क्रमको माननेवालोंके लिये सर्वथा निर्विवाद है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद्ने जगत्की सृष्टिका वर्णन करते हुए—

'सच्च त्यच्चाभवत्'

अर्थात् जगत्की सृष्टिसे पहले जो परमात्मरूपी एक ही वस्तु थी, उसीने आत्मा और अनात्मारूपी सब पदार्थोंका रूप धारण किया है। इत्यादि कहनेके अतिरिक्त जगत्की सृष्टिका संकल्प करनेवाले ईश्वरके संकल्पका इन स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है कि—

'बहुस्यां प्रजायेयेति'

अर्थात् मैं बहुत बनूँगा, जन्म लूँगा इसमें ईश्वरका संकल्प यही था कि 'बहुस्याम्' ('बहुकुर्यां' नहीं) अर्थात् बहुत बनूँगा (बनाऊँगा नहीं) और 'प्रजायेय' ('प्रजनयेय' नहीं) अर्थात् पैदा हूँगा (पैदा करूँगा नहीं) जब ईश्वरने ऐसा संकल्प करके जगत्की सृष्टि की है और हम सब ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सत्य-संकल्प मानते हैं तब हम सबको विवश होकर या तो स्वीकार करना होगा कि ईश्वरने ही सब जीवों और सारे जगत्का रूप धारण किया है, नहीं तो यह मानना होगा कि ईश्वरने स्वयं बहुत पदार्थरूपसे जन्म लेनेका संकल्प तो किया था; परन्तु ऐसा न करके उसने अपनेसे भिन्न पदार्थोंकी सृष्टि ही की है, इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ और सत्य-संकल्प नहीं माना जा सकता।

जो उपनिषदोंको नहीं मानते हैं और कहते हैं कि पूर्वसंहिता ही प्रमाण है उनके लिये तो पुरुषसूक्तका, जो पूर्वसंहिताके अन्तर्गत है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः
अजायमानो बहुधा विजायते।'

इत्यादि एक ही मन्त्र अद्वैत-सिद्धान्तके समर्थनके लिये पर्याप्त है, क्योंकि इसमें स्पष्ट बताया है कि जो अज अर्थात् जन्मरहित परमात्मा है वही अनेक रूपोंसे जन्म लेता है, इत्यादि। इस प्रसंगमें यह भी कहना अनुचित न होगा कि इस मन्त्रका आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वतीने भी अपने भाष्यमें यही अर्थ बताया है जो हमने ऊपर दिया है।

इसी प्रकारसे श्रीमद्भगवद्गीतासे भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे अद्वैत-सिद्धान्त अवश्य निकलेगा। परन्तु उनमेंसे हम यहाँ केवल तीन ही श्लोकों-को उद्धृत करते हैं—

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥'
'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥'
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥'

अर्थात् हवन-क्रिया भी ब्रह्म है, हविष्य भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, हवनकर्त्ता भी ब्रह्म है, कर्मकी एकाग्रता भी ब्रह्म है और प्राप्तव्य भी ब्रह्म है।

शरीरका नाम क्षेत्र है, शरीरकी ममता करनेवाला (कि यह मेरा शरीर है) 'क्षेत्रज्ञ' है।

सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ; और मेरी सम्मतिमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोंका ज्ञान ही ज्ञान है।

इस सम्बन्धमें यह बतलाना अप्रासंगिक न होगा कि आर्यसमाजके प्रसिद्ध ग्रन्थ-कर्त्ता और नेता श्रीहरिप्रसाद वैदिक मुनिने भी अपनी 'स्वाध्यायसंहिता' में गीताके उपर्युदाहृत श्लोकोंका और इस लेखके आरम्भमें उद्धृत किये हुए अनेक वैदिक मन्त्रोंका भी यही अर्थ लिखा है जो हमने दिया है।

आत्म-तत्त्व ज्ञानके यथार्थ ज्ञानको छिपाकर इन पदार्थोंके भेदकी प्रतीति करानेवाली भगवच्छक्तिरूपी मायाके सम्बन्धमें भगवान् भाष्यकार शङ्करके बताये हुए मायावादका जो अनेक सम्प्रदायोंकी ओरसे विरोध किया जाता है उसके विषयमें विस्तारमें न उतरते हुए हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि मायावाद शङ्कर-का निर्माण किया हुआ कोई नया सिद्धान्त नहीं है, बल्कि उपनिषदोंमें तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है और श्रीमद्भागवतमें तो आरम्भसे लेकर अन्ततक गिनती करनेपर हजारों स्थान ऐसे मिलेंगे जिनमें मायावादका अत्यन्त स्पष्ट

उल्लेख है। उदाहरणार्थ उपनिषद्, गीता और श्रीमद्भागवतके कुछ प्रमाण—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'
'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'
'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'
(गीता)

'मायां ततान जनमोहिनीम्।'
'रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।'
'मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते।'
(श्रीमद्भागवत)

'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥'
(श्रीमद्भा० ११।७।७)

अर्थात् जिस (जगत्) का मन, वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि (इन्द्रियों) से ग्रहण किया जाता है। उसे नश्वर और मनसे ही कल्पित मायामय जान।

इत्यादि हज़ारों प्रमाणोंसे भगवान् शङ्करका केवल अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि विवर्त्तवाद भी अक्षरशः स्थापित होता है।

अपने धर्मशास्त्रोंके इन प्रमाणोंके विचारके बाद अब अन्यान्य मज़हबोंके प्रमाणोंका भी संक्षेपसे, समन्वयके लिये, विचार किया जाता है। ईसाइयोंके बाइबिलमें पैग़म्बर ईसाके स्वयं बताये हुए 'Ye are Gods' (अर्थात् तुम सब ईश्वर हो) 'The Kingdom of God is within you' (ईश्वरकी सारी दुनिया तेरे भीतर है।) इत्यादि प्रसंगोंसे और विशेष करके उनके खास प्रेम-पात्र शिष्य St. John के Gospel, Epistles और Revelation इन तीनों ज़बर्दस्त ग्रन्थोंसे स्पष्ट होता है कि ईसाने पैलेस्टाइन देशमें हमारे अद्वैत-सिद्धान्तका ही प्रचार करनेका प्रयत्न किया था; परन्तु वहाँके दुराग्रही द्वैतवादियोंने इसी कारणसे रुष्ट होकर उनको वहाँकी तात्कालिक रोमन गवर्नमेण्टकी आज्ञासे शूलीपर चढ़वा दिया था। तो भी उक्त ग्रन्थोंका अध्ययन करनेवाले सब निष्पक्षपात जिज्ञासुओंको अवश्य मानना होगा कि आजकलके पाश्चात्य जगत्के प्रभु, गुरु और रक्षक (Lord, Master and Saviour) ईसाका सिद्धान्त तो अद्वैत-सिद्धान्त ही है। इस सिद्धान्तको समझनेके लिये जो अनधिकारी हैं वे ऐसे ग्रन्थोंको 'हमारी समझमें नहीं आता' (Too mystical for us) कहकर एक ओर छोड़ते हुए सेण्ट मेथ्यू (St. Matthew) सेण्ट ल्यूक (St. Luke) सेण्ट मार्क (St. Mark) आदिके ग्रन्थोंका ही जिनमें आध्यात्मिक और ज्ञानकाण्डकी बातें आती ही नहीं, अध्ययन किया करते हैं।

मुसल्मानोंमें भी ज्ञानकाण्डका विचार करनेवाले सूफ़ियोंका मत तो अद्वैत ही है।

इसी प्रकारसे द्वैतप्रेमी चित्तवृत्तिमें रहनेवालोंके लिये सब मज़हबोंमें पृथक् स्थान पाया जाता है और जो उत्तमाधिकारी हैं उनके लिये अद्वैतका स्थान भी पृथक् मिलता है।

इन बातोंके विस्तारमें उतरनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना आवश्यक तथा पर्याप्त है कि पुराने ग्रीसके तत्त्ववेत्ता प्लेटो (Plato)से लेकर अर्वाचीन तत्त्ववेत्ताओंमें स्वेडनबर्ग (Swedenborg), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), ब्राउनिंग (Browning), कार्लाइल (Carlyle), एमरसन (Emerson), बिशप बर्कले (Bishop Berkeley), हेगल (Hegel), फिस्ते (Fichte), इम्मेनुयल कांट (Immanual Kant), राल्फ वाल्डो ट्राइन (Ralph Waldo Trine), थामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) विलियम वाकर एटकिन्सन (William walker Atkinson), इल्ला ह्वीलर विलकाक्स (Ella Wheeler Wilcox), प्रो० पॉल डायसन (Professor Paul Deussen), आदि बड़े-बड़े तत्त्ववादियोंतकने REALISM (सृष्टि-दृष्टिवाद या द्वैत) को अपसिद्धान्त बताकर IDEALISM (दृष्टि-सृष्टिवाद या अद्वैत) को ही माना है।

इस प्रसंगमें विशेषरूपसे स्मरण रखने-योग्य विषय यह है कि आजकल पाश्चात्य जगत्में हिन्दुस्तानके लिये जो कुछ मान और प्रतिष्ठा है वह सबकी सब भगवान् शंकरके MONISM (अद्वैत) सिद्धान्तके आधारपर ही है और किसी कारणसे नहीं। वास्तवमें तो पाश्चात्य जगत् भारतीय तत्त्वज्ञान (Indian Philosophy) शब्दसे शंकर-सिद्धान्तको ही जानता है।

इस अद्भुत अनुभवकी पर्यालोचनासे प्रत्येक विचारशील मनुष्यके मनमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि वेद आदि सनातनधर्म-ग्रन्थोंको न मानते हुए स्वतन्त्र विचार करनेवाले इतने बड़े-बड़े पाश्चात्य तत्त्वशास्त्रियोंने भी जो अन्तमें हमारे वेदान्तके अद्वैत-सिद्धान्तको ही माना है इसका कारण क्या है ? इस प्रश्नका तो एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि यही सिद्धान्त युक्तियुक्त भी है और इसीलिये स्वतन्त्र विचारकोंको भी विवश होकर इसी सिद्धान्तको मानना पड़ा। अब इस युक्तियुक्तताको लेकर हमें संक्षेपसे यह विचार करना है कि अद्वैत-सिद्धान्तका किन-किन युक्तियोंसे समर्थन और पोषण होता है, अर्थात् अब श्रवणके बाद मननका आरम्भ करना है।

प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें होनेवाले जिस प्रश्नका इस लेखके आरम्भमें हमने उल्लेख किया है कि हम कहाँसे आये हैं, अब क्या हैं और कहाँ जानेवाले हैं इत्यादि, उसी प्रश्नको लेकर युक्तिसे विचार करनेपर अद्वैत-सिद्धान्तकी युक्तियुक्तता स्पष्ट हो जायगी।

अपने आत्माके स्वरूपभूत लक्षणका विचार करनेसे पहले हमें लक्षणके लक्षणको भलीभाँति समझकर आगे बढ़ना चाहिये। स्वरूपभूत लक्षण तो वही लक्षण है जो अपने लक्ष्यके साथ स्वभावसे ही लक्षणरूपसे लगा हुआ है, किसी तात्कालिक और बाह्य कारणसे आया हुआ लक्षण नहीं है; क्योंकि बाहरके तात्कालिक कारणसे आये हुए सब लक्षण थोड़े समयके बाद अपने आप चले जाते हैं और उनके स्थानपर वे ही स्वाभाविक लक्षण आ जाते हैं जिनको उक्त आगन्तुक लक्षणोंने तत्कालके लिये दबा दिया था। उदाहरणार्थ अग्नि, सूर्य, गन्धकवाली भूमि आदि कारणोंसे जलमें आयी हुई उष्णता घट-घटकर छूट जाती है, सर्वदाके लिये ठहर नहीं सकती। अतएव आगन्तुक लक्षणोंको पानेवाला प्रत्येक मनुष्य तुरन्त पूछता है कि इस (गर्मी आदि)का क्या कारण है। इस प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि उक्त गर्मी आदि गुण जल आदि पदार्थके लिये स्वाभाविक नहीं है।

इस तत्त्वको ध्यानमें रखते हुए विचार करनेपर अपने आप स्पष्ट होता है कि दुःख आत्माका लक्षण नहीं है, क्योंकि जब कोई रोता है तब देखनेवाले सभी तुरन्त पूछते हैं कि क्यों रोते हो ? इस 'क्यों' प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि रोना तात्कालिक बाह्य कारणापेक्षी है—स्वाभाविक नहीं है। अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप है। एक और प्रकारसे भी आत्माका आनन्दस्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जिस पदार्थके बिना रह नहीं सकते और जिसकी खोजमें सर्वदा रहते हैं वही हमारा स्वरूप है। उदाहरणार्थ, हम व्याधिको इसलिये नहीं पसन्द करते और आरोग्यको ही चाहते हैं, क्योंकि आरोग्य ही हमारे लिये स्वाभाविक है—रोग नहीं। इसी प्रकारसे हम इसलिये दुःख नहीं चाहते और सर्वदा आनन्द ही चाहते हैं, क्योंकि दुःख हमारा स्वरूप नहीं—आनन्द ही हमारा स्वरूप है। इसी व्यापक नियमसे सारे वेदान्तका मनन किया जा सकता है। आनन्दके साधनके सम्बन्धमें हजारों मतभेद हो सकते हैं; परन्तु अपने लक्ष्य, ध्येय या साध्य आनन्दके सम्बन्धमें तो कोई मतभेद कभी भी नहीं होता। इसलिये आत्मा आनन्दस्वरूप है। और हम सभी तनिक भी दुःख न चाहते हुए केवल शुद्ध आनन्दको ही चाहते हैं, इसलिये आत्मा दुःख-लेशसे भी रहित, शुद्ध, अखण्ड, अपरिच्छिन्न, आनन्दस्वरूप है।

आनन्दके विभागोंका विचार करनेपर अन्तर्गत अंशरूपसे जिन पदार्थोंकी खोजमें हम सर्वदा रहते हैं वे भी हमारे स्वरूपभूत लक्षणके अन्तर्गत हैं, इनका भी संक्षेपसे विचार करना है।

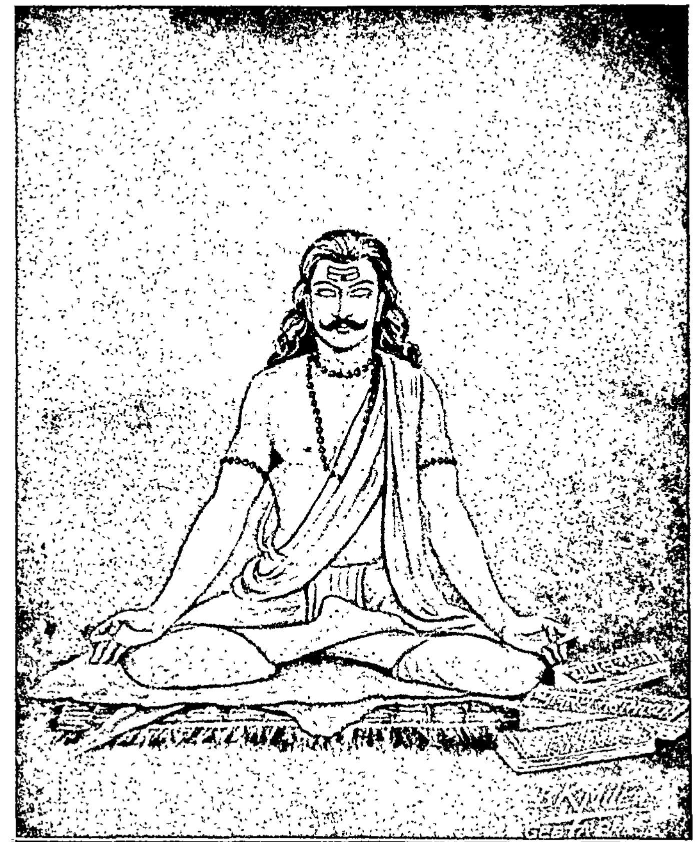
पहली बात यह है कि हम मरना नहीं चाहते, ज़िन्दा रहना चाहते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि शाश्वत-अस्तित्व ही हमारा स्वरूप है—मृत्यु नहीं। इसलिये आत्मा अमर है।

इसका निश्चय संस्कृत-भाषाके शब्दोंके चमत्कारसे भी किया जा सकता है। संस्कृतमें 'जन्म' शब्दका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है अर्थात् जो वस्तु पीछे थी वह सामने आयी; 'उत्पत्ति' शब्दका अर्थ ऊपर आना है अर्थात् जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी वह ऊपर आगयी; 'सृष्टि' शब्दका अर्थ बाहर छोड़ना है अर्थात् जिस वस्तुको भीतर छिपाकर रक्खा था उसे बाहर निकाला। इन तीन शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृत-भाषामें और कोई शब्द है नहीं, जिससे कि यह अभावात्मक भाव उत्पन्न हो सकता हो कि जो वस्तु पहले नहीं थी उसका नया अस्तित्व हुआ।

इसी प्रकारसे संस्कृतमें 'नाश' शब्दका अर्थ 'अदर्शन' है अर्थात् जो वस्तु सामने थी वह छिप गयी। इससे स्पष्ट है कि जिस वस्तुका अस्तित्व है उसका स्थानान्तर,



महर्षि वेदव्यास



महर्षि पतञ्जलि

रूपान्तर और नामान्तर हो सकता है—अभाव कभी नहीं होता । इसी तत्त्वको भगवान् श्रीकृष्णने—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

'इस आधे श्लोकसे स्पष्ट किया है; और पाश्चात्य विज्ञान-शास्त्रियोंने भी 'Indestructibility of matter', 'Conservation of energy' आदि पारिभाषिक शब्दोंसे सर्वथा स्वीकार किया है । इसलिये आत्मा अनादि और अनन्त है अर्थात् त्रिकालाबाध्य अस्तित्ववाला है जिसका वेदान्तकी परिभाषामें 'सत्' शब्दसे व्यवहार होता है ।

आनन्दके अन्तर्गत दूसरी बात यह है कि हम पदार्थोंको जाननेकी इच्छा करते ही रहते हैं और न जाननेपर दुखी होते हैं, अतः उपर्युक्त व्याप्ति (अर्थात् नियम) के अनुसार यह भी सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है—अज्ञानस्वरूप नहीं । अतएव भगवान्ने कहा—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥'
'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥'

अर्थात् जैसे सूर्यको मेघ छिपा लेते हैं और उनके निकल जानेपर वह दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकारसे आत्मारूपी ज्ञान-सूर्य अज्ञानरूपी मेघसे छिपा रहता है और उसके निकल जानेपर अनुभवगोचर होता है । इत्यादि । इसीलिये हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि जैसे अप्रकट अग्निको घर्षणसे प्रकट किया जाता है, अप्रकट बिजलीको उचित साधनोंसे प्रकट किया जाता है और शिल्पकार बड़े पत्थरसे उसके भीतर छिपी हुई अभीष्ट मूर्तिको बाहरके आवरणोंको काटकर प्रकट करता है, इसी प्रकारसे हमारे भीतर ही छिपे हुए ज्ञानको शिक्षणरूपी साधनसे प्रकट किया जाता है । बाहरसे ज्ञान कभी भी भीतर डाला नहीं जाता, भीतरसे ही बाहर निकाला जाता है । यदि ज्ञान बाहरसे भीतर डाला जाय तो पूर्वोक्त नियमके अनुसार यही परिणाम हो सकता है कि गरम किये हुए जलकी आगन्तुक गरमीकी भाँति वह आगन्तुक ज्ञान भी घटते-घटते छूट जायगा—ठहर नहीं सकता । इसीलिये अंग्रेजीमें शिक्षणका नाम 'Education' है जिसका यौगिक अर्थ 'Drawing out' (बाहर खींचना) है । यदि ज्ञानको बाहरसे भीतर डालें, तो उसका नाम Education नहीं होकर, Injection होता । कुछ ही समय पहलेकी बात है कि फ्रान्समें एक लड़की बहुत बीमार होकर पुनः स्वास्थ्यलाभ करते ही अपनी मातृभाषा फ्रेञ्चको भूलकर दस-पन्द्रह नयी भाषाओंमें एकदम बोलने लगी थी और यूरोपके बड़े-बड़े Scientists, Philosophers and Psychologists (विज्ञानवेत्ता, तत्त्ववेत्ता तथा मनोविज्ञानवेत्ता जनों) ने उस प्रसङ्गकी पूरी परीक्षा करके विवश होकर यही स्वीकार किया था कि भीतर छिपे हुए ज्ञानके अनेक विभागोंके द्वार उस बीमारीमें अपने आप खुल गये होंगे और मातृभाषावाला द्वार बन्द हो गया होगा । अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणसे भी सिद्ध हो गया कि आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है जिसका नाम वेदान्तकी परिभाषामें 'चित्' है ।

आनन्द-सामग्रीके अन्तर्गत तीसरा अंश यह है कि केवल हम मनुष्य ही नहीं किन्तु अत्यन्त छोटे कृमि-कीट भी स्वतन्त्रतामें रहना चाहते हैं—बन्धनमें नहीं । इस विश्वव्यापी अनुभवसे उपर्युक्त व्याप्तिके अनुसार स्पष्ट है कि आत्माका स्वरूपभूत लक्षण मुक्तता है—बन्धन नहीं ।

इससे आगे चौथा अंश यह भी है कि हम सब अपने लिये स्वतन्त्रता चाहते हुए साथ-साथ यह भी चाहा करते हैं कि हमारी बातको सभी मानें । इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि हम ईश्वरके अस्तित्वको जानें या न जानें, ईश्वरमें जो ईश्वरत्व है उस लक्षणको हम अपनेमें चाहते हैं अर्थात् हम असलमें ईश्वर-स्वरूप हैं ।

अतः सत्, चित्, आनन्द, मुक्तता और ईश्वरता—इन पाँच लक्षणोंको जब हम अपने स्वरूपभूत लक्षणरूपसे उपर्युक्त मननके द्वारा समझ सकते हैं तब हमारे मनमें यह तो सिद्ध है कि परमात्माके जितने लक्षण हैं वे सभी हमारे लक्षण हैं अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वास्तविक एकता स्पष्ट हो गयी ।

और भी एक प्रकारसे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो सकता है कि जब परमात्मा सर्वव्यापी है तब उसको अवश्य ही सर्वरूपी भी होना ही चाहिये । यह तो प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध है कि जिस मृत्तिकासे घट बनता है वही उसमें ओत-प्रोत होती है (बनानेवाला कुम्हार घटमें ओत-प्रोत नहीं होता), इसी प्रकारसे तन्तु और वस्त्र तथा स्वर्ण और भूषण आदिकी बातें हैं । अतः परमात्मा भी तभी सर्वजगत्व्यापी हो सकता है जब उसीसे जगत् बना हो—उसके बनाये जानेसे नहीं । अर्थात् ईश्वर

जगत्का उपादान कारण या समवाय-कारण होनेसे सर्वव्यापी है—निमित्त-कारण होनेसे नहीं। इसी तत्त्वको—

'वाचारम्भणं नामधेयं विकारो मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

इस श्रुतिने तथा—

'तदनन्यत्वं आरम्भणादिशब्देभ्यः'

इस वेदान्तसूत्रने और—

'सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं विनिश्चितम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च विनिश्चितम्॥'

भगवान् शंकराचार्यके इस श्लोकने स्पष्ट कर दिया है। इन युक्तियोंसे मनन करनेपर अद्वैत सिद्धान्तके विषयमें शंका नहीं रह सकती।

परन्तु इसमें एक शंका हो सकती है कि अद्वैत परिणामवादके अनुसार क्यों न हो? इस प्रश्नका पहला उत्तर यह है कि शुक्लयजुर्वेदकी ईशावास्यादि उपनिषदोंमें—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—इस शान्ति-मन्त्रसे सिद्ध है कि अनन्त जीवों और जगत्के बननेके बाद भी परमात्मा पूर्ण ही रहता है, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मृत्तिका, लकड़ी, तन्तु, सुवर्ण आदिसे घट, कुरसी, वस्त्र, भूषण आदिके बनाये जानेके बाद जिस मृत्तिका आदि पदार्थोंसे घट आदि बने हैं वह मूलरूपसे फिर नहीं रहते। यहाँ तो असंख्य पूर्ण पदार्थोंके निकलने और मूल पदार्थके पूर्ण ही रहनेकी बात है, जो विवर्तवाद या बिम्ब प्रतिबिम्बवादमें ही समंजस है।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि परिणामवाद सत्य होता अर्थात् यदि परमात्मा ही यथार्थमें उस उस रूपमें आता अतः जगत् सत्य होता तो नाम रूपात्मक जगत्के ज्ञानका नाम हमारे शास्त्रोंके अन्दर अज्ञान, मोह, भ्रम इत्यादि शब्दोंसे वर्णित नहीं किया जाता और अज्ञानके निवारणके लिये कर्म, उपासना, योगाभ्यास, श्रवण, मनन आदि साधनोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। उपर्युक्त सब विचारोंसे निश्चय होता है कि हम नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्दघनस्वरूपी परमात्मस्वरूप हैं, उसी स्वरूपसे आये हुए हैं और हमें उसीमें पहुँच जाना है क्योंकि उससे हम जितनी दूर अपने मनसे चले जाते हैं उतने ही दुखी हुआ करते हैं। अत एव उसमें पहुँचनेके साधनका ही विचार करना है।

भगवद्गीतामें नररूपी अर्जुन और नारायणरूपी श्रीकृष्णका रथी और सारथीका जो सम्बन्ध था उससे हम अत्यन्त सुलभतासे पता लगा सकते हैं कि दुःखमें पड़े हुए नरको अपने शान्तिमय और आनन्दमय नारायणस्वरूपमें पहुँचनेके लिये नारायणको ही अपने शरीरादिरूपी रथका सारथी बनाकर, उसके हाथमें लगाम छोड़कर अर्जुनकी भाँति—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'

—कहकर (अर्थात् भगवान्का ही आज्ञापालक शरणागत होकर) अद्वैत सिद्धान्तको न भूलते हुए—

'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥'
(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'
(*गीता*)

'सोऽहं भावेन पूजयेत्'

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमः पुमान् परमेश्वरस्स एकः।'

—इत्यादि नियमोंके अनुसार उपासना करनी चाहिये।

नर-नारायणके इस सम्बन्धका परिणाम वही होगा, जिसका गीताके अन्तिम श्लोकमें संजयने वर्णन किया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण सारथी हों और धनुर्धारी (भगवान्की आज्ञाके अनुसार अपने कर्त्तव्यको पालनेवाला) नर रथी हो वहाँ सबप्रकारकी सम्पत्ति, सुख, शान्ति और आराम है।

उद्धारार्थं मुमुक्षोररचिषत पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वैपायनेन श्रुतिपरमतिना श्रौतदर्शार्थवक्त्रा।
कृत्वा भाष्यं तदीयं निखिलबुधनुतं गूढतत्त्वोपदेष्टा
निर्द्वैतानन्ददायी जगति विजयते शंकरो देशिकेन्द्रः॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईश्वर-सिद्धि

(श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयंकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुज-सम्प्रदायाचार्य श्री १००८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

प्रत्यक्ष-प्रमाण मात्र माननेवाले बार्हस्पत्यमतानुयायी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है ।

बुद्धमतानुसारी लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हुए देहातिरिक्त क्षणिक-विज्ञानस्कन्धरूपी आत्माको मानते हैं और सर्वज्ञ-विज्ञान-सन्तानरूप ईश्वरको भी मानते हैं । वे ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं ।

जैनमतानुयायी देहातिरिक्त स्थिर आत्माको मानते हुए, स्थिर अर्हन् नामक ईश्वरको मानते हैं ।

माध्यमिकमतावलम्बी सर्वशून्यवादका पुरस्कार करते हुए शून्यको ही ईश्वर कहते हैं ।

उपर्युक्त ये चारों वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव नास्तिक कहलाते हैं । वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहे जाते हैं ।

आस्तिकोंमें पातञ्जलमतानुयायी अनुमानसे ईश्वरको सिद्ध करते हैं ।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१-२९)

इस पातञ्जलसूत्रमें ईश्वर-साधकानुमान सूचित हुआ है । उनका यह कहना है कि संसारमें ज्ञान एकसे दूसरेका अधिक और उससे तीसरेका अधिक होता है, यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञानवान् पुरुष देखनेमें आते हैं । ज्ञानकी अधिकता ज्ञान-विषय पदार्थोंकी अधिकताके कारण होती है, जो जितना ही अधिक पदार्थोंका जाननेवाला होता है वह उतना ही अधिक ज्ञानवान् कहलाता है । इस ज्ञानाधिक्यकी अन्तिम सीमा भी होनी ही चाहिये, क्योंकि तारतम्यवान् पदार्थोंकी अन्तिम सीमा होती है, जैसे कि परिमाणकी । परिमाण तारतम्यवान् पदार्थ है, यथा— राईसे मूँग बड़ा, मूँगसे चना बड़ा, चनेसे आँवला बड़ा, आँवलेसे नीमू बड़ा, उससे बेल बड़ा, क्रमशः यह बड़ाई बढ़ते-बढ़ते मकान, पहाड़ी, पहाड़, आकाश आदितक पहुँच जाती है और उसकी अन्तिम सीमा विभु परिमाण माना गया है । इसी प्रकार ज्ञान-महत्वकी अन्तिम सीमा सर्वपदार्थविषयक ज्ञान मानना होगा । तब सर्वविषयक-ज्ञानवान् अर्थात् एक सर्वज्ञ पुरुष अवश्य होना चाहिये । बस, वही ईश्वर है । इसी प्रकार ऐश्वर्यके विषयमें भी मानना चाहिये, ऐश्वर्य भी तारतम्यवान् पदार्थ है, उसकी भी अन्तिम सीमा होनी चाहिये । सर्वैश्वर्य ही वह सीमा है, तब सर्वैश्वर्यसम्पन्न एक पुरुषकी सत्ता माननी पड़ेगी, बस, वही सर्वेश्वर है ।

वैशेषिकमतावलम्बी भी अनुमानसे ईश्वरका साधन करते हैं । उनका अनुमान इसप्रकार है । हमलोग देखते हैं कि घट आदि कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता होते हैं, कर्त्ताके बिना कार्य घट आदि पदार्थ नहीं बनते, तब पृथिवी, अंकुर आदि जिन कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता प्रत्यक्षमें दिखायी नहीं देते, उनके कर्त्ता अवश्य होने चाहिये, क्योंकि वे भी कार्य हैं । वे कार्य इस कारणसे हैं कि सावयव हैं । जिनके अवयव होते हैं वे सब कार्य होते हैं । इसप्रकार जब पृथिवी, अंकुर आदि कार्य-पदार्थोंका कर्त्ता मानना पड़े और हम जीवोंमें इतना सामर्थ्य नहीं प्रतीत होता कि उन महान् पदार्थोंको हम बना सकें, तब हम जीवोंसे अतिरिक्त एक कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, वही सर्वेश्वर है ।

नैयायिक भी ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं । किन्तु वैशेषिकोंके अनुमानसे नैयायिकोंका अनुमान भिन्न प्रकारका है ।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'

(न्याय० ४ । १ । १९)

यह न्यायसूत्र है । पुरुष-जीव प्रयत्न करता है, किन्तु नियमसे प्रयत्नका फल उसको नहीं मिलता । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवके कर्मका फल पराधीन है । जिसके अधीन जीव-कृत कर्म-फल है, वही ईश्वर है । सभी अचेतन-पदार्थ किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही किसी व्यापारको करते हैं । जीवका धर्माधर्मरूप अचेतन-कर्म जिस चेतनसे अधिष्ठित होकर कर्म-फल-दानमें प्रवृत्त होता है, वह चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर है ।

सांख्यमतावलम्बी वैशेषिकाद्युक्त अनुमानोंका दूषण करते हुए स्वतन्त्र जीवातिरिक्त ईश्वरको न मानकर कहते हैं कि रागादिरहित अणिमादि सिद्धिमान् अनित्य ज्ञान-वान् सिद्धपुरुष ही वेद-शास्त्रमें ईश्वरके नामसे व्यवहृत है । इसके अतिरिक्त ईश्वर नामक पुरुष कोई नहीं है । सांख्य-दर्शनमें—

जगत्का उपादान-कारण या समवाय-कारण होनेसे सर्व-व्यापी है—निमित्त-कारण होनेसे नहीं। इसी तत्त्वको—

'वाचारम्भणं नामधेयं विकारो मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

इस श्रुतिने तथा—

'तदनन्यत्वमारम्भणादिशब्देभ्यः'

इस वेदान्तसूत्रने और—

'सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं विनिश्चितम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च विनिश्चितम्॥'

भगवान् शंकराचार्यके इस श्लोकने स्पष्ट कर दिया है। इन युक्तियोंसे मनन करनेपर अद्वैत सिद्धान्तके विषयमें शंका नहीं रह सकती।

परन्तु इसमें एक शंका हो सकती है कि अद्वैत परिणामवादके अनुसार क्यों न हो? इस प्रश्नका पहला उत्तर यह है कि शुक्लयजुर्वेदकी ईशावास्यादि उपनिषदोंमें—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—इस शान्ति मन्त्रसे सिद्ध है कि अनन्त जीवों और जगत्के बननेके बाद भी परमात्मा पूर्ण ही रहता है, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मृत्तिका, लकड़ी, तन्तु, सुवर्ण आदिसे घट, कुरसी, वस्त्र, भूषण आदिके बनाये जानेके बाद जिस मृत्तिका आदि पदार्थोंसे घट आदि बने हैं वह मूलरूपसे फिर नहीं रहते। यहाँ तो असंख्य पूर्ण पदार्थोंके निकलने और मूल पदार्थके पूर्ण ही रहनेकी बात है, जो विवर्त्तवाद या बिम्ब प्रतिबिम्बवादमें ही समंजस है।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि परिणामवाद सत्य होता अर्थात् यदि परमात्मा ही यथार्थमें उस उस रूपमें आता अतः जगत् सत्य होता तो नाम रूपात्मक जगत्के ज्ञानका नाम हमारे शास्त्रोंके अन्दर अज्ञान, मोह, भ्रम इत्यादि शब्दोंसे वर्णित नहीं किया जाता और अज्ञानके निवारणके लिये कर्म, उपासना, योगाभ्यास, श्रवण, मनन आदि साधनोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। उपर्युक्त सब विचारोंसे निश्चय होता है कि हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघनस्वरूपी परमात्मस्वरूप हैं, उसी स्वरूपसे आये हुए हैं और हमें उसीमें पहुँच जाना है क्योंकि उससे हम जितनी दूर अपने मनसे चले जाते हैं उतने ही दुखी हुआ करते हैं। अतः अब उसमें पहुँचनेके साधनका ही विचार करना है।

भगवद्गीतामें नररूपी अर्जुन और नारायणरूपी श्रीकृष्णका रथी और सारथीका जो सम्बन्ध था उससे हम अत्यन्त सुलभतासे पता लगा सकते हैं कि दुःखमें पड़े हुए नरको अपने शान्तिमय और आनन्दमय नारायणस्वरूपमें पहुँचनेके लिये नारायणको ही अपने शरीरादिरूपी रथका सारथी बनाकर, उसके हाथमें *लगाम* छोड़कर अर्जुनकी भाँति—

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'

—कहकर (अर्थात् भगवान्का ही आज्ञापालक शरणागत होकर) अद्वैत सिद्धान्तको न भूलते हुए—

'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥'
(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'
(गीता)

'सोऽहं भावेन पूजयेत्'

'सकलमिदमहं च वासुदेवः परमः पुमान् परमेश्वरस्स एकः।'

—इत्यादि नियमोंके अनुसार उपासना करनी चाहिये।

नर नारायणके इस सम्बन्धका परिणाम वही होगा, जिसका गीताके अन्तिम श्लोकमें संजयने वर्णन किया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण सारथी हों और धनुर्धारी (*भगवान्की आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यको पालनेवाला*) नर रथी हो वहाँ सबप्रकारकी सम्पत्ति, सुख, शान्ति और आराम है।

उद्धारार्थं मुमुक्षोररचिषत पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वैपायनस्तं श्रुतिपरमतिना श्रौतदीप्तार्थवक्त्रा।
कृत्वा भाष्यं तदीयं निखिलबुधनुतं गूढतत्त्वार्थदृष्टा
निर्द्वैतानन्ददायी जगति विजयते शंकरो देशिकेन्द्रः॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईश्वर-सिद्धि

(श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयंकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुज-सम्प्रदायाचार्य श्री १ १ ० ८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

प्रत्यक्ष-प्रमाण मात्र माननेवाले बार्हस्पत्यमतानुयायी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है।

बुद्धमतानुसारी लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हुए देहातिरिक्त क्षणिक-विज्ञानस्कन्धरूपी आत्माको मानते हैं और सर्वज्ञ-विज्ञान-सन्तानरूप ईश्वरको भी मानते हैं। वे ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं।

जैनमतानुयायी देहातिरिक्त स्थिर आत्माको मानते हुए, स्थिर अर्हन् नामक ईश्वरको मानते हैं।

माध्यमिकमतावलम्बी सर्वशून्यवादका पुरस्कार करते हुए शून्यको ही ईश्वर कहते हैं।

उपर्युक्त ये चारों वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव नास्तिक कहलाते हैं। वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहे जाते हैं।

आस्तिकोंमें पातञ्जलमतानुयायी अनुमानसे ईश्वरको सिद्ध करते हैं।

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१–१९)

इस पातञ्जलसूत्रमें ईश्वर-साधकानुमान सूचित हुआ है। उनका यह कहना है कि संसारमें ज्ञान एकसे दूसरेका अधिक और उससे तीसरेका अधिक होता है, यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञानवान् पुरुष देखनेमें आते हैं। ज्ञानकी अधिकता ज्ञान-विषय पदार्थोंकी अधिकताके कारण होती है, जो जितना ही अधिक पदार्थोंका जाननेवाला होता है वह उतना ही अधिक ज्ञानवान् कहलाता है। इस ज्ञानाधिक्यकी अन्तिम सीमा भी होनी ही चाहिये, क्योंकि तारतम्यवान् पदार्थोंकी अन्तिम सीमा होती है, जैसे कि परिमाणकी। परिमाण तारतम्यवान् पदार्थ है, यथा—राईसे मूँग बड़ा, मूँगसे चना बड़ा, चनेसे आँवला बड़ा, आँवलेसे नीमू बड़ा, उससे बेल बड़ा, क्रमशः यह बड़ाई बढ़ते-बढ़ते मकान, पहाड़ी, पहाड़, आकाश आदितक पहुँच जाती है और उसकी अन्तिम सीमा विभु परिमाण माना गया है। इसी प्रकार ज्ञान-महत्वकी अन्तिम सीमा सर्वपदार्थविषयक ज्ञान मानना होगा। तब सर्वविषयक-ज्ञानवान् अर्थात् एक सर्वज्ञ पुरुष अवश्य होना चाहिये। बस, वही ईश्वर है। इसी प्रकार ऐश्वर्यके विषयमें भी मानना चाहिये, ऐश्वर्य भी तारतम्यवान् पदार्थ है, उसकी भी अन्तिम सीमा होनी चाहिये। सर्वैश्वर्य ही वह सीमा है, तब सर्वैश्वर्यसम्पन्न एक पुरुषकी सत्ता माननी पड़ेगी, बस, वही सर्वेश्वर है।

वैशेषिकमतावलम्बी भी अनुमानसे ईश्वरका साधन करते हैं। उनका अनुमान इसप्रकार है। हमलोग देखते हैं कि घट आदि कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता होते हैं, कर्त्ताके विना कार्य घट आदि पदार्थ नहीं बनते, तब पृथिवी, अंकुर आदि जिन कार्य-पदार्थोंके कर्त्ता प्रत्यक्षमें दिखायी नहीं देते, उनके कर्त्ता अवश्य होने चाहिये, क्योंकि वे भी कार्य हैं। वे कार्य इस कारणसे हैं कि सावयव हैं। जिनके अवयव होते हैं वे सब कार्य होते हैं। इसप्रकार जब पृथिवी, अंकुर आदि कार्य-पदार्थोंका कर्त्ता मानना पड़े और हम जीवोंमें इतना सामर्थ्य नहीं प्रतीत होता कि उन महान् पदार्थोंको हम बना सकें, तब हम जीवोंसे अतिरिक्त एक कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, वही सर्वेश्वर है।

नैयायिक भी ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं। किन्तु वैशेषिकोंके अनुमानसे नैयायिकोंका अनुमान भिन्न प्रकारका है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'

(न्याय० ४ । १ । १९)

यह न्यायसूत्र है। पुरुष-जीव प्रयत्न करता है, किन्तु नियमसे प्रयत्नका फल उसको नहीं मिलता। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवके कर्मका फल पराधीन है। जिसके अधीन जीव-कृत कर्म-फल है, वही ईश्वर है। सभी अचेतन-पदार्थ किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही किसी व्यापारको करते हैं। जीवका धर्माधर्मरूप अचेतन-कर्म जिस चेतनसे अधिष्ठित होकर कर्म-फल-दानमें प्रवृत्त होता है, वह चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर है।

सांख्यमतावलम्बी वैशेषिकाद्युक्त अनुमानोंका दूषण करते हुए स्वतन्त्र जीवातिरिक्त ईश्वरको न मानकर कहते हैं कि रागादिरहित अणिमादि सिद्धिमान् अनित्य ज्ञानवान् सिद्धपुरुष ही वेद-शास्त्रमें ईश्वरके नामसे व्यवहृत है। इसके अतिरिक्त ईश्वर नामक पुरुष कोई नहीं है। सांख्य-दर्शनमें—

९३, १-२९

'ईश्वरासिद्धेः । मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः । उभयथाप्यसत्करत्वम् । मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासासिद्धस्य वा ।'

इन चार सूत्रोंमें यही बात कही गयी है।

वेदप्रामाण्यवादी वेदान्ती लोगोंका कहना है कि ईश्वर अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर-सिद्धिमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है। वैशेषिकोंने ईश्वर-साधनमें जो अनुमान बताया है, उससे सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वशक्ति, परम-दयालु, सर्वकल्याणपूर्ण ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती। घटको दृष्टान्त मानकर मही, महीधर, सागर, वृक्ष, अंकुर आदि सावयव कार्योंके कर्त्ताका साधन किया जाता है, यह ठीक है। किन्तु इससे जीवभिन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, *क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि मही आदिका* जो कर्त्ता सिद्ध हो वह जीवभिन्न भी हो। यह सच है कि हमलोगोंमेंसे कोई इनके कर्त्ता नहीं हैं। इसीसे यह मान लेनेकी आवश्यकता नहीं है कि किसी भी जीवने इनकी रचना नहीं की। मनुष्योंमें एक-से-एक बढ़कर ज्ञान-शक्तिशाली पुरुष देखनेमें आते हैं, मनुष्योंसे देवताओंकी शक्ति अधिक मानी जाती है, योगी, तपस्वी आदिकी विचित्र अलौकिक शक्तियाँ सब लोग मानते हैं, ऐसे अलौकिक शक्तिशाली किसी जीवने ही इन मही, अंकुर आदि पदार्थोंकी रचना की, ऐसा मान लेनेमें क्या आपत्ति है? सिवा इसके इन सब चीजोंको एक ही व्यक्तिने बनाया, इसमें ही क्या प्रमाण है? हम देखते हैं कि छोटी कुटियाको एक ही मनुष्य बना लेता है, बड़े-बड़े राजमहलोंको अनेक मनुष्य मिलकर बनाते हैं, तब ऐसा भी तो हो सकता है कि मही-महीधर आदि बड़ी-बड़ी चीजें एक व्यक्तिकी बनायी हुई न होकर अनेक पुरुषोंकी बनायी हुई हों। ऐसी हालतमें उक्त अनुमानसे सकल-पदार्थ-निर्माण-क्षम एक ईश्वरकी सिद्धि कैसे हो सकती है? और अनुमानसे जो ईश्वर सिद्ध होगा, वह घटके कर्त्ता दृष्टान्तभूत कुम्हारके समान अल्पज्ञ, अल्पशक्ति कर्मपरवश दुःखी ही सिद्ध होगा। मही-महीधर आदिके कर्त्तामें दृष्टान्तभूत घटके कर्त्ता कुम्हारसे कुछ अधिक ज्ञानशक्ति भले ही कार्यानुसार सिद्ध हो, किन्तु जिसप्रकारका ईश्वर शास्त्रसिद्ध है, वैसा अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता।

'अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः ।' — [illegible]

'अनुमान ज्ञातसम्बन्धयोरेकज्ञाने नान्यस्य ज्ञानम् ।'

सामान्यतया अनुमानका यह लक्षण है, अर्थात् जिन दो पदार्थोंमें परस्पर-नियत सम्बन्ध पहले ज्ञात हो उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। अग्नि और धूम इनमें परस्परका सम्बन्ध जिनको मालूम है, उनको इन दोनोंमेंसे एक धूमके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। प्रकृतमें मही-महीधर आदि पदार्थोंके कार्यत्वके साथ ईश्वर-कर्तृकत्वका कोई भी सम्बन्ध पूर्वमें ज्ञात नहीं है, तब उस कार्यत्वके ज्ञानसे ईश्वर-कर्तृकत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है? यही कारण है कि वेद-प्रामाण्यवादी वेदान्ती ईश्वरको केवल शास्त्रसे सिद्ध मानते हैं। सामान्यतया वेदका लक्षण भी वैदिक लोग यही बतलाते हैं कि—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमानसे जो उपाय जाना नहीं जाता, उसको जिससे जानते हों वही वेद है। यहाँ उपाय शब्द होनेपर भी उससे वस्तुमात्रको लेना चाहिये। वेद ऐसे ही तत्त्वोंका बोधन करनेवाला है जो अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाने जाते।

जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, जिन दो पदार्थोंका परस्पर नियत सम्बन्ध पहलेसे ज्ञात हो, उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं। जैसे ये दोनों प्रमाण हैं, वैसे ही शब्दोंके श्रवणसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी प्रमाण है, तब ईश्वरकी सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे न होकर शब्दसे हो तो इसमें क्या आपत्ति है? क्योंकि तीनों ही तो प्रमाण हैं।

स्वतःप्रामाण्यवाद

किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर वह इष्ट-साधन और स्वप्रयत्नलभ्य विदित हो तो उसकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। प्रवृत्ति 'सकम्प-प्रवृत्ति' और 'निष्कम्प-प्रवृत्ति' के नामसे दो प्रकारकी होती हैं। सकम्प-प्रवृत्ति उसे कहते हैं जो भय या आशंकाके साथ होती है। निष्कम्प-प्रवृत्ति वह होती है जिस प्रवृत्तिके समय मनुष्यके हृदयमें कोई शंका या भय नहीं रहता। इसप्रकारकी निष्कम्प-प्रवृत्तिके लिये पदार्थ-ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञानकी भी आवश्यकता होती है। कठिन प्रयत्न-साध्य या बहुवित्तव्यय-साध्य कार्यमें मनुष्यकी प्रवृत्ति निष्कम्प-प्रवृत्ति ही होती है और वह प्रामाण्य-ज्ञानके बिना हो नहीं सकती। तब इस बातका विचार करना चाहिये कि मनुष्यको जिस

किसी भी वस्तुका जब ज्ञान होता है, उसके साथ उस ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञान कैसे होता है। मीमांसकोंका यह कहना है कि किसी भी वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस ज्ञानमें उस वस्तुके साथ यथार्थताका भी भान हो जाता है। उसके लिये स्वतन्त्र सामग्रीकी आवश्यकता ही नहीं, जिस सामग्रीसे किसी भी वस्तुका ज्ञान होता है उसी सामग्रीसे उस ज्ञानमें यथार्थताका भी भान हो जाता है। अतएव दूरसे देखनेवाला मनुष्य रजतका ज्ञान होते ही उसे लेनेके लिये दौड़ पड़ता है। उसको जो रजतका ज्ञान हुआ वह प्रमाण है या अप्रमाण—इस तरहका विचार करते हुए वह प्रामाण्य-निश्चयके लिये प्रतीक्षा नहीं करता। इससे यह सिद्ध होता है कि उस पुरुषको रजतका ज्ञान जिस समय हुआ था, उसी समय उस ज्ञानमें यथार्थताका भी ज्ञान हो गया था। अन्यथा वह रजत लेनेके लिये कैसे दौड़ता? अयथार्थताका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है, स्वतः नहीं! दूरसे देखनेपर एक मनुष्यको रजतका ज्ञान हुआ और उसके लेनेके लिये वह दौड़ा गया, पास पहुँचनेपर उसको चाँदीके बदले सींप दिखलायी दी, तब वह समझता है कि दूरसे देखनेपर मुझे जो चाँदीका ज्ञान हुआ था वह यथार्थ नहीं था। इसप्रकार पूर्वज्ञानमें अयथार्थताको समझनेके लिये वहाँ दो कारण उपस्थित हैं, एक तो उसको समीप पहुँचनेपर जो सींपका प्रत्यक्ष हुआ वह, इसीको बाधक-ज्ञान कहते हैं, दूसरा दूरत्व-दोषका ज्ञान, यह कारण-दोष कहलाता है। वह निश्चय करता है कि मुझे जो पहले रजतका बोध हुआ था उसमें दूरी कारण है। यह दूरस्थत्व-दोष ही रजत-ज्ञानका कारण था। किन्तु यह बात पहले मालूम नहीं होती। पहले तो उसको जो रजत-ज्ञान हुआ था उसको वह यथार्थ ही समझता था, तभी तो वह रजतको लेनेके लिये दौड़ा गया था, समीप जानेपर उसको सींप दिखायी दी, तब वह विचार करने लगा कि पहले रजतका बोध कैसे हुआ? प्रत्यक्षमें सींपका ज्ञान हुआ है, तब वह पहलेके ज्ञानको अयथार्थ जान लेता है और उसका कारण दूरस्थत्वदोष समझता है। अतएव ज्ञानमें यथार्थतारूपी प्रामाण्यका ज्ञान स्वतः अर्थात् स्वीय-सामग्री—ज्ञान-सामग्रीसे ही हो जाता है। अप्रामाण्यका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है। यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है, इसी सिद्धान्तको वेदान्ती भी मानते हैं। नैयायिक आदि अन्य मतावलम्बी यथार्थ ज्ञानको गुणज्ञान-जन्य मानते हैं। जैसे अयथार्थताका ज्ञान कारण-दोष-ज्ञानसे होता है, वैसे ही यथार्थताका ज्ञान भी गुण-ज्ञानसे होता है। उनका यह सिद्धान्त है। इस विषयपर बड़ा लम्बा कोटिक्रम चला करता है। वह सब यहाँ नहीं लिखा जा सकता, वेदान्ती स्वतःप्रामाण्यवादी हैं। यहाँ इतना ही कहा जाता है।

हाँ, तो, जब ज्ञानमात्रमें स्वतः ही प्रामाण्य-ज्ञान होता है, तब वेदजन्य ज्ञानमें भी यथार्थताका बोध होनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? जबतक कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञान न हो तबतकके लिये वेदजन्य ज्ञानकी यथार्थतामें कोई बाधा नहीं। वेदरूपी शब्द-राशि, अनाद्यविच्छिन्नाध्ययनाध्यापनपरम्परागत अपौरुषेय नित्य निर्दोष ग्रन्थरूप है। शब्दमें और परम्परया शब्दजन्य ज्ञानमें अप्रमाणताका कारण-भूत-दोष ग्रन्थकर्त्ताके भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि ही हैं। जिस ग्रन्थके कर्त्तामें भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोष हैं वह ग्रन्थ कर्तृदोषके कारण अप्रमाण होता है। वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुषका बनाया हुआ नहीं है और उसका अध्ययन ऐसे नियमोंके साथ अविच्छिन्नतासे चला आता है कि जिससे उसमें एक अक्षरका भी वैपरीत्य या न्यूनाधिक-भाव नहीं हो सकता, अतएव वह नित्य और निर्दोष है। सर्वज्ञ ईश्वर कल्पादिमें केवल उपदेश करता है, पूर्वकल्पमें वेद जिस रूपमें था, उसी रूपमें वह उपदेश करता है, अतएव ईश्वर भी वेदका कर्त्ता नहीं, उपदेष्टामात्र है। जब कि वेदका कोई कर्त्ता ही नहीं, तब वेदमें कर्तृ-दोष आ नहीं सकता। इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका भंजक कारण-दोषका अभाव है। बाधक-ज्ञान आजतक न हुआ, न होगा, न हो ही सकता है। क्योंकि बाधक-ज्ञान प्रत्यक्षरूप या अनुमानरूप होना चाहिये, वेदप्रतिपाद्य-विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरोंका विषय नहीं है। केवल अलौकिक विषय ही वेदवेद्य है, तब उन विषयोंके विपरीत वस्तु-बोध करनेका सामर्थ्य अन्य प्रमाणोंमें कैसे हो सकता है? अतः कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञानके अभावमें वेदकी प्रमाणता अक्षुण्ण रहती है।

इसप्रकार स्वतःप्रमाणभूत नित्य निर्दोष वेदरूपी प्रमाणसे ईश्वर सिद्ध होता है, इसके विरुद्ध कोई भी प्रमाण काम नहीं कर सकता। यदि कोई प्रत्यक्ष या अनुमानसे ईश्वरका अभाव सिद्ध करना चाहे तो, उनसे यह कहना चाहिये कि ये दोनों प्रमाण अलौकिक ईश्वरकी सत्तामें जब प्रमाण

नहीं हो सकते तो उसका अभाव ही इनसे कैसे सिद्ध हो सकता है ? हम लोगोंके अनुभवमें यही बात आयी है कि जो प्रमाण जिस वस्तुकी सत्ताका बोधन कर सकता है, वही उसके अभावका भी बोधन कर सकता है । हम अपनी आँखोंसे भूतलपर रक्खे हुए घड़ेको जानते हैं तो उन्हीं आँखोंसे वहाँसे घड़ेको हटा देनेपर घड़ेका अभाव भी जानते हैं । अन्य इन्द्रियोंसे नहीं । आँख मींचकर कोई यह नहीं जान सकता कि सामने घड़ा है या नहीं । किसी पेड़पर पिशाच है कि नहीं, यह बात हम किसी भी इन्द्रियसे नहीं जान सकते । यहाँपर यह जान लेना चाहिये कि पिशाचकी सत्ता और अभाव दोनों ही हमारे इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं । आँखसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि पेड़में पिशाच नहीं है, क्योंकि पिशाच आँखोंका विषय नहीं है, यद्यपि वहाँ पिशाच दीखता नहीं है, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि पेड़में पिशाच नहीं है, क्योंकि पिशाच इन्द्रियवेद्य नहीं है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियवेद्य नहीं है । जब यह बात है, तो ईश्वरके अभावको ही हम प्रत्यक्ष या अनुमानसे कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? ईश्वर इन्द्रियातीत है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियातीत है । अतएव शास्त्रसिद्ध ईश्वरसत्ताके विरुद्ध बाधक-ज्ञान किसी भी प्रमाणसे हो नहीं सकता, इसप्रकार शास्त्रैकवेद्य ईश्वरकी सिद्धि निर्बाध है ।

अकल्पनीयकी कल्पना

(लेखक—प० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' प्रो० हिन्दू-युनिवर्सिटी)

शार्दूलविक्रीडित

सोचे व्यापकता-विभूति प्रतिमा है पार पाती नहीं ।
होती है चकिता विलोक विभुता विज्ञानकी विज्ञता ।
लोकातीत अचिन्तनीय-पथमें है चूकती चेतना ।
कोई व्यक्ति अकल्पनीय-विभुकी कैसे करे कल्पना ? ।१।

आती है सफरी-समूह-उरमें क्या सिंधुकी सिंधुता ?
क्या ज्ञाता खग-वृन्द है गगनके विस्तार व्यापारका ?
पाती है न पिपीलिका अवनिकी सर्वाङ्गताका पता ।
कैसे मानव तो महा-महिमकी सत्ता-महत्ता कहे ? ।२।

ऐसा अजन पा सका न जिससे होती तमोहीनता ।
कोई दे न सका उसे सदय हो स्वाभाविकी-दिव्यता ।
जाला दूर हुआ न अन्ध-दृगको आलोक-माला मिली ।
कैसे लोक विलोक लोक-पतिको लोकोपयोगी बने ? ।३।

जो है अन्त-विहीन अन्त उसका कैसे किसीको मिले ?
कैसे हो वह गीत गीत रचके जो देव गीतीत है ?
कैसे चित्त सके विचार उसको जो चित्तका चित्त है ?
कैसे लोचन लें विलोक वह तो है लोचनोंमें छिपा ? ।४।

वंशस्थ

कहे उसे तो मति मानवीय क्यों ?
बने न क्यों मूक त्रिलोककी गिरा ?
न वेदद्वारा यदि वेदनीय है ।
अभेदके भेद विभेदकी कथा ।५।

गीत

मूल-भूत मन-वचन-अगोचर मत-नियमन-व्रतधारी ।
चिन्तन-मनन-मंत्र-अवलम्बन विनयन-रत अविकारी ।१।

विभु है विश्व-विभूति-विधायक ।
अपनी सकल अलौकिकतामें लौकिकता-परिचायक ।२।

उसका है अकुण्ठपद इससे है वैकुण्ठ-निवासी ।
है वह सत्यस्वरूप इसलिये सत्यलोकका वासी ।३।

क्षीर पिलाकर है अनन्त जीवोंका जीवन-दाता ।
इसीलिये वह क्षीर सिन्धुका स्वामी है कहलाता ।४।

जैसे किसी बीजमें विटपीका विकास है बसता ।
जैसे रविके विपुल करोंमें है आलोक बिलसता ।५।

वैसे ही विलाससे उसके लोक-लोक हैं बनते ।
पलक मारते नभ-तल जैसे वर वितान हैं तनते ।६।

बहु-सित-भानु भानु उस वारिधिके हैं विविध बबूले ।
उस महान-उपवनमें तारक है प्रसून सम फूले ।७।

तेज उसीके तेजपुजसे तेज-बीज है बोता ।
विरच विपुल-आलोक-पिण्डको लोक-तिमिर है खोता ।८।

वह समीर जीवन-प्रवाह बन जो पल-पल है बहता ।
उस अनन्त-जीवनके जीवनसे है जीवित रहता ।९।

सलिलकी सलिलता उससे ही सहज सरसता पाती ।
रसा उसीके रस-सेचनसे है रसवती कहाती ।१०।

शार्दूलविक्रीडित

लोकोंका लय हो गये प्रलयमें भू-लोप-लीला हुए ।
नाना-भूल-प्रसूत-बाष्प-अणुके संसारव्यापी बने ।
छाये कज्जलसे प्रगाढ़-तमके आये महा-शर्वरी ।
सोता है वह शेष-भूत-भवमें है शेष शायी अतः ॥१॥

ईश्वर-तत्त्व

(लेखक—श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम,साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न श्रीगोस्वामी दामोदरजी शास्त्री)

गोविन्दचरणद्वन्द्वमधुनो महदद्भुतम् । यत्पायिनो न मुह्यन्ति मुह्यन्ति यदपायिनः ॥

सब पदार्थोंमें ईश्वर ही दुरवगम है । संसारमें अनेकानेक मतोंका होना ही प्रधानरूपसे इस बातको सिद्ध करता है ।

वस्तुतः ईश्वरकी सत्तामें किसीको भी विवाद नहीं है; ईश्वर-सम्बन्धी जितने मतभेद पाये जाते हैं, सब उसके स्वरूप, लक्षण, कर्त्तव्य, प्रयोजन और प्रमाणसे ही सम्बन्ध रखते हैं । उदाहरणार्थ, किसी स्थानपर 'माला है या डोरी है, अथवा लकड़ी है या सर्प है' इत्यादि विकल्प विशेषणोंमें ही होते हैं; परन्तु कुछ वस्तु है, इस विशेष्यमें किसीको भी विरोध नहीं होता । और यह कथन कि, 'ईश्वरकी सत्ताके न माननेवाले मत भी हैं,' उन्मत्त प्रलाप है अथवा अनभिज्ञोक्ति है । क्योंकि ईश् ('ऐश्वर्य करना' अर्थवाले) धातुसे स्वभाव-विशेष विशेषणसे विशिष्ट कर्त्ता अर्थमें 'वरच्' प्रत्यय लगाकर महर्षि पाणिनिने अनादि-सिद्ध ईश्वर-पदका मुख्यार्थ 'ऐश्वर्य स्वभाववाला' बतलाया है । सुतरां ईश्वर-पदके योगरूढ़ अर्थसे ईश्वर नामक वस्तुकी सत्ता सिद्ध होती है ।

वह ईश्वर एक ही है, उसकी अनेकता अनपेक्षित है या सिद्ध ही नहीं हो सकती । यह विषय आगे चलकर स्पष्ट होगा ।

हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यवहारमें किसी शब्दका प्रयोग रूढ़िसे किंवा वक्ताके प्रयोजनसे मुख्यार्थके अतिरिक्त अर्थका ज्ञान करानेवाले 'लक्षणा' नामक अप्रधान सम्बन्धसे कभी अमुख्यार्थके ज्ञानमें भी प्रयुक्त होता है । अतः आंशिक ऐश्वर्यको लेकर जीवमें भी 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है, अथवा केवल सामर्थ्यको निमित्त बनाकर जड़-पदार्थके लिये भी ईश्वर शब्दका प्रयोग हो जाता है, जैसे—'प्राणनाशके लिये विष ईश्वर है,' इत्यादि ।

परन्तु जब ईश्वर शब्द अनादिपरम्परासे प्राप्त है, तब इसका अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ अमुख्य (गौण) रूपमें विश्रान्त नहीं हो सकता, क्योंकि मुख्यके बिना अमुख्य (गौण) की सिद्धि ही नहीं हो सकती । ऐसी स्थितिमें स्थूणानिखनन-न्यायसे अनीश्वरवादका ईश्वरकी सत्ताकी पुष्टिमें ही पर्यवसान होता है ।

ऐसा ईश्वर धर्मिग्राहकमानसे एकत्वविशिष्ट ही सिद्ध होता है, क्योंकि यदि एकसे अधिक ईश्वरको मानें तो उनके ऐश्वर्यमें या तो समानता माननी पड़ेगी या भिन्नता । यदि समानता मानी जाय तो एकसे अतिरिक्त ईश्वरका उपयोग नहीं देखनेमें आता; और यदि भिन्नता मानें तो वह विरुद्ध वस्तुके अभावमें विसंवादी ऐश्वर्यवाला अनीश्वर ठहरेगा । इसलिये एक ही ईश्वर सिद्ध होता है ।

ईश्वरके स्वरूपके विषयमें निराकार-साकारवाद भी सर्वसिद्धान्तसमन्वयनयमें प्रकाश-प्रकाशिन्यायसे परस्पर विरोधी नहीं हैं । ईश्वरकी सच्चिदानन्दमयता भी अनुमानादि प्रमाणोंसे सिद्ध है, अर्थात् जिस अनुमानसे प्रकृत ईश्वर सिद्ध होता है, वही अनुमान ईश्वरको त्रिकालमें एकरससत्ता, चिन्मयता, आनन्दरूपता आदि धर्मोंसे विशिष्ट सिद्ध करता है । इतना ही नहीं, बल्कि इसी धर्मिग्राहक-प्रमाणसे वह सत्यभाषिता, दयालुता, निरपेक्षता, निष्पक्षपातित्व, राग-द्वेषादिशून्यत्व, सर्वकाम्यत्व, प्रेमवशंवदभावान्त, निखिल कल्याण गुणोंसे भी नित्य सुन्दर सिद्ध होता है ।

शाब्द-प्रमाणसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, किन्तु इसके अधिकारी सब नहीं हैं । प्रामाण्य-स्वतोग्राह्य माननेवाले पुरुष ही शाब्द-प्रमाणके अधिकारी होते हैं । इसी कारणसे इसका उल्लेख पहले नहीं किया गया है । हाँ, यह दूसरी बात है कि वक्तामें सत्यवादिता प्रमाणित होनेपर यदि वह कोई नयी बात कहे तो वह भी प्रमाणित समझी जाती है, अतएव परतः प्रामाण्यवादमें आप्तत्व-विशिष्ट ईश्वरकी सिद्धिके बाद ईश्वरोक्त वेदोंकी प्रमाणतासे अनुमान-द्वारा सर्वथा सिद्ध न होनेवाले सृष्ट्यादि क्रम प्रभृति अनेक विषयोंकी सिद्धि शाब्द-प्रमाणसे ही होती है ।

यही सृष्टि आदि क्रिया ईश्वरके कर्म हैं ।

यद्यपि किसी प्रयोजनको सामने रखकर ही चेतनमात्र कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, तथा प्रयोजनके द्वारा ही किसी प्रवृत्तिमें अभीष्टके अभावका अनुमान होता है; ऐसी अवस्थामें ईश्वरके लिये भी किसी अप्राप्त इष्टके प्राप्तिकी इच्छासे स्वकर्त्तव्यमें प्रवृत्ति होनेसे उसमें पूर्वोक्त आप्त-कामताके अभावसे अनीश्वरत्वका अनुमान होता है । परन्तु यह दोष तभी आ सकता है जब प्रवृत्तिका कारण केवल स्वार्थ हो; परन्तु ऐसी बात नहीं है । नियमतः प्रवृत्तिमें

दो कारण होते हैं, स्वार्थ और करुणा। और ईश्वरकी इच्छाका प्रयोजक जीवोंके ऊपर उसकी करुणा ही है, जिसे ऊपर दयाके नामसे सूचित किया गया है। अतएव जीवोंपर अनुग्रह करना ही ईश्वरका सृष्टि आदि कर्ममें प्रयोजन है। जो दण्ड देनेके योग्य है उसे दण्ड देकर उसके पापोंको दूर करनेमें स्थूलदृष्टिसे यद्यपि उसके प्रति निग्रहकी प्रतीति होती है, तथापि वस्तुतः उसके जीवनकी शुद्धताका विचार करनेसे वह परम अनुग्रहरूप सिद्ध होता है।

इस अनुग्रहको प्राप्त हुए जीवका स्वभाव-सिद्ध सत्त्व-प्रधान अन्तःकरण शान्तिकी खोजमें परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखोंसे मिश्रित सांसारिक शान्तिसे विरक्त होकर शुद्ध शान्तिके लिये परमोत्कण्ठित हो असम्भावना, विपरीत भावना और अदृष्ट दोषोंको निवृत्त करनेवाले उपायोंमें लगता है। तथा अपने अधिकारानुसार इष्टकी प्राप्तिरूप विशिष्ट अनुग्रहका भाजन होकर कृतकृत्य होता है, प्रकारान्तर-से उसका भूतानुग्रहरूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है।

ईश्वर-सत्ताकी सिद्धिमें साधारणतः तीन प्रकारके निषेधक होते हैं—स्थाणुखननन्यायावलम्बी, अभ्युपगम-सिद्धान्ती और जल्पक। इनमें अन्तिम जल्पककी बातको कोई भी तत्त्वान्वेषी पुरुष नहीं सुनेगा, क्योंकि तत्त्वान्वेषणमें जल्पकको कोई अधिकार ही नहीं है। दूसरे अभ्युपगम-सिद्धान्तीको रुचि तथा अधिकारके अनुसार दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे ही कृतकर्त्तव्यमन्य होनेमें कोई दोष नहीं आता; और पहिले स्थाणुखननन्यायावलम्बी प्रमाता तो अनुकूल ही होते हैं, तथा जो भ्रान्त होते हैं वह सदा तथा सर्वत्र ही दयनीय होते हैं। इसप्रकार सर्वसामञ्जस्य-दृष्टिसे कोई भी अनीश्वरवादी प्रतिकूल नहीं ठहरते हैं।

अब जो ईश्वरवादी हैं, उनमें कोई तो त्रिविध शक्ति और शक्तिमान्में अभेदवादी हैं और कोई भेदवादी हैं, तथा दूसरे कुछ तादात्म्यवादी हैं। व्यवहारमें तो अभेदवादी भी भेदवादी ही रहते हैं। सबकी दृष्टिमें प्रतीयमान भिन्नता अनित्य और अस्थिर है, इसलिये वह प्रासंगिक अथवा गौण है। सुतरां विवर्तवाद अथवा विकृताविकृत-द्विविधपरिणामवाद या आरम्भवादसे जिस किसी प्रकार उपपन्न (सिद्ध) करके व्यवहार्य बना लेनेपर प्रधान वस्तु (परम सत्ता) में कोई विरोध नहीं रहता और अनादि वासनाकृत रुचि और अधिकारके अनुसार जो जिसप्रकारसे कृतार्थ होनेयोग्य है वह उसी प्रकार कृतार्थ होता है। जैसे एक ही अग्निके प्रकाश-पाक-दाहादि गुणोंसे मनुष्य अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार कृतकार्य होता है।

अब निष्पक्ष विवेकशील पुरुष सहज ही समझ सकते हैं कि उपर्युक्त समन्वयरूपी राज-पथमें समस्त वैदिक, अवैदिक, अनीश्वरवादी, ईश्वरवादी पथिक, चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, कापिल, पातञ्जल, जैमिनीय आदि पद्धतियोंसे एवं अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-सिद्धान्तोंसे, तथा प्रत्यभिज्ञावाद, शब्दब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद, रसब्रह्मवादरूप सन्मार्गोंसे आगे-पीछे पहुँचकर कभी-न-कभी जिस अप्राकृत नाना नामरूपादि दिव्य विभूतिभूषित वस्तुकी ज्ञात अथवा अज्ञात सहायतासे सर्वप्रधान चरम फलको प्राप्त होते हैं और जो तत्त्व गणपति, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णुरूपसे भक्तोंको उनकी भक्तिके अनुरूप अनन्त तृप्ति करता है, वही पदार्थ ईश्वर है।

इसप्रकार सूत्ररूपमें यह लेख लिखा गया है और विस्तार करनेके लिये अवकाश भी नहीं है। यदि इस छोटे लेखसे किसीको भी, महाकवि भवभूतिके—

'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।'

—इस शान्तिप्रद महावाक्यके अनुसार तृप्ति मिली है, ऐसा ज्ञात होगा तो इस अंकुरसे महास्कन्ध शाखा-प्रशाखायुक्त वह कल्पतरु समृद्ध होगा जिसकी छायामें कोई ताप न लगेगा और जिसके फलका आस्वादनकर अनन्त कालतक क्षुधा-पिपासा आदि समस्त उपद्रव दूर हो सकेंगे।

अब लेखके अन्तमें न्यायाचार्य श्रीमदुदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलिके इस पद्यसे—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥

—प्रार्थना करता हुआ और उर्दूके एक विज्ञ मार्मिक सुकविके—

हिन्दूने सनममें जलवा पाया तेरा,
आतिशये मुगाने राग गाया तेरा;
दहरीने किया दहरसे ताबीर तुझे,
इनकार किसीसे न बन आया तेरा॥

—इस सुभाषितके भाव-परिशीलनके लिये पाठकवृन्द-से सादर अनुरोध करता हुआ बिदा लेता हूँ।[*]

[*] इस लेखमें किसीको कुछ प्रष्टव्य या वक्तव्य हो तो सूचना मिलनेसे लेखक सादर सप्रमाण कहने या लिखनेको तैयार है।

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—पं०श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिन्सपल गवर्नमेण्ट संस्कृत-कालेज, काशी)

'कल्याण' मासिकपत्रके माननीय सम्पादक महाशयने विशेष समारोहके साथ 'कल्याण' के ईश्वराङ्कके रूपमें महायज्ञ-की आयोजना की है और उसमें देश-विदेशके ज्ञानी-मानी विद्वानोंको सम्मिलित होनेके लिये सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किया है । यह देशके लिये अत्यन्त सौभाग्यका विषय है । वर्तमान-कालमें व्यष्टि और समष्टिरूपेण जगत्की मनोवृत्तिका प्रवाह तीव्र गतिसे जिसप्रकार बहिर्मुख दौड़ रहा है, उसमें आत्मा, ईश्वर, यही क्यों, अतीन्द्रिय जगत्की सत्ताके सम्बन्धमें भी आलोचना करना समयका अपव्यय समझा जायगा, ऐसी सम्भावना है । ऐसी अवस्थामें यदि उनके निर्देशके अनुसार ईश्वर-तत्त्वकी चर्चा करनेका सुयोग एवं प्रवृत्ति किसीकी हो तो वह देशका कल्याण-साधन करनेवाले 'कल्याण'के लिये उपयुक्त ही होगा । हम श्रीभगवान्से प्रार्थना करते हैं कि वे इस शुभ उद्योगमें सफलता प्राप्त करें ।

उन्होंने व्यक्तिगतभावसे चार प्रश्न उत्तरके लिये मेरे पास भेजे हैं । परन्तु मैं इसे व्यक्तिगतरूपमें न लेकर कुछ अंशोंमें व्यापकरूपमें ही ग्रहण करता हूँ । यद्यपि ये प्रश्न सम्पादक महाशयकी ओरसे ही आये हैं तथापि वस्तुतः ये किसी आध्यात्मिक तत्त्वजिज्ञासुके ही स्वाभाविक प्रश्न हैं । अतः इनका उत्तर व्यक्तिगतरूपसे देना समीचीन नहीं मालूम होता । इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्ति-विशेषके प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञासु होकर प्रतिनिधिरूपसे प्रश्न न उठाते तो मेरा उत्तर भी ठीक-ठीक व्यक्तिगत होता, क्योंकि इन प्रश्नोंके किसी-किसी अंशका उत्तर देते समय अपने जीवनकी कुछ ऐसी आभ्यन्तरीय और बाह्य घटनाओं-का उल्लेख करना आवश्यक है जो अन्तरंगरूपसे व्यक्ति-विशेषके प्रति किया जा सकता है । पर जिसका प्रकाश्य-रूपमें लोकसमाजमें कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा ।

(ख) साधन-जगत्का जो निगूढ़ रहस्य है, जिसकी प्राप्तिके लिये दीर्घकालतक सत्यस्वरूप सद्गुरुकी कृपाका अवलम्बनकर तीव्र पुरुषार्थका प्रयोग करना पड़ता है, तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुषके सामने उस रहस्यकी आलोचना करना उचित नहीं है । वहाँ इस आलोचनाका यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता ।

इन्हीं दो बातोंको सामने रख यथासम्भव संक्षेपमें अथच विशदरूपमें इन चारों प्रश्नोंकी आलोचना करनेमें प्रवृत्त होता हूँ ।

(१)

पहला प्रश्न यह है कि—'हम ईश्वरमें विश्वास क्यों करें ?' इसका उत्तर देनेके पूर्व मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओंकी सत्ता तथा क्रियाको हम अनेकों कारणोंसे लौकिक दृष्टिसे स्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं, उनके विषयमें हमारे हृदयमें विश्वासकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यहाँ 'विश्वास' शब्दसे प्रश्नकर्ताका क्या उद्देश्य है, यह वही जानें । परन्तु यह निश्चित है कि जिसे विश्वास कहा जाता है उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं । इन्हीं दोनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे ही विश्वासके कारणके सम्बन्धकी धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी । आप्त पुरुषोंके मुखसे कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करनेकी शक्ति न रहनेपर, अथवा उसके सम्बन्धमें कोई प्रवृत्ति न होनेपर, वह आप्त-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वभावतः ही मनमें उत्पन्न होती है । बाल्य-कालमें जब बूढ़ी-दादी या दादाजीके मुखसे अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, जब हृदय सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेषरूपसे चित्तमें सञ्चित नहीं हुए थे, उस समय कल्पनाके बलसे मनश्चक्षुके सामने उन सारी कहानियोंमें वर्णन किये हुए दृश्य मानो जीवितरूप-में आँखोंके सामने आ जाते थे । उस समय लौकिक ज्ञान तथा युक्तिका विकास वैसा न होनेके कारण सम्भव या असम्भवका निर्णय नहीं कर पाता था । फलतः कोई भी बात मनमें असम्भव नहीं जान पड़ती थी । जब दादी कहती कि अमुक वृक्षपर भूत रहता है, उसे सुनकर सचमुच ही सन्ध्याके समय अथवा शून्य रात्रिमें उस स्थान-

के पास होकर आनेमें शरीर काँप उठता था। भूत है, इस बातको सुनते ही सचमुच ही भूतकी सत्तामें विश्वास उत्पन्न हो जाता, युक्तिकी आवश्यकता अपेक्षित न होती, और न मनमें वैसी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती। बहुतेरे इसे अन्धविश्वासके नामसे पुकारेंगे, परन्तु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तोंसे यही बात समझमें आती है कि मनुष्यकी ऐसी एक अवस्था है जब शब्द-श्रवण करते ही अर्थबोधके साथ-साथ शब्दके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें मनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह विषय बहुत ही जटिल है, यहाँतक कि अन्तर्दृष्टि सम्पन्न मनस्तत्त्ववेत्ताओंको भी यह सहज ही हृदयङ्गम होनेका नहीं। तथापि सभी इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि इसको समझनेमें किसीको कोई कष्ट नहीं होता। यह जो सरल और स्वच्छ हृदयकी बात कही गयी है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्तिविशेषमें इतना अधिक रह सकता है कि किसी विषयमें वाक्य उच्चारणके साथ ही-साथ उसके चित्तमें उसी विषयका दृश्यरूपमें तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है। कृत्रिम नखदर्पणादि प्रक्रियामें, बालककी दृष्टिके सामने शुद्ध शब्द उच्चारण करके इच्छानुसार दृश्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है, इसका भी मूलकारण यही है। वेदान्तके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि शास्त्रोंमें वाक्य या शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान किसप्रकार उद्भूत हो सकता है। इसके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है। शब्द माहात्म्यसे मनश्चक्षुके सामने शब्द बोध्य अर्थका किसप्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उसपर आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंने उसपर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रोंमें भी उसकी अनेक रहस्यमयी बातोंका वर्णन हुआ है। सम्मोहन क्रियामें चालकके शब्दके इशारेसे सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व दृश्य देखता है, इस बातको बहुत लोग जानते होंगे।

इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि चित्तके कोमल तथा अपेक्षाकृत स्वच्छ होनेपर विश्वासका बीज सहज ही अङ्कुरित हो जाता है। इसी कारण बालक या स्त्रियाँ जितनी आसानीसे विश्वास कर सकती हैं, तर्ककुशल पुरुष उतनी आसानीसे नहीं कर सकता। यह अन्धविश्वास होनेपर भी इसप्रकारकी एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं।

बाल्यावस्थामें गृहमें या समाजमें, आचारमें, उपदेशमें अथवा आलोचनामें एवं सज्जनोंके संसर्गवश कोमल-हृदयमें इसप्रकारके ईश्वर-विश्वासका बीज वपन हो सकता है। दूसरे देशोंके सम्बन्धमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु हमारे देशमें प्राचीन कालमें शैशव कालसे ही इसप्रकार चित्तमें साधारणतः ईश्वरका विश्वास बद्धमूल हो जाता था। पिता, माता एवं गुरुजनोंके हृदयकी वृत्तियोंका प्रभाव शिशुके चित्तपर कम नहीं पड़ता है।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वासका कारण क्या है?' तो इसका उत्तर यही है कि चित्तकी बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छताके ऊपर आप्त वाक्यका प्रभाव ही इस विश्वासका कारण है। यह अन्धविश्वास होता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि इस विश्वासके मूलमें स्व ज्ञानकी उज्ज्वल दीप्ति नहीं होती। केवल यही बात नहीं, यह अज्ञानके प्रदोषालोकमें ही वृद्धि एवं पुष्टि प्राप्त करता है। ज्ञानके सम्यक् उदय होनेपर इसप्रकारका विश्वास यथार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित न होनेसे सदाके लिये समूल उखड़ जाता है। बेजड़ विश्वास युक्ति और तर्ककी भयानकताको देखकर भयभीत हो उठता है और सांसारिक द्वन्द्वके प्रभावसे निस्तेज होकर अव्यक्त (प्रकृति) के गर्भमें विलीन हो जाता है। जीवनके क्रमविकासकी प्रथमावस्थामें इसका उदय होनेपर भी यह पीछे वर्त्तमान नहीं रह सकता। परन्तु सभी अन्धविश्वास बेजड़ नहीं होते,— यदि किसी ज्ञानी महापुरुषके वचनोंसे शिशुके हृदयमें विश्वासका बीज अङ्कुरित हो तो वह क्रमशः पुष्ट होकर पूर्ण बोधरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है। यह विश्वास तत्काल शिशुके निजज्ञानद्वारा प्रदीप्त न होनेपर भी वस्तुतः अज्ञानमूलक नहीं होता।

इसप्रकार शैशवसुलभ विश्वासका उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता आप्तरूपमें विवेचित पुरुषके वाक्यकी यथार्थतापर ही निर्भर करती है। यदि किसी समय यह मालूम हो जाय कि जिसको आप्त समझा गया था वह आप्त नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं,—यदि किसी समय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदिकी सहायतासे इसप्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास उखड़ जाता है। मनुष्यके शैशवके सम्बन्धमें जो बात है, मानव-जाति अथवा समाजकी प्रारम्भिक अवस्थाके सम्बन्धमें भी यही बात होती है।

सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित विश्वासमें अनेकों गुण हैं। युक्ति या तर्क किये बिना ही इसकी प्रेरणासे कर्ममें सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात् यथाविधि कर्मके द्वारा फलकी प्राप्ति होनेपर यह विश्वास दृढ़ और अचलरूप धारण करता है। अर्थात् सरल विश्वासके द्वारा उस समय संशयादिविहीन निश्चयात्मक ज्ञानका उदय होता है। तब कुतर्क अथवा नास्तिकोंके कठोर युक्तिजालसे इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकारके विश्वासके ऊपर मानव-जीवनकी अथवा मानव-समाजकी यथार्थ उन्नति निर्भर करती है। किन्तु विश्वासके मूलमें यदि किसी मिथ्याका संस्रव हो तो इससे उसके द्वारा सत्य फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा इससे यथार्थ कर्मका भी विकास नहीं होता। इसप्रकारका विश्वास कुसंस्कारके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्यदर्शनके प्रखर आलोकमें, सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेपर मेघमालाओंके समान विलीन हो जाता है। जीवन-पथमें दीर्घकालतक यह मनुष्यके चित्तमें स्थान प्राप्त नहीं करता या नहीं कर सकता।

विश्वासके स्वरूप एवं उसकी अवस्थाका संक्षेपमें वर्णन किया गया। 'हम ईश्वरमें क्यों विश्वास करें ?' यह प्रश्न प्राथमिक विश्वासके सम्बन्धमें उठ सकता है और उस चरम-विश्वासके सम्बन्धमें भी उठ सकता है जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय होनेपर हृदयमें प्रतिष्ठित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर यही है कि शास्त्र, गुरुजन, अनुभूतिसम्पन्न महापुरुष सभीने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है, तथा जगत्के कल्याणके लिये पुनः-पुनः वे उसका प्रचार भी कर गये हैं। उनके प्रामाण्य-सिद्धान्त जबतक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणोंके द्वारा खण्डित नहीं हो जाते तबतक चित्तकी प्रकृतिके अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतोंके लिये स्वाभाविक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधनामें यथार्थ उन्नति कर लेनेपर किसी समय उसने जिस सरल विश्वासको सत्य समझकर ग्रहण किया था, वह वास्तविक ही सत्य है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उसे पद-पदपर मिलता रहता है। अन्त-र्जीवनके मार्गपर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी असाधारण विभूतियोंके निदर्शन जीवनमें अभ्रान्त-भावसे पुनः-पुनः प्रत्यक्ष होते हैं, जिनसे विचारशील पुरुष अतीन्द्रिय-जगत् एवं समस्त जगत्के अधिष्ठाता, किसी महाशक्तिसम्पन्न सत्ताको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होता है। साधारण मनुष्य-का जीवन प्रायः साधारण पथमें ही प्रवाहित होता है, और उसमें उल्लेखनीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है। किन्तु किसी महाशक्तिशाली पुरुषके सहवासमें आनेपर उसके जीवनमें ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं जो साधारण मनुष्यके ज्ञान और अनुभूतिके राज्यसे सर्वथा बाहरकी बात है। यह घटनाएँ विविध प्रकारकी होती हैं। कुछ तो केवल भावके विकासके रूपमें होती हैं, कुछ भावके साथ बाह्य जगत्से विशिष्ट सम्बन्ध रखती हुई, और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत्के ऊपर प्रतिष्ठित होती हैं। मैं अपने वक्तव्यको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करके समझानेकी चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रिके समय अत्यन्त दूर अज्ञात देशके जनशून्य प्रान्तमें अथवा वन-भूमिके बीच होकर दीर्घकालतक चलते-चलते क्लान्त एवं हताश होकर जीवनका भरोसा छोड़कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उस एकाकी पथिकका कोई साक्षी सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँतक कि, कुछ भी पाथेय भी नहीं है। स्थान अपरिचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और दूरतक देखनेपर कहीं कोई घर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखलायी पड़ता जिसे देखकर प्राणमें उत्साहका सञ्चार हो, वह दिनभर भटकता-भटकता क्लान्त हो रहा है, एक प्रकारसे उसे चलनेकी शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रिका अन्ध-कार फैला हुआ है, हिंस्र पशुओंके आक्रमणका भी भय बना हुआ है और साथ ही भूखसे शरीर शिथिल हो रहा है। अबतक केवल स्थूल देह और स्थूल जगत्की दृष्टिसे ही मैंने अवस्थाओंका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्यान्य प्रकारकी अशान्ति भी हो सकती है। इसप्रकारकी अवस्थामें पड़कर उस मनुष्यको कैसी अनुभूति होती होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इसप्रकारकी घोर विपत्तिके समयमें, जब उसे आसन्न मृत्युकी कराल छाया सामने दृष्टि-गोचर हो रही है; यदि वह पलक मारते ही यह देखता है कि एक दिव्यज्योतिर्मय मूर्ति स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त उसके दृष्टि-पथमें शून्य स्थानमें आविर्भूत होकर उसके समस्त

भयको हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—

'वत्स ! तुम भयभीत क्यों हो रहे हो; देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ, तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ, भयका कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है। यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्तिके लिये मनमाना भोजन पाता है, भयसे त्राण पाता है, गन्तव्य स्थानका मार्ग पाता है, तथा राहका साथी पाता है, तो बताइये, इससे उसके हृदयमें किसप्रकारके भावोंका उदय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अथवा संशयाक्रान्त चित्त क्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्यकी विचारसीमाके परे कोई लोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मंगलमय है, जो सदा ही मनुष्यकी अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपत्तिमें परम स्नेही मित्रके समान आविर्भूत होकर उसकी रक्षा करती है। इस शक्तिको चाहे कोई ईश्वर कहें या किसी दूसरे ही नामसे पुकारें, उससे मुझे यहाँ कोई मतलब नहीं। परन्तु यह एक अलौकिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय, प्रेममय, एवं सब प्रकारसे असाधारण है, इस बातको स्वीकार करना ही होगा। ऐसा होनेपर वस्तुतः नामान्तरसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार कर ली गयी। हाँ, कोई स्पष्टभावसे ईश्वरके भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं और कोई न भी हो सकते हैं। इसप्रकारकी अनेकों घटनाएँ मनुष्यके जीवनमें कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्धद्वारा समझायी नहीं जा सकतीं। एवं जिनका एकमात्र लक्ष्य मनुष्यका मंगल-साधन होता है।

इस प्रसंगमें मैं साधकके साधन-जीवनकी बात नहीं कहूँगा, क्योंकि जो यथार्थ साधक हैं, साधन-राज्यमें प्रवेश कर अध्यात्म-पथमें चलते-चलते उनको तो भगवत्-शक्ति एवं भगवत्-सत्ताके दर्शन सैकड़ों हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सच्चे साधक हैं, वे सरल विश्वाससे प्रवृत्त होनेपर भी क्रमशः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियोंका सञ्चय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान्‌में विश्वास प्रारम्भिक अन्ध-विश्वासमें ही आबद्ध नहीं रहता; बल्कि इन अभिज्ञता और शक्तियोंके द्वारा वह विश्वास विशेषरूपसे दृढ़ताको प्राप्त होता है।

सुतरां वर्तमान जीवनकी साधनाके फलसे अथवा प्राक्तन सुकृतियोंके कारण मनुष्य भगवान्‌की नाना विभूतियोंके और करुणाके प्रत्यक्ष दर्शनकर भगवान्‌की कल्याणमयी सत्तामें अविचलित विश्वास करनेमें समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वासका मूल क्या है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। यथार्थ विश्वास क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वासके मूलमें हृदयकी सरलता और द्वितीय विश्वासके मूलमें जीवनकी विचित्र अभिज्ञता तथा भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी नाना प्रकारके प्रत्यक्ष दर्शनकी अधिकता होती है।

परन्तु संसारमें सभी लोग भगवान्‌में विश्वास कर सकेंगे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वास्तव-जगत्‌का चित्र देखनेपर समझा जा सकता है कि मनुष्यमात्रमें ही भगवद्विश्वास बीजरूपसे निहित होनेपर भी सर्वत्र समभावसे उसकी स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषोंके वाक्य आदि शुद्ध चित्तमें ही विश्वासोत्पत्तिके कारण हैं। परन्तु यहाँ भी कालका विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जबतक स्थूल तथा अचिरस्थायी वस्तुकी प्राप्तिमें तृप्त होता है, अथवा अभाव होनेपर सहायताके लिये स्थूल-जगत्‌की ओर ही सतृष्ण दृष्टिसे देखता है, तबतक अतीन्द्रिय सत्ताकी ओर उसका लक्ष्य नहीं जा सकता। हमारी आकांक्षाएँ यदि दृश्यमान् जगत्‌से ही पूर्ण हो सकती हैं तो फिर उन आकांक्षाओंकी पूर्तिके लिये अतीन्द्रिय सत्ताकी ओर हमारी दृष्टि क्यों जायगी ? किन्तु संसारचक्रमें घूमते-घूमते, नाना प्रकारके भोग एवं अभिज्ञताओंका सञ्चय करते-करते और नाना प्रकारकी तीव्र साधनाएँ करनेपर भी निरन्तर बाधा और प्रतिकूल घटनाओंसे मनोरथ-सिद्धि न होनेके कारण जीव जैसे एक ओर क्रमशः अपनी शक्तिकी क्षुद्रताका अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्तिकी अकिञ्चित्करताको भी उपलब्ध करता रहता है। आकांक्षाकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते अन्तमें ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकांक्षाकी पूर्णता जगत्‌की किसी भी वस्तुके द्वारा नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दीर्घकालके अनुभवके बिना ऐसी

अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है तब सचमुच ही जीव अपनेको निराश्रय अनुभव करता है। मनुष्यके जीवनमें इस निराश्रयभावका उदय ही एक परम पवित्र शुभ मुहूर्त्त है। क्योंकि इसी समयसे जगत्‌की ओरसे उसकी दृष्टि हट जाती है और वह जगत्‌के ऊपर किसी अज्ञात और अचिन्त्य शक्तिकी ओर देखता है। इसके बाद आकांक्षाकी मात्रा जिस परिमाणमें घनीभूत होती है स्वाभाविक नियमानुसार ठीक उसी परिमाणमें मनुष्यका लक्ष्य लौकिक-जगत्‌को छोड़कर एक अनन्त सत्ताके केन्द्रको स्पर्श करता है। अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जबतक मनुष्यके अहंभावकी प्रधानता तरह-तरहसे पुष्ट होती रहती है तबतक उसके लिये अपनेको एक विराट् सत्ताके आश्रित समझना तथा उस सत्तासे अपनेको सत्तावान् समझना असम्भव है। संसारके घात-प्रतिघातसे जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है, एवं जगत्‌की असारता हृदयङ्गम होती है, तब जगत्‌के परे तथा जगत्‌के आत्मभूत ईश्वरीय शक्तिकी क्रिया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिये जबतक मनुष्यका समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जबतक भोगाभिमुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शान्तभावको धारण करना आरम्भ नहीं करती, तबतक यथार्थरूपसे उसे भागवत-सत्तामें विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्-गीतामें लिखा है—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकारके मनुष्य भगवान्‌की भक्ति करते हैं, किन्तु इतनाही मात्र कहनेसे काम नहीं चल सकता। क्योंकि, संसारमें ऐसे कितने ही आर्त्त मनुष्य देखे जाते हैं जो घोर विपत्तिके समय भी भगवान्‌की ओर नहीं ताकते।

इधर जिनको ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा है, अर्थात् जो जिज्ञासु हैं वे सभी भगवान्‌की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगत्‌का इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनको अर्थाकांक्षी लोग भी सांसारिक अर्थी अर्थात् धनीकी उपासना ही किया करते हैं, अर्थलाभकी आशामें भूलकर भी वे कभी जगदीश्वरकी शरण ग्रहण नहीं करते। और, शुष्क ज्ञानी भी ज्ञाननिष्ठ होनेपर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान्‌के श्रीचरणमें आत्मसमर्पण करनेमें समर्थ नहीं होते। पूर्व जन्मके सौभाग्य अथवा भगवान्‌की विशेष कृपाका सञ्चार हुए बिना भगवान्‌की ओर चित्तके लग जानेकी आशा दुराशामात्र है, श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी 'सुकृतिनः' इस विशेषणके द्वारा समझा दिया है कि सुकृति हुए बिना केवल आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थकी आकांक्षा अथवा ज्ञान-सम्पत्तिद्वारा ही चित्त भगवान्‌की ओर आकृष्ट नहीं होता।

अतएव जो भगवान्‌में आस्था स्थापन नहीं कर सकते, उनका अभी समय पूरा नहीं हुआ है, यही समझना होगा, और जिनके चित्तमें भगवद्विश्वास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जानेके कारण ही आप्तवाक्य, शिक्षा, संसर्ग प्रभृति निमित्तोंके अवलम्बनसे विश्वास जाग उठा है। कर्मपथमें अग्रसर होते-होते प्रत्यक्ष ज्ञानके आविर्भाव-में यह विश्वास घनीभूत हो जायगा।

(२)

दूसरा प्रश्न यह है कि, 'भगवान्‌में विश्वास नहीं करनेसे हानि क्या है?' इस प्रश्नके उत्तरमें मेरा कहना यही है कि 'यदि भगवान्‌में विश्वास करनेका कोई आध्या-त्मिक मूल्य है तो यह मानना होगा कि विश्वास नहीं करनेसे अवश्य ही हानि होगी। परन्तु बात यह है कि विश्वास जिसप्रकार बलात् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी युक्ति या तर्कके बलसे दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य जब अपने अहं-भावकी सीमाको देखता है और समझता है कि किसी अचिन्त्य-शक्तिके प्रतिघातसे उसका पुरुषार्थ पद-पदमें क्षुण्ण होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, उसकी शक्ति भी परिमित और ससीम है, तब स्वभावतः उसका व्याकुल-चित्त विश्व-ब्रह्माण्डको लाँघकर एक असीम तत्त्वकी ओर दौड़ता है। किन्तु जबतक प्राकृतिक क्रम-विकासके नियमा-नुसार इसप्रकारकी अवस्था आविर्भूत नहीं होती तबतक बलपूर्वक भगवान्‌में विश्वास करनेकी चेष्टा निष्फल-प्रयास-मात्र है। यद्यपि भगवान्‌में विश्वास कर सकनेपर मंगल-सोपानमें पदार्पणकर धीरे-धीरे परम मंगलके पथपर अग्रसर होनेका उपाय सहज ही हो जाता है तथापि जब-तक यह स्वभावतः ही हृदयमें उदित नहीं होता, तबतक अविश्वाससे हानि होनेपर भी उसे स्वाभाविकरूपसे नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही पड़ता है। कोई भगवान्‌में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों क्षेत्रोंमें विचार कर देखनेपर ज्ञात होता है कि दोनों ही भगवान्‌के मंगल-मय विधानके अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियमके बाहरकी बात नहीं है। आज जो भाग्यवश

विश्वासके सोपानपर पैर रखनेके अधिकारी हो रहे हैं, यदि उनके सुदीर्घ अतीत जीवनके इतिहासका अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे। सब मनुष्य सृष्टिके आदिसे ही भगवान्‌में विश्वासी होकर संसार-क्षेत्रमें नहीं आते ? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे चलकर अविश्वासमें परिणत हो जाती है और अन्तमें वही अविश्वास विश्वासके स्वर्णालोकमें देदीप्यमान हो उठता है। जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है वे मनुष्यके बाह्य आचार एवं स्थूल आचरण देखकर उसके चित्तकी शुद्धताकी मात्राका निर्देश नहीं करते, वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है वही कल अपने भोगोंके पूर्ण होनेपर तथा निवृत्तिमुखी गतिका पूर्वाभास प्राप्त होनेपर—अनन्य भक्तके रूपमें उन्नत हो उठता है। प्राचीन ईसाई-संघके इतिहासकी आलोचना करनेपर ज्ञात होता है कि 'पाल' (Paul) एक समय ईसाइयोंके घोर विद्वेषी समझे जाते थे, कालान्तरमें वे ही ईसाके अन्तरंग भक्तोंमें गिने जाने लगे। समस्त धर्मोंके इतिहासमें बारम्बार इसप्रकारके वृत्तान्त मिलते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझे कि मैं अविश्वासका समर्थन कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्यके जीवनमें अविश्वासका भी एक समय निर्दिष्ट रहता है। अविश्वास भी परिणाममें विश्वासका रूप धारण करता है अतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है। किन्तु जो अदूरदर्शी हैं वे वर्तमान अवस्थाको ही एकमात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि भगवान्‌में विश्वास नहीं करनेसे क्षति होनेकी सम्भावना है।

सुतरां व्यापकदृष्टिसम्पन्न ज्ञानीके दिव्य नेत्रोंके सामने अविश्वासकी भी एक मर्यादा होती है। अवश्य ही लौकिक अपूर्ण दृष्टिसे अविश्वासके दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखनेमें आते हैं।

'ईश्वरमें विश्वास न करनेसे क्या हानि होती है,' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि परमार्थ-दृष्टिसे हानि होनेपर भी इस अविश्वासके भविष्यत्‌में उन्नतिके लिये आवश्यक होनेके कारण इस हानिको वस्तुतः हानि नहीं समझना चाहिये। भगवान्‌को न मानना यदि उनके माननेका ही पूर्वाङ्ग हो तो वह हानि सामयिक मात्र है, किन्तु परिणामकी दृष्टिसे वह अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे भगवान्‌में अविश्वास करना घोर अनर्थका कारण है। ईसा कहते हैं—

'He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.' (Aristion's Appendix—Mark 16-16)

अर्थात् जिसके चित्तमें विश्वास उत्पन्न हो गया है तथा जो भगवत्-शक्तिद्वारा अभिषिक्त हो गया है, वह संसारसे उत्तीर्ण हो जायगा; परन्तु जो अविश्वासी है उसे भयंकर दुर्गति भोगनी पड़ती है। गीतामें लिखा है—'संशयात्मा विनश्यति।' इसप्रकार सभी धर्मोंमें विश्वासकी प्रशंसा और अविश्वासकी निन्दा पायी जाती है। जिनको अन्तर्जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भाव और विषयके भेदसे चित्तकी अवस्थामें परिवर्तन होता है। जिसका चित्त जिसप्रकारके भाववाला होता है, वह उसी प्रकारका फल प्राप्त कर सकता है। जिस किसी विषयमें विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भावसे भावित हो उठता है। ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि इसपर विश्वास करके तद्भावसे भावित हो सके, चाहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वासके बलसे भगवान्‌के साथ मनुष्यके चित्तका एक सम्बन्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उस चित्तमें अज्ञातरूपसे भगवत्-शक्ति नाना प्रकारसे उसपर कार्य करती रहती है। सत्यमें प्रतिष्ठित विश्वासके द्वारा इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्ण सत्यका बोध उत्पन्न होता रहता है। भगवान्‌में विश्वास कर सकनेपर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमामें पड़ जानेके कारण क्रमशः उनके निकटवर्ती होता जाता है, फिर सांसारिक वासनाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। सत्य-विश्वासके प्रतापसे सैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं। इसीसे अविश्वाससे होनेवाली हानिका अनुमान किया जा सकता है। नित्य और आनन्दमय वस्तुमें विश्वास हुए बिना अमरत्व और आनन्दमय सत्तामें स्थित होनेकी आशा दुराशामात्र है। नित्य वस्तुके साथ सम्बन्ध न होनेसे जीवको निरन्तर संसार-चक्रमें घूमना पड़ता है; भला, इससे अधिक हानि और क्या हो सकती है ? विश्वासका फल अमरत्व है और अविश्वासका फल मृत्यु-राज्यकी मलिनता और अन्धकार है।

तथापि यह बात याद रखनी चाहिये कि यह लौकिक दृष्टिका ही समाधान है। दिव्य दृष्टिसे मृत्यु भी अमृतकी

छाया होनेके कारण अमंगलका कहीं लेशमात्र भी दृष्टि-गोचर नहीं होता।

(३)

प्रश्नकर्ताका तीसरा प्रश्न है कि 'ईश्वरके अस्तित्वमें कौन-कौनसे प्रमाण हैं ?' इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विचार-दृष्टिसे ईश्वरकी सिद्धि अथवा खण्डनमें जो कुछ युक्तियाँ दी जायँगी, उनमेंसे कोई-सी भी ऐकान्तिकरूपेण सर्वत्र गृहीत नहीं हो सकती ? उदयनाचार्यने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में नैयायिक-पक्षको आलम्बन करते हुए ईश्वर-बाधक प्रमाणोंका खण्डन कर ईश्वर-साधक प्रमाणोंको सुचारुरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्ती अनेक विद्वानोंने उन्हींका अनुसरण करते हुए इस विषयकी आलोचना की है। उत्पलदेवने 'सिद्धित्रयी' नामक ग्रन्थके 'ईश्वर-सिद्धि' नामक अंशमें, तथा अभिनव गुप्ताचार्यने 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' नामक ग्रन्थमें काश्मीर शैव आगमके प्रतिनिधिरूप होकर ईश्वर-तत्त्वकी आलोचना की है। यामुनाचार्य 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थमें, लोकाचार्य 'तत्त्वत्रय' नामक ग्रन्थमें, तथा वेदान्तदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभृतिने अनेकों स्थलोंमें श्रीवैष्णवसम्प्रदायके पक्षको लेकर ईश्वरवादकी आलोचना की है। इसप्रकार प्रत्येक सम्प्रदायने अपने-अपने ग्रन्थोंमें अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे ईश्वर-तत्त्वकी समालोचनाके प्रसंगमें साधक और बाधक युक्तियोंका तात्त्विक विचार किया है। पाश्चात्यदेशमें भी अनेक स्थलोंमें इस विषयकी बारम्बार आलोचना हुई है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें, विशेषकर मध्ययुगीय Schoolmen आदिके दार्शनिक विचारपूर्ण शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थोंमें इस आलोचनाके नैतिक, यौक्तिक और आगमिक उपपत्तिके अनुकूल बहुतेरी बातें लिखी गयी हैं। वर्तमान समयमें भी जो मनीषी पुरुष विज्ञानवेत्ता होते हुए भी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास रखते हैं, वे भी युक्तितर्कपूर्वक अपनी-अपनी धारणाके अनुसार इस विषयमें ग्रन्थ रच गये हैं।

परन्तु इन सब आलोचनाओंको पढ़कर बुद्धिके परिमार्जित होनेपर भी किसीको ईश्वरमें तनिक-सा भी विश्वास बढ़ता है या नहीं, यह सन्देहका विषय है। प्रथम और द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें मैंने जो कुछ कहा है उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-बलसे कोई कभी ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकता। युक्तिके सुप्रतिष्ठित होनेसे उसके द्वारा ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें एक आनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु युक्तिका प्रतिष्ठित होना ही कठिन है। नैयायिक जिस युक्तिद्वारा ईश्वरकी सिद्धि करते हैं, मीमांसक लोग उस युक्तिको युक्तिका आभासमात्र समझते हैं। कार्य देखकर चेतनकर्ताका अनुमान करना अथवा केवल कारणमात्रका अनुमान करना, एक विवाद-ग्रस्त विषय है। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है।

वस्तुतः प्रयोग-कुशल शक्तिशाली पुरुषके हाथसे अस्त्र-विशेष जिसप्रकार कार्यकारी होता है उसी प्रकार सिद्धि-सम्पन्न शक्तिशाली पुरुष-विशेषद्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्थक होती है; जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति की है, तथा जो दूसरोंको, प्रयोजन होनेपर, अवस्था-विशेषमें सन्दिग्ध विषयको प्रत्यक्षरूपसे दिखला देनेकी क्षमता रखते हैं, उनकी दी हुई युक्ति युक्ति होनेपर भी दूसरोंको समझानेके लिये अधिक उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता तो बहुत दिन पूर्व ही विचारके द्वारा ईश्वरका अथवा अन्य किसी अतीन्द्रिय-सत्ताका रहस्य मीमांसित हो जाता। सुतरां मैं ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो युक्तियाँ उपस्थित करूँगा, उन सबको आपेक्षिक ही समझना होगा। क्योंकि अवस्था-विशेषमें वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होनेपर भी उनकी सारवत्ता न रहेगी।

'ईश्वर' शब्दसे मेरा अभिप्राय 'संसारकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कर्ता एवं अनुग्रह और निग्रहके हेतुभूत (कारण-स्वरूप) सच्चिदानन्दमय अनन्तशक्तिसमन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सत्तामें जो शक्तियाँ निहित रहती हैं उन शक्तियोंकी साम्यावस्थाको ही ईश्वरका 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैषम्यकालमें कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर शक्तिको अभिभूत कर प्रकाशित हो उठती है, इससे केवल उसी शक्तिकी क्रिया दिखायी देती है। इसप्रकार पृथक्-पृथक् रूपसे सृष्टिमें अनन्त शक्तियोंकी क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टिके अन्तमें किसी भी शक्तिकी उपलब्धि नहीं होती, तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न भावसे एकरस हो प्रकाशित रहते हैं। संसारमें जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वरसे उद्भूत है, ईश्वरमें स्थित है एवं ईश्वरमें ही विलीन होता है। इसलिये जबतक जगत् है, तबतक जगत्‌के आश्रयरूप—जिसप्रकार जलाशय तरंगोंका आश्रय होता है उसी प्रकार—ईश्वरसत्ताको अनुसन्धानपूर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं,

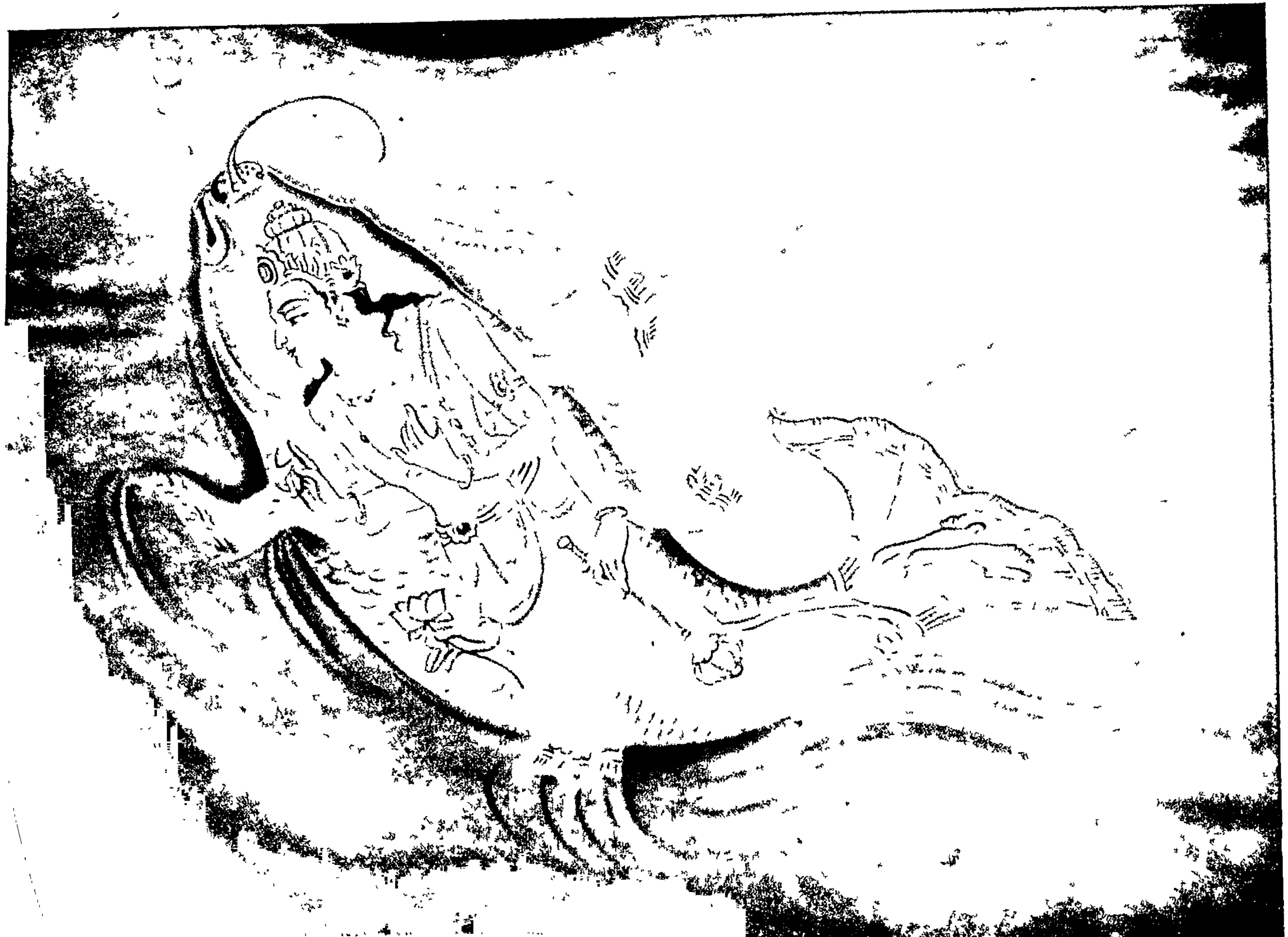
सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्तासे अभिन्न है, इसकी भी उपलब्धि करनी होगी। प्रलयमें जगत् जिनमें विलीन हो जाता है, तथा उस समय जो अवशिष्ट रहता है, उस विशुद्ध ईश्वरीय सत्ताको भी समझना होगा। जगत्‌की स्थितिके समय इसके संरक्षक, नियामक, दर्शक और यहाँतक कि भोक्तारूपमें भी ईश्वरकी सत्ता अनुसन्धान-योग्य है। जो कला और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाह-रूपमें प्रवर्तित हो व्यावहारिक जगत्‌का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति जहाँसे होती है वही ईश्वर है। इसप्रकारसे भी सर्वशक्तिके अधिष्ठाताके रूपमें भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा करनी होगी।

इस परिदृश्यमान जगत्‌की पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि लौकिक प्रत्यक्षगोचर स्थूल सत्ताके अन्तरालमें एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता वर्तमान रहती है। शक्तिके बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस किसी वस्तुमें क्रिया हो, उसके मूलमें शक्तिकी प्रेरणा रहती है, इस बातको मानना ही होगा। किसी कौशलसे शक्तिका निरोध कर सकनेसे उसके फलस्वरूप क्रिया भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्यके शरीरमें दर्शन, श्रवण प्रभृति क्रियाएँ अथवा ग्रहण, गमन, उत्सर्ग आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओंके मूलमें एक शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार बाह्य-जगत्‌में वायुका सञ्चलन, मेघका गर्जन, विद्युत्‌की दीप्ति इत्यादि नाना प्रकारकी क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। जब क्रियाके द्वारा ही शक्तिका अनुमान होता है, तब विभिन्न क्रियाओंके पार्थक्यसे शक्तिके पार्थक्यको भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिन लोगोंने जड़-विज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति-तत्त्वकी आलोचना की है, वे जानते हैं कि एकजातीय शक्तिसे अन्यजातीय शक्तिका आविर्भाव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बन्धित हैं ऐसी बात नहीं है, उनके मूलमें एकके सिवा दूसरी शक्तिका पता नहीं लगता। एक ही महाशक्ति आधार-भेदसे भिन्न-भिन्न शक्तिरूपमें प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है—

'एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।'

चण्डीका यह महावचन बीसवीं शताब्दीके विज्ञानको भी सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ा है।

किन्तु इस शक्तिका स्वरूप क्या है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्धमें विज्ञान अबतक कुछ भी समाधान नहीं कर सका है। शक्तिके अखण्ड रूपके विज्ञानके दृष्टिगत होनेमें अभी देर है। किन्तु उसके परिच्छिन्न रूपके सम्बन्धमें वैज्ञानिक जगत्‌में यथेष्ट गवेषणा हो चुकी है। सिद्धान्त यह कि शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ताके रूपमें आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेकों धर्मोंका विकास होता है जिनका अस्तित्व विशुद्ध शक्तिकी अवस्थामें खोजनेपर भी नहीं मिलता। वस्तुतः भौतिक रूप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्था मात्र है। क्योंकि शक्तिको यन्त्रद्वारा बद्ध न कर सकनेपर उससे स्थूल भावका विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकारसे इस बन्धनको मुक्त कर देनेपर अर्थात् स्थूल-भावसे स्थूलत्वको हटा लेनेपर सत्ता विशुद्ध शक्तिके रूपमें ही पर्यवसित हो जाती है। अतएव शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहनेपर भी वास्तवमें अद्वैत है। शक्तिकी इस नियन्त्रित अवस्थाको सृष्टिमें हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। विशुद्ध शक्तिके स्वरूपको साधारणतः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, तथा कोई शक्तिशाली पुरुष यदि उसे दिखला भी दे तो साधारण जीव उसके तेजको सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परिणाम, विपाक प्रभृति व्यापारोंसे साधारण मनुष्य केवल शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अग्रसर होनेका अधिकार साधारण मनुष्योंको तो है ही नहीं, जड़-विज्ञान-वादी वैज्ञानिकोंको भी नहीं होता। जो लोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाहके साथ न बहकर अपने विवेक और विचारके आश्रयसे दृश्यमान वस्तुके सूक्ष्म तत्त्वको ढूँढ निकालनेके लिये उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्थाके अन्तरालमें एक विराट् शक्तिमय अवस्था है। आस्तिक और नास्तिक, ईश्वरके विश्वासी और अविश्वासी सभीको यह स्वीकार करना होगा, किन्तु प्रश्न यह है कि इस शक्तिका स्वरूप क्या है? यह शक्ति चैतन्य है या जड़, इसका विवेचन करनेके पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्तिका कोई सम्बन्ध है या नहीं। क्योंकि, इच्छाको मध्यभूमिमें न रख सकनेसे एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर क्रियाका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रियासे केवल शक्तिका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो तो उससे ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। वैसे ही ज्ञानसे इच्छाका विकास किस



भगवान्—मत्स्यरूपमें

प्रकार होता है, इसे न जाननेसे, तथा इच्छाकी शक्तिके रूपमें उपलब्धि न होनेसे उससे क्रियाकी उत्पत्ति होना युक्ति-द्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् महाशक्तिके क्षुद्रतम अंशके प्रभावसे विशाल जगत्‌की अनन्त प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं उसके साथ इच्छा-शक्तिका क्या सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साधारण दृष्टिसे सांसारिक क्रियाकलापको इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत, इन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इच्छासे जो कार्य निष्पन्न होता है वह इच्छाकृत कार्य, तथा उससे भिन्न सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वाभाविक होते हैं। मनुष्यके देहमें जो यान्त्रिक क्रियाएँ होती हैं, उनमेंसे अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होतीं।

किन्तु इस बातको बहुत लोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक क्रियाएँ भी विशेष चेष्टा और कौशलके द्वारा दीर्घकालमें इच्छाके अधीन हो सकती हैं। अतएव दैहिक क्रियाओंमेंसे जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होतीं, वह भी कालक्रमसे इच्छाधीन हो सकती हैं। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्यकी इच्छा-शक्ति यदि उस प्रकारसे परिचालित एवं परिशोधित हो तो उससे देहकी समस्त क्रियाओंको नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छाद्वारा किसी भी कार्यकी प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है तो फिर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि इच्छा ही क्रिया अथवा कार्यका मूल है। अवश्य ही यह दैहिक क्रियाके विषयमें कहा गया है। किन्तु यदि बाह्य क्रियाका भी इसप्रकार व्यक्ति-विशेषकी इच्छाद्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो, तो बाह्य क्रियाके मूलमें भी इच्छा-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्तिकी मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिये इससे जितनी बाह्य क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वे भी सब क्षेत्रोंमें एक-सी नहीं होतीं। अर्थात् यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्ति-की तीव्रता सर्वत्र एक-सी ही होती है। अतएव जिस शक्तिसे बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत्‌में सब प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं वह इच्छास्वरूप ही है, यही हमारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड-शक्तियोंसे हम परिचित हैं वस्तुतः वे सभी केवल इच्छा-शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न होता तो उन शक्तियोंके विपरीत इच्छा-शक्ति कार्य न कर सकती। मध्याकर्षणशक्ति, वैद्युतिक शक्ति, आणविक आकर्षण और विकर्षणशक्ति—ये समस्त शक्तियाँ विशुद्ध और संयत इच्छाके द्वारा अधीन हो सकती हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि आविर्भूत इच्छाकी मात्राकी अपेक्षा जिन शक्तियोंकी मात्रा कम होती है, वे इच्छाके द्वारा अभिभूत होती हैं। एवं जिनकी मात्रा अधिक होती है वे प्रबल होनेके कारण इच्छाको अभिभूत कर रखती हैं। प्राक्तन-इच्छा ही वर्तमान कालमें जड-शक्तिके रूपमें प्रकटित होती है। वर्तमान इच्छा प्राक्तन-इच्छाके विरोधी होनेके कारण जब प्रबल होती है तो प्राक्तन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड-शक्तिका ही दूसरा नाम अदृष्ट है, एवं इच्छा-शक्तिका दूसरा नाम पुरुषार्थ है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियोंमें कोई भेद नहीं। बोध-क्षेत्रमें शक्तिका प्रकाश होनेसे यही इच्छा अथवा पुरुषार्थके रूपमें अभिव्यक्त होती है। दूसरी ओर अबोध-भूमिमें अर्थात् बोध-राज्यके तलदेशसे यदि शक्तिका विकास होता है तो उसीको अदृष्ट या जड-शक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञानका आलोक क्रमशः अधिकतर विशुद्ध होकर निर्मल प्रकाशके रूपमें परिणत होता है तब जान पड़ता है कि बोधराज्यके तल-देशमें भी बोध रहता है अर्थात् तब ज्ञानके विस्तारकी सीमा अनन्त हो जानेके कारण अज्ञानकी सत्ता कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। तब जान पड़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधमय क्षेत्रसे उठती हैं। अतएव अभिव्यक्त शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूपा है। यही विराट् महाशक्ति, जिसे इच्छा-शक्ति या ऐश्वरिक शक्तिके रूपसे वर्णन किया गया है, आगम-शास्त्रोंमें जगदम्बा अथवा जगत्प्रसूतिके नामसे वर्णित हुई हैं। शिवसूत्रकार कहते हैं—

'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।'

संसारका मूलकारण अभीतक वैज्ञानिकोंके दृष्टिपथमें यथार्थरूपसे नहीं आया है। आया होता तो इस कारण-रूपा शक्तिको वे इच्छाके रूपमें पहचान सकते, एवं अपनी इच्छाके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध आविष्कार कर चिन्मयधाम अथवा बोधराज्यमें जानेका यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्तिको इच्छास्वरूपा न जाननेके कारण वे जगत्-कार्यके मूलमें चैतन्यकी सत्ताका आविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं, इसके जानने-का एकमात्र उपाय यही है कि जिसे हम इच्छा

है, उसे विशुद्ध और संयत करके उसके द्वारा सांसारिक शक्तिके ऊपर प्रभाव विस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इच्छाके स्फुरणसे यदि बाह्यशक्ति स्तम्भित होती है अथवा विरुद्ध शक्ति उद्रिक्त होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक ओर जैसे बाह्यशक्ति इच्छामयी है वैसे ही दूसरी ओर इच्छा भी शक्तिरूपा है। इच्छाके द्वारा अन्ततः आंशिक रूपमें जो बाह्य-शक्तिके ऊपर क्रिया की जाती है यह वर्तमान कालके वैज्ञानिकोंको अज्ञात नहीं है। जो योगी अथवा उच्च कोटिके साधक हैं वे तो इच्छामात्रसे ही किसी भी शक्तिका चाहे जिसप्रकार उपयोग करनेमें समर्थ हैं, जगत्में इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचनासे समझमें आ गया होगा कि इच्छा और शक्ति मूलतः अभिन्न पदार्थ हैं, एवं इनके मूलमें चैतन्यमय प्रकाश नित्यसिद्ध सत्ता अथवा पराशक्तिके रूपमें जागृत है। जिस चैतन्यरूपा अखण्ड सत्तासे वात-विक्षुब्ध समुद्रके वक्षःस्थलपर तरंगोंके उद्गमकी भाँति स्वभावकी प्रेरणासे इच्छामयी शक्तिका आविर्भाव होता है तथा इच्छाके द्वारा क्रमसृष्टिके नियमानुसार क्रियाका विकास होता है वही 'ईश्वर' पदवाच्य वस्तु है। इच्छारूपा शक्ति कभी उसमें अन्तर्लीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेषको प्राप्त होकर बाह्य-गति सम्पादन करते हुए प्रपञ्च-सृष्टिकी सूचना करती है। जड़-जगत्में चिन्मय ईश्वर-सत्ताको प्राप्त होनेके लिये मध्यवर्ती शक्ति अथवा इच्छाभूमिसे होकर ही जाना होगा। विज्ञान-जगत्में जब इस शक्तिका स्वरूप कुछ यथार्थरूपमें प्रकाशित होगा तब उससे भौतिक चिद्-सत्ताके सम्बन्धमें उन्हें (वैज्ञानिकोंको) अनुमान करनेका अवसर मिलेगा। अप्रतिहत इच्छा अथवा शक्तिका चैतन्यमय आधार ही ईश्वर है।

सूक्ष्म दृष्टिसे जगत्के कार्य-कारण-प्रवाहकी पर्यालोचना करनेपर ज्ञात हो जाता है कि बिना कारणके कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। केवल यही बात नहीं, बल्कि कार्य और कारणकी मात्राका समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी भी प्रकारके कार्यका तत्त्व समझते समय इस नीतिको स्मरण रखना आवश्यक है। प्राच्य दार्शनिकोंने इसी नीतिका अवलम्बनकर कर्मवादकी स्थापना की है। कर्मवादका तात्पर्य स्थूलरूपेण यही है कि कर्मकी प्रकृति और मात्राके अनुसार तज्जनित फलका आविर्भाव होता है। अतएव कर्मद्वारा जिसप्रकार फलका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार फलके द्वारा भी कर्मका अनुमान किया जा सकता है। प्राण-जगत्में सुख-दुःखकी विचित्र लीलाको देख उसके कारणका अन्वेषण करनेपर कर्मकी इस विशेषताको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-दुःखरूप फल जिस असाधारण कारणसे उत्पन्न होता है उसे ही कर्म अथवा अदृष्ट-संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि बाह्य-जगत्की कोई सत्ता सुख-दुःखका कारण नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न होता है। उनमेंसे अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणोंके समूह समभावसे उपस्थित रहनेपर भी असाधारण कारणके बिना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्यका मुख्य कारण है। यह सच है कि सुख-दुःखके अनेकों लौकिक कारण होते हैं, किन्तु उनसे सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकते। इसके लिये किसी असाधारण कारणकी सहकारिता आवश्यक है। इसीको दार्शनिक लोग कर्म नामसे निर्देश करते हैं। जो सुख-दुःख भोगता है, सुख-दुःखके असाधारण कारण अथवा कर्मका उसीमें रहना युक्तिसंगत है। नहीं तो कार्य और कारणका वैयधिकरण्य-दोष आ पड़ेगा। एक आदमी कर्म करे और दूसरा उसका फल भोग करे, यह कार्य-कारण-शृङ्खलासे नियन्त्रित भौतिक जगत्में सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्निमें हाथ डालता है, उसीका हाथ जलता है, दूसरेका नहीं। इसी प्रकार जो कर्ता होकर सत्-असत् कर्मका अनुष्ठान करता है उसीको भोक्ता बनकर अपने सुख-दुःखरूप फलका अनुभव करना होता है, दूसरेको नहीं। इसीलिये भोगकी सामग्रीके उपस्थित रहनेपर भी भोग-साधक कर्मके अभावमें बहुतोंके भाग्यमें इच्छानुरूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। फिर बहुधा देखा जाता है कि बिना चेष्टाके, बिना प्रयासके, यहाँतक कि इच्छा और ज्ञानके अभावमें भी, बहुतोंको आशातीत भोग्य वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। बीजके बोये बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, उसी प्रकार पूर्वकर्म न होनेसे सुख-दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती। यह जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड असंख्य प्रकारके जीवोंको वक्षःस्थलपर धारण करके काल-स्रोतमें बहते चले जा रहे हैं, तथा उनके सामने

अनेक प्रकारके सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकारकी विचित्रताको साथ लिये वर्तमान है।

कर्मसे ही फल होता है यह ठीक है, किन्तु अचेतन कर्म केवल जड़-शक्ति है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्य-सत्ताके सान्निध्य और प्रेरणाके विना कभी परिचालित नहीं हो सकती। लौकिक जगत्में भी जड़-शक्तिका स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। पीछे कर्त्ता न हो तो करण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकते। जड़-शक्ति केवल करण या यन्त्रमात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अग्निमें दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वधर्मसे ही दाह्य वस्तुको दग्ध करती है, किन्तु किसी निर्दिष्ट वस्तुको दग्ध करनेमें अग्निके प्रयोगके लिये एक चेतन पुरुषकी आवश्यकता होती है। अग्नि अपने आप स्वतः प्रेरित होकर किसी निर्दिष्ट वस्तुको नहीं जला सकती। कर्म-शक्ति भी इसप्रकार अग्निके समान जड़-शक्ति है; इसीसे स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उत्पन्न होता है। अवश्य ही, जिस आधारपर कर्म सञ्चित होते हैं, सुख-दुःखके भोग भी उसी आधारसे होते हैं, इसके वतानेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु स्वभावके नियमानुसार फलके उत्पन्न होनेपर भी उसका भोग्यरूपमें आविर्भाव होना किसी प्रवलतर शक्तिद्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्मसे ही फल होनेपर भी उसको व्यवहार-क्षेत्रमें लानेके लिये किसी इच्छाशक्तिसम्पन्न प्रबल सत्ताकी प्रेरणा आवश्यक है। जगत्के अन्तर्यामीरूपमें जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छाशक्तिका एकमात्र अधिष्ठान है उनके सङ्कल्पसे ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्मके साक्षी और भोगके साक्षी हैं, एवं उन्हींके ईक्षणके वश कर्म भोगरूपमें परिणत हो भोक्ताके निकट उपस्थित होता है। इसीलिये उनको भोक्ताका कर्म-फलदाता कहा जाता है। कर्मशक्तिके पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्यसत्ता कार्य करती है, यही ईश्वर हैं।

जीव जो कर्म करता है उसके मूलमें भी ईश्वर-सत्ता है। एवं वह जो फलभोग करता है उसके भी मूलमें वही ईश्वर-सत्ता है। मूलमें इस विशुद्ध चैतन्यभावके न रहनेसे एक ओर जहाँ कर्म सम्भव नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ताकी प्रेरणा किसप्रकारकी है, इसे दृष्टान्तद्वारा दिखाया जाता है। जिसप्रकार सूर्यके आलोकमें आँखवाला पुरुष नानाप्रकारके रंगोंको देखता है, इस देखनेके मूलमें कारणरूपमें दृश्य वस्तुओंका वैचित्र्य रहता है, एवं द्रष्टाकी दृक्शक्ति भी रहती है। परन्तु इनके होनेपर भी इसप्रकार विचित्र रंग न दीख पड़ते, यदि दृश्य वस्तु उज्ज्वल आलोकसे आलोकित न होती। इसी प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उनका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वरकी चैतन्य सत्तामें प्रतिष्ठित न होनेसे कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वरको न मानकर केवल कर्मसे ही फलकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके लिये भोगके वैचित्र्यको सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

जगत्में अलङ्घ्य कार्य-कारण-भाव अथवा नियतिको देखकर उसके अधिष्ठाताके रूपमें जिस सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर हैं। जिन्होंने जगत्के तत्त्वका जितना ही सूक्ष्मभावसे विश्लेषण किया है वे उतना ही स्पष्टरूपसे समझ सके हैं कि जगत्के प्रत्येक विभागमें नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अत्यन्त जटिल और दुर्बोध है। तथापि एक विभागके नियमके साथ दूसरे विभागके नियमोंका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिससे जान पड़ता है कि मूलमें एक ही नियम क्षेत्रभेदसे भिन्न-भिन्न नियमोंके रूपमें परिणत हो गया है। समस्त जगत्में तथा ज्ञान-राज्यमें इस नियमगत ऐक्यका आविष्कार ही विज्ञानकी चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्र्यपूर्ण भिन्न-भिन्न ज्ञानराज्यमें एक ही मूल नियमकी सत्ता एवं प्रभावको देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी धारणा होती है कि अनन्त प्रकारके सांसारिक वैचित्र्यके पीछे एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। उसी सत्तासे जव नियमोंका उद्भव होता है तव यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह चेतन है, तथा वही जगत्की एकमात्र नियामक है। अतएव जो नियमवादी हैं, उन्हें भी नामान्तरसे ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये वाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्क-स्थलमें यह कहा जा सकता है कि नियमके साथ नियामकका होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि यदि नियमको अनादिरूपसे स्वीकार करें तथा वह यदि सचमुच ही अलङ्घ्यरूपमें प्रमाणित हो जाय तो नियमके कर्ता या प्रवर्तयिताके रूपमें नियामकके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह शङ्का निराधार भी नहीं है।

बात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तवमें नियम वैसा नहीं है। साधारण ज्ञानसे नियमका आदि अथवा व्यतिक्रम चाहे अनुभवमें न आवे, किन्तु ज्ञानकी निर्मलताके साथ-साथ क्रमशः समझमें आने लगता है कि नियमका आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस अवस्थामें नियमका नियमत्व ही खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं उनकी समझमें आ सकता है कि बद्ध जीवके लिये जो नियम है, वह अधिकारी पुरुषके लिये स्वाधीन इच्छाकी स्फूर्तिमात्र है। जिस अधिकारी पुरुषकी इच्छा सांसारिक नियमके रूपमें आत्मप्रकाश करती है वही जगत्का ईश्वर है। जड-विज्ञान केवल नियमकी सत्ताको ही उपलब्ध कर सकता है, किन्तु जिनकी इच्छा इस नियमके रूपमें प्रकाशित होती है, उनका पता उसे नहीं रहता। नियमको अनादिरूपमें स्वीकार न करनेका कारण यही है कि इच्छाविशेषके प्रभावसे नियमका आदि और अन्त—दोनों स्थलविशेषमें उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अलङ्घनीय भावके ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टिसे नियमका अनादित्व अथवा अलंघनीयत्व दोनों स्वीकार किये जा सकते हैं।

जो लोग जिज्ञासुभावसे जगत्के इतिहासका अनुसन्धान करते हैं वे जानते हैं कि सांसारिक दृष्टिसे ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसीके भी क्रमिक उत्कर्षकी अवधि दृष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अव्यक्त होनेपर भी आधारविशेषके अवलम्बनसे अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकारका नहीं होता, अतः शक्तिका विकास भी सर्वत्र समानरूपसे नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी धारणाशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाबसे शक्तिका विकास होता है। अवश्य ही हम किसी निर्दिष्ट शक्तिके सम्बन्धमें यह बात नहीं कहते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रोंमें एक ही नियम है, किन्तु दोनोंके आधारमें विशेषता होती है, यही इनमें भेद है। अव्यक्त ज्ञान-शक्ति जैसे अनन्त है, वैसे ही अव्यक्त क्रिया-शक्ति भी अनन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया-सम्पादनमें समर्थ अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रिया-शक्तिका उत्कर्ष आधारके उत्कर्षके ऊपर ही निर्भर करता है। आधार यदि मलिन और आवरणसे आच्छन्न हो तो शक्तिका विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। आवरणके दूर होनेपर शक्तिकी अभिव्यक्तिमें विघ्न हट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ताके सम्बन्धसे शून्य विशुद्ध उपादानमें जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिका प्रकाश होता है, वह अपरिच्छिन्न, अप्रतिहत और अनन्त होता है। वस्तुतः यह ईश्वरका ही नामान्तर है। जीवमात्रके भीतर ज्ञान और क्रिया कुछ-न-कुछ अवश्य ही प्रकाशित रहती है, ऐसा न होता तो चेतन जीव जडसे पृथक् नहीं हो सकता। यही ज्ञान-क्रिया क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आधारविशेषमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हो उठती है। शास्त्रमें शुद्ध आधारमें अभिव्यक्त इस पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्यका ही ईश्वर-नामसे वर्णन किया गया है।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओंका अनुसन्धानपूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम है कि बहुधा सुदूर अतीत कालकी अथवा देशान्तरमें हुई घटना और दृश्यके समान कभी-कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसीको प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसप्रकारकी घटनाएँ विरली नहीं होतीं। इस प्रसंगमें ऐसी घटनाओंका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेकों प्रकारसे किया गया है। इसके तत्त्वकी आलोचना करनेमें हृदय विह्वल हो उठता है। जो दृश्य अबतक सृष्टिके राज्यमें आविर्भूत नहीं हुए, जो घटना अभीतक कहीं नहीं घटी, यदि इसप्रकारके दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक दृष्टिसे बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं—अभी स्पष्टरूपसे तथा यथार्थरूपसे प्रत्यक्ष हो जायँ तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इनके तत्त्वकी मीमांसा नहीं कर सकेगा, और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता ही नहीं है—व्यावहारिक भावसे ही नहीं, बल्कि प्रतिभासरूपमें भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञानमें किसप्रकार आ सकता है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। अतीत ज्ञानके सम्बन्धमें व्यक्तिगत भावसे यह बात इतनी जटिल नहीं है; क्योंकि चित्तमें अनुभूत ज्ञान और क्रियाके संस्कारको स्वीकार करने तथा निमित्त-कारणकी सहकारितासे उसके उद्बोधनको मान लेनेपर अतीतका साक्षात्कार तो बहुत

कुछ बोधगम्य हो सकता है। अवश्य ही विश्वव्यापक-रूपमें अतीतका ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार निहित हैं—के स्वीकार किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे एक विराट् एवं आपेक्षिक नित्यता-विशिष्ट आधारके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जो जीवात्माके 'एकत्ववाद' के सिद्धान्तको मानते हैं, उनकी दृष्टिसे यही वह व्यापक जीव है। सब देशोंके और सब युगोंके नाना जीव इसीके विभिन्न अंश-मात्र हैं, किन्तु अतीत ज्ञानके द्वारा समष्टि जीवका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दृश्य अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्षसे ईश्वरका अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है। क्योंकि कालके प्रभावसे जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शनके समान संस्कारके उद्बोधनद्वारा नहीं हो सकता। संस्कार चित्त अथवा लिंग-शरीररूप आधारमें वर्तमान रहता है तथा उद्बोधक कारणोंके सन्निधानसे जाग्रत् होकर स्मृतिरूपमें परिणत होता है। अवश्य ही आविर्भावकी विशदतासे आभास-ज्ञान स्पष्टता-को प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टि अपरोक्ष-अनुभूति-रूपमें भी दिखलायी दे सकती है। किन्तु अनागत प्रत्यक्षमें चित्त अथवा लिङ्ग-शरीरकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि नित्य कारण-भूमिसे आंशिक भावमें स्रोत निकलता है और वह कार्यरूपमें परिणत हो जाता है। अनागतसे वर्तमानकी ओर जो शक्तिका प्रवाह है यही कारणकी कार्यावस्थाके प्रति उन्मुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत-अवस्थामें रहती हैं, तब वह कारणके ही अन्तर्गत हैं। अतएव चित्त अथवा लिंग-शरीर-का अन्वेषण करनेसे कारणस्थ भावका पता लगनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोतमें पड़ा है और न वर्तमान अवस्थामें ही उपनीत हुआ है, इसलिये वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण चित्त-क्षेत्रमें उसका कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-दर्शनमें चित्त अथवा संस्कार किसीकी जरा-सी भी अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि तब अनागत-दर्शन किसप्रकार सम्भव हो सकता है? महर्षि पतञ्जलि इसके उत्तरमें कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमानसे भिन्न नहीं है। हमारे लिये जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुषके लिये वह अनागत न हो-कर वर्तमान ही हो सकता है। इस युक्तिके अनुसार समझा जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है अर्थात् जिस ज्ञानमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना अनागत नहीं रह सकती। वस्तुतः जो हमारे सामने अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीतके विषयमें है। जिस भूमिमें अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूपमें प्रकाशित होते हैं वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ कालका भेद नहीं है, घटनाकी पृथक्ता नहीं है, भावकी विशिष्टता नहीं है और क्रियाका तारतम्य नहीं है, यही कारण-जगत् है। इसका जो अधिष्ठाता है वही ईश्वर है। अतएव किसी अचिन्त्य कारणसे क्षण-मात्रके लिये ईश्वरीय सत्ताके साथ जीव-सत्ताकी अभिन्नता सिद्ध होनेपर जीवको उपर्युक्त भविष्य-दर्शन होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि जीव-भूमिमें जो भविष्यत् है, इसप्रकारकी युक्त अवस्थामें ईश्वरीय-भूमिसे वही वर्तमान-रूपमें प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञानके पहले एक निर्मल अवस्था होती है जहाँ उपर्युक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूपमें सदा प्रकाशमान रहता है। इसप्रकारकी एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेषके लिये कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रामाणिक भविष्यत्-दर्शनद्वारा ईश्वरीय-सत्ताका युक्ति-पूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वरका अस्तित्व माननेके लिये यह एक अभ्रान्त प्रमाण है।

किसी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधानतया उपादान और निमित्त यही दो प्रकारके सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्-रूपी कार्यका विश्लेषण करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणोंको स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादान-से जगत् निर्मित हुआ है उसे परमाणु, त्रिगुण, माया या कला किसी भी नामसे पुकारा जाय, उसे जड ही मानना होगा, किन्तु चेतनके सन्निधान बिना केवल जड उपादान अपने-आप कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकता। यह चेतन सत्ता ही जगत्-सृष्टिका निमित्त-कारण है—इसीके प्रभावसे जगत्का मूल उपादान विक्षोभको प्राप्त होकर विभिन्न कार्यों-के रूपमें परिणत होता है। इस अखिल जगत्का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्तके बिना ही उपादानके विक्षोभ एवं परिणामको स्वीकार करते हैं वे विपर्यस्त स्वभाववादी हैं, क्योंकि अनुसन्धान किये बिना ही स्वभावकी शरण लेना विचार-शास्त्रकी नीतिके विरुद्ध है।

अतएव सृष्टिप्रवाहमें निमित्तरूपसे ईश्वरका अस्तित्व प्रमाण-सिद्ध है। अवश्य ही दृष्टिके और भी उत्कर्ष होनेपर यह समझमें आता है कि निमित्त और उपादानमें वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही चैतन्य-सत्ता अपनी इच्छासे नाना रूप धारणकर विचित्र जगत्‌के रूपमें प्रकाशित होती है।

जगत्‌की ओर देखनेसे, सर्वत्र एवं प्रतिक्षण एक घोर परिवर्तन होता हुआ दिखलायी देता है, यह सर्ववादि-सम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टाके सामने परिवर्तनकी सार्थकता है। जगद्व्यापी इस शाश्वत परिणामका कोई नित्य-द्रष्टा अवश्य है। न होनेसे परिवर्तनका कोई अर्थ ही न रहता। विशुद्ध व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत्‌के अखिल अभिनयोंको निर्विकाररूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है। कहना नहीं होगा कि इस रूपमें दृक्‌शक्ति ही अभिव्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ विलीन अवस्थामें स्थित हैं।

(४)

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचारशील साधारण व्यक्तिके बोधगम्य होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गयी हैं वे सभी युक्तिमात्र हैं, इसप्रकारकी बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्रमें दिखलायी गयी हैं एवं प्रतीच्य ईश्वर-विश्वासी पण्डितोंने भी अपने-अपने ग्रन्थमें दिखलायी हैं, वस्तुतः प्रयोजन होनेपर और भी बहुतेरी युक्तियाँ दिखलायी जा सकती हैं। किन्तु इन युक्तियोंके द्वारा कोई कभी ईश्वरमें विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्र-वाक्य अथवा अनुभूतिसम्पन्न महापुरुषके वाक्यसे ईश्वरकी सत्ताके विषयमें उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तःप्रवेशोन्मुख हृदयमें जो अस्फुट श्रद्धाका उदय होता है, विचारके द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्तिका उद्देश्य है। किन्तु जो आगम-प्रमाणकी प्रमाणताको नहीं मानते, उनके चित्तमें शुष्क युक्तिके द्वारा किसी विषयमें विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचारका प्रधान कार्य असम्भावना-बोधको दूर करना है अर्थात् हृदय आप्त-वचन सुनकर स्वभावतः ही जिस विषयमें श्रद्धाशील होता है वह अयौक्तिक नहीं बल्कि सम्भवनीय है, यह दिखला देनेपर ही युक्तिका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रणालीद्वारा उसी श्रद्धाके विषयीभूत, महापुरुषोंके उपदिष्ट एवं युक्तिद्वारा समर्थित सत्यको प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन-प्रणालीमें मूलतः योग ही सर्वप्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति इसीके ही एक-एक पर्वमात्र हैं। योगके अवलम्बनसे जब साध्य तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्षका विषयीभूत किया जाता है तब सभी संशय अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेयका मायिक भेद दूर होनेपर विशुद्ध ज्ञानके आलोकमें विशुद्ध चैतन्य-ज्योति अपने आप ही प्रतिष्ठित होकर अखण्ड स्वप्रकाश सत्तारूपमें स्थित होती है।

जो साधन-पथके पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वरका अस्तित्व शुष्क युक्तिद्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञानकी जिस भूमिसे हम वर्तमान अवस्थामें जगत्‌को देखते हैं, जबतक उस भूमिका अतिक्रम नहीं कर पाते, तबतक जगत्‌का अथवा अपना या तदतीत किसी सत्ताका बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा। किन्तु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारणवश चित्तमें क्षणमात्रके लिये भी चित्-शक्ति सञ्चारित होकर साथ ही ज्ञानकी भूमिकाको परिवर्तन कर दे, तो एक ही मुहूर्तमें हमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अचानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप धारण कर लेगा। इस समय हम नास्तिक और घोर अविश्वासी क्यों न हों, लोकोत्तर शक्तिके प्रभावसे एकाएक नवीन मनुष्यके रूपमें परिणत हो सकते हैं। जगत्‌में जहाँ ईश्वर-दर्शन या सत्य-ज्ञानका उदय हुआ है वहाँ इसी प्रकार ही हुआ है, युक्ति-तर्कद्वारा स्वपक्ष और परपक्षके विचारसे कहीं नहीं हुआ। वस्तुतः मनुष्यके जीवनमें ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं जिनसे मनुष्यके दृष्टिकोणका परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं लगती।

प्रश्नकर्ता चौथे प्रश्नमें पूछते हैं कि *आपके व्यक्तिगत जीवनमें ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिससे ईश्वरकी सत्ता अथवा उसकी करुणाके प्रति विश्वास सुदृढ़ हो सकता है?* मैंने पहले ही कह दिया है कि मैं व्यक्तिगत अनुभूतिको लोगोंमें प्रकाशित करनेमें असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि भलीभाँति उनको पुकारनेपर उनका उत्तर मिलता है, यह निश्चित है। ऐसी-ऐसी विपत्तियोंसे बहुत बार उन्होंने अलौकिक उपायोंसे मेरी रक्षा की है, जिनका प्रतीकार लौकिक उपायोंसे हो ही नहीं सकता था; और जिनका स्मरण आते ही उनकी करुणा और प्रेमका भाव हृदयको अभिभूत कर डालता है। ज्ञानके राज्यमें, कर्मभूमिमें तथा भावके मन्दिरमें उन्हींकी मङ्गलमयी सत्ता

एवं शक्तिका प्रतिनियत मैं कितने रूपोंमें अनुभव करता रहता हूँ, उसके वर्णनका परिशेष कभी नहीं हो सकता।

ये विषय इतने गुह्य और गोपनीय हैं कि इसके सम्बन्धमें साधारणतः किसीके साथ आलोचना करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस-प्रकार विश्वासशील है दूसरी ओर उसी प्रकार संशय-प्रवण है। अतएव मैंने अपने जीवनमें जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी ही कठोरता-के साथ सब प्रकार प्रमाणकी कसौटीपर जाँचे विना स्वयं कभी सत्यरूपमें ग्रहण नहीं किया या नहीं करता हूँ। मेरे विश्वासमें जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है, अत-एव परीक्षा करनेसे उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं। प्रातिभासिक सत्तासे व्यावहारिक सत्ताको ज्ञाना-लोकमें पृथक् करके पहचाने विना पारमार्थिक सत्यकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रीभगवान्‌की कृपा और सद्गुरुके अनुग्रहसे इस क्षुद्र हृदयमें प्रतिभाससे व्यवहार, तथा व्यवहारसे परमार्थकी ओर जानेका मार्ग कुछ मालूम हुआ है, कुछ-कुछ खुल गया है। परन्तु अपने पुरुषार्थरूप उद्यमकी सहायतासे जब उनकी नित्य प्रकृति अन्तरमें जाग उठेगी, तब स्वभावके स्रोतमें चलते-चलते, प्रत्येक स्तरमें उनकी उपलब्धि करता रहूँगा। एवं सोपान-परम्परासे कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूपमें नित्य योगके विकास-से उनके अखण्ड सत्त्वमय, ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूपको प्राप्तकर अन्तमें लीला-अवसानमें उनके सर्व-भावमय किन्तु सर्वभावातीत परमरूपमें स्थित हो सकूँगा। 'गुरोः कृपैव केवलम्'*

अव्यक्त

निरखत जित तित ही तुम व्यापक।
भुविसों नभलों प्रति पदार्थ तव कार्यकुशलता-ज्ञापक॥
सन्ध्या प्रात रैन दिन षट ऋतु क्रमसों सब चुपचाप।
आवत जात जगत अभिनय-थल अविकल अपने आप॥
गिरि उत्तंग शृंग नभ चुम्बत प्रकृति मनोहर वेश।
हिममंडित रविकररंजित नित करत उमंग अशेष॥
शस्य श्याम अभिराम शेष बहु सजल सरित जल पावन।
मलयज शीतल हीतल सुखप्रद धीर समीर सुहावन॥
सुभग स्वच्छ स्वच्छन्द द्रुमावलि नम्र लता मृदु काया।
अचरज सरसावत हरसावत दरसावत तव माया॥
रवि शशि आदि दारु योषित सम करत स्वकाज निरंतर।
अद्भुत अमित परत नहिं तामे तिल मरहूको अंतर॥
अकथ प्रदर्शन पुण्य पंक्तिमें नित-नव नाचनहारे।
विहसत अधर प्रमोद चमत्कृत चञ्चल चारु सितारे॥
जगमगात प्रतिपल मुखमंडल अनुपम परम पुनीत।
गावत जन अव्यक्त सुध्वनि सों विश्वरूप तव गीत॥

—गोलोकवासी पं० सत्यनारायण 'कविरत्न'

* इस लेखमें परिशिष्टांकमें मुद्रित होनेवाले प्रश्नोंके उत्तर हैं, लेखरूपमें होनेके कारण यह यहाँ छापा गया है—सम्पादक

जगत्में सबसे उत्तम और अवश्य जाननेयोग्य कौन है ?

ईश्वर

इस संसारमें सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। योरपके विद्वान् भी इस बातको मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम ४००० चार सहस्र वर्ष पुराना है और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद पुकारकर कहता है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। उस तमके बीचमें और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयम्भू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकारमें अपनेको आप प्रकट किया और अपने तपसे अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्तिके सञ्चालनसे सृष्टिको रचा। ऋग्वेदमें लिखा है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकं॥

इसी वेदके अर्थको मनु भगवान्‌ने लिखा है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकारसे सोता हुआ-सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्तिके द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्तिसे अपनी महिमामें सदासे वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भूने अपनेको आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार मिट गया। मनुस्मृतिमें लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

ऋग्वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्व-
दृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः
प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥
यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

और भी श्रुति कहती है—

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'

एकमेवाद्वितीयम्

भागवतमें भगवान्‌का वचन है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसतः परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
(२-९-३२)

शिवपुराणमें भी लिखा है—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वं भुवनं गोप्तान्ते संचुकोच सः॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतो बाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥
द्यावा भूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा॥
अचक्षुरपि यः पश्यत्यकर्णोऽपि शृणोति यः।
सर्वं वेत्ति न वेत्तास्य तमाहुः पुरुषं परम्॥

भागवतमें लिखा है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
(१०-१४-२३)

सब वेद, स्मृति, पुराणके इसी तत्त्वको गोस्वामी तुलसीदासजीने थोड़े अक्षरोंमें यों कह दिया है—

व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी। सत चेतन घन आनँदराशी॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा। मति-अनुमान निगम यश गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु बास अशेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करणी। महिमा तासु जाइ किमि बरणी॥

किन्तु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई परमात्मा है ?

जो वेद कहते हैं कि यह परमात्मा है वही यह भी कहते हैं कि उसको हम आँखोंसे नहीं देख सकते।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

'ईश्वरको कोई आँखोंसे नहीं देख सकता, किन्तु इसमें-से हर एक मनको पवित्रकर विमल बुद्धिसे ईश्वरको देख सकता है।' इसलिये जो लोग ईश्वरको मनकी आँखों (बुद्धि) से देखना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने शरीर और मनको पवित्र कर और बुद्धिको विमल कर ईश्वरकी खोज करें।

हम देखते क्या हैं ?

हमारे सामने जन्मसे लेकर शरीर छूटनेके समयतक बड़े-बड़े चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं जो हमारे मनोंमें इस बातके जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते हैं और कैसे विलीन होते हैं ? हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौफट होते ही सहस्र किरणोंसे विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व-दिशामें प्रकट होता है और आकाश-मार्गसे विचरता सारे जगत्‌को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता सायंकाल पश्चिम-दिशामें पहुँचकर नेत्रपथसे परे हो जाता है। गणित-शास्त्रके जाननेवालोंने गणना कर यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवीसे नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस सहस्र मीलकी दूरीपर है। यह कितने आश्चर्य-की बात है कि यह इतनी दूरीसे इस पृथिवीके सब प्राणियों-को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है! ऋतु-ऋतुमें अपनी सहस्र किरणोंसे पृथिवीसे जलको खींचकर सूर्य आकाशमें ले जाता है और वहाँसे मेघका रूप बनाकर फिर जलको पृथिवीपर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास, पत्ती, वृक्ष, अनेक प्रकारके अन्न और धान और समस्त जीव-धारियोंको प्राण और जीवन देता है। गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और हैं और इससे बहुत बड़े-बड़े भी हैं जो सूर्यसे भी अधिक दूर होनेके कारण हमको छोटे-छोटे तारोंके समान दिखायी देते हैं। सूर्यके अस्त होनेपर प्रतिदिन हमको आकाशमें अनगिनत तारे—नक्षत्र—ग्रह चमकते दिखायी देते हैं। सारे जगत्‌को अपनी किरणोंसे सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनीसे रात्रिको ज्योतिष्मती करता हुआ आकाशमें सूर्यके समान पूर्व-दिशासे पश्चिम-दिशाको जाता है। प्रतिदिन रात्रिके आते ही दशों दिशाओंको प्रकाश करती हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहोंकी ज्योति ऐसी शोभा धारण करती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सब तारा-ग्रह सूतमें बँधे हुए गोलकोंके समान अलंघनीय नियमोंके अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बँधे हुए मार्गोंमें चलते हुए आकाशमें घूमते दिखायी देते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि गर्मीकी ऋतुमें यदि सूर्य तीव्र-रूपसे नहीं तपता तो वर्षाकालमें वर्षा अच्छी नहीं होती। यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत्‌में प्राणीमात्रके भोजनके लिये अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखायी देता है कि अनेक प्रकारके अन्न और फलद्वारा सारे जगत्‌के प्राणियोंके भोजनका प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्यके द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेक-वती शक्तिका रचा हुआ है जिसको स्थावर-जंगम सब प्राणियोंको जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड-पदार्थोंके अचानक संयोगमात्रका परिणाम है ? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड-पदार्थोंके एक दूसरेके खींचनेके नियम मात्रसे उत्पन्न हुआ है और अपने आप आकाशमें वर्ष-से-वर्ष, सदी-से-सदी, युग-से-युग घूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियमसे चलानेमें किसी चैतन्य शक्तिका हाथ है ? बुद्धि कहती है कि है। वेद भी कहते हैं कि है। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमाको, आकाश और पृथिवीको परमात्माने रचा।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्,
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः।

प्राणियोंकी रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत्‌की रचना इस बातकी घोषणा करती है कि इस जगत्‌का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्यसे भरा हुआ है। जरायुसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी, पसीने और मैलसे पैदा होनेवाले कीड़े, पृथिवीको फोड़कर उगनेवाले वृक्ष, इन सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारीका समागम होता है। उस समागममें नरका एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य अंश गर्भमें प्रवेशकर नारीके एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंशसे मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं। वेद कहते हैं कि—

> बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
> भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

एक बालके आगेके भागके खड़े-खड़े सौ भाग कीजिये और इन सौमेंसे एकके फिर सौ खड़े-खड़े टुकड़े कीजिये और इसमेंसे एक टुकड़ा लीजिये तो आपको ध्यानमें आवेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है। यह जीव गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे शरीररूपसे बढ़ता है। विज्ञानके जाननेवाले विद्वानोंने अणुवीक्षण यन्त्रसे देखकर यह बताया है कि मनुष्यके वीर्यके एक बिन्दुमें लाखों जीवाणु होते हैं और उनमेंसे एक ही गर्भमें प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारीके शरीरमें ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भमें प्रवेश पानेके समयसे एक नलीके द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धिके साथ-साथ नारीके गर्भमें एक जलसे भरा थैला बनता जाता है जो गर्भको चोटसे बचाता है। इस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु, बालके आगेके भागके दस हजारवें भागके समान सूक्ष्म वस्तुमें यह शक्ति कहाँसे आती है कि जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिताके समान रूप, रंग और सब अवयवोंको धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है जो गर्भमें इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? यह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चेके उत्पन्न होनेके थोड़े समय पूर्व ही माताके स्तनोंमें दूध आ जाता है? कौन-सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणवन्तोंको, सब मनुष्योंको, सब पशु-पक्षियोंको, सब कीट-पतंगोंकी, सब पेड़-पल्लवोंको पालती है और उनको समयसे चारा और पानी पहुँचाती है? कौन-सी शक्ति है जिससे चीटियाँ दिनमें भी और रातमें भी सीधी भीतपर चढ़ती चली जाती हैं? कौन-सी शक्ति है जिससे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पक्षी अनन्त आकाशमें दूर-से-दूरतक बिना किसी आधारके उड़ा करते हैं?

नरों और नारियोंकी, मनुष्योंकी, गौवोंकी, सिंहोंकी, हाथियोंकी, पक्षियोंकी, कीड़ोंकी सृष्टि कैसे होती है? मनुष्योंसे मनुष्य, सिंहोंसे सिंह, घोड़ोंसे घोड़े, गौवोंसे गौ, मयूरोंसे मयूर, हंसोंसे हंस, तोतोंसे तोते, कबूतरोंसे कबूतर, अपने-अपने माता-पिताके रंग-रूप अवयव लिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं? छोटे-से-छोटे बीजोंसे किसी अचिन्त्य शक्तिसे बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षोंतक पत्ती, फल, फूल, रस, तेल, छाल और लकड़ीसे जीवधारियोंको सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसीले फलोंसे उनको तृप्त और पुष्ट करते बहुत वर्षोंतक श्वास लेते, पानी पीते, पृथिवीसे और आकाशसे आहार खींचते आकाशके नीचे झूमते लहराते रहते हैं!

इस आश्चर्यमयी शक्तिकी खोजमें हमारा ध्यान मनुष्यके रचे हुए एक घरकी ओर जाता है। हम देखते हैं हमारे सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जानेके लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानोंमें पवन और प्रकाशके लिये खिड़कियाँ तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खम्भे और दालान हैं। धूप और पानीके रोकनेके लिये छतें और छज्जे बने हुए हैं। दालान-दालानमें, कोठरी-कोठरीमें, भिन्न-भिन्न प्रकारसे मनुष्यको सुख पहुँचानेका प्रबन्ध किया गया है। घरके भीतरसे पानी बाहर निकालनेके लिये नालियाँ बनी हुई हैं। ऐसे विचारसे घर बनाया गया है कि रहनेवालोंको सब ऋतुमें सुख देवे। इस घरको देखकर हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई चतुर पुरुष था, जिसने रहनेवालोंके सुखके लिये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर रचा। हमने रचनेवालेको देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि घरका रचनेवाला कोई था या है और वह ज्ञानवान् विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीरकी ओर देखते हैं। हमारे शरीरमें भोजन करनेके लिये मुँह बना है। भोजन चबानेके लिये दाँत हैं। भोजनको पेटमें पहुँचानेके लिये गलेमें नाली बनी है। उसीके पास पवनके मार्गके लिये एक दूसरी नाली बनी हुई है। भोजनको रखनेके लिये उदरमें स्थान बना

है। भोजन पचकर रुधिरका रूप धारण करता है, वह हृदयमें जाकर इकट्ठा होता है और वहाँसे सिरसे पैरतक सब नसोंमें पहुँचकर मनुष्यके सम्पूर्ण अंगको शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजनका जो अंश शरीरके लिये आवश्यक नहीं है उसके मल होकर बाहर जानेके लिये मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रसका जो अंश शरीरको पोसनेके लिये आवश्यक नहीं है, उसके निकलनेके लिये दूसरी नाली बनी हुई है। देखनेके लिये हमारी दो आँखें, सुननेके लिये दो कान, सूँघनेको नासिकाके दो रन्ध्र और चलने-फिरनेके लिये हाथ-पैर बने हैं। सन्तानकी उत्पत्तिके लिये जनन-इन्द्रियाँ हैं। हम पूछते हैं क्या यह परम आश्चर्यमय रचना केवल जड-पदार्थोंके संयोगसे हुई है या इसके जन्म देने और वृद्धिमें हमारे घरके रचयिताके समान किन्तु उससे अनन्तगुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्माका प्रभाव है ?

मन और वाणीकी अद्भुत शक्तियाँ

इसी विचारमें डूबते और उतराते हुए हम अपने मनकी ओर ध्यान देते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा मन भी एक आश्चर्यमय वस्तु है। इसकी—हमारे मनकी विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति, गणनाशक्ति, रचनाशक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं। इन शक्तियोंसे मनुष्यने क्या-क्या ग्रन्थ लिखे हैं, कैसे-कैसे काव्य रचे हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले हैं, क्या-क्या आविष्कार किये हैं और कर रहा है, यह थोड़ा आश्चर्य नहीं उत्पन्न करता। हमारी बोलनेकी और गानेकी शक्ति भी हमको आश्चर्यमें डुबा देती है। हम देखते हैं कि यह प्रयोजनवती रचना सृष्टिमें सर्वत्र दिखायी पड़ती है और यह रचना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदिका पता नहीं चलता। इस रचनामें एक-एक जातिके शरीरियोंके अवयव ऐसे नियमसे बैठाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभासे पूर्ण है। हम देखते हैं कि सृष्टिके आदिसे सारे जगत्में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है जो सदासे चली आयी है, सर्वत्र व्याप्त है और अविनाशी है।

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बातको स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचनाका कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप जगत्-व्यापक, अनन्त शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्तिको हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गॉड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामोंसे पुकारते हैं।

वह परमात्मा एक ही है

वेद कहते हैं—

'एकमेवाद्वितीयम्, एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।'

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं। एकहीको विप्रलोग बहुत-से नामोंसे वर्णन करते हैं। है एक ही, किन्तु उसको बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।

विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम इस बातके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। युधिष्ठिरने पितामह भीष्मसे पूछा कि बताइये, लोकमें वह कौन एक देवता है ? कौन सब प्राणियोंका सबसे बड़ा एक शरण है ? कौन वह है जिसकी स्तुति करते, जिसको पूजते मनुष्यका कल्याण होता है ?

इसके उत्तरमें पितामहने कहा—

> जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
> स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः॥
> अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
> लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
> परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
> परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥
> पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मङ्गलम्।
> दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥

अर्थात्, 'मनुष्य प्रतिदिन उठकर सारे जगत्के स्वामी, देवताओंके देवता, अनन्त पुरुषोत्तमकी सहस्र नामोंसे स्तुति करे। सारे लोकके महेश्वर, लोकके अध्यक्ष (अर्थात् शासन करनेवाले) सर्व लोकमें व्यापक विष्णुकी, जो न कभी जन्मे हैं, न जिनका कभी मरण होगा, नित्य स्तुति करता हुआ मनुष्य सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। जो सबसे बड़ा तेज है, जो सबसे बड़ा तप है, सबसे बड़े ब्रह्म हैं और जो सब प्राणियोंके सबसे बड़े शरण हैं। जो पवित्रोंमें सबसे पवित्र, सब मंगल बातोंके मंगल, देवताओंके देवता और सब प्राणीमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम तथा और ऐसे स्तोत्र सब एक ही परमात्माकी स्तुति करते हैं। और मनुष्यमात्रको उचित है कि नित्य सायं-प्रातः उस परमात्माका ध्यान करे और उसकी स्तुति करे।

उसी एककी तीन संज्ञा हैं

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये उसी एक परमात्माकी तीन सञ्ज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्।
स सञ्ज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः॥

यही बात बृहन्नारदीयपुराणमें भी लिखी है—

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः।
तेनेदमखिलं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम्॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते॥

इसी प्रकार शिवपुराणमें स्वयं महेश्वरका वचन है—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽयं सदा हरे॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥

भागवतमें भी स्वयं भगवान्‌का वचन है—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे सञ्ज्ञां क्रियोचिताम्॥

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनको भिन्न-भिन्न मानना भूल है। ये एक ही परमात्माकी तीन सञ्ज्ञा हैं।

इसीलिये शिवपुराणमें भी लिखा है—

शिवो महेश्वरश्चैव रुद्रो विष्णुः पितामहः।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः।
नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम्॥

इसलिये यह स्पष्ट है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमः शिवाय' 'श्रीरामाय नमः' 'श्रीकृष्णाय नमः'—ये सब मन्त्र एक ही परमात्माकी वन्दना हैं।

उस परमात्माका क्या रूप है ?

वेद कहते हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

भागवतमें भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः।
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥

ब्रह्म सत्य है, सदा रहा है, है भी, सदा रहेगा भी। वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्दस्वरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं है, किन्तु विनाशमान शरीरोंमें पैठकर वह संसारकी लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है। उसका आदि नहीं, अन्त नहीं। वह नित्य और अद्वितीय है। एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें दिखायी देता है।

दूसरे स्थानमें कहा है—

शरीरोंके भीतर बैठा हुआ आत्मा पुराणपुरुष साक्षात् स्वयंप्रकाश, अज, परमेश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपनी मायासे अपने रचित शरीरोंमें रम रहा है।

ब्रह्मका पूर्ण और अत्यन्त हृदयंगम निरूपण—वेद, उपनिषद् और पुराणोंका सारांश—भागवतके एकादश स्कन्धके तीसरे अध्यायमें दिया हुआ है।

राजा जनकने ऋषियोंसे कहा, हे ऋषिगण! आपलोग ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव आप मुझे अब यह बताइये कि जिनको नारायण कहते हैं, उन परब्रह्म परमात्माका ठीक स्वरूप क्या है ?

पिप्पलायन ऋषिने कहा—'हे नृप! जो इस विश्वके सृजन, पालन और संहारका कारण है, परन्तु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है, जो स्वप्न, जागरण और गहरी नींदकी दशाओंमें भीतर और बाहर भी वर्तमान रहता है, देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय आदि जिससे सञ्जीवित होकर अर्थात् प्राण पाकर अपने अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उसी परम तत्त्वको नारायण जानो। जैसे चिनगारियाँ अग्निमें प्रवेश नहीं कर सकतीं, वैसे ही मन, वाणी, आँखें, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ उस परम तत्त्वका ज्ञान ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं और वहाँतक पहुँच न सकनेके कारण उसका निरूपण नहीं कर सकतीं।

वह परमात्मा कभी जन्मा नहीं, न वह कभी मरेगा, न वह कभी बढ़ता है और न घटता है, जन्म मरण आदि

से रहित वह सब बदलती हुई अवस्थाओंका साक्षी है, एवं सर्वत्र व्याप्त है, सब कालमें रहा है और रहेगा, अविनाशी है और ज्ञानमात्र है। जैसे प्राण एक है तो भी इन्द्रियोंके भिन्न होनेसे आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है इत्यादि भावोंके कारण—एक दूसरेसे भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसी ही आत्मा एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न देहोंमें अवस्थित होनेके कारण भिन्न प्रतीत होता है।

जितने जीव जरायुसे उत्पन्न होते हैं—मनुष्य, गौ, घोड़े, हाथी, सिंह, कुत्ते, भेड़, बकरी आदि—जो पक्षी-वर्ग अण्डोंसे उत्पन्न होते हैं, जो कीटवर्ग पसीने, मैल आदिसे उत्पन्न होते हैं और जो वृक्षवर्ग (पेड़, विटप) पृथिवीको फोड़कर उगते हैं, इन सबोंमें—सम्पूर्ण सृष्टिमें—जहाँ-जहाँ जीवके साथ प्राण दौड़ता हुआ दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। जब सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, जब 'मैं हूँ' यह अहंभाव भी लीन हो जाता है, उस समय जो निर्विकार साक्षीरूप हमारे भीतर बैठा हुआ ध्यानमें आता है और जिसका हमारे जागनेकी अवस्थामें 'हम अच्छे सोये' 'यह सपना देखा' इसप्रकारकी स्मृति होती है, वही ब्रह्म है। इत्यादि।'

यह ब्रह्म कहाँ है?

वेद कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

एक ही परमात्मा सब प्राणियोंके भीतर छिपा हुआ है, सबमें व्याप रहा है, सब जीवोंके भीतरका अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टिमें हो रहा है, उसका नियन्ता है। सब प्राणियोंके भीतर बस रहा है, सब संसारके कार्योंका साक्षीरूपमें देखनेवाला, चैतन्य, केवल एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणोंके दोषसे रहित है।

वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह देवोंका देव, अग्निमें, जलमें, वायुमें, सारे भुवनमें, सब ओषधियोंमें, सब वनस्पतियोंमें, सब जीवधारियोंमें व्याप रहा है।

कहते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एव-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

—कि वह परम देव विश्वका रचनेवाला सदा प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। अपने-अपने हृदयमें स्थित इस महात्माको जो शुद्ध हृदयसे, विमल मनसे अपनेमें विराजमान देखते हैं वे अमर होते हैं।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥

लोकमें न उसका कोई स्वामी है, न उसके ऊपर आज्ञा चलानेवाला है, न उसका कोई चिह्न है। वही सबका कारण है। उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं, न उसका कोई रक्षक है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

उस सब सामर्थ्य और अधिकार रखनेवालोंके सबसे बड़े परम ईश्वर, देवताओंके सबसे बड़े देवता, स्वामियोंके सबसे बड़े स्वामी, सारे त्रिभुवनके स्वामी, परम पूजनीय देवको हमलोगोंने जाना है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विज्ञानरूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता॥
अगुण अदभ्र गिरा गोतीता। समदर्शी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
इहाँ मोहकर कारण नाहीं। रवि-सम्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

यह परमात्मा जीवरूपमें प्रत्येक जीवधारीके हृदयके बीचमें विराजमान है।

ईश्वर-अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

इस विषयमें याज्ञवल्क्य मुनिने सब वेदोंका तत्त्व यों वर्णन किया है—

एक सौ चवालीस सहस्र हित और अहित नामकी नाड़ियाँ प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे शरीरमें दौड़ी हुई हैं। उसके बीचमें चन्द्रमाके समान प्रकाशवाला एक मण्डल है, उसके बीचमें अचल दीपके समान आत्मा विराजमान है, उसीको जानना चाहिये। उसीका ज्ञान होनेसे मनुष्य आवागमनसे मुक्त होता है।

यह आत्मा मनुष्यसे लेकर पशु पक्षी, कीट पतङ्ग, वृक्ष-विटप समस्त छोटे बड़े जीवधारियोंमें समानरूपसे विराजमान है—

वेदव्यासजी कहते हैं—

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र समं तत्सर्वजन्तुषु।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा॥

ब्रह्मकी ज्योति अपने भीतर ही है, वह सब जीव-धारियोंमें एक सम है, मनुष्य मनको अच्छी तरह शान्त और स्थिर कर उसीसे उसको देख सकता है।

गीतामें स्वयं भगवान्‌का वचन है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वही पण्डित है जो विनाश होते हुए मनुष्योंके बीचमें विनाश न होते हुए सब जीवधारियोंमें बैठे हुए परमेश्वर-को देखता है।

सब ज्योतियोंकी वह ज्योति, समस्त अन्धकारके परे चमकता हुआ, ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, जो ज्ञानसे पहचाना जाता है, ऐसा वह परमात्मा सबका सुहृद्, सब प्राणियोंके हृदयमें बैठा है।

ऐसे घट घट-व्यापक उस एक परमात्माकी मनुष्यमात्र-को विमल भक्तिके साथ उपासना करनी चाहिये। और यह ध्यानकर कि वह प्राणीमात्रमें व्याप्त है, प्राणीमात्रसे प्रीति करनी चाहिये। सब जीवधारियोंको प्रेमकी दृष्टिसे देखना चाहिये। जैसा कि भक्तशिरोमणि प्रह्लादजीने कहा है—

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५३-५५)

अतएव हे दानवो! सबको अपने ही समान सुख दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण करके सब प्राणियोंके आत्मा और ईश्वर भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करो। दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, व्रजवासी गोपाल, पशु, पक्षी और अन्य पातकी जीव भी भगवान् अच्युतकी भक्तिसे निस्सन्देह मोक्षको प्राप्त हो गये हैं। गोविन्द भगवान्‌के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोंमें भगवान् है ऐसी भावना करना ही इस लोकमें सबसे उत्तम स्वार्थ है।

सनातन-धर्मका मूल

भगवान्वासुदेवो हि सर्वभूतेष्ववस्थितः।
एतज्ज्ञानं हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम्॥

यह ज्ञान कि भगवान् वासुदेव सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं, सम्पूर्ण सनातन धर्मका सदासे चला आता हुआ और सदा रहनेवाला मूल है। इसी ज्ञानको भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु'

मैं सब प्राणीमात्रमें एक समान हूँ। तथा यह कि—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मणमें, गौ बैलमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाण्डालमें पण्डित लोग समदर्शी होते हैं, अर्थात् सुख-दुःखके विषयमें उनको समानभावसे देखते हैं। तथा यह भी कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जो पुरुष सबके सुख दुःखके विषयमें अपनी उपमासे समान दृष्टिसे देखता है उसीको सबसे बड़ा योगी समझना चाहिये। इसीलिये महर्षि वेदव्यासजीने कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते॥

सुनो धर्मका सर्वस्व, और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो। जो अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, जिस बातसे अपनेको पीड़ा पहुँचे, उसको दूसरोंके प्रति न करो।

दूसरेके प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिये जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा मालूम हो या दुःख हो। संक्षेपमें यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बातकी कामनासे किये जाते हैं।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरेका प्राण हरनेका मन करे? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है उसको चाहिये कि वही-वही बात औरोंके लिये भी सोचे।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय धर्म जिनका सब समयमें पालन करना सब प्राणियोंके लिये विहित है और जिनके उल्लंघन करनेसे आदमी नीचे गिरता है, इन्हीं सिद्धान्तोंपर स्थित हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंपर वेदोंमें गृहस्थोंके लिये पञ्च-महायज्ञका विधान किया गया है कि जो भूलसे भी किसी निर्दोष जीवकी हिंसा हो जाय तो हम उसका प्रायश्चित्त करें। जो हिंसक जीव हैं, जो हमारा या किसी दूसरे निर्दोष प्राणीका प्राणाघात करना चाहते हैं, या उनका धन हरना या धर्म बिगाड़ना चाहते हैं, जो हमपर या हमारे देशपर, हमारे गाँवपर आक्रमण करते हैं, या जो आग लगाते हैं या किसीको विष देते हैं—ऐसे लोग आततायी कहे जाते हैं। अपने या अपने किसी भाई या बहिनके प्राण, धन, धर्म, मानकी रक्षाके लिये ऐसे आततायी पुरुषों या जीवोंका, आवश्यकताके अनुसार आत्मरक्षाके सिद्धान्तपर बध करना धर्म है। निरपराधी अहिंसक जीवोंकी हिंसा करना अधर्म है।

इसी सिद्धान्तपर वेदके समयसे हिन्दू लोग सारी सृष्टिके निर्दोष जीवोंके साथ सहानुभूति करते आये हैं। गौको हिन्दू लोकमाता कहते हैं क्योंकि वह मनुष्य-जातिको दूध पिलाती है और सब प्रकारसे उनका उपकार करती है। इसलिये उसकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्रका विशेष कर्त्तव्य है। किन्तु किसी भी निर्दोष या निरपराध प्राणीको मारना, किसीका धन या प्राण हरना, किसीके साथ अत्याचार करना, किसीको झूठसे ठगना, ऊपर लिखे धर्मके परम सिद्धान्तके अनुसार अकार्य अर्थात् न करनेकी बातें हैं। और अपने समान सुख-दुःखका अनुभव करनेवाले जीवधारियोंकी सेवा करना, उनका उपकार करना, यह सार्वलौकिक त्रिकालमें सत्य धर्म है।

इसी मूल-सिद्धान्तके अनुसार वेद-धर्मके माननेवालोंको उपदेश दिया गया है कि न केवल मनुष्योंको किन्तु पशु-पक्षियों तथा समस्त जीवोंको बलिवैश्वदेवके द्वारा नित्य कुछ आहार पहुँचाना अपना धर्म समझें। यह बात नीचे लिखे श्लोकोंसे स्पष्ट है।

बलिवैश्वदेवके श्लोक

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः॥
देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धाः सयक्षोरगभूतसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता
ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाः कीटपतङ्गकाद्याः
बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं
तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु॥
भूतानि सर्वाणि तथान्नमेत-
दहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति।
तस्मादहं भूतनिकायभूत-
मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम्॥
चतुर्दशो भूतगणो य एष
तत्र स्थिता येऽखिलभूतसंघाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं
तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥
इत्युच्चार्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितम्।
भुवि भूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयो यतः॥

और-और यज्ञोंको करके मनुष्य सावधान होकर पृथिवीपर सब प्राणियोंके लिये बलि रक्खे और कहे कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, प्रेत, पिशाच, तरु, चींटी, कीड़े, पतंग, जो भूखे हों और मुझसे अन्न चाहते हों, मेरे दिये अन्नसे उनकी तृप्ति हो और वे सुखी

हों, इत्यादि कहकर गृहस्थ प्राणीमात्रके उपकारके लिये श्रद्धापूर्वक थोड़ा अन्न निकाल दे।

इसी धर्मके अनुसार सनातन-धर्मी नित्य तर्पण करनेके समय न केवल अपने पितरोंका तर्पण करते हैं किन्तु समस्त ब्रह्माण्डके जीवधारियोंका। यह नीचे लिखे श्लोकोंसे विदित है। यथा—

देवा सुरास्तथा यक्षाः नागा गन्धर्वराक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धा कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥
जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाऽखिलाः॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥
ये बान्धवाऽबान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु यश्चास्मत्तोयमिच्छति॥

देवता, दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, वृक्ष-वर्ग, पक्षीगण, जलमें रहनेवाले जीव, बिलमें रहनेवाले जीव, वायुके आधारपर रहनेवाले जन्तु, ये सब मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। समस्त नरकोंकी यातनामें जो प्राणी दुःख भोग रहे हैं, उनके दुःख शान्त करनेकी इच्छासे मैं यह जल देता हूँ। जो मेरे बन्धु-बान्धव रहे हों और जो बान्धव न रहे हों और जो किसी और जन्ममें मेरे बान्धव रहे हों, उनकी तृप्तिके लिये और उनको भी तृप्तिके लिये जो मुझसे जल पानेकी इच्छा रखते हों, मैं यह जल अर्पण करता हूँ।

वैश्वदेवमें जो अन्न कुत्ते और कौवोंके लिये निकाला जाता है उसको छोड़कर शेष बलिकी मात्रा बहुत कम होती है इसलिये यह 'सर्वभूतेभ्यः' सब प्राणियोंको पहुँच नहीं सकता। तथापि यह जानते हुए भी—बलिवैश्वदेवका करना प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य इसलिये माना गया है कि वह उस पवित्र, उदार भावको प्रकट करता है कि मनुष्य मानता है कि उसका सब जीवधारियोंसे भाईपनका सम्बन्ध है और इस भावको आँसुओंके समान प्रेमके जलसे नित्य सींचकर जगत्के आकाशमें जीवधारीमात्रमें परस्पर भाईपनका भाव स्थापित करनेका उत्कृष्ट और प्रशंसनीय मार्ग है।

इस धर्मकी उदारताकी प्रशंसा कौन कर सकता है? इसकी उदारता इस धर्मके बड़े-से-बड़े परम पूजित आचार्य महर्षि वेदव्यासकी, जो 'सर्वभूतहिते रतः' सब प्राणियोंके हितमें निरत रहते थे, इस प्रार्थनासे भी प्रकट है कि—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग रहें, सब सुख-सौभाग्य देखें, कोई दुखी न हो।

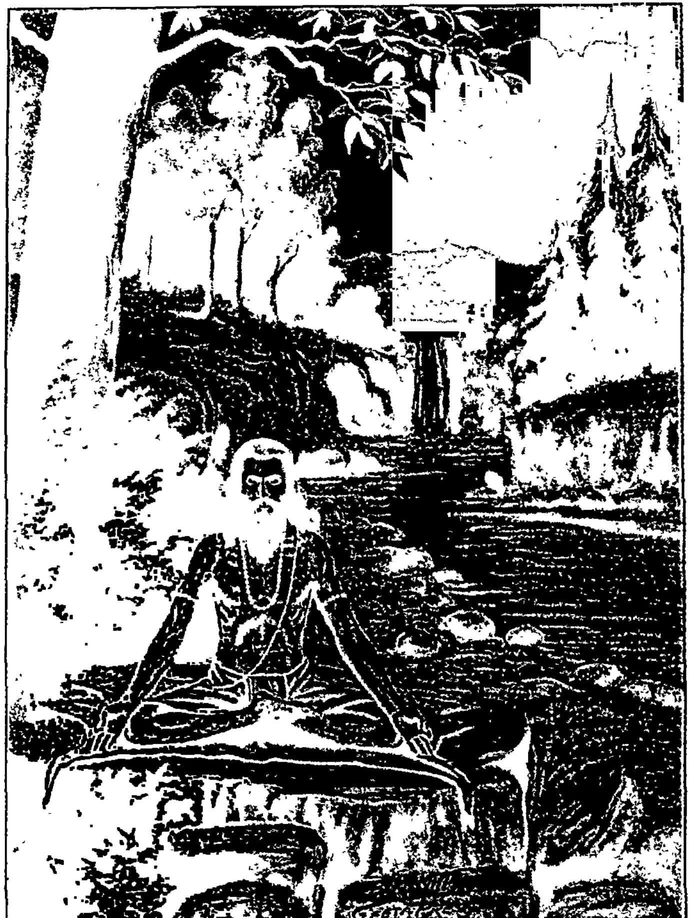
उसी धर्मके प्राणाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सारे जगत्के प्राणियोंको यह निमन्त्रण दे दिया है कि—'सब और धर्मोंको छोड़कर तुम मुझ एककी शरणमें आओ। मैं तुमको सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। सोच मत करो।'

उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

कि 'मैं सब प्राणियोंके लिये समान हूँ। न मैं किसीका द्वेष करता हूँ, न कोई मेरा प्यारा है। जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ; पापी-से-पापी भी क्यों न हो यदि वह और सबको छोड़कर मेरा ही भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। थोड़े ही समयमें वह धर्मात्मा हो जायगा और उसको शाश्वती शान्ति मिल जायगी। हे अर्जुन! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जो कोई मेरा भक्त है, उसका बुरा नहीं होगा। हे कुन्तीके पुत्र! मेरी शरणमें आकर जो पापयोनिसे उत्पन्न प्राणी भी हैं और स्त्री, वैश्य और शूद्र—ये भी निश्चय सबसे ऊँची गतिको पावेंगे।'

धन्य हैं वे लोग जिनको इस पवित्र और लोक-प्रेमसे पूर्ण धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। मेरी यह प्रार्थना है कि इस ब्रह्म-ज्योतिकी सहायतासे सब धर्मशील जन अपने ज्ञानको विशुद्ध और अविचल कर और अपने उत्साहको नूतन और प्रबल कर सारे संसारमें इस धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करें और समस्त जगत्को यह विश्वास करा दें कि सबका ईश्वर एक ही है और वह अंशरूपसे न केवल



महर्षि कपिल



महर्षि जैमिनी

सब मनुष्योंमें किन्तु समस्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष और विटप सबमें समानरूपसे अवस्थित है और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि हम प्राणीमात्रमें ईश्वरका भाव देखें, सबसे मित्रताका भाव रक्खें और सबका हित चाहें। सार्वजनीन प्रेमसे इस सत्य ज्ञानके प्रचारसे ईश्वरीय शक्तिका संगठन और विस्तार करें। जगत्से अज्ञानको दूर करें, अन्याय और अत्याचारको रोकें और सत्य, न्याय और दयाका प्रचारकर मनुष्योंमें परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें।

काशी. मदन मोहन मालवीय.
वैशाख शुक्ल ८.
सं. १९८८.

उत्तम रहस्य

जगत्में जो कुछ है, सब भगवान्का प्रकाश है, क्योंकि भगवान् ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। उनकी मूर्ति या अंश-के अतिरिक्त और किसीका भी अस्तित्व नहीं है। सभी जीव नाम-रूपकी सीमाके अन्दर असीमका ही आत्मप्रकाश है। अवश्य ही भगवान्के प्रकाशका भी क्रम है। भगवान् नित्य, शुद्ध, परब्रह्म हैं। साधारण जीवमें भगवान्का अंश मायाके आवरणसे आवद्ध है, जीव ज्ञानके प्रकाशद्वारा अपने देवत्वकी क्रमशः उपलब्धि कर सकता है। स्थान-स्थानपर भगवान्की विशेष शक्तियोंका आविर्भाव होता है, उनको विभूतिके नामसे पुकारा जाता है। किन्तु, जब वही अज, अव्ययात्मा ईश्वर स्वयं जगत्के कल्याणके लिये अपनी मायाको वशीभूत करके मायिक देह ग्रहण करते हैं—मानव-शरीरमें जन्म ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं—सर्वशक्तिमान् होकर भी मानवोचित शरीर-मन-बुद्धि-के द्वारा कर्म करते हैं—तभी उनको अवतार कहा जाता है।

मनुष्यके अन्दर भी भगवान् हैं। मनुष्य जिस दिन इस बातकी सम्यक् रूपसे उपलब्धि करता है, उसी दिनसे वह भगवान्में निवास करता है। वेदान्तवादियोंमें वैष्णवोंने नर-नारायणके रूपकको अवलम्बन करके इस तत्त्वको खूब दिखलाया है। नर नारायणका सदैवका साथी है। नर अर्थात् जीवात्मा जिस दिन यह समझ लेता है कि मैं नारायण अर्थात् परमात्माका सखा हूँ, उसी क्षण वह स्वरूपमें स्थित हो जाता है—उसी समयसे वह भगवान्के निकट निवास करता है—'निवसिष्यसि मय्येव।' भगवान् सब समय ही सखारूपसे हमलोगोंके समीप रहते हैं—हमलोगोंके हृदय-रथमें वे सर्वदा ही सारथी-रूपमें विराजित हुए हम लोगोंको चलाते हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

वे हमलोगोंके कितने अपने हैं, कितने निकटतम बन्धु हैं, हाथ पकड़कर वे किसप्रकार हम लोगोंको चला रहे हैं— इस बातको हमलोग नहीं समझते। जिस दिन मायाका आवरण, अज्ञानका अन्धकार हट जायगा, मनुष्य हृदिस्थित हृषीकेशके सम्मुख आयेगा, उनकी वाणी सुनकर प्रमादको नष्ट करेगा, उनकी शक्तिसे कर्म करेगा—उसी दिन वह अपनी मन-बुद्धिको भगवान्में सम्पूर्ण भावसे समर्पण करनेमें एवं भगवान्के अन्दर निवास करनेमें समर्थ होगा, इसीको गीताने 'उत्तम रहस्य' बतलाया है⚛।………

—श्रीअरविन्द

⚛ Essays on Gita से

ईश्वर-प्रार्थना

(महात्मा गान्धी)

ईश्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थनाके आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता। अन्य मनुष्योंकी भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कटु अनुभव करने पड़े। उनके कारण मेरे अन्दर कुछ समयके लिये एक प्रकारकी निराशा-सी छा गयी थी। उस निराशाको दूर करनेमें मुझे सफलता हुई तो वह प्रार्थनाके ही कारण हुई। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अंग बनकर नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके विना चैन पड़ना कठिन हो गया। ईश्वरके अन्दर मेरा विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्दमनीय हो गयी। प्रार्थनाके बिना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक-प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ, किन्तु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय विनय करते थे, किन्तु मुझसे वैसा नहीं बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही। परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उसकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास उठ गया और जबतक मेरी अवस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं खला। परन्तु अवस्था ढल जानेपर एक समय ऐसा आया जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी इतना आवश्यक नहीं है जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है। क्योंकि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये कभी-कभी उपवास (भोजनका त्याग) आवश्यक हो जाता है किन्तु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। प्रार्थनाका अजीर्ण तो कभी हो ही नहीं सकता।

जगद्गुरुओंकी साक्षी

जगत्‌के तीन महान् गुरु गौतम बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मदके लेखोंमें इस बातके अकाट्य प्रमाण मिलते हैं कि उन्हें प्रार्थनासे ही प्रकाश मिला और वे प्रार्थनाके विना जीवित नहीं रह सकते थे। लाखों ईसाइयों, हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको आज भी ईश्वर प्रार्थनासे जितना आश्वासन मिलता है वैसा जीवनमें और किसी बातसे नहीं मिलता। आप अधिक-से-अधिक उन लोगोंको झूठा अथवा आत्म-वञ्चित कह सकते हैं। मैं तो यह कहूँगा कि यह झूठ मुझ सत्यान्वेषीपर जादूका-सा काम करती है, यदि झूठ ही हो तथापि वस्तुतः मेरे जीवनका एकमात्र यही सहारा रहा है, क्योंकि इसके बिना मैं एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकता। राजनैतिक आकाश निराशाके बादलोंसे घिरा हुआ रहनेपर भी मेरी आन्तरिक शान्ति कभी भंग नहीं हुई। अधिक क्या, लोग मेरी इस आन्तरिक शान्तिको देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। यह शान्ति मुझे ईश्वर-प्रार्थनासे ही मिली और कहींसे नहीं।

मैं विद्वान् नहीं हूँ, मैंने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है, किन्तु मैं विनयपूर्वक इस बातका दावा करता हूँ कि मेरा जीवन प्रार्थनामय है। प्रार्थनाका प्रकार कैसा होना चाहिये इस विषयमें मैं उदासीन हूँ। इसका निर्णय प्रत्येक मनुष्य अपने लिये स्वयं कर सकता है। किन्तु मुझे प्रार्थनाके कई ऐसे ढंग मालूम हैं जिनका लोगोंने अनुसरण किया है और प्राचीन महात्माओंके बताये हुए मार्गपर चलना ही श्रेयस्कर होता है।

किसीके अन्दर ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। संसारमें कई बातें ऐसी हैं जो स्वतःसिद्ध हैं और कुछ बातें ऐसी भी हैं जो बिल्कुल सिद्ध ही नहीं हो सकतीं। रेखागणितके मूल-सिद्धान्तों (Axioms) की भाँति ईश्वरकी सत्ता भी स्वयंसिद्ध है। सम्भव है कि हमारा हृदय उसे ग्रहण न कर सके। बुद्धिकी पहुँचके विषयमें तो मैं कुछ नहीं कहूँगा। बुद्धिका अवलम्बन बहुत करके भ्रमजनक होता है, क्योंकि तर्कपूर्ण युक्तियोंसे

चैतन्यरूप ईश्वरके अन्दर विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। वह बुद्धिसे परे है। हमारे पास बहुत-से ऐसे प्रमाण हैं जिनसे हम ईश्वरकी सत्ताको युक्तिसे सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु इसप्रकारका युक्तिपूर्ण समाधान पाठकोंकी बुद्धिका अपमान करना होगा। मैं आपलोगोंसे अनुरोध करूँगा कि आप लोग तार्किक युक्तियोंका आश्रय छोड़कर एक नन्हे-से बच्चेकी भाँति ईश्वरमें निश्छल विश्वास करना प्रारम्भ कर दें। यदि मेरा अस्तित्व है तो ईश्वरका अस्तित्व अवश्य है। केवल मेरे ही जीवनका नहीं, किन्तु मेरे-जैसे अन्य लाखों मनुष्योंके जीवनका यह एक आवश्यक अंग है। चाहे वे इसके विषयमें वाद-विवाद न कर सकें, किन्तु उनके जीवनसे हम यह देख सकते हैं कि वह उनके जीवनका एक अंग बन गया है।

श्रद्धा

मैं आप लोगोंसे केवल इतनी-सी प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग इस विश्वासरूपी खंडहरका जीर्णोद्धार कीजिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि आप उस प्रचुर साहित्यको भूल जाइये जिसने आपकी बुद्धिको चौंधिया दिया है और आपके पायेको कमज़ोर बना दिया है। श्रद्धाके मार्गमें दीक्षित हो जाइये, जो विनयका चिह्न है और इस बातको स्वीकार कीजिये कि हम कुछ नहीं जानते, हम इस विशाल ब्रह्माण्डके अन्दर अणुसे भी अणु हैं। हम अणुसे भी अणु इसलिये हैं कि अणु अपनी सत्ताके नियमोंका पालन करता है, किन्तु हम ऐसे ढीठ हो गये हैं कि प्रकृतिके नियमोंकी अवहेलना करते हैं। जिन लोगोंमें श्रद्धाका अभाव है उनको समझानेके लिये मेरे पास कोई युक्ति अथवा दलील नहीं है।

यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा।

बहुतसे लोग यह धृष्टतापूर्ण दावा करते हैं कि हमारा समग्र जीवन ही प्रार्थनामय है, अतः हमें किसी निर्दिष्ट समयपर एकान्तमें बैठकर प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें इसप्रकारकी मूर्खता नहीं करनी चाहिये।

हमलोग तो किस गिनतीमें हैं, उन महापुरुषोंने भी, जिनकी वृत्ति निरन्तर ब्रह्माकार रहती थी इसप्रकारका दावा नहीं किया। उनके जीवन वास्तवमें प्रार्थनामय थे; किन्तु हमें यह कहना चाहिये कि हमारे लिये वे निश्चित समयपर प्रार्थना अवश्य करते थे और प्रतिदिन परमात्माके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित करते थे। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहता कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उसके सामने हवाला दें, किन्तु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।※

हमारी प्रार्थना

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

हे परमात्मन्! मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओंके भीतर एक ही अत्यन्त गम्भीरतम प्रार्थना (आकांक्षा) है, उसे हम अपनी बुद्धिसे स्पष्ट जानें वा न जानें, उसे हम मुँहसे बोलें अथवा न बोलें, हमारे भ्रममें भी, हमारे दुःखमें भी, हमारी अन्तरात्मासे वह प्रार्थना (आकांक्षा) सदा-सर्वदा तुम्हारे अभिमुख मार्ग खोजती रहती है। वह प्रार्थना यही है कि हम अपने समस्त ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मोंके द्वारा शिवका दर्शन कर सकें, अपने समस्त प्रेमके द्वारा अद्वैतको प्राप्त कर सकें। फलके लाभकी आशाको हम तुमसे निवेदन करनेका साहस नहीं कर सकते, किन्तु हमारी आकांक्षा यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिके मध्यमें भी इस प्रार्थनाको हम समस्त शक्तिके साथ सत्यरूपसे तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकें। हमारी समस्त अन्य वासनाओंको व्यर्थ करके हे अन्तर्यामिन्! केवल इसी प्रार्थनाको स्वीकार करो कि हम कभी-न-कभी ज्ञानमें, कर्ममें और प्रेममें यह उपलब्धि कर सकें कि तुम्हीं 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' हो।

(संकलित)

※ केलिफोर्नियाके The Cultural World नामक त्रैमासिक पत्रिकामें प्रकाशित लेखका अनुवाद।

ईश्वर-महिमा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

(१)

ईश्वर कल्पना नहीं ध्रुव सत्य है

कुछ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेखचिल्ली-के घरकी कल्पनाकी भाँति मनमोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत् वस्तुमें भूलसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है। इससे सत् वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी कोई कालमें अभाव नहीं होता, वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्‌के लक्षण करते हुए गीतामें इसप्रकार कहते हैं—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
>
> (२ । १६)

असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्‌का अभाव नहीं है, इसप्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

ऐसी सत् वस्तु एक विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनेक नामोंसे संसारमें कथित किया गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, ध्रुव सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत् पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरा जड। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं। एक जीवात्मा और एक परमात्मा। उनमें जीवात्मा अंश है और परमात्मा अंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह चौबीस तत्त्वोंवाला संसार जडका ही विकार है।

> महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
>
> (गीता १३। ५)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं।

जो जड है वह दृश्य है। जो चेतन है वह द्रष्टा है। जडको ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है। भगवान्‌ने कहा है—

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
>
> (गीता १० । ४२)

अथवा 'हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस संपूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जड अल्प है, चेतन अनन्त है। जड उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जडमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको क्षणभंगुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता परन्तु

मूढ़-बुद्धिवालोंको भ्रान्तिसे जडके सम्बन्धसे चेतनमें जडका विकार भासित होता है, परन्तु जो विचार करनेपर वैसे ही नहीं ठहरता जैसे निर्लेप आकाशमें अपने नेत्रोंके दोषसे मोरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरोंका होना भी विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, ध्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। ध्रुव, प्रह्लाद-सरीखे भक्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिलकुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—खम्भमेंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्‌का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे ध्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना—ध्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवान्‌के शंख-के स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इसप्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रों-में स्थल-स्थलपर अनेकों मिलती हैं। यह सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित समझना निरी मूर्खता है। बिना हुई घटनाओंका इसप्रकार प्रचार होना, तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित-रूपसे अस्तित्व चला आना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वर-का अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर यह अविश्वास करना और यह कहना कि दुनियाँको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कलंक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कलंक लगानेवाले मूर्खोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं ठहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? जब कोई पुरुष लाठी लेकर कुत्तेको मारने जाता है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस लाठीको देखकर चिल्लाता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है। परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिल्ला उठता है। उसके चिल्लानेका मतलब यही है कि मेरे चिल्लानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिल्लाहटको सुनकर रक्षा करनेवाली कोई एक शक्ति मेरी रक्षा करेगी। इसप्रकार चिल्लानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस दयामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये करुणाभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस दयामयी शक्तिसे दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर करुणापूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्ति-शाली चेतन दयासिन्धु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान् शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूलकारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड़-पदार्थमें यथाविभाग नियमित रूपसे

सञ्चालन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। वर्तमानमें इंगलैण्डके महाराज पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो उसके विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी मिलना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं, क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राज्यकी व्यवस्था भी उनकी आज्ञानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजासे तो मिलना चाहनेपर भी मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और वे बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्‌की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेमे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति।' ईश्वरकी प्राप्तिके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अल्पशक्ति होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अञ्जन नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि। इन वस्तुओंके न दिखलायी पड़नेके कारण इनका अस्तित्व न मानना जैसे मूर्खता है, इसी प्रकार अल्पबुद्धिवालोंमें श्रद्धा और प्रेमकी कमीसे उनके ईश्वर-प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसका अस्तित्व न मानना मूर्खता है। जैसे सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और जैसे बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण नहीं प्रतीत होते। यथा-बहिरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम मन-बुद्धिके द्वारा धर्मात्मा समझते हैं। फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं। एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि ये दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेंट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेंटके लिये कथा नहीं बाँचते, यह बात जरूर है कि वे मान-बड़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेंट और पूजा तो इनको शिष्योंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धसे भगवच्चर्चा करनेसे मेरी आत्मा भी पवित्र हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्याणके लिये कथा करते हैं। एक परम श्रद्धालु व्यक्ति कहता है कि पण्डितजी तो स्वयं कल्याण-

स्वरूप हैं, हमलोगोंके कल्याणके लिये ही इनकी सम्पूर्ण क्रिया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषद्वारा और एक ही क्रिया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय कर रहे हैं। हो सकता है कि इन पाँचोंमेंसे किसी एकका निश्चय ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निश्चय हुई कि मन-बुद्धि-द्वारा किया हुआ निर्णय भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

एक मनुष्य किसी एक मजहबको अच्छा समझता है, फिर थोड़े दिनके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जबतक मन-बुद्धि पवित्र नहीं हो जाते तबतक उनका किया हुआ निर्णय भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी चक्करमें पड़ जाते हैं, फिर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निर्णय है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको अपने आपके नित्य अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ होती हैं। फिर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शंका होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

शंका, विचार, श्रद्धा और निर्णयादि मन-बुद्धिमें होते हैं। मन-बुद्धि परिवर्तनशील होनेके कारण श्रद्धा और विचार आदिमें समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निद्राके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है परन्तु जागनेके बाद उनका अत्यन्त अभाव देखकर असत् मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत्-अवस्थामें भी अज्ञानके कारण असत्में सत्-बुद्धि कर लेता है। इसलिये मन और बुद्धिके पवित्र और स्थिर हुए बिना उनका किया हुआ अनुमान और निश्चय ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निर्णय यथार्थ होता है।

बुद्धिके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें समझता है कि मैं निश्चय हूँ, इस निश्चयका तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। स्वयं अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण नित्य सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करती है। वही असली अनुभव है। उसमें भूल नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकार-रूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

यदि कहो कि देहान्तर-प्राप्तिको हम इसके सदृश नहीं मान सकते क्योंकि पूर्व और पर-जन्मकी किसी घटनाका हमको ज्ञान नहीं है, यह ठीक है, परन्तु इस जन्ममें भी तो पूर्व और पर-कालकी घटनाओंका हमें समीचीनरूपसे ज्ञान नहीं है। साधारण मनुष्यको तो भावी कालका ज्ञान एक पलका भी नहीं हो सकता। योग-शक्तिके प्रभावसे योगीजन पूर्वापरके जन्मकी घटनाओंका ज्ञान करनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥
(गीता १५। १०—११)

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे

युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्व-से जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं।

साधारण पुरुषमें तो भूत कालका भी ज्ञान समीचीन-रूपसे नहीं देखा जाता। थोड़े दिन पूर्वकी बीती हुई बहुत-सी घटनाओंके लिये भी वह साफ इन्कार कर देता है कि मुझको खयाल नहीं है, फिर बहुत पुराने जमानेकी बातके भूल जानेमें तो आश्चर्य ही क्या है? दो-तीन वर्षकी बाल्यावस्थाकी तो किसी घटनाका मनुष्यको प्रायः ज्ञान नहीं है। जन्मनेके समय प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य-को भारी तकलीफ होती है और उस दुःखके कारण प्रायः सभी चिल्लाते हैं परन्तु उस चिल्लानेका और दुःखका किसी-को ज्ञान नहीं है। फिर गर्भावस्थाकी घटनाका ज्ञान कैसे रह सकता है? इसपर यदि पूर्वजन्मकी घटनाओंके ज्ञानसे ही पूर्वजन्मकी सिद्धि मानी जाय तो उसकी निरी मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय? इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

> अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
> अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
>
> (गीता १०। २०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२)

ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं या उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड या पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्णरूपेण रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ रह सकता है, अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूल भी हो सकती है परन्तु श्रीभगवान्‌में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, शंकारहित, ज्ञानपूर्ण और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चलनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्‌को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्‌के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्‌की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार बतलाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यज्ञ, सेवा और महापुरुषोंका आज्ञा-पालन आदि सदाचार हैं।

दया, शौच, शम, दम, समता, क्षमा, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्गुण हैं ।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, मादक-वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, द्यूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं ।

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मत्सरता, आलस्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं ।

सदाचारसे सद्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये अन्योन्याश्रित हैं ।

सदाचार और सद्गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है, और दुराचार और दुर्गुणोंका पालन ही उसका भङ्ग करना है । ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है । अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है । यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है । संक्षेपमें विचार कीजिये । अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है । परिग्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञा-पालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमादि समस्त सद्गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है ।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके वश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसारके जीवोंका अहित करता है । इन दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्की बड़ी हानि होती है, सबके सुख-शान्तिका नाश हो जाता है । इसी अधःपतनसे बचानेके लिये भगवान्ने इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है । इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है । जो मोहवश भगवान्की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है । श्रीभगवान्के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है उसका स्वरूप है—

'प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना, या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना ।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्नलिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है ।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकता । तथा आरूढ़ हुआ गिर जाता है ।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर क्षयको प्राप्त होता है ।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है ।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है ।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है ।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसासे संसारकी हानि और कर्त्ताको दुःखकी प्राप्ति होती है ।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना, या उन्हें घटा देना एक प्रकारसे वर्तमान और भावी दुःखोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है । जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दीपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगोंके मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-भोगसे वञ्चित करके उनपर महान् दया करते हैं ।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण ७ पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर

उसकी इच्छाके विरुद्ध इसप्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःखरूप फल मिलता है। इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही स्त्री-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें स्नेह-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे चित्तकी वृत्ति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुखी हुआ मनुष्य करुण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्‌से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिससे वह दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं, साथ ही भगवान्‌की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गड्ढेमें डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बड़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर-सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बड़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बड़ाईरूपी भारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दुखी और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमानको त्यागकर—अकर्मण्यता और हरामीपनेको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम और उद्यम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, झूठा बड़प्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इसप्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रत्नोंके गहरे समुद्रमें डुबकी लगानेसे एक-से-एक बढ़कर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचार-द्वारा श्रीभगवान्‌के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डुबकी लगानेपर इसलोक और परलोकके हितकारक अनेक अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य इसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दुखियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्र-लेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी, भोगे बिना, प्रायः नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विलक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

१—यह अपने परम प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२—प्रतिकूल पदार्थ जो जगत्‌की दृष्टिमें दुःख कहलाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके ऋणानुबन्धसे मुक्ति मिलती है।

३—व्याधि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे सञ्चित पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वर्ण-सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४—भविष्यमें निषिद्ध पाप-कर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्धका नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वर्तमानमें पाप नहीं हुए और सञ्चित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंके

त्यागसे भविष्यके पाप मिट गये, इसप्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकालमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्मृति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु दयामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३)

ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिसप्रकार अपने अन्दर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है परन्तु ईश्वर ज्ञानस्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिभासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है; वस्तुतः आकाशकी अनन्तता अल्प है और वह देशकालसे परिमित है, पक्षान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देशकालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है; आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिसप्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सदृश संसारमें कोई पदार्थ है ही नहीं। यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्माके एक रोममें स्थित हैं, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वको समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवत्कृपासे ही जाना जाता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
(२।२९)

कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है।

इसप्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं, वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? समझाना वाणीका विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुषोंद्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्ननिमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका

अंश है, या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान्‌ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
> (गीता १०। ४२)

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगद्रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्‌के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत्‌के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अंगोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपांगको जला दे, या किसी एक अंगको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अंग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अंगरूप किसी जीवके साथ क्या कभी द्वेष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अंगोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अंगको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या सच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्व-प्रेम ही ईश्वरप्रेम है, क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वर-प्रेम है।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं—एक जड और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड संसार है। और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहते हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृतिको धारण कर रक्खा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंसे संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम क्षुद्र है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देशकालसे सीमित होने और फलकी अल्पताके कारण क्षुद्र कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वही विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर इस जड-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थ-भावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देशकालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देश-कालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो वही है जो इस जड-चेतन जगत्‌सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है!

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगत्‌के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किसप्रकारका प्रेम करना चाहिये।

चेतनके साथ प्रेम

१—मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके यथार्थ अभ्युदय और परम कल्याणके लिये

अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना।

२–पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे स्वार्थ-रहित सहायता करना।

३–इसी प्रकार वृक्ष-लता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-व्यवहार करना।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना, और आसक्ति तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य उपभोग करना।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं, उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्याग-कर लोकसंग्रहार्थ उनका यथोचितरूपसे सर्वथा त्याग करना।

जिसप्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानि-कारक पदार्थोंके क्षय और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही इनका हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियाँ आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोकसंग्रहके लिये करना चाहिये।

यह विश्वप्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राण-पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१–ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृत-मयी कथाओंका श्रवण, मनन और पठन-पाठन।

२–भगवान्‌में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका संग।

३–भगवान्‌के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन।

४–भगवान्‌की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्‌का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना।

५–संपूर्ण जीवोंको भगवान्‌का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना।

६–ईश्वरके तत्त्वको जाननेके और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना।

७–एकान्तमें करुणभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना।

इसप्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है। फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है। ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
> (गीता १२। १३–१४)

जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् यानी अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यान-योगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्वप्रेम है।

ईश्वर और उसकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी [साहेबजी महाराज] दयालबाग)

'ईश्वर है' यह विश्वास मनुष्यके हृदयमें इतनी गहरी जड़ जमाये हुए है और यह विश्वास इतना प्राचीन एवं विश्वव्यापी है कि हमें बरबस उस विज्ञ दार्शनिककी बुद्धिकी प्रशंसा करनी पड़ती है जिसने मनुष्यकी परिभाषा करते हुए पहले-पहल इसे ईश्वरको खोजनेवाला प्राणी बतलाया था। यह सत्य है कि सब मनुष्योंकी ईश्वरके सम्बन्धमें एक-सी भावना नहीं होती, परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई एक सर्वोपरि अदृश्य शक्ति—अज्ञात ईश्वरीय तत्त्व है। इस सम्बन्धमें छोटे बड़े सभी श्रेणीके मनुष्य एकमत हैं। कहाँ तो वे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवं अनेक-विद्या-विशारद दार्शनिक, जो देश-विदेशोंमें ख्याति एवं मान प्राप्त कर चुके हैं, इंग्लैण्डकी रॉयल सोसायटी (Royal Society) जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओंमें भाग लेते हैं और जिनके जीवनका अधिकांश भाग गहन तत्त्वोंके विचारमें ही बीतता है, और कहाँ दक्षिण अमेरिकाके वे असभ्य जंगली लोग जो उन घने जंगलोंमें निवास करते हैं, जहाँ आधुनिक सभ्यताका प्रकाश अभीतक नहीं पहुँच पाया है, तथा जो अपने अधिकांश जीवनको उदरदरीकी पूर्तिमें ही बिताते हैं। किन्तु इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके जीवनमें ऐसे क्षण आते हैं जब उनका जी उस सर्वोपरि अदृश्य शक्तिके प्रभावके सामने नतमस्तक होना चाहता है। यह माना कि सभ्यताके अभिमानी मनुष्योंने ईश्वरमें जिन-जिन गुणोंका आरोप किया है, जंगली जातियोंको उन सबका ज्ञान नहीं है, परन्तु वे अपने दिलमें इस बातको खूब समझते हैं कि उनके जीवन, सुख तथा भोजनाच्छादनकी व्यवस्था किसी अलौकिक शक्तिके हाथमें है। हमलोग, जिनका जन्म, ऐसे देशमें हुआ है जो आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वरीय ज्ञानमें बहुत बढ़ा-चढ़ा है, अपने उन भाइयोंकी धारणाओंकी भले ही दिल्लगी उड़ावें, जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि इन लोगोंके सरल हृदयमें ईश्वरकी जिज्ञासा उतनी ही मात्रामें है जितनी हमलोगोंके हृदयोंमें है। बात यह है कि मनुष्य यद्यपि ईश्वरकी सृष्टिमें सबसे उच्चकोटिका प्राणी है फिर भी उसके अन्दर पाशविक वृत्तियोंकी प्रधानता है। जब कभी किसी कारणसे उसके कार्योंमें बाधा पहुँचती है अथवा असफलता होती है उस समय इसकी आध्यात्मिक भावनाएँ जागृत हो उठती हैं। यही कारण है कि वे असभ्य जातियाँ, जिनके जीवनका अधिकांश भाग पेट पालनेमें ही व्यतीत होता है, तथा सभ्य कहलानेवाले हम लोग, जिनकी वृत्तियाँ सांसारिक कामनाओंके बोझसे सदा दबी रहती हैं, ईश्वरकी ओर तभी झुकते हैं जब किसी शारीरिक वेदना, भय, आनन्द अथवा अन्य किसी कारणसे हमारे मनकी स्वच्छन्द गति एक प्रकारसे निरुद्ध हो जाती है। और यही कारण है कि योगिजन आध्यात्मिक साधनाके द्वारा अपने मन और इन्द्रियोंको पूर्णतया वशमें करके निरन्तर ईश्वरका ध्यान कर सकते हैं।

ऊपरकी पंक्तियाँ लिखते समय हम इस बातको भुला नहीं सकते कि संसारमें ऐसे सहस्रों मनुष्य हो चुके हैं और अब भी हैं जिनका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं है। इस छोटेसे निबन्धमें हमारे लिये यह सम्भव नहीं कि हम उनके इस अविश्वासके कारणोंपर विचार करें अथवा उनके सिद्धान्तके गुण-दोषोंका विवेचन करें, परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि अधिकांश मनुष्योंका ईश्वरमें विश्वास न होनेमें प्रधान हेतु यह होता है कि वे जिस रूपमें सांसारिक विषयोंको देखते, समझते और इसलिये उनमें विश्वास करते हैं, ईश्वरको वे उसी रूपमें देख और समझ नहीं पाते। इसप्रकार माननेमें वे यह कल्पना कर लेते हैं कि संसारमें उन्हीं पदार्थोंकी सत्ता है जिनका बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण हो सकता है, अथवा संसारका प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियग्राह्य है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इन्द्रियोंकी गति सीमित है, तथा प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट क्षेत्र एवं निश्चित व्यापार है। उन्हें ज्ञात नहीं कि उनके अन्दर पदार्थोंके ग्रहण करनेकी कुछ और शक्तियाँ भी हैं जो सुप्त होनेपर भी इन्द्रियोंसे कहीं अधिक सामर्थ्ययुक्त हैं। उनका ज्ञान वहींतक सीमित है जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच है, अथवा जहाँतक उनकी तर्कबुद्धि ऊहापोह कर सकती है। उन्हें अन्तर्ज्ञान (Intuition) अथवा 'धार्मिक अनुभव' (Religious experience)

की खबर नहीं। वे ज्ञान एवं अनुभवका आंशिक रूपसे ही उपयोग करते हैं।

राधास्वामी-मतके अनुसार मनुष्यके लिये ईश्वरका साक्षात्कार उसी प्रकार सम्भव है जिसप्रकार हम नेत्रों-द्वारा सूर्यको देखते हैं, परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि हम पहले उस चक्षुका पता लगावें जिसके द्वारा हमें ईश्वरका दर्शन हो सकता है, फिर उसे जागृत कर उसके साथ उन दिव्य किरणोंका सम्पर्क होने दें जो अखिल विश्वको प्रकाशित करती हैं। लोग कहते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जिसे 'दिव्य चक्षु' कहते हैं। परन्तु संसारमें बहुत थोड़े मनुष्य ऐसे हैं जो ईश्वरके दिये हुए इस सर्वोत्तम प्रसादका उपयोग करना अथवा उसकी कद्र करना जानते हों। मनुष्यके मनकी अधोगामिनी तथा बहिर्मुखी वृत्तियाँ इतनी बलवती हैं कि बहुतोंको प्रारम्भिक साधन भी असम्भव-सा ज्ञात होता है, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तिके अपव्ययको रोकने तथा ईश्वर-साक्षात्काररूपी महान् कार्यमें हाथ डालनेके लिये अपेक्षित आध्यात्मिकताको उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक हैं। हमारे शरीरोंमें आध्यात्मिकताकी जो सामान्य लहरें प्रवाहित होती रहती हैं, वे ही आध्यात्मिक साधनोंके अभ्याससे भीतर-ही-भीतर केन्द्रीभूत होकर महान् शक्ति-शालिनी बन जाती हैं, जैसे बिखरी हुई सूर्यकी किरणें आतिशी शीशेके बीच एकत्रित होकर शक्ति-सम्पन्न हो जाती हैं। जब साधक अपने ध्यानको अभीष्ट केन्द्रमें पूर्णरूपेण लगानेमें समर्थ हो जाता है तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि उसके अन्दर विषयोंको ग्रहण करनेकी एक नवीन शक्ति जागृत हो रही है। इसके अनन्तर इस नवीन शक्तिके द्वारा जो आन्तरिक अनुभव उसे होने लगते हैं, उनसे उसका अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास बढ़ता है तथा उससे अगले आध्यात्मिक केन्द्र अथवा चक्रकी ओर बढ़नेके लिये उसे प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार जब प्रत्येक नया चक्र क्रमशः जागृत होता है तो उसके साथ ही एक नवीन चेतना प्रस्फुटित होती है, जो पूर्वचक्रकी जागृतिके समय अनुभूत हुई चेतनासे बिल्कुल विलक्षण होती है, तब उसे अनुभव होता है कि प्रत्येक मञ्जिलके तै होनेके बाद साधकके अन्दर आध्यात्मिकताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। अन्तमें जाकर साधक उस अवस्थाको पहुँच जाता है जब उस चक्रकी जागृति होती है, जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट व्यापार है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रियमें पञ्चतन्मात्रामेंसे जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म रूप हैं, एक तन्मात्रा अवस्थित है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय अपने तन्मात्राके अन्दर होनेवाले स्पन्दनको ही ग्रहण करने तथा उसके अनुकूल व्यापार करनेमें समर्थ होती है। उदाहरणार्थ—नेत्रमें अग्नि या तेजकी तन्मात्रा अवस्थित है, इसलिये हम नेत्रोंके द्वारा केवल प्रकाश अथवा रूपको ही देख सकते हैं। इसी प्रकार उस केन्द्र अथवा चक्रमें जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार होता है, आत्मतत्त्व अत्यन्त विशुद्ध रूपमें अवस्थित है। और इस चक्रके जागृत हो जानेपर सारी आध्यात्मिक शक्तिके स्रोत—ईश्वर-से उद्भूत होनेवाली किसी आध्यात्मिक लहरके साथ इसका सम्पर्क होते ही चक्रमें उसके अनुकूल व्यापार होकर ईश्वर-दर्शन उसी प्रकार संघटित हो जाता है जिस प्रकार हमारी आँखोंके साथ सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध हो जानेपर सूर्यके दर्शन होते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरके साक्षात्कारके लिये दो बातें आवश्यक हैं—

१—मनका निग्रह और २—अन्दर सोई हुई उदात्त शक्तियोंको जाग्रत करना। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त आध्यात्मिक करणका उपयोग किये बिना ही ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करना उतना ही अनुचित है जितना आँखोंका उपयोग किये बिना ही सूर्यके अस्तित्वका निषेध करना!

जो हमारे भीतर-बाहर चारों ओर नित्य विराजित हैं, जो कर्म करके भी निष्क्रिय हैं, वे ही ईश्वर हैं। ईश्वर असीम हैं। इस विश्वमें जितने स्थान हैं, वे उन सबमें व्याप्त हैं, इसीसे उन्हें निराकार कहते हैं।

—तैलंग स्वामी

ईश्वर

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा एम०ए०, डी० लिट्, वाइस-चान्सलर, इलाहाबाद-युनिवर्सिटी)

'ईश्वर हैं या नहीं?' यह प्रश्न अनादि-कालसे चला आया है। उत्तरमें दार्शनिकोंका अनन्त प्रयास होता आया है। दर्शनके गूढ़ विचारोंका अवसर यह नहीं है। उससे उपकार भी इने-गिने ही लोगोंका होता है। इससे सामान्य जनताकी बुद्धिमें जो बातें-जो युक्तियाँ-आवें, उन्हींका उपयोग यहाँ होगा।

(१) सबसे प्रबल युक्ति ईश्वर माननेके पक्षमें चिरकालसे यह प्रसिद्ध है—

'नास्ति चेन्न किमायातमस्ति चेन्नास्तिकोहत।'

ईश्वरवादी कहता है—'मैं ईश्वरको मानता हूँ—भजन करता हूँ, यदि ईश्वर नहीं है तो मेरा यह सब करना व्यर्थ होगा-इतना ही होगा—मेरा कुछ बिगड़ेगा नहीं। पर यदि ईश्वर है तो जो नास्तिक है—जो ईश्वरको नहीं मानता, भजन नहीं करता, उसका सर्वथा सत्यानाश ही होगा।'—तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरको माननेमें ही सर्वथा कल्याण है।

(२) जब कभी मैं किसी चीजको देखता हूँ—किताब, कुरसी या मेज इत्यादि—तो उसी क्षणमें उसका बनानेवाला कौन है, यह जिज्ञासा उठती है, और किसी वस्तुके प्रसंगमें यह मनमें नहीं आता कि इसका कर्ता कोई नहीं है। फिर नदी, पर्वत, वृक्ष, फल, पुष्प, इत्यादिके प्रसंगमें भी यही युक्ति क्यों नहीं लगायी जाय? जैसे ग्रन्थका या मेजका बनानेवाला कोई पुरुष है, इसी तरह पर्वत इत्यादिका भी कोई कर्ता अवश्य होगा। जैसे मेज इत्यादि बिना कर्ताके नहीं बन सकते, वैसे ही फल पुष्पादि भी बिना कर्ताके नहीं बन सकते। 'Natural laws' 'Nature' 'Chance' इत्यादिका आश्रय लेना तो जलताडन मात्र है। 'प्राकृत नियम' के अनुसार तो सभी चीजें बनती हैं—बढ़ई जो मेज बनाता है—हथियारोंसे जो लकड़ी काटी जाती है—यह सब 'प्राकृत नियम'हीके अनुसार होता है। पर प्राकृत नियमके होते हुए भी एक सञ्चालक चेतन पुरुषकी अपेक्षा होती ही है। इसी तरह नदी पर्वत इत्यादि पदार्थोंकी उत्पत्ति प्राकृत नियमके अनुसार होती है, तथापि सञ्चालक पुरुषकी अपेक्षा अवश्य होगी। मेज, कुरसी इत्यादि स्थूल पदार्थ जब बिना चेतन सञ्चालकके नहीं उत्पन्न होते, तब सुन्दर वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि पदार्थ चेतन सञ्चालकके बिना केवल 'प्राकृत नियम'के अनुसार उत्पन्न होंगे, यह बात मनमें नहीं बैठती।

इन सब विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके अस्तित्वको मानना ही युक्तियुक्त है और इसीमें सर्वथा कल्याण भी है। इस विषयमें विशेष तर्क-वितर्क करना अनुचित, अनावश्यक और अनिष्टकारक है।

श्रीहरिनाम-संकीर्तन

पशु, पक्षी, कीटादि प्राणी जो स्वयं नामोच्चारणमें असमर्थ हैं, वे हरिनामको सुनकर ही उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्णके नाम-जपसे तो मनुष्य आप ही तरता है परन्तु अति ऊँचे स्वरसे संकीर्तन करनेसे वह दूसरोंको भी तारता है। जप करनेवालेकी अपेक्षा उच्च स्वरसे संकीर्तन करनेवाला सौगुणा अधिक फल पाता है। प्रेमपूर्वक उच्चकण्ठसे श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन करते रहनेपर तमाम जीव श्रवणमात्रसे ही मुक्त हो जाते हैं। भैया! तुम्हारे सामने भयानक प्रलय आ रहा है, हरिनाम लो, दूसरा उपाय नहीं। अपने भावी कल्याणके लिये भयानक मोह और पापोंको छोड़कर सब प्रकारसे हरिनामको अंगीकार करो। संकीर्तनरूप सूर्यके प्रभावसे पापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। —प्रभु जगद्बन्धु

परमेश्वर

जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टिका कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवोंको कर्मानुसार अपने सत्य न्यायसे फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसीको मैं ईश्वर मानता हूँ। सब सत्य विद्या तथा जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। —स्वामी दयानन्दजी



भगवान्—कूर्मरूपमें

परमात्मा और जीवात्मा

(लेखक—श्रीआनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, एम०ए०, प्रो-वाइस चैन्सलर हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)

(१) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥'

भावार्थ—एक वृक्षपर सदा साथ रहनेवाले और एक-दूसरेके मित्र ऐसे दो पक्षी बसते हैं। उनमें एक मीठे फल खाता है और दूसरा बिना खाये देखता रहता है।

(२) 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'

भावार्थ—जो सर्वभूतोंमें रहता है, जो सर्वभूतोंके अन्दर है, जिसे प्राणी नहीं जानते, सर्वभूत जिसका शरीर है, जो अन्तरमें रहकर सब प्राणियोंका नियमन करता है, वही तेरा अन्तर्यामी और अमर आत्मा है।

पूर्वोक्त श्रुतियोंके उपदेशकी आलोचना करते हुए डाक्टर भाण्डारकरने लिखा है—'जिन श्रुतियोंमें 'सख्य' और 'अन्तर्यामित्व' का प्रतिपादन किया गया है उनका अद्वैतवादमें सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। अद्वैत-वेदान्तमें ये दोनों ही पक्ष माने गये हैं। यदि सख्य-सम्बन्ध तथा नियम्य-नियामक-भावका विशेषरूपसे विश्लेषण किया जाय और उन भावोंमें निगूढ़ सिद्धान्तको खोज निकाला जाय तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'तत्त्वमसि' ही परम सत्य है।..........तत्त्वदृष्ट्या खोज करते हुए भी यही सम्बन्ध सुश्लिष्ट प्रतीत होता है।'

जीव और ईश्वरके परस्पर सम्बन्धके विषयमें यहाँ कुछ सविस्तर विचार करना उचित है—

जीव और ईश्वरका 'सख्य' क्या वस्तु है—उन दोनों-की मित्रताका क्या अभिप्राय है? जगत्के व्यवहारके अनुसार 'तुम' और 'मैं' एक-दूसरेसे भिन्न होते हुए मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध इसप्रकारका नहीं हो सकता, यह सर्वसम्मत है। द्वैतवादी मानते हैं कि परमात्मा जीवात्माके अन्तरमें रहता है—घट-घटमें राम रम रहा है। किन्तु वे 'अन्तर' शब्दके गम्भीर अर्थपर विशेष मनन नहीं करते। अद्वैतवादी इस विषयमें सिर्फ इतना ही कहते हैं कि 'अन्तर' शब्दके अर्थपर विचार करनेसे जीव और ईश्वरका तादात्म्य इस शब्दसे फलित होता है। एक चैतन्य दूसरे चैतन्यके अन्तरमें तादात्म्य-सम्बन्धके अतिरिक्त और किस रीतिसे रह सकता है? जड़ और सावयव पदार्थके सम्बन्धमें अन्तर शब्दका उसके वाच्यार्थमें प्रयोग किया जा सकता है किन्तु चैतन्यके सम्बन्धमें जहाँ 'अन्तर्' और 'बहिर्' शब्दोंका व्यवहार किया जाता है वहाँ हम देखते हैं कि इन शब्दोंका अर्थ 'तत्त्व' (Reality) और 'अतत्त्व' (Appearance) किया जाता है। एक सरल उदाहरण लीजिये। अमुक मनुष्य भीतरसे—अन्तरसे—बुरा नहीं है, यह प्रायः कहते हैं। यहाँ अन्तर शब्दका क्या अर्थ है? अन्तरसे बुरा नहीं—इसका अर्थ यही है कि उसका तत्त्व—यथार्थ स्वरूप—सौजन्ययुक्त है, किन्तु उस मनुष्यका अतत्त्व—बाह्य रूप—निरर्थक है।

आत्माको ज्ञान, इच्छा, भाव आदि वृत्तियोंसे जुदा समझना वर्तमान मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रतिकूल है। आत्मा एक अखण्ड वस्तु है जो ज्ञानादि-वृत्तिरूपसे प्रकट होता है। यही आजकलका सर्वसम्मत मानस-शास्त्रका सिद्धान्त है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि जीवात्मामें परमात्मा है तब इस कथनका यही तात्पर्य समझना चाहिये कि जीवात्मा परमात्माका ही आभास है—उसका प्रकट स्वरूप है। जीवात्माका अन्तरतम तत्त्व, उसका स्वकीय स्वाभाविक—आगन्तुक, उपाधिकृत नहीं—स्वरूप ही परमात्मा है। यही उसका भावार्थ समझना चाहिये।

यदि पूछो कि परमात्मा किसकी आत्मा है? इसका यही उत्तर है कि वह तो स्वयं ही आत्मा है, उसकी और आत्मा कैसे हो सकती है? परमात्मा अपनी ही आत्मा है अर्थात् अपने प्रकट स्वरूपकी आत्मा है। किन्तु उसका प्रकट स्वरूप 'मैं' और 'तुम' सहित बाह्य और आन्तर विश्वके सिवा दूसरी क्या वस्तु हो सकती है? इस प्रकट स्वरूप-

का परमात्मा ही आत्मा है। इस सिद्धान्तसे अद्वैतवादी-का कोई विरोध नहीं।

द्वैतवादी परमात्मा और जीवको परस्पर भिन्न समझते हैं। वे परमात्माको जीवात्माका आत्मा नहीं मानते, किन्तु परमात्माको जीवके ज्ञानका विषय बतलाते हैं। यदि परमात्माको अपने ज्ञानका विषय मान लिया जाय तो वह परमात्मा हमारे समक्ष विषयरूप होकर उपस्थित हो जाता है। यदि वह सामने विषयरूपसे उपस्थित हुआ तो वह हमारे अन्तरमें किस रीतिसे रह सकता है? विषय (Object) और विषयी (Subject) एक लकड़ीके दो छोरकी तरह जुदे जुदे (Antithetic) हैं—एक छोर दूसरे छोरके अन्तरमें कैसे आ सकता है? द्वैतवादी इतना तो मानता ही है कि परमात्मा जीवात्माके अन्तरमें विराजमान है। अतएव, परमात्मा जीवात्माके ज्ञानका विषय नहीं, बल्कि उसका आन्तरतम आत्मा है।

अब दूसरी युक्तिपर विचार कीजिये। जीव एक वस्तु है और परमात्मा दूसरी—इस भाँति सख्या करनेपर यह प्रश्न उठता है कि उन दोनोंमें ऐसा कौन सा तत्त्व अनुस्यूत है जो दोनोंको एक ही गणनामें अथवा वर्गमें रखता है? यदि कहा जाय कि उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ही दोनोंमें सामान्य है तो अद्वैतवादीको यह सर्वथा स्वीकार है। अनुपहित शुद्ध चैतन्यरूपसे ही वह तत् और त्वम्का तादात्म्य मानता है।

'यथा यथा तत्त्वमसीति वाक्ये
विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा।
सलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो
रखण्डभावः परिचीयते बुधैः।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते
ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः॥'

भावार्थ—जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर सर्वज्ञ है। उनमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञतारूपी विरुद्ध धर्मोंको निकाल डालें तो दोनोंमें एक ही तत्त्व स्थित रहता है। ब्रह्म और आत्मा-का ऐक्य प्रतिपादन करनेवाली 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिका यही तात्पर्य है।

प्रसङ्गवश एक और भी प्रश्न विचारार्थ उपस्थित होता है। यदि उक्त विरुद्ध धर्मोंको निकाल डाला जाय तो फिर रहेगा क्या? इस प्रश्नके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि धर्मोंसे पर क्या कोई तत्त्व ही नहीं होता? यदि नहीं होता तो धर्मोंके अस्तित्व और स्वरूपका निरूपण भी किस प्रकार सम्भव हो सकता है? किसी भी आस्तिकने—आत्मवादी और ईश्वरवादीने—आजतक यह नहीं कहा कि धर्मोंसे पर तत्त्व होता ही नहीं। किन्तु हमारे देशमें तथा यूरोपमें इस सिद्धान्तको नास्तिकोंने ही माना है। इस परिदृश्यमान जगत्के पीछे कोई वस्तु अवश्य है, इस सिद्धान्तपर ही ईश्वरवाद अवलम्बित है। इसी प्रकार आत्मवादीका भी यही निश्चय है कि सुख दुःख धर्मोंके पीछे आत्माकी सत्ता अवश्य है।

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार आप यदि यह कहें कि परमात्मा सगुण सिद्ध होता है तो इसपर निर्गुणवादी वेदान्तीको कुछ भी आक्षेप नहीं। जगत्का कारण निर्गुण है, यह वह नहीं कहता। जगत्का कारण तो हमेशा सगुण ही माना जाता है। *निर्गुणवादमें सगुण नहीं माना जाता, यह कथन* सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यदि ऐसा होता तो सगुणको सिद्ध करनेके लिये शङ्कराचार्यने स्थल स्थलपर जो यत्न किया है उसे वे न करते। निर्गुणवादियोंका इतना ही कहना है कि सगुणवादी गुण और गुणी इसप्रकारके दो तत्त्वोंको जैसे अन्तिम तत्त्व मान बैठते हैं वैसे न मानकर उन दोनों तत्त्वोंका निरूपण एक परमतत्त्वके द्वारा करना चाहिये। निर्गुणवादी यह नहीं कहते कि 'सगुण'—मनुष्योंके फुसलानेके लिये-शास्त्रकारोंने एक कल्पित पदार्थ रच डाला है। यदि गुण ऐसा पदार्थ है तो सगुण भी हो सकता है, किन्तु यदि गुणोंका परम तत्त्वरूप समझमें आ जाय और यदि वे गुण स्वतः स्वतन्त्र अस्तित्वरहित प्रतीत होने लगें, तो फिर सगुण नहीं रहता, यही निर्गुणवादका तात्पर्य है।

(अनुवादक—पं० भागराप्रसाद मेहता एम० ए०)

सर्वज्ञ परमेश्वरके श्रीचरणोंकी सेवा न की जाय तो फिर तुम्हारी चाहे जितनी विद्या भी किस कामकी है?

—तिरुवल्लुवर

धार्मिक रहस्यवादकी श्रेणियाँ

(लेखक—प्रो० श्रीराधाकमल मुकर्जी एम० ए०, पी-एच० डी०, लखनऊ विश्वविद्यालय)

रहस्यमय अनुभवका प्रारम्भ आत्म-समर्पण एवं आज्ञानुवर्तिताके भावोंसे होता है। अन्तःकरणकी अन्तर्मुखी वृत्ति होनेसे इन प्रारम्भिक अवस्थाओंमें भी ईश्वरके सान्निध्यका ज्ञान हो सकता है, किन्तु वह साधारण इन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। मनुष्यके इन्द्रियजन्य व्यापारों तथा अन्य स्वाभाविक क्रियाओंके रोकनेसे तथा संकल्प-जगत्‌में प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओंके होनेसे इस ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। परन्तु अधिक प्रबल उत्कण्ठाके कारण मनके संयोगकी अवस्था क्रमशः ऊँची हो जाती है। बाइबलके अन्तर्गत सेण्ट जान (St. John)के निम्नलिखित वचनोंमें इसी अवस्थाका स्वरूप वर्णित है—'मनुष्य अपने मित्रोंके निमित्त अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर दे, इससे बढ़कर उसका प्रेम क्या हो सकता है ? यदि तुम मेरे आदेशका पालन करो तो तुम मेरे मित्र ही हो। मैं अब तुमलोगोंको अपना अनुचर नहीं कह सकता, क्योंकि अनुचरको अपने स्वामीके कार्योंका ज्ञान नहीं होता। मैंने तो तुम्हें मित्र कहकर सम्बोधन किया है, क्योंकि मैंने अपने पितासे जो कुछ भी सुना है वह सब तुम्हें बतला दिया है।'

मनुष्यके अन्दर धार्मिक भावनाका प्रारम्भ पूर्ण निर्भरता एवं निरुपायताके ज्ञानसे होता है। इसके लिये श्रीरामानुजाचार्यने 'किङ्कर' शब्दका प्रयोग किया है जो इसके लिये सर्वथा उपयुक्त है। आगे चलकर मनुष्य धीरे-धीरे ईश्वरके साथ सम्बन्ध अथवा साहचर्यको प्राप्त होता है और इसके अनन्तर उसे ईश्वरके सौन्दर्य एवं प्रेमका यथार्थ ज्ञान होता है। रसाभिज्ञान माधुर्यभावकी कुञ्जी है, उसके अन्दर भय और संभ्रमका भाव नहीं रहता, बल्कि समानता एवं अन्योन्यनिर्भरताका ज्ञान रहता है। इसप्रकार उस प्रेमीकी दृष्टिमें ईश्वर सृष्टिका नियामक एवं मनुष्योंकी बुद्धिका प्रेरक न रहकर केवल प्रेम एवं सौन्दर्यकी मूर्ति रह जाता है और आत्माका उसके साथ प्रेमका सम्बन्ध हो जाता है।

जीवात्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो जानेपर उसकी निम्नलिखित तीन भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बन जाती हैं।

(१) पहली श्रेणीको 'साधारण अवस्था' कहते हैं। इसके अन्दर आत्मामें सामान्यतया तो रसाभाव ही रहता है, किन्तु समय-समयपर भावावेशसे उसे तरी मिलती रहती है। ज्यों-ज्यों उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, त्यों-त्यों उसके अहंकारका नाश होता जाता है और उसकी आत्मा परमात्माके रंगमें रँगती जाती है।

(२) दूसरी अवस्थाका नाम है 'समञ्जस-अवस्था' जिसमें आत्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध पहली अवस्थाकी अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होता है। इसके अन्दर अहंकार तो रहता है, किन्तु भावावेश एवं चमत्कार पहलेकी अपेक्षा अधिक होते हैं। अनेक प्रकारकी मूर्तियों एवं रूपोंसे उसकी आभ्यन्तर चेतना शून्य हो जाती है और कभी-कभी उससे ईश्वरके साथ जीवके गाढ़ समागममें भी बाधा आती है। इसप्रकारके चमत्कारोंका कारण ईश्वरकी कृपा ही बतलाया जाता है और साधक बड़े अनुनय-विनयके साथ उस कृपाकी भिक्षा माँगता है। दीर्घ अभ्याससे आन्तरिक व्यवस्था सुगम हो जानेपर प्रयत्न धीरे-धीरे शिथिल हो जाता है और आत्मा बिलकुल चेष्टाहीन बन जाती है। सेण्ट थेरेसा (St. Theresa) ने अपने स्वलिखित जीवन-वृत्तान्तमें इस अनुभवको क्षमताओंकी निद्रा (Sleep of the Powers) कहा है।

(३) तीसरी अवस्था पूर्ण एकताकी अवस्था है, जिसे 'समर्थ' अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्थामें भावावेश, चमत्कार, दिव्य ध्वनि एवं दिव्य गन्ध ये सब-के-सब लुप्त हो जाते हैं और आत्मा सत्य तत्त्वके अन्दर निरन्तर एकीभावसे स्थित रहती है, यद्यपि उसमें अहंभाव अब भी बना रहता है।

इसके अनन्तर चरम अवस्था आती है, जिसमें बुद्धि आत्मासे पृथक् रहकर, ईश्वरके साथ आत्माका एकत्व देखकर आनन्द मनाती है। बंगालके वैष्णवसम्प्रदायमें गोपिकाओंके प्रेमको इस अवस्थाका उदाहरण माना गया है। जिसप्रकार किसी नायिकाको अपने प्रियतमके साथ नित्य

नवीन क्रीड़ा करते देख उसकी सखियोंको अत्यधिक आनन्द मिलता है, उसी प्रकार परमात्माके साथ आत्माके संयोग-में अप्रत्यक्षरूपसे योग देकर बुद्धिको बड़ा आह्लाद होता है। आत्माकी आध्यात्मिक प्रेमकी सुकुमार लतिकाकी उपमा दी गयी है और बुद्धिके अप्रकट सहभोगको पत्रपुष्प-की ! गोविन्दलीलामृतका अनुसरण करते हुए श्रीचैतन्य-चरितामृतकारने इतनी बात और लिखी है कि लतिकाके द्वारा अप्रकटरूपसे अपना पोषण करनेमें पत्र-पुष्पको कहीं अधिक आनन्दकी उपलब्धि होती है।

संयोगकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न रंगोंके दर्शन होते हैं, जैसे सूर्यदर्शन, चन्द्रदर्शन, विद्युद्दर्शन, नीलिमाका दर्शन इत्यादि। ये अवस्थाएँ आठ होती हैं और इन्हें 'आध्यात्मिक संयोगकी आठ कुञ्ज' कहते हैं। यह प्रसिद्ध है कि ईसाई योगी लोग ईसा अथवा उनकी माता कुमारी मेरी (Virgin Mary) की माधुर्यभावसे उपासना करते थे। सेण्ट थेरेसा (St. Theresa) ने लिखा है कि, 'मुझे एक बार एक स्वर्गीय आत्मा दीख पड़ी जिसके हाथमें एक अग्निमुख सुनहरा बाण था। उस बाणको वह अपने हृदयमें भोंक लेती, जिससे उसके हृदयमें दिव्य प्रेमकी ज्वाला धधक उठती।' आगे थेरेसा लिखती है कि 'बाणके भोंक लेनेसे उस दिव्य आत्माको आध्यात्मिक वेदना होती, शारीरिक पीड़ा नहीं; यद्यपि उस आध्यात्मिक वेदनाका अनुभव शरीरको भी काफी मात्रामें होता था।' इसप्रकार आत्मा और परमात्मामें ऐसी मधुर प्रणयचर्या होती है कि उसका वर्णन मेरी शक्तिसे बाहर है। प्रसिद्ध सूफी महिला रबियाके विषयमें कहा जाता है कि वह रात्रिके समय अटारीपर चढ़कर पुकारती—'हे परमात्मन् ! दिन-का कलरव शान्त हो गया है, प्रेमीका अपनी प्रेयसीके साथ समागम हो गया है; किन्तु मेरा प्रेमी तो तू ही है, तेरे ही समागमसे मुझे आनन्द मिलता है।' मेवाड़की महारानी मीरा भी इसी प्रकारकी एक भक्त महिला थी। वह श्रीकृष्ण-प्रेममें डूबकर गाती—

हे री, मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय ॥टेक॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोणो किस विध होय।
गगन-मँडलपर सेज पियाकी, किस बिध मिलणो होय ॥१॥
घायलकी गति घायल जाने जो कोई घायल होय।
जौहरकी गति जौहरी जाने, दूजा न जाने कोय ॥२॥
दरदकी मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलियो होय ॥३॥

सिक्खोंके 'ग्रन्थसाहब' में भी आध्यात्मिक प्रेमकी घनताका इसप्रकार वर्णन किया गया है मानो इस जीव-रूपी दुलहिनका उस परमेश्वरके साथ परिणय हुआ हो। उसके अन्दर प्रेमास्पदसे मिलनेकी वैसी ही उत्कण्ठा दिखलायी गयी है, जैसी बंगालके वैष्णव कवियोंके भाव-काव्योंमें वर्णित है। ग्रन्थसाहबके एक इसी प्रकारके पद-का भाव नीचे दिया जाता है—

हे प्रियतम ! अपनी ही उच्छृंखलताके कारण तथा अपने ही कर्मोंसे मैं आपसे विलग हो गया। परन्तु जो कुछ होना था सो हो चुका; दसों दिशाओं एवं चारों महाद्वीपोंको मैंने छान डाला, मुझे कहीं भी आश्रय नहीं मिला, कहीं शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अब इस जीवन-सन्ध्यामें मैं फिर आपकी शरण आया हूँ। अपनी शरणागतवत्सलताके कारण आप फिर मुझे अपनी शरणमें ले लीजिये। आपके बिना मेरा जीवन उसी प्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार बिना दूधकी गाय और वृक्षकी कटी हुई शाखा व्यर्थ होती है। चूल्हेमें जाय वह नगर जहाँ मेरे प्रियतमके चरण नहीं जाते। प्रियतमके बिना मुझे अपने सारे मित्र और बन्धु यमदूत-से प्रतीत होते हैं।

मेरे सारे उत्तम शृंगार, मेरी प्रशस्त वेशभूषा, मेरे होठोंपर पानकी लाली, मेरे कमनीय वपुकी गरिमा, मेरे प्रेम और उत्कण्ठाकी विचित्रता, मेरे भावोंकी सरसता—ये सब-की-सब फीकी एवं तीव्र मालूम होती हैं।

हे परमात्मन् ! मुझे अपने नामका उपहार दो, मुझे अपनी गोदमें ले लो। हे प्रियतम ! आपके परमधामका कभी विनाश नहीं होता, मेरी जीवन-सन्ध्या समीप आ रही है, मेरे प्राणाधिक ! मैं आपके द्वारपर पड़ा हुआ आपसे आश्रय माँगता हूँ।'

सूज़ो (Suxzo) ने अपने अलौकिक अनुभवका इस-प्रकार वर्णन किया है—

'एक तेजस्वी युवा स्वर्गसे उतरा और मेरा हाथ पकड़कर मुझे एक सुन्दर हरित तृणसंकुल भूमिमें ले गया, तब उस युवाने अपने मन-ही-मन एक ऐसी मनोमोहक तान छेड़ी कि उसके सुमधुर स्वरकी अतिशय मादकताके कारण वह अपनी सुध-बुध भूल गया और उसके हृदयमें

उत्कट भगवत्प्रेम एवं उत्कण्ठाकी ऐसी बाढ़ आयी जिससे वह इतना ज़ोर-ज़ोरसे धड़कने लगा मानो विदीर्ण ही हो जायगा। उसने उसपर अपना दाहिना हाथ रखकर बड़ी कठिनतासे उसे थामा। उसके कपोल अश्रुधारासे तर हो गये। उसी समय उसने देखा कि 'माता' अपने शिशु (अनन्त ज्ञान) को हृदयसे लगाये उसके सामने खड़ी हैं और उस शिशुके शरीरपर 'मेरा हृदयवल्लभ' ये शब्द लिखे हैं।'

ल्यूबा (Leuba) ने इस सम्बन्धमें केवल इतना ही लिखा है कि 'सूज़ोने उपर्युक्त अवतरणमें अपने लिये अन्य पुरुषका प्रयोग किया है, जैसा कि अंग्रेज़ीके मूल लेखसे स्पष्ट है; किन्तु उसने यह नहीं बतलाया कि सूज़ोने ऐसा क्यों किया। कारण यह है कि आवेशकी दशामें यद्यपि उसकी आत्मा देखनेमें बाह्य ज्ञानशून्य थी किन्तु उसे तब भी इस बातका ज्ञान था कि वह अन्य पुरुषकी नाईं ईश्वरसे प्रेम करती है एवं उनके समागमसे आनन्दित होती है।' सेण्ट थेरेसाने भी इसी प्रकारकी द्विविध चेतनाका अनुभव किया था। उसने लिखा है—'संकल्प-शक्ति वास्तवमें प्रेम करनेमें लगी हुई है, किन्तु वह इस बातको नहीं समझती कि वह प्रेम किस तरह करती है। रही बुद्धिकी बात सो वह यदि वास्तवमें समझती है तो ऐसी प्रक्रियासे समझती है जो उसकी समझमें नहीं आती और वह जो कुछ सुनती है उसे तो बिल्कुल नहीं समझ सकती। मेरी समझसे तो वह समझती नहीं, क्योंकि मैं ऊपर बता चुकी हूँ कि वह अपनेको भी नहीं समझती। बाकी सब ऐसी पहेली है जिसे मैं भी नहीं सुलझा सकती।'

सूफ़ी औलिया अल-हुज़विरीके मतमें अहंकारका नाश किये बिना एकताकी सत्यताका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एवं अज्ञान अहंकारके ही आधारपर रहते हैं। उसने अपना एक अनुभव इसप्रकार लिखा है—

जब हसरी आये हुए लोगोंको उपदेश दे रहा था उस समय मेरी आँख लग गयी। स्वप्नमें मैं क्या देखता हूँ कि दो दिव्य आत्माएँ स्वर्गसे उतरकर कुछ समयतक हसरीके उपदेशको सुनती रहीं। उनमेंसे एक दूसरीसे कहने लगी—'यह मनुष्य एकताके सिद्धान्तको बतला रहा है, एकताके स्वरूपका वर्णन नहीं करता।' जागनेपर मैं देखता हूँ कि हसरी एकताका प्रतिपादन कर रहा है। उसने मेरी ओर देखकर कहा कि 'एकताके स्वरूपका वर्णन सिद्धान्तकी रीतिसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

जीव और ईश्वरकी पूर्ण एकता ही प्रत्येक धर्मके रहस्यवादका आदर्श है। उसकी अभिव्यक्ति प्रेमकी भाषामें होती है, सबसे घनिष्ट सम्बन्ध प्रेमका ही होता है। प्राचीन ब्रह्मवादियोंके रहस्यवादमें भी आत्मा एवं परमात्माका सम्बन्ध पति-पत्नीके सम्बन्धके रूपमें अभिव्यक्त किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—'जिसप्रकार अपनी प्रिय भार्याके अंगस्पर्शके समय मनुष्यको न तो आन्तरिक ज्ञान रहता है और न बाह्य ज्ञान, इसी प्रकार जब इस मनुष्यका प्रज्ञासे संयोग होता है, उस समय न तो उसे बाहरका ज्ञान रहता है न भीतरका।' इसी प्रकार प्लॉटिनस् (Plotinus) ने आत्माके ईश्वर-प्रेम एवं उसके साथ समागमकी इच्छाका इसप्रकार वर्णन किया है—

'ऊपरके लोकमें हमें वह सच्चा प्रेमास्पद मिलता है जिसे प्राप्तकर हम उसके साथ एकता कर सकते हैं, क्योंकि उसका शरीर हमारी तरह रुधिर-मांससे बना हुआ नहीं है। जिसने उस प्रियतमका दर्शन किया है वह मेरी बातको स्वीकार करेगा। जिस समय आत्मा उससे मिलनेके लिये जाती है और उसके समीप पहुँचकर उससे संयुक्त होती है उस समय उसे एक नया जीवन प्राप्त होता है और इस नयी परिस्थितिमें, उसे इस बातका ज्ञान होता है कि मेरा सच्चा जीवनदाता मरे पास है, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये? ऐसे मनुष्यको यह ज्ञान भी होता है कि हमें सब तरफसे मुँह मोड़कर केवल प्रेमास्पदका आश्रय लेना चाहिये और सारे बन्धनोंको तोड़कर केवल तदाकार बन जाना चाहिये; एवं इसीलिये हमें इस संसारके पदार्थोंसे शीघ्र उपराम होकर उनसे जकड़नेवाली बेड़ियोंको तोड़ देना चाहिये, ताकि हम अपनी सम्पूर्ण आत्मासे प्रियतमका आलिंगन कर सकें और हमारे शरीरका कोई ऐसा अंग बाकी न रहे जो उसके स्पर्शसे वंचित रह जाय।

सूफ़ियोंके मतमें फ़ना अर्थात् एकताका अर्थ है उस प्रकाशोंके भी प्रकाशकी सन्निधिमें रहना, जिसके अन्दर शाश्वत प्रेमकी ज्वाला धधकती रहती है और फिर तद्रूप बन जाना। आत्माको उसके अन्दर जला देना जिससे कि वह समागमके आश्लेषसे पुनः जी उठे। (देखिये 'गुलशने

राज')। प्रत्येक धर्ममें सगुण ईश्वरके साथ जीवका जो सम्बन्ध माना गया है उसे प्रसिद्ध महाराष्ट्र सन्त श्रीतुकारामने मानवीय तरंगों एवं अभिलाषाओंकी जोशीली एवं सजीव भाषामें इसप्रकार वर्णन किया है—

'जिसप्रकार दुलहिन अपने नैहरसे ससुरालको जाती हुई पीछेकी ओर ताकती जाती है और बड़ी कठिनतासे आगे पैर बढ़ाती है उसी प्रकार मेरी आत्मा हे केशव! तुमसे कब मिलेगी?

जब शिशु अपनी माताको नहीं देख पाता उस समय वह बड़ा विकल होता है और चिल्लाता है। मछली पानीके बाहर निकाल दिये जानेपर तड़पने लगती है। मेरी भी वही दशा है।'*

कहीं-कहीं तो जीव और ईश्वरके समागमका माधुर्य-प्रेमकी भाषामें बड़ा ही उत्कण्ठापूर्ण वर्णन मिलता है। सभी रहस्यवादियोंने इस प्रेमका वर्णन किया है। वे इस प्रेमके उच्छेदको नहीं सह सकते। रहस्यवादियोंके सामने सदा यह प्रश्न आता है कि ईश्वर जगत्‌के अन्दर है या बाहर? उनके अनुभवमें ईश्वरकी कूटस्थता अथवा जगदन्तर्वर्तितामें कोई विरोध नहीं है। ब्रह्मका स्वरूप सत् है। अद्वैतवादी अपनी बुद्धिसे उसे ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु रहस्यवादीका हृदय उसे प्रेममयके रूपमें पकड़ सकता है। यद्यपि सच्चिदानन्दरूपसे ईश्वरका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उसे हम एक पृथक् एवं अन्यव्यावृत्त सत्ता नहीं मान सकते। ईसाइयोंने ईश्वरके साथ व्यक्तिगत सम्बन्धके अनुभवको 'हमारे अन्दर ईसा-मसीह' इस चिह्नसे अभिव्यक्त किया है। सेण्ट पॉल (St. Paul) ने लिखा है कि 'ईसामसीहके अन्दर ईश्वरकी सारी पूर्णता मूर्तरूपमें विद्यमान है। इसप्रकार सजातीय आत्माओंके सम्पर्कका नाम ही संयोग हो जाता है। किन्तु फिर भी ईश्वरसे उसका वैजात्य बना ही रहता है, क्योंकि ईश्वरका अंश होनेपर भी वह उससे भिन्न है। डीन इन्ज (Dean Inge) का कहना है कि 'ईश्वर सारे सम्बन्धोंसे परे है और इसीलिये ईश्वरके अन्दर उसके तीनों स्वरूपोंका समन्वय हो जाता है।'

ईसाई-रहस्यवादियोंके मतमें मनुष्य-जीवनका ध्येय ईश्वरतुल्य बन जाना और उसके कार्योंमें योग देना है। उनके यहाँ सैकड़ों वर्षोंसे इसी बातपर जोर दिया गया है। सूफी रहस्यवादियोंका ध्येय है पहले ईश्वरकी अद्वितीय सत्तामें अपनेको विलीन कर देना और तदनन्तर उन्मादकी अवस्थासे फिर स्वस्थताको प्राप्त होना। पहली अवस्थाका नाम 'फ़ना' है, जिसमें अहंकार उस अपरिच्छिन्न सत्ताके साथ मिलकर नष्ट हो जाता है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें योगीका अहंकार पुनः लौट आता है और उसकी स्थिति ईश्वरमें हो जाती है, उसमें ईश्वरीय गुणोंका विकास हो जाता है, उसके द्वारा ईश्वरीय तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है और संसारमें ईश्वरीय नियमकी पूर्ति होती है।* ईश्वरका सतत क्रियाशील संकल्प ही जीव और ईश्वरके बीचके अनन्त व्यवधानको मिटा देता है। जुनायदने कहा है 'एकता इसका नाम है कि मनुष्य ईश्वरके हाथकी कठपुतली बन जाय, ईश्वर अपनी सर्वशक्तिमत्ताके अनुसार उसके साथ जैसा उचित समझे विधान करे और मनुष्य उसकी एकताके समुद्रमें डूब जाय, वह अपनी अहंताको बिलकुल नष्ट कर दे, यहाँतक कि न तो वह इस बातकी परवा करे कि उसे लोग क्या कहते हैं और न उन्हें उत्तर देनेकी ही फिक्र करे। वह ईश्वरीय एकताकी यथार्थताके कारण सच्चे सान्निध्यमें इतना मग्न हो जाय कि न तो उसे बाह्यज्ञान रहे और न वह किसी कामका ही रह जाय। क्योंकि ईश्वर अपने विधानके अनुसार उसके कार्योंका निर्वाह करता है, अर्थात् उसकी चरम अवस्था उसकी प्रारम्भिक अवस्था बन जाय और उसकी वही दशा हो जाय जो उसके जन्मसे पूर्व थी।'

किन्तु वह और उसके अनुयायी उन्मादकी अवस्थासे स्वस्थताकी दशाको अच्छी समझते हैं। पहली अवस्थाको 'मनुष्योंकी मृत्युका क्षेत्र' और दूसरीको 'बालकोंकी क्रीडा-स्थली' कहा गया है। उनका कहना यह है कि उन्मादकी अवस्था अच्छी नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्यकी सामान्य अवस्था विकृत हो जाती है और उसके होश-हवास ठीक नहीं रहते एवं आत्मा काबूमें नहीं रहती। सारे पदार्थोंके तत्त्वका अन्वेषण या तो उच्छेदके रूपमें होता है या जीवनके

* कन्या सासुऱ्याशी जाये। मागे परतोनी पाहे॥ १॥
तैसें झालें माझ्या जीवा। कधीं भेटसी केशवा॥ध्रु०॥
चुकलिया माये। बाळ हुरहुरू पाहे॥ २॥
जीवना वेगळी मासोळी। तुका तैसा तळमळी॥ ३॥

*He becomes indowed with divine attributes, displays the divine truth and fulfils the divine law in the world.—Nicholson The Idea of Personality in Sufism, p.p. 14, 68 and 69.

रूपमें, अर्थात् निषेधके रूपमें अथवा स्वीकारके रूपमें होता है, इसलिये निर्णयके तत्त्वकी तबतक उपलब्धि नहीं हो सकती जबतक ढूँढ़नेवाला अपने होशमें न हो।†

रहस्यवादमें सर्वदा विरोध-सा प्रतीत होता है। ईश्वरके पुत्र, अल्लाहके पैगम्बर अथवा ईश्वरके अवतारके रूपमें किसी मध्यवर्ती पुरुषके साथ अथवा स्वयं ईश्वरके साथ एक अटूट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किन्तु ईश्वर और योगी एक नहीं हो जाते, क्योंकि ईश्वरका समग्र स्वरूप योगीके अनुभवमें नहीं आ सकता। योगीलोग बार-बार यही कहते हैं कि ईश्वर सत्ता एवं ज्ञान दोनोंके परे है। वार्ड (Ward) नामक अंग्रेज़ विद्वान्‌ने लिखा है कि 'ब्रह्मको माने बिना अनेकताका कारण बतलाने अथवा अनेकको एक बनानेकी चेष्टा व्यर्थ एवं जोखिमसे पूर्ण मालूम होती है और ब्रह्मको माननेपर अनेकके अन्दर जो कुछ भी स्वतन्त्रता एवं निरपेक्षता दीख पड़ती है उसका भी रहना कठिन है। किन्तु योगियोंका वास्तविक अनुभव तर्ककी दोनों चरम कोटियोंको मिला देता है। ईसाई-धर्ममें एकके अन्दर अनेकका भाव उस एकताके अन्दर व्यक्तियोंके सम्बन्धको द्योतित करता है। मुसलमान एवं हिन्दू रहस्यवादियोंके मतमें एकके अन्दर अनेकताका भाव उस एक अपरिच्छिन्न तत्त्वके साथ उन अनेक रूपोंके सम्बन्धको बतलाता है जिनमें उसकी अभिव्यक्ति होती है। ये रूप पूर्णपुरुष अथवा ईश्वरके अवतारके अन्दर प्रतिभासित होते हैं। ईश्वरका स्वरूप इन्हींके अन्दर और इन्हींके द्वारा जाननेमें आता है, अतः इन्हें हम ईश्वरका मूर्तरूप कह सकते हैं।'

हिन्दुओंके भक्तिमार्गमें जीवात्माओंकी सत्यताको तो स्वीकार किया गया है किन्तु जीवात्मा एवं प्रकृति दोनों एकताके अन्दर रहनेवाले सापेक्ष तत्त्व माने गये हैं। जीवात्मा एवं अन्य सापेक्ष सत्ताओंका भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं मतोंमें भिन्न-भिन्न रूप बतलाया गया है, यद्यपि एक केन्द्रीय ईश्वरको वे सब-के-सब समानरूपसे मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्यके मतमें भगवान् और उपनिषदोंके प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही वस्तु हैं, किन्तु वे भगवान्‌को सगुण ब्रह्म मानते हैं—जो प्रत्येक सद्वस्तुका आधार है और जो सभी शुभ गुणोंका आकर है। प्रकृति और जीव दोनों उन्हींसे उत्पन्न होते हैं और वे अन्तर्यामीरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं। निम्बार्क-सम्प्रदायवाले जीव और प्रकृति दोनोंको भगवान्‌से भिन्न मानते हैं किन्तु उनके मतमें उन दोनोंका ईश्वरके साथ वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा सर्पके कुण्डलका सर्पके साथ और तरंगोंका जलके साथ होता है। उनके मतमें भगवान्‌का स्वरूप अचिन्त्य है, किन्तु उसकी प्रकृतिरूप ग्रन्थमें अभिव्यक्ति होती है। प्राकृतिक पदार्थ उसके शब्दोंके अक्षर हैं। इन अक्षरोंकी आकृति चाहे भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उनसे बोधित ध्वनि एक ही है। अतः अवतारोंकी वास्तविक घटनाओंका अथवा उनकी कथाओंके सत्यासत्यका इतना महत्त्व नहीं है जबतक उनके अन्दर ईश्वरीय प्रेम अभिव्यक्त हो रहा है। मध्व-सम्प्रदायवालोंने द्वैत-सिद्धान्तपर ज़ोर दिया है। उन्होंने ब्रह्मको तो एक ही माना है किन्तु विशेष नामक पदार्थसे अभूतपूर्व भेदोंकी कल्पना की है। श्रीवल्लभाचार्यके मतमें जीवात्मा ब्रह्मका ही अंश है। वह नित्य एवं सत् है और ब्रह्मकी तरह कर्त्ता और भोक्ता दोनों ही है। ब्रह्म अपनी इच्छा एवं लीलासे अपने ही अन्दरसे सृष्टिको उत्पन्न करता है जिसप्रकार मकड़ी अपने ही शरीरसे जाला बनाती है और ऐसा करनेमें उसके अन्दर तनिक भी विकार नहीं होता। ब्रह्मकी इच्छाके व्यापारसे जीवात्माके अन्दर रहनेवाला आनन्द-गुण सुप्त हो जाता है और इसी लिये जीव बन्धन, अज्ञान एवं कामनाओंके वशमें हो रहा है।

श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्यसे भक्तिकी वह महान् धारा प्रादुर्भूत हुई जो ईस्वी सन्‌की १३ वीं शताब्दीसे प्रारम्भ होकर भारतवर्षके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें फैल गयी। श्रीरामानुजाचार्यका प्रभाव उनकी जन्म-भूमि दक्षिणमें धीरे-धीरे क्षीण हो गया और फिर उत्तरीय भारतमें बड़े ज़ोरके साथ पुनः व्यक्त हुआ। श्रीरामानन्द, जो इनके शिष्य थे, अपने गुरुसे झगड़ा करके चले आये और काशीमें रहने लगे। उनसे तीन महान् सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई, पहला सम्प्रदाय गोस्वामी तुलसीदासजीका था, दूसरा कबीरका और तीसरा नाभाजीका था। कबीरपर सूफ़ी सिद्धान्तका भी प्रभाव पड़ा, तुलसीदासजीने रामायणकी कथा रचकर अपनी काव्य-कलाको प्रदर्शित किया और नाभाजीने अपने भक्तमाल-नामक ग्रन्थमें हिन्दी-भाषामें अनेक भक्तोंके चरित्रका वर्णन किया। मध्व-सम्प्रदायसे बंगालके महान् भक्त श्री-

† देखिये अलहुजविरीका करफ अल्-महजूब नामक ग्रन्थ पृ० १०५ परिच्छेद १६।

चैतन्य महाप्रभुका विकास हुआ। उनपर बंगालके पूर्ववर्ती चण्डीदास एवं विद्यापति—इन महात्माओंका भी प्रभाव पड़ा। श्रीवल्लभाचार्यका गुजरातमें खूब प्रभाव रहा और मीराबाई एवं नरसी मेहता इन्हींके उपदेशोंसे प्रभावित हुए।* इसप्रकार उक्त दार्शनिक सम्प्रदायोंसे सार्वजनिक भक्तिका स्रोत फूट निकला। और इस बातपर ज़ोर दिया गया कि भक्तिका उपदेश बोलचालकी भाषामें ही दिया जाय। यद्यपि बंगालका वैष्णव-सम्प्रदाय अपनेको मध्व-सम्प्रदायकी ही एक शाखा बतलाता है, किन्तु उसके सिद्धान्त श्रीवल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंसे अधिक मिलते हैं। बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायके प्रधान आचार्य जीव गोस्वामी थे। इन्होंने ईश्वरका ऐसा समन्वित स्वरूप माना है कि जिसमें 'ब्रह्म', 'परमात्मा' एवं 'भगवान्' इन तीनों स्वरूपोंका अन्तर्भाव हो जाता है। भगवान् तर्ककी दृष्टिसे सबसे ऊँची सत्ता हैं और ब्रह्म एवं परमात्मा ये दोनों उस समन्वित सत्ताके अपूर्ण रूप हैं। केवल ज्ञानकी अपरोक्षतामें ब्रह्म ही भगवान् हैं और इस अपरोक्षताका अनुभव तब होता है, जब कर्ता और कर्मके भेदका ब्रह्मके अन्दर स्पष्ट अनुभव नहीं होता क्योंकि ब्रह्म वास्तवमें एक अमूर्त एकताके रूपमें प्रतिभासित होता है। आध्यात्मिक अनुभवका यह पहला क्षण होता है। केवल ज्ञानी ही इस अनुभवकी पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। यह वस्तुकी सत्यतामें एकताका अनुभव है किन्तु वह एकता केवल दिखाऊ है और सर्वोच्च अन्तर्ज्ञानमें स्थूलताका पूर्वरूप है। इसप्रकार जीव गोस्वामीकी दृष्टिमें जबतक आध्यात्मिक जीवनकी स्थूलता दृष्टिगोचर नहीं होती तबतक अभेदज्ञान वास्तविक एवं अनुभवसिद्ध रहता है, इस अधूरे वर्णनके समन्वय-तत्त्वको 'परमात्मा' कहते हैं। सम्पूर्ण समन्वय तो अनन्त गुणों एवं अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न सगुण भगवान्में ही होता है। इसप्रकारकी समन्वय-दृष्टि केवल प्रेमसे ही होती है।

बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके द्वारा भक्तिका प्रचार होनेके साथ ही ईश्वरके सगुण स्वरूपकी धारणामें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायमें ज्ञानके द्वारा ईश्वरके महत्त्वके आन्तरिक अनुभवका अधिक उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्प्रदायमें ईश्वरको 'प्रेम और आनन्द' का लीलामय स्वरूप माना गया है। ईश्वरके स्वरूपमें लीलामय आनन्दकी आन्तरिक अभिव्यक्तिकी आवश्यकता रहती है और यह अभिव्यक्ति प्रेमसे ही हो सकती है। प्रेमके अन्दर इस अभिव्यक्तिके दो स्वरूप माने गये हैं। पहला तो यह कि शक्तिके अनन्त विकारोंमें ईश्वर सदा उसके साथ रहते हैं, शक्ति आनन्दका तत्त्व है और प्रेम ही उसका असली स्वरूप है। इस एकताके अन्दर ही मनुष्य ईश्वरके साथ अपनी एकताका अनुभव कर सकता है। इसके अतिरिक्त शक्तिके अनन्त विकारोंमें शक्तिके साथ ही ईश्वर एक कालमें विद्यमान नहीं रहते। प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्थासे एक तार्किक हलचल प्रारम्भ होती है, जिसके अन्दर पहले साहचर्यको स्वीकार किया जाता है और फिर उसका खण्डन किया जाता है। आनन्दमें न्यूनाधिक्य करनेके लिये और साहचर्यके बारम्बार समर्थन एवं खण्डनसे आनन्दको अधिक घन बनानेके लिये उनके यहाँ एक कानून भी है। भगवत्-प्रेमकी तार्किक हलचलमें जीव एवं प्रकृतिकी सृष्टिका अभिप्राय यही है। ईश्वरके विनोदके लिये अपनेको उनके अधीन कर देनेमें शक्तिको जो आनन्द प्राप्त होता है उसका स्वयं परमात्माको भी अनुभव नहीं है। इसप्रकार प्रेम, भक्ति एवं त्यागमें शक्ति एवं जीवको जिस आनन्दका वास्तवमें अनुभव होता है, उसका अनुभव करनेकी ईश्वरमें भी प्रवृत्ति होती है। यही मनुष्यके ईश्वर-प्रेमके रूपमें अभिव्यक्त होती है। प्रेमके सबसे ऊँचे स्वरूपको प्रेमी ग्रहण करता है और ग्रहण करनेवाला प्रेम करता है। इसप्रकार भक्तोंके प्रेमके आन्तरिक अनुभवोंसे ईश्वरकी कूटस्थ सत्ता एवं जगदन्तर्वर्ती सत्ताका सनातन विरोध मिट गया है। यहाँ भक्तको वह एकता नहीं मिलती जो सारे सम्बन्धोंसे परे है, जो एकता समुद्रमें नमककी डलीके घुल जानेसे अथवा वर्षाकी बूँदके समुद्रमें गिरनेसे होती है, अथवा दीपककी ज्वालामें पतंगके जल जानेसे सम्पन्न होती है। प्रेमकी तार्किक प्रगतिमें एक आवश्यक विरोध, एक अनिवार्य युक्ति-विरुद्धता नष्ट हो जाती है।

*भक्त नरसी मेहता श्रीवल्लभाचार्यसे बहुत पहले हो चुके हैं, यह निश्चयरूपसे माना जाता है कि नरसीजीका जन्म वि० सं० १४७० में और उनका परलोकवास सं० १५३६ में हुआ, परन्तु श्रीवल्लभाचार्यका जन्म सं० १५३५ में हुआ था। अतएव नरसीजीका भक्तिवाद श्रीवल्लभाचार्यसे मिलता जुलता होनेपर भी नरसीजीपर आचार्यका प्रभाव पड़ा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

एकेश्वरवाद और शिव-विष्णु

(लेखक—पं० श्रीभवानीशंकरजी)

हिन्दू-शास्त्रोंमें एकसे अधिक ईश्वरका वर्णन जानकर अनेक लोगोंकी यह धारणा हो गयी है कि हिन्दू-धर्म ईश्वरको एक न मानकर अनेक मानता है और इसी कारण वे लोग हिन्दू-धर्मको हेय दृष्टिसे देखते हैं। हिन्दुओं-में भी अनेकों मनुष्य शिव और विष्णु-में भेद मानते हैं तथा दोनोंको परस्पर-विरुद्ध गुणवाले समझते हैं । इसी कारण बहुधा शैव और वैष्णवोंमें परस्पर घोर विरोध और द्वेषभाव देखा जाता है । पूर्वकालमें तो शैवों और वैष्णवोंमें सिद्धान्त-भेदके कारण कभी-कभी बड़ी लड़ाई हो जाया करती थी। शिव और विष्णुमें भेद-ज्ञानसे ही लोग समझते हैं कि हिन्दू-धर्ममें एकेश्वरवाद न होकर अनेकेश्वरवादका सिद्धान्त है । इस अनेकेश्वरवादके भ्रमपूर्ण सिद्धान्तके कारण भी कुछ लोग ईश्वरमें विश्वास रखना अनावश्यक समझते हैं ।

शिव और विष्णुकी एकता

यथार्थतः मूलकारणस्वरूपमें शिव और विष्णु एक ही हैं, वह एक ही ईश्वर सांसारिक प्रयोजनके अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य-सम्पादन करनेके कारण गुण और कर्म-की दृष्टिसे विभिन्न समझे गये हैं । परन्तु विभिन्न कर्मोंका सम्पादन करते हुए भी वह एक हैं, तथा उनके कार्यकलाप और गुण-कर्म परस्पर-विरोधी न होकर आवश्यक और सहायक हैं ।

शिवके गुण और कर्मके रहस्यको लोग कम समझते हैं और इसी कारण उनमें शंका भी करते हैं; इसका कारण यह है कि उनके कर्म निवृत्ति-मूलक होनेके कारण परम उच्च और रहस्यमय हैं । संसारकी सृष्टिके सञ्चालनके निमित्त यह आवश्यक हुआ कि प्रथम प्रकृतिका विकास हो । इस विकासके कारण आवरणकी स्थूलतासे प्रकृतिके अभ्यन्तरस्थ आत्माके दिव्य गुण और शक्तिके बाह्य प्रकाशका स्वाभाविक ही ह्रास हो गया । यही प्रवृत्ति-मार्ग है । इसमें आधार-की उन्नति और वृद्धि होती है किन्तु इसके द्वारा उपाधिकी स्थूलताके कारण अभ्यन्तरस्थ आत्माके प्रकाशका ह्रास होता है । जब प्रकृतिकी स्थूलता चरम सीमापर पहुँच जाती है तब उसके विकारको शुद्धकर सूक्ष्म अर्थात् सत्त्वरूपमें लानेकी चेष्टा की जाती है जिससे अभ्यन्तरस्थ आत्माका प्रकाश जो आधारकी बाह्य स्थूलताके कारण ह्रासको प्राप्त हो गया था क्रमशः विकसित होने लगता है, यही निवृत्ति-मार्ग है। यह दोनों मार्ग आवश्यक हैं । पहले प्रवृत्ति-मार्गके कर्त्तव्योंके पालन किये बिना निवृत्ति सम्भव नहीं है । अतएव प्रवृत्ति-मार्ग भी निवृत्ति-मार्गका सहायक है । ईश्वर जब पालन और धारण करनेके कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं, (जो प्रवृत्ति-मार्ग है) तो वह विष्णु कहलाते हैं और वही ईश्वर जब निवृत्ति-मार्गके कार्यमें नियुक्त रहते हैं, (जो जीवात्माका ईश्वरमें सम्मिलन है) तो वह शिव कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही ईश्वरमें कार्य-भेदके कारण नाम-भेद पाया जाता है। जैसे गवर्नमेण्टका एक ही अफसर मालके कामका अधिकारी होनेके कारण 'कलक्टर', फौजदारीके कामका अधिकारी होनेके कारण 'मजिस्ट्रेट', रजिस्ट्रीका अफसर होनेके कारण 'डिस्ट्रिक्ट-रजिस्ट्रार' कहलाता है, (तथा पहले म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डका 'चेयरमैन' भी कहलाता था) अर्थात् एक ही व्यक्ति-की विभिन्न कार्योंके कारण विभिन्न संज्ञा हो जाती है, वैसे ही एक ही ईश्वरकी भी विभिन्न संज्ञाएँ हैं ।

श्रीविष्णु प्रवृत्ति-मार्गके नायक हैं। प्रवृत्ति-कार्यके साधनमें धन, धान्य, समृद्धि आदिकी आवश्यकता है । इसीलिये श्रीविष्णुकी शक्ति श्रीलक्ष्मी हैं जो धन धान्या-दिकी देनेवाली हैं। श्रीविष्णु अपने कार्यको यज्ञद्वारा सम्पादित करते हैं । क्योंकि इसके बिना प्रवृत्ति-धर्मका पालन सम्भव नहीं है और इसी कारण वह अवतार धारण-कर कभी-कभी मर्त्यलोकमें भी प्रकट होते हैं, जो यथार्थतः उनके निमित्त यज्ञ अर्थात् त्याग ही है । इसप्रकार विष्णु-का कार्य व्यक्त है । सृष्टिके कल्याणार्थ जो वैदिक यज्ञ किया जाता है उसके भी अधिष्ठाता श्रीविष्णु ही हैं और इसी कारण उनका नाम यज्ञ-पुरुष है ।

जब साधक प्रवृत्ति-मार्गके कर्तव्यको पूरा करके निवृत्ति-मार्गका अनुसरण करनेमें प्रवृत्त होता है तो श्रीशिव ज्ञान, योग और भक्तिको प्रदानकर उसे गुणमयी प्रकृतिसे जीव-

न्मुक्त करनेके लिये ईश्वरोन्मुख करते हैं। श्रीशिव स्वयं जीवन्मुक्तके परम आदर्श हैं और मनुष्य-शरीर जो पिण्डाण्ड है, वह किसप्रकार ठीक पिण्डाण्ड (लघु ब्रह्माण्ड) बनेगा, इसके वह प्रकाशक हैं। वह जगद्गुरु होनेके कारण मुमुक्षुको जीवन्मुक्त बनाते हैं। निवृत्ति-मार्गमें त्यागकी प्रधानता है और श्रीशिव स्वयं त्यागके परम आदर्श हैं; इसीलिये उनका नाम त्यागराज (योगिराज) है। इसी गुणके कारण श्रीशिव समस्त सांसारिक भोगके पदार्थोंका त्याग करते हैं। आकाश उनका वस्त्र है; तथापि त्यागके चिह्नस्वरूप वे केवल एक कौपीन धारण करते हैं और वह भी व्याघ्र चर्मका। सर्प, जिससे प्राणी भयभीत होते हैं, आभूषण बनकर शिवके गले और सिरमें लिपटे रहते हैं, जो आभ्यन्तरीय प्रसुप्त अधः कुण्डलिनी शक्तिके जागृत होकर ऊर्ध्व-शक्तिमें युक्त होनेकी सूचना देते हैं। श्रीशिव सुगन्धित पुष्पोंको त्यागकर धतूरे और आक जैसे विष-वृक्षोंके पुष्पोंसे प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि योगबलके कारण विष भी अमृत हो जाता है। वह शरीरमें चन्दनादिका लेप न करके विभूत रमाते हैं, जिसका भाव यह है कि इन्द्रियोंके विकारोंको योगाग्निसे दग्धकर उसे शुद्ध, सात्त्विक बनाकर विभूतिके रूपमें धारण करते हैं। कपाल धारणका अर्थ अन्य मूल्यवान् धातुके पात्रोंका त्याग करना है; इसका भाव यह है कि कपालके सहस्रार-चक्रमें शिवका वासस्थान है और वहीं उनको साधनद्वारा खोजना चाहिये।

जब कोई मूर्ति (आकृति) अपने उद्देश्यको सिद्धकर उससे अधिक कार्य करनेके योग्य नहीं रह जाती तो श्रीशिव उसको नष्टकर उसके द्वारा नवीन आकारकी रचना करते हैं जो नये रूपसे कार्य करता है। अतएव मृत्यु और मृतककी अस्थि, मुण्ड, चर्म, कपाल आदि यथार्थतः अमंगलजनक नहीं हैं, क्योंकि मृत्युद्वारा शरीरकी सामग्रीको परिवर्तितकर नवीन आकृति बना उससे संसारका मंगल ही करते हैं। इसप्रकार मृत्युसे ही जन्मके मंगलका विधान होता है। इसी परिवर्तन और पुनरुज्जीवनका बोधक शिवका श्मशान-वास है।

अहंकारके अधिष्ठाता श्रीशिव हैं। साधक अहंकारको अपने स्वार्थसाधनमें न लगाकर निवृत्ति-धर्मका पालन करनेके लिये श्रीशिवको अर्पण करता है और इस अर्पणको ही मुण्डप्रदान कहते हैं। ऐसे साधकके अर्पित अहंकाररूपी मुण्डकी माला जब वह अपने गलेमें धारण करते हैं तबसे उस अर्पितात्मा साधकके सब कर्म श्रीशिवकी इच्छाके अनुसार होने लगते हैं। श्रीशिव ऐश्वर्यसूचक रथादिकी सवारी न करके वृद्ध वृषभकी सवारी करते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि वे मनुष्यके ही कल्याण-कर्त्ता नहीं हैं बल्कि पशुओंके भी कल्याण करनेवाले हैं। इसी कारण उन्हें पशुपति भी कहा जाता है। वृषभ धर्मका भी सूचक है, इससे सूचित होता है कि शिव धर्मके सञ्चालक हैं।

श्रीशिव अन्नपूर्णाके द्वारा संसारके निमित्त अत्यन्त आवश्यक अन्नका वितरण करते हैं, पर स्वयं भिक्षा माँगकर निर्वाह करते हैं; इसप्रकार संसारको अहंकारशून्यता, दीनता और त्यागकी शिक्षा देते हैं। वह स्वयं परम त्यागी होते हुए भी आर्त्त, दीन, नि:सहाय, निर्धन, अंगहीन, विरूपांग आदिके त्राता और पालक हैं। यही कारण है कि दीन, हीन, पंगु, अंगहीन, भूत, प्रेत, पिशाचादिकी जिनसे लोग उनकी दुरवस्थाके कारण घृणा करते हैं, श्रीशिव सुधि लेते हैं और उनको अपना गण बनाकर रखते हैं।

श्रीशिव वन और पर्वतमें रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे उद्भिज्ज और स्थावर जगत्के भी सहायक और पालक हैं। उनके भोजन मुख्यतः जंगलके कन्द-मूल फल ही हैं, जो सभी त्यागके सूचक हैं। श्रीशिवके सामने अमृत और विष दोनों समान हैं। यही कारण है कि समुद्रसे हालाहल विषके निकलनेपर उन्होंने संसारकी रक्षाके लिये उसका पान किया और स्वयं नीलकण्ठ बन गये।

निवृत्ति-मार्गमें कामवासनाका दमन ही मुख्य बात है, अतएव श्रीशिवने काम-दहन किया। परमा सुन्दरी श्रीपार्वतीके जघापर बैठे रहनेपर भी उनमें कामविकार नहीं होता। यथार्थ काम-दमन भी इसीको कहते हैं कि विषयके संस्पर्शसे भी कुछ क्षोभ न हो।

श्रीशिव जीवन्मुक्त अवस्थाके प्रदान करनेवाले हैं, परन्तु वह मायाके अतिक्रम किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव श्रीशिवकी शक्तिके (उमारूप समष्टि तुरीय चैतन्य-शक्ति) जो समष्टि महासुषुप्तिके (अविद्यान्धकारके) परे है, प्रकाशकी सहायतासे साधक इस अविद्यान्धकारको अतिक्रम कर ईश्वरको प्राप्त करता है। इस तुरीय-चैतन्यकी प्राप्ति जगद्गुरु शिवकी कृपासे ही होती है, किन्तु अनधिकारी साधकको इस कृपाकी प्राप्ति नहीं होती।

श्रीशिव अनादि सांसारिक वस्तुएँ अयोग्यको भी प्रदान करते हैं, परन्तु इस तुरीय-चैतन्यका बोध अर्थात् राज-विद्या उसीको प्राप्त होती है जो उनके तृतीय नेत्रके प्रकाशमें पवित्र, निर्मल और स्वच्छ जँचता है। क्योंकि अपवित्रात्मा उस सर्चलाइटको सहन नहीं कर सकता और न कोई उनको धोखा ही दे सकता है।

उपर्युक्त महा अविद्यान्धकाररूप महासुषुप्तिके ऊपर श्रीकृष्ण अनादि जीवन-गीताका गान अपनी वंशी (ह्लादिनी-शक्ति) द्वारा करते हैं। वर्तमान गीता उस गानका एक अंश है। यह दिव्य-गीता-गान उसीको सुनायी देता है जो महासुषुप्तिरूप अविद्याको तुरीय-चैतन्यके प्रकाशसे अतिक्रम कर उससे ऊपर जाता है और यह जगद्गुरु श्रीशिव और उनकी शक्ति उमा (महाविद्या) की सहायताद्वारा ही सम्भव है। इसीलिये शिव अधिकारी मुमुक्षुको तारक-मन्त्र प्रदानकर अविद्यान्धकारसे मुक्त करते हैं। अर्थात् श्रीशिवकी शक्ति विद्याके प्रकाशसे अविद्यान्धकारका नाश होता है। अविद्या ही मृत्यु है, इसका विद्याके द्वारा अतिक्रम होता है। इसी कारण श्रीशिवको मृत्युञ्जय अर्थात् अविद्यारूपी मृत्युका जय करनेवाला कहते हैं।

तुरीय-चैतन्यकी छः शक्तियाँ हैं—ज्ञान, इच्छा, क्रिया, मान्त्रिका, कुण्डलिनी और परा। यह तुरीय-चैतन्य-शक्ति शिवका दिव्य-शरीर है। बिना इस शक्तिको आधार बनाये ईश्वरका कोई अवतार नहीं हो सकता। जगद्गुरु शिवका निवास ललाटके सहस्रारचक्रमें है—'ललाटे सिद्धदर्शनम्' (योगसूत्र)।

परन्तु श्रीकृष्णका वास हृदयमें है—'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

जगद्गुरु श्रीशिवकी दीक्षाके बिना कोई श्रीकृष्णको पा नहीं सकता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने हिमालयमें शिवकी दीक्षा ग्रहण कर उनकी तपस्या की और उनको तुष्ट किया (यह कथा महाभारतके अनुशासन-पर्वके प्रथमाध्यायसे प्रारम्भ होती है)। श्रीकृष्ण भगवान्की इस तपस्याका मुख्य तात्पर्य जगत्को यह उपदेश देना था कि वे दोनों एक हैं। अतः जगद्गुरु शिवकी कृपाके बिना कोई श्रीकृष्ण भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। लिखा है—

यो तौ शंखकपालभूषितकरौ हारास्थिमालाधरौ।
देवौ द्वारवती श्मशाननिलयौ नागारि-गो-वाहनौ॥
द्वित्र्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ।
पापं मे हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगंगाधरौ॥
शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।
यथा शिवमयो विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

जतलाओ निज प्यार

(लेखक—पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र 'श्रीपति')

जगतके जब झूठे व्यवहार,
तब तो नाथ! तुम्हीं बन जाते मेरे प्राणाधार।
यश-अपयश, सम्मान-निरादर, राग-विराग, दुलार;
इस उलझनमें हमें उलझना, नहीं प्रभो! स्वीकार।
साधु-असाधु, नराधिप-निर्धन, प्रबुध-अबोध, गवाँर;
करते हो क्या एक भावसे, सबको अङ्गीकार?
माया भी झूठी काया भी, धन, दारा, परिवार;
तब जो कुछ हो सार, बता दो, हमको हे करतार!
जो कुछ है, प्रस्तुत है श्रीपति, व्यथा-पूर्ण उपहार;
ठुकराओ या हृदय समझकर, जतलाओ निज प्यार!

ईश्वर-निरूपण

(लेखक—पण्डितवर श्रीबालकृष्णजी शर्मा)

ऐहिक सुखको दुःखसे मिश्रित तथा आमुष्मिक सुखको नाशमान जानकर विवेकी पुरुष इनकी कामना नहीं करते; प्रत्युत दोनोंको समान ही दुःखप्रद मानते हैं। दुःख असह्नीय होता ही है, अतएव दुःखमय संसारसे विरक्त होकर आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिका उपाय जाननेके लिये वे गुरुके पास जाते हैं। जैसे—

> परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
> निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन।
> तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
> त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
> (श्रुति)

तब गुरुके द्वारा यह उपदेश प्राप्त करके कि जीव-मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिसे होनेवाला जीवतत्त्वज्ञान मोक्षमें कारण है और जीवतत्त्वज्ञानमें पुण्यद्वारा या साक्षात् ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान कारण है, वह ईश्वरकी जिज्ञासा करता है। अतः ईश्वरका निरूपण करना आवश्यक है। जैसे—

> 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरमेव च।'
> 'स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्म-
> साक्षात्कारस्योपकरोति।'
> 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
> नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'
> 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' (श्रुति)
> 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'
> 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥' (स्मृति)

ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें सभी मानते हैं, इसलिये उसका निरूपण व्यर्थ है। जैसे—

सृष्टिके आरम्भमें विद्वान् अणिमा आदि ऐश्वर्योंसे सम्पन्न महामुनि कपिल ईश्वर हैं, सांख्य-मतवाले ऐसा मानते हैं। अविद्यादि क्लेश, कर्म, जाति, आयु, भोग धर्माधर्मसे सर्वथा असम्बद्ध, शरीरधारणद्वारा वेदोंके प्रकाशक, घटपट आदि बनानेकी विधि दिखानेवाले ईश्वर हैं, यह योगशास्त्रका मत है। उपास्यरूपमें वेदोपदिष्ट मन्त्र विशेष ईश्वर है, ऐसा पूर्वमीमांसा कहता है। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) ईश्वरको निर्दोष, सच्चिदानन्दस्वरूप बतलाता है। न्याय-वैशेषिकका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञ जगत्का कर्ता संख्यादि आठ गुणोंसे युक्त है। ईश्वर लोकविरुद्ध अग्नि और सर्पका धारण, तथा वेदविरुद्ध दारुवन और विप्रवधू विध्वंसन करनेपर भी निष्पाप और स्वतन्त्र है यह महापाशुपत मतका सिद्धान्त है। शैव ईश्वरको निर्गुण मानते हैं। पौराणिकोंका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त पुरुषोत्तम है। याज्ञिक उसे यागमें प्रधानतया यष्टव्य पुरुषरूप मानते हैं। जैन दिगम्बर अदृष्ट-अविद्याशून्यरूप मानते हैं। चार्वाक उसे लोकमें सबसे बढ़कर गुणी, प्रतापी शरीरवान् रूपसे मानते हैं। यहाँतक कि शिल्पी लोग भी उसे विश्वकर्मारूपमें मानते हैं। तथापि सगुणत्व, निर्गुणत्व, क्षणिकत्व, नित्यत्वादिमें मतभेद होनेके कारण उसका (ईश्वरका) निरूपण करना परमावश्यक है। धर्मांशमें विवाद ही सर्वत्र धर्मीके निरूपणमें प्रयोजक होता है।

ईश्वरका स्वरूप

ईश्वर नीरूप, निरवयव, निर्मनस्क, निष्क्रिय, नित्य, नित्यतृप्त, निर्दोष, अतनु, विभु, नित्य सर्वविषयक अविफल एक अनन्यसाधारण ज्ञानेच्छाप्रयत्नोंसे प्रयुक्त, सुख-दुःखादिरहित, संख्या परम महत् परिमाण पृथक्त्वसंयोग-विभागका आश्रय, अदृष्ट आदिका अधिष्ठाता, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, जगत्का उत्पादक, पालक और नाशक, प्रणववाच्य सजातीय द्वितीयरहित और पुरुषोत्तम है। जैसे—

> 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥'
> 'ईशानो भूतभव्यस्य।'
> 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः।' (श्रुति)

ईश्वरके लक्षण

नित्यज्ञानवत्त्व, नित्यप्रयत्नवत्त्व, नित्येच्छावत्त्व, जगदुत्पादकत्व, जगत्पालकत्व, जगन्नाशकत्व इत्यादि ईश्वरके लक्षण हैं।

ईश्वरमें प्रमाण

ईश्वर बाह्येन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है; क्योंकि उसमें रूप नहीं है। रूपके कारण ही बाह्येन्द्रियोंसे द्रव्य प्रत्यक्ष होते हैं। ईश्वरका प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय मनसे भी नहीं हो सकता। अपने आत्मा और उसके गुणोंको छोड़कर परकीय आत्मा आदिका मानस-प्रत्यक्ष न होनेमें अपने आत्माके साथ मनके विलक्षण संयोगको कारण मानना पड़ेगा; परन्तु यह विलक्षण संयोग जैसे परकीय आत्माके प्रति नहीं होता है वैसे ही ईश्वरके प्रति नहीं होता। अतः ईश्वरका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। जैसे—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति।' (श्रुति)

'अवाङ्मनसगोचरम्।' (स्मृति)

(१) परन्तु अनुमान-प्रमाणद्वारा ईश्वरकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं होती। जितने कार्य होते हैं सब सकर्तृक (अर्थात् कर्ताके द्वारा) होते हैं, जैसे घट-पट आदि; जो सकर्तृक नहीं है, वह कार्य भी नहीं हो सकता, जैसे गगन। द्व्यणुक एवं अंकुर कार्य हैं, अतः इन दोनोंको जरूर सकर्तृक होना चाहिये। तब इनका कर्ता कौन है? वह कर्ता न तो जड हो सकता है और न जीव। अतः इनके कर्तृत्वरूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई कहे कि 'कर्ता शरीरी होता है, शरीररहित कर्ता कहीं नहीं देखा जाता है फिर ईश्वरको कर्ता कैसे माना जाय?' परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरको या तो सिद्ध कहेंगे या असिद्ध। यदि सिद्ध है तो क्यों? इसका उत्तर यदि यह हो कि जगत्‌का कर्ता होनेसे वह सिद्ध है, तब उस ईश्वरमें कर्तृत्वके अभावका आरोपण करनेसे धर्मिग्राहक प्रमाण ही जाता रहेगा। यदि ईश्वरको असिद्ध मानें तब कर्तृत्वका खण्डन किसमें किया जायगा? क्योंकि धर्मीके अभावसे अभाव-ज्ञानका होना ही सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरी शंका करे कि 'शरीरजन्यत्वका सकर्तृकत्व व्याप्य है और शरीरजन्यत्व व्यापक है। व्यापकाभावसे व्याप्याभावकी सिद्धि निर्विवाद है। द्व्यणुकादिको सकर्तृकत्व माननेवाले नैयायिक शरीरजन्यत्व नहीं मानते हैं, तब शरीराजन्यत्वसे सकर्तृकत्वका अभाव होनेके कारण सत्प्रतिपक्ष हो जायगा।' परन्तु यह कथन भी सम्यक् नहीं है। क्योंकि व्यर्थ विशेषणसे घटित साध्य व्याप्यत्वासिद्धि नामक हेत्वाभासमें आ जानेके कारण सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये नीलधूमहेतुसे वह्निको सिद्ध करनेवाला वादी हेत्वाभास नामक निग्रह-स्थानसे निगृहीत (पराजित) हो जाता है। प्रकृत स्थलमें शरीर-विशेषण व्यर्थ है, अकर्तृकत्व सिद्ध करनेके लिये अजन्यत्वमात्र ही पर्याप्त है, इसलिये शरीराजन्यत्व व्याप्यत्व असिद्ध हो गया। और यदि शरीर-विशेषणको हटाकर केवल अजन्यत्वको हेतु बनावें तो हेतुके पक्षमें न रहनेसे स्वरूपकी असिद्धि हो जायगी—'सेयमुभयतः पाशाय रज्जुः!' इसमें श्रुति आदि प्रमाण इसप्रकार है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः
द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ (श्रुति)

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।' (स्मृति)

(२) सृष्टिके आरम्भमें प्रथम वायवीय परमाणु* में क्रिया होती है, तत्पश्चात् क्रमशः परमाणुद्वयके संयोगसे द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकोंके संयोगसे त्र्यणुक, चार त्र्यणुकोंके संयोगसे चतुरणुक—इसप्रकार महावायुकी सृष्टि होती है। इसके बाद क्रमशः महातेज, महाजल तथा महापृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह नैयायिकोंकी सृष्टि-प्रक्रिया है। सृष्टिके आरम्भका यह परमाणु-क्रियारूप कार्य किसीके प्रयत्नद्वारा ही हुआ होगा, क्योंकि कोई भी कार्य विना किसी प्रयत्नके नहीं होता। परमाणु तो स्वयं जड है, अतएव परमाणुके प्रयत्नको कारण कहना आकाश-कुसुमके समान है। सृष्टिके प्रारम्भमें शरीरके अभावमें जीव भी प्रयत्नवान् नहीं कहा जा सकता जो परमाणु-क्रियाके कार्यको कर सके। अतः जिसके प्रयत्नसे परमाणु-क्रिया होती है वही ईश्वर है। जैसे—

'यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥

* खिड़कीसे आनेवाली सूर्य-किरणोंमें जो छोटे-छोटे धूलिकण-से दीखते हैं, वे त्रयणुक हैं, उसका छठाँ हिस्सा परमाणु है। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'
'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥' (स्मृति)

(३) आकाशमें पक्षीके चोंचमें धारण किया हुआ काष्ठ नीचे नहीं गिरता है, यदि वह उसे छोड़ देता है तो नीचे गिर जाता है। इससे यह मानना होगा कि गुरुत्वाश्रय-पदार्थ प्रयत्नवान्के द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण पतनको नहीं प्राप्त होते हैं। तब इतने बड़े ब्रह्माण्डको पतनसे बचानेमें किसीका प्रयत्न अवश्य काम कर रहा है। यह जीवात्माके प्रयत्नकी सामर्थ्यसे बाहरकी बात है। इसलिये जिसके प्रयत्नसे ब्रह्माण्ड धारण हो रहा है और पतनको प्राप्त नहीं होता। उसको अवश्य ईश्वर मानना पड़ेगा। जैसे—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि, द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः ।' (श्रुति)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (स्मृति)

(४) घट-पटका विनाश जैसे प्रयत्नसे होता है, वैसे ब्रह्माण्डका विनाश भी बिना प्रयत्नके नहीं हो सकता। इसलिये तादृश प्रयत्नके आश्रयसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। जैसे—

एष सर्वाणि भूतानि समभिव्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं सम्भ्रामयति चक्रवत्॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ (स्मृति)

(५) घट बनानेकी विधि कुलालको तथा पट बनानेकी विधि तन्तुवायको मालूम होती है, व्यवहार होनेके कारण उनका आदिमें किसी स्वतन्त्र पुरुषद्वारा निर्माण होना आवश्यक है। यद्यपि आजकल दूसरे कुलाल अथवा तन्तुवायकी रचना देखनेसे घटादिकी रचना की जाती है, परन्तु सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम कोई आदर्श निर्माता अवश्य रहा होगा। अतः आदर्श निर्माताके रूपमें ईश्वरको मानना ही होगा। ईश्वर ही कुलालादिका शरीर धारण करके पहले घट-पट आदि बनाकर लोगोंको शिक्षा देता है, पीछे प्रलय-पर्यन्त अविच्छिन्नरूपसे वह व्यवहार चलता रहता है। यदि कोई इसपर शंका करे कि जब प्रलय होता ही नहीं है तब सृष्टिका आरम्भ क्यों माना जाय? केवल पूर्व-व्यवहार ही उत्तर-व्यवहारके कारण होते हैं। परन्तु यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जन्मादिका क्रमिक ह्रास देखकर, सम्प्रदायका भी किसी-न-किसी समय ह्रास हो जायगा, यह निश्चित होता है और इस अनुमानसे प्रलयकी भी सिद्धि हो जाती है। जैसे पहले मानसी सृष्टि होती थी, पीछे व्यवस्थित मैथुनी सृष्टि होने लगी और अब देश-कालादि-व्यवस्थासे हीन सृष्टि होती है—यह जन्मका ह्रास है। पहले सहस्रशाखा-वेदका अध्ययन किया जाता था, पीछे पढ़ंग एक वेदका अध्ययन होने लगा और आजकल एक शाखामात्रका अध्ययन होता है, यह अध्ययनका ह्रास है। पहले शिलोञ्छ-वृत्ति ब्राह्मण थे, पीछे अयाचित-वृत्ति हुए, आजकल उनकी कृषि, वाणिज्य, सेवा-वृत्ति है, यह वृत्तिका ह्रास है। पहले ब्राह्मण यज्ञ-शेष-भोजी थे, पीछे अतिथि-शेष-भोजी हुए, आज अपने ही लिये बनाये हुए अन्नको खाते हैं। सत्ययुगमें धर्मके तप, ज्ञान, याग और दान यह चार चरण थे, त्रेतामें ज्ञान, याग और दान तीन चरण थे, द्वापरमें दो चरण थे याग और दान, कलियुगमें एक ही चरण दान मात्र रह गया है, वह भी अश्रद्धा आदि दोषोंसे दूषित कामक्रोधादिसे समन्वित होकर प्रतिदिन हीनबल होनेके कारण स्खलित होता जा रहा है। यह धर्मका ह्रास है। आगम भी प्रलयमें प्रमाण उपस्थित करता है, यथा—

'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (श्रुति)
'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥'
'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥' (स्मृति)

घटादि-निर्माणके प्रथम आदर्श ईश्वर हैं इसमें प्रमाण—

'नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च' (श्रुति)
'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।'
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्॥' (स्मृति)

(६) प्रत्यक्षका कारण महत्ता है, नहीं तो परमाणुका भी प्रत्यक्ष हो जाता। त्र्यणुकका प्रत्यक्ष होता है इसलिये उसे महान् मानना होगा। अब उस त्र्यणुकका असमवायिकारण किसको माना जा सकता है? द्व्यणुकके परिमाणको उसका असमवायिकारण नहीं मान सकते

क्योंकि वह अणु है और अणु-परिमाणसे महत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परिमाण सजातीय उत्कृष्ट परिमाणको पैदा करनेमें ही समर्थ होता है। सजातीय अणु-परिमाणको यदि उत्पादक मानें तो त्र्यणुक प्रत्यक्षका विषय न रह जायगा; और चतुरणुकसे लेकर घट आदि पर्यन्त किसीका भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, तथा घट आदि अन्त्य अवयवीका प्रत्यक्ष न होनेसे तद्गत गुण, क्रिया, जातिका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अतः कारण नहीं मान सकते। पुनः यदि द्व्यणुक-रूपको कारण मानें तो वह भी युक्त न होगा क्योंकि उसके रस और स्पर्शादिको लेकर विनिगमना-विरह होनेसे गौरव हो जायगा अतः अगत्या द्व्यणुकगत त्रित्वसंख्याको ही उसका कारण मानना होगा। द्वित्व आदि संख्या एक-एक करके गिननेसे उत्पन्न होती हैं, और उस समय ईश्वरको छोड़कर द्व्यणुकका गिननेवाला दूसरा कोई है नहीं, जिससे त्रित्वकी उत्पत्ति हो सके। इसलिये ईश्वरको मानना परमावश्यक है।

(७) वेदवाक्यसे उत्पन्न शाब्दबोधके प्रामाण्यज्ञानके विना बहुतर धनव्यय और श्रमसाध्य यागादि क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रामाण्यका ज्ञान शाब्दबोध-ग्राहक सामग्रीसे नहीं हो सकता। यदि प्रामाण्यको स्वतः-ग्राह्यत्व मानें तो ज्ञानमें प्रामाण्यका सन्देह ही नहीं उठ सकता, क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञात है तो उसमें प्रामाण्य भी ज्ञात ही हो गया, फिर संशय कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञात नहीं है तो भी धर्मिज्ञानके अभावमें संशय नहीं हो सकता। अतः प्रामाण्यको वक्ताके यथार्थ ज्ञानरूप गुणसे उत्पन्न हुआ ही मानना ठीक है। तब वेद-वाक्यसे उत्पन्न बोधमें रहनेवाले प्रमात्वके ज्ञापक ज्ञानके आश्रय-रूपसे ईश्वरकी सिद्धि होती है, क्योंकि धर्माधर्म आदि वेदार्थको स्वतन्त्ररूपसे जाननेकी शक्ति दूसरेमें नहीं है। यदि यह शंका की जाय कि 'प्रामाण्यको दूसरेके द्वारा ग्राह्य मानें तो अनवस्था-दोष आ जायगा' पर यह युक्त नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्य-ज्ञानसे अनालिंगित ज्ञान सिद्ध होता है न कि प्रामाण्यद्वारा निश्चित अनालिंगित ज्ञान। ऐसी अवस्थामें सर्वत्र प्रामाण्य-निश्चयकी आवश्यकता नहीं होती; इसलिये अनवस्थारूप दोष भी नहीं लग सकता है।

(८) वेद-प्रणेतृत्वसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, इसके दो प्रकार हैं—'वेदाः सर्वज्ञप्रणीताः वेदत्वात्' अर्थात् वेदत्वके कारण वद किसी सर्वज्ञद्वारा प्रणीत हैं क्योंकि जो सर्वज्ञ प्रणीत नहीं है वह वद भी नहीं है, जैसे इतर वाक्य। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है। दूसरा 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मादि-वाक्यवत्।' अर्थात् हमलोगोंके वाक्यके समान वाक्यत्वके कारण वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं। यह अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है। जैसे—

'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (श्रुति)

'अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते॥'
'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।' (स्मृति)

(९) कुछ लोग ईश्वर-विषयक वेदवाक्यको अर्थवाद-वाक्यमें परिगणित करते हैं। परन्तु अर्थवाद-वाक्यका तात्पर्य विध्यर्थकी प्रशंसा अथवा निन्दासे होता है। अतः प्रशंसाद्वारा उस विधिमें प्रवृत्ति और निन्दाद्वारा निवृत्ति होती है। जैसे—

'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुरेव एनं भूतिं गमयति'

यह अर्थवाद-वाक्य वायुकी प्रशंसाके द्वारा 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधिके अर्थमें प्रवर्त्तक होता है।

'सोऽरोदीत् तदरोदीत् तदेव रुद्रस्य रुद्रत्वम्'

यह अर्थवाद-वाक्य रजत-निन्दाद्वारा 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस विधिके लिये रजत-दक्षिणा-दानसे निवृत्त कराता है। अतः किसी विधिवाक्यमें प्रवर्तक-निवर्तकतासे रहित ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१०) विना व्याख्यानके वेदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और एकदेशदर्शी पुरुषके व्याख्यानमें विश्वास करना भी ठीक नहीं है क्योंकि—

'पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्'

अर्थात् पूर्वापरका विचार छोड़कर किया हुआ अर्थ अन्यथा ज्ञान प्रदान करता है। इसलिये समस्त वेदोंके तथा उनके अर्थके विज्ञाताका ही व्याख्यान आदरणीय हो सकता है। इसप्रकारका विज्ञाता ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता, अतः ईश्वरको मानना आवश्यक है।

(११) जो शब्द लक्षणावृत्तिके अभावमें जिस अर्थ-में प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थका वाचक होता है। जैसे स्वर्ग-शब्द सुख-विशेषके अर्थमें प्रयुक्त

उसका वाचक है, उसी प्रकार प्रणव, ईश्वर, ईशान आदि शब्दोंका प्रयोग जगत्कर्त्ता-अर्थमें श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिमें असंख्यों बार प्रयुक्त हुआ है, इसलिये तत्पदवाच्य ईश्वरको अवश्य मानना होगा। जैसे—

'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥'
'समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥'
'तस्य वाचकः प्रणव.' (स्मृति)

(१२) कृति, स्पन्द, अपूर्व, कार्य, अभिधा, इष्ट-साधनताको यदि विधि-प्रत्ययका कारण मानें तो उसमें आपत्ति, अनुपपत्ति आदि दोष आ जायँगे इसलिये विधिका कारण आप्त-अभिप्राय ही मानना होगा। इसप्रकार वेदोक्त विधिके प्रत्ययके लिये अभिप्रायके आश्रयस्वरूप ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१३) संज्ञावाची उत्तम पुरुषके लिये एकत्व आदि संख्या वक्तामें आरोपित होती है,—'अहं गच्छामि।' इस-प्रकार 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि वेदवाक्यमें उत्तम पुरुषके लिये एकत्व-संख्याके आरोपणसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१४) काठक, कालापक प्रभृति वेदशाखाओंके नाम प्रसिद्ध हैं। अध्येताके अनन्त होनेसे उसके नामसे शाखा-का नामकरण स्वीकार करना ठीक नहीं है। इसलिये ईश्वरने सृष्टिके आरम्भमें कठसंज्ञक शरीर धारण करके जिस शाखाका अध्यापन किया उसका नाम काठक हुआ, कलाप-संज्ञक शरीर धारण करके जिस शाखाका अध्यापन किया, उसका नाम कालापक हुआ, अतः नामानुरोधसे भी ईश्वरको मानना ठीक है।

(१५) समस्त वेद परम्परा या साक्षात् रूपसे ईश्वर-का ही तात्पर्य रखते हैं। जैसे, पुरुषसूक्तमें सृष्टिकर्त्ताके रूपमें, रुद्राध्यायमें ऐश्वर्यरूपमें, मण्डल ब्राह्मणमें शब्द-ब्रह्मके रूपमें, मन्त्रविधिमें यज्ञपुरुषके रूपमें, उपाख्यानमें अवतारके रूपमें, तात्पर्य यह है कि सर्वत्र उपास्यरूपसे ईश्वर ही प्रतिपादित हुआ है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (श्रुति)

(१६) कुल्हाड़ी स्वतः काष्ठको नहीं काट सकती, क्योंकि वह अचेतन है। अचेतन चेतनद्वारा प्रयुक्त होकर ही कार्यको उत्पन्न कर सकता है। अदृष्ट समस्त कार्योंका उत्पादक है, परन्तु वह अचेतन है इसलिये उसका प्रयोक्ता (अधिष्ठाता) किसीको अवश्य ही मानना पड़ेगा। वह अधिष्ठाता ही ईश्वर है।

इसप्रकार ईश्वर सर्वतोभावेन सिद्ध है।

गीत

(लेखक—श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' एम० ए० विशारद)

सान्ध्य-गीत-सा मधुर रूप धर
शत सहस्र अञ्चल अन्तरसे, झङ्कृत हो हे अन्तरतर !

(१)

अनहद-ध्वनि-सा मनोगगनमें
आशा-तडित् निराशा-घनमें
मत्त मयूर नृत्य सा चञ्चल,
थिरक उठो हे भुवनेश्वर !
सान्ध्य-गीत······ ॥

(२)

तरुण उषाके मधु-प्रणयन-सा
मुँदे सुमन-दल उन्मीलन-सा
शनैः शनैः स्वर्णाभ मनोहर,
विकसित हो हे अखिलेश्वर !
सान्ध्य-गीत······ ॥

(३)

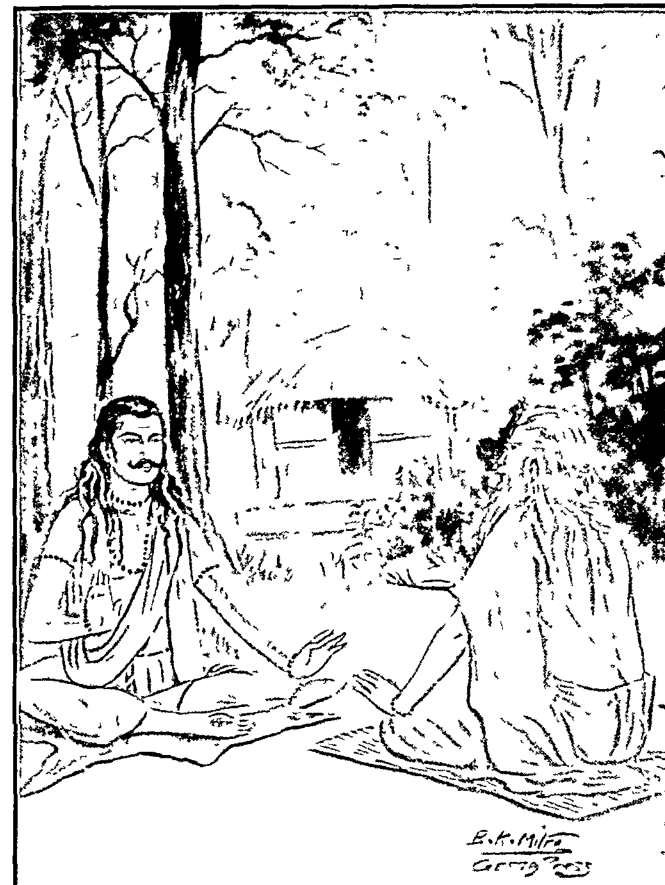
विश्व-छोरपर करुणा-रेखा
झलक रही मिथ्या मद-लेखा
उज्ज्वल वारिद पङ्खोंपर आ,
शान्ति-सुधा बरसा क्षणभर !
सान्ध्य-गीत······ ॥

(४)

निर्मम जग सब मलिन पाशमें
सिसक रहा है भग्न-आशामें
इन्द्र-धनुष-सा रच आशा-पुल
मंदिर तन्त्रि छेड़ो हरिहर !
सान्ध्य-गीत······ ॥



महर्षि कणाद



महर्षि गौतम

प्राचीन धर्म और आधुनिक मन

(लेखक—साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी)

इतिहासकी व्याख्या करते हुए एक कवि कहता है कि राष्ट्र केवल अपनी आत्माके द्वारा ही स्वतन्त्र और महान् हो सकते हैं। एक राष्ट्रके हृदयमें जैसे विचार उठते हैं वैसा ही वह बनता है; और एक बार जब अन्तरात्मामें स्वतन्त्रताका साम्राज्य निर्मित हो जाता है तो फिर समाज और राज्यके बाह्य क्षेत्रमें उसकी वृद्धिको कोई नहीं रोक सकता। वस्तुतः स्वतन्त्रता धर्मकी प्राप्ति है और राष्ट्र जितना ही धर्मसे च्युत होता है उतना ही उसका अधःपतन होता है। यूनान जब यह विश्वास करता था कि जीवनके आदर्शस्वरूपकी अभिव्यक्ति दृश्य (जगत्) में होनी चाहिये, तब वह महान् राष्ट्र था, एथेन्स देश एथेना देवीकी प्रतिमूर्तिमें अवस्थित था; चमत्कारोंके द्वारा जनसमुदायमें शक्ति और सहायताके एक अदृश्य स्रोतमें उसका विश्वास था, और वहाँ हेलासकी क्रीड़ाएँ भी देवताओंकी पूजाके रूपमें मानी जाती थीं। मेरा विश्वास है कि ओलिम्पियन धर्म (Olimpion religion) में अनेकों अन्धविश्वासोंका मिश्रण हो गया था; परन्तु उसमें उस शक्तिके प्रति जीवन्त श्रद्धा थी जिसकी सत्ता सदाचारकी—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की सृष्टि करती थी। पीछे एक समय आया जब वह धर्म नष्ट हो गया, और फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) के कथनानुसार सामाजिक सदाचारका नाश होने लगा। तब नयी जातियाँ यूनानमें प्रवेश करने लगीं, और यूनानको बौद्धिक शक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी आत्मदुर्बलताके कारण रोमके अधीन होना पड़ा। रोमका भी एक दिन पतन हुआ। १८० ई० में मार्कस औरिलियस (Marcus Aurilius) मर गया। उसके बाद ३३० ई० तक रोमके अधःपतनका काल है। इस अवधिमें रोममें धर्मभावनाकी हीनता देखी जाती है। टेसिटस (Tacitus) जो पुरावृत्त (Annals) का रचयिता था, बौद्धिक शक्तिमें महान् होनेपर भी आत्मिक दृष्टिसे वैसा न था। जुवेनल (Juvenal) एक चतुर प्रेक्षक था, उसने अपने गीतकाव्यमें भूतकालपर शोक प्रकट किया है, परन्तु उसकी रचनामें धर्मादेशका नाम भी नहीं मिलता। कैसी आश्चर्यजनक बात है कि रोमका अधःपात होते-होते हूणोंने यूरोपको आक्रान्त कर दिया। धर्मकी हानि होते ही सामाजिक आचारमें कमी आ जाती है और फलस्वरूप राष्ट्रका अधःपतन हो जाता है। व्यक्तिके समान राष्ट्रोंके लिये भी यह बात सच है कि वे केवल रोटीपर जीवन धारण नहीं कर सकते। भारतवर्षकी क्या अवस्था है? आज धर्म-सूर्यको राहु ग्रस रहा है। कितने मनुष्य घरपर या मन्दिरमें ईश्वरको पूजा करते हैं? कितने मनुष्य धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो अपने घरोंमें देवालयके रूपमें एक अलग कमरा रखते हैं? हमारे मन्दिरोंकी क्या अवस्था है? यदि कोई धर्माधिष्ठाता हमारे बीच आज होते तो अधिकांश मन्दिरोंके अधिकारियोंको प्रभुके मन्दिरके लिये अयोग्य कहकर निकाल देते। उपेक्षा और संशयवादकी वृद्धि हो रही है; भारतकी सभ्यता और धर्मशास्त्रोंकी महत्ताका खण्डन किया जा रहा है; और नवयुवक मेकालेकी इस बुद्धिहीन और अहङ्कारपूर्ण उक्तिका समर्थन करते हुए पाये जाते हैं कि यूरोपियन लाइब्रेरीकी एक आलमारी समस्त भारत और अरबके देशी साहित्यकी तुलनामें रक्खी जा सकती है।

धर्मकी स्थितिमें इसप्रकार न्यूनता आ जानेके दो प्रधान कारण कहे जा सकते हैं—आर्थिक क्लेशकी वृद्धि और बुद्धिवादका उदय। पाश्चात्य सभ्यताके फैलनेसे जीवन-युद्ध तीक्ष्ण हो गया है और मनुष्य दिन-रात जीविकोपार्जनके कामोंमें लगे रहनेके कारण जीवनके महान् प्रश्नोंके चिन्तनके लिये कम समय पाते हैं। इसी प्रकार बुद्धिवादके प्रचारसे नवीन मनःसृष्टि हो गयी है तथा चिन्तनकी नयी शैलीका आविर्भाव हुआ है, मनुष्यका दृष्टिकोण बदल गया है, लोगोंके मनमें श्रद्धाशीलता नहीं रह गयी है, स्वतन्त्र चिन्तन नवयुगके लिये आवश्यक हो गया है। हम संस्कृति (Civilization) की उपेक्षा नहीं कर सकते, और हमें बौद्धिक प्रवृत्तिको भी अनुत्साहित नहीं करना चाहिये। यहाँ तो मैं यह दिखलानेकी चेष्टा करूँगा कि प्राचीन धर्म अब भी हमारे लिये आवश्यक हैं, और

मेरा विश्वास है कि आधुनिक युगकी श्रेष्ठ भावनाओं और अभिलाषाओंकी पूर्ति भी इससे होती है।

इस लेखमें मैं केवल हिन्दू-धर्मके सम्बन्धमें ही कुछ कहूँगा। हिन्दू-धर्मका तत्त्व क्या है? 'हिन्दू-धर्म' यह शब्द प्राचीन पुस्तकोंमें नहीं मिलता। यह धर्म किसी व्यक्तिविशेषके नामसे सम्बन्ध नहीं रखता; ग्रन्थोंमें इसे सनातन-धर्मके नामसे कहा गया है। इसके तत्त्व क्या हैं? एक अंगरेज आलोचक हिन्दू-धर्मका लक्षण करते समय इसे 'दर्शनके द्वारा न्यूनाधिक विकृत जीववाद' तथा पुनः 'अध्यात्मसे प्रभावित तन्त्रवाद' नाम देता है। परन्तु जीववाद कुछ असभ्य जातियोंका धर्म है, इसलिये इसे हिन्दुओंकी धार्मिक चेतनाके साथ एकीकरण करना मूर्खता है। क्योंकि यह चेतना स्वर्गलोकसे भी श्रेष्ठ वस्तुकी अभिलाषा करती है। एक दक्षिणी महात्मा कहते हैं कि 'मैं इन्द्रपदको नहीं चाहता और न देवताओंको प्राप्त होनेवाले सुखोंको ही चाहता हूँ, मैं तो परमपदकी जिज्ञासा करता हूँ।' एक दूसरा यूरोपियन आलोचक लिखता है कि हिन्दू उसे कहते हैं जो अपने मुर्दोंको जलाता है; परन्तु क्या संन्यासी लिङ्गायत आदि कुछ ऐसे हिन्दू नहीं हैं जो अपने मुर्दोंको दफनाते हैं? निस्सन्देह इन धर्म-विधानोंसे हिन्दू-धर्म कहीं श्रेष्ठ है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि हिन्दू उसे कहते हैं जो जाति-पाँतिमें विश्वास करते हैं; परन्तु चैतन्य, नानक और बहुतेरे अन्य मतोंका इस बातमें विश्वास न था। कबीर मुसलमान होते हुए हिन्दू-धर्ममें एक पन्थके सञ्चालक माने गये हैं। उपनिषद् भी कहते हैं कि सनातन तत्त्व इन बाहरी बातोंसे परे है। फिर, जाति-पाँति केवल भारतमें ही नहीं है, बल्कि इसे आप यूरोप और अमेरिकामें भी पा सकते हैं। लन्दनमें वेस्ट-मिन्स्टरके ड्यूकने जब नीग्रो राजकुमार खानका आतिथ्य किया था तो ड्यूकके इस आचारपर दक्षिण अफ्रिकाके गोरोंने अपनी क्षुब्धता प्रकट की थी कि उसने एक नीग्रोके साथ भोजन किया। जब रूज़वेल्ट (Roosevelt) ने बुकर वाशिङ्गटनके साथ भोजन किया था तब उस भूतपूर्व प्रेसिडेण्टके आचारके विषयमें सार्वजनिक आलोचना हुई थी। क्या इसीलिये यह आलोचना नहीं हुई थी कि बुकर वाशिङ्गटन नीग्रो थे? अमेरिकामें हबशियोंका प्रश्न अभी-तक हल नहीं हो पाया है। दुर्भाग्यवश अन्य देशोंके समान ही भारतमें भ्रातृत्वका अभाव है। परन्तु भारतके महात्माओं और आचार्योंने इसका समर्थन नहीं किया है। आर्ययुगमें वर्णाश्रम-व्यवस्था अवश्य थी, परन्तु परवर्तीकालमें इसका जो रूप मिलता है ऐसी वह न थी। उस वर्णाश्रम-व्यवस्थामें समाज-शास्त्र-सम्बन्धी इस सत्यका दृढ़ प्रमाण मिलता है कि सामाजिक गठनमें कर्मका विभाग होना चाहिये, सुव्यवस्थित समाजमें विभिन्न वृत्तियोंका होना आवश्यक है, एक तो शिक्षककी वृत्तिवाली शिक्षावाली, वैज्ञानिक और ब्राह्मण-वृत्तिका होना आवश्यक है, दूसरी सैनिक और राजसञ्चालक क्षत्रिय-वृत्तिका होना आवश्यक है, तीसरी कृषि, व्यापार करनेवाली वैश्यवृत्तिका होना आवश्यक है, और चौथी हाथसे काम करनेवाली शूद्रवृत्तिका होना आवश्यक है। परन्तु इनमें सभी आदरणीय हैं, क्योंकि *सभी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं।*

मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दूधर्मके तीन स्वरूप हैं, —एक दर्शन है, एक धर्म है और एक मार्ग है। और मेरे विचारसे यह तीनों स्वरूप वैष्णव, शैव तथा अन्यान्य हिन्दू-सम्प्रदायोंके लिये सामान्य हैं। पहले हिन्दू-धर्मको *एक मार्ग, आर्यमार्गके रूपमें* विचार करो। आर्यमार्ग केवल विश्वास ही नहीं है बल्कि प्राप्तिकी एक शैली है। हिन्दू-धर्म सम्प्रदाय नहीं है; यह अपने अनुयायियोंको आत्मसंयम और अनुभवके मार्गपर चलनेका आदेश देता है, और इसके साथ ही इस तथ्यको स्वीकार करता है कि मनुष्यकी प्रकृति और विकासमें विभिन्नता होती है, जीव अनुभवमय होते हैं, विभिन्न जीवोंको अपनी विभिन्न पात्रता उन्नत करनी पड़ती है, वह मार्ग तीन प्रकारका होता है, ग्रन्थोंमें इसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके नामसे कहा है। एक विशेष अवस्थामें कर्ममार्गका उपदेश सबके लिये दिया गया है। इसके तीन नियम हैं। पहला उपासना है, जिसका अर्थ सामान्य पूजा अथवा प्रचलित विधिसे भिन्न है। उपासनाका अर्थ होता है आत्माके समीपमें बैठना, योगकी नीरवतामें प्रभुके नाद या शब्दका अनुभव करना। इसका दूसरा अर्थ धर्मग्रन्थोंमें 'ऋण' शब्दसे व्यक्त किया गया है। दैनिक उपासनासे हम भगवान्‌के ऋणसे मुक्त होते हैं, ऋषियोंके ग्रन्थों और उपदेशोंका स्वाध्याय करना ऋषिऋणसे मुक्त होना है। राष्ट्रको स्वस्थ पुत्र प्रदान करना तथा वंश-परम्पराका उच्छेद न होने देना पितृऋणसे छूटना है। सबके प्रति हम आतिथ्य और सेवाके ऋणी हैं, और जो लोग अपने वचनों या कर्मोंके द्वारा उन विधवा, अनाथ, रोगी, भूखे, दीन-दुखिया पुरुषकी दया

बच्चोंकी सहायता करते हैं, जिन्हें अच्छे घर तथा जीवनमें सामाजिक, आर्थिक अवस्थाकी कमी होती है, समाजके यथार्थ सेवक हैं। मुक्तिके लिये कर्मका होना परमावश्यक है, यह हिन्दू-धर्मका उपदेश है। कर्मको केवल अनासक्त-भावसे करना चाहिये। इसी बातको गीता बारम्बार कहती है। तथापि ऐसे आलोचक मौजूद हैं जो हमें कहा करते हैं कि हिन्दू-धर्म कर्मका विरोधी है! जनरल सर ओमूर क्रेग (General Sir O'moore-Creagh) अपने Indian Studies में कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्मका एक सिद्धान्त समस्त सांसारिक व्यवहारोंसे अलग होना है। और इस सिद्धान्तके फलस्वरूप भारतके बहुतेरे महान् पुरुषोंने जनसाधारणसे सम्बन्ध रखनेवाले सांसारिक सम्बन्धको त्याग दिया है और भारत-भूमि धार्मिक तपस्वियोंसे भरी हुई है जो नंगे होकर अपने दुःखमय और कृशित शरीरको इसप्रकार कष्ट देते हुए घूमा करते हैं कि उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, तथा वे हिन्दू ग्रामीणोंके ऊपर, जिनकी दानशीलता असीम है, एक बड़े टैक्ससे भी बढ़कर होते हैं।' इसप्रकार लिखकर लेखकने हिन्दू-धर्मके कर्म-योग-सम्बन्धी उपदेशोंमें अपनी अज्ञानताका परिचय दिया है।

तब ज्ञानमार्ग आता है; और हम धर्म-ग्रन्थोंमें देखते हैं कि कर्मका ठीक अनुष्ठान होनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कर्मके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही भारतीय ऋषियोंका विचार है। जबतक शुद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे तुम अपने हृदयको पवित्र न बना लोगे, तबतक आत्मज्ञानकी प्राप्ति न होगी। उपनिषद् कहते हैं कि 'जो विद्या और अविद्या दोनोंको जानता है वह विनाशको नहीं प्राप्त होता।' अविद्या कर्मको कहते हैं। आचार-निर्माणके लिये ज्ञान और कर्म दोनोंकी आवश्यकता है और इस ज्ञानमें ही विचारकी एकाग्रता प्राप्त होती है। यह ज्ञान-मार्ग ध्यानका, विचार-शक्तिका मार्ग है। विचारकी एकाग्रतासे मस्तिष्कके नवीन रन्ध्रों (Cells) की रचना होती है, यह अन्तर्ज्ञानको खोलती है और आत्माको सत्यके संयोगमें लाती है; और मैं बहुधा इसे अनुभव करता हूँ कि आधुनिक युगको क्षुब्धता, व्यसन और उत्तेजनाओंसे बचनेके लिये ज्ञानमय तपकी, ध्यान-शक्तिकी आवश्यकता है।

ईश्वरको जाननेके लिये शान्त बनो

तब भक्तिमार्गका नम्बर आता है, जो प्रेम या श्रद्धाका पथ है। प्रह्लादने भगवान् विष्णुकी प्रार्थना करते समय सच्चे भक्तोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया है—'हे प्रभो! चाहे जिस योनिमें मैं जन्म लूँ, तुम्हारे चरणोंमें मेरी अटूट भक्ति हो।' राष्ट्रीय प्रगतिको आगे बढ़ानेके लिये आज ऐसे ही भक्तोंकी भारतको आवश्यकता है।

किसप्रकार यह कर्म, ज्ञान, भक्ति—त्रिपथ एकत्रित हो धर्ममें मिलते हैं, यह प्राचीन भारतका एक सामाजिक समन्वय है जिसके वर्णन करनेके लिये यहाँ समय नहीं है। हिन्दू-धर्म धर्मके रूपमें एक ऐसा विषय है जिसकी विशिष्ट व्याख्या होनी चाहिये। अब मैं हिन्दू-धर्मके दार्शनिक रूपके विषयमें दो-चार शब्द कहूँगा। क्योंकि जो धर्म अन्तर्ज्ञान-आकाशके भीतर गहरा प्रविष्ट नहीं हुआ होता वह तो केवल एक सम्प्रदायमात्र है। धर्म प्राचीन आर्योंकी सर्वप्रथम प्रवृत्ति थी। धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि दर्शन-विहीन पुरुष आवागमनके चक्करमें पड़ा रहता है। दर्शनका अर्थ है उस परमतत्त्वके साथ संयोग, जिसे शास्त्रोंमें आत्मा, जीवात्मा, विश्वात्मा कहा गया है, महर्षि याज्ञवल्क्य बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें सांसारिक वस्तुओंकी तुलना बाँसुरीकी ध्वनिके साथ करते हैं। उन्होंने ठीक ही बतलाया है कि यदि बाँसुरी बजानेवालेकी बाँसुरी न ले ली जाय तो उसकी ध्वनि पकड़ी नहीं जा सकती। इसी प्रकार यह निर्धारित है कि जब आत्मा देख लिया जाता है तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है; आत्मा ही ज्ञानका आधार और अनुभवका स्रोत है। अनेकत्वमें यह एकत्वकी दृष्टि हिन्दू ऋषियोंकी पुण्यतम वाणीद्वारा व्यक्त होती है। और एकत्वकी भावनासे ओतप्रोत हो वे 'एकमेवाद्वितीयम्' इस मन्त्रका उद्‌घोष करते हैं। इस रहस्यका कारण हिन्दुओंका 'लीलासिद्धान्त' है, जिस सिद्धान्तके अनुसार जगत् शाश्वत तत्त्वकी प्रेममयी क्रीड़ा है। जैसा कबीरने अपनी एक सुन्दर प्रार्थनामें कहा है—'भगवान्‌ने अखिल जगत्‌में अपने प्रेमस्वरूपका विस्तार किया है।' इस लीलाके सिद्धान्तके साथ-साथ मायाका सिद्धान्त भी लगा हुआ है, जिस सिद्धान्तके विषयमें बहुधा आलोचक भ्रममें पड़ जाते हैं। क्योंकि मायाका अर्थ भ्रमात्मक नहीं बल्कि क्षणिक और अनित्य है। यहाँतक कि आजकल भी हिन्दू सेवकोंके मुँहसे यह बात सुनी जाती है कि बाबूजीका क्रोध माया है, अर्थात् वह शीघ्र ही चला जायगा। इसी प्रकार जगत्‌की वस्तुएँ माया हैं, तुम्हारे दुःख माया हैं, क्योंकि

वे भी चले जायँगे और अपने स्थानमें स्थिर शान्तिको छोड़ते जायँगे; हमारा व्यक्तित्व भी माया है, क्योंकि यह भी चला जायगा और हमको शनैः-शनैः जन्म-जन्मान्तर उच्च व्यक्तित्वका निर्माण करना पड़ेगा।

जिन्होंने अनेकमें एकको देखा है वे जानते हैं कि जगत्को जितना हम समझते हैं उससे वह कहीं विलक्षण है। वे जानते हैं कि एक ही क्रियात्मक जीवन सबमें प्रवाहित हो रहा है। वे जानते हैं कि जगत्में यथार्थतः कुछ भी विभिन्नता नहीं है, कोई ऐसा भेद नहीं है जो दूर न हो सके। क्योंकि इसका मूल तत्त्व एक आत्मा है। सर जगदीशचन्द्र बोसने हमें पौधों और खनिजोंके निर्वचनके द्वारा शिक्षा दी है। मि० फ्रांसिस डार्विनने हमें विश्वास दिलाया है कि पौधोंको भी मस्तिष्क होता है, तथा लताओंमें चेतना होती है, जो अपने तन्तुओंसे सहारा खोजती हैं, जैसे मनुष्य अपनी अंगुलियोंसे तबतक खोजता रहता है जबतक उसे उपयुक्त आश्रय नहीं प्राप्त हो जाता। कैप्टेन मस्ग्रेव (Captain Musgrave) ने तो यहाँतक कहा है कि उन्होंने कोलम्बियामें एक ऐसा पौधा देखा था जिसे मस्तिष्क होता है तथा स्नायुजाल और पाकाशय भी होते हैं। इसी जीवनकी एकताको प्रत्यक्ष करके आर्योंने सब जीवोंके प्रति श्रद्धाका भाव रक्खा; अहिंसा भारतका धर्म बन गया, जो आजतक किसी भी दूसरे राष्ट्रका धर्म नहीं बन सका है। यदि वस्तुतः एक ही जीवन प्रत्येक रूपमें काम करता है तो किसप्रकार तुम किसी भी जीवका नाश करनेका साहस करोगे अथवा जगत्में किसीको भी हानि पहुँचाओगे? तुम कहते हो संसार दोषमय है। *परन्तु हिन्दू-धर्म डंकेकी चोट कहता है कि तुम गुणके* बिना दोषका दमन नहीं कर सकते। अहिंसा और प्रतिरोधहीनता साथ-साथ चलती हैं। हिन्दू-धर्मका यह आदेश कैसा महत्त्वपूर्ण है—'सबके साथ भ्रातृभाव रक्खो' जिस प्रकार संस्कृति समर नहीं है, उसी प्रकार जीवन भी युद्ध नहीं है।' समस्त राष्ट्रों और जातियोंका अन्तरतम आत्मा वही एक शाश्वत तत्त्व है। और प्रत्येकके पास एक अज्ञात तार है जिसको छूते ही उस गुप्त आत्मासे सामञ्जस्यकी ध्वनि निकल पड़ती है। सबके साथ बन्धुत्व रक्खो, क्योंकि तुम्हारा अन्तरात्मा एक सहस्र सूत्रसे असंख्य सूर्य और तारामण्डल अर्थात् आकाश और पृथ्वीकी समस्त वस्तुओंसे तुम्हें बाँधता है। केवल मौनावलम्बन करो, अपने आत्मजीवनकी असीमतामें स्थित हो जाओ, फिर तुम्हें सब पदार्थोंमें उस अनन्तकी ज्योति छिटकी हुई दीख पड़ेगी। क्या तुमने अपने मनमें कभी सोचा है कि संसारकी किसी भी वस्तुको, यहाँतक कि एक बालूके कणको भी तुम अच्छी तरहसे क्यों नहीं समझ पाते? वह बालूका कण अनन्तसे अलग नहीं किया जा सकता; असीममें ससीमकी अभिव्यक्ति सृष्टि कलाविद्की एक कल्पना है। इनको पूर्णतया कौन समझ सकता है? इस चेतनासे संयुक्त होकर विज्ञान अर्चनाका रूप धारण करता है, प्रकृति मन्दिर बन जाती है, इतिहास धर्मग्रन्थ बन जाते हैं, ज्ञान इस आश्चर्यका साथी बन जाता है और जीवनका एकमात्र धर्म परमात्माके प्रति नित्य आत्मसमर्पण हो जाता है।

मेरे विचारसे 'नित्य आत्मसमर्पण' हिन्दू-धर्मका आदेश और शाश्वत प्रयोजन है; यह वह कर्म है जिसके लिये आर्यावर्तके ऋषि-मुनि हमें आज भी सूचित करते हैं। कितने पुरुष चिकनी-चुपड़ी और दुर्बल बातोंसे नहीं, बल्कि जीवनके पराक्रमपूर्ण और शुभ कर्मोंसे इस सूचनाका उत्तर देंगे? शोक, आज भारतके घरोंसे इसी बातकी चिल्लाहट आती है और अनेकों मनुष्य चुपचाप दुःख सहते और मरते हैं। हिन्दू कहलानेवाले कितने मनुष्य उस परमात्माकी सेवाके लिये दीन-दुखी, अकिञ्चन, अनजान बननेके लिये तैयार हैं? चाहे जितने मनुष्य ऐसे हों—उनके नाम *और धर्म चाहे जो हों, वे हिन्दू-धर्मके सच्चे अनुयायी हैं।* और उनके प्रति ऋषिगण अपना प्रेम प्रदान करते हुए उन्हें भारतकी सेवाके लिये आहूत करते हैं। भारतको इसप्रकारसे समझनेवाले लोग ही भारतकी सेवा करेंगे। और भारतीय पर्वतों, समुद्रों और जलस्रोतोंको उदात्त आदर्शवादसे पुनः जीवित करेंगे। और उनके नाम स्मरणीय न होनेपर भी वे नवीन भारतराष्ट्रके निर्माणमें जीवन बितायेंगे क्योंकि जो लोग उस परमात्माको नित्य आत्मसमर्पण करते हुए मरते हैं वे अमर हैं।

ईश्वर-प्रसंग

(लेखक—पं० श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य एम० ए०, प्रिंसिपल विश्वभारती, शान्तिनिकेतन)

मेरी समझसे धर्म और ईश्वर—इन दो विषयोंपर आजतक इतनी बातें कही जा चुकी हैं कि यदि हजार वर्षतक इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं जान पड़ती। पूर्वमें जो कुछ कहा जा चुका है, उसके एक सामान्य अंशपर आलोचना करनेसे ही सब कुछ हो सकता है। किन्तु मनुष्यमें पुनरुक्ति करनेकी एक इच्छा देखी ही जाती है।

मनुष्य नाना प्रकारकी बातें कहता है, वह सभी समय सभी बातोंको भलीभाँति समझ-सोचकर और उनका अनुभव करके ही कहता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी तो मनुष्य ऐसी बातें कहने लगता है जिनके सम्बन्धमें वह कुछ भी नहीं जानता-समझता। वरं किसी-किसी समय तो वह अधिकतर ऐसी ही बातें कहा करता है। इस तरह करनेका परिणाम अच्छा होगा या बुरा, इसका वह कुछ भी विचार नहीं करता, किसी प्रकार कुछ-न-कुछ कहना ही उसका काम होता है; कह दिया, बस छुट्टी हुई। जहाँ अन्धकार हो और बहुत ही धुँधला प्रकाश हो, वहाँकी चीज साफ-साफ देखी या जानी नहीं जा सकती। वहाँकी एक ही चीजको भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपमें देखते हैं। कोई उसे ठूँठा पेड़ कहता है, कोई मनुष्य और कोई भूत कहता है तथा कोई और ही कुछ बतलाता है। ऐसा भी मनुष्य होता है जो भूत या मनुष्यका निर्णय नहीं कर सकता। इसी प्रकारके और भी अनेक लोग हो सकते हैं। यदि ऐसे सब लोग एक जगह इकट्ठा हो जायँ और उस वस्तुको लेकर तर्क करने लगें तो उनके तर्कके प्रहारोंसे वह स्थान गूँज उठेगा, युक्तियों और तर्कोंके प्रवाहमें दिशाएँ बह जायँगी, परन्तु यथार्थ तत्त्वका पता तनिक भी नहीं लगेगा। यह बात नहीं है कि इन तार्किकोंमेंसे कोई उस तत्त्वको जान ही नहीं सका हो या जानकर भी अच्छी तरह कह नहीं सकता हो, बात तो यह है कि वैसा होनेपर भी तर्कके व्यूहको भेदकर उस तत्त्वका ग्रहण कर सकना अत्यन्त कठिन है। धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमें यही हुआ है। अस्तु। हमारे सामने अभी ईश्वरका प्रसङ्ग उपस्थित है, इसलिये अब उसीकी आलोचना करनी है।

दोनों दल डटे खड़े हैं, आज ही नहीं, अति प्राचीन कालसे; यहाँ ही नहीं, विदेशोंमें भी ऐसा ही है। क्योंकि यही जड़की बात है। एक दल कहता है 'ईश्वर है' दूसरा कहता है 'नहीं है'। दोनोंमें तुमुल द्वन्द्व छिड़ा है, कोई-सा दल हटनेवाला नहीं, कोई-सा भी पक्ष कमजोर नहीं। इस विषयपर जो कुछ कहना-सुनना था, प्राचीन लोग कह-कहकर चले गये। पर झगड़ेका अन्त नहीं आया। प्राचीन लोग जहाँ छोड़ गये थे, नवीनोंने वहींसे फिर अदम्य उत्साहके साथ यात्रा आरम्भ कर दी; परस्पर युक्ति-तर्कोंकी कटा-कटी चल रही है, पता नहीं, इसका कब अन्त होगा। मेढ़ोंकी लड़ाईकी भाँति जो प्रबल होता है, वह दुर्बलको हटा देता है, परन्तु दुर्बलके हट जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धकी शुरुआतमें उसीका दोष था।

ये सब बाहरकी बातें हैं, बाहरी बातोंसे ईश्वरके होने-न-होनेका निर्णय असम्भव है। जो कहते हैं कि ईश्वर हैं, वही यह भी कहते हैं तर्कके द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह अपने अनुभवका विषय है। दूध, शहद, गुड़ आदि मीठे हैं या नहीं, यह बातोंसे समझाना कठिन है, अथवा समझाया नहीं जा सकता। या किसमें कितना मिठास है, इस बातको हजार वर्षका समय मिलनेपर भी, स्वयं सरस्वती भी नहीं समझा सकती। इनको निजमें जरा-सा चखकर देखना होगा और चखनेके साथ ही पता लग जायगा। क्योंकि यह अनुभवका विषय है। गुड़ मीठा है या कड़ुआ, यह जाननेके लिये जैसे उसे चखकर देखना ही एकमात्र उपाय है, वैसे ही ईश्वर हैं या नहीं, इस बातको जाननेका भी एकमात्र उपाय अनुभव करके देखना ही है। अनुभव करनेका क्या उपाय है? जो कहते हैं कि ईश्वर है वे ही इस प्रश्नका उत्तर देंगे और उन्होंने दिया भी है। यदि कोई श्रद्धेय पुरुष कहते हैं कि मैं स्वयं जाकर अमुक गाँवको देख आया हूँ, तो वह उस गाँवका मार्ग भी जानते हैं, एवं दूसरेको बतला भी सकते हैं। उनके बतलाये हुए पथको छोड़कर दूसरी राहसे

जानेपर यदि वह गाँव न मिले तो इसीसे यह निश्चय कर लेना अनुचित है कि वह गाँव ही नहीं है। इनके बतलाये हुए मार्गसे चलकर देखिये, गाँव मिल गया तब तो ठीक ही है, झगड़ा ही निपट गया। और यदि न मिला तो कहना ही होगा कि गाँव नहीं है।

एक बात और भी समझनेकी है। एक आदमी प्याससे छटपटाता है, उसको थोड़ा जल दिया गया, उसने यथाविधि पी लिया, उसकी प्यास बुझ गयी। एक मनुष्य रोगकी पीड़ासे व्याकुल है, वैद्यने उसको औषध दी, रोगीने उसका यथाविधि सेवन किया। उसका रोग शान्त हो गया। यहाँ, यदि वास्तवमें जल और औषध न होती तो प्यासेकी प्यास और रोगीका रोग शान्त नहीं होता। जल और औषध थी, इसी कारण प्यास और रोगकी निवृत्ति हुई। इसी प्रकार यदि मनुष्य यथाविधि ईश्वरकी उपासना करता है और उसमें ईश्वरोपासनाके गुण (जैसे—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

—आदि गीता अ० १२ श्लोक १३ से २०) प्रकट हो जाते हैं तो कहना चाहिये कि ईश्वर है, इसीसे उसकी उपासनासे उपासकमें इन गुणोंका विकास हुआ है। ऐसे भक्त दुर्लभ होनेपर भी अलभ्य नहीं हैं।

ईश्वरकी उपासना न करनेसे क्या ये गुण नहीं हो सकते? यह स्वतन्त्र प्रश्न है। यहाँ तो जो ईश्वरकी उपासना करता है, उन्हींके विषयमें कहा गया है। किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें अनेकोंने कहा है कि हो सकते हैं। एक रोगकी अनेक दवाइयाँ हो सकती हैं और सबके लिये एक ही दवा उपयोग भी नहीं है।

प्रभुके प्रति

(श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त)

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया—
तूने मुझे बनाया है या मैंने तुझे बनाया?
यदि मैं ही कर्त्ता हूँ तेरा
तो कर्तृत्व मृषा क्या मेरा?
मिथ्या हुआ स्वयं तब तो मैं
दीखा अब तो और अँधेरा!
अच्छा तर्क उठाया!
प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।
यदि है तू ही कर्त्ता धर्त्ता
और अन्तमें सबका हर्त्ता,
तो फिर क्यों प्रामाणिक मतिसे
बता मुझे मेरे भव-भर्त्ता,
मैंने तुझे न पाया?
प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।
यदि असिद्ध तू मेरी मतिसे,
तो फिर मैं पाऊँ किस गतिसे?
श्रद्धासे नत-मस्तक होकर
यत्न करूँ क्या मनकी रतिसे?
हाँ, अब तू मुसकाया!
प्यारे, एक प्रश्न उठ आया।

ईश्वर-प्रेम

ऋषिकेशके पासका ज़िक्र है कि गंगाके इस पार बहुत साधु रहते थे और उस पार एक मस्त रहता था। उसके रगोरेशेमें (अनलहक़) शिवोऽहं बसा हुआ था। रात-दिन यह आवाज आया करती थी—'शिवोऽहं, शिवोऽहं, शिवोऽहं, शिवोऽहम्।' एक दिन वहाँ एक शेर आया। साधु इस पारसे देख रहे थे कि शेर आया और उसने महात्माकी ओर रुख़ किया। वह महात्मा शेरको देखकर उच्च स्वरसे कह रहा था 'शिवोऽहं, शिवोऽहम्।' उसकी धारणामें यह जमा हुआ था कि यह शेर मैं ही हूँ, सिंह मैं ही हूँ। स्वयं केसरीके शरीरमें स्वर भर रहा हूँ 'शिवोऽहं, शिवोऽहम्।' वनराजने आकर इनके कन्धेको पकड़ लिया तो वह (महात्मा) आनन्दके साथ सिंहके रूपमें नर-मांसका स्वाद ले रहे थे और आवाज निकल रही थी 'शिवोऽहं, शिवोऽहम्।' दीवालीमें खाँड़के खिलौने बनते हैं। खाँड़के हिरन और खाँड़के शेर। अगर खाँड़का हिरन अपने-आपको नामरूपरहित विशेषणके साथ समझे कि मैं हिरन हूँ तो क्या यह कहेगा कि खाँड़का शेर मुझको खा रहा है। यदि वह अपने-आपको खाँड़ मान ले तो खाँड़का मृग कह सकता है कि खाँड़के रूपमें मैं ही इधर हिरन और उधर शेर हूँ। इसी तरह जब तुम जानो कि तुम्हारी असलियत क्या है, वह इस खाँड़के अनुरूप ईश्वरका स्वरूप है। अतः इस खाँड़के शेरकी दशामें तुम ईश्वरकी हैसियतसे यह कह सकते हो कि मैं इधर हिरन और उधर शेर हूँ।

पगड़ी, पाजामा, दुपट्टा, अँगरखा, गौरसे देखा तो सब कुछ सूत है।

> दामनी तोड़ी तो मालाको गढ़ा,
> पर निगाहे-हक़में वह भी थी तिला।

प्यारे! यह महात्मा वह दृष्टि रखते थे। जिस समय सिंह खा रहा था उस समय वह क्या-क्या स्वाद ले रहे थे। आज नर-रक्त हमारे मुँह लगा। टाँग खायी तो भी 'शिवोऽहं, शिवोऽहम्।' पर्दा पहले ही पतला था, मगर सरकाया गया।

सिकन्दर जब भारतवर्षमें आया और उसने देखा कि जितने देश मैंने जीते, सबसे अधिक सचाईवाले बुद्धिमान् और रूपवान् भारतवर्षमें ही देखे। उसने कहा इस भारतवर्षके सिर अर्थात् तत्त्व-वेत्ताओं और ज्ञानियोंको देखना चाहता हूँ। सिकन्दरको सिन्धुके किनारे ले गये। वहाँ एक अवधूत बैठे थे। सिकन्दर सारे संसारका सम्राट्, वहाँ लंगोटी भी नहीं। सामना किस गजबका है, सिकन्दरमें भी एक प्रताप था। मगर मस्तकी निगाह तो यह थी—

> शाहोंको रोब और हसीनोंको हुस्नो-नाज़।
> देता हूँ, जबकि देखूँ उठाकर नज़रको मैं॥

सिकन्दरपर उस मस्तका रोब छा गया। उसने कहा—'महाराज! कृपा कीजिये। यहाँके लोग हीरेको गुदड़ीमें लपेटकर रखते हैं। पश्चिममें जरा-जरा-सी चीजोंकी बड़ी कदर की जाती है। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजपाट दूँगा, धन दूँगा, सम्पत्ति दूँगा, हीरे-जवाहिरात दूँगा, जो कुछ चाहो सब दूँगा, लेकिन मेरे साथ चलो।' महात्मा हँसे और बोले 'मैं हर जगह हूँ, मेरी दृष्टिमें कोई जगह नहीं है।' सिकन्दर नहीं समझा। उसने कहा–'अवश्य चलिये।' और वही लालच फिर दिखलाया। मस्तने कहा—'मुझे किसी चीजकी परवा नहीं, मैं अपना फेंका हुआ थूक चाटनेवाला नहीं।' सिकन्दरको क्रोध आ गया और उसने तलवार खींच ली। इसपर साधु खिलखिलाकर हँसा और बोला—'ऐसा झूठ तो तू कभी नहीं बोला था।' 'मुझको काटे कहाँ है वह तलवार।'

बच्चे रेतमें बैठकर रेत अपने पैरोंपर डालते हैं। आप ही घर बनाते हैं और आप ही ढाते हैं। रेतका क्या बिगड़ा? जो पहले थी वह अब भी है। प्यारे! इसी तरह उस साधुकी दशा थी। यह शरीर उसको बालूके घरकी तरह है जो लोगोंकी कल्पनामें उनकी समझका घर बना था। मैं तो बालू हूँ। घर कभी था ही नहीं। अगर तुम या जो कोई इस घरको बिगाड़ता है, वह अपना घर खराब करता है।

> तारे क्या रोशनीसे न्यारे हैं।
> तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं॥

उत्तर सुनकर सिकन्दरके हाथसे तलवार छूट पड़ी।

एक भगिन थी, जो किसी राजाके घरमें झाड़ू दिया करती थी। कभी-कभी उसको सोना या मोती इनाममें मिल जाता था। कभी गिरे-पड़े उठा लाती थी। उसका एक लड़का था, जो बचपनसे परदेश गया हुआ था। जब वह पन्द्रह वर्षका हुआ तो घर आया। देखा कि उसकी माँने झोंपड़ीमें लालोंका ढेर लगा रक्खा है। उसने पूछा—'ये चीजें कहाँसे आयीं?' मेहतरानीने कहा—'बेटा, मैं एक राजाके यहाँ नौकर हूँ, ये उनके गिरे-पड़े मोती हैं, जिनका यह ढेर है। लड़का अपने मनमें कहने लगा, जिसके गिरे-पड़े मोती ऐसे उत्तम हैं, वह आप कैसी रूपवती होगी। यह खयाल आया था कि उसके मनमें प्रेम छा गया और अपनी माँसे कहने लगा कि मुझे उसके दर्शन कराओ। ये तारे-सितारे, यह चन्द्र-सूर्य, ये झलकती हुई नदियाँ, यह सांसारिक रूप-सौन्दर्य उस सचाईके गिरे-पड़े मोती हैं। अरे, जिसके गिरे पड़े मोतियोंका यह हाल है तो उसका अपना क्या हाल होगा।

लगाकर पेड़ फूलोंके किये तकसीम गुलशनमें।
जमाया चाँद-सूरजको सजाये क्या सितारे हैं॥

जिस समय कन्याओंका विवाह होता है, उनके डोलेपरसे रुपये-पैसे, अशर्फियाँ न्योछावर करते हैं और ऐ महात्माओ! तुम उन चीजोंको चुनो। रामकी आँख तो उस दुलहिनके साथ लड़ी। जिसका जी चाहे इन मोतियोंको भरे। रामके पास तो जामा भी नहीं है, फिर दामन कहाँसे लावे!!! ॐ! ॐ!! ॐ!!!

—स्वामी रामतीर्थ

ईश्वर-भक्ति

चतुराई चूल्हे परै, जम गहि ज्ञानहिं खाय।
तुलसी प्रेम न राम पद, सब जर मूल नसाय॥

नाथ एक बर माँगहूँ, मोहि कृपा करि देहु।
जन्म-जन्म प्रभु पद-कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

बार-बार बर माँगहूँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद-सरोज अनपायिनी भक्ति सदा सतसंग॥

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्त-कल्पतरु प्रनतहित कृपासिन्धु सुख-धाम।
सोइ निज भक्ति मोहि प्रभु देहु दया करि राम।

दीनानाथ दयालु प्रभु तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाजको सूझत और न ठौर॥

तुलसी बिलम न कीजिए भजि लीजै रघुबीर।
तन तरकससे जात हैं साँस-सरीखे तीर॥

जो चेतन कहँ जड़ करै, जडहि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव सो धन्य॥

हरि-माया कृत दोष गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।
भजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मनमाहिं॥

तुलसी सब छल छाँडि के कीजै राम सनेह।
अन्तर पतिसों है कहा, जिन देखी सब देह॥

—गो० तुलसीदासजी

बापजी

कबीर यह तन जात है, सकै तो राखु बहोरि।
खाली हाथों वे गये जिनके लाख करोरि॥

आस पास जोधा खड़े सभी बजावैं गाल।
मझ महलसे लै चला ऐसा काल कराल॥

तू मत जानै बावरे मेरा है सब कोय।
पिण्ड प्रानसे बाँधि रहो, सो अपना नहिं होय॥

साहिबसे सब होत है बन्दे तें कछु नाहिं।
राई तें पर्बत करै पर्बत राई माँहि॥

साहिब सा समरथ नहीं गरुआ गहिर गँभीर।
औगुन छाँडै गुन गहै छिनक उतारै तीर॥

मैं अपराधी जनमका नख सिख भरा बिकार।
तुम दाता दुख भञ्जना मेरी करौ सम्हार॥

अवगुन मेरे बापजी, बकसु गरीब-निवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिताको लाज॥

औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
भावै बन्दा बकसिये, भावै गरदन मार॥

साहिब तुमहिं दयालु हौ तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाजको सूझै और न ठौर॥

तुम तो समरथ साइयाँ दृढ़ करि पकरो बाँहि।
धुरही लै पहुँचाइयो जनि छाँडो मग माँहि॥

—कबीरदासजी



भगवान्—वाराहरूपमें

भागवत-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमजी भिखारी)

भगवान्‌का स्वरूप जाननेके लिये हमारे पास दो ही प्रमाण हैं—एक शास्त्र और दूसरा उन भक्तोंका अनुभव, जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया है । बहुत-से मनुष्य इनमेंसे किसी भी प्रमाणको नहीं मानते, परन्तु यह उनके दुर्भाग्यकी बात है, इससे भगवान्‌की सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता । उन लोगोंसे कोई यह पूछे कि आपके पास सम्राट् पञ्चम जार्जके अस्तित्वके लिये क्या प्रमाण है, तो वे यही उत्तर देंगे कि पुस्तकोंके अवलोकनसे तथा उन लोगोंके कथनसे, जिन्होंने उनका दर्शन किया है, हमने यह निश्चय किया है । परन्तु एक शङ्कालु पुरुष यह कह सकता है कि ये पुस्तकें सारी-की-सारी अंगरेज़ोंकी लिखी हुई हैं जो पक्षपातरहित नहीं कहे जा सकते और जो लोग यह कहते हैं कि हमने सम्राट्‌को आँखोंसे देखा है वे या तो झूठे हैं या मूर्ख हैं, उन्होंने किसी अभिनेताको, जो वास्तवमें सम्राट् नहीं है परन्तु जिसे वहाँके लोगोंने सम्राट्‌की पोशाक पहना दी होगी, धोखेसे सम्राट् मान लिया होगा । इसपर वे कदाचित् यह कहेंगे कि 'भाई ! यदि तुम्हें किसी तरह भी विश्वास नहीं होता तो तुम विलायत जाकर स्वयं सम्राट्‌का दर्शन कर सकते हो । माना कि, हम इङ्गलैण्ड जाकर सम्राट्‌का दर्शन कर सकते हैं किन्तु हमें सहजहीमें उनका दर्शन नहीं मिल सकता, इसके लिये हमें बहुत-से कष्ट उठाने पड़ेंगे । हमें अपना रोज़गार-धन्धा छोड़कर हजारों मीलकी समुद्र-यात्रा एवं स्थल-यात्रा करनी पड़ेगी, तब कहीं हम उनकी झाँकी मात्र पा सकते हैं । यदि हम उनसे मिलकर उनके साथ साक्षात् रूपसे बातें करना चाहें तो हमें और भी अधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे, फिर भी यह निश्चय नहीं कि हम अपने उद्देश्यमें कृतकार्य हो ही जायँ । यही बात किसी अंशमें भगवान्‌के लिये कही जा सकती है । यदि कोई मनुष्य उनका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहे तो उसके लिये यह असम्भव नहीं है; वह अवश्य उनका भलीभाँति दर्शन कर सकता है । परन्तु उसे अपने जीवन-का साधारण ढर्रा छोड़कर धैर्य एवं विनयके साथ उस मार्गपर अवश्य चलना होगा, जिसे शास्त्रोंने एवं भक्तोंने बतलाया है । इसके अतिरिक्त जिसप्रकार सम्राट्‌से मिलनेके लिये मनुष्यको अपने अन्दर कई ऐसे गुणोंका विकास करना आवश्यक होता है, जिनसे वह उनके दर्शनका पात्र बन सके, उसी प्रकार भगवान्‌से मिलनेके लिये भी साधकको प्रेम, सत्यभाषण, विनय, इन्द्रियनिग्रह, इच्छाओंका दमन इत्यादि अनेक ऐसे गुणोंका विकास करना होगा जो उसके अन्दर पहलेसे नहीं हैं । यदि मनुष्य इतना परिश्रम करे तो उसे इसका फल अवश्य मिलेगा, किन्तु हममेंसे कितने मनुष्य यह सब कष्ट उठानेके लिये प्रस्तुत हैं ? इसकी अपेक्षा आरामसे घरमें बैठकर भगवान्‌की सत्ताका खण्डन करना कहीं सहज है ।

मैं इस निबन्धमें भगवान्‌के अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये कोई तार्किक प्रमाण नहीं दूँगा, क्योंकि इसके लिये असली प्रमाण तो अनुभव ही है और दूसरे, इस विषयका निर्णय युक्तियोंसे हो भी नहीं सकता, चाहे वे कितनी ही तर्कपूर्ण एवं सच्ची क्यों न हों ? फिर भी भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रोंमें इसके विषयमें अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं, जो अपने-अपने क्षेत्रमें मान्य हैं और जिन लोगोंको उन्हें जाननेकी इच्छा हो वे उन शास्त्रोंका अध्ययन कर सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अस्तित्वका युक्तियोंसे निर्णय करना हमारा उद्देश्य भी नहीं है; हमें तो यह देखना है कि शास्त्रोंमें उनका स्वरूप कैसा बतलाया गया है । कुछ लोग यह देखकर घबड़ा जाते हैं कि शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थलोंमें उनका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन किया गया है । बात भी ठीक ही है । भगवान्‌के वास्तवमें अनेक रूप एवं सम्बन्ध हैं और उनका शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थलोंमें विभिन्न वर्णन पाया जाता है । सम्राट् पञ्चम जार्जके दृष्टान्तसे ही यह बात भी स्पष्ट हो सकती है । पञ्चम जार्ज इंगलैण्डके अधीश्वर, भारतवर्षके सम्राट्, एवं सम्राज्ञी मेरीके पति हैं । उनके ये तीनों ही सम्बन्ध एक दूसरेसे भिन्न हैं । इन तीनों स्वरूपोंके लिये उन्हें भिन्न-[illegible] धारण करना पड़ता है और उनके अधिकारोंका भिन्न रीतिसे वर्णन करना आवश्यक होता

लोगोंका उनके एक अधिकारसे सम्बन्ध है तो दूसरोंका दूसरे अधिकारसे, परन्तु सभी वेश और अधिकार हैं एक ही व्यक्तिके !

इसी प्रकार श्रुतिमें भगवान्‌के लिये यह कहा गया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् यद्यपि विद्वान् लोग उन्हें अनेक नामोंसे पुकारते हैं किन्तु वे हैं वास्तवमें एक ही। श्रीमद्भागवतमें, जिसकी रचनाका एक उद्देश्य श्रुतिके वास्तविक तात्पर्यको बतलाना था—'वेदार्थपरिबृंहितम्' इसी बातको विस्तारपूर्वक इसप्रकार कहा गया है—

> वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् तत्त्ववेत्ता पुरुष उस अद्वितीय ज्ञान तत्त्वको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् इन तीन नामोंसे पुकारते हैं।

उपर्युक्त श्लोकके पूर्वार्द्धसे यह ज्ञात होता है कि ऋषियोंने एक ही ज्ञान तत्त्व माना है। इस अद्वितीय तत्त्वका वर्णन सभी धर्मोंके आप्त ग्रन्थोंमें मिलता है; यही नहीं, एक अस्पष्ट आन्तरिक अनुभव अथवा विश्वासके रूपमें इस तत्त्वका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें भी निहित है। किन्तु कुछ लोग इस अन्तर्ज्ञान अथवा विश्वासको अनेक प्रकारकी तार्किक युक्तियों अथवा भोगकी कामनाओंसे आवृत कर डालते हैं। शास्त्रका उद्देश्य है, इस परम तत्त्वके स्वरूपका स्पष्टतया वर्णन करना, अतएव उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्द्धमें यह कहा गया है कि उस परम तत्त्वके ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् ये तीन नाम हैं। अर्थात् जिसप्रकार उस परम तत्त्वको जाननेके ज्ञान, योग एवं भक्ति ये तीन उपाय हैं, उन्हींके अनुरूप इन तीन नामोंसे उनके तीन स्वरूपोंका निर्देश किया गया है।

श्रीशंकराचार्यद्वारा निरूपित ज्ञान मार्गसे मनुष्य उस परमतत्त्वके निर्विशेष, निराकार, निर्विकार, अवाङ्मनस गोचरस्वरूपका साक्षात्कार कर सकता है, जिसे वेदोंने 'नेति नेति' कहा है। परमतत्त्वके इस स्वरूपको ब्रह्म कहा गया है। 'बृहत्त्वात् बृंहणत्वात् च तद्ब्रह्म' अर्थात् जो स्वयं बृहद् अर्थात् महान् है और जो दूसरोंको भी बृहत् बनाता है वह ब्रह्म है। अभेदज्ञानके साधनसे इसकी प्राप्ति होती है। इस साधनसे मनुष्यको यह अनुभव हो जाता है कि जगत्‌की सारी प्रातिभासिक अनेकताओंके मूलमें जो वास्तविक एकता है वह ब्रह्म ही है।

महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र एवं अन्य ग्रन्थोंमें बतलाये हुए योगमार्गका अनुसरण करनेसे मनुष्य उसी परमतत्त्वके दूसरे स्वरूपका साक्षात्कार कर सकता है जिसे 'परमात्मा' कहते हैं और जिसका जीवात्मा एक अंश है। यह उस ईश्वरका अन्तर्यामी स्वरूप है, जो सारे भूतप्राणियोंके हृदयमें विराजमान है, जो हमारी सारी क्रियाओंका निष्पक्ष साक्षी है, जो सारे भूतोंको समान दृष्टिसे देखता है अर्थात् जिसकी दृष्टिमें न तो कोई मित्र है और न कोई शत्रु है। चित्त-वृत्ति निरोधरूप योग समाधिके द्वारा इस दूसरे स्वरूपका साक्षात्कार होता है।

उस परमतत्त्वका तीसरा स्वरूप 'भगवान्' शब्दका वाच्य है। उसकी प्राप्ति भक्तिमार्गके अनुसरणसे होती है। सत्त्व, रज एवं तम इन तीन प्राकृतिक गुणोंसे अतीत होनेके कारण हम उन्हें निर्गुण भी कह सकते हैं, किन्तु वे ऐश्वर्यादि षड्गुण एवं भक्त-वात्सल्यादि अनन्त गुणोंके सागर हैं। वे निष्क्रिय नहीं हैं, उनकी दिव्य लीलाएँ नित्य होती रहती हैं। वे निराकार नहीं हैं, उनका शुद्ध सत्त्वमय विग्रह है। वे निर्विशेष नहीं, किन्तु अगणित दिव्य शक्तियोंके आकर हैं। श्रुतिमें भी कहा है—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।' उनके अन्दर सारे विरोधोंका सामञ्जस्य हो जाता है और वे भक्तोंकी शाश्वत गति हैं। यद्यपि वे एक ही समयमें असंख्य रूप धारण कर सकते हैं, किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप श्रीकृष्णका नित्यविग्रह है। भागवतके 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इस महावाक्यमें तथा 'तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्' अर्थात् 'कृष्ण ही परमेश्वर हैं, उन्हींका ध्यान करो।' इस श्रुतिमें यही बात कही गयी है। ब्रह्मसंहितामें भी लिखा है—

> ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
> अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

—अर्थात् सच्चिदानन्दविग्रहवाले श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं, वे ही आदिरहित आदिगोविन्द हैं, वे ही समस्त कारणोंके कारण हैं। इसप्रकारके अन्य सैकड़ों प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु मैं अब केवल श्रीशंकराचार्यका एक वाक्य प्रमाणरूपमें उद्धृत करके विश्राम लूँगा। वे कहते हैं—

> भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
> प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

—अर्थात् यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त भूतोंके हृदयमें रहनेवाले, ज्ञानमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकृतिसे पर परमात्मा हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि श्रीशंकराचार्यने मुख्यतया 'निर्गुण ब्रह्मवाद'का उपदेश दिया है, किन्तु वे इस बातको भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्णका विग्रह अप्राकृतिक, अतएव नित्य है। यहाँ किसीको यह शंका हो सकती है कि श्रीशंकराचार्यने निराकार ब्रह्मके लिये ही 'श्रीकृष्ण' शब्दका प्रयोग किया है। पर यह शंका निर्मूल है, क्योंकि उन्होंने 'यदुकुल-तिलक' शब्दका प्रयोग किया है और इस शब्दसे द्विभुज श्यामसुन्दर-स्वरूपका ही बोध होता है, जिसका आविर्भाव द्वापरयुगके अन्तमें श्रीवृन्दावन एवं श्रीद्वारकाधाममें हुआ था।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही परम-तत्त्व तीन स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होता है, परन्तु यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि इन तीन स्वरूपोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? कुछ लोग यह कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ही उसका वास्तविक स्वरूप है और श्रीकृष्णादिके विग्रह काल्पनिक हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है, दूसरे स्वरूप सभी एक प्रकारसे मायिक हैं। उदाहरणके लिये 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थके रचयिताने लिखा है कि मायाके दो भेद हैं—विद्या एवं अविद्या। ब्रह्मके जिस स्वरूपकी उपलब्धि विद्यासे होती है वह ईश्वर है और जिसकी अविद्यासे उपलब्धि होती है वह जीव है; किन्तु उक्त दोनों प्रकारकी उपलब्धियाँ मायिक ही हैं। यह सिद्धान्त बिल्कुल निषिद्ध है, क्योंकि इसके अनुसार भगवान् तो केवल अपरिपक्व बुद्धियोंके ध्यानकी वस्तु रह गये। वे तो साधकके लिये एक ऐसी सुलभ सीढ़ी हो गये, जिसपर आरूढ़ होकर वह पर-ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है और फिर उसकी आवश्यकता न रहनेपर उसे अपने पैरों-तले दबाकर नीचेकी ओर ढकेल सकता है।

इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। शास्त्रोंमें लिखा है कि ईश्वर मायातीत है। 'स ईशो यद्वशे माया' अर्थात् 'माया जिसके अधीन है वही ईश्वर हैं' वास्तवमें माया तो उसकी अनेक शक्तियोंमेंसे एक विशिष्ट शक्ति है। इस विषयमें वास्तविक सिद्धान्त क्या है इसे भगवान्ने अपने श्रीमुखसे भगवद्गीता एवं अन्य ग्रन्थोंमें बताया है। भगवान्‌का आदेश है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।

अर्थात् मैं क्षर यानी सारे भूतप्राणियोंसे परे हूँ और अक्षर अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मसे भी उत्तम हूँ।

चौदहवें अध्यायमें भी श्रीभगवान्ने कहा है 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' अर्थात् 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा यानी आधार मैं हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी आपने फरमाया है—

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।

—अर्थात् मेरी महिमाको ही परब्रह्म कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी इस निर्विशेष ब्रह्मरूप महिमाको श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीकृष्णके दिव्य विग्रहसे प्रादुर्भूत ज्योति माना है। वे कहते हैं—

ताहार अंगेर शुद्ध किरणमंडल, उपनिषद कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल।

—अर्थात् श्रीकृष्णके श्रीअङ्गसे निकलनेवाले शुद्ध किरण-मण्डलको ही उपनिषदोंमें सुनिर्मल ब्रह्म कहा है।

हम ऊपर कह आये हैं कि भगवान्‌के अन्तर्यामी स्वरूपको ही परमात्मा कहते हैं। वे इसी रूपमें समस्त जीवोंके हृदयमें निवास करते हैं। श्रुतिमें शरीररूपी वृक्षपर बैठे हुए दो मित्रपक्षियोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे एक अर्थात् जीवको फलका खानेवाला अर्थात् विषयोंके साथ-ही-साथ कर्मोंका भोक्ता कहा गया है और दूसरेको अभोक्ता अर्थात् अनासक्त रहनेवाला बतलाया गया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

निर्विशेष ब्रह्मका न तो किसी प्रकारके कर्मसे सम्बन्ध है और न उनके शुभाशुभ फलसे, किन्तु परमात्मा हमारे सारे कर्मोंके मूक साक्षी हैं और प्रत्येक कर्मका शुभाशुभ फल देते हैं। सर्व भूतोंके हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाले आत्मा भी वही हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

श्रुति भी कहती है—

'एको देव. सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥'

अर्थात् सारे भूतोंके अन्दर छिपा हुआ एक देव है जो सर्वव्यापी एवं सर्वभूतोंका अन्तरात्मा है।

ब्रह्म किसीका स्वामी नहीं है क्योंकि वह तो निर्विशेष है किन्तु परमात्मा सबका स्वामी है, सबका सुहृद् है और अव्यक्त ईश्वरके रूपमें सबके हृदयमें प्रतिष्ठित होकर सारे भूतप्राणियोंको इसप्रकार घुमाता है, जैसे कोई चक्रमें चढ़ी हुई वस्तुको घुमावे—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

—इन्हींको कूटस्थ पुरुष, क्षेत्रज्ञ तथा सारे अवतारों-का बीज कहा गया है। गीताके निम्नलिखित श्लोकार्द्धमें भगवान्‌के इसी स्वरूपका वर्णन है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

—अर्थात् अपने परमात्मारूप एक अंशसे अखिल विश्वको व्याप्त करके मैं (भगवान्) अपने स्वरूपमें स्थित रहता हूँ।

यह ध्यान रहे, ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् ये तीन पृथक् तत्त्व नहीं हैं, किन्तु उस एक ही परमतत्त्वके तीन रूप हैं। इन तीनोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस बातको श्रीजीवगोस्वामीने एक दृष्टान्तके द्वारा समझाया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रीद्वारकामें विराजते थे, उन्होंने एक तेजपुञ्जको आकाश-मार्गसे अपनी ओर आते देखा। कुछ ही क्षणोंके अनन्तर उन्होंने देखा कि वह मनुष्यके आकारका है और इसके बाद जब वह आकृति और भी समीप आ गयी, तब भगवान्‌ने पहचाना कि ये तो देवर्षि नारद हैं। यहाँ नारदरूप वस्तु तो एक ही थी, परन्तु वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें कहीं अधिक स्पष्टरूपसे और कहीं अस्पष्टरूपसे प्रतिभासित हुई। सर्वप्रथम वे आकाररहित तेजःपुञ्जके रूपमें दिखायी दिये, यही निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार है। इसके अनन्तर उनकी मनुष्याकृति स्पष्ट दिखायी देने लगी, यही परमात्माका स्वरूप है। अन्तमें अत्यन्त निकट पहुँचनेपर वे नारदरूपमें पहचाने गये, यही भगवान्‌का सर्वांगीण ज्ञान है। यहाँ यह बात अवश्य विचारणीय है कि उक्त तीनों रूपोंमें प्रतिभासित होनेवाली वस्तु एक ही है।

इसी बातको किञ्चित् भिन्न दृष्टिसे समझानेके लिये एक दूसरा दृष्टान्त दिया जा सकता है। एक मनुष्य अपने पिताका पुत्र है, अपने पुत्रका पिता है और अपनी पत्नीका पति है। इसप्रकार वह पुत्र, पिता और पति तीनों ही है। पुत्ररूपमें उसका भाव कुछ और ही है, पिताके रूपमें कुछ और ही और पतिके रूपमें उसका तीसरा ही भाव होता है, परन्तु इन तीनों भावोंका धारण करनेवाला मनुष्य तो एक ही है।

परमतत्त्वके तीन भावोंको हम गीताके द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं। ब्रह्मभावमें भगवान् श्रीकृष्ण यह फरमाते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

—अर्थात् जो लोग मेरा आश्रय लेकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होनेका यत्न करते हैं वे ही ब्रह्म एवं अध्यात्मतत्त्वको तथा कर्मके सम्पूर्ण रहस्यको जानते हैं।

परमात्माके भावसे श्रीभगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

—अर्थात् मैं समस्त भूतप्राणियोंमें समानरूपसे बर्तता हूँ, मेरी दृष्टिमें न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेषका पात्र है।

भगवान्‌के भावसे आप फरमाते हैं—

इष्टोऽसि मे (अर्थात् तुम मेरे प्रेमपात्र हो), प्रियोऽसि मे (तुम मेरे प्यारे हो)।

बहुत-से लोग इस बातको देखकर चक्करमें पड़ जाते हैं कि जो श्रीकृष्ण कुछ ही अध्याय पूर्व यह कह आये हैं कि *मेरे लिये कोई भी प्रिय नहीं है*, वही अर्जुनसे अब यह कहते हैं कि 'तुम मेरे प्यारे हो।' किन्तु ऊपरके विवेचनसे यह विरोधाभास मिट जाता है। वहाँ वे परमात्माके भावसे कहते हैं और यहाँ भगवान्‌के भावसे!

शास्त्रके वचनोंकी संगति लगाते समय यह समझ लेना आवश्यक है कि अमुक वचनके अन्दर उस परमतत्त्वके कौन-से स्वरूपका वर्णन है। यदि ऐसा न किया जायगा तो उनमें परस्पर विरोध एवं गड़बड़-सी दिखायी देने लगेगी। उदाहरणतः अग्नितत्त्वको समझनेके लिये हम केवल अग्निका विचार कर सकते हैं अथवा दाहिका-शक्ति,

प्रकाशिका-शक्ति अथवा पाचिका-शक्तिके सहित उसका विचार कर सकते हैं, क्योंकि इन सारी शक्तियोंका अग्निके स्वरूपमें समावेश हो जाता है। किन्तु अग्निकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका ज्ञान हुए बिना भी अग्निका ज्ञान हमें हो सकता है।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमतत्त्वके भी तीन स्वरूप माने जा सकते हैं—निर्विशेष सच्चिदानन्द अर्थात् परब्रह्म, अन्तर्यामी-शक्ति-सम्पन्न अर्थात् परमात्मा एवं अगणित अचिन्त्य दिव्य शक्तियोंसे युक्त सच्चिदानन्द अर्थात् भगवान्। प्रश्न केवल इतना ही है कि उस तत्त्वकी उपासना हम ज्ञानके द्वारा करते हैं अथवा योगके द्वारा अथवा भक्तिके द्वारा? शास्त्रके भिन्न-भिन्न काण्डोंकी रचना उक्त तीन मार्गोंको बतलानेके लिये ही की गयी है और इस बातको ध्यानमें रखनेपर फिर हमें परस्पर-विरोधी वचनोंको पढ़कर भ्रम नहीं होगा। उदाहरणतः योगशास्त्रमें जिस प्राणायामकी प्रशंसाके पुल बाँधे गये हैं उसीके सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्यने अपने 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थमें यह लिखा है कि ब्रह्माकारवृत्ति कर लेना ही असली प्राणायाम है–'ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः।' आगे चलकर उन्होंने यहाँतक कह दिया है कि अज्ञानी लोग ही प्राण-पीडन करते हैं (अज्ञानां प्राणपीडनम्)। श्रीमद्भागवतमें तो अन्य सभी साधनोंको हरिनाम-संकीर्तन-से नीचा बतलाया है।

इसप्रकार हमने समझ लिया कि जो लोग यह मानते हैं कि भगवान् केवल मायिक कल्पना हैं अथवा ध्यानमें सहायता देनेमात्रमें ही उनकी उपयोगिता है अथवा ब्रह्म-सायुज्यमुक्तिरूप अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिके पूर्व इस ईश्वर-रूप अन्तिम मायाका भी उच्छेद करना होगा, वे वास्तवमें भूलमें हैं। भगवान् स्वयं वह परमतत्त्व हैं और उनसे परे कोई वस्तु नहीं है। यद्यपि उनका प्रकाश सर्वव्यापक, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें विद्यमान है, किन्तु उनका निज विग्रह वास्तविक एवं नित्य है और उनकी दिव्य शक्तियाँ अनन्त हैं।

इन शक्तियोंमेंसे एक शक्ति एक साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी भी है। वृन्दावनकी प्रकट लीलामें आपने इस शक्तिको कई बार दिखलाया। उदाहरणतः रासलीला-के समय उन्होंने गोपियोंके साथ अगणित रूप धारणकर नृत्य किया और दूसरी बार ब्रह्माजीका दर्पचूर्ण करनेके लिये आपने सैकड़ों गोप-बालकों एवं बछड़ोंका रूप धारण किया।

इसी प्रकार अपनी अप्रकट लीलामें वे एक साथ अनेक रूपोंमें रहते हैं। इनमेंसे कुछ रूप विलास-मूर्तियाँ कहलाती हैं और उन रूपोंमें प्रायः उन्हीं शक्तियोंकी अभिव्यक्ति होती है जो आपने अपने असली स्वरूप अर्थात् श्रीकृष्ण-विग्रहमें प्रकट की थीं। वैकुण्ठाधि-पति चतुर्भुज श्रीनारायणदेव एवं शैवोंके उपास्यदेव श्रीसदाशिव इसी प्रकारकी विलास-मूर्तियाँ हैं।

इसी अप्रकट लीलाके दूसरे रूप अवतार हैं। वास्तवमें तो ये परमात्मा (पुरुष) के ही रूप हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—अर्थात् ये सारे अवतार (जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है) पुरुष (परमात्मा) के ही अंश हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।

परन्तु पूर्णावतार एवं अंशावतारके इस भेदको ठीक तरहसे समझ लेना चाहिये, ताकि इसमें कहीं भ्रमके लिये अवकाश न रह जाय। अवतारोंका भेद उनके अन्दर प्रकट होनेवाली शक्तिके भेदको लेकर ही माना गया है। सभी अवतारोंमें भगवान्‌की पूर्ण सत्ता रहती है, जहाँ कहीं वे रहते हैं, सर्वशक्तिमान् होकर ही रहते हैं। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि वे अपनी लीलाके निमित्त कहीं किसी शक्तिको अभिव्यक्त करते हैं, कहीं किसीको। शक्तिकी अभिव्यक्तिके भेदको लेकर ही अवतारोंके भेद माने गये हैं, वास्तवमें उनके अन्दर कोई तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि सारे ही अवतार श्रीभगवान्-के ही स्वरूप हैं। हाँ, एक प्रकारके अवतार जो आवेशावतार कहलाते हैं उनके अन्दर यह बात पूरी तौरसे लागू नहीं होती, क्योंकि आवेशावतारमें श्रीभगवान्‌की किसी विशेष शक्तिका किसी जीवके अन्दर आवेश होता है।

महाराज पृथु इसप्रकारके अवतार थे।

अन्तमें हम लीलावतार एवं गुणावतारके भेदको बतलायेंगे। मत्स्य, कूर्म, वामन इत्यादि लीलावतार श्रीभगवान्‌के नित्य स्वरूप हैं, वे समय-समयपर किसी लीला-विशेषको दिखलानेके लिये जगत्‌में प्रकट होते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु एव रुद्र ये तीन प्रसिद्ध देवता श्रीभगवान्के गुणावतार हैं। इस विषयको अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिये, क्योंकि कुछ लोग इन तीनों देवताओंको भिन्न मानते हैं। यही कारण है कि कुछ लोग केवल श्रीविष्णुकी उपासना करते हैं और कुछ श्रीरुद्रकी। वास्तवमें इनके अन्दर भेद-भावना करना बड़ी भारी भूल है और इस-प्रकारकी भेद-भावनाके कारण भिन्न भिन्न सम्प्रदायके लोगोंमें जो मनोमालिन्य एव द्वेष देखनेमें आता है वह किसी प्रकार भी शास्त्रानुमोदित नहीं है।

तीनों प्राकृतिक गुणोंसे अतीत होनेके कारण भगवान् स्वय निर्गुण हैं, किन्तु ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति एव सहारके लिये वे ब्रह्मा, विष्णु एव महेश्वरके रूपमें तीनों गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। रजोगुणके सम्पर्कसे वे ब्रह्माका रूप धारण कर सृष्टिको उत्पन्न करते हैं, सत्त्व-गुणके सयोगसे वे विष्णु बनकर विश्वका पालन करते हैं और तमोगुणसे युक्त होकर रुद्ररूप धारण करते हैं और प्रलयकालमें विश्वका सहार कर उसे अपने अन्दर लीन कर लेते हैं।

इसीलिये भगवान्के इन तीनों रूपोंको गुणावतार कहते हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु एव महेश पृथक्-पृथक् होते हैं। हमारे इस ब्रह्माण्डकी रचना करनेवाले ब्रह्माजीने वृन्दावन-में बछड़ों और गोप-बालकोंको जब कन्दरामें छिपा लिया और भगवान् श्रीकृष्णने उन सबका रूप धारण करके फिर ब्रह्माजीको अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका दर्शन कराया और जब ब्रह्माजीने देखा कि उन सारे ब्रह्माण्डोंकी रचने-वाले ब्रह्मा अलग-अलग भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम कर रहे हैं, तो उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा।

श्रीभगवान् एव उनके विभिन्न स्वरूपोंके पारस्परिक सम्बन्धके विषयमें शास्त्रोंने जो कुछ कहा है उसका हमने ऊपर दिग्दर्शनमात्र कराया है। भगवान्की स्वरूप-शक्तियोंके विषयमें अथवा जीवका भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है इस विषयमें हमने कुछ भी नहीं लिखा है। हाँ, ऊपरकी पक्तियोंमें हमने जो कुछ लिखा है उससे कम-से-कम यह बात समझमें आ सकती है कि भगवान्के स्वरूपके सम्बन्धमें जो भिन्न भिन्न बातें शास्त्रोंमें कही हैं, उनसे घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है और न उन लोगोंसे झगड़ा करनेकी आवश्यकता है जो उनके अन्यान्य स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। हम चाहे जिस रूपमें उनकी पूजा करें, वे हमें उसी रूपमें प्राप्त होंगे। गीतामें आप अपने श्रीमुखसे फरमाते हैं कि सभी देवताओंकी पूजा साक्षात् रूपसे अथवा अप्रकटरूपसे मेरी ही पूजा है—

> येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें श्रीकृष्णके ही किसी न किसी स्वरूपका प्रत्यक्षानुभवयुक्त वर्णन है। उनके गुण अनन्त हैं, अतएव उनका अनुभव भी अनन्त प्रकारसे एव भिन्न भिन्न भावोंके द्वारा हो सकता है। वास्तवमें जिन जिन भावोंके द्वारा उनका अनुभव हो सकता है, उन्हींको लेकर हिन्दू एव इतर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। यदि कहीं उनके अन्दर परस्पर विरोधी बातोंका भी उल्लेख पाया जाता है तो यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि श्रीकृष्णके अन्दर सारे विरोधोंका सामञ्जस्य हो जाता है।

कुछ लोग इन आपातत विरोधी वचनोंको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं और यह मान बैठते हैं कि शास्त्रोंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी बातें लिखी हुई हैं और उनमेंसे कौन-सी बात ठीक है यह निश्चयरूपसे नहीं कहा जा सकता। वे लोग भूलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उनमेंसे एक ही सिद्धान्तको मानते हैं और यह समझते हैं कि दूसरे सभी सिद्धान्त भ्रममूलक हैं और इसीलिये वे दूसरे सिद्धान्तोंको माननेवालोंके साथ लड़ाई-झगड़ा करने लगते हैं। वे भी भूल करते हैं। उक्त दोनों प्रकारके लोगोंसे विलक्षण एक तीसरा ही समुदाय है जो उन दोनोंकी भूलोंसे बचनेके लिये सारे सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंकी एक वाक्यता करनेकी चेष्टा करता है, जो एक असम्भव-सा कार्य है। ये लोग भी भूलमें हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्त इसप्रकारके नहीं हैं कि उनकी एक-वाक्यता हो सके और न उनके प्रवर्तकोंका यह अभिप्राय था कि उनकी इसप्रकार एकवाक्यता कर दी जाय। इस प्रकारके लोग बहुधा यह कहा करते हैं कि 'भाई! हमने तो सारे धर्मोंके सारको ले लिया है और अनावश्यक बातोंको छोड़ दिया है, परन्तु इसप्रकारके प्रयत्न अन्ततोगत्वा प्राय विफल ही होते हैं। यह बात ठीक है कि हमें

प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करना चाहिये और असार वस्तुका परित्याग करना चाहिये, किन्तु हमें यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जबतक दाना पक न जाय तबतक उसे सुरक्षित रखनेके लिये तुषोंकी आवश्यकता होती है और समयसे पूर्व ही तुषोंको निकाल देनेका परिणाम यह होता है कि उनके साथ दाना भी नष्ट हो जाता है—

स्मर्तव्यः सततं कृष्णो विस्मर्तव्यो न जातु चित्।

—अर्थात् श्रीकृष्णको सदा स्मरण रखना चाहिये, एक क्षण भी उनकी विस्मृति नहीं होनी चाहिये।

यह विधि-निषेधात्मक वचन अन्य सारे विधि-निषेधोंका राजा है। अन्य सारे विधि-निषेध इसके अनुचर हैं। किन्तु इसप्रकारके अविच्छिन्न स्मरणमें मनुष्यकी स्थिति जबतक दृढ़ न हो जाय, तबतक धर्मशास्त्रोक्त नियमोंके पालनमें अवहेलना करना मूर्खता है। जो लोग उन सम्प्रदायोंकी एकवाक्यता करनेकी चेष्टा करते हैं, जिनके प्रवर्तकोंका अभिप्राय इसप्रकारकी एकवाक्यता करनेका नहीं था, उनका एकमात्र आधार आगे चलकर कतिपय अस्पष्ट नैतिक सिद्धान्त ही रह जाते हैं। यही नहीं, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें उनकी धारणा और भी अनिश्चित हो जाती है क्योंकि उनके ईश्वरके अन्दर सामान्यतया सभी प्रकारके गुण रहते हैं, परन्तु विशेष गुण कोई भी नहीं होता।

सारे सम्प्रदायोंके मूलमें एकता अवश्य है और वह एकता भगवान्‌को लेकर है; किन्तु वह एकता उनकी प्राप्तिसे ही हो सकती है और किसी उपायसे नहीं। सारे मार्ग उसी लक्ष्यकी ओर जाते हैं परन्तु उसकी प्राप्ति भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तों तथा उनके अन्दर बताये हुए साधनोंकी खिचड़ी बना देनेसे नहीं होती, किन्तु ऐकान्तिक श्रद्धासे किसी एक ही मार्गका अवलम्बन करनेसे होती है।

मान लीजिये, कोई मनुष्य किसी व्याधि-विशेषसे पीड़ित है और किसी चिकित्सकके चिकित्सालयमें औषध लेने जाता है तो वह वहाँ जाकर क्या करता है? वह देखता है कि उसके सामने अनेक प्रकारकी दवाइयोंकी सैकड़ों बोतलें सजायी हुई रक्खी हैं। ऐसी दशामें क्या वह जितनी बोतलें उसके हाथ लग जायँ, उन सबकी दवाओंको मिलाकर अपने लिये नुस्खा तैयार कर लेगा? नहीं, पहले वह चिकित्सकको अपने रोगके लक्षण बतलावेगा और चिकित्सक उन लक्षणोंसे उसकी व्याधिका निदान करके तब उसे उसके अनुकूल दवा देगा, यद्यपि उसके रोगके लिये एक ही प्रकारकी औषध उपयोगी होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाकी सब बोतलें झूठी अथवा बनावटी हैं और फोड़ देने लायक हैं। वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि वे दूसरे प्रकारके रोगियोंके लिये हैं।

यही बात शास्त्रोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। हम लोग सभी रोगी हैं, श्रीकृष्ण-वैमुख्य-रोगसे पीड़ित हैं। हम लोगोंने श्रीकृष्णकी ओरसे मुँह फेर लिया है और इसीलिये हम आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधि-भौतिक इन तीन प्रकारके तापोंसे परितप्त हो रहे हैं। हम स्वयं इस बातका पता लगाने बैठ जाते हैं कि शास्त्रों-में इस रोगके निवारणके लिये कौन-कौनसे उपाय बताये गये हैं। किन्तु अपने बुद्धिजन्य ज्ञान एवं आधुनिक शिक्षाके गर्वमें आकर हम दिक्सूचक यन्त्र अथवा किसी सुयोग्य कर्णधारकी सहायता लिये बिना ही शास्त्ररूपी महोदधिको पार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। ऐसी दशामें हम यदि पथभ्रष्ट हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? शास्त्रोंकी रचना इसलिये नहीं हुई थी कि लोग उनका इसप्रकारसे उपयोग करें। प्रत्येक व्यक्तिके लिये शास्त्रके कुछ ही अंश उपयोगी होते हैं और अमुक व्यक्तिके लिये उसके कौन-से अंश उपयोगी हैं, इस बात-को उसे किसी गुरुके द्वारा ही जानना चाहिये।

अधिकारके बिना शास्त्रका अध्ययन करना वैसा ही है जैसा किसी रोगीका ऐसी दवा लेना है जो उसके लिये उपयुक्त न हो। हितकी अपेक्षा उससे हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है। शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें आजकल कितना मतभेद फैल रहा है और लोग डंकेकी चोट यह कहते हैं कि 'शास्त्र बिल्कुल निरर्थक एवं इस युगके लिये अनुपयुक्त हैं, वे हमारे लिये सहायक न होकर केवल बाधक हैं, इत्यादि।' इन सबका कारण यही है कि लोग आजकल बिना अधिकारके ही शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं।

यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि सारे मार्ग भगवान्‌के निकट पहुँचानेवाले हैं और सारे सिद्धान्त उसी-के किसी विशिष्ट स्वरूपका निरूपण करते हैं।

केवल इस बातको जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके अनन्तर हमें यह देखना चाहिये कि हमें कौन-सा भाव अधिक रुचिकर है और फिर किसी ऐसे गुरुकी खोज करनी चाहिये जो हमें उस भावके अनुसार मार्गपर चलानेकी योग्यता रखता हो। ऐसा कर लेनेपर हमें पूर्ण श्रद्धाके साथ अपने निश्चित मार्गपर अग्रसर हो जाना चाहिये, किसी दूसरे मार्गकी परवा नहीं करनी चाहिये। अन्य मार्गोंके सम्बन्धमें हम यही समझें कि वे दूसरोंके लिये अभिप्रेत हैं, हमारे लिये नहीं। ऐसा करनेसे हम झगड़ालू, स्वमताग्रही तथा सामञ्जस्यकी निरर्थक एवं विफल चेष्टा करनेवाले दोनोंकी भूलोंसे बच सकते हैं। वास्तवमें भगवत्-प्राप्तिके तीन ही मुख्य मार्ग हैं। ज्ञान, योग और भक्ति। यदि हम ब्रह्मरूपमें उनकी प्राप्ति करना चाहते हैं तो ज्ञानके द्वारा कर सकते हैं; परमात्मरूपमें उनकी प्राप्ति करनेके लिये हमें योग मार्गका अनुसरण करना होगा और भगवान्‌के रूपमें उन्हें प्राप्त करनेके लिये हमें भक्तिका आश्रय लेना पड़ेगा। श्रीभगवान्‌ने स्वयं उद्धवके प्रति कहा था—

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

—अर्थात् न तो योगसे और न ज्ञानसे, न धर्मानुष्ठानसे, न वेदोंके अध्ययनसे, न तपस्यासे और न त्यागसे ही कोई मुझे पा सकता है, मैं केवल भक्तिसे प्राप्त होता हूँ।

सर्वतोभावेन तथा एकान्ततः उनकी शरणमें जानेके सिवा और कोई उपाय नहीं है। हमारा समर्पण सर्वांगीण होना चाहिये, उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रहनी चाहिये और न हमें बदलेमें उनसे कोई याचना ही करनी चाहिये। यदि याचना करें भी तो केवल इस बातकी कि 'हे प्रभो! आप हमें वह शक्ति प्रदान कीजिये जिससे हम पूर्णतया आपके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकें।' श्रीकृष्णके साथ आदान प्रदान नहीं हो सकता और उनका बन जानेके बाद हमें न तो किसी और वस्तुकी इच्छा हो सकती है और न हमें परिणामका ही भय हो सकता है। उन्हें आत्मसमर्पण करते समय न तो हमें यह चिन्ता होनी चाहिये कि हमारी इस क्रियासे हमारे कुटुम्बियोंको क्लेश होगा, अथवा हमारे मित्र हमारा उपहास करेंगे और न हमें यही चिन्ता होनी चाहिये कि भविष्यमें इसका परिणाम क्या होगा? आत्मसमर्पणके बिना केवल शास्त्रीय सिद्धान्तोंका परिचय, जीव और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान, प्राक्तन सुकृतोंका सञ्चय तथा योग-सिद्धियोंके चमत्कार ये कुछ भी हमारे काम नहीं आ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छाका क्या अर्थ है? इस संसारके शोकसे पार होनेकी इच्छा, परमात्माकी महान् सत्तामें अपनी क्षुद्र सत्ताको विलीन कर देनेकी अभिलाषा अथवा योगशक्तिके चमत्कारोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, इन सब इच्छाओंको हम भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं कह सकते। श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी इच्छाका अर्थ है स्वामी, पुत्र, सखा, पति अथवा प्रेमीके रूपमें उनका वरण करना और इसके लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें *आत्मसमर्पण* कर दें। संसारमें भी यदि हम किसी व्यक्तिका प्रेम प्राप्त करना चाहें तो हमें बदलेमें उसे प्रेमदान करना होगा। हम किसी बहुमूल्य उपहारके द्वारा अथवा अपनी विद्वत्ता या सामर्थ्यके चमत्कारसे किसी सच्चे मित्रको नहीं रिझा सकते। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। विविध प्रकारकी पूजासे अथवा अधिक लागतके मन्दिर इत्यादि बनवानेसे हमें अनेक प्रकारके फलोंकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उनसे हम भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र हैं। संसारकी कोई भी शक्ति, यहाँतक कि मन्त्रशक्ति भी उन्हें वशीभूत नहीं कर सकती। अनन्य भक्ति और उससे भी ऊँचे दर्जेकी प्रेमा भक्तिके पाशमें वे बँध जाते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

> वशीकुर्वन्ति मां भक्ताः सत्पतिं सत्स्त्रियो यथा।

—अर्थात् जिसप्रकार एक सती स्त्री अपने सच्चरित्र पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार भक्त मुझे वशमें कर लेते हैं।

भगवान् भक्तोंके हैं और भक्त भगवान्‌के (हम भक्तनके भक्त हमारे)। श्रीकृष्ण ही सनातन सत्य हैं और सब मिथ्या है। भगवान् श्रीकृष्ण कोरी कविकी कल्पना नहीं हैं, वे प्राचीन भारतवर्षके एक वीर योद्धा ही नहीं थे जिनको अन्धश्रद्धालु आस्तिक लोग ईश्वर मानकर पूजने लगे हों, वे द्वापरयुगके अन्तमें इस संसारमें प्रकट होने-

वाले अवतार ही नहीं थे वे तो साक्षात् परमेश्वर हैं एवं नित्य किशोररूपसे अपने नित्यधाममें सखाओं तथा सखियोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं। उनकी मुरलीका निनाद ओङ्कार-ध्वनिसे भी महान् है और उनके कमनीय कलेवरकी नील कान्ति उस नील ज्योतिसे भी अधिक प्रकाशयुक्त है जिसका योगीजन समाधिमें अपने हृदय-मन्दिरमें दर्शन करते हैं।

यूरोपीय विद्वान् भले ही श्रीकृष्णको न मानें और रूसके साम्यवादी यह कहते रहें कि ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करना जनताकी उन्नतिमें रोड़े अटकाना है। उनके इस कथनका क्या मूल्य है? साँचको आँच क्या है? लोग परमाणुओं एवं नक्षत्रोंके बारेमें तथा पूँजीवाद एवं श्रमवादके सम्बन्धमें कितनी ही विद्वत्तापूर्ण बातें करें, उनसे सत्यमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं आ सकता। एक बार प्यारे श्रीकृष्णकी झाँकी मिल जानेपर ये सारे-के-सारे वाद धूलमें मिल जाते हैं। ये सिद्धान्त अपनी दृष्टिमें सत्य हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक सत्यका इनके अन्दर आभास भी नहीं है। इस स्वप्नमय जगत्‌में यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह एक श्रीकृष्ण ही हैं। जो लोग इतिहासकी सन्देहपूर्ण कथाओं अथवा निरे प्राकृतिक ज्ञान अथवा विज्ञानवादोंके पीछे उनसे मुँह मोड़ लेते हैं वे सोना बेचकर बदलेमें धूल लेते हैं।

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं उसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जिन लोगोंने श्रीकृष्णके चरणोंमें आत्म-समर्पण कर दिया है वे इस बातको भलीभाँति जानते हैं। किन्तु फिर भी यह संसार कितना ठोस, एवं सत्य प्रतीत होता है। स्त्री, पुत्र एवं धन सभी मिथ्या हैं परन्तु हमें ये वास्तविक दिखायी देते हैं। श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्य हैं, चाहे अधिकांश लोग उन्हें केवल कल्पना ही समझते हों। यही तो उनकी माया है। जिसे अघटन-घटनापटीयसी अर्थात् असम्भवको भी सम्भव बना देने-वाली कहा गया है। उनकी तथा उनके भक्तोंकी कृपासे ही हम उस मायाके पर्देको चीरकर वास्तविक सत्यको प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान्‌को प्राप्त करनेमें ही पूर्णता है। प्रेम ज्ञानसे ऊँचा है और वास्तवमें भगवान् ही प्रेमके स्थायी एवं योग्य पात्र हैं, क्योंकि भगवान्‌के अतिरिक्त जितने भी हमारे प्रेमास्पद हैं वे सभी एक-न-एक दिन हमें छोड़कर चले जायँगे या हमारा प्रेम उनके साथ अन्ततक नहीं निभ सकेगा। प्रेम प्रेमास्पदकी सेवा करना चाहता है, परन्तु वास्तवमें भगवान् ही हमारे सेव्य बननेके योग्य हैं।

ज्ञानियोंकी मुक्तिका गौरव उन्हींको मुबारक हो! इसप्रकारकी मुक्तिकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी दासता कहीं अधिक मधुर है। अपनी आत्माका प्रभु बननेकी, अपने भाग्यका विधाता बननेकी क्यों चिन्ता करते हो? क्या श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई प्रभु हमें मिलेगा? कैवल्यकी इच्छा क्यों करते हो? साधन करनेसे कैवल्यकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है किन्तु श्रीकृष्णके सङ्गको छोड़कर अकेला (केवल) रहना कौन पसन्द करेगा? श्रीकृष्णका प्रेम स्वर्ग और अपवर्गके सारे सुखोंसे बढ़कर है। यदि श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त हो गया तो फिर इस संसारमें बार-बार जन्म लेनेमें भी क्या आपत्ति है? उस प्रेमी प्रभुकी सेवाको छोड़कर अपनी मुक्ति चाहना अथवा एक क्षणके लिये भी उसकी विस्मृति होना, भक्तोंकी दृष्टिमें यही सबसे बड़ी विपत्ति है। भक्त इसी विपत्तिसे मोक्ष चाहते हैं।

श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे फरमाया है—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसी भी मुक्तिको ग्रहण नहीं करते, चाहे मैं स्वयं उन्हें उसका दान करूँ।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने निम्नलिखित श्लोकमें इसी भावको प्रदर्शित किया है—

> न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
> मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

—अर्थात् हे जगदीश्वर! मुझे न तो धनकी इच्छा है, न मित्रोंकी, न सुन्दरी स्त्रीकी चाह है और न विद्वत्ता-की। मेरी तो केवल यह अभिलाषा है कि जन्म-जन्मान्तर-में मेरी तुम्हारे अन्दर हेतुरहित भक्ति बनी रहे।

ईश्वर क्यों और कौन?

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी एम० ए०, डी० लिट्, काशी)

पुश्त-दर-पुश्त, हजारों वर्षसे मनुष्योंमें ईश्वरकी चर्चा होती आती है। पशुओंका हाल कहना कठिन है, पर मनुष्य तो स्यात् ही कोई ऐसा होगा, पढ़ा या अनपढ़, गँवार या नागरिक, जो ज़रा भी सोचने-विचारने योग्य सयानी अवस्थाको पहुँचकर, कभी-न कभी, कुछ-न-कुछ, ईश्वरकी चर्चामें न पड़ा हो और इस विषयमें कोई राय न रखता हो। किसी-किसीने निश्चय कर लिया है और वह बड़े ज़ोरसे कहता है कि ईश्वर-पदार्थ कोई नहीं है। अधिकांश मनुष्य मानते हैं कि ईश्वर-पदार्थ कुछ है। पर क्या है, इसमें, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।' निर्जीववत् अश्मा, पत्थर, मणि, धातुसे आरम्भ करके सजीव वृक्षादि, जन्तु, मत्स्य, कूर्म, विविध चतुष्पदादि, मानवावतारादि, सूर्यादिमें होती हुई, निराकार वस्तुपर्यन्त पदार्थोंको मनुष्यकी बुद्धिने ईश्वर मान रक्खा है।

इस सब वाग्जाल, तर्क-वितर्क-कुतर्क-जाल, महा झंझट, माथापच्ची, सरदर्दमें आदमी पड़ता ही क्यों है? ख्वाहमख्वाह बेसूदकी हुज्जत क्यों कोई समझदार आदमी मोल ले? ईश्वर हो या न हो, हमको क्या मतलब? सुनते हैं—सच या झूठ यह ठीक मालूम नहीं—रूस देशमें बोलशेविक शासनने इस व्यर्थ, अपि च दुरर्थ, अनर्थ चर्चाको बन्द ही कर देनेका हुक्म दे दिया। पर यह भी सुनते हैं कि चर्चा बन्द नहीं हुई, लोग मरने-मारनेको तैयार होते हैं, पर इस चर्चाको नहीं छोड़ते। तो अवश्य कुछ कारण होगा। अच्छा, रूसमें कारण हो या न हो, हमको इससे भी क्या काम? हमें यह देखना चाहिये कि हमारे हृदयमें भी कोई कारण है या नहीं, जो बलात् हमको विवश करता है कि इस प्रश्नपर विचार करें कि ईश्वर है या नहीं?

इस विषयपर पशु प्रायः नहीं विचार करते, ऐसा जान पड़ता है, निश्चयसे तो नहीं, पर सम्भवतः। मनुष्यके बच्चे भी नहीं विचार करते। यह अपनी ही स्मृतिसे सिद्ध होता है। जब हम बहुत छोटे थे, इस ओर ध्यान नहीं देते थे। न अपने सामने इस समय जो छोटे बच्चे देख पड़ते हैं वे अपने मनसे इसकी चर्चा आरम्भ करते हैं? बच्चोंकी क्या बात है? वे तो अपने माता-पिताको ही खेलमें मग्न होकर भूल जाते हैं!

> तयैव सुताः परिपालितास्तया
> तयैव हित्वा स्वसुखं विवर्धिता।
> क्रीडारता जननीं विस्मरन्ति
> क्षुधातृषार्तास्तु पुनः स्मरन्ति॥

'उसीने जन्म दिया, उसीने पाला, उसीने अपना सर्वस सुख त्यागकर पोसा, उसीने खेलकी सामग्री दी, उसीको खेलकी धुनमें बिल्कुल भूल जाते हैं, पर जब फिर भूख लगती है, प्यास लगती है, तब पुनर्वार उसीको याद करते हैं, उसीके पास दौड़े जाते हैं।' एक प्रकार और है। माँसे रूठकर भी बच्चे उससे हट जाते हैं और उसको बुरा-भला भी कहने लगते हैं। पर इसका अर्थ स्पष्ट ही यह है कि चाहे तत्काल दुःख और रोषसे ईश्वरको 'नास्त्येव' भी कहते हों, हृदयमें तो उनके वह बसा ही है और उससे वे बहुत आशा रखते हैं!

जिसका मन ईश्वरके विचारमें, ईश्वरकी ओर नहीं लगा है, उसको सिखाना-समझाना उचित है। यदि रुचि जाग जाय तो बहुत अच्छा है। जैसे बच्चोंको बतलाया जाता है कि यह पीने-खानेके पदार्थ हितकर हैं। पर यदि उसको भूख-प्यास नहीं है, भक्ष्य-पेयसे हटता है, तो ज़बरदस्तीसे खिलाना-पिलाना बड़ी भूल है। अधिक घृणा और रोग ही पैदा होंगे। बलात्कारेण ईश्वरमें विश्वास करानेका यत्न भी ऐसी ही भूल है।

> सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्।

—जब भूख-प्यास लगेगी तब आप ही माँ-बापके पास दौड़े आवेंगे, 'खाना दीजिये' 'पानी दीजिये'।

यदि संसारमें दुःख न हो, मृत्यु न हो और मनुष्यको दुःख और मृत्युका भय न हो, उनसे बचनेकी इच्छा न हो, अथवा बिना परलोक और ईश्वर माने यह भय दूर हो सके, यह इच्छा पूरी हो सके, तो ईश्वरका कोई

प्रयोजन मनुष्यके लिये न रह जाय, और कोई किसी ईश्वरको न माने। अभाग्यवश कहिये, प्रकृतिस्वभाववश कहिये, प्रत्येक मनुष्यको दुःख भी होता है, मरण भी होता है, दोनोंका भय भी होता है, उनसे बचनेकी इच्छा भी होती है और आत्यन्तिक बचावका कोई अलौकिक उपाय नहीं ही मिलता। इसलिये विवश होकर एक किसी ईश्वरको मानना और उसकी शरण लेना पड़ता है।

तर्कसे किसीको ईश्वरमें विश्वास करा देना यदि सम्भव है, तो भी वह तभी सम्भव है जब उस तर्कको सुननेके लिये कोई शुश्रूषु जिज्ञासु हो। जिसको 'श्रोतुं इच्छा' 'ज्ञातुं इच्छा' ही नहीं उसके समीप ईश्वरको कोई कैसे सिद्ध करेगा ?

नायमात्मा प्रवचनेन ग्राह्यः। नैषा तर्केण मतिरापनेया।

अपने आप जब—

कालचक्रे वहत्यस्मिन् घोरे सततयायिनि।

—उस जीवका समय आ जायगा और वह दुःख और शोकसे आक्रान्त पीड़ित होगा, तब स्वयं ईश्वरकी खोजमें व्यग्र और एकाग्र होगा और तब वह तर्क सुनेगा और करेगा और ईश्वरको अवश्य पावेगा।

आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी भजते लभते च तम्।

× × ×

आरत होइ खोइ सम्पद सब परम अर्थ अरथावै।
जिज्ञासा करि ज्ञान पाइ तब सब जगमें मोंहि मावै॥

किसप्रकारके ईश्वरको पावेगा ? यह उसके दुःख और भयके प्रकार तथा उसकी बुद्धिके विकासकी काष्ठापर आश्रित है।

अप्सु देवो मनुष्याणां दिवि देवो मनीषिणाम्।
बालानां काष्ठलोष्ठेषु बुधस्यात्मनि देवता॥

बालकोंको काठ और मिट्टी आदिके खिलौनोंमें देवता-बुद्धि होती है। उचित ही है, बच्चेसे यह आशा क्यों की जाय कि वह रेखागणित, बीजगणितके ग्रन्थ पढ़े ? पुण्य पवित्र जलवाली नदीमें, स्वच्छ सरोवरमें, साधारण मनुष्योंको देवता-बुद्धि होती है। अच्छा ही है, नहानेसे शरीर स्वच्छ और मन प्रसन्न होता है, यदि जल शुद्ध हो और शुद्ध रक्खा जाय तो शरीर और मन शुद्ध होनेसे क्रमशः बुद्धिका विकास अधिकाधिक होता है। इससे एक दर्जा ऊँचे जानेसे, मनीषी विद्वान् लोगोंके देव आकाशमें सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्रादि मिलते हैं। ठीक है, अनन्त आकाशमें भरे हुए अगणित 'ब्रह्मके अण्डों' गोलोंका ध्यान-ज्ञान करनेसे बुद्धिका भारी विकास होता है। अन्तमें और भी विकास होनेसे उस काष्ठापर जीव पहुँचता है, जब उसको यह ज्ञान उदय होता है कि यह अनन्त ब्रह्माण्ड और काल और आकाश सब चेतनाके, मेरे, 'मैं' के, आत्माके भीतर हैं और आत्मा ही सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वज्ञ 'सर्वेश्वराणां परमो महेश्वरः' है। सब जीव साक्षात् नहीं तो परम्परया इसी आत्मबोधकी ओर चले जा रहे हैं।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः॥
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥
केचित् कर्म वदन्त्येनं, स्वभावमितरे जनाः।
एके कालं, परे दैवं, पुंसः काममुतापरे॥
एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये, प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके, परे प्राणं, अपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

ब्रह्मैव, आत्मैव, अहमेव, सर्वाणि नामानि, सर्वाणि रूपाणि, सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति।

चाहे किसी नामपर अन्तमें बुद्धि जाकर अटक जाय, वही नाम इस अन्तिम मूल पदार्थका है। पच्छिममें 'ला आफ् ईवोल्यूशन' 'चांस', 'फोर्स' ऐसे शब्दोंपर कुछ लोग सन्तोष कर लेते हैं। बहुत अच्छा। जिस नामसे सन्तोष हो जाय वही तुमको मुबारक हो, वही 'गाड' है, अल्ला है, ब्रह्म है, परमात्मा है।

पर थोड़ा गहिरा सोचनेसे जान पड़ता है कि इन सब नामोंको पहिरने-ओढ़नेवाला एक अकेला 'मैं' ही—आत्मा ही है। यह व्यक्ति गुरु मानने योग्य है या नहीं, यह वाक्य ब्रह्मवाक्य है या नहीं, वेदको मानना या बैबिलको मानना या कुरानको मानना या सबको मानना, यह सत्य है या असत्य है, अन्ततः ईश्वर है या नहीं है या है तो क्या है—इसका निर्णेता जो हो, वही न सर्वोत्कृष्ट ईश्वर होगा ? तो वह कौन है ?

गुरोर्योग्यत्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि गुरोर्गुरुः।
सत्यासत्यविनिर्णेता त्वं, ततोऽसि तु सत्तमः।
ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं, ततोऽसि परेश्वरः॥

अहं ब्रह्मासि, तत् त्वं चासीत्येव श्रुतिशासनम् ।
तच्च साक्षाद्विचारेण सुसूक्ष्मेणानुभूयताम् ॥

इसके निर्णेता तो तुम ही हो, मैं ही हूँ । 'मैं' अहम्, 'तुम' त्वम्, ही है । सब 'मैं' यों में, सब 'तुमों' में, जो पदार्थ अनुस्यूत है, जिसके बलसे ही, जिसके हेतुसे ही, सब अपनेको 'मैं' और दूसरेको 'तुम' कहते हैं, जिसके ही बलसे अनपढ़ आदमी भी जब चाहता है तै कर लेता है कि यह मजहब सही है और यह गलत, मनमाने कभी हिन्दूसे मुसल्मान या ईसाई, या ईसाई मुसल्मानसे फिर आर्यसमाजी हिन्दू बन जाता है, अपने आप निर्णय कर लेता है, कि वेद और पण्डित मानने योग्य हैं, या कुरान और मुल्ला, या बैबिल और पादरी—वही पदार्थ, सबके भीतर भी बैठा, सबके बाहर भी भरा, अन्तिम निर्णेता परमेश्वर है । वही पापकर्मके बदले दुःख और पुण्यकर्मके बदले सुख देता है ।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते
शरीर हे ! निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥
परस्परभयात्केचित् पापाः पापं न कुर्वते ।
राजदण्डभयात्केचित् यमदण्डभयात्परे ॥
न यमं यम इत्याहुरात्मा वै यम उच्यते ।
सर्वेषामेव दण्डानामात्मदण्डः परः स्मृतः ।
यतस्तु सर्वदण्डानामात्मा मूलप्रयोजकः ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

ईश्वराराधनं धर्मं ईश्वराराधनं धनम् । ईश्वराराधनं ज्ञानं ईश्वराराधनं परम् ॥
यस्मिन्नित्ये स्थितं विश्वं य एको विश्वकारणम् । यस्मिन्प्रलीयते विश्वं तमीश्वरं भजाम्यहम् ॥

यद्यपि ईश्वर सर्वत्र, सर्वदा, सर्वमें सर्वथा विराजमान है अथवा यों कहना चाहिये कि सर्व ईश्वर ही है, ईश्वरके सिवा अन्य कुछ नहीं है । श्रुति कहती है कि निश्चय यह सब ब्रह्म ही है । भगवान्‌का गीतामें वचन है कि यह सब वासुदेव ही है । युक्ति भी है कि कारण बिना कोई कार्य नहीं होता, तब इतने बड़े नियमित जगत्‌का कारण ईश्वर अवश्य है । इसप्रकार श्रुति, स्मृति और युक्तिसे ईश्वर सिद्ध है, फिर भी सब मनुष्य ईश्वरको नहीं जानते, कोई विरला ही ईश्वरकी कृपासे और गुरु-शास्त्रकी सहायतासे ईश्वरको जाननेमें समर्थ होता है । ईश्वरका न जानना सर्व अनर्थोंका कारण है और ईश्वरका जानना सब अनर्थोंका विध्वंस करके परम शान्ति प्राप्त करानेवाला है । जो भाग्यशाली ईश्वरको जान जाता है, उसके लिये समस्त विश्व शान्तिमय हो जाता है, न उसका कोई शत्रु होता है न कोई मित्र ! उसके लिये सभी समान होते हैं । न वह किसीसे राग करता है और न किसीसे द्वेष । वह सबको समान ही प्यार करता है । सब मजहब उसके लिये एक हो जाते हैं, वह जानता है कि सभी ईश्वरकी ओर ले जानेके मार्ग हैं, इसलिये छोटा-बड़ा कोई नहीं है, सब समान ही ईश्वरकी आज्ञा हैं । शास्त्रोंमें भी उसे भेद प्रतीत नहीं होता, वह समझता है कि सब शास्त्र भिन्न-भिन्न युक्तियोंसे उसी एक जगदीश्वरके प्रतिपादक हैं । ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें भी उसकी दृष्टि समान ही होती है, उसका निश्चय होता है कि वर्णाश्रम-व्यवहारमें भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी सबका पर्यवसान एक ईश्वरके जाननेमें है, इसलिये अपनी-अपनी योग्यता और अपने-अपने अधिकारके अनुसार सभी अच्छे हैं । जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्रमसे रजोगुणी, सतोगुणी और तमोगुणी होते हुए भी और अपना-अपना कार्य उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हुए भी स्वरूपसे एक ही हैं, इसी प्रकार चारों वर्ण और चारों आश्रम एक ही हैं । ईश्वरको जाननेवालेके लिये सब देश भी अपने ही देश हो जाते हैं, क्योंकि वह सब देशोंमें अपने आत्मा एक ईश्वरको ही देखता है, इसलिये परम

शान्तिका अनुभव करता है। ईश्वरको न जाननेवालेका निश्चय इससे विपरीत होता है; वह मज़हबों, शास्त्रों, वर्णाश्रमादिमें भिन्नता देखता है और भेद देखनेके कारण किसीसे राग करता है, किसीसे द्वेष करता है, किसीको शत्रु समझता है और किसीको मित्र मानता है; इसलिये वह सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अशान्त ही रहता है। अपने मज़हबकी प्रशंसा करता है, दूसरोंके मज़हबोंकी निन्दा करता है; अपने शास्त्रोंको प्रमाण जानता है, दूसरोंके शास्त्रोंको अप्रमाण मानता है; अपने वर्णाश्रमको उत्तम मानता है, दूसरोंके नीच मानता है अथवा वर्णाश्रमोंको मानता ही नहीं, स्वच्छन्द होना श्रेष्ठ समझता है। अपने देशको देश और वहाँके रहनेवालोंको देशी समझता है। दूसरोंके देशको विदेश और वहाँके रहनेवालोंको विदेशी समझता है। इसप्रकार ईश्वरको न जाननेवाला भेददर्शी सर्वदा दुखी रहता है और ईश्वरको जाननेवाला अभेददर्शी सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वराराधनासे ईश्वर जाना जाता है, इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है। इसीमें पुरुषका अर्थ है।

ईश्वराराधना पुरुषार्थ है परन्तु ईश्वरको जाने विना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वरका जानना ईश्वरको माने विना नहीं हो सकता। बहुत-से भाई ईश्वरको मानते ही नहीं, तब ईश्वरका ज्ञान होना तो उनके लिये असम्भव-सा ही है, ईश्वरका सामान्य ज्ञान हुए विना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वराराधना विना पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, पुरुषार्थ सिद्ध हुए विना दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे ईश्वरको न माननेवालोंको दुःख-सागरमें डूबते हुए देखकर वेदवेत्ता उनपर करुणा करते हैं और उनको शोक-सागरसे पार करनेके लिये अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे ईश्वरका स्वरूप, ईश्वराराधनकी रीति और उसका फल समझाते हैं। जो श्रद्धालु भाग्यशाली उनके उपदेशको सुनकर उसका अनुकरण करते हैं, वे देर-सवेर अवश्य संसार-सागरसे तर जाते हैं और जो अश्रद्धालु, दुर्भाग्य उनके कथनपर ध्यान नहीं देते, वे अनेकों जन्मतक अपनी कृतघ्नताका दुःसह दुःख भोगते रहते हैं।

हम वेदवेत्ताओंके आदेशका सार नीचेकी आख्यायिका-द्वारा जिज्ञासुओंके हितार्थ दिखलाते हैं और सब भाई-बहिनोंको सुबुद्धि देनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं, क्योंकि ईश्वर-कृपा बिना सुबुद्धि प्राप्त नहीं होती और सुबुद्धि प्राप्त हुए विना कोई अपना हित-सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता, ऐसा वृद्ध और विद्वान् पुरुषोंका निश्चित मत है।

पाँच पञ्च-संवाद

ईश्वरशरण—मित्रो! काली घटा आकाशमें छायी है, मानो देवराज इन्द्रने दैत्योंपर करी चढ़ाई है। श्रावणका सुन्दर है महीना, मेंह पड़ रहा है झीना-झीना। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन चल रहा है, चञ्चल मनको कर अचल रहा है। विद्वानोंका मत है कि जहाँ पञ्च वहाँ परमेश्वर। यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है परन्तु जहाँ पाँच पञ्च होते हैं, वहाँ ईश्वर प्रकट हो आता है। हम सब मिलकर पाँच मित्र हैं, आओ, एकान्तमें बैठकर ईश्वरकी चर्चा करें। ईश्वर-चर्चा करना ही मनुष्य-जन्मको सार्थक करना है, भोग भोगनेके लिये तो एक कम चौरासी लाख योनियाँ हैं ही, भगवच्चर्चा तो केवल मनुष्य-योनिमें ही हो सकती है। इसीलिये मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस मनुष्य-शरीरकी स्वर्गके देवता भी वाञ्छा करते हैं कि हमको मनुष्य-शरीर मिले, तो हम सर्वदाके लिये अमर करनेवाले भगवच्चर्चारूप अमृतका पान करें। जिन भाग्यवान् अधिकारियोंको ईश्वरके चरणकमलके रजका स्पर्श हो जाता है, वे न स्वर्गकी इच्छा करते हैं, न चक्रवर्ती राज्य चाहते हैं, न अणिमादि ऐश्वर्यकी वाञ्छा करते हैं और न रसातलके दिव्य भोग उनको रुचते हैं। ब्रह्माके पदतककी उन्हें चाह नहीं होती, तब अन्य पदार्थकी तो बात ही क्या है? भगवच्चरणप्रेमी मोक्षकी भी भूलकर चाहना नहीं करते, ऐसा विद्वानोंका निश्चय है। जहाँ भगवच्चर्चा हो, वह देश धन्य है, जिस कालमें भगवत्-कथा कहने या सुननेमें आवे, वह काल पावन काल है। भगवत्-कथाके श्रोता और वक्ताओंको इच्छा विना ही सर्व वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। जितना समय भगवान्‌के गुणानुवाद करनेमें व्यतीत हो, वही समय जीवनरूप है, नहीं तो मरणरूप ही है। इसलिये आप सबने जो कुछ ईश्वरके विषयमें निर्णय किया हो, क्रम-क्रमसे कहिये।

नयनसुख—भाई! मेरी समझमें तो ईश्वरका नाम-ही-नाम है, असलमें ईश्वर-वीश्वर कुछ है नहीं। जैसे कोई कहे कि मृगतृष्णा-नदीमें स्नान करके, गन्धर्व-नगरके चन्दनका तिलक लगाकर, आकाशके पुष्पोंकी माला पहिनकर, शशशृंगका धनुष लेकर, गधेके सींगोंका

धनुषपर बाण चढ़ाये हुए यह वन्ध्याका पुत्र आता है। यह वचन कहनेमात्र ही है, इसका अर्थ कुछ नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर वाणीसे कहनेमात्रका है, वस्तुतः कुछ नहीं है। भीरु पुरुषोंने उसका नाम ले-लेकर बातका बतंगड़ या राईका पहाड़ बना दिया है अथवा झूठ-मूठका बालकका हौआ न होता हुआ भी होता-सा कर दिया है। ईश्वर होता तो दिखायी न देता ? सबको नहीं, तो किसीको तो दिखायी देता ? आजतक किसीने ईश्वरको नहीं देखा, इसलिये ईश्वर है ही नहीं। ईश्वरको बतानेवाले वेद स्वार्थी ब्राह्मणोंके गपोड़े हैं, पुराण भंग पी-पीकर ऋषि-मुनि कहानेवाले, दुनियाँको बहकानेवाले धूर्तोंके लिखे हुए हैं। मेरी समझमें तो उनमें कुछ भी सार नहीं है। ईश्वरका तो मुझे नामतक नहीं सुहाता, ईश्वरका मानना ही सारी अवनतिकी जड़ है और यही हमारी उन्नतिमें आड़ है। मैं तो ऐसा समझता हूँ, फिर भी आप सब अपनी-अपनी दन्तकथा कहिये, मैं भी सुनता हूँ। चतुरोंने जो कुछ सीखा है, मूढ़ पुरुषोंसे ही सीखा है, आपकी बातोंमेंसे भी कुछ-न-कुछ सार तो मैं निकाल ही लूँगा। आप लोग कहिये, प्रेमसे कहिये, मैं ध्यान लगाकर सुनता हूँ और आपकी युक्तियुक्त बात माननेको भी तैयार हूँ। अच्छा, आरम्भ कीजिये, श्रुतिप्रकाशजी ! पहले आप ही अपनी बाँसुरी बजाइये।

श्रुतिप्रकाश—आइये ! श्रुति भगवतीपर मुझे पूर्ण विश्वास है, श्रुति भगवतीसे ईश्वरके विषयमें मुझे जो शिक्षा मिली है, उसमेंसे जो कुछ स्मरण है, मैं आपके सामने वर्णन करता हूँ, सुनिये—'ईशा वास्य' श्रुति भगवती कहती है—यह स्थावर-जंगमरूप सर्व जगत् अभिन्न-निमित्त-उपादान कारणरूप ईश्वरसे व्याप्त है अर्थात् ईश्वरमेंसे यह जगत् बना है और ईश्वरने ही जगत्को बनाया है, उस ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त यानी पूर्ण कर रक्खा है। जैसे कि उपादान-कारणरूप मृत्तिकाने घटशरावादि कार्यको व्याप्त कर रक्खा है, वैसे ही ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। अथवा जैसे राजाकी दृष्टिद्वारा नगरादि व्याप्त हुए होते हैं, वैसे ईश्वरसे जगत् व्याप्त किया हुआ है। अथवा जैसे मनुष्योंके शरीर वस्त्रादिसे व्याप्त होते हैं, वैसे ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। अथवा जैसे सुवासित पुष्प अपनी सुगन्धसे जलको रमणीय बनाता है, वैसे ईश्वरने अपनी स्फूर्तिसे इस जगत्को व्याप्त करके रमणीय बना दिया है। अथवा जैसे प्रवृत्तिकी कारणरूप वासनाएँ जीवोंके मनको व्याप्त किये हुए हैं, वैसे अन्तर्यामी ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। यह ईश्वर वायु आदि रूपसे चलता है, स्वरूपसे नहीं चलता, क्योंकि अक्रिय है। यह ईश्वर अविद्वानोंको दूरसे भी दूर है, करोड़ों वर्षोंमें भी वे उसे पा नहीं सकते और विद्वानोंके लिये पाससे भी पास है, क्योंकि यह सबका प्रत्यगात्मा है। यह ईश्वर इस चराचर दृश्यके भीतर है और बाहर भी है। जो इस ईश्वरको सब भूतोंमें और सब भूतोंको ईश्वरमें देखता है, वह अभेददर्शी पुरुष किसीकी निन्दा अथवा स्तुति नहीं करता। उस अभेददर्शीको न शोक होता है, न मोह होता है। जो इस ईश्वरको नहीं जानते, वे मरनेके पश्चात् अन्धकाररूप तमसे घिरे हुए लोकोंको प्राप्त होते हैं।

सामवेदकी 'केन' श्रुति कहती है—यह ईश्वर श्रोत्रका भी श्रोत्र है अर्थात् ईश्वरके सामर्थ्यसे श्रोत्र-इन्द्रिय अपना शब्द ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। यह ईश्वर मनका भी मन है अर्थात् मन जो सर्व विषयोंको उपलब्ध करनेका साधारण कारण है, वह मन ईश्वरकी शक्तिसे अपने विषयोंको उपलब्ध करनेमें शक्तिमान् होता है। यह ईश्वर वाणीकी वाणी है अर्थात् वागिन्द्रिय ईश्वरके अनुग्रहसे शब्द उच्चारण करनेका व्यापार करती है। यह ईश्वर चक्षुका चक्षु है अर्थात् नेत्र-इन्द्रिय ईश्वरकी सहायतासे अपने विषय रूपको ग्रहण करती है। भाव यह कि, श्रोत्रादिकी प्रवृत्ति जो अपने-अपने विषयोंमें होती है, उस प्रवृत्तिका कारणभूत ईश्वर उनसे विलक्षण चेतन-स्वरूप है, जैसे कि मकान आदिका बनानेवाला राज मकान आदिसे भिन्न होता है। धीर पुरुष देह और श्रोत्रादि इन्द्रियोंमेंसे आत्मबुद्धि त्यागकर इस ईश्वरका आत्मरूपसे साक्षात् करके अमृत अर्थात् मरणरहित—अमर हो जाते हैं, इन्द्र, वायु और अग्नि आदि समर्थ देवता भी इस समर्थ देव ईश्वरके अधीन हैं, उसकी सहायता बिना कोई किञ्चित् भी करनेमें समर्थ नहीं हैं।

'कठ' श्रुति कहती है—ॐ यह ईश्वरका नाम श्रेष्ठ आलम्बन है, परम आलम्बन है, इस आलम्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें महानताको प्राप्त होता है। यह नित्य चैतन्यरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, शरीरके मरनेसे यह नहीं मरता। जो इसको हन्ता यानी

हनन-क्रियाका कर्ता मानता है और जो इसको हत यानी हनन-क्रियाका कर्म मानता है, वे दोनों इसको नहीं जानते; न यह मारता है, न मारा जाता है, यह आत्मा—ईश्वर परमाणु आदि सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म है, और आकाशादि महान्‌से भी अत्यन्त महान् है, समस्त जन्तुओंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है अर्थात् बुद्धिसे जाननेमें आता है। इस आत्माकी महिमाको निष्काम पुरुष निर्मल अन्तःकरणके प्रसादसे देखता है और देखकर वीतशोक हो जाता है यानी शोकसे लक्षित जन्म-मरणादिसे रहित हो जाता है। यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंमें बैठा हुआ ही दूर चला जाता है यानी साक्षीरूपसे स्थित रहता है और सुषुप्ति-अवस्थामें सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है यानी विशेष ज्ञानके अभावसे सामान्य ज्ञानरूपसे सर्वत्र जाता हुआ-सा कहलाता है। यह अनित्य शरीरोंमें अशरीररूपसे स्थित है, इस महान् विभु, आत्मा, ईश्वरको जानकर धीर पुरुष कर्तृत्वादिरूप बन्धसे रहित हो जाता है, इसलिये शोकके कारण अज्ञानके निवृत्त हो जानेसे शोकरहित हो जाता है।

'प्रश्न' श्रुति कहती है—जैसे पक्षी वृक्षके घोंसलेमें संप्रतिष्ठित होते हैं—भली प्रकारसे रहते हैं, इसी प्रकार इस स्वयंप्रकाश ईश्वरमें स्थूल, सूक्ष्म, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश संप्रतिष्ठित हैं। चक्षु द्रष्टव्य, श्रोत्र श्रोतव्य, घ्राण घ्रातव्य, रस रसयितव्य, त्वक् स्पर्शयितव्य, वाक् वक्तव्य, हस्त आदातव्य, उपस्थ आनन्दयितव्य, पायु विसर्जयितव्य, पाद गन्तव्य, मन मन्तव्य, बुद्धि बोद्धव्य, अहंकार अहंकर्तव्य, चित्त चेतयितव्य, तेज विद्योतयितव्य और प्राण विधारयितव्य ये सब इस स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप ईश्वरमें संप्रतिष्ठित हैं। पृथिवी आदि जड प्रपञ्च ही नहीं, किन्तु द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष, ये सभी इसी परमात्मामें संप्रतिष्ठित हैं। जो इस छाया-रहित, शरीररहित, वर्णरहित, शुभ्र—शुद्ध अक्षरको जानता है, वह परम अक्षरको ही प्राप्त होता है और सर्व एवं सर्वज्ञ हो जाता है।

'मुण्डक' श्रुति कहती है—यह ईश्वर दिव्य है, अमूर्त्त है, पुरुष है, बाहर है, भीतर है, अज है, अप्राण है, अमन है, शुभ्र है और अपने कार्यसे पर जो अक्षर—अव्याकृत है, उससे भी पर है। इसमेंसे प्राण, मन, सर्व इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है। यह सब भूतोंका अन्तरात्मा है, अग्नि इसका सिर है, चन्द्र-सूर्य इसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र हैं, वेद इसकी वाणी हैं, वायु इसका प्राण है, विश्व हृदय है और पृथिवी इसके पैर हैं। इससे द्युलोकरूप अग्नि उत्पन्न होता है, जिस अग्निका समिध सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य, ओषधि और पृथिवी हैं। स्वर्गलोकको गया हुआ जीव सोमसे पर्जन्यमें आता है, पर्जन्यसे वृष्टिद्वारा पृथिवीपर आता है, पृथिवीसे ओषधिरूप अन्नमें आता है, अन्नको पुरुष भक्षण करता है, अन्नसे बने हुए वीर्यको योषितमें सींचता है, उससे बहुत-सी प्रजा उत्पन्न होती है। ऋगादि चारों वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और लोक जिनमें चन्द्र पवित्र करता है और सूर्य तपता है, वे सब अक्षर ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं। देवता, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि समुद्र, पर्वत और नदियाँ सब ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं।

'माण्डूक्य' श्रुति कहती है—यह आत्मा ब्रह्म है, यही सर्व है, यह आत्मा चार पादवाला है। प्रथम पाद जाग्रत्-स्थान है, यहाँ यह बहिःप्रज्ञ यानी बाहरका जाननेवाला होता है। इसके सात अङ्ग और उन्नीस मुख हैं, स्थूल इसका भोग है और इसका नाम वैश्वानर है। (द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी और आहवनीय अग्नि ये सात अङ्ग हैं। सिर, चक्षु, प्राण, पेट, वस्ति, पाद और मुख ये सात स्थान सात अङ्गोंके रहनेके हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण ये उन्नीस मुख हैं।) दूसरा पाद स्वप्न-स्थान है। यहाँ यह अन्तःप्रज्ञ होता है यानी हृदयमें देखनेवाला होता है। जाग्रत्‌के समान यहाँ भी इसके सात अङ्ग और उन्नीस मुख हैं। यहाँ यह वासनामय भोग भोगता है, तैजस इसका नाम है। तीसरा पाद सुषुप्त-स्थान है, जहाँ यह सोता हुआ न कुछ कामना करता है, न स्वप्न देखता है। सुषुप्त-स्थानमें एकीभूत, प्रज्ञानघन आनन्दमय होता है, आनन्दको ही भोगता है, यहाँ यह चेतोमुख होता है, प्राज्ञ इसका नाम है। यह सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, कारण है, सर्व भूतोंकी उत्पत्ति और नाश इससे होते हैं। चौथा पाद न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतः-

प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्यपदेश्य है—शब्दशक्तिका अविषय है, एक आत्मा, इस आकारका प्रत्यय यानी अव्यभिचारी ज्ञान ही इसमें सार—प्रमाण है अथवा एक आत्म-प्रत्यय ही इसके जाननेमें प्रमाण है, यह प्रपञ्चसे रहित है, शान्त है, अद्वैत है, यह चौथा पाद माना जाता है, वह आत्मा है, वह विज्ञेय—जानने योग्य है, जो इसको जानता है, वह आत्माद्वारा आत्माको ही प्राप्त होता है।

'तैत्तिरीय' श्रुति कहती है—आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्दसे ही निश्चय ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही उत्पन्न हुए जीते हैं, आनन्दमें ही अन्तमें लय हो जाते हैं, यह वरुणकी भृगुसे कही हुई विद्या है, यह विद्या हृदयाकाशरूप गुहामें परमानन्द अद्वैत-स्वरूप ब्रह्ममें समाप्त होती है। जो विद्वान् इसको जानता है, ब्रह्ममें स्थित होता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

'ऐतरेय' श्रुति कहती है—यह ब्रह्म ही इन्द्र है, यह प्रजापति है। ये सब देवता, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योति, ये पञ्चमहाभूत, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, ये चार प्रकारके स्थावर-जङ्गम प्राणी सब प्रज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञान ब्रह्म है, जो इस प्रज्ञान ब्रह्मको जानता है, वह इस लोकसे उत्क्रमण करके स्वर्ग-लोकमें—स्वप्रकाशात्मक ब्रह्ममें सर्व कामनाओंको प्राप्त होकर अमृत हो जाता है।

'छान्दोग्य' श्रुति कहती है—यह सत् ही सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय था। सब जगत् इसीका स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है। इस एकके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है। जैसे मृत्तिका सत्य है, मृत्तिकाके कार्य घट-शरावादि वाणीमात्र होनेसे मिथ्या हैं, जैसे लोहा सत्य है, तलवार, चाकू आदि लोहेके कार्य कथनमात्र होनेसे मिथ्या हैं और जैसे सुवर्ण सत्य है, सुवर्णके कटक, कुण्डलादि कहनेमात्र होनेसे मिथ्या हैं, इसी प्रकार यह सत्रूप आत्मा सत्य है और इसका कार्य नामरूप जगत् कथनमात्र होनेसे मिथ्या है।

सब सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, विद्वान् सुखके लिये इन्द्रिय-संयमादि करते हैं। सुखको जानना चाहिये। सुख क्या है? जो भूमा यानी महान् है, वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुख है, भूमाको जानना चाहिये। भूमा क्या है? जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है; जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य यानी मृत्युग्रस्त है, जो इस भूमाको जानता है, वह स्वराट् होता है और सब लोकोंमें उसका कामचार होता है।

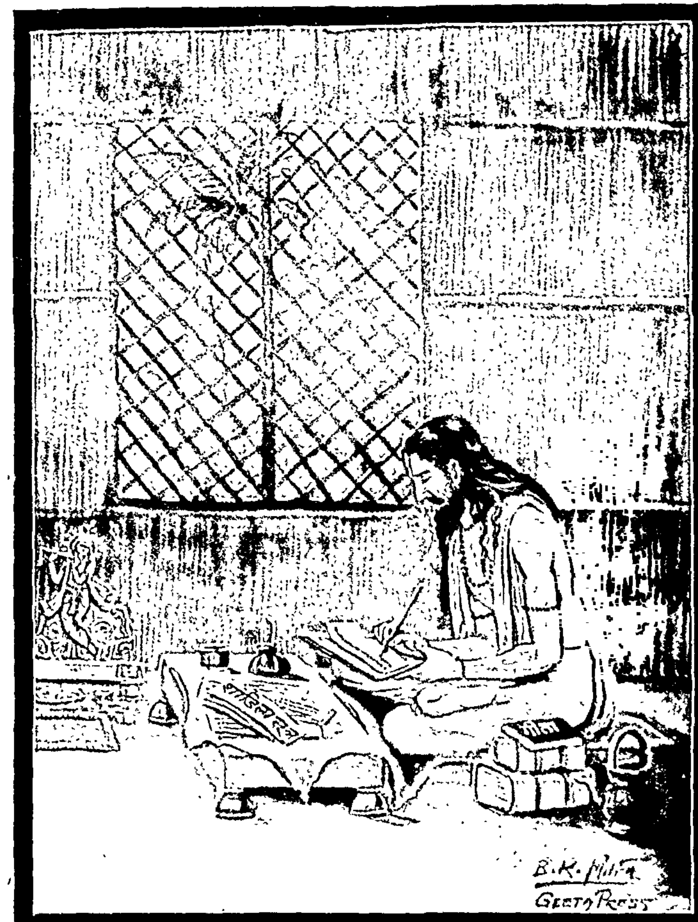
'बृहदारण्यक' श्रुति कहती है—इस अक्षर परमेश्वरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा वर्तते हैं। इस अक्षरकी आज्ञामें स्वर्ग और पृथिवी ठहरे हुए हैं। इसकी आज्ञामें निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर हैं। इस अक्षरकी आज्ञासे गङ्गा-यमुनादि नदियाँ हिमाचल-पर्वतसे निकलकर पूर्व दिशाको बहती हैं, इसीकी आज्ञासे सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम दिशाको बहती हैं। इस अक्षरकी आज्ञासे दानीकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं। देवता अन्य प्रकारसे जीनेमें समर्थ हैं तो भी यजमानके दिये हुए पुरोडाशादिको प्रसन्नतासे ग्रहण करते हैं और अर्यमादि पितर श्राद्धमें दिये हुए पदार्थोंको लेते हैं। जो इस अक्षरको जानकर हवन करता है, यजन करता है और तप तपता है, वह अनन्त फल पाता है। जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण है और जो इसको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। यह अक्षर अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है, अश्रुत होकर भी श्रोता है, अमत होकर भी मन्ता है, अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है, इसके सिवा अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है, इसमें समस्त ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है—रज्जुमें भुजङ्गादिके समान आरोपित है।

हे मित्रो! यह सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर ही जानने और देखने योग्य है। श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप आराधनासे ईश्वर जानने और देखनेमें आता है, ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है—परम पुरुषार्थ है।

नयनसुख—वाह भाई श्रुतिप्रकाश! वाह! आपके कथनने तो मेरे अँधेरे हृदयमें प्रकाश कर दिया, मेरे कानोंका मैल निकल गया और मेरी आँखें खुल गयीं! आप-सरीखे विद्वानोंका जन्म ही सफल है, मैंने तो वृथा ही जन्म लिया! अच्छा भाई! स्मृतिवल्लभ! आप अपने चाँवलोंकी बानगी दिखलाइये।



देवर्षि नारद



महर्षि शांडिल्य

स्मृतिवल्लभ—मित्रो ! यह समस्त चराचर जगत् ईश्वरके अधीन है, ईश्वरकी कृपा ही मनुष्योंका बल है, ईश्वरकी कृपा ही जीवोंका धन है, केवल ईश्वरकी कृपा ही इस जन्म-मरण, शोक-मोहमय संसाररूप रोगकी ओषधि है। विश्वराज महादेवके गुणानुवाद श्रोत्र-इन्द्रियसे सर्वदा सुने, अन्तर्यामी हृदयमें स्थित ईश्वरका सदा स्पर्श करे, नेत्र-इन्द्रियसे विश्वभावन पूर्ण ज्योतिका विश्व-रूप नाट्यशालामें दर्शन करे, जिह्वा-इन्द्रियसे रसोंके भी रस महाविष्णुके चरण-मकरन्दका स्वाद ले, और नासिकासे भ्रमरके समान भगवान्‌के चरणकमलका सुन्दर दिव्य गन्ध सूँघे, मुखसे जनार्दनके पवित्र मङ्गलरूप नाम या नामोंका उच्चारण करे, पावन यशका गान करे, हाथसे भगवत्-प्रीतिके अर्थ यथाशक्ति दान दे और अन्य कार्य भी मुकुन्द भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करे, पदोंसे भगवत्-मन्दिर और भगवज्जनोंके स्थानपर जाय, चित्तसे चैतन्य मूर्ति सर्वसाक्षी विश्वेश्वरका स्मरण करे, मनसे मनन, बुद्धिसे भगवत्-तत्त्वका निश्चय करे और अहङ्कार भगवत्‌के अर्पण कर दे, इसप्रकार सर्व इन्द्रियोंसे जो परमेश्वरका अर्चन करता है, वह उस पूर्ण परमात्माकी करुणा प्राप्त करनेका पात्र होता है, ईश्वर ही सर्व चराचर है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वह विश्वेश ही दाता, पाता, कर्ता, भोक्ता और भवका आश्रय यानी आधार है। वही एक सबकी उत्पत्ति करता है, उस नित्यमें ही सब स्थित है और उसी नित्य, परिपूर्ण, परात्परमें सब लय होता है, वही निर्गुण है, वही सगुण है, मायावी है, मायातीत है, वही भक्तोंपर अनुकम्पा करनेके लिये अनेक दिव्य मूर्ति धारण करता है।

परमेश्वरका कोई नाम नहीं है, उस नामविहीन ईश्वरके अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार भावुकोंने अनेक नाम रक्खे हैं। परं ब्रह्म, परात्पर, परासंवित्, परमशिव, परमात्मा, महाविष्णु, भगवान्, परमेश्वर, कृष्ण, राम, शिव, दुर्गा, नारायण, हर, हरि, अनन्त, जनार्दन, मुकुन्द, शेष, गणेश, सत्य, प्रज्ञान, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इत्यादि असंख्य नाम भावुकोंने कहे हैं। ये सब नाम उस एकके ही वाचक हैं। उस परेश, हृषीकेश, सच्चिदानन्द, अव्ययका शुचि होकर आस्तिक्य बुद्धिसे भाग्यवान् अधिकारी सर्वदा ही पूजन करे। वेदमें, धर्ममें और ईश्वरमें श्रद्धा होनेका नाम आस्तिक्य-बुद्धि है। उस भक्तानुग्राहक देवकी कृपासे भुक्ति और मुक्ति सहजहीमें करतलगत होती हैं, इसलिये उस पूजनीय देवका निरन्तर आदर-सत्कारसहित अनन्य बुद्धिसे पूजन करे। उसकी कृपा गुणहीनको दिव्य गुणवाला बना देती है अर्थात् शान्ति, सन्तोष, क्षमा, आर्जव, विवेक, वैराग्य, शम, दम, वीरता, धीरता, उदारता आदि गुण भगवत्‌के भक्तमें अनायास ही आ जाते हैं। जिस भाग्यशालीको परमदेवकी कृपा कणभर भी प्राप्त हो गयी है, वह धन्य है और वही श्लाघ्य—प्रशंसनीय है।

ईश्वरभक्तिहीन जीवोंके लिये तत्त्वदर्शी अनुक्रोश करते हैं—शिवार्चनसे विहीन और शिवकी कथामृत पान किये बिना जो दिन चला गया, वह दिन निश्चय दुर्दिन है और निष्फल है ! जो मुहूर्त भगवत्-स्मरण बिना बीत गया, उस मुहूर्तके लिये पश्चात्तापपूर्वक रुदन करना चाहिये। जो भाग्यहीन संसाररूप सर्पसे डसे गये हैं उसके लिये सर्व अवस्थामें सर्वत्र सर्वदा हरिचिन्तन सुन्दर भेषज अथवा गारुडी मन्त्र है। विद्वान् कदापि न तो अन्यको भजे, न अन्यका चिन्तन करे और न अन्यको सुने, सर्वदा राममय होवे ! सर्वाधार, निराधार, पूर्ण प्रेमस्वरूप, हृदालय मुकुन्द शंकरका नित्य चिन्तन करे !

ईश्वरमें ममता—इसप्रकार धाता, परमात्मा, भगवन्त, भवेश्वरमें उसकी करुणाके प्रभावसे भावुक ममता प्राप्त करे। निष्काम ममतायुक्त विष्णुके चिन्तन-परायण होकर भगवत्प्रेमी समस्त इन्द्रियोंको शीघ्र ही अन्तर्मुखी करे ! मनको अनन्यविषय अर्थात् अन्यके सम्पर्कसे रहित करके भगवज्जन सुबुद्धि प्राप्त करता है और उसकी शम्भुमें परम प्रेमसंप्लुत अनन्य ममता हो जाती है। शम्भुमें अनन्य ममताका होना बहुत दुर्लभ है, बड़े भाग्यसे शम्भुमें अनन्य ममता होती है। महाविष्णुमें अनन्य ममता ही मनुष्योंका आलम्बन है, वही पर-अवलम्बन है। अनन्य प्रेमके योगसे विशोकपदका आलम्बन लेकर भगवद्भक्त शुद्ध बुद्ध पदमें सर्वदा जीव-आत्माको हवन करे, परम निर्मल होकर क्षेत्रज्ञ—जीवको ब्रह्ममें लय करे और मनको वृत्तिहीन करके जीवको शिवमें विलीन कर दे ! इसप्रकार जितेन्द्रिय अधिकारी ज्ञानी, योगी और मुनि हो जाता है और शाश्वती शान्तिरूप परमा सिद्धि—मोक्षको प्राप्त होता जैसे जलके बिना प्यास यह निश्चित

इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति बिना जीव दुःखके अन्तको नहीं प्राप्त होता, इसमें सन्देह नहीं है। वैसे अग्निकी सन्निधिमें नवनीत—मक्खन लीन हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सन्निधिको पाकर शोक, मोह, भय, चिन्ता आदि दोष विलीन हो जाते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्निमें सूखा काष्ठ शीघ्र ही जल जाता है, इसी प्रकार ईश्वर-दर्शनरूप अग्निसे समस्त दोष भस्म हो जाते हैं। विद्वान् जगत्‌की चिन्ताको छोड़कर नित्य ईश्वरानुसन्धान करता हुआ संसार-सागरको गोपदके समान तर जाता है। इसलिये ईश्वरचिन्तनमें प्रमाद न करना चाहिये, किन्तु बाधारहित स्थानमें स्थित होकर सर्वदा ध्यानादि करने चाहिये। अतुल रसानन्द ईश्वरका ध्यान करता हुआ परमामृत-समुद्रमें सर्वदा ही मग्न रहे, इसीलिये कहा है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है!

नयनसुख—भाई स्मृतिवल्लभ! आप तो निश्चय ईश्वरवल्लभ और जगद्वल्लभ ही हैं, श्रुतिप्रकाशके कथनसे भी आपका व्याख्यान विशेष रुचिकर और चित्ताकर्षक है, क्योंकि श्रुतिप्रकाशका निरूपण सारगर्भित होते हुए भी गूढ़ है, साधारणकी समझमें आना कठिन है, पर आपका कथन तो सारगर्भित होते हुए भी सरल और सीधा है, साधारण मनुष्यकी बुद्धि भी उसको ग्रहण कर सकती है। आप धन्य हैं, जिनकी ईश्वरमें ऐसी श्रद्धा और अनन्य प्रेम है। मेरा चित्त जैसा आज प्रसन्न हुआ है, वैसा आयुभरमें कभी नहीं हुआ! मुझे आशा होती है कि आप-का सत्सङ्ग प्राप्त करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो निश्चय मेरा भी अवश्य ही कल्याण हो जायगा। मैं आप-को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, अच्छा भाई तर्ककुशल! आप भी बालकी खाल निकालिये। श्रुति-स्मृतिको तो विद्वानोंने प्रमाण माना ही है, युक्ति भी प्रमाणरूप ही है।

तर्ककुशल—मित्रो! इन दोनों भाइयोंके समान ईश्वर-प्रेम तो मुझमें है नहीं, समान क्या, लेश भी नहीं है, प्रत्यक् तत्त्वको मैंने अभीतक समझा भी नहीं है। हाँ, इतना जानता हूँ कि आत्मा-जीव शरीरसे भिन्न है और ईश्वर उसका नियामक है। जिन युक्तियोंसे हमारे आचार्यों-ने ईश्वर सिद्ध किया है, उन्हीं युक्तियोंको मैं आपके समक्ष वर्णन करता हूँ, सुनिये। ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय नहीं है, अनुमान-प्रमाणका विषय अवश्य है। हमारे आचार्य निम्न-लिखित नौ अनुमान-प्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्धि करते हैं—

(१) अंकुरादिरूप कार्य, कार्य होनेसे, किसी कर्तासे जन्य है, जो कार्य होता है, वह किसी कर्तासे जन्य होता है। कर्ता बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जैसे घटरूप कार्य कुलालरूप कर्तासे जन्य है, वैसे अंकुरादि कार्य भी अवश्य किसी कर्तासे जन्य हैं। उन अंकुरादि कार्योंका कर्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, ईश्वरमें ही हो सकता है। कोई कहे कि 'कर्ता बिना केवल पृथिवी-जलके संयोग आदिसे अंकुरादिकी उत्पत्ति हो सकती है, ईश्वरको कर्ता माननेका क्या प्रयोजन है?' इसका उत्तर यह है कि ईश्वररूप कर्ता बिना केवल पृथिवी-जलके संयोग आदिसे अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति मानेंगे, तो घर आदि कार्य भी कुलाल आदि रूप कर्ता बिना केवल मृत्तिका-जलके संयोग आदिसे उत्पन्न होने चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति ईश्वररूप कर्तासे ही माननी चाहिये। इससे स्वेदजादि शरीरोंकी उत्पत्तिका भी ईश्वर ही कर्ता है, ऐसा सिद्ध हुआ समझना।

(२) सृष्टिके आदिकालमें द्व्यणुकरूप कार्यका प्रयोजक जो परमाणुनिष्ठ क्रियारूप कर्म है, वह कर्म, कर्म होनेसे किसी प्रयत्नसे जन्य है, जो कर्म होता है, वह किसी प्रयत्नसे जन्य होता है। जैसे घटरूप कार्यका प्रयोजक जो कपालनिष्ठ कर्म है, वह कर्मरूप होनेसे कुलालरूप जीवात्माके प्रयत्नसे जन्य है, वैसे परमाणुओंका कर्म भी कर्मरूप होनेसे अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्य है। जीवात्माका प्रयत्न तो परमाणुओंके कर्मका कारण हो नहीं सकता, इसलिये ईश्वरका प्रयत्न ही उस कर्मका कारण है। इस विलक्षण प्रयत्नका आश्रय ईश्वर है, ऐसा सिद्ध होता है।

(३) आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि द्रव्य धृतिवाले होनेसे, नीचे पतनके प्रतिबन्धक किसी प्रयत्नसे प्रयुक्त हैं, जो द्रव्य धृतिवाला होता है, वह द्रव्य पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही होता है। जैसे आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाला नीचे पतनसे रहित पक्षीका शरीर धृतिवाला होनेसे नीचे पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही है। जैसे पक्षी-शरीरावच्छिन्न जीवात्मा-का प्रयत्न पक्षी शरीरके नीचे पतनमें प्रतिबन्धक है, वैसे आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाले सूर्य आदि भी धृतिवाले होने-से नीचे पतनके प्रतिबन्धक किसीके प्रयत्नसे अवश्य युक्त होने चाहिये। किसी जीवात्माका प्रयत्न तो सूर्यादिके पतनका

प्रतिबन्धक हो नहीं सकता, ईश्वरका प्रयत्न ही सिद्ध होता है। ऐसे विलक्षण प्रयत्नके आश्रयसे ईश्वर सिद्ध है।

(४) प्रलयकालमें सर्व ब्रह्माण्डका नाश, नाश होनेसे, किसीके प्रयत्नसे जन्य है; जो नाश होता है, वह किसीके प्रयत्नसे जन्य होता है, जैसे घटका प्रध्वंसाभावरूप नाश, नाशरूप होनेसे, जीवात्माके प्रयत्नसे जन्य होता है, वैसे ब्रह्माण्डका नाश भी, नाशरूप होनेसे, अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्य होना चाहिये। वह प्रयत्न जीवात्माका तो हो नहीं सकता, ईश्वरका ही हो सकता है। उस विलक्षण प्रयत्नका आश्रय ईश्वर सिद्ध है।

(५) घट शब्दके सुननेसे लोकोंको घटरूप अर्थका बोध होता है, पटरूप अर्थका बोध नहीं होता, वैसे ही पट शब्द सुननेसे पटका बोध होता है, घटका बोध नहीं होता। यह घट-पटादि शब्दरूप व्यवहार, व्यवहाररूप होनेसे, किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य है अर्थात् घटसे घटरूप अर्थका और पटसे पटरूप अर्थका बोध है, इत्यादि संकेत किसी स्वतन्त्र सर्वज्ञ पुरुषने पूर्वमें कर रक्खा है; जो व्यवहार होता है, वह किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य ही होता है। जैसे किसी आधुनिक पुरुषका कल्पित किया हुआ लिपि आदि व्यवहार है। भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न पुरुषोंने लोकोंको ककारादि शब्दोंका बोध करानेके लिये क, ख, ग, घ, ङ आदि लिपिकी कल्पना कर रक्खी है। उस लिपिको देखकर उस देशवालोंको ककारादि शब्दोंका बोध होता है। जैसे लिपि आदि व्यवहार, व्यवहार होनेसे किसी आधुनिक पुरुषसे प्रयोज्य है, इसी प्रकार घटादि व्यवहार भी, व्यवहार होनेसे किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य होना चाहिये, इस व्यवहारकी प्रयोजकता किसी जीवमें तो हो नहीं सकती, सर्वज्ञ स्वतन्त्र ईश्वरको ही इस व्यवहारका प्रयोजक मानना पड़ेगा।

(६) वेद-वाक्य-जन्य यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा शाब्द-प्रमा होनेसे वेदके वक्ता पुरुषके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे जन्य है, जो प्रमा होती है, वह वक्ता पुरुषके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे ही जन्य होती है, जैसे चैत्र नामक पुरुषके 'घटमानय' (घट ला) इस वाक्यसे जन्य मैत्र नामक पुरुषकी प्रमा, शाब्द-प्रमारूप होनेसे, चैत्र नामक वक्ता पुरुषके उस वाक्यके यथार्थ-ज्ञानसे ही जन्य होती है, वैसे वेद-वाक्योंसे भी अधिकारी पुरुषोंको जो यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न होती है, वह प्रमा भी शाब्द-प्रमारूप होनेसे उस वेदके वक्ता पुरुषके उस वाक्यके यथार्थ ज्ञानसे अवश्य जन्य होनी चाहिये। ऋगादि वेदोंका उत्पादकत्व-रूप वक्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये ईश्वररूप वक्ताके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे ही श्रोताओंमें वेद-वाक्य-जन्य शाब्द-प्रमा उत्पन्न होती है।

(७) ऋगादि वेद, वेदरूप होनेसे, किसी असंसारी पुरुषसे रचित होने योग्य हैं, जो शास्त्र असंसारी पुरुषका रचा हुआ नहीं होता, वह शास्त्र वेदरूप भी नहीं होता। जैसे प्रसिद्ध रघुवंशादि काव्य असंसारी पुरुषके रचे हुए नहीं हैं किन्तु कालिदास आदि संसारी पुरुषोंद्वारा रचित हैं, इसलिये वे वेद नहीं हैं, ऋगादि वेद काव्यके समान अवेदरूप नहीं हैं किन्तु वेदरूप ही हैं, इसलिये वे सब असंसारी पुरुषके रचे हुए हैं। ऋगादि वेदोंका उत्पादक संसारी पुरुष जीवात्मा तो हो नहीं सकता, किन्तु असंसारी ईश्वर ही वेदोंका उत्पादक सिद्ध होता है।

(८) वेद, वाक्यरूप होनेसे, पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषसे रचित होने योग्य हैं, जो शास्त्र वाक्यरूप होता है, वह शास्त्र पौरुषेय ही होता है, जैसे महाभारत वाक्यरूप होनेसे पौरुषेय है अर्थात् श्रीव्यासरूप पुरुषसे रचित है वैसे वेद भी किसी पुरुषसे अवश्य रचित होने चाहिये। वेदका कर्तापना किसी जीवात्मामें तो सम्भव है नहीं, ईश्वरमें ही सम्भव है, इससे ईश्वर सिद्ध होता है।

(९) द्व्यणुकके परिमाणका असमवायिकारणरूप दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व-संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे जन्य होने योग्य है, एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे। जो संख्या एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होती है, वह संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्य होती है। जैसे दो घटोंमें स्थित द्वित्व-संख्यासे, अन्य संख्या होनेसे 'यह एक' 'यह एक' इसप्रकारकी अपेक्षासे जन्य होती है, वैसे दो परमाणुनिष्ठ द्वित्व-संख्या भी एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्य होनी चाहिये। जीवात्माकी परमाणुविषयक अपेक्षा-बुद्धि नहीं हो सकती, ईश्वरकी अपेक्षा-बुद्धिसे ही उन परमाणुओंमें द्वित्व-संख्याकी उत्पत्ति होती है, ऐसी अपेक्षाबुद्धिका आश्रय ईश्वर ही हो सकता है।

इसप्रकारके नव अनुमानोंसे ईश्वरकी सिद्धि होनेपर ईश्वर-उच्चरितत्व-हेतुसे वेदोंमें भी प्रमाणरूपता सिद्ध हो सकती है, इसलिये वेद भी ईश्वरके सद्भावमें प्रमाणरूप हैं,

वेद कहते हैं—स्वर्ग तथा भूमिको उत्पन्न करता हुआ वह एक परमात्मादेव सर्व विश्वका कर्ता है, सर्व भुवनोंका रक्षक है। यह पुरुष ईश्वरकी उपासना करे। जो ईश्वर सामान्यरूपसे सबका जाननेवाला है, वही ईश्वर विशेष रूपसे सबका जाननेवाला है। इस ईश्वरका ज्ञानमय तप है, यह ईश्वर इच्छा करता हुआ, इत्यादि अनेक वेदकी श्रुतियाँ ईश्वरमें प्रमाणरूप हैं। 'हे अर्जुन! ईश्वर सर्व भूतोंके हृदयदेशमें स्थित है।' इत्यादि स्मृतियाँ भी ईश्वरमें प्रमाणरूप हैं। यदि सर्व जगत्का कर्ता ईश्वर अङ्गीकार न करें, तो नियन्ताका अभाव होनेसे सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहोंका विपरीत उदय-अस्त होना चाहिये, मेघमण्डलको योग्य कालमें वृष्टि न करनी चाहिये, क्योंकि चेतन विना अचेतन वस्तुओंका नियत कालमें गमन-आगमन नहीं हो सकता। सूर्य-चन्द्रादि ग्रहोंका नियत देश-कालमें उदय-अस्त देखनेमें आता है और मेघमण्डल भी नियत काल-पर वृष्टि करता है, इससे जाननेमें आता है कि कोई सर्वज्ञ चेतन इस जगत्का नियन्ता है, जिसकी आज्ञासे यह सूर्य-चन्द्रादि नियमपूर्वक गमनागमन कर रहे हैं। सूर्य-चन्द्रादिका नियन्तापना किसी जीवात्मामें हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये सूर्य-चन्द्रादिका नियमपूर्वक उदय-अस्त होना ईश्वरकी सिद्धि करता है, ऐसे ईश्वरकी आराधना अर्थात् ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

नयनसुख—भाई तर्ककुशल! आपके अनुमान बहुत सुन्दर और ईश्वरकी सिद्धि करनेवाले हैं, इसमें संशय नहीं है, आप चारों भाइयोंके वचनरूपी अञ्जनने मेरी आँखें खोल दी हैं और मेरे नामको यथार्थ कर दिया है। अबतक तो मैं 'आँखोंका अन्धा, नाम नयनसुख' ही था, आज आपके प्रतापसे मैं सच्चा नयनसुख हो गया। मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि ईश्वर है, वही सब कुछ करता-कराता है, उसके सिवा दूसरा करने-करानेवाला नहीं है, जो कुछ प्राप्त होता है, ईश्वरकी कृपासे ही होता है और ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है। भाई ईश्वर-शरण! आप हम सबसे चतुर और गम्भीर हैं, आपके पेटकी थाह किसीको नहीं मिलती, आप बहुत कम बोलते हैं, यदि बोलते हैं तो ईश्वरके सम्बन्धमें ही बोलते हैं, संसारी बातें आपके मुखकमलसे नहीं निकलतीं, आप-के वचनामृत सुननेको मेरा मन बहुत ही उत्सुक है और ये तीनों भाई भी उत्कण्ठित दीखते हैं, कृपया हमारा मनोरथ पूर्ण कीजिये।

ईश्वरशरण—मित्रो! जैसा तर्ककुशलने कहा कि ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणसे नहीं जाना जाता, केवल अनुमान-प्रमाणसे सिद्ध होता है, यह उनका कथन कुछ-कुछ ठीक ही है, परन्तु ईश्वर प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता, केवल शाब्द-प्रमाण अर्थात् श्रुतिसे ही जाननेमें आता है। ईश्वर रूप-रसादिसे रहित होनेके कारण इन्द्रियों-का विषय नहीं, इसलिये प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता। लिंग-सादृश्यादिसे रहित होनेसे ईश्वर अनुमान-प्रमाणका विषय नहीं है, केवल श्रुतिसे ही जाना जाता है। 'उपनिषत्स्वेवाधिगत' (उपनिषदोंमें ही अधिगत—प्राप्त है) इस व्युत्पत्तिसे और 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (वेद न जाननेवाला उस बृहत्को नहीं जानता) इस निषेध-श्रुतिसे सिद्ध है कि वह केवल वेदसे ही जाना जाता है। यदि कोई शङ्का करे कि 'श्रुति तो ब्रह्म—ईश्वरको मन-वाणीका अविषय बताती है, तो फिर श्रुति उसका कैसे उपदेश करती है और जीव उसको मनसे कैसे जानता है, क्योंकि जीवके पास मन ही तो जाननेका एक साधन है?' तो इसका उत्तर यह है कि अशुद्ध मनसे ईश्वर जाननेमें नहीं आता। वह निर्मल मनसे अवश्य जाननेमें आता है, क्योंकि शुद्ध मन ब्रह्माकार होता ही है, ऐसा विद्वानोंका अनुभव है।

वाणी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा चार प्रकारकी है। पहली तीनोंसे ईश्वर जाननेमें नहीं आता, परा वाणीसे अवश्य जाननेमें आता है क्योंकि परा वाणी असंसारी होनेसे ईश्वरतत्त्वका निरूपण करनेवाली है, इस प्रकार श्रुतिका उपदेश और अधिकारी मुमुक्षुका समझना बन सकता है। विचारकर देखा जाय तो यद्यपि ईश्वर किसी प्रमाणका विषय न होनेपर भी परम अपरोक्ष है क्योंकि वह सबका आत्मा है और आत्मा किसीको कहीं, कभी किसी प्रकार अपरोक्ष नहीं है। ऐसा अपरोक्ष ईश्वर भी जाननेमें नहीं आता, यह मनुष्योंका दुर्भाग्य ही है। अहङ्कार और ममताकी आड़ आ जानेसे परम प्रत्यक्ष ईश्वर भी दिखायी नहीं देता, ईश्वरकी कृपा विना और महान् पुरुषोंकी सेवा विना ईश्वरका दर्शन नहीं होता। ईश्वरका नाम जपनेसे, इष्टदेवका ध्यान करनेसे, सबमें ईश्वर-भाव करनेसे, रागद्वेषका त्याग करनेसे ईश्वरकी कृपा होती है और ईश्वर-कृपासे ईश्वरका दर्शन होता है। ईश्वर-दर्शनसे

सर्व शोककी परम निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है, इसीलिये विद्वान् बारम्बार यही कहते हैं कि ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है।

हे मित्रो ! यह सब जगत् ईश्वराधीन है, जीवोंको ईश्वरका ही बल है। जिस किसीको जो कुछ प्राप्त हुआ है और होता है, ईश्वर-कृपासे ही होता है, अपने बलसे कोई नहीं बढ़ता, ईश्वरके बढ़ाये हुए ही बढ़ते हैं। अपने बलसे रावण बढ़ा था, उसको पलभरमें भगवान्ने धूलमें मिला दिया ! अपने बलसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बढ़े थे, उनको भगवान्ने तुरत ही उनके पद और प्राणसे भ्रष्ट कर दिया ! सारांश यह कि जिस-जिसने गर्व किया उसीका ही गर्व भगवान्ने तोड़ा; शिशुपाल, दुर्योधनादिके वृत्तान्तसे यह बात स्पष्ट है। ईश्वर किसीका गर्व नहीं रहने देता, इसलिये भगवान् गर्वहारी कहलाते हैं। ईश्वर-कृपासे बहुत-से बड़ाई पा चुके हैं और पा रहे हैं। ब्रह्मादि तीनों देव ईश्वरकी कृपासे ईश्वर कहलाते हैं और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ होते हैं। सनकादि ईश्वरके अनुग्रहसे ही समस्त तत्त्वदर्शियोंके आदिगुरु हैं, ईश्वरके अनुग्रहसे देवर्षि नारद देवताओं और भगवद्भक्तोंके पूज्य हैं। ईश्वरकी दयासे उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने ध्रुवपद पाया है। ईश्वरकी आज्ञासे कश्यपादि सप्तऋषि सृष्टिके आदिमें वेदोंका प्रचार करते हैं। ईश्वरके बलसे मरीचि आदि देवता देव, मनुष्यादि प्रजा उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। ईश्वरके ओजसे शेषनाग समस्त ब्रह्माण्डको तृणके समान अपने फणोंपर धारण कर रहे हैं, ईश्वरकी प्रसन्नतासे विभीषणने कल्पपर्यन्त लङ्काका अटल राज्य पाया है। बलि भी ईश्वरकी करुणासे रसातल-का सम्राट् है और आगेके मन्वन्तरमें वह इन्द्रपदवी पावेगा। ईश्वरके आशीर्वादसे बादरायण अगले मन्वन्तरमें सप्तऋषियोंके पदपर आरूढ़ किये जायँगे। इसप्रकार ईश्वरसे अनुग्रहीत बहुत-से देव, ऋषि, मुनि आदि अनेक प्रकारके दिव्य ऐश्वर्य पा चुके हैं और पाते हैं। ये थोड़े-से नाम दिग्दर्शनमात्र हैं, इनका नाम लेनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है, ऐसा वेदवेत्ताओंका निर्णय है। यह सब फल ईश्वराराधनका है। इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

ईश्वर स्वरूपसे नित्य, कूटस्थ, अद्वय, अजन्मा हैं, ऐसे होकर भी अपने भक्तोंपर उनका इतना गाढ़ प्रेम है कि उनके प्रेमवश होकर अपनी लीलासे अनेक स्वरूप धारण करते हैं, बारम्बार अवतार लेकर अपने जनोंके दुःख निवारण करते हैं। भक्तकी प्रार्थना सुनकर तुरत ही उसका कष्ट निवृत्त करनेको पैर-पयादे ही दौड़ते हैं, गरुड़को भी छोड़ देते हैं और मानो पास ही खड़े हुए थे, ऐसे शीघ्र ही आकर भक्तका दुःख दूर करते हैं, यह बात गजेन्द्र और द्रौपदीके इतिहाससे स्पष्ट है, ईश्वरने भक्तोंके हितके लिये वेद-पुराणादि अनेक शास्त्रोंकी रचना की है अथवा यों कहना चाहिये कि करायी है और अपने नामको वह प्रताप दिया है कि जो उच्चारणमात्रसे पापोंका नाश करता है। यह बात अजामिलके इतिहाससे स्पष्ट है कि पुत्रके बहाने अचेत दशामें 'नारायण' नाम लेकर वह परम गतिको प्राप्त हुआ। वेदवेत्ताओंका निश्चय है कि जितना सामर्थ्य ईश्वरके नाममें पाप निवृत्त करनेका है, उतना सामर्थ्य मनुष्यमें पाप करनेका नहीं है। 'हर्र लगे न फिटकरी, रंग झकाझक आय' ऐसा ईश्वरका नाम भी, जिसमें खर्च कुछ नहीं और फल अक्षय है, जिनसे जपा नहीं जाता, उनसे बढ़कर अभागा और कौन होगा ? ईश्वर अपने भक्तोंको अपना स्वरूपतक भी देकर सोचा करते हैं कि तन, मन, धन, पुत्र, स्त्री, परिवार अर्पण करनेवाले भक्तोंको हमने कुछ भी नहीं दिया, क्योंकि अपना स्वरूप तो हम रावण, कंस आदि राक्षसोंको भी प्रदान करते ही हैं, फिर भक्तोंको हमने क्या दिया, कुछ नहीं दिया ! ऐसा विचारकर जगदीश्वर भगवान् अपनेको भक्तोंके ऋणी समझते हैं। जो ऐसे दयालु ईश्वरसे विमुख हैं, उनके कल्याणका कोई मार्ग नहीं सूझता, ईश्वर उनपर करुणा करें; इतनी ही ईश्वरसे प्रार्थना है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है, यह बात उनकी समझमें आ जाय।

ईश्वरशरणागति परम पुरुषार्थ है। अपना बल-भरोसा छोड़कर जो ईश्वरके शरणमें आ गये हैं वे ही धन्य हैं, उनका ही जन्म सफल है। न उनको मरनेका शोक होता है, न जीनेका हर्ष होता है। न वे किसीकी निन्दा करते हैं, न स्तुति करते हैं। वे सबमें ईश्वरको देखकर सबसे समान सुहृदताका बर्ताव करते हैं। मान-अपमान उनके लिये समान होता है, प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी वे एक-से रहते हैं, सर्वदा जिह्वासे ईश्वर-नाम जपते हैं, अथवा ईश्वरके गुणानुवाद गाते हैं, मनसे ईश्वरका ध्यान करते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं ईश्वरके लिये करते हैं, अपना अहंकार

किञ्चित् भी नहीं करते । अहंकार ही सब अनर्थोंका मूल है, अहंकारने ही आनन्दस्वरूप ईश्वरको छिपा रक्खा है, अहंकार ही ईश्वर-दर्शनमें आड़ है, अहंकार निर्मूल कर देना ही ईश्वरशरणागति है । ईश्वरशरणागतिमें जैसा सुख है, वैसा सुख ब्रह्माको भी नहीं है, इन्द्रादिका तो कहना ही क्या है ? ईश्वरशरणागतिका उपाय ईश्वराराधना है, इसलिये ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ और यही परम पुरुषार्थ है । जैसे आमका वृक्ष लगानेवालेको मुख्य फल तो आम-फलकी प्राप्ति है और पत्र, पुष्प काष्ठादिकी प्राप्ति अवान्तर फल है, ऐसे ही शरणागतको ईश्वरकी प्राप्ति मुख्य फल है और दिव्य भोगोंकी प्राप्ति अवान्तर फल है ।

पाठक ! इतना कहकर ईश्वरशरणने अपना व्याख्यान समाप्त किया और उसकी संगतिसे चारों मित्र भी ईश्वरशरण होकर सर्वदाके लिये सुखी हो गये । इत्यलमतिशोभनम् । सबका सार यह है—

कुं०—ईश्वर-चर्चा कीजिये, लीजै ईश्वर-नाम ।
धरिये ईश्वर-ध्यान नित, कीजै हरिहित काम ॥
कीजै हरिहित काम चित्त निर्मल कर लीजे ।
सबसे मनको मोड़, ईशमें लय कर दीजे ॥
भोला ! ईश्वर सत्य, विश्व शोकाकुल नश्वर ।
आशा विश्वकी छोड़, नित्य शाश्वत भज ईश्वर ॥

दो०—पढ़ें सुनें भाई बहिन पाँच पथ सवाद ।
भोला ! ईश प्रसादसे, चढ़ें मुक्ति-प्रासाद ॥

ईश्वर-चर्चा

(लेखक—'शिव')

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है

ईश्वर क्या है ? उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है ? वह निराकार हैं या साकार ? निर्गुण हैं या सगुण ? इस जगत्‌के साथ उनका क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है । आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जितना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निर्देश नहीं कर सकता । क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे है, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती; बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य होनेसे जड़ और परिच्छिन्न है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, नित्य ज्ञानानन्दघन चेतनका आकलन किसप्रकार कर सकती है ? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है; जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञान जिस पदार्थका निरूपण करता है, उस पदार्थका कोई एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारज्योति नहीं हो सकता । जिसका प्रकाश बुद्धि करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है ? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश्य नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, चेतनज्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है । वह किसी भी बुद्धिका चिन्त्य विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें चिन्ता-प्रवणता उसीसे आती है । वह स्वयं प्रमाणरूप और ज्ञानरूप है । वस्तुतः ऐसा कहना भी उसको सीमाबद्ध करना है-उसका माप करना है । उसे कालातीत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बाँधना है । इसीलिये मनीषीगण यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तत्त्व ईश्वर ही जानता है, वह स्व-संवेद्य है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है ? जबतक दूसरा रहता है तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसंग ही असम्भव है ।

'ईश्वर अतर्क्य है, अज्ञेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुसे तुलना कर-कर वह समझाया नहीं जा सकता, ऐसी स्थितिमें उसे मानने-जानने या उसकी चर्चा और जाननेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ है ? जो चीज़ सिद्ध नहीं हो सकती, दीख नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है ।' ऐसा विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देना तो

मृत्युसे भी बढ़कर है। उसकी कुछ ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेय-सा बनकर उपासककी अज्ञान-यवनिकाको हटा देता है, जिससे वह उसके स्व-रूपको पहचानकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीलिये उस परम-तत्त्वको ज्ञेय मानकर उसकी उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगत प्राण ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने विलक्षण सत्य अनुभवोंको, जो सचमुच ही उन्होंने 'अघटनघटनापटीयसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्‌की कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं, उन्हींको तर्क और उक्तियोंके द्वारा सिद्धकर लोगोंके सामने रक्खा और यथोचित साधनविधि बतलाकर भगवद्-प्राप्तिका मार्ग सुलभ कर दिया है। दर्शन, पुराण आदिमें इन्हीं साधनोंका उल्लेख है।

हमारी बुद्धि जहाँ जाकर थक जाती है और अपनेको आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहींसे भगवत्कृपाका प्रकाश और बल हमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर हमें उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्-कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अव्यक्त और अचिन्त्य है, जो एक, केवल, शुद्ध सच्चिदानन्दघन रहते हुए ही अपने सगुणरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विचित्र ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं; सगुण, साकार, दिव्य, नित्य विग्रहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपोंसे विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक् सृजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देशों और कालोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतरित या प्रकट होकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विश्वविमोहिनी लीलाओंसे जगत्‌को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवमात्रमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर विभिन्न-से भासते हुए जीवलीलामें वर्त्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिसप्रकार अनन्त-कोटि व्यष्टिशरीरोंमें एक ही परमात्मा त्रिगुण-संवलित जीवात्मारूपसे विराजमान है, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-शरीरोंमें 'विधि-हरि-हर' त्रिगुणमूर्तिसे एक ही परमात्मा विराजमान हैं, त्रिगुणमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणातीत हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकार-रूपसे भासनेवाले जड दृश्य-प्रपञ्चका भेष धारणकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रत्येक रूपमें प्रत्येक समय एकरस और पूर्ण हैं, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महा-प्रजापति, महादेव, महाशक्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आख्यात और पूजित नित्य, अविनाशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्‌का ज़रा-सा आभास भी मनुष्यकी बुद्धिको कैसे मिल सकता है? जो सन्तोंके वाक्योंपर विश्वासकर उनके शरणापन्न होता है, जो बुद्धिका अभिमान छोड़कर उनकी कृपाका आश्रित होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि श्रद्धामय पुरुष भगवान्‌की कृपाका बल प्राप्तकर उसके दिव्यालोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर आगे बढ़ता है।

उन परमात्मा महेश्वरके अखण्ड नियमके अनुसार उनकी लीलासे जब उनकी सारी शक्तियाँ सिमटकर साम्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिन्नताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। भगवान्‌का नित्य दिव्य विग्रह भी उस समय स्वेच्छासे ही अन्तर्धान रहता है। पुनः जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विचित्र मूर्ति धारणकर क्रिया करती हैं, तब वही ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित और प्रसरित रहते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो स्थित है और जो लयको प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सृष्टि, स्थिति और संहाररूप त्रिविध मूर्तियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त तरङ्गोंकी भाँति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित हैं। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; ये निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं, साकार भी नहीं हैं, सबमें हैं, सबसे परे हैं, उनके लिये यह कहना या समझना कि 'ये ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी अक्लका पर्दा-फास करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वल्प-से अंशका, आभासका या अनु-मानका ही वर्णन होता है। वे तो गूँगेके गुड़ हैं; उनका वर्णन कोई कैसे करे? क्षुद्र-सा जल-सीकर जलनिधिकी क्या थाह लगावे? हमारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहतक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त सर्वलोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे क्या कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जगत्‌के महापुरुष उन्हींकी कृपासे

प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं। महापुरुषोंके वचनोंमें विश्वास करनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिद्ध है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणसिद्ध हो, परन्तु यह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वरमें विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्के अन्तर्राज्यका परदा हटा देता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके तत्त्वको समझकर सर्वपाप-ताप-शून्य और कृतकृत्य हो जाता है।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-कृपा

जैसे सूर्यके पूर्ण उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी घोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही, थोड़े ही विश्वाससे पाप-तापरूपी तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पापाचरण करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विश्वाससे ही मनुष्य निर्निराधार, निर्विकार, निःशङ्क, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परम सुहृद् हैं। ऐसी अवस्थामें वह काम, लोभ या भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-अफसरको देखकर मनुष्य कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य सकुचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विश्वम्भर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथको छोड़कर पाप-पथमें क्यों जायगा? जब वह अपने परम सुहृद्, परमदयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जला सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा? ईश्वरका विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्-कृपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी कालमें दुखी नहीं हो सकता। वह प्रत्येक बातमें भगवान्का विधान समझकर और भगवान्के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है। वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें है भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें यथार्थ ही यह भाव नहीं आता कि भगवान्का कोई विधान कभी जीवके लिये अमङ्गलरूप होता है। मङ्गलमय भगवान् अपने ही अंश जीवका अमङ्गल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं तो वह अत्यन्त ही दयाके वश हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है जो बच्चेको बड़ा क्रूर मालूम होता है, और वह भूलसे मातासे नाराज भी होता है, परन्तु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती, क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बूँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादिकालसे स्नेहमय बना रक्खा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दण्ड-विधान किया करते हैं। उनका दण्ड-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे अलग कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथसे छुरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको नुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहवश ले रक्खी है, जबरदस्ती छीन लेती है; और बुरे आचरण न छोड़नेपर डराती-धमकाती है। भगवान्के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होनेको बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती छिन जाना या नाश हो जाना आदि कार्य इसी श्रेणीके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके धन-धाम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरकाग्निकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचता-पचता है वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद् और परम हितैषी हैं, वे वस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे? जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्की दया समझते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। वे



भगवान्—श्रीनृसिंहरूपमें

वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबोनेवाली हैं, दयालु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें ढकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं? माता क्या कभी प्यारी सन्तानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है? क्या कभी उसे सोनेकी पिटारीमें रखकर कालनाग सर्प दे सकती है? क्या कभी उसे लाल-लाल लपटोंवाली आगमें झोंक सकती है? फिर भगवान् ही ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं? इसीलिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर उसमें भगवत्कृपाकी माधुरी मूरतिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि हमपर भगवान्की बड़ी भारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं, कि भगवान्से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलतीं। मिलती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भण्डारसे है, परन्तु ऐसी चीजों-के माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान्पर ही आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्थार्थी भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते हैं तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सम्हाल भी रखते हैं जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान्-की दयाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसकी दृष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान्-की इच्छामें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है 'हे भगवन्! मैं सदा तेरी इच्छा-नुसार बना रहूँ, तेरी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमें कभी कोई वृत्ति ही न उदय हो।' भगवान् मंगलमय हैं, उनकी अनिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस-प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मंगलमयी इच्छा-वाला अथवा सर्वथा इच्छारहित—निःस्पृह बन जाता है। वह नित्य-निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमें उसको शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान्का विस्मरण हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुल होता है, जो जलसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मन-मोहिनी छविको देखता और पल-पलमें पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है, इससे स्वाभाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किञ्चित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार संसारके प्रत्येक जीवके भेषमें भक्त अपने भगवान्को पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राण-पणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोग केवल किसी एक स्थान और मूर्तिविशेषमें ही भगवान्को मानकर अन्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव मानते हैं, वे भगवान्के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारसे भगवान्का तिरस्कार करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा भागवतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके चित्र या स्टेच्यू (पाषाणनिर्मित मूर्ति) को देखकर उसका सम्मान करते हैं। भगवान्को न मानने-वाला रूसी भी लेनिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। झण्डेका अभिवादन क्या मूर्ति-पूजा नहीं है? झण्डा कौन-सा सजीव पदार्थ है? परन्तु उसका लोग बड़ा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-से अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। मातृभूमि—स्वदेश आदि नाम और इनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीक-पूजा नहीं है? मुसलमान भाई, जो महम्मद साहेबकी मूर्ति देखकर ही मूर्ति रखनेवालेको मारनेको तैयार हो जाते हैं, क्या प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्व नहीं देते? परन्तु इसमें और भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बड़ा अन्तर है, भक्त मूर्तिकी पूजा नहीं करता, वह तो केवल अपने प्रभु-की पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सच्चिदानन्दघन इष्टदेवको देखता है, उसकी दृष्टिमें वह पत्थर, मिट्टी या धातु नहीं है, वही सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी भगवान् जिनके एक अंशमें सारे [illegible] -ब्रह्माण्ड

परन्तु जो भक्तपर प्रसन्न होकर यहाँ श्यामसुन्दररूपसे विराजित हो उसकी पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर भगवत्-मूर्तियोंका चलना, बोलना, हँसना, वरदान देना आदि सुना जाता है, जो वास्तवमें सत्य है। भगवान् कहाँ नहीं हैं? वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें अथवा अपने नित्य दिव्य विग्रहस्वरूपमें, चाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रकट होहिं मैं जाना॥'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजीके ये वचन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अग्नि अव्यक्तरूपसे सब चीजोंमें व्याप्त है, परन्तु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपसे व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवतार लेनेका भी यही रहस्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परन्तु ऐसा कहना भगवान्की सर्वशक्तिमत्तामें कमी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? इसीसे वे जब जहाँपर आवश्यकता समझते हैं, वहीं अपने दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं। एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्के अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपसे निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतरित होते हैं—हमारे बीचमें आते हैं, तब उनकी शक्तिमें न्यूनाधिकताका तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि कहीं वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको! कहीं अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्धान हो जायँ। परन्तु इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सदा एकरस और समान है। उनका निर्गुण ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणात्मक जगत्का भाव नहीं है। उनका विष्णुरूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न है, जो भृगुजीकी लात सहकर उनके पैर पलोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विश्वरूप अच्छे-बुरे सभी गुणोंसे सम्पन्न है—'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि' 'मत्तः परतरं नास्ति किञ्चिदस्ति धनञ्जय' भगवान् कहते हैं, सारे सात्त्विक, राजस, तामस-भाव मुझसे ही उत्पन्न जानो, हे धनंजय! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार उनके गुणस्वरूप हैं। ब्रह्माण्डोंमें स्थित श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप हैं, श्रीब्रह्मा रजोगुणरूप हैं और श्रीशंकर तामसरूप हैं, यही शंकर जहाँ समष्टि-सदाशिवरूपमें रहते हैं, वहाँ परम कल्याणमय, सत्त्वगुणसे भी ऊँचे उठे होते हैं। इसी प्रकार भगवती काली संहाररूपिणी—तमोमयी हैं, माता शक्ति जगज्जननी सृजनकारिणी—रजोमयी हैं, जगद्धात्री माता उमा पोषणकारिणी—सत्त्वमयी हैं। इनके अतिरिक्त भक्तोंको परम आनन्द देनेवाले, भक्तोंके जीवन-धन, उनकी परमगति, परम आश्रय वे दिव्य अवतार-विग्रह हैं, इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके तारतम्यसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें श्रीराम मर्यादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्पन्न हैं और श्रीकृष्ण लीलामय और सर्वगुणसम्पन्न हैं। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रीति हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावसे उसीकी उपासनामें प्राणोत्सर्ग कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर ललचावे, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की भगवदुक्तिको याद रखते हुए सन्देह-संशयरहित होकर निश्चल-चित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, सेवा और चिन्तनामें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपासिका, अपना अनन्त जीवन सदाके लिये श्रीशिवके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

महादेव अवगुन-भवन बिष्नु सकल गुन-धाम।
जाकर मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम॥

साकार रूप मायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्के साकार, सगुण दिव्य स्वरूपको मायिक बतलाते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे तो इस मायासे परे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेद-भावसे उपासना करते हैं। शुद्ध ब्रह्मकी अभेदोपासना भी उत्तम है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु भगवान्के साकार दिव्य स्वरूपको मायिक और मन्द

अधिकारियोंके सेवनयोग्य ही बतलाना बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें इस दिव्य स्वरूपकी बड़ी महिमा गायी है। बल्कि कुछ भक्तोंके मतमें तो भगवान्‌ने ब्रह्म-शब्द-वाच्य निर्विशेष स्वरूपको अपने आधारपर स्थित बतलाया है। कम-से-कम भगवान्‌का स्वरूप दिव्य, नित्य अमायिक है और ब्रह्म-ज्ञानियोंके द्वारा भी सेव्य है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। हाँ, उस परम आनन्दमय दिव्य विग्रहकी अवहेलना करनेसे ज्ञान-मार्गके उपदेशक उसके महान् सुखसे वञ्चित जरूर रह जाते हैं। मायिक माननेवालेके सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दिव्य साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते। इसीसे तो सन्तोंका यह परम रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्गके पन्थी भगवान्‌के दिव्य साकार स्वरूपके दर्शन नहीं कर सकते। उनके मनमें माया घुसी रहती है, इससे उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है। वे भगवान्‌में भी मायाका आरोप करते हैं, कोई-कोई साकार, सगुण भगवान्‌को ब्रह्मसे अभिन्न मानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विद्याकी उपाधिसे युक्त हैं और हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे महान् अमृत-समुद्रमें डूबे हुएके लिये एक गिलास जल। यह एक गिलास जल भी उस अमृत-समुद्रका ही अभिन्नांश है परन्तु एक तो अलग गिलासमें है, (मायामें है) दूसरे अंश है, हम जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयोजन है? वास्तवमें यह अहंकारोक्ति है। ऐसा कहना और मानना—अनुचित है, परन्तु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेसे भगवान्‌के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी मूढ़तापर भगवान् हँसते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मूढ़ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विश्व-ब्रह्माण्डोंका अधीश्वर भक्तोंके प्रेमवश और अपनी जगत्-लीलाको व्यवस्थित रखनेके लिये दिव्य विग्रह प्रकटकर दिव्य लीला करता हूँ, मुझ मनुष्य-शरीर-धारी भगवान्‌को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी अलौकिकी मायासे तरनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७।१४) परन्तु वे लोग मुझको नहीं भजते। मैं जो क्षर जड़-संसारसे अतीत अक्षर आत्मासे उत्तम हूँ, (गीता १५।१८) सबकी प्रतिष्ठा हूँ (गीता १४।२७) सब पुरुषोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(गीता १५।१९)

हे अर्जुन! इसप्रकार जो मूढ़तासे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष मुझ पार्थसखा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह फिर सर्व भावसे केवल मुझको ही भजता है।

भगवान्‌को न पहचाननेवाला, शरीरधारी समझकर उनकी अवहेलना करनेवाला 'भगवान्' के शब्दोंमें ही 'मूढ़' है और उनको सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम जाननेवाला ही 'असंमूढ' है। भगवान्‌ने इसको गुह्यतम रहस्य बतलाया है। (गीता १५।२०)

यही भगवान् निराकाररूपसे विश्वमें उसी प्रकार व्याप्त हैं जिसप्रकार सूर्यकी रश्मियाँ निराकाररूपसे जगत्‌में पसरी हुई हैं। यह दृष्टान्त पूरा भाव नहीं बतला सकता, केवल शाखाचन्द्रन्यायसे समझानेके लिये है। मतलब यह कि भगवान्‌के साकार विग्रह दिव्य और नित्य हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनसे जुदा है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रश्मि-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अग्निकी भाँति व्यक्त स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप नित्य हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-साकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान्‌के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान्‌के साकार विग्रहके चरणोंमें लोटे रहनेमें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है, कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परन्तु (साकार सगुण) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ वह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार सगुण भगवान्‌की सेवा और लीलाके आनन्दसे वञ्चित होना पड़ता है, जो भक्तके लिये

सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस वासना-बीजको अपने अन्दर बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्‌की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तरकी परवा नहीं करता, कितने ही जन्म हों, किसी भी योनिमें जाना पड़े, परन्तु प्यारे भगवान्‌का हृदयसे कभी विछोह न हो, श्यामसुन्दर कभी आँखोंसे ओझल न हों, वह प्राणधन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी भ्रुकुटिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी रुचिके अनुकूल बिताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका क्रीडनक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं।

भक्त कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
(भागवत ६।११।२५)

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥
(पद्मपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥
मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर!
इच्छामि हि महाभाग! कारुण्यं तव सुव्रत॥
(नारदपाञ्चरात्र)

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक! प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

हे भगवन्! तुम्हें छोड़कर मुझको ध्रुवलोक, इन्द्रपद, सार्वभौम-राज्य, पाताल-राज्य, योगसिद्धि और अपुनर्भव मुक्ति आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। हे देव! वरदाता ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे सकते हैं परन्तु मैं आपसे मोक्ष या मोक्षतकका कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। हे नाथ! आप श्रीगोपालबालमूर्तिसे मेरे मन-मन्दिरमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। हे भगवन्! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है। मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रक्खें। हे धरणीधर! हे महाभाग! मैं सालोक्य, सारूप्यादि मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता। हे सुव्रत! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ।

हे नरकान्तक! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, चाहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है और तो क्या, मृत्यु-समयमें भी मैं तुम्हारे शरद्‌कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा।

इसी परम कल्याणमय वासना-बीजके कारण वह भगवान्‌की नित्य-लीलामें नित्य सम्मिलित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे शून्य होता है या उसे कर्मबन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मबन्धन तो उसी दिन टूट गया था, जिस दिन उसने भगवान्‌को अपने प्राण सौंप दिये थे। ज्ञानकी तो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल स्रोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नित्य विहार करते हैं, तब ज्ञान तो उसे स्वयमेव ही प्राप्त है। ज्ञानका चरम फल मुक्ति उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा लालायित रहती है, परन्तु वह मुक्तिको पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेमसे सदा हृदयमें छिपाये रखता है। 'मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।'*

भगवान्‌की नित्य-लीला

भगवान्‌की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थूल जगत्‌की लीला तो हम सभी देखते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश भ्रमसे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्‌का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा

* भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें है तबतक वहाँ भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे होगा?'

मिलेगा नहीं,' 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' हो तो मिले। परन्तु हम भगवान्‌की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनोकल्पित स्वरूपको सत्य समझकर तुच्छ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य नया दुःख मोल लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्मजगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्व-ब्रह्माण्डोंके सञ्चालन-सूत्रोंको हाथमें लिये हुए भगवान्‌की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत्‌के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत्‌की शक्तियोंके ज़रा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है, दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है जिसमें भगवान् अपने परिकरोंसहित नित्य-लीला करते हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है। और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्‌की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। सगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अन्तर्जगत्‌के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्‌की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको श्रीरामभक्त 'साकेत' श्रीकृष्णभक्त 'गोलोक' श्रीशिवभक्त 'कैलास', परमधाम, महाकारण आदि कहते हैं। यही भगवान्‌का नित्य दिव्य धाम है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं। यहींकी लीलाओंका कुछ बहुत ही स्थूल अंश और बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलनिधिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पञ्चवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान् अपने कतिपय प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और वृन्दावनमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह नित्यविहार आज भी वहाँ होता है, भाग्यवान् जन देख पाते हैं! इसीसे ये लीलाधाम भगवान्‌को अति प्रिय हैं, श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम इसी रहस्यका संकेत करते हैं—

यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

जो यथार्थ ज्ञानमार्गके उपासक या सच्चे भक्त हैं, उनके लिये तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता कि 'ईश्वर हैं या नहीं' उनकी दृष्टिमें यह प्रश्न पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। जो चराचर विश्वको भगवान्‌में और भगवान्‌को विश्वमें व्याप्त देखते हैं या जिनकी आँखोंके सामने भगवान् ललित त्रिभंग नवीन घनश्यामस्वरूपसे सदा थिरकते रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होनेकी चर्चा करना उनका अपमान करना है। ईश्वरको कोई माने या न माने, इससे उनका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। और न ईश्वरका ही कुछ बनता-बिगड़ता है। उल्लूके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तो उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूले हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें डूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी अनीश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे परन्तु यहाँ इस बातका निर्णय ऋषि-मुनियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें ऐसे आदमीका खोजनेपर मिलना मुश्किल था, जो ईश्वरपर अविश्वास रखता हो। श्रीआद्यशंकराचार्य-सदृश वेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिक्षित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे इधरके ग्रन्थोंमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शङ्का ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? इधर कुछ समयसे विदेशी भाषा-भावके अत्यधिक संसर्गसे हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई, और उसीका यह कटु फल है कि आज भारतमें जन्मे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथ च विद्या-बुद्धिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जड़ता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान् सुबुद्धि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे च्युत न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ टूट रहे हैं, इनका बहुत कुछ कारण भगवान्‌के आश्रयको भुला देना है। और जबतक

भगवान्के अधिष्ठानसे शून्य सुखका प्रयत्न जारी रहेगा, तबतक सुख-शान्तिका स्वप्न कदापि सत्य नहीं हो सकता।

सब फल ईश्वर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी अभिलाषा है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें, और उनके बलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें। यह स्मरण रखना चाहिये, कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्के चरणोंसे ही निकलता है। हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलते हैं वे भी वहींसे आते हैं; कारण, खजाना वहीं है। और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतासे मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान् ही है। भगवान्ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान्॥
(गीता ७। २०-२२)

विषयासक्त मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसे रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने स्वभावानुसार भाँति-भाँतिके नियम धारण करते हुए अन्य देवताओंको पूजते हैं। जो भक्त देवताके रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ; फिर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है और उसीके फलसे उक्त देव-स्वरूपके द्वारा उसे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं परन्तु मिलती हैं मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे उक्त देव-स्वरूपके अधिकारमें होती हैं और जितनी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है।

एक आदमी किसी जिलेके अफसरकी सेवा करके उसे प्रसन्न करता है, जिलाधीश प्रसन्न होकर उसे उतना ही पुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको राजासे अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राज्यके कोषसे ही। वह जिलाधीश राजाका प्रतिनिधि राजसत्ताका एक अङ्ग है, राज्य शरीरका एक अवयव है, इससे उसकी पूजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परन्तु वह एक क्षुद्र जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे मिल सकता है। जिलाधीशका पुजारी राजाके महलका अन्तरंग सेवक नहीं बन सकता, परन्तु राजाका सेवक, महलके अन्दर जानेका अधिकारी हो जाता है। 'मद्भक्ता यान्ति मामपि।' भगवान्ने आगे कहा भी है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गीता ९। २३)

हे अर्जुन! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं। परन्तु उनकी वह पूजा अविधिपूर्वक होती है। भगवान् ही सबके आधार, सञ्चालक, फलदाता, फलभोक्ता, स्वामी हैं, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका एवं अन्यान्य जड उपायोंका आश्रय लेते हैं। इसीसे वे बारम्बार दुःखोंमें गिरते हैं 'च्यवन्ति ते।' देवताओंके उपासक देव-लोकमें तो जा सकते हैं, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वको न मानकर जड प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, चाहे वह अर्थोपासना व्यक्तिगत सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनासे हो। जहाँ ईश्वरको भुलाकर केवल अर्थ-लाभसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सत्कर्म-दुष्कर्मका विचार नहीं रहेगा, व्यक्तिगत स्वार्थके लिये दूसरे व्यक्तिका और जाति या राष्ट्रके स्वार्थके लिये दूसरी जाति या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिचकिचाहट नहीं होगी, मनुष्य स्वार्थसे अन्धा हो जायगा, परिणाममें उसे अन्धतम गति ही मिलेगी! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीसे द्वेष, वैर, हिंसा और हत्याओंकी संख्या बढ़ रही है। ईश्वररहित अहिंसा या सत्य भी शीघ्र ही विकृत होकर प्रकारान्तरसे हिंसा और असत्यका रूप धारण कर लेते हैं; अभिमान, ईर्षा, दर्प, असहिष्णुता आदि दोष तो सद्गुणका बाना पहिनकर बढ़ते रहते ही हैं। भगवद्भक्तिसे

शून्य केवल कुछ बाह्य आचरणोंसे सिद्धि, सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

दैवी सम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जरूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कसौटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तमें ही दैवीगुण नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैसे ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अन्धकार है, या अग्निमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तिके विना केवल दैवी-गुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणसे कुछ आते हैं, परन्तु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण है, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले लोग दैवी-गुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पड़ गये कि दैवी-गुण हों या न हों, चाहे हम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे हमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे पूर्वके बड़े-से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे ईंधनके समान तत्काल भस्म हो जाते हैं, परन्तु जो भक्तिके बलपर पापोंको आश्रय देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते हैं, ईश्वरके नामपर मनमाना अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार करते हैं, उनके पाप तो वज्रलेप होते हैं। बात-बातमें ईश्वरका नाम करनेवाले लोग जब दम्भसे भर गये, मनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके स्वांगमें अनाचार होने लगा, भक्तका वेश व्यभिचारी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया। दूसरोंपर झूठा रोब जमाकर उन्हें फुसलाकर झूठी तसल्ली या आश्वासन देकर उनसे धन ऐंठना, उनसे पूजा प्राप्त करना और उनकी बहिन-बेटियोंपर बुरी नजरोंसे देखना आरम्भ हो गया। मन्दिरों और तीर्थोंपर व्यभिचारके अड्डे बन गये, भगवान्‌की मूर्तितकके गहने पुजारियोंद्वारा ही चुराये जाने लगे, तब स्वाभाविक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा, घृणा और दुर्भावना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव जाग्रत् हुआ कि जब ईश्वर इन लोगोंका कुछ भी नहीं करता जो उसके नामपर इतना जुल्म करते हैं, तब उस ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है? यद्यपि लोगोंका यह निश्चय भ्रमपूर्ण है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। आज जो अनीश्वरवादकी लहर बह रही है, इसमें इन भेड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंने ज्ञानी और भक्त-रूपको कलङ्कित करनेवाले मनुष्योंने बड़ी मदद की है। यह सब हुआ और हो रहा है, परन्तु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वव्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकुचाता, छिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है? इन लोगोंके आचरणोंसे ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न सच्चे ईश्वरभक्तों-का ही कुछ बिगड़ता है।

उपसंहार

ईश्वरमें विश्वास होना यद्यपि बड़े सौभाग्यका विषय है, परन्तु यह सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त करना ही पड़ेगा। सत्संग, ईश्वरविश्वासी महात्माओंकी वाणी, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें ईश्वर-विश्वास बढ़ानेवाली ही सब चीजें हों। ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ईश्वरमें अविश्वास करनेसे बढ़कर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इससे मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातसे नहीं होता।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्‌में विश्वास बढ़ानेवाले ग्रन्थ पढ़ने चाहिये, भगवत्-विश्वासी पुरुषोंसे यथावसर मिलने-की चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी शिक्षाओंको सत्य समझकर श्रद्धाके साथ उनके बतलाये

हुए साधनोंको कार्यान्वित करना चाहिये। ऐसा करते-करते जब भगवत्में विश्वास बढ़ जायगा, तब भगवत्कृपाका सूर्य उदय होकर हमारे सारे अन्धकारको दूर कर देगा, फिर हमें सर्वत्र आनन्द, सब ओर शान्ति, सबमें विज्ञानानन्दघन परमात्माका भाव दिखायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतनता, समस्त आनन्द, सम्पूर्ण प्रेम, अखिल ज्ञान और दिव्य माधुर्यकी घनमूर्ति, नव-जलधर, नवकिशोर, नटवर, ललित त्रिभंगभंगीसे मधुर-मुरलीमें सुर भरते हुए हमारे दृष्टिगोचर होंगे, उस अनन्त सौन्दर्यराशि, स्मित-हास्य, पीतवसन और वनमालाधारी, गोप-गोपिका-परिवेष्टित श्याम मूरतिको देखकर फिर कुछ भी देखना, करना-धरना शेष न रह जायगा। उस दिव्य आनन्द-रस-महोदधिमें डूबकर हम गा उठेंगे—

> मुकुटके रंगनिपर इन्द्रको धनुष वारौं,
> अमल कमल वारौं लोचन विसालपर।
> कुंडलकी प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारौं,
> कोटिक मदन वारौं बदन रसालपर॥
> तनके बरन पै नीरद सजल वारौं,
> चपला चमकि मनमोहनकी मालपर।
> चालु पै मराल वारौं, मेरो तनमन वारौं,
> कहा कहा वारि डारौं नँदजू के लालपर॥

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

(लेखक—श्रीफिरोज कावसजी दावर एम० ए०, एल-एल० बी०)

क्या ईश्वर है और यदि है तो वह कौन है और कहाँ रहता है? धार्मिक वृत्तिका मनुष्य जिसे माताके दूधसे ही ईश्वरके अस्तित्वकी शिक्षा मिली है, इस प्रश्नको निरा नास्तिकताका द्योतक तथा इसके उत्तर देनेकी चेष्टाको धृष्टतापूर्ण एवं विफल प्रयास समझेगा। एक शक्तिहीन, असहाय एवं विना पङ्खके पक्षि-शावकके लिये, जो बगलकी कोठरीमें क्या हो रहा है यह देख नहीं सकता और थोड़ी ही दूरपर होनेवाली बातको भी सुन नहीं सकता, अथाहकी थाह लेने अथवा अपरिमेयका माप करनेकी चेष्टा कैसी दुःसाहसपूर्ण समझी जायगी?

अबतक विज्ञान लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई इन तीन परिमाणोंका ही पता लगा सकता था, सम्प्रति प्रो० इंन्स्टीन (Prof. Einstein) नामक आधुनिक वैज्ञानिकने गहराईको चौथा परिमाण बतलाया है। इतनी सीमित मानव-बुद्धि क्या उस परात्पर पुरुषको अवगत कर सकती है जिसकी इयत्ताका अनुभव विज्ञानकी पहुँचके परे और दर्शन-शास्त्रकी गतिसे अतीत है? प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कैण्ट (Kant) ने लिखा है कि भौतिक सृष्टि देश, काल और कार्य-कारणभावरूपी त्रिभुज-प्राचीरसे परिवेष्टित है और हम उसीके अन्दर रहते, चलते, फिरते तथा उत्पन्न होते हैं। मनुष्यके लिये उस अखिल विश्वके रचयिताको अपनी बुद्धिसे मापनेकी चेष्टा कैसी बालिशतापूर्ण है जो देश और कालकी अपेक्षा अनन्तगुना महान् है और देश-कालकी सृष्टि जिसके द्वारा हुई है एवं जिसे अरबी-भाषामें 'मुसब्बबुल असबाब' अर्थात् समस्त कारणोंका कारण कहा गया है? अंशका अंशीको जान लेना और जलसीकरके लिये जलनिधिका थाह लगाना कैसी असम्भव बात होगी? मौलाना रूमीने क्या ही अच्छा कहा है—'तितली, जो वसन्त-ऋतुमें पैदा होकर जाड़ेमें अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर देती है, इस सारे बगीचेकी उत्पत्ति और स्थितिको कैसे जान सकती है?' मनुष्य अपनी बुद्धिके द्वारा जो ऊँची-से-ऊँची कल्पना कर सकता है, ईश्वर उसकी अपेक्षा अनन्तगुना महान् है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि टेनीसन (Tennyson) ने ईश्वरको उच्चताकी वह सीमा बतलाया है जो सदैव ऊँची उठती रहती है (The height that is higher) गम्भीर तत्त्वोंका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करनेवाले उपनिषदोंको भी हारकर अन्तमें यही कहना पड़ा कि ईश्वरके सम्बन्धमें हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह यह भी नहीं है, यह भी नहीं है (नेति-नेति)। फिर वह क्या है, इस सम्बन्धमें उपनिषद् भी मौन धारण कर लेते हैं, इसके सिवा उन्हें कोई दूसरा मार्ग नहीं सूझता। हिन्दू-शास्त्रोंमें ईश्वरको सत् अर्थात् विद्यमान कहा गया है और इससे आगे कुछ कहना बनता भी नहीं।

किसी सजीव पार्थिव पदार्थकी परिभाषा पूर्णरूपसे हो ही नहीं सकती। केवल निर्जीव वस्तुओंका ही ठीक-ठीक लक्षण बतलाया जा सकता है, जीवित तथा विकसित होनेवाले पदार्थोंका नहीं। परमात्मा सत् अर्थात् तीनों कालमें विद्यमान है और इसीलिये उसका कोई भी लक्षण, चाहे वह कितना ही गम्भीर, विचारपूर्ण एवं सूक्ष्म क्यों न हो, उसके स्वरूपका तत्त्वतः पूर्णतया निर्देश नहीं कर सकता।

इसी असमर्थताके कारण नास्तिकोंने ईश्वरके अस्तित्व-को न मानना ही सुकर समझा और वास्तवमें ईश्वर हैं भी ऐसा ही, जो युक्ति और तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। किसी दार्शनिकके लिये ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करना उतना सहज नहीं, जितना एक गँवारके लिये अपने मनमें यह कहना कि 'ईश्वर नहीं' है। तथापि अनन्तताके महासागरमें मैं अपनी बुद्धिरूपी जीर्ण नौका-को छोड़कर उसे थोड़ी दूर घुमा-फिराकर पुनः किनारेपर लौट आना चाहता हूँ क्योंकि मुझे यह भय है कि बिना सोचे-समझे आगे बढ़कर कहीं मेरी यह तरी विशाल तरङ्गोंमें विलीन न हो जाय। यद्यपि यात्रा शङ्कायुक्त है और निर्दिष्ट स्थान दूर है तथा स्पष्टतया भासता है, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरे प्रशस्त उद्देश्यको ध्यानमें रखते हुए सहृदय सज्जन मेरी धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा है कि मनुष्य धार्मिक प्राणी है। (Man is a religious animal) अतएव उसको इस विश्वकी पहेलीके सुलझाये बिना चैन नहीं पड़ता। पेटकी ज्वालाकी अपेक्षा आत्माकी ज्ञान-बुभुक्षा कहीं अधिक प्रबल होती है और वह ज्ञानकी भूख जब एक बार भी जागृत हो जाती है तो वह कदापि बुझ नहीं सकती। प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि राबर्ट ब्राउनिङ्ग (Robert Browning) के 'Cleon' नामक काव्यमें एक दार्शनिकका वर्णन है जो किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर लेनेके अनन्तर सब कुछ जाननेके लिये उत्कण्ठित होता है और परिच्छिन्न एवं अपूर्ण-को समझ लेनेके बाद पूर्ण एवं असीमको समझनेके लिये आकुल हो उठता है। वह कहता है कि ज्ञानशक्तिसम्पन्न मनुष्यकी अपेक्षा एक कुत्तेका जीवन अधिक सुखमय है क्योंकि उसके अन्दर जिज्ञासारूपी मीठी खुजली और ज्ञानकी भूख नहीं होती। उसका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि उसके लिये ईश्वरका आशीर्वाद भी है और अभिशाप भी, क्योंकि वह उसे रात-दिन ईश्वर-सम्बन्धी शंका-समाधानके भँवरजालमें घुमाती रहती है और उसे तब-तक चैन नहीं लेने देती जबतक कि वह सर्वज्ञ न हो जाय। मनुष्यकी यही दशा है। उसे परमात्माने बुद्धि दी है जो उसके लिये सुख एवं दुःख दोनोंका कारण है और जो सदा जागरूक रहकर उसे भाँति-भाँतिकी शंकाओंसे व्यथित करती रहती है एवं उस दिव्य प्रदेशकी ओर उड़ना चाहती है जिसके सम्बन्धमें उपनिषद्में यह कहा है कि वहाँसे वाणी मनके साथ लौटकर चली आती है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वरको बुद्धिसे जान लेना उतना ही असम्भव है कि जितना अंशके लिये अंशी-को। स्वामी रामतीर्थने ठीक कहा है कि इसप्रकारकी चेष्टा सीढ़ियोंसे चढ़कर स्वर्गमें पहुँचनेकी चेष्टाके सदृश व्यर्थ है। ईश्वरके और हमारे बीचमें अन्धकारका जो पर्दा पड़ा हुआ है, उसे विज्ञान बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे भेदने-में सर्वथा असमर्थ है। विज्ञानकी गति पाञ्चभौतिक जगत् एवं प्रकृतिकी क्रीड़ाके आगे नहीं है, सारी दौड़-धूप कर लेनेके बाद वैज्ञानिकको अन्तमें यह पता लगता है कि 'मैं अबतक चक्करमें ही रहा और ईश्वरको जान लेनेके प्रयत्नमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, जहाँसे चला था वहीं अब भी हूँ।' वास्तवमें परमात्म-तत्त्वकी वैज्ञानिक ढङ्गसे छान-बीन करने और उसकी अपार शक्तिको तर्कके द्वारा सीमाबद्ध करने तथा नापनेकी कोशिश करनेमें हम उस परात्पर पुरुषको बहुत छोटा बना देते हैं। एफ० एच० जेकबी (F.H. Jacobi) नामक पाश्चात्य विद्वान्ने कहा है 'वह परमात्मा नहीं रह जाता, जो हमारी समझमें आ सकता हो। (A God whom we can understand would be no God) जो वस्तु भली-भाँति बुद्धिमें आ सकती है, उसके प्रति भय और आदर-का भाव किसके हृदयमें उत्पन्न होगा? उस व्यक्तिके सामने, जिसे हम समझ सकते हैं, अपने अधीन कर सकते हैं और जिसका विश्लेषण कर सकते हैं और इसप्रकार जो हमसे कहीं छोटा है, हम क्यों सिर झुकायँगे? ऐसी दशामें ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ रहेगी? वह तो उसके उपासकका गुण बन जायगी, जो एक असम्भव बात होगी। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक रूसो

(Rousseau) ने कहा है कि ईश्वरको मैं जितना कम समझता हूँ, उतना ही अधिक भक्तिके साथ मैं उसकी प्रार्थना करता हूँ। (The less I comprehend God, the more devoutly do I pray) उसकी यह उक्ति बहुत अंशमें उचित ही है। कल्पना और चिन्तन, काव्य एवं कला तथा स्वप्न एवं छायादर्शनके द्वारा हम उस तिमिराच्छन्न मन्दिरके स्वामीकी अस्पष्ट-सी झलक ही पाते हैं जिसके कपाट उन लोगोंके लिये बन्द रहते हैं, जिनका उसके अन्तरङ्गमण्डलमें प्रवेश नहीं है। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा ही हम परमात्माको जान सकते हैं, नहीं, नहीं, अनुभव कर सकते हैं, जान नहीं सकते। साक्षात्कारके द्वारा उसे उपलब्ध कर सकते हैं। हम ईश्वरको जान नहीं सकते, ईश्वर बन सकते हैं और जिसप्रकार चिनगारी अग्निकी लपटके साथ मिलकर एक हो जाती है अथवा जलकी बूँद समुद्रमें समा जाती है उसी प्रकार हम उसके स्वरूपमें घुल-मिल जा सकते हैं। हमें किसी फलका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है। प्रथम, यह है कि हम उसे किसी वैज्ञानिकके पास ले जायँ जो हमें उसका परिमाण तथा तोल बतलावे, वह किन-किन तत्त्वोंसे बना है तथा उसकी जाति एवं अवान्तर-भेद क्या है, यह निश्चय करे और कदाचित् उसका कठिन लैटिन भाषाका नाम बताकर हमें भयभीत कर दे। परन्तु वास्तवमें हम उस फलको तभी यथार्थ जान सकते हैं, जब हम उसका आस्वादन कर उसे उदरस्थ कर लेवें। बाह्य-ज्ञानकी प्रक्रिया किसी अंशमें अवश्य लाभदायक होती है, किन्तु वास्तविक अनुभव तो अपरोक्ष-ज्ञानसे ही सम्भव है। अतएव ईश्वरका साक्षात्कार बाह्य-प्रक्रियासे नहीं, किन्तु आन्तरिक प्रक्रियासे, चर्म-चक्षुसे नहीं किन्तु आभ्यन्तर-चक्षुसे, आत्म-शुद्धि, आत्मज्ञान तथा आत्म-निग्रहसे ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि महान् दार्शनिक महान् आस्तिक भी हों। आज बेकन (Bacon) साहब यदि जीवित होते तो वे निम्नलिखित अयौक्तिक बात भूलकर भी न कहते जो उन्होंने (यद्यपि बुरी नीयतसे नहीं) कही थी। वे कहते हैं—'दर्शन-शास्त्रका अल्पज्ञान मनुष्यको परमात्मासे विमुख बना देता है क्योंकि वह उसको परमात्माके अतिरिक्त अन्यान्य कारणोंपर अधिक जोर देना सिखलाता है; किन्तु गहन दार्शनिक विचार पुनः मनुष्यको ईश्वरकी ओर झुका देते हैं।' यदि बुद्धि-जन्य ज्ञानकी पूर्णतासे ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती, तो संसारके अनेकों प्रसिद्ध विद्वान् नास्तिक क्यों बने रहते? इसके विपरीत ऐसे अनेक भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुष और योगी हो चुके हैं, जिन्हें अक्षर-ज्ञान भी नहीं था, यहाँतक कि जो अपना नाम भी स्वयं नहीं लिख सकते थे। परमात्माकी प्राप्ति बुद्धिके विकासका फल नहीं है, अपितु आत्माके उद्बोधका परिणाम है, जो आभ्यन्तर-दृष्टिकी शक्ति बढ़नेसे ही सम्भव हो सकता है, अधिक शक्तिसम्पन्न बौद्धिक चश्मेके धारण करनेसे नहीं। बुद्धिवादका चश्मा तो आध्यात्मिक दृष्टिकी मन्दताका ही द्योतक है। किन्तु चलिये, पहले तार्किक प्रमाणोंसे निपट लें और देख लें कि इसप्रकारके प्रमाणोंसे हमारा समाधान नहीं हो सकता। इसके अनन्तर आभ्यन्तर-ज्ञानकी प्रक्रियाका उल्लेख करेंगे, जो ईश्वरके साक्षात्कारकी एकमात्र कुंजी है।

ईश्वरवादी दार्शनिकोंने ईश्वरके अस्तित्वको पुष्ट करनेवाले प्रमाणोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—

१—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले, जिसमें वस्तुओंके तत्त्व एवं स्वभावका विचार होता है (Ontological)।

२—सृष्टि-विकासके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाले (Cosmological)।

३—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले जिसमें संसारके आदिकारणोंपर विचार किया गया है (Teleological)।

इङ्गलैंडके पादरी एन्सेल्म (Archbishop Anselm) और प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक डेकार्टे (Descartes) इन दोनोंने पहली श्रेणीके प्रमाणोंसे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध किया है। इनका सिद्धान्त यह है कि हमारे अन्तःकरणमें ईश्वरकी जो भावना है, वह ईश्वरकी प्रेरणासे ही है और उससे ईश्वरकी बाह्य-सत्ता सिद्ध है। ईश्वरकी कल्पना ही उसकी सत्यताका प्रमाण है। डेकार्टेकी मान्यता यह थी कि जिसप्रकार गणित-शास्त्रमें त्रिभुजकी कल्पनाके लिये यह मानना आवश्यक है कि उसके तीन कोण मिलकर दो समकोणके बराबर होते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी कल्पनाके लिये उसका अस्तित्व आवश्यक एवं अनिवार्य है। महान् दार्शनिक हेगेल (Hegel) का भी इस सिद्धान्तकी ओर झुकाव था क्योंकि उसका यह विश्वास था कि ईश्वर हमारी भावनाका ही मूर्त-रूप है। उसकी मान्यता यह भी कि ईश्वरका अस्तित्व हमारे धार्मिक अनुभव-

का विषय है और हमारा अनुभव जितना अधिक गहन और व्यापक होगा, ईश्वरकी अभिव्यक्ति हमारे लिये उतनी ही अधिक वास्तविक होगी। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणसे पूर्ण समाधान नहीं होता, क्योंकि ईश्वरकी कल्पनासे उसके अस्तित्वको सिद्ध करना दोषयुक्त तर्क है। प्रो० नाइट (Prof. Knight) अपने ग्रन्थ 'Aspects of Theism' में (जिससे मुझे इस प्रश्नपर विचार करनेमें अत्यधिक सहायता मिली है) लिखते हैं कि उपर्युक्त प्रमाणका तभी कुछ मूल्य हो सकता है जब इसके द्वारा यह प्रमाणित हो सके कि ईश्वरकी भावना हमारी बुद्धिमें इतनी बद्धमूल हो गयी है कि वह हमारे अन्तःकरणसे निकल ही नहीं सकती। परन्तु यह सिद्ध करना आसान नहीं है। फिर एक बात और है। यदि हम इस प्रमाणका अनुसरण करें तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'Centaur' नामक भयानक जन्तुके अस्तित्वपर भी विश्वास करें, जिसका आधा शरीर यूनानकी आख्यायिकाओंमें घोड़ेका-सा और आधा शरीर मनुष्यका-सा वर्णन किया गया है, क्योंकि इस प्रकारके जन्तुकी कल्पना हम अपने मनमें अवश्य कर सकते हैं। अतः यह प्रमाण निरा काल्पनिक है और वास्तविक तथ्यके सामने बिल्कुल ही ठहर नहीं सकता।

सृष्टि-विकास-सम्बन्धी (Cosmological) प्रमाणका स्वरूप यह है कि बिना कारणके जगत्‌में किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती और उस कारणका भी कारण होना चाहिये और इसप्रकार प्रत्येक कारणके कारणका अनुसन्धान करनेसे हम जगत्‌के आदिकारणतक पहुँच जाते हैं और वह आदिकारण ईश्वर है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) के मतमें जगत्‌का यह चरम एवं चेतन कारण संसाररूपी चक्रका प्रधान सञ्चालक है जो सबको घुमाता है किन्तु स्वयं अचल है, जो पूर्ण निराकार अतएव दिव्य चेतन-शक्ति है। उसकी मान्यता यह थी कि क्रिया चाहे नित्य ही क्यों न हो, वह अगणित सांसारिक विधानोंके साथ नहीं हो सकती, जबतक कि अन्य सबका हेतु कोई मूल कारण न हो। किन्तु इसके विरुद्ध ह्यूम (Hume) जैसे दार्शनिकके लिये यह तर्क उपस्थित करना बिल्कुल सहज था कि कारणका अनुसन्धान ईश्वरतक ही सीमित क्यों रहे? ईश्वरके भी कारणका पता क्यों न लगाया जाय? यही नहीं, ईश्वरके कारणका पता लग जानेपर भी क्यों रुका जाय? इस अनुसन्धानके कार्यमें कहीं भी रुकनेकी क्या आवश्यकता है? फिर यदि हम आदिकारण अर्थात् ईश्वरका पता लगाकर रुक जाते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि हम ईश्वरको केवल विश्वासके आधारपर मान लेते हैं। यह चाहे आवश्यक ही हो किन्तु ऐसी दशामें हमारी विचारपद्धति वास्तवमें तर्क-प्रधान नहीं रह जाती। अतः यह प्रमाण भी जो बहुधा उपस्थित किया जाता है, तर्ककी कसौटीपर नहीं उतरता।

ईश्वरवादके पक्षमें सबसे अधिक सम्मान्य प्रमाण Teleological है, जिसके अन्तर्गत 'जगत्‌की सप्रयोजनता' (Argument from design) का प्रमाण भी है। इसका स्वरूप यह है कि सृष्टिमें ऐसी अद्भुत व्यवस्था एवं नियमितता है कि हमारे लिये यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कोई महान् रचनेवाली शक्ति अवश्य है जिसने इस विचित्र संसारकी रचना की है। मान लीजिये कि एक टूटा-सा पुराना छकड़ा पत्थरोंसे लदा हुआ सड़कपर जा रहा है, उसमेंसे पत्थर जमीनपर गिरते जा रहे हैं और विचित्रताकी बात यह है कि वे पत्थर इस क्रमसे गिर रहे हैं कि उनके संयोगसे अपने आप निम्नलिखित वाक्य बन जाता है—

'बम्बई एक विशाल और सुन्दर नगरी है।'

यदि हमें कोई यह बात कहे तो क्या हम उसपर विश्वास करेंगे? एक चलती हुई गाड़ीपरसे स्वतः गिरनेवाले पत्थर क्या कभी इस नियमसे गिर सकते हैं कि उनके संयोगसे एक वाक्य बन जाय, जबतक कि किसी पुरुष-विशेषने यह काम न किया हो? इसी प्रकार सृष्टिके कार्य भी इतने नियमित होते हैं कि हम यह कभी नहीं मान सकते कि यह सारे कार्य परमाणुओंके आकस्मिक संयोगके ही फल हैं, अपितु हमें यह मानना पड़ता है कि कोई ऐसी चेतनशक्ति अवश्य है, जिसने किसी निश्चित उद्देश्यको लेकर इस सारे विश्वकी रचना की है। इसके अतिरिक्त हम इस बातका अनुभव करते हैं कि इस विश्वके जितने भी विधान हैं, वे सब अनन्त होते हुए भी सामञ्जस्यसे युक्त हैं। इसलिये हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि इन सबका विधायक एक सर्वज्ञ एवं अविनाशी अवश्य होना चाहिये।

किन्तु यह सिद्धान्त भी, जो सामान्यतया बहुत युक्तियुक्त प्रतीत होता है, पूर्ण एवं पर्याप्त नहीं है। यह

ब्रह्माण्ड यद्यपि अत्यन्त विशाल है किन्तु फिर भी ससीम है और इस ससीमके द्वारा ईश्वरका अनुमान करनेमें यह दोष आता है कि ससीम कार्यकलापसे हम एक असीम उपादान-कारणका अनुमान करते हैं, चाहे वे कार्यकलाप असंख्य ही क्यों न हों। हाँ, यदि हम किन्हीं दूसरे प्रमाणोंसे यह निश्चय कर लें कि कोई ईश्वरीय शक्ति है, तब तो हम इसप्रकारका अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। और ऐसा करनेपर हम लौटकर फिर उसी स्थानपर पहुँच जाते हैं जहाँसे चले थे। जबतक हम निखिल विश्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर लें, तबतक (अल्पज्ञानी) हम उसके अनन्त विधानोंके सम्बन्धमें अपना निर्णय कैसे दे सकते हैं? और कैसे हम इसप्रकार करनेके लिये अपनेको विश्वसे ऊपर उठा सकते हैं? ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब हम ईश्वरके समान शक्तिसम्पन्न बन जायँ। अतएव उपर्युक्त प्रमाणके द्वारा हम ऐसे पुरुषका ही अनुमान कर सकते हैं जो विश्वका नियामक अथवा संयोजकमात्र है, विश्वके रचयिता अथवा उत्पादकका अनुमान इससे नहीं होता। इस सिद्धान्तसे हम केवल उसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसका निर्माण किया गया हो, सृष्टि नहीं। इस सिद्धान्तमें एक दोष और भी है। वह यह है कि विश्वके असंख्य विधान परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि कार्य-कारणके दीर्घ अनुसन्धानके अनन्तर किसी मूल कारणतक पहुँचनेके बदले हम घूम-फिरकर वहीं लौट आते हैं, जहाँसे हम चले थे और इसप्रकार यह Teleological प्रमाण अधिक व्यापक होनेके कारण खण्डित हो जाता है। थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि इस प्रमाणसे हम एक महान् शिल्पीका अनुमान कर सकते हैं किन्तु इसप्रकारका शिल्पी अपनी कारीगरीके लिये हमारी प्रशंसाका पात्र भले ही हो, पर प्रो० नाइट (*Prof.* Knight) के कथनानुसार इससे कोई ऐसी बात सिद्ध नहीं होती जिससे हमारे अन्दर उक्त शिल्पीके नैतिक चरित्रके प्रति श्रद्धा और आदरका भाव उत्पन्न हो।

किन्तु यद्यपि ये सारे प्रमाण तर्ककी कसौटीपर खरे नहीं उतरते, तथापि इनके अन्दर तथ्यका कुछ अंश अवश्य है, इसलिये हमें चाहिये कि उन्हें निष्प्रयोजन समझकर उनकी अवहेलना न करें, किन्तु उन्हें एक दूसरेका सहायक समझें। ईश्वरकी सिद्धि रेखागणितके किसी सिद्धान्तकी तरहसे नहीं हो सकती, किन्तु साथ ही हम इस बातमें कैण्ट (Kant) से सहमत हैं कि ईश्वरके अस्तित्वका निषेध करना भी उतना ही निष्फल है। ईश्वर और आत्माकी अमरताका प्रश्न तर्कसे हल नहीं होता। निरे तर्कके आधारपर आरूढ़ रहनेसे संसारके कारणके सम्बन्धमें अज्ञानका ही आश्रय लेना होगा। जिसे हक्सले (Huxley) नामक दार्शनिकने अज्ञातवाद (Agnosticism) का नाम दिया है।

इस सम्बन्धमें कैण्ट (Kant) ने ठीक कहा है कि—

'Both parties to the dispute beat the air; they worry their own shadow, for they pass beyond nature to a region where their dogmatic grips find nothing to lay hold of.'

'इस वादमें वादी-प्रतिवादी दोनोंका ही प्रयास व्यर्थ है; वे अपने ही प्रतिबिम्बपर आघात करते हैं, क्योंकि वे प्रकृतिका उलंघन कर ऐसे प्रदेशमें जा पहुँचते हैं जहाँ उन्हें अपने विधि-निषेधरूपी वाग्जालमें फँसानेके लिये कोई वस्तु मिलती नहीं।' यह ठीक है कि ज्ञान ही शक्ति है किन्तु वह ज्ञाताकी बुद्धि-शक्तिसे सीमित है और इसलिये वह सदा परिच्छिन्न रहती है। महाकवि Browning ने अपने काव्य 'Cleon' में एक झरनेका दृष्टान्त दिया है, जिसके ऊपर एक कन्याकी प्रतिमा खड़ी है और उसके सिरमें एक छिद्र है जिसमेंसे होकर जलका प्रवाह निकलता है। उस झरनेका जल जगत्‌की नदियों, समुद्रों और महासागरोंके जलसे सम्बन्धित है किन्तु उस लड़कीको केवल उसी जलका ज्ञान है जो उसके सिरमेंसे होकर निकलता है। इसी प्रकार ज्ञानकी राशि भी महान्, विस्तृत एवं शक्तिमय है किन्तु मनुष्यको उतनी ही परिमित राशिका ज्ञान है जिसका उसने स्वयं अर्जन किया है। और ऐसे परिमित ज्ञानके अन्दर उस अपरिमित शक्तिका समावेश किसी प्रकारसे नहीं हो सकता। इसलिये तर्कके आश्रयको तिलाञ्जलि देकर हम अपने अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय आभ्यन्तर-ज्ञान (Intuition) की शरण लेते हैं जिसके बिना हेनरी बर्गसों (Henri Bergson) बर्ट्रैण्ड रसेल (Bertrand Russell) और केसरलिन (Count Keyserling) जैसे आधुनिक महान् दार्शनिकोंके मतके अनुसार सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, बुद्धिजन्य ज्ञानकी प्रक्रिया बाह्य

(विषयाकार) होती है, इस प्रक्रियामें बाहरसे ज्ञानका अर्जन होता है; इसीलिये इसमें देरसे सिद्धि होती है। इसके विपरीत आभ्यन्तरिक ज्ञानकी प्रक्रिया आन्तरिक (आत्माकार) होती है और इसके द्वारा सत्यका प्रकाश तत्काल ही हमारी बुद्धिपर पड़ता है, आभ्यन्तरिक ज्ञानका अर्थ है अन्तरका ज्ञान—वह ज्ञान जो भीतरसे उत्पन्न हो। या यों कहिये कि आभ्यन्तरिक ज्ञान (Intuition) का अर्थ सन्निकर्षज्ञान अथवा अपरोक्षानुभव है। बुद्धि ऊसरभूमिकी भाँति निष्फल, सन्दिग्ध एवं सत्य-दर्शनमें असमर्थ है; उसकी गति इन्द्रियगम्य इस मिथ्या जगत्तक ही है। इसके विपरीत आभ्यन्तरिक ज्ञान असन्दिग्ध, उत्पादनशील एवं विकासशील है और वास्तविक जगत्में मनका स्वतन्त्र व्यापार ही इसका स्वरूप है। जंगली जातियाँ एवं जीव-जन्तु नैसर्गिक बुद्धि (Instinct) से काम करते हैं जिसमें तर्कका अंश नहीं होता और जो विषयका साक्षात् ज्ञान करा देती है। इस नैसर्गिक ज्ञान एवं आन्तरिक ज्ञानमें सादृश्य अवश्य प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इन दोनोंमें महान् अन्तर है। उदाहरणतः एक छोटा बच्चा भी अकृत्रिम सरल पद्यरचना कर सकता है और वही काम एक प्रौढ़ विद्वान् और विचारशील पुरुष भी करता है। किन्तु उस विद्वान्की कवितामें जो सरलता है वह उसके गम्भीर विचार एवं विस्तृत अध्ययनका परिणाम है, जिससे वह बालक सर्वथा अनभिज्ञ है। आभ्यन्तरिक ज्ञान (Intuition) में नैसर्गिक ज्ञानकी अपरोक्षता और बुद्धिजन्य ज्ञानकी स्वानुभूति ये दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। विज्ञानके लिये बुद्धिकी आवश्यकता है किन्तु योग (Mysticism) एवं धर्मके लिये आन्तरिक ज्ञान अपेक्षित है। आधुनिक दार्शनिकोंके मतमें दर्शनके लिये भी इसकी आवश्यकता है। आन्तरिक ज्ञानमें सृजनकी शक्ति होती है और बुद्धिमें केवल निर्माणकी। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा अस्थिर और चल-पदार्थोंका भी ग्रहण हो सकता है किन्तु बुद्धिके द्वारा केवल निश्चल पदार्थोंका ही बोध होता है। आन्तरिक ज्ञानका सम्बन्ध कविके हृदयकी ईश्वरीय कल्पना एवं दिव्य प्रतिभासे है और बुद्धिका सम्बन्ध केवल वर्णविन्यास एवं मात्रा जोड़नेसे है जो गौण कार्य है। अवश्य ही बुद्धिकी उपयोगिता एवं व्यावहारिकतामें कोई सन्देह नहीं है। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा सत्य तत्त्वका निर्णय हो जानेपर बुद्धि उसे तर्ककी पोशाक पहनाकर भाषामें अभिव्यक्त करती है, जिससे केवल बुद्धिका आश्रय लेनेवाले लोग उसके आशयको समझ सकते हैं। यह आन्तरिक ज्ञान सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं है, इने-गिने भाग्यवान् पुरुषोंको ही यह उपलब्ध होता है और वे लोग भी उसकी वाणीको तभी सुन सकते हैं, जब उनकी दूषित वासनाएँ और भौतिक विकार पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। ईसामसीहके शब्दोंमें वे ही लोग धन्य हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, क्योंकि ऐसे पुरुष ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं। (Blessed are the pure in heart, for they shall see God.) प्रो० नाइट (Prof. Knight) इस सम्बन्धमें हमें आन्तरिक ज्ञानका एक विशेष गुण बतलाते हैं। उनका कहना है कि आन्तरिक ज्ञान स्वतःप्रकाश नहीं होता, किन्तु उसे उस अलौकिक वस्तुसे प्रकाश प्राप्त होता है जिसको वह अपना विषय बनाता है। आन्तरिक ज्ञान स्वयंप्रकाशरूप नहीं, किन्तु प्रकाशका ग्रहण करनेवाला चक्षु है, क्रियाशील शक्ति नहीं, किन्तु क्रियाका आधारभूत एक विचित्र करण है और जबतक वह उस पदार्थसे उद्भूत होनेवाले अलौकिक प्रकाशसे, जिसको वह ग्रहण करता है, नहीं जगमगा उठता, तबतक वह मन्द एवं प्रतिभाहीन रहता है।

इसी आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे हम सृष्टिके अन्दर ईश्वरकी सत्ताका अनुभव करते हैं। जिन लोगोंको यह ज्ञान प्राप्त नहीं है उन लोगोंके लिये ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करना उतना ही सहज है जितना कि सूर्यके प्रकाशको चमगीदड़का न मानना। किन्तु दर्शनकी शक्ति समाप्त हो चुकी है, उसने भी अब आन्तरिक ज्ञानकी आवश्यकताको स्वीकार किया है और यह मान लिया है कि इसके बिना सत्यकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इस आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे भी हम ईश्वरको पूर्णरीत्या समझ नहीं सकते, उसका अनुभवमात्र कर सकते हैं और अधिक-से-अधिक उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी झलकमात्र पा सकते हैं। महासागरमें अपार जलराशि है किन्तु हम उसमेंसे उतना ही जल ले सकते हैं जितना हमारे बर्तनमें समा सकता है। इसी प्रकार हमलोग अपने-अपने आध्यात्मिक विकासकी मात्राके अनुसार ही ईश्वरका अनुभव कर सकते हैं। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ईश्वरकी सत्ता अनुमानका विषय नहीं है किन्तु एक स्वतःसिद्ध परमावश्यक तत्त्व है जो उस आन्तरिक ज्ञानकी

भित्तिपर स्थित है। जिस आन्तरिक ज्ञानकी जड़ हमारे अनुभवके अन्दर ऐसी दृढ़ताके साथ जमी हुई है कि वह किसी प्रकार उखड़ ही नहीं सकती। ईश्वरका अस्तित्व विश्वासकी वस्तु है, तर्क एवं अनुमानका विषय नहीं। ससीमको समझनेके लिये असीमको मानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि असीमके आधारके बिना ससीम समझमें नहीं आ सकता। अन्नके आस्वादनके लिये हमें यह पहलेसे ही मान लेना पड़ता है कि हमारे मुखमें एक रसनेन्द्रिय है जिसके बिना हम स्वादका यथार्थ अनुभव नहीं कर सकते, चाहे हम पाकशास्त्रके पारङ्गत बड़े विद्वान् क्यों न हों। जिसप्रकार ससीमसे पृथक् हम असीमका परिज्ञान नहीं कर सकते उसी प्रकार असीमके बिना हम ससीमको भी हृदयङ्गम नहीं कर सकते। जिसप्रकार 'केवल' (Absolute) से भिन्न हम 'सापेक्ष' (Relative) को नहीं समझ सकते क्योंकि 'केवल' उसकी आधार-भित्ति है, उसी प्रकार 'सापेक्ष' से पृथक् हम 'केवल' को नहीं समझ सकते। सभी प्रकारका ज्ञान सापेक्ष है और हम ससीम एवं असीमका ज्ञान उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं विरोधके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। पारस्परिक सम्बन्ध और विरोधी वस्तुओंकी अन्योन्याश्रयता, ये सभी प्रकारके ज्ञानके लिये आवश्यक हैं। जिसप्रकार ससीमके अन्दर असीमका भाव अभिप्रेत है उसी प्रकार असीमके अन्दर ससीमका भाव अन्तर्हित है। कैण्ट (Kant) ने भी ईश्वरकी सत्ता और आत्माकी अमरताको स्वतःसिद्ध तत्त्व माना है और कहा है कि ये तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु इनका हमारे नैतिक जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इन तत्त्वोंको स्वतःसिद्ध मानना तर्ककी प्रक्रियाको छोड़कर श्रद्धा और विश्वासकी कोटिका अवलम्बन करना है। किन्तु इसप्रकारके श्रद्धा-विश्वासमें और एक असभ्य जङ्गली मनुष्यके अन्धविश्वासमें बड़ा अन्तर है और न यह विश्वास मध्यकालीन पादरी साधुओंके विवेकहीन तर्कशून्य विश्वासके सदृश ही है। बल्कि यह एक पक्षपातरहित दार्शनिकका विवेकयुक्त विश्वास है जिसे इस प्रश्नकी दार्शनिक ढङ्गसे मीमांसा करनेके बाद स्वयं उसकी बुद्धिने प्रेरणा की है कि तुम इस बखेड़ेको छोड़कर बुद्धिसे भी बड़े किसी दूसरे उपाय—आन्तरिक ज्ञान—की शरण लो। महाकवि टेनीसनके निम्नलिखित पद्यका भी यही आशय है—

By faith and faith alone embrace,
Believing where we can not prove.

अर्थात् हमें श्रद्धाका ही आश्रय लेना उचित है, क्योंकि जिस विषयको हम तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, वहाँ विश्वासके सिवा कोई गति नहीं है।

आधुनिक तर्क-प्रधान युगमें भी यह प्रश्न तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकता। तथापि धार्मिक वृत्तिके मनुष्य कवियोंकेसे आन्तरिक ज्ञानके प्रकाशकी सहायतासे किसप्रकार उस परमात्माको अपनी आशा और विश्वासका केन्द्र बनाते हैं, इस बातको इसी महान् एवं प्रतिभाशाली कविने अपनी भव्य अमरवाणीमें इसप्रकार अङ्कित किया है।

I stretch lame hands of faith and grope,
And gather dust and chaff and call,
To what I feel is Lord of all,
And faintly trust the larger hope.

अर्थात् मैं श्रद्धाके लूले हाथोंको फैलाकर इधर-उधर टटोलता और धूल एवं भूसा इकट्ठा करके उस परमात्माको पुकारता हूँ। मैं समझता हूँ कि वह सबका प्रभु है और इसप्रकार उस महत्तर आशामें विश्वास करता हूँ, चाहे वह विश्वास दृढ़ न हो।

अवश्य ही हम प्रत्येक वस्तुमें विश्वास नहीं कर सकते और न हम सन्देहका क्षेत्र इतना बढ़ा सकते हैं कि जिससे हम प्रत्येक बातमें अविश्वास करने लग जायँ। तथापि यह मानना पड़ेगा कि श्रद्धा और संशय इन दोनोंमें श्रद्धा कहीं अधिक शक्तिशालिनी, स्थिरतापादिका और जीवनदायिनी है। हम श्रद्धाके बिना तिलभर भी आगे नहीं बढ़ सकते, एक शब्द भी नहीं बोल सकते और तनिक भी गम्भीर विचार नहीं कर सकते। बाइबलमें भी कहा है।

We walk by faith, not by sight.

अर्थात् हम श्रद्धाके सहारे चलते हैं, नेत्रोंके नहीं।

श्रद्धाने मानव-जातिके मार्गमेंसे कठिनाइयोंके दुर्गम पर्वतोंको दूर कर दिया और अपने उपासकोंके जीवनमें चमत्कार उत्पन्न कर दिये। सैकड़ों वर्षोंतक दार्शनिक वाद-विवादमें मगजपच्ची करनेके बाद भी जब बुद्धि असीमको नहीं समझ सकी है और वह अपने सिंहासनपर आन्तरिक ज्ञानको प्रतिष्ठित करना चाहती है; यदि आन्तरिक ज्ञानके द्वारा हम सत्यकी झलकमात्र भी पा

सकें, क्योंकि वहाँ तर्ककी गति नहीं है और यदि इस आन्तरिक ज्ञानकी करामातमें विश्वास करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग निष्पक्ष जिज्ञासुके लिये न हो तो क्या इस आन्तरिक ज्ञानरूपी उपकरणका वहिष्कार करना हमारी बुद्धिमत्ताका परिचायक होगा ? दर्शन-शास्त्रके शस्त्रागारमें इससे बढ़कर शक्तिसम्पन्न कोई दूसरा शस्त्र नहीं है। इसका आश्रय छोड़कर इन्द्रियोंके अनुभवका, जो हमारी सदा प्रवञ्चना करती रहती हैं तथा हमारी सीमित बुद्धिके व्यापारका सहारा लेना और इनके सामर्थ्यमें अपार विश्वास करना, (यद्यपि वास्तविक जगत्‌में इनका कोई मूल्य नहीं है) और इसप्रकार नास्तिकताके घोर अन्धकारमें भटकना हमारे लिये कहाँ-तक उचित है ? अतएव विवेकी पुरुषोंके लिये यह उचित है कि वे शान्तिपूर्वक इस प्रश्नपर विचार करें और 'ईश्वर-विश्वास' को छोड़कर अपने मिथ्या अभिमान और अज्ञानका परिचय न दें। रिक्टर (Richter) नामक पाश्चात्य विद्वान्‌ने ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहा है कि 'मनुष्यकी विचारशक्तिका सबसे उत्कृष्ट नमूना ईश्वरका विश्वास ही है।'

आन्तरिक ज्ञानकी इस सीमापर पहुँचकर दर्शन-शास्त्र योगकी सहायता लेता है, जो आध्यात्मिक जीवनकी विद्या कहलाती है। दार्शनिकका काम है तर्क करना और विचारके घोड़े दौड़ाना; किन्तु योगीका जीवन, उसकी दृष्टि एवं बातचीत ईश्वरमय पुरुषके सदृश होती हैं। योगीको विश्वास होता है कि वह उन तथ्योंका भी आध्यात्मिक रीतिसे अनुभव कर सकता है जो बुद्धिकी पहुँचके बाहर हैं। यद्यपि वह सत्यका अनुभव कर लेता है तथापि वह उसे सिद्ध नहीं कर सकता। उसके अनुभव-तक वही पहुँच सकता है जो आध्यात्मिक विकासमें उसकी कोटितक पहुँच गया हो। वह बहुत पहलेहीसे बुद्धि और इन्द्रियोंसे विदा ले चुकता है। वह परमात्माको जानता नहीं किन्तु उसका अनुभव करता है; यही नहीं, परमात्माके साथ उसकी एकता हो जाती है। उसके मन अथवा उसके हृदयकी क्रिया आन्तरिक ज्ञानके द्वारा होती है और उस आन्तरिक ज्ञानके द्वारा उसका अपने रचयिताके साथ सम्पर्क हो जाता है। उसकी भाषामें दृष्टान्तों और रूपकोंका गहरा रङ्ग चढ़ जाता है; उसका जीवन पूर्णतया प्रेममय एवं त्यागमय बन जाता है। जिसप्रकार सूर्यके प्रकाशको सिद्ध करनेके लिये हमें किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार उसकी दृष्टिमें परमात्माकी सत्ता प्रमाणापेक्ष नहीं रह जाती। वह अपने निश्चित मार्गपर आरूढ़ रहता है। और उसकी दृष्टि अपने लक्ष्यकी ओर लगी रहती है। वह उस उच्च दिव्य-जीवन-सम्पन्न बन जाता है, जिसके लिये लोग तृषित रहते हैं परन्तु इच्छा होनेपर भी अपेक्षित योग्यता अथवा पुण्यसञ्चय न होनेके कारण उसे प्राप्त नहीं कर सकते। प्लाटीनस (Plotinus) नामक पाश्चात्य दार्शनिकके जीवनका उद्देश्य यह था कि योगके द्वारा वह परमात्मामें विलीन हो जाय। उसका यह विश्वास था कि सत्यका ज्ञान तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता; वह तो तभी प्राप्त हो सकता है जब कि खोज करनेवाला अपनी अभीष्ट वस्तुके साथ घुल-मिलकर एक हो जाय। जिसप्रकार शिल्पी अपने निकम्मे औजारोंको फेंक देता है, उसी प्रकार योगी तर्क और युक्तिका निराकरण कर देता है और योग एवं ध्यानमें लग जाता है, क्योंकि वे ही उसे अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँचा सकते हैं, जब वह उस चरम दशाको पहुँच जाता है जहाँतक मनुष्यकी पहुँच हो सकती है, तब उसके और ईश्वरके बीचका परदा सदाके लिये हट जाता है। फिर वह ईश्वरके अतिरिक्त न तो कुछ जान सकता है, न देख सकता है, न अनुभव कर सकता है। वह सारी सृष्टिमें उस एकको ही देखता है और उसीमें विलीन हो जाता है। इसप्रकार वह उस विश्वके साथ अपनी एकता स्थापित कर लेता है जो उस विश्वेश्वरकी ही झाँकी है (The vision of Him who reigns) ईरान-देशके महान् योगी शम्शतब्रेज़ने इस अवस्थाका वर्णन अपने निम्नलिखित पद्यमें बहुत ही सुन्दरतासे किया है जो उसके सर्वोत्कृष्ट काव्यमेंसे लिया गया है—

> दुई रा चूं वदर करदम यकी दीदम दु आलम रा।
> यकी बीनम, यकी जूयम, यकी खानम, यकी दानम॥

अर्थात् ज्यों ही मैंने द्वैत-बुद्धिको निकाल बाहर किया वैसे ही मुझे दोनों जगत् (आध्यात्मिक और आधिभौतिक) एक ही दिखायी देने लगे। अब मैं एकको ही देखता हूँ, एकको ही ढूँढ़ता हूँ, एकको ही पढ़ता हूँ और एकको ही जानता हूँ। युक्तिवादी मनुष्य इसप्रकारके महात्माको भले ही पागल समझें, जैसा कि बहुधा लोग समझा करते हैं; किन्तु वह दिन दूर नहीं है जब हम इस बातका

तर्कसे सिद्ध होना सुनेंगे कि यह भली ही दार्शनिक विचारकी चरम सीमा है।

भारतवर्षके लोग पहलेसे ही इस बातको मानते आये हैं। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने क्या ही ठीक कहा है कि संसारमें सर्वत्र धर्म और दर्शन-शास्त्रमें विरोध दिखायी देता है। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ दोनोंमें सामञ्जस्य है। यहाँ एक, दूसरेका सहायक माना जाता है। परन्तु योगीको ईश्वरके साथ मिलन होनेपर जो अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है उसका कौन वर्णन कर सकता है? बिना उसका स्वयं अनुभव किये उसका आंशिक वर्णन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वाणीके द्वारा उसे दूसरोंको समझानेमें—जो एक प्रकारका भौतिक व्यापार है—उस आनन्दका बहुत-सा अंश विलीन हो जाता है। ईश्वरानुभवकी अवस्थाका आंशिक वर्णन करना भी प्रत्येक व्यक्तिका काम नहीं। यह कार्य तो कोई ब्लेक (Blake), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), जलालुद्दीन रूमी, हाफिज, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, चैतन्य, नरसी मेहता या मीराबाई-जैसे प्रतिभासम्पन्न महात्मा ही कर सकते हैं, यद्यपि हम सभी लोग चाहते हैं कि हमें उस दशाका अनुभव प्राप्त हो और हमें पूर्ण विश्वास और आशा है कि एक-न-एक दिन यह अवस्था हमें अवश्य प्राप्त होगी।

अब मैं अपने इस क्षुद्र वक्तव्यको महाकवि टेनिसनकी निम्नलिखित उदात्त एवं सुन्दर प्रार्थनाके साथ समाप्त करूँगा—

Infinite Ideality! Immeasurable Reality!
Infinite Personality! Hallowed be Thy Name!
We feel we are nothing, for all is Thou and in Thee;
We feel we are something, that also has come from Thee.
We know we are nothing, but Thou wilt help us to be.
Hallowed be Thy Name!

ओ! अनन्त आदर्श, अपार सत्य! असीम व्यक्तित्व! तेरे नामकी जय हो! हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं, तू ही सब कुछ है और तुझहीमें सब कुछ समाया हुआ है। हम अनुभव करते हैं कि हम कोई चीज़ हैं, परन्तु वह चीज़ तुझसे ही निकली हुई है। हम जानते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं, किन्तु हमें विश्वास है कि तू हमें अपना अस्तित्व कायम करनेमें सहायक होगा। तेरे नामकी जय हो!

प्रार्थना

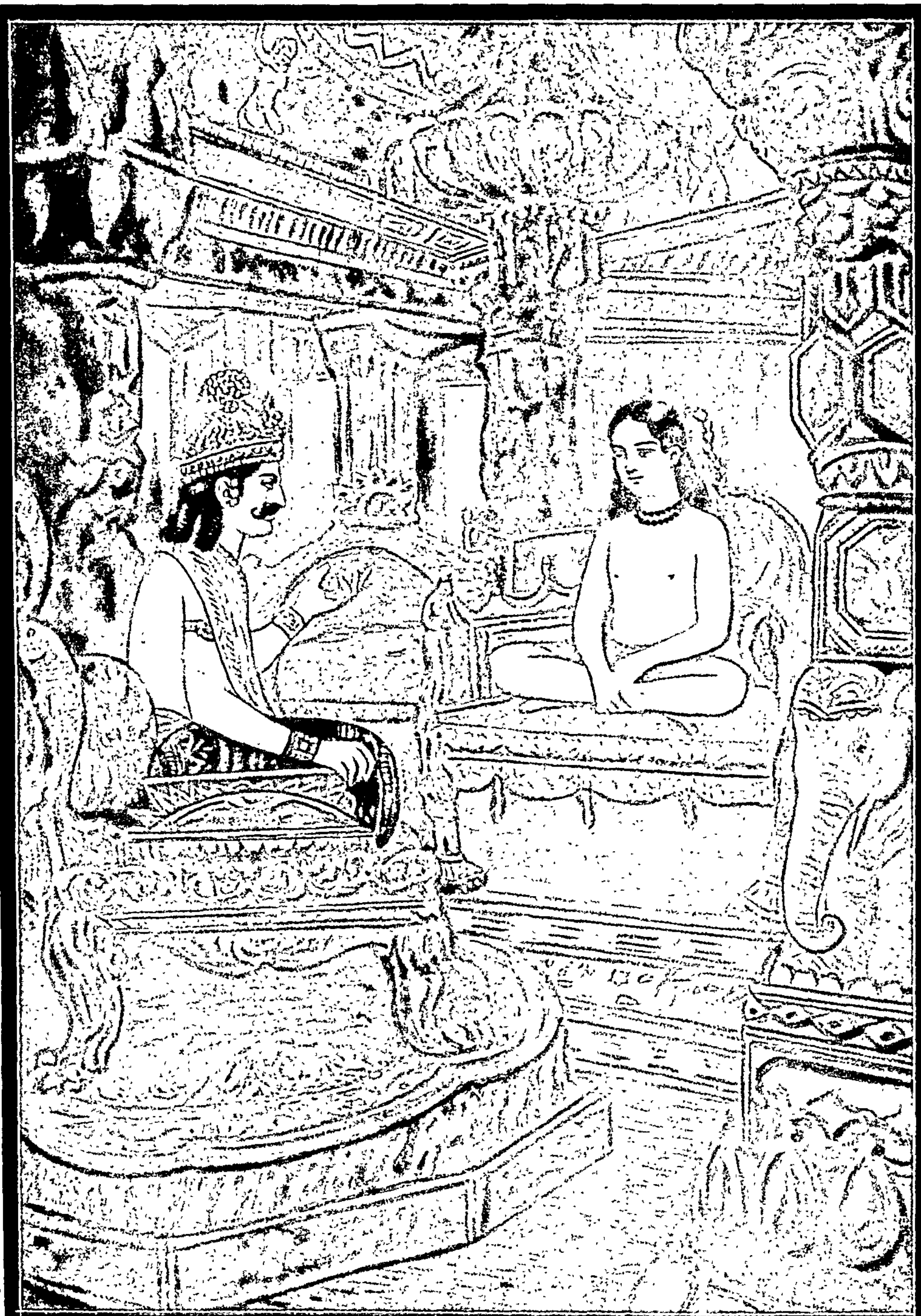
कुम्हलाई है 'कंज' हियेकी कली,
इसे प्राण दे नाथ खिलाते रहो।
तड़पाती है याद तुम्हारी मुझे,
जियमें जिय डाल जिलाते रहो॥
मनमोहन श्याम दया करके,
प्रिय प्रेमका जाम पिलाते रहो।
यह प्रेम-भिखारी है द्वार पड़ा,
करो प्यार नहीं ठुकराते रहो॥

—नवीनसिंह चौहान 'कंज'

ईश्वरके प्रति

नभका सदैव शामियाना रहता है तना,
फरस महीका है वसन्तकी बहार है।
सूर्य-चन्द्रमाकी जलती है ज्योति दोनों ओर
सुन्दर दिशाओंका हरेक खुला द्वार है॥
झरने फुहारे बने तारे बने फूल-फल,
पंखा मलयाचलकी झलती बयार है।
न्याय करनेके लिये बैठते कहाँ हो तुम,
कितना मनोहर तुम्हारा दरबार है॥

साहित्यरत्न श्यामनारायण पाण्डेय 'श्याम'



राजा जनक और शुकदेव मुनि

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायकजी)

मुक्तिदायिनी काशीपुरीमें जब चार्वाक् बृहस्पति और सुरेश्वराचार्य (मण्डन मिश्र) का 'ईश्वरके अस्तित्व' पर सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था, उस समय मध्यस्थ बननेके लिये कोई भी विद्वान् तैयार नहीं हुआ अथवा कोई भी विद्वान् उभय पक्षको सन्तुष्ट नहीं कर सकता था। भगवत्-अर्चा-विग्रह शालग्रामजीकी विष्णु-प्रतिमाको दोनों पक्षवालोंने मध्यस्थ माना। चाँदीके कटोरेमें शालग्रामजीको पधराकर मध्यस्थके आसनपर विराजमान करा दिया गया। पुष्पमाल्य अर्पण करके वरण किया गया और शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ*। १८ दिनोंतक प्रतिदिन विवाद होता रहा। जब नास्तिकाचार्य ईश्वरका खण्डन करते थे तब शालग्रामजी गलकर पानी हो जाते थे और जब मण्डन मिश्र ईश्वरके अस्तित्वका मण्डन करते थे, तब वे वास्तविक रूपमें परिणत हो जाया करते थे। प्रतिदिन यही घटना संघटित होती थी। इस आश्चर्यमयी घटनासे विद्वन्मण्डली स्तम्भित हो गयी। इसपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं। आस्तिकपुरीके आस्तिक विद्वान् इस संघटनको भगवान् शालग्रामजीकी लीला मानते थे एवं नास्तिकाचार्य इस लीलाको अस्वाभाविक मानते थे और आश्चर्यमें निमग्न हो रहे थे। पर दोनों पक्षवाले इस बातको मानते थे कि इस चरित्रके द्वारा माननीय मध्यस्थने विवादपर अपना निर्णय प्रकाशित किया है। किन्तु चरितरूपमें, मूक भाषामें प्रकाशित निर्णयके तात्पर्यको समझना उस समयके विद्वानोंके लिये भी कठिन था। नास्तिकाचार्य कहते थे कि मध्यस्थने किसी पक्षको हराया नहीं, दोनोंकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रक्खी है। आस्तिक विद्वान् कहते थे कि भगवान्‌की यह अद्भुत लीला ही ईश्वरके अस्तित्वका पुष्ट प्रमाण है। जनता कहती थी कि निर्णय स्पष्ट है, ऐसा स्पष्ट है कि नास्तिकाचार्यको भी सिर झुकाकर मानना पड़ा है कि जड़-चेतन सबमें वह चराचरपति ईश्वर व्याप्त है, लीलाधर है, प्रतिमामें अवस्थित होते हुए मध्यस्थ बनकर पक्षपातरहित निर्णय करता है और उसकी लीला समझमें नहीं आती।

इसप्रकार निर्णयके विषयमें नाना प्रकारके विचार उदय हो रहे थे। किन्तु किसीके निर्णयपर किसीको भी सन्तोष नहीं हुआ। अठारहवें दिन रात्रिके समय सुरेश्वराचार्यजीके पास नास्तिकाचार्य अकस्मात् आ गये। आचार्यने उनका बड़ा सत्कार किया, स्थिर होनेपर बृहस्पतिजीने कहा—'प्रतिज्ञा पूरी हो गयी और आजसे शास्त्रार्थ भी बन्द हो गया, अब मैं विदा माँगने आया हूँ, आज्ञा दीजिये।' आचार्यने कहा— 'अब इतने दिनोंपर हमलोगोंने विवादसे छुट्टी पायी है, दो-चार दिन विश्राम कीजिये तब प्रस्थान कीजियेगा।'

बृहस्पतिने कहा, अब तो एक दिनके लिये भी ठहरना कठिन है।

इतनेमें एक वृद्ध ब्राह्मण द्वारपर आया। द्वार खुला हुआ था। वह बेरोक-टोक भीतर चला आया और 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर प्रणाम करके बैठ गया। उसने अपने तेजसे दोनोंका ध्यान आकर्षित कर लिया। वह पृथ्वीपर बैठा हुआ था। उसके तेजके सामने आचार्योंको गद्दीपर बैठनेमें संकोच होने लगा। उन्होंने उसे आदरपूर्वक समुचित आसनपर विराजमान कराकर पूछा— 'कहिये, कैसे पधारे?' इसपर उस वृद्ध ब्राह्मणने सामवेदकी 'भद्रोभद्रया' श्रुतिको ऐसे स्वरसे गाया कि उसे सुनकर आचार्यसमेत समुपस्थित सभी सज्जन चकित हो गये। अनन्तर उसने ओजस्विनी भाषामें मन्दस्वरसे कहा— 'निगमागमरूपी पर्वतकी खुदाईमें अठारह

---

* पाठक इस बातपर आश्चर्य करते होंगे कि पाषाणके विग्रहको नास्तिकाचार्यने कैसे मध्यस्थ स्वीकार किया और श्रीसुरेश्वराचार्यने भी क्या समझकर मध्यस्थ बनाया। इस शङ्काका उत्तर यह है कि नास्तिकाचार्य तो यह समझे हुए थे, मूर्ति क्या निर्णय देगी ? वह तो कुछ बोले-चालेगी नहीं, आप ही ईश्वरका खण्डन हो जायगा, इसलिये इसे मध्यस्थ माननेमें हमारी कोई हानि नहीं, उधर श्रीसुरेश्वराचार्यजीको भगवान्‌की कृपापर पूर्ण विश्वास था इसलिये वे आपत्ति करते ही क्यों ?

लगातार परिश्रम करनेपर जो बहुमूल्य माणिक्य प्राप्त हुए हैं उन्हें देखनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ।' इसपर हँसकर आचार्यने कहा—'आप तो रत्न देखने चले हैं पर यहाँ तो उस खुदाईमें एक तृण भी देखनेको नहीं मिला। मध्यस्थके निर्णयको समझनेकी क्षमता भी हममें नहीं रही। अटकलसे टटोल रहे हैं किन्तु किसी तथ्यपर नहीं पहुँच पाते, घटना तो प्रसिद्ध ही है, आप ही उसका कुछ तात्पर्य बतलाइये।'

इसपर उल्लसित होकर उस वृद्ध ब्राह्मणने उच्चस्वरसे कहा—'अच्छा, सुनिये—वैदिकोंमें हरि और हर दो प्रतीक माने जाते हैं। हरिका निर्णय ईषद् स्पष्ट है। उसे हरके द्वारा पूर्णरूपसे स्पष्ट कराइये। चलिये, विश्वनाथजीके मन्दिरमें। वहाँ चढ़े हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एकको उठाकर सूँघिये और सिरपर चढ़ाइये। फिर देखिये, क्या होता है।' दोनों आचार्य उसके कहनेमें आकर उसी समय उठ पड़े। वहाँ जानेपर उस वृद्धने विधिपूर्वक शिवलिङ्गका पूजन किया और चढ़ाये हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एक उठाकर नास्तिकाचार्यको सूँघनेके लिये दिया। उसे सूँघते ही उनकी आँखें बन्द हो गयीं, उन्हें झपकी-सी आ गयी और वह सूक्ष्म सृष्टिमें विचरण करने लगे। उसमें उन्होंने अपनेको एक विचित्र वनमें, सङ्कटपूर्ण अवस्थामें देखा। वह ग्रीष्मकी तप्त भूमिपर चलते-चलते मध्याह्नकाल तक बहुत तृषित और क्षुधित हो गये थे। भाँति-भाँतिके जंगलोंको पार करते हुए उन्हें कहीं भी जलाशय नहीं दृष्टिगोचर हुआ। उनका कण्ठ सूख गया था और जीभ लटपटा रही थी। आगे चलनेपर एक सुन्दर सरोवर दीख पड़ा। बड़ी प्रसन्नता हुई। पैर जोर-जोरसे आगे बढ़े, परन्तु वहाँ पहुँचते ही उन्होंने देखा, एक सिंह सरोवरमें जल पी रहा है और एक सर्प मार्ग रोके बैठा है, ऊपर गीध और चील मँडरा रहे हैं। किसी भी प्रकार प्राणोंकी रक्षा सम्भव न समझकर अत्यन्त स्वाभाविक वृत्तिसे—उस वृत्तिसे, जो हृदय-स्थलके गुप्त-गह्वरमें निहित रहती है और ऐसे ही अवसरपर उदित हो जाती है, उन्होंने चिल्लाकर कहा—'हे परमात्मन्! हे जगदीश्वर! मुझे बचाओ।' इस चिल्लाहटको सुनकर सर्प सगबगाया और फण निकालकर फुफकार छोड़ने लगा। उसकी फुफकार वहाँतक पहुँची, जहाँपर वह खड़े थे। धैर्य तो पहले ही छूट गया था। बढ़ी हुई शरीरकी ममता और देहाभिमानकी पराकाष्ठासे विवश होकर वहीं आँखें मूँदकर बैठ गये और रोने लगे। इतनेमें छलांग भरता हुआ सिंह भी समीप पहुँच गया और उसने गर्दनपर एक पञ्जा मारा। बड़े जोरसे चिल्लाकर उन्होंने कहा—'मारा रे, मरारे राम राम!' अन्तमें परमेश्वरका नाम लेते ही प्रगाढ़ निद्रा भङ्ग हुई और जागनेपर उनके सब कष्ट दूर हो गये। भयंकर दृश्यका अन्त हो गया। सर्प और सिंह अदृश्य हो गये। अब आँखोंमें आँसू और गलेमें खसखसाहट रह गयी थी। छाती अभीतक धड़क रही थी। उनकी दशा देख-देखकर वृद्ध ब्राह्मण मुस्करा रहे थे। जब कुछ देर बाद वह सावधान हुए, तब आचार्यने पूछा—'कहिये, क्या हाल है? बिल्वपत्रने तो अपूर्व चमत्कार दिखाया। बच्चोंकी तरह आपका रोना और चिल्लाना देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता रहा। कहिये, क्या बात थी?'

नत-मस्तक हो बड़े करुण स्वरसे नास्तिकाचार्यने कहा—'अन्तस्तलमें जो आपदा बीती है, जो कष्ट सहन करने पड़े हैं, उनका वर्णन किसी प्रकार हो नहीं सकता। एक तो मैं बहुत प्यासा था, जलाशयका कहीं पता नहीं, बहुत दौड़-धूपपर जब एक सरोवर दृष्टिगोचर हुआ, तो सिंह और सर्पके आक्रमणसे हृदयमें इतना भयका सञ्चार हुआ कि तृषाका लोप हो गया और किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी ही चिन्ता प्रबल हो गयी। इस संकटको दूर करनेके लिये कोई उपाय नहीं सूझी, विवश होकर किसी अदृश्यशक्तिके ऊपर अपनेको छोड़ दिया। अनाथ, अबोध बालककी तरह रोने और चिल्लानेके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था। अर्थात् कृत्रिमता बिल्कुल मिट गयी, चतुराई और पण्डिताई जाती रही। सिंहके आक्रमणसे तो निश्चय ही मुझे प्राणान्तका बोध हो गया। उस समय स्वाभाविक वृत्तिके उदय होनेसे स्वतः 'मारा, मरा' के साथ 'राम, राम' शब्द मुँहसे निकल पड़े और उसी क्षण संकटका अन्त हो गया।

इस घटनासे ईश्वरके अस्तित्वमें और ईश्वरके राम-नाममें मुझे पूर्णरूपसे विश्वास हो गया है। मेरे प्रबल तर्क, मेरी अकाट्य युक्तियाँ न जाने कहाँ चली गयीं! इस अनुभवने मेरे जीवनमें भारी परिवर्तन कर दिया है। मेरा पक्ष गिर गया, मैं सचमुच शास्त्रार्थमें हार गया। परन्तु इस पराजयसे मैं क्षुब्ध और दुःखित नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत प्रसन्न हूँ। क्योंकि अब मैं समझ गया कि

नास्तिकवाद उस अजीर्ण बुद्धिका विकारमात्र है, जो देहात्मवादसे उत्पन्न होती है। उपनिषद्के इन्द्रविरोचन-संवादकी याद मुझे आ रही है। मेरे अन्तःकरणसे आसुरी वृत्तिका निरसन पूर्णरूपसे हो जाय, अब मैं यही चाहता हूँ और मुझे आशा है कि एकान्त-स्थलमें बैठकर समूल कष्टहर 'राम-नाम' के अभ्याससे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और मुझे ईश्वर-दर्शन भी प्राप्त हो जायगा। प्राचीन महर्षियोंकी तरह अब बदरीवनमें जाकर मैं यही करूँगा। आप कृपापूर्वक आशीर्वाद दीजिये कि ऐसा ही हो और यदि उचित समझें तो पूर्वकृत्योंके लिये कोई प्रायश्चित्त करा दीजिये।'

इसपर सुरेश्वराचार्यने कहा—'आपके मुखसे मुझे यह वृत्तान्त सुनकर बड़ा हर्ष हो रहा है। आपको जो अपूर्व अनुभव हुआ है उसकी साधना और हरि-आराधनामें शीघ्र तत्पर हो जाइये। आपका पश्चात्ताप ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है।'

इतना कहकर आचार्यने उन्हें हृदयसे लगाकर विदा किया। (धर्मतत्त्व)

ईश्वर और महेश्वर

(लेखक—श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी०एल वेदान्तरत्न)

'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में उपर्युक्त प्रसंग सम्भवतः अप्रासंगिक नहीं होगा, इसी भावनासे किञ्चित् आलोचना की जाती है।

उपनिषदोंमें ऋषियोंने द्विविध ब्रह्मका परिचय दिया है—निर्विशेष और सविशेष; निर्विकल्प, सविकल्प; निर्गुण, सगुण; निरुपाधि और सोपाधि। इस सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

'द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपभेदोपाधिविशिष्टं, तद्-विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।'

ब्रह्म जब मायाकी उपाधिको अङ्गीकारकर 'मायी' होता है तब उसे 'महेश्वर' कहते हैं—

'मायिनन्तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर उ०)

यही महेश्वर समस्त ईश्वरोंका ईश्वर है—परमेश्वर है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर ६, ७)

वह सर्वेश्वर है, सब ईश्वरोंका ईश्वर है—

'अनन्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरेश्वरम्'

तब हम घूम-फिरकर क्या पुनः उसी अनेकेश्वरवाद (Polytheism) पर आ गये? ईश्वर तो एक है, फिर ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी चर्चा क्यों छेड़ी? क्या वे अनेकेश्वरवादी (Polytheist) थे? यह आशङ्का निर्मूल है, क्योंकि ऋषिगण यद्यपि अनेक ईश्वर मानते थे परन्तु जो ईश्वरोंका ईश्वर है वह महेश्वर, वह ब्रह्मण्यदेव एक और अद्वितीय हैं—वह एकेश्वरवादीका ऐकत्व (Unity) नहीं है किन्तु अद्वितीय (Unique) हैं—इस बातकी ऋषियोंने मुक्तकण्ठसे घोषणा की है—'एक एव महेश्वरः।' उनका यह सर्वत्र प्रचारित विश्वविख्यात मत है कि ब्रह्म ही 'एकमेवाद्वितीयं' (छान्दोग्य ६, २, १) है।

वही परतत्त्व है, उसके परे और कुछ भी नहीं है, वही पराकाष्ठा है, परमगति है।

पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।
(कठ० १, ३, ११)

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय
(गीता ७, ७)

यदि यही बात है, यदि महेश्वर एक है, यदि वही परतत्त्व है तो ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी बात क्यों कही? ये अनेक ईश्वर कौन हैं और महेश्वरके साथ इनका क्या सम्बन्ध है? इसी प्रसंगकी आलोचना करनेके लिये इस निबन्धकी अवतारणा की गयी है।

पूर्व-दिशामें 'जवाकुसुमशंकाश' मूर्ति धारणकर सूर्य उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है। इस सूर्यको केन्द्र बनाकर जो सब ग्रह-उपग्रह (जैसे—पृथ्वी, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि) चतुर्दिक् घूम रहे हैं, सूर्यके सहित उनकी समष्टिका नाम 'सौरमण्डल' है। अंग्रेजीमें इसे (Solar System) कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी बहुत दिनोंतक यही धारणा थी कि विश्वके अन्दर हमारा यह 'सौरमण्डल' ही सर्वेसर्वा है। यह जो असंख्य तारे आकाशके चन्द्रातपके नीचे लटक रहे

हैं, केवल दीपकमात्र हैं—(Serve as lamps by night) परन्तु भारतीय ऋषियोंने कहा है कि सौरमण्डल (हमारे यहाँ सौरमण्डलको ब्रह्माण्ड या विश्व कहते हैं) असंख्य हैं—अगणित हैं—

सङ्ख्या चेत् रजसामस्ति विश्वाना न कदाचन ।
(देवीभागवत ९, ३, ७)

अर्थात्, धूलिकणोंकी गिनती की जा सकती है किन्तु ब्रह्माण्डोंकी नहीं ।

यथा तरङ्गा जलधौ तथैमा सृष्टय पर ।
उत्पत्त्यात्पत्य लीयन्त रजासीव महानिले ॥

जैसे—समुद्रकी तरङ्गें अगणित हैं, वैसे ही महेश्वरकी सृष्टियाँ भी अनिलमें धूलिकणोंकी भाँति उत्पन्न और लय होती रहती हैं ।

पाश्चात्य विज्ञान भी अब यही बात कहने लगा है । प्रोफेसर एडिंटन कहते हैं कि अबतक हम तीन सौ करोड़ तारा-सूर्योंका पता लगा सके हैं ।*

यह पृथ्वी, जिसपर हम निवास करते हैं हमारी दृष्टिमें बहुत बड़ी प्रतीत होती है; इसीलिये हम कहते हैं 'विपुला च पृथ्वी ।'

परन्तु हमारी यह पृथ्वी सौरमण्डलका केवल एक छोटा-सा ग्रहमात्र है, बृहस्पति या शनि इसकी अपेक्षा बहुत बड़े हैं । हमारा सूर्य पृथ्वीसे दस लाखगुना बड़ा है और ऐसे-ऐसे भी तारा-सूर्य हैं जो हमारे सूर्यसे भी दस लाखगुने बड़े हैं ।† अब अनुमान कीजिये कि वे ब्रह्माण्ड कितने-कितने बड़े हैं ।

इस प्रसंगमें एक बार यदि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका संस्थान अर्थात् कितने देश मिलकर यह सृष्टिरूपी यवनिका फैल रही है, इस बातपर विचार करते हैं तो चित्त आश्चर्यमें डूब जाता है । हम जानते हैं कि सूर्य पृथ्वीसे नव करोड़ मीलकी दूरीपर है परन्तु वैज्ञानिकोंने ऐसे-ऐसे तारा-सूर्योंका पता लगाया है जहाँकी आलोक-रश्मिको पृथ्वीपर पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं । हम यह भी जानते हैं कि आलोक-रश्मिकी गति प्रति सेकण्ड एक लाख छियासी हजार मील है । जिस तारेसे पृथ्वीपर आलोक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं उसकी दूरीका क्या ठिकाना ? यहाँ तो सारी मनुष्य-सङ्ख्या का अन्त हो जाता है क्योंकि उस दूरीकी यदि गिनती की जाय तो ८२ के अंकपर १९ शून्य आते हैं । यह सङ्ख्या करोड़को करोड़ गुना करनेसे भी बहुत अधिक है ।

ये जो अगणित तारा-सूर्य हैं—सम्भवत उन प्रत्येकमें ही एक-एक सौरमण्डलका केन्द्रस्थल है । अर्थात् जैसे हमारे सूर्यको केन्द्र बनाकर मगल, बुध, बृहस्पति आदि कितने ही ग्रह घूमते हैं, कौन जानता है, इन तारा-सूर्यके अधीन कितने कोटि ग्रह-उपग्रह गगन-मण्डलमें विचरण कर रहे हैं ? ये सब ग्रह-उपग्रह क्या जीव-शून्य हैं ? हम देखते हैं कि एक जल-बिन्दु भी जीव-शून्य नहीं है, किन्तु वह अयुत जीवोंकी लीला भूमि है । अतएव हमारी पृथ्वीसे भिन्न अन्यान्य ग्रह-उपग्रह और हमारे सौर-मण्डलसे भिन्न नभमें स्थित अन्यान्य सौर-मण्डल जीव-शून्य हैं, यह समझना क्या दु साहस नहीं है ? सम्भवत असीम सृष्टिमें कहीं भी जीवोंका अभाव नहीं है ।

पाश्चात्य जगत्के पिथागोरस, प्लेटो, केप्लार, स्वेडनबर्ग प्रभृति मनीषी इस बातपर विश्वास करते थे कि प्रत्येक मण्डलके अधिदेवता या Presiding director हैं । यह बात इस देशके प्राचीन शिक्षाके सदृश ही है । ऋषियोंकी शिक्षा भी यही है कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता स्वतन्त्र ईश्वर है । वह त्रिमूर्ति (Trinity-Unity in Trinity) ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है । ब्रह्मा रूपसे सृष्टि करता है, विष्णु-रूपसे पालन करता है और शिवरूपसे सहार करता है ।

सङ्ख्या चेन् रजसामस्ति विश्वाना न कदाचन ।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा सङ्ख्या न विद्यते ।
प्रति विश्वेषु सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादय ॥
(देवीभागवत ९ । ३ । ७८)

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपने-अपने ब्रह्मा-विष्णु-शिव विराजित

*Our sun belongs to a system embracing some three thousand millions of stars—*Eddington*

†Compared with the earth, the sun is gigantic in bulk, a million times bigger We have recently found a class of giant stars some of which are a million times bigger than the sun—(Sir Oliver Lodge's 'Making of man' p.137.)

हैं। जब कि ब्रह्माण्ड ही अगणित हैं तब इन ब्रह्मा-विष्णु शिवादिकी संख्या भी अगणित ही है।

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥

ब्रह्माण्डकी संख्या कोटि-कोटि अयुत-अयुत है। और उन सभी ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा-विष्णु और रुद्र भी विराजित हैं।

ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।
× × ×
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः॥

'ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवगण ब्रह्मकी प्रधान-प्रधान शक्ति हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवोंके भी ऊपर हैं, वही महेश्वर हैं।'

इसी विषयमें लिङ्गपुराणमें भी लिखा है—

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याताः एक एव महेश्वरः॥

असंख्य रुद्र, असंख्य ब्रह्मा और असंख्य विष्णु हैं किन्तु महेश्वर एक और अद्वितीय ही हैं। इस विषयमें त्रिपाद्-विभूति उपनिषद्‌की उक्ति ध्यान देने योग्य है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्त-मुखादष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिराधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराद्यै-र्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिर-धिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवत् भ्रमन्ति॥

'इस ब्रह्माण्डके चारों ओर ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड पृथिवी आदिके आवरणसे आवृत होकर प्रकाशित हो रहे हैं। चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख, सप्तमुख, अष्टमुख, संख्या-क्रमसे हजार मुखपर्यन्त नारायण-अंश ब्रह्मा, विष्णु, हर रजः-सत्त्व और तमोगुणकी प्रधानतासे विभिन्न होकर एक-एक ब्रह्माण्डमें अधिष्ठित हुए सृष्टि, स्थिति और संहारका कार्य सम्पन्न करते हैं। महासमुद्रमें जैसे अनन्त मत्स्य और जल-बुद्बुदे क्रीड़ा करते हैं, उसी प्रकार विश्वके महा-काशमें अनन्त ब्रह्माण्ड भ्रमण करते हैं।'

गौड़ीय वैष्णवोंके प्रामाणिक ग्रन्थ श्रीचैतन्य-चरितामृतमें एक आख्यायिकाद्वारा यह तत्त्व समझाया गया है।

एक दिन द्वारिकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनार्थ ब्रह्माजी आये, द्वारपालने जाकर श्रीकृष्ण महाराजको खबर दी, श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा 'जाकर पूछो, कौन-से ब्रह्मा आये हैं, उनका क्या नाम है।' द्वारपालने आकर ब्रह्माजीसे यह बात पूछी।*

हमारे ब्रह्माण्डके चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारपालके इस प्रश्न-को सुनकर चकरा गये, बोले—'अरे, मैं 'ब्रह्मा'—और दूसरा ब्रह्मा कौन? जाकर कहो कि सनकादिके पिता चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।'†

द्वारपालने चतुर्मुख ब्रह्माको श्रीकृष्णके निकट उपस्थित किया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मासे यथाविधि कुशल-प्रश्न पूछा। तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—'देव! आपके इस पूछने-का क्या तात्पर्य था कि ब्रह्मा कौन-से आये हैं? मेरे अतिरिक्त जगत्में दूसरे ब्रह्मा कौन हैं?*

श्रीब्रह्माजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराये और कुछ ध्यान-सा किया, उसी क्षण वहाँ अगणित ब्रह्मा आकर इकट्ठे हो गये।†

चरितामृतकार वर्णन करते हुए कहते हैं उन अगणित ब्रह्माओंमें किसीके बीस, किसीके सौ, किसीके हजार, किसीके लाख, किसीके करोड़ और किसीके अरब मुख थे, जिनकी गणना नहीं हो सकती। इसी प्रकार लाखों-करोड़ों मुख-वाले रुद्र और करोड़ों नेत्रोंवाले इन्द्र भी आये। चतुर्मुख ब्रह्मा इनको देखकर आश्चर्यमें डूब गये और श्रीकृष्णके चरणोंमें लुट पड़े।‡

---

* एक दिन द्वारिकाते कृष्णे देखिबारे।
ब्रह्मा आइला, द्वारपाल जानाइला कृष्णेरे॥
कृष्ण कहेन 'कोन् ब्रह्मा, कि नाम ताहार?'
द्वारी आसि ब्रह्मारे पूछे आरवार॥

† 'कह गिया सनकपिता चतुर्मुख आइला।'

* कोन ब्रह्मा पूछिले तुमि कोन अभिप्राये?
आमा बइ जगते आर कौन ब्रह्मा हये?

† सुनि कृष्ण हासि तबे करिलेक ध्यान।
असंख्य ब्रह्मारगण आइला तत्क्षण॥

‡ शत विंश सहस्रयुत लक्षवदन।
कोट्यार्व्बुद मुख कारो ना हय गणन॥
रुद्रगण आइला लक्ष कोटि वदन।
इन्द्रगण आइला लक्ष कोटि नयन॥
× × × ×

कहना नहीं होगा कि यहाँ श्रीकृष्ण महेश्वर हैं। उन्होंने ब्रह्माको सम्बोधन करके कहा—'ब्रह्माजी ! इस ब्रह्माण्डका विस्तार पचास करोड़ योजन है, इस अति क्षुद्र ब्रह्माण्डमें आप चतुर्मुख हैं। परन्तु अन्य ब्रह्माण्डोंमें कोई सौ करोड़ योजनका है, कोई लाख करोड़ योजनका, कोई दस लाख करोड़ योजनका और कोई कोटि करोड़ योजन विस्तारवाला है, उन ब्रह्माण्डोंके अनुरूप ही उनमें उतने ही अधिक मुखवाले ब्रह्मा हैं। इसप्रकार मैं समस्त ब्रह्माण्डोंके गणोंका पालन करता हूँ।§

अब हमारे चतुर्मुख ब्रह्माका मोह नाश हुआ। उपनिषदोंमें जगह-जगह महेश्वरको ब्रह्म और ईश्वरको ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी अथवा प्रजापति कहा है—

ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता॥ (मुण्डक १।१)
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्। (श्वेता० ३।४)
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। (प्रश्न० २।७)
सनग परमेष्ठिन (बृह० २।६।२)

ब्रह्म और ब्रह्माका सम्बन्ध समझानेके लिये एक जगह सम्राट् और राजाकी तुलनाका प्रयोग किया है। जैसे एक सम्राट् के अधीन अनेक राजा रहते हैं—वे सब राजा परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी सम्राट्के परतन्त्र हैं। विश्व-ब्रह्माण्डके शासन और पालनका काम भी इसीप्रकार चल रहा है। जो सर्वोपरि है, वही महेश्वर है। जो सम्राट् स्थानीय है, उसीकी अधीनतामें असंख्य ईश्वर हैं। एक-एक ईश्वर (ब्रह्मा) एक-एक ब्रह्माण्डका स्वामी है। ये सब ईश्वर परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी महेश्वरके अधीन हैं। *ये सब ईश्वर जिस समय प्रजापति हैं उस समय महेश्वर प्रजापति-पति हैं।*

पतिं पतीनां परम परस्तात्। (श्वेता० ६।७)

ये सब ईश्वर जब ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, तब *महेश्वर महाब्रह्मा, महाविष्णु अथवा सदाशिव हैं।*

ये सब ईश्वर सवितृमण्डल-मध्यवर्ती पुरुष हैं।

य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते। (छान्दोग्य० ४।११।१)

और महेश्वर विराट् पुरुषरूपसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके भीतर अधिष्ठित हैं। वह—

सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'उसके हाथ और पैर सर्वत्र हैं, उसके नेत्र, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वह सबको व्याप्त करके स्थित है।' अर्थात् एक-एक ईश्वर एक-एक Solar Logos है। और ब्रह्माण्ड या Solar System की संख्या जब अनन्त कोटि है, तब ऐसे Solar Logos की संख्या भी अगणित है। और जो समस्त ईश्वरों-का-ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर है, Central Logos अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके विराट् देहके रोमकूपके परमाणु है, उसको नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः।

उसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है? इसीलिये भागवतमें देखते हैं, ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
(श्रीमद्भागवत)

कहाँ तो मैं क्षुद्र और कहाँ आप परम महान्! पृथ्वी आदि सात तत्त्वोंद्वारा गठित एक ब्रह्माण्ड मेरा शरीर है और आपके शरीरके प्रत्येक रोमकूपमें ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं और निकलते हैं, वातायन-पथमें जैसे परमाणु प्रवेश करते हैं और निकलते हैं। अहो! आपकी कैसी अपार महिमा है! ईश्वर और परमेश्वरमें यही भेद है!

देखि चतुर्मुख ब्रह्मार हैल चमत्कार।
कृष्णेर चरणे आसि कैल नमस्कार॥
§ एइ (विश्व) ब्रह्माण्ड पञ्चासत् कोटि योजन।
अति क्षुद्र ताते तोमार चारि वदन॥
कोन ब्रह्माण्डे सत कोटि कोन लक्ष कोटि।
कोन नियुत कोटि कोन कोटि कोटि॥
ब्रह्माण्डानुरूप ब्रह्मार शरीर वदन।
एइ रूपे पालि आमि ब्रह्माण्डेर गण॥

पार्थिववादकी भयानकता

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

नास्तिकवाद और अज्ञातवाद

प्राचीनकालमें भारतवर्षमें नास्तिकवाद केवल असुरोंमें ही सीमित था, आर्यगण इससे मुक्त थे । चार्वाक नास्तिकवादके आचार्य माने जाते हैं । पाश्चात्य देशोंमें इसी नास्तिकवाद (Atheism) ने आधुनिक अज्ञातवाद (Agnosticism) का रूप धारण किया है । जिसके अनुसार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वर है ही नहीं' बल्कि यह कहा जाता है कि ईश्वरके अस्तित्व-सम्बन्धी ज्ञान और प्रमाण नहीं प्राप्त होते । तात्पर्य यह है कि अनुसन्धानके द्वारा यदि ईश्वरके अस्तित्वका पर्याप्त प्रमाण मिल जाय तो अज्ञातवादी (Agnosticists) उसमें विश्वास कर लेंगे ।

हिप्नाटिज़्म

इस अज्ञातवादके मुख्य प्रचारकोंमें पूर्वमें लन्दनमें चार्ल्स ब्रैडलॉ और श्रीमती एनी वेसेण्ट थीं । श्रीमान् चार्ल्स ब्रैडलॉ एक पत्रके सम्पादक और सञ्चालक थे । एक बार वे लन्दनसे बाहर कहीं किसी कार्यवश गये थे, वहाँ उनकी स्त्री 'हिप्नोटाइज़्ड' की गयी और उनसे पूछा गया कि लन्दनमें जो पत्र छप रहा है तथा जिसका प्रूफ शीघ्र ही आनेवाला है, वह कैसा छपा है । उन्होंने बतलाया कि पत्रके अमुक-अमुक पृष्ठकी अमुक-अमुक लाइनोंमें अमुक-अमुक अक्षर उलटे छपे हैं । जब डाकसे प्रूफ आया तब देखा गया कि उपर्युक्त बातें अक्षरशः ठीक थीं । यह देखकर श्रीमती एनी वेसेण्टने श्रीचार्ल्स ब्रैडलॉसे कहा कि 'अब आप अपने पार्थिव अज्ञातवादके सिद्धान्तको परित्याग करें; क्योंकि अब यह सिद्ध हो गया कि मनकी गति केवल शरीरकी चेतन दशापर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि शरीरकी बेहोशी (Hypnotised) की दशामें, शिथिलतामें भी वह दूर देशतक चली जाती है ।' श्रीमान् ब्रैडलॉने उत्तर दिया कि, 'वृद्धावस्थाके कारण अब मैं वर्तमान सिद्धान्तको त्यागकर दूसरे सिद्धान्तका अन्वेषण करनेमें असमर्थ हूँ ।' परन्तु श्रीमती एनी वेसेण्टने उसी दिनसे पार्थिववादका त्याग कर दिया ।

पार्थिववादका मुख्य सिद्धान्त यह है कि चेतनता शरीरके परमाणुओंके संगठन-विशेषका परिणाम है । यदि इस सिद्धान्तको सच माना जाय तो शरीरकी शिथिलतासे चेतनमें भी शिथिलता आ जानी चाहिये, परन्तु हिप्नाटिज़्ममें शरीरकी शिथिलताके कारण पात्रके बेहोश हो जानेपर भी चित्तकी गति अधिक वेगवती और तीक्ष्ण हो जाती है । एवं चेतना सुदूर स्थानकी वस्तुका याथातथ्येन वर्णन कर सकती है । इससे सिद्ध है कि चेतना शरीरसे स्वतन्त्र और उत्कृष्ट है ।

श्रीमान् जगदीशचन्द्र बोसके आविष्कारका मूल तत्त्व प्रकृतिमें पार्थक्य है । वृक्षकी आकृति पशुकी आकृतिसे भिन्न होती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आकृति भी पशुकी आकृतिसे भिन्न होती है । यदि चेतनको बाह्य-प्रकृतिका परिणाम माना जाय तो विभिन्न प्रकारकी आकृतियोंकी बाह्य-प्रकृति भिन्न होनेके साथ उनके अन्तर्गत चेतनाके स्वभावमें भी विभिन्नता होनी चाहिये । परन्तु वस्तुतः विभिन्न चेतनकी बाह्य-प्रकृतिका रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनके आभ्यन्तरमें एक ही मूल तत्त्व सिद्ध होता है । यह सिद्धान्त श्रीयुत जगदीशचन्द्र बोसने अपने वैज्ञानिक प्रयोगोंद्वारा निश्चित किया है । उनके यन्त्रसे मनुष्य अथवा उद्भिज्जमें प्रतिघात (Impact) करनेसे उसका प्रतिफल (response) उस यन्त्रद्वारा जो लेखके आकार (Curves) में प्रकट होता है, वह दोनोंमें एक ही प्रकारका रहता है, भिन्न प्रकारका नहीं, इससे सिद्ध है कि एक व्यापक चेतन सब प्रकारकी प्रकृतिमें वर्तमान है और वह प्रकृतिसे स्वतन्त्र है ।

इञ्जिनियरोंका अनुभव है कि कभी-कभी इञ्जिनमें कोई दोष न रहनेपर भी वह चलनेमें रुकता है, परन्तु वह रुकावट उसे विश्राम देनेसे अपने आप दूर हो जाती है । इससे सिद्ध होता है कि लोहेमें भी चेतन है और उसमें थकावट होती है । दूसरी बात यह है कि इञ्जिनमें अधिक गड़बड़ी आनेपर यदि उसे गङ्गाजलसे धोया जाता है और उसके पीपेमें (Boiler) गङ्गाजल भर दिया जाता है तो वह उतनेहीसे ठीक हो जाता है, इससे सिद्ध है कि लोहेमें

केवल चेतनता ही नहीं, बल्कि गङ्गाजलकी पवित्रताका प्रभाव भी उसपर पड़ता है।

मेरा निजी अनुभव है कि जिस वृक्षके फलमें कीड़े हो जाते हैं उसकी डाली गङ्गाजीमें डाल देनेसे कीड़ोंका होना बन्द हो जाता है।

परलोकगत आत्मा

पाश्चात्य देशोंके बड़े-बड़े विद्वान्–जैसे सर विलियम क्रुक, सर ओलिवर लाज, स्वर्गीय सर कोआयनन, 'रिव्यू आफ रिव्यू' तथा 'बार्डरलैण्ड' के प्रसिद्ध सम्पादक मिस्टर स्टेड आदिको प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा ज्ञात हुआ है कि मृत्युके बाद भी जीवात्मा रहते हैं, तथा वे इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत करते और संवाद भेजते हैं, एवं वे ऐसी-ऐसी घटनाओंका वर्णन करते हैं जो लोगोंको बिल्कुल मालूम नहीं होतीं, परन्तु अन्वेषण करनेपर सर्वथा सत्य सिद्ध होती हैं। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है।

प्रोफेसर मायर (Myer) अपने बृहत् ग्रन्थ 'Human Personality' में, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुई है, अनेक विश्वसनीय प्रमाण देते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मरनेके बाद जीवात्मा वर्तमान रहता है तथा वह इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत कर सकता है। लन्दनके आत्मिक अनुसन्धान-समिति (Psychical Research Society) ने भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें प्रमाण संग्रह-कर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की है, इस समितिके सदस्य प्रायः ख्यातनामा विद्वान् और आचार्य हैं।

पूर्वजन्मकी स्मृति

विभिन्न देशोंके बालकोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतिके अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जो अनुसन्धान करनेपर सत्य सिद्ध हुए हैं। अनेक बालक बिल्कुल बाल्यावस्थामें गान-विद्या अथवा गणितमें आश्चर्यजनक निपुणता प्रदर्शित करते हैं, जिनका होना पूर्वजन्मके माने बिना सम्भव नहीं है।

संकल्प आकारका कारण होता है। प्राणी-विज्ञानने एक अत्यन्त क्षुद्र कीटका पता लगाया है, उसे Amoeba कहते हैं। कीट-वर्गमें उसे आदि-जन्तु कह सकते हैं। उसके भीतर एक ही अवयव होता है जिसके द्वारा वह भोजन करता, चलता-फिरता तथा मल-त्याग आदि समस्त कर्म करता है। जब वह चलना चाहता है तो उस अवयवको बाहर निकालता है और उसे पैर बनाकर चलने लगता है, फिर विश्राम लेते समय उसे भीतर समेट लेता है। जब वह भोजन करना चाहता है तो उसी अवयवको बाहर निकालकर मुख बनाकर भोजन करने लगता है। और मल-त्याग करते समय उसी अवयवको बाहर निकाल, गुदा बनाकर मल-त्याग करता है। अनेक बार विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ करते समय वही एक अवयव पाँच प्रकारकी आकृति धारण करता है। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है क्योंकि इसके द्वारा सिद्ध होता है कि प्रकृति इच्छा (चेतन) के अधीन है न कि चेतन प्रकृतिके अधीन।

सार्वभौम सुव्यवस्था

विश्वमें समस्त कार्य सुन्दर नियमोंके द्वारा सुव्यवस्थित दीख पड़ते हैं। ऋतुएँ अपने समयपर आती हैं, ग्रह सदा अपनी कक्षामें ही भ्रमण करते हैं; इत्यादि घटनाएँ बिना सञ्चालक और सङ्कल्पकर्ताके कैसे सम्भव हो सकती हैं? इसका एक और उत्तम प्रमाण यह है कि बर्फके स्फटिक (Crystal) में जो रेखागणितके बड़े-बड़े आकारोंके समान उत्तम-उत्तम आकार बने रहते हैं, जिनकी रेखाएँ आदि इस प्रकार नियमितरूपसे खिंची रहती हैं, तथा वह ऐसी सूक्ष्म और बृहत् होती हैं कि जिनका बिना कर्ताके बनना असम्भव-सा जान पड़ता है, इससे भी ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है।

बुद्ध और जैन-सम्प्रदाय

बुद्धने अपने जीवनमें कहीं भी यह नहीं कहा कि 'ईश्वर नहीं है।' बौद्ध-सम्प्रदायमें ईश्वरका नाम 'अवलोकितेश्वर' है। बुद्धके समयमें कर्मपर विशेष जोर देना आवश्यक था, इसलिये उन्होंने यह उपदेश दिया था कि वर्तमानजीवन अतीतकालके कर्मोंका फल है और वर्तमानकालके कर्मोंका परिणाम भविष्यमें मिलेगा। बुद्धके इस सिद्धान्तकी सत्यतामें किसीको सन्देह भी नहीं हो सकता है।

जैनधर्म भी अन्तिम कारणस्वरूप एक पदार्थको मानता है और यही वेदान्त-शास्त्रका ब्रह्म है।

प्राचीन निरीश्वरवाद

प्राचीन निरीश्वरवादका मूल कारण उपनिषदोंमें मिलता है। असुर विरोचन ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञानकी शिक्षा लेने जाता है। परन्तु वह उनके उपदेशको उलटा ही समझता



भगवान्—वामनरूपमें

है और देहको ही आत्मा मान लेता है । इस विषयका विस्तृत विवेचन 'कल्याण'की पिछली संख्याओंमें स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजीके लेखोंमें देखा जा सकता है । पीछे विरोचनकी यही भावना असुरोंके तत्त्वज्ञानका मूल आधार बन गयी । यही कारण है कि असुर लोग यज्ञका विरोध करते थे जिसके परिणामस्वरूप देवासुरसंग्राम होते थे। और असुर लोग असत्य-पथका अवलम्बन करनेके कारण सदा ही पराजित होते थे ।

यही निरीश्वरवादका सिद्धान्त असीरिया (Assyria) देश (असुरोंका देश), बैबिलन (Babylon), इजिप्ट (Egypt) आदि देशोंमें प्रचलित था, जिसके द्वारा ये देश पार्थिव उन्नतिमें इतने आगे बढ़ गये थे कि पाश्चात्य देशकी सभ्यतामें कोई अबतक वहाँतक नहीं पहुँच सका है। देहात्म-वाद-सिद्धान्तके कारण ही इन लोगोंमें मुर्दोंको गाड़नेकी प्रथा थी । इजिप्ट (मिश्र) देशवाले तो अपने मुर्दोंको बहुत ही सुन्दर मकानमें रखकर बन्द करते थे तथा उनके पास भाँति-भाँतिके बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र, अन्न-पान आदि भोगकी अनेकों सामग्रियाँ रखते थे। पुरातत्त्ववेत्ताओंने उन मृतकोंकी कोठरियोंको खोलकर यह पता लगाया है कि वे लोग अत्यन्त ही समृद्धिशाली तथा कला-कौशलमें बहुत ही प्रवीण थे । परन्तु प्रकृति नश्वर है, संसार विनाशी है, इसमें कुछ भी स्थायी नहीं रहता । इसीसे ये देश पार्थिव उन्नतिके उच्चतम शिखरपर चढ़कर आज पूर्णरूपेण नष्ट हो गये हैं । उनकी सभ्यताका अब जगत्में नाम-निशान भी न रहा । कारण स्पष्ट है । उन लोगोंने केवल बाह्य-प्रकृतिको ही 'यत्परो नास्ति' समझा और आत्मा-परमात्मा-के अस्तित्वको भी नहीं माना । इसीलिये उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य पार्थिव उन्नति ही रहा । अतः उनकी सभ्यता इस पार्थिववादपर अवलम्बित होनेके कारण पूर्ण-रूपेण विनष्ट हो गयी और भारतकी आर्य-सभ्यता परमात्म-तत्त्वपर अवलम्बित होनेके कारण करोड़ों वर्षोंसे अक्षुण्ण चली आ रही है ।

अतएव हमलोगोंको कदापि पाश्चात्य देशोंकी पार्थिव सभ्यताकी क्षणिक चमक-दमकमें भूलकर अपनी सभ्यता तथा इसके चरम लक्ष्य ईश्वरको न त्यागना चाहिये, नहीं तो अपनी सभ्यताके नष्ट होते ही मिश्र आदि देशोंके समान हमारा भी सर्वनाश हो जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वर्तमानकालमें आधुनिक पाश्चात्य पार्थिव सभ्यताके नाशके लक्षण दीख पड़ते हैं और विवेकी पुरुष अपने ग्रन्थों और लेखोंद्वारा इसकी चेतावनी जगत्को दे रहे हैं। भारतवर्षके निवासियोंको पाश्चात्य देशोंके नास्तिक-वादका खण्डनकर तथा आस्तिकताका प्रचारकर अपना और उनका कल्याण करना चाहिये । स्वयं इस सर्वनाशी नास्तिकवादमें पड़कर नष्ट होनेकी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिये ।

नास्तिकवाद समाज-ध्वंसकारी है

नास्तिकवाद समाजका विध्वंस करनेवाला है। क्योंकि नास्तिकवादी आगन्तुक दुःखको सहन नहीं कर सकते, केवल वर्तमान जीवन ही उनका सर्वस्व होता है, वे मरणान्त-जीवनमें विश्वास नहीं करते। दूसरी बात यह है कि नास्तिक तात्कालिक परिणामको ही मुख्य मानते हैं उसके अदृष्ट भविष्यपर वे विश्वास नहीं करते । इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी कोई असहनीय दुःख आ पड़ता है तो वे उसे सहन न कर उसके निवारणके लिये आत्मघात कर बैठते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि शरीरके नाशके साथ जीवनका अन्त हो जाता है और फिर कोई आत्मा-जैसी वस्तु नहीं रह जाती । इसीसे वे आत्महत्या कर दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं, वे इस बातको नहीं समझते कि शरीरके नाश हो जानेपर भी जीवात्मा रहता है । दुःखकी बात है कि अमेरिका आदि उन्नत कहलानेवाले देशोंमें इस प्रकारकी आत्महत्याकी संख्या बड़ी भयानक रीतिसे बढ़ रही है, नास्तिकताके विषाक्त परिणामोंका यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। नास्तिकवादके प्रचारका एक अन्य भयानक परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसीके जीवनकी परवा नहीं करता तथा किसीकी हत्या करनेमें तनिक भी सङ्कोच नहीं करता। आजकलकी राजनीतिक तथा अन्य प्रकारकी हत्याएँ इसी-के परिणाम हैं । यूरोपका महासमर इसी प्रकारकी एक हत्याके कारण हुआ था । हत्या ही क्यों, आजकलकी बढ़ती हुई चोरी-डकैती भी इसी नास्तिकताका परिणाम है जिनमें शिक्षित कहलानेवाले लोग भी प्रमुख रूपसे भाग लेते जा रहे हैं । नास्तिकताके प्रचारके यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम हैं—'आगे आगे देखिये होता है क्या ?'

कल्पित आस्तिकता

यह संसार परमात्माका व्यक्त शरीर है, अतः ई[illegible] की ओर अग्रसर होनेकी पहली सीढ़ी भी यही है ।

लिये जो मनुष्य ईश्वरके शरीरभूत जगत्के प्राणियोंका आदर नहीं करता, बल्कि उनकी उपेक्षा करता है, उनके प्रति द्वेष करता है और उनका उपकार न कर सदा उनकी हानि ही करता है, वह ईश्वरमें विश्वास रखते हुए भी यथार्थरूपसे आस्तिक नहीं कहला सकता और न वह जीवनमें यथार्थ आत्मिक उन्नति ही कर सकता है। ईश्वरकी मुख्य पूजा है संसारके प्राणियोंकी सेवा और सहायता करना। आजकल आस्तिक लोगोंके प्रति इसी कारणसे घृणा की जाती है कि वे सदा प्रायः अपने स्वार्थ-साधनमें ही प्रवृत्त रहते हैं, तथा उसके लिये दूसरोंकी हानि करनेसे भी नहीं हिचकते। परोपकारमें प्रवृत्त होना तो इनके लिये दूरकी बात होती है। ऐसे पुरुष वचनसे आस्तिक होनेपर भी कार्यरूपसे नास्तिक होते हैं।

यथार्थ आस्तिकता

यथार्थ आस्तिक वही है जो संसारके प्राणीमात्रको भगवान्‌का रूप समझते हैं, तथा उनकी सेवाको श्रीभगवान्‌की मुख्य सेवा और पूजा मानकर दुःखित और आर्त्त प्राणियोंकी सहायतामें प्रवृत्त रहते हैं, तथा देश और समाजके यथार्थ कल्याणके साधनमें सदा योग देते हैं। ऐसे सज्जन साधकके प्रति श्रीपरमात्माकी कृपा होती है और वे भक्तकी श्रेणीमें गिने जा सकते हैं। मानव-जीवनका यही परम लाभ भी है।

यदि नास्तिक भी सदा-सर्वदा लोकोपकारके कार्यमें निःस्वार्थ-भावसे प्रवृत्त रहे तो उसे भी आस्तिक समझना चाहिये। परन्तु आपत्ति इसमें यही होती है कि ऐसे पुरुष कालान्तरमें स्वार्थ-परायण हो जाते हैं, तब उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिससे हानिप्रद कार्यको ही वे उत्तम समझकर करने लगते हैं और अपनी तथा औरोंकी हानि करते हैं।

धर्म और नीतिकी भित्ति परमात्मा और उसके ईश्वरीय नियम हैं, जिससे यह संसार चल रहा है। जो इनको नहीं मानते हैं वे चाहे कितना भी प्रयत्न करें, कालान्तरमें उनसे भूल होगी और स्वार्थवश होकर वे धर्म और नीतिका उल्लंघन करेंगे। अतएव आस्तिकता अर्थात् ईश्वरके अस्तित्व तथा ईश्वरीय नियमोंमें विश्वास करना, एवं तदनुकूल आचरण करना, सब प्रकारकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण है।

कौन ?

जल थल तेज वायु
किसके नियन्त्रणमें ?
रात दिन काल-चक्र
क्रमसे चलाता कौन ?

बीजमें असंख्य वृक्ष
वृक्षमें असंख्य बीज,
राईको सुमेरु, मेरु
राई है बनाता कौन ?

कौन है विराटसे भी
महत विराट एक ?
सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होके
वाणीमें न आता कौन ?

सत्ता औ—' महत्तासे है
कण-कण ओत-प्रोत
तेजोमय सूर्य चन्द्र-
में प्रकाश लाता कौन ?

लीन कर लेता विश्व
एक अणु मात्र ही में
पल भी न होती देर
फेर उपजाता कौन ?

एकसे न एक रचे
एकसे अनेक रचे
नेक औ—' अ-नेक रचे
त्रिगुण रचाता कौन ?

ऊर्णनाभिके समान
विस्फुलिंग ज्यों कृशानु
एक औ—' अनेक भान
करता-मिटाता कौन ?

अपनेसे अपनेको
करके अनेक रूप
अपनेसे अपनेको
जालसे छुड़ाता कौन ?

—प्रेमयोगी 'मान'

श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

हम अल्पबुद्धि प्राणी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें क्या प्रमाण पेश करें ? हम-जैसे इन्द्रियाराम मनुष्योंकी वातों और युक्तियोंका मूल्य ही क्या है ? और लौकिक युक्तियोंद्वारा आजतक उनको सिद्ध ही कौन कर सका है ? ध्याननिष्ठ ज्ञानी और नित्य आत्मसमर्पित भक्तके अचल हृदयासनपर वे सदा ही विराजित रहते हैं ; और हम क्या प्रमाण दिखावें ?

हमलोगोंके द्वारा भगवान्‌के अस्तित्वमें प्रमाण प्रदर्शित करना एक प्रकारसे पागलका प्रलाप ही समझना चाहिये। सूर्यके देखनेके लिये जैसे दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके सिद्ध करनेमें भी अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है। भक्त और ज्ञानियोंकी स्वानुभूति और सम्पूर्ण ज्ञानोंकी खान, साक्षात् ईश्वर-वाणी भगवती श्रुति ही उनके अस्तित्वमें सर्वोत्तम और प्रवल प्रमाण है। जो श्रुति-प्रमाणको नहीं मानते, उनसे हमारा कुछ भी कहना नहीं है। मैं यथासाध्य श्रुति-प्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति और यत्किञ्चित् अपने अनुभवके आधारपर ही यह निवन्ध लिखना चाहता हूँ, आशा है भगवद्भक्त महापुरुष मेरी इस धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

भगवान्‌में सभी लोग विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। महर्षि नारदने अपने भक्ति-सूत्रमें कहा है—'सा कस्मै परमप्रेमरूपा।'

यहाँ 'किं' शब्दका प्रयोग करके महापुरुष समझाते हैं कि जो 'किं' शब्दवाच्य है, हमें उन्हींसे प्रेम करना होगा, इस 'किं' शब्दका अर्थ यह है भगवान् सदा ही प्रश्नार्ह हैं। अर्थात् जिनके सम्बन्धमें कितने लोग कितनी वातें कहते हैं, आजतक कितने प्रश्न हो चुके हैं और कितने बुद्धिमान् पुरुषोंने उनके कितने प्रकारसे उत्तम-उत्तम उत्तर दिये हैं, तथापि मानव-हृदयके इस पुरातन प्रश्नके विषयमें शंकाहीन, सन्देहहीन, सवके लिये ग्रहणीय, सवको सन्तोषप्रद सदुत्तर अभीतक कोई भी नहीं दे सका है। अतएव जब-जब इस प्रश्नकी मीमांसा हुई, तब-ही-तब कुछ समयके बाद पुनः सन्देहपुञ्ज इकट्ठा हो गया और वही प्रश्न कुछ नवीनरूपमें फिर सामने आ गया। नचिकेताको यमराजने कहा था—

> देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
> (कठोपनिषद्)

पूर्वमें देवताओंको भी आत्माके (ईश्वरके) अस्तित्वमें सन्देह हो गया था, कारण यह विषय 'न सुविज्ञेयम्' है। सहज ही जाननेमें नहीं आता। क्योंकि जगत्‌को धारण करने-वाला यह आत्मा 'अणुः' सूक्ष्म चिन्तनसे भी अगम्य है।

इसीसे कहा जाता है, सब लोग भगवान्‌में विश्वास नहीं कर सकते, बहुतोंको तो उसका पता ही नहीं होता। भगवान्‌में विश्वास करनेके लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझमें नहीं आता, हमलोगोंका जो उनपर यत्किञ्चित् विश्वास है सो केवल उनकी दयासे ही है।

पुत्र अपनी मातापर सहज विश्वास करता है, वह किसीसे कुछ सुनकर या युक्तियोंका संग्रह करके ऐसा करता हो, सो वात नहीं है। जननीका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको न जाने क्या समझा देता है जिसको वह बतला नहीं सकता, परन्तु अपने प्राणोंके अन्दर वह किसी अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है, उसीकी प्रेरणासे वह माताको 'माँ, माँ' कहकर पुकारता है, और असीम विश्वासके साथ उछलकर माँकी गोदमें जा बैठता है। इसी प्रकार युक्तियोंके सहारे कोई भगवान्‌पर कभी न तो विश्वास कर सकता है और न उनमें प्रेम ही कर सकता है।

भगवान्‌की विश्वविमोहिनी शक्ति या बाँसुरी, भक्तके प्राणोंमें न मालूम क्या सङ्गीत सुनाती रहती है, उसीसे भक्त सदाके लिये उनके चरण-रजका भिखारी वन जाता है, फिर उसको किसी भी युक्तिद्वारा उस मार्गसे हटाया नहीं जा सकता। प्रभुके आकर्षणमें ऐसा ही अपार बल है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तोंको ही बाँसुरीका मधुर स्वर क्यों सुनाते हैं ? दूसरे उसे क्यों नहीं सुन सकते ? इसके उत्तरमें भगवान् गीतामें स्वयं ही कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९।२९)

यदि भक्तको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तको नहीं, इससे क्या भगवान्‌में वैषम्य-दोष आता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'मैं सब भूतोंमें समान हूँ, मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं, और मैं उनमें रहता हूँ।'

जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्‌को भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है।

पुत्र जैसे जननीपर सहज ही विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, कुत्ता जैसे अपने अन्नदाता (स्वामीपर) विश्वास करता है, इनसे कहीं अधिक भक्त अपने भगवान्‌पर प्रेम और विश्वास करता है।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या हैं; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि थक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंने उनका कितना अनुसन्धान किया, किन्तु कोई उनकी थाह न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस अधर तत्त्वका भी पता लग सकता है। किन्तु कहाँ?

'हरिके कोमल पद-कमल हरि-जन-हियमें पेखि।'

भक्तको देखकर ही अभक्त, अज्ञानीका भगवान्‌में विश्वास होता है मानों उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है, मानों कोई अचिन्त्य वस्तु उसकी नजरोंके सामने आ जाती है। भगवत्-प्रेममें मतवाले श्रीमान् नित्यानन्द प्रभुको देखकर जन्मके पाप-कलुषित चित्तवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी। सदाके अभ्यस्त विषयोंसे वह मानों सर्वथा दूर हट गया। यही साधुसङ्गकी महिमा है। फिर उसने जब भक्तावतार श्री-चैतन्यचन्द्रके प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीचैतन्य-देवके शरीरसे स्पर्श होकर आयी हुई वायुके झकोरे जगाई-मधाईके शरीरमें लगे, तब तुरन्त ही एक वैद्युतिक क्रिया-सी हो गयी, दोनों भाई अनास्वादित अपूर्व भगवत्प्रेममें सर्वथा निमग्न हो गये, उनकी कु-प्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी। जो भूलकर भी कभी भगवान्‌को याद नहीं करते थे, वे ही भगवत्‌की प्राप्तिके लिये अकुला उठे। भगवद्भक्तोंके सङ्गकी यही तो महिमा है।

'यदेव सत्सङ्गः तदेव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः।'
(श्रीमद्भागवत)

भक्त भी अपने बलपर भगवान्‌को नहीं पकड़ सकता, इस बलको त्यागनेकी तो भगवान्‌ने आज्ञा दी है। भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी भुजाओंमें बँध जाते हैं। भगवान्‌की शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है। जो भगवान्‌में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कभी नहीं लग सकता। भजन बिना केवल बुद्धिवादसे कोई भी भगवान्‌की अपार महिमाका पता नहीं पा सकता। भगवान्‌का महत्त्व समझे बिना, उनके चरणोंमें अपनेको सब प्रकारसे अर्पण किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन० २।५)

इसी लोकमें यदि उस सत्यस्वरूप परमात्माका पता लग सके अथवा उनको जाना जा सके तभी 'सत्यमस्ति' जीवनकी सफलता होती है। इस लोकमें यदि उन्हें न जाना जा सका तो 'महती विनष्टिः'—महान् अनिष्ट हो गया—महा विनाश हो गया! क्योंकि जिस आनन्दकी खोजमें समस्त जीव-समुदाय व्याकुल हो रहे हैं, जिस आनन्द-की प्राप्तिके लिये लोग सैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आना-कानी नहीं करते तथापि किसी प्रकार भी उस परमानन्द-स्वरूपका सन्धान नहीं पाते। यदि मनुष्यको किसी उपायसे उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तहीन, अनादि निर्झरके निकट पहुँच जाय तो फिर उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, वह जन्म-मरण, शोक-रोग, शीत-उष्ण और अभावके नित्य-निरन्तरके सन्तापोंसे—समस्त दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

फिर वे परम भक्त धीर ज्ञानीजन सब भूतोंमें उन परमात्माकी उपलब्धि कर सकते हैं। इसप्रकार अनुभव करनेवाले धीर पुरुष ही इस लोकसे गमन करके ब्रह्मपद-को प्राप्त करते हैं।

भक्त जैसे भगवान्के लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वाभाविक भक्त-वत्सलता-से नहीं चूकते। माता यशोदा बड़ी चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको न पकड़ सकी, तब जननीको परिश्रमसे श्रान्त और क्लान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उसकी डोरीमें बँध गये! धन्य है!

जिन बाँध्यो सुर असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म यसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरण-कमलोंमें धूलि-कण-के सदृश नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ावें, तो उन्हें कौन पकड़ सकता है? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्ति-प्रिय माधवको भगवत्कृपा-लब्ध भक्तिके बलसे ही पकड़ सकते हैं। जिसके पास भक्तिका यह बल नहीं है, वह किसप्रकार भगवान्का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है? और उनका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना वह किस प्रकार उनपर परम विश्वास कर सकता है? अतएव मुझ-जैसे प्राकृत मनुष्य यदि भगवान्में विश्वास न कर सकें तो उन लोगोंको उतना दोष नहीं दिया जा सकता।

हमलोगोंमें साधारणभावसे जो यत्किञ्चित् भगवद्-विश्वास है उसमें वास्तविक विश्वासकी तो गन्ध भी नहीं है। भगवद्-विश्वास एक अपूर्व वस्तु है, वह अप्राकृत, अमूल्य सम्पदा है, उसके उदय होते ही जीव कृतकृत्य हो जाता है और उसका भव-बन्धन टूट जाता है।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'
(गीता ६। २२)

भक्त प्रह्लादके अन्दर उस विश्वासकी कैसी अपूर्व शोभा—कैसी अपूर्व माधुरीका विकास हुआ था? तभी तो उसको समुद्र-गर्भमें निमज्जित होनेमें और अत्युच्च गिरि-शिखरसे गिरनेमें तनिक-सा भी भय नहीं लगा। मतवाले हाथीके पैरों-तले कुचलनेकी बात भी उसके मनमें किसी प्रकार जरा-सी भी शङ्का उत्पन्न न कर सकी, इसका कारण यही था कि प्रह्लाद भगवान्के अभय मुखारविन्दके दर्शनकर सदाके लिये भयसे मुक्त हो गया था। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सामनेका स्तम्भ दिखलाकर कहा कि—'क्या तेरा भगवान् इस स्तम्भमें भी है?' प्रह्लादने अविचलित चित्तसे उत्तर दिया कि—'हाँ, हैं, वे सर्वत्र हैं, इस स्तम्भमें भी निश्चय ही हैं।' यही भक्तके शुद्ध भावसे भरे हुए चित्तका अपूर्व विश्वास है। ऐसा चित्त बिना मिले क्या किसीको भगवान्के दर्शन हो सकते हैं? यह युक्ति नहीं है, यह तो भक्तकी प्रत्यक्ष की हुई बात है—'येन सर्वमिदं ततम्।'

भगवान् भी शरणागतवत्सल हैं। जो उनकी शरण लेता है, वे उसपर कृपा करते हैं, अथवा वह उनकी नित्य विद्यमान असीम कृपाके स्पर्शका अपने हृदयमें अनुभव करता है। सकाम आर्त, अर्थार्थी भक्तपर भी जब भगवान् कृपा करते हैं, तब जिसकी भक्ति फलकामनासे रहित है, उसका तो कहना ही क्या है?

एकवस्त्रा निःसहाया द्रौपदी सभाके अन्दर नङ्गी किये जानेके भयानक भय और लज्जासे अभिभूत होकर जब कातरकण्ठसे प्राण भरकर भगवान्को पुकारने लगी तब भगवान् क्या उसकी पुकारको अनसुनी करके वहाँ आये बिना क्षणभर भी रह सके? आश्चर्यमयी घटना हो गयी, भगवान्का वहाँपर वस्त्रावतार हो गया। सभाके सभी लोग स्तम्भित और चकित हो गये। भयार्तके भयभञ्जनका अद्भुत दृश्य देखकर भक्तोंका चित्त भगवान्के लिये रो उठा! इतनेपर भी अविश्वासी दुर्योधन अपनी आँखोंके सामने आश्चर्य-घटनाको देखकर भी विश्वास न कर सका, उसको यह दृश्य तनिक भी विचलित न कर सका। ऐसा क्यों हुआ? ईश्वरमें उसका जरा-सा भी विश्वास क्यों नहीं हुआ? कारण यह है कि वह अहङ्कारी और अभिमानी होनेके कारण अनधिकारी था, वह अपने आपको ही बड़ा मानता था। उसका हृदय अन्धकाराच्छन्न और सर्वत्र अवरुद्ध था, उसके ऐसे हृदयमें भगवान्के प्रकाशके लिये स्थान कहाँ था? इसीलिये भगवत्-शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होनेपर भी वहाँ प्रकाशित नहीं हुई।

बाहरी युक्ति और तर्कोंद्वारा जो भगवान्के अस्तित्वका निरूपण किया जाता है वह केवल वाह्य-वाणीका विलास-मात्र ही है, उससे भगवान्का बोध नहीं हो सकता। वह तो मनके स्वधाममें छिपे हुए निज-निकेतनका रहस्य है, सबके सामने कहने-सुननेकी बात नहीं।

बहुत दिनोंके प्रवाससे लौटे हुए स्वामीके साथ स्त्रीका जो परस्पर गुह्य प्रेमालाप होता है, उसकी भाषाके और उसके भावके रहस्यको, उसकी करुणरागिनीके अस्पष्ट स्वरको जाननेका अधिकार क्या किसी बाहरी मनुष्यको होता है ? इसी प्रकार भगवद्-ज्ञानका, उनके अस्तित्वका और भक्त-हृदयमें स्थित भगवान्के सौन्दर्यकी मधुरताका, लीलास्वादका भक्तके हृदयमें ही अनुभव किया जा सकता है, हम अभक्त उसके स्वादको क्या समझें ? और कैसे उसका वर्णन करें ?

ईसाइयोंके 'Imitation of Jesus Christ' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

The soul is not to be satisfied with the *multitude of words, but a holy life is continual* feast. The kingdom of God is not in words.

'शब्दोंकी प्रचुरतासे आत्माका सन्तोष नहीं होता, पवित्र जीवनसे निरन्तर सुखका रसास्वाद मिलता है। ईश्वरके राज्यमें शब्दोंका महत्व नहीं है।'

भगवान्को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध-चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान सकता है और न देख ही सकता है। विषय-व्याकुल चञ्चल-चित्तसे आत्मदर्शन नहीं होता। स्थिर-चित्त होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। स्थिर-चित्त हुए बिना हजारों बार खोज करनेपर भी और सैकड़ों ग्रन्थ पढ़नेपर भी भगवान्के अस्तित्वका पता लगाना बड़ा कठिन है। भगवान्के दर्शनके लिये जिसके मनमें अत्यन्त तीव्र आकर्षण होता है, वह नचिकेताके समान ही विषयोंकी क्षणभंगुरता और अनित्यताको देखकर विषयोंकी ओर ताकता ही नहीं; जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्रा सदाके लिये समाप्त हो जाती है और मनुष्य-देहका धारण करना सफल हो जाता है—उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही लालायित होकर वह केवल उसीको चाहता है, इसके सिवा वह और कुछ भी नहीं चाहता।

यह भाव तर्क और युक्तियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला नहीं है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' यह ब्रह्म-विषयक बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयोंमें निमग्न हुए चित्तके द्वारा हमलोगोंमेंसे कोई भी उस गूढ़तम भगवद्-स्वरूपका तत्त्व नहीं जान सकते। वह इतना सूक्ष्म है और इसीलिये वह इतना दुरवगाह है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(कठ० १।२।७)

संसारमें अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो इस आत्मज्ञान अथवा परमेश्वर-सम्बन्धी बातोंको सुननेका ही सुयोग नहीं पाते, कोई श्रवणका सुयोग पाकर भी इस आत्मस्वरूपको यथार्थतः जान नहीं सकते। इस आत्मज्ञान—परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानके उपदेष्टा भी दुर्लभ हैं, इसके जानकार श्रोता भी दुर्लभ हैं और इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश-प्राप्त हुए ज्ञाता पुरुष भी दुर्लभ हैं। फिर जिस किसी मनुष्यसे इस आत्मतत्त्वके सुननेपर भी कोई फल नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्यके द्वारा किये हुए परमतत्त्वके उपदेशसे आत्मज्ञानका विकास नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

(कठ० १।२।८)

इस आत्माके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मत हैं। कोई कहता है भगवान् हैं, कोई कहता है नहीं हैं। कोई उनको कर्ता, कोई अकर्ता, कोई साकार, कोई निराकार, कोई न्यायवान् और कोई दयालु, इसप्रकार भगवान्के सम्बन्धमें अनेक लोग अनेक प्रकारके भाव रखते हैं। हमारे इन्द्रियग्राह्य ज्ञान और विचारसे उन अतीन्द्रिय परमात्माका यथार्थ बोध नहीं हो सकता। लोग अपनी भावनाके अनुसार ही भगवान्की कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु वह अद्वितीय देव सभी भूतोंके अन्तरमें गूढ़रूपसे स्थित हैं, वह सर्वव्यापी और सब भूतोंके अन्तरात्मा हैं, वह सबके, सब कर्मोंके साक्षी होनेपर भी निर्गुण हैं, अर्थात् कोई भी गुण उनको बाँध नहीं सकता।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेताश्वतर० ६।११)

उन भगवान्‌को जाननेके लिये उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८।६२)

इस शरणागतिद्वारा भगवदुपदिष्ट साधनमें लग जानेपर शरणागत साधकको भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं।

शास्त्रोंके अध्ययनसे केवल भगवान्‌को जाननेकी इच्छा जाग्रत् होती है; नहीं तो अनेक शास्त्रोंको पढ़नेवाला कोई भी उन्हें जान लेता, पर ऐसी बात नहीं है, शास्त्राध्ययनके साथ ही साधन-सम्पन्न भी होना चाहिये।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः न निष्णायात् परे यदि।
श्रमः तस्य श्रमफलं ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

जो केवल शब्द-शास्त्रको जानता है, परन्तु साधनके द्वारा उसका रहस्य उपलब्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसका शास्त्र पढ़ना वैसे ही श्रममात्र है जैसे बाँझ गौ अपनी रक्षा करनेवालेको केवल परिश्रम ही देती है। इसलिये जब कि साधनके बिना भगवान्‌को जाननेका कोई उपाय ही नहीं है, तो फिर उन्हें जाननेके लिये साधन ही करना चाहिये। साधन किये बिना जन्म-जन्मान्तरोंसे सञ्चित अन्तःकरणका मल नष्ट नहीं हो सकता। मल-नाश होकर अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन नहीं होता। भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना केवल दूसरेके द्वारा सुननेसे या मनमानी युक्तियोंके सहारेसे वास्तविक भगवत्-स्वरूपका अस्तित्व समझमें नहीं आता। अतएव आत्मतत्त्व जाननेके लिये अथवा भगवत्-स्वरूपका दर्शन करनेके लिये सद्‌गुरुके उपदेशकी आवश्यकता है। गुरु-कृपा बिना कुछ भी नहीं होगा। परन्तु अनुरागी भक्तपर गुरुदेव कृपा करते ही हैं। इस विषयमें भागवतमें वर्णित श्रीनारदकी आख्यायिका ध्यान देने योग्य है।

श्रीनारद कहते हैं—

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥
(श्रीमद्भा० १।५।२९-३०)

नारदके मालिकके घरमें चातुर्मास करनेवाले उन दीनवत्सल साधुओंने वहाँसे जाते समय श्रद्धालु, विनीत, अनुरक्त और दमगुणयुक्त बालक नारदको जिस गुह्यतम ज्ञानका रहस्य समझाया था, वह गुह्यतम ज्ञान भगवान्‌का ही साक्षात् स्वरूप है।

इससे यह सिद्ध होता है कि विनीत, श्रद्धासम्पन्न और सेवापरायण व्यक्तियोंपर साधुलोग कृपा किया करते हैं। उनकी कृपासे ही यह गुह्यतम भागवत-ज्ञान जीवके अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है। अवश्य ही भगवान्‌को जाननेकी रुचि होनी चाहिये और भगवान्‌के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

किसप्रकार यह विश्वास दृढ़ हो और कैसे भगवान्‌में रुचि हो? इसपर भागवतमें कहा गया है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
(श्रीमद्भा० १।२।१६, १७, १८)

सेवा और तीर्थ-दर्शनादिसे भगवान्‌की कथामें प्रेम होता है। पुण्य-श्रवण-कीर्तनरूप उस भगवत्-कथाको जो सुनता है उसके अन्तःकरणके मलको भगवान् स्वयं अपने करकमलोंसे धो डालते हैं। इसप्रकार नित्य साधुसङ्गसे एवं साधुओंके मुखोंसे भगवत्-कथा सुनते रहनेसे जब अन्तःकरणकी अमङ्गलकारिणी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब उत्तमश्लोक भगवान्‌में निश्चला भक्ति उत्पन्न होती है।

श्रीनारदने भी कहा है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः॥
(श्रीमद्भा० १।५।२६)

वे (साधु) प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कथा कहा करते थे, उन्होंने दया करके मुझे उस कथाके सुननेका अधिकार दे दिया था, प्रतिदिन श्रद्धासहित कथा सुनते-सुनते मेरे हृदयमें भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगा।

आदौ श्रद्धा ततः सङ्गोऽथ भजनक्रियाः ।
ततोऽनर्थः निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

पहले श्रद्धा होती है । तदनन्तर सत्सङ्गके फलस्वरूप चित्तमें भगवत्-प्राप्तिकी आशा बढ़नेसे भजनद्वारा विक्षेपादि नष्ट हो जाते हैं; पश्चात् निष्ठा और उसके बाद रुचि होती है, रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ होता जाता है, फिर भगवान्‌में प्रबल आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसीका नाम भक्ति और यही विश्वासकी पराकाष्ठा है । यह विश्वास हमें सिर्फ बातों और युक्तियोंसे कैसे मिल सकता है ?

जिसके प्रति हमारा प्रेम बढ़ा हुआ होता है उसका चिन्तन हमें बहुत ही प्रिय प्रतीत होता है, भगवान्‌में भक्ति होनेपर उनका भी अधिक-से-अधिक चिन्तन करना प्रिय लगता है, फिर वह भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनमें निमग्न हो जाता है । इसप्रकार आनन्दघन भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है ।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । १७)

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भक्तिके प्रबल होनेपर नारदके चित्तकी वृत्तियोंका बहिर्मुख भाव संयत होने लगा, क्रमशः प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया । कब उनके दर्शन होंगे, क्या मुझे भी भगवान् दर्शन देंगे ? इसप्रकारकी भावनासे नारदका चित्त भगवद्-विरहमें व्याकुल हो गया, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी । उसी समय नारदके हृदयमें श्रीभगवान्‌की मूर्तिका आविर्भाव हुआ ।

ऐसे सर्व-तम-नाशक आनन्दघन भगवान्‌के दर्शन हुए बिना क्या जीवन सफल हो सकता है ? इसी आनन्दके लिये ही तो मनुष्य लालायित है । इसी आनन्दको पानेकी आशासे वह इन्द्रियोंके द्वार-द्वारपर विषयोंके लिये भीख माँगता भटक रहा है । वह 'आनन्द' और 'शान्ति' के लिये पुकार मचाता हुआ बिना विराम दौड़ रहा है, किन्तु–

'हरि-सौरभ मृगनाभि बसत है, द्रुम तृण सूँघि मर्यो ।'

—कहाँ है वह आनन्द ? वह आनन्द विषयोंमें नहीं है । तथापि जीव इसी आनन्दका सेवन करता है । विषयोंमें इस आनन्दका जरा-सा आभास है, इसीलिये तो जीव विषयोंको छोड़कर उनसे हटना नहीं चाहता । जीवमें इस आनन्दकी आकांक्षा स्वाभाविक ही है । वह खण्ड आनन्द अथवा आनन्दके जरा-से विचूर्णको कई बार प्राप्त कर चुका है, किन्तु उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती । वह तो चाहता है आनन्द-रस-समुद्रको । वह तो उसमें सदाके लिये अपनेको खोकर डूबे रहनेके लिये पागल हो रहा है । यह 'पूर्णात् पूर्णतरं' अथवा 'पूर्णतम' आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है । उसके न मिलनेसे, विश्वासके साथ उसका आस्वादन न करनेसे, जीवकी यह जीवन-यात्रा ही व्यर्थ है । अतएव भगवान्‌में विश्वास न करनेसे कितनी हानि होती है, इसका कोई अनुमान भी नहीं हो सकता । आनन्दकी तो इच्छा ही पवित्र होकर भक्तिरूपमें परिणत हो जाती है । पहले कहा जा चुका है कि आनन्दकी आकांक्षा जीवमें स्वाभाविक है, अतएव भक्ति भी मनुष्यका सहजात संस्कार है । इस भक्तिकी चरितार्थताके लिये भगवान्‌की आवश्यकता है । हमारे अन्दर यह भक्ति है इसीसे हम समझ सकते हैं कि 'भक्तिप्रिय माधव' भी हैं ।

हम भगवान्‌में क्यों विश्वास करें ?

जो वस्तु संसारमें नहीं होती, उसके लिये किसीको लालायित नहीं देखा जाता, इसके विपरीत जो वस्तु जितनी सुन्दर और सत्य हो, उसका मिलना असम्भव होनेपर भी लोग उसे प्राप्त करनेकी इच्छा किया ही करते हैं । जीवोंमें, विशेषकरके मनुष्यमें तो स्वाभाविक ही 'सुन्दर' और 'सत्य' के प्रति आकर्षण है । 'सत्य' और 'सुन्दर' को पानेके लिये जीव असाध्य-साधन करनेको भी तैयार है । जीवनकी बाजी लगा देना तो उसके लिये साधारण बात है । वस्तुतः यह 'सत्य' और 'सुन्दर' यदि संसारमें न होता तो केवल अन्ध-कौतूहल-वश कोई भी इसके प्रति आकर्षित नहीं होता । यह भी देखा जाता है कि सत्य और मिथ्या इन दोनोंमें लोग सत्यको ही चाहते हैं । स्वप्नमें प्राप्त धन और वास्तविक धनमें, लोग वास्तविक धनकी ही इच्छा करते हैं । जबतक सत्यका यथार्थ बोध न हो, तबतक सत्यके प्रति उपेक्षा दिखलाना सम्भव है, किन्तु एक बार सत्यको समझ लेनेके बाद उसके प्रति आकर्षित न होना असम्भव है । जबतक हम सांसारिक वस्तुओंको सत्य समझते हैं तबतक उनको अधिक-से-अधिक पानेकी आकांक्षा करते हैं, किन्तु जब वही वस्तुएँ हमारी बुद्धिमें असत्य प्रमाणित हो जाती हैं, तब उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता । हम अज्ञानवश असत्यको तभीतक चिपटाये रहते हैं, जबतक उसको असत्य समझ नहीं लेते, इसी प्रकार सत्यके प्रति भी तभीतक उदासीनवत् व्यवहार

करते हैं, जबतक सत्यका स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो जाता। सत्य सदा उपेक्षित नहीं रह सकता, इसी प्रकार असत्यके प्रति मोह भी सदा नहीं टिकता। इसीसे यह सम्भव है कि एक दिन सत्य अवश्य मिलेगा ही। सत्यके प्रति हमारा जो इतना खिंचाव है, यह हमारे अन्तरका एक अति गूढ़ रहस्य है। जो सत्य है, वही तो सुन्दर है। सुन्दरके प्रति आकर्षण हमारा Intuitive सहजात ज्ञान है। यह सत्य हमारी अपनी वस्तु है, यह हमारे मनका मोहन, प्राणोंका आराम है। जबतक इसको भूले रहते हैं तभीतक 'अवस्तु' के साथ खेलना सम्भव है, 'सत्य' के पा जानेपर 'अवस्तु' के प्रति आदर नहीं रहता। जब बालक खिलौनोंको लेकर खेलमें रम जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूल गया है। किन्तु उसकी वह भूल सदा नहीं रहती। भूल मिटती है, खिलौनोंको फेंक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौड़ छूटता है, घर पहुँच माँसे मिलकर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलौने फेंककर चले आनेका उसको किञ्चित् भी पश्चात्ताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साक्षी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पा गया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। उसको पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परितृप्त रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना मोह नहीं होता, यदि कभी हो भी जाता है तो वह दीर्घकालतक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझा देती है कि 'भगवान् हैं।' जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको वैसा नहीं खींच सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है, यह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अन्धेरेमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं सकते, परन्तु ऐसा होनेसे हमारे मनको सन्तोष या तृप्ति प्राप्त नहीं होती। यह मनका एक स्वाभाविक धर्म है। मनकी इस स्वाभाविक वृत्तिके कारण ही हम अन्धकारको पसन्द नहीं करते, अथवा अन्धकारसे तृप्त नहीं होते। जिन सांसारिक सुखोंके लिये जीव लालायित रहते हैं, उनको इच्छानुसार पाकर भी जो उनकी कुछ भी परवा न करके—उनकी उपेक्षा कर, केवल मनकी कल्पनाके आधारपर ही तृप्त हो रहते हैं, सो बात नहीं है, वे इसीलिये तृप्त हैं कि इस समय उन्हें सत्यके दर्शन हो गये हैं, वे उस असली सुन्दरपर मुग्ध होकर उसकी ओर खिंच गये हैं। इसीसे अब उन्हें जगत्के विविध वैभव और मान-प्रतिष्ठा आदि आकर्षित नहीं कर सकते। उन्हें प्रकाशके दर्शन हो गये हैं, अतएव वे अन्धकारमें भटकना नहीं चाहते। यह अन्धकार ही अज्ञान है। जबतक अज्ञान हमपर छाया रहता है तबतक हमें बाध्य होकर उसमें निवास करना पड़ता है, किन्तु सत्यका प्रकाश पाते ही हम तुरन्त उसीकी ओर दौड़ जाते हैं, फिर वह अन्धकार हमें नहीं सुहाता। अनेकों पुरुषोंके जीवनमें यह ज्ञानालोक प्रकाशित हो चुका है, हमने ऐसे बहुत-से लोगोंको देखा है, जो इस ज्ञानालोकके प्रभावसे विगतमोह हो अज्ञान-अन्धकारके चंगुलसे छूट चुके हैं।

सत्यका आलोक प्रकाशित हुए बिना हमारे मनका यह गोरखधन्धा नहीं मिट सकता, अन्तःकरणकी अप्रसन्नता और चित्तका भय दूर नहीं होता। ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभी निर्भय, निश्चिन्त और आनन्दित होना चाहते हैं, इसीसे सत्य और ज्ञानके प्रकाशको आवश्यकीय समझते हैं और इसीलिये जो सत्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और 'तमसः परस्तात्' हैं उनको पानेकी इच्छा करते हैं। यही जीवमात्रके अन्तर-से-अन्तरकी बात है। यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मानन्दरूपममृतं' परम सत्य है। इसीलिये यह हमें इतना आकर्षित करता है, मिथ्या होता तो निश्चय ही हम इतने आकर्षणका अनुभव नहीं कर सकते। जैसे अन्धकारके बाद प्रकाश देखकर हम तृप्त होते हैं, वैसे ही अज्ञानका पर्दा फटनेपर जो ज्ञानालोक प्रकाशित होता है, उस ज्ञानके प्रकाशमें हम उन्हींका साक्षात् करते हैं जो—'प्रेयः पुत्रात् प्रेयः वित्तात्' हैं।

वही परम कल्याणस्वरूप हैं, वही हमारे आत्मा हैं, वही हमारे सबके राजा, प्रभु और भगवान् हैं। इसलिये अज्ञानीको भगवान्के दर्शन न होनेपर भी ज्ञानी भक्त उनको देख पाते हैं। इसमें अविश्वास करनेका कोई भी कारण नहीं है। उनके स्वरूपको पहचानकर पूर्वकालके ऋषिगण

सरल शिशुके सदृश उच्च कण्ठसे यह पुकार उठे थे—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।' (श्वेताश्वतर ३।८)

यह गम्भीर ध्वनि आज भी मनुष्योंके चित्ताकाशमें प्रतिध्वनित हो रही है । धीर विवेकी पुरुष अब भी उसको सुन पाते हैं ।

हम जगत्‌में अनेकों विषयोंके लिये आकर्षण अनुभव करते हैं और उनको अपने हाथके समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमानेमें भी नहीं चूकते । ऐसा क्यों करते हैं ? इसीलिये कि ये विषय हमको आकर्षित करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है, इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओंको पाना चाहते हैं । किन्तु इन वस्तुओं-में आनन्दका स्वप्न दीखनेपर भी ये क्षणभंगुर हैं, इनकी प्राप्तिसे हमारे प्राणोंकी आकांक्षा नहीं मिटती । जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी कालमें ध्वंस नहीं होता, जो आनन्द कभी चुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते, कि बस, हो चुका और नहीं चाहिये । वह ध्रुव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् हैं । जब क्षणिक विषयानन्दके लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषयसे जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा ध्येय आनन्द है । यह सत्य है कि जगत्‌में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है । यही जीवकी आत्यन्तिक मर्मवेदना है । नाना प्रकारके सांसारिक आनन्दको पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते ? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता, आनन्दके सत्य स्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते । हम जो कुछ देखते हैं वह काचके अन्दर आवृत प्रकाशका प्रतिबिम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है । इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है । वास्तविक आनन्द ही जीवनका चरम सत्य है, यदि हम इस चरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता । उस आनन्दमें महान् आकर्षण है इसीसे तो वह कृष्ण है । उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस अनादिकालसे दौड़ रहे हैं । उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन क्षिप्त हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पानेके लिये दौड़ने लगता है । हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है ?

जो वस्तु ही न हो, उसे पानेके लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता । निश्चय ही 'वह' है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी इतनी टान है । इस आनन्दस्वरूपकी नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्य-इच्छित वस्तु है । और इस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही श्रीभगवान् हैं । फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें ?

साधारणतः हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतासे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं । परन्तु इन इन्द्रियोंद्वारा हम भगवान्‌को देख या समझ नहीं सकते । स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा स्थूल विषयोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तुके जाननेका उपाय तो दूसरा ही है, वह ज्ञान इन इन्द्रियोंकी सहायतासे सहजमें नहीं हो सकता । पदार्थ-समूह इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य होनेपर भी ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ अथवा कीटाणु हैं जिनको हम इन चक्षुओंद्वारा नहीं देख सकते । उनका देखना या तो सूक्ष्म शक्तिवाले कृत्रिम यन्त्रादिद्वारा हो सकता है या मनुष्यके अन्तरमें स्थित अतीन्द्रिय शक्तिके स्फुरणद्वारा । वस्तु तो यन्त्रादिकी सहायतासे शायद दीख भी सकती है, किन्तु आत्मदर्शन अथवा ईश्वरदर्शनमें इन यन्त्रादिकी सहायता बिल्कुल व्यर्थ होती है, उसके लिये तो दिव्य चक्षु चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही दिव्य चक्षु दिये थे, इसीसे वह विश्वरूप देख सका था । ये अतीन्द्रिय दिव्यनेत्र सब मनुष्योंके अन्दर हैं किन्तु वे न तो उनका सद्व्यवहार करना जानते हैं और न उन्हें प्रस्फुटित करनेका उपाय ही । इसीलिये सबके पास दिव्य चक्षु होनेपर भी वे उनके अधिकारमें नहीं हैं । भगवान्‌का स्वरूप अलौकिक है, अतः उसके दर्शनके लिये अलौकिक नेत्रोंकी आवश्यकता है । सौभाग्यसे जिनके ये अलौकिक नेत्र खुल गये हैं, वे भगवान्‌के—

'रूपं भगवतो यत्तन्मनः कान्तं शुचापहम् ।'

—को देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं है, भगवत्-स्वरूपके दर्शन किये जा सकते हैं, यह परम सत्य है। आजीवन विषयोंके पीछे भटकनेके कारण हमारा मन अत्यन्त चञ्चल हो गया है। इस चञ्चलताके मिटते ही हृदय-पटमें उसका ललित त्रिभङ्ग सजल जलद-कान्ति, बाँकेविहारी मधुर रूप प्रकट होता है। किन्तु स्थूल विषयोंका चिन्तन करते-करते हमारा मन बहुत ही स्थूल हो गया है, इसीसे 'सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयम्' सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय परमात्माके दर्शन-लाभसे वह वञ्चित रहता है। यह बात नहीं है, कि उनका अस्तित्व ही नहीं है, इसीसे हमें उनके दर्शन नहीं होते। वह हैं, परन्तु हमारे अन्दर सूक्ष्म-दृष्टि—योग-दृष्टिका अभाव है इसी कारण हम उनके दर्शन-लाभसे वञ्चित हैं, नहीं तो—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'
(ईश० १)

—ऐसे भगवान्‌को क्या हम देख नहीं सकते? भगवान्‌को जाननेके लिये पहले अधिकार प्राप्त करना होगा। इस परमात्माको जाननेके अधिकारीके सम्बन्धमें यमराजने नचिकेताके प्रति कुछ बातें कही हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां
दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥
(कठोपनिषद् १।२।११)

जो समस्त विषयभोग, संसारका स्वामित्व, यज्ञोंका अनन्तफल, सब भयोंके नाशकी पराकाष्ठा और अतिशय स्तवनीय और सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त शुभ फल और अपनी अत्युत्तम गति, इन सबकी आशाको त्याग सकता है, वह महा त्यागीश्वर पुरुष ही इस परमतत्त्वको जान सकता है।

जो पुण्य-कर्मोंमें रत, सरल, परोपकारी और दम-गुण-सम्पन्न हैं, उनका भगवान्‌में अपने आप ही विश्वास होता है। भगवान्‌के मिलते ही सब कुछ मिल जाता है, इस-प्रकारकी निश्चयात्मिका दृढ़ बुद्धिको धारण करके वे किसी भी सांसारिक फलकी कामना नहीं करते। विषयोंका लोभ सब प्रकारसे छूटे बिना भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ० २।३।९)

यह परमात्माका स्वरूप इन्द्रियका प्रत्यक्ष विषय नहीं है—इन्द्रियग्राह्य नहीं है, चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कोई भी उसको नहीं देख सकता। किन्तु विकल्पहीन अर्थात् संयत वा निश्चल 'हृदा' बुद्धिद्वारा ध्यानकी सहायतासे वह अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित होता है, जो इसको जान जाता है वह अमृतस्वरूप हो जाता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

जिनकी बुद्धि प्रमादग्रस्त है, जो धनके मोहसे मोहित है, ऐसे ज्ञानरहित बालक-सदृश व्यक्तियोंके निकट शास्त्रानुकूल साधनादि और उसका फल प्रकाशित नहीं होता। जो यह समझते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसे पुरुष बारम्बार मृत्युके ही मुखमें पड़ते हैं, वे अमृतके स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकते।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० १।२।२४)

जो पुरुष असदाचारी है, इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त है, एकाग्रतारहित अत्यन्त चञ्चल और अशान्त मनवाला अर्थात् फल-कामनाके लिये अत्यन्त लोलुप है वह यदि ब्रह्म-विषयक विचार भी करे, तो भी इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
(कठ० १।२।१२)

जो दुर्दमनीय विषय-लोभमें प्रमत्त नहीं है, अर्थात् धीर है, ऐसे धीमान् पुरुष परमात्मामें चित्त-समाधानरूप योगके अभ्याससे उस 'दुर्दर्श'—दुर्विज्ञेय 'गूढ'—इन्द्रियोंसे अग्राह्य और 'अनुप्रविष्ट'—सब भूतोंके अन्तरमें प्रविष्ट, प्राणियोंकी बुद्धिके भीतर विराजित देहरूप गर्त्तमें स्थित,

सदा विद्यमान उस परमदेवको मानकर विषयोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादिका परित्याग करते हैं। अर्थात् गम्भीर ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर उनको फिर विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखदुःखद्वारा विडम्बित होना नहीं पड़ता।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

जो अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुष हृदयाकाशमें प्रकाशित है, वही जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

जो मुमुक्षु साधक इस आत्माको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करता है, अथवा वही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, यों समझकर उसको वरण करता है, उसी मुमुक्षु साधकद्वारा यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उस मुमुक्षु उपासकके निकट अपनी मूर्ति प्रकाशित करता है। साधककी ऐकान्तिक शरणागति और भगवत्-कृपा ही उसके साक्षात्कारका उपाय है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥
(कठ० २।३।१५)

जब इस जीवनमें ही अन्तःकरणके समस्त बन्धन (देहादिमें ममत्वबुद्धि) नाश हो जाते हैं, तब यह मरणशील देह-विशिष्ट व्यक्ति अमृत हो जाता है। यहींतक अनुशासन है। इसप्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद फिर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

यह आत्मा ही—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(गीता १३।२२)

यह पुरुष उपद्रष्टा, अर्थात् साक्षीमात्र, अनुमन्ता-अनुमोदन करनेवाला, यही सबका भरण करनेवाला, पालन करनेवाला और महेश्वर अर्थात् ब्रह्मादिका भी अधिपति है। श्रुतिमें कहा है—

'एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिः'

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जीव वृथा-आशा, वृथा-कर्मी होकर सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमतत्त्वको न जाननेके कारण मनुष्य-देहधारी मुझ परमात्माकी अवज्ञा करते हैं। किन्तु—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(गीता ९।१३)

हे पार्थ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मा पुरुष मुझमें एकाग्रचित्त हुए मुझे जगत्-कारण और नित्य-स्वरूप समझकर मेरी आराधना करते हैं। अतएव जिसमें आसुरी स्वभाव बदलकर दैवी स्वभाव प्राप्त हो, इसके लिये चेष्टा करना परम कर्तव्य है। दैवी स्वभाववाले पुरुषको ही स्वरूप साक्षात्कार होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १४।२६)

जो अन्य लक्ष्य त्यागकर एकान्त-भक्तियोगद्वारा परमेश्वर-स्वरूप मुझ वासुदेवकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके मोक्षप्राप्तिके लिये समर्थ होता है।

वह

कौन है, कहाँ है वह, रूप उसका है कैसा? इसका किसीने कुछ भेद नहीं पाया है।
अनल, अनिल, जल, व्योम, जगतीतलमें, जीव, जन्तुओंमें अणु-अणुमें समाया है॥
आदि मध्य अवसान उसका नहीं है कुछ, जायेगा कहाँको, वह कैसे यहाँ आया है?
उसका 'प्रकाश' यह जग जल थलमें है, उसकी ही सृष्टि और उसकी ही माया है॥

रमाकान्त त्रिपाठी 'प्रकाश'

श्रीभगवद्-रहस्य

(लेखक—रायबहादुर राजा दुर्जनसिंहजी)

ॐ जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ॥

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

मतभेद होना प्राकृतिक धर्म है और यह अनादिकालसे चला आया है किन्तु आश्चर्य यह है कि परिवर्तनशील पाञ्च-भौतिक सृष्टिका विषय उतना विवादग्रस्त नहीं, जितना कि अटल और अखण्ड स्थितिवाला भगवत्-विषय है । इस विवादके कारण पारस्परिक विरोधकी नित्य वृद्धि होकर नये-नये सम्प्रदाय आये दिन जन्म लेते चले जा रहे हैं और राग-द्वेषका वेग बढ़ रहा है ।

श्रीभगवान्‌के वनवास पधारनेपर श्रीदशरथ महाराज-की लोक-यात्रा समाप्त होनेके पश्चात् श्रीभरतजी महाराज अपने प्रिय भ्रातासहित ननसालसे अयोध्याजी पधारकर जिस समय परम सन्तप्त-हृदया श्रीकौशल्यामाताके भवनमें पधारे हैं, तब उनके सम्मुख अपनी शुद्धिके निमित्त की गयी अनेक शपथोंमें एक शपथ यह भी की गयी थी—

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः ।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥
(वा० रा० अयो० का० स० ७५ । ८५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा किसी मार्गका (सम्प्रदाय, मत) आश्रय करके झगड़नेवालों या उनके देखनेवाले (विवादके सुननेवाले) को जो पाप लगता है वह उसे लगे जिसके परामर्शसे श्रीभगवान् वनको पधारे हों । खण्डन-मण्डन-पूर्वक भगवद्-विषयपर शास्त्रार्थ करनेमें स्वपक्ष-समर्थनका आवेश होकर जिनके हृदयमें राग-द्वेषकी मात्रा बढ़ जाती है, उनके लिये यह शपथ चक्षुरुन्मीलनपूर्वक पूर्ण शिक्षाप्रद है । यद्यपि इससे स्पष्ट है कि भगवद्-विषयमें विवाद करना प्रायश्चित्तसापेक्ष एक प्रकारका पाप है और यह कदापि साधु-सम्मत नहीं है तथापि विशेषकर इस कलिकालमें तो, दशा असह्य-सी हो रही है और जब पक्षपातपूर्ण कोई विषय सम्मुख आता है तो हृदयको परम आघात पहुँचता है किन्तु यह सोचकर कि सर्वथा पक्षपातहीन परम विज्ञानमय श्रीमद्भगवद्गीता या आधुनिक जगत्‌में सर्वाधिक लोकप्रियताप्राप्त श्रीतुलसीकृत मानसरामायण-सरीखी अनुपम रचनाओंके द्वारा प्रकटित सिद्धान्तोंमें लोककी अनेक भ्रान्तियोंके समूल नष्ट होनेकी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है अथवा इनके ही आधारपर अनेक लेख-व्याख्यान भी भगवत्-प्रेममें लीन विद्वान् या महात्माओंके द्वारा यथासमय जगत्‌के समक्ष होते रहते हैं—जब इनका प्रभाव भी विवादप्रिय लोगोंके शान्तिका कारण नहीं हो सकता तो मुझ-जैसे अल्प-मति वा अभ्यास-शून्यकी तो गणना ही क्या है ? इस स्थितिमें मेरा लेखनी उठानेका कैसे साहस हो सकता है ? तथापि जब कभी हृदयको पूर्ण धक्का लगकर दैवी-प्रेरणा होती है तो श्रीतुलसीकृत रामायणजीका यह वचन—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे बिन रहा न कोई ॥

—स्मरण हो आनेसे प्रवृत्तिके लिये साहस हो जाता है और उसी दैवी-शक्तिके अनुरोधसे दीन वा दरिद्र शब्दोंमें कुछ भाव भी निकल पड़ते हैं । मेरे विचारमें यदि मूल श्रुतियोंका आशय हृदयाङ्कित कर लिया जाय तो ऐसे भेदोंका अंकुर ही हृदयमें नहीं उठने पावे और कैसा भी जटिल विषय हो, सरलतासे समझमें आ जाय ।

सबसे प्रथम भगवत्-तत्त्व-द्योतक मूल श्रुतियोंको ही लिया जाय—

एकमेवाद्वितीयं, ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । स देव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय ।
(छान्दोग्य उपनिषद्)

इनसे सूर्यके मध्याह्न-प्रकाशकी भाँति सिद्ध है कि भगवान्, ब्रह्म, परब्रह्म परमात्मा इत्यादि अनन्त नामोंमेंसे कुछ भी कहा जाय, है एक वा अद्वितीय ही । इस सिद्धान्तमें जहाँतक देखा जाता है किसी भी (चाहे सनातन-धर्मी चाहे अन्य) सम्प्रदायका मतभेद नहीं है क्योंकि दो परमेश्वर कोई नहीं मानता ।

इतना तो विषय निर्विवाद है, किन्तु मतभेदके कारण-का बीज श्रीभगवान्‌का स्वरूप-निरूपण है, क्योंकि कोई

तो इसको अमूर्त अर्थात् निराकार बताता है और कोई मूर्त अर्थात् साकार। इसीके अन्य नाम निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत, निरवयव-सावयव आदि हैं।

पक्षपात छोड़कर श्रुतियोंके आधारपर विचार करनेसे ऐसे मतभेदको अवकाश नहीं मिल सकता, किन्तु पक्षपातका अंकुर हृदयमें जमनेसे पूर्वापरका सब विचार नष्ट होकर और पक्ष-समर्थनके आवेशमें यथार्थतापर दृष्टि न रहकर परिणाम यह होता है कि ऐसे पक्षके सिद्ध करनेका प्रयत्न होने लगता है जिससे अपने भिन्न इष्टदेव श्रीभगवान्‌के उत्कर्षोपपादनके लिये न्याय-परायणताके भी दमनपूर्वक पक्षपातका इतना आकाश-पाताल बाँधा गया, कि उलटी उनकी ही महिमा संकीर्ण दीखने लगती हैं। इस विषयके प्रमाणमें अधिक भटकनेकी आवश्यकता नहीं। निर्गुण उपासकोंके शिरोमणि और अद्वैतवादके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कर भगवान्‌की लेखनीके द्वारा ही उपनिषद्-मन्त्रके आधारपर उनके स्वयंरचित प्रबोध-सुधाकरमें निकले हुए इस वचनको देखिये—

जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः।
मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे॥

जिस ब्राह्मण-भागके मन्त्रको यहाँ लक्ष्य कराया गया है वह इसप्रकार है 'द्वे वै ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चेति' यह मूर्त्त और अमूर्त्तका समुच्चय श्रीभगवान्‌का परमाश्चर्य-पूर्ण व्यापार है जिसका रहस्य त्रिगुणमयी बुद्धिद्वारा ग्रहण किया जाना बड़ा कठिन है—ऐसे ही अद्भुत व्यापारका पुष्टिकारक श्वेताश्वतरोपनिषद्‌का यह मन्त्र है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि अमूर्त्तका तो सर्वत्र वायु-आकाशकी भाँति व्यापक रहना सम्भव है किन्तु मूर्त्तकी व्यापकता सम्भव नहीं हो सकती। इसमें पहले एक पाञ्चभौतिक सृष्टिका ही उदाहरण श्रीभगवान् शङ्कराचार्यके इन वचनोंमें दिया जाता है—

साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम्।
विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत्॥

जब कि इस प्रकृति-राज्यमें भी भौतिक सृष्टिका ही अनुपम चमत्कार इन चर्म-चक्षुओंके द्वारा प्रत्यक्ष दीख रहा है कि गोलाकार सूर्य-मण्डल साक्षात् एक देशमें ही दिखलायी देता है किन्तु वह सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है और सबको एक ही साथ सब जगह दिखलायी देता है तो प्रकृतिके स्वामी श्रीभगवान्‌की अनुपम महिमाका क्या ठिकाना है? जहाँ असंख्य सूर्योंका तेज और प्रकाश है, यही क्यों, प्रत्युत विरोधी धर्मवाले अनेक चन्द्रमाओंकी युगपद् ज्योत्स्ना और शीतलता भी विद्यमान है।

जब हमको श्रीसूर्यनारायणकी, जो श्रीभगवान्‌की मायाके कार्य हैं, मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपसे व्यापकता इन चर्म-चक्षुओंसे ही नित्य दीख रही है तो श्रीभगवान्‌की व्यापकतामें क्यों सन्देह किया जाय? यद्यपि श्रद्धावान्‌के सन्तोषार्थ इतना ही पर्याप्त था किन्तु श्रीभगवान्‌ने तो इसके प्रमाण देनेमें भी तनिक-सी अपूर्णता नहीं छोड़ी, जिससे किसी सन्देहको ही स्थल शेष नहीं रहता। श्रीकुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें अर्जुनजीको जो विराट्‌रूपका दर्शन कराया, उसके द्वारा इतना ही प्रत्यक्ष नहीं दिखा दिया कि श्रीभगवान्‌का रूप आकाश और पृथ्वीके समग्र अन्तरमें पूर्ण व्याप्त है किन्तु विविध प्रकारसे विभक्त हुआ जगत् ही अपने शरीरमें दिखाया गया। इस रूपको तो पुनः इतना अवकाश भी था किन्तु श्रीमाता कौशल्याजी और श्रीमाता यशोदाजीको मुखमें और काकभुशुण्डिजीको अपने बाल-स्वरूपके उदरमें ऐसा ही आश्चर्यपूर्ण और अद्भुत चमत्कार दिखाया गया—पुनः वनवासके समय श्रीपार्वतीमाताको भी ऐसे ही परम विस्मयकारक दृश्यसे चकित किया गया। इससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌के दोनों ही रूप मूर्त या अमूर्त्त व्यापक और अनादि या अनन्त अर्थात् नित्य हैं—श्रीभगवान्‌की साकार और निराकाररूपसे व्यापकताके विषयमें श्रीभगवद्गीताजीके सप्तम, नवम, दशम, एकादश और पञ्चदश अध्याय द्रष्टव्य हैं।

इसमें एक और भारी चमत्कार है। अब उसपर दृष्टि डाली जाय। मूर्त्त और अमूर्त्त दोनोंका समुच्चय मानकर भी मूर्त्तरूपके विषयमें यही समझा जाना सम्भव है कि श्रीभगवान्‌की यह इच्छा होनेपर, कि मैं एकसे अधिक हो जाऊँ, प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग होकर सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंमें विषमता होते ही त्रिगुणमयी मायाके आश्रयसे सृष्टिका आरम्भ उसी क्षण हो जाता है और यही मूर्त्तरूपकी उत्पत्तिका कारण है—अर्थात् मूर्त्तरूप

मायाके संसर्ग विना सम्भव नहीं। यद्यपि ऐसा निश्चय पूर्ण भ्रान्तिमूलक है तथापि यह भ्रान्तिमूलक निश्चय ही सिद्धान्तरूपसे मानना पड़ता, यदि वह दयामय इन धार्मिक सिद्धान्तोंकी पुष्टिके निमित्त अपने चरित्रोंसे भ्रम-निवारण करके अपने सत्यरूपका प्रत्यक्ष प्रमाण न देते। केवल इसी जटिल प्रसङ्गका प्रमाण देनेके लिये श्रीभगवान्‌की उस अनोखी लीलाका होना निश्चय होता है, जिसमें देवदुर्लभ भक्तवल्लभ व्रज-भूमिमें बछड़े चराते हुए श्रीभगवान्‌के ग्वालबाल और बछड़े श्रीब्रह्माजीने चुरा लिये थे। उस समय न केवल चुराये गये ग्वालबाल और बछड़ोंके स्थानमें जो मायिक सृष्टिके क्रमसे उत्पन्न हुए थे, दूसरे ग्वालबाल और बछड़े तत्काल उत्पन्न कर दिये गये, प्रत्युत उतनी ही संख्यामें सब लक्षणसंयुक्त अपने चतुर्भुज रूपोंके भी श्रीब्रह्माजीको दर्शन करा दिये गये। यह सब अमायिक रचना थी, जिससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌में केवल मायिक सृष्टि-रचनाकी ही शक्ति नहीं है किन्तु उनकी शक्तिकी अपारता और अपरिमेयता यहाँतक है कि वे अमायिक सृष्टिका भी निर्माण कर सकते हैं। अतः श्रीभगवान्‌का जो मूर्त्तरूप है वह अमूर्त्तरूपके ही सदृश मायातीत है और उसको मायाका कार्य मानना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। वेदान्त और वैष्णवादि मतोंमें ब्रह्म या श्रीभगवत्-तत्त्वके जो भिन्न-भिन्न भेद माने हैं, इनमें अवश्य मायाकी उपाधि हेतु है जिसको किसी मतमें विशेषण भी कहा जाता है, यथा—वेदान्तमें मुख्य दो तत्त्व—चेतन और जड़ मानकर किसी मतमें चेतनके तीन भेद बताये हैं जैसे शुद्ध ब्रह्म, मायोपहित चेतन जिसको ईश्वर कहा है वा अविद्योपहित चेतन जिसको जीव कहा है और किसीमें घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाशके तुल्य कूटस्थ, जीव, ईश्वर और ब्रह्म ये चार भेद माने हैं। वैष्णव-सिद्धान्तानुसार एक मतके ये वचन हैं—

स एव करुणासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम्॥

तदर्चा[1]विभव[2]व्यूह[3]सूक्ष्मा[4]न्तर्यामि[5]संज्ञकम्।
यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥

अन्य मतसे पर-स्वरूप, स्व-स्वरूप, उपास्य-स्वरूप, मूल-स्वरूप, विरोधी-स्वरूप है।

अन्यान्य मतोंके द्वारा जो ऐसे भेद माने गये हैं, सब माया-प्रधान हैं किन्तु उस अमायिक परम तत्त्वके वे ही दो रूप हैं जिनका आरम्भमें ही निरूपण हो चुका है।

अब एक रहस्यका भी रहस्य और सुनिये। वास्तवमें बात यह है कि जो श्रीभगवान्‌का वत्सलतापूर्ण हस्त-कमल मस्तकपर हो तो यह इतना अगाध विषय है कि इसमें जितनी-जितनी सूक्ष्म बुद्धिका प्रवेश कराया जाता है, उतना-उतना ही रहस्य उद्घाटन होता है। ऊपर जो दृष्टान्तरूपसे अर्जुनजीको विराट्‌रूप अवलोकन कराने और श्रीमाता कौशल्या और श्रीमाता यशोदा और काकभुशुण्डिजीको क्रमशः मुखारविन्द और उदरमें ब्रह्माण्डोंको दिखानेकी अलौकिक लीलाएँ कथन की गयी हैं, इनपर गम्भीर दृष्टि डाली जाय। स्व-शरीरमें विराट्‌रूप दर्शन करानेसे तो श्रीभगवान्‌ने व्यापकताके द्वारा अपनी पूर्णता सिद्ध करके इस मन्त्रका अर्थ मूर्तिमान् उदाहरणके साथ सिद्ध कर दिया—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

किन्तु इसके समक्ष एक दूसरा मन्त्र देखना चाहिये। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यह मन्त्र भी उपर्युक्त मूर्त्त-अमूर्त्तवाचक मन्त्रके तुल्य एक अधिष्ठानमें दो विरोधी धर्मोंका समुच्चय सूचित करनेके द्वारा श्रीभगवान्‌की अलौकिक शक्तिका प्रमाण देता है, इसके पूर्वार्द्धसे तो ऊपरके मन्त्र 'ॐ पूर्णमदः ··· ··· ···' का पूर्णतया समर्थन होता है और इसमें वही श्रीभगवान्‌की विश्वरूपता सिद्ध होती है, जिसके दर्शनका अर्जुनजीको सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु उत्तरार्द्ध सर्वथा विरोधवाचक प्रतीत होता है और प्रत्यक्षमें यही समझा जा सकता है कि पूर्णतावाचक मन्त्रकी इस दूसरे मन्त्रके साथ सङ्गति नहीं बैठती। परन्तु इस भारी उलझनको श्रीभगवान्‌ने दूसरे उदाहरणोंसे इस प्रकार सुलझा दिया, जैसे उलझे बालोंको कंघी सुलझा देती है। प्रथम इस विराट्‌रूपमें पूर्ण विशाल देहधारी प्राणी और पदार्थोंके सम्मुख तो श्रीभगवान्‌का बालस्वरूप अणु है और उस अणुसे भी अणु उनका उदर और उस उदरसे अणु उनका मुखारविन्द—इस मुखारविन्दसे भी अणुकरके सम्पूर्ण विस्तृत ब्रह्माण्डको ही नहीं, ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंको अन्तर्भूत करके दिखा दिया। यद्यपि यह नितान्त आश्चर्योत्पादक दृश्य है तथापि इसके समर्थनमें

श्रीभगवान्ने इस गुणमयी सृष्टिमें ही भ्रान्त पुरुषोंका आवरण हटानेके निमित्त एक सामान्य-से-सामान्य उदाहरण उत्पन्न कर रक्खा है। बड़े यन्त्र वा बड़े कार्योंको जाने दिया जाय। दो चार पैसेमें एक अंगूठी आती है उसमें मसूरकी दालसे भी छोटा काचका टुकड़ा लगा रहता है—जिसमें सैकड़ों गजोंमें आनेवाला दृश्य अन्तर्भूत होकर स्पष्ट दीखता है। जब इस भौतिक सृष्टिमें ही हमको ये चमत्कार दिखायी देते हैं तो उस मायापतिके अमायिक चरित्रोंमें क्यों सन्देहको अवकाश देना चाहिये? इससे अधिक उक्त श्रुति 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' का खुला हुआ और क्या दृष्टान्त हो सकता है? इस रीतिसे यद्यपि श्रीभगवान् बृहत्-से-बृहत् और ह्रस्व-से-ह्रस्व हुए तो भी उनकी पूर्णतामें कोई अन्तर नहीं आया। जैसी पूर्णता बृहत्-से-बृहत् रूपमें थी, वही ह्रस्व-से-ह्रस्वमें भी रही। यदि कोई कहे कि बृहत् रूपसे जो अवकाश व्याप्त था वह ह्रस्व-रूप धरनेपर कहाँ गया तो इसका उत्तर बहुत सरल है कि वह अवकाश उस पूर्ण तत्त्वके बाहर थोड़ा ही था, जब वह फैला वह भी फैल गया और जब वह संकुचित हुआ, वह भी सिकुड़ गया। अतः उक्त पूर्णतावाचक मन्त्रकी सङ्गति श्रीभगवान्‌के मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपोंके साथ ही बैठ गयी।

इसी सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिये श्रीभगवान्‌ने वामनरूप धारण करके, जिसमें उस ही क्षणके भीतर उस एक ही शरीरके द्वारा अणुता वा महत्ता दोनों दिखायी गयीं, एक दूसरा उदाहरण संसारके सम्मुख रक्खा। ब्रह्माण्डके बृहत् काम अनेक पदार्थोंसे अणु देव शरीर थे और उन शरीरोंसे भी अणु वामनरूप धारण किया गया। नहीं तो इतनी ह्रस्वता करनेका इससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन और क्या हो सकता? पुनः उसी शरीरको इतना बढ़ाया कि दो ही पैंडमें चौदह लोकको व्याप्त कर लिया।

अब इस महावाक्यरूप पूर्ण प्रसिद्ध श्रुति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पर भी कुछ विचार प्रकट किया जाता है। इसको अमूर्त्त अथवा निराकारवाचक ही समझा जाता है परन्तु अमूर्त्तरूप मूर्त्तरूपसे भिन्न थोड़े ही है? यह श्रुति दोनों रूपोंपर ही लागू है। इसको भी श्रीभगवान्‌ने मूर्तिमान् उदाहरणके द्वारा सिद्ध कर दिया—इस श्रुतिका अर्थ है 'यह सब निश्चयरूपसे ब्रह्म है' 'इदम्' शब्दसे जिसका अर्थ 'यह' है इस ब्रह्माण्डको वा यदि किसीकी कल्पनामें इससे भी विस्तृत कुछ और हो तो उसको और इसमें इदाप्य किसी भी देश, काल, द्रव्य वा प्राणीको समझ लिया जाय—अतः कोई स्थान, वस्तु, प्राणी, काल इत्यादि ऐसा नहीं जिसमें और जब कि ब्रह्म न हो। 'ब्रह्म' शब्द उसी परम तत्त्वका वाचक है, जिसका आरम्भमें ही निरूपण किया जा चुका है और जिसके अमूर्त्त व मूर्त्त दो रूप सिद्ध हो चुके हैं। अमूर्त्तकी व्यापकता तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु जिस समय हिरण्यकशिपुने क्रोधाग्निसे प्रज्वलित होकर हरिदास श्रीप्रह्लादजीके वधके लिये खड्ग उठाया तो प्रह्लादजीके पुकारकर यह घोषित करते ही कि 'इस खम्भमें भी श्रीभगवान् हैं' उसी स्थलसे तत्काल भीषणतापूर्वक दहाड़ते हुए विकराल स्वरूपमें भगवान् चर्म-चक्षुओंके विषय हो गये। अब कैसे कहा जाय कि उक्त श्रुति क्या केवल निराकारकी ही वाचक है और साकारकी नहीं! वास्तवमें श्रीभगवान् जो यथावसर अनेक रूपोंमें चर्म-चक्षुओंके विषय होते रहते हैं, उसका कारण धर्म वा साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका निकन्दन तो है ही, किन्तु अपने श्वास-निःसरित श्रुतियोंके मूर्तिमान् उदाहरण जगत्‌के सम्मुख रखना भी अभिमत होता है, जिससे श्रुतियोंमें जो एकका दूसरीसे विरोध दीख पड़ता है, उसका सहज ही समाधान हो जाय। यही यथार्थमें अवतार-तत्त्व है।

भगवद्-रहस्यके विषयमें श्रुतियों या पुराण-कथाओंके आधारपर अपनी अल्पमतिके अनुसार ये विचार उपस्थित किये गये हैं। सनातनधर्ममें ऐसे आप्त-वाक्योंसे प्रबल और कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु विषय ऐसा है कि इसका प्रत्येक अङ्ग आश्चर्यसे पूर्ण है, जिसको तर्क और विज्ञानके द्वारा सिद्ध करनेका उद्योग करनेवालोंके लिये श्रीमद्भागवत-जीका यह वचन हृदयाङ्कित कर लेना चाहिये—

'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।'

(स्क० ३ अ० ७)

अर्थात् वह श्रीभगवान्‌की माया है जिसका तर्कशास्त्रसे विरोध है—यहाँ 'माया' शब्दका अर्थ प्रकृतिका त्रिगुणमय विकार नहीं है किन्तु आश्चर्यमयी शक्ति है।

इस वचनके बिना भी यथार्थतापर दृष्टि रखकर सोचा जाय तो भला 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' वाले भगवान्‌की शक्ति ही क्या हुई, जिसको अपरिमेया और अमित कहा जाता है, वह यदि विज्ञान या तर्कके साँचेमें ढाल दी जाय और यदि वह गुणमयी बुद्धिका विषय हो जाय? फिर उसमें और गुणमयी सृष्टिकी शक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? जहाँ वेदतक

'नेति नेति' कहकर हार मान गये, वहाँ गुणमयी बुद्धिका (चाहे वह कैसी ही तीव्र क्यों न हो) क्या चञ्चुप्रवेश हो सकता है ?

प्रथम 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' आदि श्रुतियोंके द्वारा विरोधी धर्मोंका यौगपद्यरूपसे समुच्चय बताया गया जो कि पूर्ण आश्चर्यमय सिद्धान्त है किन्तु यह भी स्थिर नहीं रहा और इस श्रुतिके द्वारा इसका भी खण्डन कर दिया गया—'नेति नेत्यस्थूलमनणुः' अर्थात् यह न स्थूल है और न सूक्ष्म इसलिये वह यही है ऐसा नहीं कहा जा सकता ? इन सब श्रुतियोंका सामूहिकरूपसे यही अर्थ निकलता है कि वहाँ इयत्ता और इदमित्थता करना कदापि सद्बुद्धिका व्यवहार नहीं है और सनातन-धर्मके नियमानुसार भगवत्-तत्त्वके विरुद्ध विवाद वा शास्त्रार्थको सुननातक प्रायश्चित्त-जनक है। आज इस कलियुगी सृष्टिकी तो क्या चर्चा है, उस समय भी ब्रह्माजीके द्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बछड़ोंके स्थानमें अमायिक ग्वाल-बछड़े उत्पन्न होनेका उनके पिता-माताओंतकको ऐसा अलौकिक प्रेमका वेग उमड़नेपर भी कि जो मायिक सृष्टि-नियमोत्पन्न दूध पीते हुए शिशु उनकी गोदोंमें थे उनसे सर्वथा ध्यान हटकर इन बछड़े चरानेवाले बालकोंके लिये ही जो यद्यपि दूध पीनेवाले नहीं थे, स्तनोंमेंसे दूध क्षरने लग जाता था, अनुभव नहीं हुआ और उस रहस्यको केवल श्रीबलदेवजी महाराजने ताड़ लिया जो स्वयं मूर्त्तरूपमें श्रीभगवान् ही थे।

इस समग्र विवरणका सूत्ररूप यह है कि उस ब्रह्म अर्थात् भगवत्-तत्त्वके अमायिक दो रूप हैं—एक अमूर्त्त दूसरा मूर्त जो यौगपद्यरूपसे नित्य हैं और श्रीभगवान् इन दोनों ही रूपोंमें महत्-से-महत् और अणु-से-अणु हो सकते हैं और यह सब कुछ होते हुए भी वे न महत्-से-महत् हैं और न अणु-से-अणु।

अब इस सिद्धान्तके समक्षमें इस मतपर विचार किया जाता है, जिसके द्वारा अनेक विज्ञजनोंकी ऐसी धारणा है कि श्रीभगवान्‌के मूर्त्तरूप अर्थात् जो अवतार होते हैं वे सब स्वयं भगवान्‌के ही नहीं होते किन्तु अधिक संख्यामें उनकी अंश वा कलाके होते हैं और एक अवतारसे दूसरे अवतार-में गौरव और लाघव अर्थात् घटती बढ़ती है। ऐसे निश्चय-का मुख्य कारण अनेक शास्त्रीय-वाक्य हैं जैसे श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके विषयमें श्रीमद्भागवतके तृतीय अध्यायान्तर्गत सूतजीका वचन है कि—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

इसके आधारपर एक महानुभावने अपने पूर्ण गम्भीर और हेतुगर्भित लेखमें अन्य सब कलाओंके विकासमें समानता मानते हुए सिद्ध किया है कि जो आनन्दके दो भेद हैं समृद्ध्यानन्द वा शान्त्यानन्द इनमें श्रीभगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजमें समृद्ध्यानन्दका अभाव है किन्तु श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजमें इन दोनोंका पूर्ण विकास है। इस रीतिपर इन दोनों अवतारोंमें भी जो अन्योंसे संसारमें मुख्य माने जाते हैं, भेद बताया है। अन्य महापुरुषने ऐसा प्रकट करते हुए कि भगवान् श्री-रामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ हो, यह बात नहीं है यह तो जन्मसे ही पूर्ण थे। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजकी अनेक लीलाओं वा चरित्रोंका मधुर वा प्रौढ़ भाषामें निरूपण किया है।

इधर श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके सम्बन्ध-में तो ऐसा निर्णय किया गया है, उधर श्रीभगवान् रघुनाथ-जी महाराजके महत्त्व-वर्णनमें उपर्युक्त वचनसे भी कहीं अधिक महत्त्वके वचन प्राप्त हैं। यथा—

यस्यांशेनैव ब्रह्मा महेश्वरा
अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणश्च ।
स एव कार्यकारणयोः परः
परम पुरुषो रामो दाशरथी बभूव ॥
(अथर्वण उत्तरार्द्ध)

अंशभूता विराड् ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तथापरे ।
ब्रह्मतेजो घनीभूतं वर्तते जानकीपतेः ॥
सगुणं निर्गुणश्चैव परमात्मा तथैव च ।
एते चांशा हि रामस्य पूर्वं चान्ते च मध्यतः ॥
(रामतापिन्योपनिषद्)

एते चांशकला भूता शक्तिवीर्यसमन्विताः ।
रामचन्द्रांघ्रिसंजाता रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥
(महारामायण)

इन वचनोंसे यह और प्रकाशित हुआ कि जो श्रुतियों-के आधारपर भगवत्-तत्त्वकी इनसे पहले विलक्षणताएँ निरूपण हो चुकी हैं उनके अतिरिक्त यह विलक्षणता और है कि उस तत्त्वके अंश और कला भी हो सकते हैं। यही विलक्षणता क्यों, यदि कितनी भी विचित्रताएँ प्रकट की जायँ

तो उसमें आपत्ति और आश्चर्य क्यों होना चाहिये ? क्योंकि यह तो विचित्रताओंका भण्डार है और यहाँ 'इयत्ता' करना नितान्त भूल है—परन्तु जो कुछ निश्चय किया जाय वह केवल कल्पनामात्र न होकर श्रुति अथवा श्रुतिके ही तुल्य महत्त्व रखनेवाले शास्त्र-वचनके आधारपर होना चाहिये जैसे कि प्रसङ्ग-प्राप्त कला और अंशवाले रहस्यके समर्थनमें उपर्युक्त वचन हैं।

यहाँ यह बात पूर्णरूपसे समझ लेनी चाहिये कि इस कला और अंशवाले मतका आदर केवल शास्त्रीय वचनोंके कारण ही है, नहीं तो इसमें कई प्रबल अड़चनें प्राप्त हैं, जैसे—सर्वप्रथम तो श्रीभगवान्‌की गगनभेदी इस उद्‌घोषणाके—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—यह अनुकूल नहीं है क्योंकि इस प्रतिज्ञारूप घोषणासे अंश-कलाओंके द्वारा नहीं किन्तु पूर्णरूपसे ही आविर्भूत होनेका अर्थ स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है।

दूसरे, इसके द्वारा भगवत्-तत्त्वकी महिमाकी वृद्धि न होकर उलटा ह्रास होता है, क्योंकि अपने इष्टके अतिरिक्त अन्योंको जिनका कि कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है किन्तु नाम और रूपकी भिन्नतासे वही एक परम तत्त्व है, अंश-कलारूपमें बताकर उनमें शक्ति-विकासकी न्यूनता और महत्त्व-संकीर्णता सिद्ध करनेका प्रयास होता है जिसका दूसरे शब्दोंमें यही आशय है कि अपने इष्टके ही गौरवकी हीनता की जाती है।

तीसरे, जिस पारस्परिक विरोधका कलंक किसी सम्प्रदाय या मत-विशेषपर लगाया जाता है उसका तो मुख्य कारण इस शास्त्रीय रहस्यने ही उत्पन्न कर दिया।

इन सबपर दृष्टि डालते हुए यह दशा अवश्य पूर्ण संदिग्ध है किन्तु यह सब कुछ होनेपर भी धार्मिक जगत्‌की स्थितिके लिये ऐसे सिद्धान्तकी उपयोगिता अनिवार्य थी, जिससे सिद्ध है कि धर्म-संकटके द्वारा जगत्‌में विचलितताकी सम्भावना होनेपर मुख्य लक्ष्य उसके निवारणका रक्खा जाकर अन्य कैसे भी आपत्ति और आक्षेपोंकी उपेक्षा की जाती है—इसका ज्वलन्त उदाहरण श्रीव्यासजी महाराजने अपने पुराण-रचनाके उद्देश्यानुसार जगत्‌के सम्मुख रख दिया है, जिसमें उन्होंने जिस अवतार और देवता विशेषका प्रतिपादन किया है, उसीको मुख्य और अन्योंको गौण माना है।

श्रीव्यास भगवान्‌का यह उद्देश्य नितान्त दूरदर्शिता-पूर्ण था, यदि ऐसा न होता तो घोर धर्मसंकटकी प्राप्ति थी; क्योंकि इस सिद्धान्तको प्रवृत्त करके उसको इतना रूप दिये बिना वही एक सिद्धान्त रहता जिसके द्वारा अमायिक भगवत्-तत्त्वके दो रूप बताये गये हैं और जिसका अधिकारी केवल सत्त्वगुणमय जगत् है, जिसका विस्तार सत्ययुगतकमें संकुचित था; द्वापर-कलियुगकी तो चर्चा ही क्या है और विशेषकर इस कलियुगमें तो उसका एक प्रकारसे अभाव भी बता दिया जाय तो अलङ्गत नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस राजस और तामस सृष्टिके सवेग प्रवाहमें सात्त्विकी भावपूर्ण अति विरले उदाहरणोंकी गणना ही क्या हो सकती है ?

अब सोचा जाय, यदि ऐसा सिद्धान्त स्थिर न किया जाता, जिसकी राजसी और तामसी प्रकृतियोंके लिये परमावश्यकता थी तो ये प्रकृतियाँ सर्वथा निराधार रहती और मुख्य सिद्धान्तपर इनकी श्रद्धा न होनेसे उसका उपदेश निष्फल था। अतः नास्तिक-भाव उत्पन्न होना प्राकृतिक हो जाता, जिससे धार्मिक जगत्‌की सब स्थिति ही डावाँडोल हो जाती। इसीलिये राजसी-तामसी प्रकृतिवालोंको, जिनकी रुचि भगवत्-तत्त्वकी ओर हो, रुचि-विचित्रताके कारण स्व-प्रकृति-अनुकूल उपासनाके लिये इष्टोंकी आवश्यकता होनेसे ऐसा पक्ष स्थिर किया गया। यद्यपि विभिन्न प्रकारकी उपासनाओंकी सृष्टि रागद्वेषके द्वारा विरोधका कारण अवश्य समझी जाती हैं परन्तु देखना तो यह है कि यदि ऐसा न होता तो क्या विरोधकी शान्ति रहती ? इस विषयपर नहीं तो, अन्य सांसारिक झंझटोंमें विरोधका वेग यदि अतिमात्रापर न पहुँच जाता तो इससे अल्प मात्रामें तो कभी रह ही नहीं सकता था, क्योंकि यह तो राजसी और तामसी प्रकृतियोंका अनिवार्य धर्म है जिसका अनुभव नित्य होता रहता है। और यह तो जितना भी कुछ है, धार्मिक विरोध है जिसमें सर्वथा सम्भावना है कि अपने इष्टमें चित्त-वृत्ति लगाते-लगते उसकी कृपासे इतनी लग जाय कि उसमें तन्मयता होकर सब भेद-भाव हृदयसे निकल जायँ और मूल सिद्धान्तपर स्वतः ही दृष्टि स्थिर हो जाय। यदि यह न होता तो

सांसारिक विषयोंमें ही टक्कर मारते-मारते वैसे ही जन्म नष्ट हो जाता। इससे सिद्ध है कि इस पक्षके प्रवर्तनसे बड़ा ही उपकार हुआ है और ऐसा करनेमें भगवत्के अमायिक तत्त्व वा मायिक सृष्टिकी भिन्नताका विवेक न रखकर और उनको एक रूपसे ही दिखाकर सृष्टिके प्रवाहके साँचेमें इस धार्मिक तत्त्वको भी ढालना पड़ा, क्योंकि सृष्टिकी विचित्रताकी यह स्वाभाविक माँग थी। अपने इष्ट-देवकी कृपासे जिनका हृदय निर्मल होकर विवेकपूर्वक तत्त्व-विवेचनके योग्य हो जाता है, उनको स्वतः ही यह अन्तर प्रतीत होने लगता है, नहीं तो अपनी-अपनी प्रकृतियोंके अनुसार अधिकार-भेदसे जिसको जो मार्ग रुचिकर हुआ है, उसकी प्रवृत्ति उसमें ही हो रही है। वस्तुतः प्रत्येक प्रकारके अधिकारीके लिये ऐसी विधि निकालना सामान्य काम नहीं था, जिसका सम्पादन केवल भगवत्-स्वरूप श्रीव्यासजी महाराजके ही द्वारा हो सका। और एक बात यह भी है कि अन्यके द्वारा प्रचलित ऐसा सिद्धान्त जिसके विरुद्ध इतनी आपत्तियाँ थीं, इतने आदर योग्य भी नहीं हो सकता था। वास्तवमें श्रीव्यासजी महाराजका अवतार इसी धर्मसंकटकी निवृत्तिके लिये हुआ था।

इसीके जोड़का एक प्रसङ्ग और है। जब रजोगुणकी वृद्धिसे देशमें पूर्ण धर्मसंकट उपस्थित हो गया अर्थात् पशुहिंसा-प्रधान यज्ञादि-रूप कर्मकाण्डके चक्रमें, जिसका उदाहरण महाराज प्राचीनवर्हिके इतिहासका पर्याप्त है, मोक्ष-मार्गका सर्वथा लोप-सा हो गया था, उस समय श्री-भगवान्‌को ऋषभदेवजीके नाम और रूपमें चर्मचक्षुओंका विषय होना पड़ा और इसी प्रकार ऐसे मार्ग चलानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके विरुद्ध अनेक आपत्तियोंके होनेपर भी उसकी पूर्ण उपयोगिता समझी गयी। वस्तुतः आपत्तियाँ निर्मूल नहीं थीं, क्योंकि पीछे भ्रान्तिग्रस्त बुद्धि-वालोंके द्वारा उसका दूसरा ही रूप समझा जाकर संसार-में धर्म-विरुद्ध मतकी प्रवृत्ति हो गयी, किन्तु यह धर्म-विरुद्धता उस धर्मविप्लवके सम्मुख गणना योग्य नहीं थी, जो श्रीऋषभ-भगवान्‌के द्वारा प्रचलित मार्गके अभावमें जगत्‌को व्याप्त कर लेता। श्रीऋषभ-भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन द्योतक श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्ध अध्याय षष्ठका यह वचन देखना चाहिये—

अयमवतारो राजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः॥

यह तो हुआ अंशकलामें अवतार होनेका विषय। अब रह गया इस मतपर विचार कि अमुक अवतारमें अमुक गुण प्रकट न होनेसे लाघव है। वस्तुतः ऐसा मत भी इस अंशकलाके सिद्धान्तके आधारपर ही है, क्योंकि जिनको सत्त्वगुणेतर प्रकृतियोंके द्वारा अपने इष्टकी उत्कर्षता और अन्योंकी हीनताका निश्चय हो रहा है, उनका अन्योंमें लाघव देखना प्राकृतिक है किन्तु सत्त्वगुणी बुद्धिसम्पन्न उच्च कोटिके अधिकारीके लिये इस विषयपर इसप्रकारसे विचार करनेकी आवश्यकता है कि श्रीभगवान् सत्यसङ्कल्प हैं और सङ्कल्पके अनुसार ही गुणोंका विकास किया जाता है तो क्या जिस गुणका विकास नहीं हुआ, वह उनके सङ्कल्पके आधारपर था अथवा श्रीभगवान्‌के उक्त रूपमें उक्त गुणके विकसित करनेकी शक्ति ही नहीं थी? प्रथम श्रीभगवान् रघुनाथजी महाराजके अवतारकी ही झाँकी की जाय। कुछ लोगोंका जो यह कहना है कि 'उनको प्रौढ़ावस्थाके प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजको बाल्यकालमें ही हो गया था' यह केवल चरित्रकी विस्मृतिके कारण कहा गया है, नहीं तो श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजने भी बाल्यावस्थामें ही पुत्र-प्रेम-तन्मया श्रीमाताजीको अपने मुखमें ही विराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं। पुनः काकभुशुण्डिजीको भी ऐसी ही अद्भुतता दिखलायी है। अथवा जो यह कहा जाता है कि, इनमें समृद्धयानन्दका अभाव था और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजमें इसका पूर्ण विकास था जिसके हेतु बतलानेमें यह बात मुख्यरूपसे कही जाती है कि आपके जीवनभरमें कोई दिन ऐसा नहीं कि जिस दिन आप शोकाक्रान्त हो आँसू बहा रहे हों परन्तु यह भी चरित्रांके अनुकूल नहीं है, श्रीमद्भागवतके एक ही स्थलके इस वचनको देखना चाहियेः—

अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षो विलेपतुः।

अर्थात् हमको बड़ा कष्ट है, ऐसा कहकर आँसू गिराते हुए आप विलाप करने लगे। ऐसा होनेपर भी यदि इस पूर्वपक्षको ऐसा ही माना जाय तो इसमें विचारणीय बात यह है कि क्या इनमें वस्तुतः शक्तिकी इतनी न्यूनता थी अथवा अपने सङ्कल्पानुसार इस गुणके विकासका अवसर ही नहीं आया। सामान्य उदाहरणसे समझिये कि यदि कोई मनुष्य केवल एक ही कोसकी यात्रा करके ठहर गया

तो देखना चाहिये कि उसमें केवल इतनी ही यात्राकी शक्ति थी अथवा प्रयोजनानुसार उसको उतना ही चलना था? यदि प्रयोजनपूर्वक उतना ही चलना है तो भला उसमें शक्ति-हीनताका दोष कैसे लग सकता है? इसी प्रकार यदि सत्य-सङ्कल्पके कारण श्रीभगवान्‌के किसी रूप-में किसी गुणके विकासका अवसर ही न आया या उससे किसी प्रयोजनविशेषके सिद्धिकी आवश्यकता ही न हुई तो उनका लाघव कैसे समझा जा सकता है? किन्तु यदि जिस रूपमें जिस शक्तिका विकास हुआ उसके द्वारा प्रकृति-राज्यमें असम्भव-से असम्भव समझी जानेवाली यदि एक भी क्रियाका सम्पादन हो गया, तो यह स्वतः अनुमान कर लेना केवल हठधर्मी है कि उससे वैसी ही अन्य क्रियाओंका सम्पादन सम्भव नहीं है। मेरे विचारमें श्री-भगवान् रघुनाथजी महाराज ही क्यों श्रीनृसिंह भगवान्, श्रीवामन भगवान्, श्रीमत्स्य भगवान्, श्रीकच्छप भगवान् आदि नामोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने चर्म-चक्षुओंके विषय होकर जिस शक्तिका विकास किया है, उसके विषयमें सन्देह करना प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌की महिमाको घटानेका प्रायश्चित्त संग्रह करना है। यदि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजकी स्तुति करते हुए हम उनके अन्य नामोंकी महिमा घटावें तो यह किसकी हीनता है? उन्हींकी हीनता है। ऐसा करना तो उनकी स्तुतिके बहाने उलटी निन्दा करना है। छोटे-बड़ेका तो प्रसंग तभी आ सकता है, जब कि पृथक् व्यक्तित्व हो। किन्तु जब वही स्वयं अपनेको अनेक रूपसे संसारके चर्म-चक्षुओंका विषय बनाते हैं, तो यहाँ ऐसे भेद-भावकी असंगतता स्वयंसिद्ध है। उदाहरणरूपसे एक राजाको ही लिया जाय। वह आवश्यकतानुसार अनेक रूप धारण करता है। कभी राज-सभामें सिंहासन-पर विराजनेका राज्यचिह्नादिसहित शृंगार, कभी आखेटमें जानेका ठाट, तो कभी न्यायालयमें बैठकर काम करनेका स्वरूप, कभी एकान्त-भ्रमणकी दशा, कभी भोजनागारके वस्त्र, कभी शयनागारका सामान्य वेश, इत्यादि यथावसर अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। अब कहिये, उस राजाको एक भावसे देखा जायगा, अथवा अन्य अवसरोंपर राज्य-चिह्नादि न होनेसे छोटे-बड़ेका प्रसङ्ग आवेगा? मेरे विचारमें तो सामान्य-से-सामान्य बुद्धि भी भाव-विपर्ययका निर्णय नहीं करेगी और यदि भाव-विपर्ययका राजाको निश्चय हो जाय तो जो परिणाम हो वह प्रकट है।

श्रीभगवान्‌का जो इसप्रकार अनेक रूपोंमें प्रकट होना है इसमें एक रूपकी प्रतिमुखतामें दूसरे रूपकी न्यूनता देखना, छिद्रान्वेषण है। यदि प्रत्येक रूपके चरित्रकी अगाधतामें घुसा जाय तो कितने भी छिद्रान्वेषण किये जा सकते हैं। जैसे कुछ उदाहरण यहाँ ही लीजिये—

(१) श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजने अनेक ऋषि-मुनियोंको दण्डवत्-प्रणाम किया, यज्ञादिमें देवताओं-का पूजन किया है और श्रीनृसिंह भगवान्‌के सम्मुख तो ब्रह्मासे लेकर सब देवता थर-थर काँप रहे थे।

(२) श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजकी सेवामें पुष्पक-विमान सदैव उपस्थित रहता था, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज तो जरासन्धके भयसे मथुराजी छोड़कर पैदल भागे थे।

(३) जिस समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराज अर्जुनजीके साथ मृत बालकोंको लेने वैकुण्ठमें पधारे हैं वहाँ कोई अन्य भूमा पुरुष विराजमान थे, जिनकी दोनों-ने वन्दना की है।

(४) श्रीनृसिंह-अवतारमें एक अलौकिक रूप धारण किया गया किन्तु अन्य अवतारोंमें तो ऐसा नहीं हुआ, इत्यादि।

यदि खोज की जाय तो ऐसी-ऐसी अनेक बातें मिल सकती हैं जिनका यथार्थ आशय और मर्म समझे बिना कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है। वस्तुतः श्रीभगवान्‌के परमतत्त्वमें गुरुता-लघुताका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। हाँ, इसमें यह तर्क अवश्य किया जा सकता है और यह सर्वथा सङ्गत है कि यदि श्रीभगवान्‌के रूपोंमें गुरुता-लघुता नहीं है तो क्या सभी अवतार समान दृष्टिसे ही देखे जायँगे और अवतार ही क्यों, समस्त सृष्टि भी तो उनका ही रूप है, क्या वह भी उसी दृष्टिसे देखी जायगी?

शास्त्रों और महात्माओंके मतका अवलोकन करनेसे इसका उत्तर यही मिलेगा कि अवश्य सर्वोच्चभावसम्पन्न और तात्त्विक सिद्धान्त यही है कि सभी सृष्टिको अपने इष्टदेव श्रीभगवान्‌का ही रूप देखे और अन्य सब नामोंको उनके ही नाम समझे। सर्वोत्तम ज्ञान, परमोत्कृष्ट भक्ति और यथार्थ उपासना इसीका नाम है। इन वचनोंपर ध्यान दिया जाय, यह उद्धवजीको श्रीभगवान्‌का अन्तिम उपदेश है—

अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' इस देहदृष्टिको तथा लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी दण्डवत् प्रणाम करे। जबतक समस्त प्राणियोंमें मेरी सत्ता न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सम्पूर्ण व्यापारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इसप्रकार आचरण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र आत्मबुद्धि हो जानेसे सब कुछ ब्रह्ममय ही दीखता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर वह सारे संशयसे छूटकर सर्वथा उपराम हो जाय। मन वाणी शरीरकी सम्पूर्ण वृत्तियोंसे समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे। मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ।

(श्रीमद्भागवत स्कं० ११ अ०२९। १६ से १९)

श्रीगीताजीका भी यह वचन इसी सिद्धान्तका द्योतक है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(अ० ५। १८)

इन वचनोंसे सिद्ध है कि ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनोंके द्वारा जो सिद्धि प्राप्य है, वह यही श्रीभगवान्‌में तन्मयता है जिससे चराचरमें उनको व्यापक देखा जाता है। यथा—'मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त' ऐसे उदाहरण त्रिकालदर्शी योगी तथा परम भागवत श्रीशुक मुनि, जनकजी, हनूमान्‌जी, प्रह्लादजी आदिके तो हैं ही किन्तु ब्रजरजको पाद-पद्म-परागसे पूत करनेवाली गोपियोंमें भी यही तल्लीनता थी। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके भी बालकाण्डके आरम्भके वन्दना-भागका यही रहस्य है जहाँ प्रथम ही साधु और उनके साथ लगे हुए ही खलोंकी वन्दना करके जगत्‌के सब भले-बुरेको 'सीय-राममय' जानकर वन्दना की गयी है। इस दशाको प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं है। ऐसी दशाको प्राप्त करनेवालोंके नाम उदाहरणरूपमें प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं। किन्तु इस कालमें तो ऐसी दशाका उपलब्ध होना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। प्राचीन समयमें भी कोई विरले ही इस अपूर्वताको प्राप्त हो सके थे, अतः यह दृष्टि सर्वथा असामान्य है। सामान्य भावसे श्रीभगवान्‌को दो दृष्टियोंसे ही देखना युक्तियुक्त है, एक तो अमायिक मूर्त्त और अमूर्त्त रूप, जहाँ गुण-संसर्गके अभावसे कोई भिन्नता नहीं है और दूसरा मायिक जिसमें उनकी विशेष इच्छा होकर त्रिगुणोंकी विषमताद्वारा नाना रूपोंमें यह समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है।

अब इन अवतारोंको किस दृष्टिसे देखना चाहिये, इसपर विचारकी आवश्यकता है। इस शब्दको जो बहुवचनमें प्रयुक्त किया गया है यह केवल प्रचलित व्यवहारके कारण लोक-बोधके लिये है, नहीं तो व्यक्तित्व भिन्न नहीं है। एक ही मूर्त्त रूप श्रीभगवान् स्वसंकल्प और आवश्यकतानुसार रूप धारण कर लेते हैं और उस रूपके अनुसार ही नाम पड़ जाते हैं, यदि किसीको श्रीभगवान्‌के किसी अवतारके जन्म-कर्मादिके कारण गुणबद्धता भान होनेसे मायिक भाव दीखे तो भले ही वह उस अवतारको उस दृष्टिसे देखे अथवा कोई भक्त अपनी प्रेमविह्वलतामें अपने इष्ट नाम-रूपको ही सर्वोच्च समझता हुआ उसके अतिरिक्त अन्य नाम-रूपोंको अपने हृदयमें वह स्थान न दे तो इसमें उसका दोष थोड़े ही है, क्योंकि यह तो अपनी-अपनी श्रद्धा और भावनाकी बात है। यों गुणमयी सृष्टिमें भी तो चमत्कारोंका अभाव नहीं है और श्रीभगवान्‌की अनेक विभूतियाँ हैं जिनको उनके ही रूपमें देखा जाता है।

इस विवेचनपर एक बड़े महत्वकी यह तर्कना उठती है कि यहाँ तो श्रीभगवान्‌की अनर्गल शक्तिवाले मूर्त्त रूपको अमायिक सिद्ध किया गया है, परन्तु श्रीगीताजीकी चतुर्थ अध्यायमें नीचे लिखे वचनके द्वारा उनका स्पष्ट मायाके साथ आविर्भाव होना प्रकट है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥'

ऊपरसे देखनेमें अवश्य ऐसा ही भान होता है किन्तु इन शब्दोंमें बड़ा रहस्य भरा हुआ है। प्रथम शब्दार्थपर विचार किया जाय। सरल रीतिपर तो इन शब्दोंका यही अर्थ हो सकता है 'मैं जन्मविरहित बिना व्यय (विकार) आत्मावाला प्राणियोंका स्वामी होता हुआ भी अपने स्वभावको आश्रित करके (अर्थात् मूर्त्त, अमूर्त्त, 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'अस्थूलमनणुः' इत्यादि विलक्षणशक्तिनामधिष्ठानः) अपनी मायाके साथ आविर्भूत हुआ करता हूँ।' 'मायया' शब्दका अर्थ कई प्रकारसे हुआ है, किसीने प्रकृति, किसीने ज्ञान, किसीने बल-वीर्यादि शक्ति इत्यादि किया है, किन्तु ऐसा करनेमें जो दूसरा शब्द 'प्रकृति' आया है उसकी संगति नहीं बैठती। एक द्वितीयान्त है, दूसरा तृतीयान्त है और दोनों एक ही आशयमें लिये जायँ तो पुनरुक्ति होती है। हाँ,

दोनोंकी सङ्गति बैठते हुए यह अर्थ तो हो सकता है कि प्रकृतिको अधिष्ठान करके उसके विकार मायाके द्वारा प्रकट होते हैं अर्थात् इस सृष्टिकी भाँति प्रकृति-नियमानुसार गुणोंके विकारद्वारा ही जन्म लेते हैं, किन्तु प्रथम तो जिस रूपमें श्रीभगवान्‌का आविर्भाव हुआ है वह प्रकृतिके सर्वथा अतीत था, वे तो तत्काल चतुर्भुजरूपमें आवरण हटाकर चर्म-चक्षुओंके विषय बन गये, इससे वैसा अर्थ करना प्रत्यक्ष यथार्थ कथाके विरुद्ध कहना है। दूसरे जब यह सिद्ध हो चुका कि भगवान्‌का रूप स्वतन्त्र और निर्विकार है और त्रिगुणमयी मायाका विकास केवल उनकी इच्छासे होता है तो मायाके द्वारा श्रीभगवान्‌का जन्म होना प्रकट करना वास्तवमें असङ्गत है। अतः यही अर्थ सङ्गत है कि श्रीभगवान् प्रकृतिको, जिसे उनका स्वभाव शक्ति कुछ भी कहा जाय, अपने अधीन करके मायाके साथ प्रकट होते हैं, यहाँ यदि मायाका आशय गुणविषमता-पूर्वक प्रकृतिका विकार लिया जाय तो सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि जब स्वयं प्रकृति ही उनके अधीन है तो माया जो उसका अंश है कैसे प्रबल हो सकती है? इसलिये इन सब बाधाओंको ध्यानमें लाते हुए 'माया' शब्द-का यथार्थरूपसे यही आशय किया जा सकता है कि श्रीभगवान् जिसप्रकार स्वयं चर्म-चक्षुओंके विषय बनते हैं, वैसे ही अपनी मायाको भी सावयवरूपमें चर्म-चक्षुका विषय बना लेते हैं जो वस्तुतः उसी परम तत्त्वका मूर्त-रूप है। यहाँ यह योगमाया जो श्रीभगवान्‌के साथ आविर्भूत होती है, त्रिगुणमयी माया नहीं है किन्तु यह दिव्य अमायिक रूप है अर्थात् यह अमायिक माया है। वास्तवमें भगवद्-रहस्यकी यही तो विलक्षणता है, इसपर तुलसीकृत रामायणजीका वचन भी विचारणीय है—

आदि सृष्टि जिहि जग उपजाया। सो अवतरहि मोर यह माया॥

इस योग-माया अथवा महामायाको रामावतारमें श्रीजानकीमाता कहा जाता है और श्रीकृष्णावतारमें श्रीराधिकामाता अथवा श्रीरुक्मिणीमाता या सत्यभामामाता इत्यादि अष्ट पटरानियाँ और इतनी ही क्यों, सब-की-सब सोलह सहस्र एक सौ आठ ही क्यों न समझी जावें और इनके अतिरिक्त श्रीरामावतारमें श्रीभरतजी महाराज, श्रीलक्ष्मणजी महाराज और श्रीशत्रुघ्नजी महाराज एवं श्री-कृष्णावतारमें श्रीबलरामजी महाराजका भी इसी तत्त्वमें ग्रहण क्यों न किया जाय? जब कि एक प्रसिद्ध उदाहरण श्रीब्रह्माजीके बछड़े-ग्वालबाल चुरानेकी लीलाका मूर्तिमान् आँखोंके सम्मुख नृत्य कर रहा है, जहाँ अनेक चतुर्भुज-रूपोंका दर्शन कराया गया तो फिर इस उपर्युक्त निर्णयमें क्या प्रतिबन्धकता हो सकती है?

यदि श्रीभगवान्‌को उपर्युक्त श्रीगीताजीके वचनका ऐसा आशय अभिमत न होता तो एक ही वचनमें 'प्रकृति' या 'माया' शब्दोंके प्रयोगका विभिन्न विभक्तियोंसहित कोई प्रयोजन नहीं दीखता, जब सामान्यरूपसे प्रकृति और माया दोनों शब्द एक प्रकारसे पर्यायवाची ही समझे जाते हैं।

इस विचाररूपी सागरमें जितनी-जितनी डुबकी लगायी, उतने-उतने ही रहस्यरूपी गुप्त रत्न मिले, जिनपर इतनी आयु व्यतीत होनेपर भी अबतक दृष्टि नहीं गयी थी और तत्काल ऐसी उलझनोंका समाधान समझमें न आनेसे चित्तमें एक प्रकारसे अशान्ति हो जाती थी किन्तु इसकी समाप्तिपर अब बड़ी शान्तिका अनुभव हुआ है। वास्तवमें पक्षपातको हृदयसे निकालकर श्रीभगवान्‌की शरण-ग्रहणपूर्वक प्रवृत्ति की जाय तो स्वतः ही मार्ग-दर्शिता होती चली जाती है। लेख-पंक्तियाँ चित्त लुभाने-वाली नहीं हैं किन्तु यदि इस निर्णयसे श्रीभगवद्-चरणार-विन्दमें सत्य अनुरागपूर्वक किसीके भी हृदयसे विरोधका अंकुर निकल जायगा तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा!

हरिः ॐ तत्सत्

जिन हरि कथा सुनी नहिं काना, श्रवणरन्ध्र अहिभवन समाना॥
जिन हरि भक्ति हृदय नहिं आनी, जीवत शव समान ते प्रानी॥
जे नहिं करहिं राम गुण गाना, जीह सो दादुर-जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती, सुनि हरि चरित न जो हर्षाती॥

ईश्वर तर्क-सिद्ध है

(लेखक—आचार्यभक्त पं० श्रीविष्णु वामन बापट शास्त्री)

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वेता० ४।१०)

गोरखपुरके 'कल्याण' मासिक-पत्रके ईश्वर-भक्त सञ्चालकोंने सातवें वर्षके प्रवेश-अंकमें ईश्वरकी सत्ताका समर्थन करनेवाले विविध प्रकारके लेखों, कविताओं, चित्रों आदिके प्रकाशित करनेका निश्चय किया है। भारतवर्षकी वर्तमान स्थिति,शिक्षण-पद्धति, तथा समयानुसार सामान्य जनताकी प्रवृत्तिको देखकर इसप्रकारके लेखादिका प्रकाशित करना बहुत ही आवश्यक जान पड़ता है। भारतवर्षमें सृष्टिके आरम्भ—सत्ययुगमें राजस और तामस स्वभाववाली प्रजाका अत्यन्त अभाव था ऐसा शास्त्र-प्रमाणोंसे नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है कि—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

(गीता)

अर्थात् पृथ्वी अथवा देवताओंके लोकोंमें भी ऐसा प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता जो सत्त्व, रज तथा तम प्रभृति तीनों प्राकृतिक गुणोंसे मुक्त हो। तथापि सत्ययुगके अत्यन्त प्रारम्भमें आचार्य एवं ऋषि-मुनियोंकी प्रधानता तथा उनकी अधिकता थी, इसमें संशय नहीं। राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्य भी उस समय थे, पर सात्त्विक भावों और सात्त्विक वृत्तिके पुरुषोंकी उस समय अधिकता थी। उस समय ऋषि-मुनियोंने ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें जो भाव जनताको सिखाये, वे ही आज पर्यन्त चले आ रहे हैं, यद्यपि उनमें दिन-प्रतिदिन कमी होती जा रही है तथापि प्रलयकाल-तक वे,अंशतः ही क्यों न हो,टिके रहेंगे, इसमें संशय नहीं। प्राचीनकालमें भारतवर्षके वैदिक लोगोंमें ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें किसीको कोई विशेष संशय न था परन्तु सात्त्विक जनता तथा सात्त्विक युगका जैसे-जैसे उत्तरोत्तर क्षय होता गया और राजसी एवं तामसी जनता तथा युगका उत्कर्ष होता गया, वैसे-ही-वैसे ईश्वरकी सत्ता, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, विहित और अविहित कर्मोंका जन्मान्तरमें अवश्य प्राप्त होनेवाला फल आदिके विषयमें विविध शंकाएँ तथा उन शंकाओंके समाधान करनेवाले विविध पन्थ उत्पन्न होने लगे। वर्तमान कलियुगमें इसी क्रमसे उत्पन्न हुए अनेक वाद और पन्थ हमारे देखनेमें आते हैं। इसका कारण यही है कि वेद-सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषि, मुनि, आचार्योंके वचनोंपर लोगोंका विश्वास नहीं रहा और वे कामाचारी, कामवादी और काम-भक्ष हो गये। आजकल नास्तिकोंके जो अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं, उनमें 'ईश्वरकी सत्ताका मानना अज्ञान है, वह वस्तुतः है नहीं; यह जगत् स्वतः उत्पन्न होकर यदृच्छासे चल रहा है, इसका नियामक कोई नहीं है, यह सब प्रकृतिका ही परिणाम है, भोलेभाले भारतीय वैदिक धर्मानुयायी पुरुष ईश्वरके दिखलायी न देनेपर, तथा किसीको भी उसकी प्रतीति न होनेपर, एवं उसके अस्तित्वके विषयमें कोई प्रमाण न होनेपर भी, उसकी सत्ता मानते हैं तथा उसकी प्रसन्नताके लिये काल, शक्ति और द्रव्य इत्यादिका व्यर्थ व्यय करते हैं। इससे भारतवर्षकी अत्यन्त हानि हुई है। ईश्वरका अस्तित्व मानना अज्ञानसूचक है। अपने भोलेभाले देशवासियोंके इस अज्ञानको दूर किये विना भारतकी उन्नति नहीं हो सकती।' इत्यादि बातें प्रधानतया कही जाती हैं। इसलिये 'कल्याण' के सञ्चालकोंने विविध उपायोंद्वारा इस प्रवेशाङ्कमें ईश्वरकी सिद्धिके प्रयत्न करनेका विचार किया है। उसमेंसे 'ईश्वर तर्कसे सिद्ध है' इस विषयको हम सात्त्विक जनताको समझानेका यथामति प्रयत्न इस लेखमें करेंगे, विद्वानोंको इसपर उचित विचार करना चाहिये।

श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंसे सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सर्वात्मा ईश्वर सिद्ध होता है। योगशास्त्र और न्यायशास्त्र भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र और पुरुष-प्रणीत मत ईश्वरके अस्तित्वको नहीं मानते। गीताके उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीताके १६ वें अध्यायके—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

—इस श्लोकमें नास्तिकोंके कथनका सुन्दर वर्णन किया है। प्राचीन या अर्वाचीन सभी नास्तिक इसीका अनुवाद

करते हैं। वे इससे भिन्न कोई नवीन बात कहते हों, सो नहीं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत शास्त्रज्ञोंको अपरिचित तथा विलक्षण है। और यह भी नहीं है कि इनका उत्तर प्राचीन ऋषि, मुनि और आचार्योंने नहीं दिया है। नास्तिकोंके कथन आरम्भमें आपातरमणीय जान पड़ते हैं, तथा साधारण लोगोंको अनुकूल जँचते हैं। परन्तु वेदशास्त्रज्ञोंको वे युक्तियुक्त नहीं जान पड़ते तथा भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके अनुसार—

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।

वे उग्रकर्मा लोग जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न हुए-से जान पड़ते हैं। इसलिये जिस समय उन लोगोंके नास्तिक मतका जोरोंसे प्रचार होने लगे, उस समय श्रुत्यादि प्रमाणोंद्वारा ईश्वरकी सिद्धि होनेपर भी श्रुतिसम्मत तर्कोंद्वारा ईश्वरकी सिद्धि होती है, इसे यथामति बतलाना और ईश्वरके अस्तित्वका साधारण जनतामें विश्वास उत्पन्न करना विद्वानोंका कर्तव्य है। इसलिये इस लेखमें हम प्राचीन वेदज्ञों और शास्त्रज्ञोंके कथनोंका ही अनुवाद करते हैं और यह ईश्वर-सिद्धि अप्रतिष्ठित तर्कोंद्वारा न करके प्राचीन वैदिकोंका अनुसरण करते हुए श्रुतिसम्मत तर्कोंके द्वारा ही करते हैं। क्योंकि भगवान् व्यासदेवने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें कहा है कि ईश्वरके विषयमें केवल तर्क अप्रतिष्ठित होता है, परन्तु श्रुतिसम्मत तर्क अप्रतिष्ठित नहीं होता, इसलिये उनका अनुसरण करते हुए हम इस लेखमें श्रुतिसम्मत तर्कका ही अवलम्बन करेंगे।

न्याय-शास्त्रमें ईश्वरास्तित्वका विचार स्वतन्त्र तर्कद्वारा भी किया गया है। न्यायकुसुमाञ्जलिके लेखकने तो इसका विशेष विचार किया है। परन्तु जगद्गुरु श्री १०८ आद्यशङ्कराचार्य आदि वैदिकोंने श्रुतिसम्मत तर्कका ही अवलम्बन किया है; अतः हम भी उन्हींका अनुसरण करते हैं। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं कि 'ईश्वर नहीं है, उसकी सत्ता तर्क-सिद्ध नहीं होती, वह कभी किसीको दिखलायी नहीं देता तथा उसका दिखलायी देना सम्भव भी नहीं है।' इसपर वैदिक-सिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वरके प्रयत्नके द्वारा ही इस विचित्र जगत्का होना सम्भव है। क्योंकि गृह, प्रासाद, रथ इत्यादिके समान जगत्का विलक्षण कार्यत्व है। बिना चेतनके प्रयत्नके इस-प्रकारका विलक्षण कार्य नहीं हो सकता। इसप्रकारका अनुमान वैदिक लोगोंने नित्य आगमके अनुसार ही ईश्वरके विषयमें किया है। इसमें जगत् 'पक्ष' है; वह सर्वज्ञ प्रयत्न-पूर्वक है, यह 'साध्य' है; और उस जगत्का विचित्र कार्यत्व है, यह 'हेतु' है। जो-जो कार्य होता है वह कर्तृप्रयत्नपूर्वक होता है अर्थात् वह कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पन्न होता है, ऐसी 'व्याप्ति' है। गृह, प्रासाद आदि 'कार्य' हैं। वे कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पन्न हुए हैं। पक्षान्तरमें, आत्मा कार्य नहीं है, क्योंकि वह कभी उत्पन्न नहीं होता—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' इस श्रुति-स्मृति-वाक्यमें यही बात कही गयी है। यही कारण है कि आत्माको कर्ताके प्रयत्नोंकी अपेक्षा नहीं है। जब सामान्य घटपट आदि कार्योंके लिये भी जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कर्ताके प्रयत्नोंकी आवश्यकता होती है, तो जगत्के समान अत्यन्त विशिष्ट कार्यके लिये तो अवश्य ही उसकी आवश्यकता होनी चाहिये।

जो वस्तु पूर्वक्षणमें प्रकट न होकर उत्तरक्षणमें प्रकट होती है उसे 'कार्य' कहते हैं। केवल तार्किक कहते हैं कि 'कार्य' प्रागभावका प्रतियोगी होता है। परन्तु अभावसे भाव-की उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण वैदिक सिद्धान्तवादी नैयायिकोंके इस मतको स्वीकार नहीं करते। 'कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् अभावसे भावरूप जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसप्रकार असत्कारणवादपर आक्षेप करते हुए छान्दोग्यके छठें अध्यायमें श्रुतिने 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' अर्थात् हे सौम्य! पहले यह सत् ही था, इसप्रकार-का सिद्धान्त निश्चित किया है। श्रीभगवान्ने भी गीतामें कहा है कि 'नासतो विद्यते भावो।' अर्थात् जो पूर्वक्षणमें नहीं है उसका उत्तरक्षणमें उत्पन्न होना युक्त नहीं। पूर्व-क्षणमें वर्तमान मृत्तिकाके ही घटादि कार्यका आकार लेने-पर घटकी उत्पत्ति होती है। और वह कर्ताके प्रयत्नसे होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। यहाँ यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि पाणिनि-पठित मूलधातु 'जनी प्रादुर्भावे' से ही जन्म, उत्पन्न शब्द निष्पन्न होता है।

जब सामान्य कार्य भी कर्ताके प्रयत्नके बिना प्रादुर्भूत नहीं होता, तब जगत्के समान विलक्षण कार्य कर्ताके प्रयत्नके बिना ही उत्पन्न हो, यह बिल्कुल ही सम्भव नहीं। जगत्की विलक्षणता साधारण नहीं है। उसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच इत्यादि अदृष्ट प्राणियोंका विचार यदि न किया जाय तो भी दृष्ट होनेवाले इस भू-लोकको हम मनुष्य पशु, पक्षी इत्यादि चींटीपर्यन्त चर-जीव और वृक्ष-लता प्रभृति स्थावर-प्राणियोंसे पूर्ण पाते हैं।



भगवान्—परशुरामरूपमें

इनमें प्रत्येक प्राणियोंमें जातिगत विलक्षणता भी है, स्वर्गादि ऊर्ध्वलोक और अतल आदि अधोलोकोंको अदृष्ट होनेके कारण यदि छोड़ दिया जाय, तथा कोई आकार नहीं होनेके कारण आकाशका भी विचार न किया जाय तो भी पृथ्वी और उसके आश्रयसे स्थित समुद्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र इत्यादिमें तो यह विचित्रता है ही। अन्य लोकके प्राणियोंका विचार छोड़ भी दें तो भूलोकमें ही जलचर और थलचर नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान तथा उनके उपभोगके साधन भरे हुए हैं, इसमें प्रतिक्षण असंख्य प्राणियोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनेक प्राणी दुःख-सुख आदि विचित्र अनुभव प्राप्त करते हैं। इन्हें अत्यन्त कुशल शिल्पी—कारीगर भी कभी निर्माण नहीं कर सकते। ये देश-काल-निमित्तके अनुरूप नियत प्रवृत्ति और निवृत्तिसे युक्त हैं। तब यह कहना कैसे उचित हो सकता है कि ऐसा विचित्र जगत् कर्ताके बिना ही हुआ है। फिर जिस कर्ताके द्वारा इस जगत्‌की सृष्टि हुई है वह सामान्य है यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः जगत्‌के भोक्ता जीव और उनके कर्मोंके विभागको साक्षात् जाननेवाला कोई चेतन अवश्य होना चाहिये और उसीके प्रयत्नसे इस जगत्‌का आविर्भाव भी होना चाहिये। इसके बिना इस विचित्र जगत्‌की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त, इस आविर्भूत जगत्‌में प्रतिक्षण वस्तुओंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, यह अनुभवकी बात है। और वह भी नित्य कर्ताके अभावमें सम्भव नहीं हो सकता।

इसपर कोई कहे कि 'जगत् एक विचित्र कार्य है' इसमें संशय नहीं, परन्तु आपके कथनानुसार वह जगत् 'भोक्ता जीव और कर्मके विभागके जाननेवाले चेतनके प्रयत्नद्वारा होता है' यह हमें स्वीकार नहीं; 'कर्म-वैचित्र्यके कारण ही जगत्‌का वैचित्र्य सम्भव है।' यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म तो कर्ताके अधीन होता है, इस कारण वह जगत्‌की उत्पत्तिका केवल निमित्त हो सकता है, परन्तु स्वतन्त्ररूपसे निमित्त नहीं हो सकता। इस विषयमें शास्त्रकार पूर्व-मीमांसक भी कहते हैं कि, 'प्राणियोंके उपभोग-वैचित्र्य, उपभोगोंके साधनोंका वैचित्र्य, देश-काल-निमित्तानुरूप नियत प्रवृत्ति-निवृत्ति-क्रम इत्यादि नित्य, सर्वज्ञ, ईश्वर-कर्तृक नहीं हैं, वे सब तो कर्मोंके द्वारा ही होते हैं। क्योंकि कर्मका प्रभाव अचिन्त्य है। और सब शास्त्रकार तथा लौकिक विचारवान् भी कर्मको ही फलका हेतु मानते हैं। अर्थात् यदि कर्ममें ही फलहेतुत्व है तो उसके लिये ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेकी आवश्यकता ही क्या है?' सांख्य-शास्त्रज्ञ भी कहते हैं कि 'कर्मका फल-स्वरूप यह जगत्‌रूप कार्य यदि कर्मसे ही उत्पन्न हो सकता है तो इसके लिये अधिक ईश्वरकी वृथा कल्पना करनेका प्रयोजन ही क्या है?'

कुछ लौकिकवादी और शास्त्रज्ञोंका यद्यपि ऐसा मत है तथापि यह युक्त नहीं। 'केवल कर्मसे ही उपभोग-वैचित्र्यकी उपपत्ति प्राप्त होती है क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन होता है। चेतन जीवके प्रयत्नसे कर्म होता है और उसके प्रयत्नके उपरत होते ही कर्म भी उपरत हो जाता है तथा देशान्तर और कालान्तरमें नियत-विशेष निमित्तकी अपेक्षा न करते हुए भी कर्त्ताको फल देता है। और यदि यह आग्रह हो कि कर्मको दूसरे प्रवर्त्तककी भी आवश्यकता है तो कर्त्ता जीवको ही उसका प्रेरक माना जा सकता है।' यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि कर्म जड है और कर्त्ता भी देश, काल, निमित्त इत्यादि विशेषणोंका ज्ञाता नहीं है। यदि वह देशादि विशेषोंका ज्ञाता होकर स्वतन्त्ररूपसे कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करता तो वह अनिष्ट फलकी प्रेरणा कभी नहीं करता। इससे जीवको दुःख भोगनेका प्रसंग ही न आता। परन्तु अनुभवमें तो यही आता है कि जीव अनिष्ट फलरूप दुःखको सदा अनिच्छासे ही भोगता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कर्त्ता ही कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करनेवाला है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म किसीकी प्रेरणाके बिना ही कर्त्ताको फल देता है। क्योंकि कर्म बिना किसी निमित्तके फलरूपमें परिणत होनेमें समर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जीवको एक जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका स्मरण जन्मान्तरमें नहीं होता। तब वह स्वतः पूर्वजन्मके कर्मोंको प्रेरित कैसे कर सकता है?

सुगत-मतानुयायी बौद्ध क्षणिक विज्ञानको ही तत्त्व मानते हैं और उसीको आत्माका स्वरूप मानते हैं। तब उनके पक्षमें ही क्षणिक विज्ञानरूप आत्मासे किया हुआ कर्म कालान्तरमें विद्यमान न रहनेवाले कर्त्ताको अपना फल कैसे दे सकता है? इसके अतिरिक्त, 'सर्वं क्षणिकम्' ऐसा उनका सिद्धान्त होनेके कारण कर्म भी दीर्घकालतक कैसे रह सकते हैं? यदि यह मानें कि वह फल देने पर्यन्त सूक्ष्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो यह भी ..

क्योंकि भूत ही कर्मके साधन हैं। कर्त्ता जिस

करता है उस समय यद्यपि वह व्यापार करते हैं, तथापि कर्मकी समाप्ति होनेपर तो कर्ता उनका त्याग कर देता है। इससे वे कालान्तरमें फलके प्रेरक नहीं हो सकते। इसके सिवा कर्मानुसार वे साधनरूप भूत भी अचेतन (जड) होते हैं। और यह प्रसिद्ध है कि किसी भी अचेतनकी प्रवृत्ति चेतनकी सहायता बिना नहीं होती।

यदि कोई कहे कि अचेतन-वायुके अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है, तो वायु भी जड है और वैदिक सिद्धान्तानुयायी यह नहीं मानते कि जडकी प्रवृत्ति चेतनकी सहायताके बिना हो सकती है। क्योंकि अचेतन रथ, पाषाणादिकी प्रवृत्ति चेतनकी सहायताके बिना हो, ऐसा कभी अनुभवमें नहीं आता। इसके विपरीत, चेतनकी सहायतासे ही उनकी प्रवृत्ति होती है, यह बात अनुभव-सिद्ध है।

यह तो अवैदिकोंका सिद्धान्त है, परन्तु वेदोंको नित्य प्रमाण माननेवाले मीमांसक भी जब *'स्वर्गकामो यजेत'* आदि शास्त्रकर्म करनेको कहते हैं तो उससे यही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय कर्मोंसे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति होती है। वेदोक्त कर्मोंका ज्ञान प्रमाणभूत वेदोंसे होनेके कारण, यह व्यर्थ होंगे अथवा अपना फल बिना दिये ही विलीन हो जायँगे, यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें दूसरा कोई प्रमाण न होनेके कारण उसे मानना व्यर्थ ही है। यद्यपि उसके अस्तित्वके विषयमें कुछ श्रुतियाँ मिलती हैं, तथापि वे अर्थवाद होनेके कारण ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें प्रमाण नहीं हो सकतीं।

पाठकगण! मैंने यहाँतक ईश्वरके अस्तित्वके न माननेवाले लौकिक और शास्त्रज्ञ वादियोंके कथनका संक्षेपमें अनुवाद किया है। अद्वैत वेदान्तशास्त्रमें इसप्रकारके मतोंका सविस्तर अनुवाद करके श्रुति और तर्कसे भी उनका निराकरण किया गया है, ऐसा अनेक ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। उन सबका यहाँ विस्तार करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इसलिये ऊपर नास्तिकोंके मतका जैसे संक्षेपमें अनुवाद किया गया है वैसे ही आस्तिकोंके कथनका भी संक्षेपमें अनुवाद करना आवश्यक है।

कर्ताको उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर है, यह बात दृष्ट न्यायके विरुद्ध नहीं है। क्रिया दो प्रकारकी होती है—दृष्टफला और अदृष्टफला। दृष्टफला-क्रिया भी दो प्रकारकी है—अनन्तरफला और आगामिफला। गति, भोजन, प्रभृति क्रियांको अनन्तरफला कहते हैं क्योंकि गमनक्रियाके करते ही गन्तव्य प्रदेशकी प्राप्तिरूप फल मिलता है तथा भोजनक्रियाके करते ही तत्क्षण तृप्तिरूप फल मिलता है। इसलिये क्रियाके करनेके साथ ही कर्ताको जिस क्रियाका फल मिलता है वह दृष्टफला क्रिया कहलाती है। परन्तु कृषि, सेवा इत्यादि क्रिया कालान्तरफला अर्थात् दीर्घकालमें फल देनेवाली होती है।

इन दो प्रकारकी क्रियाओंमें अनन्तरफला-क्रिया फलोदयके होते ही नाशको प्राप्त होती है। उसके लिये दूसरे फलदाताकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु दूसरी कालान्तरफला क्रिया उत्पन्न होकर फल न देनेके पहले ही नष्ट हो जाती है। उसका फल कालान्तरमें मिलता है अर्थात् वह कालान्तरमें फलदाताकी अपेक्षा करती है। कृषि, सेवा, आदिका फल स्वामीके अधीन होता है। कर्मके फलके विषयमें यह दोनों दृष्ट न्याय हैं, इनका त्याग करना ठीक नहीं। विहित शुभ कर्मके शान्त होनेपर सेव्य स्वामीके अनुसार कर्ता, कर्म और फलका विभाग जाननेवाले और उन विहित शुभ कर्मोंके अनुरूप योग्य कालमें योग्य फल देनेवाले नित्य चेतन ईश्वरका होना आवश्यक है। वह नित्य ईश्वर ही सबका आत्मा है। वह सर्व क्रिया, फल और प्रत्ययोंका साक्षी, नित्य विज्ञानस्वरूप, समस्त सांसारिक धर्मोंसे अस्पृष्ट है, ऐसा ही मानना पड़ता है।

जगत् कार्य है। जो पहले उद्भूत नहीं होता, पीछे जिसका आविर्भाव होता है, यही कार्यका लक्षण है। कार्यके लिये कर्ता तथा उसके बीजरूप उपादान-कारणका होना आवश्यक है। कर्ताके प्रयत्नके बिना बीजरूप उपादान-कारणकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इत्यादि कार्यमात्रके सामान्य नियम उपर्युक्त वर्णनद्वारा पाठकोंके ध्यानमें आ जायँगे। जगत् एकरूप कार्य नहीं है, यह विचित्र कार्य है। इसमें असंख्य कर्ता और भोक्ताओंका अन्तर्भाव होता है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। पूर्वकृत कर्मोंके फलका अनुभव प्राप्त करना ही भोक्तृत्व है, परन्तु भोक्ता जीवोंको मिलनेवाले फल बहुधा आगामी होते हैं, उन्हें उचित देश, उचित काल और उचित निमित्तसे प्राप्त होनेके लिये ज्ञाता ईश्वरकी आवश्यकता है, क्योंकि कर्म और उसके फलके जाननेवाले द्रष्टाके बिना ऐसा सम्भव नहीं। इससे ईश्वरके फल-दातृत्वकी सिद्धि होती है। जगत् ही फल है, परन्तु वह भोक्तामात्रके पूर्व शुभाशुभ कर्मोंका फल होनेके

कारण कर्मफलके विभागको जाननेवाले ईश्वरको उसका कर्तृत्व सिद्ध है, तथा उसीमें जगत्के अनन्त जीवोंको उनके पूर्वकर्मानुसार फलदातृत्व है, यह कहना पड़ता है। परन्तु सेव्य-स्वामी अथवा राजाके अनुसार ईश्वरका फलदातृत्व माननेपर तो लौकिक फलदाताओंके अनुसार ही ईश्वर भी राग-द्वेषयुक्त हो जायगा और अनुग्राह्य जीवोंमेंसे किसीपर अनुग्रह करेगा तथा किसीका निग्रह करेगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर फलदाता होते हुए भी समस्त क्रियाओं, फलों तथा प्रत्ययोंका साक्षी है। राजा आदिके समान वह अल्पज्ञ नहीं, इससे किसी भी भोक्ताके विषयमें उसको विपरीत ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। स्वामी, राजा इत्यादि फलदाताओंसे उनके असर्वज्ञ होनेके कारण सेवक आदिको कदाचित् अयोग्य फल मिलना जिसप्रकार सम्भव है, उसी प्रकारका फलदातृत्व सर्वज्ञ ईश्वरको है, यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'किसने, कब, कौन-सा काम किया है और उस कर्मके अनुसार कौन-सा फल, कब और कहाँ देना चाहिये' इसका ईश्वरको यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये उसके फलमें गत्यन्तरकी सम्भावना ही नहीं है, सबका आत्मा होनेके कारण ईश्वरका व्यावहारिक साक्षित्व भी सिद्ध है और वह बुद्धिस्थ कल्पित जीवोंसे भिन्न होनेके कारण सांसारिक धर्मोंसे युक्त नहीं होता। इसलिये प्रत्येक कर्ता जीवको शुभाशुभ कर्मोंके आगामी फलको देनेवाले किसी विभागज्ञ ज्ञाताकी आवश्यकता है, उसके विना जीवोंको उचित कालमें, उचित देशमें, उचित फलकी प्राप्ति सम्भव नहीं। कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं। शरीरादिकी चेष्टाके रुकते ही कर्म भी रुक जाते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। परन्तु उसके फल दीर्घकालमें, तथा जन्मान्तरमें भी प्राप्त होते हैं और ऐसा उन कर्मोंके साक्षी फलदाताके विना नहीं हो सकता।

इसी प्रकार उक्त फलदाता ईश्वरके अनित्य होनेसे भी काम न चलेगा, हम देखते हैं कि सृष्टिके जीव प्रत्येक क्षण विचित्र अनुभव करते हैं। जीवोंकी अनन्तता, जातियोंकी असंख्यता तथा प्रत्येक चराचर प्राणीके भोगोंकी विचित्रताका विचार करनेसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वसाक्षी ईश्वरकी कल्पना आवश्यक हो जाती है, इसे नास्तिकोंको भी मानना पड़ेगा। उसके विना प्रत्येक प्राणीकी उत्पत्ति, नाश, सुख-दुःख इत्यादि उपपन्न नहीं होते।

उचित समयपर आविर्भूत होकर उचित समयपर तिरोभूत होनेवाला जगत् अनादि और अनन्त है। उपादान कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण उसको सादि नहीं कहा जा सकता और तिरोभूत होनेसे अर्थात् अपने कारणमें लीन हो जानेसे उसका अन्त हो जाता है, इसलिये वह सान्त है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि उसका निर्बीज नाश हो जाता तो पुनः उसका आविर्भाव सम्भव न होता। परन्तु प्रत्येक कल्पके आरम्भमें उसका आविर्भाव होता है, इससे उसको सान्त न कहकर उसका तिरोभाव होना ही मानना चाहिये। किसी भी कार्यके नाशका अर्थ है उसका अपने उपादानमें तिरोभाव होना। तिरोभावको लय भी कहते हैं, परन्तु लयका अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं है। ऐसे आविर्भाव या तिरोभावका कोई भी साक्षी द्रष्टा अवश्य होना चाहिये। उसके विना उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु वह द्रष्टा कोई अचेतन अथवा शरीर-इन्द्रिय-सम्पन्न जीव नहीं हो सकता। क्योंकि अचेतनको द्रष्टृत्व नहीं और शरीरेन्द्रियवान्को नित्यत्व नहीं होता। इसलिये चेतन आत्मा ही उसका द्रष्टा है और वही सत्य ईश्वर है। वह जन्म-मरण-रहित होनेके कारण नित्य है। नित्य होनेके कारण ही प्रपञ्चरूप कार्यके अनन्त आविर्भाव और तिरोभावको देख सकता है। वह प्रत्येक शरीरमें साक्षी अन्तर्यामीरूपसे रहकर जीवोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंको और उन कर्मोंके शुभाशुभ फल तथा भोगोंको भी देख सकता है तथा तदनुसार लौकिक स्वामीके समान प्रत्येक जीवको उचित देश और उचित कालमें उचित विचित्र फलोंको दे सकता है।

आत्मा ही परमात्मा है। वह चेतन है। इससे ज्ञान ही उसका स्वरूप है। वह सूर्यके प्रकाशके समान नित्य है। अर्थात् वह न तो कभी उत्पन्न होता है तथा न विनाशको ही प्राप्त होता है। क्योंकि उसका विनाश होनेसे वह किसीको ज्ञात होना ही चाहिये। उसी प्रकार उसकी उत्पत्ति भी विना ज्ञाताके सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु चेतनमात्रके नाश और उत्पत्तिको चेतनसे भिन्न कौन देख सकता है ? और जब देखनेवाला ही नहीं तो उसकी सिद्धि फिर कैसे हो सकती है ? इसलिये परमात्माका चेतनस्वरूप नित्य और निर्विकार है, ऐसा ही मानना चाहिये।

प्रकाश करना जिसप्रकार प्रकाशरूपी सूर्यकी क्रिया नहीं है, उसी प्रकार जानना भी ज्ञानरूप आत्माकी क्रिया नहीं है । चेतना तथा ज्ञानको तार्किक लोग आत्माका गुण मानते हैं, परन्तु वह उसके गुण न होकर स्वरूप ही हैं । चेतनको प्रतिशरीरमें भिन्न भिन्न माननेका कोई प्रमाण नहीं है । इसीलिये अद्वैत वेदान्त शास्त्रमें आत्माको सत् चित् अद्वितीय निर्विकार शुद्ध सर्वज्ञ सर्वविद् इत्यादि कहा गया है और वह सब अनुभवसिद्ध है । श्रुति स्मृति पुराणादि ग्रन्थोंमें आत्माके स्वरूपका विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है । परन्तु 'तर्कसे ईश्वर-सिद्धि' हमारा यह विषय होनेसे हम उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते । केवल तर्कसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है और वह ईश्वर नित्य आत्मा है, ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहकर इस लेखको समाप्त किया जाता है ।

क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?

(लेखक—श्रीयुत वेंकटाचलमूर्तिजी एम० ए०)

इस लेखमें हम ईश्वरको तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, फिर देखिये क्या परिणाम होता है । ईश्वर विषयपर चिन्तन करते ही ऐसा जान पड़ने लगता है मानो हम कुछ हैं ही नहीं, अपनी अशक्तिसे घमण्ड भी कुछ चूर हो जाता है । ठोक-बजाकर कोई बात कहना इसलिये शोभा नहीं देता कि विषय इतना अचिन्त्य है जिससे बहुत दूरतक शब्दोंकी दाल नहीं गलती । जिन्हें यह दावा है कि हम ईश्वरको सिद्ध कर दिखावेंगे या जो यह कहें कि हम उसे असिद्ध ही करके छोड़ेंगे, इन दोनोंमेंसे किसीकी भी हिमायत हमें नहीं करनी है, क्योंकि दोनों ही भ्रम में हैं । दोनों ही बहुत भोले हैं । ईश्वर तो चाहे सिद्ध या असिद्ध न हो सके, पर जो दलीलें दोनों ओरसे दी जाती हैं वे जरूर असिद्ध होती हैं । लोग तर्कसे उसे सिद्ध करना चाहते हैं जो तर्कके मानका नहीं है । अब कुछ समयसे दार्शनिक लोग भी सचेत हो गये हैं, वे शपथपूर्वक किसी बातको कहना अच्छा नहीं समझते, उनका मतवाद विदा हो रहा है । अब तर्कके बजाय नीति और धर्मका आश्रय ढूँढ़ा जाता है । पढ़े-लिखे लोगोंकी रंगत तो आस्तिक और नास्तिक दोनोंसे विलक्षण है, वे तो ईश्वरके विषयमें उदासीन बन गये हैं । उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें रहनेवाले लोगोंमें ईश्वर विषयक जो गर्मी थी, अब वह चल हो गयी है । ईश्वर हो तो अच्छा, न हो तो अच्छा—अब तो इस तरहकी मनोवृत्ति बनती जाती है ।

किसी समय अन्धा धार्मिक मतवाद अपने सामने कुछ सुनता ही न था । विज्ञानने बुद्धिवादका शस्त्र चलाकर थोथे धर्मको हटा दिया फलतः अब धर्मकी बात कोई नहीं पूछता । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब लोगोंने अपनी बुद्धिका बल लगाकर धर्मके सिद्धान्तोंको तोल लिया है और उन्हें निस्सार जानकर पीछे छोड़ दिया है, बल्कि इसकी वजह यह है कि इस विषयकी रुचि क्षीण सी हो गयी है । सच बात यह है कि ईश्वर, धर्म, आत्मा सब दूसरी दुनियाके झगड़े जान पड़ते हैं । लोग अपने आपको नकद धर्मका माननेवाला कहते हैं, वे समझते हैं इन हवाई बातोंमें कुछ नहीं रक्खा है । पर इस तरहकी उदासीन वृत्ति मृत्युका लक्षण है । ऐसा मालूम होता है कि हमारी विचारशक्ति मूर्छित हो गयी है । जब कभी आस्तिक नास्तिक दोनों दलोंकी भिड़न्त थी तब विचार शक्ति जागरूक रहती थी । अस्तु, हमारा आशय तो यहाँ इतना ही है कि थोड़ेमें दोनों मतोंके सारासारका कुछ विवेचन कर दें जिससे उभयपक्षके गुण दोष सामने आ जायँ ।

(१)

ईश्वर-सिद्धिके तर्क अनेक हैं । सब एकसे नहीं हैं । सबमें पोच तो यह है कि जगत् कार्य है, इसका बनाने वाला निमित्तकारण या कर्ता होना चाहिये । 'यह विश्व कार्य है'—इस बातका निर्णय आपने कैसे कर लिया ? यदि आप कहें यह हमारी प्रतिज्ञा है, तो यह बताइये कि क्या किसी समय अस्तित्वमें न रहनेवाले जगत्को किन्हीं कारणोंसे कार्यमें आते हुए आपने देखा या अनुभव किया है ? हमारा अनुभव तो केवल एक युगका है, वह दृश्य पट जो हमारे सामने अभी फैला है, उसीके ज्ञानके आधारपर हम इसे न कार्य कह सकते हैं, न कारण । किसी

भी वस्तुमें ऐसा कोई लक्षण नहीं है जो निश्चयरूपसे उसे कार्य या कारण कहा जा सके। हमारे देखते हुए दुनियाकी चीजोंमें परिवर्तन होना दूसरी बात है, पर समस्त विश्वको कार्य कहनेके लिये उसके प्रागभावका निश्चित प्रमाण होना आवश्यक है। संसारके प्रागभावका केवल अनुमान करना ठीक नहीं, क्योंकि तर्कमें अन्योन्याश्रय-दोष आ जाता है। प्रत्यक्षप्रमाणसे प्रागभावकी सिद्धि तो और भी दुष्कर है, क्योंकि किसी भी पदार्थसे यह नहीं मालूम होता कि वह पहले था या नहीं और आगेको रहेगा या नहीं। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि ऐसा बाधक प्रमाण भी हमारे पास नहीं है जो किसी वस्तुका अबसे पहले या आगे रहना या न रहना माननेसे हमें रोकता हो। हो सकता है यही बात ठीक हो, कि विश्व पहले नहीं था और किसी समय उसका जन्म हुआ। या कहें कि वह अनन्त कालसे इसी कार्य-दशामें था। इस तरह दोनों विरोधी पक्षोंमें सत्यका अंश है। यहाँ हमें दार्शनिक कैण्टके प्रथम द्वन्द्व-नियमका ध्यान आता है, जिसमें कहा है कि जगत् सादि और अनादि दोनों ही है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों निर्दोष और मान्य हैं, लेकिन तभीतक जबतक हम दोनोंके मौलिक आधारको ठीक मानते हैं। वह मूलभूत आश्रय यह है कि देशकाल-परिच्छिन्न दृश्य विश्वका कारण निःसीम देशकालातीत निरपेक्ष होना चाहिये। यदि इसप्रकार सापेक्ष और निरपेक्षके कार्य-कारणवादको हम न मानें तो ऊपर दिखाये हुए मत, कि संसारका प्रारम्भ है या अनादिकालसे यह ऐसे ही है, दोनों ही लड़खड़ा जाते हैं।

यह नियम भी, कि कार्यका कर्ता होना ही चाहिये, चिन्त्य है। प्रकृतिके कार्य उसके ही उपादानसे होते हैं ऐसा मान लेनेसे तर्ककी हानि नहीं होती। विचारसे मालूम होता है कि निमित्तकारण या कर्ता माननेका हेतु मनुष्य-स्वभाव-से कल्पित है। हमारा शरीर हमारी इच्छासे कार्य करता है। हम मान लेते हैं कि ब्रह्माण्ड भी किसी चैतन्यका शरीर है जो उसकी आज्ञासे कार्य करता होगा। पर क्या हमारा और शरीरका सम्बन्ध हमारी समझमें ठीक आ गया है? शरीर और मनकी ग्रन्थिको सुलझानेमें सब दार्शनिक अटक गये हैं। डेकार्टेके बादके सभी दार्शनिकोंने इसपर सिर मारा है। अभीतक शरीर और मनका पारस्परिक सम्बन्ध ठीक तरह समझमें नहीं आया है। जिसने ब्रह्माण्डरूपी देहमें पहले प्रेरणा की, वह भी शरीरी होगा, बिना शरीरके प्रेरणा कैसी? उसका शरीर क्या ब्रह्माण्डके बाहर था? ब्रह्माण्ड था ही तो सृष्टि क्या की? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मका ईक्षण नित्य है, उसे शरीरादिसे सापेक्ष होनेकी आवश्यकता नहीं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रेरणा नित्य है उसकी समाप्ति कैसे होगी? जब जी चाहे तब रुक जानेवाली प्रेरणा नित्य नहीं हो सकती। सापेक्ष और अनित्य-की समीक्षामें नित्यकी कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। नित्य और अनित्यका सम्बन्ध क्या अनित्य हो सकता है? इन दोनोंमें न तो सम्बन्धकी हेतुमद्-आस्था है और न हमें उस सम्बन्धका अनुभव है।

इस तर्कसे कि कार्यका निमित्तकारण होना आवश्यक है, यह नहीं सिद्ध होता कि वह निमित्तकारण ज्ञानवाला हो। हाँ, एक दूसरा हेतु है जो कर्ताको ज्ञानमय सिद्ध करता है। वह है विश्वकी रचना आयोजनवाला हेतु जिसे कुसुमाञ्जलिकारने निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

> कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥
> (५।१)

यह सिद्धान्त श्रीशङ्कराचार्यके शब्दोंमें बड़ी सुन्दरतासे कहा गया है—'जिसमें अनेक कर्ता—भोक्ता हैं, जिसमें कार्य और उनके फल प्रतिनियत देशकालका निमित्त पाकर होते रहते हैं, जो मनसे अचिन्त्य है, ऐसे नाम और रूपसे प्रकट हुए इस जगत्‌का जन्म, स्थिति, नाश जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे होता है, वह ब्रह्म है।' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह सर्वज्ञ क्रम प्रकृतिका गुण नहीं है। प्राकृतिक पदार्थोंके आलम्बनसे इसका प्रकाशमात्र होता है। जड-प्रकृतिके संयोग और परिवर्तन तथा उसके सत्त्व, रज, तम तीन गुण ज्ञानमय सृष्टिका अवतार करानेमें बिल्कुल अशक्त हैं, और प्रत्येक परमाणुके भीतर जिस ज्ञानपूर्वक रचनाकी सत्ता है उसकी व्याख्या प्रकृतिके गुणोंसे नहीं हो सकती। इसलिये एक ऊर्जित ज्ञानशक्तिका मानना अनिवार्य है जो इस ज्ञानमयी रचनाका कारण है। 'जब प्रकृतिके अवयवोंमें परस्पर सम्बन्धकी एकतासे प्रकृति एक मानी जाती है तो अनुमानसे उपर्युक्त ज्ञानमय शक्तिकी एकता भी स्वीकार कर लेनी चाहिये (कैण्टकृत Critique of Pure Reason, Transcendental Dialectic, Book II, Chap. III, 'The Ideal of Pure Reason' p. 521, Prof. Norme Smith's Translation)

हमारी समझमें ईश्वर-सिद्धिके आस्तिक प्रमाणोंमें ऊपर-

का मत ही ऐसा है जो बहुत दूरतक मनमें पैठता है। पर यहाँ भी वही दिक्कतें सामने आ जाती हैं जो सृष्टि-कर्तृत्व से ईश्वर सिद्ध करनेके मार्गमें पहले दिखायी जा चुकी हैं। दोनों जगह हम अनित्य और दृश्यसे कूदकर नित्य और अव्यक्तपर चले जाते हैं। दोनोंकी ग्रन्थिका या सम्बन्ध-का हमें कुछ ज्ञान नहीं है, यही सारी कठिनाई है। चेतन नित्य सत्ता किस प्रकारसे, किस सम्बन्धसे, अनित्य जड़ जगत् या प्रकृतिको प्रभावित करती है या उसतक अपनी शक्तिका प्रवाह भेजती है, यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती क्योंकि जड़ देशकालबद्ध जगत्में शक्ति-प्रवाहका ज्ञान तो हमें है, परन्तु नित्य और देशकालातीत क्षेत्रसे हम बिल्कुल अनजान हैं। अगर हम उस शक्तिको जान जाते हैं, तो वह भी सापेक्ष हो जाती है, फिर उस सापेक्षसे आगे निरपेक्ष-की आवश्यकता रह जाती है। यह कहना कि सापेक्ष पदार्थोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हुई परम्परामें ईश्वर सर्व-प्रथम है, जटिलताको हल नहीं करता। क्योंकि जो सर्वा-तिशायी बनकर भी जिस परम्परामें है, वह उसी बिरादरी-का तो गिना जायगा। सब सापेक्ष पदार्थोंका जो मुड्ढ हमें मिलेगा, वह भी सापेक्ष ही ठहरेगा। ऐसा ईश्वर तो वेदान्त-शास्त्रमें माने गये उस ईश्वरकी जोड़का हुआ जो अनित्य मायासे उपहित पदार्थोंमें सबसे अन्तिम शक्ति है, पर जो निर्वचनीय होनेसे या जगत्-सम्बन्धसे उपहित होनेके कारण सापेक्ष है। यदि ईश्वर और जगत्के सम्बन्ध-का ज्ञान हमें वैज्ञानिक अर्थात् अनुभवगम्य रीतिसे नहीं होता और फिर भी हम ईश्वरको मानते हैं, तो हमारा मानना केवल विश्वासकी बात हो जाती है। सच बात तो यह है कि नित्य और अनित्य, उपाधिगम्य और अनुपाधि-गम्य, सीमित और अतीतके बीचकी गहरी खाईको पार करना हमारे मानकी बात नहीं है। यदि ईश्वर हमारे ज्ञान-का विषय बन जाता है तो वह उपहित हो गया, यदि ज्ञानातीत है तो अन्तर बना ही रहा। पर अनित्यके लिये नित्यका आश्रय ढूँढे बिना काम नहीं चलता, दृश्यसापेक्ष-को निरपेक्षके साथ सम्बद्ध किये बिना गति नहीं है।

वेदोंमें ऐसा लिखा है, इलहामी शास्त्रोंने ऐसा कहा है—इस तरहकी बातें तर्ककी दृष्टिसे कोरी हैं, उनके बारेमें हम कुछ नहीं कहना चाहते। ज्यादा-से-ज्यादा इस रीतिसे इतना ही तत्त्व निकल सकता है कि विश्व अनादि है, उसका ईश्वर-कर्तृत्व फिर भी साबित नहीं होता। मीमांसक लोग इसी प्रकारका अनादित्व मानते थे।

एक तर्क और भी है जिसे प्रायः पश्चिमी विद्वान् दिया करते हैं। यहाँके दार्शनिक भी उससे अनभिज्ञ नहीं थे। हम एक अनन्त पुरुष-विशेषकी कल्पना करते हैं जो सब प्रकारसे पूर्ण हो। हम बल, शक्ति, ज्ञान, दया, करुणा, सत्य आदि गुणोंकी पूर्णता मानते हैं और उनका आश्रय एक सत्तामें कल्पित करके उसे ईश्वर कहते हैं। कुसुमाञ्जलि-कारने लिखा है—

> पदात् खलु अपि।
> श्रूयतेऽपि प्रणेतेश्वरेशानादिपदं, तच्च सार्थकम्……
>
> (कुसुमाञ्जलि काशी सं० पृ० ७१)

इसमें यह बात विचारनेकी है कि कल्पनाके साथ ही कल्प्य विषयकी सत्ता भी माननी पड़ती है। बिना सत्ताके पूर्णता कैसे हो सकती है? पूर्ण पुरुषकी कल्पना अपूर्णसे नहीं है, बल्कि पूर्णसे अपूर्णका ज्ञान हमें है। अपूर्णता जहाँ न हो, इस तरहकी नकारात्मक योजना पूर्ण पुरुषके लिये नहीं है। बल्कि पूर्ण ही उपाधिके कारण अपूर्ण बन गया है। परन्तु प्रत्यय अर्थात् विचारमात्रसे वस्तुकी सत्ता मान लेना असंगत है। प्रत्ययमात्रसे विषयकी गोचरता नहीं हो सकती। इसके विपरीत वेदान्त तो प्रत्ययपलब्धको ही मिथ्या मानता है। जगत् मिथ्या है। क्यों? दृश्यत्वात्। [देखिये अद्वैत-सिद्धि] विषयरूपमें जगत् ज्ञान-गम्य है, अर्थात् प्रत्ययोपहित होनेसे अस्तित्वविहीन है। जो कुछ हम सोचते हैं यदि सबका अस्तित्व निर्विवाद हो तो फिर शास्त्रका अन्त ही समझिये। हमने सोच लिया, हो गया, समीक्षाकी क्या आवश्यकता रही?

(२)

ऊपरके विवेचनमें सब ही हेतु पोच ठहरे। यह कुछ हमारी विद्या-बुद्धि या पाण्डित्यका प्रताप नहीं है। बात यह है कि हम तर्कके सहारे अपने ज्ञानके द्वारा अज्ञेयकी सिद्धि करना चाहते थे। ज्ञानसे जिस विषयको जाना जायगा, वह उसी समय उपहित बन जाता है। सान्तसे अनन्तका प्रत्यय असम्भव है। ज्ञाता स्वयं उपाधिग्रस्त है। ज्ञाताके ज्ञानमें जो बात आ जाती है, वह स्वयं सीमित बन जाती है। इसप्रकार ईश्वरकी सिद्धि जगत्के अधीन बन जाती है। दोनों परस्पराश्रित और उपहित ठहरते हैं। किसीको भी निरपेक्ष कह सकना असम्भव हो जाता है, यही तर्ककी हार है। ब्रह्मकी अनन्तता और सर्वज्ञताको वह अल्पज्ञ पुरुष उसी दशामें सिद्ध कर सकता है जब वह स्वयं सर्वज्ञ हो।

ऊपरकी सब विचारशैली क्यों पैदा होती है ? इसकी वजह यह है कि हम प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंपर जो साधारणतः हमारे ज्ञानके साधन हैं, बहुत अधिक भरोसा करके सेरभरके पात्रमें उतनी तोल भर लेना चाहते हैं जिसके बोझका हमें कुछ पता नहीं है। अनुमान अर्थापत्ति आदिकी सीमा दृश्य ज्ञेय पदार्थोंतक है। अज्ञेयके दुर्गको ज्ञेयके हथियारोंसे सर करना मूर्खता है। ज्ञेयसे आगे जहाँ आपने पैर रक्खा, बस फिर अँधेरा है, आपके प्रमाण रो देते हैं और आप भटक जाते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या ज्ञेय अनन्त हो सकता है ? जो ज्ञानमें आता है उसका कुछ धर्म होता है। ज्ञानमें जिसका आकार है उसके लिये यह 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है' कहना ही पड़ता है। ज्ञेयके सब धर्म ज्ञानमें आ जाते हैं। ज्ञेय यदि कुछ अंशमें ज्ञानातीत रह जाय तो उसे ज्ञेय या जाना हुआ नहीं कह सकते। आपका यह कहना कि कुछ ही अंश जाना जाता है और उसीसे मिला हुआ शेष अज्ञात रह जाता है, किसी तरह मान्य नहीं हो सकता। अनन्तके धर्मोंका ज्ञानाकारमें परिसमाप्त हो जाना असम्भव है। ईश्वर अनन्त है क्योंकि उसके धर्म या गुण अनन्त हैं या सब ही गुण उसके विधेयांश हैं। सर्व ही अनन्त है। पर हर-एक गुण जिसका हमें ज्ञान है, सान्त और सीमित है। इसलिये ईश्वरका भी प्रत्येक गुण, जो ज्ञात है, सीमित मानना पड़ता है। हाँ, ईश्वरकी भटैती करके उसके गुण गाना बात दूसरी है। पर तर्कके लिये तो जब ईश्वरको अनन्त कहते हैं तब उसके धर्मोंको भी अनन्त ही मानना पड़ेगा जो कि ज्ञेय धर्मोंसे विपरीत है। सान्त धर्मोंसे अनन्त कैसे बन सकता है ? एक-एक हाथकी रस्सी जोड़नेसे जो महारज्जु बनेगी वह भी ज्ञेय या सान्त होनी चाहिये। जिसके अन्ततक हम न पहुँचें वह अनन्त नहीं है। गणित शास्त्रने भी अब अनन्तकी इस परिभाषाको पीछे छोड़ दिया है। अन्तहीनताकी कृपाका फल अनन्तता नहीं है अनन्तता स्वयं पूर्ण है, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानकी अशक्ततासे उत्पन्न अनन्तता निपट निस्सार है।

एक मार्केकी बात यह है कि ज्ञेय ईश्वर आत्मा नहीं हो सकता। जिसका हमें ज्ञान है वह प्रकृति है। आत्मा तो स्वयं ज्ञाता और अनुभवज्योति है। प्रत्ययगोचरको आत्मा कहना अन्याय है। आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं बन सकता। जिसे अबतक हम अनन्त-अनन्त कहकर पुकारते आये हैं वह भी कोरी कल्पना ही होती यदि वह ज्योति स्वयंप्रकाश होकर हम सबके अन्दर न विराजती। आत्मा विषयी है, वह दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला है, तब कम-से-कम उसे प्रकाशरूप मानना ही पड़ता है। जो लोग आत्माको ज्ञेयातिरिक्त अथवा ज्ञेय-विषय मानते हैं, वे सब ही उसे स्वयंप्रकाश माननेको बाध्य हैं। औरोंका ज्ञान करानेवाला दीपक स्वयं ज्योतिष्मान् हो यह तो कम-से-कम शर्त है। कहा भी है—

प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः॥
(बृ० उ० भाष्य वार्तिक १।४।८७४)

अर्थात् प्रमाण, अप्रमाण, अथवा प्रमाणाभासके द्वारा जिसमें एक प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है, उसकी स्वयं असम्भावना अर्थात् अनवस्थिति कैसे कही जा सकती है ? यह चैतन्य विषय न होनेसे धर्म-विशिष्ट नहीं कहा जा सकता। विशेष तो हमारे ज्ञानके विषय हैं, चैतन्यमें उनकी उपाधि नहीं है। विशेष धर्म और चैतन्यका क्या सम्बन्ध है इसे हम यथार्थरूपसे नहीं जान सकते—इस कारण यह विश्वासका विषय रह जाता है। इस प्रकार धर्मानुपहित चैतन्य अनन्तका यथार्थ उदाहरण है। यह प्रत्ययाधीन नहीं है, न ही इसे सान्त धर्मोंका अनन्तसंज्ञक पुञ्जमात्र कह सकते हैं। अगर वस्तुतत्त्वकी परिभाषा इस प्रकार मानी जाय कि उसकी सत्ता निरपेक्ष, स्वयमाश्रित और स्वयंप्रत्ययी है, तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान ही उस तरहका तत्त्व है। ज्ञान अनन्त और निर्विशेष है। ज्ञानके प्रादुर्भावका ज्ञान अशक्य है। ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्धिका विषय नहीं है। अगर हम ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करने चलें, तो कहींपर गाड़ी जरूर रुकेगी और वहाँ ज्ञानको निर्विशिष्ट और अनन्त माननेके सिवा हमारे पास और कोई चारा नहीं रहेगा। जैसे हमने कहा है कि ज्ञानका विशेष धर्म नहीं है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान किसीका धर्म है, न यह किसी कर्ताका ऐसा गुण है जो उससे पृथक् है। यह स्वयं अपना रूप है और इसकी सत्ता सबसे अनूप है।

ज्ञानमें संख्याकृत बहुत्वकी उपाधि भी नहीं मानी जा सकती। एक चैतन्य ज्ञानको दूसरेसे पृथक् जाननेके लिये विशेष धर्मकी कल्पना करनी पड़ती है। यह सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान विषय नहीं है। लोगोंने अपनी-अपनी समझके मुताबिक ज्ञानको विशेषका विषय

नाना भाँतिके ईश्वरोंकी कल्पना कर ली है । जब ज्ञानको विधेय मानकर उसको विशेषणोंसे कल्पित किया जाता है तब यही दुरवस्था उत्पन्न होती है। अगर ज्ञान या चैतन्य-को ज्ञेय—विषयकी कोटिसे बाहर रक्खा जाता तो धर्मोंके अनेक भेद और झगड़े न पैदा होते। ईश्वर सोचनेवालेके ज्ञानके तदाकार होकर नाना रूपमें कल्पित हो गया है! यदि हम एक अखण्ड सार्वभौम अनन्त निरुपाधि सत्ताको मानें तो चैतन्य-ज्ञान ही वह सत्ता हो सकती है। वही ईश्वर है। इस ईश्वरको जब ज्ञेय विषय बनाया जायगा और ज्ञाता अपनेसे विशिष्ट शक्तिशाली बाह्य-सत्ताकी कल्पना ईश्वररूपसे करेगा तभी अनेक ईश्वरोंकी सृष्टि हो जायगी। ज्ञाता भेदसे ईश्वरके विभिन्न गुण उनके अनुयायियोंके लिये आपसमें लड़नेका कारण बनेंगे।

विषयरूपमें ईश्वरकी पृथक् सत्ता माननेसे दो बड़ी उलझनें पैदा होती हैं। एक तो यह कि ईश्वरका जगत्से क्या सम्बन्ध है? और दूसरी यह कि ईश्वरका मनुष्यसे क्या सम्बन्ध है? जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुका है— इन दोनों सम्बन्धोंका कुछ भी निश्चित प्रमाण या रूप हमारे पास नहीं है। दूसरी ओर जब हम स्वयं ज्ञानरूप आत्म-चैतन्यको ईश्वर कहते हैं तब कोई झमेला नहीं उठता। हाँ, शर्त यह है कि इस चैतन्यको हमारे प्रमाणोंसे सिद्ध होनेकी जरूरत नहीं है। हमने अपना नापनेका गज उठाया कि झगड़ा पैदा हुआ। इसलिये जो कुछ हम कहते हैं उस सबका प्रमाता साक्षी होनेके कारण स्वयंसिद्ध चैतन्यको ईश्वर मान लेना ठीक है। इस सत्ताका न किसी-से राग है न द्वेष। यह विश्वव्यापी है।

इसप्रकारके अनन्त चैतन्यका रूप मनुष्य-जैसा नहीं कहा जा सकता। क्या जरूरत है कि वह हमारे रोने-धोनेसे प्रसन्न हो, उसे किसकी पूजाकी चाह है? बिन चाहे आपकी ऐसी खुशामद कोई किया करे, तो आपको क्या लाभ होगा? सवाल होता है कि फिर साधना क्यों करनी चाहिये? क्या धार्मिक जीवन ढोंग है? इसका जवाब यह है कि चैतन्यके स्वयंप्रकाश-स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये आवरण या रुकावटोंका दूर करना जरूरी है। चैतन्यकी स्वाभाविक साध यह है कि वह अनात्म और जड़से छूटकर निज स्वरूपमें स्थित हो। इस स्थितिको प्राप्त करानेवाले आध्यात्मिक साधन उचित और आवश्यक हैं। धर्म, ज्ञान और अध्यात्मका अर्थ यही है कि मनुष्य जड़ अनात्मधर्मोंसे इसप्रकार छूट जाय जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचासे। आवरणों-के छूटनेका नाम साधनसिद्धि है। स्वप्रकाश ज्ञान उपाधियोंसे छूटकर स्वरूपमें प्रकट हो जाता है। अनेक प्रकारके भोगजनित सुखसे इस ज्ञानका आनन्द विलक्षण है।

ब्रह्म जिज्ञासा मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि यह उसका अपने ही रूपको देखनेके समान है। इस मार्ग-में जो कुछ सहायक हो सके, अपनाने-योग्य है। जप, तप, तीर्थ, पूजा, दान, धर्म सबका मूल्य यही है कि आत्म चैतन्यका तेज निखर जाय। इस मार्गमें सबसे अधिक महत्त्व गुरुका है क्योंकि गुरु वह है जिसने अपना स्वरूप देख लिया है। उसका अध्यात्म-ज्ञान हमारे लिये दीपकका काम करता है। ईश्वरको ही गुरु मान लेनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति कुछ तृप्त हो जाती है। हम अनित्य हैं, हमारा गुरु ईश्वर हमसे कुछ कम ही अनित्य धर्मवाला होगा। ऐसा ईश्वर ब्रह्म नहीं है। वह तो योगवालोंका 'पूर्वेषामपि गुरु' है। ब्रह्मसे हमें क्या सहायता मिलेगी? वह निरपेक्ष है, हमारे साथ उसका सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये गुरुरूप ईश्वर जो स्वयं देश-कालसे परिच्छिन्न है हमें ज्योतिके देखनेमें सहायता पहुँचा सकता है। हमें तो अन्धकारकी जगह ज्योति चाहिये। बस, ईश्वरसे जो धन-धाम, पुत्र आदि विभूति माँगते हैं वे मूढ़ हैं। ये चीजें तो हमारी हानि करनेवाली हैं, हमारे आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाली हैं, ईश्वर ऐसा नहीं है जो हमें अज्ञान और तमकी ओर बढ़ावे। पर ज्योति या ज्ञान ही ऐसी चीज है जो आवश्यक है। ज्ञानके गुण-दोष भी बिना ज्ञानके नहीं जाने जा सकते।

हमारे इस प्रश्नका उत्तर कि 'क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है?' निश्चयरूपसे यही है कि ईश्वर तर्कसे सिद्ध नहीं होता। दोनों पक्षोंसे दिये जानेवाले प्रमाणोंमें बड़ा दोष यह है कि वे अपनी सीमाको पार करके अनित्य नश्वर पदार्थोंके अनुभव नित्य अविनाशी तत्त्वमें लगाना चाहते हैं। हमें इस बातका बहुत सन्तोष है कि, प्रयत्न करनेपर भी तर्कके द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं हुआ। जो ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो जाता तो महान् अनर्थ होता और वह ईश्वर भी किसी कामका नहीं होता। तर्क बुद्धिसे होता है, बुद्धि विषय है, उससे जाना गया ईश्वर स्वयं प्रमाता चैतन्य नहीं हो सकता। अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, निर्गुण चैतन्य तर्क और बुद्धिके मानका नहीं है।

धनदास

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

पहला दृश्य

(स्थान—धनदासका खूब सजा हुआ कमरा। समय—चार बजे सन्ध्याकाल। धनदास मित्रोंके साथ जलपान कर रहा है। कुछ दूरपर गवैये बैठे गा रहे हैं।)

एक अपरिचित पुरुषका प्रवेश; शरीर बहुत बलिष्ठ; चेहरेपर शौर्य; नेत्रोंमें विकराल तेज।

धनदास—(मन-ही-मन) यह असभ्य कौन आ रहा है? क्या दरवाज़ेपर पहरेवाले नहीं हैं? (नौकरसे) देखो, पहरेपर कौन है?

पुरुष—(नौकरसे) तुम ठहरो, पहरेदारकी ओरसे मैं ही धनदासको जवाब दे लूँगा।

(नौकर ठहरकर धनदासका मुँह देखने लगता है।)

धनदास—(क्रोधसे विह्वल-सा होकर) तुम कौन हो? पहलेसे सूचना दिये बिना किसीके घरमें इसप्रकार घुस आना शिष्टाचार नहीं है।

पुरुष—(दृढ़तापूर्ण स्वरमें) मैं काल हूँ। मेरे लिये कहीं रुकावट नहीं। मुझे कोई रोक नहीं सकता। मैं मनुष्यों-के शिष्टाचारके वशमें नहीं हूँ, इससे तुमको सूचना देनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी।

धनदास—(कालका नाम सुनकर गर्वको कुछ कम करते हुए) सूचना देनेकी आवश्यकता आपको न सही, पर आपके आनेका यह कौन-सा समय है? मैं मित्रोंके साथ जीवनका सुख अनुभव कर रहा हूँ, इस समय उसमें आप विघ्न डालने क्यों आये?

काल—मैं तुमसे पहले ही कह चुका कि मुझपर किसी-का अधिकार नहीं, मैं चाहे जहाँ और चाहे जब जानेमें पूर्ण स्वतन्त्र हूँ। मैं तुमको लेने आया हूँ। चलो।

धनदास—(भयभीत होकर) मुझको लेने? भला, कल तो मेरा विवाह हुआ है? अभी मित्रोंको मैं विदा भी नहीं कर पाया! जीवनका सुख क्या है? यह मैंने अच्छी तरह जाना भी नहीं; कुछ दान-पुण्य भी नहीं कर सका; और अभी आप मुझको लेने आ गये? आप स्वतन्त्र हैं, और निष्ठुर भी प्रसिद्ध हैं, पर इतनी शिष्टता तो आपमें होनी ही चाहिये कि किसीके यहाँ आयें तो पहलेसे सूचना देकर आयें।

काल—अच्छा, जीवनका सुख भोगनेके लिये मैं तुमको थोड़ा अवसर और देता हूँ। अब मैं तुमको पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा।

धनदास—(प्रसन्न होकर) धन्यवाद!

(कालका प्रस्थान)

धनदास—(मित्रोंसे) बातोंके फेरमें डालकर मैंने काल-को कैसा उल्लू बनाया।

मित्रगण—आज आपने कालको जीत लिया। आपके समान बुद्धिमान् मनुष्य भू-मण्डलपर कोई नहीं है।

(उत्सवकी समाप्ति)

दूसरा दृश्य

(समय—प्रातःकाल; धनदास अपनी बैठकमें आराम-कुर्सीपर बैठा है; सामनेकी खिड़की खुली है; ईश्वर एक अत्यन्त दुर्बल और कंगालके भेषमें खिड़कीके सामने आता है।)

कंगाल—सेठजीका कल्याण हो। आज तीन उपवास हो गये; मैं रोग और भूखसे पीड़ित हूँ। कुछ खानेको दिला दीजिये।

धनदास—पहरेपर कौन है?

पहरेदार—हाँ सरकार!

धनदास—तुम वहाँ बैठे रहते हो, और लफंगे यहाँतक चले आते हैं? एक घड़ी भी आरामसे बैठने नहीं पाता। जाओ, तुम नौकरीसे अलग किये जाते हो। (दूसरे पहरेदारसे) इस भिखमंगेको धक्के देकर बाहर निकाल दो।

कंगाल—सेठजी! भगवान्‌ने आपको धन दिया है, आप गरीबोंकी न सुनेंगे तो कौन सुनेगा?

धनदास—भगवान्‌ने मुझे धन सुख भोगनेके लिये दिया है, आवारोंको बाँटनेके लिये नहीं।

कंगाल—अच्छा तो, भोगिये!

धनदास–(क्रोधके आवेशमें) निकाल दो इस दरिद्रोंको।

(कंगालका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(स्थान गरीबोंका समूह। धनदासकी घोषणाका प्रभाव।)

धनदास–मैं फूलोंके पास नाक लेकर जानेका कष्ट नहीं उठाना चाहता, फूलोंकी सुगन्धको मेरी नाकके पास आना चाहिये।

कुछ गरीब–हमलोग फूलोंसे तरह तरहके इत्र बनायेंगे और आपको घर बैठे दे जायँगे।

धनदास–आँखोंके लिये रूप चाहिये।

कुछ गरीब–हम आपके लिये चित्र बनाया करेंगे।

कुछ गरीब स्त्रियाँ–(वेश्याएँ) हमें देखिये, हम हाजिर हैं।

धनदास–कानोंके लिये मधुर स्वर चाहिये।

कुछ गरीब–हम गा बजाकर आपको प्रसन्न करेंगे।

धनदास–भोगके लिये स्त्रियाँ चाहिये।

कुछ गरीब स्त्रियाँ–(मनमें) हाय! इस पेट पापीको भरनेके लिये सब कुछ करना पड़ेगा। (प्रकट) शरीर बेचनेके लिये हम तैयार हैं।

धनदास–जीभके लिये स्वादिष्ट भोजन चाहिये।

कुछ गरीब–हम आपके लिये तरह-तरहके व्यञ्जन बनायेंगे।

धनदास–शरीरके लिये सुन्दर और सुखदायक वस्त्र चाहिये।

कुछ गरीब–हम सूत कातेंगे, कपड़े बुनेंगे और आपको देंगे।

धनदास–पैरोंके लिये सवारियाँ चाहिये।

कुछ गरीब–हम घोड़ा गाड़ी हाँकेंगे और पालकी उठायेंगे।

धनदास–मनके सुखके लिये शिकार खेलूँगा।

कुछ गरीब–हम आपको जंगली जानवरोंका पता बतायेंगे।

धनदास–मौजके लिये शराब चाहिये।

कुछ गरीब–हम शराब बनानेका पेशा करेंगे।

धनदास–मांस खानेको जी चाहता है।

कुछ गरीब–हम चिड़ियाँ मार लायेंगे। हम बकरे हलाल करेंगे। हम खरगोश और हिरनको मारकर उनका गोश्त आपको लाकर देंगे।

धनदास–मुझे अपनी प्रशंसा बड़ी प्यारी लगती है।

कुछ गरीब–हम लोग बड़े ही मधुर शब्दोंमें प्रशंसा करनेका पेशा करते हैं।

धनदास–कुछ मरभुक्खे मेरा धन लूटना चाहते हैं।

कुछ गरीब–हम पहरा देंगे।

धनदास–मैं सिले हुए कपड़े पहनूँगा।

कुछ गरीब–हम कपड़ा सीनेका पेशा करेंगे।

धनदास–मुझे पैरोंको धूप और ठण्डकसे बचानेवाले जूते चाहिये।

कुछ गरीब–हम लोग चमड़ा कमायेंगे और जूते बनायेंगे।

धनदास–उन दरिद्रोंको मेरा ऐश्वर्य देखकर जलन है। उनको मारो।

कुछ गरीब–हम अभी उनकी हड्डी हड्डी चूर कर देते हैं।

धनदास–मैं उनको कारागारमें देखना चाहता हूँ।

कुछ गरीब–हमलोग वकील हैं। आपके मानस सन्तोषके लिये हम उन्हें न्यायालयसे दण्डित करायेंगे।

धनदास–अब मेरी अवस्था पचाससे अधिक हो गयी, सुख भोगते भोगते शरीर शिथिल पड़ गया, पर लालसा तो प्रबल ही होती जा रही है। शरीरकी लालसाके साथ कोई दौड़ सकता है?

कुछ गरीब–(वैद्यके रूपमें) हाँ, हम तरह तरहकी ओषधियोंसे आपके शरीरको बना सकते हैं, उससे नयी नयी लालसाएँ उत्पन्न होने लगेंगी।

धनदास–आइये, आपका स्वागत है।

धनदास–जो लोग मेरा वैभव देखकर ईर्ष्या करते हैं, उनके आन्दोलनसे मुझे बचाओ।

कुछ गरीब–(पण्डित और धर्मगुरुके रूपमें) हम लोग भाग्य और अदृष्टनामकी दवा गरीबोंके शरीरमें इसी

स्थानके पास रख देंगे, जहाँ दूसरोंका वैभव देखकर विक्षोभ उत्पन्न होता है। उस दवासे ईर्ष्याका उत्थान होने ही नहीं पाता।

धनदास–(प्रसन्न होकर) आपलोगोंको सादर प्रणाम है। आइये, उच्चासनपर बैठिये। आप तो हमारे पूज्य हैं।

धनदास–(मन-ही-मन) सब प्रकारका सुख है। यह सब मेरे भाग्यमें था।

चौथा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(सड़कपर धनदास सन्ध्या-समय धीरे-धीरे भ्रमण कर रहा है। एक किनारे एक कोढ़ीके रूपमें ईश्वर उसकी ओर लालायित होकर देख रहे हैं)

कोढ़ी–हे सेठ! गरीबोंपर दया करो।

धनदास–सुखमें व्याघात डालनेवाला यह दृश्य सड़कोंपर क्यों रहने दिया जाता है? आज ही मैं पुलिसको चिट्ठी लिखूँगा कि रास्तोंपर कोढ़ी, लूले, लँगड़े, अपाहिज न रहने पावें, इनके कारण नागरिकोंके हृदयमें क्लेश उत्पन्न होता है।

कोढ़ी–सेठजी! दया कीजिये।

धनदास–मुझपर दया करो बाबा। अपना दृश्य दिखलाकर मेरा सुख क्यों फीका करते हो?

कोढ़ी–मैं कमा नहीं सकता।

धनदास–मैंने गरीबोंसे कुछ पाया नहीं तो उन्हें क्यों दूँ?

कोढ़ी–गरीबोंहीसे तो तुम्हें सब सुख मिल रहा है।

धनदास–चुप रहो। बको मत। (धनदास चला जाता है।)

पाँचवाँ दृश्य

(धनदास वृद्ध हो गया। उपवनमें सन्ध्या-समय वायु-सेवन कर रहा है। कालका प्रवेश।)

काल–कहो मित्र धनदास! सुखसे हो?

धनदास–(चकित होकर) कौन? काल? तुम अभी आ गये?

काल–हाँ, कहो जीवनका सुख भोग लिया?

धनदास–अभी कहाँ? शरीरका थोड़ा सुख भोगा है। पर परलोकके लिये तो अभी कुछ नहीं किया। दया-धर्मका तो मुझे अवसर ही न मिला।

काल–ईश्वरने तो तुमको कई अवसर दिये।

धनदास–कहाँ?

काल–एक ग़रीब कई दिनोंसे भूखा था, तुम्हारे पास आया, तुमने उसे दुत्कार दिया। इतना ही नहीं, एक दूसरे ग़रीब पहरेदारकी तुमने जीविका भी ले ली। एक बार एक कोढ़ीने तुमसे सहायता माँगी, तुमने तमाम दुखियोंके विरुद्ध पुलिसको लिखा कि वे आँखोंके आगे न रहने पावें, सुखमें व्याघात पहुँचता है। एक ग़रीबिनी विधवा कई बच्चे लेकर तुम्हारे पास आयी थी, तुमने उसे ठोकर मारकर निकलवा दिया।

धनदास–और मैं क्या उनकी पूजा करता?

काल–पूजा करते तो ईश्वरके दर्शन भी हो जाते!

धनदास–वाह! ईश्वर ऐसे ही घूमता फिरता है?

काल–और क्या? तुम्हारे उद्धारके लिये ईश्वर ही तो तरह-तरहके रूप धारण करके तुमको दया-धर्मके लिये उत्साहित करते हैं।

धनदास–(कुछ चिन्ताकुल होकर) मुझे मालूम नहीं था।

काल–ख़ैर; अब चलो। मैं तुम्हें लेने आया हूँ।

धनदास–(अत्यन्त विस्मयके साथ) भला, अभी तो मैंने कुछ किया ही नहीं। न तीर्थ किया न व्रत; न किसीको कुछ दिया न किसीके काम आया। (यकायक कुछ स्मरण आनेसे कुछ उत्तेजित होकर) हाँ जी, काल! तुम निष्ठुर तो प्रसिद्ध ही हो, पर झूठे भी हो, यह तो मैं नहीं जानता था?

काल–कैसे?

धनदास–तुमने वादा किया था कि पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा। क्या भूल गये?

काल–(हँस देता है। फिर विषयको बदलता हुआ-सा) हाँ, धनदास! तुम्हारे बाल तो बिल्कुल सफेद हो गये?

धनदास–(यह सोचकर कि वादेकी याद दिलाकर इस बार कालको फिर टाल दिया, प्रसन्न होता हुआ) हाँ, मित्र! पचास वर्षकी अवस्थाके बादसे बाल सफेद होने लगे। अब तो एक भी काला नहीं होगा।

धनदास-(क्रोधके आवेशमें) निकाल दो इस टर्रेंखाँको।

(कंगालका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(स्थान-गरीबोंका समूह। धनदासकी घोषणाका प्रभाव।)

धनदास-मैं फूलोंके पास नाक लेकर जानेका कष्ट नहीं उठाना चाहता, फूलोंकी सुगन्धको मेरी नाकके पास आना चाहिये।

कुछ ग़रीब-हमलोग फूलोंसे तरह-तरहके इत्र बनायेंगे और आपको घर बैठे दे जायँगे।

धनदास-आँखोंके लिये रूप चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम आपके लिये चित्र बनाया करेंगे।

कुछ ग़रीब स्त्रियाँ-(वेश्याएँ) हमें देखिये; हम हाज़िर हैं।

धनदास-कानोंके लिये मधुर स्वर चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम गा-बजाकर आपको प्रसन्न करेंगे।

धनदास-भोगके लिये स्त्रियाँ चाहिये।

कुछ ग़रीब स्त्रियाँ-(मनमें) हाय! इस पेट पापीको भरनेके लिये सब कुछ करना पड़ेगा। (प्रकट) शरीर बेचनेके लिये हम तैयार हैं।

धनदास-जीभके लिये स्वादिष्ट भोजन चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम आपके लिये तरह-तरहके व्यञ्जन बनायेंगे।

धनदास-शरीरके लिये सुन्दर और सुखदायक वस्त्र चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम सूत कातेंगे, कपड़े बुनेंगे और आपको देंगे।

धनदास-पैरोंके लिये सवारियाँ चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम घोड़ा-गाड़ी हाँकेंगे और पालकी उठायेंगे।

धनदास-मनके सुखके लिये शिकार खेलूँगा।

कुछ ग़रीब-हम आपको जंगली जानवरोंका पता बतायेंगे।

धनदास-मौजके लिये शराब चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम शराब बनानेका पेशा करेंगे।

धनदास-मांस खानेको जी चाहता है।

कुछ ग़रीब-हम चिड़ियाँ मार लायेंगे। हम बकरे हलाल करेंगे। हम खरगोश और हिरनको मारकर उनका गोश्त आपको लाकर देंगे।

धनदास-मुझे अपनी प्रशंसा बड़ी प्यारी लगती है।

कुछ ग़रीब-हम लोग बड़े ही मधुर शब्दोंमें प्रशंसा करनेका पेशा करते हैं।

धनदास-कुछ मरभुक्खे मेरा धन लूटना चाहते हैं।

कुछ ग़रीब-हम पहरा देंगे।

धनदास-मैं सिले हुए कपड़े पहनूँगा।

कुछ ग़रीब-हम कपड़ा सीनेका पेशा करेंगे।

धनदास-मुझे पैरोंको धूप और ठण्डकसे बचानेवाले जूते चाहिये।

कुछ ग़रीब-हम लोग चमड़ा कमायेंगे और जूते बनायेंगे।

धनदास-उन दरिद्रोंको मेरा ऐश्वर्य देखकर जलन है। उनको मारो।

कुछ ग़रीब-हम अभी उनकी हड्डी-हड्डी चूर कर देते हैं।

धनदास-मैं उनको कारागारमें देखना चाहता हूँ।

कुछ ग़रीब-हमलोग वकील हैं। आपके मानस-सन्तोषके लिये हम उन्हें न्यायालयसे दण्डित करायेंगे।

धनदास-अब मेरी अवस्था पचाससे अधिक हो गयी, सुख भोगते-भोगते शरीर शिथिल पड़ गया, पर लालसा तो प्रबल ही होती जा रही है। शरीरकी लालसाके साथ कोई दौड़ सकता है?

कुछ ग़रीब-(वैद्यके रूपमें) हाँ, हम तरह-तरहकी ओषधियोंसे आपके शरीरको बना सकते हैं, उससे नयी-नयी लालसाएँ उत्पन्न होने लगेंगी।

धनदास-आइये, आपका स्वागत है।

धनदास-जो लोग मेरा वैभव देखकर ईर्ष्या करते हैं, उनके आन्दोलनसे मुझे बचाओ।

कुछ ग़रीब-(पण्डित और धर्मगुरुके रूपमें) हम लोग भाग्य और अदृष्टनामकी दवा ग़रीबोंके शरीरमें उसी

स्थानके पास रख देंगे, जहाँ दूसरोंका वैभव देखकर विक्षोभ उत्पन्न होता है। उस दवासे ईर्ष्याका उत्थान होने ही नहीं पाता।

धनदास-(प्रसन्न होकर) आपलोगोंको सादर प्रणाम है। आइये, उच्चासनपर बैठिये। आप तो हमारे पूज्य हैं।

धनदास-(मन-ही-मन) सब प्रकारका सुख है। यह सब मेरे भाग्यमें था।

चौथा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(सड़कपर धनदास सन्ध्या-समय धीरे-धीरे भ्रमण कर रहा है। एक किनारे एक कोढ़ीके रूपमें ईश्वर उसकी ओर लालायित होकर देख रहे हैं)

कोढ़ी-हे सेठ! गरीबोंपर दया करो।

धनदास-सुखमें व्याघात डालनेवाला यह दृश्य सड़कोंपर क्यों रहने दिया जाता है? आज ही मैं पुलिसको चिट्ठी लिखूँगा कि रास्तोंपर कोढ़ी, लूले, लँगड़े, अपाहिज न रहने पावें, इनके कारण नागरिकोंके हृदयमें क्लेश उत्पन्न होता है।

कोढ़ी-सेठजी! दया कीजिये।

धनदास-मुझपर दया करो बाबा। अपना दृश्य दिखलाकर मेरा सुख क्यों फीका करते हो?

कोढ़ी-मैं कमा नहीं सकता।

धनदास-मैंने गरीबोंसे कुछ पाया नहीं तो उन्हें क्यों दूँ?

कोढ़ी-गरीबोंहीसे तो तुम्हें सब सुख मिल रहा है।

धनदास-चुप रहो। बको मत। (धनदास चला जाता है।)

पाँचवाँ दृश्य

(धनदास वृद्ध हो गया। उपवनमें सन्ध्या-समय वायु-सेवन कर रहा है। कालका प्रवेश।)

काल-कहो मित्र धनदास! सुखसे हो?

धनदास-(चकित होकर) कौन? काल? तुम अभी आ गये?

काल-हाँ, कहो जीवनका सुख भोग लिया?

धनदास-अभी कहाँ? शरीरका थोड़ा सुख भोगा है। पर परलोकके लिये तो अभी कुछ नहीं किया। दया-धर्मका तो मुझे अवसर ही न मिला।

काल-ईश्वरने तो तुमको कई अवसर दिये।

धनदास-कहाँ?

काल-एक गरीब कई दिनोंसे भूखा था, तुम्हारे पास आया, तुमने उसे दुत्कार दिया। इतना ही नहीं, एक दूसरे गरीब पहरेदारकी तुमने जीविका भी ले ली। एक बार एक कोढ़ीने तुमसे सहायता माँगी, तुमने तमाम दुखियोंके विरुद्ध पुलिसको लिखा कि वे आँखोंके आगे न रहने पावें, सुखमें व्याघात पहुँचता है। एक गरीबिनी विधवा कई बच्चे लेकर तुम्हारे पास आयी थी, तुमने उसे ठोकर मारकर निकलवा दिया।

धनदास-और मैं क्या उनकी पूजा करता?

काल-पूजा करते तो ईश्वरके दर्शन भी हो जाते!

धनदास-वाह! ईश्वर ऐसे ही घूमता फिरता है?

काल-और क्या? तुम्हारे उद्धारके लिये ईश्वर ही तो तरह-तरहके रूप धारण करके तुमको दया-धर्मके लिये उत्साहित करते हैं।

धनदास-(कुछ चिन्ताकुल होकर) मुझे मालूम नहीं था।

काल-ख़ैर; अब चलो। मैं तुम्हें लेने आया हूँ।

धनदास-(अत्यन्त विसमयके साथ) भला, अभी तो मैंने कुछ किया ही नहीं। न तीर्थ किया न व्रत; न किसीको कुछ दिया न किसीके काम आया। (यकायक कुछ स्मरण आनेसे कुछ उत्तेजित होकर) हाँ जी, काल! तुम निष्ठुर तो प्रसिद्ध ही हो, पर झूठे भी हो, यह तो मैं नहीं जानता था?

काल-कैसे?

धनदास-तुमने वादा किया था कि पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा। क्या भूल गये?

काल-(हँस देता है। फिर विषयको बदलता हुआ-सा) हाँ, धनदास! तुम्हारे बाल तो बिल्कुल सफेद हो गये?

धनदास-(यह सोचकर कि वादेकी याद दिलाकर इस बार कालको फिर टाल दिया, प्रसन्न होता हुआ) हाँ, मित्र! पचास वर्षकी अवस्थाके बादसे बाल सफेद होने लगे। अब तो एक भी काला नहीं होगा।

काल–चश्मा कबसे लगाने लगे ?

धनदास–बस, बाल सफेद होने शुरू हुए कि आँखें भी धुँधली होने लगीं।

काल–कानसे भी शायद कुछ कम सुनायी पड़ता है ?

धनदास–जी हाँ, कई वर्षोंसे कुछ ऊँचा सुनता हूँ।

काल–भला, तुम्हारे मुँहके सब दाँत कहाँ गये ?

धनदास–एक-एक करके सब दाँत गिर गये।

काल–टाँगोंका क्या हाल है ?

धनदास–टाँगें अब शरीरके बोझको कम सँभाल सकती हैं। हाँ, मित्र ! तुम इसकी कोई दवा जानते हो ?

काल–दवा लेकर तो आया ही हूँ। चलो, मेरे साथ।

धनदास–और पाँच सूचनाएँ ?

काल–तुम अभी स्वीकार कर रहे हो कि तुमको सूचनाएँ मिल चुकी हैं। बाल सफेद हुए, आँखें धुँधली हुईं, कान बहरे हुए, दाँत टूटे और टाँगें निर्बल हुईं, यही पाँच सूचनाएँ हैं। चलो।

धनदास–(घिघियाकर) अभी थोड़े दिन और रहने दो। मैं धन-दौलत किसीको दे तो जाऊँ। हाय, मैं तो धोखेहीमें रहा। अरे ! बेटा, बेटी, स्त्री, नाती, पोते, दौड़ो-दौड़ो, मैं जा रहा हूँ।

(धनदासका शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ता है।)

जिन खोज्या तिन पाइया

(लेखक—भक्तवर श्रीयादवजी महाराज)

किसी ज्ञानी महात्मासे एक जिज्ञासु भक्तने प्रणाम करके पूछा—'महाराज ! शास्त्रोंमें परमेश्वरको अगाध, अनन्त और अपरम्पार बतलाया गया है, वेद भी 'नेति नेति' पुकारकर रह गये हैं, उसका निश्चित स्वरूप कोई भी नहीं बतला सका, इसलिये मैं बहुत असमञ्जसमें पड़ा हूँ। मेरी गति वहाँतक पहुँच ही नहीं सकती। कृपा करके मुझे आप ही समझाइये कि परमेश्वर कैसा है ?'

महात्मा–तुम जैसा मानोगे, वैसा ही।

भक्त–यह कैसे हो सकता है ?

महात्मा–इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। सदासे यही होता आया है और यही अब भी होता है। वस्तुतः परमेश्वरका कोई नाम, रूप या गुण नहीं है तथापि अन्तःकरणके सच्चे प्रेमसे भक्त भगवान्‌को जिस नामसे पुकारता है, वह उसी नामसे उत्तर देता है; जिस रूपकी उपासना करता है उसी रूपमें वह दर्शन देता है; जिन गुणोंवाला समझकर ढूँढ़ता है, उन्हीं गुणोंवाला होकर वह मिल जाता है।

नरसी मेहताने श्रीकृष्णरूपसे आराधना की तो उसको भगवान्‌ने श्रीकृष्ण-रूपसे दर्शन दिये, गोस्वामी तुलसीदासने कहा—नहीं, मैं श्रीकृष्णको प्रणाम नहीं करूँगा, मैं तो श्रीरामको ही जूँमगा तो उसको श्रीरामरूपके दर्शन हुए। कोई देवी-भक्त कहेगा कि मैं तो एक जगज्जननी माताके सिवा और किसीको नहीं मानूँगा तो प्रभु उसको देवीरूपसे दर्शन देगा और यदि कोई अन्य धर्मी मनुष्य उसको किसी दूसरे ही रूप, दूसरे ही गुण और दूसरे ही नामसे भजता होगा तो उसको भी भगवान् उसकी अपनी धारणाके अनुसार ही मिल जायगा।

श्रीकृष्णसे श्रीराम बन जाना, श्रीरामसे देवी हो जाना या देवीसे और कोई अन्य देवता बन जाना, इसमें परमेश्वरके लिये कुछ भी श्रम नहीं है।

जीव मर्यादित शक्तिवाला अल्पज्ञ है, परन्तु प्रभु तो सब कुछ कर सकता है, वह सर्वशक्तिमान् और सर्वसमर्थ है तब फिर अपने भक्तकी भावनाके अनुसार उसके सामने प्रकट हो और उसकी इच्छा पूर्ण करे, इसमें कौन-सी अनहोनी बात है ? तुम्हारी, तुम्हारे शास्त्रोंकी, या तुम्हारे गुरुकी परमेश्वरके सम्बन्धमें जैसी धारणा है, वैसी इस दुनियाके सब धर्मोंकी नहीं है इससे क्या परमेश्वर उन्हें छोड़ देगा ? कदापि नहीं।

यदि प्रभुमें उनका सच्चा प्रेम होगा तो वे चाहे किसी भी नाम या रूपसे भगवान्‌की उपासना करते हों, उनकी भावनाके अनुसार प्रभुसे उनका मिलन होगा ही।

अतएव शास्त्रोंमें जिसको अनन्त, अगाध और अपार बताया गया है, उसका पार ढूँढ़ने जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम भी अपनी समझ, अपने माता-पिताकी रीति और अपने गुरुके उपदेशानुसार हृदयके सच्चे प्रेमसे भगवान्‌को भजो। तुम्हारी सेवा भी प्रभु स्वीकार कर लेंगे।

भक्त—महाराज! आपने मुझे अपनी धारणाके अनुसार भजनेको कहा सो तो ठीक है परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने इतने समयतक साधन करके क्या निर्णय किया है? प्रभुके विषयमें आपकी क्या धारणा है? यदि आप मुझे इस गुह्य बातके सुननेका अधिकारी समझते हों तो कृपया कहिये।

महात्मा—वह कैसा है, कैसा नहीं, इस बातकी जाँच करनेकी खटपटमें पड़ना मुझे आवश्यक नहीं दीख पड़ा। मैंने तो आँखें मूँदकर अपनी जीवनडोरी उसके हाथोंमें पकड़ा दी है और मुझे विश्वास है कि वह जैसा कुछ होगा, अपने आप ही मुझसे आ मिलेगा। ज्यों-ज्यों उसका भजन अधिक होगा त्यों-ही-त्यों मुझे अधिकाधिक आनन्द, नित नया-नया आनन्द, बाह्य जगत्‌की हरकतोंसे भङ्ग न होनेवाली अपूर्व-शान्ति और अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती जाती है। इसलिये मैं समझता हूँ वह आनन्दरूपसे तो मुझे मिल गया है। ऋषियोंने उसे सच्चिदानन्द कहा है, इससे मालूम होता है उनको वह उसी रूपमें मिला होगा।

भक्त—आप जिस आनन्द-सुधाका स्वाद ले रहे हैं उसमेंसे थोड़ी-सी कृपा-प्रसादी इस सेवकको मिल जाय, मैं आपका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ।

महात्मा—भोजन मैं करूँ और पेट तुम्हारा भर जाय, कहीं ऐसा भी हुआ है? मिश्री मैं खाऊँ और उसका स्वाद तुमको आवे, यह कैसे हो सकता है? परमेश्वरके सम्बन्धमें हमलोग जो बातें कर रहे हैं, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जो उठाकर तुम्हें दे दूँ। परिश्रम दूसरा करे और फल तुमको मिल जाय, ऐसा कदाचित् संसारमें हो सकता है परन्तु भजन दूसरा करे और उसका आनन्द तुम्हें मिले, प्रभुके मार्गमें ऐसा कभी नहीं हो सकता।

भक्त—आपने मुझे कोई गुप्त भेद नहीं बतलाया और फिर आप हरेक प्रश्नमें सारा भार मुझपर ही डाल रहे हैं। परन्तु मुझे तो कहीं भी परमेश्वर नहीं दीखता, फिर बताइये, मैं कहाँ ढूँढ़ूँ? उसको कहाँ पाऊँ? और वह कब मुझको मिलेगा?

महात्मा—जब तुम्हारे हृदयमें सच्चा प्रेम जागृत होगा, तब वह मिलेगा। फिर तुम उसे क्या खोजोगे? वही तुम्हें खोजता हुआ आवेगा। भक्तिमार्गका सबसे महान् सिद्धान्त प्रेम है। प्रेमीसे वह प्रभु कभी छिपता नहीं और प्रेमहीनको कभी दीखता नहीं। तुम उसको नहीं देखते, परन्तु वह तुमको देख रहा है। तुम उसको नहीं जानते, परन्तु वह तुम्हें जानता है। पुकारकर देखो अभी पता लग जायगा।

परमेश्वरने अपना गुप्त भेद न तो किसीसे कुछ छिपाया है और न किसीको दे ही डाला है। उसका मार्ग तो सीधा, सरल और सबके लिये सदा ही खुला पड़ा है।

जागो, आलस्य छोड़कर खड़े होओ, चलना शुरू कर दो, तुम्हारी विजय होगी। माँगोगे तो मिलेगा, ढूँढ़ोगे तो प्राप्त होगा, बुलाओगे तो वह आवेगा, नाम लेकर पुकारोगे तो जवाब मिलेगा।

भूल तुम्हारी ही है, उसकी नहीं। बच्चा हाथ ऊँचा करे तो पिता उसे गोदमें उठाकर साथ ले जानेके लिये हमेशा ही तैयार है। श्रद्धालुकी दृष्टि ठेठ ब्रह्मलोकतक पहुँचती है और अश्रद्धालुकी नजर अपने हृदयतक भी नहीं पहुँचती, यही आश्चर्य है।

भक्त—अब शेषकी बात बताइये, क्या मैं उसको अपने अन्दर ही खोजूँ?

महात्मा—अन्दर देखोगे तो अन्दर भी दिखायी देगा। बहुतेरे साधकोंने उसे सहज ही प्राप्त करनेके लिये यही किया था। याद रक्खो परमेश्वर बातोंका विषय नहीं है, कि जो बहुत बकनेसे, लम्बे प्रवचनोंसे अथवा बहुत सुननेसे मिल जाय। उसको प्राप्त करनेके लिये तो तुम्हें स्वयं कुछ करना पड़ेगा। जैसे आप मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता, वैसे ही दूसरेके परिश्रमसे तुमको परमेश्वरकी प्राप्ति होना सर्वथा असम्भव है। जिन्होंने खोजा है उन्होंने पाया है, तुम खोजो तुम्हें भी अवश्य मिलेगा।

रमता जोगी आया साधो, रमता जोगी आया॥
सरवर-तटपर बाँधा आसन, ऊपर तरुवर छाया।
काची माटीकी मटकीमें, अमृत रस भर लाया॥ नगरमें०
नव दरवाजे वश कर लीन्हें, दशवेंपर चढ़ आया।
शिष्य मछन्दर गोरख बोले, जिन खोज्या तिन पाया॥ नगरमें०

बातें बनाना छोड़ दो, वाद-विवादको हटा दो, तर्क-वितर्कका त्याग करो, बुद्धिके विलासको दूर करो और श्रद्धासे—अन्तःकरणके सर्वभावसे विश्वास रखकर प्रेमपूर्वक प्रभुका भजन करो, तुम उस परमदयालु, कृपाके महासागर प्रभुकी प्रीतिको अवश्य प्राप्त कर सकोगे। योगी गोरखनाथ कह रहे हैं कि उसके लिये दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इन्द्रियोंको वशमें करके रटन लगाओ, तुम्हारे अन्तरमें नाभिकमलमें ही तुम्हें प्रभु दिखायी देगा। इस क्षणभङ्गुर देहमें ही इसी जीवनकालमें तुम उस ब्रह्मानन्द-सुखको प्राप्त कर सकोगे।

ईश्वरकी ध्रुव सत्ता

(लेखक—पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री, विद्यानिधि)

ईषदीषदनपीतविद्यया वातमातृमुदयाविवर्धयन्। क्षेपणाय भवजन्मकर्मणां कोऽपि गोपतनयो नमस्यते॥

ईश्वरके अस्तित्व-विषयमें सृष्टिके आरम्भकालसे लेकर आजतक जितने अन्वेषण हो चुके हैं उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है, एक प्रमाणवाद और दूसरा तर्कवाद। इन दोनों वादोंमें भी अन्तरंगरूपसे अनेक भेद रहते हैं, किन्तु मुख्य सिद्धान्तमें दोनों पक्ष अपने-अपने पक्षमें एकमत हो जाते हैं। इस तरह एक पक्ष 'आस्तिक' और दूसरा 'नास्तिक' नामसे अभिहित किया जाता है। आस्तिकवर्ग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आप्त-वाक्य) द्वारा प्रमेयकी सिद्धि स्वीकार करते हैं और उनके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, दर्शनादि आप्त-वाक्योंद्वारा प्रमित परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनादिनिधन और अनन्त, अचिन्त्य, स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियाओंका भण्डार स्वीकार किया गया है।

नास्तिक या अनीश्वरवादी केवल प्रत्यक्षप्रमाणको ही स्वीकार करते हैं। उनके मतमें शाब्दीप्रमा प्रमाणीभूत न होकर केवल युक्ति और तर्कद्वारा जो वस्तु सिद्ध हो सकती है, वे उसे ही स्वीकार करते हैं। उनका मत है—

युक्त्यायुक्तं वाक्यं बालेनापि प्रभाषितं ग्राह्यम्।
त्याज्यं युक्तिविहीनं श्रौतं वा स्यात्स्मार्तकं वा स्यात्॥

अर्थात् युक्तिरहित वाक्य चाहे श्रुति या स्मृति किसीका भी हो, ग्रहण नहीं किया जा सकता और युक्तियुक्त-वाक्य चाहे बालकद्वारा भी कहा गया हो, वह सर्वथा ग्रहणयोग्य होता है। यद्यपि आस्तिक लोग भी तर्क और युक्तिसे प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म विवेचन किया जाना स्वीकार करते हैं, उनका मत है कि—

'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।'

किन्तु फर्क इतना ही है कि अचिन्त्य, अलौकिक एवं इन्द्रियातीत पदार्थोंकी सिद्धिको वे केवल बौद्धिक तर्कद्वारा न मानकर शास्त्रानुमोदित तर्कद्वारा सिद्ध होना स्वीकार करते हैं, पर नास्तिक लोग केवल बौद्धिक तर्कसे ही प्रत्येक पदार्थका सिद्ध होना मानते हैं। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपुको लीजिये। इसने जन्मसे मरणपर्यन्त ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया और दूसरी तरफ इसके विपरीत प्रह्लादने गर्भसे ही ईश्वरकी सर्वव्यापकतापर पूर्ण विश्वास किया। इसी प्रकार वीर महावीर हनुमान्जीको लीजिये, उनका कथन है—

'पत्रे पत्रे च पश्यामि रामं चारु जटाधरम्।
'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥'

छायातप और दिन-रातके समान परस्पर-विरोधी ये दोनों ही पक्ष संसारमें अनादिकालसे लेकर आजतक रेलकी दो पटरियोंके तुल्य समानान्तररूपसे अनवच्छिन्न चले आ रहे हैं और न्यूनाधिकस्वरूपमें प्रलयतक बराबर रहेंगे।

किसी भी पदार्थका यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रयद्वारा ही हुआ करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्यको ही प्रमाणत्रयके नामसे आस्तिकवर्गने स्वीकार कर, इनके द्वारा प्रमित ईश्वरको ध्रुव-सत्य स्वीकार किया है। किन्तु अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर एक कल्पनाके सिवा कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। यदि वह वस्तुतः कोई पदार्थ होता तो हम अपनी इन्द्रियोंद्वारा घट-पटादि पदार्थोंके तुल्य उसका भी अवश्य प्रत्यक्ष कर लेते। जब वह किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है तो ऐसे अवस्तुरूप ईश्वरको स्वीकार करना केवल भ्रम ही कहा जा सकता

है। ऐसा नहीं तो उसकी सत्तामें प्रमाण ही क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि प्रत्येक जीवको अपने-अपने आत्माकी उपलब्धि ही ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे बड़ा अकाट्य प्रमाण है—

'सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति—यदि हि नात्मास्मित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वोऽपि लोकः नाहमस्तीति प्रतीयात्'

अर्थात् सम्पूर्ण जीव अपने आत्माका अस्तित्व प्रतिक्षण अनुभव किया करते हैं—'मैं हूँ' यह ज्ञान सभीको सदा रहता है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व ध्रुवरूपसे सत्य न होता तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ही ज्ञान प्रत्येक जीवात्माको होना चाहिये था, किन्तु ठीक इसके विपरीत 'मैं हूँ' यह ज्ञान होना ही आत्माके अस्तित्वका सबसे बड़ा स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

यद्यपि आत्मा इन्द्रियातीत और मन-बुद्धिके परेकी वस्तु है, इसलिये इन्द्रियों और मन-बुद्धिद्वारा उसका प्रत्यक्षीकरण किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता और प्रत्यक्ष न होनेपर भी प्रत्येक अन्तःकरणमें उसकी सत्ताकी उपलब्धि अखण्डरूपसे विद्यमान पायी जाती है। यह सत्ता बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओंके परिवर्तन होनेपर भी सदा एकरस एवं अजर, अमर, अनादि, अनन्तरूपसे विद्यमान रहती है; यही कारण है कि वह अपनी सिद्धिके लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता—वह स्वयंप्रकाश एवं स्वयंज्योति होनेसे सबका विज्ञाता स्वयं ही है, उसे अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता, इसीलिये श्रुति पुकारकर कहती है—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयाम्'

'स्वयंज्योतिरयं पुरुषः'

उक्त विवरणद्वारा यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा स्वयं-सिद्ध पदार्थ है, यह यद्यपि इन्द्रियातीत है तथापि इसकी ध्रुव उपलब्धि सर्वत्र विद्यमान है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी वह संसारके सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक सत्य है और उसकी सत्यतासे ही संसारकी सत्यताका भान होता है। 'मैं हूँ' यदि यह प्रतीति नष्ट हो जाय तो 'संसार है' इसका भी ज्ञान नहीं हो सकता। अतः संसारकी सत्यताका बोध करानेवाला एक चेतन आत्मा ही है, यद्यपि यह परिच्छिन्न है तथापि अपरिच्छिन्न और सर्वव्यापी आत्माका अंश होनेके कारण, अपने अंशांशीभावसे अपनी सिद्धिद्वारा परमात्म-सिद्धिका साक्षात् परिचायक है।

उक्त आत्मसिद्धि ही परमात्म-सिद्धिमें साक्षात् प्रमाण है, क्योंकि—

'अयमात्मा ब्रह्म'

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

इत्यादि श्रौत, स्मार्त-वाक्योंद्वारा जीवात्माको परमात्मा-का अंश बतलाया गया है, अंशरूप आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव ही अंशीरूप अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक परमात्मा-के अस्तित्वका बोधक है, क्योंकि व्यष्टिके द्वारा समष्टिका ज्ञान होना स्वाभाविक है। इससे सिद्ध हुआ कि अंशी-रूप परमात्माका अस्तित्व केवल कोरी कल्पना ही नहीं प्रत्युत वह त्रिकालाबाध्य ध्रुव सत्य पदार्थ है।

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सब पदार्थोंका निर्णायक माना जावे तो ईश्वर तो दूरकी वस्तु है, संसारहीके अनेक पदार्थ ऐसे मौजूद हैं कि जिनकी सिद्धि होना सर्वथा असम्भव है—जैसे ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, मन, बुद्धि, दिशा, काल, परमाणु, गुरुत्व आदि ऐसे पदार्थ हैं कि जिनका प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, पर उनके अस्तित्वमें किसीको भी सन्देह नहीं होता, क्योंकि उनका अनुभव प्रत्येक जीवको होता है।

इसी प्रकार जिन इन्द्रियोंद्वारा हम अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष करते हैं—स्वतः उन इन्द्रियोंका अणु-परिमाणमें होनेके कारण आजतक किसीको प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब क्या इन्द्रियाँ भी नहीं हैं ऐसा मान लेना चाहिये? वास्तवमें प्रत्यक्ष प्रमाण ही इतना पंगु एवं अल्प-शक्ति-वाला प्रमाण है कि यदि हम इसीके भरोसेपर पदार्थों-की सत्ताका निर्णय करना चाहें, तो हमें अपने स्वरूप और अपनी इन्द्रियोंसे भी हाथ धो बैठना होगा। यही कारण है कि त्रिकालदर्शी महर्षियोंने केवल परिमित गतिमत् प्रत्यक्षपर अवलम्बित न होकर प्रत्यक्ष-सहकृत योग्य अनुमान और आप्त-वाक्यको प्रमाण-स्वरूप स्वीकार किया है। जिस स्थानपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी गति पंगु हो जाती है वहाँ अनुमितिद्वारा पदार्थका निर्णय और कार्य-कारण-भावकी मीमांसा की जाती है। प्रायः अदृष्ट और अलौकिक पदार्थोंमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वतोभावेन

कुण्ठित हो जाता है, वहाँ अनुमानद्वारा पदार्थका निर्णय करना आवश्यक हो जाता है।

पर्वतपर धूम्रको देखकर अदृष्ट वह्निका अनुमान व्याप्तिग्रहके बलसे किया जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण-सम्बन्धद्वारा घटको देखकर कुलालका, पटको देखकर तन्तुवायका, मठको देखकर शिल्पकारका अनुमान किया जाता है। क्योंकि—

यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वम्।

जहाँ कहीं भी कार्य देखा जावे, वहाँ उसके कर्ताका अनुमान अवश्य ही करना पड़ता है। कर्ताके बिना कोई भी कार्य नहीं बन सकता। जिसप्रकार घट-पट आदि-को देखकर उनके कर्ता कुलालादिका ज्ञान युक्तियुक्त और स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार अनन्त आश्चर्योंका भण्डारभूत यह महान् विश्व भी एक कार्य है, तब इसके अनुरूप कर्ताका भी अनुमान करना ही होगा।

'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्।

संसारके पृथिवी और अंकुरादि पदार्थ कार्य होनेसे किसी कर्ताकी कृति हैं, ऐसा स्वीकार करके इसके कर्ताका अस्तित्व अगत्या स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि जगत्-रूप कार्य केवल कल्पना न होकर भावरूपसे विद्यमान है तो इसका कर्ता भी काल्पनिक नहीं प्रत्युत ध्रुव सत्य है।

जगत्के अन्तरंग कार्य असंख्य हैं, इन कार्योंके कार्य भी असंख्य ही होंगे। प्रत्येक कार्यकी योग्यता उसके कर्ताके ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका परिचायक होता है। घटरूप निर्माण-कौशल और कार्यक्षमता देखनेसे कुम्भकाररूप कर्ताकी साधारण शक्ति और सामान्य बुद्धि-का कर्तृत्व भी समझमें आ जाता है। इसी दृष्टिसे जब जगत्रूपी कार्यका विचार किया जावे तो इसके प्रत्येक अंगमें अनन्त आश्चर्योंका भण्डार भरा हुआ नजर आता है। जिसप्रकार कार्यसृष्टिमें हम अनेक प्रकारकी विचित्रताओं-को देखकर चकित हो जाते हैं उसी प्रकार यदि कारण-सृष्टिकी ओर ध्यान दें तो हमारे आश्चर्यकी सीमा ही नहीं रहती। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, मेघ, विद्युत्, नद, नदी, पृथिवी, पर्वत, अग्नि, वायु, जल, समुद्र और अण्डज, उद्भिज, स्वेदज, जरायुज आदि अनन्त जड-जङ्गम पदार्थों और उनके आकार-प्रकार-स्वभावोंकी विचित्रताएँ देखकर उनके महान् शक्तिशाली कर्ताका अनुमान अवश्य करना पड़ता है। क्योंकि जड प्रकृति या अल्पज्ञ परिच्छिन्न जीव इस महान् राशिका कर्ता नहीं हो सकता, तब एक सच्चिदानन्द-घन सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्माको छोड़कर और कौन है जो संसारकी रचनामें समर्थ हो सके?

(रचना-चातुरी)

जब हम ज़रा-सी भी विवेक-बुद्धिको काममें लाते हैं तो आदि-सृष्टिकालमें पृथिव्यादि पाँचों मूलतत्त्व एवं पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च-तन्मात्राएँ मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, प्राणापानादि सूक्ष्म एवं आश्चर्यमय शक्तियोंसे परिपूर्ण अवयवों और इनके यथास्थान विनियोग-के लिये अनन्त प्रकारकी देहोंका निर्माण देखकर उस परमात्माकी अनन्त बुद्धि और अनन्त शक्तिका पता लगता है। दूर न जाकर यदि हम सबसे पूर्व अपनी शरीर-रचना-पर ही विचार करें तो पता लगता है कि सामान्य रज-वीर्यके संयोगसे उसने इस शरीरको पैदा किया है। नखसे लेकर शिखापर्यन्त इस शरीरमें जहाँ जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, उसे उसी स्थानपर कितनी कारीगरीसे सजाया है जो देखते ही बनता है। जैसे चलनेको पैर, आदान-प्रदानके लिये हाथ, बोलनेके लिये जिह्वा, सुननेके लिये कान, देखने-के लिये नेत्र आदि अङ्गोंका निर्माण जहाँ जैसा अपेक्षित था, देकर फिर उसकी शोभाके लिये सौन्दर्यका भी समा-वेश किया गया है। जैसे नेत्रोंकी समता, अधरोंकी ललाई, बालोंकी स्याही, भ्रूकी कुटिलाई, पलकोंकी झिलमिली झालर, नासिकाकी तिखाई, कपोलोंकी गोलाई, माथेकी ऊँचाई, छातीकी चौड़ाई आदि सुन्दरताएँ स्थल-स्थलपर ऐसी रक्खी हैं जिनके वर्णनमें कवियोंने अनेक काव्य रचकर पार नहीं पाया। यह अंगविन्यासकी सुन्दरता केवल मनुष्यहीमें है यह बात नहीं, प्रत्युत मच्छरसे लेकर हाथीपर्यन्तके जीवोंको जो-जो अङ्ग जहाँ-जहाँपर अपेक्षित थे, वहाँ-वहाँ उन्हें इस सुन्दरतासे लगाया है कि बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। इसी प्रकार वृक्षादि जड पदार्थोंका जब विचार करते हैं तो वन-उपवनों और पर्वतोंमें चित्र-विचित्र पुष्प-पत्र और रंगबिरंगे कीट-पतङ्गों-की सुन्दरताको देखकर प्रत्येक प्राणी मुग्ध हो जाता है। अनेक रंगोंके फल-फूल और कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी आदि-को देखनेसे उनकी सुन्दर, सुडौल विविध शारीरिक रचनाएँ आश्चर्यसागरमें डाल देती हैं। चींटी और मच्छर आदिके शरीरोंकी सूक्ष्म बन्दिशें और उनके आहार-विहारके

साधन, इसी प्रकार जलीय जीवों और कीटाणुओंकी सूक्ष्मता; हाथी आदि पशुओंके शरीरकी स्थूलता, सिंहादि हिंसक जीवोंके नख-दन्त आदि हिंसायोग्य साधनोंकी रचना और अहिंसक पशुओंके नख-दन्तादिकी विभिन्न रचना और उनके देहेन्द्रिय प्राणादिका यथायोग्य विन्यास जो कि आकांक्षा और अपेक्षासे युक्त देखा जाता है, कर्ताके बुद्धिमत्तापूर्ण रचना-कौशलका द्योतक है। इस रचनाकी बारीकी समझना भी जब जीवके लिये कठिन है तो निर्माणकी तो बात ही क्या कही जा सकती है? यद्यपि आजकल विज्ञानवेत्ता अपने भिन्न-भिन्न आविष्कारोंके लिये जगत्‌में प्रसिद्ध हो रहे हैं, पर वे सब-के-सब मिलकर भी एक बाल भी बनानेमें असमर्थ हैं। और जड़-प्रकृतिमें प्रतिदिन सूर्य-चन्द्रका नियमित समयपर उदयास्त, ग्रहोंकी गति, ऋतुओंका परिवर्तन, नदियोंका प्रवाह, बीजोंसे यथासमय, यथास्थान अंकुरोंका प्रसर, फलफूलोंका समयपर आना आदि नियमित एवं सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली अपने महान् शक्तिशाली सर्वज्ञ परमात्माकी रचना-चातुरीके निदर्शक हैं।

कितने ही स्वभावकारणवादी सृष्टिकी उत्पत्ति केवल स्वभावसे ही मानते हैं, उनका कथन है कि बेर और बबूलके काँटोंकी तीक्ष्णता कोई नहीं बनाता, वह स्वभावसे ही बनती है। गोबरमें उष्णतामें उत्पन्न होकर मक्खी, बिच्छू आदि कीट अपने आप पैदा हो जाते हैं; जूँ, चीलू, खटमलादि जन्तु प्रस्वेदसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, तब एक अदृष्ट और अज्ञात कर्ताकी कल्पना करना व्यर्थ है।

किन्तु यह पक्ष अत्यन्त निर्बल है, क्योंकि स्वभाव शब्दका अर्थ यदि (स्वस्य भावः स्वभावः) अपने आप अपना भाव होना माना जावे तो उसे आप ही अपना हेतु बनना होगा, ऐसा होनेसे आत्माश्रयदोष आता है और इसका कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। थोड़ी देरके लिये यदि हम ऐसा भी मान लें तो भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस पदार्थकी उत्पत्तिके लिये जिस देश, जिस काल और जिस निमित्तकी अपेक्षा रहती है, यदि वह प्राप्त न हो तो केवल स्वभावसे पदार्थकी उत्पत्ति होना असम्भव है। जैसे केसरके बीजोंका काश्मीरमें ही स्वयं पैदा होना, कृष्णसार और कस्तूरीमृगोंका सर्वत्र पैदा न होना, कोकिलका स्वर वसन्तमें ही प्रस्फुटित होना, बलाका पक्षीका नवीन मेघध्वनि सुनकर ही गर्भधारण करना आदि कार्य अपने-अपने देश, काल और निमित्तादिकोंकी अपेक्षा रखते हैं। यदि स्वभावसे ही इनका होना सत्य होता तो देशादि निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये थी। इसी प्रकार मिट्टीका घड़ा, रूईका कपड़ा, सुवर्णका कंकण, पीतलकी कटोरी, काठकी कुर्सी आदि अपने आप स्वभावसे ही बिना किसी कर्ताके, बनते रहने चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। अलावा इसके यदि आरम्भके परमाणुओंमें सृष्टि-रचनाका स्वभाव मानें तो प्रलय सिद्ध नहीं होता, यदि प्रलय स्वभाव माना जावे तो स्थिति सिद्ध नहीं होती। एक ही वस्तुमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ये विभिन्न विरोधी गुण रह नहीं सकते। इसी प्रकार संसारी प्राणियोंमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई पहिले सुखी फिर दुःखी, कोई पहिले दुःखी और फिर सुखी और अन्तमें दुःखी होते देखे जाते हैं, क्या ये सब परिवर्तन अकस्मात् बिना किसी चेतनकी प्रेरणाके स्वयं घटते हैं? ऐसा नहीं माना जा सकता। इन क्रियाओंका परिवर्तक वा नियामक जड-परमाणुओंसे भिन्न एक चेतन नियन्ता अवश्य स्वीकार करना होगा। और वह केवल एक ईश्वर ही हो सकता है, अन्य नहीं।

इसी प्रकार परमाणुकारणवादियोंका यह कहना, कि पृथिव्यादि भूतचतुष्टयके परमाणुओंके पारस्परिक संयोगसे ही संसारका निर्माण हो जाता है, किसी कर्ताकी आवश्यकता नहीं, विचार-तुलापर आरोहण नहीं करता। क्योंकि सृष्टिके आरम्भकालमें परमाणुओंके अन्दर जो क्रिया उत्पन्न होकर रचनाका आरम्भ होना चाहिये, वह चेतन-शक्तिकी प्रेरणाके बगैर नहीं हो सकती। दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्रसरेणु बनते हैं। परमाणुओंका स्वयमेव नियमबद्ध संयोग बिना चेतनकी प्रेरणाके द्वित्व-त्रित्वादि संख्यामें परिणत नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकालमें जड-परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न करना और उसके द्वारा जगत्‌का निर्माण करना चेतनरूप परमात्माकी ही इच्छासे होता है। इसी बातको दृष्टिमें रखकर श्रुति कहती है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।'

अर्थात्—इस चराचररूप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, लय परमात्माहीके द्वारा होता है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

—इत्यादि स्मृतियोंसे भी सिद्ध है कि परमात्मा ही इस जगत्के जन्म, स्थिति, लयका परमकारण है।

पूर्व-सन्दर्भमें कार्यद्वारा कारणके अनुमानसे परमात्माकी सिद्धि एवं उसका ध्रुव सत्यत्व सिद्ध किया जा चुका है। आगे अन्य हेतुओंद्वारा भी परमात्माके अस्तित्वका दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा।

किसी भी कार्यके लिये कारण-सामग्रीकी अपेक्षा होना स्वाभाविक है और कारण-सामग्रीमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, आयोजन और दैव इन पाँच पदार्थोंकी आवश्यकता रहती है। घटरूप कार्यके लिये पृथ्वी अधिष्ठान, मृत्तिका उपादान, कुलाल कर्ता, दण्डादि करण, पिण्डीकरण एवं पृथु-बुध्नोदरादि आकृतिका अनुसन्धानरूप आयोजन अपेक्षित होता है। सब सामग्री जुटनेपर जबतक कर्तारूप कुम्भकार आयोजन नहीं करता, तबतक दण्ड चक्र मृत्तिका आदिके रहते हुए भी घटरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। मृत्तिकाका पिण्डीकरण चक्रका सञ्चालन आकार-निर्माणकी आयोजनाके लिये विशेष प्रकारकी चेष्टा करता है, तभी घटरूप कार्यका निर्माण होता है। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकालमें द्व्यणुकके आरम्भक परमाणुद्वयका संयोग पैदा करनेवाला कर्म चेतनहीके प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न होता है और वह चेतन परमात्मा ही संयोजक तथा आयोजक है ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसीलिये श्रुति निर्देश करती है कि—

> सपर्यगात् ... ...
> याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
> (यजु० ४०। ८ म ईश म० ८)

अर्थात् उस स्वयम्भू परमात्माने ही सूर्य-चन्द्रादि सब ब्रह्माण्डका यथायोग्यरूपसे जहाँ जिस प्रकारकी चेष्टा या आयोजनकी अपेक्षा थी, वहाँ उसी प्रकारकी क्रियाद्वारा उस-उस पदार्थका निर्माण किया, अतएव जिसप्रकार वह इस जगत्का कर्ता सिद्ध होता है, उसी प्रकार उसका आयोजक भी वही सिद्ध होता है। इसीलिये उसे ध्रुव सत्य कहा जाता है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्रादि स्थावर-जङ्गम जगत्का निर्माण जीव और जड-प्रकृतिके सामर्थ्यसे बाहर है।

कार्य बन चुकनेपर उसका धारण करना भी आवश्यक होता है—धृतिके अभावमें कृति सुरक्षित नहीं रह सकती। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पर्वतादि जड-पिण्डोंका निर्माण करनेके अनन्तर उन सबको यथायोग्य स्थानपर टिकाये रखना आवश्यक है, अन्यथा निरवलम्ब आकाशमें टिके हुए अनन्त ग्रह-पिण्ड एक दूसरेसे परस्पर टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते। अपनी सत्ताद्वारा प्रत्येक ग्रह, उपग्रह और पृथिव्यादि लोकोंको आकाशमें उड़नेवाले पक्षीके मुखमें टिके हुए काष्ठके अनुसार निरवलम्ब आकाशमें अपने-अपने केन्द्रके अन्दर ठहराये रखना और नष्ट न होने देना इसके लिये असाधारण शक्तिसम्पन्न धारणकर्ताकी आवश्यकता है। वह केवल परमात्माको छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता। यही बात श्रुति और स्मृतिसे भी सिद्ध है—

> 'एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः॥'
> 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।'

'हे गार्गि! यह द्युलोक और पृथिवीलोक उस अक्षररूप परमात्माके शासनमें धारण किये हुए टिके हैं।' उपर्युक्त गीताके वाक्यमें भी भगवान्‌ने स्वयं संसारका धारक होना अपने श्रीमुखसे ही स्वीकार किया है।

सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंके नाम और स्वरूपका ज्ञान बिना किसी अन्य व्यक्तिके उपदेशके नहीं होता। सृष्टिके आदिकालमें व्यवहारयोग्य घट-पटादि पदार्थोंके नाम और रूपका निर्देश करनेवाला भी एक चेतन सर्वज्ञ गुरु अपेक्षित होता है। उस कालमें एक परमात्माको छोड़ अन्य कोई व्यवहारप्रदर्शक होना सिद्ध नहीं होता, अतः सृष्टि-निर्माणके अनन्तर सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थोंका व्यवहार-प्रदर्शक और नामरूपका निर्देशक उसे ही मानना पड़ेगा। यही बात भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कही है—

> स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥

अर्थात् वह परमात्मा ही संसारके समस्त गुरुओंका आदिगुरु है। उसीके द्वारा सृष्टिके आरम्भकालमें सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् व्यवहार-ज्ञानके सम्प्रदायका प्रवर्त्तक एक ईश्वर ही है। अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर ध्रुव सत्य है, वह न होता तो व्यवहारका ज्ञान सर्वथा असम्भव हो जाता, इसी कारण उसे आदि-गुरुके नामसे योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने अभिहित किया है।

समूचे लेखका सारांश यह है कि ईश्वर केवल एक कल्पनाका विषय ही नहीं, प्रत्युत ध्रुव सत्य है।

१–यदि ईश्वर न होता तो जीवात्मारूपी अंशभूत परिच्छिन्न चेतनको भी (मैं हूँ) ऐसा ज्ञान कदापि न होता।

२–यदि ईश्वर न होता तो संसाररूपी कार्यकी उत्पत्ति कभी न होती,क्योंकि कर्त्ताके विना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है। जड-प्रकृति या परमाणु साकांक्ष एवं सापेक्ष जगत्के निर्माणमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते,क्योंकि जहाँ कहीं भी कर्तृत्व रहता है, वहाँ कार्यके उपादानका प्रत्यक्ष ज्ञान एवं कार्य बनानेकी इच्छा और कृति ये तीन पदार्थ आवश्यकरूपसे रहते हैं, जो जड परमाणु या प्रकृतिमें असम्भव हैं। अचेतन पदार्थोंसे कार्यकी उत्पत्ति चेतनकी प्रेरणा बिना हो नहीं सकती। इससे सिद्ध हुआ कि समस्त स्थावर-जंगम जगत्का कर्त्ता एक अपरिच्छिन्न चेतनरूप परमेश्वर ही है और वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण इच्छामात्रसे संसारकी रचना करनेमें सर्वथा समर्थ है।

३–कोई भी कार्य आयोजनरूप कर्मके विना नहीं होता, यह नियम है। तब सर्गके आरम्भकालमें दो परमाणुओंमें संघटन या संयोगरूप क्रिया उत्पन्न होकर द्व्यणुकका आरम्भ करानेवाला कर्म चेतनरूप ईश्वरकी प्रेरणा-से ही उत्पन्न होता है और वही द्व्यणुक-संयोग आगे चलकर जगत्के रूपमें परिणत होता है। अतः यदि ईश्वररूप आयोजक न होता तो संसाररूप कार्य कभी न बनता, अतएव ईश्वर ध्रुव सत्य है।

४–यदि अनन्त ब्रह्माण्डोंको रचकर भी इसका धारक कोई सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन न होता तो उत्पन्न होकर भी यह कभीका नष्ट हो गया होता। निरवलम्ब आकाशमें लटके हुए सूर्य, चन्द्र, ग्रहोपग्रहादि पिण्डोंको यत्नपूर्वक पतनसे बचानेके लिये पतनका प्रतिबन्धक अर्थात् धारण करनेवाला एक ईश्वर ही है। जिसप्रकार आकाशमें उड़ता हुआ पक्षी अपने मुखमें काष्ठ-खण्डको धारण किये रहता है,उसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार ईश्वरकी शक्तिसे ही समूचा ब्रह्माण्ड धारण किया हुआ टिका है। यदि वह न हो तो संसारके सभी पदार्थ परस्पर टकराकर नष्ट हो जावें। अतएव समस्त विश्वराशिका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता जगदीश्वर सदा सत्यरूपसे विद्यमान है।

५–सर्गके आरम्भकालमें घट-पटादि यावत् पदार्थोंका ज्ञापक एक स्वतन्त्र चेतन यदि न हो तो तत्कालीन जीवों-को किसी भी पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता और पदार्थ-ज्ञानके अभावमें व्यवहार नहीं हो सकता। अतएव आरम्भ-कालमें परमेश्वर ही प्रयोज्य एवं प्रयोजक बनकर व्यवहारके सम्प्रदायका प्रवर्त्तक होता है। अतः वह ध्रुव सत्य है।

६–जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण भी पंगु हो जाते हैं, वहाँ शब्द ही एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा वस्तुकी यथार्थ प्रमा की जा सकती है। इसी कारण वेद-वाक्योंको आप्तवाक्यरूप शब्दप्रमाण माना जाता है, क्योंकि वेद-जन्य ज्ञान कारण-गुण-जन्य है। इसीलिये उसका प्रामाण्य है। और वेदमें पदे-पदे परमात्माके अस्तित्वका वर्णन मिलता है, यथा—

'यज्ञो वै विष्णुः'

'अग्निर्देवानामवमः विष्णुः परमः'

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥'

'अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'

'अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः'

'स ऐक्षत एकोहं बहु स्याम् प्रजायेय' इत्यादि।

अर्थात् यज्ञ विष्णुका स्वरूप है। अग्नि सब देवताओंमें प्रथम और विष्णु सबसे परम है। उसका न तो कोई कार्य है, न करण है और न कोई उसके समान ही है, न उससे अधिक वह महान् शक्तिशाली एवं अद्वितीय है। उसकी शक्ति अप्रतिम है, विविध शक्तियाँ उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। वह विना नेत्रके देखता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना पैर चलता है, बिना हाथोंके ग्रहण करता है, वही एक सबका वेद्य है पर उसका यथार्थ वेत्ता दूसरा नहीं, उसीको वेदमन्त्र एवं महात्माजन सबसे अग्र्य और महान् पुरुष कहते हैं। उसी अक्षररूप परमात्माकी शक्तिसे यह संसार धारण किया हुआ टिका है। सर्गके आरम्भकालमें उसने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। उसकी इस इच्छासे द्वित्व या त्रित्व-रूप संख्याका आरम्भ होकर दो परमाणु मिले और संसार-का आरम्भ हुआ, स्वतन्त्र एक चेतनके विना संख्या नहीं प्रकट हो सकती। संख्या सदा चेतन सापेक्ष है। मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, इस संकल्पको ही संख्याका आरम्भक

कहना चाहिये। संख्या-विशेषसे ही परमाणुसे द्व्यणुक,त्रसरेणु आदि बनते हैं जिनसे जगत्‌की रचना हुआ करती है उपर्युक्त वेदवाक्योंसे भी जगदीश्वरका त्रिकालाऽबाधित अस्तित्व और प्रभुत्व एवं सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता अकाट्यरूपेण सिद्ध है।

इसप्रकार विविध युक्ति और तर्कसहकृत प्रमाणोंके निर्मल गंगाजलसे बारम्बार धोनेपर भी जिनका हृदय ईश्वरके अस्तित्वमें निश्चयरूपसे विश्वास करनेमें असमर्थ हो, उसे कठिन पत्थर या लोहका हृदय ही समझना चाहिये। ऐसे विमुख जीवोंकी जीवनरूप पत्थरकी नौकाको वही विश्वम्भर अपनी अकारण करुणासे पार लगा सकता है, दूसरा साधन नहीं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

ओ३म् तत्सत्

ईश्वर-शरणागति और प्रार्थना

(लेखक—श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव')

नैसर्गिक नियमके अनुसार कलियुग क्रमशः घोर तमसाच्छन्न होता जा रहा है। अधिकांश स्त्री-पुरुष आजकल मोहाच्छन्न हो रहे हैं। कुरुक्षेत्रके युद्धके पूर्व अर्जुनको जिसप्रकार मोह उत्पन्न हुआ था, आज समस्त पृथ्वीकी सभी जातियाँ उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक मोहाच्छन्न हैं। प्रायः लोगोंकी विचार-धारा क्षणिक सुविधाओंकी ओर ही रहती है। जिसप्रकार अर्जुन भगवान्‌की आज्ञानुसार चलना नहीं चाहते थे तथा उनकी आज्ञाके विपरीत कुतर्क करते थे, आजके लोग भी उसी मार्गका अवलम्बन कर रहे हैं। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको भयावह परधर्मका त्याग कराकर स्वधर्म-पालनमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये युक्तिपूर्ण विचार प्रदान किया था। भगवान्‌के आशीर्वादसे जिसप्रकार अर्जुनका मोह नष्ट हो गया था और भगवान्‌के श्रीमुखकी वाणी सुनकर अन्तमें कृतार्थताको प्राप्त अर्जुनने जिसप्रकार कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

'हे अच्युत! मेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया है, मैं आपके आशीर्वादसे अपने स्वरूपकी स्मृति प्राप्त करके अब समस्त सन्देहोंसे रहित होकर आपके आदेशका पालन करनेके लिये स्थिर-निश्चय हो गया हूँ, अब आप जो कहेंगे मैं वही करूँगा।' हाय! गीताके मोह त्याग करनेके लिये दिये हुए भगवान्‌के उपदेशोंको मानकर क्या उसी-प्रकार आजके मनुष्य अपने मोहको त्यागकर कभी यह कह उठेंगे कि 'करिष्ये वचनं तव!' ऐसा शुभ अवसर कब उपस्थित होगा? मालूम होता है अभी इसमें बहुत विलम्ब है। कलियुगकी आयु चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है। इसमेंसे अभी पाँच हजार या उससे कुछ ही अधिक वर्ष बीते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि अभी कलियुग—अन्धकारका लीलाक्षेत्र है। व्यभिचार चारों ओर नग्न नृत्य कर रहा है। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने इस बातको समझ कर ही, कलियुगमें जगत्‌भरके नर-नारियोंकी क्या स्थिति होगी, उसे पहले ही कह दिया है। उन्होंने जो कुछ कह दिया था आज हम उसीको प्रत्यक्ष देख रहे हैं। देवर्षि नारदने जगत्‌के जीवोंकी भावी दुर्गति देखकर भगवान् ब्रह्माको दुःखकी कथा सुनाकर उसके प्रतिकारके लिये यह प्रार्थना की थी—

'घोर कलियुगके आ जानेपर सारे मनुष्य पुण्यहीन, दुराचारी, असत्यवादी, परनिन्दक, दूसरोंके द्रव्यकी इच्छा करनेवाले, परायी स्त्रीसे प्रेम करनेवाले, दूसरोंकी हिंसामें रत, शरीरको ही आत्मा समझनेवाले, मूर्ख, नास्तिक, पशुओंकी-सी जड-बुद्धिवाले, माता-पितासे वैर करनेवाले, स्त्रीपरायण एवं कामनाओंके दास होंगे। ब्राह्मण लोभ-रूपी पिशाचसे पीड़ित होंगे, वेदको बेचकर जीवन-निर्वाह करेंगे, धनोपार्जनके निमित्त विद्याभ्यासकर अपनी विद्याके गर्वसे पागल हो जायँगे, अपनी जातिके कर्मको छोड़ बैठेंगे और प्रायः दूसरोंकी वञ्चना किया करेंगे। क्षत्रिय

एवं वैश्य अपने-अपने धर्मका परित्याग कर देंगे और इसी प्रकार शूद्र ब्राह्मणोंका-सा आचरण करने लगेंगे। स्त्रियाँ प्रायः चरित्रभ्रष्ट, पतिका अपमान करनेवाली, निडर एवं सास-ससुरसे द्रोह करनेवाली होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन सब लोगोंकी बुद्धि मारी गयी है, इनकी परलोकमें क्या दशा होगी, यह चिन्ता मेरे चित्तको निरन्तर व्यथित करती रहती है। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे इन लोगोंका परलोक सहजहीमें सुधर जाय, क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं।'

केवल भारत ही नहीं, जगत्‌भरमें आज उपर्युक्त सभी बातें प्रायः प्रत्यक्ष हो रही हैं। लघु उपायोंसे घोर कलियुगकी दुर्गतिका उपशम किसप्रकार होगा, इस बातको भी ऋषियोंने विशेषरूपसे कह दिया है। उनके निर्धारित मार्गपर चले बिना अन्य किसी प्रकारसे भी मनुष्यका यह हाहाकार निवृत्त नहीं हो सकता।

पूर्व-पुण्योंके प्रतापसे स्वधर्म-पथपर चलनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको आज पद-पदपर कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, यह देखा जाता है। इतनेपर भी ये महानुभाव स्वधर्मका त्याग करके, पर-धर्म ग्रहण करनेकी अपेक्षा मृत्युको आलिंगन करना उत्तम समझते हैं और उसके लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं। पर जो लोग ऋषियोंके दिखलाये हुए मार्गको छोड़कर अपने कपोल-कल्पित पथपर चलते हैं उनकी क्या स्थिति है? 'आप मरे लङ्का लुटवायी' की कहावतके अनुसार ही उनकी अवस्था है। इन सब लोगोंको ईश्वरकी शरण लेनी होगी। साम, दाम, भेदके द्वारा भी जो शरणमें नहीं आते, भगवान् कृपापूर्वक उनको दण्ड देकर किसप्रकार अपने पथपर लौटाते हैं, इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

(१) शरणागतकी स्वाभाविक अवस्था—प्रार्थना

संसार-पथपर चलते-चलते जब मनुष्य विपत्ति-जालमें फँस जाता है, जब वह लाख चेष्टा करके भी अपनी, अपने परिवारकी, समाजकी और जातिकी रक्षा नहीं कर सकता, तब उसके प्राण अत्यन्त कातर हो उठते हैं। इसी कातरताके अवसरपर मनुष्यके प्राणोंमें अपने आप ही एक प्रार्थना जागृत हो उठती है और वही स्वाभाविक प्रार्थना होती है। जब प्राण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, तब मनुष्य निराश्रय होकर सहसा कह उठता है—'हाय! क्या मेरा कोई नहीं है? क्या मुझको बचानेवाला कोई नहीं है?' जिसप्रकार जलमें डूबते हुए मनुष्यके लिये एक साधारण तृण भी सहारा हो जाता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सुनता है कि उसका भी एक आधार है और वह दयाका सागर है, वह कंगालका परम आत्मीय है, कंगालोंको तो वह स्वभावसे ही ढूँढ़ा करता है और मिल जाते हैं तो उन्हें अपना लेता है, वह क्षमामय, दुखी होकर आश्रय लेनेवालोंके सारे अपराध क्षमा करता है, वह अत्यन्त प्रेममय है और सर्वशक्तिमान् है। इसप्रकार विपत्तियोंमें फँसकर जब मनुष्य यह सुनता है—कि वह सब मनुष्योंका अपनेसे भी अपना है और कृपा करके पुकार-पुकारकर मनुष्योंको यह कह रहा है कि 'अरे! हताश क्यों होने लगे? मैं ही तो तुम लोगोंका—

'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।'
(गीता ९। १८)

—हूँ, मैं ही तुम्हारी एकमात्र गति हूँ। एकमात्र प्राप्त करनेयोग्य वस्तु हूँ, मैं ही भर्त्ता यानी भरण-पोषण करने-वाला हूँ, मैं ही तुम्हारा प्रभु—हर्त्ता-कर्त्ता-विधाता हूँ; मैं ही साक्षी हूँ—शुभाशुभ कर्मोंका द्रष्टा हूँ; मैं ही तुम्हारा निवास हूँ अर्थात् तुम सब मुझमें ही निवास करते हो, मैं ही तुम्हारे भोगोंका स्थान हूँ; मैं ही तुम्हारे दुःखोंका हरने-वाला, रक्षक तथा एकमात्र सुहृद् हूँ, तुमसे कुछ भी न चाहकर तुम्हारा उपकार करता हूँ।' तब वह पुनः जागृत हो उठता है।

भगवान् फिर गीतामें कहते हैं कि—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।'
(१८। ६२)

—मैं सबके हृदयमें निवास करता हूँ, सब लोग सर्व-भावसे मेरे शरणापन्न हो जायँ। फिर (१८। ६६) में कहते हैं 'मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् एकमात्र मुझको ही आश्रय बना लो। जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है—

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'
(१२। ७)

—मैं उनका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ। इसीलिये यह कहा जाता है कि साधुसंग और सत्शास्त्रके द्वारा श्रीभगवान्‌की आश्वासन-वाणी सुनकर विपद्ग्रस्त

सांसारिक मनुष्य भी भरोसा पाकर, भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करता है । इसप्रकारका मनुष्य भी क्रमशः भगवान्‌की प्रसन्नताका अनुभवकर कुछ दूसरे ही ढगका बन जाता है ।

इसीसे कहा जाता है कि 'बचाओ, बचाओ' की प्रार्थनाके साथ शरणापन्न होना मनुष्य-हृदयकी स्वाभाविक अवस्था है । जिसप्रकार ज्ञान मनुष्यका स्वरूप ही है—वस्तुतः ज्ञान तो उसे प्राप्त ही है—इसके लिये कष्ट नहीं सहना पड़ता—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये किसी प्रकारकी तपस्या नहीं करनी पड़ती—तपस्या तो करनी पड़ती है आवरण अज्ञानको दूर करनेके लिये । इसी प्रकार शरणागतके लिये कुछ करना-धरना नहीं पड़ता—करना पड़ता है यह कि नाना प्रकारसे, विभिन्न वस्तुओंमें, विभिन्न मनुष्योंमें आसक्त होकर सबको मेरा-मेरा करके, 'ये सब मेरे ही हैं, ये सब मुझे आश्रय देंगे' इसप्रकार जो मोह हो रहा है—इस माया-मोहके आवरणको भगवान्‌से दूर हटा देना । इस आवरणके हटानेका नाम ही तपस्या है । जिस अवस्थामें पहुँचनेपर मनुष्यपर कृपा करके भगवान् उसे यह समझा देते हैं कि 'भगवान्‌के सिवा मनुष्यका आश्रय कोई नहीं है,' उस अवस्थामें मनुष्य अपने आप ही पुकार उठता है 'निराश्रयं मां जगदीश रक्ष' हे भगवन्! हे करुणा वरुणालय! मैं जान गया हूँ कि तुम्हारे सिवा मेरा जीवन-मरणका साथी और कोई नहीं है । जीवनमें भी तुम्हीं आश्रय देते हो और मरनेपर भी तुम्हें छोड़कर दूसरा कोई अपना नहीं है ।'

घोर संसारी मनुष्य भी नाना प्रकारसे धक्के खाकर अन्तमें भगवान्‌की शरण लेता है । वह आसक्तिके समुद्रमें गहरा डूबकर संसार चला रहा है, अकस्मात् एक-एक करके सारे दीपक बुझ गये—एक ही क्षणमें 'हरी-भरी फुलवाड़ी सूख गयी!' तब उसका मन निरन्तर दग्ध होकर पुकार उठता है—'हाय! किसी प्रकार भी तो शान्ति नहीं मिलती । हा! क्या जगत्‌में मेरा कोई नहीं है?' दग्ध-हृदयकी इस अवस्थामें मनुष्य भगवत्-कृपासे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करता है और उसके द्वारा कल्याणको प्राप्त होता है । इसीका नाम यथार्थ कल्याण है ।

जो लोग धक्के खाकर शरणमें आते हैं वे भी भाग्यवान् हैं । मनुष्य धक्के खाकर कुछ दिन उदासीन सा रहता है । पुनः दो दिनके बाद कुछ सुभीता मिलते ही सब कुछ भूलकर फिर पूरी तरह विषयोंमें रम जाता है । ऐसे मनुष्यको जो दो चार दिनोंके लिये वैराग्य होता है, उसे श्मशान वैराग्य किंवा मर्कट-वैराग्य कहते हैं । शीतकालके अन्तमें जिसप्रकार वृक्ष लता पत्र शून्य होते हैं, परन्तु देखनेवाले देखते हैं कि पत्रहीन वृक्ष लताके अन्दर नये पत्र पुष्प लहलहा रहे हैं, यहाँ भी ठीक वैसा ही है । ऐसे लोगोंपर भी भगवान् कृपा करते हैं । इनके भी दारुण प्रारब्ध भोग करा देनेके लिये, इनके पापके पके फोड़ेको चीरनेके लिये करुणामय इनके ऊपर भी अनुग्रह करते हैं । फिर ये लोग भी सब प्रकारसे अन्तःकरणपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करते हैं—शरणागतिके मूल सूत्रोंको पकड़कर जीवन यापन करनेकी चेष्टा करते हैं । वायुपुराणमें शरणागतिके छः अंग बतलाये हैं—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥
>
> × × × ×
>
> निक्षेपणं अकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥

शरण्य वस्तुके अनुकूल संकल्प (इच्छा) करना, उसके प्रतिकूल आचरणसे बचना, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा यह विश्वास करना, उसे अपना रक्षक समझना, उसे अपनेको धरोहरके रूपमें सौंप देना और उसे अपना सर्वस्व सौंप देनेमें सङ्कोच (कृपणता) न करना ।

यहाँतक शरणागतके विषयमें कहा गया, अब दूसरी बातें सुनिये ।

(२) ईश्वरका स्वरूप

शरण हो किसकी? ऐसे भी हतभाग्य मनुष्य हैं जो ईश्वरके अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं कर सकते । जिसके हृदयमें इसप्रकारकी दृढ़ धारणा है कि ईश्वर है ही नहीं वह किसके शरणापन्न होगा? मनुष्य यदि बिल्कुल ही पागल न हो तो वह सहज ही यह धारणा कर सकता है कि 'ईश्वर है ।' ईश्वरका अस्तित्व तो मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक अवस्था है । यह कैसे है? इसी सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें इसके बाद आलोचना की जायगी ।'

'मैं हूँ' यह बात किसीको सिखानी नहीं पड़ती । सब मनुष्य अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ ।' इसप्रकार अनुभव करनेवाला कौन है? सभी मनुष्य समझते हैं कि हम

जिसका अनुभव नहीं करते उसका अस्तित्व कम-से-कम हमारे अन्दर नहीं है। हमारे भीतर जो कुछ है उसका अनुभव करनेवाला कोई अवश्य होना चाहिये, तभी किसी विषयका अनुभव होता है जो अनुभव-कर्ताके न रहनेसे नहीं हो सकता। यह जो विशाल जगत् स्थित है, यदि इसका कोई अनुभव करनेवाला न हो तो इसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। हिमालयके अत्यन्त जनशून्य स्थानमें एक सुन्दर फूल खिला है, उसके चारों ओर घूम-घूमकर एक तितली मधुपान कर रही है। तुम और हम इस दृश्यको नहीं देखते, उसका अनुभव नहीं कर सकते। केवल कल्पना करते हैं तथापि यह विश्वास करते हैं कि तितली भी है और पुष्प भी है। किन्तु यदि इसका अनुभव करनेवाला कोई भी न हो, तो इसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। हम मनुष्योंको चाहे इसका अनुभव न हो परन्तु सर्वव्यापीको निश्चय ही इसका अनुभव है, क्योंकि अनुभव बिना किसी वस्तुका अस्तित्व कायम रहना सर्व प्रकारसे युक्तिके विरुद्ध है। यह अनुभव-कर्त्ता ही ईश्वर है। किसी वस्तुका मनुष्यके अनुभव न करनेपर भी, उसका अनुभव करनेवाला ईश्वर है, इसीलिये वह वस्तु है। जगत् है, इसलिये जगत्का अनुभव-कर्त्ता भी है। अनुभव-कर्त्ता न होता तो जगत्का अस्तित्व ही न रहता। इस युक्तिको सुनकर कच्चे नास्तिकमें शायद कुछ आस्तिकता आ जाय, किन्तु पक्का नास्तिक नास्तिकताको सम्भवतः नहीं छोड़ेगा। जागते हुएको कैसे जगाया जाय? भगवान्‌की कृपाके सिवा इन लोगोंकी नास्तिकताको दूसरा कोई नहीं मिटा सकता।

अब ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जाती है—

जो ईश्वरके स्वरूप हैं, यही नहीं, किन्तु जो इस परिदृश्यमान समष्टि और व्यष्टि जगत्के स्वरूप हैं, वे (सच्चिदानन्दघन) सदासे हैं, थे और रहेंगे। वे सदा एक ही रूपसे हैं, थे और रहेंगे। जो स्वरूप हैं वे नित्य ही स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, अनुभवस्वरूप तथा सदा ही समभावसे निरतिशय आनन्दस्वरूप हैं। 'ईश्वरका स्वरूप है—सत्, चित् और आनन्द अथवा अस्ति, भाति और प्रिय।' फिर मनुष्य उनका अनुभव क्यों नहीं करता? जैसे ज्ञान सर्वव्यापी स्वतःसिद्ध वस्तु है। परन्तु—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥'
(गीता ५। १५)

उसके अज्ञानसे आवृत होनेके कारण मनुष्य दुःख पाता है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द—अस्ति, भाति, प्रिय भी नामरूपके आवरणसे ढके होनेके कारण मनुष्य उनका अनुभव नहीं कर सकता। वह नामरूप देखता है, नामरूपसे ढके हुए स्वरूपको नहीं देख पाता। नामरूपके आवरणको हटा सकनेपर, नामरूपकी बाड़ तोड़ डालनेपर ही स्वरूपमें पहुँच जा सकता है। स्वरूपमें पहुँचना ही स्वरूप-स्थित होना है। यही सर्वदुःख-निवृत्तिरूप परमानन्दकी प्राप्ति है।

यद्यपि मनुष्य ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता, तथापि उसके सत्-स्वरूप या अस्ति-स्वरूपका अनुभव तो सभीके लिये ही स्वाभाविक है। सर्वव्यापी आत्मा ही प्रत्येक प्राणीका जीवात्मा है। मनुष्य जो निरन्तर 'मैं-मैं' करता है, यह 'मैं' ही आत्मा है। 'मैं' न देह है, न मन है और न जगत् ही है। जो नित्य कर्मके पश्चात् प्रतिदिन एकान्तमें आत्म-विचार कर सकते हैं, जो—

'प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ।'

—इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार कार्य करते हैं, वह तो सर्वत्र ही इस सत्-वस्तुका अनुभव करते हैं। जो ऐसा नहीं करते, वे भी स्वभावतः अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' यह 'मैं हूँ' का अनुभव किसीको सिखलाना नहीं पड़ता। इस स्वतःसिद्ध अनुभवको प्राप्त करके भी मनुष्य नामरूपविशिष्ट देहके, नामरूपविशिष्ट जगत्के नामरूपको हटानेके लिये साधना नहीं करता। इसीलिये वह जगत्की सब वस्तुओंमें सत् आत्माका अनुभव नहीं करता। सत् अथवा अस्तित्वके पूर्ण अनुभवके लिये नामरूपको मिथ्या समझना, नामरूपको भूल जाना ही साधन है।

परन्तु इस नामरूपको भूलकर सत्का अनुभव होनेपर भी, जो सत् है, वही चित्, ज्ञान और स्वप्रकाश अनुभूति है, इस बातका अनुभव नहीं होता। सत् और चित्का एक साथ अनुभव करनेके लिये अन्तर्जगत् अथवा मनका द्रष्टा होना होगा। जिसप्रकार सत्के अनुभवमें नाम-रूप विघ्नरूप हैं, उसी प्रकार सत् और चित्के समकालीन अनुभवमें भी सुख-दुःख-बोध विघ्न हैं। सुख-दुःख न चित्में है और न जडमें है। अज्ञानके द्वारा जड-चेतनका मिश्रण होनेके कारण ही सुख-दुःखका बोध होता है। जबतक सुख-दुःखका बोध है, तबतक ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीलिये सत् और चित्का समकालमें

अनुभव नहीं होता। जो विचार कर सकते हैं, कर्म करते हैं, 'प्रकृति—आत्माका कोई कर्म नहीं है, इसलिये अज्ञान हुए बिना प्रकृतिमें अहं अभिमान हो ही नहीं सकता।' जो लगातार बहुत दिनोंतक इस विचारका अभ्यास करते हैं, वे सुख-दुःखको अग्राह्य करके—अन्तमें सुख-दुःखका अनुभव न कर सत् और चित्का समकालमें अनुभव कर सकते हैं। परन्तु इसप्रकार सत्-चित्का अनुभव होनेपर भी ईश्वरके आनन्दस्वरूपका अनुभव नहीं होता।

आनन्द ही सब जीवोंका जीवन है। सभी जीव आनन्दके लिये लालायित हैं। जीवोंको जो विषय-भोगमें आनन्द मिलता है वह आनन्द भी ब्रह्मानन्दका ही अंश है। किन्तु ब्रह्मानन्द निरतिशय आनन्द है, अखण्ड आनन्द है। यही आनन्द सबके मूलमें रहता है। इसी आनन्दके ऊपर जगत् प्रवाहित हो रहा है। क्षुद्र आधारमेंसे प्रकट होनेके कारण आनन्द क्षुद्र हो जाता है। क्षुद्र आनन्दके भोगसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। मनुष्य तो आनन्द-समुद्रमें डूबा रहना चाहता है। जैसे हिमालय-गिरि-कन्दर-विदारिणी गङ्गाजीके वक्षःस्थलपर स्थित बार-बार उत्पन्न, नष्ट और प्रवाहित होनेवाले क्षुद्र बुद्बुदेकी गति महासमुद्रकी ओर होती है। वह जबतक अपनेको महासमुद्रमें ले जाकर खो नहीं देता, तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। इसी प्रकार जीवबिन्दु भी जबतक परमात्मा-रूप महासमुद्रमें अपनेको घुला-मिलाकर खो नहीं देता, तबतक वह किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा सकता। क्षुद्रमें मनुष्यको आनन्द नहीं मिलता। श्रुति भी कहती है—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'

यह भूमा ही जीवका विश्रान्ति-स्थान है।

सत्-चित्का अनुभव होनेपर भी इस भूमानन्दका अनुभव जीवको नहीं होता, इसके लिये साधन करना पड़ता है। भगवान् पतञ्जलिने मनकी जिन पाँच अवस्थाओंका उल्लेख किया है, उनमें क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त-अवस्थाओंमें आनन्दमें डूबा नहीं जा सकता। इस आनन्दकी अनुभूति एकाग्र-समाधिमें होती है; परन्तु जबतक निरोध-अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक सर्वदा आनन्दमें निमग्न होकर नहीं रहा जा सकता।

पहले एकाग्र होना होगा। एकको अग्र रखनेके लिये किसी अवलम्बनकी आवश्यकता है।

'भक्तचित्तानुसारेण जायते भगवानजः।'

अर्थात् भगवान् अजन्मा होते हुए भी भक्तकी इच्छानुसार जन्म लेते हैं। ईश्वर जीवोंके ऊपर करुणा करके मूर्त्ति धारण करते हैं—जिससे कि जीव अपने मनको उनमें एकाग्र कर सके। भगवान् भक्तके लिये, मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ 'सम्भवामि आत्ममायया' ऐसा कहते हैं।

अवतार-सम्बन्धी दूसरी युक्तियाँ अवतारवादके प्रसंगमें दिखलायी जायँगी। मनुष्य पहले मनको ईश्वरमें एकाग्र करके फिर जब उसीमें डुबा दे सकता है, तभी वह ईश्वरके स्वरूपका पूर्णरूपसे अनुभव कर सकता है। नाम-रूपको दूर करके जो कुछ देखता है उससे सत्का अनुभव होता है; सुख-दुःखको हटाकर मनके व्यापारोंपर ध्यान दे सकनेपर सत् तथा चित्का एक साथ अनुभव हो जाता है और एकाग्र एवं निरोधके द्वारा मनको ईश्वरमें लय कर सकनेपर क्रमानुसार सत्, चित् और आनन्दका एक साथ अनुभव होता है, जिससे निरतिशय आनन्दमें स्थिति प्राप्त होती है। यही संसारसे मुक्ति है, इसीको सर्व दुःखोंको आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दमें नित्य-स्थिति कहते हैं।

शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यह बात मिलती है कि 'जो सदा-सर्वदा भगवत्-चिन्तनमें लगे रहते हैं, वे ही विषय-मोहसे उत्तीर्ण हो सकते हैं।' परन्तु ईश्वरके विषयमें शास्त्र जो कुछ कहते हैं उसे शास्त्र-मुख तथा गुरु-मुखसे सुने बिना इस बातको मनुष्य नहीं जान सकता कि 'ईश्वर-चिन्तनमें क्या-क्या करना चाहिये?'

जो ईश्वर हैं, वही उसी कालमें निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, आत्मा एवं अवतार भी हैं। इनमेंसे एकको भी छोड़ देनेपर ईश्वरचिन्तन अन्धेके हाथी देखनेके समान एक-देश-दर्शनमें पर्यवसित हो जायगा। ईश्वरका चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिये कि जब महाप्रलयमें आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी प्रभृति कुछ भी नहीं रहते, तो ईश्वर कहाँ रहते हैं? फिर सृष्टिके आरम्भमें जब वह विश्वरूप धारण करते हैं तब वह समष्टि और व्यष्टिमें किसप्रकार स्थित रहते हैं? महाप्रलयमें ईश्वर अपने भावमें रहते हैं—पूर्ण-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म रहते हैं, जिस स्वरूपका कभी त्याग नहीं करते और उस समय—

'यत्र वेदा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम्।
न यत्र वाक् प्रभवति।'



भगवान्—श्रीरामरूपमें

—वेद भी उनको व्यक्त नहीं कर सकते। मन उनका चिन्तन करनेमें कुण्ठित होकर लौट आता है। मन जिनको नहीं पा सकता, फिर भला वाणी तो उनको कैसे व्यक्त कर सकती है? वे निर्गुण ब्रह्म हैं। किन्तु निर्गुण ब्रह्म जब अपनी मायाको अवलम्बन करके सगुण होते हैं तब वे जगदाकार-धारी वा जगदाकार-धारिणी होते हैं, यही सगुण विश्वरूप होते हैं। समष्टि भावमें जो विश्वरूप है, व्यष्टि भावसे वही प्रत्येक जीवमें, प्रत्येक वस्तुमें आत्मा है।

इन निर्गुण, सगुण और आत्मासे भी मनुष्यका काम नहीं चलता, इसीलिये वे कहते हैं—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥'

(गीता ४। ७। ८)

इसीलिये शास्त्र यह बतलाते हैं, जो ईश्वर हैं वही एक ही कालमें निर्गुण, सगुण, आत्मा एवं अवतार हैं। कोई ऐसा शास्त्र नहीं मिलता, जिसमें इन चारोंमेंसे किसी एकका अभाव हो। श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके सम्बन्धमें जो कहा गया है, वही अन्य सब अवतारोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। भागवतमें जैसे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' कहा गया है वैसे ही वेदमें 'रामस्तु भगवान् स्वयं' कहा गया है। श्रीचण्डीमें कहा गया है—

'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया काममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥'

—इत्यादि।

इस जगत्में केवल मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई नहीं है। रे दुष्ट! देख, ये मेरी विभूतियाँ मेरे ही अन्दर समा रही हैं।

श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपके बारेमें कहा गया है कि—

अद्वितीयश्चिदात्मैकः परमात्मा सनातनः।
यस्तु जानाति रामस्य स्वरूपं तत्त्वतो जनः॥
तत्न स्पृशति दुःखादि किमुतानन्दमद्वयम्॥

वे (भगवान् श्रीराम) एक अद्वितीय, चिदात्मा अर्थात् विज्ञानघन सनातन परमात्मा हैं। जो मनुष्य रामके स्वरूपको तत्त्वसे जान लेता है, उसे दुःख छू भी नहीं सकते हैं, क्योंकि श्रीराम तो केवल आनन्दस्वरूप हैं।

श्रीराम वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म हैं। इस सम्बन्धमें और भी कहा गया है। जगत्-जननी सीतादेवी श्रीहनुमान्‌जीको उपदेश करती हैं—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम्।
सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम्॥

श्रीरामको सच्चिदानन्दविग्रह, सारी उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियातीत, आनन्दमूर्ति, शुद्ध, शान्त, विकारशून्य, निरञ्जन अर्थात् निर्लेप, सर्वव्यापी, स्वतः-प्रकाश, कल्मषहीन (अर्थात् दुःखोंसे रहित) आत्मस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म ही समझो।

निर्गुण होकर भी श्रीराम सगुण हैं, इस विषयमें कहा है—

'रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणानुगतो हि तथा विभाति॥'

× × × × ×

रामः परात्मा पुरुषः पुराणो
नित्योदितो नित्यसुखो निरीहः।
तथापि माया गुणसङ्गतोऽसौ
सुखीव दुःखीव विभाव्यते बुधैः॥

श्रीराम न तो कहीं जाते हैं, न कहीं ठहरते हैं, न किसीके लिये शोक करते हैं, न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करते हैं, न किसीका परित्याग करते हैं, न कोई कर्म करते हैं, वे तो अचल आनन्दमूर्ति एवं परिणामहीन हैं, अर्थात् उनमें परिवर्तन नहीं होता, केवल मायाके गुणोंके सम्बन्धसे उनके अन्दर ये बातें होती हुई-सी प्रतीत होती हैं। श्रीराम परमात्मा, पुराणपुरुषोत्तम, नित्य उदयवाले, नित्य सुखसे सम्पन्न एवं निरीह अर्थात् चेष्टासे रहित हैं, किन्तु फिर भी मायाके गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण उन्हें बुद्धिमान् लोग सुखी अथवा दुखी समझ लेते हैं।

श्रीराम ही सब जीवोंके आत्मा हैं—

'सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः ॥

× × ×

ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ।
तस्मात् कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः ॥

समस्त भूत-प्राणियोंके अन्दर मैं आत्मरूपसे स्थित हूँ, इसलिये मुझ शुद्ध चैतन्यको जीवरूपसे स्थित देखकर कोई भी जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि न करे।

अवतारके सम्बन्धमें—

त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थे मम सम्भवः ।

त्रिलोकीका कार्य करनेके लिये मैं अवतार लेता हूँ।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी उक्ति गीता, भागवत तथा अन्य शास्त्रोंमें है। सभी अवतारोंके सम्बन्धमें यही कहा है कि अवतार एक ही कालमें आत्मा निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म हैं। अब अवतारवादके सम्बन्धमें कुछ कहकर निबन्धका उपसंहार किया जाता है।

३—अवतार-कथा

बड़े भाग्यसे मनुष्य विश्वासी होता है। मनुष्य जो कुछ विश्वास करता है, जब उसका प्रत्यक्ष करता है अथवा अपने भीतर उसका अनुभव करके आनन्द पाता है, तब वह कृतकृत्य हो जाता है। विश्वास नष्ट करनेके लिये कलि महाराजका सबसे बड़ा शस्त्र है संशय! संशय उत्पन्न करके मनुष्यको चौरासी लाख बार नाना योनियोंमें भटकानेसे ही कलिको आनन्द मिलता है। ठीक ही है। साधु-हृदय दूसरोंको आनन्द देकर आनन्दका अनुभव करते हैं और असाधु दूसरोंको दुःख देकर अपनेको सुखी समझते हैं।

श्रीभगवान्‌के अवतार एक ही कालमें आत्मा सगुण ब्रह्म और निर्गुणब्रह्म है, कलियुगके अतिरिक्त अन्य युगोंमें इस सम्बन्धमें मनुष्यको किञ्चित् भी संशय नहीं था। परन्तु आज इस कलियुगकी स्थिति कुछ और ही है। ईश्वरके सम्बन्धमें स्कूल, कालेजके छात्रोंके सामने चर्चा चलाकर देखिये, आप देखेंगे कि अधिकांश छात्रोंके मनमें सैकड़ों-हजारों सन्देह भरे हैं, आज संशयग्रस्त मनुष्योंसे जगत् भरा जा रहा है। वेदोंको क्यों मानें, शास्त्र क्यों मानें, ईश्वरको क्यों मानें, जातिभेद क्यों मानें, ऋषियोंको भ्रान्त क्यों मानें, आचार-विचारको क्यों मानें? इस प्रकार 'क्यों' के रूपमें सन्देहका ताँता लग रहा है, इन बातोंमें आज अधिकांश मनुष्य संशययुक्त हैं। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' 'संशयात्मा विनश्यति' आदि सिद्धान्तोंको मानना तो आजके लोगोंकी दृष्टिमें कुसंस्कार है। इस मनुष्योंके इस संशयकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान्‌के ही शरणापन्न होते हैं। यहाँ तो, अवतारको मानना मानव-हृदयका स्वाभाविक धर्म है। इसी विषयमें कुछ कहकर ही हमें चुप होना है।

मनुष्यके जिसप्रकार बुद्धि है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके हृदय भी है। बुद्धिका धर्म विचार है और हृदयका प्रेम, स्नेह, भजन, पूजन। ईश्वरकी विभूतिके चिन्तनसे बुद्धि तृप्त हो सकती है। किन्तु हृदयकी तृप्ति केवल ऐश्वर्यसे नहीं होती, हृदय माधुर्यको पाये बिना किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा सकता। हृदय असीमको ससीमरूपमें पाये बिना कभी चैन नहीं ले सकता। हृदयको निराकार सीमाशून्य वस्तुद्वारा सन्तोष नहीं कराया जा सकता। हृदय एक ऐसे पुरुषको चाहता है जो—'शिरसि पदनखावधिसर्वसौन्दर्यसारम्' तथा 'सर्वाङ्गे सुमनोहरम्' अर्थात् जो सिरसे लेकर चरणोंके नखपर्यन्त समस्त सौन्दर्यका सार है, तथा जिसके समस्त अंग चित्तको हरनेवाले हैं। ऐसे पुरुषोत्तमको आँखसे देखना, उसकी मधुर वाणी कानोंसे सुनना, उसकी प्रेम-लीलाओंको प्रत्यक्ष करना, उसकी लीला-कथाओंका बारम्बार पठन-पाठन करना, इन सब कार्योंके हुए बिना हृदयको शान्ति नहीं मिल सकती। मुखसे निराकार निरवयव कहनेपर भी प्राण कहते हैं—'प्यारे! तुम्हारे लिये मैं बड़े प्रेमसे यह फूलोंका गजरा लाया हूँ, तुम इसे गलेमें पहन लो न। जरा ठहरो, मैं तुम्हें प्रणाम करना चाहता हूँ! एक बार अपने चरण-कमलोंमें मेरे इस मस्तकको लुट तो जाने दो। मेरे हाथ तुम्हारी चरण-सेवा करना चाहते हैं। मेरे कर्ण तुम्हारी कथा सुननेके लिये अत्यन्त ही व्याकुल हो रहे हैं। तुम कब मुझे अपना दास या दासी मानकर सेवाका अधिकार सौंपोगे? मैं तुमको क्या-क्या देना चाहता हूँ और कितने दिनोंसे मैं मन-ही-मन सोचता हूँ। 'प्यारे! तुम्हें कौन-सा धन दूँ, तुम्हें मैं जो धन दिया चाहता हूँ, वह धन तो तुम्हीं हो, तुम्हारे हृदय-स्पर्शके लिये मेरा हृदय रो रहा है और ये प्राण तुम्हारी प्रीतिमें छटपटा रहे हैं।'

ये सभी हृदयके धर्म हैं। हृदयकी ताप बुझानेके लिये तुम्हारे आकाशवत् सीमा-शून्य रूपसे काम नहीं चलता। मेरी सेवाकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये जिससे मैं तुम्हें देख सकूँ, तुम्हारी मधुर वाणी सुन सकूँ, तुम्हारे श्रीचरणकमलकी सेवा कर सकूँ, ऐसे ही रूपमें तुम्हें मुझको दर्शन देने पड़ेंगे। इसीलिये भगवान् भक्तोंके हृदयको शीतल करनेको मूर्ति धारण करते हैं। पहले लिखा जा चुका है, शास्त्र भी कहते हैं—'भक्तचित्तानुसारेण जायते भगवानजः' इसीलिये कहा जाता है कि मनुष्यके अन्दर भगवान्ने एक ऐसी चीज़ दे दी है जिसकी तृप्तिके लिये उनको अवतार लेकर आना पड़ता है। 'अहा! प्यारे! इच्छा होती है, तुम्हें माँ कहकर पुकारूँ, तुम्हें पिता कहूँ, तुम्हें स्वामी कहकर सम्बोधन करूँ और तुम्हें सखा बनाकर तुम्हारे साथ खेलूँ। तभी तो मैं यह कहता हूँ—

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

इसी आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये भगवान् अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण करते हैं।

मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेपर जिसप्रकार अवतार-ग्रहण स्वाभाविक है, उसी प्रकार ईश्वरकी दृष्टिसे भी भगवान्का मूर्ति ग्रहण करना नैसर्गिक है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; जो समस्त शक्तियोंका केन्द्र है, उसमें मूर्ति धारण करनेकी शक्तिका ही अभाव क्यों होने लगा? उसके स्वभावकी भी आलोचना करनेपर पता लगता है कि वह सर्वशक्तिमान् होनेके साथ ही अत्यन्त प्रेममय भी है। यदि मनुष्यके प्रेमकी गति तीव्रभावसे भगवान्की ओर हो जाय, यदि भगवान्के लिये मनुष्यके प्राण सर्वदा हाहाकार करने लगें, तो फिर वह अनन्त प्रेमके आधार प्रभु भक्तोंकी आकांक्षाको पूर्ण किये बिना कैसे रह सकते हैं? वह तो भक्तोंके निकटसे भी निकट आत्मीय हैं। जो निर्गुणसे सगुणमें आकर जगदाकार बन जाते हैं, उन्हें अपने विश्वरूपको मनुष्यकी ध्यान-धारणाके लिये नराकार बनानेमें कष्ट क्यों जान पड़ेगा? अब लेख न बढ़ाकर ज्ञानी होनेपर भी परम भक्त प्रातःस्मरणीय महापुरुष महात्मा श्रीतुलसीदासजीके सिद्धान्तका उल्लेख करके इस प्रसङ्गको समाप्त करता हूँ—

'जानि सकहु तो जानहू, निर्गुण-सगुण-स्वरूप।
मम हिय-पंकज-भृंग इव, बसहिं राम नर-भूप॥'

जिनमें जाननेकी शक्ति है, वे तुम्हारे निर्गुण, सगुण-स्वरूपको जानें। मैं तो प्रभु! अत्यन्त ही दीन-हीन हूँ, नितान्त ही कंगाल हूँ। दयामय! मुझे बड़ी साध है, मेरे हृदय-कमल,अष्टदल कमलपर निराकार राम भृंगरूपमें, नरभूपरूपमें स्थित होकर इस हृदयपद्मके मधुका पान करें। मैं इसीको सर्वापेक्षा श्रेष्ठ सुख समझता हूँ। भ्रमर जो कमलके मधुका पान करता है, उसमें भ्रमरकी अपेक्षा कमलको ही अधिक सुख मिलता है। मधुपान करनेवालेकी अपेक्षा मधु-दान करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। वही निरतिशय आनन्द है। तुम्हें सुख मिलता है यह देखकर मुझे जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख तुम्हारे लिये ही है—तुम्हारा ही है।

'आत्मसुख इच्छा जाहा तारे बलि काम।
कृष्णसुख इच्छा तार धरे प्रेम नाम॥'

४—अन्तिम बात—नाम-महिमा

गुरुके द्वारा प्राप्त नित्यकर्म, स्वाध्याय आदि करनेके लिये तो यथासाध्य चेष्टा होनी ही चाहिये। किन्तु यदि मनमें कभी ऐसा विचार हो कि शास्त्रानुसार प्रेमके साथ कर्मयोगका साधन मैं न कर सका, भक्तियोगका भी शास्त्रानुसार आचरण मुझसे नहीं हुआ, ज्ञानयोगकी तो बात ही क्या है? ऐसी अवस्थामें साधकको क्या करना चाहिये और आपामर सर्वसाधारण जनता क्या करे? इसका उत्तर यह है कि वे सब मुख्यरूपसे नामका अवलम्बन करें और सर्वदा भगवन्नामको ही अपना विश्राम-स्थान बनावें।

कलियुगमें भगवन्नामका आश्रय ही निरुपद्रव साधना है। कबीरदासकी इस उक्तिको कण्ठहारकी मध्यमणिरूपसे हृदयपर धारण करना चाहिये—'सोवत अँचवत राम' सबको 'अपना राम' समझकर गोस्वामी तुलसीदासकी भाँति सर्वदा सब वस्तुओंको देखकर ही कहना चाहिये—

'सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥'

अथवा गीताकी शिक्षाके अनुसार 'वासुदेवः सर्वमिति' का अभ्यास करना चाहिये। जो कुछ दीख पड़े, सुन पड़े,

जो मनमें उठे, उसीको भगवान् समझकर 'मां नमस्कुरु' का अभ्यास करना। यह बड़ा ही सहज साधन है।

शौकियाना अभ्याससे काम नहीं चलेगा। सर्वदा प्रत्येक श्वासके साथ नामका जप करना पड़ेगा, श्वास ऊपरको उठता है, उसकी ओर लक्ष्य करके पहले एक बार, दो बार जितना हो सके नाम-जप करे, इसी प्रकार श्वासके गिरते समय एक-दो बार अभ्यास करे। पश्चात् इस संख्याको बढ़ाकर श्वासके उठते समय छः बार और गिरते समय छः बार करे। यही पामर, चाण्डाल सबके लिये कलिसे सुखपूर्वक तरनेका उपाय है। इसीसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी, भगवान् वामदेवका निम्नलिखित आश्वासन सुनकर हताश-भावको तिलाञ्जलि दे, नामपर प्रबल विश्वास करना चाहिये।

'राम रामेति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन॥'

जो मनुष्य इस संसारमें 'राम-राम' जप करते हैं, उन्हें मृत्यु आदिका भय कदापि नहीं होता।

इस घोर कलियुगमें जो लोग नित्य राम-नामका जप करते हैं, उनको मृत्युभय आदि कोई डर कदापि नहीं हो सकता। रामायणमें राम-नामके सम्बन्धमें जो कहा गया है कि—

'रामनाम्नैव मुक्तिः स्यात् कलौ नान्येन केनचित्।'

कलियुगमें केवल राम-नामसे ही मुक्ति होती है।

इसी प्रकार गीता-भागवतादि ग्रन्थोंमें भी, श्रीकृष्ण-नामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है। इसी प्रकार शिव तथा दुर्गा-कालीके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जिसको गुरुने जो नाम-मन्त्र दिया है, वह उसीको जपे। उसीसे उसका काम बन जायगा। यह ध्यान रहे कि, नाम अनेक हैं किन्तु नामी एक ही है। इस नामीकी अपेक्षा कलियुगमें नामकी महिमा सौ-गुनी अधिक है, इस सम्बन्धमें भृगुदेव कहते हैं—

'नामैव तव गोविन्द कलौ त्वत्तः शताधिकम्।
ददात्युच्चारणान्मुक्तिं विना चाष्टाङ्गयोगतः॥'

हे गोविन्द! इस कलियुगमें तुम्हारी अपेक्षा तुम्हारा नाम सौ-गुणा बड़ा है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इस अष्टांगयोगके विना ही नाम-जप मुक्ति प्रदान करता है। सभी नामोंके सम्बन्धमें यही एक बात है। आदि-पुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुनको अपने नामके सम्बन्धमें कहते हैं—

जीवके लिये मेरा नाम ही शरण है, नाम ही त्रिलोकीका गुरु एवं मूल है, नामसे बढ़कर कोई पावन करनेवाली वस्तु नहीं है। नामके समान न तो ध्यान है, न जप है, न त्याग है और न नामके समान कोई गति है। नाम ही जीवका जीवन अर्थात् अवलम्बन है, नाम ही बड़ी भारी सम्पत्ति है, नाम ही संसारमें सत्य वस्तु है और नाम ही प्रिय वस्तु है। जो लोग श्रद्धासे अथवा विनोदसे परम-मंगल नामका गान करते हैं उनके मध्यमें वह नामरूप परमतत्त्व सदा निवास करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस किसी प्रकारसे केवल नामका उच्चारण करनेवाले लोग विना ही प्रयासके आदरके साथ परम धामको प्राप्त होते हैं।

श्रीअर्जुन नाम-प्रताप श्रवण करके उच्छ्वसित हृदयसे पुकार उठते हैं—

भवत्येव भवत्येव भवत्येव महामते।
सर्वपापपरित्यक्ताः स्मरन्ति नाम बान्धवाः॥
नमोऽस्तु नामरूपाय नमोऽस्तु नामजल्पिने।
नमोऽस्तु नामशुद्धाय नमो नाममयाय च॥

मेरे मालिक!

यह सच है, तुम सुनते हो दीनों की करुण गुहार।
पर मैं देव! सम्हाल सकूँगा कैसे प्यार-दुलार॥
एक मधुर झाँकीको मेरे प्राण तरसते रहते।
सदा रहूँगा पर कैसे जब होंगी आँखें चार॥
आवेंगे मेरे मालिक, स्वागत कैसे कर पाऊँगा।
कम्पित उर लेकर मैं कैसे उनके सम्मुख जाऊँगा॥१॥

सुनता हूँ, तुम दीनजनोंके आँसूमें रहते हो।
दीख न पड़ते पर जब उनके साथ नाथ बहते हो॥
कहीं निकल मत जाओ तुम अनजाने, मैं डरता हूँ।
इसीलिये तो बरजोरी मैं रुदन नहीं करता हूँ॥
तुम जब आओगे, मृदु चरणोंपर तब इन्हें गिराऊँगा।
आँखोंकी 'गंगा यमुना' को सुखसे तभी बहाऊँगा॥२॥

—सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' बी० ए०

ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक—'सत्य')

सत्यके विना संसारका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ईश्वर सत्यस्वरूप हैं; इसी कारण संसारमें सत्यकी महत्ता है। अतएव सत्यके माननेवालेको ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये। संसारके अधिकांश कार्योंमें दूसरोंसे जिज्ञासा करनी पड़ती है। जैसे मनुष्य किसी स्थान, व्यक्ति, मन्दिर, जलाशय आदिकी जिज्ञासा दूसरे मनुष्यसे करता है। विद्या, कला-कौशल आदिकी शिक्षामें मनुष्यको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होती ही है। पुस्तकोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी दूसरे मनुष्यके द्वारा ही पुस्तकबद्ध (लिखा हुआ) होता है। इसप्रकार देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सहायताके ऊपर अत्यन्त अवलम्बित होता है। और वे सहायक मनुष्य जो मार्गप्रदर्शक, शिक्षक अथवा लेखक होते हैं, अपनी मतिके अनुसार सत्यका ही व्यवहार करते हैं, और उनके उस सत्य व्यवहारपर विश्वास करके ही संसारका कार्य चलता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि संसारका सञ्चालन सत्यके द्वारा ही होता है।

इस सत्यका मूल आधार ईश्वर है। यदि सत्यका अस्तित्व न रहे तो जिज्ञासा करनेपर किसीको या तो कुछ उत्तर ही न मिलेगा या यदि मिलेगा भी तो अन्यथा। जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्यका अभीष्ट सिद्ध न होगा और परस्परमें अविश्वास बढ़ने लगेगा, (जैसा कि नास्तिकवादसे होना सम्भव है) अविश्वासके बढ़नेसे द्वेष बढ़ेगा और तब संसारमें बड़ी अशान्ति मच जायगी। अतः सत्यका अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है और सत्य ही ईश्वर है।

ईश्वरका दूसरा गुण है त्याग। ईश्वरके त्याग (यज्ञ) से ही यह विश्व बना है और सञ्चालित हो रहा है। अर्थात् असीम ईश्वर अपनेको अपनी मायासे सीमाबद्ध करके स्वयं संसाररूप हो अपनी शक्तिसे इसको सञ्चालित कर रहा है। अतः संसारमें मनुष्यके लिये त्याग करना प्रधान धर्म है। व्यवहारमें धर्म और नीतिका बर्ताव किया जाता है, इनके विना संसारमें व्यवहार चल ही नहीं सकता है। यह धर्म और नीति त्यागके ही रूपान्तर हैं, अतः सिद्ध हुआ कि त्यागका अस्तित्व आवश्यक है। उसी प्रकार त्यागगुणसम्पन्न ईश्वरको मानना परमावश्यक है। यदि ईश्वरको न माना जायगा तो मनुष्य निस्सन्देह पशुवत् हो जायगा, क्योंकि पशुओंमें ईश्वरके ज्ञानका अभाव होता है। परिणाम यह होगा कि फिर मनुष्य निपट स्वार्थी होकर पशुके समान आचरण करने लगेगा। पशुवत् बलवान् होकर वह अपने सुखके लिये निर्बलोंका नाश करेगा, तथा उसकी सम्पत्ति हरणकर उसे भोगेगा। जो उस बलवान् मनुष्यसे भी अधिक बलवान् होगा वह उसका नाश करेगा। इसप्रकार यह त्याग-जगत् पशु-जगत् बन जायगा।

सबके परमपिता अथवा परमकारण ईश्वरको मानकर इसी नातेसे मनुष्य आपसमें भ्रातृभावका सम्बन्ध रखते हैं तथा उसके अनुसार एक दूसरेकी सहायता करते हैं। ऐसा न हो तो फिर यह संसार ही न चले। ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास न होनेपर एक मनुष्य दूसरेकी किस ज्ञान और सिद्धान्तके बलपर सहायता करेगा? सहायता तो दूर रही वह अपनी पुष्टिके लिये दूसरेकी हानिकी चेष्टामें लगा रहेगा।

फिर नास्तिकताका प्रचार होनेसे ईश्वर और उसके न्यायमें मनुष्यका विश्वास न रहेगा और तब पाप-पुण्यकी भावना भी संसारसे उठ जायगी। परिणाम यह होगा कि चोरी, डकैती, परस्त्रीगमन, हत्या, गृहदाह, मादकता आदि दुष्कर्मोंकी अधिकाधिक वृद्धि होती जायगी, क्योंकि इनके द्वारा तात्कालिक लाभकी आशा होती है। फिर तो कोई दूसरेकी हानिकी कुछ परवा ही नहीं करेगा, जिससे पाप-कर्मोंमें कोई भी रुकावट न रह जायगी। सब-के-सब मनुष्य येन-केन-प्रकारेण अपने ही जीवनके सुखको बढ़ानेके उद्योगमें लगेंगे। और तब यह जगत् पशु-जगत्से भी अधिक हीनतर अत्याचारमयी अवस्थाको प्राप्त हो जायगा।

नास्तिकवादके प्रचारसे भविष्यत्-जीवनमें विश्वास न रहनेके कारण लोग मृत्युसे बहुत ही डरेंगे और उससे बचनेके लिये अनेक अत्याचार करेंगे। तथापि जब मरनेका समय आवेगा तो वे बहुत ही घबड़ायेंगे, जीवनभर पापमें रत रहनेके कारण अन्तकालमें उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होगी, अतः बड़ी ही कठिनाई और दुःखसे उनका प्राणान्त होगा।

आजकल भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जीवनमें अधिक पाप करता है, मरनेके समय उसे महाकष्ट होता है और व्यथासे व्याकुल होनेके कारण उसका ऊर्ध्व श्वास बहुत अधिक समयतक चलता रहता है एवं माँगनेपर भी उसकी मृत्यु जल्द नहीं होती। इसप्रकारका कष्ट संसारमें प्रबल वासना होनेके कारण ही होता है और नास्तिकोंके लिये तो यह संसार ही उसका सर्वस्व होता है।

पशु-जगत्‌की सृष्टि प्रकृतिके अनुसार हो सकती है क्योंकि पशु प्रकृतिका अनुगमन करते हैं, परन्तु मनुष्यके लिये यह बात नहीं। यद्यपि मनुष्यका शरीर अन्नसे पलता है तथापि वह केवल फलाहार या पयाहारसे शरीरको सुरक्षित रख सकता है और रखता भी है। यही क्यों, मनुष्य केवल वायुके आहारसे जीवित रह सकता है। मैंने एक ऐसे व्यक्तिको देखा है जो महीनेमें केवल एक बार खाता है। मनुष्य इस जगत्‌का अन्तिम फल है।

जहाँ देखा जाता है वहाँ वस्त्र, अन्न, गृह, बाग-बगीचे, पथ, सवारी, जलाशय, शस्त्र, आभूषण, पात्र, पुस्तक आदि समस्त वस्तुएँ किसी-न-किसीके सङ्कल्प, तथा उस सङ्कल्पके अनुसार अध्यवसायसे बनती हैं। इनमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं जो बिना सङ्कल्प या अध्यवसायके स्वयमेव बन जाय। ऐसी अवस्थामें यह कब सम्भव हो सकता है कि ऐसा वृहत् और विचित्र संसार बिना किसी सङ्कल्प-कर्ता और अध्यवसायीके बन गया हो?

दिव्य घटनाएँ

इसके अतिरिक्त साधकके जीवनकी अनेक दिव्य घटनाएँ ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं। अच्छे साधक पुरुष तो अपने जीवनकी अलौकिक दिव्य घटनाको प्रकाशित नहीं करते क्योंकि इससे अहङ्कार और अभिमानकी अभिवृद्धि होती है। तथा इन दिव्य अनुभवोंके प्रकाशित करनेसे इनका होना भी बन्द हो जाता है। इसीलिये दिव्य अनुभवोंका कहना और सुनना दोनों अविहित माना जाता है। संसारमें द्रव्य-प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है, परन्तु यह कितनोंका अनुभव है कि अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर जब द्रव्यकी नितान्त कमी होती है और उसकी प्राप्तिका कोई उपाय नहीं रह जाता तो अकस्मात् उस अभावकी पूर्ति हो जाती है जो भगवान्‌की कृपाके बिना असम्भव है।

इसके अतिरिक्त संसारमें ऐसे पुरुष भी हैं जिनको भगवान्‌के अवतार तथा अदृश्य महात्माओंके केवल दर्शन ही नहीं होते बल्कि जो उनसे साक्षात् बातें भी करते हैं। परन्तु यह बहुत साधारण अवस्था है और इसमें आपत्ति भी हो सकती है। ऐसे महात्माओंका भी अभाव नहीं है जो नित्य श्रीभगवान् और महर्षियोंका दर्शन ही नहीं करते बल्कि उनके दिव्य रसमय आनन्द और शान्तिमय तेजपुञ्ज-का अनुभव भी करते हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषयमें शास्त्र 'मूकास्वादनवत्' कहकर चुप हो गये हैं।

ईश्वर सर्वव्यापक है

[शिखरिणी]

महीमें, ज्वालामें, भुवनभरमें, व्योमतलमें।
प्रभामें, आभामें, निबिड़ तममें, कल्प पलमें॥
महोंमें तारोंमें, पवन, वनमें, फूल, फलमें।
वही सर्वव्यापी, अचल, जलमें और थलमें॥ १॥

सूर्यमें समीरण, सुगन्ध, सरसीरुहमें, कानन, कुसुममें है, कीर्तिमें, कलङ्कमें।
तीनों लोक-काल-वर्ग और अपवर्गमें भी, निखिल निसर्गमें, परागमें है, पङ्कमें॥
देखो मेघमाला, महाद्वीप, महासागरमें, नभ, मेदिनीमें, महाचलमें, मयङ्कमें।
सारमें, असारमें, चराचर सुरासुरमें, सर्वव्याप्त ईश्वर है राजा और रङ्कमें॥२॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी एम० ए०, एल-एल० बी०

ईश्वरवाद और समाज-धर्म

(लेखक—पण्डित श्रीसदाशिवजी शास्त्री भिडे, संस्थापक 'गीताधर्ममण्डल' पूना)

ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

सृष्टिमें जो कुछ भूतजातादि दीखता है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके दिये हुए पदार्थोंसे ही जीवन-निर्वाह करो। किसीके धनकी (वस्तुकी) अभिलाषा मत करो।

यह ईशावास्योपनिषद्का पहला मन्त्र है। ईशोपनिषद् वाजसनेय-संहिताका अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इस अध्यायमें वेदाध्ययनके पूर्ण होनेपर ही गुरुने शिष्यको उपदेश किया है। इस पहले मन्त्रमें आयी हुई मध्यम पुरुषकी दोनों क्रियाओंपर ध्यान देनेसे उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। मन्त्रके पहले वाक्यमें आये हुए 'जगती' शब्दका रूढ़ अर्थ पृथ्वी है परन्तु उपलक्षणसे उसका 'सृष्टि' अर्थ किया जा सकता है। आदिमें आया हुआ 'ईशा' शब्द बहुत ही अर्थपूर्ण है। केवल परमात्मा अथवा परब्रह्म अर्थको दिखलानेके लिये ही इस शब्दका प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है, बल्कि सारी सृष्टिमें व्याप्त सत्ताके उद्गमस्थानके अर्थमें ही इसका प्रयोग हुआ है। सत्ताका अर्थ है स्वामित्व अथवा प्रभुत्व और यही 'ईश' धातुका मूल अर्थ है। स्वामित्वके अर्थमें प्रचलित भाषामें 'सत्ता' शब्दका प्रयोग होता है। सृष्टिमें स्थित समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंपर ईश्वरकी सत्ता (स्वामित्व) है। ईश्वर सर्वव्यापी है और साथ ही वह समस्त सत्ताका अधीश्वर है, यह पहले वाक्यमें दिखलाया गया है। व्यापकत्व और सत्ताधीशत्व, ये दोनों शब्द करीब-करीब समान होनेपर भी बिल्कुल ही एक हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिये 'आवास्य' अथवा 'वास्य' शब्दसे व्यापकत्व सूचित करते हुए 'ईश' शब्दके द्वारा सत्ताधीशत्व दिखलाया गया है। यहाँ सत्ताधीशत्व अर्थ ही मुख्य है। यह बात मन्त्रके दूसरे वाक्यसे सिद्ध होती है। ईश्वरके सत्ताधीश होनेपर भी उसकी सत्ताका ज्ञान नानाप्रकारकी उपाधियोंद्वारा होता है। उन उपाधियोंका वर्गीकरण करनेपर उनके तीन भाग दिखायी देते हैं—व्यक्ति (व्यष्टि), समाज (समष्टि) और अखिल सृष्टि (परमेष्टि)। एक ही व्यक्ति और समाजमें अवयव और अवयवीका सम्बन्ध है। कौटुम्बिक संस्थाएँ समाजके आन्तरिक अवयव हैं, ऐसा माननेपर व्यक्तिके स्थानमें कुटुम्बके अधिपतिको रखनेमें कोई आपत्ति नहीं। सांसारिक पदार्थोंका समावेश इन तीन प्रकारकी सत्ताओंमेंसे किसी-न-किसीके अन्तर्गत हो जाता है। उदाहरणार्थ, किसी मकानको अपने उपयोगमें लानेके लिये उस घरके मालिककी आज्ञा अपेक्षित होती है क्योंकि वह घर उस मालिक, व्यक्ति-विशेषके सत्ता (स्वामित्व) में होता है। इसप्रकार व्यवहारमें यह वैयक्तिक सत्ता अनेकों प्रकारकी देखनेमें आती है। ऐसे ही किसी सार्वजनिक स्थानका उपयोग करनेके लिये उस समाजकी आज्ञा आवश्यक होती है। राजसत्ता समाजकी प्रतिनिधि स्वरूप होनेके कारण राजसत्ता और समाजसत्ताको तात्त्विक दृष्टिसे एक समझनेमें कोई हानि नहीं है। बल्कि तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे यही कहना चाहिये कि समाजसत्ता ही यथार्थ है; राजसत्ता व्यवहारकी सुविधाके लिये समाजसत्ताका रूपान्तर अथवा संकुचित रूपमात्र है। मनुष्यके कितने ही प्रयोजन ऐसे होते हैं जिनके सिद्ध करनेकी सामर्थ्य उपर्युक्त दोनों सत्ताओंमें नहीं होती। आधुनिक युगमें भौतिक शास्त्रोंकी अत्यन्त प्रगति होनेके कारण पहले जो बातें मानवी सत्ताके बाहर समझी जाती थीं, उनमेंसे कितनी ही अब मानव-प्राणीके हस्तगत हो चुकी हैं। तथापि मानवी सत्ताकी सीमामें न आयी हुई अभी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो मानवी-जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, बादलोंका बरसना मनुष्य-जीवनके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है, परन्तु उसकी कुञ्जी जिस सत्ताके हाथमें है, वह परमेष्ठी सत्ता है। 'परमे व्योम्नि' अर्थात् परमाकाशमें रहनेवाला सर्वसत्ताधीश परमेश्वर ही यहाँ 'परमेष्ठी' शब्दसे अभिप्रेत है। अतः जिसप्रकार सब पदार्थ 'ईशावास्य' अर्थात् ईश-सत्ताके भीतर हैं उसी प्रकार मनुष्यके जीवनका क्रम भी उसी सत्ताके आश्रयसे संचालित होता है।

ईश-सत्ताके विभाग

मनुष्यको अपने धारण-पोषणके लिये अनेक पदार्थोंकी नित्य आवश्यकता पड़ती है। परन्तु वे सब पदार्थ उस एकके ही स्वामित्वमें नहीं होते। उनमेंसे कुछ अन्य व्यक्ति-

की सत्ताके, कुछ राजसत्ताके, तथा कुछ परमेष्ठीसत्ताके होते हैं। यह तीनों सत्ताएँ एक ही ईश-सत्ताके विभिन्न स्वरूप हैं। अपने जीवन-यात्राकी आवश्यक सामग्री हमें किसी भी सत्ताद्वारा प्राप्त हो, परन्तु वस्तुतः हमें वह ईश-सत्तासे ही मिलती है, यह बात ध्यानमें रखना आवश्यक है। मनुष्यके लिये प्रयोजनीय पदार्थ जिसकी सत्ता (स्वामित्व) में होते हैं, वही जब हमें देता है, तभी हम उनका प्रयोग कर सकते हैं। किसी वस्तुको दूसरेको देनेका अर्थ यह है कि उस वस्तुपरसे अपना स्वामित्व हटाकर, जिसको वह वस्तु दी जाती है उसका स्वामित्व उत्पन्न कर देना, इसीको शास्त्रीय भाषामें दान कहा जाता है। परन्तु यह दान धर्मादा नहीं है, 'स्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादानम्' शास्त्रकारोंने दानकी यही व्याख्या की है, इसलिये उस सर्वसत्ताधीश ईश्वरद्वारा किसी भी रूपसे प्राप्त वस्तुसे मनुष्यको अपना भरण-पोषण करना चाहिये। इसी अभिप्रायसे मन्त्रके दूसरे वाक्यमें 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह पद आया है। इससे यह दूसरा सिद्धान्त निकलता है कि किसी पदार्थका, जबतक कि उसपरसे दूसरेका स्वामित्व हट कर अपना स्वामित्व न उत्पन्न हो जाय, उपभोग करना परधन-अपहरण होता है। यहाँ 'धन' शब्द जीवनके लिये प्रयोजनीय वस्तुके व्यापक अर्थमें आया है, यह ध्यानमें रखना चाहिये। अपने जीवनके लिये उपयोगी वस्तु जिस सत्तासे मिलनेवाली हो, उसी सत्तासे वह यथायोग्य उचित उपायोंद्वारा प्राप्त करनी चाहिये। इसी अभिप्रायसे दूसरे वाक्यमें 'तेन त्यक्तेन' पद आया है। इस नियममें थोड़ी-सी भी भूल होनेपर दूसरेके धनका अपहरण हो जाता है। अतः व्यक्तिसे लेकर परमेश्वर-पर्यन्त सत्ता (स्वामित्व) के जो-जो क्षेत्र हैं, उन सबका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके अपने जीवनको पवित्र रखनेके लिये अत्यन्त सावधान रहना आवश्यक है।

स्वामित्वका तात्त्विक अंग

इस मन्त्रमें आये हुए नियम जिसप्रकार नैतिक-दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वके हैं, उसी प्रकार आर्थिक-दृष्टिसे भी बड़े ही महत्त्वके हैं। कुछ लोग समझते हैं कि नीति और अर्थमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं। वेदान्त, धर्म और अर्थशास्त्रके मूल तत्त्वोंमें सामान्यतः मेल होना ही चाहिये, यह हिन्दू-संस्कृतिका सिद्धान्त है। वैयक्तिक सत्ता और सामाजिक सत्ताकी सीमा निर्धारित करना तथा व्यक्तिगत सत्ताकी समाप्तिके और सामाजिक सत्ताके प्रारम्भके स्थानको ठीक-ठीक समझना बहुत ही कठिन है। अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र दोनोंका विशाल अभ्यास होनेपर ही सत्ताकी सीमा निश्चित की जा सकती है। और तभी मनुष्यके लिये उपर्युक्त मन्त्रके आदेशानुसार 'अस्तेय' का पालन सम्भव होता है। 'सत्ताकी इन विभिन्न सीमाओंको निश्चित-रूपसे समझना प्रायः असम्भव है, इसलिये इनके बखेड़ेमें न पड़ना ही ठीक है' ऐसा कुछ लोग कहते हैं परन्तु यह बात बिल्कुल ही ठीक नहीं। 'शास्त्रीय विषय समझमें नहीं आता, इसलिये शास्त्रोंको छोड़ दो' इसप्रकारके ओछे विचारोंसे हिन्दू-समाजकी आजतक बड़ी हानि हो चुकी है। अर्थ और राजनीतिके विषयोंको जो भलीभाँति समझते हैं, उन्हें इस सत्ताके स्वरूप तथा इसकी सीमाका ठीक-ठीक ज्ञान है। प्रस्तुत मन्त्रके उपदेशानुसार चलकर मनुष्य अपने जीवनको पूर्ण पवित्र बना सकता। परमेश्वरीय सत्ताका स्वरूप, उस सत्ताद्वारा होनेवाले संसारके बड़े-बड़े कार्य, उनके साथ मानवी जीवनका सम्बन्ध, समाज, व्यक्ति, अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र—इन तत्त्वोंका प्रस्तुत मन्त्रमें बताये हुए नियमोंके साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होनेके कारण यह सभी ब्रह्म-विद्याके अंग हैं ऐसा सिद्ध होता है। कुछ उद्यमहीन सम्प्रदायोंकी आदत पड़ जानेके कारण बुद्धिवादसम्बन्धी शास्त्रीय तर्कणासे लोगोंके मनमें एक प्रकारका भय-सा हो गया और उपनिषदोंके समान पारमार्थिक साहित्यमें आधिभौतिक शास्त्रोंकी बू-तक नहीं आनी चाहिये, ऐसी उनकी धारणा बन गयी। परन्तु यह धारणा मूल श्रुति-मन्त्रकी दृष्टिसे किसप्रकार त्याज्य है, उसे यहाँ अब अधिक बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

सत्ता (स्वामित्व) का ज्ञान और उसकी पवित्रता

इस मन्त्रमें जो नैतिक नियम आया है वह समाजकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है। मनुष्यको स्वयं कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह न बतलाकर, मनुष्यमात्रको दूसरोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये, इस मन्त्रमें मुख्यरूपसे इसीको बतलाया है। इसमें अस्तेयकी अत्यन्त ही सूक्ष्म कल्पना है। किसी प्रकारका बदला दिये बिना दूसरोंकी वस्तुका उपभोग करना महान् पाप है, यह बात सहज ही

बहुतोंके ध्यानमें नहीं आती। मालिकसे बिना पूछे उसकी वस्तुको काममें लाकर, फिर उसे जहाँ-का-तहाँ रख देनेमें कोई दोष नहीं, ऐसा बहुतोंका मत है। पर वस्तुतः नीति-शास्त्रकी दृष्टिमें ऐसी मनोवृत्ति पापयुक्त ही समझी जाती है। उज्ज्वल नीति-निष्ठामें पापवृत्तिको जरा-सा भी स्थान नहीं है। यह नीति-निष्ठा ही ब्रह्म-विद्याका आधार है, ऐसा श्रुतिमें स्पष्ट कहा है। (देखिये कठ० १।२।२४) नीति-शास्त्रके इस महान् तत्त्वका इस मन्त्रमें जैसा व्यापक, सूक्ष्म और निर्भ्रान्त वर्णन है वैसा शायद ही अन्यत्र कहीं मिले।

संन्यास-मार्ग-कृत अर्थ-विपर्यय

इस मन्त्रके सरल अर्थपर ध्यान देनेसे यह बात सहज ही दिखलायी देती है कि इसका संन्यास-मार्गसे सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि अधिकांश प्राचीन टीकाकारोंने इस मन्त्रको बिल्कुल संन्यास-परक ही लगाया है। ऐसा करनेमें शब्दार्थोंकी खींचतान होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इसका अर्थ उन्होंने ऐसा किया है कि जो कुछ यदृच्छासे (अपने-आप ही) प्राप्त हो जाय उसीको ईश्वरका दिया हुआ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उनके मतसे 'यदृच्छा-लाभ-सन्तोष' ही उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। यदृच्छासे प्राप्त होनेवाली वस्तुओंपर जीवन-निर्वाह करना ही संन्यासधर्म होनेके कारण इन तीन पदोंमें (स्वरूपतः) सर्वकर्मसंन्यासका ही उपदेश किया गया है, ऐसा संन्यासमार्गी महानुभावोंका कहना है। उसी प्रकार 'मागृधः' इस पदसे एक स्वतन्त्र वाक्यकी कल्पनाकर उसका सम्बन्ध पहले वाक्यके सर्वकर्मसंन्यासकी कल्पनासे जोड़ दिया गया है। ऐसा करनेमें वाक्य-भेद-दोष तो आता ही है, साथ ही पहले आये हुए 'धनम्' कर्मको अलग छोड़कर 'मागृधः' क्रियाके लिये 'किमपि' कर्मका अध्याहार करना पड़ता है, यह भी व्याकरणानुसार दोष ही है। परन्तु 'किसी वस्तुकी भी अभिलाषा मत करो' इसप्रकारका अर्थयुक्त वाक्य बन जाय और वह सर्वकर्म-संन्यासकी कल्पनाके लिये उपयोगी हो, इस लाभके लिये संन्यास-मार्गवालोंने उपर्युक्त सब दोषोंको खुशी-खुशी अपने सिर ले लिया है। इसी प्रकार 'कस्य स्विद्धनम्' इस अवशिष्ट तृतीय पदको पृथक् वाक्य मानना पड़ा है। 'धन किसका?' इसप्रकार आक्षेपयुक्त प्रश्न करके, धन किसीका भी नहीं है, जगत्के सदृश धन भी मिथ्या है, धन भी सत्य वस्तु नहीं है—इसप्रकार इस तीसरे वाक्यका अर्थ करके जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेवाले मायावादकी कल्पना सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। 'कस्यस्विद्' में 'स्विद्' शब्दका अर्थ 'अपि' शब्दके समान भी होता है, परन्तु वह संन्यास-मार्गके अनुकूल नहीं होता, इसलिये उसे छोड़ दिया गया है। संन्यासमार्गकी कल्पनाको बैठानेके लिये दूसरे वाक्यकी ऐसी खींचातानी करके भी अन्तमें यह प्रयत्न सफल नहीं होता, संन्यासमार्गियोंसे ऐसा कहनेका प्रसंग अगले मन्त्रसे भी आ जाता है—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
> (ई० २)

अर्थात् इस संसारमें कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष (पूरी आयु) जीनेकी इच्छा करे, ऐसा होनेपर मनुष्यमें कर्म लिपायमान नहीं होते (अर्थात् कर्म बन्धनकारक नहीं होते) इसके अतिरिक्त दूसरा प्रकार (कर्म-बन्धनसे छूटनेका दूसरा मार्ग) नहीं है।

पिछले मन्त्रमें कहा है कि अनेक रूपमें ईश्वरीय सत्ता-द्वारा उचित रीतिसे प्राप्त हुई सामग्रीसे ही अपनी जीविका चलावे, किसी भी वस्तुसे अनुचित लाभ न उठावे। परन्तु पदार्थपर दूसरेका स्वामित्व नष्ट होकर अपना स्वामित्व उत्पन्न हो जाय, इसका कौन-सा उपाय है? इस बातको बतलाये बिना मन्त्रके सिद्धान्तका पूरा वर्णन नहीं होता, अतएव यह दूसरा मन्त्र केवल पहले मन्त्रके सिद्धान्तकी ही पूर्त्ति करता है।

मनुष्य-जीवनका शास्त्र-शुद्ध मार्ग

जिजीविषा अर्थात् जीनेकी इच्छा प्राणीमात्रमें एक समान ही होती है। यह इच्छा नैसर्गिक होते हुए भी धर्म्य है। उसी प्रकार यह वेदान्त-सम्मत भी है, क्योंकि वेदान्त-शास्त्रके नियम पिण्ड-ब्रह्माण्डके स्वभावके अनुसार ही होते हैं। ब्रह्मज्ञानी होनेपर मनुष्यको जिजीविषा होती है या नहीं? संन्यास-मार्गवालोंने यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित करके उत्तर दिया है कि 'ज्ञानी मनुष्यको जिजीविषा नहीं होती।' परन्तु यहाँ कर्मसम्बन्धी विशेष नियम बतलाया गया है, इसका विचार करनेसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि कोई भी स्वरूपतः कर्म-त्याग नहीं कर सकता। इस आपत्तिको टालनेके लिये संन्यास-मार्गवाले

उपर्युक्त उत्तर देते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको जिजीविषा नहीं होती, यह कल्पना वैदिक ऋषियोंको बिलकुल ही अभिप्रेत नहीं थी; अधिक तो क्या, संन्यास-मार्गवालोंको भी यह कल्पना मान्य नहीं है, मान्य होती तो सर्वकर्म-संन्यास करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये शारीर-कर्म करनेकी भी अनुज्ञा संन्यास-मार्गमें क्यों दी जाती ? इसका सरल उत्तर यही है कि जिजीविषा एक प्रकारकी इच्छा है सही, परन्तु वह दूसरी इच्छाओंकी भाँति विचारपूर्वक धारण की जाती हो अथवा प्रसंग-विशेषमें ही उत्पन्न होती हो, ऐसी बात नहीं। सजीव शरीरका जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) एक स्वभाव-सिद्ध धर्म ही है। धर्मशास्त्र अथवा वेदान्त-शास्त्रने भी इस जिजीविषाका विरोध नहीं किया है, बल्कि इस जिजीविषाको नष्ट करना शास्त्रोंने निन्दनीय बतलाया है। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार जीनेकी इच्छा करना मानव-प्राणीका स्वभाव है, इसके अनुसार मानव-प्राणी यह इच्छा यावज्जीवन करता ही रहेगा। इस बातपर ध्यान देकर ही वैदिक ऋषियोंने इस जीवनेच्छाके साथ एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय नियम जोड़ दिया है। जिसप्रकार जीवनेच्छाका त्याग नहीं किया जा सकता और वैसा करना भी नहीं चाहिये, उसी प्रकार इस शास्त्रीय नियमका भी कोई उल्लंघन न करे, यही उसका अभिप्राय है। वह नियम यही है कि इस लोकमें मनुष्य कर्मोंको करते हुए जीनेकी इच्छा करे। इससे एक और सिद्धान्त यह निकलता है कि जिसको कर्म करनेकी इच्छा न हो वह जीनेकी इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जिजीविषा अटल और अपरित्याज्य है उसी प्रकार कर्तव्य-कर्मको भी अटल और अपरित्याज्य समझना चाहिये। यद्यपि 'कर्म'शब्दका यहाँ खुलासा नहीं है तथापि इसमें कोई संशय नहीं है कि उसका 'वर्णाश्रम-विहित' विशेषण मन्त्रमें विवक्षित है। यहाँ 'जिजीविषेत्' क्रियापद विध्यर्थक है, पर वह मुख्य (अपूर्व) विधि नहीं है। क्योंकि जिजीविषाके स्वभावतः प्राप्त रहनेके कारण उसके लिये स्वतन्त्र शास्त्राज्ञाकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु विहित कर्मकी बात दूसरी है। वर्णाश्रम-विहित कर्मके आचरणकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिये कर्मके विषयमें शास्त्राज्ञाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। सुतरां इस मन्त्रमें कर्मविषयक आज्ञा ही मुख्य है ऐसा समझना चाहिये। 'शतं समाः' अर्थात् सौ वर्षका यह उल्लेख मनुष्यके आयुकी सामान्य सीमा दिखलानेके लिये हुआ है। इस 'वर्ष' शब्दके उल्लेखका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य इसप्रकारकी महत्त्वाकांक्षा रक्खे कि वह अपनी सम्पूर्ण आयुका कर्त्तव्यकर्मोंके आचरणमें ही उपयोग करेगा। इसप्रकारसे अपने सम्पूर्ण जीवनक्रमको ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यकर्ममें लगा देनेपर मनुष्यको वे कर्म बन्धनकारक तो होते ही नहीं, प्रत्युत मोक्षदायक होते हैं।

वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म

पहले मन्त्रमें 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—यह पद आया है, इसका तात्पर्य ऊपर बतलाया जा चुका है। व्यक्ति, समाज और सृष्टि इन तीन रूपोंद्वारा सर्वसत्ताधीश ईश्वर जो देता है उसीसे मनुष्यको अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह निश्चय हो गया है। परन्तु इस व्यवहारमें स्वामित्वका परिवर्तन (अदला-बदली) किसप्रकार होना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुत मन्त्रमें बहुत ही सुन्दर रीतिसे दिया गया है। मानवी-कर्मके दो विभाग होते हैं—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। आधुनिक युगमें इन्हें समाज-धर्म और व्यक्ति-धर्म नाम दिये जाते हैं। मनुष्यके द्वारा बुद्धिपूर्वक जो कर्म होते हैं, उनका समावेश अवश्य ही उपर्युक्त किसी-न-किसी विभागमें होता है। चार वर्ण और चार आश्रमरूप वर्णाश्रमकी व्यवस्था प्रसिद्ध ही है। मनुष्यको स्वयं कैसे बर्तना चाहिये, यह आश्रम-व्यवस्थासे निश्चित होता है तथा दूसरोंके साथ कैसे बर्तना चाहिये यह वर्ण-धर्मके द्वारा जाना जाता है। पदार्थोंके स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न मुख्यतः वर्ण-धर्ममें ही आता है। मनुष्य यदि अपने वर्ण-धर्मका नियमितरूपसे आचरण करे तो स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न इसप्रकार सहज ही हल हो जाता है, जैसे, ब्राह्मण यदि अपरा (आधिभौतिक) तथा परा (आध्यात्मिक) विद्याकी शिक्षा समाजको दे तो यह सिद्ध होता है कि उसने ब्राह्मणके वर्ण-धर्मका पालन किया। इस कार्यके बदलेमें शिष्य, समाज अथवा राजाके द्वारा उसे जो वेतन मिले उसपर उसका अधिकार स्वतः ही उत्पन्न होता है, इस वेतनके द्वारा अपनी जीविका चलानेसे पूर्व मन्त्रमें कहे अनुसार वह पूर्णतः निष्पाप रहता है। परन्तु उसे अपने काममें आलस्य, प्रमाद तथा दम्भ तनिक भी नहीं करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो पूर्व-मन्त्रके उपदेशानुसार

(उसका) वह (वेतन ग्रहण करना) चोरी होगा, इसमें कोई शंका नहीं। वैयक्तिक व्यवहारमें भी उपर्युक्त उदाहरण लागू हो सकता है। अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह यह छः कर्म ब्राह्मण-वर्णके धर्ममें आते हैं। उनमेंसे तीन कर्म ब्राह्मणके उपजीविकाके लिये हैं, ऐसा धर्म-शास्त्रकारोंने कहा है (मनु० १०–७६)। शिक्षाके बदलेमें कुछ भी लेना ठीक नहीं, ऐसा कुछ लोगोंका मत है परन्तु इस विषयमें मनुस्मृतिकारने जो स्पष्ट निर्णय दिया है (मनु० २। ११२, ११३) उसपर ध्यान देनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि उपर्युक्त मत शास्त्रीय नहीं। इस प्रकार चारों ही वर्ण-धर्मोंका पूरा-पूरा मेल बैठाया जा सकता है। व्यक्तिसे अथवा समाजसे अपनी आजीविकाके जो साधन प्राप्त किये जाते हैं उनके बदलेमें मनुष्यको उक्त व्यक्ति तथा समाजके लिये पर्याप्त परिश्रम करना अत्यन्त आवश्यक है। समाज और व्यक्तिके कल्याणकी दृष्टिसे वर्णाश्रम-धर्मकी रचना होनेके कारण यह बदला कर्त्तव्य-बुद्धिसे चुकाया जा सकता है और इसीसे वर्णाश्रमधर्मकी रचनाका महत्त्व दृष्टिगोचर हो सकता है। दूसरोंके लिये परिश्रम किये बिना उनसे किसी प्रकारकी सहायता लेनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। इसीसे सिद्ध होता है कि भिक्षा अथवा याचनाका सिद्धान्त श्रुतिको बिल्कुल ही मान्य नहीं है। इन दोनों मन्त्रोंका अभिप्राय ब्रह्माण्ड-पुराणमें आया है। और उससे—'तद्दत्तेनैव भुञ्जीथा अतो नान्यं प्रयाचयेत्'—ग्रन्थकारने ऐसा निष्कर्ष निकाला है। हिन्दू (वैदिक) मनुष्य अपने वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका नियमानुसार आचरण करनेपर उसके व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रश्नोंका समाधान आप ही हो जायगा। ऐसी धर्मरचना ऋषियोंने की थी। जिससे एकको दूसरेके समीप याचना करनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता था। ऐसी ही परिस्थिति समाजमें उत्पन्न हो गयी थी—

> 'न केनचित् याचितव्यं कश्चित् किञ्चिदनापदि ।
> इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥'

अर्थात् सङ्कटकालके सिवा कभी भी कोई किसीसे किसी वस्तुकी याचना न करे, पूर्व-कालमें मनुने मानव-प्राणीके लिये ऐसी व्यवस्था की थी; यह महाभारतमें कहा गया है। सामाजिक समताकी पूर्णताका यह एक ही लक्षण है। परन्तु ऐसी पूर्ण समता उन्नत दशामें ही समाजमें उत्पन्न हो सकती है। औपनिषद् ब्रह्मविद्याके युगमें समाज उन्नतावस्थामें था। इसी कारण प्रस्तुत मन्त्रमें कथित सिद्धान्तका उस समय व्यवहार हुआ होगा, ऐसा कहना अयुक्त नहीं। मेघ-वृष्टि-जैसी घटनाओंके लिये, जो ईश्वरीय सत्ताके अधीन हैं, ईश्वरोपासनाके नाना प्रकारके मार्ग उस समय भी प्रचलित थे, उन उपासनाओंका भी वर्णाश्रम-धर्ममें अन्तर्भाव हो गया था। उससे वर्णाश्रम-विहित कर्मोंके आचरणरूपी अद्वितीय मार्गकी स्थापना वैदिक ऋषियोंने समाजके लिये किसप्रकार की थी, इसकी ठीक-ठीक कल्पना की जा सकती है। यह मार्ग व्यावहारिक और पारमार्थिक उन्नतिके लिये अत्यन्त हितकर होनेके कारण अभ्युदय तथा निःश्रेयसप्रद है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

संन्यास-मार्गकी अर्थविषयक खींचतान

पहले मन्त्रमें यह अभिप्राय स्पष्ट है कि ईश्वरीय सत्ता सर्वगामी है, उसके द्वारा जो मिले उसीसे जीविका चलावे, किसीकी भी सम्पत्तिका अपहरण न करे। और इस सर्व-गामी ईश-सत्तासे आजीविकाकी सामग्री किसप्रकार मिल सकती है यह बात दूसरे मन्त्रमें कही गयी है। इससे यह बात सबके ध्यानमें सहज ही आ सकती है कि ये दोनों मन्त्र एक दूसरेकी पूर्ति करनेवाले हैं। परन्तु संन्यासमार्गवालोंने इन दोनों मन्त्रोंको एक-दूसरेसे अलग करके यह निश्चय किया है कि पहला मन्त्र ज्ञानीके लिये है। परन्तु इस व्यवस्थामें वाक्यभेद-दोष आता है, इसपर उन्होंने बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त इन दोनों मन्त्रोंको ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिसे विभिन्न माननेपर दोनों ही मन्त्रोंके वाक्यार्थ अपूर्ण रह जाते हैं जिससे कोई-सा भी एक सिद्धान्त पूर्ण नहीं होता। ईश्वरसे जीवन-निर्वाहके साधन किसप्रकार प्राप्त हों, इसका उत्तर श्रुतिके ही शब्दोंमें नहीं मिलता। यदृच्छासे प्राप्त वस्तुको ही ईश्वरप्रदत्त समझा जाय, ऐसी कल्पना करनेसे 'तेन त्यक्तेन' इस पदका लाक्षणिक अर्थ मानना पड़ता है और 'किसीके भी धनका अपहरण न करो' यह वाक्य व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार 'तेन त्यक्तेन' वाक्यका केवल संन्यास-परक अर्थ करनेसे 'भुञ्जीथाः' और 'मागृधः' आदि अंश व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे मन्त्रमें भी इसप्रकार 'तू कर्ममें लिपायमान न होगा,' 'इसके सिवा संसारमें दूसरा मार्ग

नहीं,' इसप्रकारके अर्थका उत्तरार्द्ध निरुपयोगी ही जान पड़ता है। इसप्रकार इस मन्त्रभेदकी कल्पनाके कारण भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे इन दोनों ही मन्त्रोंके वाक्यार्थमें अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और इतना होनेपर भी किसी एक सिद्धान्तका सांगोपांग पूर्ण वर्णन नहीं हो पाता, यह भी एक विचित्रता है। मन्त्र-विच्छेदकी यह कल्पना बहुत ही उत्तरकालीन और साम्प्रदायिक है, इस बातका ब्रह्मसूत्रसे पता लगता है। इस मन्त्रको लक्ष्य करके बादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रमें दो सूत्र आये हैं (ब्रह्मसूत्र ३।४।१३-१४)। इनमेंसे पहले सूत्रमें कहा गया है कि ईशावास्यका यह दूसरा मन्त्र सामान्य नियमसूचक है, विशेष नियमसूचक नहीं। परन्तु प्रकरण-सन्दर्भमें इस दूसरे मन्त्रमें ज्ञानी मनुष्य ही विवक्षित मानना पड़ता है। क्योंकि पहला मन्त्र ज्ञानी पुरुषको लक्ष्य करके कहा गया है, इसलिये दूसरा मन्त्र भी उसीको लक्ष्य करके होना चाहिये। ऐसा क्रमपूर्वक कहनेमें आता है। इस बातको बादरायण जानते थे, अतः उन्होंने दूसरे सूत्रमें सिद्ध किया है कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह मन्त्रविद्याकी स्तुतिके लिये है अथवा ज्ञानी मनुष्यद्वारा किये जानेवाले कर्मके अनुमोदनके लिये है। इस सूत्रपर शाङ्करभाष्य इसप्रकार है—

'यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्यते तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुष्ठानमेतद् द्रष्टव्यम्।'

अर्थात् यद्यपि यहाँ प्रसंगानुसार 'कुर्वन्' मन्त्रमें ज्ञानी पुरुष ही सम्बद्ध होता है तथापि यह कर्मानुष्ठान विद्याकी स्तुतिके लिये ही जानना चाहिये।

अब प्रस्तुत मन्त्रके ऊपर शाङ्करभाष्य देखिये—

'अथेतरस्यानाऽऽत्मतयात्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशतिमन्त्र कुर्वन्नेवेति' 'पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेत्युच्यते। ज्ञानकर्मणोर्विरोध पर्वतवदकम्प्यम्॥'

अर्थात् '(पहले मन्त्रके विवरणके अनन्तर) अब ज्ञानके अभावके कारण आत्माके ग्रहण करनेमें असमर्थ (अज्ञानी) मनुष्यके लिये इस अगले मन्त्रका उपदेश दिया गया है।' (दूसरे मन्त्रके विवरणमें) पहले मन्त्रमें संन्यासी पुरुषकी ज्ञाननिष्ठा कही गयी है और दूसरे मन्त्रमें ज्ञाननिष्ठाके अनधिकारी अज्ञानी मनुष्यके लिये कर्मनिष्ठा कही गयी है। क्योंकि कर्म और ज्ञानमें परस्पर पर्वत-सदृश विरोध अनिवार्य है, इत्यादि।

ब्रह्मसूत्रपर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ और ईशोपनिषद् पर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ ऊपर दी गयी हैं, इनको सूक्ष्म और तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर पाठकोंके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता कि 'क्या यह दोनों लेख एक ही ग्रन्थकारके हैं?' स्वतन्त्र विचारकोंको इस प्रश्नका यथार्थरूपसे निर्णय करना बहुत ही आवश्यक है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यसे भी ईशावास्यके इस दूसरे मन्त्रका उपदेश ज्ञानी पुरुषको ही लक्ष्य करके किया गया है। इसलिये इन दोनों मन्त्रोंमें एक ही अभ्युदय और निःश्रेयस्कर वैदिक मार्गका उपदेश श्रुतिने दिया है। इस मार्गमें परमात्मतत्त्व और सृष्टिमें स्थित उसकी सत्ताका पूर्णज्ञान, स्वार्थत्याग और कर्तव्यतत्परता इन तत्त्वोंका मुख्यतः समावेश होता है और इसी मार्गको गीताशास्त्रमें 'कर्मयोग' संज्ञा दी गयी है। इस कर्मयोगका ही इन दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने निःश्रेयसके अद्वितीय मार्गके रूपमें उपदेश दिया है।

यह इच्छा किसीको भी नहीं करनी चाहिये कि अपने जीवन-क्रमको चलानेके लिये आवश्यक सामग्री बिना परिश्रम ही मिल जाय। बिना परिश्रम अथवा बदलेमें कुछ दिये बिना दूसरेकी वस्तु लेनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें लज्जा उत्पादन करनेवाला दोष उत्पन्न हो जाता है और वह ब्रह्मवर्चस्विताके लिये अत्यन्त घातक है। इसके विपरीत अपने कष्टसे अर्जन किये हुए अथवा उचित बदला देकर प्राप्त किये हुए पदार्थपर अपना जीवन-निर्वाह करना ब्रह्मवर्चस्विताका मूल आधार है। ऐसे मनुष्यकी बुद्धि अत्यन्त तेजस्वी होती है। इसप्रकार इन पहले दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने ज्ञान, स्वावलम्बनके साथ निःस्पृहता और कर्तव्यनिष्ठा इन तत्त्वोंपर अधिष्ठित अत्यन्त श्रेयस्कर वैदिक कर्मयोगका उपदेश किया है।

समाज-धर्मका महत्त्व

प्राचीन महर्षियोंने उपनिषदोंमें वैदिक 'कर्मयोग'का प्रतिपादन किया है। उसमें व्यक्ति-धर्म और समाज-धर्मकी मर्यादा किसी प्रकार पहचानी जा सके, इसके लिये तात्त्विक दृष्टिसे अत्यन्त ही उत्तम रीति बतलायी गयी है। समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका नियामक है, इसलिये समाज-

कल्याणके विघातक किसी भी कामको करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको नहीं है, ऐसा वैदिक धर्मका दृष्टिकोण है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्तिके निजी सुखकी अनिवार्य इच्छापर सामाजिक बन्धनकी शर्त जरूर लगानी ही चाहिये। समाजमें सामान्य मनुष्यको भी सर्वसम्मत रूढ़ि तथा शिष्टाचारका पालन करना पड़ता है एवं उसे अपनी अनिवार्य सुख-तृष्णाको अधिकांशमें सीमित करना पड़ता है। समाज-धर्मके इन बन्धनोंका पालन करते हुए बेचारा मनुष्य इस बातको अच्छी तरहसे जानता है कि अपने समाजसे अलग होकर जीना असम्भव है इसलिये वह अपने कल्याणके लिये ही इन सामाजिक बन्धनोंका चुपचाप पालन करनेके लिये तैयार रहता है। सामाजिक बन्धनके परे जानेके लिये कोई कितनी भी उछल-कूद क्यों न करे, अन्तमें उसे निष्फल-प्रयत्न होकर समाजकी शरण लेनी ही पड़ती है। वर्तमान समयमें भी यह बात अनुभव-सिद्ध है। इसलिये व्यक्ति-धर्म अर्थात् आश्रम-धर्मकी अपेक्षा वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जो ऐसा निर्णय किया है, वह निरपवाद है और सबको स्वीकार करना पड़ता है।

समाज-धर्मके नियामक तत्त्व कौन हैं ?

जिसप्रकार समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका नियामक है, उसी प्रकार समाज-धर्मका नियामक तत्त्व कौन-सा है, क्रमानुसार इसका विचार करना आवश्यक है। बहुतेरे मनुष्योंका कहना है कि परमेष्ठी-धर्म अथवा अखिल मानव-जातिका कल्याण किंवा सर्वभूतहितकारक धर्म ही समाज-धर्मका नियामक है। उपर्युक्त तीनों शब्दोंमें ग्रथित कल्पना एक बार देखनेसे ठीक जान पड़ती है परन्तु उस कल्पनामें अव्यवहार्यताका एक बड़ा दोष है। समाज-धर्म पूर्णतया व्यवहार्य है, यह बात आजतकके इतिहासमें स्पष्ट दीख पड़ती है। प्राचीन कालमें भारतवर्षमें समाज-धर्म वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें पूर्णतया व्यवहार्य हुआ था। आधुनिक युगमें पाश्चात्य लोगोंने स्वदेश-भक्ति अथवा स्वदेशाभिमानके रूपमें समाज-धर्मको पूर्णतया व्यवहार्य करके दिखलाया है। परन्तु ईसाइयोंका 'विश्व-बन्धुत्व' अथवा आर्योंका 'सर्वभूतहित' ये तत्त्व प्रत्यक्ष व्यवहारकी कक्षामें कभी नहीं आये। सर्व-भूतहित अथवा विश्व-बन्धुत्वकी अव्यवहार्यताको ध्यानमें रखकर ही भारतीयोंने 'ईश्वरोपासना' को समाज-धर्मका नियामक निश्चित किया है। 'स्वदेश-भक्ति' के रूपमें यूरोपियनोंने समाज-धर्मको तो स्वीकार किया परन्तु इस समाज-धर्मके नियामक तत्त्वका विचार करते समय पाश्चात्य समाज-शास्त्रने बहुत ही शिथिलता दिखलायी है। इस विषयमें उन्होंने अखिल मानव-जातिके हितका निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह तत्त्व मानव-स्वभावके कितना अनुकूल है, इसका विचार उन्होंने नहीं किया। पादरी लोगोंने धर्म-पीठपर आसीन होकर 'विश्व-बन्धुत्व' की चाहे कितनी ही डींगें हाँकी हों, परन्तु यूरोपियन लोगोंने कभी उसपर अधिक ध्यान दिया ही नहीं, इसका कारण यह है कि 'विश्व-बन्धुत्व' की कल्पना मानव-स्वभावको सहसा अङ्गीकृत नहीं होती। यही कारण है कि पाश्चात्योंका समाज-धर्म निर्बन्ध और मर्यादासे रहित हो गया। मनुष्य-स्वभावकी आसुरी-सम्पत्तिको दूर करने अथवा उसको उचित सीमामें रखनेमें उनके समाज-धर्मका उपयोग तो हुआ ही नहीं, उलटे वह मनुष्यके स्वभावमें लोलुपता बढ़ानेमें ही सहायक हुआ। इसी कारण यूरोपियन संस्कृति पूर्णरूपसे राक्षसी आदर्शकी ओर गयी। इस संस्कृतिके प्रति संसारमें किसी-को भी प्रेम अथवा आदर न हुआ। यूरोपियन सभ्यताके वर्तमान उत्कर्षने संसारमें भय और तिरस्कार ही उत्पन्न किया है। संसारके इतिहासद्वारा यह बात सिद्ध की जा सकती है कि यह राक्षसी ढंग सदा शोकपर्यवसायी ही सिद्ध होता है। इस यूरोपियन संस्कृतिके उदाहरणसे यह बात निश्चित होती है कि समाज-धर्मका नियामक कोई तत्त्व होना चाहिये जो सामान्यतः मानव-बुद्धिके लिये अङ्गीकृत करनेयोग्य तथा मानव-स्वभावके अनुकूल हो। इस विषयमें वैदिक ऋषियोंने वर्ण-व्यवस्थाके द्वारा जो मार्ग निर्धारित किया है, वही यथार्थ है यह बाध्य होकर स्वीकार करना ही पड़ेगा। वह मार्ग ईश्वरोपासना है जिसे आर्योंने समाज-धर्मका नियामक निश्चय किया है।

ईश्वरोपासना और सामाजिक कर्त्तव्यता

विश्व-बन्धुत्वकी कल्पनाके अनुसार ही मानव-बुद्धिके लिये ईश-तत्त्वका भी आकलन नहीं हो सकता तो फिर ईश्वरोपासनाकी कल्पना समाज-धर्मका नियामक कैसे हो सकती है? ऐसा प्रश्न यहाँ सहज ही उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि मानव-बुद्धिके लिये परमात्म-तत्त्व पूर्णतया अङ्गीकृत नहीं होता, यह बात ठीक है, परन्तु परमेश्वर-का अस्तित्व और उसकी सहायताकी अपेक्षा, यह दोनों बातें मानव-स्वभावके लिये इतनी आवश्यक हो गयी हैं कि यह

कल्पना भी नहीं हो सकती कि वे किसी समयमें मानव-स्वभावसे नष्ट होंगी। इसलिये इसमें कोई भी शङ्का नहीं कि मानवी बुद्धि परमात्म-तत्त्व पूर्णतया आकलन कर सके या नहीं, परन्तु परमेश्वरकी कृपाकी छत्र-छाया अपने ऊपर लेनेकी अभिलाषा मानव-स्वभावमें घुल-मिल गयी है। इस मानव-स्वभावको ध्यानमें रखकर ही वैदिक ऋषियोंने समाज-धर्मके नियामकका निश्चय किया था और इसके अनुसार समाजके धारण-पोषण करनेके लिये मनुष्यको चातुर्वर्ण्यके जो-जो कर्म करने पड़ते हैं वे समस्त कर्म वह ईश्वरोपासनाकी बुद्धिसे निःस्वार्थ-भावसे कर सकता है। बल्कि यह वैदिक धर्मका सिद्धान्त है कि इसप्रकार पवित्र अन्तःकरणसे समाज-धर्मका आचरण करना मनुष्यका इस संसारमें श्रेष्ठ कर्तव्य है।

ईश्वरोपासना और समाजका सामर्थ्य

ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त समाज-धर्मका नियामक दूसरा कोई तत्त्व भी नहीं बतलाया जा सकता। आधुनिक तत्त्वज्ञ कहते हैं कि 'कर्तव्य समझकर ही कर्तव्य करो, कर्तव्य-कर्ममें किसी प्रकारकी अपेक्षा न रक्खो। मैंने अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पालन किया है, ऐसा मालूम होनेसे मनुष्यको जो सन्तोष प्राप्त होता है उसे ही कर्तव्यबुद्धिका आधारभूत तत्त्व समझो।' परन्तु इनका यह प्रतिपादन हवाईमहलके समान जान पड़ता है। किसी व्यक्ति-विशेषको कर्तव्यजन्य समाधान प्राप्त होनेपर भी यह कर्तव्यनिष्ठा सामान्य मनुष्यके अन्तःकरणमें घर नहीं कर सकती। पुण्य, पुनर्जन्म, ईश्वरोपासना इत्यादि तत्त्वोंमेंसे किसी-न-किसी तत्त्वको ध्येय स्वीकार किये बिना कर्तव्य-निष्ठामें स्थिरता नहीं आ सकती। ऐसी अस्थिर कर्तव्य-निष्ठा समाज-धर्मके लिये कितनी उपयोगी होगी, यह ज्ञात ही है। इस कर्तव्यनिष्ठाके बदले मनुष्यकी भोगवासना ही उसका ध्येय बन बैठती है और समाजका भी एकमात्र ध्येय स्वार्थ बन जाता है जिससे मनुष्य स्वार्थ-परायण हो जाता है। 'ऐसा स्वार्थान्ध समाज (राष्ट्र) संसारके लिये उपयोगी न हो तो भी अपने उत्कर्ष-सम्पादन करनेके लिये तो पूर्ण समर्थ होता है। फिर समाजके स्वार्थपरताकी ओर प्रवृत्त होनेमें दोष ही क्या है?' यह प्रश्न देखनेमें तो लाजवाब मालूम पड़ता है, परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेपर यह निश्चयपूर्वक समझा जा सकता है कि यह प्रश्न बिल्कुल भ्रमपूर्ण है, क्योंकि समाज-धर्मको व्यक्ति-धर्मका नियामक होना ही चाहिये। स्वार्थान्ध समाज अपने अन्दर रहनेवाले व्यक्तिके आचरणका नियमन करनेमें असमर्थ होता है। आत्मसंयम, नीति-प्रियता, सद्गुण-विषयोंसे प्रेम, निरलस उद्यमशीलता, उदात्त ध्येयनिष्ठा इत्यादि सद्गुणोंका व्यक्तिमें परिपोषण होना ही चाहिये, तभी व्यक्तिमात्रका जीवनक्रम समाधानपूर्ण और कल्याणकारक हो सकता है। परन्तु स्वार्थनिष्ठ समाज स्वार्थत्यागकी नींवपर उठे हुए सद्गुणोंके मन्दिरका विनाशक हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? स्वार्थपरायण समाजके व्यक्तिकी नीतिमत्ता गिर जाती है, उसके नीति-बन्धन बिल्कुल शिथिल हो जाते हैं। नीतिभ्रष्ट मनुष्यको कौटुम्बिक सुखकी प्राप्ति नहीं होती और इस सुखके अभावमें मनुष्यके अन्तःकरणमें सन्तोष न होनेके कारण दुर्व्यसन और तज्जन्य रोगोंके प्रसारके कारण सारा समाज भीतर-ही-भीतर खोखला हो जाता है। इसलिये वैयक्तिक चरित्रके नियामक समाजको स्वार्थान्ध कभी नहीं होना चाहिये। अर्थात् समाजको इसके ही समान एक नियामक तत्त्वकी आवश्यकता है जिसके योगसे वह व्यक्तिधर्मको सन्मार्गमें लगानेमें समर्थ हो और ऐसा तत्त्व ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त दूसरा नहीं मिल सकता। वैदिक ऋषियोंने ईश्वरोपासनाके इस तत्त्वको निर्भ्रान्त होकर ही चुना और उसके साथ भारतीय समाज-धर्मको बाँध दिया।

समाज-धर्म और ईश्वरोपासनाका कार्य-कारण-भाव

'समाजके लिये स्वार्थकी अपेक्षा ईश्वरोपासनाकी ओर झुकना यद्यपि अच्छा है तथापि समाज-धर्मके सर्वथा नष्ट होनेकी अपेक्षा तो उसका स्वार्थपर होकर जीवित रहना अच्छा है।' आजकल भारतीयोंने यों कहना शुरू किया है। जिनके पूर्वजोंने समाजके आदर्शरूप धर्मकी शिक्षा जगत्‌को दी, उन्हीं भारतीयोंके जीवनक्रमसे वह समाज-धर्म नष्ट-प्राय हो गया, इससे बढ़कर दुर्दैव और क्या हो सकता है? भारतीय मनुष्य अपने वैयक्तिक धर्ममें तत्पर होनेपर भी समाज-धर्म अथवा राष्ट्र-धर्म क्या वस्तु है, इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। ऊपरके मञ्जिलके गिर पड़नेपर नीचेकी मञ्जिल जैसे खुली हो जाती है वैसी ही शोचनीय अवस्था आज भारतीयोंकी हो गयी है। इसी कारण उन्होंने समाज-सत्ताकी बातोंको ईश-सत्ताके आवरणमें ढँक दिया है। 'अन्न महँगा हो गया, व्यापार बैठ गया, दूध देनेवाले पशु नष्ट हो गये, लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं।' इत्यादि समस्त बातोंको उन्होंने ईश-सत्ताके ही ऊपर छोड़ दिया है। अनावृष्टि हुई—पानी नहीं बरसा, इस कारण खेती

नहीं हुई आदि बातोंको तो ईश्वरीय सत्तापर छोड़ना ठीक ही है, परन्तु वर्षा होने तथा अन्न और चारा-पानीकी प्रचुरता होनेपर भी दरिद्रता नष्ट न हुई तथा दूध देनेवाली गौओंका भयानक ह्रास न रुका, इस अवस्थामें भी भारतीय ईश-सत्ताकी दुहाई दे चुपचाप बैठे हुए रहते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि भारतीयोंने समाज-धर्मको बिल्कुल ही भुला दिया है। देशमें धन-धान्यकी समृद्धि तथा उनका उचित विभाग, रोग आदिका निवारण, व्यापारका संरक्षण, गोरक्षा इत्यादि बातें समाज-सत्ताके अधिकारकी होनेके कारण समाजकी सत्ताके द्वारा ही सम्पादित होनी चाहिये। राजा समाज-सत्ताका प्रतिनिधि है। लोगोंको समाज-सत्ताका पूर्ण ज्ञान होनेपर ही राजसंस्थापर उनका दबाव भी हो सकता है, लेकिन हमारी सामाजिक भावना ही पहले नष्ट हो गयी। यही कारण है कि हमारे समाजके राजा लोग जन्म-सिद्ध स्वयं-प्रभु बन बैठे और इसी कारण उनके हाथमें रही हुई समाजकी सत्ता दूसरोंके हाथमें चली गयी। इसलिये हिन्दू-जाति पहले समाज-धर्म-हीन हुई और पीछे सामाजिक सत्तासे भी वञ्चित हो गयी। हिन्दुओंका जीवन समाज-धर्म-शून्य होनेके कारण उनका तत्त्वज्ञान वैयक्तिक हो गया, उनका धर्म तथा उनकी नीति भी वैयक्तिक हो गयी और हरएक आदमी अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग पकाने लगा। इस प्रकारकी संकुचित वृत्ति उनके व्यवहारमें मुख्य रूपसे, प्रमुख रीतिसे चलने लगी। तत्त्वज्ञानकी मुहर केवल व्यक्तित्वपर ही पड़नेके कारण उसमें मायावाद उत्पन्न हुआ और उसने संसारको मिथ्या कहकर केवल व्यक्तिगतरूपमें आध्यात्मिक विचार करनेकी शिक्षा दी। उपनिषदोंके तत्त्व-ज्ञानमें पिण्ड-ब्रह्माण्डका विचार होनेके कारण उसमें समाज-धर्मका भी विचार होना स्वाभाविक था परन्तु उत्तरकालीन वेदान्तने संसारको सर्वथा मिथ्या ठहराकर तदन्तर्गत समाजको भी एक भ्रम ठहरा दिया। इस एकाङ्गी तत्त्व-ज्ञानने कार्याकार्यव्यवस्थिति तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके प्रश्नको एक किनारे ढकेल दिया और आत्मज्ञानको सर्वकर्मसंन्याससे जोड़कर एक बिल्कुल ही नवीन मार्गकी स्थापना कर दी। भगवद्गीतामें आत्मज्ञानके साथ निष्काम कर्त्तव्याचरणका योग देकर व्यक्तिके लिये मोक्षदायक तथा समाजके लिये अभ्युदयकारक अमृतत्वके मार्गका उपदेश दिया गया है। परन्तु गीताके दो-तीन हजार वर्षोंके अनन्तर ही इस नवीन वेदान्तने इस व्यवस्थाको नष्ट कर दिया और वेदान्तको केवल संन्यास-मार्गके निमित्त बना डाला। इस मायावादी संन्यास-मार्गका स्वाभाविक परिणाम औदासीन्य हुआ और उसने हिन्दुओंके अन्तःकरणमें घर कर लिया। इस तत्त्व-ज्ञानसे नीचे उतरनेपर विषय-सुखकी परमावधि ही स्वर्ग-सुख मानी जाने लगी और इसे ही धर्माचरणका मुख्य फल निश्चित किया गया, जिससे हिन्दुओंका धर्माचरण भी स्वार्थमय और ज्ञान-शून्य हो गया। आत्मज्ञान और धर्माचरणमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, ऐसा संन्यास-मार्गवालोंके निश्चय करनेके कारण धर्माचरणकी योग्यता अज्ञानमूलक मानी जाने लगी। धर्माचरणका फल मरणोपरान्त मिलता है, जीवनकालमें कभी नहीं मिलता। इसप्रकारकी एक अदृष्ट-कल्पना जोड़ देनेके कारण हिन्दुओंका धर्माचरण एक जादू-सा बन गया। इससे यदि तत्त्वज्ञानमें उदासीन और धर्माचरणमें स्वार्थी बना हुआ हिन्दू-समाज संकुचित वृत्तिवाला बन गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या? केवल समाज-धर्मके बन्धनके शिथिल होनेसे ही हिन्दुओंकी ऐसी सार्वदेशी दुर्दशा हुई, तथापि उपनिषदोंकी पूर्व-परम्परा अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक शील श्रेष्ठ बना रहा। व्यक्तिगत दृष्टिसे हिन्दू मनुष्य-संसारके किसी भी मनुष्यकी अपेक्षा नीतिमत्तामें निम्नश्रेणीका नहीं ठहर सकता। पर इस वैयक्तिक सद्गुणको समाज-धर्मकी बिल्कुल ही सहायता न मिलनेके कारण हिन्दू-संस्कृतिकी अवस्था असहाय हो गयी। तत्त्व-ज्ञानका मेल व्यवहारके साथ न होनेके कारण धर्म और व्यवहारका मेल न हुआ, और इन तीनों तत्त्वोंके रहते हुए भी हिन्दू-संस्कृति बिल्कुल ही लँगड़ी अथवा एकाङ्गी हो गयी। धर्म और व्यवहारमें यदि पहलेके समान तत्त्व-ज्ञानका मेल होता तो हिन्दुओंका समाज-धर्म न डूबता और न इस दुरवस्थाके भोगनेकी नौबत आती। परन्तु एकाङ्गी बनी भारतीय संस्कृति धर्मशील होनेके साथ कर्मशून्य, वैराग्यसम्पन्न होनेपर भी निस्तेज और ज्ञानयुक्त होनेके साथ सामर्थ्यहीन, एवं बुद्धिमान् होनेके साथ कर्त्तव्यशून्य बन गयी। यों होते-होते भारतीय संस्कृति ऐसी अधोगतिको प्राप्त हुई कि विदेशियोंको यह कल्पना करनी पड़ी कि गुलामी इस भारतीय संस्कृतिका स्वाभाविक धर्म है। इस अधो-

गतिसे हिन्दू-संस्कृतिका उद्धार करना हो तो जिस समाज-धर्मके अभावमें इसका अधःपात हुआ है, उस समाज-धर्मकी पुनःप्रतिष्ठा करनेके सिवा हिन्दुओंको इस अधोगतिसे अपना उद्धार करनेके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं है। जिस भूलके कारण हम इस दासताके गर्तमें गिरे हैं उस भूलको सुधारना ही इस गर्तसे बाहर आनेका सच्चा मार्ग है। ईश्वरोपासनाकी बुद्धि हिन्दू-अन्तःकरणसे नष्ट नहीं हुई है। उस ईश्वरोपासनाकी बुद्धिसे ही समाज-धर्मका प्रादुर्भाव किया जा सकता है। और ऐसा करनेसे अपनी हिन्दू-संस्कृतिका ही क्यों, संसारका उद्धार करनेके लिये भी हिन्दू-धर्म समर्थ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ईश्वरोपासना समाजोन्नतिका मुख्य आधार है

आजकल यह एक विवादास्पद प्रश्न हो रहा है कि हिन्दुओंको समाज-धर्मके पुनरुज्जीवनके लिये अर्थ-शास्त्रका अनुसरण करना होगा या उपासना-धर्मका? आर्थिक आवश्यकताएँ, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, प्रापञ्चिक अभिलाषाएँ आदि बातें समाज-निर्माणमें कारणभूत हैं तथापि इस बातको न भूलना होगा कि धर्म भी समाज-संगठनका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। विशेषतः हिन्दू-मनुष्यके स्वाभाविक धर्मप्रवण होनेके कारण हिन्दू-समाजके निर्माणमें धर्म-बुद्धि विशेष उपयोगी होगी, इसमें सन्देह नहीं। संसारका कोई भी समाज हो उसका नियामक उपासना-धर्म होना ही चाहिये, यह बात पहले दिखलायी गयी है। प्राचीन ऋषियोंने वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें समाजकी संस्थापना करते समय ईश्वरोपासनाको उसका नियामक निश्चित किया था और आज भी उसी बातकी आवश्यकता है। आजके समाज-सत्तावादी इस नियामकका विचार नहीं करते। तथापि इसप्रकारकी निर्बन्ध और मर्यादाहीन समाजकी राक्षसी वृत्ति कैसे बनने लगी है, इसका विचार करनेपर उनको आर्योंके समाज-धर्मके तत्त्वको मानना ही पड़ेगा। रूसमें सोवियट लोग ईश-सत्ताको नहीं मानते अर्थात् ईश-तत्त्व समाजका नियामक है, इस बातको वे स्वीकार नहीं करते। परन्तु दूसरे प्रकारसे उन्होंने वैदिक-धर्मके तत्त्वको ही स्वीकार किया है। यह कहना असंगत नहीं है। उपास्य-देवको जितना और जिसप्रकारका महत्त्व दिया जाता है उतना और वैसा महत्त्व वे समाजको दे रहे हैं। परिस्थितिके अनुसार सोवियट लोगोंके कार्यक्रममें महान् अन्तर दीख पड़ता है तथापि तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर पता लगता है कि आर्योंने अपनी वर्ण-व्यवस्था इसी तत्त्वपर स्थापित की थी। समाजको ही परमेश्वरकी मूर्ति मानकर वर्णरहित कर्तव्याचरणके द्वारा उसकी सेवा करना आर्योंके जीवनका मुख्य धर्म है, ऐसा वैदिक ऋषियोंने निश्चित किया था और इसी तत्त्वको सोवियट लोगोंने भी स्वीकार किया है, ऐसा जान पड़ता है। अवश्य ही सोवियट लोगोंके इस सम्प्रदायमें ईश्वरोपासनाकी बुद्धि नहीं है, पर वैदिक धर्मके सामाजिक तत्त्वके द्वारा लाभान्वित होनेसे उनका ऐहिक उत्कर्ष होगा, परन्तु केवल व्यवहार-कुशलतासे अथवा भोग-लालसासे जो समाजमें राक्षसी वृत्ति उत्पन्न होगी, उसे रोकना असम्भव होगा। अपने समाजकी उन्नति करनेके लिये सोवियट लोगोंके व्यावहारिक तत्त्व कितने ही उपयोगी हों, तथापि दूसरे राष्ट्रोंके स्वातन्त्र्य अपहरण करनेका अवसर आनेपर भविष्यत्कालमें आत्म-संयमन करना उनके लिये कठिन हो जायगा। अतिरिक्त इसके, समाजमें कौटुम्बिक संरक्षण, वैयक्तिक नीतिमत्ता तथा उपभोगकी लालसाका मर्यादित रहना इत्यादि बातें इस समाजके लिये असाध्य हो जायँगी। इसलिये अर्थ-शास्त्रके साथ-साथ धर्म-बुद्धिका विचार करना आवश्यक है, यह निश्चित है। साम्पत्तिक समता, प्रयत्नशीलता, स्वयं परिश्रम करनेका उत्साह, आत्म-संयम, कौटुम्बिक पवित्रता इत्यादि सामाजिक सद्गुणोंका केन्द्र बननेयोग्य तत्त्व आज सोवियट लोगोंके सम्प्रदायमें नहीं है। इसलिये भविष्यमें कभी-न-कभी सोवियट लोग आर्योंके समाज-धर्मके तत्त्वपर आवेंगे और तभी वे राक्षसी महत्त्वाकांक्षाके चंगुलसे छूटेंगे।

उपसंहार

आर्योंने वर्ण-व्यवस्था स्थापितकर लोगोंके हृदयपर यह अङ्कित कर दिया कि चातुर्वर्ण्यात्मक समाज-धर्म ही परमेश्वर है। यही कारण है कि उन्नतिके समयमें भी आर्योंका समाज राक्षसी आदर्शकी ओर नहीं गया और इसी कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक चरित्र इतनी अधोगतिके प्राप्त होनेपर भी थोड़ा-बहुत उज्ज्वल रहा। इस उज्ज्वल चरित्रके बलपर ही शताब्दियोंसे दासताके नरकमें पचते रहनेपर भी वे आजतक जीवित रहे हैं तथा ऊपर उठनेके लिये चेष्टा करते रहे हैं बल्कि उनके हित शत्रुओंको भी 'यह हिन्दू लोग आज या कल अपने सिरको ऊपर उठावेंगे



भगवान्—श्रीबलरामरूपमें

ऐसी शङ्का बनी हुई है । यदि ऐसा न होता तो आस्ट्रेलिया, अमरीका, कार्थेज आदि देशोंके मूल-निवासियोंके अनुसार हिन्दुओंका नाम कभी शेष हो गया होता । तात्पर्य यह है कि मानवी समाजके उत्पन्न होनेके लिये आर्थिक आवश्यकताएँ, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, संरक्षणकी व्यवस्था, उपजीविकाका साधन आदि वार्तोके कारणीभूत होनेपर भी समाजका संरक्षण, संवर्द्धन और उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति आदि वार्तोके लिये उपासना-बुद्धिकी अत्यन्त आवश्यकता है । समाज-सेवा ही ईश्वर-सेवा है—इस तत्त्वको वैदिक धर्मने जिसप्रकार मूलतः और उपपत्तिपूर्वक सिद्ध किया है, उसप्रकार आजपर्यन्त किसी भी अन्य धर्मने सिद्ध नहीं किया । इसी तत्त्वके आधारपर हिन्दू-राष्ट्र प्राचीनकालमें परमोच्च पदपर आसीन था और अब भी वह इसी तत्त्वके बलपर उस अपने प्राचीन उच्च पदको प्राप्त करेगा । समाजका विचार करनेवाले समाज-शास्त्रज्ञको श्रीमद्भगवद्गीता और दशोपनिषदोंमें वर्णित मानव-समाज-धर्मके तत्त्वोंका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करने तथा संसारके आजतकके इतिहासका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि समाज-सत्तापर ईश्वरीय सत्ताकी नियामकता अत्यन्त ही आवश्यक है ।

ईश्वर-प्रेम विना शान्ति असम्भव है

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदात्मानन्दजी)

संसारके ताण्डव-नृत्यमें प्रेम सर्वत्र नाना विध कार्य कर रहा है । हाथीसे चींटीपर्यन्त समस्त जगत् प्रेम-पाशसे बँधा हुआ उन्मत्तकी तरह नाच रहा है । सांसारिक पदार्थोंकी प्रीति ही यह सारा नाच नचा रही है । उर्दूका एक कवि कहता है कि—

सबको दुनियाकी हविस ख्वार लिये फिरती है ।
कौन फिरता है यह मुरदार लिये फिरती है ॥

यही विषय-प्रेम चोरसे चोरी और जारसे जारी कराता है । इसीके जालमें फँसे हुए महिपालोंकी विषयासक्ति प्रजाको नष्ट किये देती है । धर्म-प्रेमकी आड़में अज्ञान और दुराग्रहके कारण भिन्न-भिन्न मतावलम्बी कलहाग्नि भड़काते हुए स्वयं भी उसीमें दग्ध होनेसे नहीं चूकते । धर्म जो वास्तवमें शान्ति-प्राप्तिका साधन है इन धर्मान्ध लोगोंके कारण अशान्ति उत्पन्न करनेवाला बना दिया जाता है । धनी निर्धन श्रमजीवियोंका लहू चूसते हैं, राजा प्रजाको भक्षण कर रहे हैं । यह विषयासक्ति मनुष्यको भाँति-भाँतिके नाच नचा रही है, चैनसे बैठने नहीं देती । संसारके सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, इनमें प्रेम भी निमेषमात्रका ही है, वस्तु-नाशसे प्रेमका भी नाश हो जाता है । परन्तु यदि वही प्रेम किसी अविनाशी वस्तुमें लगा दिया जाय तो वह सदैव सुखद बना रहे । वह अविनाशी तत्त्व केवल एक अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है जो इस दृश्यमान् जगत्का आधार है, जिसकी मायासे इस संसारकी उत्पत्ति हुई है और जो स्वयं इस मायाके घूँघटमें सुन्दरीकी तरह छिपा बैठा है । प्रेमी तो उस अचिन्त्य सौन्दर्य-शशिका ही चकोर है, जबतक वह घूँघट हटाकर उस चन्द्रमाको लजानेवाली अनुपम ज्योतिका साक्षात्कार नहीं कर लेता, उसे धैर्य कहाँ हो सकता है ? सात्त्विक बुद्धिद्वारा जगत्-तत्त्वोंका विश्लेषण करते-करते वह समझ तो जाता है कि इस अतिशय चञ्चल सृष्टिका कर्ता और आधार कोई अविनाशी और स्थिर तत्त्व जरूर है परन्तु केवल इतना ही जान लेनेसे उसे चैन नहीं पड़ता । प्रेमीको तो उस प्रीतमसे आलिङ्गन किये विना शान्ति नहीं मिलती ।

वह प्रेम क्या वस्तु है, कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह गूँगेके गुड़की तरह अनुभवगम्य ही है । इतना ही इशारा किया जा सकता है कि यह हृदयका कोई ऐसा प्रबल भाव है जो प्रेमीको प्यारेसे मिला देता है, बीचका परदा हटा प्रियतमसे साक्षात्कार करा देता है । उस अभीष्ट मिलनसे जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है, उसका वर्णन हो ही नहीं सकता । सब सांसारिक पदार्थ उस अवर्णनीय आनन्दके आगे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं । स्वार्थ और अहंकार उसके शत्रु हैं, जब यह प्रकट होते हैं तो एक गहरा परदा बीचमें डाल देते हैं जिससे प्रीतमका मुखारविन्द आँखोंसे ओझल हो जाता है । सच्चा प्रेम निःस्वार्थ होता है । जिसमें स्वार्थ है वह

प्रीति विषैली और क्षणिक है, चिरस्थायी नहीं; क्योंकि स्वार्थकी पूर्ति होते ही वह प्रीति भी नष्ट हो जाती है। यही पार्थिव-प्रेम है। परन्तु वह अपार्थिव प्रेम तो कुछ न्यारी ही वस्तु है, उसमें स्वार्थकी छाया भी नहीं होती। उसमें केवल प्यारेके दर्शनकी ही लालसा रहती है। वियोगमें जीवन भी भार मालूम होता है। चित्त अशान्त और विह्वल रहता है। इस विशुद्ध प्रेमांकुरके प्रकट होनेसे जगत्के जो सब विषय पहले सुखदायी हुआ करते थे, वे सब दुखदायी प्रतीत होने लगते हैं। धन-परिवार, इष्ट-मित्रादि सब विघ्नरूप दिखायी देते हैं, यहाँ-तक कि अपना शरीर भी जो वास्तवमें सांसारिक पदार्थों-में सबसे अधिक प्रिय माना जाता था, अब प्यारेके वियोगमें काँटा-सा चुभता है। जब ऐसी विह्वलता बढ़ जाती है तो वह प्यारेको हठात् खींच लाती है। प्रेमकी डोरीसे बँधे हुए श्यामसुन्दर अपने आप खिंचे चले आते हैं। परन्तु सच्ची लगन चाहिये। हृदय समस्त कुटिल वासनाओंसे शून्य होना चाहिये। प्रेम सौतकी तरह दूसरेका अस्तित्व नहीं सह सकता। यदि वह प्रबल हुआ तो सारी वासनाओंको भगा देता है। नहीं तो परास्त होकर स्वयं हृदय-मन्दिरको छोड़कर चला जाता है। बहुत लोग पूछा करते हैं कि यह प्रेम कैसे लावें, यह तो किसी भाग्यशालीके हृदयमें ही होता है। हमारा कहना यही है कि 'हृदयमें जगह हो तो प्रेम भी समावे, जहाँ इसके शत्रुओंका राज्य हो और निरन्तर उनका कोलाहल मचा रहता हो वहाँ बेचारा प्रेम जाकर क्या अपना सिर फोड़े? प्रेमकी तरंगोंसे यदि हृदयको सींचना हो और अपनी हृदय-वाटिकाको आनन्दादि कुसुमित लताओंसे विभूषित करना हो तो पहले हृदय-क्षेत्रको कामादि कूड़े-करकटसे साफ करनेका यत्न करो, फिर देखना, प्रेमरूपी धारा स्वयं आकर तुम्हारी वाटिकाको हरी-भरी बना कैसी प्रफुल्लित कर देती है? बस, फिर उस प्रेम-धारामें नित्य स्नान करते हुए आनन्दका अनुभव करते रहना।

इसप्रकार जब इस प्रेमका अधिकार बढ़ता जाता है और रोम-रोमसे प्रेमधारा बहने लगती है तो शरीर, मन और बुद्धिमें अहंकार, ममता ठहर ही नहीं सकती। वास्तवमें यह अहंकार ही सारी अशान्तिकी जड़ है। इससे मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओंमें फँसकर जीवन-मरणरूपी शृंखलामें बँधा रहता है और नाना प्रकारके सुख-दुःखोंमें डूबता-उतराता अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है। आश्चर्य तो यह है कि इस गोरखधन्धेमें फँसे रहना ही उसे भला मालूम देता है। यदि इसप्रकार-की स्थितिसे अशान्ति हो तो इससे निकलनेकी भी चेष्टा हो। इस अशान्तिके बढ़ते जानेसे विवेक-वैराग्य प्रकट होते हैं फिर हृदयमें निर्मलता बढ़ती है। मलरहित हृदयमें भगवान्‌की झलक पड़नेसे आनन्द प्रस्फुटित होने लगता है।

यह प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्गकी अपेक्षा सरल, सरस और सुमधुर है। इसमें बुद्धिकी तीव्रता और बालकी खाल निकालनेकी योग्यताकी जरूरत नहीं; केवल हृदय कोमल, विरक्त, शुद्ध और विशाल होना चाहिये। विशाल इतना कि, उसमें सारा विश्व समा सके, क्योंकि भक्तके लिये तो समस्त जगत् भगवान्‌का रूप ही है, जैसे गुसाईं तुलसी-दासजीने कहा है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

ऐसे भक्तके हृदयमें ईर्षा, द्वेष, मानापमान, भय, क्रोधादि कोई दुर्वासना नहीं समा सकती। जब समस्त दृश्य प्रीतमका ही रूप हो गया तो वह किससे द्वेष करे और किससे भय? जब ऐसे भाव मनमें दृढ़ होकर समता हृदयस्थित हो जाती है तो आनन्दकी सीमा नहीं रहती, मनमें ममता और अहंकारका एकदम अभाव हो जाता है। जिस शरीर और सांसारिक विषयोंसे इतनी ममता थी, वह सब भगवान्‌को सौंप देनेपर निर्भरता आ जाती है। सब कुछ उन्हीं सर्वशक्तिमान्‌का ही ऐश्वर्य है। जीव अपना स्वत्व जबरदस्ती व्यामोहके कारण इन जगत्‌के पदार्थोंपर आरोपित करता है। वह नहीं समझता कि उसका अपना क्या है। मोहका प्राबल्य कुछ ऐसा विकट है कि इसने सब विश्वको बाँध रखा है, विरले ही इसके पंजेसे बचने पाते हैं। वही बचते हैं जिन्होंने विवेककी कसौटीपर इन मायावी पदार्थों-को भलीभाँति परख लिया है और इनकी निस्सारता जान ली है और विश्वपति परमेश्वरको ही वह मोह भी सौंप चुके हैं। अब मोह है तो उन्हींसे, ममता है तो उन्हीं-पर। मनके कामादि विकार विकृत और दुःखमय तभीतक हैं जबतक नश्वर पदार्थोंके साथ जोड़े जाते हैं। यदि वही अखण्ड अविनाशी प्रभुपर आरोपण कर दिये जायँ, तो वह आनन्द और मुक्तिके हेतु बन जाते हैं।

काम-वासना जब मनुष्यके ऊपर आक्रमण करती है तो मनमें प्रेम-पात्रके मिलनेकी और निरन्तर उसे नजरके सामने रखनेकी ही इच्छा होती है, क्षणभरके लिये भी उसका आँखोंसे ओझल होना प्रेमीको असह्य होता है। कामके वशीभूत प्राणीको न भोजन ही रुचता है, न और कोई विषय-सुख। उसकी शरीरमें भी ममता नहीं रह जाती। उसकी तो निरन्तर चिन्ता एकमात्र प्यारेसे ही मिलनेकी रहती है। यह वासना और सब वासनाओंसे प्रबल है, इससे मनुष्य अन्धा बन जाता है, न किसीकी लज्जा, न किसीसे भय। इसी मनोभावका दृष्टिकोण बदलकर यदि उसे सौन्दर्य-राशि अविनाशी प्रभु श्यामसुन्दरकी ओर लगा दें तो वह अलौकिक आनन्ददायक बन जाता है। क्षणिक पदार्थोंसे अनुराग और उनसे प्राप्त सुख भी नाशवान् और सारशून्य है, अविनाशी दयामय आनन्दकन्दकी प्रीति मायानाशिनी और अखण्ड आनन्ददायिनी है। जैसे प्रह्लाद भगवान्‌से कहते हैं कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

यही प्रीति और भाव प्रातःस्मरणीय वृन्दावनकी गोपियोंमें था, जिसे विकृत स्वभाववाले पार्थिव कामादि पिशाचोंसे ग्रसे हुए मनुष्य समझ ही नहीं सकते। उन महा-भागा युवतियोंने व्रजचन्द्र मुरलीमनोहरपर सर्वस्व न्योछावर करके मन और हृदय भी उन्हींके चरणोंमें उत्सर्ग कर दिये थे। उन्हें सर्वत्र श्याम-ही-श्याम दृष्टिगोचर होते थे, समस्त जगत् उनकी आँखोंमें श्याममय बन गया था, चराचर-सृष्टि उन्हींका रूप हो गयी थी। 'मनमें राम हाथसे काम' की कहावत अक्षरशः उन्हींपर घटती थी। धन्य व्रजललनाओ! जीवन्मुक्तिका यथार्थ आदर्श तुम्हींने चरितार्थ करके दिखलाया। तुम्हारी ही लीलाओंको गा-गाकर अब भी प्रेमी लोग भगवत्-प्रेममें मस्त हो जाते हैं।

क्रोध-वासनाको तुच्छ जीवोंपर खर्च करना मूर्खता नहीं तो क्या है? इसप्रकार किया हुआ क्रोध पापका मूल है। वह अपनेको दुःख और दूसरेको क्लेश देता है और हाथ कुछ भी नहीं लगता। क्रोधके वशीभूत जीवो! क्रोध उससे करो जो तुम्हारे क्रोधका बदला प्रेममें दे, तुम्हें छातीसे लगावे और तुम्हारे हृदयकी जलनको शीतलतामें बदल दे। उस बालककी तरह क्रोध करो जिसकी माता उसे खिलौना दे बहकाकर कहीं अपने कामके लिये चली गयी है। बच्चा खिलौनेको फेंक रोता और चिल्लाता है, सारा घर सिरपर उठा लेता है, माँ-माँ पुकारता हुआ क्रोधके मारे धूलमें लेट जाता है, धरतीपर हाथ-पाँव मारता है और किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता। माताको इतना साहस ही नहीं होता कि इस स्थितिमें वह बालकसे दूर रहे। वह दौड़ी आती है और धूलसे लथपथ बच्चेको गोदमें उठाकर तत्-काल छातीसे लगाती है। परन्तु तब भी बालक मचलता जाता है, गोदसे खिसकता जाता है, मानो सूचना देता है कि अब आगेसे यदि कहीं मुझे छोड़कर जाओगी तो फिर मानूँगा ही नहीं। माँ उसे पुचकारती है, खुशामद करती है, अनेक प्रकारसे प्यार करती है, तब कहीं वह शान्त होता है। ऐसे ही धन-परिवार आदि खिलौनोंसे, जो जगन्माताने तुम्हें भुलानेके लिये दे रक्खे हैं तुम्हारी हार्दिक असन्तुष्टि हो जायगी और इनसे मन हटाकर इनकी तनिक भी परवा न कर सरल दृढ़निश्चयी शिशुकी भाँति उस विश्व-जननीको पुकारोगे तो वह भक्तवत्सला दयामयी तुमसे दूर नहीं रह सकेगी। हठात् आकर तुम्हें छातीसे लगा लेगी। फिर कभी खिलौनोंसे प्रीति न जोड़ना, नहीं तो वह फिर आँखोंसे ओझल हो जायगी। मोहकी महिमा बड़ी प्रबल है। मनुष्य सांसारिक विषयोंको दुःखद समझता हुआ भी उनसे प्रत्यक्ष दुःख-भोग करता हुआ भी मदान्ध हो उन्हींमें आसक्त रहता है। भगवान्‌की कृपा हो तो छुटकारा मिले। उनकी कृपाका पात्र होनेके लिये प्रेम चाहिये। प्रेमी तो प्रेम-मदिरा पानकर उसीमें मस्त रहता है। शरीर-परिवारादि-से उसका यदि किञ्चित् प्रेम है और वह उनकी सेवा करता है तो उन्हें भगवान्‌की सम्पत्ति समझकर ही करता है। न इनके रहनेका उसे हर्ष है न जानेका शोक। वह भली-भाँति समझ गया है कि यह सारे पदार्थ स्थायी नहीं, एक-न-एक दिन इनसे विछोह होता ही है। इसीलिये प्रेमी इन सबमें मोह न रखकर उस एक अखण्ड अविनाशी परमात्मासे ही स्नेह रखता है जो वास्तविक आनन्दका समुद्र है और प्रेमधाराका अविच्छिन्न स्रोत है।

प्रेम-मार्गका अनुगामी इसप्रकार काम-क्रोधादिके सम्बन्धमें अपना भाव ही बदल डालता है। उसकी चतुराई सराहनीय है कि उसने मनके विकारोंको जो साधारणतः पाशरूप हैं अपने उत्थानके लिये सहायक बना लिया। अब उसका सर्वस्व केवल एक मदनमोहन श्यामसुन्दर ही हैं, किसी दूसरेसे उसकी प्रीति ही नहीं। इस

को वह भगवान्‌का यन्त्र समझता है, इसीसे वह अहंकार नहीं रखता। भगवद्-वाक्यपर उसकी पूरी निष्ठा है।

प्रेममार्गावलम्बीके लिये पहले अपना हृदय सब कुटिल वासनाओंसे शुद्ध करके निर्मल बना लेना परमावश्यक है। ज्यों-ज्यों हृदय पवित्र होता जायगा त्यों-ही-त्यों प्रेमकी वृद्धि होती जायगी। विषय-वासनाएँ बारम्बार आ-आकर घेरेंगी और कभी-कभी भगवान्‌में अश्रद्धा भी अपना प्रहार करेगी, परन्तु जिस प्रेमीने गुरु और भगवद्-वाक्योंसे सब शङ्काओंको हटाकर एक निष्ठा प्राप्त कर ली है, वह अपने पथसे विचलित नहीं होता, साहस और दृढ़तासे उन सब विघ्नोंपर विजय प्राप्त कर लेता है *और भगवान्‌का अनन्य शरणागत हो जाता है।* जो निष्कपट भावसे उनकी शरणमें आ जाता है, दीनबन्धु उसकी रक्षा करते ही हैं। उनकी यह घोषणा प्रसिद्ध है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
>
> (गीता)

यही सब धर्मोंकी पराकाष्ठा है, यह अनन्य शरणागति ही सर्वयोग-समन्वय है। प्रेमीका सर्वस्व यही है। माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-कबीला सब वही एक श्यामसुन्दर हैं, प्रेमी भक्त समस्त ब्रह्माण्डको उन्हींका रूप जानकर नमस्कार करता है। ऐसे जीवके रोम-रोमसे प्रेम-धारा उमड़-उमड़कर बहती है। उसके हृदयके कपाट सहसा खुल जाते हैं, द्वैतका नाश हो जाता है। भक्त उन्मत्त होकर नाचता है, कभी भगवान्‌की विचित्र सृष्टि देख-देखकर विस्मित हो जाता है। तन-मनकी सुधि नहीं, सब कुछ रूपान्तरित हो दृष्टिसे ओझल हो जाता है। केवल उन्हीं भगवान्‌का, जो अकथनीय, अचिन्त्य और अनुभवगम्य हैं, भान होता है। यही प्रेम-समाधि है, जहाँ न द्रष्टा रहता है, न दृश्य; न द्वैत है, न अद्वैत; इस अवस्थाको वही जान सकता है जो इसका अनुभव करता है। इसी अवस्थामें हृदयकी ग्रन्थि टूटती है, सब संशय वास्तवमें इसी दशामें पहुँचकर मिटते हैं। *बुद्धिकी क्या* शक्ति, जो इस अनन्त वस्तुका चिन्तन भी कर पाये। वह उछल-कूदकर थक जाती है। जब मनुष्यमें बुद्धि-बलका सहारा और अभिमान नष्ट हो जाता है तो उसमें सहयोग करनेकी उसकी इच्छा आती रहती है। मन, बुद्धि आदि जिनपर मनुष्यको बड़ा घमण्ड है, गम्भीर विचारसे देखा जाय तो आत्माके बन्धनके लिये दृढ़ पाश हैं। हाँ, प्रेमानन्दकी स्थितिसे पहले यह सहायक अवश्य होते हैं। परन्तु प्रेमके अगाध समुद्रमें मग्न होनेके लिये इनकी आवश्यकता ही नहीं, उस समय तो यह बन्धन बन जाते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव संशयात्मक है। परमात्मासे पृथक् करनेमें संकल्प-विकल्परूप होनेके कारण यह परदा बनकर खड़े हो जाते हैं। प्यारेका मुखारविन्द छिप जाता है। प्रेमके प्यासे जीवो! छोड़ो इस मृगतृष्णाको! इनके धोखेमें पड़कर जीवन नष्ट न करो, सिवा भटकते-*भटकते प्राण दे देनेके और कुछ न मिलेगा। इनसे मुँह फेरो* और इस अमृतमय प्रेम-सागरकी ओर प्रस्थान करो। वहाँ पहुँचकर बिना विचारे उसमें गहरी डुबकी लगाओ, अनन्त जन्मोंकी सारी आग बुझ जायगी, समस्त ताप शान्त हो जायँगे, अनन्त कालकी प्यास बुझ जायगी। इसके बिना और गति नहीं। निराधार होकर 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' की शरण जाओ। निस्सहायोंके वही सहायक हैं, निराधारके वही आधार हैं। इस अगाध संसार-सागरमें डूबते हुए एक बार तो उन्हें हृदयसे पुकारो। जिन्होंने गजकी पुकार सुनी, जिन्होंने द्रौपदीकी सङ्कटके समय सहायता की, जिन्होंने बालक प्रह्लादकी अनेक आपदाओंमें रक्षा की, *क्या वह तुम्हारी न सुनेंगे?* वह दयामय हैं, भक्तवत्सल हैं, अपने शरणागतकी कभी अवहेलना नहीं करते, यह उनका स्वभाव है। विषयादि संसारकी प्रचण्ड ज्वालासे दग्ध प्राणियो! फूट-फूटकर रोओ और उनकी सुखद शीतल गोदमें जा बैठो! तुम्हारी सब जलन एकदम मिट जायगी, दूसरा कोई इस दाहको शान्त करनेवाला नहीं। परन्तु उनके पास मन, बुद्धि, अहङ्कारादि चीर-धारीकी *गम्य नहीं,* वहाँ नंगे होकर ही जाना पड़ता है। यदि श्यामसुन्दर स्वयं तुम्हारे चीर चुरा लें तो तुम धन्य हो! तुम्हारा बड़ा भाग्य है, गोपियोंकी तरह तुम भी उनके अन्तरंग सखा बन जाओगे और भगवान्‌की लीलामें तुम भी भाग ले सकोगे। फिर यह संसारका नृत्य रास-लीलामें बदल जायगा। तब नित्यानन्दका खेल होगा। निपट अनाड़ी नंगे होनेकी हिम्मत हो तो प्रयत्न करो, भगवान् तुम्हारी सहाय करें।

वर्तमानकाल और ईश्वर-स्मरण

(लेखक—ह० भ० श्रीविनायकनारायण जोशी, साखरे महाराज)

६६ वर्षकी आयु होनेसे शरीरमें आयी हुई अशक्ति, पूर्व-अवस्थामें देखे हुए धार्मिक आचार, अपने घरका वंश-परम्परागत अद्वैतात्मज्ञानका सम्प्रदाय, आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययनसे मनपर आये हुए संस्कार इत्यादि कारणोंसे वर्तमान समयके धर्महीन आचरणोंको देखकर उनके संसर्गसे बचनेके विचारसे जन्मस्थान पूना शहरको छोड़कर एकान्तवास करनेके लिये समीपके आलन्दी-क्षेत्रके पश्चिमकी ओर कुछ दूरीपर झोंपड़ी बाँधकर रहता हूँ और अद्वैतात्मज्ञानके प्रतिपादक श्रीज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव इत्यादि प्राकृत ग्रन्थोंका अध्ययन और अध्यापन कर रहा हूँ एवं इससे मनको सन्तोष भी है।

आजकल धर्मह्रासके कारण बड़े-बड़े आधुनिक विद्वानोंके मनमें भी श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंमें अश्रद्धा और उदासीनता, विहित और अविहित विषयासक्ति, निषिद्ध आचार, ईश्वरके विषयमें तुच्छ बुद्धि इत्यादि बातोंको देखकर प्रत्येक आस्तिक मनुष्यका चित्त विषण्ण हो जाता है, इसमें शंका नहीं। आधुनिक समाचार-पत्रोंकी धूम-धामसे साधारण धार्मिक मनुष्यमें भी बुद्धिभेद हो जाता है। इन पत्रोंके लेखकोंके ऊपर सरकारद्वारा विद्वत्ताकी मुहर लगी होती है। वे बुद्धिमान् होते हैं, उनकी लेखनशक्ति युक्तियुक्त और मनोमुग्धकारी होती है और मनुष्य प्रायः विषयासक्त होते हैं। इसी कारण समाचार-पत्रोंके लेख, अधिकांश लेखकोंके शास्त्र-ज्ञानाभावके कारण शास्त्र-विरुद्ध होनेपर भी स्वराज्य-सदृश ऊपरसे मनोमुग्धकर दीखनेवाले विषयोंमें भूलकर धार्मिक लोग भी निषिद्ध व्यवहारमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसका कारण यही है कि 'सब प्रमाणोंमें श्रेष्ठ, अपौरुषेय, स्वतःप्रमाणभूत वेद सब प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयस्के लिये प्रवृत्त हुए हैं तथा जीवोंके ऐन्द्रिय वासनाओंकी पूर्तिके साधनोंको बतलानेमें इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई है' यह वेद-शास्त्रोंके उपदेशका मर्म सम्प्रदायपूर्वक शास्त्राध्ययनके न होनेके कारण आधुनिक विद्वानोंको ज्ञात नहीं होता और कदाचित् शाब्दिक ज्ञान हो भी तो वह उनके हृदयमें पैठा नहीं होता।

इसके विपरीत उनकी ऐसी समझ प्रतीत होती है मानो 'शास्त्र जीवोंकी विषयेच्छा तृप्त करनेके लिये ही बने हैं। प्राचीन स्मृत्यादि ग्रन्थोंके नियमोंसे विषयभोगमें अन्तर पड़ता हो तो मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोंमें वर्तमान समयके अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिये। अथवा एक नवीन स्मृति-ग्रन्थ तैयार करना चाहिये। क्योंकि जीवोंकी मानसिक अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेके लिये ही वेद-शास्त्रोंका निर्माण हुआ है।' ऐसा उनका कथन है। इसीके अनुसार पत्रोंमें लेख भी आते हैं। साथ ही लौकिक कीर्ति अथवा द्रव्य-प्राप्तिके लिये कुछ शास्त्री लोग तथा आचार्य-नामधारी लोग भी, इन आधुनिक पत्रोंके अशास्त्रीय लेखोंका समर्थन करते हैं। इन शास्त्रियों तथा नामधारी आचार्योंको प्रायः यथार्थ शास्त्रज्ञान नहीं होता। और कदाचित् हो भी तो द्रव्यादिके लोभसे वे अशास्त्रीय मत-प्रवर्तकोंकी मदद करते हैं। कहीं उनके विरुद्ध कोई विद्वान् कुछ कहना चाहे और प्रमाण तथा युक्तिपूर्ण लेख लिखे तो आजकलके पत्रोंमें ऐसे लेखोंको स्थान ही नहीं मिलता और यदि उनपर विद्वान् होनेकी सरकारी मुहर न लगी हो तो आधुनिक विद्वान् तथा उनके अनुयायी शास्त्रियों और आचार्योंके द्वारा उनका तिरस्कार किया जाता है। जिन पत्रोंमें अशास्त्रीय लेखोंके लिये काफी स्थान रहता है, उनमें उनके प्रतिवादके लिये जरा-सी भी जगह नहीं मिलती। द्रव्याभावके कारण, सम्प्रदायपूर्वक शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न और आचार-सम्पन्न शास्त्री पण्डितोंकी स्थिति 'मारे और रोने भी न दे'—जैसी हो जाती है। यह तो बड़े-बड़े शास्त्री पण्डितोंकी हालत है, फिर हमारे-जैसी स्थितिवाले पुरुषकी तो बात ही क्या है? जिन्होंने विदेशियोंके सहवासमें रहकर विदेशी भाषाका पूर्ण ज्ञान सम्पादन किया है तथा इस समय जो नयी पीढ़ीके गुरु बन बैठे हैं, उनकी संगति और शिक्षाका ऐसा कुछ विलक्षण प्रभाव दीख पड़ता है कि जो कहते ही नहीं बनता। सदाचारसम्पन्न घरानेका पिता अपने लड़केको विद्वान् बनानेके लिये कालेजमें भेजता है और वह सपूत पहली ही यात्राके छः ही महीनेमें मूँछ मुड़ाकर और सिरपर छप्पर डालकर घरमें आते ही अपने शास्त्रीय आचारसम्पन्न माँ-बापको तथा पूर्वजोंको 'मूर्ख' कहनेका हक प्राप्त कर लेता

है ! माँ-बापको उसकी बातें सुनकर मनमें खेद होता है, परन्तु पुत्र-स्नेहके सामने इसका इलाज ही क्या है ? यह है विद्यार्थी लड़केकी दशा !

करीब ७५ वर्ष हुए, हमारे आधुनिक विद्वानोंमें पाश्चिमात्योंके समीप रहनेके कारण स्त्री-शिक्षाकी अभिरुचि उत्पन्न हुई । स्त्रियोंकी शिक्षा बिल्कुल ही न हो, प्राचीन लोगोंका यह मत नहीं था । परन्तु उसकी कुछ मर्यादा होनी चाहिये; गृह-कृत्योंको सँभालकर विश्रामके समयमें उन्हें धार्मिक-पौराणिक ग्रन्थ बाँचना आ जाय, इतनी ही शिक्षा उत्तम है । जिनको इतनी शिक्षा न होती उनको गाँवके सार्वजनिक देवालयमें कथा-पुराण-श्रवणकी सुविधा रहती थी अथवा धनी-मानी-कुलीन घरोंमें कथा-पुराणके लिये पौराणिक रहते थे, उनसे कुलीन स्त्रियाँ कथा-पुराण सुना करती थीं ।

वर्तमान स्त्री-शिक्षामें धार्मिक श्रद्धाको कोई स्थान नहीं है । स्त्री-जातिकी प्रतिष्ठा बढ़ानेवाला जो आचार-सम्पन्न घरानोंका विनयका बर्ताव था वह भी सर्वथा नष्ट हुआ दीखता है । विवाहकी वय-मर्यादाके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है । शारदा-कानूनके कौंसिलमें आनेके पूर्व ही सब वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणवर्णमें ही, पाश्चात्य शिक्षासे एवं अन्य किसी भी कारणसे समझिये, परिस्थितिमें परिवर्तन हो जानेके कारण कन्याकी विवाह-मर्यादा आठ वर्षसे ऊँची चढ़ते-चढ़ते बत्तीस वर्षपर्यन्त पहुँच गयी थी ! ऐसे वर-वधू विवाहके दिन ही सन्ध्याके समय हाथ-से-हाथ मिलाकर लग्नसे पहले ही शुद्ध हवा खानेके लिये निकल पड़ते हैं । एक लड़केको उसके पिताने कहा कि, 'अरे ! आज शामको बरात निकलनेवाली थी और उसी समय तुम दोनों हमसे बिना पूछे मूर्खके समान बाहर हवा खाने चले गये, इसका क्या अर्थ ?' लड़केने कहा—'बाबा ! तुम्हारे जमानेके मूर्खताके दिन अब नहीं रहे । यह बीसवीं सदी है । इसके अतिरिक्त मेरी बी० ए० की परीक्षा समीप है और 'वाइफ' (मेरी स्त्री) एम० ए० पास है । उससे मुझे कुछ समझना था । चाय लेनेपर हम दोनोंमें परस्पर कुछ प्रेम-मय (डिबेट) वाद-विवाद हुआ । इतनेमें टहलनेका समय हो गया और हम टहलने चले गये । मेरी समझमें नहीं आता कि इससे क्या नुकसान हो गया । बरात और लक्ष्मी-पूजनमें क्या रक्खा है ? मैं जानता हूँ तुम्हें मेरी बात नहीं रुचेगी । परन्तु मैं बड़े खेदके साथ कहता हूँ कि तुम जो तुलसीकी माला लेकर नाम जपने बैठ जाते हो, इससे तो देश-सेवामें लगना कहीं अच्छा है ।' सपूतका उपदेश सुनकर पिताकी बुद्धि चकरा गयी और 'ऐसे पुत्ररत्नकी अपेक्षा पुत्रहीन रहता तो अच्छा होता' ऐसा विचारकर वह बेचारा चुप हो गया ।

एक लड़कीको लग्नके पूर्व लग्नके कपड़े पहनकर गौरी-पूजनके लिये बैठनेको कहा गया । उसने कहा—'मेरी परीक्षा समीप है, पाठ बहुत-से पड़े हैं, हिस्ट्री तो अभी देखी ही नहीं है, मुझे गौरी-पूजनके लिये समय ही कहाँ है ? फिर ये तुम्हारी लग्नकी पोशाक मुझसे नहीं पहनी जाती ।' कन्याकी इस बातको सुनकर बूढ़े माँ-बापको कितना सन्तोष हुआ होगा, इसका विचार विज्ञ पाठक ही करें । धार्मिक आचारोंके विषयमें विचार करनेपर भी अत्यन्त निराशा मालूम होती है । आजकलके युवक सन्ध्या-वन्दन किसको कहते हैं, यह भी नहीं जानते । आचमनी, पञ्चपात्रका स्थान चमची और कप आदिने ले लिया है । देवपूजन, नैवेद्य और बलिवैश्वदेवका उन्हें नाम भी नहीं मालूम है । आजकल अग्निहोत्रका अर्थ तो प्रसिद्ध है । एक पाकिटमें समिधा और दूसरेमें अग्निसिद्ध सलाईकी डिबिया; इनके तैयार रहते अग्निहोत्रमें क्या देर लगती है ? फिर भी इस अग्निहोत्रका मुख्य स्थान शौचकूप ही होता है । शास्त्र कहते हैं कि जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता ईश्वर है । श्रेष्ठ पुरुष इस बातको मानते आये हैं परन्तु यह आजकलके नौजवानोंको तनिक भी मान्य नहीं । पूनाके एक कालेजके प्रिंसिपल महोदयने एक बार यह घोषणा की थी कि 'यदि जगत्‌में ईश्वर नामका कोई है तो उसे सामने आनेके लिये मैं आह्वान करता हूँ ।' मानो हुक्मके साथ ही ईश्वरको सिपाहीके समान प्रिंसिपल साहबके सामने हाथ बाँधकर खड़े हो जाना चाहिये । ऐसे पुण्यजन गुरुओंके विद्यार्थी अथवा विद्यार्थिनी उपरिलिखित रूपमें माँ-बापको उत्तर दें, इसमें आश्चर्य ही क्या ? आधुनिक विद्वान्, विद्यार्थी और विद्यार्थिनीके विषयमें जैसा कहा गया है, उसी प्रकार वैदिक, शास्त्रीय, पौराणिक आचार्योंकी गद्दीपर बैठनेवाले नामधारी आचार्योंमें भी उपजीविकाके अतिरिक्त सात्त्विक श्रद्धाका अभाव ही है । साधु कहलानेवाले समाजमें धूर्त ही अधिक हैं । मालूम होता है, 'कूएँमें ही भाँग पड़ गयी है ।' सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर जान

पड़ता है कि इस समय प्रायः सभी जीवोंकी प्रवृत्ति केवल धन कमाने और विषय-सुख भोगनेमें ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि संसारमें सत्त्वगुणप्रधान, दैवीसम्पत्ति-सम्पन्न कोई है ही नहीं। सात्त्विक श्रद्धासे युक्त धर्मात्मा पुरुष भी हैं। साध्वी पतिव्रता स्त्रियाँ भी हैं। माता-पिताके भक्त बालक भी हैं और आचार्य-पीठपर बैठकर अन्तःकरणसे संसारके कल्याणार्थ शास्त्रोपदेश करनेवाले गुरु तथा मुमुक्षुओंके लिये अध्यात्मज्ञानका उपदेश करनेवाले सन्त भी हैं। परन्तु उनकी संख्या इतनी थोड़ी है कि सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे ही उनके दर्शन हो सकते हैं। संसारमें सोनेवाले पुरुष ही अधिक मिलेंगे, जागनेवाले बहुत ही थोड़े हैं। इसीके अनुसार आधुनिक युगमें धर्माचारका अपकर्ष और अधर्माचारका उत्कर्ष है, यही कलिका प्रभाव है। इसका वर्णन भगवान् महर्षि व्यासने भागवतमें विस्तारपूर्वक किया है।

महाराज परीक्षितसे श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं कि 'जब संसारमें कपट, असत्य, हिंसादि दोष दीखने लगते हैं उस समय समझना चाहिये कि कलिकाल आ गया। इस कलि-कालमें मनुष्यकी बुद्धि मन्द हो जायगी, दारिद्र्य फैलेगा, काम-वासना बहुत बढ़ेगी। स्त्रियाँ कुलटा और दुष्टा होंगी। देशमें चोरोंकी बन आवेगी। नास्तिक-मतवादियोंके द्वारा वेद-निन्दा होगी। राजा-महाराजागण प्रजाके ऊपर नाना प्रकारके कर लगाकर प्रजाभक्षक बनेंगे। ब्राह्मण शिश्नोदर-परायण होंगे। ब्रह्मचारी अपवित्र होकर विहित आचरणसे हीन होंगे। गृहस्थ भीख माँगेंगे और स्वयं किसीको भिक्षा न देंगे। तपस्वी लोग तपोवन छोड़कर शहरमें जाकर रहेंगे। संन्यासी अत्यन्त द्रव्य-लोभी होंगे। पुरुष स्त्री-लम्पट होकर रति-सुखमें आसक्त होंगे और इस कारणसे माता-पिताको छोड़कर स्त्रीके सम्बन्धियोंसे ही नाता जोड़ेंगे। शूद्र तपस्वीका वेष धारणकर द्रव्यादिका दान लेंगे और विशेष यह बात होगी कि जिनको शास्त्रका यथार्थ ज्ञान नहीं, ऐसे लोग शास्त्री, पण्डित, आचार्य नाम धारण करके और ऊँचे आसनपर बैठकर अधर्मको धर्म बतलाते हुए विपरीत उपदेश करेंगे। लोग कौड़ीके लोभसे स्नेह छोड़कर झगड़ेंगे। भाई भाईका घात करेंगे और प्रसङ्गविशेष आनेपर यत्किञ्चित् द्रव्य-लोभके लिये आत्मघात करेंगे। ऐसी अनेक प्रकारकी धर्माडम्बरकी क्रियाएँ लोगोंमें शुरू होंगी। ऐसा कराल कलिकालका प्रभाव है।'

उपर्युक्त वर्णनके अनुसार समय आ गया है। परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस घोर कलिकालमें भी धर्माचरणसे रहनेवाले स्त्री-पुरुष संसारमें हैं। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंका कार्य यह जगत् है और चक्रनेमिके अनुसार कभी सत्त्व, कभी रज और कभी तमोगुणका उत्कर्ष होता है। जिस समय रजोगुण और तमोगुणका उत्कर्ष होता है उस समय सत्त्वगुण अर्थात् दैवी-सम्पत्तिका संसारमें अपकर्ष होता है, परन्तु उसका अत्यन्ताभाव नहीं होता। कलिकालमें भी कुछ-न-कुछ दैवी-सम्पत्ति-सम्पन्न स्त्री-पुरुष होते ही हैं और उनको संसारमें आसुरी-सम्पत्तिका उत्कर्ष देखकर खेद होता है तथा पामरजनोंपर दया आती है।

इसपर कोई यह कहे कि 'तुम्हारे सर्वज्ञ भगवान् व्यासदेवने कलिकालमें घटनेवाली बातोंकी जो पहलेसे भविष्यद्वाणी की थी, वही बातें तो आधुनिक राजा और प्रजामें होती हैं, इसमें किसीका क्या दोष है?' यद्यपि यह बात देखनेमें युक्तियुक्त जान पड़ती है तथापि यथार्थ तो यह है कि कलिके प्रभावसे जो जीव धर्माचारको छोड़कर अधर्ममें रत हुए हैं, इससे वे सुखकी जगह अनेकों प्रकारके दुःख भोगते हैं और उस दुःख-भोगके समय प्राप्त दुःखके परिहारकी इच्छा करते हैं तथा उस दुःख-परिहारके दृष्ट उपाय भी वे अपनी बुद्धिद्वारा अन्य देशके लोगोंसे तथा पूर्वकालके इतिहासको देखकर निश्चित करते और उनको काममें लाते हैं परन्तु उन्हें फलकी प्राप्ति नहीं होती। रोगजनित कष्ट भोगते समय उस कष्टके परिहारकी इच्छा रोगीको होती है। परन्तु रोगका निदान ज्ञात न होनेके और अपथ्य-सेवनकी प्रवृत्ति होनेके कारण उस कष्टकी निवृत्ति नहीं होती, वह उलटे बढ़ता ही जाता है। इसी प्रकार अधर्माचरणसे दुःख-भोगका प्रसङ्ग आता है तथा उसका परिहार ईश्वरके अनुग्रहसे होता है; इस तथ्यको न जाननेके कारण तथा जानकर भी उसपर श्रद्धा न होनेके कारण लोग ईश्वर-भजन नहीं करते, उलटे अधिकाधिक अधर्माचरणमें फँसते जाते हैं, जिससे उत्तरोत्तर दुःख-भोग भी बढ़ता ही जाता है। ऐसे जीवोंके प्रति मनमें करुणा लाकर महाराज परीक्षितने श्रीशुकदेव मुनिसे पूछा था—

केनोपायेन भगवन्कलेर्दोषान्कलौ जनाः।
विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने॥
(श्रीमद्भागवत १२। ३। १६)

भावार्थ—'हे शुकदेवजी महाराज! कलियुगमें बढ़े हुए कलिके दोषोंको लोग किसप्रकार नष्ट कर सकेंगे? उन दोषोंके नाश करनेके उपाय क्या हैं? कृपा करके मुझसे कहिये।' इस प्रश्नके उत्तरमें चारों युगोंकी स्थिति बतलाते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१-५२)

अर्थात् 'हे राजन्! यह कलिकाल सब दोषोंकी निधि है, तथापि इसमें एक उत्तम गुण भी है। मनुष्य सब विषयोंसे आसक्ति छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन अर्थात् नाम-स्मरण करेगा, तो दुःखोंसे रहित होकर अनन्त सुख-राशि परमात्माके साथ एकरूप हो जायगा।' कितना सुगम साधन है? 'अरे! सत्ययुगमें विष्णुका ध्यान करनेवालोंको, त्रेतामें यज्ञ करनेवालोंको और द्वापरमें पूजा करनेवालोंको जो फल मिलते हैं, वे ही फल इस कलिमें केवल भगवन्नाम-संकीर्तन करनेवालोंको मिल जाते हैं।'

कलिकालकृत सर्व दोषोंके नाश करनेके लिये यह कैसा सुगम साधन है? यह भगवन्नाम-संकीर्तनकी महिमा है। सन्तवर तुकारामजी महाराज एक जगह कहते हैं—

प्राणिया एक बीजमंत्र उच्चारी।
प्रतिदिनी रामकृष्ण म्हणकां मुरारी॥
हे चि साधन रे तुझ्या सकल सिद्धि चे।
नाम उच्चारी रे गोपाळाचें वाचे॥
उपास पारणे न लगे वन सेवन।
न लगे धूम्रपान पंच अग्नीसेवन॥
सुखाचें फुकाचें काही न वेचे भाडार।
कोटी यज्ञा परिस तुका म्हणे हे सार॥

अर्थात् हे प्राणी! एक बीजमन्त्रका उच्चारण कर। प्रतिदिन 'रामकृष्ण मुरारी' कहता जा। अरे, वाणीद्वारा गोपालके नामका उच्चारण करना समस्त सिद्धियोंको प्रदान करनेवाला साधन है। इसमें उपवास, पारण अथवा वन-सेवनकी आवश्यकता नहीं और न धूम्रपान, पञ्चाग्नि तापनेकी ही आवश्यकता होती है। तुकाराम महाराज कहते हैं कि भगवन्नाम-संकीर्तन सुखपूर्वक तथा सहज ही होनेवाला है, इसमें द्रव्य-व्यय नहीं करना पड़ता और न इसके लिये अपनी सम्पत्ति ही बेचनी पड़ती है। अरे! यह तो सार वस्तु कोटि यज्ञोंसे अधिक फल देनेवाली है।

परन्तु कोई बुद्धिमान् पुरुष ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज तुकारामसे कौन पूछने गया था कि हमारे लिये कलियुगमें तरनेका कोई उपाय हो तो कहिये? इसका उत्तर यह है कि 'हो सकता है, किसी मनुष्यने उनसे ऐसा प्रश्न किया हो जिसका उन्होंने यह उत्तर दिया है। फिर, उनसे किसीने ऐसा प्रश्न किया ही नहीं था, इसीका क्या प्रमाण है? मान लिया जाय कि किसीने उनसे ऐसा प्रश्न नहीं किया था, तथापि उन्होंने जीवोंके ऊपर दया करके यह उपदेश दिया, यही माननेसे क्या आपत्ति है? वैयक्तिक दृष्टिसे पुत्रके कल्याणकी इच्छा करनेवाला पिता हृदयमें व्याकुलता होनेसे पुत्रके बिना ही पूछे उसके हितकी बात कहता है, यह व्यवहारमें हम देखते हैं; उसी प्रकार साधु-महात्माओंके हृदय भी समष्टिके अर्थात् समस्त सांसारिक व्यक्तियोंके स्वेच्छाचारको देखकर उनके कल्याणके लिये दयार्द्र हो उठते हैं इसीलिये वे उनके प्रति-उपदेश देते हैं और यह उपदेश देना स्वाभाविक है। यही साधु-हृदयकी विशेषता है। स्वयं तुकारामजी महाराजने अपना अनुभव कहा है कि—

बुडतें हे जन न देखवे डोळा। म्हणूनि कळवळा येत असे॥

अर्थात् भव-सिन्धुमें डूबते हुए जीवोंको मैं देख नहीं सकता, इसीलिये मेरा हृदय (उन्हें देखकर) इसप्रकार व्याकुल हो उठता है।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज भी अपने एक अभङ्गमें कहते हैं कि 'चारों वेद, छओं शास्त्र, अठारहों पुराण भगवन्नामका जप करनेके लिये बड़े ज़ोर-ज़ोरसे कह रहे हैं, परन्तु उस ओर कोई कान भी नहीं देता। भगवान्‌के नामका (राम-नामका) जप नहीं करनेसे मनुष्योंकी बड़ी हानि हो रही है।'* अहा! करुणार्द्र-चित्त कैसा व्याकुल हो रहा है। इस सन्त-हृदयको कोटिशः धन्यवाद है!!

* वाजतसे बोंब कोणी नायकती कानीं।
रामनाम न म्हणे त्याची थोर झाली हानी॥



वंदे नंदनंदनं देवं

सर्वप्रमाणशिरोमणि भगवती श्रुति तथा उसका अनुगमन करनेवाली स्मृति, भागवत आदि पुराण, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीएकनाथ, श्रीनामदेव, श्रीकबीर, श्रीगोस्वामी तुलसीदास, श्रीतुकारामके समान भगवद्-अवतारी बड़े-बड़े साधु-सन्तोंने कलियुगके भगवन्नामोच्चारणको सुगम और सब फल प्रदान करनेवाला साधन बतलाया है, परन्तु कोई सुनता ही नहीं, इसका क्या कारण है? यह विचार करने योग्य प्रश्न है।

मनुष्यमात्रमें जो निरन्तर सुखकी अभिलाषा देखनेमें आती है, उसको सामान्यतः दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। संसारमें बहुधा सब लोगोंको वैषयिक सुखकी इच्छा होती है इसे हम पहले भागके अन्तर्गत लेते हैं; दूसरे भागमें वे हैं जो लाखों मनुष्योंमें कहीं एक होते हैं जो विषय-सुखको अनेक दुःखोंसे ग्रस्त और अनित्य समझते हैं, एवं विषय-सुखमें दोष-बुद्धि रखते हुए नित्य निरतिशय आनन्दको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। पहले प्रकारके लोगोंके लिये इहलोक तथा स्वर्गादिके विषय-सुखके उपभोगार्थ यज्ञ, याग, तप आदि साधन श्रुतिने बतलाये हैं तथा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मज्ञानरूपी साधन बतलाया है। इनके साङ्गोपाङ्ग साधनोंका स्मृतिकारोंने अपने ग्रन्थोंमें विशदरूपसे वर्णन किया है। साधनका अनुष्ठान करनेपर जब उसके फल-भोगका समय उपस्थित होगा, तब क्रमानुसार जीवको ईश्वरके सङ्कल्पके द्वारा वह फल-भोग अवश्य ही मिलेगा। उस फलके भोगके समय भोक्ताको सत्कर्माचरणवाला होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं; क्योंकि विषय-सुखका उपभोग मनुष्यको पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राप्त होता है। और निरतिशय परमानन्द अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंमें अर्जित ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किये हुए सत्कर्मोंके फलभोगके समय गुरुद्वारा वेदान्तके महावाक्योंके विचारसे निःसन्देह अद्वैतात्मज्ञानको प्राप्त कर साधक परमानन्दरूप हो जाता है, यही धर्मका निश्चित फल है। इतना होनेपर भी उस साधनमें जीवोंकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती, ऐसी शङ्का अर्जुनने गीताके नवें अध्यायमें की है, जिसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(गीता ९। ३)

अर्थात् 'इस वेदप्रतिपादित धर्ममें जीवोंकी श्रद्धा न होनेके कारण वे धर्म अथवा ब्रह्मका विचार नहीं करते हैं, इसलिये वे मुझे प्राप्त नहीं होते और दुःखमय जन्म-मरण-रूप संसारमें जा गिरते हैं।'

अच्छा, उनसे धर्माचरण नहीं हो सकता तो वे न करें, परन्तु जिनसे पाप ही उत्पन्न होता है ऐसे निषिद्ध कर्मोंको, वे इच्छा न रहते हुए भी क्यों करते हैं? इस-प्रकारका प्रश्न अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णजीसे स्पष्टतः पूछा है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! जीवमें स्थित जो काम, अर्थात् 'मुझे यह चाहिये, वह चाहिये' इसप्रकारकी जो प्रबल विषय-वासना है वही धर्माचरणकी शत्रु है। क्रोध और लोभ कामकी ही अवस्थाएँ हैं। पूर्वकर्मके संस्कारसे पहले बुद्धिमें काम उत्पन्न होता है; वासनानुसार विषयकी प्राप्ति होनेपर उस कामका ही परिणाम लोभ हो जाता है और यदि इच्छानुसार विषयकी प्राप्ति होनेमें किसीने विघ्न उपस्थित किया और उस विषयकी प्राप्ति न हुई तो उसी कामका परिणाम क्रोध हो जाता है। ये काम-क्रोध मनुष्यके धार्मिक आचारमें विघ्न उपस्थितकर, इच्छा न रहते हुए भी जीवको बलात्कार निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त करते हैं।

इसप्रकार जो जीव कामके दास हो गये हैं, वे विहित हो अथवा निषिद्ध, परन्तु आपात-मनोरम दीखनेवाले विषय-सुखकी लालसासे निषिद्ध कर्मके गड्ढेमें जा गिरते हैं। इन आसुरी-सम्पत्तिसे युक्त पुरुषोंके मनोविकार कैसे होते हैं, धर्मके सम्बन्धमें उनका विचार क्या होता है, उनका बर्ताव कैसा होता है, वे कैसे बोलते हैं आदि बातोंका भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सोलहवें अध्यायमें बड़ा विशद वर्णन किया है।

उक्त वर्णनमें असुर लोगोंके व्यवहारपर विचार करके देखनेसे किसी भी मनुष्यके समझमें यह आ जायगा

कि प्रायः संसारकी वर्तमान स्थितिका ही वर्णन भगवान्‌ने किया है। इन उद्दण्ड व्यवहारोंके कारणोंका विचार करें तो जान पड़ेगा कि आसुरी-सम्पत्तिसे युक्त नास्तिकोंका कोई नियन्ता ही नहीं है। वेद कहते हैं कि समस्त संसारका नियन्तृत्व भगवान्‌के हाथमें है, परन्तु नास्तिक तो पहले वेदके अस्तित्व अर्थात् प्रामाण्यको ही नहीं स्वीकार करते। केवल वेदोंका प्रामाण्य न माननेवालेकी ही नास्तिक संज्ञा है। क्योंकि वेदोंका प्रामाण्य स्वीकार करते ही ईश्वरका अस्तित्व बरबस मानना ही पड़ता है। वे आसुरी सम्पत्तिसे युक्त पुरुष ईश्वर और वेद दोनोंको भी प्रमाण नहीं मानते, इसलिये मैं उनको नास्तिक कहता हूँ।

शास्त्र-युक्ति-हीन, उद्दण्ड और मूर्ख मनुष्य ऐसा कहता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दिखलायी देता, इसलिये मैं उसे नहीं मानता। परन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं। उससे पूछा जा सकता है कि 'भाई ! क्यों पहले मरे हुए तुम्हारे पूर्वज तुम्हें जन्मके पश्चात्‌से ही प्रत्यक्ष नहीं दीखते तो क्या तुम कहोगे कि तुम्हारे वे पूर्वज हुए ही नहीं ?' वह कहता है—

'ऐसा मैं नहीं कहता; क्योंकि मेरे पूर्वज अनित्य थे, इसलिये वे मुझे आज नहीं दीखते। परन्तु वे एक समय सबके देखनेमें आते थे। तुम्हारा ईश्वर तो नित्य, निराकार, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, ऐसा तुम्हीं कहते हो; अर्थात् वह तुम्हारे और मेरे पास है, तथा वह नित्य है, फिर वह दिखलायी क्यों नहीं देता ? उसे दिखायी देना ही चाहिये; परन्तु नहीं दिखलायी देता इसलिये मैं कहता हूँ कि ईश्वर नहीं है।

'इसपर मैं पूछता हूँ कि 'जगत्‌में वायु एक तत्त्व है, इसे तुम मानते हो या नहीं ?'

'हाँ, मानता हूँ।'

'क्या वह तुम्हें दीखता है ?'

'नहीं।'

'यदि नहीं दीखता, तो 'वायु तत्त्व है,' इसे तुम क्यों स्वीकार करते हो ?'

'शरीरको वायुका प्रत्यक्ष स्पर्श होता है, इससे मैं वायुका होना स्वीकार करता हूँ।'

'तुम्हें क्या वायुका प्रत्यक्ष होता है ?'

'वायुका शीतल स्पर्श ही उसका प्रत्यक्ष है।'

'तुम पागल हो ! वायुमें केवल अनुष्णाशीत स्पर्श-गुण होता है। उसका स्पर्श-गुण जलके संयोगसे शीतल और अग्निके संयोगसे उष्ण होता है, इसप्रकार स्पर्श-गुणमें भेद है परन्तु वायु एकरूप है। यह निश्चय होनेपर तुम यह मानते हो या नहीं कि स्पर्श-गुणका आश्रयभूत वायु उस स्पर्शसे भिन्न होता है ?'

(*अत्यन्त कष्टसे*) 'हाँ, वायुको स्पर्शसे भिन्न मानना आवश्यक है।'

'तब तुम्हें त्वचासे स्पर्शका प्रत्यक्ष हुआ। स्पर्शके आश्रयरूप वायुका नहीं ?'

'हाँ, वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, यही कहना पड़ेगा।'

'अब मैं पूछता हूँ कि यदि तुम्हें वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ अथवा नहीं हो सकता, तो वायु तत्त्व है, यह कैसे कहा जा सकता है ?'

'ठण्डी हवाका स्पर्श होनेसे केवल यही निश्चय होता है कि उसका आश्रय वायु नामकी कोई वस्तु है।'

'यह निश्चय होना ठीक है; परन्तु तुम्हारा सिद्धान्त तो यह है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है, उसीका अस्तित्व मानना चाहिये। तब जो प्रत्यक्ष नहीं दीखती, वह वस्तु है ही नहीं, यह निश्चय असत्य हुआ न ?'

'असत्य तो हुआ पर अब यह नियम किया जा सकता है कि जो प्रत्यक्ष दीखे अथवा जिसकी अनुमानसे सिद्धि हो, ऐसे पदार्थोंके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहिये।'

'ठीक ! ठीक ! अब आ गये रास्तेपर ! इसप्रकारके प्रश्नोंसे तुम्हीं अपने मुँहसे ईश्वरकी सिद्धि करोगे।'

'किसप्रकार ?'

'अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि जितने कार्य होते हैं उनका कोई-न-कोई कर्ता तो होता है ?'

'हाँ, होता है।'

'अच्छा, वह कर्ता चेतन होता है न ?'

'इसका कोई नियम नहीं; किसी कार्यका कर्ता चेतन होता है और किसीका अचेतन। कर्ताका चेतन होना कोई नियमित बात नहीं हो सकती।'

'किसी कार्यके कर्ताको मानकर उसे अचेतन बतलाना लोक-विरुद्ध बात है।'

'लोक-विरुद्ध कैसे ?'

'अच्छा, किस कार्यका कर्त्ता अचेतन होता है ?'

'पेड़से फलका गिरना, नदीके जलका बहते जाना, वर्षा होना, बिजलीका गिरना, घासका उगना इत्यादि कार्योंका सचेतन कर्त्ता कोई भी नहीं है।'

'कोई सचेतन कर्त्ता चाहे दिखायी न दे, परन्तु जिसके द्वारा कार्य होता है उसका चेतनके साथ सम्बन्ध मानते हो या नहीं ?'

'चेतनके साथ सम्बन्ध माननेसे क्या मतलब ?'

'इस नियमको तुम्हींने माना है कि कार्यका कर्त्ता अवश्य होता है।'

'माना तो है।'

'फिर बतलाओ कि कर्तृत्व-धर्म चेतनके आश्रित रहता है या अचेतनके ?'

'दोनोंहीके आश्रित रहता है।'

'ठीक है; अब बतलाओ, चेतनके आश्रयसे कौन-से कार्य होते हैं ?'

'मनुष्यका चलना, बोलना, खाना, पीना इत्यादि कार्य चेतनद्वारा होते हैं।'

'अहो ! चलना जड पैरोंद्वारा, बोलना जड वाणी द्वारा, खाना-पीना जड मुँहके द्वारा होता है। इनमें पैर आदिमें कोई चेतन नहीं दिखलायी देता। फिर कैसे कहा जा सकता है कि ये कार्य चेतनके द्वारा होते हैं ?'

'इन जड़ इन्द्रियोंमें स्वतःकर्तृत्व नहीं, यह बात ठीक है, परन्तु प्रत्येक शरीरमें उनका अन्तर्यामी चेतन कोई अवश्य है।'

'चेतन है, परन्तु वह तुम्हें दिखलायी जो नहीं देता?'

'नहीं दिखलायी देता तो इससे क्या ? मृत शरीरको पैर होते हुए भी वह अपने आप अपनेको दाह करनेके लिये श्मशानमें नहीं जाता, बल्कि चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाले हाथ-पाँववाले मनुष्योंके द्वारा ही वह वहाँ पहुँचाया जाता है। इससे चेतनके प्रत्यक्ष न होनेपर भी अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है। ऊपर मैंने अनुमान-प्रमाणको भी स्वीकार किया है।'

'ठीक है, अब तुम ईश्वर-सिद्धिकी ओर चल रहे हो। अच्छा, बतलाओ तुम चेतन हो या नहीं ?'

'मैं चेतन हूँ।'

'तुमको जब किसी गहनेकी आवश्यकता होती है, तब क्या बाजारसे सोना खरीदकर तुम आप ही गहना बना लेते हो ? तुम्हें चेतन होनेका ध्यान है न ?'

'हाँ मैं चेतन हूँ। मेरे पास सोना है, परन्तु गहना बनानेका विशेष ज्ञान मुझमें नहीं। इसलिये गहना बनवानेके लिये मुझे गुणी स्वर्णकारके पास जाना होगा।'

'तुम्हारे इस उत्तरसे सिद्ध होता है कि केवल चेतनद्वारा ही कार्य नहीं होता, बल्कि कार्यका जाननेवाला चेतन पुरुष ही कर्त्ता हो सकता है। ठीक है न ?'

'ठीक है, परन्तु वर्षा होना, तृणादिका उगना आदि कार्योंके लिये आप ईश्वरको कारण मानते हैं। परन्तु वह दिखलायी नहीं देता इसलिये मुझे इसमें प्रतीति नहीं होती। आपके मतसे इन कार्योंका कौन कर्त्ता होगा ? अंगरेजीमें जिसे 'नेचर' कहते हैं वही सब कार्योंको करती है, ऐसा मेरा विश्वास है।'

'इस अंगरेजीमें कहे हुए 'नेचर' को उन अंगरेजोंने अथवा स्वयं तुमने कभी देखा है ? यदि नहीं तो 'नेचर' को कर्त्ता कैसे मानते हैं ?'

'जमीनमें पड़े हुए बीजको पानी मिलनेसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, यह उसका स्वभाव है। इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता है ?'

'अहो ! अंगरेजी शब्द 'नेचर' के स्थानमें तुमने संस्कृत भाषाका प्रयोगमात्र किया। परन्तु मैं फिर वही प्रश्न पूछता हूँ कि स्वभाव चेतन है या नहीं ?'

'चेतन है।'

'स्वभावको तुमने देखा है ?'

'नहीं; परन्तु अनुमानसे निश्चित कर सकते हैं कि स्वभाव चेतन है।'

'अच्छा, तो क्या वह स्वभाव सर्व कार्यको व्यवस्थित-रीतिसे करने योग्य, विशेष ज्ञानसम्पन्न, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है ?'

'हाँ, है। ऐसा ही मानना होगा।'

'अच्छा, तुम्हारा वह चेतन और सर्वज्ञ 'स्वभाव' कुम्हारके समान कार्यके बाहर रहकर कार्य करता है या कार्यका अन्तर्यामी होकर कार्य करता है ?'

'अन्तर्यामी होकर करता है, यही कहना होगा।'

'अच्छा मैं पूछता हूँ कि, मनको भी जिसका प्रत्यय नहीं होता, अत्यन्त कुशल कारीगरकी बुद्धि भी जिस रचनाको नहीं समझती, इसप्रकारका यह दृश्य जगत् कार्य है या नहीं ?'

'कार्य है।'

'इस जगत्‌रूप कार्यका कर्त्ता कौन हो सकता है ?'

'वही हमारा 'नेचर', अथवा उसे स्वभाव कहिये।'

'तुम्हारा 'नेचर' जो चेतनस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है उसीको वेदोंमें 'ईश्वर' कहा गया है। केवल नाममात्रका भेद है। तुम्हारे युक्तिहीन 'नेचर' के बदले उसको वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वेश्वर कहना अधिक सुसंगत है। नदीका जल बहना आदिको तुमने जो अचेतनके कार्य बतलाया था, वे सब कार्य परमात्माकी आज्ञासे होते हैं ऐसा श्रुतिमें कहा गया है। जैसे—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि नद्यः प्रस्यन्दन्ते।'

'भीषाऽस्माद्वातः पवते०'

अचेतनमें कदापि कर्तृत्व सम्भव नहीं। अब जगत्‌का कर्त्ता कौन है, इस विषयपर विचार करना है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'

इत्यादि श्रुति-वाक्योंसे जगत्कारणरूपसे मायाविशिष्ट ईश्वरकी सिद्धि होती है। परन्तु जिनका मन श्रुति-वाक्योंके स्वतः प्रमाणको स्वीकार नहीं करता तथा ईश्वर सिद्धिके लिये युक्तिकी अपेक्षा करता है उसके लिये भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने केनोपनिषद्‌में अनुमानद्वारा ईश्वरकी सिद्धि की है। वह लिखते हैं—

'यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति। कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्।'

इस अनुमानमें जगत्‌की विचित्र रचना तथा उसमें स्थित जीवमात्रको उनके पूर्व-कर्मोंके अनुसार नियमित समयमें सुख-दुःखरूपी भोगके साधनोंका प्राप्त होना—यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरके बिना असम्भव है। क्योंकि बड़े-बड़े राजमहल, मन्दिर, रथ, शयनागार अथवा राजाओंके बैठनेयोग्य आसन आदि कार्य कार्य-कुशल और समर्थ कारीगरोंद्वारा ही होते हैं। उसीप्रकार इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌में देव, गन्धर्व, पितर, राक्षस, पिशाचादि हैं तथा स्वर्ग, आकाश, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, शनि, मङ्गलादि ग्रह और अश्विनी इत्यादि नक्षत्र हैं। इसप्रकारका संसार किसी भी चतुर से चतुर कारीगरद्वारा तैयार नहीं हो सकता। साथ ही विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राणीके प्रारब्धानुसार सुख-दुःख भोग, देश काल तथा आवश्यक भोग्य पदार्थोंका सम्बन्ध उस प्राणीके साथ कर दिया जाता है। इसप्रकारसे प्राणियोंके विचित्र भोग और यह विलक्षण जगत् जब कार्य हैं, यह अनुमान है, तब इन सर्व कार्योंके उपादानको जानने वाला (सर्वज्ञ) तथा उनके निर्माण करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला (सर्वशक्तिमान्) ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है ? यह साध्य है, इस अनुमानके लिये गृह प्रासाद आदि दृष्टान्त हैं। इस अनुमानके द्वारा श्रुति प्रतिपादित जगत्कारण ईश्वरके स्वरूपकी दृढ़ता होती है, यह सिद्ध हुआ। परन्तु अंगरेजोंके सहवाससे, उनकी शिक्षासे तथा क्षणिक विषय-सुखके मोहमें पड़े रहनेके कारण आज 'ईश्वर' शब्दमें भी विश्वास नहीं रहा। इसलिये लोग धर्म-भ्रष्ट हो गये हैं। इसी कारण ऐसी दुर्दशा हो रही है। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और नित्य दयालु ईश्वर पर विश्वास किये बिना कभी काम नहीं चल सकता। इसलिये राम, कृष्ण आदि ईश्वर नामका जप करना चाहिये, जो सर्वथा कल्याण प्रद है। इसपर शङ्का की जाती है कि 'ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, व्यापक, निराकार, निर्विकार और नित्य है, ऐसा आप कहते हैं, परन्तु साथ ही राम, कृष्ण आदिके नामोंका जप करनेके लिये भी कहते हैं, यह असङ्गत जान पड़ता है। क्योंकि रामनवमी अथवा कृष्णाष्टमीके पूर्व राम, कृष्णादि भूतलपर नहीं थे और निजधामको पधारनेपर भी नहीं रहे, यह प्रत्यक्ष है फिर राम, कृष्णादि नित्य कैसे हो सकते हैं ? और यदि वे नित्य नहीं हैं तो उनके नाम स्मरणसे कल्याण कैसे हो सकता है ?'

इस शङ्काका समाधान यह है कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा अनादि मायाके सम्बन्धसे ईश्वररूपको प्राप्त होता है तथा उसी मायाके सम्बन्धसे भक्तोंके ऊपर अनुग्रह तथा दुष्टोंका विनाश करनेके लिये श्यामसुन्दर पीताम्बरधारी श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके रूपमें अपनी इच्छामात्रसे अवतरित होता है। इसलिये वह ईश्वर है। राम,

कृष्णादिके रूपमें अवतरित होनेवाला ईश्वर भक्तवत्सल, दयाघन इत्यादि अनन्त कल्याणकारक गुणोंका आगार है। वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, इसलिये शुद्ध भावनासे किये गये ध्यान-पूजन, नाम-स्मरणको वह यथार्थ रीतिसे समझता है और भक्तोंकी भावनाके अनुसार वह फल भी देता है।

यह शास्त्र-सिद्धान्त है कि पुरुषके प्रयत्न यदि ईश्वरानुग्रहके अनुकूल हों तो वे सफल होते हैं। महाभारतके युद्धमें हाथीके गलेका घण्टा टूटकर पक्षियोंके बच्चोंकी रक्षाका कारण हुआ, इसे अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने प्रत्यक्ष दिखलाया था। यह ईश्वरीय दयाका प्रबल उदाहरण है।

टिटैनिक जहाज, करोड़ों रुपये खर्च करके सुखोपभोगके लिये तैयार किया गया था। परन्तु ऐश्वर्यसम्पन्न हजार-दो-हजार मनुष्य अपने स्त्री-बच्चोंके सहित उसपर बैठकर विहार करनेके लिये निकले ही थे कि आधे ही घण्टेमें उसने जल-समाधि ले ली और सुख-भोगके लिये बैठे हुए वे पुरुष अपने स्त्री-बच्चोंके साथ दुःखके अन्तिम गर्तमें जा पहुँचे।

इसका कारण यही था कि इसमें पुरुष-प्रयत्न तो अत्यधिक था परन्तु ईश्वरका अनुग्रह था ही नहीं। इसप्रकार अनेक प्रसङ्गोंपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि ईश्वरके अनुग्रहके बिना सुखोपभोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये केवल ईश्वरानुग्रहकी आवश्यकता है। उसके लिये अनन्य भावसे ईश्वरोपासना करनी चाहिये और श्रौत, स्मार्त-कर्माधिकारी पुरुषोंको वर्णाश्रमविहित ईश्वरार्पण-बुद्धि-द्वारा स्वधर्माचरणरूपी ईश्वर-सेवा करनी चाहिये। श्रुति-कर्मका अधिकारी न होनेकी अवस्थामें ईश्वरके नाम-स्मरणके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ईश्वर

ईश्वरको तुम लोग देख नहीं सकते, क्या इसीसे कह दोगे कि वह है ही नहीं? दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, तो क्या तुम कहोगे कि तारे हैं ही नहीं? सूरजके तीखे तेजमें दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, वैसे ही माया और अहंकारके आच्छादनसे मनुष्य ईश्वरको नहीं देख सकता।

दूधमें मक्खन रहता है पर वह मथनेसे ही निकलता है, वैसे ही ईश्वरको जो जानना चाहे वह उसका साधन-भजन करे। भगवान् सगुण भी है और निर्गुण भी तथा गुणातीत भी। जब वह सगुण रहता है तब उसे ईश्वर कहते हैं, जब निर्गुण रहता है तब उसे ब्रह्म कहते हैं और उसकी गुणातीत-अवस्थाको तो हम मुँहसे कहकर समझा ही नहीं सकते।

ईश्वरके दर्शनकी इच्छा रखनेवालोंको नाममें विश्वास तथा सत्यासत्यका विचार करते रहना चाहिये। एक डुबकीमें रत्न न मिला, इससे रत्नाकरको रत्नहीन मत समझ बैठना। डुबकी लगाते ही जाओ, रत्न अवश्य मिलेगा। अल्प साधना करनेपर ईश्वर-दर्शन न हो तो हताश न होना चाहिये। धीरज रखकर साधन करते रहो। यथासमय ईश्वरकी तुमपर अवश्य ही कृपा होगी।

जल एक है। कोई उसे 'पानी' कहता है, कोई 'वाटर', कोई 'एकोया' और कोई 'अप' कहता है। इसी प्रकार भगवान्को कोई 'गॉड', कोई 'हरि', कोई 'राम', कोई 'यीशु' और कोई 'अल्लाह' कहता है। वस्तु एक ही है, केवल नाममें भेद है। संसारमें केवल ईश्वर ही सत्य है और सब असत्य है।

जिसके मनमें ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका और सुख अच्छा नहीं लगता। जो एक बार भी बढ़िया मिस्रीका स्वाद ले चुका वह क्या कभी राब खाना चाहेगा?

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंपर ज़रा भी ध्यान न देकर, संसारकी स्तुति और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके पथपर चलना चाहिये।

अपने सब कर्मफल ईश्वरके अर्पण कर दो, अपने लिये किसी फलकी कामना मत करो।

जिस घरमें नित्य हरि-संकीर्तन होता है, वहाँ कलियुग प्रवेश नहीं कर सकता। ईश्वरको पानेका उपाय विश्वास है, जिसको विश्वास हो गया उसका काम बन गया।

ईश्वरके नाममें ऐसा विश्वास चाहिये कि मैंने उसका नाम लिया है इससे अब मुझमें पाप कहाँ है? मेरे बन्धन अब कहाँ हैं?

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

जगदीश्वर वेदान्तसे ही प्रतिपाद्य है

(लेखक—पं० श्रीधराचार्यजी शास्त्री, वेदान्ततीर्थ, वे० शि०, वे०भू०, वि० र०)

आम्नायमूर्द्धनि च मूर्द्धनि चोर्ध्वपुंसां
यद्धाम वैष्णवममीदृणक्तरं चकास्ति ।
तन्मादृशामपि च गोचरमेति वाचो
मन्ये तदीयमिदमाश्रितवत्सलत्वम् ॥

जगत्कर्त्ता परमपिता परमेश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन बड़े-बड़े योगिराज, महात्मा, साधु, संन्यासी, ऋषि, महर्षि तथा विद्वानोंने अपनी-अपनी प्रतिभाके अनुसार किया है। परन्तु किसीने भी ईश्वरके विषयमें आजतक यह नहीं कहा और न कोई आगे कह सकेगा कि वह 'इदमित्थम्', 'एतावदेव', अर्थात् ऐसा ही है और इतना ही है। श्रीश्री-महाप्रभुजीने गीतामें अपने श्रीमुखसे कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥
(२ । २९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! यह आत्मतत्त्व अति गम्भीर है। समस्त प्राकृत वस्तुओंसे विलक्षण स्वरूपवाले इस आत्मा-को कोई विरला ही सुकृति देखता है, तथा विरला ही कोई इस विलक्षण आत्माको कहता है, एवं कोई विरला ही इस विलक्षण आत्मस्वरूपको सुनता है तथा सुनकर भी कोई इस आत्माको नहीं जान पाता।'

यही कारण है कि उस दुर्गम, अतर्क्य ईश्वरका प्रति-पादन करनेमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि—ये सभी प्रमाण असमर्थ हो जाते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण अपने नियत एवं विद्यमान वस्तुका ही ग्राहक होता है। उसे दर्शनकारोंने चाक्षुष, रासन, स्पार्शन, श्रावण, घ्राणज और मानस-भेदसे छः प्रकारका माना है। रूपवान् द्रव्यके साथ नेत्रके संयोगसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। रूप-हीन अर्थात् प्राकृत रूपरहित परमेश्वरके साथ चक्षुका संयोग रूपके बिना होना असम्भव है, अतः चाक्षुष-प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर नहीं जाना जाता। इसी प्रकार रासन-प्रत्यक्षमें रस, स्पार्शन-प्रत्यक्षमें स्पर्श, श्रावण-प्रत्यक्षमें शब्द, घ्राणज-प्रत्यक्षमें गन्ध कारण होते हैं और परमात्मा प्राकृत रसादिसे रहित है, इसलिये यह चारों प्रकारके प्रत्यक्ष परमात्माके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं हो सकते। मानस-प्रत्यक्ष भी स्वान्तवृत्ति सुख-दुःखका ग्राहक होनेके कारण सुख-दुःखादि वृत्तियोंसे परे परमात्माका प्रतिपादन नहीं कर सकता। यदि कोई कहे कि 'पश्यन्ति य योगिनः' के अनुसार ईश्वरका योगज मानस प्रत्यक्ष होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह अपने विषयका नियमपूर्वक होता है। यदि ऐसा न होता तो नासिकासे रसका, नेत्रसे वायुका तथा श्रवणसे गन्धका प्रत्यक्ष हो जाता। तात्पर्य यह है कि जिस इन्द्रियका जो नियत विषय है उसके परे उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्थामें भूत, भविष्यत् वस्तुको ग्रहण करनेवाले योगज ज्ञानको प्रत्यक्षके अन्दर कैसे लाया जा सकता है?

अब जब कि प्रत्यक्ष-प्रमाणकी ही यह दशा है तो इसके आधारपर स्थित अनुमानादि प्रमाण ईश्वरके प्रति-पादनमें कहाँतक समर्थ हो सकते हैं? क्योंकि अनुमानमें साध्यका हेतुके साथ परिचयरूप व्याप्तिज्ञान, उपमानमें सादृश्यज्ञान, अनुपलब्धिमें प्रतियोगिज्ञान और अर्थापत्तिमें पीनत्वादिका ज्ञान प्रत्यक्षकी अपेक्षा रखते हैं। अतः जब ईश्वरके साथ प्रत्यक्षका ही सम्बन्ध नहीं है, तब फिर व्याप्तिज्ञान आदिकी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है? उदाहरणार्थ-एक पुरुष अपने रसोईघरमें अग्नि और धूमका सम्बन्ध देखता है और यह निश्चय करता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, पश्चात् वह किसी पर्वतपर जाकर धूम देखता है और अनुमिति करता है कि पर्वतमें अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम दिखलायी देता है। जिसप्रकार धूम और अग्निका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा देखकर यह अनुमिति होती है उस प्रकार ईश्वरके साथ किसी हेतुका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा ज्ञात नहीं होता, तब फिर ईश्वरके साधन-में अनुमिति कैसे उपयोगी हो सकती है? इसी प्रकार उप-मानादि प्रमाण भी ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते। इसी अर्थका समर्थन माननीय आचार्यवर्य भी करते पाये जाते हैं। आचार्यवर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य 'जन्माद्यस्य यतः' इस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें इसप्रकार लिखते हैं—

ननु भूतवस्तुत्वे प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता, न। इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्॥ इति।

आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजीने भी 'शास्त्रयोनित्वात्' इस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें लिखा है—

ननु शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति। प्रमाणान्तरवेद्यत्वाद्ब्रह्मणः, अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्॥ किं तर्हि तत्र प्रमाणम्। न तावत्प्रत्यक्षम्। तद्धि द्विविधम्, इन्द्रियसम्भवं योगसंभवञ्चेति। इन्द्रियसम्भवञ्च बाह्यसम्भवमान्तरसम्भवञ्चेति द्विधा। बाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्वविषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषविषयबोधजननानि। नाप्यान्तरम्, आन्तरसुखदुःखादिव्यतिरिक्तबहिर्विषयेषु तस्य बाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि योगजन्यम्। भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वान्न प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता; तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात्। नाप्यनुमानं विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा; अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धावधारणविरहान्न विशेषतो दृष्टम्। समस्तवस्तुसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषनियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिङ्गमुपलभ्यते' इति।

इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यचरणोंने भी स्वरचित वेदान्त-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त अर्थका ही समर्थन किया है।

इसप्रकार जब हमारी बुद्धिकी अपेक्षा करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रभृति प्रमाण उस परम दयालु जगदीश्वरकी सत्ताका ज्ञान करानेमें असमर्थ हैं तब उस जगत्पति परमेश्वरकी उपासना अथवा उसका ध्यान किसप्रकार किया जा सकता है? क्योंकि जबतक उपासक उपास्यका स्वरूप यथार्थरूपसे नहीं जान लेता, तबतक वह उपासना कर ही नहीं सकता है। अतः अवलम्बके बिना ध्यान, भक्ति, प्रपत्ति, अनुराग भी सम्भव नहीं हो सकते।

पूर्वमीमांसा-शास्त्रके अनुयायी कहते हैं कि देवताकी सत्ता अर्थवादमात्र है अर्थात् कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अर्थवाद देवसत्ताका संकेत करता है। क्योंकि जब वेद कहता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्गकी कामना करनेवाला यागसे स्वर्गको प्राप्त करे। तब यही सिद्ध होता है कि स्वर्गके प्रति यज्ञ कारण है। परन्तु यज्ञ क्रियारूप होनेसे क्षणस्थायी है, अतएव कार्यकाल (स्वर्गकी प्राप्तितक) स्थिर नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें 'कार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम्' इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार यागको स्वर्गादिके प्रति कारण कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। इस दोषसे बचनेके लिये मीमांसकोंने वेदवेद्य कार्य-कारणभावके समर्थनके लिये बीचमें अदृष्टकी कल्पना की है, तभी याग और स्वर्गका कार्य-कारणभाव निष्पन्न भी होता है। इसी बातको स्वीकार करते हुए नैयायिकशिरोमणि विश्वनाथ पञ्चाननने स्वरचित सिद्धान्त-मुक्तावलीमें लिखा है—

यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगसाधनं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव।'

अर्थात् जो कार्य जिस चेतनके अदृष्टके अधीन है वह साक्षात् किंवा परम्परासे उस चेतनके उपभोगका साधन अवश्य ही उत्पन्न करता है। जब कर्म देवताकी सत्ताके बिना ही अदृष्टद्वारा फल देनेमें समर्थ हैं तब उपासना भी उपास्य देवताकी सत्ताके बिना ही वेदबोधित होनेके कारण अदृष्टादिद्वारा मन्त्र-जपकी तरह फल दे सकेगी। इसी अभिप्रायसे महर्षि जैमिनिजीने कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

(पूर्वमी० १। १। १)

अर्थात् 'साध्य-साधन इतिकर्तव्यतारूप अंशत्रयसे युक्त भावनारूप क्रियाका प्रतिपादन करनेवाला वेद है, और इस भावनारूप क्रियाका जो प्रतिपादन नहीं करता वह व्यर्थ अर्थात् अप्रामाण्य है। इसके पश्चात्—'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च,' 'तथा फलाभावात्,' 'अन्यानर्थक्यात्', 'अभागिप्रतिषेधाच्च', 'अनित्यसंयोगात्' इन पाँच सूत्रोंमें भी उपर्युक्त अर्थका ही समर्थन किया गया है। ऐसी अवस्थामें भूतार्थप्रतिपादक न होनेके कारण छठा प्रमाण वेद भी ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनमें असमर्थ हो जाता है। अस्तु, वेदमें ब्रह्मके निरूपण करनेकी शक्ति नहीं तो न सही; वेदान्तसे उस परमप्रभु जगन्नियन्ताकी सत्ता निरूपित की जा सकती है। परन्तु यह भी कहना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि वेदके ही शिरोभागका नाम वेदान्त है, जिसे उपनिषद्-नामसे व्यवहृत करते हैं। अतः वेदका ही एक देश होनेके कारण महर्षि जैमिनिके उपर्युक्त सूत्रोंके अनुसार

वेदान्त भी क्रियार्थसे भिन्न ईश्वरका प्रतिपादक नहीं हो सकता। इसप्रकार ईश्वरके प्रतिपादनमें किसी प्रमाणकी प्रगति नहीं होती और शास्त्रकार कहते हैं कि 'मानाधीना मेय सिद्धि' अर्थात् प्रमाणके बिना कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। यथार्थत जबतक प्रमाणके द्वारा प्रमेयकी सिद्धि नहीं होती तबतक लौकिक या पारलौकिक किसी भी कार्यमें मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इधर तत्त्वज्ञानके विषयमें शास्त्रोंकी यह घोषणा है कि—

योऽन्यथा सन्तमात्मान अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृत पाप चौरेणात्मापहारिणा॥

अर्थात् जो पुरुष अन्य प्रकारसे विद्यमान आत्माको अन्य ही रीतिसे प्रतिपादन करता है, उस आत्मापहारी चोरने क्या पाप नहीं किया? किन्तु सब पाप किया।

यद्यपि यह परमात्म-तत्त्व दुरवगाह है, अतर्क्य है, तथा बड़े-बड़े महानुभाव इसका पता लगानेमें गोता खाते हैं तथापि जिज्ञासु जब चतुर्दिक् भटककर कहीं आश्रय नहीं पाते हैं, तब लौटकर जगदीश्वर परमकारुणिक श्रीभगवान्‌के चरणोंमें ही शरण ले शान्ति लाभ करते हैं।

भगवान् वेदव्यास अपने ब्रह्मसूत्रके 'पर जैमिनिर्मुख्यत्वात्' इस सूत्रमें कहते हैं कि 'ब्रह्म' शब्द परमात्माका ही बोधक है क्योंकि निरवधिक बृहत्त्व तथा बृहणत्व ये निर्वचन मुख्य-रूपसे जगदीश्वरमें ही सुसगत होते हैं, ऐसा महर्षि जैमिनि-का मत है। पुन आगे—

'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्य' (४।४५)

तथा—

'भाव जैमिनिर्विकल्पामननात्' (४।४-११)

—इन दो सूत्रोंमें भी महर्षि वेदव्यासने महर्षि जैमिनिके मतके प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ताके विषयमें महर्षि जैमिनि-को भी कोई सन्देह नहीं है तथा उन्होंने वेदोंको जो क्रियार्थप्रतिपादक माना है उसका अभिप्राय केवल वेदके पूर्वभाग कर्मकाण्डसे है अर्थात् वेदका पूर्व भाग कर्मका प्रति-पादक होनेसे विधिके साथ ही अर्थवाद तथा मन्त्रोंका प्रामाण्य बन सकता है, विधिके अतिरिक्त अर्थवाद तथा मन्त्रका अन्य प्रयोजन उपलब्ध नहीं है।

यदि अर्वाचीन मीमासकोंके अनुसार उभय भागात्मक सम्पूर्ण वेदको क्रियार्थात्मक ही मानें तो भी वेदान्त भाग ब्रह्मकी सत्ताके प्रतिपादनसे कभी हट नहीं सकता। क्योंकि—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत'

इत्यादि विधि वाक्योंके द्वारा क्रियान्वित ब्रह्मकी सत्ता-का प्रतिपादन अनायास ही किया जा सकता है।

अत खूब विचार करनेपर भी केवल वेदान्तके ही अवलम्बनसे परम प्रभु आनन्द सिन्धु जगदीश्वरके स्वरूप, स्वभाव, विभूति, लीला, चरित्र आदिका कुछ निरूपण किया जा सकता है। अन्यथा मन कल्पित प्रमाणोंके द्वारा उसका निरूपण करना केवल विडम्बनामात्र होगा। जैसे घने अन्धकारमें अत्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष भी बिना प्रकाशके किसी वस्तुके स्वरूपको अपनी बुद्धिके बलसे वर्णन नहीं कर सकता, तथा प्रकाशकी सहायतासे विद्वान् ही क्यों मन्दमति पुरुष भी अन्धकारमें स्थित वस्तुको देखकर उसके स्वरूपका वर्णन कर सकता है, उसी प्रकार वेदान्तकी सहायतासे विद्वान् तथा अल्पमति पुरुष भी परम दयालु श्रीव्रजविहारी परात्पर ब्रह्मके स्वरूपको यथार्थत जानकर स्वभिलषित पदको प्राप्त हो सकता है। इसी बातका समर्थन भगवान् वेदव्यासके इस सूत्रसे होता है—'तर्काप्रतिष्ठानादपि' (२।१।११) अर्थात् तर्ककी कोई स्थिरता नहीं है, अत तर्कगम्य पदार्थ सम्माननीय कोटिमें नहीं आ सकते। इसी प्रकार प्रधानकारणवाद, अणुकारण-वाद आदि भी श्रद्धेय नहीं हैं बल्कि श्रुतिमूलक ब्रह्म कारणवाद ही आदरणीय सिद्धान्त है। दूसरी बात यह है कि इन शुष्क तार्किकोंके तर्कोंका परस्पर खण्डन होनेसे भी किसी अर्थका समर्थन नहीं होता, इससे भी वेदान्त बोधित ब्रह्मकारणवाद ही प्रतिष्ठित माना जा सकता है।

यदि कहा जाय कि दूषित तर्कोंका परित्यागकर सुतर्कोंद्वारा ही अपना अभिलषित अर्थ सिद्ध किया जाय तो प्रधान कारणवाद सिद्ध हो जायगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि तर्कका मूलकारण पुरुषकी बुद्धि ही है अत जो पुरुष जितना ही अधिक बुद्धिमान् होगा, उसकी तर्कशक्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इसप्रकार एक मनुष्य सुतर्कोंके द्वारा ही क्यों न हो, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करेगा दूसरा उससे अधिक विद्वान् पुरुष उस सिद्धान्तको दूषित ठहरा एक दूसरे ही सिद्धान्तको स्थापित करेगा, इस प्रकार कभी कोई एक तत्त्व पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित न हो सकेगा। अतएव अतीन्द्रिय जगदीश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनके लिये वेदान्तकी शरण लिये बिना अन्य किसी भी प्रकारसे गति



महर्षि वाल्मीकि

नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि वेदान्त-वाक्योंके ऊहापोहके लिये तर्ककी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि मनु भगवान्‌ने मनुस्मृतिके अध्याय १२-१०६ में इसी बातका समर्थन किया है। वेद और धर्मोपदेशका विचार जो मनुष्य वेद-शास्त्रानुकूल तर्कद्वारा करता है वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं। तर्क भी वेदानुकूल होना चाहिये, शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघनकर तर्क करनेसे मनुष्य कभी भी कल्याणके पथपर आरूढ़ नहीं हो सकता। इसीलिये जगदीश्वर श्रीवसुदेव-नन्दन पार्थ-सारथी भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि—

'तस्माच्छास्त्रंप्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

अर्थात् हे अर्जुन! तेरे लिये कर्तव्याकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है यानी ऐहिक-पारलौकिक जीवन विताते समय शास्त्रोंका ही अनुसरण कर।

मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है श्रीप्रभुके चरणोंमें अनुराग प्राप्त करना। श्रीशुकदेव मुनिने कहा है—

एतावान्सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥
(भा० २।१।६)

परन्तु किसी वस्तुमें अनुराग तभी होता है, जब पहले उस वस्तुका परिचय रहता है अतः सर्व प्रथम वस्तुके सत्ता-का ज्ञान होना आवश्यक है। तदनुसार प्रकृत प्रसंगमें ईश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन अपेक्षित है और वह वेदान्त-शास्त्रके द्वारा ही सम्पादित होता है, अतः यहाँ कुछ वेदान्त-वाक्योंका अवतरण दिया जाता है—'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।' अर्थात् वरुणके पुत्र भृगु अपने पिताके पास जाकर बोले कि 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दो।'

'तं होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।'

भृगुऋषिको उनके पिताने उत्तर दिया—'जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं, जिसमें जाते हुए प्रलयको प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूपसे जानो, वह ब्रह्म परमात्मा है। सारांश यह है कि जो जगत्‌का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता है वही परमेश्वर है। इसप्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्‌की भृगुवल्लीका यह प्रथम अनुवाक मनोतीत जगदीश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन करता है।

छान्दोग्य उपनिषद्‌के सप्तम अध्यायके अन्तके चार खण्डोंमें सनत्कुमारने नारदजीको भूमा-विद्याका उपदेश दिया है। भूमा अर्थात् परमात्म-तत्त्वका प्रतिपादन करते समय श्रीसनत्कुमार कहते हैं कि, 'जहाँपर दूसरा दीखे नहीं, दूसरा श्रवणमें न आवे, दूसरेका ज्ञान न हो उसका नाम भूमा है और जो भूमा है वही अमृत है।' इसके विपरीत, 'जहाँपर दूसरेका दर्शन, श्रवण, विज्ञान है, वह अल्प है, जो अल्प है वह मर्त्य है अर्थात् विकारी और विनश्वर है।' इसप्रकार यह प्रतिपादन किया गया है कि जगदाधार परमात्मा सबसे बड़ा है और उसीमें सुख है क्योंकि वह अमृतरूप है; उस जगदीश्वर परमात्मासे व्यतिरिक्त सभी पदार्थ अल्प हैं, इसलिये उनमें सुखका लेश भी नहीं है। इसीसे श्रुति कहती है—'महतो महीयान्' अर्थात् जगदीश्वर परमात्मा महान्‌से भी महान् है, तभी तो अपने प्रियजनोंके कार्य-साधनके लिये वह सर्वदा सर्वत्र उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न होता तो भक्तवर प्रह्लाद-की रक्षाके लिये वह परम कारुणिक स्तम्भ फाड़कर श्री-नृसिंहरूपसे कैसे प्रकट होता? हमारा उपास्य परम दयालु जगदीश्वर सब स्थानोंमें सदा विद्यमान है और उसकी सत्ताका ज्ञान वेदान्तके बिना कदापि नहीं हो सकता। इसीसे किसी रसिक भगवत्प्रेमीने ठीक ही कहा है कि—'न वेदान्ताच्छास्त्रं न मधुमथनाद्देवमधिकम्' अर्थात् वेदान्तसे परे कोई शास्त्र नहीं और श्रीकृष्णसे परे कोई देव नहीं। अभय, अमृत, परम सुहृद्, जगत्पतिका अव-बोध कराकर चेतनको अभय, अमृत बनानेवाला यदि कोई है तो वेदान्त-शास्त्र ही है।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'
(तैत्ति० २।४)

अर्थात् ब्रह्मके आनन्दका जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता।

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने-ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।'
(तै० २।७)

अर्थात् 'जिस समय यह चेतन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगोचर, अशरीर, प्राकृतिकरूपसे अनिर्वचनीय, अनाधार, जगदीश्वरके अन्तर्गत अभयरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है, तदनन्तर ही वह भयरहित हो जाता है।'

'रसो वै सः । रस लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।'

(तै० २ । ७)

अर्थात् 'वह आनन्दमय जगदीश्वर ही रसरूप रस-सिन्धु है । रसरूप परमात्माको ही प्राप्त होकर यह चेतन आनन्दवाला होता है ।' तात्पर्य यह है कि त्रिविध तापसे व्याकुल जीव आनन्द-सिन्धु रसमय परमात्माको प्राप्तकर सांसारिक क्लेशोंसे मुक्त हो आनन्दसागरमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है ।

तमेव विद्वानमृत इह भवति । नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ।

अर्थात् 'उस जगत्कारण परम पुरुषको ही जानकर उपासनाद्वारा उपासक अमृत हो जाता है । उसकी प्राप्ति-का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।' परमात्माको प्राप्त कर चेतन (जीव) किसप्रकार निर्भीक, आनन्द तथा अमृत हो जाता है इसको उपर्युक्त वेदान्त वाक्य मुक्तकण्ठसे गान कर रहे हैं।

वेदाहमेत पुरुष महान्त-
मादित्यवर्णं तमस परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(श्वे० ३ । ८)

अर्थात् प्रकृतिसे परे सूर्यकी तरह देदीप्यमान इस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ । उसे उपासनाद्वारा प्राप्त कर चेतन (जीव) मुक्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायके प्रथम खण्डमें दहरविद्याका निरूपण करते समय उस दहराकाश पद-वाच्य परमात्माके आठ गुणोंका प्रतिपादन किया गया है—'अस्मिन्कामा समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपास सत्यकाम सत्यसङ्कल्प इत्यादि ।' इस वाक्यमें 'अपहतपाप्मा' से 'अपिपास ' पर्यन्त प्राकृत हेय गुणोंका निषेधकर 'सत्यकाम सत्यसङ्कल्प' इन दो पदोंसे अनेक दिव्य गुणोंका परमात्मामें विधान किया गया है । 'सत्या कामा कल्याणगुणा यस्य' ऐसा समास करनेसे सत्यकाम पद ही उस परमपिता जगदीश्वरके असंख्य गुणोंका बोधक होता है ।

इसप्रकार आनन्दकन्द परब्रह्म परमेश्वरकी सरसता, लोकविलक्षणता, आनन्दमयता, स्वरूपचमत्कृति, जगत्का रणता, असंख्यातगुणवत्ता, दयालुता आदिका प्रतिपादन करता हुआ वेदान्त उसके स्वरूप-सत्ताका यथार्थरूपसे निदर्शन करता है ।

यहाँ ऐसी शका नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म तो निर्गुण, अरूप और अशरीर है, क्योंकि इन पदोंमें प्राकृत गुण, प्राकृत रूप और प्राकृत शरीरका ही निषेध है । अत अनेक दिव्य गुणविशिष्ट, दिव्य विग्रहयुक्त, देदीप्यमान वर्ण उस परमात्माकी सत्ताका वेदान्तवाक्योंद्वारा निश्चय करके अन्त क्षणतक निरन्तर तैलधारावत् प्रेमपूर्वक भगवच्चिन्तन और ध्यान करते हुए उस परम प्रभुके चरणोंमें प्राप्त हो जाना ही मानव-जन्मका परम लाभ है । यदि यह न हुआ तो शौनकजीका कथन ठीक ही समझना चाहिये कि—

तरव किं न जीवन्ति भस्त्रा किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरै सस्तुत पुरुष पशु ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रज ॥

(भा० २ । ३ । १८, १९)

श्रीसुमित्राजी भी कहती हैं—

नतरु बाँझ भलि बादि बियानी । राम बिमुख सुत ते हित-हानी ॥

ईश्वर कौन हैं

कर्म करते हैं हम यद्यपि स्वतन्त्र किन्तु फल भोगनेमें सदा जिनके अधीन हैं ।
जिनके अलंघनीय-नियम-नियन्त्रणोंसे चर औ अचर निज कर्ममें निलीन हैं ॥
शोककी दशामें लोक व्याकुल पुकारे जिन्हें जिनके समक्ष यक्षपति अति दीन हैं ।
चिदानद घन जान योगीजन ध्याते जिन्हें 'राम' वही ईश जगदीश समीचीन हैं ॥

—रामनारायणदत्त पाण्डेय, व्या० शास्त्री 'राम'

ईश्वरकी महत्ता

(लेखक–साहित्यशास्त्री पं० श्रीजगन्नारायणदेवजी शर्मा 'कविपुष्कर' विशारद)

[पुष्कर-छन्द]

(१)

जब इस जगका नाम नहीं था, तब तेरी थी सत्ता!
तेरी इच्छा बिना न कोई, हिल सकता है पत्ता॥
गगन-सदृश तू ही है व्यापी, सूर्य-चन्द्र-छवि-धारी!
अग्नि-समान तेज रखता है, वायु-तुल्य-गति-कारी॥

(२)

पृथ्वीमें तू गन्ध-रूप है, जलमें रस हो राजे!
आत्मा-बीज सकल प्राणीमें, जीव-ज्योति उपराजे॥
कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुझीसे, पैदा हो लय होते!
देव-पितर-पाताल-स्वर्गमें, तेरे अभिनय होते॥

(३)

ब्रह्मा-विष्णु-शम्भुकी समता, तुझसे जानी जाती!
सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणी-प्रभुता गुरुता पाती॥
वेदोंके तत्त्वोंका स्वामी, अन्तर्यामी तू है!
सबसे परे सभीमें रमता, सब थलगामी तू है॥

(४)

'नेति-नेति' कह मूक हो गई, निगमागमकी वाणी।
'इदमित्थं' कह सके न अब भी, ऋषि-मुनि-ध्यानी-ज्ञानी॥
अजरामर-अव्यक्त-अजन्मा-निर्विकार-प्रभु-न्यायी।
भक्तोंका जीवन-धन प्यारा, कान्ति-शान्ति-वरदायी॥

(५)

मनकी शक्ति जहाँतक जाती, उससे दूर-निवासी!
नाना भाँति विविध भावोंमें, तू है स्वयं विकासी॥
नाम-रूपके भेद भरा तू, जो चाहे सो माने!
बाहर-भीतर समकर जाने, सो साधक पहचाने॥

(६)

वही धन्य है प्रेमी तेरा, जो असत्यको त्यागे!
तुझमें लीन काम-मद तजके, हो सेवक अनुरागे॥
उसे न धाम-धराकी चिन्ता, यम-यातना न होती!
सो पाता है अन्तकालमें, अलख मोक्षका मोती॥

(७)

मेघोंको पानी बरसाना, तूने भले सिखाया!
सागरकी तरंग-मालाको, तूने प्रकट दिखाया॥
तूने पर्वतकी श्रेणीमें, विचित्रता दरसाई।
सुन्दर वनमें औषधियोंकी, की तूने अधिकाई॥

(८)

पशुओंके समूहमें तूने, बल-उद्यमको डाला!
तूने पक्षी लघु कीटोंको, पैदा करके पाला॥
फल-फूलोंमें मृदुता-शोभा, तुही बनानेवाला!
निशि वासर-ऋतुको संवतमें, निज हाथोंसे ढाला॥

(९)

प्रकृति-पुरुष जो कुछ सो तू है, ऐ ईश्वर अविनाशी!
अभिमानी हैं तुझे न लखते, बुद्धि-भ्रष्ट दुखराशी॥
जहाँ देखिये वहाँ राजती, तेरी अद्भुत माया।
वही तुझे कुछ जान सका है, जिसपर तेरी दाया॥

(१०)

जप-तप-संयम-नियम यज्ञका, प्रिय आधार तु ही है।
ब्रह्मचर्य-व्रत-पूजादिकमें, गुरु स्वाचार तु ही है॥
बँधी हुई जिनकी आँखों पै, कुटिल-मूढ़ता-पट्टी।
वे क्या समझ सकेंगे, तुझको सोना है या मट्टी॥

(११)

सरल शुद्ध मानस-मन्दिरमें, मूर्तिमान हो जावे।
माता-पिता-पुत्र-बान्धवकी, समताको उपजावे॥
शरणागतकी रक्षा करना, ऐ दयालु उपकारी!
जो हो भूल भुला दे उसको, 'कविपुष्कर' भयहारी॥

आधुनिक अनीश्वरवाद

(लेखक—प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)

अनीश्वरवाद स्वय कोई नयी चीज नहीं है। प्राचीन कालसे ही चला आया है। प्रत्येक देश और कालमें कुछ लोग अनीश्वरवादी रहे हैं। पर आधुनिक अनीश्वरवाद एक विशेष आकर्षणके साथ आता है और इस कारण जो अनीश्वरवाद या अनात्मवाद किसी समय भी लोकप्रिय नहीं हुआ वह इस समय कुछ लोकप्रिय-सा हो रहा है। कारण, आधुनिक अनीश्वरवाद एक ऐसे राजनीतिक और आर्थिक आदर्शके साथ आ रहा है जो सर्वसाधारणको प्रिय है। यह आदर्श है, समाज-सत्ता (कम्यूनिज्म)। अबतकके राजनीतिक और आर्थिक स्थित्यन्तरोंका यह स्वाभाविक परिणाम है। पर जो कोई कम्यूनिज्मका नाम सुनता है, कम्यूनिज्मकी ओर झुकता है, मार्क्सके तत्त्वज्ञानकी बातें सुनता है, लेनिनके पराक्रमोंसे चकित होता है और फिर यह जानता है कि ईश्वर और धर्मको छोड़े बिना कोई भी मनुष्य कम्यूनिस्ट नहीं हो सकता, तब वह कम्युनिस्ट होनेके शौकसे ईश्वर और धर्मके विरुद्ध बातें करनेके फैशनको भी इख्तियार कर लेता है। स्वय रूसमें पहले ऐसे कम्यूनिस्ट थे जो यह कहा करते थे कि हम जब कम्यूनिज्मकी सब बातें मानते हैं और ईश्वरको भी मानते हैं तब ईश्वरको मानते हुए भी हम कम्यूनिस्ट रह सकते हैं। (कोलटनकृत एक्स वाई जेड आफ कम्यूनिज्म) पर उन्हें मार्क्सका यह सिद्धान्त पढ़ाया गया कि ईश्वर और धर्म जनताके लिये अफीमके समान हैं। लेनिनने समझाया कि ससारमें होनेवाले और सब अपराध गनीमत हैं, पर ईश्वरपर विश्वास करना अच्छा नहीं। (फुलुप मिलरकृत 'लेनिन और गान्धी') रूसकी सोवियट गवर्नमेण्टने ईश्वर और धर्मके विरुद्ध न केवल युद्धकी घोषणा की है बल्कि वह युद्धकी सब नीतियोंका अवलम्बनकर प्रत्यक्ष युद्ध ही कर रही है। ईश्वर और धर्मके विरुद्ध जितने उपाय विधिपूर्वक किये जा सकते हैं सब किये जा रहे हैं और इस कार्यक्षेत्रको 'रिलीजस फ्रण्ट' यानी 'धार्मिक रणक्षेत्र' कहा भी जाता है। (कोलटन कृत एक्स वाई जेड) इस लेखमें हम इस धार्मिक रणका विवरण नहीं देना चाहते, क्योंकि हमें यहाँ केवल अनीश्वरवाद देखना है जो कम्यूनिज्मके साथ है, यह देखना है कि रूसकी सोवियट गवर्नमेण्ट या दुनियामें जहाँ-तहाँ छितरे हुए कम्यूनिस्टोंका यह तत्त्वज्ञान क्या है जिसके कारण वे यह समझते हैं कि ईश्वर नहीं है और इसलिये वे ईश्वर विश्वासका अन्त करनेपर तुले हुए हैं। हमें यह विश्वास है कि कोई भी ज्ञान, विज्ञान या तत्त्वज्ञान ऐसा नहीं हो सकता जो ईश्वर या आत्माका न होना सिद्ध करके दिखा सके। पर हम स्वय ज्ञानी, विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, इसलिये अनीश्वरवादी ज्ञानी, विज्ञानी, तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी बातें काटना हमारे लिये सम्भव नहीं है—उनकी बातें यदि कट सकती हैं तो केवल इसी कारणसे कट सकती हैं कि उनका ज्ञान कामाच्छन्न है, विज्ञान अपूर्ण है, और तत्त्वज्ञान अधूरा है।

१—कार्य-कारण सम्बन्ध

कम्यूनिस्ट यह कहते हैं कि ससारमें जितने पदार्थ हैं, सब कार्य-कारण-सम्बन्धसे बँधे हैं। प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी कारणका कार्य है, इनमें ईश्वरका हाथ तो कहीं भी नहीं दिखायी देता। कुछ लोग कहते हैं कि जिस तरह टाइम बतानेवाली घड़ी एक खास मतलबसे बनायी जाती है, उसके सब पुर्जे अपने-अपने स्थानमें अपना-अपना काम करते हुए घड़ीका मतलब हासिल कराते हैं, उसी तरहसे इस विश्वकी भी रचना है, इसका एक विशेष उद्देश्य है और यहाँ हम जितने पदार्थ देखते हैं वे सब उसी उद्देश्यको पूरा करनेके लिये हैं जैसा कि डारविनकी इवोल्यूशन थ्योरी (विकासवाद) से मालूम होता है। परन्तु ऐसा नहीं है—विश्वका न कोई लक्ष्य है और न उस लक्ष्यकी कोई कल्पना ही विश्व कर सकता है। विश्वको समझनेका एकमात्र उपाय कार्य-कारण विचार है। रात हुई और फिर दिन हुआ। क्यों हुआ? यानी किस कारणसे हुआ, यह बताया जा सकता है। कारण यही है कि पृथ्वी घूमती है, उसका जो हिस्सा सूर्यके सामने हुआ वहाँ दिन हुआ, जो हिस्सा पीछे रहा वहाँ रात हुई। कोई मनुष्य पानी पीता है। क्यों? इस कारणसे कि उसका गला

सूखता है। गला क्यों सूखता है? वायु या पित्तके बढ़नेसे। यही बात मनुष्य-समाजोंकी भी है। हिन्दुस्थान स्वतन्त्रताके लिये लड़ता है। क्यों? इस कारणसे कि वह पराधीनतामें है। जो पराधीनतामें होगा वह स्वतन्त्रताके लिये लड़ेगा ही। रूसमें बोलशेविक-राज्य क्यों स्थापित हुआ? इस कारणसे कि जहाँ यूरोपकी वर्तमान पूँजीपतशाही होगी वहाँ मार्क्सकी मेटिरियलिस्ट फिलासफी (जडतत्त्वज्ञान) फैलेगी और मजूरोंका राज्य होगा। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध है, लक्ष्य और दैव-सम्बन्ध नहीं। यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि पृथ्वीके घूमनेसे दिन और रातका होते रहना या सूर्य और पृथ्वी-के बीचमें चन्द्रके आनेसे सूर्यग्रहणका दिखायी देना। सूर्यग्रहण किस उद्देश्यसे हुआ यह नहीं पूछा जाता, बल्कि सूर्यग्रहण क्यों हुआ, यह पूछा जाता है। अर्थात् कारण-कार्य-सम्बन्ध पूछा जाता है। उसी तरहसे रूसमें कम्यूनिस्ट-राज्य क्यों स्थापित हुआ? यह पूछना ठीक है। किस उद्देश्यसे स्थापित हुआ यह पूछना ठीक नहीं। इसपर स्टैमलर नामक एक विद्वान्ने पूछा कि यदि कम्यूनिस्ट-राज्य स्थापित होना सूर्यग्रहणके समान ही कार्य-कारण-सम्बन्धसे निश्चित है तो उसके लिये इतने बड़े संघटन और उद्योगकी क्या आवश्यकता है? कम्यूनिस्टोंने इसका ठीक ही उत्तर दिया है कि कम्यूनिस्ट-राज्यका स्थापित होनारूप कार्य निश्चित होनेपर भी उसे स्थापित करनेका उद्देश्य मनमें रखकर उसके लिये जो संघटन और उद्योग किया जाता है उसका कारण यह है कि उस कार्यका यह भी कारण है—जहाँ-जहाँ पूँजीपतशाही होगी वहाँ-वहाँ लोग कम्यूनिस्ट-राज्य-पद्धति स्थापित करनेकी सोचेंगे और उसके लिये उद्योग करेंगे और कम्यूनिस्ट-राज्य स्थापित होगा। इसमें उद्देश्यका जो भाग है वह एक तो मनुष्य-समाजके भीतरकी बात है (सम्पूर्ण जगत्की नहीं) सो भी कार्य-कारणके परेकी नहीं, कार्य-कारणके भीतरकी है। अर्थात् इन सब उदाहरणोंमें यही देखा जाता है कि विश्व कार्य-कारण-सम्बन्धमात्र है। इसमें न कहीं कोई उद्देश्य है, न दैव ही, और इसलिये न कोई ईश्वरका हाथ ही। हम जिसे दैव यानी जिस घटनाको 'दैवात्' या 'अकस्मात्' हुई (ऐक्सिडेण्ट) कहते हैं, वह भी, कार्य-कारण-सम्बन्ध-के सिवा और कुछ भी नहीं है। ऐक्सिडेण्ट या आकस्मिक घटना हम उसीको कहते हैं जिसके कुछ कारण हमें मालूम रहते हैं और कुछ कारण नहीं मालूम रहते। हम किसी कामसे कहीं गये, रास्तेमें एकाएक एक पुराने मित्र-की भेंट हो गयी जिसकी कोई आशा या सम्भावना नहीं थी। या हम कहीं दावत खाने गये और अकस्मात् किसीने आकर हमारे ऊपर तमंचा चला दिया। इन अनिष्ट और इष्ट दोनों प्रकारकी घटनाओंमें कोई भी यह देख सकता है कि कार्यके कारणका एक हिस्सा हमें मालूम है और दूसरा हिस्सा नहीं मालूम। इसलिये यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ है, सब कार्य-कारण-सम्बन्धसे समझा जा सकता है और इस तरहसे समझना ही वैज्ञानिक समझ है और यह समझ ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं रखती। रह गयी बात विकासवादकी तो जो लोग विकासवादका यह अर्थ समझते हैं कि संसार और संसारकी प्रत्येक वस्तु विकसित हो रही है वे गलत समझते हैं, क्योंकि दुनियाकी सतहपर किसी जमाने-में इतने बड़े-बड़े और भयङ्कर जानवर थे कि जिन्हें दैत्य या दानव कह सकते हैं पर अब वे सब नष्ट हो गये हैं और बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली, बलशाली, सभ्य मानव-राष्ट्र बैबिलान, रोम और यूनान आदिका आज कहीं पता भी नहीं है। हजारों मरे हैं, खाकमें मिले हैं तब जाकर दो-एक विकसित हुए दिखायी देते हैं। जो नष्ट हुए वे क्यों हुए (किस उद्देश्यसे नहीं, किस कारणसे) यह जाना जा सकता है और जो विकसित हुए वे किससे कारण हुए यह भी जाना जा सकता है, यानी कार्य-कारण-सम्बन्ध ही जाना जा सकता है। कारण, विश्वका नियमन कार्य-कारण-सम्बन्ध ही है। (एन० बुखारिनकृत हिस्टारिकल मेटिरियलिज्म)।

कम्यूनिस्टोंकी इस विचार-पद्धतिका अब किञ्चित् परीक्षण करें। पहली बात हम यह देखते हैं कि विश्वके एक सामान्य नियमके रूपसे हमें यह बताया गया कि विश्वका प्रत्येक पदार्थ कार्य-कारण-सम्बन्धसे बँधा है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव और प्रत्येक घटना किसी-न-किसी कारणका कार्य है, किसी उद्देश्यका फल नहीं। यह अलग-अलग प्रत्येक पदार्थकी बात हुई, पर सम्पूर्ण विश्वका कारण क्या है यह नहीं मालूम हुआ। कम्यूनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें शायद इसका कोई उत्तर नहीं है। इसका मतलब यह है कि यदि कोई इस विश्वके मूल कारणको खोजनेके लिये चले तो इस जड तत्त्वज्ञानमें उसे जड पत्थरकी दीवारोंसे ही टकराना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पदार्थके मूलमें कारणका अनुसन्धान करनेवाला जड तत्त्वज्ञान असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको बटोरनेके लिये कहता है, सम्पूर्णके मूलका कोई एक कारण ऐसा नहीं बतलाता जिससे असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको असंख्य कालतक ढूँढनेका श्रम न करना पड़े और एक मूलकारणके मालूम होते ही असंख्य कारण आप ही मालूम हो जायँ। मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें इसका कोई समाधान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि मेटिरियलिस्ट फिलासफी कोई चीज नहीं। हम यह कह सकते हैं कि वह बड़ी उपयोगी वस्तु हो सकती है, पर अपने ही क्षेत्रके अन्दर, उस क्षेत्रके बाहर नहीं। कारण, प्रत्येक क्षेत्रका नियम उसी क्षेत्रके लिये उपयोगी हो सकता है, उसके बाहर नहीं। विश्वके मूलका विचार करते हुए बेट्रूँड रसेलने अपने 'सायंटिफिक आउट लुक' ग्रन्थमें यह लिखा है कि 'हम नहीं समझते कि यदि हम यह मान लें कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो इसमें कोई हर्ज है, सिवा इसके कि यह बात कुछ भद्दी-सी मालूम पड़ती है।' पर वैज्ञानिक अनुसन्धानमें अच्छे-भद्देका कोई सवाल नहीं उठता, सवाल सामने रहता है ठीक-बे-ठीक, सही-गलतका। यदि यह सही है कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो बेट्रूँड रसेलके वैज्ञानिक दिमागको यह जानना चाहिये कि 'अपने आप होना' भी एक पदार्थ है जो सब पदार्थोंका मूलकारण है। यह 'अपने आप' होना क्या है? किसी नियमका—कार्य-कारण-सम्बन्धका न होना है अर्थात् कार्य-कारण-सम्बन्धके परे भी कोई चीज है जहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। पर मेटिरियलिस्ट फिलासफी इसे मंजूर न करेगी, क्योंकि 'अपने आप' होना स्वीकार करनेसे कार्य-कारण-सम्बन्धके परे कोई प्रच्छन्न शक्ति माननी पड़ती है और ऐसा माननेसे अनीश्वरवादकी जड़ ही कट जाती है। अस्तु। दूसरी बात यह है कि कम्यूनिस्टोंके जड तत्त्वज्ञानमें कार्य-कारण-सम्बन्धका जो विचार है वह मूलकारण तो बतलाता ही नहीं पर मनुष्य-समाजकी गतिको देखते हुए भी अपूर्ण मालूम होता है। यह बिल्कुल सही है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है (फ्री विल नहीं है) पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य कोई भी काम करनेके पूर्व इच्छा करता है, पहले इच्छा किये बिना वह कोई कार्य कर ही नहीं सकता, यह प्रत्येक मनुष्यके अनुभवकी बात है। इसपर कम्यूनिस्टोंका यही तो कहना है कि इच्छाएँ या उद्देश्य भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें जो भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं उनसे यही मालूम होता है कि इच्छा या उद्देश्य स्वतन्त्र नहीं बल्कि जड यानी पार्थिव (मेटिरियल) अवस्थाके अधीन है। पर कम्यूनिस्ट फिलासफर इस बातको मानेंगे कि प्रत्येक जड-अवस्था किसी-न-किसी कारणका परिणाम है, किसी-न-किसी कारणका कार्य है अर्थात् कर्म है। और प्रत्येक मनुष्यका अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सम्बन्धमें यही बयान है कि इच्छाके बिना कोई भी कर्म नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक अवस्था किसी-न-किसी इच्छासे ही उत्पन्न होती है। इसलिये विश्वका प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी इच्छाका ही परिणाम है। अतएव कम्यूनिस्टोंका यह कहना गलत है कि सृष्टिमें केवल कार्य-कारण-सम्बन्ध है—इच्छा या उद्देश्य कुछ भी नहीं।

२–पहले जड या पहले चैतन्य ?

इसपर कम्यूनिस्ट यह कहते हैं कि यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक कार्यका मूल कोई-न-कोई इच्छा है और इसलिये इस सृष्टिके मूलमें भी इच्छा है तो हमें ईश्वर मानना पड़ेगा, क्योंकि जब इच्छा है, तब उस इच्छाका करनेवाला कोई-न-कोई चाहिये ही। पर ऐसा सोचना बिल्कुल बे-बुनियाद है। कारण, संसारमें हम क्या देखते हैं? पत्थरके कोई इच्छा नहीं होती, सूर्यका कोई उद्देश्य नहीं है, न आकाश-गंगा या तारका-पुंज अपने सामने कोई उद्देश्य रखते हैं या किसी बातकी इच्छा करते हैं। मनुष्यमें हम जो इच्छा देखते हैं वह बाहर जो विषय वह देखता है तथा उसके जो इन्द्रियाँ हैं उनके कारणसे उत्पन्न होती है। अब सवाल यह पैदा होता है कि मनुष्यका मन पहलेसे है या शरीर पहलेसे है। पहले क्या है—मन और मनकी इच्छाएँ, बुद्धि और उसके विचार, चित्त और उसके भाव या यह जड जगत्? हम जानते हैं कि मनुष्य प्रकृतिका एक अंश है। हम निश्चितरूपसे इस बातको नहीं जानते कि पृथ्वीको छोड़ अन्य ग्रहोपग्रहोंमें मनुष्योंसे भी अधिक विकास प्राप्त प्राणी हैं या नहीं, यद्यपि यह सम्भव है कि हाँ; कारण ये ग्रहोपग्रह असंख्य हैं। पर यह हमें निश्चितरूपसे मालूम है कि मनुष्य इसी दुनियाका प्राणी है और वह प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुआ है और प्रकृतिका ही अंश है। विश्वके इस विराट्रूपमें मनुष्यका मन तो एक बहुत ही छोटी-सी

चीज है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अन्य पशुओंसे उत्पन्न हुआ है और ये पशु भी इस विश्वमें बहुत थोड़े कालसे हैं। जब यह विश्व भी सूर्यके समान आगका गोला ही था, ठण्डा होकर इस रूपको नहीं प्राप्त हुआ था तब मन या बुद्धिवाले प्राणी कहाँ थे? ये प्राणी तो उत्पन्न हुए हैं बहुत पीछे। निरीन्द्रिय जड प्रकृतिसे सेन्द्रिय-प्रकृति उत्पन्न हुई और सेन्द्रिय-प्रकृतिने एक ऐसा रूप खड़ा किया जो सोचनेमें समर्थ हुआ अर्थात् मनुष्य उत्पन्न किया। पहले अचेतन जड प्रकृति थी जिसमेंसे यह सोचनेवाली प्रकृति उत्पन्न हुई। इसलिये जड प्रकृति ही मन-बुद्ध्यादि अन्तःकरणकी जननी है, अन्तःकरण जड प्रकृतिकी जननी नहीं। अर्थात् यह जो कहा जाता है कि प्रत्येक पार्थिव अवस्था किसी-न-किसी इच्छा या उद्देश्यका परिणाम है, यह हो ही नहीं सकता; क्योंकि पार्थिव अवस्था पहलेसे है, इच्छा करनेवाला मन पीछेसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये विश्वके मूलमें कोई लक्ष्य, उद्देश्य या इच्छा नहीं हो सकती—कार्य-कारण-सम्बन्धके सिवा इसमें और कोई हेतु नहीं है। जड अवस्था पहले है, उसमेंसे इन्द्रियोंवाले पदार्थ निकले हैं और इन इन्द्रियों-वाले पदार्थोंमेंसे—कार्य-कारण-सम्बन्धसे ही विशेष अवस्थामें—मन और बुद्धिवाले प्राणी निकले हैं और इन बुद्धिवाले प्राणियोंने अपनी जडतन्त्र बुद्धियोंमेंसे, भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव, विचार, ईश्वरकी कल्पनाएँ, नाना प्रकारके तत्त्वज्ञान और धर्मविचार निकाले हैं। यथार्थमें मूल-प्रकृतिमें नियम या नियन्ता किसी भी रूपमें नहीं है। इसलिये न कहीं कोई ईश्वर है न कोई धर्म। (हिस्टारिकल मेटिरियालिज्म)

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि यह जड तत्त्वज्ञान विश्वका मूल-कारण बतलानेमें असमर्थ है, कार्य-कारण-सम्बन्धके परे क्या है इसका अनुसन्धान भी वह नहीं करता और मनुष्यमात्रके अनुभवको जड जगत्का जड-रूप दिखाकर जडीभूत करनेका प्रयास करता है। पहले यह विश्व अग्निमय था, पीछे ठण्डा होनेपर वह इस रूपको प्राप्त हुआ, धीरे-धीरे धरतीमें धातुएँ उत्पन्न हुईं, वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं, जलचर, थलचर, नभचर, कीट, पक्षी और पशु उत्पन्न हुए और अन्तमें मनुष्य हुआ। इसलिये जबतक मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक बुद्धि नहीं थी और जबतक मनवाले कीट पक्षी और पशु नहीं उत्पन्न हुए थे तबतक मन भी नहीं था, क्योंकि मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें मन या बुद्धिकी तबतक कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती जबतक उसके लिये शरीरके मस्तकमें घर न बना हो। पहले गृह, तब गृही, यही सिद्धान्त मालूम होता है। अथवा दूसरा दृष्टान्त है इञ्जिनका, और कोई भी मेटिरिय-लिस्ट फिलासफीके इस सिद्धान्तके अनुसार यह कह सकता है कि जबतक रेलका इञ्जिन नहीं बना था तबतक इस विश्व-में वाष्पशक्ति नहीं थी क्योंकि मेटिरियलिस्ट यह पूछ सकते हैं कि जब यह सारा विश्व विज्ञानके विषयमें अन्धकारमें था, कहीं कोई यन्त्र या इञ्जिन नहीं था तब वाष्पशक्ति कहाँ थी? जैसे जब इस विश्वमें मनुष्य नहीं था तब मनुष्यका मन कहाँ था? वाष्पशक्ति पहले-पहल उत्पन्न हुई इञ्जिनमें। जैसे बुद्धि इस विश्वमें पहले-पहल मनुष्यके मस्तकमें उत्पन्न हुई। पर इस दलीलको जरा और गहराईके साथ देखें। मनुष्य जबतक उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक यदि बुद्धि नहीं थी तो हम यह पूछते हैं कि वह मनुष्यमें कहाँसे आयी? जैसे कोई यह पूछ सकता है कि इञ्जिन जब नहीं था तब यदि वाष्पशक्ति नहीं थी तो इञ्जिनमें वह कहाँसे आयी? कम्यूनिस्टर फिलासफर यह कहते हैं कि यह बुद्धि बाहरके विषयों और अन्दरके इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होती है, क्योंकि बाहरके विषय प्रकृति हैं, अन्दरकी इन्द्रियाँ भी प्रकृति हैं, इन इन्द्रियोंको उत्पन्न किया है प्रकृतिने ही। बुद्धि जब प्रकृतिसे ही मनुष्यको मिलती है तब इसका यह मतलब हुआ कि यह बुद्धि जड प्रकृतिमें रहती है और वहींसे मनुष्यको मिलती है। जैसे इञ्जिनको आग और पानीसे वाष्पशक्ति मिलती है। जब इञ्जिन नहीं था तब भी यह वाष्पशक्ति थी, चाहे सबको, विशेषकर पकाकर अन्न न खानेवालोंको न मालूम रही हो; वैसे ही जब मनुष्य नहीं था तब भी यह बुद्धि-शक्ति थी, मनकी संकल्प-शक्ति थी चाहे अब भी सबको अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष न हुई हो। कारण, प्रकृतिमें यदि बुद्धि न हो—उस प्रकृतिमें जो जडवादियोंको आरम्भमें आगका एक बड़ा भारी गोला-सा नजर आती है। यदि बुद्धि न हो तो वह मनुष्यमें आती कहाँसे है? जो चीज है ही नहीं उसमेंसे कोई चीज कैसे निकल सकती है? अभावसे भाव कैसे निकल सकता है? अचेतनसे चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? गीताने क्या खूब कहा है कि जो नहीं है वह है ऐसा नहीं हो सकता, जो है वह नहीं है ऐसा भी नहीं

हो सकता। तिलसे तेल निकल सकता है, बालूसे नहीं। कारण, तिलमें तेल है, बालूमें नहीं। जो चीज जिसमें नहीं है वह उसमेंसे नहीं निकल सकती, यह सिद्धान्त है। इसलिये कम्यूनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीका यह सिद्धान्त गलत है कि इच्छा, संकल्प, बुद्धि या विचार, उद्देश्य या लक्ष्य विश्वमें या प्रकृतिमें एक नयी चीज है जो पहले नहीं थी। जो बात हम पहले केवल मनुष्योंके सम्बन्धमें कह आये कि मनुष्यका कोई भी कर्म इच्छापूर्वक ही होता है यानी पहले इच्छा होती है, पीछे कर्म होता है, वही बात अब हम समग्र विश्वके विषयमें कहते हैं। इच्छाके विना केवल मनुष्यका ही नहीं, किसी जड़-पदार्थका भी कोई कर्म नहीं होता। कार्य-कारण-सम्बन्धके नियमका वास्ता इस इच्छापूर्वक और इच्छामूलक कर्मके साथ वृक्ष-बीज-न्यायसे अवश्य ही है। वृक्षका ही बीज होता है और बीजका ही वृक्ष होता है, वैसे ही अवस्थासे अवस्थानुसार इच्छा होती है और इच्छाके अनुसार अवस्था होती है। यह शुद्ध कार्य-कारण-सम्बन्ध है, पर वह इतना ही है, यही उसकी हद है। इस क्षेत्रके बाहर दूसरा नियम है। सृष्टिकी उस अवस्थामें जब वह अग्निका विराट् आवर्त्त ठण्डा हो चुका था, जलके बाद पृथ्वी प्रकट हो चुकी थी, पर धातु उद्भिजादिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी अर्थात् वृक्षादि नहीं थे तब वृक्ष-बीज-न्याय नहीं था, क्योंकि वृक्ष ही नहीं थे। तब ये वृक्ष कहाँसे उत्पन्न हुए? अर्थात् वृक्ष नहीं थे पर उनके बीज थे। उसी प्रकार यह विराट् विश्व था पर मनुष्य नहीं था—यानी मानवी बुद्धि नहीं थी तब मनुष्यमें बुद्धिका जो विशाल वटवृक्ष दिखायी देता है वह सामने दिखायी न देनेपर भी बुद्धि-बीजमें समाया हुआ था और इसी न्यायसे यह मानना पड़ेगा कि यह बुद्धि बीजरूपमें विश्वके मूलमें थी। इसलिये विचार विश्वके मूलमें था, संकल्प विश्वके मूलमें था, लक्ष्य विश्वके मूलमें था, और उस लक्ष्यकी ओर जानेकी गति भी विश्वके मूलमें थी। मनुष्यमें जो बुद्धि हम देखते हैं वह बुद्धि पशु-पक्षियोंमें और वनस्पतियोंमें तथा धातुओंमें भी किसी-न-किसी रूपमें है यह वैज्ञानिकोंने देखा है। पत्थरमें, मिट्टीमें, जलमें, आगमें, हवामें अभी देखना बाकी है। इस खोजमें असंख्य वर्ष लग सकते हैं, पर अनुमानसे आज भी यह सिद्ध है कि विश्वके मूलमें बुद्धि है जो बुद्धिपूर्वक ही आगसे मनुष्यके मस्तकतक क्रमसे विकासको प्राप्त हो रही है यानी प्रकट हो रही है।

कम्यूनिस्ट-फिलासफरोंका यह कहना एक हदतक ठीक है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है। वे उसे जडतन्त्र बतलाते हैं। पर वह केवल जडतन्त्र ही नहीं है। कारण, यह हम देख चुके हैं कि जड-जगत्‌का जो महायन्त्र है इसके मूलमें स्वतन्त्र संकल्प है और इसलिये किसी भी इच्छामें जडतन्त्रकी परतन्त्र जड़ता भी है और मूल स्वतन्त्र संकल्पकी स्वतन्त्रता भी है। इसी स्वतन्त्र मूल संकल्प-अनुसार होनेवाले सृष्टि-कर्मको हमलोग दैव कहते हैं जो कार्य-कारण-सम्बन्धसे रहित नहीं है पर वह इतनी छोटी चीज भी नहीं है कि ऐक्सिडेण्टकी इस व्याख्यासे वह कट जाय कि कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात कारणोंके मेलकी घटनाको ऐक्सिडेण्ट कहते हैं। मनुष्यको जबतक मूल-संकल्पका ज्ञान नहीं होता अर्थात् उस मूल-संकल्पकी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त होती तबतक उसके जीवनमें ऐसे ऐक्सिडेण्ट होते ही रहेंगे, जिसके कुछ कारण उसके लिये अज्ञात ही रहेंगे।

३—विकासक्रम और संकल्प

मेटिरियलिस्ट फिलासफीकी अब केवल एक बात रह गयी। सृष्टिके विकासक्रमसे कुछ लोग जो यह अनुमान करते हैं कि विश्व उत्तरोत्तर उन्नत होता जा रहा है और इसमें विश्वात्माका कोई विशेष संकल्प है, उसे पूर्वपक्षमें यह कहकर काटा गया है कि बहुतोंका नाश हुआ तब कुछकी उन्नति हुई। पर उन्नति हुई यह बात स्वीकार की जाती है, साथ ही इतना और कहा जाता है, कि अवनति भी हुई है। पर उन्नतिका यदि यही क्रम हो तो इसको कोई क्या करे? यह उत्थान-पतनका चक्र है जो मेटिरियलिस्ट फिलासफीके कार्य-कारण-सम्बन्धसे रहित नहीं पर यह कार्य-कारण-सम्बन्ध निर्हेतुक भी नहीं। यह चक्र 'असंख्य बार घूमा है और असंख्य बार घूमेगा। हम-आप रोज सोते हैं और रोज जागते हैं। थकावटमें मनुष्य सो जाता है, थकावट दूर कर फिर जाग उठता है और पहले दिन जो उद्योग किया था उसी उद्योगको दूसरे दिन और आगे बढ़ाता है, जीवनभर उसका यही क्रम चलता है। इस क्रममें वह अपने कर्मके किसी अंगको छोड़ देता है, किसी अंगको आगे बढ़ाता है, किसी अंगमें काँट-छाँट करता है,

किसी अंगकी पुष्टि करता है।' विकास केवल विकास नहीं है—आगे बढ़ना ही नहीं है, पीछे हटना भी है और फिर आगे बढ़ना है। मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें भी सृष्टिका यही क्रम माना गया है और इसके नाम हैं, इक्विलिब्रियम (स्वस्थावस्था), डिस्टर्बेन्स (विरोध) और रि-एस्टैब्लिश-मेण्ट। यह क्रम सब जीवोंमें और सब प्रकारके जीवनोंमें है और जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्मका भी यही सिद्धान्त है। इसलिये सृष्टिके इस क्रम-विकासमें कोई लक्ष्य नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। वह हमें मालूम नहीं है यह अवश्य कहा जा सकता है जैसा बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने कहा भी है। विज्ञानका यह क्षेत्र भी नहीं है और इसलिये विज्ञानके भरोसे किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि विश्वके मूलमें कोई संकल्प नहीं है।

हम यह समझते हैं कि यहाँतक जो चर्चा हुई उससे अच्छी तरह यह प्रकट हो गया होगा कि कम्यूनिस्टोंके जड तत्त्वज्ञानसे यह नहीं सिद्ध होता कि सृष्टिके मूलमें कोई संकल्प नहीं है और विज्ञानसे ही यह अनुमान होता है कि सृष्टिके मूलमें कोई संकल्प है जिस संकल्पके अधीन ही विश्वकी सारी इच्छाएँ हैं। कम्यूनिस्टोंका अनीश्वरवाद और उस अनीश्वरवादका खण्डन भी उस मूल-संकल्पके बाहर नहीं हो सकता। रूसमें अनीश्वर-वादकी सख्ती हो रही है, सम्भव है कि ईश्वरवादकी सत्यताको और भी अच्छी तरहसे प्रकट करानेके लिये ऐसा हो रहा हो। यह भी सम्भव है कि ईश्वर और धर्मके नामकी आड़में जो पाप होते हैं उनका नाश इसका हेतु हो। यह भी सम्भव है कि जिन्हें ईश्वर या आत्माके अस्तित्वमें सन्देह है उनका सन्देह दूर कराने का यह एक साधन हो, क्योंकि जब ऐसा सन्देह होता है तब यह कहा गया है कि पूर्ण जडवादी बनकर ही देखना चाहिये कि आत्मा कहीं है या नहीं। परन्तु यह सब अपनी-अपनी मनोवृत्तिपर निर्भर करता है, हम इससे अधिक और कुछ भी नहीं कह सकते कि इस जडवाद और इसके विरुद्ध आत्मवादके संघर्षसे कोई-न-कोई विकास-क्रमका सहायक उपकरण निर्माण होनेवाला होगा। और इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक पद्धतिसे विचार करके समाज-शास्त्रके विषयमें जो सिद्धान्त निकाले गये हैं वे समाज-शास्त्रकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परन्तु समाज-शास्त्रके

इस अथवा और किसी भी पहलूको जाननेके लिये अनीश्वरवाद ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यही नहीं कम्यूनिस्ट फिलासफीका अनीश्वरवाद किसी भी 'नान्यदस्तीति' वादके समान शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिके लिये अत्यन्त घातक है।

कम्यूनिस्टोंके अनीश्वरवादकी दलीलोंका इसप्रकार परीक्षण करनेके पश्चात् यह समझना बड़ा ही कठिन होता है कि इन विद्वानोंने सत्यकी खोज करके यह अनीश्वरवाद पाया या किसी मतलबसे अनीश्वरवादको साबित करनेके लिये इतनी खोज की। मार्क्स और एंजल बहुत बड़े विचारवान् विद्वान् थे जो कम्यूनिस्ट फिलासफीके आचार्य हैं। मार्क्सके गुरु हेगल बहुत बड़े तत्त्वज्ञानी थे। पर उनके तत्त्वज्ञानमें ईश्वर प्रकट होता था। तत्त्वज्ञान मार्क्सने उन्हींसे सीखा पर मार्क्सने स्वयं कहा है कि हेगेलके तत्त्वज्ञानको मैंने उलट दिया है, वह तत्त्वज्ञान सिरके बल चलता था, मैंने उस तत्त्वज्ञान-को उलटकर पैरोंके बल खड़ा किया है (हिस्टारिकल मेटिरियलिज्म)। लेनिन भी बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने यूरोपके प्राचीन दर्शनोंका भी अध्ययन किया था। परन्तु कहते हैं कि उन्होंने यह अध्ययन ईश्वरके विरुद्ध दलीलें संग्रह करनेके लिये किया था (फुलप मिलर), निर्हेतुक सत्यके लिये नहीं। मार्क्सकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीके भाष्यकार एनबुखारिन भी बहुत बड़े विद्वान् हैं। परन्तु इन सब विद्वानोंका यह विचार है कि कोई भी ज्ञान समाजकी किसी-न-किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये होता है अर्थात् किसी कामनासे होता है और जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उस समाजकी अवस्थासे बँधा रहता है (हिस्टारिकल मेटिरियलिज्म)। इसी सिद्धान्तके अनुसार हम विचार करें तो उससे यह परिणाम निकलेगा कि जिस परिस्थितिमें कम्यूनिस्टोंने कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित किया उस परिस्थितिमें अनीश्वरवादकी आवश्यकता थी—'ऊर्ध्व-मूलं अधःशाखं अश्वत्थं' को 'अधश्च मूलानि अनुसन्ततानि' के उपसिद्धान्तोंके सहारे 'अधोमूलं ऊर्ध्वशाखं' माननेकी आवश्यकता थी, इसी आवश्यकतासे अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ और यह अनीश्वरवाद कम्यूनिस्टोंकी वर्तमान अवस्था-से ही बँधा हुआ है। मेटिरियलिस्ट फिलासफीका यह भी सिद्धान्त है और वह ठीक भी है कि सब
बदला करती हैं। इसलिये इसी सिद्धान्तके

निस्टोंकी यह अवस्था बदल जायगी तब उसके साथ समाजकी आवश्यकता भी बदलेगी और तब यह अनीश्वरवाद भी बदल जायगा। यह बात इसी जड तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंसे ही सिद्ध है। कम्यूनिस्टोंकी वह कौन सी आवश्यकता थी जिसके कारण अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ, इसके बारेमें हम कुछ भी नहीं कह सकते। पर लोग कहते हैं कि समाज-सत्ताको अत्यन्त दृढ करनेके लिये यह आवश्यक हुआ कि समाजके सब व्यक्ति समाज सत्ताको ही सर्वोपरि मान लें (बर्नार्ड की कृत 'लेनिन') और सर्वधर्मान्परित्यज्य एक समाजकी ही शरण लें। ऐसी शरण लें कि व्यक्ति केवल समाजका एक यन्त्र बन जाय। उसकी बुद्धि, उसका मन, उसका हृदय, उसके प्राण समाजके हो जायँ और समाज उनके द्वारा अपना कर्म करे। पर यह देखा गया कि मनुष्योंके हृदयोंमें न जाने कहाँसे आकर ईश्वर बैठा हुआ है और जितना स्थान इस ईश्वरने घेर रक्खा है उतना स्थान समाजके अधिकारके बाहर है और यह हृदय ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्यमें सबसे अनमोल चीज है जिसपर ईश्वरका अधिकार होनेसे समाज का कोई अधिकार नहीं। असली चीज तो हृदय ही है। हृदय दिया तो सब कुछ दिया। व्यक्तिका यह हृदय समाजको तभी मिल सकता है जब उसमेंसे ईश्वर निकल जाय। कम्यूनिस्ट फिलसफीके अनीश्वरवादका शायद यही कारण हो, क्योंकि लेनिनने कहा है कि व्यक्तियोंका व्यक्तित्व ही ईश्वरके पनाह पानेकी आखिरी जगह है, इस लिये व्यक्तित्व मिटाना होगा। (बर्नार्ड की कृत 'लेनिन') यदि इस अनीश्वरवादका यही कारण हो तो यह इस फिलासफीके 'आवश्यकतानुसार कामनायुक्त ज्ञान' के सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल ही है पर जैसा कि हमने ऊपर कहा, यह अवस्थानुसार बदलनेवाला ज्ञान सदा ही अस्थिर रहता है, क्योंकि बदलता रहता है। इसलिये अनीश्वरवाद एक बदलनेवाली चीज है। चाहे यह उत्क्रान्ति (विकास क्रम) से बदले या क्रान्तिसे बदले, क्योंकि परिवर्तन दोनों प्रकारसे होता है। जब हम यह दिखा चुके कि 'ईश्वर नहीं है' यह बात मेटिरियलिस्ट फिलासफीसे नहीं साबित होती और इस फिलासफीका अनीश्वरवाद चाहे जब बदल सकता है और यही फिलासफी आगे बढ़कर यह कह सकती है कि ईश्वर है, तब इतना ही कहना अब बाकी रह जाता है कि किसी भी बुद्धिमान् मनुष्यको ऐसे अस्थिर ज्ञानका आश्रय न करना चाहिये।

आधुनिक अनीश्वरवादके पक्षमें और कुछ छोटी-मोटी दलीलें हो सकती हैं जैसे—(१) यदि ईश्वर है तो संसार में इतना दुःख क्यों है? (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े अत्याचार हुए और अब भी हो रहे हैं? (३) ईश्वर की कल्पना भयसे निकली है और भयसे जो बात मानी गयी वह सच नहीं हो सकती जैसा कि बेट्रॅंड रसेलने कहा है। इनका समाधान बहुत संक्षेपमें किया जा सकता है।

(१) संसारमें इतना दुःख क्यों है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि जो लोग सुखका रास्ता भूलते हैं वे दुःख पाते हैं। अर्थात् दुःखका कारण अज्ञान है। 'अज्ञान है' का अर्थ यह है कि कोई ज्ञान है जिसको संसार प्राप्त करना चाहता है। दुःख यथार्थमें ईश्वरको प्राप्त करनेकी बेचैनी है। दुःख है इससे ईश्वर नहीं है यह नहीं साबित होता। दुःख क्या है यह जानना चाहिये। (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े बड़े अत्याचार हुए हैं इससे भी यह तो नहीं साबित होता कि ईश्वर और धर्मके कारण अत्याचार हुए। सत्यके नामपर यदि कोई झूठ बोले तो इससे यह कोई नहीं कहता कि सच ही झूठ है। 'नामपर' पदसे ही यह सूचित होता है कि ईश्वर और धर्म अत्याचारसे कोई भिन्न चीज हैं। आधुनिक विज्ञानका दुरुपयोग करके सभ्यताके नामपर बड़े बड़े राष्ट्र एक दूसरेकी छातीपर चढ़ बैठे, इसमें न तो आधुनिक विज्ञान बुरा हुआ, न सभ्यता ही कोई बुरी चीज हुई। अत्याचार कोई दूसरी ही चीज है, उसका ईश्वर, धर्म या विज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है। (३) ईश्वरकी कल्पना भयसे निकली है इसलिये वह सच नहीं। जैसे कोई कह सकता है कि भयसे दिखायी देनेवाला भूत सच्चा नहीं होता। अज्ञानमें मनुष्य ईश्वरकी जो कल्पना करता है वह भयसे भी कर सकता है, दुःखसे भी कर सकता है और अज्ञानसे भी कर सकता है। पर भयसे ईश्वरकी कल्पना करना एक बात है और भूतकी कल्पना करना दूसरी बात है। पहली बात भयसे ऊपर उठनेकी है और दूसरी भयसे नीचे गिरनेकी। भय होता है या क्या होता है? भय इस बातका ज्ञान है कि हम दुर्बल हैं और कोई ताकत ऐसी है जो हमें खा जायगी। भूत दिखायी देता है यानी क्या होता है? यह निश्चय होता है कि यह ताकत हमें खा जायगी और वह ताकत उसे खा जा सकती है। ईश्वरकी कल्पना होती है यानी क्या होता है? आत्म

विश्वास होता है और मुकाबलेकी ताकत हट जाती है— आत्मशक्ति जाग उठती है और कहती है कि सब शक्तियों-से श्रेष्ठ शक्ति (ईशोंमें श्रेष्ठ) मैं हूँ। भयसे जो ताकत ऊपर उठाती है वही असली ताकत है, वही शक्तियोंमें श्रेष्ठ शक्ति है। भय इस बातका बोध है कि एक निर्भय स्थान भी है। दुःख इस बातका बोध है कि एक अखण्ड सुखका स्थान भी है। अज्ञानका दंश इस बातका बोध है कि एक परम ज्ञानका स्थान भी है। संसारके सारे विचार और उद्योग उसीके लिये हैं। अनीश्वरवादी कहते हैं कि हम ऐसी निर्भयता, ऐसे अखण्ड सुख और परम ज्ञानको प्राप्त करेंगे पर वह आज मौजूद नहीं है। ईश्वर-वादी कहते हैं कि वह आज भी मौजूद है। तुम उसे विकासके उत्थान-पतन-चक्रके चक्करमें पड़कर दैववशात् प्राप्त करोगे और ईश्वरवादी कहते हैं कि हम उसे क्रान्ति (Revolution) के द्वारा अभी प्राप्त करेंगे।

जिन ईश्वर-भक्तोंने ईश्वरको प्राप्त कर लिया है वे इस ईश्वरवादके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वह तत्त्वज्ञान वे ही बतला सकते हैं। उसके लिये उन्हींके पास जाना चाहिये।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता)

ईश्वर कहाँ है, कैसा है और कैसे मिल सकता है ?

(लेखक—श्रीदिगम्बरदासजी कामत)

हुबलीके सुप्रसिद्ध सत्पुरुष श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीका नाम जगत्-प्रसिद्ध है। कर्नाटकमें इनको लोग श्रीज्ञानेश्वर महाराजके अवतारके रूपमें मानते थे। इनमें श्रीएकनाथजीके समान अपूर्व शान्ति, श्रीरामदासजीके समान नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा श्रीज्ञानेश्वरजीके समान पूर्ण और गम्भीर ज्ञान था। इनकी प्रबोध-शक्ति भी अति उत्कृष्ट थी। इनके पास राजे-महाराजे और बड़े-बड़े पण्डित आते और चरणोंमें सादर सिर नवाते थे। बद्ध, मुमुक्षु तथा सिद्ध-कोटिके महात्मा सभी आपके दर्शनसे समान आनन्द लाभ करते थे।

वेदान्त-सम्बन्धी कोई कैसा ही प्रश्न क्यों न करे वह अनायास ही उसकी समझमें आनेयोग्य सरल भाषामें उत्तर देकर उसका समाधान किया करते थे। शंका-समाधान करनेकी उनकी शैली बड़ी ही अपूर्व थी।

एक समय विष्णु नामक एक बारह वर्षका लड़का सिद्धारूढ़ स्वामीजीकी कीर्ति सुनकर मेरे साथ उनके दर्शनके लिये हुबली आया। बचपनसे ही इस लड़केको ईश्वरमें जिज्ञासा थी। गाँवमें प्रतिदिन हरिदास पौराणिकके कीर्तन तथा पुराणोंको सुनना और कथा समाप्त होनेपर कुछ-न-कुछ प्रश्न करना इसका स्वभाव-सा हो गया था। छोटी उम्रमें ही इसकी ऐसी जिज्ञासा-बुद्धि देखकर लोगोंको बड़ा कौतुक होता और वे इसकी बड़ी तारीफ किया करते थे। इस लेखके शीर्षकमें उल्लिखित तीन प्रश्न ही वह सबसे पूछता, प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने मतानुसार इसके प्रश्नका उत्तर दिया करते, परन्तु उससे इसका कुछ भी समाधान न होता था।

यह सच है कि समाधानका होना या न होना अधिकांशमें उत्तरकी यथार्थतापर ही अवलम्बित होता है। परन्तु बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि समाधान अधिकतर उत्तर-दाताके व्यक्तिगत प्रभाव (Personal influence) पर भी अवलम्बित रहता है। किसी प्रश्नका उत्तर किसी एक व्यक्तिद्वारा मिलनेसे उसमें विश्वास नहीं होता परन्तु दूसरे मनुष्यसे वही उत्तर मिलनेपर उसमें विश्वास हो जाता है और वह अन्तःकरणमें बैठ जाता है। अस्तु, लड़का मेरे साथ स्वामीजीके मठपर पहुँचा 'मेरे प्रश्न सच-मुच बड़े महत्त्वके हैं, साधारण मनुष्य तो इनका उत्तर दे ही नहीं सकता। सिद्धारूढ़ स्वामी-सरीखे साधु पुरुष ही कुछ उत्तर दे सकते हैं' उस लड़केकी ऐसी धारणा थी तथा 'हरिदास पण्डित मेरे प्रश्नका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते' ऐसी समझ होनेके कारण अपने प्रश्नोंके सम्बन्धमें उसके मनमें अभिमान भी था। श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीके दैनिक प्रवचनके समाप्त होनेपर उन्हें कुछ अवकाश मिला। तदनन्तर नित्य-नियमके अनुसार दर्शनार्थ आये हुए लोग उनसे अपने सकाम-निष्काम प्रश्न पूछने लगे। इस लड़केके लिये

महाराजका गम्भीर प्रवचन समझना कठिन था। तथापि उसे यह उत्कण्ठा लगी हुई थी कि महाराजको कैसे अपने प्रश्न सुनाये जायँ तथा उनसे उनका उत्तर कैसे मिले? उसने अपना प्रश्न महाराजके कानोंमें डालनेके लिये मुझे उकसाना शुरू किया और मैंने अवसर देखकर महाराजसे लड़केका परिचय कराया और उसका प्रश्न भी उनसे कह सुनाया तथा महाराजसे यह कहकर कि लड़केको आपसे इस प्रश्नका उत्तर पानेका पूरा भरोसा है, मैंने लड़केसे उनके चरणोंमें प्रणाम कराया।

वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंको लड़केकी आयु देखकर तथा उसका प्रश्न सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सबका ध्यान इसी ओर लगा रहा कि देखें महाराज इस प्रश्नका क्या उत्तर देते हैं। कारण, वह प्रश्न परमार्थकी जिज्ञासा करनेवाले प्रत्येक पुरुषके प्राणोंकी मुमुक्षा है।

महाराज उस प्रश्नको सुनकर और लड़केकी ओर देखकर कुछ मुस्कराये। उन्होंने उसे पास बुलाया, उसकी पीठपर हाथ फेरा और फिर उसके कानमें धीरेसे कुछ कहा। (पास बुलाने, पीठपर हाथ फेरने तथा कानमें धीरेसे कुछ कहनेमें महाराजका जो विशेष हेतु था, इसे अनुभवी पुरुष ही जानें) महाराज बोले—

बेटा! 'ईश्वर कहाँ है?' ऐसा प्रश्न कभी नहीं करना चाहिये। ऐसा प्रश्न तो पागल किया करते हैं, तू तो सयाना है! फिर ऐसा प्रश्न क्यों पूछता है? (इन शब्दोंसे एक ही चपेटमें महाराजने उसका सूक्ष्म अभिमान उतार दिया।) इस समय तू यहाँ है, अपने घरमें नहीं है। यह आये हुए लोग भी इस समय यहाँ हैं, घड़ीभरमें जब घर चले जायँगे तो यहाँ नहीं रहेंगे। जो पदार्थ या व्यक्ति एक जगह रहते समय दूसरी जगह नहीं रह सकता उसीके लिये (अर्थात् उस-जैसी एकदेशीय वस्तुके लिये) यह प्रश्न पूछना ठीक है कि 'वह कहाँ है?' सब स्थानमें भरी हुई वस्तुके लिये ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिये, समझा न?

लड़का चुप रहा। उसके उस एक प्रश्नका समाधान हो गया। परन्तु उसे पूरा विश्वास था कि उसके दूसरे प्रश्न (अर्थात् ईश्वर कैसा है?) का उत्तर महाराज देंगे और उसे पागलका प्रश्न न कहेंगे। लड़का बोला—'ईश्वर कहाँ है?' इस प्रश्नका उत्तर तो मैंने समझ लिया, अर्थात् वह सर्वत्र है; परन्तु 'वह कैसा है और कैसे मिलेगा तथा उसको प्राप्त करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये, महाराज! कृपा करके मुझे यह बतला दें।'

इसपर महाराजने फिर उसकी पीठपर हाथ फेरकर कहा—'अरे! ईश्वर तेरे ही जैसा है।' तू अपने आपको जान ले, बस हो गया। 'तू कौन है और कैसा है?' क्या इसका तूने कभी विचार किया है? जब तूने अपने ही स्वरूपका विचार नहीं किया तो इतने बड़े ईश्वरके स्वरूपका विचार अथवा प्राप्तिकी बातको तू कैसे समझेगा? इतना कहकर महाराज उसकी आँखोंकी ओर देखने लगे। श्रोतागण भी इस विनोदको अनेक दृष्टिसे देखते रहे।

लड़केने महाराजके प्रश्नको सुना और यह सोचकर कि मैंने अभी अपना ही विचार नहीं किया है, वह बड़ा लज्जित हुआ। 'मैं कैसा हूँ?'—इसका अर्थ क्या है, यही विचार यन्त्रवत् उसके मस्तिष्कमें घूमने लगा। अनन्तर महाराजने श्रोताओंकी ओर देखकर श्रीशंकराचार्यजीके 'को देवो यो मनः साक्षी' इस श्लोकसे ईश्वरके स्वरूपका निरूपण किया। अपने-अपने अधिकारके अनुसार श्रोताओंने उसके मर्मको हृदयङ्गम किया। धारणाशक्ति कम होनेके कारण वह लड़का उसे न समझ सका। यह जानकर महाराजने उसमें स्वरूपकी थोड़ी-सी कल्पना उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उससे इसप्रकार प्रश्न किया—

बेटा! घर और घरका मालिक दो होते हैं, इस बातको तू जानता है न? क्या घर और घरका मालिक एक होता है? लड़केने कहा—'नहीं, घरसे घरका मालिक भिन्न होता है।' फिर उसकी टोपी और कुर्तेको स्पर्श करके महाराजने कहा—'यह टोपी और कुर्ता तेरे हैं न? या तू ही टोपी और कुर्ता भी है?' लड़केने उत्तर दिया—'नहीं, टोपी और कुर्ता मेरे हैं, मैं स्वयं टोपी-कुर्ता नहीं हूँ।' महाराज बोले—'तो फिर, देहको तू 'मेरा देह' कहता है, फिर तू देह कैसे हो सकता है? अर्थात् तू देहसे भिन्न है। वैसे ही इन्द्रियोंको तू 'मेरी' कहता है, मनको तू 'मेरा' कहता है, बुद्धिको तू 'मेरी बुद्धि' कहता है। अतः देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तू नहीं है, तू इन सबसे भिन्न, इन सबको जाननेवाला है। समझा न? बस, आज इतना ही।'

लड़का क्षणभर चुप रहकर फिर बोला—'ईश्वर कैसे मिल सकता है? उसे प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये?—यह प्रश्न तो रह ही गया।' इसपर महाराज

गम्भीरतापूर्वक बोले—'ईश्वर-प्राप्तिके लिये कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं। ईश्वर सदा-सर्वदा अपने सामने है, बिल्कुल समीप है, उसके समान समीप संसारमें दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। उसका नाम-स्मरण, भजन, पूजन आदि निष्कामभावसे चित्त-शुद्धिके लिये करना चाहिये। ईश्वर-प्राप्तिके लिये नहीं—वह तो स्वरूपसे ही नित्य प्राप्त है। 'स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा०।'

इतना कहकर महाराज खड़े हुए। उस लड़केने तथा अन्य सब लोगोंने महाराजको नमस्कार करके नित्य नियमके अनुसार उनका जय-जयकार किया और उस प्रसंगके कौतुककी चर्चा करते हुए सब लोग अपने-अपने घर गये।

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीने सच ही कहा है—

सदा सर्वदा राम सन्नीध आहे।
मना सज्जना सत्यशोधूनि पाहें॥
अखंडीत भेटी रघुराज योगू।
मना सांडि रे मीपणाचा वियोगू॥
'नव्हे योगयागें नव्हे भोगत्यागें।
समाधान ते सज्जनाचेनि योगें॥
जयाचेनि संगे महाद्‌ुःख भंगे।
जगीं साधनेवीण सन्मार्ग लागे॥

अर्थात्—रे सज्जन मन! सत्यकी शोध करके देख, तब तुझे पता चलेगा कि राम सदा-सर्वदा तेरे पासमें ही है। उस रघुराजकी भेंट और उसका मिलन निरन्तर हो रहा है। (परन्तु इसके अनुभवके लिये) रे मन, तू 'मैंपन'का त्याग कर। तेरा समाधान न योग-यागादिसे होगा और न भोगोंके त्यागसे ही, समाधान तो उन सन्तोंकी कृपासे होता है जिनके संगसे महादुःख नष्ट हो जाते हैं और संसारमें अनायास सन्मार्गकी प्राप्ति होती है।

आस्तिकवाद अनिवार्य

(लेखक—म० श्रीनारायण स्वामीजी महाराज)

आस्तिक और नास्तिकवादका निर्णायक साधन जगत् है—यदि जगत्के बननेकी पहेली बिना किसी जगत्कर्ताके हल हो सकती है तो ईश्वरका मानना व्यर्थ है। इसलिये पहले इसी पहेलीपर दृष्टिपात करना चाहिये—जगदुत्पत्तिके सम्बन्धमें तीन कल्पनाएँ की जा सकती हैं—

(१) जगत् इसी प्रकार सदैवसे बना-बनाया चला आता है अर्थात् वह Self-Existed है।

(२) जगत् स्वयमेव बिना किसी कर्ताके बन गया अर्थात् वह Self-Created है।

(३) जगत्को किसी बाह्यशक्तिने बनाया अर्थात् वह Created by some external agency है।

पहली कल्पनापर विचार—जगत् अनेक वस्तुओंसे मिलकर बना है। जगत्की किसी वस्तुपर निगाह डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि वह पृथक् कोई वस्तु नहीं किन्तु एकसे अधिक वस्तुओंका मिश्रण है—पानी, हवा, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी वस्तुएँ मिश्रित हैं—मिश्रित वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं। वे सदैव अमिश्रित तत्त्वोंसे किसी-न-किसी समय मिलकर ही बनती हैं। इसलिये यह कल्पना कि जगत् सदैवसे इसी प्रकारसे बना-बनाया चला आता है, अस्वीकर्तव्य है, क्योंकि मिश्रित वस्तुका विनाश अनिवार्य है।

दूसरी कल्पनापर विचार—जगत्का उपादान प्रकृति (Matter) है और प्रकृतिमें जडता (Inertia) है। प्रकृतिमें जडता होनेसे गति-शून्यता होना आवश्यक है, गतिशून्यता होने और चेतना (Consciousness) के अभावसे वह स्वयमेव न जगत्रूपमें परिवर्तित हो सकती है और न किसी वस्तुका निर्माण कर सकती है। इसलिये बिना किसी बाह्यशक्तिकी सहायताके जगत् स्वयमेव बन गया, यह कल्पना भी नहीं मानी जा सकती और इसलिये पहली कल्पनाकी तरहसे यह भी रद किये जानेके योग्य है।

तीसरी कल्पनापर विचार—अब तीसरी कल्पना रह जाती है कि जगत्को किसी बाह्यशक्तिने बनाया—यह

स्वीकार किये जानेके योग्य है। हर्बर्ट स्पेन्सरने भी इसी कल्पनाको स्वीकर्तव्य ठहराया है (First principles) इसपर एक आक्षेप उठाया जाता और वह उचित रीतिसे उठाया जाता है। वह आक्षेप यह है कि यह कल्पना महाप्रलयवादको स्वीकार करके ही ठहर सकती है। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ ग्रह नष्ट हो जाते हैं, कुछ बने रहते हैं और जब नष्ट हुए ग्रह फिर बन जाते हैं तब अवशिष्ट ग्रहोंका प्रलय हो जाता है तो इसप्रकार-से महाप्रलयवादके माननेकी जरूरत नहीं पड़ती और जगत् बिना किसी कर्त्ताके स्वयमेव बनता और बिगड़ता रहता है। जरमनीके प्रसिद्ध जडाद्वैतवादी इरनेस्ट हैकलने अपनी नास्तिकताके रक्षार्थ इसी कल्पनाका आश्रय लिया था परन्तु यह कल्पना विज्ञान और वैदिक प्रलय तथा महाप्रलयवाद दोनोंके विरुद्ध है।

महाप्रलय और विज्ञान—भौतिक विज्ञानमें ताप सम्बन्धी सिद्धान्तके प्रवर्तक (The founder of the mechanical theory of heat) क्लासियस (Clausius) ने तापको दो भागोंमें विभक्त किया है।

(१) वह जो जगत्‌में बराबर बना रहकर जगत्‌के काममें आता रहता है—(The Energy of the Universe is constant × × × It is convertable into work)

(२) वह जो जगत्‌के कामसे पृथक् होकर बढ़ता रहता है और फिर जगत्‌के काममें नहीं आता—(The entropy of the Universe tends towards a *maximum* It is *not* convertable into work) यह दूसरा ताप (Entropy) वह शक्ति है जो बाहरसे भीतरकी ओर जाया करती है। यह शक्ति प्रारम्भमें तापके रूपमें ठण्डे पिण्डोंमें विभक्त हुई थी और वहाँसे कम होते होते जहाँतक भावी कार्योंका सम्बन्ध है, उसे नष्टप्राय समझना चाहिये। यह दूसरा ताप पहलेको नित्यप्रति कम करता रहता है और स्वयमेव बढ़ता रहता है और बढ़कर फिर जगत्‌के काममें नहीं आता। इसप्रकारसे ब्रह्माण्डमें जो शक्ति (Energy) काम करती है, वह बराबर क्रमश कम होती रहती है। जब कम होते होते पहले प्रकारका ताप बाकी न रहेगा और दूसरा ताप अपनी अधिक-से अधिक मात्रा प्राप्त कर लेगा, तब शीतोष्णका जितना भेद है वह सब दूर हो जावेगा और कोई प्राणी तथा किसी प्रकारकी गति भी बाकी न रहेगी। तब केवल प्रकृति (Matter) का गतिशून्य ढेर ही शेष रह जायगा और इसीका नाम ब्रह्माण्डका अन्त या महाप्रलय हो जायगा।* इसप्रकार जगत्‌का अन्त हो जानेपर फिर जगत् किसप्रकार उत्पन्न हो? जगत्‌की उत्पत्तिके लिये जड, गतिशून्य प्रकृतिमें गति होनी चाहिये। यह गति कहाँसे आवे? इस प्रश्नका उत्तर देनेमें नास्तिकवादकी गाड़ी अटकती है—वेदने इस प्रश्नका उत्तर दिया है 'तदेजति तन्नैजति।'† अर्थात् वह ईश्वर गति देता है परन्तु स्वय गतिमें नहीं आता, वह बराबर एकरस ही बना रहता है। विज्ञानको इसीलिये इस प्रश्नका उत्तर केवल प्रकृति (Matter) से न पाकर प्रकृतिसे पृथक् शक्ति (Energy) की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पडी परन्तु शक्ति गुण है वह गुणीके बिना नहीं रह सकती इसलिये विवश होकर यहाँ ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। ईश्वरका सृष्टि कर्तृत्व केवल इतनेहीसे प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब महाप्रलयके बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृति होना चाहती है तो इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वह शान्त और स्तब्ध प्रकृतिमें एक गतिका सञ्चार करता है जिससे प्रकृतिकी शान्ति और स्तब्धता भङ्ग होकर क्रमश सूक्ष्म और स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होकर प्रलय सृष्टिरूपमें परिवर्तित हो जाती है। पञ्चभूत, जिनमे

---

* क्लाशियसके शब्द ये हैं—Entropy ie force that is directed inwards—This energy already converted into heat and distributed in cooler masses, is irrevocably lost as for as any further work is concerned × × × The entropy is continually increasing at the cost of the other half × × × The sum of heat and Energy in the universe must continually tend to be reduced and dissipated All differences of temperature must ultimately disappear and all organic life and movement must cease, when this maximum *of entropy* has been reached That would be a real end of the world

(*Riddle of Universe* by G Haechal)

† यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५।

सारा जगत् बन जाता है, इसीलिये प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गतिके संघातका नाम है–(Matter combined with energy) यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि गति देनेके लिये गतिदातासे पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिये तब तो वह गति दे सकता है। ईश्वर विभु (सर्वव्यापक) और सर्वाधार भी है, उससे भिन्न, जहाँ वह न हो, ऐसे किसी स्थान या अवकाशकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, फिर वह गति किसप्रकार देता है? इस शंकाका समाधान यह है कि इस गतिको देनेके लिये, ईश्वरको किसी प्रकारकी हरकत करनेकी जरूरत नहीं होती, वह गति जो प्रकृतिमें एक विश्वव्यापी हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्मके केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तुको कार्यमें लगानेकी इच्छा) से उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये कहा जाता है 'Will preceds motion' अर्थात् गतिसे पहले इच्छा होती है। अरस्तूने इसीलिये ईश्वरको Unmoved mover ‡ (बिना हिले गतिदाता) कहा है। उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि जगत्की रचनाके लिये रचयिताका होना अनिवार्य है इसीलिये आस्तिकवाद भी अनिवार्य है।

ईश्वर मानव-जातिके उद्धारक हैं

(लेखक–श्रीयुक्त सदानन्दजी सम्पादक 'मेसेज')

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥

अर्थात् इस संसारमें जितने भी चल अथवा अचल पदार्थ हैं उन सबमें ही ईश्वर भरा है।

यदि जगत् ईश्वरको भुलाकर उसमें विश्वासहीन न हो गया होता तो आज संसारमें हम जिन कष्टों एवं यातनाओंसे व्यथित हो रहे हैं, इनके दर्शन भी न होते। संसारभरके महात्मा एवं तत्त्ववेत्ता पुरुष तथा सभी धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थ बार-बार यह घोषणा करते हैं कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही सब कालोंमें हमारा एकमात्र अवलम्ब एवं आधार है, विशेषकर आपत्ति एवं कठिनाईके समय वही हमारी रक्षा करता है। उसकी दयाके बिना न तो इस लोकमें शान्ति और सुख मिल सकता है और न मुक्तिकी ही आशा की जा सकती है।

ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मरूपी नौकाके सहारे विवेकी पुरुष समस्त भयानक नदोंको पार कर सकता है।

इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ऋषि-मुनि, जिन्होंने अनेक धर्म-शास्त्रोंकी रचना की है हमलोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान्, विद्वान् तथा आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न थे। उन सबोंने एक स्वरसे इस बातकी घोषणा की है कि ईश्वर सर्वोपरि है। तथा हमें वे यही उपदेश दे गये हैं कि मनुष्य सब समय उनका आश्रय पकड़े रहे, क्योंकि वही हमको इस दुःखमय संसार-समुद्रके पार कर अपने अमर-पदको प्राप्त करा सकते हैं।

परन्तु शोककी बात है कि मरणशील मनुष्य भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होनेवाले जगत्के तुच्छ वैभवसे विमोहित होकर प्रायः उन्हें भूल जाता है, उनकी सत्ताको अस्वीकार करने लगता है और न जाने उनके प्रति कितने अपराध करता है। फिर यदि वह कर्णधारहीन नौकाकी भाँति दुःखोंके भँवर-जालमें गिरता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

कुछ लोग ईश्वरकी सत्तामें विश्वास ही नहीं करते। वे यह समझते हैं कि जिस वस्तुको हम नेत्रोंसे नहीं देख सकते, त्वचासे स्पर्श नहीं कर सकते अथवा तर्कसे सिद्ध नहीं कर सकते, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है? वे इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर किसी जगत्के पदार्थकी तरह नहीं हैं, जिसको हम नेत्रोंसे देख सकें, त्वचासे स्पर्श कर सकें और तर्कसे सिद्ध कर सकें; वह इन सबसे परे हैं। उनका केवल अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव

‡ God is merely the Sourse of movement, the first mover (आदिकारण) who himself is never moved. (The Age of Aristotle p. 46)

उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा, साधना एवं योगसे प्राप्त हो सकता है और ऐसा वही कर सकता है जिसके मनमें परमात्माको प्राप्त करनेकी सच्ची लगन हो, जो यथार्थ मुमुक्षु हो। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। इसीलिये उपनिषदोंके ऋषियोंने यह कहा है—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्॥

(माण्डूक्योपनिषद्)

अर्थात् परमात्मा नेत्रोंसे अगोचर हैं, इन्द्रियातीत हैं, उनका किसी लक्षण अथवा शब्दके द्वारा निर्देश नहीं हो सकता, विचारकी भी गति वहाँतक नहीं है, केवल आन्तरिक अनुभवसे ही उनका ज्ञान हो सकता है, वह इस मायिक प्रपञ्चसे परे हैं, शान्त हैं, कल्याणरूप हैं, एवं द्वैतरहित हैं।

यह उन आप्त-पुरुषोंका अनुभवसिद्ध प्रमाण है, जिन्होंने अपना समग्र जीवन सत्यकी खोजमें लगा दिया, जिन्होंने उस परमात्माको प्राप्त कर लिया एवं जान लिया, जिनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और जिनकी सत्यवादितामें कोई सन्देह नहीं है। दूसरे धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें भी यही बात कही गयी है। ऋषियोंने हमें स्पष्टरूपसे यह भी बतला दिया है कि परमात्माको हम किसप्रकार देख और जान सकते हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

(३।८)

अर्थात् वही मनुष्य ध्यानकी अवस्थामें अपने अन्दर उस परमात्माके दर्शन कर सकता है, जिसका हृदय ज्ञान-सम्पादन एवं सदाचार-सेवनसे शुद्ध हो गया है।

महात्मा ईसाने जिन शुद्ध अन्तःकरणवालोंको धन्य कहा है, उनकी अपेक्षा यह अन्तःकरणकी शुद्धि कुछ विलक्षण है। यहाँ उस ज्ञानके द्वारा ही अन्तरात्माको शुद्ध करनेकी बात कही गयी है जो शास्त्रीय ज्ञानसे परेकी वस्तु है और जिससे नैतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णताकी प्राप्ति होती है। इसी बातको ईसामसीहने अपने निम्न-लिखित वाक्योंमें प्रतिध्वनित किया है—

'Blessed are the pure n heart, for they shall see God.'

मुण्डकोपनिषद्के उपर्युक्त मन्त्रमें ईश्वरका दर्शन किन साधनोंसे हो सकता है, इसका पूरा एवं सविस्तर वर्णन किया गया है। किन्तु, यद्यपि इस बातका अनुमोदन सभी शास्त्रोंने और तत्त्ववेत्ताओंने किया है तथा सभी *भगवत्-प्राप्त पुरुषोंने जीवनभरकी खोजके बाद अपने व्यक्तिगत अनुभवसे इसी बातको प्रमाणित किया है, तथापि ईश्वरके अस्तित्वको नहीं माननेवाले ये आधुनिक विद्वान्, चाहे जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें इन्होंने कैसी ही प्रसिद्धि प्राप्त की हो, इस वास्तविक तथ्यको बिल्कुल ही नहीं समझ सके हैं।* इसके लिये उनकी बुद्धि सर्वथा विफल सिद्ध हुई है। जबतक मनुष्य आध्यात्मिक जीवनकी इस पूर्ण स्थितिको प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उसकी आँखोंके सामनेसे अज्ञानका पर्दा कभी नहीं हट सकता। जो लोग इस अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए हैं और जिन्हें जगत्के सर्वशक्तिमान् रचयिताकी सत्तामें विश्वास नहीं है उनसे हम विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे एक बार हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करें। इनके अन्दर उन्हें इस विषयका साङ्गोपाङ्ग, सविस्तर एवं युक्ति-पूर्ण विवेचन मिलेगा, जिससे उनके सारे संशय दूर हो सकेंगे और अध्ययनके फलस्वरूप उन्हें वह शान्ति, आश्वासन एवं सुख मिलेगा जिसका ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंने अनुभव किया है। हम ऐसे कई धार्मिक पुरुषोंको जानते हैं जो शास्त्रीय ज्ञानकी सीमासे आगे न बढ़ सकनेके कारण एक प्रकारसे नास्तिक हो गये थे, किन्तु उपनिषदों एवं अन्य हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनसे वे फिर आस्तिक बन गये।

पढ़े-लिखे लोगोंमें एक समुदाय और है जो न तो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करता है और न उसका निषेध ही करता है। इन्हें प्रायः लोग सन्देहवादी कहते हैं और इनमेंसे कई तो अपने सिद्धान्तके इतने कट्टर हैं कि उनके साथ कितना भी तर्क क्यों न किया जाय, वे अपनी भूलको कभी स्वीकार नहीं करेंगे। पूछनेपर तो यह कहेंगे कि हमें यदि कोई इस बातका निश्चय करा दे कि हमारा सिद्धान्त ठीक नहीं है तो हम अपने मतको परिवर्तन करनेके लिये तैयार हैं, किन्तु वस्तुतः उनके सामने कितनी ही प्रबल एवं अकाट्य युक्तियाँ उपस्थित की जायँ वे अपने हठको कभी नहीं छोड़ेंगे। इस प्रसंगमें मुझे एक महिलाकी कहानी याद आ गयी जिसने अपनी

एक सखीको यह वचन दिया था कि यदि तुम मुझे निश्चय करा दो कि तुम जो कहती हो सो ठीक है तो मुझे उसके करनेमें कोई आपत्ति न होगी। उस सखीके चले जानेके बाद उसकी एक दूसरी सखीने उस महिलासे पूछा कि 'तुम अपने वचनको किसप्रकार पूरा कर सकोगी?' इसपर उस महिलाने उत्तर दिया कि 'बहिन, तुम समझती नहीं; जब मैं किसी सिद्धान्तको माननेके लिये तैयार ही नहीं हूँ तो फिर भला, कोई मुझे कैसे यह निश्चय करा सकता है कि उसकी बात ठीक है।' इस वर्गके लोग आध्यात्मिक दृष्टिसे उन नास्तिकोंकी अपेक्षा अधिक दयनीय एवं भयानक हैं जो वास्तवमें ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते। जिस भ्रम एवं अज्ञानके अन्धकारमें ये लोग पड़े हुए हैं उसमेंसे इन्हें बाहर निकालना प्रायः असम्भव-सा है। कठोपनिषद्में ऐसे लोगोंका इसप्रकार वर्णन किया गया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(२।५)

अर्थात् मूर्ख लोग अन्धकारमें पड़े रहनेपर भी अपनेको पण्डित एवं बुद्धिमान् समझते हैं और अन्धेका अनुसरण करनेवाले अन्धोंकी भाँति उत्पथगामी हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(४।४०)

अर्थात् अज्ञानी (मूर्ख) अश्रद्धालु एवं संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है, संशयात्माका न तो यह लोक बनता है और न परलोक, और न कभी उसे सुख ही मिलता है।

सौभाग्यकी बात यह है कि इसप्रकारके लोगोंकी संख्या बहुत कम है।

एक तीसरा समुदाय और है जो नास्तिकवाद अथवा सन्देहवादकी अपेक्षा आस्तिकवादकी ओर अधिक झुका हुआ-सा है। इस समुदायके लोग कहनेको तो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करते हैं, किन्तु वे भी सन्देहसे मुक्त नहीं हैं, इसीलिये उन्हें यह कहनेका साहस नहीं होता कि हम नास्तिक हैं या आस्तिक हैं और न वे इस पहेलीको सुलझानेकी ही आवश्यकता समझते हैं। उनकी स्थिति सन्देहवादियों एवं आस्तिकोंके बीचकी-सी है। वे धार्मिक कार्यों, उत्सवों एवं अनुष्ठानादिमें भाग लेते हैं किन्तु यदि कोई उन्हें यह पूछे कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो वे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। वे जो कुछ भी करते हैं, मनसे नहीं करते, केवल लोकदिखावेके लिये करते हैं; अतः उन्हें यदि दाम्भिक भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। उनका विश्वास उनकी सुविधाके अनुसार प्रतिदिन बदलता रहता है, आज कुछ है तो कल कुछ और ही है। ऐसे लोगोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
(१६।१६)

अर्थात् इसप्रकार अज्ञानसे विमोहित एवं अनेक प्रकारके विचारोंसे विभ्रान्त होकर, मोहजालमें फँसकर तथा अनेक कामनाओंकी पूर्तिमें दत्तचित्त होकर वे लोग घोर नरकमें गिरते हैं।

चौथे वर्गके वे लोग हैं जो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास तो करते हैं किन्तु उसकी उपासनाकी आवश्यकता नहीं समझते। उनका यह कहना है कि कर्म ही उपासना है, इससे आगे जानेकी ज़रूरत नहीं है। उनके मतमें किसी ऐसी अदृश्य वस्तुके ध्यानमें समय गँवाना व्यर्थ है जिसका न कोई रूप दीखता है, न आकार और न जिसके स्वरूप-को कोई जानता ही है। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। हम भी यह अवश्य मानते हैं कि कर्म एक प्रकारकी उपासना ही है, किन्तु निरे कर्मसे ही काम नहीं चलता। ईश्वरसे प्रेम करना, उसकी प्रार्थना करना, उसके स्वरूपका ध्यान करना और उसकी आज्ञाओंका बिना किन्तु-परन्तु किये पालन करना यह मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। इसके बाद लौकिक कर्मकी बारी आती है। ईश्वरमें प्रेम करनेसे मनुष्य-मात्रके प्रति, जो उसीकी सन्तान हैं, प्रेमका भाव उत्पन्न एवं दृढ़ होता है और मनुष्य-जातिके प्रेमसे ही कर्मकी पूर्णता होती है। ईश्वरके प्रेमसे अनुप्राणित होकर जो सेवा की जाती है वह सच्ची उपासनाका एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। म० देवेन्द्रनाथ ठाकुर सदैव यह कहा करते थे—

तस्मिन् प्रीतिस्तस्य प्रियकार्यसाधनश्चेत्युपासना।

अर्थात् ईश्वरके अन्दर प्रेम एवं उसकी इच्छाके अनुसार काम करना, यही सच्ची उपासना है।

अन्तिम वर्गमें प्रायः आजकलके उन नवयुवकोंका समावेश होता है जिनकी संख्या तथा प्रभाव संसारभरमें तेजीके साथ बढ़ रहा है। ये लोग ईश्वरकी सत्ताको बिल्कुल नहीं मानकर केवल सांसारिक सुखको ही अपना ध्येय समझते हैं। ये अपने सर्वशक्तिमान् रचयिताकी सत्ताका निषेध ही नहीं करते, किन्तु यह समझते हैं कि ईश्वर एवं धर्म सभ्यताकी प्रगतिमें सबसे अधिक बाधक हैं और इसलिये चाहे जिस तरहसे हो, उनका बहिष्कार ही करना चाहिये। इन्होंने ईश्वर और धर्मके लिये तो देशनिकालेका विधान कर ही दिया है, पर अब ये जनताको भ्रममें डालनेके अपराधमें सभी धर्मप्रिय मनुष्योंको भी दण्ड देना चाहते हैं। इनके इस भयानक मतसे, जो तेजीके साथ फैल रहा है, और ईश्वर-विरोधी आन्दोलनसे ससारको बड़ी भारी हानि हो रही है। इसका परिणाम हमारे सर्वनाशके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हमारे देशके नवयुवक भी बड़ी जल्दी इसके दूषित प्रभावसे प्रभावान्वित हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वरके न माननेमें अधिक सुविधा प्रतीत हो रही है। उनका ईश्वर और धर्ममें विश्वास उठता जा रहा है। ऐसी दशामें आध्यात्मिक साधनकी ओर न तो उनकी प्रवृत्ति ही होती है और न इस कार्यमें उनकी रुचि ही है। आज राजनीति ही उनका सर्वोपरि ध्येय एवं साध्य है और उनका विश्वास है कि राजनीतिके द्वारा ही हम संसारका उद्धार कर सकेंगे! इस मृत्युलोकको ही उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र समझ रक्खा है, उन्हें अमर जीवन अथवा किसी आध्यात्मिक विषयपर विचार करनेका अवकाश ही नहीं मिलता, सच पूछिये तो अध्यात्मवादमें उनका विश्वास ही नहीं है।

भारतवर्षमें राजनीतिका अभाव रहा हो, सो बात नहीं है, भारतमें राजनीति थी पर वह पवित्र, आडम्बर-शून्य, जनसत्ताके सिद्धान्तके आधारपर स्थित थी। उसका आधार धर्म अर्थात् सत्य, न्याय एवं सदाचार था, ईश्वर उसका केन्द्र था। उसके अन्दर लोभ एवं परस्वापहरण, द्वेष एवं घृणा, कूटनीति एवं स्वार्थान्धताका सर्वथा अभाव था। राजा लोग प्रजा-प्रिय, राज-मान्य, पूत-चरित्र, ऋषियों, मनीषियों, विद्वानों एवं वयोवृद्ध पुरुषोंकी मन्त्रणासे काम करते थे। दूसरोंका अहित करना उनकी प्रकृतिके विरुद्ध था, वे गौकी भाँति ऋजु एवं अनपकारी होते थे। यही कारण था कि उन दिनों प्रजा बड़ी सुखी एवं सन्तुष्ट थी। पाश्चात्य जगत्में प्रादुर्भूत हुई आजकलकी राजनीति संसारके आध्यात्मिक जीवनको नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, उसका आधार लोभ एवं स्वार्थपरायणता ही है। परिणाम यह हो रहा है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका विरोधी बन रहा है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको हड़पनेके लिये मुँह बाये खड़ा है, चारों ओर अन्धाधुन्धी और अव्यवस्था फैल रही है, परस्परमें अविश्वास एवं घृणाके भाव जागृत हो रहे हैं और चारों ओर विपत्तिके बादल मँडरा रहे हैं। इसका कारण यह है कि आज जगत्के मनुष्योंमें उस तत्त्वका अभाव हो गया है, जो मानव-समाजके अन्दर भ्रातृभाव उत्पन्नकर उन्हें एकताके सूत्रमें बाँध सके। इसके बिना संसारमें शान्तिकी स्थापना निरा स्वप्न ही रहेगा। अभी कुछ लोग ऐसे बचे हुए हैं जिनका ईश्वरमें विश्वास हटा नहीं है। इसीसे अभीतक सर्वनाश नहीं हुआ है, राजनीतिके साथ-साथ आत्मबलका भी प्रयोग करनेवाले लोगोंके कार्य-क्षेत्रसे अलग हो जानेपर फिर बाकी बचे हुए ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंके हाथों मानव-जातिकी जो दुर्दशा होगी, उसकी कल्पनासे ही हम काँप जाते हैं। ईश्वरकी हमपर अपार दया है, जिसके कारण हमलोगोंके अन्दर इन ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंकी हानिकारक चेष्टाओंका प्रतिरोध करनेके लिये अभीतक महात्मा गान्धी-जैसे कुछ लोग विद्यमान हैं।

इटली-देशके उद्धारक मैजिनी (Mazzini) को आधुनिक राजनीतिका जन्मदाता कहा जा सकता है। वर्तमान जगत्के अधिकांश राजनीतिज्ञों एवं शासनतन्त्र-वेत्ताओंको उसीसे प्रकाश मिला है। जगद्व्यापी राजनीति (world politics) एवं स्वदेशानुरागके इस महान् प्रवर्तकने इस सम्बन्धमें जो बातें कही हैं उनका भाषान्तर पढ़िये—

"धर्म जीवनका सनातन, मुख्य एवं आभ्यन्तर अंग है। वह मानव-जातिका प्राण है, उसकी आत्माका जीवन एवं प्रकाश है, उसका बाह्य लक्षण है। धर्मसे मनुष्यके विचार एवं आचरण पवित्र होते हैं; धर्म भ्रातृभाव एवं समाज-सेवाके महान् तत्त्वको उदात्त बनाता है, उसकी सान्त्वना करता है एवं उसे सुरक्षित रखता है। धर्मकी

भावनासे मेरा अभिप्राय उस असीम एवं अनन्तकी भावना, अज्ञात एवं अदृश्यको प्राप्त करनेकी आकांक्षा, ईश्वरको बुद्धिके द्वारा समझनेकी आन्तरिक इच्छासे है जो प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें निहित रहती है और जिसका जीवनसे घनिष्ट सम्बन्ध होता है।'

'एक ओर तो आपको इस बातसे असन्तोष है कि आस्तिकवादका सर्वथा लोप हो गया अथवा हो रहा है, तथा मनुष्योंकी आत्मा अहंकारके उष्ण उच्छ्वासोंसे दग्ध हो गयी हैं, और दूसरी ओर आप सब प्रकारकी आस्तिकतासे द्वेष करते हैं एवं अपने लेखोंद्वारा इस बातकी घोषणा करते हैं कि धर्म मर गया, उसके जीवनका अन्त हो गया, अब भविष्यमें जनताके लिये धार्मिक जीवनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है।'

'आप इस बातपर आश्चर्य करते हैं कि लोग आत्म-बलिदान एवं सहयोगके मार्गमें बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और फिर भी आप उनके लिये व्यक्तित्वपूर्ण कार्यक्रमका विधान करते हैं। इसका परिणाम बिल्कुल उलटा होगा। इससे संगठनमें सहायता न मिलकर केवल सामीप्यमें सहायता मिलेगी। इसका विश्लेषण करनेपर पता लगेगा कि दार्शनिक सिद्धान्तोंकी आड़में यह एक प्रकारका अहंकार ही है।'

'आप राष्ट्रका पुनरुद्धार करना चाहते हैं और साथ ही व्यक्तिगत नैतिक सुधार भी चाहते हैं, क्योंकि इसके बिना राजनैतिक संगठन किसी कामका नहीं, पर साथ ही आप अपने कार्यक्षेत्रमेंसे प्रत्येक धार्मिक भावनाका बहिष्कार करके सफलताकी आशा करते हैं।'

'राजनीति मनुष्यके असली स्वरूप, उसकी वास्तविक स्थिति एवं चरित्रको स्वीकार करती है, वह उसकी प्रवृत्तियोंको निश्चित रूप देती है और उसके आचरणको उन्हींके अनुसार बनाना चाहती है। धार्मिक भावनामें ही यह शक्ति है कि वह दोनोंको पलट सकती है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय देशके भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलोंमें जो अव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, उसका कारण यह है कि उन्हें अध्यात्मबलका आधार प्राप्त नहीं है। मैजिनीका इस सिद्धान्तमें अटल विश्वास था कि राजनैतिक दलोंका पतन हो जाता है और उनकी सत्ता भी मिट जाती है, किन्तु धार्मिक संघोंका तबतक अन्त नहीं होता जबतक उन्हें विजय प्राप्त नहीं हो जाती। जिन लोगोंका धर्म एवं ईश्वरमें विश्वास नहीं है वे इस बातको नहीं समझ सकते कि प्रत्येक चेष्टाका सञ्चालन ईश्वरके विधानके अनुसार होता है और मनुष्यको केवल ईश्वरके विधानमें सहायता करनेभरकी ही स्वतन्त्रता है। वे यह भी नहीं समझ सकते कि जिस मार्गसे आस्तिक लोग अपने लक्ष्यकी ओर जाते हैं, एक सर्वोपरि शक्ति उस मार्गकी रक्षा करती है, अतएव वे ईश्वरके बल एवं साहाय्य-को प्राप्तकर निर्भय हो जाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समयके प्रभाव एवं संसर्गके दोषसे आजकलका धर्म जीर्ण एवं विकृत हो गया। यही कारण हो सकता है कि बहुत-से लोग उससे दूर भागते हैं। परन्तु धर्मका बिल्कुल बहिष्कार कर देनेसे कोई लाभ नहीं होगा, आवश्यकता है उसकी त्रुटियोंको सुधारकर उसे वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल बनानेकी। धर्मसे बुराइयोंको अवश्य निकालो, किन्तु अपने जीवनके इस अमूल्य हीरेको कूड़ेमें मत फेंक दो। जंग चढ़ी हुई तलवार देखनेमें चाहे निकम्मी जान पड़े किन्तु उसे यदि साफ करके शानपर चढ़वा लें तो फिर वह खूब काम देने लगेगी।

अन्तमें हम अपने व्यक्तिगत जीवनकी कुछ घटनाओं-का उल्लेख करेंगे। हमने बचपनसे ही ईश्वरकी दया एवं सहायताका कई बार अनुभव किया है, जिससे हमें ईश्वरके अस्तित्वका ही पूर्णरूपसे निश्चय नहीं हुआ किन्तु उनकी दयालुतासे भी प्रत्येक ऐसे अवसरपर हमारा विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। प्रभुने हमारी विपत्तिसे रक्षा की, किसी प्रकारका आश्रय न होनेपर आश्रय दिया, असहाय अवस्थामें हमें खानेको अन्न दिया, जंगली बाघके पंजोंसे एवं विषधर सर्पके काटनेसे बचाया, भयङ्कर तूफानसे हमारी रक्षा की, डाकुओं तथा हत्यारोंके हाथोंसे हमें छुड़ाया। यह सब घटनाएँ अनोखे ढंगसे हुईं ! हम उपर्युक्त घटनाओंका सविस्तर वर्णन नहीं करना चाहते, किन्तु हम यह बतला देना चाहते हैं कि हमने अपने व्यक्तिगत जीवनकी इन घटनाओंमें ईश्वरकी अपार दया एवं अमित उपकारका अनुभव किया।

ईश्वरका स्पष्टरूपसे साक्षात्कार करनेके लिये साधन एवं तपकी आवश्यकता है। साधन जितना तीव्र होगा,

हमारी अन्तर्दृष्टि भी उतनी ही विमल होती जायगी। अन्तर्दृष्टिके अतिरिक्त ईश्वरको जानने एवं उनका साक्षात्कार करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

हमारी बड़ी प्रबल इच्छा है कि हमारे नवयुवक मित्र इस बातको समझकर इसीके अनुसार अपना आचरण बना लें। दुःखग्रस्त मानव-जातिकी रक्षाका एक मात्र उपाय यह है कि हम लोग सर्वतोभावेन उन दीन-जनोद्धारककी शरण हो जायँ और भक्ति एवं श्रद्धाके साथ उसीकी आज्ञानुसार कर्म करें, क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त मानव-जातिका उद्धारक और कोई नहीं है।

ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ

(लेखिका—बहिन श्रीकमलावतीजी पाण्डेय)

उस जगन्नियन्ता, सर्वव्यापी, जगदीश्वरकी नियमपूर्वक नित्य प्रार्थना तथा हर घड़ी उसका सप्रेम स्मरण करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य होना चाहिये। भगवान्‌की प्रार्थनासे जो लाभ और आनन्द होता है उसका सम्पूर्ण वर्णन निर्जीव लेखनीद्वारा असम्भव जान पड़ता है। ईश्वर-प्रार्थनासे प्राप्त परम आनन्दको प्रार्थना करनेवाले ही अथवा कोई भाग्यवान् प्रार्थना-प्रेमी जन ही जान सकते हैं। अब प्रार्थनासे होनेवाले कुछ फल नीचे लिखे जाते हैं। प्रार्थनासे अनन्त लाभ होते हैं, जो प्रेमी जितने गहरेमें उतरता है, वह उतने ही अधिक लाभ उठा सकता है।

ईश्वर-प्रार्थनासे तीन प्रकारके लाभ

कायिक-१—प्रार्थना करते समय मुखपर अनुपम आभा तथा गम्भीरता आती है।

२—शरीर शुद्ध, तेजवान्, मुखश्री गम्भीर, कान्तियुक्त, तथा सदैव प्रसन्न रहती है।

वाचिक-३—वाणीमें सत्यता, मधुरता एवं कोमलता-का निवास होता है।

मानसिक-४—ईश्वरकी नियमपूर्वक प्रार्थना करनेसे उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और निजत्व उत्पन्न होता है।

५—नित्य-स्मरणके फल-स्वरूप, मनुष्यका चञ्चल चित्त शनैः-शनैः एकाग्र होता जाता है।

६—प्रार्थनासे अन्तर्ज्योति जाग्रत् होती है जो उसको प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें सत्पथ दिखाकर उसपर चलनेका आदेश देती है।

७—प्रार्थनासे छहों विकार धीरे-धीरे घटते जाते हैं।

८—हृदयमें पवित्र भावना, उच्च विचार एवं सात्त्विक गुणोंकी वृद्धि होती है।

९—प्रार्थना अपने मनोनुकूल कई प्रकारकी होती हैं, ईश-गुण-गानके साथ ही मनुष्य अपने मनोभावोंको भी प्रकट करता है, प्रायः विकार-शमनकी ही भावना प्रधान रहती है।

१०—ईश-गुण-गान करते समय चित्त प्रसन्न, एवं अभय हो जाता है, जान पड़ता है कि स्वयं जगदीश सम्मुख होकर उसे अभय दान दे रहे हैं, इससे उसको बड़ा बल प्राप्त होता है।

११—हृदयमें शान्ति, सन्तोष, क्षमा, दया आदि सद्गुण उदय होते हैं।

१२—उस समय जो आनन्द होता है वह वर्णनातीत है, हृदयमें जो रस-धारा प्रवाहित होती है, उसे हृदय तो पान करता ही है—प्रायः सभी इन्द्रियाँ तन्मय होकर शान्ति-लाभ करती हैं।

ईश्वर और उसका नाम

(लेखक—हरिभक्तिपरायण श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

स्वामी विवेकानन्दका एक वार इंगलैण्डमें व्याख्यान हुआ और उसे सुनकर वहाँके वड़े-वड़े विद्वान् आश्चर्यान्वित हो उठे। ईश्वरीय भावनाका एक नवीन प्रकाश उनकी आँखोंके सामने आया और उनमेंसे वहुतेरे लोग स्वामीजीके शिष्य भी वन गये। ईश्वरीय तत्त्वके सम्बन्धमें ही उनका व्याख्यान होनेके कारण, उनके श्रोताओंमेंसे एक गृहस्थने प्रो॰ मैक्समूलरकी 'ईश्वरसिद्धि' सम्वन्धी एक वड़ी पुस्तक उनको दिखलायी। इस पुस्तकके दिखलानेमें उसका हेतु यह था कि स्वामीजी यह जानकर चकित हों कि ईश्वरीय तत्त्वपर विचार करनेवाले पुरुष इंगलैण्डमें भी हैं। परन्तु स्वामीजी उस पुस्तकको देख हँसकर बोले कि 'मैक्समूलरने इतनी वड़ी पुस्तक लिखकर यही सिद्ध किया है कि ईश्वर है, किन्तु हमारे हिन्दुस्तानमें इस वातको एक गँवार किसान भी जानता है' इस उत्तरको सुनकर वह मनुष्य मन-ही-मन लज्जित हो गया।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य भौतिक शास्त्रोंके अभ्याससे जैसे-जैसे विद्वान् होता जाता है वैसे-ही-वैसे उसमें अभिमान वढ़ता जाता है और अभिमानके वढ़नेसे मनुष्यमें स्वाभाविक भावका (आस्तिकताका) 'अभाव' हो जाता है। उस अभावको मिटानेके लिये विद्वान् गुरुको वड़े-वड़े प्रवचन करने पड़ते हैं और खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थोंकी रचना करनी पड़ती है। अविद्वान् और भोले-भाले पुरुषमें इस अभावका विष नहीं होता अतः उनकी सिद्धिकी भावनाको उचित प्रकारसे वढ़ाकर पूर्णताको पहुँचानेमें गुरुको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही कारण है कि भोले-भाले लोग ही शीघ्र तरते हैं। ऐसा साधु-सन्तोंका अनुभवपूर्ण कथन है।

यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसप्रकारका भोलापन सदा अच्छा ही होता है, उसी प्रकार सदा संशयवादी और अत्यन्त तार्किक वने रहना भी कभी अच्छा नहीं होता। हमारे धर्मप्राण भारतमें पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा इस ईश्वरीय भावनाके अभावकी हवा फैल रही है। इस जहरीली हवाके प्रभावसे यहाँकी जनताको वचानेके लिये ईश्वर-तत्त्वज्ञ सज्जन पुरुषोंका कल्याणके 'ईश्वरांक' के समान ग्रन्थ-निर्माण करना आवश्यक हो गया है; यह भारतका दुर्भाग्य है या सौभाग्य, इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु शरीरमें रोग हो गया है, यह एक वार निश्चय हो जानेपर उसके निवारण करनेके लिये उपाय करना अपरिहार्य हो जाता है। कल्याण-सम्पादकने जो यह महाप्रयत्नकी योजना की है, वह उनकी परम कारुणिकता है। मुझे विश्वास है कि परम करुणामय परमात्मा उनको इस प्रयत्नके लिये अवश्य ही परम उज्ज्वल यश देंगे।

ईश्वर-गुणानुवादसे विमुख कौन होता है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्-
> भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात्।
> क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
> पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
> (१०।१।४)

सांसारिक विषयोंसे तृष्णाहीन पुरुष जिसका गुणगान करते हैं, जिसका गुणगान संसाररूपी महारोगकी उत्तम ओषधि है, तथा जिसके गुणोंका श्रवण मनको अभिरञ्जित करता है, हत्यारेके सिवा कौन-सा पुरुष है जो उस पुरुषोत्तमके गुणानुवादसे विमुख हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। जो भगवत्-गुणानुवादसे विमुख होता है, उसे गो (पशु) घाती कसाई समझनेमें कोई भी हर्ज नहीं।

प्राकृतिक गुण और भगवद्गुण

शास्त्रोंमें प्रकृतिके तीन ही गुण कहे गये हैं। परन्तु भगवान्‌के गुण अमित हैं। प्रकृतिके यह तीनों गुण (सत्त्व, रज और तम) मलिन और वन्धनकारक हैं, परन्तु भगवान्‌के गुण इसके विपरीत 'दिव्य' और भव-वन्धनको छुड़ानेवाले हैं। प्रकृतिके गुण दोषोंसे व्याप्त और परिमित हैं। भगवान् 'निर्दोषानन्तकल्याणगुणगणपरिपूर्ण' हैं। पृथ्वीके रजकणोंको किसी समयतक गिन लेना सम्भव हो सकता है, परन्तु भगवान्‌के गुणोंकी गिनती कोई भी

कभी नहीं कर सकता । जो भगवद्गुणोंकी गणना करनेको तैयार होता है, उसे बाल-बुद्धि या मूर्ख ही समझना चाहिये ।

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ४ । २)

एक गूलरके पेड़पर हजारों गूलरके फल होते हैं और ऐसे गूलरके वृक्ष पृथ्वीपर हजारों होते हैं, इसी प्रकार ईश्वरके शरीरमें अनन्त ब्रह्माण्ड समाये हुए होते हैं।

करोड़ों ब्रह्माण्ड जिसके एक रोमरन्ध्र अर्थात् एक अंशमें स्थित हैं उस परमेश्वरकी महत्ता अल्पबुद्धिके मनुष्यकी समझमें कैसे आ सकती है? श्रीमद्भागवतमें वत्स-हरणके प्रसंगमें सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

तात्पर्य यह है, कि परमेश्वर अनन्तरूप हैं। उनकी अनन्तताका चिन्तन करनेसे चित्त फटकर गल जाता है; अल्पचेतस् पुरुषका यह काम नहीं है। जैसे परमात्मा असीम हैं, वैसे ही उनके गुण भी अनन्त हैं, तथा उनकी शक्ति भी अनन्त (अपरिमित) है। जगत्‌के उद्धारके लिये उस दयालु परमात्माने जिस दिव्य अवतार-शरीरको धारण करके दिव्यलीला की है जो मनुष्य उसे जानकर उसका गुण-गान करेगा वह जन्म-कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

अवतार-महिमा

परमेश्वरकी शक्ति 'अघटनघटनापटीयसी' है। कोई भी उसका पार नहीं पा सकता। उसी शक्तिसे वह इस भूमण्डलपर प्रकट होता है। उसके जन्म (अर्थात् अवतार-रूपमें प्रकट होना) और कर्म 'दिव्य' होते हैं। ऊपरके कथनानुसार भगवान्‌के उन दिव्य जन्म-कर्मोंको जाननेवाला पुरुष अपने मलिन जन्म-कर्मसे मुक्त हो जाता है।

भगवान्‌के जन्म और कर्म दिव्य होते हैं, प्राकृत लोगोंके अनुसार नहीं होते। जो उन्हें समझ लेता है वह मुक्त हो जाता है, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है।* इसपर यदि कोई कहे कि 'मुक्ति तो ज्ञानके द्वारा होती है' फिर भगवान्‌के दिव्य जन्म और कर्मोंको जाननेसे विशेष लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि निर्गुणोपासकको आत्मज्ञानके प्राप्त करनेमें अत्यन्त श्रमकी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु सगुणोपासकको श्रमके बिना ही परमगतिकी प्राप्ति होती है, यही इसका विशेष लाभ है। यदि कोई पूछे कि ज्ञान हो जानेपर सगुणोपासनाकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानके परिपाकके लिये सगुणोपासना की अत्यन्त आवश्यकता है, इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखना चाहिये। पञ्चमहाभूतोंको भगवान्‌ने जीवोंके कर्मबन्धनके लिये अपनी कल्पनासे उत्पन्न किया है। ऐसे (बन्धनात्मक) देहोंमें भगवान्‌के अवतार-देहकी महिमा नहीं आ सकती। अविद्यासे कर्म करनेवाले जीवको पञ्चभूतात्मक देह धारण करना पड़ता है, क्योंकि पञ्चभूतात्मक कल्पनामें भगवान्‌का अनादि सङ्कल्प ही वैसा होता है। अवश्य ही पञ्चभूत भी भगवान्‌की कल्पना है और अवतार-देह भी भगवान्‌की कल्पना है। परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। बेड़ी भी लोहेकी होती है और उसके तोड़नेका शस्त्र भी लोहेका ही होता है तथा दोनों वस्तुएँ लोहारकी कल्पनासे उत्पन्न होती हैं, किन्तु पहली वस्तु बन्धनकारक और दूसरी मुक्तिप्रद होती है। इसी प्रकार अविद्याके द्वारा जीवके पञ्चभूतात्मक अशुद्ध शरीरको धारणकर नर-देहमें नाना प्रकारके कर्मोंको करते हुए उनके फलको भोगना भी भगवान्‌की कल्पना है और सञ्चित-क्रियमाण कर्मोंके साथ जीवोंकी अविद्याके नाश करनेका सङ्कल्प करके अवतार-देह धारण करना भी सच्चिदानन्द भगवान्‌की ही कल्पना है। दोनों ही कल्पनाएँ भगवान्‌की हैं, परन्तु भगवत्संकल्पके अनुसार पाञ्चभौतिक देह बन्धनकारक है और अवतार-देह कर्म-बन्धनसे छुड़ानेवाला है। जीवोंके देह 'पाञ्चभौतिक' तथा अवतार-देह 'शुद्ध सत्त्वात्मक' होते हैं। दोनोंमें अमावस्या और पूर्णिमा, एवं कोयले और हीरेके सदृश अन्तर होता है। इसी कारण भगवान्‌का अवतार-देह मानव-देहधारी जीवोंके लिये निरन्तर सेव्य होता है। ईश्वरके अनन्त अपार व्यापक स्वरूपकी उपासना साधारणबुद्धिके मनुष्य-

---

* जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

के लिये दुष्कर और असम्भव है। इसलिये उन्हें अवतार-शरीरकी ही उपासना करना योग्य है। इस विषयमें स्वामी विवेकानन्द भगवद्वचनके अनुसार कहते हैं—*

'भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, 'जब-जब धर्मका ह्रास होता है और अधर्म बढ़ने लगता है, (तब-तब) मैं मानव-जातिकी रक्षाके लिये आता (अवतार लेता) हूँ। मूढ़ लोग, जो यह नहीं जानते कि मुझ सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक जगन्नियन्ता परमात्माने ही मानव-रूप धारण किया है, मेरी अवज्ञा करते हैं तथा मुझमें सन्देह करते हैं। उनकी बुद्धि आसुरी अज्ञानसे भ्रान्त हुई होती है, इसीलिये वे भगवान् श्रीकृष्णमें जगत्-प्रभुके रूपको नहीं देख सकते। भगवान्के ये महान् अवतार पूजनीय हैं, यही नहीं, उनकी पूजा अनन्य भावसे होनी चाहिये।

मुह्यन्ते ह्यस्मदादयः

निर्गुणरूप सुलभ अति सगुण न जानै कोय।

(तुलसीदासजी)

भगवान्के 'अवाङ्मनसगोचर' निर्गुण स्वरूपको जान लेना सहज है, परन्तु उनके सगुण अवतार-तत्त्वको जानना कठिन है। जगत्में जब धर्मकी ग्लानि होती है तथा अधर्मका अभ्युत्थान होता है अर्थात् जगत्में सुख-स्वास्थ्यके नियमोंमें व्यतिक्रम होकर दुष्टोंके प्राबल्यसे जहाँ-तहाँ दुःख-दौर्मनस्यकी वृद्धि हो जाती है, उस समय उसके निवारण करनेकी शक्ति किसी भी मनुष्यमें नहीं रहती, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे महा बलवान्, सार्वभौम सत्ताधीश अथवा पारमार्थिक दृष्टिसे महासाधु, जीवन्मुक्त एवं महान् तपस्वी ही क्यों न हो। ऐसी अवस्थामें परमेश्वरी-शक्तिकी ही अपेक्षा होती है। वशिष्ठ-विश्वामित्रके समान महातपस्वी ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी जगत्के कल्याणके लिये परमात्माकी अवतार-शक्तिकी सहायता चाहते हैं और उसके लिये अनन्य भावसे प्रार्थना करके भगवान्को अवतरित कराते हैं। सृष्टिके अन्तर्गत रहनेवाले तत्त्वाभिमानी देवता भी अवतार लेनेके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करते हैं। श्रेष्ठ भक्तोंकी प्रार्थनामें ऐसी शक्ति होती है, जो भगवान्को निर्गुण निजानन्दस्वरूपसे बाहर लाकर सगुण घनानन्दस्वरूप धारण करनेके लिये बाध्य करती है। भक्तोंकी यह प्रतिज्ञा है कि 'हम भगवान्को निराकार न रहने देंगे, उसे साकार-रूप धारण करायेंगे।'*

भगवान् सर्वज्ञ हैं; श्रेष्ठ भक्त प्रार्थना करते हैं, परन्तु किस युगमें, किस कार्यके लिये, किस रूपमें अवतार धारण करना होगा यह निश्चय करना भगवान्के ही हाथकी बात है और उस निश्चयके अनुसार ही भगवान् अवताररूपमें प्रकट होते हैं। परन्तु पृथ्वीपर अवताररूपमें प्रकट होनेपर भी भगवान्को पहचान लेना सहज बात नहीं। इस विषयमें बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी कभी-कभी चक्कर-में पड़ जाते हैं। अधिक क्या दिव्य दृष्टिवाले देवोंके राजा इन्द्र और देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी भी भगवान् श्रीकृष्णके अवताररूपको न जान सके, यह बात प्रसिद्ध ही है। 'मुह्यन्ते ह्यस्मदादयः' अर्थात् हमारे समान लोग भी मोहको प्राप्त होते हैं, गर्व छोड़कर स्वयं ब्रह्माजी जब यह स्वीकार करते हैं तो औरोंकी तो बात ही क्या है?

जीवोंके देह और अवतार-देह

जीवोंके शरीर 'कर्म-देह' और भगवान्के अवतार-शरीर 'लीला-देह' हैं। अवतार-देहोंको 'लीला-तनु' और 'लीला-विग्रह' भी कहते हैं। इसमें 'लीला' शब्दसे स्वेच्छा ध्वनित होती है। जीव अपनी इच्छासे देह धारण नहीं कर सकते, क्योंकि जीव कर्माधीन हैं, उन्हें कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें विभिन्न प्रकारके देह मिलते हैं। परमेश्वरके विषयमें ऐसी बात नहीं, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परात्पर पुरुष हैं और अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहिये वैसा देह धारण कर सकते हैं। देह धारण करनेमें तथा उस देहद्वारा नाना प्रकारके कर्म करनेमें भगवान्का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। उनका देह धारण करना तथा कर्म करना केवल जगत्के कल्याणके लिये होता है। इसीलिये उनकी 'दिव्य' संज्ञा

---

* 'Whenever virtue subsides and immorality prevails, I come to help mankind' Says Krishna, "Fools not knowing that I, the omnipotent and omnipresent God of the Universe, have taken this human form, deride me and think how that can be." Their minds have been clouded by demoniacal ignorance, so they cannot see in Him the Lord of the Universe. These great incarnations of God are to be worshipped. Not only so, they alone can be worshipped.'

* देवा हाती रूप धरवूं आकार। नेदूं निराकार होऊं त्यासी॥

(तुकाराम)

है। भगवान्‌ने स्वयमेव कहा है कि—'जन्म कर्म च मे दिव्य' तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के जन्म-कर्म 'दिव्य' और जीवों-के जन्म-कर्म 'मलिन' होते हैं। मलिन जन्म-कर्मका नाश दिव्य जन्म-कर्मके ज्ञान और उपासनासे होता है, यह स्वाभाविक ही है। श्रीशुकदेवजी तथा वामदेव-सरीखे महा-मुक्त पुरुष भी भगवान्‌की सगुण लीलाके स्वरूपको प्रेमपूर्वक भजते हैं। राजसूय-यज्ञके समय धर्मराज युधिष्ठिर महाराज-के यहाँ उठायी हुई जूठे पत्तलोंके अन्नकणको महामुनियोंने पक्षीरूपमें आकर खाया था, यह बात प्रसिद्ध ही है। गोकुलमें गोपबालकोंके वन-भोजनके प्रसंगमें इन्द्र आदि देवता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके हाथ तथा मुखकी जूँठन पानेकी अभिलाषासे यमुनामें मछलियाँ बनकर आये थे, यह भी प्रसिद्ध ही है। श्रुति भी कहती है—

'य सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च'

ईश्वर सामर्थ्यवान् हैं, इसलिये सब देवता उन्हें नमस्कार करते हैं, मुमुक्षु पुरुष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उनको भजते हैं और ज्ञानी पुरुष केवल प्रेमके लिये उनकी भक्ति करते हैं। ऐसा श्रीगुलाबराय महाराज अपने योग-प्रभाव नामक ग्रन्थमें कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थं भूतगुणो हरिः॥

अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानी लोग, आत्मक्रीडा, आत्मरति करनेवाले महापुरुष, जिनको संसारमें कोई कार्य करना शेष नहीं है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भी उन उरुक्रम भगवान्-की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि वह सगुण श्रीहरि ऐसे ही (दिव्य) गुणसम्पन्न हैं। आत्मज्ञान-आत्मसाक्षात्कार, या ब्रह्मज्ञान-ब्रह्मसाक्षात्कार होनेके अनन्तर ही प्रेमा भक्ति-का अधिकार प्राप्त होता है, इसीको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। मुक्तिके उपरान्त—ज्ञानके उपरान्त भक्ति होती है, ये बातें शास्त्रोंद्वारा तथा सन्तोंके मुखसे बारम्बार सुननेमें आती हैं। इससे जिज्ञासु पुरुषोंको भगवान्‌के अवतार—देहका महत्त्व ध्यानमें आये बिना नहीं रह सकता।

भगवन्नाम गुणार्थबोधक और भगवद्रूप ही है

भगवान्‌के गुण अनन्त हैं, वैसे ही उनके नाम भी अनन्त हैं। क्योंकि उनके समस्त नाम गुण और प्रभावके द्योतक हैं। भगवान् नित्य हैं, अतः उनकी गुणलीला और नाम भी नित्य हैं। 'अभिन्नत्वान्नामनामिनो' अर्थात् नाम और नामीमें अभिन्नता होनेके कारण भगवान्‌के रूप में जो गुण होते हैं वे ही गुण उनके नाममें भी होते हैं, इसका अनुभव नाम-प्रेमी सन्त ही जानते हैं।

नामचिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णःशुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

श्रीकृष्ण जैसे चिन्तामणिस्वरूप, चैतन्यरसकी मूर्ति, पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी तत्स्वरूप अर्थात् नामीसे अभिन्न होनेके कारण उनके सब गुणोंसे युक्त है। श्रीगौराङ्ग महाप्रभु कहते हैं—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः॥

व्यवहारमें वाच्य-वाचकका अभेद नहीं होता। 'अग्नि' शब्द और अग्नि पदार्थ एक नहीं। यदि एक होते तो अग्नि कहनेके साथ ही मुँह जल जाता। उसी प्रकार 'गाय' शब्द और गाय वस्तु, तथा 'जल' शब्द और जल वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। कोई-कोई आलसी और अज्ञानी पुरुष व्यावहारिक दृष्टान्त देकर ऐसा कहते हैं कि जिसप्रकार सिर दर्द करे तो सोंठ घिसकर उसका लेप करना चाहिये, सोंठ-सोंठ कहनेसे दर्द दूर नहीं होता, तथा भूख लगनेपर अन्न खाना चाहिये, अन्न-अन्न कहनेसे पेट नहीं भर सकता। उसी प्रकार केवल 'राम-राम' या 'हरि-हरि' कहनेसे क्या लाभ होगा? परन्तु उन लोगोंको यह ज्ञात नहीं कि भौतिक पदार्थमें और उनके नाममें बड़ी भिन्नता होती है, परन्तु भगवान्‌में और उनके नाममें अभौतिकता होनेके कारण कुछ भी भिन्नता नहीं होती, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त और सन्तोंका अनुभव है। इसलिये इसपर विश्वास करके अहर्निशि भगवन्नाम-चिन्तनमें रत रहना चाहिये। भगवन्नाम-सेवन ही भगवत्सेवा है। भगवान्‌की मूर्ति देखने अथवा उनका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर मनमें जो प्रेम और जो आदर उत्पन्न होता है वही प्रेम और आदर भगवन्नाम-चिन्तन करते समय होना चाहिये, तभी 'नामनामिनोरभेद' यह तत्त्व मनुष्यके हृदयङ्गम हो सकता है।

भगवान्‌का साकार विग्रह नित्य रहता है, ऐसा प्रत्यय होनेपर उस विग्रहका नाम भी नित्य रह सकता है यह प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि 'आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः।' अर्थात् शब्दोंका सम्बन्ध शब्दोंके द्वारा सांकेतिक आकृतिसे ही होता है, व्यक्तिसे नहीं,

ऐसा भगवान् शङ्कराचार्यका कहना है। घट कहनेसे उसका अर्थ घट-विशेष न होकर घटाकार वस्तु ही होता है अर्थात् शब्दका सम्बन्ध जातिसे होता है, व्यक्तिसे नहीं। यावत् अविद्या जातिके नित्य होनेके कारण जिसप्रकार सब व्यावहारिक शब्द और उनके यात्यर्थ यावत् अविद्या नित्य होते हैं, उसी प्रकार भगवद्विग्रह, विद्यावृत्तिसे जाननेयोग्य साकार होनेके कारण यावद्विद्या भगवन्नाम और भगवद्रूप नित्य हैं, शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण भगवन्नाममें धारणा स्थिर होते ही रूपमें भी नामके साथ ही धारणा स्थिर हो जाती है। साधनाकी पूर्वावस्थामें कोई भी एक धारणा होनेपर, दूसरीका उसमें अन्तर्भाव होता ही है, उसके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न करना नहीं होता, यह प्रत्ययमें आता है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

समुझत सरस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ॥
नाम रूप दोउ ईश उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझ साधी ॥

नामोच्चारण और नाम-स्मरण

भगवान् जिसप्रकार भव-बन्धनसे मुक्त करनेवाले और भक्तोंको निजात्म-सुख देनेवाले हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी उनके गुण और शक्तिसे पूर्ण है।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

भगवान्की यह प्रतिज्ञा और शक्ति उनके नाममें भी है। भगवान्के नाममें पाप-हरण करनेकी जितनी शक्ति है, उतना पाप संसारमें कोई भी नहीं कर सकता, ऐसा उसका विरद है। सब पापोंका नाश और मोक्षपर्यन्त समस्त कामनाओंकी सिद्धि प्रदान करनेकी शक्ति नाममें है। परन्तु उसका यथार्थ सेवन होना चाहिये। नाम-सेवनके विषयमें कल्याणके पाठकोंको कोई नयी बात कहनेके लिये रह गयी है ऐसा मुझे नहीं जान पड़ता। तथापि सम्पादकजीकी आज्ञाके अनुसार, तथा अपना प्रिय विषय होनेके कारण मैंने यथामति कुछ लिखा है। मुझे आशा है कि सज्जन पाठकोंको वह चर्वित-चर्वण न जान पड़ेगा तथा जिसप्रकार नीरोग मनुष्यको पिछले दिनके भोजनके पदार्थ पुनः आज भी बनें तो मधुर ही लगेंगे, उसी प्रकार उन्हें यह विषय भी मधुर ही जान पड़ेगा। इसमें जो न्यूनता हो उसे पूर्ण कर लेनेमें सज्जन पाठक समर्थ हैं।

भगवत्प्राप्ति तथा मुक्तिके अनेकों साधन हैं और यह अनेकता नाना प्रकारकी प्रकृतिके लोगोंके लिये उत्पन्न हुई है और यह स्वाभाविक ही है।

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'—गीता
'योगेनैवाप्यते परम्'— याज्ञवल्क्य।
'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'
'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।'—गीता
'कावेरीतोयमाश्रित्य वातो यत्र प्रवर्तते।
तद्देशवासिनां मुक्तिः किमुतत्तीरवासिनाम् ॥'—अग्निपुराण

'चौर्येण वा शङ्करसेवया वा
शातोदरी सङ्गमवाञ्छया वा।
पुंसां उषित्वा पुनरेक रात्रं
मध्यार्जुने नास्ति शरीरबन्धः ॥'
—मध्यार्जुनमाहात्म्य

काश्यां मरणान्मुक्तिः —काशीमाहात्म्य

इसप्रकार कर्म, योग, ज्ञान, कावेरी-स्नान, काशी-मरण, सुक्षेत्रवास इत्यादि अनेक साधन मुक्तिप्राप्तिके लिये कहे गये हैं, तब फिर नाम-संकीर्तनरूपी साधनकी ही घोषणा करनेकी क्या आवश्यकता है, ऐसा प्रश्न पूछा जा सकता है। इसका उत्तर यही है कि—

ज्ञान-मार्गमें 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषां' इस भगवद्वचनके अनुसार अत्यन्त क्लेश होता है; योग-मार्गमें 'सुदुश्चरमिमां मन्ये' इस भागवत-वचनके अनुसार बड़ी कठिनता होती है; 'गहना कर्मणो गतिः' इस वचनके अनुसार कर्म-मार्ग अत्यन्त दुःखजनक होता है; 'कावेरीतोयमाश्रित्य' इस वचनमें मुक्तिकी परम्परागत साधना अथवा अर्थवाद निहित है; इसी प्रकार काशी-मरण प्रभृति अनेक साधन प्रायः श्रमसाध्य ही सिद्ध होते हैं; परन्तु नाम-संकीर्तन वैसा श्रमसाध्य नहीं है, यह तो अनायाससाध्य—सुखसाध्य है, इसलिये इसे निर्दोष और सब साधनोंका राजा कहते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

'नाम-संकीर्तन यद्यपि सुगम साधन है, तथापि वह जन्म-जन्मान्तरके पापोंको दग्ध कर डालता है। नाम-संकीर्तनमें कोई परिश्रम नहीं लगता और न इसके लिये वनमें जानेकी ही आवश्यकता है। जहाँ रहो वहाँ ही बैठे-बैठे अनन्यभावसे भगवान्का अत्यन्त प्रेमपूर्वक नाम लो, वह सहज ही घर आकर दर्शन देंगे।*'

* नामसंकीर्तन साधन 'पैं सोपें।
जळतील पावें जन्मान्तरिचीं ॥

इसप्रकार सहस्रों सन्तोंके वचन हैं । इसी प्रकार वेद-शास्त्र पुराणादिमें भी नाम सकीर्तन-सम्बन्धी अनेक प्रमाण मिलते हैं ।

उन प्रमाणोंसे नाम साधनका महत्त्व पाठकोंके ध्यानमें भलीभाँति आ सकता है । तथापि 'विष्णोर्नामैव पुसाम' इत्यादि वचनोंसे जब एक बार नामोच्चारणसे महापातक नष्ट हो जाते हैं तो फिर नामकी बारम्बार आवृत्ति क्यों की जाय ? इस प्रश्नका उत्तर नीचे दिया जाता है—

वाग्भि स्तुन्वन्तो मनसा स्मरन्त
तन्वा नमन्तोऽप्यनिश न तृप्ता ।
भक्ता स्रवन्नेत्रजला समग्र
आयुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु

'स्मरतान्तमहर्निशम्०'
'अहोरात्रकीर्तयन्तो माम्०'
'आजन्ममरण विष्णु०' —वाराहपुराण
'सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रता ।' —गीता

—इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि भगवान्के नामकी बारबार आवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है ।

'राम कृष्ण हरि विठ्ठल केशवा ।
मन्त्र हा जपावा सर्वकाळ ॥' —श्रीतुकाराम
'अखड हरि हरि वदा रे बापानो ।
अखड हरि हरि वदा ॥' —श्रीअमृतराय
अहो जाता येतां बसत उठता कार्य करिता ।
सदा देतां घेता बदनि वदता ग्रास गिळिता ।
घरीं दारीं शय्येवरि रतिसुखाचे अवसरीं ।
समस्ताची लज्जा त्यजुनि भगवच्चिन्तन करीं ॥'
—श्रीवामन पण्डित

सोवत बैठत जागत ऊठत । जपना हरि हरि नाम ॥
हमारो निर्धनको धन राम ॥ —श्रीकबीरदासजी

नामापराध दोष-रहित पुरुष हो तो उसे सकृत् (एक बार ही) भगवन्नामका उच्चारण करनेसे कृतकृत्यता प्राप्त हो जायगी । परन्तु जिनको पापके प्रतिबन्धक होनेके कारण तत्काल सिद्धि नहीं मिलती है, उनको नाम सकीर्तनकी आवृत्ति अर्थात् सतत जप करना चाहिये । इससे उनके पाप दूर होंगे तथा उन्हें अभ्युदय और नि श्रेयसकी प्राप्ति होगी, ऐसा पूर्वाचार्योंने श्रुति, स्मृति तथा पुराणोंके आधारपर प्रतिपादन किया है तथा सन्तोंने इसीको अपने चरित्रद्वारा ससारको दिखला दिया है ।

न लगती सायास जावें वनातरा ।
सुखें येतो घरा नारायण ॥
ठायींच बैसोनि करा एक चित्त ।
भावडीं अनत आळवावा ॥

अखण्ड जपसे वासनाका नाश होता है

सहस्रों विधियुक्त धर्म-कर्म करनेसे जो वासना क्षयरूप अनुभव नहीं प्राप्त होता, वह अनुभव साधकको नामकी वाग्धारासे, अविराम नाम स्मरणसे प्राप्त होता है। उसे करके ही देखना चाहिये । नाम-स्मरणसे समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं, यह बात तो शास्त्रोंपर विश्वास करके ही मानी जा सकती है, परन्तु पापोंका मूल दग्ध नहीं होता, यह अनुभवसे जाननेकी बात है । पापोंके मूलका अर्थ है आन्तरिक वासना । यदि मूल नष्ट न हो तो वृक्षमेंसे अकुर और पल्लवका निकलना बन्द नहीं होता, यह बात जिसप्रकार सिद्ध है उसी प्रकार पापोंका मूल अर्थात् वासना जबतक दग्ध नहीं होती है तबतक पापाचरणका अन्त नहीं हो सकता, यह बात भी उतनी ही विश्वसनीय है । चित्त शुद्धिके पश्चात् ज्ञानका उदय होता है और उस चित्त शुद्धिके लिये निष्काम कर्मका प्रतिपादन शास्त्रोंने किया है । कर्म काण्ड चित्त शुद्धिके लिये है, उपासना-काण्ड चित्तको स्थिर करनेके लिये है और ज्ञान-काण्ड मुक्ति-लाभके लिये है, इसे सब सुनते आये हैं परन्तु इस क्रमिक पद्धतिको अङ्गीकारकर अन्तिम ध्येयको प्राप्त करना आज कल बहुत ही कठिन है । क्योंकि इन तीनों साधनोंमें सर्वप्रथम इन सबके आधारस्वरूप कर्मकाण्डको ही पार लगाना अत्यन्त कठिन है । आधुनिक युगके जीवोंको इसके लिये असमर्थ देखकर उनके सच्चे सुहृद्, सखा और माता पितारूपी सन्तोंने अत्यन्त दया करके शास्त्रविहित नाम स्मरणका मार्ग खोल दिया है । परन्तु इस मार्गमें चलते हुए नाम चिन्तन करनेवाले पुरुषको यदि यह प्रत्यय न हो कि मेरे 'पापोंका मूल' जल गया तो समझना चाहिये कि उसके नाम-स्मरणकी पद्धतिमें कहीं कोई भूल रह गयी है । सन्तोंने उस भूलको खोजकर उसको दुरुस्त करनेका मार्ग भी बतला दिया है ।

भगवन्नामकी महिमाको न जानते हुए भी नाम

लेनेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं, यह उस नामरूपी वस्तुमें शक्ति है। यद्यपि इसप्रकार सब पाप सहज ही नष्ट हो जाते हैं तथापि पापोंके मूलका नाश होना सहज नहीं होता। इसके लिये तो नाम लेनेवालेको (नाम-महिमासे) अभिज्ञ होना चाहिये। वस्तुकी महिमाको जानकर और स्मरणकी पद्धतिको ध्यानमें रखते हुए जो नाम-स्मरण करता है वही पापोंके मूल अर्थात् वासनाको जला सकता है। अर्थभावनायुक्त सतत जप ही वासना-क्षयकी यथार्थ कुञ्जी है। इस विषयमें श्रीवामन पण्डित कहते हैं—'एक छोटा-सा बालक अग्निकी शक्तिको न जानते हुए भी ताम्र आदि धातुओंपर अग्नि डाल दे तो वह अग्नि उन धातुओंके मलको तत्काल जला दे सकती है परन्तु उसी अग्निसे यदि ताम्र-भस्म आदिका निर्माण करना हो तो उसके लिये मनुष्य (कर्ता) को भस्म-निर्माणकी विधि जाननेकी आवश्यकता पड़ती है।* इसी प्रकार नामसे पाप और पापोंके मूलको जलानेके लिये नाम लेनेवालेको वह विधि अवश्य मालूम होनी चाहिये। केवल नामोच्चारण पापोंको जला सकता है, और उच्चारणके साथ-साथ स्मरण होनेसे पापोंका मूल भी जल जा सकता है। क्योंकि उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका—अन्तःकरणका धर्म है। पापोंका मूल अर्थात् वासनाका वास वाणीमें नहीं, अन्तःकरणमें होता है। इसलिये नाम-स्मरणकी अजस्र धारासे अनन्त जन्मोंकी अनन्त वासनाएँ जलकर भस्म हो जाती हैं।

जीवन्मुक्तिके तीन उपाय

श्रीविद्यारण्य मुनिने अपने 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक ग्रन्थमें जीवन्मुक्तिके तीन उपाय बतलाये हैं—ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश। वह बतलाते हैं कि महावाक्योंके श्रवण-मननसे निःसन्देह ब्रह्मावबोध होता है तथापि पूर्वके प्रबलतर संस्कारोंसे ज्ञानके स्थानमें काम-क्रोधादि मनोविकार उठते हैं और वे समाधि-सिद्धिके मार्गमें प्रतिबन्धक होते हैं, ऐसी अवस्थामें ज्ञानीको एकान्तमें बैठकर छः या बारह मात्राओंके प्रणव-मन्त्रका जप करना चाहिये। ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश इन तीनोंका एक ही साथ अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु यह साधन अत्यन्त कठिन है। (परोक्ष) ब्रह्मज्ञान होनेके बाद इस प्रतिबन्धकरूपी दोषको समूल नष्ट होनेके लिये प्रणव-जप करना चाहिये, क्योंकि इससे शीघ्र ही मनोनाश और वासना-क्षय सिद्ध होते हैं। इसके लिये अल्पज्ञानीको जपका नियम दूसरा कौन बतलावेगा? उसके लिये तो जैसे प्रणव अर्थात् ॐकारका जप है वैसे ही भगवन्नामका जप भी विहित है। क्योंकि ॐकारको गीतामें (ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म) एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। उसीप्रकार द्व्यक्षर, चतुरक्षर हरि, नारायण, वासुदेव नाम भी ब्रह्मरूप ही हैं† इसी कारण यह भी ज्ञानीको सेव्य हैं।

जिसप्रकार राम-कृष्ण आदि अवतार-मूर्ति परब्रह्मके 'साकार' स्वरूप हैं उसी प्रकार हरिनाम भी उसी परब्रह्मका 'ध्वनिरूप' स्वरूप हैं।‡ जिसप्रकार अवतार ब्रह्मरूप हैं उसी प्रकार हरिनाम भी ब्रह्मरूप हैं, चिन्मय हैं, इसके अविरत अखण्ड सेवनसे साधकोंकी इन्द्रियोंका जड़त्व नष्ट हो जाता है और वे चिन्मय हो जाती हैं, तथा साधक चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होते हैं।

उच्चारणके भेद और स्मरणके प्रकार

'नामोच्चारण' और 'नामस्मरण'के भेदको हम पहले ही बता चुके हैं, उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका धर्म है एवं काय, वचन और मन इन तीनोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। पाठकोंको यह बात बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वाणीकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, अर्थात् वाणीसे किये हुए उच्चारणकी अपेक्षा मनसे किया हुआ स्मरण अधिक श्रेष्ठ होता है, यह सिद्ध हुआ। तथापि शास्त्रोक्त नामोच्चारणके भेदोंका कुछ विशद वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। इसलिये उन भेदोंको कहकर उसके पश्चात् स्मरण अर्थात्

* धातूवरी अनल नेणत बाल घाली।
तो अग्नि धातुमल तों अति शीघ्र जाळी॥
ताम्रादि भस्महि तया अनलेंचि जेव्हां।
कर्ता अभिज्ञ बहु जालिल धातु तेव्हां॥

† प्रणव (ॐ) एकचि अक्षर। म्हणूनि हें ब्रह्म 'एकाक्षर'॥
तैसेंचि ब्रह्म 'चतुरक्षर'। 'वासुदेव' 'नारायण' म्हणोनि॥
तैसेंचि उपनिषदीं। दोनी अक्षरें 'हरि' पदीं॥
हें 'द्व्यक्षर ब्रह्म' वेदीं। जैसा प्रणव 'एकाक्षर ब्रह्म'॥
(यथार्थदीपिका)

‡ जैसीं रामकृष्णादि 'रूपें' अभिरामें।
तैसें 'ध्वनिरूप' रूपें सर्वसुगमें।
अक्षर ब्रह्म नामें समस्त ही॥ (यथार्थदीपिका)

चिन्तनके भेदोंको संक्षेपमें कहकर लेखको समाप्त करना है।

नाम जपके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। (१) वाचिक अर्थात् वैखरी वाणीसे, जैसा हम साधारणतः बोलते हैं, वैसे ही स्पष्ट स्वरसे जप करना। (२) उपांशु अर्थात् केवल ओष्ठको हिलाते हुए, अपना शब्द अपने ही कानमें, अथवा अत्यन्त समीप बैठे हुए मनुष्यको ही सुनायी पड़े, ऐसा जप करना। (३) मानस अर्थात् ओष्ठ और जीभको न हिलाते हुए मन ही-मन जप करना। इस मनके उच्चारणको मनके ही कानोंसे सुनना होता है। कोई-कोई नाम-जपके वाचिक, उपांशु, ध्वनि, मानस, ध्यान और अनन्य, ऐसे छः प्रकार बतलाते हैं। उनका विवरण विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जाता।

१—वाचिक जपसे इहलोकके भोगोंकी प्राप्ति।

२—उपांशु-जपसे स्वर्गलोककी प्राप्ति, तथा—

३—*मानस जपसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा इनका फल कहा गया है। इस विवेचनमें मानस-जपको उच्चारण-भेदके ही अन्तर्गत रक्खा गया है। परन्तु शास्त्रमें—*

'मानसो मनसा कार्यो मन्त्रवाक्यार्थचिन्तया।'

—उसका ऐसा लक्षण अथवा स्वरूप कहा गया है। और उसका अर्थ 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' अर्थात् अर्थभावना-युक्त जप करना है। परन्तु अर्थका ध्यान करते हुए यदि वाचिक और उपांशु पद्धतिसे भी जप किया जाय तो उसमें कोई हर्ज नहीं होता। अर्थका विचार किये बिना भी केवल अक्षरोंका उच्चारण ओठ और जीभको न हिलाये हुए मनद्वारा किया जा सकता है। यह सब बातें बुद्धि-के संकल्पपर स्थित हैं। क्योंकि 'बुद्धि तत्त्व मानस तत्त्वकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। मनपर अधिकार जमाये रखनेकी शक्ति बुद्धिमें है। मनसे केवल उच्चारण करानेका संकल्प यदि बुद्धि करती हो तो मन उतना ही काम कर सकेगा, अधिक नहीं कर सकता। इसलिये ऊपर उच्चारणके त्रिविध भेदोंमें ही हमने मानस-जपका समावेश किया है। इसे पाठकों-को ध्यानमें रखना चाहिये।

स्मरणके प्रकारोंको बतलाते समय मनके कार्योंका वर्णन स्वाभाविक ही हो जाता है। पहले इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि 'वाणी' कर्मेन्द्रियोंमेंसे एक इन्द्रिय है और 'मन' अन्तःकरणमेंसे एक करण है। यह बात ध्यानमें रखने तथा कर्मेन्द्रियोंकी अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरण चतुष्टय श्रेष्ठ हैं, यह जाननेपर यह बात सहज ही ध्यानमें आ जा सकती है कि मनको ग्यारहवाँ इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंका राजा क्यों कहा जाता है। परन्तु मन अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ बुद्धि-तत्त्वके अधीन रहे तो वह अद्भुत उच्चतम कार्य कर सकता है, वैसा न करके यदि वह इन्द्रियोंके अधीन रहेगा, अपने अधिकारोंको भूलकर इन्द्रियोंका गुलाम बनेगा, इन्द्रियोंके इशारेपर नाचेगा, तो वह जीवको अधोगतिकी ओर ले जायगा। इस मर्मको ध्यानमें रखते हुए ही साधकोंको चाहिये कि मनको श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा शुद्ध हुई बुद्धिके अधीन कर दे, इससे वही मन साधकको मोक्ष प्रदान करा सकता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इसका यही अभिप्राय है।

'उच्चारण' वाणीका काम तथा 'स्मरण' मनका काम है, यह बात ऊपर अनेकों बार कही जा चुकी है, अतः यह कहनेकी अब आवश्यकता नहीं है कि केवल उच्चारणकी अपेक्षा स्मरण श्रेष्ठ है। परन्तु, उस स्मरणका स्वरूप क्या है, इस बातको बतलाये बिना यह विषय पूर्ण नहीं हो सकता। अतः इस विषयमें संक्षेपसे कुछ कहा जाता है। जिस पदार्थ अथवा विषयको हम पहले देखे या सुने हुए होते हैं उसीका स्मरण हो सकता है। अश्रुत, अदृष्ट अथवा अनुभवहीन विषयका स्मरण हो ही नहीं सकता है। इस स्मरणमें शब्दोच्चारण कभी हो सकता है और कभी नहीं भी हो सकता है। किसी विद्वान्के सुने हुए व्याख्यानका स्मरण होता है तब उसमें मानसिक शब्दोच्चारण हो सकता है, परन्तु कल खाये हुए पदार्थका, मिले हुए मित्रोंका अथवा मृत स्त्रीका जब स्मरण होता है तब उसमें शब्दोच्चारण नहीं होता। मनमें केवल भावका उदय होता है अर्थात् मन वैसा आकार धारण करता जाता है।

उसी प्रकार नाम स्मरण करते समय शब्दके साथ साथ भावोंका चिन्तन करना ही यथार्थ नाम-स्मरण है। ऐसा न होनेसे केवल 'नामोच्चारण' होगा। उदाहरणार्थ, आम कहते ही हमारी भावना आमके आकारकी हो जाती है, मेढकके आकारकी नहीं होती। मेढक कहते हमारी भावना मेढकाकार होती है, मोदरके आकारकी नहीं होती। लो० तिलक कहनेपर हमारे मनश्चक्षुके सामने पञ्चम जार्ज नहीं खड़े हो जाते। पञ्चम जार्जका नाम लेनेपर हमारे सामने महात्मा गाँधी नहीं दीखते। अर्थात् जिसका *नाम लिया*

जाता है उसका स्वरूप आँखों (मनश्चक्षु) के सामने खड़ा होना चाहिये; तभी वह नाम लेना सार्थक होगा। अतः जिसका नाम लेना हो उसका स्वरूप स्वयं देखकर अथवा सुनकर जान लेना होगा, तभी नामके साथ नामीका स्वरूप आँखोंके सामने दीखने लगेगा और तभी वह 'नामस्मरण' होगा एवं शास्त्रोंके द्वारा अथवा सन्तोंके मुखसे भगवान्‌के स्वरूपका जैसा ज्ञान हमें प्राप्त हुआ होगा वैसा ही नामके साथ-साथ नामीका स्वरूप हमारी आँखोंके सामने आने लगेगा।

१-अधिकारानुसार यदि किसीको नामके साथ-साथ नामीका निर्गुण सच्चिदानन्द, प्रत्यगात्मरूप भासने लगेगा, तो दूसरेको—

२-नामके साथ-साथ तत्प्रिय सगुणरूप दिखलायी देगा। और तीसरेको—

३-नामके साथ-साथ सगुण अथवा निर्गुण स्वरूपका स्फुरण न होकर भोले भावसे केवल नामकी ध्वनि ही श्रुति-गोचर और भावगोचर होगी। तात्पर्य यह है कि नामस्मरण-रूप साधनामें लगनेके पूर्व नामीके स्वरूपके (अपने अधिकार तथा बुद्धिकी योग्यताके अनुसार) किसी भी एक भावको सिद्ध करके नाम-स्मरणके साथ-साथ उस भावके चिन्तनका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसप्रकार नामसाधन करते समय परधन, परस्त्री आदि बाह्य विघ्न, तथा लय और विक्षेप आदि आन्तर विघ्न बाधा न डालें, इसके लिये सावधान रहना चाहिये। नामके साथ सिद्ध किये हुए नामीका भाव चित्तमें स्थिर न हो तो फिर नामकी ही अनन्यभावसे शरण लेनी चाहिये। श्वासके साथ अथवा सत्संगके साथ अथवा दोनोंके साथ नाम-जप हो तो साधकके निश्चयके अनुसार नामी अर्थात् भगवान् उसके सब विघ्नोंको दूर करके उसके अन्तःकरणमें अपने निजानन्द स्वरूपको प्रकट करेंगे और उसे अपनी पराभक्ति देकर कृतार्थ करेंगे।

नामरूपी दीनदयालु भगवान् पाठक और लेखकको वैसी सुबुद्धि देकर उनका 'आत्यन्तिक कल्याण' करें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमो नामप्रकाशिने।
नमोऽस्तु नामसाध्याय नमस्ते नामयोगिने॥
नमोऽस्तु नामभाग्याय नमस्ते नाममन्त्रिणे।
नमोऽस्तु नामधन्याय नमस्ते नामशान्तये॥
नमोऽस्तु नामभोग्याय नमो नामप्रतापिने।
नमोऽस्तु नामसेव्याय नमो नामविभाविने॥

ईश्वर-स्तवन

(लेखक—श्रीकृष्णलालजी विशारद 'हंस')

जय जय जय विश्वेश ;
अविरल अविचल शुचितम गुरुतर जयति रमेश ॥ जय० ॥
अज अखण्ड अधिपति अविनासी,
परम प्रबल बल विश्व-विलासी ;
जय जगवन्दन, आनँदकंदन, दुष्टनिकंदन, जय देवेश।
जय कमलेश ;
भक्त-हृदय-सरसिज-हित दिनमणि जय निखिलेश ॥ जय० ॥
नारायण निर्गुण गुण-गण-रति,
जीवन जगदाधार विश्वपति ;
करुणासागर, जगतउजागर, शुभगुण-आगर, जय प्राणेश।
जय परमेश ;
निर्विकार, निर्लेप विश्वधन, जय करुणेश ॥ जय० ॥

प्रच्छन्न नास्तिकताका विस्तार

(लेखक—चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा)

कल्याणके सम्पादक भी विलक्षण खोपड़ीके [illegible] है 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' निकालनेकी ! बलिहारी है इनकी इस अजीब सूझकी ! क्या विशेष अङ्क निकालनेको और कोई विषय नहीं सूझा ? इनको तो आजसे कई सौ वर्षों पूर्व इस धराधामपर अवतीर्ण होना था, न कि इस नवीन सभ्यताके चौंधिया देनेवाले ज़मानेमें । ये इन दकियानूसी विचारोंका प्रचार-कर, क्यों देशकी उन्नतिको सैकड़ों वर्षों पीछे टाँग पकड़कर खींच रहे हैं ?

अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है कि प्रयागके 'लीडर' नामक दैनिक पत्रमें किसी अङ्गरेजी अखबारकी एक कतरन उद्धृत की गयी थी । उसमें लिखा था कि 'रूस देशकी सोवियट सरकारने सरकारी स्कूलोंमें पढ़नेवाले बच्चोंके लिये जो नयी पाठ्य पुस्तकें लिखवायी हैं, उनमें पहला पाठ ईश्वरके अनस्तित्वपर है । पाठमें लिखा है—'अकर्मण्य, परवञ्चक और स्वार्थी लोगोंने अपना उल्लू सीधा करनेको ईश्वर नामकी एक वस्तु-विशेषकी कल्पनाकर सारे संसार-को धोखेमें डाल रक्खा है । असलमें ईश्वर कोई चीज ही नहीं है ।' ऐसे भावोंसे पूर्ण पुस्तकें बच्चोंको पढ़वा, रूस देशकी सोवियट सरकार अपने राज्यके भावी नागरिकोंके मनसे ईश्वरका अस्तित्व लोप करनेपर तुली हुई है । इतना ही नहीं—लेखकका कहना है कि रूसराज्यमें बसनेवाले आस्तिक जरमन किसानोंपर इसलिये बड़े-बड़े अत्याचार किये जा रहे हैं कि जिससे वे ईश्वरकी चर्चा और उसपर विश्वास करना त्याग दें । जो आस्तिक एवं ईश्वर-निष्ठ जरमन सोवियट सरकारकी इस आज्ञाकी अवज्ञा करते हैं, कहा जाता है, वे साइबीरियाको भेज दिये जाते हैं और वहाँ वे अति शीघ्र काल-कवलित हो, अपना अस्तित्व मिटा देते हैं ।

हमारे देशके एक प्रधान राष्ट्रीय नेता भी अपने एक भाषणमें अपने आपको Anti-God घोषित कर चुके हैं । अतः अब वह दिन दूर नहीं है, जब इस देशकी शासन-लगाम ऐसे लोगोंके हाथ आते ही, ये उन्नति-कामी नेता, इस देशमें भी सोवियट सरकारकी उक्त नीतिका अनुकरण कर, ईश्वरके विरुद्ध एजिटेशन खड़ा करेंगे, जिससे यह देश बात-की-बातमें उन्नतिके शिखरपर चढ़ा हुआ देख पड़ने लगेगा ।

देखनेमें आता है कि इस देशमें भी ईश्वरके विरुद्ध आन्दोलनका श्रीगणेश तो हो ही चुका है । लोग कहते तो हैं कि ईश्वर है और वह सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी और सर्वद्रष्टा भी है; पर व्यवहार्यतः वे ऐसा मानते नहीं ।

ईश्वरके बारेमें लोग जैसा कहा करते हैं, यदि वैसा ही मानते भी होते और तदनुसार चला भी करते तो संसारमें न तो कहीं पुलिसका नामोनिशान देख पड़ता, न कोई राज्य फौज-प्यादा ही रखता और न वकील-मुख्तयारोंका कोई नाम सुनता । क्योंकि अब लोग ईश्वरको सचमुच सर्वव्यापी मानते, तो अपराध कहाँ करते ? लोगों-की आँख बचा चोर, उठाईगीरे, गिरहकट क्यों अपनी दुःखदायिनी करतूतोंसे लोगोंको विरक्त करते ? इस धरा-धामपर अपराधोंकी संख्या शून्य होती । यदि यथार्थत ईश्वर सर्वव्यापी माना जाता तो ढोंगी लोग क्यों सात कोठोंके भीतर बैठ, पापकर्म करते ? यदि ईश्वरको लोग सचमुच सर्वव्यापी मानते होते, तो क्यों बेईमान, कृतघ्नी और विश्वासघातक जन, भलेमानसोंको सताते और उनका सर्वस्व हड़प जनताको विक्षुब्ध करते ? यदि ईश्वर वास्तवमें सर्वव्यापी समझा गया होता, तो हेमाद्रि आदि बड़े-बड़े प्रायश्चित्त-विधायक पोथोंकी सृष्टि क्यों की जाती ? यदि लोग जैसा ज़बानसे कहते हैं, वैसा ही समझते और करते होते, तो भारतवर्षमें ताज़ीरात-हिन्दका पुनीत प्रादुर्भाव क्यों होता ? यदि लोग ईश्वरको सर्वव्यापी मान संसार-यात्रामें प्रवृत्त होते, तो वैदिकोंके सन्ध्योपासनमें आघमर्षण-मन्त्रकी आवश्यकता ही क्या थी ? ईसाइयोंको क्यों रात-दिन अपराधोंको क्षमा करानेकी चिन्तामें डूबना पड़ता, मुसलमान क्यों तोबाः तोबाः का चीत्कार करते ?

हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा और सर्वान्तर्यामी है कि नहीं ? प्रश्न तो यह है कि जो लोग ईश्वरको उक्त गुणोंसे सम्पन्न मानते हैं, वे स्वयं अपने मतानुकूल आचरण भी करते हैं कि नहीं ?

नित्य देखनेमें तो यह आता है कि ईश्वरको उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न मानकर भी कार्यतः वे उक्त गुणोंका केवल खण्डन ही नहीं कर रहे हैं प्रत्युत वे तो ईश्वरके अस्तित्व तकको मेट रहे हैं। हमारी समझमें तो ऐसे लोगोंसे वे लोग कहीं दृढ़ विचारवाले हैं जो बक़ौल उर्दू भाषाके एक शायरकी इस उक्तिके—

पिये मैं आशकारा हमको किसकी साक़िया चोरी।
ख़ुदाकी गर नहीं चोरी तो फिर बंदेकी क्या चोरी॥

अर्थात् हम हर काम खुल्लंखुल्ला करेंगे, समाज भले ही हमारे कामोंको बुरा ही क्यों न समझे। जब हमें ईश्वरहीका डर नहीं है तो फिर हम उसके बन्दे यानी इन्सानसे क्यों डरने लगे ?—अनुसार व्यवहार करते हैं।

यद्यपि इनका यह कथन ईश्वरकी गवर्नमेण्टके प्रति एक प्रकारका 'सिविल-डिसओविडियेंस' है, तथापि इसमें दम्भ, पाखण्डका लेश न होनेसे यह नफरतकी चीज़ नहीं है। हाँ, यह उदण्डता और बेहयायी अवश्य है।

ईश्वरके सर्वसाक्षित्वको माननेवाले लोग, जब जान-बूझकर जीती मक्खी निगल जाते हैं, होड़ वद-वदकर सर्वथा मिथ्या भाषण करते लज्जित नहीं होते और 'राम-राम जपना पराया माल अपना' बनानेको, नाना प्रकारके दन्द-फन्द रचते रहते हैं, जब लोग अपने उपकार-कर्त्ताका भी अनिष्ट करते नहीं लजाते, जब ऐसे लोग वड़े-बूढ़ोंकी पगड़ी-पर हाथ लपकाते भी नहीं हिचकते, जब अदालतमें जा और 'ख़ुदाको नाज़िर हाज़िर' कह, झूठके सिवा एक शब्द भी सच्चा नहीं बोलते, जब इस पापी पेटमें रोटीके दो टुकड़े डालनेवालेके कहनेसे लोग बड़े-बड़े आवरूदारों-को बेआवरू कर डालते हैं, जब दो-चार रुपये पानेकी आशामात्रसे लोग दुष्टातिदुष्टकी प्रशंसाकर, उसे इन्द्रासन-पर बैठनेयोग्य बतला देते हैं; तब कहना पड़ता है कि ऐसे आस्तिकोंसे, वे नास्तिक लाख दर्जे अच्छे हैं, जो किसी निजमान्य सिद्धान्तपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ तो हैं।

भले ही कोई ईश्वर-भक्त बननेका ढकोसला बना ले, पर यदि वह तीस रुपये मनकी दरसे चरबी ख़रीद और उसे विशुद्ध घीमें मिला, उसको पचहत्तर रुपये मनकी दरसे बिक्री करता है, तो उसे हम कभी भी ईश्वरको सर्वद्रष्टा अथवा सर्व-कर्म-साक्षी माननेवाला नहीं कहेंगे। जो अपने-को बड़ा पण्डित बताता है और लेकर देना नहीं जानता वल्कि 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' के हेय सिद्धान्तपर रात-दिन चलता है, उसे हम कभी ईश्वर माननेवाला आस्तिक नहीं कहेंगे। हमारी समझमें तो ऐसे लोगोंका ईश्वरका नाम लेना, ईश्वरके प्रति असम्मान प्रदर्शित करना है।

जब तीन चौथियाईसे अधिक संसारकी जन-संख्या ईश्वरको और उसके सर्वान्तर्यामित्वको मानती है, तब भी संसारमें पापोंकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि होना क्या सिद्ध करता है ? यही न कि इस संसारमें सच्चे आस्तिकोंकी अपेक्षा प्रच्छन्न नास्तिकोंकी संख्या सर्वाधिक है। यही कारण है कि आज इस संसारमें सर्वत्र अशान्ति, दारिद्र्य, चिन्ता, रोग, शोकादिका अटल साम्राज्य जमा हुआ है। फिर जिन जनोंके मनमें रात-दिन क्रोधादि छः विकट शत्रु अखाड़ा जमाये हुए हैं, वे क्या इस योग्य हैं कि उस न्यायी, दयालु और भक्त-वत्सल ईश्वरका पवित्र नाम अपनी पाप-कुलषित जिह्वा-से लें ?

वेद, दर्शन, इतिहास और पुराण चिल्ला-चिल्लाकर ईश्वरके अस्तित्वकी घोषणा कर रहे हैं। यही क्यों—साक्षात् ईश्वर अपने अस्तित्वको स्वयं ही कितनी वार प्रत्यक्ष हो प्रमाणित कर चुके हैं। तब भी सृष्टिकी आदिसे आजतक, अधिकतर सांसारिक जीवोंकी प्रवृत्तिमें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ा। विवेकशील-जनोंके निकट तो ईश्वरका अस्तित्व तभी चरितार्थ समझा जावेगा जब संसारमें पापोंकी संख्या-में कमी हो। 'कल्याण'के मालिकोंका ईश्वरांक निकालना भी तभी सार्थक होगा, जब ईश्वरके माननेवाले परस्पर शान्ति और सौहार्द्रसे रहने लगेंगे एवं पाप-कर्मोंसे विरत हो प्राणि-मात्रके लिये सुखदायी सिद्ध होंगे।

श्रीहरि अरु हरि-भगतिमें जिहि मन नहिं अनुराग।
सो अति पामर पापमय पुण्यहीन हतभाग॥

जीवात्माकी परमात्माके लिये पुकार

(लेखक—श्रीयुक्त जे० टी० सन्डरलैण्ड डी० डी०)

मेरा हृदय परमात्माको, अरे, सगुण परमात्माको पुकारता है।*—Old Testament.

जो जीव संसारमें परमात्माके आश्रयसे विहीन होता है उसकी असहाय अवस्था नीरस ही नहीं, एक प्रकारसे भयानक होती है। †—Emerson.

जीवात्माकी ईश्वरके लिये पुकार जैसी मर्मस्पर्शी, करुण एवं अतृप्त होती है, वैसी और कोई भी प्रार्थना नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस क्षण मनुष्यकी इस जगत्‌में सृष्टि हुई, उसी क्षण उसके अन्तरसे यह पुकार भी प्रारम्भ हो गयी। सृष्टिमें जबसे हमें मनुष्य-जातिका इतिहास उपलब्ध होता है तबसे बराबर यह पुकार जारी है और जबतक मनुष्यका अस्तित्व इस संसारमें रहेगा, तबतक इसके बन्द होनेका भी कोई कारण प्रतीत नहीं होता। संसारके समस्त उपासनाभवन, देवमन्दिर, मतमतान्तर एवं दर्शनशास्त्र इसी 'पुकार'को अभिव्यक्त करते हैं; संसारके काव्य, कला एवं संगीतका प्रादुर्भाव इसीसे होता है और मेरा ऐसा विश्वास है कि आगे चलकर विज्ञानका वास्तविक अभिप्राय भी यही सिद्ध होगा।

जिसप्रकार बालककी जन्मसे ही यह प्रवृत्ति होती है कि वह भूख लगनेपर हठात् माताके स्तनोंकी ओर दौड़ता है और जबतक उसे वे प्राप्त नहीं हो जाते तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसप्रकार पञ्जरबद्ध पक्षी पिंजरेके अन्दर छटपटाने लगता है और उसे तभी चैन मिलता है जब वह उससे छूटकर खुली हवामें उड़ने लगता है; जिसप्रकार मनुष्यके नेत्र प्रकाशके लिये सदा तड़फड़ाते हैं, मनुष्यकी बुद्धि सत्यकी उपलब्धिके लिये अधीर हो उठती है और मनुष्यका हृदय प्रेमवारिकी पिपासासे व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार यदि मनुष्यकी आत्मा अपने दौर्बल्य, अज्ञान एवं अपूर्णताके कारण व्याकुल हो उठती है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। उसकी दुर्बलता उसे इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अपनेसे अधिक बलके लिये पुकार उठे, उसका अज्ञान उसे इस बातके लिये बाध्य करता है कि वह अपनेसे अधिक ज्ञानके लिये चिल्ला उठे, उसकी अपूर्णता उसे पूर्णताका आह्वान करनेको बाध्य करती है और जबतक ये तीनों चीजें मनुष्यको नहीं मिल जातीं तबतक उसे शान्ति अथवा सुख नहीं मिल सकता। स्मरण रखना चाहिये कि ये तीनों ईश्वरसे अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकतीं।

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यके पूजागृहों, देवालयों तथा धर्मोपदेशोंके द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती हो सो बात नहीं है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम अपने दर्शन-शास्त्रों, काव्य, कला एवं विज्ञानको पहलेकी अपेक्षा अधिक समझना सीखेंगे, त्यों-ही-त्यों हमें इनके मूलमें भी यही भाव दिखायी देगा।

मनुष्यकी बुद्धि स्वभावसे ही इस बातकी इच्छा करती है कि प्रकृतिमें भी उसे कोई ऐसी प्रज्ञाशक्ति मिले जो उसके प्रश्नोंका उत्तर दे सके, कोई ऐसी चैतन्य शक्ति उपलब्ध हो जिसका सारी वस्तुओंपर शासन हो, जो सबमें व्याप्त हो और जिससे सारी बातोंका कारण समझमें आ जाय। विश्व चेतनारहित अथवा निष्प्रयोजन है यह भाव मनुष्यको अत्यन्त अरुचिकर है। मनुष्यकी बुद्धिके लिये विश्वके अन्दर विवेक एवं प्रयोजनको ढूँढ़ना एक प्रकारसे ईश्वरको पुकारना है, क्योंकि अनन्त बुद्धि अथवा चेतन ज्ञानका नाम ही ईश्वर है।

मनुष्यकी बुद्धि इसप्रकारकी बनी हुई है कि वह सर्वत्र व्यवस्था एवं समन्वयको ढूँढ़ती है, वह अव्यवस्थाको सह नहीं सकती। कुछ लोगोंका कहना है कि वर्गीकरण अर्थात् वस्तुओंको व्यवस्थासे रखनेका नाम ही ज्ञान है। सादृश्य एवं वैसादृश्यको पहचाननेसे अवयवोंको मिलाकर सुसंगठितरूपमें रखनेसे, अनेकताओंमें एकताको ढूँढ़नेमें ही हमें ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विज्ञानोंका विकास इसी प्रकार होता है। उदाहरणके लिये, वनस्पति-जगत्‌के तथ्योंको क्रमबद्ध रीतिसे रखनेका ही नाम तो वनस्पति-विज्ञान है, उद्भिज्ज-जीवनका अनेकताओंके मूलमें रहनेवाली

---

*'My heart crieth out for God, yea, for the living God.'

†'Unlovely, nay, almost frightful, is the solitude of the soul which is without God in the world.'

भक्त-रक्षण



द्रौपदी

खैंचत खैंचत दोउ भुज थाके दुःशासन पचि हारी ॥

एकताका पता लगाना तथा वर्णन करना ही इस शास्त्रका काम है। यही हाल अन्य विज्ञानोंका है। पृथ्वीकी चट्टानों तथा आकाशके नक्षत्रों एवं ग्रहोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें मालूम हुईं उनपर काफी प्रकाश डाले जानेपर तथा उनके अन्दरकी व्यवस्था और सामञ्जस्यका ज्ञान होनेपर ही भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रकी उत्पत्ति हुई। अतः विज्ञानका कार्य सर्वत्र अव्यवस्थामें व्यवस्था तथा अनेकतामें एकताका पता लगाना है। इसप्रकारकी चेष्टा करना मनुष्यकी बुद्धिका स्वाभाविक गुण है। बुद्धि सर्वदा व्यवस्थाके लिये व्याकुल रहती है, वह एकताको ढूँढ़ती रहती है।

सृष्टिके एक छोटे-से अंशमें ही व्यवस्था एवं समन्वयको ढूँढ़ लेनेसे उसे सन्तोष नहीं होता। वह उसे सर्वत्र उपलब्ध करना चाहती है। वनस्पति-विज्ञान, भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रसे अखिल विश्वके रहस्योंका ज्ञान नहीं होता। क्या सारी प्रकृतिके अन्दर व्यवस्था ओत-प्रोत नहीं है? क्या उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंको संघटित करनेवाली कोई एक महान् सत्ता नहीं है? बुद्धि उसीको ढूँढ़ती है और जबतक उसे यह उत्तर नहीं मिलता कि हाँ, इसप्रकारकी सर्वोपरि व्यवस्था एवं सर्वोपरि एकता अवश्य है, तबतक उसे कल नहीं पड़ती।

यदि वैज्ञानिक बुद्धिने अपने दुर्दमनीय स्वभावकी प्रेरणासे सारे विश्वमें एक व्यवस्थाके ऊपर दूसरी व्यवस्थाका और एक एकताके पीछे दूसरी एकताका पता लगाकर ही छोड़ा एवं विश्वके अन्दर एक सर्वोच्च एवं परात्पर एकताको उपलब्ध करके ही विश्राम लिया तो इसमें क्या नयी बात हुई? उसने अपनी दिशासे उसी पर्वत-शिखरका आरोहण किया जिसपर दर्शन-शास्त्र एवं धर्म, मनुष्यकी आत्माके अन्दर रहनेवाली इसी प्रकारकी प्रेरणाके वशीभूत होकर प्रारम्भसे ही अपनी-अपनी दिशासे आरूढ़ होते रहे हैं। दर्शन, धर्म एवं विज्ञान ये सभी अव्यवस्थासे व्यवस्थाकी ओर, अनेकतासे एकताकी ओर ही अग्रसर होते रहे हैं। दर्शन-शास्त्रोंमें निरूपित उपादानकारणकी कल्पनाका ठीक यही भाव है। धर्मने जो एक सृष्टिकर्ता तथा प्रत्येक जीवके पुण्यापुण्यके निर्णेताकी कल्पना की है, उसका भी यही अभिप्राय है। जिसप्रकार आधिभौतिक जगत्‌में मनुष्यकी बुद्धि एकताको ढूँढ़ती है और उसे प्राप्त किये बिना विश्राम नहीं लेती, इसी प्रकार मानसिक एवं नैतिक जगत्‌में भी मनुष्यकी बुद्धि एकताको ठीक उतनी ही लगनके साथ ढूँढ़ती रहती है। 'ईश्वर एक, अपरिच्छिन्न, नित्य एवं सर्वोपरि है' इस कथनसे हमारा तात्पर्य उस महान् त्रिविध शक्तिकी एकता, ज्ञानकी एकता एवं उपकारकी एकताको परम एकता संकेतित करना है, जिसे हम आधिभौतिक, मानसिक एवं नैतिक इन तीनों मार्गोंसे आगे बढ़नेपर शिखरपर पाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यकी आत्माके अन्दर जो व्यवस्था एवं एकताकी अतिरिक्त और अटूट इच्छा है वह इस बातकी द्योतक है कि सबके ऊपर शासन करनेवाली एक सत्ताको, सबको विषय करनेवाले एक ज्ञानको, सारे ब्रह्माण्डोंके लिये हितकर एक आयोजनाको अर्थात् इस भौतिक जगत्‌के साथ ही एक नैतिक जगत्‌की सत्ताको, एक दूरवर्ती दिव्य कार्यको, जिसकी ओर सारी सृष्टि अग्रसर हो रही है, माननेसे ही उसे शान्ति मिल सकती है।

बुद्धि समन्वयको ढूँढ़ती है, इससे भी हमारी समझमें यही बात ध्वनित होती है। सबसे निम्न-कोटिकी एकस्वरता नादकी एकस्वरता है जो निरी भौतिक है; इसप्रकारके स्वरोंके संवादसे अपने ही ढंगका आनन्द मिलता है, किन्तु हम शीघ्र ही आगे बढ़कर इनसे भी सूक्ष्म संवादों अर्थात् नादके साथ हृद्गत भावों एवं विचारोंके सामञ्जस्यको देखने लगते हैं। इसके अनन्तर उन संवादोंको भी देख पाते हैं जो स्वरों एवं अन्य सारी भौतिक वस्तुओंसे परेके होते हैं। बड़े-बड़े संगीतविशारदोंकी पद-रचनामें शीघ्र ही वह स्थल आ जाता है जहाँ उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि उनके वाद्य उनके भावोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं, वहाँ ध्वनिकी शक्तिका अन्त हो जाता है, और तब उनकी यह उत्कट इच्छा होती है कि वे भौतिक जगत्‌के बन्धनोंको तोड़कर आध्यात्मिक जगत्‌की सैर करें, जहाँ कोई बन्धन नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वे भौतिक संवाद, जो हाथोंसे अथवा वाणीसे उत्पन्न हो सकते हैं, उन उच्चतर संवादोंके संकेतमात्र हैं जिनका अनुभव आत्माको होता है। किन्तु जब वे लोग इन भावोंको व्यक्त करनेकी अथवा उनके साथ शब्दोंकी योजना करनेकी चेष्टा करते हैं, तब उन शब्दोंका स्वरूप कैसा होता है? स्वभावसे ही वे शब्द धर्म, आदर एवं पूजाके शब्द होते हैं। आत्माके ये भाव इतने तीव्र होते हैं कि सर्वोच्च एकस्वरताकी पुकार

वास्तवमें ईश्वरकी पुकार होती है, सब प्रकारसे पूर्ण जीवन एवं पूर्ण प्रेमकी पुकार होती है, जिसके अन्दर आत्माकी सारी अपूर्णताएँ और भिन्नस्वरताएँ पूर्ण हो जाती हैं।

इससे यह बात समझमें आ जाती है कि सङ्गीतका धर्मके साथ जो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है वह काकतालीय-न्यायवत् यदृच्छाप्रयुक्त नहीं है। आत्माकी एकस्वरताका स्वरूप प्रेम एवं पूजा है। जब आत्मा मनुष्य-जीवनमें एकस्वरताके लिये व्याकुल होती है, उस समय उसके अन्दर मनुष्य-जातिके प्रति प्रेम एवं पूजाका भाव उत्कटरूपसे जागृत हो उठता है। पूर्ण मनुष्य-प्रेम एक मनुष्यकी आत्माके दूसरे मनुष्यकी आत्माके साथ पूर्ण एकस्वरताका नाम है। पूर्ण उपासना जीवात्मा एवं परमात्माके बीच पूर्ण एकस्वरताको कहते हैं। इसी प्रकार जीवात्माकी एकस्वरताके लिये जो तीव्र उत्कण्ठा होती है, वह पूर्ण एवं असीम प्रेमकी ही पुकार होती है। वह पूर्ण एवं असीम प्रेम परमात्माका ही तो स्वरूप है।

इसी प्रकार मनुष्यके अन्दर सौन्दर्यकी स्वाभाविक लालसा है। पृथ्वीके महान्-से-महान् सौन्दर्यसे भी जो उसकी तृप्ति नहीं होती, इससे भी जीवात्मा एवं परमात्माके महान्-से-महान् भौतिक सम्बन्धका पता लगता है। उसकी सौन्दर्याभिलाषा शीघ्र ही भौतिक सौन्दर्यसे आगे बढ़कर मानसिक एवं नैतिक सौन्दर्यकी ओर झुक जाती है, जो भौतिक सौन्दर्यसे कहीं ऊँचा है। उसे सदा उस आदर्शका ध्यान बना रहता है, उसके साथ उसका प्रेम हो जाता है और उसका ध्यान आते ही वह आनन्दसे उल्लसित हो उठता है। वह आदर्श उसे इस पृथ्वीपर प्राप्त नहीं होता; उसकी पूर्ति, उस सौन्दर्य एवं पूर्णताकी सीमा—परमात्मामें ही होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यकी सौन्दर्याभिलाषा, जो पूर्णसे न्यून किसी भी वस्तुसे तृप्त नहीं हो सकती, वास्तवमें जीवात्माकी परमात्माके लिये पुकार ही है।

मनुष्यकी सत्याभिलाषा भी इसी बातको सिद्ध करती है। मनुष्यकी आत्मा इस ढंगकी है कि उसे असत्य अथवा मिथ्यासे कभी शान्ति नहीं मिल सकती, उसे सत्य या वास्तविकताकी ही चाह रहती है। वह इस सत्यको एक ही स्थानपर अथवा बाह्य आवरणमें ही नहीं, किन्तु सर्वत्र एवं मुख्यतया वस्तुओंके अन्तस्तलमें खोजती है। सत्य-शुद्ध, नित्य एवं ध्रुव सत्यको इस विश्वका आधार समझकर वह उसके लिये ऐसी विह्वलतापूर्ण पुकार करती है, जो मने करनेपर भी शान्त नहीं होती। क्या ईश्वरसे अन्यत्र इसप्रकारका सत्य उपलब्ध हो सकता है?

प्रत्येक वस्तुके मूलमें औचित्य एवं न्यायकी उपलब्धिके लिये—उस औचित्यकी उपलब्धिके लिये जो निर्विकार एवं शाश्वत है—जीवात्माकी जो पुकार होती है, वह भी ईश्वरकी ही पुकार है। मनुष्यको इस शंकासे ही असह्य वेदना होती है कि संसारका यह महान् विधान कदाचित् न्यायसे पूर्ण न हो और कदाचित् इस विश्वमें अन्यायका विजय और न्यायका पराजय होता हो। मनुष्यकी जो विवेकमय एवं उच्चतम वृत्तियाँ हैं, वे इस विचारको सह नहीं सकतीं और उसकी अन्तरात्मा बोल उठती है कि ऐसा नहीं हो सकता। जगत्‌के सञ्चालनमें हमें जहाँ त्रुटियाँ एवं दोष दिखायी देते हैं, जहाँ खुलेआम अन्यायकी विजय होती हुई दीख पड़ती है, जहाँ पापके कारण अन्धकार-ही-अन्धकार दृष्टिगोचर होता है और जहाँ आलोकका आभास भी नहीं मिलता, वहीं हमारे अन्तरसे एक ऐसी आवाज़ निकलती है जो दूसरी सारी आवाज़ोंसे कहीं गहरी होती है। वह हमें कहती है कि इस शंकाका कोई समाधान अवश्य होना चाहिये, कोई ऐसी सर्वोपरि सत्ता अवश्य होनी चाहिये, जिसपर हम भरोसा कर सकें।

यह वाणी हमारे हृदयमें साक्षीरूपसे निवास करनेवाले ईश्वरकी ही तो वाणी है! सेण्ट ऑगस्टाइन (St. Augustine) के शब्दोंमें यह वाणी परमात्माको खोजनेवाली उस आत्माका ही स्वरूप है जिसे परमात्माका आश्रय मिले बिना कल नहीं पड़ती। इसप्रकार जब वह विवेकपूर्वक ईश्वरका आश्रय ग्रहणकर यह समझने लगती है कि चाहे जो कुछ भी हो, इस अखिल विश्वके नियन्ताका विधान न्यायपूर्ण ही होगा, तब उसे अत्यन्त ही महान् एवं अनिर्वचनीय शान्ति मिलती है।

मनुष्य जबसे होश सँभालता है और अपनी बुद्धिका उपयोग करने लगता है, तबसे लेकर मृत्युपर्यन्त उसकी आत्मा स्वभावसे ही किसी एक ऐसी वस्तुके लिये पुकारती रहती है जो उससे ऊँची हो, अधिक शक्तिशाली हो, एवं पूर्ण हो, जो उसके दिनका प्रकाश हो, उसके जीवनका आधार हो, समस्त अनित्य पदार्थोंमें नित्यरूपसे रहनेवाली हो और उनके आदर्शोंका स्पष्टीकरण करनेवाली हो, जो सारी

विषमताओं और अनेकताओंके अन्तरमें असीम एकता एवं समन्वयके रूपमें रहती हो और जिसको पाकर वह आप्त-काम हो जाय। आत्माकी इस पुकारके कुछ प्रकार हम ऊपर बता चुके हैं।

हममेंसे जो लोग ईश्वरके साथ हमारे सम्बन्धके विषयमें अथवा उसपर हमारी निर्भरताके सम्बन्धमें अवज्ञात्मक बात कहते हैं, उन्हें उत्तर देनेके लिये हम जो कुछ ऊपर कह आये हैं, पर्याप्त है। हममेंसे कुछ अविवेकी लोग कभी-कभी कह दिया करते हैं कि 'ज्यों-ज्यों संसार उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता जायगा, त्यों-ही-त्यों हमें ईश्वरके अवलम्बकी आवश्यकता नहीं रहेगी।' उपर्युक्त विवेचनसे उनका भी समाधान हो सकेगा।

क्या लोग हमारी ईश्वर-निर्भरताकी दिल्लगी उड़ाते हैं? क्या अब हमें अपनेसे बड़ोंकी सहायताकी आवश्यकता नहीं रही? हा शोक! इसप्रकारकी कल्पना करनेवाले हम कौन होते हैं? क्या इस जीवका, अपने रचयिता ईश्वरके विना कभी काम चल सकता है?

हाँ, यदि हम चाहे जब और चाहे जिस योनिमें जन्म ले सकें, अथवा मनमाने समयतक प्राणोंको रख सकें, यदि हम जब चाहें तब उषाकाल अथवा रात्रिका आह्वान कर सकें; यह सब तो दूर रहा, यदि हम एक तिनकेको भी विना साधनके उत्पन्न कर सकें, अथवा अधिक नहीं, केवल एक घण्टेतक ही यदि हम अपने समयको इसप्रकार व्यतीत कर सकें कि कम-से-कम उतने समयमें हमें किसी प्रकारका दुःख, विषाद अथवा मृत्यु न घेरे, तब तो हम यह कह सकते हैं कि हमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, अथवा तब हम अपनी अन्तरात्माकी उन हार्दिक पुकारोंकी उपेक्षा कर सकते हैं जो सतत उस परमात्माका आह्वान करती हैं, अन्यथा नहीं।

क्या हमारा ईश्वरके विना काम चल सकता है?

हाँ, यदि अन्य वस्तुओंका अपने जीवनके आधारके विना काम चल सकता है तो हमारा भी ईश्वरके विना काम चल सकता है। यदि मछलियाँ पानीके विना जीवित रह सकती हैं, यदि वनस्पतियाँ प्रकाशके विना रह सकती हैं, यदि शिशु अपनी माताके विना जन्म सकता है और यदि पृथ्वी सूर्यके विना रह सकती है तो हम भी, जो पृथ्वी माताकी क्षुद्र सन्तान हैं, उस परमात्माकी उपेक्षा कर सकते हैं, जो हमारा बल एवं हमारा जीवन है। अथवा उन बाह्य एवं अन्तरकी आवाज़ोंकी ओरसे अपने कान मूँद सकते हैं जो हमें सर्वदा उसकी शरण ग्रहण करने तथा उसके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती रहती हैं। हम इस बातको नहीं समझते कि ईश्वरके अन्दर कैसी-कैसी अटूट एवं अनन्त निधियाँ भरी हुई हैं।

जरा, कल्पना कीजिये कि, संसारमें ईश्वरकी सत्ता नहीं है! ओः! ईश्वरके विना विश्व निरर्थक हो जाता है; ईश्वरके विना बुद्धि कुण्ठित हो जाती है; ईश्वरके विना हमारे आदर्श स्वप्न-तुल्य रह जाते हैं और हमारी आशाएँ पानीके बुद्बुदोंकी तरह उत्पन्न होकर विलीन हो जाती हैं। ईश्वरके विना श्रद्धा टिक नहीं सकती। ईश्वरके विना अमरता लुप्त हो जाती है, मनुष्य पशुकी श्रेणीमें पहुँच जाता है, और मृत्यु तुरन्त सबका ग्रास कर डालती है।

किन्तु ईश्वरकी, सच्चे ईश्वरकी, अनन्त ज्ञान एवं प्रेमसे परिपूर्ण ईश्वरकी सत्ता मान लेनेपर संसारका हेतु समझमें आ जाता है, विश्वमें प्राण आ जाता है, मनुष्य अमर हो जाता है, आशारूप ज्योति जगमगा उठती है, सारे लोकोंमें प्रेमका साम्राज्य छा जाता है, और पृथ्वी अथवा स्वर्गकी सभी अच्छी वस्तुएँ हमें एक-न-एक दिन प्राप्त होकर रहती हैं।

श्यामको सुमिरो

गहौ मन सब रसको रस-सार ॥ टेक ॥
लोक वेद कुल करमै तजिये भजिये नित्य विहार ॥ १ ॥
गृह कामिनि कञ्चन धन त्यागौ सुमिरौ स्याम उदार ॥ २ ॥
गहि हरिदास रीति सन्तनकी गादीको अधिकार ॥ ३ ॥

—स्वामी हरिदासजी

ईश्वर-प्रार्थनासे सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं

(लेखक— डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष')

ईश्वर प्रार्थनामें अपूर्व शक्ति है। ईश्वर-उपासनासे सब प्रकारके दुःखों और कष्टोंका निवारण होता है। उससे न केवल रोगके निवारणमें शान्ति मिलती है किन्तु जीवनकी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। प्रार्थनाकी अलौकिक शक्तिमें भारतवासियोंका आजकल बहुत कम विश्वास है, परन्तु पाश्चात्य देशोंमें इसके लिये खास खास संस्थाएँ खुली हुई हैं। प्रार्थनासे अनेक रोग निवृत्त किये जाते हैं और अनेक कामनाएँ पूर्ण होती हैं, जिसका वहाँ विधिपूर्वक रिकार्ड रक्खा जाता है। उन देशोंमें लाखों मनुष्य प्रार्थनाके प्रभावपर विश्वास करते हैं। प्रार्थनाका रहस्य क्या है, इसका दिग्दर्शन कराते हुए हम यहाँपर पाठकोंके अवलोकनार्थ कुछ उदाहरण देते हैं।

प्रार्थनाका रहस्य

प्रार्थनाका विषय एवं तत्त्व जानना प्रार्थना करनेवालोंके लिये परम आवश्यक है। प्रार्थना क्या है और क्यों की जाती है? प्रार्थनाका उत्तर मिलता है या नहीं? मिलता है तो किसप्रकार? और यदि नहीं तो उत्तर न मिलनेका कारण क्या है? प्रार्थनाका अर्थ है 'किसी अर्थकी याचना करना' या 'किसी अभावका अनुभव कर उसकी पूर्तिके लिये सहायता प्राप्त करना।' प्रार्थनाके तीन प्रयोजन विशेषकर होते हैं। (१) सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके निमित्त प्रार्थना की जाती है, जैसे अन्न, वस्त्र, नौकरी, धन, स्त्री या पुत्र प्राप्ति, रोग-निवारण, किसी क्लेश या दुःखसे रक्षा, आपत्तिका नाश, सम्मान-प्राप्ति, परीक्षामें सफलता, और विद्या-प्राप्ति आदि सब व्यावहारिक सिद्धियोंके लिये। (२) आत्मिक उन्नतिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये, आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, मृत्यु क्या है, मृत्युके बाद क्या होता है, और सृष्टि क्या है इत्यादिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, मानसिक और बौद्धिक उन्नतिके लिये, अध्यात्म-ज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये (३) तीसरे प्रकारके वे सच्चे प्रार्थना करनेवाले प्रेमी भक्त होते हैं जिन्हें कुछ भी माँगना नहीं है। जो केवल उस महाप्रभुके ध्यानमें और प्रेममें ही निरन्तर लीन रहना चाहते हैं या उस प्रियतमसे एक होनेके लिये अपनी खुदीको मिटाकर ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये अतीव हार्दिक आकण्ठा रखते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है।

जो जिस कामनाके लिये प्रार्थना करता है, उसकी वे सब कामनाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। 'यत् यद् इच्छति तस्य तत्।' प्रार्थनाका उत्तर अवश्य मिलता है। जो धनके लिये प्रार्थना करते हैं उनको यथावाञ्छित धन किसी भी साधनसे मिल जाता है। जो अन्न-वस्त्रके लिये प्रार्थना करता है, उसके द्वारपर अन्न, वस्त्र किसी भी प्रकार पहुँच जाते हैं। जो विद्या प्राप्तिके निमित्त प्रार्थना करता है, वह बड़ा विद्वान् हो जाता है। अनाथालय आदि धार्मिक कार्योंमें परोपकारी पुरुषोंके पास, जिनका उद्देश्य केवल प्राणिमात्रको सहायता देकर सेवा करना है, प्रार्थना करनेपर आवश्यक सहायता अवश्य पहुँच जाती है। कभी कभी प्रार्थना पूर्ण नहीं भी होती। इसका कारण यह है कि पूर्व-जन्मके कर्मका कोई प्रबल सम्बन्ध इसी प्रकारका होता है कि उसका उसी समय उनको अवश्य ही फल मिलना चाहिये। इसके विरुद्ध यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि अनेक पुरुषोंको प्रार्थनाका कोई उत्तर भी नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि या तो उन्हें असली प्रार्थना करना नहीं आता, या उनके भी पूर्वजन्मका कोई महान् प्रतिबन्धक होता है।

जो मनुष्य परोपकारी, चरित्रवान्, श्रद्धासम्पन्न, ईश्वरमें विश्वासी, प्रबल धारणा-शक्तिवाले और निःस्वार्थी होते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। पापी, कुकर्मी, अविश्वासी अश्रद्धालु और निर्बल इच्छाशक्तिवालोंकी प्रार्थना ही प्रायः निष्फल हुआ करती है। प्रार्थनाओंका उत्तरदाता ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। जिसकी शक्तिमें, जिसके ज्ञानमें, जिसके प्रेममें समस्त चराचर स्थित है—जो सृष्टिमें सर्वत्र मौजूद है। जिसके ज्ञानके बिना एक पक्षी भी आकाशमें नहीं उड़ता, जिसके ज्ञानके बिना एक चींटी भी भूमिपर पैर नहीं रखती, ऐसा सर्वविधाता ईश्वर ही है, वही प्राणियोंकी प्रार्थनाओंको सुनता है और उनका यथोचित उत्तर देता है।

दृढ़ श्रद्धासे ईश्वर-प्रार्थना करनेवालेके जीवनमें अनेक विचित्र-विचित्र अनहोनी घटनाएँ घटित होती हैं। मैं यहाँ पाश्चात्य देशके प्रार्थना करनेवाले कुछ भद्र पुरुषोंका ही परिचय दूँगा।

१-विलायतके स्वर्गीय जार्ज मूलर प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त थे, इन्होंने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं। इनका सारा काम प्रार्थनापर ही चलता था, ये कभी न तो किसीके पास एक पाईके लिये भी याचना करने गये थे और न कभी इन्होंने अपील ही प्रकाशित की थी, फिर भी इन्हें १५००००० पौंड द्रव्य अर्थात् २२५०००००० सवा दो करोड़ रुपये घर बैठे प्राप्त हुए थे। मूलर साहबका प्रार्थनामें बड़ा ही अटल विश्वास था। एक बारका वृत्तान्त है कि उनके अनाथालयमें बालकोंके लिये भोजन नहीं था। प्रबन्धकने आकर कहा कि, 'आज तो एक मुट्ठी अन्न भी नहीं है—क्या किया जाय?' मूलर साहबने कहा 'आप अपना काम कीजिये, टेबल, तश्तरी आदि सब ठीक कीजिये।' वह आश्चर्य करने लगा कि 'यह मनुष्य क्या पागल हो गया है?' फिर थोड़ी देर बाद उसने आकर कहा कि 'कुछ प्रबन्ध कीजिये, बालकोंके भोजनका समय सन्निकट है।' मूलर साहबने पुनः वही उत्तर दिया कि 'आप अपना काम कीजिये' किन्तु इससे प्रबन्धकको सन्तोष न हुआ, वह पुनः मूलरके पास आकर तेजीसे बोला कि 'खानेका समय हो गया, क्या घण्टा बजा दिया जाय?' मूलर साहबने पूर्ण आशा और दृढ़ विश्वाससे उत्तर दिया—'घण्टा बजा दो। हमारा जो काम था, हमने कर दिया, अब शेष जिनका काम है वे अपना करेंगे।' भोजनके लिये सब बालकोंके एकत्र होते ही तुरन्त भोजनकी पकी-पकाई पूरी सामग्री अनाथालयमें उसी समय आ गयी। किसी बड़े आदमीने उस दिन अपने मित्रोंको बड़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक होटलमें सब सामग्री तैयार करवायी थी, किन्तु किसी कारणवश वह भोज स्थगित करना पड़ा। उस मनुष्यको यह अन्तःप्रेरणा हुई कि सामान सड़ जायगा, इसलिये इसको मूलर साहबके अनाथालयमें भेज देना चाहिये। उसने होटल-मैनेजरको आज्ञा दी कि सारी सामग्री भोजनके समयतक अनाथालयमें भेज दो। बालकोंने प्रेमपूर्वक भोजन किया और सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। मूलर साहबने प्रार्थनासे उठकर प्रबन्धकको बुलाया और उसे आज्ञा दी कि 'तुम्हारे समान अविश्वासी मनुष्यकी मुझे आवश्यकता नहीं, जिसे उस परम पिता परमेश्वरपर घण्टेभरके लिये भी विश्वास नहीं है।'

एक बार मूलर साहब ईश्वरवादपर व्याख्यान देनेको जहाजसे कहीं जा रहे थे। मार्गमें बड़े ज़ोरोंसे कुहरा पड़ा, सर्वत्र धुन्ध छा गयी, कहीं मार्ग दिखायी नहीं देता था। मूलरने कप्तानसे कहा कि 'महाशय! मुझे शनीचर पहली तारीखको अवश्य पहुँचना है।' कप्तानने कहा 'असम्भव है, देखो कैसा कुहरा पड़ रहा है।' मूलरने कप्तानके कन्धोंपर हाथ रखकर कहा कि 'आओ, ईश्वरसे प्रार्थना करें जिससे यह दूर हो जाय।' कप्तानने कहा—'तुम किस पागलखानेसे आये हो जो इसप्रकारकी अनहोनी बात कर रहे हो?' मूलरने कहा—'मैंने प्रार्थना की है और अभी उसका उत्तर मिलेगा, मैं ५७ वर्षोंसे अपने प्रभुका साक्षात्कार कर रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं। मेरी दृष्टि उस परम प्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है। जाओ, डेकपर जाओ, देखो कुहरा उतर रहा है।' कप्तान भी इस सीधे-सादे मनुष्यकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया। कुहरा दूर हुआ और मूलर क्वेबेकको ठीक उसी समय पहुँचा, जिस समय उसे पहुँचना आवश्यक था। मूलरका सारा जीवन प्रार्थनामय था।*

२-अमेरिका (कनसास) में इस समय ईश्वरवादका प्रचार करनेवाले मिस्टर चेर्ल्स फिलमोर महाशय हैं जिन्होंने 'यूनिटी स्कूल आफ् क्रिश्चियानिटी' नामक अध्यात्मवादकी एक बड़ी भारी संस्था स्थापित की है। मि० फिलमोर जन्मसे लूले-लँगड़े थे, महान् दरिद्र-अवस्थामें थे और इनके स्त्री-बच्चे सभी क्षय-रोगसे पीड़ित थे, इनकी पत्नीको प्रेरणा हुई कि ईश्वरकी प्रार्थनासे हम चंगे हो सकते हैं।

केवल प्रार्थनाके बलसे अपनेको तथा कुटुम्बियोंको रोगमुक्त करके कोई चालीस-पैंतालीस सालसे आप उक्त संस्थाका सञ्चालन कर रहे हैं और केवल भगवत्प्रार्थनासे श्रद्धालु पुरुषोंकी आधि-व्याधि, दरिद्रता, रोग, शोक मिटाकर उन्हें सुख-शान्ति-पूर्ण जीवन प्रदान कर रहे हैं। एक करोड़के लगभगकी सम्पत्ति संस्थाको समर्पण करके स्वयं एक साधारण व्यक्तिका-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यूनिटी एक नगर-सा बस गया है। इनके 'यूनिटी डेली वर्ड' आदि

* मूलरके विषयमें विशेष जानना हो तो 'A venture of faith पुस्तक देखिये।

दस मासिक साप्ताहिक पत्र हैं जिनमें ईश्वर-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं, बाहर भेजे जाते हैं। १२५०० ग्राहक तो अकेले लॉस एंगलीज़ शहरमें ही हैं। ४००० पत्र नित्य आते हैं और ८००० से ऊपर पत्र नित्य जाते हैं, ६०००० पार्सल पैकेट प्रतिमास भेजे जाते हैं, यूनिटीके प्रतिदिन १००० ग्राहक बनते हैं, बीस लाख नोट-पेपर प्रतिवर्ष काममें लिये जाते हैं। संस्थामें चार सौ आदमी नित्य काम करते हैं। सबको वेतन मिलता है। ९० आदमी तो सिर्फ प्रार्थनाके लिये नियुक्त हैं, इनको जो लोग निःस्वार्थभावसे प्रेम-स्वरूप भेंट भेजते हैं, उसीमेंसे दे दिया जाता है।

इसमें बच्चोंके लिये, युवाओंके लिये, अन्धोंके लिये अलग-अलग मासिक साहित्य प्रकाशित होता है। पत्र कई भाषाओंमें—जर्मन, इटली, फ्रेंच, स्पेनिश, नारवेजियन आदिमें प्रकाशित होते हैं। यूनिटीके ४० विभाग हैं।

(१) रोगीको बिना देखे प्रार्थनासे इलाज करना।

(२) गरीब, बेकार, दिवालियोंके लिये प्रार्थनासे सहायता दिलवाना।

(३) मानसिक उन्नति और अपने सुधारके लिये प्रार्थना करना।

(४) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बलसे दूर करनेका प्रयत्न करना।

संस्थाका खर्च लोगोंके प्रसन्नता या प्रीतिसे दिये हुए दानपर चलता है। सम्पूर्ण कार्यकर्ता मांस-भोजनसे परहेज करते हैं, सब धर्मोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, एवं अध्यात्मवादी हैं। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको क्रिश्चियन-धर्मसे सिद्ध करते हैं एवं सत्यग्राही हैं।

३—एक अमेरिकन धनिक स्त्रीका पुत्र दिवाला निकलनेसे घरसे लापता हो गया। उसकी माताका अपने पुत्रपर परम स्नेह था। वह परमात्माकी परम भक्त थी और ईश्वर-प्रार्थनापर उसका अटल विश्वास था। पुत्रके वियोगमें वह रात-दिन ईश्वर-प्रार्थना किया करती थी। पड़ोसके लोग उसे पागल समझते थे कि इतने वर्षोंसे पुत्रके लिये प्रार्थना कर रही है, पुत्र कहीं मर-मरा गया होगा। पागल औरत व्यर्थ रो-रोकर जीवन नाश कर रही है। पर उसे प्रार्थनामें दृढ़ विश्वास था, वह घरसे बाहर नहीं निकलती थी। तीस वर्ष बाद एक बूढ़ा व्यक्ति उसका पता पूछता-पूछता उसी गलीमें आया, तलाश करनेपर पड़ोसके लोगोंने कहा—'हाँ, यहाँ एक पागल स्त्री रहती है जो अपने पुत्रके पीछे पागल हो रही है।' वह व्यक्ति वहाँ दरवाजेपर पहुँचा। लड़केने आवाज दी—'माँ, मैं आ गया।' माताने तुरन्त दरवाजा खोला और तीस वर्षकी प्रार्थनाकी कठिन तपस्याके बलसे उसको अपने पास बुला लिया। अब तो सब लोग उस स्त्रीका बड़ा आदर करने लगे और उसके द्वारा प्रार्थनाका बड़ा प्रचार हुआ। उसका पुत्र इस समय अमेरिकामें प्रसिद्ध धर्मोपदेशक है।

४—अमेरिकामें होलीयोकमें नवीन विचारोंका और ईश्वरवादका प्रचार करनेवाली विश्व-सुप्रसिद्ध श्रीएलिजाबेथ् टाउन महोदया हैं। वह नाटिलस नामका नवीन विचारोंका प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित करती हैं। इस पत्रके लाखों पढ़नेवाले हैं। प्रत्येक अङ्कमें ईश्वर-प्रार्थना-सम्बन्धी सम्पादकीय महत्त्वपूर्ण लेख रहते हैं और प्रार्थनाके बलसे दुःख, दरिद्रता, रोग आदि मेटनेके अनुभवपूर्ण अन्य लेख भी छपते हैं। इस पत्रद्वारा लाखों मनुष्योंमें ईश्वर-भाव और उपासनाकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है और लाखोंका जीवन चिन्ता, क्लेश और कष्टसे मुक्त होकर आनन्दमय बना है। डाक्टर थोरो और इमर्सनके बाद एलिजाबेथ् टाउन ही नूतन मतकी अग्रगण्य नेत्री हैं। इन्होंने नवीन विचारके कई ग्रन्थ लिखे हैं।

५—इंग्लैण्ड चिचेस्टरमें मिस्टर हेम्बलिन ईश्वरवादके प्रचारका सराहनीय कार्य कर रहे हैं। आप 'साइन्स आफ् थॉट रिव्यू' पत्र प्रकाशित करते हैं, कई पुस्तकोंके लेखक हैं और उच्च विचारके परम ईश्वर-भक्त व्यक्ति हैं। इनके जीवन और कार्यसे हजारों मनुष्योंके जीवनमें परिवर्तन हुआ और अनेकों नास्तिक आस्तिक हो गये हैं। धन्य है, ऐसे नररत्नोंको जो ईश्वर-तत्त्वका स्वयं साक्षात्कार करके जनताका कल्याण कर रहे हैं।

६—डॉक्टर मेयर एक जहाजपर जा रहे थे। तब प्रार्थनासे उत्तर मिलता है या नहीं, इस विषयमें उनके भाषण होते थे। एक भाषणमें एक नास्तिक उपस्थित थे, उन्होंने कहा कि 'मैं आपके एक शब्दपर भी विश्वास नहीं करता।' दूसरे दिनकी बात है, डॉक्टर मेयर तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंमें भाषण देने जा रहे थे। उनके पीछे नास्तिक महोदय भी हो लिये और अपने पाकेटमें दो नारंगी लेते गये। जब वे तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंके पाससे होकर

जा रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक वृद्धा स्त्री आँखें बन्द किये हाथोंको फैलाये हुए खूब गाढ़ निद्रामें सोयी हुई है। नास्तिक महोदय दोनों नारंगी उसके हाथोंमें डालकर भाषणमें चलते बने। भाषणसे लौटते समय नास्तिक महोदय देखते हैं कि वह वृद्धा स्त्री आनन्दपूर्वक नारंगी खा रही है। नास्तिक महोदयने कहा 'श्रीमती सन्तरेके आनन्दका उपभोग कर रही हैं।' उसने जवाब दिया—'हाँ महाशयजी, मेरे पिता बड़े भले आदमी हैं, उनकी मुझपर बड़ी कृपा है।' नास्तिकने आश्चर्यसे पूछा—'तुम अस्सी वर्षकी हो, तुम्हारे पिता कैसे जीवित हैं ? तुम कैसी पागलकी-सी बातें करती हो !' बुढ़ियाने कहा 'महाशय ! मैं कई दिनोंसे समुद्री हवाके रोगसे पीड़ित हूँ—मैंने परम पिता परमात्मासे प्रार्थना की कि किसी तरह मेरे पास एक नारंगी भेज दो। मैं प्रार्थना करते-करते गाढ़ निद्रामें सो गयी, जब मेरी आँखें खुलीं तब क्या देखती हूँ कि मेरे दयालु पिताने एकके बदले दो नारंगी मेरे लिये भेज दीं।'

नास्तिक महोदयने जाते समय मज़ाकके तौरपर ऐसा किया था किन्तु बुढ़ियाका दृढ़ विश्वास देखकर वे दंग रह गये और उस दिनसे उनकी ईश्वरपर अटल श्रद्धा हो गयी।

७— अभी थोड़े दिनोंकी बात है कि अमेरिकामें एक ग्राममें वर्षाके लिये स्त्री-पुरुष सम्मिलित प्रार्थना कर रहे थे, वहाँ वर्षा न होनेसे खेतीको बड़ी हानि पहुँच रही थी, वे सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे कि उनमेंसे एक बालिका चट भागकर घरपर चली गयी और छाता ले आयी। प्रार्थना समाप्त होनेपर सब लोग चलने लगे। बालिका छाता लगाकर चली, उसपर कई लोग हँस पड़े कि 'कैसी पगली लड़की है, कहीं वर्षाका चिह्न नहीं है और यह छाता लगा रही है।' छोटी-सी बालिका कहती है 'हाँ, हाँ, अभी मूसलाधार वर्षा होती है। हमने प्रार्थना की है।' थोड़ी ही देरमें मूसलाधार वर्षा होने लगी। धन्य है उस बालिकाको जिसे इतना दृढ़ विश्वास था !

८—वेल्टारि बाइबलके समय एक स्त्रीने सम्मिलित प्रार्थनामें अपने अत्यन्त शराबी पतिकी शराबकी आदत छुड़ानेके लिये प्रार्थना की। दूसरोंने भी उसकी प्रार्थनामें योग दिया। उस समय उसका पति शराबकी दूकानपर बैठा हुआ शराब लेकर पीनेको ही था कि किसी जबरदस्त शक्तिने उसको प्रेरणा करके प्रार्थना-मन्दिरमें भेज दिया। वहाँ जाकर उसने शराब न पीनेकी शपथ ले ली, तबसे जीवनमें उसने शराब कभी नहीं पीया।

इसप्रकारकी नित्य ही अनेकों घटनाएँ प्रार्थना करनेवालोंके जीवनमें घटित होती हैं। इस सब कथनका सारांश यह है कि प्रार्थनामें अमोघ बल है। प्रार्थनासे मनुष्य अपने जीवनमें चाहे जैसे विलक्षण परिवर्तन कर सकता है और उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। सब जगत्‌का कल्याण हो।

कौन कहता है ईश्वर नहीं है ?

वह अविनाशी,शिव, सत्य और सुन्दर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।'

ईश्वर क्या है ? अच्छा मैं हूँ बतलाता ;
है एक शक्ति जो अखिल विश्व-निर्माता।
दूसरी शक्ति है सकल विश्वकी त्राता ;
तीसरी शक्तिसे जगत सँहारा जाता।
तीनोंका मिश्रित रूप परम-ईश्वर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (१)

ईश्वरका घर क्या है ? जगका 'प्रति कण' है ;
क्या आयु ? समयका गत-आगत 'प्रति क्षण' है।
भोजन क्या ? करता नित्य गर्व-भक्षण है ;
पीता क्या ? करता सदा पाप-शोषण है।
उसका स्वभाव कैसा है ? अति मृदुतर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (२)

वह अखिल-विश्वका पालक है; भर्ता है ;
माया-प्रपञ्च-अज्ञान-पाप-हर्ता है।
वह सत्य-निष्ठ, धृति-दया-धर्म-धर्ता है ;
सारा जग कर्म-स्वरूप ; वही कर्ता है।
सुनता दीनोंका आर्त-नाद सत्वर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (३)

'वह' ही है, हमको 'मार्ग दिखानेवाला';
वह ही है, 'सच्चा-ज्ञान' सिखानेवाला।
वह ही है, 'शुभ-कर्तव्य' बतानेवाला ;
वह ही है, 'निज-आनन्द' जतानेवाला।
उसके समान बस वही 'मगन' नटवर है;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।'(४)

दयाशङ्कर 'मगन'

आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्त

(लेखिका—श्रीमती जीन डिलेयर, ह्वर्ट्स, इंगलैण्ड)

'आत्मा ही परमात्मा है'—यह उक्ति तो हमको भी अनोखी जान पड़ती है; किन्तु यदि आत्मा परमात्मा नहीं है तो फिर वह और हो ही क्या सकता है?

(Prof. Maxmuller)

ईसाई धर्मका दो हज़ार वर्षतक अनवरत प्रचार होते रहनेपर भी मनुष्यको इसके द्वारा अपने आत्माका स्वरूप समझनेमें बहुत कम सहायता मिली है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? इसका थोड़ा-बहुत समाधान इसप्रकार किया जाता है कि ईसाई-मत आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी भित्तिपर स्थित नहीं है, अपितु वह एक आचार-प्रधान धर्म है। भारतवर्षके महान् वैदिक धर्मको, जिसकी एक उत्कृष्ट शाखा वेदान्त-मत है, हम ज्ञान-प्रधान धर्म (Wisdom-religion) कह सकते हैं। इसी प्रकार ईसाई-मतके सर्वोत्तम सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए हम उसे प्रेम प्रधान धर्म (Religion of love) कह सकते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दुओं-ने धर्मके आचारांशको बिल्कुल भुला दिया हो, किन्तु हम पाश्चात्य-देशवासियोंने धर्मके ज्ञान-काण्डको, उसके दार्शनिक आधारको—अध्यात्म-विद्याको, एक प्रकारसे बिल्कुल भुला-सा दिया है। अवश्य ही ईसाई-धर्मके कतिपय सम्प्रदायोंमें मानव-शरीरके अन्दर निवास करनेवाले अव्यय आत्माका स्वरूप निर्देश करनेकी थोड़ी-बहुत चेष्टा की गयी है, किन्तु बहुधा उनकी चेष्टाएँ दुराग्रहपूर्ण रही हैं। आध्यात्मिक वाक्कलहके अतिरिक्त उनका कोई परिणाम नहीं हुआ। जीवात्माका स्वरूप क्या है, ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध किसप्रकारका है, पहले-पहल वह मर्त्यलोकमें कैसे आता है और अन्तमें स्वर्ग अथवा नरकमें जाकर उसकी क्या गति होती है इत्यादि गम्भीर प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये अति प्राचीन कालमें जब ईसाई-धर्मके आचार्य एकत्रित होते थे, तो उनके वाद-विवादका परिणाम अपने मतके आग्रहके सिवा और कुछ नहीं होता था और जो लोग उनके 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' इस सिद्धान्तको नहीं मानते थे, उनको समाजसे च्युत कर दिया जाता था।

पौर्वात्य दार्शनिकोंकी पद्धति दूसरे ही प्रकारकी थी। यद्यपि वे भी आप्त-प्रमाणको मानते थे, यहाँतक कि वेदोंको उन्होंने 'ईश्वरकी वाणी' कहा है; किन्तु वे प्रकृतिका भी यथेष्ट परिशीलन करते थे, मानव-स्वभावका अध्ययन करते थे, व्यक्त एवं अव्यक्त अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक उभय जगत्‌का निरीक्षण करते थे। उन्होंने युगोंतक जीवनके गहन तत्त्वोंका अनुसन्धान करके एक ऐसे दर्शन अथवा धर्मकी रचना की—(भारतमें दर्शन और धर्ममें भेद कभी नहीं रहा)—जिसका प्रकृतिके किसी ज्ञात नियमके साथ विरोध नहीं है, जिससे मनुष्यकी बुद्धिका पूर्ण समाधान होता है और जिसके द्वारा मानव हृदयको ऊँची-से-ऊँची अभिलाषाकी पूर्तिके लिये उल्लासपूर्ण आश्वासन मिलता है। हिन्दू-धर्ममें जीवात्माके स्वरूपका जो निदर्शन किया गया है, वह अन्य पौर्वात्य सिद्धान्तोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, युक्तियुक्त एवं एक प्रकारसे आधुनिकताको लिये हुए है, यद्यपि उसका प्रतिपादन हज़ारों वर्ष पूर्व किया जा चुका था।

हिन्दू-महर्षियोंके मतमें आत्मा कोई अनिर्देश्य अथवा अलौकिक वस्तु नहीं है जो मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे विशेष अनुग्रहके उपलक्ष्यमें प्राप्त हुई हो, या जो किसी दिन अकस्मात् उद्भूत हो गयी हो। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार आत्मा केवल जीवन—दिव्य जीवन-स्वरूप है—जो मनुष्य-शरीरमें प्रवेशकर अपने आपका अनुभव करने लग जाती है। जीवनमात्र दिव्य है, परमात्माका स्वरूप है, जिससे सारा विश्व अनुप्राणित हो रहा है, यह दिव्य जीवन, यह दिव्य चेतना जो सारी प्रकृतिमें अव्यक्तरूपसे ओत-प्रोत है, मनुष्यके अन्दर व्यष्टिरूपसे प्रकट होकर जीव-संज्ञाको धारण कर लेती है। आत्मा परमात्मा है, मनुष्यके अन्दर व्यष्टिरूपसे प्रकट हुआ समष्टिचेतन है। वह जीवन है, दिव्य जीवन है, अनन्त जीवन है। ईश्वर और जीव अभिन्न हैं।

इस छोटे-से निबन्धमें हिन्दुओंके मनोविज्ञानशास्त्रके सूक्ष्म विचारोंका दिग्दर्शन कराना असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अन्दर ऐसी-ऐसी अद्भुत बारीकियों-का वर्णन है जिनपर साधारण मनुष्योंको विश्वास नहीं होता, हिन्दू-शास्त्रोंका गूढ़ मर्म न समझकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों-



भगवान्‌—कल्किरूपमें

ने उन्हें निरा बच्चोंका खेल बतलाया है। परन्तु वे इस बातको भूलते हैं कि मनुष्यके अन्तःकरणकी जटिल वृत्तियों, उसकी चेतना-शक्तिके गूढ़ रहस्योंकी जितनी गहरी छानबीन भारतीय दार्शनिकोंने की है, उतनी प्राचीन अथवा अर्वाचीन कोई भी देश या जाति नहीं कर सकी है। उनके मनोविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन करानेके लिये यह कहना पर्याप्त होगा कि अन्य कई प्राचीन जातियोंकी भाँति भारतवासियोंने भी अति प्राचीन कालसे ही जीवको तीन, चार एवं अधिक-से-अधिक सात तत्त्वों या अभिव्यक्तियोंके द्वारोंमें विभाजित किया है। वेदान्तियोंने अधिकांशमें चतुर्विध विभागकी पद्धतिको स्वीकार किया है। उन्होंने मनुष्यके चार विग्रह बतलाये हैं—

१—स्थूल-शरीर—अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य यह पञ्च-भूतोंसे बना हुआ देह जो सबसे बाहरका आवरण है।

२—सूक्ष्म-शरीर—जो एक अत्यन्त सूक्ष्म ईथर नामक तत्त्वसे बना हुआ देह है, जो भौतिक शरीरके अन्दर अनुप्रविष्ट है और जो प्राण अर्थात् देह-धारणकी शक्तिका वाहक है।

३—काम-शरीर—अर्थात् इच्छामय शरीर जो मनो-भावोंका व्यञ्जक है।

४—कारण-शरीर—अर्थात् मानसिक देह, जिसके द्वारा विचारका कार्य होता है।

इन सारे शरीरोंके भीतर और उनके परे जीव छिपा हुआ रहता है जिसे आत्मा* Spirit (पुरुष), प्राण, अनन्त प्राणका प्राण—(Breath of the endless breath) ईश्वरीय तत्त्व, आध्यात्मिक अव्यय पुरुष आदि नामोंसे पुकारते हैं।

इस तत्त्वका यदि हम और अधिक विश्लेषण करें और इन शरीरों अथवा द्वारोंके और अधिक विभाग एवं अवान्तर-विभाग करें तो हमें इनके सात विभाग करने होंगे जिनका उल्लेख हिन्दू-दर्शन-शास्त्रके कई आधुनिक ग्रन्थोंमें और थियोसोफी (Theosophy) मतके अधिकांश सिद्धान्तग्रन्थोंमें मिलता है। इस विभागके अनुसार मनुष्यको तीन और तीन छः तत्त्वोंका समुदाय माना गया है—जिनमेंसे तीन उच्च तत्त्वोंका प्रतिबिम्ब तीन अधम तत्त्वोंपर पड़ता है, जो मिलकर उस एक तत्त्वमें केन्द्रित हो जाते हैं जिसे व्यष्टि-चेतन कहते हैं और जो समष्टि-चेतनसे अभिन्न है।

परन्तु यहाँ तो उन भेद-प्रभेदोंका निर्देशमात्र कर देना अलं होगा, इससे अधिक सम्भव नहीं। संक्षेपके लिये हम मनुष्यके जीवको आत्मा और देह, पुरुष और प्रकृति, अथवा जीवन—दिव्य जीवन—और उसका मूर्तस्वरूप इन दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह विभाग यद्यपि बहुत स्थूल है किन्तु सारी मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंका आधार है, चाहे वे चतुर्विध विभागको मानती हों या सप्तविधको, प्राच्य हों या पाश्चात्य, प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन। यह द्वैत ऐसा है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर अद्वैतवादी भी सर्वथा नहीं बच सकते। पाश्चात्य विद्वान् इस द्वैतको इस-प्रकारसे व्यक्त करते हैं कि मनुष्य शरीर है और उसके अन्दर आत्माका निवास है। पौर्वात्य देशोंमें विद्वान् इसी बातको दूसरी तरहसे अभिव्यक्त करते हैं वे कहते हैं कि 'चेतन आत्मा है और वह शरीर धारण करता है।'

हिन्दुओंके अध्यात्मशास्त्रका यह मूल-मन्त्र है। आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तोंमें और इसमें सबसे बड़ा अन्तर यही है; इसीकी बदौलत हिन्दू-धर्म सारे विश्व-धर्मों-की अपेक्षा अधिक अध्यात्ममूलक होनेका दावा करता है। 'चेतन आत्मा है और वह शरीर धारण किये हुए है।' दार्शनिक इस शरीर अथवा शरीरोंके चाहे जितने ही विभाग और अवान्तर-विभाग कर सकते हैं, मनुष्यको भौतिक, भावुक, मानसिक इत्यादि कई तत्त्वोंमें विभक्त कर सकते हैं, किन्तु मूल-सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य—उसका वास्तविक रूप, जीवात्मा—एक अविनाशी एवं दिव्य आध्यात्मिक तत्त्व है जो कुछ कालके लिये भौतिक शरीर धारणकर इस भौतिक जगत्‌में अभिव्यक्त होता है। कम-से-कम भारतवर्षके लिये Leo Tolstoy के निम्न-लिखित शब्द बिल्कुल यथार्थ हैं—

The essence of religious truth is th[illegible] that man is a Spiritual being, Similar his source, God.

---

* संस्कृतके 'आत्मन्' शब्दके लिये, जिसे यूनानी भाषामें Pneuma कहते हैं, अंग्रेजीमें 'Spirit' शब्दका प्रयोग करना चाहिये, 'Soul' शब्दका नहीं; यद्यपि 'Soul' शब्दका भी कभी-कभी मनुष्य-जीवनके अविनाशी तत्त्वके अर्थमें प्रयोग होता है जो इसका प्रचलित अर्थ है।

अर्थात् धार्मिक तथ्यका सार यह है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है और इसप्रकार अपने मूल—परमात्मा—के सदृश है।

कट्टर-से-कट्टर अज्ञातवादी भी एक चरम अज्ञात सत्ताको अवश्य स्वीकार करते हैं जो व्यक्त-जीवनके प्रतिक्षण बदलनेवाले रूपोंके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे व्याप्त रहती है। इस ब्रह्माण्डको हम एक व्यवस्थित व्यापार न मानकर एक उद्देश्यहीन उथल-पुथल मानें, जिसमें अज्ञात शक्तियोंका अनवरत विवेक-शून्य व्यापार हो रहा है तो दूसरी बात है, यद्यपि अखिल ब्रह्माण्डमें एक भी कार्य ऐसा नहीं है जिससे हम ऐसा अनुमान कर सकें। किन्तु यदि हम विश्वको एक व्यवस्थित वस्तु मानते हैं तो हमारे लिये एक ऐसी सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो सारे सत् पदार्थोंका कारणरहित कारण (Rootless root) है। यह सत्ता एक—अद्वितीय होनी चाहिये; इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती; यह विश्वमें ओत-प्रोत है; यही नहीं, सारा विश्व उसीका आकार है।

भारतीय श्रुतियाँ कहती हैं—

'वह स्वर्गमें पवनरूपसे रहता है, ज्योतिर्मय प्रदेशमें व्यापक-रूपसे विद्यमान है, वेदीपर अग्निरूपसे स्थित है, घरमें अतिथि होकर निवास करता है, उसका मनुष्यके अन्दर निवास है, मनुष्यसे श्रेष्ठ भूतों अर्थात् देवताओंमें भी उसकी स्थिति है…… । वह अखिल सृष्टिका एकाधिपति एवं अन्तरात्मा है…… । जो विवेकी पुरुष अपने अन्तरात्मामें उसका दर्शन करते हैं, उन्हींको शाश्वत आनन्द मिलता है।'*

ब्रह्मकी जगत्में ओत-प्रोतता तथा जगत्परताके सिद्धान्तका इससे अधिक स्पष्ट विवरण और क्या हो सकता है? अति प्राचीन कालमें हिन्दू-दार्शनिकोंने यह अवगत कर लिया था कि प्रकृतिका जो मूल आधार है, मनुष्यका चरम तत्त्व भी वही है। उनका विश्वास था कि जगत्का प्रत्येक अणु-परमाणु जिस दिव्य जीवनसे अनुप्राणित है, वही आत्मरूपसे मनुष्यके हृत्-प्रदेशमें भी अवस्थित है; जो अनन्त-शक्ति अखिल विश्वमें व्याप्त है वही मनुष्यके अन्दर व्यष्टि-चेतनके रूपमें व्यक्त होती है। मनुष्यके अन्दर व्यापक ब्रह्मके इसप्रकार परिच्छिन्न हो जानेको ही हम सन्देहयुक्त भाषामें उदात्त आत्मा (Higher Self), दिव्य स्फुलिंग (Divine spark) अविनाशी तत्त्व (Immortal Principle), जीवात्मा (Ego) अथवा मानवीय आत्मा (Human soul) इत्यादिके नामसे पुकारते हैं।

वास्तवमें यदि हम क्षणभर भी इस विषयपर गम्भीर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि विश्वके मूल आधारको माननेके लिये हमारे पास जो प्रमाण हैं, उन्हीं प्रमाणोंसे मनुष्यके चरम तत्त्वकी सत्ता भी सिद्ध होती है। हम देखते हैं कि प्रकृतिमें प्रतिक्षण हलचल हो रही है, अनन्त प्रकारके आकार, वर्ण एवं शब्द उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं, उनकी एक विचित्र आँखमिचौनीका खेल-सा होता रहता है। इस हलचलसे, इन विकारोंसे, जीवनके इस निरन्तर घूमनेवाले चक्रसे हम यह अनुमान करते हैं कि इन विकारोंके परे एक विकाररहित सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो इन सारे विकारोंका कारण है। प्रकृतिवादी (Materialist) उस सत्ताका 'स्वभाव' (as Ding an sich) के नामसे निर्देश करता है, वेदान्ती उसे निर्गुण ब्रह्मके नामसे पुकारता है, भक्त उसे वैकुण्ठमें विराजनेवाला जगत्पिता कहता है और अनेकों नाम-रूपोंसे उसकी उपासना करता है।

किन्तु जब हम मानव-जीवनकी समीक्षा करते हैं तो क्या हम नहीं देखते कि उसके अन्दर भी उसी प्रकारके अद्भुत विकार हो रहे हैं? हम उसे देहरूपमें अवस्थित पाते हैं और उस देह एवं उसके अन्तर्वर्ती प्रत्येक अणुमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। किसी हिन्दू-दार्शनिकने अल्प शब्दोंमें शरीरकी इसप्रकार परिभाषा की है। उसका कहना है कि शरीर विकारोंकी शृंखलाका ही नाम है। स्थूल प्रकृतिके सूक्ष्मतम तत्त्वोंको, चाहे हम उन्हें Atom (अणु), Ion (परमाणु) अथवा Electron (विद्युदणु) किसी नामसे भी पुकारें, एक अविच्छिन्न धारा एक मूर्तरूपसे दूसरे मूर्तरूपमें अदृश्यरूपसे प्रवाहित होती रहती है। इस क्षण इनके द्वारा एक मनुष्यदेहकी रचना होती है तो दूसरे ही क्षण

* हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥
(कठ० २, ५, २)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(कठ० २, ५, १२)

वह दूसरे मनुष्यके देहमें संक्रमण कर जाती है अथवा किसी पौधे, खनिज पदार्थ, वृष्टि-विन्दु या सूर्य-किरणके अन्दर भासनेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजःकणके रूपमें परिणत हो जाती है। तब फिर मनुष्यका वास्तविक स्वरूप क्या है? इन विकारोंकी ओटमें रहनेवाला अविकारी तत्त्व (Das Ding an sich) क्या है? जीवात्मा अर्थात् मनुष्यके अन्दर रहनेवाली दिव्य आत्मा, जिसके लिये हिन्दू-शास्त्रोंमें भावपूर्ण 'देही' शब्दका प्रयोग किया गया है, किस वस्तुका नाम है? मनुष्य क्या है?

इस प्रश्नका प्राच्य दार्शनिक दृढ़ताके साथ यह उत्तर देते हैं कि मनुष्य ईश्वरका स्वरूप है।

प्राचीन कालके हिन्दू-दार्शनिकोंका अद्वैत-सिद्धान्त उतना ही दृढ़ एवं तर्ककी तराजूपर तुला हुआ था जितना आधुनिक युक्तिवादियोंका अद्वैत-सिद्धान्त है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक उस एक अद्वितीय ब्रह्मको शक्ति (Energy), मूल द्रव्य (Substance) अथवा आवश्यकता (Necessity) के नामसे नहीं पुकारते थे और सर्वथा अज्ञेय कहकर उसे मनुष्यकी बुद्धिसे अगम्य नहीं समझते थे। अवश्य ही उन लोगोंने निर्गुण परमात्माको ज्ञानके परे माना है परन्तु सगुण ईश्वरको, जो इच्छाशक्तियुक्त निर्गुण ही है, वे विश्वका सनातन माता-पिता, असंख्य रूपोंमें व्यक्त होनेवाला व्यापक जीवन, तथा प्रकृति और पुरुष, द्रव्य एवं शक्ति, जीवन एवं उसका मूर्तस्वरूप इसप्रकार द्वैतरूपसे व्यक्त होनेवाला एक सर्वव्यापी परमात्मा मानते हैं। प्राचीन भारतीय महर्षियोंने रसीली भाषामें प्रकृतिको ब्रह्मका अवगुण्ठन (घूँघट) कहा है जो उस परमात्म-तत्त्वको ईषद्व्यक्त एवं ईषत्तिरोहित करता है। सृष्टिके आदिमें यह परदा या घूँघट बहुत हल्का, सूर्यको आवृत करनेवाले धूम अथवा कुहरेकी भाँति होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों जगत्का विकास होता है, त्यों-ही-त्यों यह आवरण स्थूल होता जाता है, जिससे पञ्च-महाभूतोंकी रचना होती है। इसी परदेसे सारे भौतिक पदार्थोंकी सृष्टि होती है; मनुष्यका शरीर भी इसीसे बनता है। किन्तु उसके अन्दर निवास करनेवाले जीवात्मा और परमात्माकी मूलतः एक ही धातु है; अनन्त प्राणका प्राण वह ईश्वरकी आत्मासे अभिन्न है और दोनों ही अजन्मा, अव्यय एवं शाश्वत हैं।

यह स्वतःसिद्ध है कि इसप्रकारके मूल-सिद्धान्तके आधारपर निर्माण किया हुआ आचार-तत्त्व मानव-जातिके लिये अत्यन्त उपकारी होना चाहिये। कतिपय विद्वानोंका तो यह मत है कि पाप एवं दुःखके विश्वव्यापी जटिल प्रश्नको हल करनेका इसके अतिरिक्त कोई दूसरा युक्तियुक्त मार्ग ही नहीं हो सकता। हिन्दुओंका पुनर्जन्म-सिद्धान्त हमको पहलेहीसे यह बतलाता है कि मनुष्य ही अपने भाग्यका विधाता है, जिसप्रकार भौतिक-जगत्में कार्य-कारणका नियम अटल रूपसे काम करता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत्के लिये लागू है; पार्थिव क्षेत्रकी भाँति नैतिक एवं मानसिक क्षेत्रोंमें भी 'जैसा बोओगे वैसा ही पावोगे' यह सिद्धान्त अटल है। यह विकासका क्षेत्र, जिसे हम पार्थिव जीवन कहते हैं, एक प्रकारकी पाठशाला है, जिसका पाठ्य-क्रम कई श्रेणियोंमें विभक्त है और जिसमें सन्तोंकी, नहीं-नहीं, देवताओंकी शिक्षा होती है।

हिन्दुओंके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य-जीवन प्राक्तन जन्मोंतक ही सीमित नहीं है। आत्मा स्वरूपसे ही अनादि एवं अनन्त है, उसके लिये 'काल' कोई वस्तु ही नहीं है। भारतीय ऋषियोंने अपनी सूक्ष्मदृष्टिको सृष्टिके आदि कालतक दौड़ाकर, जो इस महान् संसारचक्रका पहला चक्कर था, यह देखा कि उस समय भी मनुष्यकी आत्मा, जो परमात्माका ही अंश है, बीजरूपसे अपने पिताकी गोदमें ही सोयी हुई है। उन्होंने यह अवगत किया कि मनुष्य यदि वास्तवमें परमात्माका अंश है, यदि 'आत्मा ही परमात्मा है' यदि प्रत्येक जन्म उस पूर्ण पुरुषके एक छोरसे दूसरे छोरको ले जानेवाली दीर्घ यात्राकी एक मंज़िलमात्र है तो यह युक्तिसे सिद्ध होता है कि ईश्वरकी भाँति जीवात्मा भी नित्य होना चाहिये। एक जन्मकी कौन कहे, दस, बीस अथवा सौ जन्म भी उस अनन्त कालके सामने एक श्वासके समान ही तो हैं। जीवात्मा जब मर्त्यलोकमें आविर्भूत होता है तब उतने ही कालके लिये वह देश और कालकी उपाधिसे उपहित होता है; और उसी समय यह दिव्य ज्योति अस्थि-मांसके पञ्जरमें आकर उपर्युक्त जीवनकी पाठशालामें शिक्षा प्राप्त करती है।

'आत्मा भी परमात्माकी तरह नित्य है' इस कथनके अन्दर कितना आशय छिपा हुआ है? यदि मनुष्यकी आत्मा एवं परमात्मामें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरके अन्दर सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता आदि जितने भी गुण हैं वे सब अव्यक्तरूपसे मनुष्योंमें भी विद्यमान रहने चाहिये। साथ ही यह भी

मानना पड़ेगा कि जीवात्मा उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि 'स्वतन्त्र' शब्दका अर्थ हो सकता है, क्योंकि यद्यपि उसे कुछ कालके लिये भौतिक जगत्के बन्धनोंको स्वीकार करना पड़ता है किन्तु वास्तवमें वह उस जगत्के निर्माताका ही स्वरूप तो है। माना कि उसे ईश्वरीय नियमोंका पालन करना पड़ता है किन्तु फिर भी उन नियमोंका बनानेवाला और वह दोनों एक ही तो हैं।

मनुष्य जो ईश्वरका अंश है, अपने अंशीसे पृथक् होकर जीवनकी अवधि समाप्त हो जानेपर फिर लौटकर उसके पास पहुँच जाता है और पहुँचकर यह कह सकता है—Before Abraham was, I am (अर्थात् इब्राहीमसे पहले भी मैं विद्यमान था)। आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकोंमें यह दूसरा प्रधान मतभेद है। पाश्चात्य मतके अनुसार जीवात्माका उद्भव कहीं अन्यत्र है, किन्तु हिन्दुओंके मतमें वह अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही व्यक्त रूप धारण करता है, किसी दूसरेकी प्रेरणासे नहीं।

अब रही यह अन्तिम पहेली, जो ईसाइयोंके शब्दोंमें इसप्रकार है कि ईश्वरने मनुष्यको और उसके निवासस्थान इस संसारको रचा ही क्यों? अथवा हिन्दुओंके शब्दोंमें हम इसी प्रश्नको इसप्रकार रख सकते हैं कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' इस इच्छाके मूलमें क्या था, वह समष्टि-चेतन विभक्त होकर व्यष्टिरूपमें क्यों व्यक्त हुआ? इस शंकाका समाधान न तो प्राच्य दर्शन ही कर सका है और न पाश्चात्य दर्शन ही। हाँ, पूर्वीय एवं पश्चिमीय दोनों देशोंके अधिकांश दार्शनिक इस बातको अवश्य मानते हैं कि संसारमें युगोंसे जो यह स्पन्द-क्रिया हो रही है, अनन्त शताब्दियोंसे जो उद्योग हो रहा है, अपने दीर्घकालव्यापी विकासमें मनुष्य-जाति जो धीरे-धीरे एवं रुक-रुककर अग्रसर हो रही है इसका कोई-न-कोई महान् उद्देश्य अवश्य है, मनुष्य-जाति आगे बढ़नेके लिये जो दौड़-धूप कर रही है उससे किसी-न-किसी लक्ष्यकी सिद्धि अवश्य होगी। यदि ऐसा न होता तो संसारमें प्रेम, न्याय और विवेकका नामोनिशान तक न होता। किन्तु यह सब क्यों है, यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता। निर्वाणकी प्राप्ति हो जानेपर, जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य हो जानेपर ही जीव इस बातको जान सकेगा कि वह जीवदशाको क्यों प्राप्त हुआ?

हे अनन्त!

हे अनन्त!
ऊपर सूर्य चन्द्र तारागण,
भूपर सागर, गिरि, रज-कण-कण,
तेरी कीर्ति गुँजाते,
जिससे गूँजी दिशा दिगन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

ऋतु समस्त करके नित ध्यान,
ढूँढ़ रहीं तेरा स्थान,
गातीं तेरा कीरति-गान,
तेरी ही महिमा दिखलाने,
आता मधुर बसन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

तारागण झिलमिल झिलमिलकर,
चन्द्रदेव शीतलता देकर,
सूर्य्य ऊष्णता औ प्रकाश हर,
वायु सुगन्ध सुमनसे भरकर,
मणि मुक्तादिक जलधि निरन्तर,
सब देते अपना अपनाकर,

× × × ×

किन्तु नहीं कुछ इस दरिद्र पर,
पुष्पोंको अञ्जुलिमें भरकर,
देनेको समोद साहसकर,
मैं चल पड़ा देव! उस पथपर,
था न कहीं पर अन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

बड़े कष्टसे मैं आ पाया,
भेंट तुच्छ-सी ही ला पाया,
द्वार खुला तेरा जा पाया,
मैं घुस पड़ा, सामने पाया,
पाते जिसे न सन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

देव! मुझे चरणामृत दे दो,
प्रतिमा दो, नैया ये खे दो,
कर दो बस गुणवन्त।
हे अनन्त!

अवन्तविहारी माथुर

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ, एम०ए०, एम०ओ० एल०,)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

१—मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ब्रह्म) है

मनुष्य मृत्यु, अज्ञान और दुःखको कभी अपनाना नहीं चाहता। उसके कर्म, उसकी बात-चीत, इच्छाएँ और उसके विचार सदा इनपर विजय पानेके सम्बन्धमें ही होते रहते हैं। क्या वर्तमान कालकी भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्याएँ और क्या प्राचीन जगत्का आध्यात्मिक जीवन, सभी स्थायी जीवन, असीमित ज्ञान और अबाधित सुखको मानव-जीवनका ध्येय मानते आ रहे हैं।

प्रथम तो मनुष्य अति दीर्घजीवी होनेके लिये इच्छा, प्रयत्न और कृति करनेमें नहीं चूकता और जब उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि प्राकृतिक उपायोंका पूर्ण अवलम्बन करनेपर भी यह शरीर सदा नहीं रह सकता तो वह अपने उत्तराधिकारी (पुत्र) में अपने जीवनकी समस्त भावनाएँ और आशाएँ संनिहित करके उसी (पुत्र) के रूपमें अपने जीवनका तादात्म्य स्थापित करता है। औरस पुत्रके अभावमें दत्तकको ही अपना स्थानापन्न बनाकर सन्तोष कर लेता है। यदि दैवयोगसे वह भी न रहे तो निर्धन और निरालम्ब पुरुषको अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है और वह हतोत्साह हो जाता है परन्तु ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ, सम्पन्न अपनी सम्पत्ति, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, पाठशाला इत्यादिके रूपमें ही शरीरान्तके पश्चात् भी जीवित रहनेका इच्छुक देखा जाता है। यह सब मनुष्यके स्वभावमें त्रिकालाबाधित सत्ताकी प्राकृतिक भावनाके अतिरिक्त और क्या है?

मनुष्य अपने शैशवसे वार्द्धक्यतक सदा यही अनुभव करनेका उत्सुक देखा जाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक दृश्य, अमुक भावको जितना मैं जान, देख और समझ रहा हूँ, उसके आगे क्या है, बालकके प्रश्नोंपर वृद्ध अथवा शिक्षकके उत्तर, संसारकी विविध भाषाओंका साहित्य, अनेक विद्याओंका विकास, समाचार-पत्र इत्यादि साधन केवल सीमित ज्ञानको असीमित बनाने (की स्वाभाविक इच्छा) का प्रयत्नमात्र नहीं तो और क्या है? परन्तु इन लौकिक उपायोंका फल मृग-तृष्णाकी दौड़-सरीखा ही होता है। यह ज्ञान-पिपासा पदार्थों एवं प्रपञ्चका अन्तिम (मूल) कारण जाने बिना कभी शान्त नहीं होती।

'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।'
(छा० ६।१।३)

फिर ऐसा भी कोई मनुष्य न होगा जो सब प्रकारसे सर्वदा सुखी रहनेका इच्छुक न रहता हो। बड़े तो बड़े, छोटे दुःखोंके पड़नेपर भी वह उनका होकर एक क्षण भी रहना नहीं चाहता। वह उन्हें अपना विरोधी ही माना करता है। दुःख और सुखकी परिभाषामें यही सत्य संनिविष्ट है—

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। अनुकूलवेदनीयं सुखम्।'

वास्तवमें सुख अपना स्वरूप ही है। लोगोंका भ्रम है कि अमुक पदार्थ सुख देगा। किन्तु सुखका कारण कोई बाहरी पदार्थ नहीं है। बात यह है कि किसी पदार्थकी इच्छासे जो बेचैनी (अस्थिरता) मनमें रहती है वह उस पदार्थकी प्राप्तिसे थोड़ी देरके लिये बन्द हो जाती है और उतनी देरके लिये मन विषय-वासनासे रहित होकर आत्मरूप हो जाता है। मनकी यही आत्मरूपता सुखके अनुभवका साधन है। इसप्रकार सुख अपने भीतर ही है, बाहरसे किसी पदार्थके साथ नहीं आता। परन्तु जबतक मनके किसी कोनेमें 'वासना' छिपी रहती है तबतक एक इच्छा पूर्ण होनेका क्षणिक सुखानुभव होनेके पश्चात् ही दूसरी इच्छाका उदय होना बन्द न होनेसे मनकी चञ्चलता दूर नहीं होती और सुखरूप आत्माके नित्य संनिहित रहनेपर भी स्थिर सुखका अनुभव नहीं होता। वासना ही मनको बेचैन रखनेवाली और सदा नाच नचानेवाली है। उसके छूटे बिना स्थायी सुख (परमानन्द, मोक्ष) नहीं मिलता।

मानना पड़ेगा कि जीवात्मा उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि 'स्वतन्त्र' शब्दका अर्थ हो सकता है, क्योंकि यद्यपि उसे कुछ कालके लिये भौतिक जगत्के बन्धनोंको स्वीकार करना पड़ता है किन्तु वास्तवमें वह उस जगत्के निर्माताका ही स्वरूप तो है। माना कि उसे ईश्वरीय नियमोंका पालन करना पड़ता है किन्तु फिर भी उन नियमोंका बनानेवाला और वह दोनों एक ही तो हैं।

मनुष्य जो ईश्वरका अंश है, अपने अंशीसे पृथक् होकर जीवनकी अवधि समाप्त हो जानेपर फिर लौटकर उसके पास पहुँच जाता है और पहुँचकर यह कह सकता है— Before Abraham was, I am (अर्थात् इब्राहीमसे पहले भी मैं विद्यमान था)। आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकोंमें यह दूसरा प्रधान मतभेद है। पाश्चात्य मतके अनुसार जीवात्माका उद्भव कहीं अन्यत्र है, किन्तु हिन्दुओंके मतमें वह अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही व्यक्त रूप धारण करता है, किसी दूसरेकी प्रेरणासे नहीं।

अब रही यह अन्तिम पहेली, जो ईसाइयोंके शब्दोंमें इसप्रकार है कि ईश्वरने मनुष्यको और उसके निवासस्थान इस संसारको रचा ही क्यों? अथवा हिन्दुओंके शब्दोंमें हम इसी प्रश्नको इसप्रकार रख सकते हैं कि 'एकोऽहं बहुस्याम्' इस इच्छाके मूलमें क्या था, वह समष्टि-चेतन विभक्त होकर व्यष्टिरूपमें क्यों व्यक्त हुआ? इस शंकाका समाधान न तो प्राच्य दर्शन ही कर सका है और न पाश्चात्य दर्शन ही। हाँ, पूर्वीय एवं पश्चिमीय दोनों देशोंके अधिकांश दार्शनिक इस बातको अवश्य मानते हैं कि संसारमें युगोंसे जो यह स्पन्द-क्रिया हो रही है, अनन्त शताब्दियोंसे जो उद्योग हो रहा है, अपने दीर्घकालव्यापी विकासमें मनुष्य-जाति जो धीरे-धीरे एवं रुक-रुककर अग्रसर हो रही है इसका कोई-न-कोई महान् उद्देश्य अवश्य है, मनुष्य-जाति आगे बढ़नेके लिये जो दौड़-धूप कर रही है उससे किसी-न-किसी लक्ष्यकी सिद्धि अवश्य होगी। यदि ऐसा न होता तो संसारमें प्रेम, न्याय और विवेकका नामोनिशान तक न होता। किन्तु यह सब क्यों है, यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता। निर्वाणकी प्राप्ति हो जानेपर, जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य हो जानेपर ही जीव इस बातको जान सकेगा कि वह जीवदशाको क्यों प्राप्त हुआ?

हे अनन्त!

हे अनन्त!
ऊपर सूर्य चन्द्र तारागण,
भूपर सागर, गिरि, रज-कण-कण,
तेरी कीर्ति गुँजाते,
जिससे गूँजी दिशा दिगन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

ऋतु समस्त करके नित ध्यान,
ढूँढ रहीं तेरा स्थान,
गातीं तेरा कीरति-गान,
तेरी ही महिमा दिखलाने,
आता मधुर बसन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

तारागण झिलमिल झिलमिलकर,
चन्द्रदेव शीतलता देकर,
सूर्य ऊष्णता औ प्रकाश हर,
वायु सुगन्ध सुमनसे भरकर,
मणि मुक्तादिक जलधि निरन्तर,
सब देते अपना अपनाकर,

× × × ×

किन्तु नहीं कुछ इस दरिद्र पर,
पुष्पोंको अञ्जुलिमें भरकर,
देनेको समोद साहसकर,
मैं चल पड़ा देव! उस पथपर,
था न कहीं पर अन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

बड़े कष्टसे मैं आ पाया,
भेंट तुच्छ-सी ही ला पाया,
द्वार खुला तेरा जा पाया,
मैं घुस पड़ा, सामने पाया,
पाते जिसे न सन्त।
हे अनन्त!

× × × ×

देव! मुझे चरणामृत दे दो,
प्रतिमा दो, नैया ये खे दो,
कर दो बस गुणवन्त।
हे अनन्त!

अनन्तविहारी माथुर

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ, एम०ए०, एम०ओ० एल०,)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

१—मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ब्रह्म) है

मनुष्य मृत्यु, अज्ञान और दुःखको कभी अपनाना नहीं चाहता । उसके कर्म, उसकी बात-चीत, इच्छाएँ और उसके विचार सदा इनपर विजय पानेके सम्बन्धमें ही होते रहते हैं । क्या वर्तमान कालकी भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्याएँ और क्या प्राचीन जगत्का आध्यात्मिक जीवन, सभी स्थायी जीवन, असीमित ज्ञान और अबाधित सुखको मानव-जीवनका ध्येय मानते आ रहे हैं ।

प्रथम तो मनुष्य अति दीर्घजीवी होनेके लिये इच्छा, प्रयत्न और कृति करनेमें नहीं चूकता और जब उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि प्राकृतिक उपायोंका पूर्ण अवलम्बन करनेपर भी यह शरीर सदा नहीं रह सकता तो वह अपने उत्तराधिकारी (पुत्र) में अपने जीवनकी समस्त भावनाएँ और आशाएँ संनिहित करके उसी (पुत्र) के रूपमें अपने जीवनका तादात्म्य स्थापित करता है । औरस पुत्रके अभावमें दत्तकको ही अपना स्थानापन्न बनाकर सन्तोष कर लेता है । यदि दैवयोगसे वह भी न रहे तो निर्धन और निरालम्ब पुरुषको अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है और वह हतोत्साह हो जाता है परन्तु ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ, सम्पन्न अपनी सम्पत्ति, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, पाठशाला इत्यादिके रूपमें ही शरीरान्तके पश्चात् भी जीवित रहनेका इच्छुक देखा जाता है । यह सब मनुष्यके स्वभावमें त्रिकालाबाधित सत्ताकी प्राकृतिक भावनाके अतिरिक्त और क्या है ?

मनुष्य अपने शैशवसे वार्द्धक्यतक सदा यही अनुभव करनेका उत्सुक देखा जाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक दृश्य, अमुक भावको जितना मैं जान, देख और समझ रहा हूँ, उसके आगे क्या है , बालकके प्रश्नोंपर वृद्ध अथवा शिक्षकके उत्तर, संसारकी विविध भाषाओंका साहित्य, अनेक विद्याओंका विकास, समाचार-पत्र इत्यादि साधन केवल सीमित ज्ञानको असीमित बनाने (की स्वाभाविक इच्छा) का प्रयत्नमात्र नहीं तो और क्या है ? परन्तु इन लौकिक उपायोंका फल मृग-तृष्णाकी दौड़-सरीखा ही होता है । यह ज्ञान-पिपासा पदार्थों एवं प्रपञ्चका अन्तिम (मूल) कारण जाने बिना कभी शान्त नहीं होती ।

'येनाश्रुतꣲश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ।'
(छा० ६ । १ । ३)

फिर ऐसा भी कोई मनुष्य न होगा जो सब प्रकारसे सर्वदा सुखी रहनेका इच्छुक न रहता हो । बड़े तो बड़े, छोटे दुःखोंके पड़नेपर भी वह उनका होकर एक क्षण भी रहना नहीं चाहता । वह उन्हें अपना विरोधी ही माना करता है । दुःख और सुखकी परिभाषामें यही सत्य संनिविष्ट है—

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।'

वास्तवमें सुख अपना स्वरूप ही है । लोगोंका भ्रम है कि अमुक पदार्थ सुख देगा । किन्तु सुखका कारण कोई बाहरी पदार्थ नहीं है । बात यह है कि किसी पदार्थकी इच्छासे जो बेचैनी (अस्थिरता) मनमें रहती है वह उस पदार्थकी प्राप्तिसे थोड़ी देरके लिये बन्द हो जाती है और उतनी देरके लिये मन विषय-वासनासे रहित होकर आत्मरूप हो जाता है । मनकी यही आत्मरूपता सुखके अनुभवका साधन है । इसप्रकार सुख अपने भीतर ही है, बाहरसे किसी पदार्थके साथ नहीं आता । परन्तु जबतक मनके किसी कोनेमें 'वासना' छिपी रहती है तबतक एक इच्छा पूर्ण होनेका क्षणिक सुखानुभव होनेके पश्चात् ही दूसरी इच्छाका उदय होना बन्द न होनेसे मनकी चञ्चलता दूर नहीं होती और सुखरूप आत्माके नित्य संनिहित रहनेपर भी स्थिर सुखका अनुभव नहीं होता । वासना ही मनको बेचैन रखनेवाली और सदा नाच नचानेवाली है । उसके छूटे बिना स्थायी सुख (परमानन्द, मोक्ष) नहीं मिलता ।

परन्तु आनन्दको सभी कोई अपनाते हैं। अतः आनन्द अपना स्वरूप है। यही ब्रह्म है—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्।'
(बृह० ३।९।२८)

'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'
(तै० २।७)

'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।६)

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'
(बृह० ४।३।३२)

—इत्यादि श्रुतियाँ पुरुषके इसी भूले हुए स्वरूपभूत आनन्दरूप ब्रह्मका वर्णन करती हैं।

सारांश यह कि नित्य सत् (विद्यमान) रहने, सब कुछ जानने और नित्य निर्बाध आनन्द पा लेनेकी इच्छाएँ मनुष्यकी प्रकृतिमें ही समायी हुई हैं अर्थात् मनुष्य सदा सच्चिदानन्दका इच्छुक रहता है। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' अर्थात् सभी भूत अपनी प्रकृतिकी ओर झुकते हैं इससे सिद्ध है कि मनुष्यकी प्रकृति ही सच्चिदानन्द है।

ईश्वर भी अन्ततः इस सच्चिदानन्दका ही नामान्तर है। मनुष्यके जीवनमें यदि कोई स्थिर सत्य वस्तु है तो वह उसकी प्रकृति सच्चिदानन्द अर्थात् ईश्वर ही है। यह ईश्वर ध्रुव सत्य है जो हृदय-मन्दिरमें सदा निवास करता है।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥'
(यजु० ३१।१)

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।' (बृह० ३।७।१५)

'यो मनसि तिष्ठन्……यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'
(३।७।२०)

'यो विज्ञाने तिष्ठन्……यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।'
(३।७।२२)

—इत्यादि श्रुतियाँ तथा—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'
(गीता १८।६१)

इत्यादि स्मृतियाँ इसी ईश्वरका गुण-गान करती हैं। इस ईश्वरकी सत्तामें जिसे सन्देह हो वह अपनी सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है? वह तो निराधार होनेसे स्वयं ही 'असत्' हो जायगा।—

'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति॥' (तै० २।६)

—इत्यादि श्रुतियाँ और—

'असद् ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद् वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम्॥'
(पञ्चदशी ३।२५)

—इत्यादि तदनुवादक वाक्योंमें यही उपपत्ति दी गयी है। अतः ईश्वर-जैसे ध्रुव सत्यका 'असत्' होना किसी अपने आपको 'सत्' माननेवाले (अभ्रान्त) शिष्ट पुरुषकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता।

मनुष्यकी सच्चिदानन्द प्राप्तिकी इच्छा स्वाभाविक होनेपर तत्प्राप्तिका साधन भी होना चाहिये। भूलमें पड़ा हुआ मनुष्य यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। यथार्थ ज्ञान निर्मल और स्थिर हृदयमें ही समा सकता है। हृदयकी निर्मलताके लिये निष्काम कर्म और स्थैर्यके लिये उपासनाकी अपेक्षा होती है। जिसकी उपासना की जाती है वैसा ही उपासक हो जाता है—

'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥'
(गीता ९।२५)

—इस हेतुसे सच्चिदानन्द-प्राप्तिके लिये सच्चिदानन्दकी ही उपासना करना ठीक है जिससे चित्तकी एकाग्रता और ब्रह्म-प्राप्ति दोनों ही फल सिद्ध होते हैं। 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' (१।२३) इस योगसूत्रमें कहा गया है कि ईश्वरके अभिध्यानसे योगीको आसन्नतर समाधिलाभ और समाधि-फल होता है। अभिध्यानका अर्थ वाचस्पतिने 'अनागत अर्थकी इच्छा' अर्थात् इस भक्तका अमुक अभिमत सिद्ध हो जाय ऐसी कृपा-भावना—किया है। द्वैतवादकी दृष्टिसे यहाँ यह माना गया है कि मानसिक, वाचिक वा कायिक भक्ति-विशेषसे अभिमुख हुआ ईश्वर भक्त (योगी) पर ऐसी अनुग्रह करता है। यथार्थमें ईश्वरके प्रति बद्धजीवका भक्ति-भाव भी अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्द ब्रह्मका ध्यान ही है और उसे फल भी कहीं बाहरसे नहीं मिलता, किन्तु अज्ञानके कारण जो अप्राप्त-सा दीखता है परन्तु है सदा

अपने भीतर (प्राप्त) ही, वही इसप्रकारकी उपासना (Otto-Suggestion) से आविर्भूतस्वरूप (प्रकट) हो जाता है। योगसूत्रकारको भी ईश्वरका 'सत्-चित्-आनन्द' स्वरूप स्वीकृत है, क्योंकि 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१ । २४) में 'आनन्द' का व्यतिरेक-मुखसे प्रतिपादन है और 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१ । २५) में 'चित्' की ही पराकाष्ठा दिखलायी गयी है, एवं 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (१।२६) में कालपरिच्छेदरहित कहनेका तात्पर्य वही है जो 'सत्' शब्दमें इष्ट है।

सब वस्तुओंके भीतर एक नियामिका शक्ति निगूढ़ रहती है, इसी शक्तिकी उपाधिके संयोगसे ब्रह्म ही ईश्वरता (सर्वज्ञतादि-धर्मयोगिता) को प्राप्त हो जाता है और वैयक्तिक स्थूल-शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधियोंके संयोगसे ब्रह्म ही जीवता (जीवपन) को प्राप्त हो जाता है। और जब शक्ति या अन्नमय (शरीर) आदि उपाधियोंका योग विवक्षित नहीं होता है तब वह ब्रह्म न तो ईश्वर कहाता है और न जीव। जैसे एक ही देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता कहलाता है और पौत्रकी अपेक्षासे पितामह, परन्तु यदि पुत्र वा पौत्ररूप उपाधियों (आपेक्षिक शब्दों Correlative terms) की चर्चा न की जाय तो वह न पिता कहा जायगा न पितामह, किन्तु केवल देवदत्त ही रहेगा। तथापि जैसे देवदत्त ध्रुव सत्य है वैसे ही व्यवहारमें उसका 'पिता' या 'पितामह' कहलाना भी उतना ही निश्चित सत्य है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मकी तरह ईश्वर और जीव भी व्यवहारमें ध्रुव सत्य हैं। यदि जीव हैं तो ईश्वर भी अवश्य है।

ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपासना आवश्यक है जिससे चित्तकी एकाग्रता होती है, तभी श्रवण मनन भी सफल होते हैं। वेदान्तमें भी नाना प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन मिलता है। जिसने पहले कभी उनका अभ्यास नहीं किया उसे ब्रह्माभ्याससे ही चित्तैकाग्र्य सिद्ध हो जाता है। इस विषयमें बृहदारण्यककी—

'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳहि तत्॥'
(४ । ४ । २१)

—यह श्रुति तथा गीताका—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥'
(९ । २२)

—यह वचन प्रमाण हैं। इस ब्रह्माभ्यासको पञ्चदशीकार-ने स्पष्ट शब्दोंमें ऐसा लिखा है—

'तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥'
(७ । १०६)

अर्थात् उसीका चिन्तन करना, उसीका कथन करना और परस्पर समझाना तथा एक उसीमें लगे रहना ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

भगवान् पतञ्जलिने भी इसी आशयको लेकर ये तीन सूत्र लिखे हैं—'तस्य वाचकः प्रणवः' (१ । २७) अर्थात् उस (ईश्वर) का नाम 'ॐ' है, 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१ । २८) उस प्रणव (ॐ) का जप और इस नामके अर्थ (ईश्वर) की भावना करते रहना चाहिये (जिनसे चित्तकी एकाग्रता होती है), 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (१ । २९) उस (ईश्वर-प्रणिधान) से स्वरूपकी प्राप्ति भी होती है और चित्तकी एकाग्रताके विरोधी विघ्नों (विक्षेपों) का नाश भी होता है। और तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' (१ । ३२) इस सूत्रमें विघ्न हटानेको एक तत्त्वके अवलम्बनका अभ्यास बतलाया है।

इसप्रकार मनुष्यकी प्रकृतिमें सच्चिदानन्द-लिप्सा होनेसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ईश्वर) ही है। इस बातमें सब धर्म-मतोंकी सम्मति है। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (१५।७)

तौरेतमें कहा गया है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ईश्वरकी प्रतिकृति पर हुई है (Man is made in the image of God) अर्थात् ईश्वरके ही गुण मनुष्यमें प्रकट होते हैं। क़ुरानमें लिखा है कि 'नफ़ख़तु फ़ियः मिन रूहही' (अर्थात्—फूँकी हमने मनुष्यमें अपनी रूह)। ऋग्वेदसे लेकर सांख्य-योग और भगवद्गीतापर्यन्त प्रायः सभी प्राचीन आर्यग्रन्थोंमें 'पुरुष' शब्द ईश्वर और जीव दोनोंका वाचक इसी कारणसे है कि समष्टि और व्यष्टिरूप उपाधिके अतिरिक्त दोनोंमें कोई भेद नहीं है। व्यष्टिकी सत्ता ही समष्टिकी सत्ताकी साधक युक्ति है। यह समष्टिका

अभिमानी त्रिलोकीनाथ ईश्वर ही सबका अभिमत-फल-दाता है, ऐसा वेदान्त (ब्रह्मसूत्र ३। २। ३८-४१) का सिद्धान्त है। इसे ही भिन्न-भिन्न उपासकोंने स्वमतानुकूल नाम-रूपसे अपनी-अपनी उपासनाका आदर्श स्थिर किया है। इसे ही शैव लोग शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक कर्ता, जैन अर्हन् (जिन) और मीमांसक कर्मके नाम वा रूपसे अपने-अपने मतका मूलतत्त्व वा आधार मानते हैं।

२—ईश्वर ही जगत्का कारण है

कुछ लोग—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥'
(५।१४)

इस गीता-वचनको लेकर कहते हैं कि ईश्वर तो मोक्षके लिये उपासनाका एक आदर्शमात्र है किन्तु जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाता है, अतः ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो जगत्का कर्ता हो। परन्तु गीता-वचनमें ईश्वरके जगत्स्रष्टा होनेका कोई खण्डन नहीं है, क्योंकि यह प्रकरण कर्मफलके सम्बन्धासम्बन्धका है, प्रत्युत गीता (१६। ८) के ही—

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥'

—इस स्थलान्तरमें इसप्रकारके वादियोंको आसुर जनोंमें गिना गया है, और अन्यत्र भी (१८। ६१) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे' इत्यादि शब्दोंमें ईश्वर स्पष्ट ही जगन्नियन्ता माना गया है। इधर हमारे नैयायिक इत्यादि ईश्वरको जगत्का कर्ता अथवा कारण-विशेष मानते हैं। वेदान्तके समन्वयके अनुसार ईश्वर उपास्य-देव भी है, कर्म-फल दाता भी है और जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादानकारण भी है।

ईश्वर और उसकी प्रकृति (माया) का विचार श्वेताश्वतरोपनिषद्में अत्यन्त सुचारुरूपसे किया गया है। ब्रह्मवादियोंने एकत्र होकर यह चर्चा उठायी कि व्यापक कारण कौन है, हम कहाँसे उत्पन्न हुए, किससे जीवित हैं, हमारा लय-स्थान क्या है और सुख-दुःखकी व्यवस्थाका कौन अधिष्ठाता है? इसपर कई पूर्व-पक्ष रक्खे गये कि (१) काल (२) स्वभाव (३) नियति (४) यदृच्छा (५) आकाशादि भूत (६) प्रकृति अथवा (७) पुरुष (विज्ञानात्मा)—इनमेंसे कोई-सा एक अथवा इनका संयोग। इनका समूह जिस किसीके लिये होता है उस आत्माके प्रति ये परतन्त्र होंगे और अतएव स्वतन्त्र न हो सकनेसे इनमें कारणता माननी अनुचित है। आत्मा भी सुख-दुःखके हेतु (कर्म) के अधीन होनेसे—परतन्त्र होनेसे—कारण नहीं हो सकता। अन्तमें ऋषियों (ब्रह्मवादियों) ने चित्तकी एकाग्रताके उपायसे यह देखा कि उस महेश्वरदेवकी एक स्वान्तर्निहित (*अस्वतन्त्र, अपृथक्*) शक्ति ही *मूल-कारण* है कि जो अकेला उन कालादि आत्मान्त (पुरुषान्त) सब कारणोंका नियन्ता है। यह प्रकृति माया है और उसका *ऐन्द्रजालिक* वही *महेश्वर* है। बिना उस ईश्वरके माया स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती और बिना माया-शक्तिके वह देव (अपने शुद्ध ब्रह्मरूपमें) शक्ति सृजन वा नियमन कर नहीं सकता। अतः माया शक्ति-वाला (शबल ब्रह्म अर्थात्) ईश्वर ही जगत्का कारण है। अर्थात् वही ईश्वर अपने चेतनरूपसे निमित्त-कारण और माया-शक्तिके द्वारा उपादान-कारण है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२)में ब्रह्मका त्रिविध निरूपण है—(१) भोक्ता (अर्थात् जीव) (२) भोग्य (अर्थात् *प्रधान या प्रकृति या माया अथवा अज्ञानका कार्य समस्त* दृश्यप्रपञ्च), तथा (३) प्रेरिता (अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वर)—अर्थात् एक ही ब्रह्मके ये तीनों प्रकार हैं। *इन तीनमेंसे किसी एककी भी सत्ता माननेसे अन्य* दोकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी। अतः ईश्वर हमारी कल्पनाकी सृष्टि नहीं किन्तु युक्ति, प्रमाण, अनुभव-सिद्ध ध्रुव सत्य ही ठहरता है। इसी उपनिषद्के स्थलान्तर (१। ९)में भी ऐसा ही विचार प्रकट किया गया है कि ईश्वर और जीव दोनों ही अज (जन्मादि विकाररहित शुद्ध ब्रह्म हैं) और अजा (माया) एक है जो 'भोक्तृ-भोग्यार्थ-युक्ता' है अर्थात् प्रपञ्चगत विभाग और भेदव्यवहार इसी माया-उपाधिको लेकर हुआ है अतः मिथ्या है और विश्वरूप अकर्ता आत्मा तो अनन्त ही है अर्थात् देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। इस जीव-ईश्वर-प्रकृति त्रिरूपमें एक ब्रह्मका ही जब ज्ञान होता है तब मुक्ति होती है। इस मन्त्रपर शाङ्करभाष्यमें लिखा है—

'अजा प्रकृतिर्न जायत इत्यजा सिद्धा प्रसवधर्मिणी… विश्व-जननी देवात्मशक्तिरूपैका स्वविकारभूतभोक्तृभोगभोग्यार्थप्रयुक्ते-

श्वरनिकटवर्तिनी किं कुर्वाणाऽवतिष्ठते। तस्मात्सोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधिसंनिधेस्तद्वानिव कार्यभूतैर्देहादिभिस्तद्वदेव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरादिरूपेणावतिष्ठते। तस्मादेकस्मिन्नेकांशे परमात्मन्यभ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादिसर्वलौकिकवैदिकसर्वभेदव्यवहारसिद्धिः। न च तयोर्वस्त्वन्तरस्य सद्भावाद् द्वैतवादप्रसक्तिः। मायाया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वायोगात्।'

इसका आशय यह है कि प्रकृति स्वयं उत्पन्न नहीं होती है किन्तु विश्व (प्रपञ्च, भेद, द्वैत व्यवहार) की उत्पन्न करनेवाली है, अतः 'अजा' सिद्ध होती है। यह पृथक् सत्तावाली वस्तु नहीं है किन्तु देवकी आत्मशक्तिरूपा और अनिर्वचनीया है, अतः इसके (पृथक् वस्तुत्वरहित होनेसे) द्वैतवादका प्रसंग नहीं आता है। यह माया (प्रकृति) एक है (और सांख्यमतानुसार प्रतिपुरुष भिन्न नहीं है)। ऐसी मायाके योगसे वह मायी परमेश्वर, एक अद्वैतरूप होता हुआ भी, ईश्वरादिरूपसे विभक्त होकर स्थित हुआ है। अर्थात् भोक्ता, भोग, भोग्यादि विभाग इसी मायामें हैं और वास्तवमें ब्रह्म शुद्ध, असंग, अविभक्त ही है। इसलिये एकांशमें परमात्माको एक (अद्वैत) माननेपर भी जीव, ईश्वर इत्यादि समस्त लौकिक और वैदिक सभी व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतामें ईश्वरके स्वरूप और उसकी महिमाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। श्वेता०में कुल ६ अध्याय हैं जिनमें इसप्रकारसे ईश्वरसम्बन्धी विषयोंका निरूपण किया गया है—

अध्याय १—ईश्वरदेवकी व्यापकता और परमात्मदर्शनका उपाय ध्यान।

अध्याय २—ध्यानका साधन, योगप्रवृत्ति।

अध्याय ३—ध्यानलक्ष्यसिद्धिके लिये सदाशिवके स्वरूप और महिमाका निरूपण। एक ही परमात्माका ईश, ईशितव्यादि भाव। रुद्र, शिव वा पुरुषोत्तम (ईश्वर) के स्वरूपके ज्ञानसे अमर-पद-प्राप्ति।

अध्याय ४—ईश्वर ॐकारादिरूपसे सर्वात्मक है। वही अपनेसे अभिन्न मायाका मायी (स्वामी) है। उसीके स्वरूपज्ञानसे अमरत्व-लाभ। प्रार्थना-मन्त्र।

अध्याय ५—शिव (परमेश्वर) विद्या और अविद्या दोनोंका ईशिता होकर भी उनके संसर्गसे बाहर है। वही विश्व-स्रष्टा और मुमुक्षुओंका उपास्यदेव है।

अध्याय ६—स्वभाव, कालादि स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु देव-महिमाकी अपेक्षा अन्यथासिद्ध हैं। ईश्वर ही कर्माध्यक्ष तथा संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतु है। अतः मुमुक्षुको ईश्वर-शरणके अतिरिक्त और गति नहीं है। हाँ, यदि कभी ऐसा सम्भव हो कि मानव उस आकाशको जो अमूर्त और व्यापी है उसी प्रकारसे अपने शरीरका आवरण बनाने लग जायँ जैसे चर्मको, अथवा यदि आकाश ही ऐसा आकार धारण कर ले या मनुष्य ही ऐसे आकारवाले होने लग जायँ कि भूतलपर न समाते हुए, ऊपर हाथ उठाए हुए, आकाशको ओढ़े फिरा करें, तभी कदाचित् यह भी सम्भव हो सकेगा कि ईश्वरदेवके ज्ञानके विना ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय। अन्यथा नहीं।

यह ईश्वर—

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'

—इस भगवद्वाक्यके अनुसार दिव्य-चक्षुसे ही दिखायी पड़ता है और स्थूल बहिर्मुखी बुद्धिका विषय नहीं है। दृश्यमान् या अदृष्ट प्रपञ्चका कोई भाग ऐसा नहीं है जो ईश्वर-नियमनके अधीन न हो। नियम (Design) सार्वभौम तथ्य है जो किसी सार्वभौम चेतनका ही धर्म हो सकता है न कि जड़ प्रकृतिका। यदि 'स्वभाव' कहा जाय, तो प्रश्न होगा 'किसका'। सर्वथा एक सार्वभौम चेतन (ईश्वर) ही सब लोकोंको एक व्यवस्था-सूत्रमें बाँधे हुए है, अन्यथा सब छिन्न-भिन्न हो जाता—

'एष सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय'

सूर्यादि ग्रह तथा गुरुत्वाकर्षणादि नियम (laws) सब इसी चेतन ईश्वरके अधीन होकर ही ठहर सकते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् अवश्य है तथापि अपने नियमोंके भीतर ही अपनी सर्वशक्तिमत्ताका परिचय देता है। इसी कारणसे श्रीराम-कृष्णादिरूपमें आकर ईश्वरने अपनी बनायी हुई मर्यादाका स्वयं पालन किया। हाँ, उसके नियम कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह देखे जाते हैं।

कर्म जड है। उसकी व्यक्तिके नष्ट होनेपर मीमांसकोंका माना हुआ 'अपूर्व' भी जड होनेसे ईश्वर ही कर्म-फलदाता है ऐसा मानना उचित है—

'न कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते'

(महिम्नस्तोत्र)

जैसे हमें श्वास-प्रश्वासमें कोई प्रयत्न नहीं होता है

उसी प्रकार ईश्वरसे स्वभावत ही यथासमय सृष्टि, स्थिति और प्रलयका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे चलता रहता है। सृष्टिसे पूर्व अपनी प्रकृतिमें वह शान्तरूपसे रहा करता है—'आनीदवात स्वधया' (ऋ० नासदीय सूक्त)। यह अव्यक्त अवस्था है—'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे' (ऋ० नास०)। इच्छासे वह मायामें अभिमान-सञ्चार करके अव्याकृतसे हिरण्यगर्भ और विराट्की क्रमश स्थूल अवस्थाओंमें प्रकट होता है। हिरण्यगर्भ-अवस्थासे ही उसकी स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाका विशेष विकास होता है और क्रमश चराचरात्मक सब ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्रजापति अपनी सृष्टिकी ओर प्रेमका भाव रखता है और उसके रोम रोममें इस भावसे प्रविष्ट रहता है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६) इसप्रकार यह मायोपाधिक ईश्वर ही जड, चेतन, दोनों प्रकारसे आविर्भूत हुआ है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेता० ६।१८,२३)

ॐ ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—श्रीजगदीशजी झा 'विमल')

(१)
पिता तू ही है सबका एक-
जगत् जपता तेरा ही नाम।
सदा रहता है तू सब ठौर-
किन्तु है तेरा कहीं न धाम॥

(२)
विश्वमें करके तेरी खोज-
खूब होते हैं नर हैरान।
पता पाते क्या कोई कभी
ढूँढकर जल-थल व्योम वितान॥

(३)
अजन्मा अज अनन्त अव्यक्त
सृष्टिकर्त्ता तू ही भगवान।
सुदर्शन, गदा पद्म कर शङ्ख
विश्वपालक तू विष्णु महान॥

(४)
भयङ्कर व्यालविभूषित अङ्ग
शूलधर शङ्कर कठिन कृतान्त।
तुम्हारे ही हैं तीनों रूप
एक तू ही है पुरुष प्रशान्त॥

(५)
सृष्टिका गौरवमय आधार
ज्योतिर्मय जग-जीवोंका प्राण।
कन्द फल मधुर स्वाद मकरन्द
सुमनमें सरस सुवासित घ्राण॥

(६)
प्रभाकरमें तू प्रभा पसार-
विश्वका करता है कल्याण।
शान्त शीतल शशिकरमें घोल-
सहर्षित करता सुधा प्रदान॥

(७)
अगम वारिधिका तू विस्तार
व्योमका निर्मल श्याम स्वरूप।
अग्निका जगमग दिव्यप्रकाश
वायु-व्यापकता अलख अनूप॥

(८)
सुखद शीतलता जलके बीच
जीव पाते जिससे सन्तोष।
अन्नमें जीवन शक्ति महान
एक है तू ही अमल अदोष॥

(९)
धर्मकी धुरी न्याय स्वरूप
ज्ञान गुण गरिमाका भण्डार।
अलख अन्तर्यामी अखिलेश
दयाका है तू ही अवतार॥

(१०)
सिद्धिदाता साधकके आप
तपस्वीके वरदायक एक।
सृष्टिके कण-कणमें रम रह
भक्तकी रखते आकर टेक॥

(११)
असुर, सुर, नर, किन्नर, गन्धर्व
रमा, दुर्गाकी शक्ति अपार।
शेष सुरपति सब तेरे अंश
भले आवे न समझ व्यापार॥

(१२)
खुदा, ईशा, मूसा, है तु ही-
लोक है तेरा लीलागार।
वेदने गाया तुझे अनन्त
कौन फिर पा सकता है पार॥

ईश्वरानुभूति

(लेखक—संन्यासी श्रीज्ञानानन्दजी उर्फ श्रीअर्थर यंग)

विभिन्न धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर सकते हैं कि धर्म-विषयक जिज्ञासा एवं ऐतिह्य (Tradition) का मूल एक ही है। वे हमको इसका कारण यह बतलाते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूपको तथा पार्श्ववर्ती पदार्थोंको समझनेमें असमर्थ है।

ऐसी पंक्तियोंको पढ़कर नयी रोशनीके नवयुवक इस बातका गर्व करने लग जाते हैं कि अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा हमारे अन्दर बुद्धिका विकास अधिक है। बात यह है कि आधुनिक सभ्यताकी चक्कीमें पिसते रहनेके कारण उनका सारा समय अपनी आवश्यकताओंको बढ़ाने तथा उनकी पूर्तिके लिये धन सञ्चय करनेमें ही व्यतीत हो जाता है। परिणाम यह होता है कि ईश्वरके विषयमें विचार करनेकी न तो उन्हें फुरसत मिलती है और न वे इसकी आवश्यकता ही समझते हैं।

परन्तु अफसोस! इसप्रकारके युक्तिवादसे आजके नव-युवकका अन्ततक काम नहीं चलता। उसके जीवनमें एक समय आता है जब उसका निरे तर्कसे निर्वाह नहीं होता। तब उसे इच्छा होती है कि ईश्वरमें विश्वास किया जा सके तो अच्छा हो। जिस मनुष्यकी मनोवृत्ति इसप्रकारकी हो गयी है उसको ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि इसप्रकारका मनुष्य उन धार्मिक संस्कारों एवं कृत्योंको निरर्थक समझने लगता है, जिन्हें उसके पूर्वज आदरपूर्वक किया करते थे। इसका कारण ज्ञानके अजीर्णके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? आधुनिक वाग्जालों तथा व्याख्याओंसे उनके (संस्कार इत्यादि) अभावकी पूर्ति नहीं हो सकती। आजकल हमारे मनमें जितने विचार और भावनाएँ उठती हैं वे सब हमारी सांसारिक आवश्यकताओंको लेकर ही होती हैं और इसीलिये उनका ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझनेमें कोई उपयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि ऐसे देवतामें हमारा विश्वास उठ जानेके कारण कि जो मनुष्यके मनकी लहरों एवं आचरणसे प्रभावित होता है हमारा मन एक ऊँचे अनुभवको प्राप्त करनेके लिये किसप्रकार सचेष्ट हो सकता है?

यदि कोई मुझसे पूछे तो मैं उसका समाधान उसी युक्तिसे करूँगा जिसे मैंने अपने निजके समाधानके लिये ढूँढ़ निकाला है। ईश्वरके सगुणरूपकी सत्ताको स्वीकार करनेसे ही मनुष्यको लाभ हो सकता है, यही मेरी धारणा है। रेखागणितके सिद्धान्तकी भाँति यदि कोई तर्कसे ईश्वरको सिद्ध करना अथवा समझना चाहे तो यह उसकी भूल है। तर्कसे एक प्रकारसे बुद्धिका समाधान भले ही हो जाय, किन्तु अनुभवसे हम कोसों दूर रहेंगे। हम तो चाहते हैं कि ईश्वरको हम इसप्रकार जान और समझ सकें, जिसप्रकार हम अपने किसी मित्र अथवा साथीको जान और समझ लेते हैं परन्तु यह स्थिति तर्कसे प्राप्त नहीं हो सकती।

तब प्रश्न यह होता है कि इसप्रकारका अनुभव हमें कैसे हो? इसके लिये हमें पहले इस बातको समझ लेना चाहिये कि मनुष्यकी शक्ति उसकी इन्द्रियोंतक ही सीमित है। ईश्वर (यदि वह वास्तवमें ईश्वर है) इन्द्रियोंके परे, अतएव उनसे अग्राह्य होना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध है कि सत्यका असली स्वरूप सदा मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचके बाहर ही रहता है। परन्तु साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि उनमेंसे अधिकांश बातोंका मैं अनुभव अवश्य कर सकता हूँ जिनके विषयमें बाह्य आधार तथा इन्द्रियोंके अभावके कारण मैं तर्क नहीं कर सकता। कठिनता केवल यह जाननेकी ही है कि इस अनुभवको प्राप्त करनेके लिये अपने उस अज्ञात एवं देखनेमें असीम अंशको किस तरहसे उपयोगमें लाया जाय?

मैं अपने भाइयोंको सर्वत्र ही कोई-न-कोई बाह्य आचरण अथवा धार्मिक कृत्योंको करते हुए पाता हूँ। उनमें मुझे कई मित्र ऐसे भी मिले हैं जिन्हें वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है कि जिसकी खोजमें मैं था। उनके विचार एवं साधन बिल्कुल भिन्न थे, किन्तु उन्हें अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो गयी, इससे अधिक और क्या चाहिये? उनके विचार एवं साधन युक्तियुक्त थे या नहीं, यह प्रश्न गौण है। मुझे तो केवल उनके परिणामसे प्रयोजन था। तब जाकर मैं एक ही परिणामपर पहुँचा। मेरी अवशिष्ट यात्रा किसी ऐसे साधन अथवा ध्यानकी खोजमें बीती जो मेरे अनुकूल हो। अब यदि आजकलकी रोशनीका नवयुवक मेरी उस प्रक्रियापर सन्देह करे जिस प्रक्रियासे मैं जीवनरूपी जलाशयसे जल निकालता हूँ, तो इसमें मेरा क्या दोष? मैं जानता हूँ कि मेरी प्यास

जुड़ रही है और यही मेरे लिये पर्याप्त है। यदि मैंने तर्कके द्वारा ईश्वरके सान्निध्यको प्राप्त करनेकी चेष्टा छोड़ दी है तो केवल इसीलिये कि मैंने अब समझ लिया है कि उससे दूर रहना सम्भव नहीं।

भगवन्नाम

(लेखक—स्वामी श्रीरामदासजी)

जीवनमें यदि कोई अमूल्य वस्तु है, जिसके द्वारा हम अविमिश्र शान्ति एवं आनन्दकी चरम सीमाको पहुँच सकते हैं, तो वह एक भगवन्नाम है। इसके मधुर उच्चारणके साथ-साथ यदि इसके वाच्यार्थ अर्थात् उस अखण्ड अद्वितीय सत्ता-की ओर भी लक्ष्य बना रहे तो चित्तके सारे मल बहुत शीघ्र धुल जाते हैं और उस अपार आनन्दका स्रोत उमड़ आता है जो आत्माका स्वाभाविक गुण है।

भगवान्‌का नाम वह दृढ़ नौका है जो मनुष्यको भव-सागरके पार ले जाकर उस शाश्वत पदको प्राप्त करा देती है जो उसका चिरन्तन लक्ष्य एवं वास्तविक स्वरूप है। भगवन्नाम वह पारसमणि है जो जीवको ब्रह्म बना देती है, लोहेको सोनेका रूप दे देती है। भगवान्‌का नाम शरीर, मन एवं बुद्धिके उन समस्त रोगोंकी निवृत्तिके लिये अमोघ औषध है जिन्होंने हमारे अन्दर द्वैत-बुद्धि उत्पन्नकर हमको जगत्‌के जंजालमें फँसा रक्खा है। नाम-संकीर्तनकी मधुर ध्वनि त्रितापतप्त जीवके लिये माताकी मधुर लोरीका काम करती है और उसे सदाके लिये निर्वाणरूपी मीठी नींदमें सुला देती है।

भगवन्नाम उस परमेश्वरका वाचक है, जो अखिल ब्रह्माण्डका नायक एवं नियन्ता ही नहीं, किन्तु सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका रूप है और ब्रह्माण्डके परे भी जो कुछ है वह भी वह परमात्मा ही है। अतएव नामके साथ सम्बन्ध जोड़ना उस अनन्त सत्ताके साथ संयुक्त हो जाना है,दूसरे शब्दोंमें मानव-प्रकृतिको, जो अधम, भ्रान्त एवं अज्ञानमें डूबी हुई है, महान् स्वतःप्रकाश सत्तामें परिणत कर देना है। नामके मधुर संगीतके द्वारा ईश्वरसे सम्बन्ध जोड़ना मानो अमरत्वके आनन्दको लूटना है।

ईश्वर वह सर्वोपरि शक्ति है जिसका प्रत्येक विधान सदैव अपार प्रेम एवं दयासे परिपूर्ण होता है। संसारके अन्दर उसकी जितनी भी लीलाएँ होती हैं, उन सबमें यही विशेषता भरी रहती है। परन्तु हाय! यह पामर अज्ञानी जीव भ्रमवश उसकी दयाका अनुभव नहीं करता और इसीलिये उसके प्रत्येक विधानमें सन्तोष न कर प्रतिकूल चेष्टा करने लगता है और इसीसे परिणाममें दुःख पाता है। ईश्वरकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना, जीवनकी प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना और अहंकार-शून्य होकर उमङ्गके साथ अपने कर्तव्यकर्मोंको करते रहना, यह सब तभी हो सकता है जब मनुष्य उस प्रेम एवं सौजन्यके सागर (परमात्मा) के साथ अपना अति निकट-का गहरा नाता जोड़ ले, उसके साथ एकात्मताका अनुभव करने लग जाय। ईश्वरके साथ इसप्रकारका सम्पर्क एवं तन्मयता तभी हो सकती है जब हमारे चित्तमें उसकी स्मृति तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे बनी रहे और इस-प्रकार निरन्तर उसकी स्मृति बनाये रखनेका एकमात्र साधन उसके पवित्र एवं मधुर नामके संकीर्तनमें चित्तकी वृत्तिको एकाकार कर देना ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाम ही ब्रह्म है। जिसने नामरूपी अमृतका एक बार भी आस्वादन कर लिया, वह मानो आनन्दके अपार समुद्रमें निमग्न हो गया।

भगवान्‌का नाम चित्तको अहंकार एवं वासनाओंसे मुक्त कर देता है और सारी आत्माको प्रकाश एवं आनन्दके प्रवाहसे परिप्लावित कर देता है। जिस हृदयने भगवान्‌के नामको दृढ़ताके साथ पकड़ लिया, वह हृदय भगवान्‌का निवास-स्थान ही बन गया है। फिर उसमेंसे अनन्त प्रेम एवं सार्वत्रिक दृष्टिकी धारा बहने लगती है। या यों कहिये कि फिर वह मनुष्य विश्वके भीतर एवं बाहर सर्वत्र उस एक परमात्माको ही देखने लगता है। भगवान्‌का नाम मनुष्यके अन्दर सहिष्णुता एवं धैर्यका अटूट भण्डार खोल देता है और उसकी आध्यात्मिक शक्ति एवं आनन्दके गुप्त खजानेकी कुञ्जी बतला देता है। भगवान्‌के पवित्र नामकी महिमा, उसके अमित प्रभाव तथा उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले प्रेम-पयोनिधिकी समता कौन कर सकता है! उसकी कृपासे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होकर अखिल विश्वके नायक परमात्माके साथ एकात्मताका अनुभव करने लगता है। नाममें वह शक्ति है जो अज्ञानके पर्देको चीरकर मनुष्यके अन्दर ज्ञानके प्रकाशको प्रादुर्भूत कर देती है जिसके द्वारा वह अपने तथा दूसरे जीवोंकी अन्तरात्मामें, नहीं-नहीं, जड़-चेतन सभी पदार्थोंमें उस प्यारे मनमोहनकी छवि निरखने लगता है। ईश्वर अनन्त प्रेमार्णव

है और वह हम सबके अन्दर विराजमान है। हम अनादि कालसे उससे अभिन्न होते हुए भी उससे पृथक् हैं। मनुष्य उस आनन्दमयी जननीका आनन्दमय शिशु है, क्योंकि परमात्मा शाश्वत सुख एवं शान्तिका स्वरूप ही है। जब मनुष्यके हृदयमेंसे उस दिव्य आनन्दकी महक फूट निकलती है, तब वहाँसे विशुद्ध प्रेम, दया एवं शान्ति-का स्रोत वहने लगता है। इसप्रकारका प्रेम सारे जगत् एवं जड़-चेतन सभी प्राणियोंको परिप्लावित कर देता है। भगवान्‌का नाम ही वह साधन है जो हमें इस आनन्दार्णवके समीप पहुँचा देता है। वह मनुष्य वास्तवमें धन्य ही नहीं धन्यातिधन्य है, जिसने भगवन्नामकी अपार महिमाको अनुभवके द्वारा जान और समझ लिया है।

ईश्वर क्या है ?

(लेखक—श्रीअर्नेस्ट पी० होरविज, प्रो० हण्टर कालेज, न्यूयार्क)

परमेश्वरकी परिभाषा कौन कर सकता है? अध्यात्म-मार्गमें जो जितना आगे बढ़ा हुआ होता है उसके ईश्वर-विषयक अनुभवमें भी उतना ही अन्तर हो जाता है। स्पेन्सर (Spencer)हक्सले(Huxley)और ईनस्टीन(Einstein) जैसे अलक्ष्यवादी(Agnostics) सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वरको नहीं मानते। वे नित्य-तत्त्वोंको, सृष्टिके अव्यय कारण एवं मर्यादाको मानते हैं जो सारे सांसारिक पदार्थोंको रचनेवाली नियामक, व्यवस्थापक एवं बनाने-विगाड़ने वाली है। इस प्रकारका विवेकपूर्ण एवं नियमित विश्वास धार्मिक विकासकी एक बहुत ऊँची सीढ़ी है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कैण्ट (Kant) ऊपर नक्षत्रोंसे जड़े हुए आकाशको एवं संसारके अन्दर धर्मकी मर्यादाको देखकर विचारमें डूब जाता था। यद्यपि वह ईश्वरवादी नहीं था किन्तु वह इस बातको पूर्णरूपसे मानता था कि इस परिवर्तनशील संसारके मूलमें कोई आध्यात्मिक तत्त्व अवश्य निहित है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जिस समय समाधिस्थ हो जाते थे, उस समय उन्हें समीपमें बैठे हुए अपने शिष्यों-तकका भान नहीं रहता था, यहाँतक कि जबतक उन्हें फिरसे बाह्यानुसन्धान नहीं होता था वे माँ कालीके सगुण-रूपको भी भूल जाते थे। आत्म-विस्मृति आस्तिकतासे भी ऊँची अवस्था है; सामान्यतया ये दोनों एकत्र नहीं रहतीं। आत्मोत्सर्गका अभ्यास बढ़ानेसे वह आत्म-विस्मृति-में परिणत हो जाता है और आत्म-विस्मृतिसे आत्मानुभव-की सिद्धि होती है। जब प्रह्लाद अपने मैंपनको भूल गया, तब उसे अपने असली स्वरूपका ज्ञान हो गया और उस अन्तरतम सार्वभौम तत्त्व (समष्टि-चेतन) का ज्ञान हो जाने-पर वह संसार और उसके अव्यक्त कारणोंको बिल्कुल भूल गया। उसे तब सृष्टि अथवा सृष्टिकर्ताका भी भान नहीं रहा; अथवा हम यों कह सकते हैं कि वह ईश्वरवादी नहीं रहा। किन्तु उस अलौकिक अवस्थासे नीचे उतरकर जब उसकी चेतना फिर सांसारिक पदार्थोंका अवगाहन करने लगी और उसे फिरसे यह ज्ञान हो गया कि 'मैं प्रह्लाद हूँ' मायाका परदा फिर उसके सामने आ गया और उसके साथ-ही-साथ उसे इस विश्वरूपी विशाल भवनका निर्माण करनेवाले उस अद्भुतकर्मा विश्वकर्मा और उसके अनन्त महिमामय गुणसमूहका भी स्मरण हो आया।

उन प्रातःस्मरणीय गोप-ललनाओंका भी यही हाल था जो वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृत्य एवं विहार करती थीं। जब वे अपने आपेको भूलकर श्रीकृष्णके साथ एकात्मताका अनुभव करती थीं तब वे गोपिका नहीं रहती थीं प्रत्युत श्रीकृष्ण ही बन जाती थीं। परन्तु ज्यों ही उन्हें अपनी सुध आती और अपनी पृथक् सत्ताका अनुभव होता कि वे श्रीकृष्णमें उपास्य-बुद्धि करने लग जाती थीं। तब वे फिर गोपी-भावको प्राप्त हो जातीं और श्रीकृष्णकी प्रेयसी बन जातीं।

मेरे प्यारे नवयुवको! आओ, हम लोग ईश्वरवाद और अनीश्वरवादके व्यर्थ वाग्जालमें न फँसकर सच्चे विश्वासी बनें। निरर्थक वाक्कलहके मनों बोझकी अपेक्षा वास्तविकता-का एक तोला भी अधिक मूल्यवान् है।

सृष्टिके अनन्त व्यक्तरूपोंके मूलमें ईश्वरीय तथ्यका निवास रहता है, शास्त्रोंके ऊहापोह एवं विषयवासनाके झोंकोंकी अपेक्षा ज्ञान एवं प्रेमका सहारा अधिक लाभदायक है।*

* Divine Realities abide
Beneath creation's crowded forms;
Wisdom and love are safer guides
Then learned love and passion's storms.

नास्तिकवाद और आस्तिकवाद

(लेखक—श्रीयुत पी० एन० शङ्करनारायण ऐयर बी० ए०, बी० एल०)

आस्तिक और नास्तिक कौन है ?

हम आस्तिकवादका अर्थ ईश्वरमें विश्वास, श्रद्धा तथा उसकी भक्ति समझते हैं और नास्तिकवादका अर्थ है ईश्वरमें अविश्वास, उसकी सत्ताका निषेध और अपने कार्योंमें उसकी अवहेलना करना। सामान्यतया सभी प्रकारके मनुष्योंका इन दो विभागोंमें समावेश हो सकता है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक विभागकी भी कई श्रेणियाँ हैं। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि ईश्वरमें विश्वास एवं श्रद्धाका वास्तविक अर्थ क्या है ? एक वह प्रेतपूजक है, जो, अमुक देवता कुपित होकर मुझे महामारी या दुर्भिक्षसे पीड़ित न कर दे, इस भयसे उस देवताको सन्तुष्ट करनेके लिये पशुबलि अथवा नरबलितक दे डालता है, उससे ऊँची श्रेणीका वह उपासक है, जो भिन्न भिन्न प्रकारके फलोंकी कामनासे अपने उपास्यदेवको भिन्न-भिन्न प्रकारकी बलि देता है, तीसरा वह नैमित्तिक उपासना करनेवाला पुरुष है जो किसी समय एवं स्थान विशेषपर तो देवकी उपासना करता है किन्तु अन्य सब समय एवं स्थानोंमें दुराचार, क्रूरताके व्यवहार एवं अपने स्वार्थके लिये परस्वापहरण करनेसे भी मुँह नहीं मोड़ता। और इन सबके विपरीत चौथा वह निष्काम भक्त है, जो प्रेम एवं सौजन्यकी मूर्ति है और जो विश्वके सारे जीवोंको प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। कदाचित् इन सबकी गणना आस्तिकोंमें ही की जायगी। इसी प्रकार नास्तिकोंमें एक ओर तो उनकी गणना होती है जो केवल ईश्वरका ही तिरस्कार नहीं करते किन्तु धर्म एवं न्यायकी भी अवहेलना करते हैं और दूसरी ओर वे लोग भी नास्तिक ही कहलाते हैं, जो ईश्वरका निषेध करनेपर भी हृदयके बड़े पवित्र एवं सुशील होते हैं, तथा सच्चे दिलसे सारे जीवोंके साथ प्रेम करने तथा उनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं। हम न तो यह कह सकते हैं कि आस्तिकोंके जितने भेद ऊपर बताये गये हैं वे सभी मानव-जातिकी प्रगतिमें सहायक हैं और न यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों प्रकारके नास्तिक उसमें बाधक ही हैं। हमारी धारणामें, वह पवित्र एवं सदाचारी नास्तिक भी, जिसकी एकमात्र अभिलाषा सारे जीवोंके साथ प्रेम करना तथा उनकी सेवा करना है, मानव-प्रगतिमें उतना ही सहायक है, जितना वह निष्काम-भक्त, जो सारे जीवोंमें प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। अन्य प्रकारके आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही मानव प्रगतिमें वस्तुत बाधक होते हैं।

नास्तिकवादका कारण क्या है ?

सच पूछिये तो स्वार्थ और दुराचार-परायण धर्मके ठेकेदारों तथा उनके पिछलग्गू भक्तोंने धर्मकी आड़में जो दुराचार, अत्याचार करना एवं भोले-भाले लोगोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया, उसीके विरोधमें नास्तिकवादका प्रचार हुआ है। नास्तिकवाद इसी प्रकारके यथेच्छाचारी एवं स्वमताग्रही पुरुषोंके अत्याचारके विरुद्ध आत्माकी स्वतन्त्रता-द्योतक आवाज है, जो इस दृष्टिसे एक प्रकारसे निर्दोष कही जा सकती है। यदि उपासकका आस्तिकवाद सदा शुद्ध, उदात्त एवं पवित्र रहे तो सारी जनताको बाध्य होकर उसका अनुगमन करना ही पड़े। श्रीमद्भागवत ७। १०। १९ में लिखा है—

> यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
> साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त अत्यन्त शान्त, समदर्शी, पवित्रात्मा, उदार एवं परोपकाररत होते हैं, वे जहाँ कहीं रहते हैं वहाँके गन्दे-से-गन्दे वातावरणको भी पवित्र कर देते हैं।

जब श्रीनन्दरायजीने सब प्रकारकी उपासनाकी ऐकान्तिक पवित्रताको न समझकर इन्द्र-मखके रूपमें अन्ध-विश्वासयुक्त अनुष्ठानका प्रारम्भ किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अग्रणी बनकर उसका विरोध किया। उन्होंने बात-की-बातमें सारी क्रियाका रूप बदलकर उसे सर्व भूतोंके अन्तरात्मा (परमात्मा) की प्रेमयुक्त पूजाका सुसंस्कृत एवं युक्तिसंगतरूप दे दिया। वह दुष्ट अथवा अविवेकी पुरुष जो खुल्लमखुल्ला ईश्वर एवं धर्मका अपलाप करता है, समाजके लिये उतना अहितकर नहीं है, जितना वह दम्भी आस्तिक कहलानेवाला मनुष्य है, जो प्रकटमें ईश्वरको माननेवाला बना रहता है परन्तु जो अन्दरसे अविश्वासी होता है। उसका ऐसा आचरण अवश्य ही उसके नैतिक पतनका कारण होता है। क्योंकि वह दम्भी ईश्वरवादकी आड़में दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है एवं उनके द्रव्यका अपहरण करता है।

मानव-समाज-की प्रगतिमें कौन-कौन-सी बातें सहायक होती हैं और कौन-कौन-सी बाधक ।

आस्तिक एवं नास्तिकके इस पारिभाषिक भेदको थोड़ी देरके लिये भुलाकर हम यह कह सकते हैं कि मानव-जातिकी वास्तविक प्रगति अत्यन्त पवित्रतामय, निःस्वार्थ तथा उदारतापूर्ण जीवनसे होती है, जिसका उद्देश्य चतुर्दिक् आलोक एवं प्रेमका प्रसार करना है। अपवित्रता, स्वार्थ-परायणता, परस्वापहरण, नृशंसता और दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा, ये सभी बातें मनुष्य-जातिकी प्रगतिमें बाधक हैं, चाहे इन दुष्ट प्रवृत्तियोंका बाह्य रूप कैसा ही अच्छा क्यों न दीखता हो ।

आदर्शकी आवश्यकता ।

अब यह विचार करना चाहिये कि हमें उच्च कोटिका जीवन किस प्रकारसे प्राप्त हो और निम्नकोटिके जीवनसे हम किस तरह बच सकें । लक्ष्यका निरन्तर ध्यान रहनेसे ही उन्नति होती है । जीवन एक प्रकारका संग्राम है, जो सुखकी प्राप्ति एवं दुःखके परिहारके लिये निरन्तर जारी रहता है । प्रायः प्रत्येक जीवका लक्ष्य अपनी अवस्थाको सुधारना होता है और वह इसके लिये भरसक चेष्टा भी करता है । वह अपनी सारी क्रियाओंको इस आदर्शके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करता है । मनुष्य जितना आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ा हुआ होता है, उसका आदर्श भी उतना ही पवित्र एवं ऊँचा होता है । जिस मनुष्यका अन्तःकरण बुरी वासनाओंसे तथा राग-द्वेषसे मलिन होता है, उसका आदर्श भूत-प्रेतोंके रूपमें उसके सम्मुख आता है । जो मनुष्य व्यापारमें तथा दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करनेमें लगा हुआ है, उसकी दृष्टिमें ईश्वरका भी वही रूप बन जाता है । इसी प्रकार एक निष्काम प्रेमी मनुष्यका आदर्श सत्य प्रेम एवं सौन्दर्यकी पराकाष्ठा होता है । उसके लिये वह एक अलौकिक प्रकाशका काम देता है, जिसके स्मरणमात्रसे ही उसको उत्साह एवं आनन्द मिलता है ।

कुछ लोगोंका मत है कि वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मूर्त्त है और कुछ लोगोंकी धारणामें वह अमूर्त्त है ।

वह आदर्श ज्ञेय एवं अज्ञेय दोनों ही है ।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यकी समझमें अवश्य आ जाता है, जिससे उसका मनुष्यके जीवनपर प्रभाव पड़ता है । परन्तु उसका बहुत-सा अंश समझमें नहीं भी आता और वह उसके लिये रहस्यमय बना रहता है । ऐसा न होता तो उसे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन ही नहीं मिलता, उसकी उन्नति ही नहीं होती, उसे प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तथा उसे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा भी नहीं होती । ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसकी उन्नतिके असंख्य नये-नये द्वार खुलते जाते हैं जो उसे आगेकी ओर खींचते रहते हैं । मनुष्यकी आत्मा ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है, उसका आदर्श भी पहलेसे ऊँचा, व्यापक, महान् एवं अपरिच्छिन्न होता जाता है ।

क्षुद्र अहंकारके नाशकी आवश्यकता ।

साधक साध्यसे अधिक-से-अधिक लाभ तभी उठा सकता है, जब वह साध्य वस्तुकी पवित्रता एवं उत्कृष्टताके सामने अपनेको अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य समझे । तब उसका साधन इतना तीव्र हो जाता है कि उसे साध्यकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं । ऐसी दशा हो जानेपर वह अपने क्षुद्र अहंभावको प्रायः भूल-सा जाता है और उसकी सारी वृत्तियाँ साध्याकार बन जाती हैं । विज्ञान, काव्य एवं दर्शन-शास्त्रमें जिन लोगोंने अधिक-से-अधिक काम करके दिखलाया है, वे साध्य वस्तुमें अपनेको विलीन करके ही ऐसा कर पाये हैं । पूर्ण सत्यकी प्राप्तिमें प्रत्यगात्माकी पृथक् सत्ता एवं चेतना बड़ी बाधक है और उसका साध्यमें विलीन होकर मिट जाना परम सहायक है ।

सन्त-महात्मा एवं नकली ईश्वरवादी ।

महान् भक्तों एवं सन्त-महात्माओंके लिये यह आदर्श ईश्वर है । उनका अनुभव यह बतलाता है कि ईश्वर ज्ञान, सौन्दर्य एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है । उनकी यह मान्यता होती है कि हम सब जीव उसके सामने अणुसे भी अणु हैं, हम उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और उसकी सेवा करनेमें ही हम सब लोगोंकी सार्थकता है । वह ईश्वर एक निश्चित आयोजनाके तथा सारे चेतन प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले कुछ महान् नियमोंके अनुसार विश्वकी रचना करता है । महान् भक्तोंकी अभिलाषा एवं जीवनका ध्येय ईश्वरके विधानके अनुकूल बनकर उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना एवं उनके संकल्पके आधारपर ही जीवन धारण करना होता है । वे जब भावावेशमें आते हैं तब उनकी क्षुद्र अहंता नष्ट होकर समष्टि-चेतनमें विलीन हो जाती है । वे ईश्वर एवं उसके विधानको प्रत्यक्ष देखते हैं और

नास्तिकवाद और आस्तिकवाद

(लेखक—श्रीयुत पी० एन० शंकरनारायण ऐयर बी० ए०, बी० एल.)

आस्तिक और नास्तिक कौन है ?

हम आस्तिकवादका अर्थ ईश्वरमें विश्वास, श्रद्धा तथा उसकी भक्ति समझते हैं और नास्तिकवादका अर्थ है ईश्वरमें अविश्वास, उसकी सत्ताका निषेध और अपने कार्योंमें उसकी अवहेलना करना। सामान्यतया सभी प्रकारके मनुष्योंका इन दो विभागोंमें समावेश हो सकता है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक विभागकी भी कई श्रेणियाँ हैं। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि ईश्वरमें विश्वास एवं श्रद्धाका वास्तविक अर्थ क्या है ? एक वह प्रेतपूजक है, जो, अमुक देवता कुपित होकर मुझे महामारी या दुर्भिक्षसे पीड़ित न कर दे, इस भयसे उस देवताको सन्तुष्ट करनेके लिये पशुबलि अथवा नरबलितक दे डालता है; उससे ऊँची श्रेणीका वह उपासक है, जो भिन्न-भिन्न प्रकारके फलोंकी कामनासे अपने उपास्यदेवको भिन्न-भिन्न प्रकारकी बलि देता है, तीसरा वह नैमित्तिक उपासना करनेवाला पुरुष है जो किसी समय एवं स्थान-विशेषपर तो देवकी उपासना करता है किन्तु अन्य सब समय एवं स्थानोंमें दुराचार, क्रूरताके व्यवहार एवं अपने स्वार्थके लिये परस्वापहरण करनेसे भी मुँह नहीं मोड़ता। और इन सबके विपरीत चौथा वह निष्काम-भक्त है, जो प्रेम एवं सौजन्यकी मूर्ति है और जो विश्वके सारे जीवोंको प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। कदाचित् इन सबकी गणना आस्तिकोंमें ही की जायगी। इसी प्रकार नास्तिकोंमें एक ओर तो उनकी गणना होती है जो केवल ईश्वरका ही तिरस्कार नहीं करते किन्तु धर्म एवं सत्यकी भी अवहेलना करते हैं और दूसरी ओर वे लोग भी नास्तिक ही कहलाते हैं, जो ईश्वरका निषेध करनेपर भी हृदयके बड़े पवित्र एवं सुशील होते हैं, तथा सच्चे दिलसे सारे जीवोंके साथ प्रेम करने तथा उनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं। हम न तो यह कह सकते हैं कि आस्तिकोंके जितने भेद ऊपर बताये गये हैं वे सभी मानव-जातिकी प्रगतिमें सहायक हैं और न यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों प्रकारके नास्तिक उसमें बाधक ही हैं। हमारी धारणामें, वह पवित्र एवं सदाचारी नास्तिक भी, जिसकी एकमात्र अभिलाषा सारे जीवोंके साथ प्रेम करना तथा उनकी सेवा करना है, मानव-प्रगतिमें उतना ही सहायक है, जितना वह निष्काम-भक्त, जो सारे जीवोंमें प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। अन्य प्रकारके आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही मानव-प्रगतिमें वस्तुतः बाधक होते हैं।

नास्तिकवादका कारण क्या है ?

सच पूछिये तो स्वार्थ और दुराचार-परायण धर्मके ठेकेदारों तथा उनके पिछलग्गू भक्तोंने धर्मकी आड़में जो दुराचार, अत्याचार करना एवं भोले-भाले लोगोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया, उसीके विरोधमें नास्तिकवादका प्रचार हुआ है। नास्तिकवाद इसी प्रकारके यथेच्छाचारी एवं स्वमताग्रही पुरुषोंके अत्याचारके विरुद्ध आत्माकी स्वतन्त्रता-द्योतक आवाज है, जो इस दृष्टिसे एक प्रकारसे निर्दोष कही जा सकती है। यदि उपासकका आस्तिकवाद सदा शुद्ध, उदात्त एवं पवित्र रहे तो सारी जनताको बाध्य होकर उसका अनुगमन करना ही पड़े। श्रीमद्भागवत ७। १०। १९ में लिखा है—

> यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
> साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः॥

अर्थात् मेरे भक्त अत्यन्त शान्त, समदर्शी, पवित्रात्मा, उदार एवं परोपकाररत होते हैं, वे जहाँ कहीं रहते हैं वहाँके गन्दे-से-गन्दे वातावरणको भी पवित्र कर देते हैं।

जब श्रीनन्दरायजीने सब प्रकारकी उपासनाकी ऐकान्तिक पवित्रताको न समझकर इन्द्र-मखके रूपमें अन्ध-विश्वासयुक्त अनुष्ठानका प्रारम्भ किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अग्रणी बनकर उसका विरोध किया। उन्होंने बात-की-बातमें सारी क्रियाका रूप बदलकर उसे सर्व भूतोंके अन्तरात्मा (परमात्मा) की प्रेमयुक्त पूजाका सुसंस्कृत एवं युक्तिसंगतरूप दे दिया। वह दुष्ट अथवा अविवेकी पुरुष जो खुल्लमखुल्ला ईश्वर एवं धर्मका अपलाप करता है, समाजके लिये उतना अहितकर नहीं है, जितना वह दम्भी आस्तिक कहलानेवाला मनुष्य है, जो प्रकटमें ईश्वरको माननेवाला बना रहता है परन्तु जो अन्दरसे अविश्वासी होता है। उसका ऐसा आचरण अवश्य ही उसके नैतिक पतनका कारण होता है। क्योंकि वह दम्भी ईश्वरवादकी आड़में दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है एवं उनके द्रव्यका अपहरण करता है।

मानव-समाज-की प्रगतिमें कौन-कौन-सी बातें सहायक होती हैं और कौन-कौन-सी बाधक।

आस्तिक एवं नास्तिकके इस पारिभाषिक भेदको थोड़ी देरके लिये भुलाकर हम यह कह सकते हैं कि मानव-जातिकी वास्तविक प्रगति अत्यन्त पवित्रतामय, निःस्वार्थ तथा उदारतापूर्ण जीवनसे होती है, जिसका उद्देश्य चतुर्दिक् आलोक एवं प्रेमका प्रसार करना है। अपवित्रता, स्वार्थ-परायणता, परस्वापहरण, नृशंसता और दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा, ये सभी बातें मनुष्य-जातिकी प्रगतिमें बाधक हैं, चाहे इन दुष्ट प्रवृत्तियोंका बाह्य रूप कैसा ही अच्छा क्यों न दीखता हो।

आदर्शकी आवश्यकता।

अब यह विचार करना चाहिये कि हमें उच्च कोटिका जीवन किस प्रकारसे प्राप्त हो और निम्नकोटिके जीवनसे हम किस तरह बच सकें। लक्ष्यका निरन्तर ध्यान रहनेसे ही उन्नति होती है। जीवन एक प्रकारका संग्राम है, जो सुखकी प्राप्ति एवं दुःखके परिहारके लिये निरन्तर जारी रहता है। प्रायः प्रत्येक जीवका लक्ष्य अपनी अवस्थाको सुधारना होता है और वह इसके लिये भरसक चेष्टा भी करता है। वह अपनी सारी क्रियाओंको इस आदर्शके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करता है। मनुष्य जितना आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ा हुआ होता है, उसका आदर्श भी उतना ही पवित्र एवं ऊँचा होता है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण बुरी वासनाओंसे तथा राग-द्वेषसे मलिन होता है, उसका आदर्श भूत-प्रेतोंके रूपमें उसके सम्मुख आता है। जो मनुष्य व्यापारमें तथा दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करनेमें लगा हुआ है, उसकी दृष्टिमें ईश्वरका भी वही रूप बन जाता है। इसी प्रकार एक निष्काम प्रेमी मनुष्यका आदर्श सत्य प्रेम एवं सौन्दर्यकी पराकाष्ठा होता है। उसके लिये वह एक अलौकिक प्रकाशका काम देता है, जिसके स्मरणमात्रसे ही उसको उत्साह एवं आनन्द मिलता है।

कुछ लोगोंका मत है कि वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मूर्त्त है और कुछ लोगोंकी धारणामें वह अमूर्त्त है।

वह आदर्श ज्ञेय एवं अज्ञेय दोनों ही है।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यकी समझमें अवश्य आ जाता है, जिससे उसका मनुष्यके जीवनपर प्रभाव पड़ता है। परन्तु उसका बहुत-सा अंश समझमें नहीं भी आता और वह उसके लिये रहस्यमय बना रहता है। ऐसा न होता तो उसे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन ही नहीं मिलता, उसकी उन्नति ही नहीं होती, उसे प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तथा उसे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा भी नहीं होती। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसकी उन्नतिके असंख्य नये-नये द्वार खुलते जाते हैं जो उसे आगेकी ओर खींचते रहते हैं। मनुष्यकी आत्मा ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है, उसका आदर्श भी पहलेसे ऊँचा, व्यापक, महान् एवं अपरिच्छिन्न होता जाता है।

क्षुद्र अहंकारके नाशकी आवश्यकता।

साधक साध्यसे अधिक-से-अधिक लाभ तभी उठा सकता है, जब वह साध्य वस्तुकी पवित्रता एवं उत्कृष्टताके सामने अपनेको अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य समझे। तब उसका साधन इतना तीव्र हो जाता है कि उसे साध्यकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं। ऐसी दशा हो जानेपर वह अपने क्षुद्र अहंभावको प्रायः भूल-सा जाता है और उसकी सारी वृत्तियाँ साध्याकार बन जाती हैं। विज्ञान, काव्य एवं दर्शन-शास्त्रमें जिन लोगोंने अधिक-से-अधिक काम करके दिखलाया है, वे साध्य वस्तुमें अपनेको विलीन करके ही ऐसा कर पाये हैं। पूर्ण सत्यकी प्राप्तिमें प्रत्यगात्माकी पृथक् सत्ता एवं चेतना बड़ी बाधक है और उसका साध्यमें विलीन होकर मिट जाना परम सहायक है।

सन्त-महात्मा एवं नकली ईश्वरवादी।

महान् भक्तों एवं सन्त-महात्माओंके लिये यह आदर्श ईश्वर है। उनका अनुभव यह बतलाता है कि ईश्वर ज्ञान, सौन्दर्य एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है। उनकी यह मान्यता होती है कि हम सब जीव उसके सामने अणुसे भी अणु हैं, हम उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और उसकी सेवा करनेमें ही हम सब लोगोंकी सार्थकता है। वह ईश्वर एक निश्चित आयोजनाके तथा सारे चेतन प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले कुछ महान् नियमोंके अनुसार विश्वकी रचना करता है। महान् भक्तोंकी अभिलाषा एवं जीवनका ध्येय ईश्वरके विधानके अनुकूल बनकर उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना एवं उनके संकल्पके आधारपर ही जीवन धारण करना होता है। वे जब भावावेशमें आते हैं तब उनकी क्षुद्र अहंता नष्ट होकर समष्टि-चेतनमें विलीन हो जाती है। वे ईश्वर एवं उसके विधानको प्रत्यक्ष देखते हैं और

नास्तिकवाद और आस्तिकवाद

(लेखक—श्रीयुत पी० एन० शंकरनारायण ऐयर बी० ए०, बी० एल०)

आस्तिक और नास्तिक कौन है ?

हम आस्तिकवादका अर्थ ईश्वरमें विश्वास, श्रद्धा तथा उसकी भक्ति समझते हैं और नास्तिकवादका अर्थ है ईश्वरमें अविश्वास, उसकी सत्ताका निषेध और अपने कार्योंमें उसकी अवहेलना करना। सामान्यतया सभी प्रकारके मनुष्योंका इन दो विभागोंमें समवेश हो सकता है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक विभागकी भी कई श्रेणियाँ हैं। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि ईश्वरमें विश्वास एवं श्रद्धाका वास्तविक अर्थ क्या है ? एक वह प्रेतपूजक है, जो, अमुक देवता कुपित होकर मुझे महामारी या दुर्भिक्षसे पीड़ित न कर दे, इस भयसे उस देवताको सन्तुष्ट करनेके लिये पशुबलि अथवा नरबलितक दे डालता है; उससे ऊँची श्रेणीका वह उपासक है, जो भिन्न-भिन्न प्रकारके फलोंकी कामनासे अपने उपास्यदेवको भिन्न-भिन्न प्रकारकी बलि देता है, तीसरा वह नैमित्तिक उपासना करनेवाला पुरुष है जो किसी समय एवं स्थान-विशेषपर तो देवकी उपासना करता है किन्तु अन्य सब समय एवं स्थानोंमें दुराचार, क्रूरताके व्यवहार एवं अपने स्वार्थके लिये परस्वापहरण करनेसे भी मुँह नहीं मोड़ता। और इन सबके विपरीत चौथा वह निष्काम-भक्त है, जो प्रेम एवं सौजन्यकी मूर्ति है और जो विश्वके सारे जीवोंको प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। कदाचित् इन सबकी गणना आस्तिकोंमें ही की जायगी। इसी प्रकार नास्तिकोंमें एक ओर तो उनकी गणना होती है जो केवल ईश्वरका ही तिरस्कार नहीं करते किन्तु धर्म एवं सत्यकी भी अवहेलना करते हैं और दूसरी ओर वे लोग भी नास्तिक ही कहलाते हैं, जो ईश्वरका निषेध करनेपर भी हृदयके बड़े पवित्र एवं सुशील होते हैं, तथा सच्चे दिलसे सारे जीवोंके साथ प्रेम करने तथा उनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं। हम न तो यह कह सकते हैं कि आस्तिकोंके जितने भेद ऊपर बताये गये हैं वे सभी मानव-जातिकी प्रगतिमें सहायक हैं और न यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों प्रकारके नास्तिक उसमें बाधक ही हैं। हमारी धारणामें, वह पवित्र एवं सदाचारी नास्तिक भी, जिसकी एकमात्र अभिलाषा सारे जीवोंके साथ प्रेम करना तथा उनकी सेवा करना है, मानव-प्रगतिमें उतना ही सहायक है, जितना वह निष्काम-भक्त, जो सारे जीवोंमें प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। अन्य प्रकारके आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही मानव प्रगतिमें वस्तुतः बाधक होते हैं।

नास्तिकवादका कारण क्या है ?

सच पूछिये तो स्वार्थ और दुराचार-परायण धर्मके ठेकेदारों तथा उनके पिछलग्गू भक्तोंने धर्मकी आड़में जो दुराचार, अत्याचार करना एवं भोले-भाले लोगोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया, उसीके विरोधमें नास्तिकवादका प्रचार हुआ है। नास्तिकवाद इसी प्रकारके यथेच्छाचारी एवं स्वमताग्रही पुरुषोंके अत्याचारके विरुद्ध आत्माकी स्वतन्त्रता-द्योतक आवाज है, जो इस दृष्टिसे एक प्रकारसे निर्दोष कही जा सकती है। यदि उपासकका आस्तिकवाद सदा शुद्ध, उदात्त एवं पवित्र रहे तो सारी जनताको बाध्य होकर उसका अनुगमन करना ही पड़े। श्रीमद्भागवत ७। १०। १९ में लिखा है—

> यत्र यत्र च मद्भक्ता प्रशान्ता समदर्शिन ।
> साधव. समुदाचारास्ते पुनन्त्यपि कीकटान् ॥

अर्थात् मेरे भक्त अत्यन्त शान्त, समदर्शी, पवित्रात्मा, उदार एवं परोपकाररत होते हैं, वे जहाँ कहीं रहते हैं वहाँके गन्दे-से-गन्दे वातावरणको भी पवित्र कर देते हैं।

जब श्रीनन्दरायजीने सब प्रकारकी उपासनाकी ऐकान्तिक पवित्रताको न समझकर इन्द्र-मखके रूपमें अन्ध-विश्वासयुक्त अनुष्ठानका प्रारम्भ किया, तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अग्रणी बनकर उसका विरोध किया। उन्होंने बात-की-बातमें सारी क्रियाका रूप बदलकर उसे सर्व भूतोंके अन्तरात्मा (परमात्मा) की प्रेमयुक्त पूजाका सुसंस्कृत एवं युक्तिसंगतरूप दे दिया। वह दुष्ट अथवा अविवेकी पुरुष जो खुल्लमखुल्ला ईश्वर एवं धर्मका अपलाप करता है, समाजके लिये उतना अहितकर नहीं है, जितना वह दम्भी आस्तिक कहलानेवाला मनुष्य है, जो प्रकटमें ईश्वरको माननेवाला बना रहता है परन्तु जो अन्दरसे अविश्वासी होता है। उसका ऐसा आचरण अवश्य ही उसके नैतिक पतनका कारण होता है। क्योंकि वह दम्भी ईश्वरवादकी आड़में दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है एवं उनके द्रव्यका अपहरण करता है।

मानव-समाज-की प्रगतिमें कौन-कौन-सी बातें सहायक होती हैं और कौन-कौन-सी बाधक।

आस्तिक एवं नास्तिकके इस पारिभाषिक भेदको थोड़ी देरके लिये भुलाकर हम यह कह सकते हैं कि मानव-जातिकी वास्तविक प्रगति अत्यन्त पवित्रतामय, निःस्वार्थ तथा उदारतापूर्ण जीवनसे होती है, जिसका उद्देश्य चतुर्दिक् आलोक एवं प्रेमका प्रसार करना है। अपवित्रता, स्वार्थ-परायणता, परस्वापहरण, नृशंसता और दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा, ये सभी बातें मनुष्य-जातिकी प्रगतिमें बाधक हैं, चाहे इन दुष्ट प्रवृत्तियोंका बाह्य रूप कैसा ही अच्छा क्यों न दीखता हो।

आदर्शकी आवश्यकता।

अब यह विचार करना चाहिये कि हमें उच्च कोटिका जीवन किस प्रकारसे प्राप्त हो और निम्नकोटिके जीवनसे हम किस तरह बच सकें। लक्ष्यका निरन्तर ध्यान रहनेसे ही उन्नति होती है। जीवन एक प्रकारका संग्राम है, जो सुखकी प्राप्ति एवं दुःखके परिहारके लिये निरन्तर जारी रहता है। प्रायः प्रत्येक जीवका लक्ष्य अपनी अवस्थाको सुधारना होता है और वह इसके लिये भरसक चेष्टा भी करता है। वह अपनी सारी क्रियाओंको इस आदर्शके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करता है। मनुष्य जितना आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ा हुआ होता है, उसका आदर्श भी उतना ही पवित्र एवं ऊँचा होता है। जिस मनुष्यका अन्तःकरण बुरी वासनाओंसे तथा राग-द्वेषसे मलिन होता है, उसका आदर्श भूत-प्रेतोंके रूपमें उसके सम्मुख आता है। जो मनुष्य व्यापारमें तथा दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करनेमें लगा हुआ है, उसकी दृष्टिमें ईश्वरका भी वही रूप बन जाता है। इसी प्रकार एक निष्काम प्रेमी मनुष्यका आदर्श सत्य प्रेम एवं सौन्दर्यकी पराकाष्ठा होता है। उसके लिये वह एक अलौकिक प्रकाशका काम देता है, जिसके स्मरणमात्रसे ही उसको उत्साह एवं आनन्द मिलता है।

कुछ लोगोंका मत है कि वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मूर्त्त है और कुछ लोगोंकी धारणामें वह अमूर्त्त है।

वह आदर्श ज्ञेय एवं अज्ञेय दोनों ही है।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यकी समझमें अवश्य आ जाता है, जिससे उसका मनुष्यके जीवनपर प्रभाव पड़ता है। परन्तु उसका बहुत-सा अंश समझमें नहीं भी आता और वह उसके लिये रहस्यमय बना रहता है। ऐसा न होता तो उसे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन ही नहीं मिलता, उसकी उन्नति ही नहीं होती, उसे प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तथा उसे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा भी नहीं होती। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसकी उन्नतिके असंख्य नये-नये द्वार खुलते जाते हैं जो उसे आगेकी ओर खींचते रहते हैं। मनुष्यकी आत्मा ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है, उसका आदर्श भी पहलेसे ऊँचा, व्यापक, महान् एवं अपरिच्छिन्न होता जाता है।

क्षुद्र अहंकारके नाशकी आवश्यकता।

साधक साध्यसे अधिक-से-अधिक लाभ तभी उठा सकता है, जब वह साध्य वस्तुकी पवित्रता एवं उत्कृष्टताके सामने अपनेको अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य समझे। तब उसका साधन इतना तीव्र हो जाता है कि उसे साध्यकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं। ऐसी दशा हो जानेपर वह अपने क्षुद्र अहंभावको प्रायः भूल-सा जाता है और उसकी सारी वृत्तियाँ साध्याकार बन जाती हैं। विज्ञान, काव्य एवं दर्शन-शास्त्रमें जिन लोगोंने अधिक-से-अधिक काम करके दिखलाया है, वे साध्य वस्तुमें अपनेको विलीन करके ही ऐसा कर पाये हैं। पूर्ण सत्यकी प्राप्तिमें प्रत्यगात्माकी पृथक् सत्ता एवं चेतना बड़ी बाधक है और उसका साध्यमें विलीन होकर मिट जाना परम सहायक है।

सन्त-महात्मा एवं नकली ईश्वरवादी।

महान् भक्तों एवं सन्त-महात्माओंके लिये यह आदर्श ईश्वर है। उनका अनुभव यह बतलाता है कि ईश्वर ज्ञान, सौन्दर्य एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है। उनकी यह मान्यता होती है कि हम सब जीव उसके सामने अणुसे भी अणु हैं, हम उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और उसकी सेवा करनेमें ही हम सब लोगोंकी सार्थकता है। वह ईश्वर एक निश्चित आयोजनाके तथा सारे चेतन प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले कुछ महान् नियमोंके अनुसार विश्वकी रचना करता है। महान् भक्तोंकी अभिलाषा एवं जीवनका ध्येय ईश्वरके विधानके अनुकूल बनकर उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना एवं उनके संकल्पके आधारपर ही जीवन धारण करना होता है। वे जब भावावेशमें आते हैं तब उनकी क्षुद्र अहंता नष्ट होकर समष्टि-चेतनमें विलीन हो जाती है। वे ईश्वर एवं उसके विधानको प्रत्यक्ष देखते हैं और

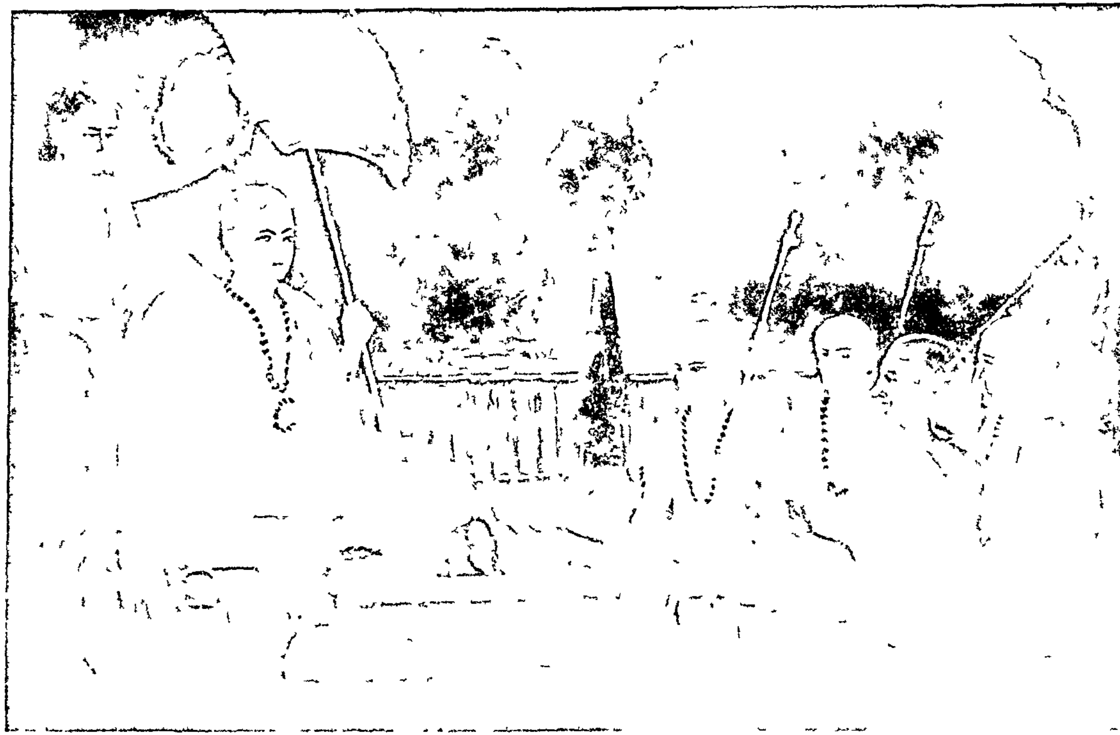
तब उन्हें इस बातकी उत्सुकता होती है कि जिस आनन्दका अनुभव वे करते हैं वह आनन्द सभीको प्राप्त हो। इसी हेतुसे वे संसारके सामने अपना प्रत्यक्ष अनुभव प्रकट करते हैं और उसे प्राप्त करनेका मार्ग बतलाते हैं। जिस वस्तुका शुद्ध चेतनाकी अवस्थामें अनुभव होता है, उसको साधारण भाषाके द्वारा साधारण मनुष्योंको समझानेमें कुछ बातें पूरी तौरसे व्यक्त नहीं की जा सकतीं और कुछ बातोंके समझानेमें भूल भी हो जाती है। भिन्न-भिन्न योग्यताके मनुष्य अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूपमें समझते हैं। परिणाममें अनेकों सम्प्रदायोंकी सृष्टि हो जाती है, लोगोंमें अन्धविश्वास फैल जाता है, कर्मकाण्डकी प्रक्रियाएँ बढ़ जाती हैं, धर्मके ठेकेदारोंका अत्याचार आरम्भ हो जाता है और ईश्वरका महत्त्व भूत-प्रेतों-जैसा ही रह जाता है। अनधिकारियोंके प्रति रहस्य प्रकट करनेसे इसप्रकार समाजमें जो गन्दगी फैलती है, उसीका परिणाम यह होता है कि लोग ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करने लगते हैं और नास्तिक बन जाते हैं। असली नास्तिक वही हैं जो कहनेमें तो उसी एक ऋषि-मुनि-वन्दित परमेश्वरको मानते हैं जो ज्ञान, पवित्रता एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है किन्तु अपने आचरणोंसे उसकी सत्ताका सर्वथा अपलाप करते हैं और उसके नियमोंका उल्लंघन करते हैं। इन नकली ईश्वरवादियोंसे संसारकी अधिक हानि होती है।

नास्तिकोंमें कई ऐसे उदार नास्तिक भी हो चुके हैं जो वास्तवमें ज्ञानी एवं आस्तिक थे।

कुछ महापुरुषोंने जब यह देखा कि ईश्वरमें इसप्रकारके भावसे लोगोंपर उलटा प्रभाव पड़ रहा है और उनकी हानि हो रही है, तो उन्होंने लोगोंको फिरसे सत्य-मार्गपर लानेके लिये ईश्वरकी सत्ताको सर्वथा अस्वीकार करना तथा सत्य एवं सदाचारको जीवनका आदर्श बतलाना उचित समझा। इसप्रकारके नास्तिक कहलानेवाले पुरुषोंमें वस्तुतः कई महान् एवं पवित्र आत्माएँ थीं। उन्होंने ईश्वरका खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया जिसका अत्याचारी लोग बखान किया करते थे; उन्होंने उस सत्यकी खोजमें, जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्य-जीवन पूर्ण बन सकता है, अपना जीवन लगा दिया, जो वास्तवमें प्रशंसाके योग्य कार्य था। अवश्य ही उन्होंने उस सत्यका नाम ईश्वर नहीं रक्खा और न उसे साकार ही बतलाया, किन्तु फिर भी उनका आदर्श सत्यकी पराकाष्ठा ही था और उसीकी खोज करना उनके जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य बन गया था। हिन्दू-धर्ममें ईश्वरके इस स्वरूपको निराकार स्वरूप बतलाया है और उसके उपासकोंको ज्ञानी कहा गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक उदारचित्त पुरुष हो चुके हैं, और हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती महान् नास्तिकोंके उत्तम आचरणों अथवा विचारोंको अपना आदर्श बना लिया। इन लोगोंने ईश्वरको नहीं किन्तु इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाया। कई ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने जीवन एवं प्रकृतिके सुन्दर भावोंको ही अपना आदर्श माना। हिन्दू-धर्म हमें बतलाता है कि जहाँ कहीं हमें सौन्दर्य, उदारता, ज्ञान अथवा अन्य किसी महान् गुणकी उपलब्धि होती है, जिससे आस-पासके लोगोंको उत्साह मिलता है और चारों ओर शान्ति तथा आनन्दकी वृष्टि होती है, वहाँ ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति समझनी चाहिये। लोगोंकी योग्यताके अनुसार उन्हें सत्य एवं सुखके मार्गपर लगानेके लिये ईश्वर ही उन अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। अतः ये सारे-के-सारे नास्तिक कहलानेवाले वास्तवमें आस्तिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका निराकार ईश्वरमें विश्वास है। हिन्दूधर्मका यह सिद्धान्त है कि वह शुद्ध सत्य तत्त्व लोगोंकी प्रकृतिके अनुसार निराकार अथवा साकार दोनों ही रूपोंमें मनुष्यकी बुद्धिका विषय होता है।

निराकार तत्त्वकी खोजमें कठिनता।

ऊपरके विवेचनसे हम यह कह सकते हैं कि जो लोग पवित्र एवं उदारचित्त होते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरवादी हैं, चाहे वे साकार ईश्वरके उपासक हों अथवा निर्गुण तत्त्वके। उक्त दोनों श्रेणियोंके मनुष्योंसे ही संसारकी प्रगतिमें सहायता मिलती है। परन्तु निर्गुणके उपासकोंका मार्ग कठिनाइयोंसे पूर्ण एवं बड़ी जोखिमका होता है। जीवको स्वभावसे ही ऐसी वस्तुकी आवश्यकता होती है, जिसे वह अपने प्रेम एवं पूजाका पात्र बना सके। जानवरोंसे लेकर बड़े-से-बड़े महात्माओं एवं ऋषियोंतकके लिये यह बात लागू होती है। किसी प्रेम-पात्रके बिना, जिसके प्रति मनुष्य अपने आपको समर्पण कर सके, जीवन शून्य एवं भारी हो जाता है। प्रेमके अन्दर जीवनको ऊँचा उठाने तथा शुद्ध करनेकी बड़ी भारी शक्ति निहित है। प्रेम जितना ही अहैतुक, स्वार्थरहित, पवित्र



स्वामी शंकराचार्य

एवं व्यापक होगा और प्रेमास्पदके लिये आत्माका जितने ही अधिक अंशमें आत्यन्तिक उत्सर्ग होगा, उतने ही अधिक अंशमें हमारा जीवन उन्नत एवं पवित्र होगा। अतएव जो लोग निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे एक प्रकारसे घाटेमें रहते हैं। हाँ, उनसे पहले जो महान् साधक हो चुके हैं, उनमें उनका अवश्य प्रेम होता है। इसमें व्यक्तिगत पूजाका भाव आ जाता है, अतः इसे हम वास्तवमें नास्तिकवाद नहीं कह सकते, यह एक प्रकारसे आस्तिकवादका ही रूपान्तर है। अन्तर केवल इतना है कि ईश्वरके स्थानमें ये लोग महापुरुषोंकी एवं प्रकृतिकी उपासना करते हैं। जो लोग इनको भी अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाते, उनके लिये इस बातका बड़ा भय रहता है कि उनका अहंकार कहीं फिरसे उनपर अधिकार न कर ले और उनकी सत्यबुद्धिको कलुषित न कर दे। उन्हें बहुधा नैराश्य एवं विषाद घेर लेता है जिससे वे क्रोध अथवा अमर्षके वशीभूत हो जाते हैं।

वैयक्तिक अनुभवका प्रमाण।

उपर्युक्त कथनको मैं अपने जीवनकी कुछ विशेष घटनाओंसे स्पष्ट करनेकी चेष्टा करूँगा। पिछले कुछ वर्षोंसे मैं भारतीय ग्रामोंमें उन जातियोंके जीवनको सुधारने तथा संघटित करनेकी चेष्टामें लगा हूँ जो सामाजिक जीवनमें अन्य जातियोंसे पिछड़ी हुई हैं और अनेक प्रकारके कष्टोंसे पीड़ित हैं। मेरे साथ कई ऐसे मित्र भी कार्य करते रहे हैं जिनका ईश्वरमें विश्वास न होनेपर भी वे बड़े प्रेमी एवं सत्यान्वेषी हैं और उनके अन्दर समाज-सेवाकी बड़ी प्रबल भावना है। ग्रामसुधार एवं नगरोंके गन्दे भागोंके सुधारका कार्य ही ऐसा है कि इस क्षेत्रमें काम करनेवालेको पद-पदपर ऐसी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, जो देखनेमें दुरत्यय प्रतीत होती हैं। इस प्रकारके संकटोंके आ पड़नेपर मैंने देखा कि मेरे सहकारी मित्र सीधे मार्गसे विचलित होने लगे, वे इधर-उधरकी युक्तियाँ सजाने लगे और लक्ष्यसे दूर हटने लगे। इसका कारण यह था कि उन्होंने यह सोचा कि हम अकेले एवं असहाय हैं, इसलिये दूसरोंकी सहायता आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि वे धीरे-धीरे लक्ष्यसे च्युत हो गये और मुख्य कार्यको छोड़ बैठे। किन्तु ऐसे अवसरोंपर मेरे अन्दर नवीन साहसका सञ्चार होता था और साथ-ही-साथ मेरा उत्साह भी बढ़ता था। कभी-कभी तो गाँव-का-गाँव मेरे विरुद्ध खड़ा हो जाता था। वे लोग मेरे सिद्धान्तको तो ठीक समझते थे परन्तु उसे कार्यमें परिणत करना असम्भव-सा मानते थे। उस समय मुझे भगवान्‌का निम्नलिखित उत्साहप्रद वाक्य स्मरण हो आता था, जो उन्होंने देवताओंको मन्दराचलसे समुद्र-मन्थनके लिये प्रोत्साहित करते हुए कहा था, और मेरे अन्दर जोश भर देता था—

'सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः।'

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् हे देवो! मेरी सहायतासे आलस्य छोड़कर मन्थनके कार्यमें जुट जाओ, उत्साह न छोड़ो।

मैं लोगोंको यह वाक्य सुनाता हूँ और उस प्रभुपर पहलेकी अपेक्षा अधिक विश्वासके साथ अपनी कार्य-पद्धतिको जारी रखता हूँ। तुरन्त मेरे लिये सहायताका कोई नया द्वार खुल जाता है, लोग मेरी बातको मान लेते हैं और अपने पैरोंपर खड़े होकर मेरी बतायी हुई दिशामें काम करने लगते हैं। कई बार मैंने देखा है कि मेरे उन अन्तरंग मित्रोंको नैराश्य, अव्यवस्थितता, विवेकशून्यता तथा जीवन एवं कार्यके प्रति उदासीनताके भाव घेर लेते थे और उनकी वही दशा हो जाती थी जो समुद्रमें बिना डाँड़की नौकाकी होती है। किन्तु उसी परिस्थितिमें मेरा मार्ग मुझे स्पष्ट दिखायी देता था और मुझे एक अज्ञात शक्ति, बल एवं आत्मविश्वास प्राप्त होता था। ऐसे समयपर देवर्षि नारदके द्वारा व्यासजीके प्रति कहे हुए निम्नलिखित वाक्यकी सत्यता मुझे स्पष्ट प्रतीत होती थी—

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
पृथग्दृशस्तत्कृतनामरूपभिः।
न कुत्रचित् क्वापि च दुःस्थितामति-
र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् 'जो मनुष्य उस परमात्माके द्वारा रचे हुए नामरूपोंके कारण उससे भिन्न किसी लक्ष्यको अपनी दृष्टिके सामने रखता है और इसीलिये उससे भिन्न वस्तुओं-की चर्चाके द्वारा लोगोंकी सहायता करना चाहता है, उसकी बुद्धि समुद्रमें बिना डाँड़की नौकाकी नाईं इधर-उधर डगमगाती हुई कहीं आश्रय नहीं पाती।' इसी प्रकार मुझे अपने जीवनमें ऐसे कई आदमियोंसे काम पड़ा है

मस्तिष्क बहुत ऊँचा, हृदय बड़ा विशाल है और जो प्राणीमात्रकी सेवामें अपना जीवन व्यतीत करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु मैंने देखा है कि मनुष्योंकी सेवा करते हुए भी वे लोगोंकी सोई हुई आध्यात्मिक वृत्तियोंको जागृत नहीं कर सकते और इसीसे उनको अपने कार्यमें दूसरोंसे सहायता नहीं मिलती। वे लोग प्रायः इस बातको नहीं जानते कि लोगोंके हृदयपर किस बातका असर पड़ता है और इसीलिये वे इधर-उधर भटकने लगते हैं। इसका कारण यह होता है कि उन्हें धर्मके मुख्य सिद्धान्तोंका ज्ञान नहीं होता, जिनसे जीव और ईश्वरकी एकता होती है। साथ ही मैंने ऐसे पवित्रात्मा एवं धार्मिक अनुभववाले पुरुषोंको भी देखा है कि जो जंगली असभ्य जातियोंकी अन्तरात्माओंको भी हिला देते हैं और उनके जीवनमें प्रकाश, आशा, शक्ति एवं आनन्दका सञ्चार कर देते हैं। उस समय मैं हृदयसे निम्नलिखित वाक्योंको सत्यताका अनुभव करता हूँ।

> येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
> स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
> आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
> पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
> तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
> भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
> त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
> विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(*श्रीमद्भागवत*)

हे पुण्डरीकाक्ष! वे दूसरे लोग जो अपनेको मुक्त मानने लगते हैं और तुम्हारे प्रेमका तिरस्कार कर देनेके कारण जिनकी बुद्धि कलुषित हो जाती है, वे बड़ी कठिनतासे ऊँची अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी तुम्हारे चरणोंके प्रेमका आधार न होनेसे नीचे गिर जाते हैं। परन्तु हे लक्ष्मीपते! यह दशा उनकी नहीं होती जो तुम्हारे बन गये हैं; तुमसे प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेनेके कारण वे कभी मार्गसे च्युत नहीं होते, हे प्रभो! तुम्हारे त्राणको पा वे निर्भय होकर विघ्नोंके समूहोंको पददलित कर डालते हैं।

आस्तिक एवं नास्तिकका निर्णय करना कठिन है।

फिर एक बात यह है कि अमुक मनुष्य आस्तिक है अथवा नास्तिक, यह बतलाना सहज नहीं। जीवनको उन्नत एवं सुन्दर बनानेवाला जो ईश्वरके अन्दर दृढ़ विश्वास होता है, उसकी लौ बहुत कम लोगोंके अन्दर जीवनभर एक-सी रहती है। कभी-कभी तो यह बिल्कुल मन्द अथवा क्षीण हो जाती है और आगे चलकर उसकी ज्योति और भी फीकी पड़ जाती है, यहाँतक कि कभी-कभी उसके मनमें नास्तिकता अथवा ईश्वरकी विस्मृतिकी लहर-सी आ जाती है। हम पामर जीवोंकी तो बात ही क्या है, बड़े-से-बड़े भक्तोंको भी, जब वे अपनी वृत्तियोंपर दृष्टि डालते हैं, अपने हृदयकी दुरवस्थाको देखकर रोना आता है। प्रह्लाद-जैसे महाभागवतने भी भगवान्‌से इसप्रकार विनती की थी—

> नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
> संप्रीयते दुरितदुष्टमसाधुतीव्रम्।
> कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्त
> तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः॥

(श्रीमद्भागवत)

हे वैकुण्ठाधिपति! मेरा यह अत्यन्त दुष्ट, अतिशय असाधु, मन्मथोन्मथित तथा हर्ष, शोक, भय एवं अनेक प्रकारकी कामनाओंसे जर्जरित मन तुम्हारी कथाओंमें नहीं लगता; फिर यह दीन-हीन जन तुम्हारी लीलाओंको किसप्रकार समझ सकता है?

श्रीकृष्णचैतन्य भी जो प्रेमार्णवके अवतार ही थे, इस-प्रकार अपना रोना रोते हैं—

> श्रीकृष्णरूपादिनिषेवणं विना
> व्यर्थानि मेऽहान्यखिलेन्द्रियाणि च।
> पाषाणशुष्केन्धनभारकाण्यहो
> बिभर्मि वा तानि कथं हतत्रपः॥

अर्थात् सारे भूतप्राणियोंको आकर्षण करनेवाले अन्वर्थ नाम भगवान् श्रीकृष्णके रूप एवं गुणोंका ध्यान किये बिना मेरा जीवन एवं मेरी इन्द्रियोंके सारे व्यापार व्यर्थ हैं। अथवा यों कहिये कि मैं निर्लज्ज पत्थर अथवा सूखे ईंधनके भारकी तरह इस जीवनका वहन करता हूँ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि अधम-से-अधम जीवोंके अन्दर कभी-कभी दिव्य ज्योतिकी ऐसी झलक दिखायी देती है कि जिसके दर्शनकर बड़े-बड़े महात्माओं-का जीवन उन्नत और उत्साहपूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवतका अध्ययन करनेवाले सब लोग यह जानते हैं कि भगवान् श्रीदत्तात्रेयने जो चौबीस गुरु बनाये थे, उनमें एक वेश्या, एक मधुमक्षिका एवं एक व्याध भी था।

आस्तिकोंका कर्त्तव्य ईश्वरके अन्दर तल्लीन हो जाना और सर्वत्र उनका दर्शन करना है।

अब प्रश्न यह होता है कि उन लोगोंका क्या कर्त्तव्य है, जो यह चाहते हैं कि उस प्रेममय विश्वके अधिपतिके अन्दर जगत्‌का विश्वास बढ़े और संसारमें प्रेम एवं सुखकी वृद्धि हो। हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको, जो यह इच्छा रखता है, यह चाहिये कि वह एकाग्रचित्त होकर भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना करे और स्वयं उन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के स्वरूपमें लीन होकर सारे भूतप्राणियोंमें उन्हींका रूप देखे तथा ईश्वरबुद्धिसे सबकी सेवा करे। यदि हमने लगनके साथ उनकी खोज की और प्रेमके साथ उनको पुकारा तो हमें विश्वास है कि हमारी पुकारका उत्तर वह अवश्य देंगे और हमें अपनी कृपाकी भिक्षा देकर संसारको अपने प्रेम, सौन्दर्य एवं आनन्दसे परिप्लावित कर देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णचैतन्यके विग्रहमें अवतीर्ण होकर उन्होंने ऐसा ही किया था। हमारी प्रार्थना है कि प्रभु हमें वह शक्ति एवं योग्यता प्रदान करे जिसके द्वारा हम उनके कृपापात्र बनकर संसारमें उनके प्रेमका प्रसार कर सकें।

नाम-महिमा

(लेखक—प्रोफेसर श्रीशंकरराव, बी०, दांडेकर)

श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि, 'मैं भक्तिकी महिमाको दिखलाकर ब्रह्मज्ञानी पुरुषको भी उसके लिये उत्कण्ठित बनाऊँगा, मुक्त पुरुषोंकी आत्मस्थिति छुड़ा दूँगा। हरिनाम-कीर्तनसे जीवन ब्रह्ममय हो जाता है, तथा वह कीर्तन ऐसा भाग्यप्रद है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी बन जाते हैं। इसलिये तीर्थयात्रा करनेवालोंको भजनमें डाल आलसी बना दूँगा, तथा स्वर्गवास और स्वर्ग-सुख-भोगोंको भी उसके आगे कटु बना दूँगा। भक्तिके सम्मुख तपस्वी लोगोंका अभिमान छुड़ा दूँगा, तथा यज्ञ और दानको लज्जित कर दूँगा। केवल भगवन्नामके बलपर मैं पुरुषार्थसे चरम भक्तिको प्राप्त करूँगा और इहलोकमें लोगोंमें धन्य-धन्य कहलाऊँगा, क्योंकि मैंने (तुकारामने) उस परम भाग्यरूपी भक्तिको देखा है।'*

पाश्चात्य देशमें जिस समय ईश्वर-विषयक प्रश्नोंकी चर्चा छिड़ती है, उस समय ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले कौन-कौनसे प्रमाण पेश किये जा सकते हैं, इसी प्रकारकी चर्चा बहुधा प्रारम्भमें होती है। हमारे यहाँ इससे भिन्न ही प्रणाली है। भारतीय मनुष्योंकी मनःसृष्टि ही ऐसी हुई है कि उसमें कुछ बातें, बिना उत्पन्न किये ही, स्वभावतः सजी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ—पुनर्जन्मपर विश्वास, कर्मसिद्धान्त, आत्माका अमरत्व इत्यादि। ईश्वरके अस्तित्वका प्रश्न भी करीब-करीब इसी प्रकारका है। अति प्राचीनकालमें ऋषियोंने उपनिषद्‌की दृष्टिसे विचारकर अपने अनुभवसे स्पष्ट भाषामें यह बतला दिया था कि 'ईश्वर है और उसका ज्ञान प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सफलता है, तथा उसका ज्ञान न प्राप्त होनेसे मनुष्य महान् विनाशको प्राप्त होता है।'

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'
—केनोपनिषद्

अर्थात् यदि इस जन्ममें ईश्वरको जान लिया तो सब ठीक हो गया, न जान सका तो वह महाविनाशको प्राप्त होगा। यह बात हमलोगोंके रग-रगमें समायी हुई है। इसलिये ईश्वर-विषयक प्रश्नकी चर्चा छिड़नेपर, 'ईश्वर है या नहीं और यदि है तो इसके कौन-से प्रमाण हैं?—इत्यादि प्रश्नोंको उठाकर उसकी चर्चा करनेकी अपेक्षा

---

* घोंटवीन लाल ब्रह्मज्ञान्या हातीं। मुक्तां आत्मस्थिती सांटवीन॥
ब्रह्मभूत काया होतसे कीर्तनीं। भाग्य तरी ऋणी देव ऐसा॥
तीर्थभ्रामकासी आणीन आलस। कडू स्वर्गवास करिन भोग॥
सांडवीन तपोनिधा अभिमान। यज्ञ आणि दान लाजवीन॥
भक्तिभाग्य सीमा साधीन पुरुषार्थ। ब्रह्मींचा जो अर्थ निजठेवा॥
धन्य म्हणवीन इहलोकीं लोकां। भाग्य आम्हीं तुका देखियेला॥
श्रीतुकाराम साम्प्रदायिक गाथा अभंग ३६–९

उसके अस्तित्वको स्वीकारकर, तथा उसकी प्राप्तिको मानव-जीवनकी सफलता मानकर हम उसकी प्राप्तिके साधनोंका ही विचार करते हैं। परन्तु आजकल इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। आधुनिक शिक्षित पुरुषोंका मन *अनीश्वरवादकी ओर अधिक झुकने लगा है।* इसका कारण पाश्चात्य विद्याका संस्कार तो है ही, समय (युग) की महिमा भी ऐसी ही है। क्योंकि समाजसत्तावाद (Communism) के सदृश सिद्धान्त भी अनीश्वरवादकी ओर झुकने लगे हैं। ऐसे अवसरपर भारतवर्षकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानके प्रमुख अंग 'ईश्वर-दर्शन' विषयक अंक निकालकर 'कल्याण' मासिकपत्रने आधुनिक सजातीय विचारोंके एकत्र करनेका स्तुत्य प्रयत्न किया है, उसमें इस लेखद्वारा हम भी अपना हाथ बँटाते हैं। ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेका काम अधिकारी पुरुषोंके ऊपर छोड़कर इस लेखमें भगवत्प्राप्तिके सुगम और सुलभ साधन-स्वरूप भगवन्नामके माहात्म्यके विषयमें संक्षेपमें विचार किया जायगा।

१—इतिहास

उपर्युक्त कथनानुसार हमारे देशमें अति प्राचीनकालमें—इतने प्राचीनकालमें जब कि प्राचीन भूभागमें, जो राष्ट्र आज अग्रगण्य कहे जाते हैं उनमेंसे कितनोंका इस स्वरूपमें उदय भी नहीं हुआ था, उस कालमें—'क्या संसारका कोई कारण है, यदि है तो वह चेतन है या जड़, उसके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है, उसका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं, यदि हो सकता है तो किस उपायसे ?' इसप्रकारके गहन तात्त्विक विषयोंपर चर्चा चलाकर एतद्विषयक सिद्धान्त निश्चित किये जाते थे। *पवित्र गंगा-तटके समान रम्य स्थानमें निवास, साधारण* रहन-सहन, खाने-पीनेकी चिन्ताका अभाव, इन परिस्थितियोंमें तत्कालीन ऋषियोंको इन प्रश्नोंकी सांगोपांग और शान्त रीतिसे चर्चा करनेमें सुविधा थी। वह चर्चा किस प्रकारकी होती थी इस बातका पता हमें उपनिषदोंसे लग जाता है। अन्य आवश्यक प्रश्नोंके साथ परमेश्वरकी प्राप्तिके साधनोंका भी विचार होता था। उपनिषदोंमें ज्ञान, योग और कर्म इन साधनोंके साथ-साथ नाम-मार्गका भी उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद् खण्ड ४ श्लोक ६ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—'*तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्।*' छान्दोग्य उपनिषद्के सातवें अध्यायके प्रथम खण्डमें भी नामकी उपासनाका उल्लेख है। नाम-मार्ग अन्य साधनोंके समान ही प्राचीन है बल्कि योगादि साधनोंकी अपेक्षा भी उसका अधिक पुराना होना बहुत ही स्वाभाविक है। जगन्नियन्ता ईश्वर है, एक बार यह मान लेनेपर उसको *समीप बुलानेका सहज मार्ग मानव-स्वभावके अनुसार* यदि है तो उसको पुकारना ही है। माँको सामने न देखकर जैसे बच्चा रो-रोकर उसे पुकारता है, उसी प्रकार व्याकुल होकर प्रेमसे उस छिपी हुई जगन्माताको दर्शन देनेके लिये पुकारना ही स्वाभाविक मार्ग है। उपनिषदोंमें *इसका जो संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इसका कारण* यह है कि वे ग्रन्थ तत्त्व-चर्चा-विषयक हैं अतः तत्कालीन ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिसे निकले हुए सिद्धान्त सूत्ररूपसे उनमें लिखे हुए हैं। यही कारण है कि भावना-प्रधान तथा अन्तःकरणको अंगीकृत होनेवाले मार्गका उनमें स्वभावतः ही विस्तार नहीं है। परन्तु *इस मार्गका उनमें* उल्लेख है, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। इस विषयमें इतना लिखनेका कारण यही है कि बहुतेरे लोग इस मार्गको अर्वाचीन और अधिक-से-अधिक मध्ययुगका मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त चर्चासे यह मालूम हो जाता है कि *उनका ऐसा समझना भूल है।* हाँ, *नाम-साधनके* सच्चे महत्त्वको जान कर उससे पूरा-पूरा लाभ उठाकर उसका लाभ सब जीवोंको प्रदान करनेका श्रेय यदि किसीको प्राप्त है तो वह अवश्य ही मध्यकालीन साधु-सन्तोंको है। उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषि-मुनियोंका झुकाव ज्ञानकी ओर था, उस समय ईश्वर-विषयक चर्चा तथा उसकी प्राप्तिके साधनोंका अनुष्ठान गुफाओं अथवा आश्रमोंमें होता था। मध्ययुगीन नामनिष्ठ (भक्त) लोगोंने हरिभक्तिकी महिमा अधिक बढ़ायी और ईश्वर-विषयक प्रश्नोंको गुफाओं और आश्रमोंसे निकाल चौराहोंपर लाकर सबके लिये उन्हें सुलभ कर दिया। यह कहना असंगत न होगा कि इस युगका आरम्भ श्रीमद्भागवतपुराणसे हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कलियुगका वर्णन करते समय स्पष्टरूपसे कहा है कि—

यत्र संकीर्तनेनैव सर्वे स्वार्थोऽभिलभ्यते।

'श्रीभगवान्के नाम-संकीर्तनसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी अर्थोंकी प्राप्ति होती है।' श्रीविष्णुपुराण (६।२।१७) में भी यह स्पष्टतः कहा गया है कि नाम-संकीर्तन ही इस कलियुगका धर्म है। नारदके भक्तिसूत्र भी इसी प्रकारके

हैं। परन्तु इसकी अपेक्षा भी नामका प्रसार ईश्वरके नाम-का जयघोष करते हुए हिन्दुस्तानभरमें यदि किसीने किया है तो वे प्रान्तीय भाषामें कविता करनेवाले महा-पुरुष महात्मागण हैं। उनमेंसे कुछ प्रमुख महात्माओंके नाम कबीरदास, तुलसीदास, रैदास, दादू, चरणदास, नानक, मीराबाई, नरसीमेहता, चैतन्य, ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और पुरन्दरदास प्रभृति हैं। और इसी नामके श्रेष्ठत्व सिद्ध करनेवालोंकी परम्परा अर्वाचीन साधु रामकृष्ण परमहंसतक पहुँची है।

इस विषयमें ध्यान देनेयोग्य एक अचरजकी बात तो यह है कि नामकी श्रेष्ठता तथा उसकी सामर्थ्यके विषयमें भारतके विभिन्न प्रदेशोंके सभी साधुओंका एकमत है। भारतके साधुओंको तो भगवन्नामकी श्रेष्ठता स्वीकृत है ही; बल्कि पाश्चात्य देशके साधु भी नामके महत्त्वको जानकर उसकी स्तुति करते हैं। चौदहवीं शताब्दीके एक पाश्चात्य साधुने 'The Cloud of Unknowing' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है उसमें 'नाम कैसा होना चाहिये तथा उसका क्या उपयोग है?' इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ हम उसके वाक्य उद्धृत करते हैं—

And if thou desirest to have this intent lapped and folden in one word, so that thou mayest have better hold thereupon, take thee but a little word of one syllable, for so it is better than of two; for the shorter the word, the better it accordeth with the work of the spirit. And such a word is this word 'God' or this word 'Love.' Choose whichever thou wilt, or another; whatever word thou likest best of one syllable. And fasten this word to thine heart, so that it may never go thence for anything that befalleth.

This word shall be thy shield and thy spear, whether thou ridest, or peace or war.

(The cloud of unknowing p. 26-27.)

अर्थात् 'यदि तुम अपनी अभिलाषाको एक शब्दमें संनिहित और सञ्चित करना चाहते हो जिससे तुम उससे अधिक लाभान्वित हो सको तो केवल एकस्वरयुक्त एक शब्द चुनो जो दो स्वरवाले शब्दसे अच्छा होगा। क्योंकि जितना ही छोटा शब्द होता है उतना ही अधिक आत्म-शक्तिके अनुकूल होता है और ऐसा शब्द 'भगवान्' या 'प्रेम' है। इसमें तुम जो चाहो चुन सकते हो; एक स्वर-वाले जिस शब्दको तुम अधिक पसन्द करते हो, चुनो। और उस शब्दको अपने हृदयमें इसप्रकार रख लो जिससे वह कभी किसी भी वस्तुकी प्राप्ति होनेपर बाहर न निकले। यह शब्द तुम चाहे अश्वारोहण करो, शान्तिमें रहो अथवा युद्ध करो, सदा तुम्हारी ढाल और तलवारका काम देगा।'

ऐसा ही महत्त्व Thomas a Kampis के लिखे हुए 'Imitation of Christ' नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। तात्पर्य यह है नामकी महत्ताका गुणगान प्राचीन, अर्वाचीन, पौर्वात्य, पाश्चात्य सभी सन्तोंने किया है।

२—दूसरे साधनोंके साथ नामकी तुलना

नाम-माहात्म्यके वर्णन करनेमें सब साधु-सन्तोंका जो एकमत दीख पड़ता है तथा अनेकों साधु हरि-चिन्तनमें मग्न होकर संसारके त्रिविध दुःखोंको जो भूले हुए दीख पड़ते हैं, इसके अनेक कारण हैं। उनमेंसे यहाँ मुख्यतः दो बातोंका विचार करना है, एक तो अन्य साधनोंकी अपेक्षा नामकी सुलभता और दूसरी नामकी अन्तरंगता। पहले नामकी सुलभताका विचार करना है।

ज्ञान, योग, कर्म आदि भगवत्प्राप्तिके प्रसिद्ध साधन हैं। हमें इस लेखमें यह सिद्ध नहीं करना है कि ये सब भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं। हमें तो यही दिखलाना है कि इन सब साधनोंकी अपेक्षा नाम-साधनकी सुलभता कहाँतक है, तथा पीछे यह भी दिखलाना है कि नाम-साधन सुलभ होनेपर भी वैसा ही फलदायी है जैसे अन्य साधन हैं।

यदि सब साधनोंका राजा कहलानेका गर्व किसीको प्राप्त है तो वह ज्ञानको है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' तथा 'ज्ञान जयाचें हातीं। तो चि समर्थ मुक्ति॥' अर्थात् ज्ञानी ही मुक्त होता है। इसप्रकारके सैकड़ों अर्थ-युक्त वचन पण्डित, साधु, ज्ञानी पुरुषोंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। परन्तु इस श्रेष्ठताकी सिद्धि यद्यपि मुखसे या वाद-विवाद-द्वारा करना सुगम है, तथापि ज्ञानका पूरा-पूरा माप करना, दृढ़ अपरोक्षानुभूतिके द्वारा 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंका अनुभव प्राप्तकर 'वासुदेवः सर्वमिति'की सम्यक् अनुभूति बहुत ही दुर्घट है। उसके प्राप्त करनेके साधनोंका विचार करते

समय जान पड़ता है कि तीव्र जिज्ञासु भी निराशाके गर्तमें जा गिरेगा। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मुख्यतः तीन बातोंकी आवश्यकता है, पहली तैलबुद्धि, दूसरी साधनचतुष्टय-सम्पन्नता और तीसरी बात है शब्दपरनिष्णात ज्ञानी गुरुका प्रसाद।

इन तीनोंपर विचार करनेसे यही मालूम होता है कि सामान्य मनुष्यके लिये इन तीनोंमेंसे एकका भी प्राप्त होना दुर्लभ है। बहिर्मुखी इन्द्रियोंके लिये नित्य दीख पड़नेवाले स्थूल जगत्‌को मायिक समझकर उसके अधिष्ठान परब्रह्मकी सत्यताको बुद्धिमें निश्चय करनेके लिये पहले शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता है। विभिन्न शास्त्रोंकी 'ख्याति' की चर्चा, सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें सूक्ष्मभेद, स्फोटके समान वाद–यह सामान्य मनुष्यकी बुद्धिकी कक्षाकी बाहरकी बातें हैं। बल्कि इनमें श्रम करके शास्त्रोंकी एकवाक्यताके दुर्गम गढ़को जीतकर शास्त्र-सिद्धान्तको बुद्धिगम्य कर लेनेपर भी क्या काम निकल सकता है? केवल पुराने सिद्धान्तोंका समझना ही नहीं है, बल्कि नये-नये सिद्धान्तोंके रचनेवाले पण्डित बढ़ते जाते हैं उनके सिद्धान्तोंका भी जानना आवश्यक है। परन्तु ऐसी बुद्धिसे केवल पाण्डित्य प्राप्त होगा, ईश्वरकी प्राप्ति इससे न होगी, उसके लिये तो वैराग्यकी आवश्यकता है। जैसे पाश्चात्य जर्मन देशके प्रसिद्ध दार्शनिक कैण्टने कहा है कि अनुभवके बिना प्रत्यक्ष व्यर्थ है और प्रत्यक्षके बिना अनुभव निष्प्रयोजनीय है। (Percepts without concepts are blind and concepts without percepts are empty) उसी प्रकार एकनाथजीने विवेक और वैराग्यकी जोड़ीके सम्बन्धमें कहा है—'विवेक बिना वैराग्य अन्धा है और वैराग्यके बिना विवेक पंगु है, जैसे धृतराष्ट्रने ज्येष्ठ होनेपर भी नेत्र बिना स्वराज्यको खो दिया।'

तीनों लोकोंमें प्रज्वलित अग्निके समान विषयोंका नाश करनेवाली प्रखर 'दृष्ट-आनुश्रविकविषय-वितृष्णा' के बिना ज्ञानका उत्पन्न होना कभी सम्भव नहीं। साबुन कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु जिस पानीसे कपड़ा धोना है यदि वही गँदला है तो वह साबुन जिसप्रकार निरुपयोगी हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान कितना ही अधिक क्यों न हो, वैराग्यद्वारा यदि अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हुई तो केवल बुद्धिगम्य ज्ञानका कोई भी उपयोग नहीं हो सकता। थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि ऐसे वैराग्य, विवेक तथा साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति हो सकती है परन्तु तीसरी बात अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका समागम और प्रसादकी प्राप्ति तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस विषयमें भागवतमें यह विदेहकी उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—

'तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।'

—मन्त्र-तन्त्रके उपदेश करनेवाले गुरु घर-घर मिलते हैं परन्तु शिष्यके लिये ईश्वरका साक्षात्कार करानेवाले गुरु अत्यन्त दुर्लभ हैं। एकनाथने भी ऐसा कहा है कि 'चकोर-शावकको हो प्राप्त होनेवाला चन्द्र-किरणरूपी अमृत मनुष्यकी बुभुक्षाको शान्त करे तो यह सम्भव है। बौना मनुष्य महासागरको अपने बाहुबलसे पार कर ले तथा अविराम चलनेवाले सूर्यचक्रकी गतिको रोक ले यह भी सम्भव है परन्तु सच्चे सत्पुरुषकी प्राप्ति दुर्लभ है। तात्पर्य यह कि इन सब बातोंके योगके द्वारा ज्ञान-प्राप्ति होना तक्षकके फणकी मणिको प्राप्त करके उसे जीवित शेरके नाकके बालमें पिरोकर गलेमें पहननेके समान कठिन ही नहीं, बल्कि प्रायः असम्भव है।'

परन्तु नाम-स्मरणकी बात ऐसी नहीं। उसके लिये अत्यन्त कुशाग्र बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति-शास्त्रोंमें ध्रुव, उपमन्यु, प्रह्लाद आदि भक्त बालकोंने कुमारावस्थामें ही शास्त्राध्ययनके पूर्व ही जगदीश्वरको प्राप्त कर लिया था, यह कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। प्रेमसे 'हरि-बोल' अथवा 'रामकृष्णहरि' की धुनि लगानेमें विद्वत्ताकी आवश्यकता नहीं। तुकारामका यही कहना है कि 'येईल तैसा बोल रामकृष्ण' टेढ़ा-मेढ़ा जो कुछ हो, प्रेमसे गानेवाले अपने भक्त बालककी उपेक्षा सर्व जीवोंकी जननीरूप परमात्मासे नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि भक्तको जान-बूझकर अनाड़ी रहना चाहिये। परन्तु अधिकतः ऐसा देखनेमें आता है कि बड़े प्रभावशाली वक्ताकी अपेक्षा माँको अपने लालकी तोतली बोली ही अधिक प्यारी लगती है। और उसीमें उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार उलटा-सीधा परन्तु प्रेमसे उच्चारण किया हुआ शब्द भगवान्‌को अति प्यारा लगता होगा। तुकाराम भी कहते हैं—'दीनोंका सहायक भगवान् अन्तरके प्रेमका आस्वादनकर केवल उसके भावको देखता है।'

इसका तात्पर्य यही है कि निष्काम प्रेम होनेपर अधिक बुद्धि न होनेसे भी काम चल सकता है। क्योंकि

ईश्वर बुद्धिका उत्पादक है अतः वह अपने भक्तको स्वयमेव उत्कृष्ट ज्ञान दे देता है। यह बात पूर्वकालके ध्रुव आदि तथा अर्वाचीनकालके तुकाराम, नामदेव प्रभृतिके उदाहरणोंसे प्रसिद्ध है।

प्रेमपूर्वक हरिनामस्मरणमें एक और आनन्दकी बात यह है कि नाम-स्मरण करनेवालेमें वैराग्य धीरे-धीरे अपने आप उत्पन्न होने लगता है तथा स्वयं परमात्मा उसको गुरुरूपसे उपदेश देते, दर्शन देते और कृतार्थ करते हैं। इसके लिये बहुतेरे साधु-सन्तोंके चरित्र प्रमाण-रूपमें प्राप्त होते हैं। नामसे चित्तकी शुद्धि किसप्रकार होती है, इसे हम आगे बतलावेंगे। अभी प्रसिद्ध सन्त तुकारामजीके तीन-चार वचनोंको देकर यह प्रसङ्ग समाप्त करते हैं। 'मेरा मन जो महामलसे गन्दा बना था (भगवन्नामसे) स्फटिक-जैसा शुद्ध हो गया। जिनको भगवान् 'विट्ठल' के तीन अक्षरोंका स्वाद मिला है, उनको उसके सामने अमृत भी फीका हो जाता है। मेरे भगवान् विठोबा-का कैसा प्रेमभाव है कि वे स्वयं ही गुरु बनकर आये हैं। हरिनाम-स्मरणसे तुरीया आदि समस्त अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। सगुण भक्ति ही मुख्य उपासना है। शुद्धभावको जानकर भगवान् इष्टमूर्तिमें दर्शन देते हैं, भगवान्का नाम ही बीज और फल (साधन और साध्य) दोनों हैं। सांसारिक पुरुष गुरुके दास नहीं हो सकते क्योंकि विषयी लोग वैराग्यका नाम सुनते ही काँपने लगते हैं। परन्तु पण्ढरीनाथ भगवान्का नाम वैसा नहीं है उसके लिये श्रम-की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह सब अवस्थामें मधुर ही लगता है।'

तात्पर्य यह कि सांसारिक मनुष्योंको धीरे-धीरे विवेक-वैराग्ययुक्त बनाकर उन्हें भगवान्की प्राप्तिके लिये उत्कण्ठितकर उनको गुरुका समागम कराकर अन्तमें सुलभ रीतिसे ईश्वर-साक्षात्कार कराना, इत्यादि बातें नामस्मरणद्वारा हो जाती हैं, यह बात साधुओंकी उक्ति और उनके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिये सांसारिक मनुष्योंके लिये ज्ञानमार्गकी अपेक्षा नाम ही सुलभ साधन है।

योगशास्त्रके विषयमें तो अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। योगके लिये वैराग्य और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदिकी आवश्यकता होती है। तथा उसके लिये 'शुचौ देशे' पवित्र एकान्तमें रहनेके लिये तैयार होना चाहिये। एवं यह शरीर-चक्र जिस प्राण-वायुके आधारसे चलता है उस वायुका निरोध, प्राण और अपानकी समता, प्राणका सुषुम्ना-नाडीमें प्रवेश आदि बातोंके लिये साधकद्वारा होनेवाली योग-विद्याकी क्षमता प्राप्त होनी चाहिये, परन्तु ये सारी बातें दुर्घट हैं। इतना होनेपर भी योग-मार्गके स्वतन्त्र होनेसे उसमें ऋद्धि-सिद्धियोंके अनेक प्रतिबन्धक हैं और इन ऋद्धि-सिद्धिरूपी रेशमकी गाँठोंको काटनेके लिये तीक्ष्ण वैराग्यरूपी तलवारकी धारकी आवश्यकता है। यही कारण है कि स्वयं योगी लोग भी सामान्य मनुष्योंको इस मार्गमें न जानेके लिये ही उपदेश देते हैं। प्रसिद्ध योगिराज सन्त ज्ञानदेव कहते हैं कि—'योगमार्गमें बड़े उत्साहसे नवों द्वारोंका अवरोध करके कुण्डलिनीको तीनों नाड़ियोंके मध्य सुषुम्नामें सञ्चरण करना पड़ता है। मुनि लोगोंका कहना है कि इस मार्गके साधनमें न लगकर निशिदिन श्रीभगवान्का चिन्तन करो जो मुक्तिस्थान (मोक्षरूप) है। योगमार्गमें हाथ-पैर टूटकर मृत्युकी प्राप्तितक हो जा सकती है और उससे मोह और तृष्णाका नाश तो होता नहीं फिर ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यह बड़ी भारी भूल है जो तुम भगवान्के चरणोंमें सिर नहीं नवाते। हे मानव-प्राणी! यदि तुम्हें मुक्तिकी अभिलाषा है तो अपने मनको मुकुन्दमें रमाओ।'

अच्छा, योगके लिये इतना जी-जानसे परिश्रम करने-पर फल क्या मिलता है? केवल 'चित्त-वृत्ति-निरोध!' परन्तु नामनिष्ठ सन्त अपने अनुभवके द्वारा यह आश्वासन देते हैं कि चञ्चलताके लिये प्रसिद्ध मन और 'बलवान्' तथा 'प्रमाथि' कहलानेवाली इन्द्रियाँ नाम-चिन्तनके द्वारा साधकके वशमें हो जाती हैं। पैठणक-ग्राम-निवासी एकनाथ महाराज अपना अनुभव कहते हैं—'हरि-नाम लेते-लेते जनार्दनके दास एकनाथकी इन्द्रियाँ विषय और कामको भूल ही गयीं।*

तुकोबा कहते हैं—'नाम लेनेसे मन शान्त और स्थिर होता है तथा जिह्वासे अमृतरस झरने लगता है, तथा भगवत्प्राप्तिके अनेकों शकुन होने लगते हैं।†

तात्पर्य यह कि नाम-चिन्तनके द्वारा इन्द्रियोंकी और चित्तकी शुद्धि होती है एवं मनमें एकाग्रता आती है।

---

* एका जनार्दनीं घेतां हरिचें नाम।
निमालीं इन्द्रियें विषय विसरलीं काम॥

† नामघेतां मन निवे। जिह्वे अमृतचि स्रवे॥
होताती बरवे। ऐसें शकुन लाभाचें॥

अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि नाम-चिन्तन योगसे भी सुलभ है।

अब रहा साधन कर्म। यह तो 'सूक्ष्म' नामसे प्रसिद्ध ही है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि,

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

(गीता ४। १६)

और आजकल तो 'मेरा कर्म क्या है?' इसका निश्चय करना और उसके अनुसार यथाविधि अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन हो गया है। इसके अतिरिक्त सूत्र, स्मृति निबन्धादि ग्रन्थोंका विचार करके विहित कर्मका निश्चय कर लेनेपर भी उसका आचरण करना इस परिवर्तित परिस्थितिमें अत्यन्त ही कठिन बल्कि असम्भव-सा हो गया है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि लेखकका अभिप्राय स्वकर्मका त्याग सूचित करनेका है। बल्कि सच बात तो यह है कि कर्मका अधिकार, देश, काल इन सबको देखकर ही कर्मानुष्ठानको निश्चित करना पड़ता है। एक समयका कर्म दूसरे समयमें होनेसे वह फलदायी नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि कर्मकी गति तथा स्थिति गहन है। नामकी स्थिति इसकी अपेक्षा बिलकुल ही भिन्न है। नामका अधिकार सब वर्णोंको, अन्त्यजोंको भी एक समान ही है। सब आश्रम, सब वर्ण, सब लिङ्गके मनुष्योंको नाम एक समान ही ग्राह्य है। इसमें समय, शुद्धि, तथा नर-नारीकी कोई क़ैद नहीं है।

भगवन्नाम सर्वसाधारणके लिये प्रायश्चित्तस्वरूप तो प्रसिद्ध ही है, इस विषयमें ज्ञानदेवका एक बहुत ही अच्छा अभंग है। उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है—'मन्त्रोंके विषयमें कहा जाता है कि उन्हें अशौचमें नहीं जपना चाहिये और न औरोंको सुनाना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे लाभ तो होता नहीं, उलटे हानि होती है। परन्तु ऐसी बात मन्त्रराज श्रीहरि-नामके जपमें नहीं है। श्रीनारायण-नामकी तो हाथ उठाकर ऐसी गर्जना करनी चाहिये कि गाने और सुननेवाले मस्त हो जायँ। नामके द्वारा ब्राह्मणसे लेकर अन्त्यजपर्यन्त सब मुक्तिके अधिकारी हैं।'

तात्पर्य यह है कि इसमें देशकालकी कोई अड़चन ही नहीं है। नाम-चिन्तन सदा-सर्वदा पवित्र है। तथा चाण्डाल, सुवर्ण चुरानेवालेके समान पातकी तथा वेश्या आदि सबको इसमें समान अधिकार है, एवं जिस गङ्गामें स्नान करनेसे इनकी शुद्धि होती है वह तीर्थ नाम-गङ्गा ही है। भागीरथी पापोंका नाश करनेवाली है, यह ठीक है परन्तु वह भी कभी-कभी, 'ऐसा महापापी तो पहले कभी नहीं देखा सुना था' यों कह कर अपने कानोंपर हाथ रख सकती है। लेकिन सब प्रायश्चित्तोंने जिनको त्याग दिया था उन वाल्मीकि, अजामिल, गणिका-जैसोंका उद्धार इसी पवित्र साधन नामसे ही हो गया। इस विषयमें ज्ञानदेवने (गीता ९। १४ श्लोक) 'सततं कीर्तयन्तो माम्' पर बहुत ही अच्छी टीका की है। पाठकोंसे हम उसके पढ़नेके लिये आग्रहपूर्वक विनती करते हैं।

अन्धकारके नाशके लिये सूर्यको, तथा शिकारको पकड़नेके लिये सिंहको जैसे औरोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार नामको भी भगवत्प्राप्ति प्रदान करनेमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती। नाम साधकको सहज ही ईश्वरमें मिला देता है। यही कारण है कि नामके अन्तरंग साधन होनेके कारण हमने ऊपर वैसा कहा है।

नामके ऊपर एक शंका हो सकती है कि परमेश्वर तो निर्गुण निराकार प्रसिद्ध है, तथा नाम, रूप, सम्बन्ध, जाति, क्रिया, भेद आदिकी प्रतीति केवल साकार और सगुण वस्तुमें ही होती है। अर्थात् अजाति, अनाम और निर्गुण परमेश्वरको नाम देना तथा उस नामका अवलम्बन कर उसके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त करनेकी चेष्टा करना बिना नींवके मकान उठानेके समान ही मूर्खतापूर्ण है। अनामीको नाम कहाँसे प्राप्त हो सकता है? शंका ठीक ही है। परन्तु यह जैसी कठिन दीख पड़ती है उतनी कठिन है नहीं। इसमें थोड़ा-सा भ्रममात्र है। ब्रह्म अथवा ईश्वरको नाम नहीं है, इसमें कोई नवीनता नहीं, परन्तु विचारनेयोग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौन-सी साकार वस्तु अपने साथ नाम लेकर पैदा होती है? क्या किसीने नवजात शिशुको अपने सिरपर नामका सिक्का लगाकर जन्मते देखा है? शिशुके जन्मके उपरान्त ही उसके माँ-बाप उसका नामकरण संस्कार करते हैं, उसे पालनेमें रखते हैं और उसका नाम धरते हैं। परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि बारम्बार उस नामसे पुकारते-पुकारते वह बच्चा उससे इतना अभ्यसित हो जाता है कि दस-पाँच आदमियोंके बीच यदि वह सोया हुआ हो और उसका नाम लेकर पुकारा जाय तो वही जाग उठता है। इसी प्रकार तुम्हारी हमारी सबकी माता श्रुति भगवतीने,



भगवान्—विष्णुरूपमें

संसारभयसे त्रस्त हुए जीव अपना दुखड़ा सुनानेके लिये भगवान्‌के पास जायँ, इस उद्देश्यसे, प्रारम्भमें भगवान्‌का 'ओ३म्' नाम रख दिया और सब जीवोंके लिये उसके साथ व्यवहारका मार्ग खोल दिया।

मूलमें भगवान्‌का एक ही नाम था पीछे उन्हें सहस्रों नाम प्राप्त हुए और वह भगवान् ऐसे दयालु हैं कि प्रेमसे किसी भी नामसे पुकारनेपर ध्यान देते हैं और बुलानेवालेका कष्ट दूर करते हैं।

३—नाम और अन्तःकरण-शुद्धि

ऐसी ही एक और दूसरी शङ्काका विवेचन करना है। उसका निराकरण कर इस लेखके अन्तिम और महत्त्वपूर्ण विषय 'अव्याहृत नाम-स्मरणसे प्राप्त होनेवाली स्थिति' का विचार किया जायगा।

ऊपर हम लिख चुके हैं कि नाम-स्मरणसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, प्रवल (अजेय) इन्द्रियाँ भी साधकके वशमें हो जाती हैं। इसपर स्वभावतः यह शंका उठ सकती है कि चित्त-शुद्धि और नाम-स्मरणमें ऐसा कौन-सा सम्बन्ध है कि नाम-स्मरणके साथ चित्तकी शुद्धि होती ही है? इसका उत्तर यह है कि सद्भाव और प्रेमसे यदि साधक नित्य नाम-स्मरण करे तो नाम और नामीका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होनेके कारण क्रमशः जैसे-जैसे उसकी वृत्ति भगवन्नाममें तल्लीन होती जायगी वैसे-ही-वैसे वह राजस और तामस विषयोंसे दूर होता जायगा और नामी अर्थात् परमात्माका रंग उसके अन्तःकरणपर चढ़ता जायगा। हमें व्यवहारमें भी ऐसा ही अनुभव मिलता है। बच्चेको मरे चाहे छः महीने बीत गये हों, उसकी माताके सामने उस बच्चेका नाम लेते ही उसके नेत्रोंसे आँसू टपके बिना नहीं रहते। नाम-उच्चारणके साथ ही वृत्तिमें नामीकी स्थिति हो जाती है। जो बात विचारसे, ज्ञानसे अथवा चर्चासे नहीं होती वही क्षणमात्रके प्रेमसे सिद्ध हो जाती है। भावना अथवा प्रेममें ऐसा बल है कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विचारोंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका उपयोग होता है, ऐसा मानस-शास्त्रवेत्ताओंका कहना है। तात्पर्य यह है कि प्रेमपूर्वक नाम-चिन्तन होनेपर धीरे-धीरे अन्तःकरण सात्त्विक हो ही जायगा। इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि मालिकके घरमें आनेपर जानवर स्वयं उस घरको छोड़कर दूसरे टूटे-फूटे सूने घरोंकी ओर चले जाते हैं। उसी प्रकार नाम-स्मरणसे अन्तःकरणमें हृषीकेशका निवास होनेपर काम-क्रोधादि कुत्तोंका वहाँ रहना सम्भव नहीं हो सकता। अपरिपक्व बुद्धिवाले नास्तिककी बातोंपर विश्वास करनेकी अपेक्षा हम उन महात्माओंके वचनोंपर क्यों न विश्वास करें, जिन्होंने अपना सारा जीवन साधनामें विताया तथा जिनके मिथ्यावादी होनेकी तनिक भी शंका नहीं की जा सकती? भगवत्साक्षात्कारका अनुभव जैसा उन्हें मिला, वैसा हमें भी मिल सकता है यदि हम उनके कथनानुसार सद्भाव, प्रेमके साथ नित्य नियमपूर्वक भगवान्‌का नाम लिया करें। श्रीएकनाथ महाराजने कहा है—

'जिसे परमार्थकी अभिलाषा हो, वह सब झमेलोंको छोड़े और नित्य नियमसे आदरपूर्वक भगवद्भजन प्रारम्भ कर दे। खण्डन-मण्डन छोड़कर वासुदेवके नामकी ही रट लगाया करे। आदरपूर्वक नाम-स्मरण करनेसे अनायास ही मुक्तिकी प्राप्ति होगी।'

इसप्रकार प्रेमसे, भावशुद्ध अन्तःकरणसे नियमपूर्वक नाम-स्मरण करनेपर साधककी वृत्ति बदलने लगती है, उसे जाग्रत्-दशामें अखण्ड भगवन्नाम तथा गुणके कीर्तन करनेकी लालसा लगी रहती है, इसी स्थितिकी दृढ़ता हो जानेपर उसका भगवद्विषयक प्रेम दृढ़ होता जाता है और स्वप्नमें भी उसकी वैसी ही स्थिति हो जाती है, तथा दिन-दिन उसका भगवान्‌में प्रेम बढ़ता जाता है। अन्तमें उस भक्तकी देहस्फूर्ति प्रेमकी बाढ़में विलीन हो जाती है। उसके शरीरमें आठों सात्त्विकभाव प्रकट होते हैं तथा वह विदेहावस्थाको प्राप्त हो जाता है। इसीको प्रेमसमाधि अथवा उन्मादावस्था कहते हैं। भक्ति-शास्त्रका इसके परे कुछ साध्य नहीं है, परन्तु विशेष आश्चर्यकी बात यह है कि इस अवस्थाका निर्वचन पण्डित लोग अपने ज्ञानबलसे कर ही नहीं सकते? इस अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष कभी गाता, कभी रोता, कभी खिलखिलाकर हँसते हुए नाचने लगता है। बहिर्मुख वृत्तिवाले पुरुष, चाहे वे शास्त्रोंके पण्डित ही क्यों न हों, ऐसे पुरुषको पागल समझते हैं। परन्तु भक्ति-शास्त्रज्ञ महात्मा कहते हैं कि उनके गाने, रोने और नाचनेमें जगत्‌का उद्धार होता है। अभी थोड़े ही दिन हुए जब साधु रामकृष्ण परमहंसने इसी उन्माद-अवस्थामें अपने समीपके एक मनुष्यको पैर छुआकर उसको इष्टदेवका दर्शन करा दिया था, यह बात

प्रसिद्ध ही है। यह विदेह-अवस्था केवल काल्पनिक स्थिति नहीं है, बल्कि अनुभवसिद्ध बात है, इसके साक्षी अनेकों महात्मा पुरुष हैं। नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें लिखते हैं—

यं लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। स तरति स तरति स लोकाँस्तारयति।

जिस प्रेमको पाकर पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, किसी बातका शोच नहीं करता, किसीमें द्वेष या राग नहीं करता, विषय-सेवनमें उत्साह नहीं करता, वह तरता है, वह तरता है और वह लोकोंको तारता है।

४–प्रेमोन्मादकी अवस्था

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्यु-
न्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

इसप्रकार प्रेमका व्रत लेकर अपने परमप्रिय प्रभुके नाम-सङ्कीर्तनका अनुरागी वह भाग्यवान् पुरुष अलौकिक भावसे कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाच उठता है।

परमात्मासे प्रार्थना है कि हमारे भारतदेशमें नित्य ऐसे ही महात्मा पैदा हों, क्योंकि देहकी विस्मृति करानेवाला प्रेम भगवत्कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

इस उच्च भूमिकाको पहुँचानेवाला नाम स्मरण किस प्रकार होना चाहिये यह बतलाकर इस लेखको समाप्त किया जायगा। वस्तुतः इसका विचार तो ऊपर हो ही गया है परन्तु यहाँ उसका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। वैखरी वाणीद्वारा नामोच्चारण करना तो केवल साधनाका आरम्भ है। नामोच्चारण किया जाय परन्तु उसके साथ साथ स्मरण होना भी आवश्यक है। तुकाराम महाराज कहते हैं—

'कण्ठसे नाम-उच्चारण करते समय यही भावना और अनुभव भी करना चाहिये कि भगवान् मेरे सामने खड़े हैं, इसी प्रकार ध्यान धरना चाहिये और मन-ही-मन चिन्तन करना चाहिये।' श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं–'विट्ठलको स्मरण करते समय उस नामीके रूपका भी चिन्तन करो।' यह नाम-स्मरण ऊपर कहे अनुसार प्रेमपूर्वक तथा भावपूर्वक होना चाहिये। नहीं तो उसमें एक प्रकारका बनावटीपन आ जाता है। प्रेम न हो तो नाम-स्मरणका कुछ भी महत्त्व नहीं है, वैसे तो नाम सभी लेते हैं। परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं—

राम राम सब कोइ कहे ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझे नहीं तुलसी नन्दकिसोर॥

पहलेके महात्माओंको नाम-स्मरणद्वारा परमात्माकी प्राप्ति होनेका कारण यही है कि उन्होंने नाम-स्मरण प्रेमपूर्वक किया था। नाममें प्रेम होनेकी परीक्षा यही है कि नाम-स्मरणमें लग जानेपर भूख प्यास अथवा लौकिक सुख-दुःखोंकी खबर ही न रहे, तथा स्वप्नमें भी नामकी ही धुनि होती रहे।

गोपियाँ, श्रीचैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, कबीर, और आधुनिक कालके श्रीरामकृष्ण परमहंसके समान भगवत्प्रेम सबको प्राप्त होना कठिन है। तथापि उनके प्रेमका लेशमात्र ही हम भारतवासियोंको प्राप्त हो तथा हमारे इस भारतदेशमें यह भगवत्प्रेमकी ज्योति इसी प्रकार सदा जलती रहे, मैं उस प्रेमस्वरूप श्रीहरिके चरणोंमें यही प्रार्थना करके इस लेखको समाप्त करता हूँ।

अगम अगोचर

रूप रेख बरनों कहा, कोटि सूर परगास।
अगम अगोचर रूप है पावै हरिको दास॥
—यारी साहेब

ईश्वरकी सत्ता

(लेखक—दण्डिस्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

समस्त सृष्टिका सञ्चालन नियमितरूपसे करनेवाला कोई एक सर्वशक्तिसम्पन्न विशिष्ट चेतन है या नहीं, यह बहुत ही पुराना प्रश्न है और प्रारम्भसे ही इसका उत्तर दोनों ही रूपमें अबतक दिया जाता है। इस सृष्टिके मूलमें कोई ऐसा चेतन है, इस विषयमें मतैक्य कभी नहीं हुआ। एक दल जहाँ ऐसे चेतनका पक्षी है तहाँ दूसरा उसका विपक्षी भी पाया जाता है। यह भी नहीं कि जिस चार्वाक या लोकायतिकको नास्तिक-शब्दसे स्पष्टतया सम्बोधित करते हैं, केवल वही ईश्वरीय सत्ताका विपक्षी है। हिन्दुओंके जिन मीमांसा और सांख्य-दर्शनों-को साधारणतया आस्तिक ही समझा जाता है उन्होंने भी ईश्वरकी सत्ता माननेसे इन्कार किया है। हिन्दुओंके छः दर्शनोंमें न्याय तथा वैशेषिकको पृथक् माननेके लिये कोई वैसा विशेष आधार नहीं है जैसा कि सांख्य, योगादिके लिये। उन दोनोंमें कोई मौलिक भेद (Fundamental difference) नहीं है। अतएव नवीन तार्किकोंने दोनोंको एक ही मानकर या दोनोंको मिलाकर ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह अब पाँच ही दर्शन स्पष्टरूपसे रह जाते हैं। इनमें जहाँ दो ईश्वर-सत्ताके विपक्षी हैं वहाँ दो ही (योग और न्याय) उसके स्पष्टरूपसे समर्थक हैं। क्योंकि वेदान्त-दर्शनकी गति निराली है। उसका झुकाव दोनों ओर है। यों तो उस दर्शनमें ईश्वर ओत-प्रोत पाया जाता है और उपनिषदों, व्याससूत्रों तथा गीतासे लेकर आधुनिक ग्रन्थोंतकमें ईश्वरका निरूपण और उस सम्बन्धमें विपक्षियोंके मतका खण्डन पाया जाता है। अतएव उसे अनीश्वरवादी कह नहीं सकते। फिर भी वेदान्तकी चरम गति जो जीवा-भिन्न या अद्वैत ब्रह्म है, उससे और साधारण ईश्वर-वादसे क्या सम्बन्ध है? जिस अभेदको वेदान्ती चरम लक्ष्य समझते हैं और जिसके सिवा शेषकी वास्तविक सत्ता नहीं मानते, वह सर्वसाधारण दार्शनिक व्यवहारका न तो जीव ही है और न ईश्वर ही। इसीसे वेदान्तको हमने बीचमें माना है। इतना ही क्यों? नैयायिकोंके ईश्वरको तो वेदान्ती भी अन्तमें वैसे ही अस्वीकार करते हैं जैसे अन्य विपक्षी। इस तरह स्पष्ट है कि ईश्वरवादके बारेमें हिन्दू-दर्शनोंकी तराजूका पलड़ा दोनों ही ओर है।

एक बात और। ईश्वर-सत्ताके विपक्षियोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे हैं, जो एकदम किसी भी रूपमें उसे माननेको तैयार नहीं, उसे अमान्य कहते हैं, और इस श्रेणीमें मीमांसक, चार्वाक तथा आज-कलके हेकल और निट्शे आदिको ले सकते हैं। लेकिन उनकी एक श्रेणी और भी है जिसका कहना है कि यदि ईश्वर हो भी तो उसके जाननेका कोई साधन हमारे पास न होनेके कारण हम उसे जान नहीं सकते—वह अज्ञेय है। सांख्य-सूत्रोंके भाष्यकार विज्ञानभिक्षुके मतसे सांख्य-दर्शन इसी कोटिका है जैसा कि उसके 'ईश्वरासिद्धेः' आदि सूत्रोंके भाष्यसे सिद्ध है। हालाँकि दूसरे लोग सांख्यको भी प्रथम श्रेणीमें ही मानते हैं। वर्तमान युगके हर्बर्ट स्पेन्सर और ह्यूम आदिका अज्ञेयवादका सिद्धान्त भी उसी प्रकारका है। और यदि हम अपने—अतएव संसारभरके—प्राचीनतम ग्रन्थ—क्योंकि अब तो सभी मानते हैं कि दुनियामें ऋग्वेदसे प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है—ऋग्वेदको देखते हैं तो उसमें भी ईश्वरकी इस अज्ञेयताका स्पष्ट आभास पाया जाता है। उसके 'नास-दासीत्' इत्यादि नासदीय सूक्तके निम्नलिखित दो मन्त्रोंके पढ़नेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है। वे मन्त्र हैं—

> को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
> कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्जने-
> नाथा को वेद यत आबभूव॥
> इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
> यदि वा दधे यदि वा न।
> यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्
> सो अंग यदि वा न वेद॥

इन दो मन्त्रोंमें पहलेमें कहा गया है कि इस सृष्टिके मूलतत्त्व उस विशिष्ट-चेतन (ईश्वर) के जाननेका कोई साधन है ही नहीं। अतएव उसे कौन जान सकता है? दूसरे मन्त्रमें कहा गया है कि यद्यपि उसके

शक्तिरूपसे भी नहीं रहती वहाँ वह कभी भी व्यक्त नहीं हो सकती जैसे बालूसे तेल कभी नहीं निकलता। जड़-पदार्थोंका काम तो अन्धेका-सा है। वह किसी नियमके सहारे चला करते हैं। उनमें दो विरोधी नियम स्वयं-सिद्धरूपसे रह नहीं सकते। मगर चेतनके लिये यह बात लागू नहीं है। वह तो इच्छा या उद्देश्य-शक्तिके बलसे सब कुछ कर सकता है और जड़ोंको भी चाहे जैसे नचा सकता है। अतएव जड़-सृष्टिकी क्रियाके मूलमें चेतना-विशिष्ट सञ्चालक अपेक्षित है। नहीं तो समय-समयपर विरोधी क्रियाएँ उसमें हो नहीं सकतीं।

रचनाके बारेमें हेकलने अपनी 'विश्वपहेली' (Riddle of the universe) नामक पुस्तकमें लिखा है कि यदि यह सृष्टि किसी चेतनकी रची होती तो वह बहुत-सी व्यर्थकी चीजें क्यों बनाता? दृष्टान्तके लिये पुरुषोंके स्तन चिह्न आदिको उसने लिखा है। उसके मतसे जड़ प्रकृतिके बारेमें तो यह प्रश्न हो नहीं सकता। कारण, वह तो रचनाके प्रयोजनका विचार नहीं कर सकती। परन्तु ऐसा लिखते समय शायद उसे याद नहीं रहा कि जड़के तो सभी काम किसी व्यवस्थित नियमके ही अनुसार चलते हैं। उसमें जरा भी फेरफार होनेसे सारी क्रिया ही चौपट हो जाती है। रेलकी पटरी छोड़ते ही इञ्जिन नीचे जा गिरता है। मगर चेतनका काम तो किसी नियममें बँधा नहीं है। अतएव इच्छा होनेपर उसमें उलट-फेर भी हो सकता है। ऐसी दशामें तो जड़वादियोंके लिये ही उन स्तनों आदिकी उत्पत्तिका प्रयोजन बताना अपरिहार्य हो जाता है, न कि ईश्वरवादियोंके लिये। यह तो एक बात हुई। वस्तुगत्या तो विज्ञान अभी शैशवावस्थामें ही है और उसे अभी सृष्टिकी बहुत-सी पहेलियाँ सुलझानी हैं। ऐसी दशा-में जब वह प्रौढ़ होगा तो शायद पुरुषोंके स्तनचिह्नों आदिका भी उपयोग मालूम हो जाय। अभी अधीर होने-की कोई बात नहीं। उन स्तनोंको व्यर्थ कहना वैसा ही है जैसा आत्म-तत्त्व-विवेकमें उदयनाचार्यके भूताविष्ट मनुष्य-का दूरसे हाथी देखकर पहले उसके बारेमें ऊल-जलूल तर्क करना और अन्तमें यह कह देना कि यह कुछ नहीं है! सृष्टिके रहस्योंकी अनभिज्ञता तो हेकलने अपनी उक्त पुस्तकके अन्तमें उपसंहार करते हुए स्वयं स्वीकार की है और एक प्रकारसे ईश्वरवादका समर्थन ही किया है। जैसा कि "प्रकृति-परिज्ञानकी उन्नति होनेसे इधर जगत्-सम्बन्धी बहुत-से गुप्त भेद खुल गये हैं। अब केवल परमतत्त्वका भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते हैं और भक्तजन ईश्वर या कर्ता कहते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञानकी अपूर्व उन्नतिसे इस 'परमतत्त्व' का भेद खुल गया है, या कुछ खुलनेवाला है? इस अन्तिम प्रश्नके विषयमें यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिसप्रकार ढाई हजार वर्ष पहलेके तत्त्वज्ञोंके सामने था। बल्कि यों कहना चाहिये कि इस परमतत्त्वके अनेकानेक व्यक्त रूपोंका जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है उसका रहस्य हमारे लिये उतना ही अभेद्य और अपार होता जाता है। इस नाम-रूपात्मक दृश्य-जगत्की ओटमें वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर, इस 'वस्तुतः' के फेरमें हम क्यों पड़ने जायँ जब कि हमारे पास उसके जाननेका कोई साधन नहीं, जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्व तक है या नहीं।"

ऊपरके उद्धरणसे सिद्ध है कि अन्तमें हेकल भी, जिसे अनीश्वरवादियोंका आचार्य कहा जाता है, ईश्वरकी अमा-न्यताको छोड़कर अज्ञेयताका ही पक्षपाती हो जाता है, उसे अपनी पहुँचके बाहरकी वस्तु समझता है और इस सृष्टिके रहस्योंके सम्बन्धमें आधुनिक विज्ञानको अबोध बालककी ही तरह समझता है जिसका ज्ञान बहुत ही परिमित है। हमारे विचारसे तो कोई भी वस्तुगत्या अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता जैसा कि हेकल-जैसे कट्टर जड़वादी कहे जानेवालेके उक्त कथनसे पता लगता है। किसी भी पदार्थ-को हम तीन ही दृष्टियोंसे देखते हैं—मित्रदृष्टि, शत्रुदृष्टि और उदासीनदृष्टिसे। इनमें भी यद्यपि उदासीन पुरुष उस पदार्थके अत्यन्त निकट नहीं पहुँचता तथापि यह नहीं कहा जाता कि एकदम पहुँचता ही नहीं। फिर भी मित्र और शत्रु तो उस पदार्थके अत्यन्त निकट पहुँच ही जाते हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि पक्का प्रेमी या मित्र भी शायद उतना निकट नहीं पहुँचता जितना निकट पक्का या कट्टर शत्रु पहुँचता है। मित्र या प्रेमी तो शायद कभी भूल भी जाता है, मगर सच्चा शत्रु तो निद्राकालमें भी नहीं भूलता। इसीलिये मानना पड़ता है कि यदि आस्तिकजन भक्तके रूपमें उसे याद करते हैं, जपते हैं, नहीं भूलते हैं, तो नास्तिकजन शत्रुके रूपमें उसे भक्तोंकी

ही तरह, बल्कि उनसे भी ज्यादा याद करते, जपते और नहीं भूलते हैं और यह मानी हुई बात है कि ईश्वर तो उसीका निकटवर्ती है, उसे ही सद्गति देता है जो उसे निरन्तर याद करे, कभी न भूले। उसके दरबारमें तो आस्तिक-नास्तिकका विभाग (Label) नहीं है। यह विभाग तो मनुष्योंका बनाया हुआ है। वह तो मनकी प्रवणता, मनोवृत्ति, मनःप्रवाह या लगनको देखता है और वह लगन मन्दिर, मस्जिद आदिमें जाने, कण्ठीमाला, गेरुआ पहनने, आँख-नाक मूँदने या आस्तिक कहानेमें नहीं है। वह तो मनका धर्म है, हृदयका व्यापार है, न कि शरीरका धर्म। इसीलिये इतिहास-पुराणोंके आख्यानोंसे पता लगता है कि यदि ध्रुव, प्रह्लादादि भक्तोंको भगवान्‌ने सद्गति दी तो रावण, कंस, हिरण्यकशिपु आदिको दुर्गति न देकर परमलोक ही प्रदान किया। यदि भक्ति या भक्तके वही लक्षण होते जिन्हें हमने मान रक्खा है और यदि एकमात्र भक्तोंको ही भगवान् सद्गति देते, तो फिर भगवद्विरोधियों (नास्तिकोंके भी दादाओं) दानवों और राक्षसोंका कल्याण कैसे हुआ रहता जिसका उल्लेख धर्मग्रन्थोंमें पाया जाता है? हमारे जानते उस उल्लेखका यही रहस्य है। अतएव हमारे विचारसे ईश्वरवादियोंको—सच्चे आस्तिकोंको—सच्चे निरीश्वरवादियोंसे भयभीत होनेका कोई कारण नहीं है, दोनोंके मार्ग दो होनेपर भी लक्ष्य और पहुँच एक ही है, जैसा कि 'यं शैवाः समुपासते शिव इति' इत्यादि वचनोंसे भी सिद्ध है और पुष्पदन्ताचार्यके 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' का भी तात्पर्य है। हाँ, यदि भयका कोई कारण है तो केवल यही कि ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों सच्चे और पक्के न होकर बनावटी और दिखावटी हों। नामधारी आस्तिक और नामधारी नास्तिक दोनों ही समानरूपसे भगवद्-द्रोही और धार्मिकोंके लिये भयके कारण हैं? अतएव उन्हींसे बचना तथा सजग रहना चाहिये। इसीलिये ईश्वरवादका अद्वितीय ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' लिखकर उसके अन्तमें उपसंहार करते हुए उदयनाचार्य लिखते हैं कि—

> इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
> येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
> किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
> काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

इसका भावार्थ यह है कि हे भगवन्! हमने आपके विरोधियों (नास्तिकों) के अत्यन्त मलिन हृदयोंको धोनेके लिये इस तरहके तर्क, युक्ति और आगम प्रमाणस्वरूप निर्मल सोतेका जल यद्यपि तैयार किया है, तथापि इतनेपर भी यदि उनके अत्यन्त मलिन हृदयोंमें पवित्रता तथा कोमलता न आकर आपके लिये स्थान नहीं मिलता, तो हम यही कहेंगे कि वे वज्रहृदय हैं। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि वे नास्तिक लोग भी आपके प्रचण्ड शत्रु बनकर आपका चिन्तन (आपकी याद) बहुत अच्छी तरह करते ही हैं। साथ ही, आप ठहरे कृपालु। अतएव समय पाकर उन लोगोंका भी उद्धार आपको कृपा करके करना ही होगा।

पार उतारो

म्हाँने पार उतारोजी, थाँने निज भक्तनकी आन।
हमरे अवगुन नेक न चितवो, अपनो ही करि जान॥१॥
काम क्रोध मद लोभ मोह बस, भूल्यौ पद-निर्वान।
अब तो सरन गही चरननकी मत दीजो मोहिं जान॥२॥
लख चौरासी भरमत भरमत नेक न परी पिछान।
भव-सागरमें बह्यौ जात हौं रखिये श्याम सुजान॥३॥
हौं तो कुटिल अधम अपराधी नहिं सुमिर्यो तेरो नाम।
'नरसी'के प्रभु अधम-उधारन गावत वेद-पुरान॥४॥

—नरसी मेहताजी

प्रभुका निवास

(लेखक—प्रो० श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम०ए०)

विश्वका नियन्ता कोई है या नहीं, इस प्रश्नका संक्षेपमें ही समाधान करना है। क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व तर्क या प्रत्यक्ष-ज्ञानका नहीं परन्तु अपरोक्ष-ज्ञानका विषय है। इसकी ओर जिसकी दृष्टि है, उसको तो सभी जगह इसके दर्शन होते हैं। उसको तो बस—

जिस तरफ देखूँ उधर ही दरस हो श्रीरामका।
आँख भी मूदूँ तो दीखे मुखकमल घनश्यामका॥

परन्तु जिसकी दृष्टि दूसरी ओर फँसी हुई है, उसको वह न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जिसको इस साढ़े तीन हाथके साँचेमें प्रभु नहीं दिखलायी देता, उसको खोजनेपर दूसरी जगह भी शायद ही दिखलायी पड़े। हिरण्यकशिपुने तीनों भुवनोंको छान डाला, उसे कहीं प्रभु नहीं मिले, क्योंकि उसने उन्हें अपने अन्तरमें देखनेका प्रयत्न नहीं किया। इस विषयमें हमसे कोई विवाद करना चाहे तो हम यही कहेंगे कि 'भाई! प्रभु किसी दूसरेके दिखलानेसे दीख जाय, ऐसी बात नहीं है। वह किसी समय तुम्हींको दीख पड़ेगा।' परन्तु वस्तुतः ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें शंका करनेवाले मनुष्य थोड़े ही होते हैं। अधिकांश झगड़े 'अपने' 'पराये' परमेश्वरको लेकर होते हैं। किसी एक परमेश्वरको लेकर नहीं, अतएव यह सारी गड़बड़ 'मेरे-तेरे' की है, परमेश्वरकी नहीं।

छन्दोंको भी वेद-वृक्षके पत्ते कहा गया है। कहा है कि छन्दरूपी पत्तोंवाले वेद-वृक्षको जो जानता है उसको वेदविद् समझना चाहिये। हमें प्रतीत होता है कि संसाररूपी महावृक्षके छन्दोंको जो जानता है उसको भी पण्डित कहना चाहिये। यह तो दूरकी बात है, एक पत्तेके अन्दर भरे हुए प्रकाशको भी हम यथार्थमें देख लें तो उसमें लीन हो जायँ। यह अतिशयोक्ति नहीं है। पीपलके पत्तेको हाथमें लेकर देखिये, उसमें कैसी ताज़गी है, कैसा रंग है, कैसा जीवन, कितनी अकल कला और कैसी अप्रमेयता दृष्टिगोचर होती है? उसमें जो सुन्दर पीली-पीली नसें दीखती हैं उनको किसने बनाया? उसमें जो रस बहता है उसे कौन बहाता है? उसके अणु-अणुमें जो जीवन भरा है, वह कहाँसे आया? ये महान् प्रश्न क्या महान् नास्तिकको भी आस्तिक बना देने लायक नहीं हैं? हम लोग जीते हैं और जीनेमें ही सराबोर रहते हैं परन्तु हमारे इस जीवनको अस्तित्व किसी दूसरेसे मिला है, इस समय भी यह जीवन हमारे हाथमें नहीं है और किसी दूसरी सत्ताकी घटनासे ही यह जीवन किसी समय समाप्त हो जायगा, इस वस्तु-स्थितिका यदि हम लोगोंको भलीभाँति ज्ञान हो जाय तो हमारे जीवनकी उस नियामक सत्ताको जो एक जड़-तत्त्व कहता है उसे हम लोग अपना अपमान करनेवाला माने बिना नहीं रह सकते। पत्तेमें जीवन छोटे रूपमें व्यक्त होता है और मनुष्यमें अधिक विशिष्टरूपमें, परन्तु दोनोंके जीवनकी महिमा एक ही है। जीवनके अन्दर रहनेवाली चेतना यदि हमें प्रभुके प्रकाशपदका दर्शन नहीं करायेगी तो और कौन करवायेगा?

जब हम देखते हैं कि अपनी दृष्टिरेखाके अनुसार सृष्टिका रूप बदलता है, पदार्थ-विज्ञानकी चाल इधर-से-उधर घूम जाती है। जो नहीं है वह मृगतृष्णाके जलकी तरह दीख पड़ता है और जो है वह दिनमें तारोंकी तरह नहीं दीखता, तब हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो वेदान्तका दृष्टि-सृष्टिवाद सोलहों आने सच्चा है।

गेलीलियोके पहलेका यूरोप आजके यूरोपके विपरीत आजके ही जितने आग्रहसे सूर्यको पृथ्वीके आसपास फिरनेवाला मानता था। पाँच सौ वर्ष पहले हमारे पूर्वजोंको धर्म-पुस्तकोंकी कोई भी बात असम्भव नहीं दीखती थी, परन्तु कदाचित् उनको यह बात कि, दो हजार योजनकी दूरीपर बैठे आदमी दो ही चार क्षणमें एक दूसरेसे बातचीत कर सकते हैं, असम्भव लगती। सृष्टिका दर्शन बहुत कुछ हमारी दृष्टिपर निर्भर करता है; इतना ही नहीं, एक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभव बुद्धिजन्य या तर्कजन्य अनेकों सिद्धान्तोंको छिन्न-भिन्न कर डालता है। ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके दृष्टि-बिन्दु बदला करते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तोंमें तो समय-समयपर परिवर्तन होते ही रहते हैं। अच्छी बात है कि हमारे विज्ञानपूजकोंने इसका एक यह स्पष्टीकरण कर रक्खा है कि सिद्धान्तोंका परिवर्तन 'वैज्ञानिक

प्रगति' है। मनुष्योंके स्नेह-मन्दिर और पूजा-स्थान भी बदला करते हैं, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है?

अमूर्तको मूर्तिमान् बनाना, मानव-हृदयका एक स्वयम्भू अभिलाष है। सौन्दर्य, शृंगार, वैभव ये सब प्रभुमें पूर्णरूपसे विराजते हैं, परन्तु उनका कल्पना-चित्र स्थिर नहीं रहता। अवश्य ही मानसिक कल्पनामें विशालता अधिक है परन्तु उसमें चञ्चलता भी बहुत है। मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन ध्यानको सुलभ करते हैं और उसका मनोहारी सौन्दर्य, उसके विशाल कृपापूर्ण नेत्र और सुन्दर नासिका, भाव—दर्शनसे स्मृतिमें स्थिर हो जाते हैं। परन्तु सौन्दर्य तो केवल उसकी मायाका विलास है। वस्तुतः सौम्य और असौम्य सर्व रूपोंमें भगवती माया ही विहरती है। रूप केवल विकारी ही नहीं, वह कल्पनात्मक और मायामूलक है, इस बातके जाननेवालेको बम्बईके माधव-बागके मन्दिरकी श्रीलक्ष्मीनारायणजीकी श्वेत मूर्ति और श्रीजगन्नाथरायजीकी काष्ठमयी कृष्णमूर्तिमें एक ही समान दिव्य भाव और पुण्य-दर्शन प्रकट करनेमें कोई व्यवधान नहीं आता। इसी सत्यकी झाँकीसे पति कान्ताके रूपमें सम्पूर्ण कमनीयताका आरोपण कर सकता है और करता है। प्रभुके जगत्‌की तरह, यह मानव-जगत् भी सिर्फ उसकी भावनाकी—संस्कारकी—मनोदशाकी प्रत्यक्ष मूर्ति है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिसप्रकार आज वैज्ञानिक लोग रंगको केवल दृष्टि-भेदका ही कार्यरूप मानते हैं, उसी प्रकार आगे चलकर स्थूल-द्रव्यको भी मानसिक दृष्टि-भेदका परिणामरूप मानने लगेंगे। स्थूलत्वका ज्ञान करानेवाला स्पर्श, रूपका ज्ञान करानेवाले चक्षुसे विशेष नहीं है।

परन्तु अप्रमेय, अचिन्त्य, अवर्णनीय और प्रायः अप्राप्य प्रभुकी प्रत्यक्ष मूर्तिमें स्थित पीयूषका नेत्रोंसे पान करना, उसके चरण-स्पर्शसे, उसमें केन्द्रित हुई प्रभुकी महिमाके शक्तिपातसे रोमाञ्चका अनुभव करना; प्रभुके चरणारविन्दमें जगत्‌का सम्यक् दर्शन या जीवनका सिंहावलोकन करते-करते प्रभुकी लीलाकी अकलताका अनुभव करना और मानो जीवनके एक धन्य क्षणमें समग्र जीवनके सन्दोहका अनुभव करते हुए हर्षके या विषादके, या दोनोंके आँसुओंसे गद्‌गद् होकर द्रवित-हृदयसे श्रीमुखके दर्शन करना, यह कितना बड़ा सौभाग्य है? इस दर्शनमें असीम अशुभाशय धुल जाते हैं। अनेकों पुण्योंका समुदाय प्रकट होता है एवं भावी जीवनकी कसौटीके कम्पनके और कालमें विलय होनेके गम्भीर क्षणोंकी शाश्वत शान्तिके बीज हृदयमें विराजित होते हैं। जिनको उस प्रभुके अहर्निश दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त है, उनको धन्य है। उसकी महत्ता और सर्वव्यापकताको समझे बिना भी उसके दर्शन करनेवालेके जीवनको धन्य है। क्योंकि समझना और न समझना क्या है? समझनेवाला समझा ही नहीं। और समझमें आ जाय ऐसा वह तत्त्व ही कहाँ है? जो मूक बनकर प्रभुके दर्शन करता है और दर्शनमें ही तल्लीन हो जाता है, उसीने जाना है। जानना अर्थात् भेद-भाव समझना। अन्य वस्तुओंसे स्पष्टीकरण करना। परन्तु प्रभु तो व्यवहारके परस्पर भेद-दर्शनसे भिन्न हैं। वह तो इस विश्वसे दशांगुल आगे ही खड़े हैं। वह यहाँ भी खड़े हैं, वहाँ भी खड़े हैं। और कहाँ नहीं हैं? वर्ण दृष्टिके आधारपर स्थित नहीं हैं, हमारे राग और द्वेष भी दृष्टि-भेदके ही विपरिणामरूप हैं। इसीलिये भक्तोंको दूसरा दर्शन ही नहीं होता। वे तो बस, यही अनुभव करते हैं कि 'हमारा प्यारा ही सर्वत्र बस रहा है।' ज्ञानसे एकत्वका दर्शन करनेवालेको शोक नहीं होता, परन्तु भक्तिसे एकत्वका अनुभव करनेवाले महात्माको तो क्षोभ भी नहीं होता, क्योंकि उसे तो सर्वत्र प्रभु श्रीबालकृष्णकी माधुरी छवि ही दीखती है और उनकी बाल-चेष्टाएँ उसके हृदय-साम्राज्यको हिलाती नहीं, परन्तु हँसाती हैं। अथवा हँसाती भी नहीं, केवल लीलाका आनन्द प्रदान करती हैं।

लाज रखो

मैं नाहीं, कछु हौं नहीं कछु आहि न मोरा।
औसर, लज्जा राखि लेहु, सदना जन तोरा॥

—सदनाजी कसाई

ब्रह्मकी अखण्ड सत्ता

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निर्वचन नहीं हो सकता। हाँ, उसका संकेतरूपसे निर्देश किया जा सकता है। सत्-चित्-आनन्द अर्थात् नित्य-सत्ता, नित्य-ज्ञान एवं नित्य-आनन्द ही उसका स्वरूप है। ब्रह्म अर्थात् ईश्वरको उपकरणोंसे सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु कतिपय अनुभवसिद्ध प्रमाणोंसे उसकी सत्ताका अनुमान किया जा सकता है, जिनका उल्लेख क्रमशः नीचे किया जाता है—

१—समस्त भूतप्राणियोंकी अन्तरात्माके रूपमें ब्रह्मकी सत्ता सभीके अनुभवका विषय है। क्योंकि प्रत्येक प्राणीको अपनी सत्ताका बोध होता है, उसके विचारमें यह बात कभी नहीं आती कि 'मैं नहीं हूँ।' यदि किसीको अपनी सत्ताका अनुभव न होता तो प्रत्येक प्राणी यही सोचता कि 'मैं नहीं हूँ।' जिसकी सत्ताका सबको अनुभव है, वह आत्मा ब्रह्म ही है।

२—थोड़ी देरके लिये अपनी आँखें मूँदकर यह कल्पना करो कि मैं मर गया हूँ। आप ऐसा कभी नहीं कर सकेंगे। आप यह कभी नहीं सोच सकते कि (मृत्युके बाद) हम नहीं रहेंगे। आप यही कल्पना कर सकेंगे कि आपका निर्जीव देह भूमिपर पड़ा हुआ है और आप साक्षीरूपसे उसे देख रहे हैं। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आप सर्वदा साक्षी अथवा द्रष्टारूपसे रहते हैं। प्रत्येक प्राणीका यह आन्तरिक अनुभव होता है कि 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ।

३—किसी वस्तुको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी क्रियाका आधार आत्मा ही है, अतएव इस क्रियाके पूर्व ही आत्माका भान होता है और इसीलिये आत्माकी सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्म अर्थात् आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना अपनी ही सत्ताको अस्वीकार करना है, जो तर्कसे असिद्ध है। सारी कल्पनाओं एवं उपपत्तियोंका आधार ब्रह्म ही है।

४—प्रत्येक कार्यका कोई कारण अवश्य होता है। अतः इस दृश्यमान् जगत्का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये। वह कारण ब्रह्म है, जो स्वयं कारणरहित होनेके कारण 'परम कारण' कहलाता है। स्वयं सृष्टिकर्ताके कारण-की कल्पना तर्कविरुद्ध है। यदि सृष्टिकर्ताका भी कोई कारण माना जाय तो उस कारणका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये और इसप्रकार कारणके कारणका अनुसन्धान कभी समाप्त ही नहीं होगा। इसमें अनवस्थाका दोष आवेगा। इसप्रकार सृष्टिके आदिकारणकी कल्पनासे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है।

५—प्रत्येक परिच्छिन्न वस्तुकी कल्पना करते समय हमें यह विचार अवश्य होता है कि उसके परे भी कोई वस्तु है। मनका स्वरूप ही ऐसा है कि वह असीमकी कल्पना किये बिना ससीमकी कल्पना नहीं कर सकता। हम कारणकी कल्पना किये बिना कार्यकी कल्पना नहीं कर सकते। अशुचिता, द्वैत, प्रतिकूलता, भेद, मरणधर्मता इत्यादिकी कल्पनाके साथ हमें शुचिता, अद्वैत, अनुकूलता, अभेद, अमरत्व इत्यादिकी कल्पना भी अवश्य करनी पड़ती है। ब्रह्मकी सत्ताको सिद्ध करनेकी यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है। अनन्तता ही ब्रह्मका स्वरूप है। जिसप्रकार ताप एवं प्रकाश अग्निका स्वभाव है, इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द ही ब्रह्मका स्वभाव है।

६—जब आप अँधेरेमें अथवा कहीं परदेकी ओटमें हों, उस समय यदि कोई आपसे पूछे कि 'कौन है ?' तो उस समय आप स्वाभाविकतया यही उत्तर देंगे कि 'यह तो मैं हूँ।' इसके अनन्तर दुबारा विचार करनेपर आप यह कहेंगे 'कि मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ।' 'मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ' यह केवल हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा आरोप है जो हमने अपनी अविद्या अर्थात् अज्ञानके कारण कर लिया है। पहले पहल आपके मुँहसे सहसा 'मैं' शब्द निकला जो आपकी अपरिच्छिन्न सत्ताके सम्बन्धमें आपके आन्तरिक अनुभवका द्योतक है। हमारा 'अहमस्मि' यह आन्तरिक अनुभव अबाधरूपसे रहता है।

७—सबको अपने ज्ञानका विषय करनेवाले एवं भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों अवस्थाओंमें अभिन्नरूपसे रहनेवाले सनातन आत्मतत्त्वकी सत्ताको स्वीकार किये बिना स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान इत्यादिकी सिद्धि नहीं हो सकती जो हमारे देश, काल एवं कारण-सम्बन्धी मानसिक संस्कारोंपर अवलम्बित हैं। आत्मा संकल्पोंसे

विलक्षण ही नहीं, किन्तु उनसे परेकी वस्तु है, क्योंकि संकल्पोंके लिये कोई ऐसा आधार अवश्य होना चाहिये जो उनका समन्वय एवं परस्पर अनुसन्धान कर सके। वह आधार-तत्त्व आत्मा ही है जिसके द्वारा उन संकल्पोंका भी ज्ञान हो सकता है।

८–संस्कृतके 'अहम्' शब्दका अर्थ है 'मैं' और 'इदम्' का अर्थ है 'यह'। अपने लिये हम 'अहम्' शब्दका और दूसरोंके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते हैं। किन्तु जब कोई हमसे बात करता है उस समय यह क्रम बदल जाता है। हम जिसके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'अहम्' शब्दका प्रयोग होता है और अपने लिये जो हम 'अहम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'इदम्' शब्दका प्रयोग होने लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अहम्' यह प्रत्यय सब प्राणियोंके अन्दर समानरूपसे रहता है। 'इदम्' यह हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा अध्यारोप ही है, जिसप्रकार रज्जुमें सर्पका अध्यारोप होता है। सर्प रज्जुका 'विवर्त' है, इसी प्रकार 'इदम्' 'अहम्' का विवर्त है।

९–इस दृश्यमान् जगत्‌में कार्य-कारणका जो चक्र चल रहा है उसके परे हमें कोई ऐसी सत्ता ढूँढ़नी चाहिये जो निर्विकार, कूटस्थ एवं स्वतन्त्र हो, जो सर्वदा अभिन्नरूपसे रहती हो और जो इन समस्त विकारोंका कारणरहित अर्थात् 'परम' कारण हो। यह निर्विकार, स्वतन्त्र, अनादि वस्तु, अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अग्राह्य) अर्थात् अदृश्य एवं निर्गुण अर्थात् उन गुणोंसे रहित होनी चाहिये जो दृश्य पदार्थोंमें पाये जाते हैं। यहाँ सारे विकारोंका अन्त हो जाता है, मनकी गति रुक जाती है और उस विश्वासका अंकुर जम सकता है जिसे हम संसारके विनाशशील पदार्थोंमें व्यर्थ खोजते हैं।

१०–बाह्य-ज्ञानके लिये हमें सबसे पहले इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है, किन्तु इनका सम्बन्ध किसी और वस्तुसे होता है। ये स्वतन्त्ररूपसे उन विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें इसके लिये मनकी अपेक्षा होती है, क्योंकि मनकी सहायताके बिना किसी विषयकी उपलब्धि नहीं हो सकती। तो क्या फिर मन ही परम कारण है? नहीं, कदापि नहीं, क्योंकि मन तो स्वयं ससीम है। गाढ़-निद्राकी अवस्थामें मन भी प्रसुप्त रहता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह भी परतन्त्र है। हमारा ज्ञान परिमित है, इसीसे यह प्रतीत होता है कि कोई अपरिमित ज्ञान भी है। इस परिणामपर पहुँचनेके बाद यदि हम अपने निज स्वरूपपर पुनः विचार करें तो हमें मालूम होगा कि हमारे अन्दर एक ऐसा शाश्वत-तत्त्व है जिसका ज्ञानके समस्त रूपान्तरोंसे सम्बन्ध है। वह तत्त्व आत्मा है, जो कानोंसे सुनता है, आँखोंसे देखता है, मनसे मनन करता है एवं बुद्धिसे जानता है; जिसका ज्ञानकी भिन्न क्रियाओंके साथ अन्त नहीं हो जाता, जो उन सारी क्रियाओंमें अविकृतरूपसे रहता है और जिसके बिना वे सारी क्रियाएँ हो नहीं सकतीं। वही हमारा आत्मा अथवा परमात्मा है, जो केवल ज्ञानरूप, अपरिमेय एवं ज्ञानके विषयोंसे निरपेक्ष सत्तावाला है। वह प्रकाशोंका प्रकाश, जीवनोंका जीवन, मनोंका मन एवं आत्माओंका आत्मा है। वह अव्यक्त जीवन है जिससे प्रत्येक परमाणु अनुप्राणित हो रहा है, वह प्रच्छन्न ज्योति है जो प्रत्येक जीवके अन्दर जगमगा रही है, वह निगूढ़ प्रेम है जो सबको एकताके सूत्रमें बाँधता है, वह मनके सारे व्यापारोंका मूक साक्षी है और उपनिषदोंका ब्रह्म वही है।

११–अब ज़रा आइये! इस क्षुद्र 'अहम्' का विश्लेषण करें, जो हमारे समस्त क्लेशों, दुःखों एवं कष्टोंका मूल है और जो झूठमूठ हमारे आत्मापर अधिकार कर बैठा है।

यह भौतिक शरीर 'मैं' नहीं है, हाथ अथवा पैरके कट जानेपर भी 'मैं' की भावना बनी रहती है। यह शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ है और अन्नका ही विकार है, इसलिये इसे शास्त्रोंमें 'अन्नमय कोष' कहा गया है। यह सावयव है, आदि और अन्तवाला है, विनाशी अर्थात् नाश होनेवाला है, जड़ अर्थात् अचेतन (ज्ञानरहित) है। इन्द्रियाँ भी 'मैं' नहीं हैं, वे भी जड हैं, आदि-अन्तवाली हैं, रजोगुण एवं सत्त्वगुणके विकार हैं, जो पञ्चतन्मात्राओंसे बने हुए हैं।

मन भी 'मैं' शब्दका वाच्य नहीं है। सुषुप्तिमें 'मन' शरीरके साथ नहीं रहता, किन्तु फिर भी ज्ञानका ताँता नहीं टूटता। फिर मन भी जड़ एवं आदि-अन्तवाला है। वह परिवर्तनशील संकल्पोंका एक पुञ्जमात्र है। वह अन्धकारमें भ्रमित होता है, दुःखमें डूब जाता है और अत्यन्त भयभीत-अवस्थामें

ब्रह्मकी अखण्ड सत्ता

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निर्वचन नहीं हो सकता । हाँ, उसका सकेतरूपसे निर्देश किया जा सकता है । सत्-चित्-आनन्द अर्थात् नित्य-सत्ता, नित्य-ज्ञान एवं नित्य-आनन्द ही उसका स्वरूप है । ब्रह्म अर्थात् ईश्वरको उपकरणोंसे सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु कतिपय अनुभवसिद्ध प्रमाणोंसे उसकी सत्ताका अनुमान किया जा सकता है, जिनका उल्लेख क्रमशः नीचे किया जाता है—

१–समस्त भूतप्राणियोंकी अन्तरात्माके रूपमें ब्रह्मकी सत्ता सभीके अनुभवका विषय है । क्योंकि प्रत्येक प्राणी-को अपनी सत्ताका बोध होता है, उसके विचारमें यह बात कभी नहीं आती कि 'मैं नहीं हूँ ।' यदि किसीको अपनी सत्ताका अनुभव न होता तो प्रत्येक प्राणी यही सोचता कि 'मैं नहीं हूँ ।' जिसकी सत्ताका सबको अनुभव है, वह आत्मा ब्रह्म ही है ।

२–थोड़ी देरके लिये अपनी आँखें मूँदकर यह कल्पना करो कि मैं मर गया हूँ । आप ऐसा कभी नहीं कर सकेंगे। आप यह कभी नहीं सोच सकते कि (मृत्युके बाद) हम नहीं रहेंगे । आप यही कल्पना कर सकेंगे कि आपका निर्जीव देह भूमिपर पड़ा हुआ है और आप साक्षीरूपसे उसे देख रहे हैं । इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आप सर्वदा साक्षी अथवा द्रष्टारूपसे रहते हैं । प्रत्येक प्राणीका यह आन्तरिक अनुभव होता है कि 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ ।

३–किसी वस्तुको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी क्रियाका आधार आत्मा ही है, अतएव इस क्रियाके पूर्व ही आत्माका भान होता है और इसीलिये आत्माकी सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता । ब्रह्म अर्थात् आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना अपनी ही सत्ताको अस्वीकार करना है, जो तर्कसे असिद्ध है । सारी कल्पनाओं एवं उपपत्तियोंका आधार ब्रह्म ही है ।

४–प्रत्येक कार्यका कोई कारण अवश्य होता है । अतः इस दृश्यमान् जगत्का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये । वह कारण ब्रह्म है, जो स्वयं कारणरहित होनेके कारण 'परम कारण' कहलाता है । स्वयं सृष्टिकर्ताके कारण-की कल्पना तर्कविरुद्ध है । यदि सृष्टिकर्ताका भी कोई कारण माना जाय तो उस कारणका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये और इसप्रकार कारणके कारणका अनुसन्धान कभी समाप्त ही नहीं होगा । इसमें अनवस्थाका दोष आवेगा । इसप्रकार सृष्टिके आदिकारणकी कल्पनासे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है ।

५–प्रत्येक परिच्छिन्न वस्तुकी कल्पना करते समय हमें यह विचार अवश्य होता है कि उसके परे भी कोई वस्तु है । मनका स्वरूप ही ऐसा है कि वह असीमकी कल्पना किये बिना ससीमकी कल्पना नहीं कर सकता । हम कारणकी कल्पना किये बिना कार्यकी कल्पना नहीं कर सकते । अशुचिता, द्वैत, प्रतिकूलता, भेद, मरणधर्मता इत्यादिकी कल्पनाके साथ हमें शुचिता, अद्वैत, अनुकूलता, अभेद, अमरत्व इत्यादिकी कल्पना भी अवश्य करनी पड़ती है । ब्रह्मकी सत्ताको सिद्ध करनेकी यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है । अनन्तता ही ब्रह्मका स्वरूप है । जिसप्रकार ताप एवं प्रकाश अग्निका स्वभाव है, इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द ही ब्रह्मका स्वभाव है ।

६–जब आप अँधेरेमें अथवा कहीं परदेकी ओटमें हों, उस समय यदि कोई आपसे पूछे कि 'कौन है ?' तो उस समय आप स्वाभाविकतया यही उत्तर देंगे कि 'यह तो मैं हूँ ।' इसके अनन्तर दुबारा विचार करनेपर आप यह कहेंगे 'कि मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ ।' 'मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ' यह केवल हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा आरोप है जो हमने अपनी अविद्या अर्थात् अज्ञानके कारण कर लिया है । पहले पहल आपके मुँहसे सहसा 'मैं' शब्द निकला जो आपकी अपरिच्छिन्न सत्ताके सम्बन्धमें आपके आन्तरिक अनुभवका द्योतक है । हमारा 'अहमस्मि' यह आन्तरिक अनुभव अबाधरूपसे रहता है ।

७–सबको अपने ज्ञानका विषय करनेवाले एवं भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों अवस्थाओंमें अभिन्न-रूपसे रहनेवाले सनातन आत्मतत्त्वकी सत्ताको स्वीकार किये बिना स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान इत्यादिकी सिद्धि नहीं हो सकती जो हमारे देश, काल एवं कारण-सम्बन्धी मानसिक संस्कारोंपर अवलम्बित हैं । आत्मा संकल्पोंसे

विलक्षण ही नहीं, किन्तु उनसे परेकी वस्तु है, क्योंकि संकल्पोंके लिये कोई ऐसा आधार अवश्य होना चाहिये जो उनका समन्वय एवं परस्पर अनुसन्धान कर सके। वह आधार-तत्त्व आत्मा ही है जिसके द्वारा उन संकल्पोंका भी ज्ञान हो सकता है।

८–संस्कृतके 'अहम्' शब्दका अर्थ है 'मैं' और 'इदम्' का अर्थ है 'यह'। अपने लिये हम 'अहम्' शब्दका और दूसरोंके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते हैं। किन्तु जब कोई हमसे बात करता है उस समय यह क्रम बदल जाता है। हम जिसके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'अहम्' शब्दका प्रयोग होता है और अपने लिये जो हम 'अहम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'इदम्' शब्दका प्रयोग होने लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अहम्' यह प्रत्यय सब प्राणियोंके अन्दर समानरूपसे रहता है। 'इदम्' यह हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा अध्यारोप ही है, जिसप्रकार रज्जुमें सर्पका अध्यारोप होता है। सर्प रज्जुका 'विवर्त' है, इसी प्रकार 'इदम्' 'अहम्' का विवर्त है।

९–इस दृश्यमान् जगत्‌में कार्य-कारणका जो चक्र चल रहा है उसके परे हमें कोई ऐसी सत्ता ढूँढ़नी चाहिये जो निर्विकार, कूटस्थ एवं स्वतन्त्र हो, जो सर्वदा अभिन्नरूपसे रहती हो और जो इन समस्त विकारोंका कारणरहित अर्थात् 'परम' कारण हो। यह निर्विकार, स्वतन्त्र, अनादि वस्तु, अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अग्राह्य) अर्थात् अदृश्य एवं निर्गुण अर्थात् उन गुणोंसे रहित होनी चाहिये जो दृश्य पदार्थोंमें पाये जाते हैं। यहाँ सारे विकारोंका अन्त हो जाता है, मनकी गति रुक जाती है और उस विश्वासका अंकुर जम सकता है जिसे हम संसारके विनाशशील पदार्थोंमें व्यर्थ खोजते हैं।

१०–बाह्य-ज्ञानके लिये हमें सबसे पहले इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है, किन्तु इनका सम्बन्ध किसी और वस्तुसे होता है। ये स्वतन्त्ररूपसे उन विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें इसके लिये मनकी अपेक्षा होती है, क्योंकि मनकी सहायताके विना किसी विषयकी उपलब्धि नहीं हो सकती। तो क्या फिर मन ही परम कारण है? नहीं, कदापि नहीं, क्योंकि मन तो स्वयं ससीम है। गाढ़-निद्राकी अवस्थामें मन भी प्रसुप्त रहता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह भी परतन्त्र है। हमारा ज्ञान परिमित है, इसीसे यह प्रतीत होता है कि कोई अपरिमित ज्ञान भी है। इस परिणामपर पहुँचनेके बाद यदि हम अपने निज स्वरूपपर पुनः विचार करें तो हमें मालूम होगा कि हमारे अन्दर एक ऐसा शाश्वत-तत्त्व है जिसका ज्ञानके समस्त रूपान्तरोंसे सम्बन्ध है। वह तत्त्व आत्मा है, जो कानोंसे सुनता है, आँखोंसे देखता है, मनसे मनन करता है एवं बुद्धिसे जानता है; जिसका ज्ञानकी भिन्न क्रियाओंके साथ अन्त नहीं हो जाता, जो उन सारी क्रियाओंमें अविकृतरूपसे रहता है और जिसके विना वे सारी क्रियाएँ हो नहीं सकतीं। वही हमारा आत्मा अथवा परमात्मा है, जो केवल ज्ञानरूप, अपरिमेय एवं ज्ञानके विषयोंसे निरपेक्ष सत्तावाला है। वह प्रकाशोंका प्रकाश, जीवनोंका जीवन, मनोंका मन एवं आत्माओंका आत्मा है। वह अव्यक्त जीवन है जिससे प्रत्येक परमाणु अनुप्राणित हो रहा है, वह प्रच्छन्न ज्योति है जो प्रत्येक जीवके अन्दर जगमगा रही है, वह निगूढ़ प्रेम है जो सबको एकताके सूत्रमें बाँधता है, वह मनके सारे व्यापारोंका मूक साक्षी है और उपनिषदोंका ब्रह्म वही है।

११–अब ज़रा आइये! इस क्षुद्र 'अहम्' का विश्लेषण करें, जो हमारे समस्त क्लेशों, दुःखों एवं कष्टोंका मूल है और जो झूठमूठ हमारे आत्मापर अधिकार कर बैठा है।

यह भौतिक शरीर 'मैं' नहीं है, हाथ अथवा पैरके कट जानेपर भी 'मैं' की भावना बनी रहती है। यह शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ है और अन्नका ही विकार है, इसलिये इसे शास्त्रोंमें 'अन्नमय कोष' कहा गया है। यह सावयव है, आदि और अन्तवाला है, विनाशी अर्थात् नाश होनेवाला है, जड़ अर्थात् अचेतन (ज्ञानरहित) है। इन्द्रियाँ भी 'मैं' नहीं हैं, वे भी जड हैं, आदि-अन्तवाली हैं, रजोगुण एवं सत्त्वगुणके विकार हैं, जो पञ्चतन्मात्राओंसे बने हुए हैं।

मन भी 'मैं' शब्दका वाच्य नहीं है। सुषुप्तिमें 'मन' शरीरके साथ नहीं रहता, किन्तु फिर भी ज्ञानका ताँता नहीं टूटता। फिर मन भी जड़ एवं आदि-अन्तवाला है। वह परिवर्तनशील संकल्पोंका एक पुञ्जमात्र है। वह अन्धकारमें भ्रमित होता है, दुःखमें डूब जाता है और अत्यन्त भयभीत-अवस्थामें

शुष्क-काष्ठकी भाँति स्तब्ध हो जाता है। प्राण भी 'मैं' नहीं है। वह रजोगुणका विकार है, जड़ एवं आदि-अन्तवाला है। प्राणायामसे प्राणोंकी गति रुक जानेपर भी ज्ञानका ताँता नहीं टूटता।

इसी प्रकार आनन्दमय कोष अथवा कारणशरीर भी, जो मूल-अविद्याका नाम है और जो वासनाओं एवं संस्कारोंसे बना हुआ है, 'मैं' नहीं है। वह जड़ एवं आदि-अन्तवाला है। जब हम अपने लिये 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं उस समय हम इस बातका यथार्थ अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' यह हमारा सत्स्वरूप है। हम इस बातको समझते हैं कि 'मैं हूँ,' यह हमारा चित्-स्वरूप है और हम आनन्दका अनुभव करते हैं यह हमारा आनन्दस्वरूप है। आत्म-निरीक्षणके द्वारा सावधानीसे विश्लेषण करनेपर इस हमारे क्षुद्र अहंकारका *बिल्कुल अभाव हो जाता है, जिसप्रकार प्याजके छिलकोंको निकाल देनेपर शेषमें कुछ नहीं रहता। किन्तु सबकी तहमें हमें उस महान् अनन्त 'अहम्'— सच्चिदानन्द ब्रह्मकी उपलब्धि होती है,* जो इन सारे मिथ्या आभासों, अनेक क्षुद्र अहंताओंका आधार अथवा अधिष्ठान है।

१२—मान लीजिये कि हमारे सामने एक आमका वृक्ष खड़ा है। इसके नाम और रूप दोनों हैं। यह स्कन्ध, शाखाओं, टहनियों, पत्तों, बौर एवं फल इत्यादि अनेक अवयवोंसे युक्त है। साधारण दृष्टिके मनुष्यको वृक्षके इन्हीं दो स्वरूपों अथवा अंगोंकी उपलब्धि होती है। नाम और रूप इन दो स्वरूपों अथवा अंगोंमें ही मनुष्यजाति सल्लीन एवं लुभाई हुई रहती है। उन्हें उस तथ्यका ज्ञान नहीं है जो उस आमके वृक्षके अन्दर छिपा हुआ है। इन दो स्वरूपोंके अतिरिक्त उस आमके पेड़के तीन और स्वरूप अथवा अंग हैं। आमका वृक्ष 'है' यह उसका सत् (अस्ति) स्वरूप है। वह भासता भी है; अर्थात् आपकी समझमें यह बात आती है कि एक आमका पेड़ आपके सामने खड़ा हुआ है; आपकी इन्द्रियों एवं मनके द्वारा उसका ग्रहण होता है; यह उसका चित् (भाति) स्वरूप है। वृक्षकी सत्तासे आपको आनन्द मिलता है, यह उसका आनन्द (प्रिय) स्वरूप है। अब यदि उस वृक्षको काटकर हम उसके तख्ते बनवा लेवें, तब भी उन तख्तोंमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति अवश्य होती है। तख्ता है, वह भासता है, उसे आप जानते हैं, उससे आपको आनन्द मिलता है, उसकी आप कुर्सियाँ, बेंच वगैरह बनवा सकते हैं। अब यदि उस तख्तेको हम आगमें रखकर जला डालें तो उसकी राखमें भी सत्-चित्-आनन्दकी प्रतीति होगी। राख है, वह भासती है, आप उसे जानते हैं, उससे आपको आनन्दकी प्राप्ति होती है, उससे आप कई काम लेते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि *नाम-रूप बदलते रहते हैं किन्तु सत्-चित्-आनन्द सदैव बना रहता है। यही सत्य है। प्रत्येक रूपमें सत्-चित्-आनन्दकी अलग-अलग अभिव्यक्ति होती है। रूप अलग-अलग* (व्यतिरेकी) हैं किन्तु उनके अन्दर रहनेवाली वास्तविक सत्ता एक (अन्वयी) है।

१३—हम अपने स्त्री-पुत्रादिसे उस आत्मा (ब्रह्म) के रूपमें ही जो उनके शरीरके भीतर छिपा हुआ है एवं उसीके नाते प्रेम करते हैं। *यदि आप यह कहें कि हम तो यथार्थमें उनके पाञ्चभौतिक शरीरसे ही प्रेम करते हैं* तो उस दशामें आपको उनके निर्जीव एवं सड़ते हुए शवसे भी प्रेम करना चाहिये, परन्तु होता इसके विपरीत है; आप उनके शवको, जितना जल्दी हो सके, घरसे बाहर निकालनेकी चेष्टा करते हैं।

१४—मान लीजिये घरमें आग लगी है। ऐसी दशामें सबसे पहले हम अपनेको बचानेका प्रयत्न करते हैं और धन-दौलत, पुत्र-कलत्र आदिकी परवा नहीं करते। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हम अपने पाञ्च-भौतिक शरीरके अन्दर रहनेवाली किसी वस्तुसे अत्यधिक प्रेम करते हैं। उससे बढ़कर हमें संसारकी कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। वह वस्तु आत्मा अथवा ब्रह्म है, जो समस्त भूतप्राणियोंका अन्तरात्मा है, एक सर्वव्यापी चेतना तथा सारे विश्वका अधिष्ठान है।

१५—अखिल संसारमें पाँच ही इन्द्रियाँ हैं जिन्हें विषयी अथवा ग्राहक कहते हैं, (जिनसे विषयोंका ग्रहण होता है) और पाँच ही उनके विषय हैं। नेत्र रूपका ग्रहण करते हैं, रूप अग्नितत्त्वका विकार है और नेत्र भी अग्नि-तन्मात्रसे बने हुए हैं। इसप्रकार नेत्र एवं रूपमें सजातीय सम्बन्ध है। नेत्रोंके द्वारा शब्दका ग्रहण नहीं होता। कर्णेन्द्रिय शब्द-तन्मात्रसे बना हुआ है और शब्द आकाशतत्त्वका परिणाम है। अतएव कर्णेन्द्रिय एवं

शब्दमें सजातीय सम्बन्ध है। कर्णेन्द्रियसे रूपका ग्रहण नहीं हो सकता। पाँचों इन्द्रियाँ जड़ अर्थात् अचेतन (ज्ञानशून्य) हैं। उन्हें आत्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यसे ही प्रकाश एवं शक्ति प्राप्त होती है जो इन इन्द्रियोंका अधिष्ठान है, जिसप्रकार पानीके कटोरेको धूपमें रख देनेसे उसके अन्दर सूर्यकी गर्मी आ जाती है। आत्मा नेत्रेन्द्रिय एवं विषयोंकी सहकारितासे जगत्‌की उपलब्धिका कारण होता है। यह सारा जगत् आत्मा अथवा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। आत्माके द्वारा ही आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। आत्मासे ही आत्माकी उपलब्धि होती है। हमारी अन्तरात्मा एवं जगत्‌के रूपमें भासनेवाली बाह्यात्माके बीचमें सजातीय सम्बन्ध है। और तो और, एक कंकड़ भी आत्मा अथवा ब्रह्मका ही रूप है। मन एवं चक्षुकी सहायतासे ब्रह्म ही कंकड़के रूपमें भासने लगता है। वास्तवमें यह सारा संसार ब्रह्मरूप ही है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)। आत्मा एवं अनात्मामें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

१६–सुषुप्ति-अवस्थामें न तो इन्द्रियाँ रहती हैं, न विषय रहते हैं और न मन ही रहता है; किन्तु फिर भी उस समय हमें निरतिशय आनन्दका अनुभव होता है। जब विषय ही नहीं हैं तो हमें यह आनन्द कहाँसे प्राप्त होता है? बात यह है कि सुषुप्तिकालमें मनकी सत्ता ब्रह्ममें रहती है और वहींसे उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त सुषुप्तिकालमें जब और किसी मनुष्यका अस्तित्व नहीं रहता, केवल 'मैं' की सत्ता रहती है।

१७–लैटिन-भाषामें एक कहावत है 'Cogito ergo sum.' इसका अर्थ यह है कि 'मैं विचार करता हूँ इसीलिये मैं हूँ।' डेकार्ट (Descartes) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकके मतमें अध्यात्म-शास्त्रकी मूलभित्ति यही है। श्रीशंकराचार्यका भी यही कहना है कि आत्मा मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि जो पुरुष आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करता है, वह ऐसा करता हुआ भी उसकी सत्यताका अनुभव करता है।

१८–यद्यपि ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय एवं अग्राह्य है फिर भी हम उसका संकेतरूपसे निर्देश करनेकी चेष्टा करेंगे। अद्वैतवादियोंने कुछ ऐसे विशेषण अथवा लक्षण बतलाये हैं, जिनसे हम ब्रह्मके स्वरूपको दूसरे गुणवाले पदार्थोंसे पृथक् कर सकते हैं और जिनकी सहायतासे हम उसका ध्यान कर सकते हैं। ये लक्षण भी दो प्रकारके हैं—स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण। सत्, चित्, आनन्द ये स्वरूप-लक्षण हैं और सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सृष्टि-कर्तृत्व इत्यादि गुण तटस्थ-लक्षण कहलाते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि इस विश्वके पीछे एक महान् संकल्प अथवा चैतन्य-शक्ति काम कर रही है। ब्रह्म ही संसारका कारण एवं वेदोंकी योनि है, अतः वह सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिये।

१९–कर्म जड़ अर्थात् अचेतन हैं। जीवोंको उनके किये हुए कर्मोंका फल भुगतानेवाला कोई अवश्य होना चाहिये। संसारमें कोई गरीब है कोई अमीर; कोई नीरोग है तो कोई अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे घिरा हुआ रहता है; कोई जन्मसे ही प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं तो कोई निरे कुण्ठितबुद्धि और कोई जन्मसे ही लूले, लँगड़े, बहरे और गूँगे होते हैं। इन सारी विचित्रताओंका युक्तियुक्त समाधान कर्म-सिद्धान्तसे ही हो सकता है। मान लीजिये किसी जगह ठेकेका काम हो रहा है, जिसमें अनेक मजदूर काम करते हैं। उनकी देख-रेखके लिये जो निरीक्षक (overseer) नियुक्त है वह उनकी योग्यता तथा उनके कामको देखकर उन्हें उचित मजदूरी देता है। इसी प्रकार विश्वका नियन्ता हम सब जीवोंके कर्मों एवं नीयतको जानता है और उसके अनुसार हमें अपने कर्मोंका फल देता है।

२०–अनेकों बार हम कई प्रकारके मनसूबे बाँधते हैं किन्तु कोई ऐसी शक्ति है जो उन्हें सफल नहीं होने देती। हममेंसे प्रत्येकको अपने कार्योंमें इसका प्रतिदिन अनुभव होता है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्रत्येक मनुष्यके कार्योंका नियमन करनेवाली कोई सर्वोपरि प्रेरक शक्ति अवश्य है; वही ईश्वर है।

२१–शुभ कर्म करनेमें हमारे मनको सन्तोष एवं सुख होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी आत्मा उन्नत हो रही है। इसी प्रकार पाप करते समय हम अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इससे यह प्रकट होता है कि हमारी चेतनाके पीछे कोई सर्वोपरि शक्ति है जो हमारे बुरे-भले कामोंको (कर्माध्यक्षरूपसे) देखती है और हमारे मनकी स्फुरणाओंको भी जानती है।

२२–'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः………' अर्थात् इस मनका प्रेरक कौन है? (केन० मं० १)

मिश्रदेशीय सन्त मैकेरियस

(लेखक—फादर बी० एलविन महोदय)

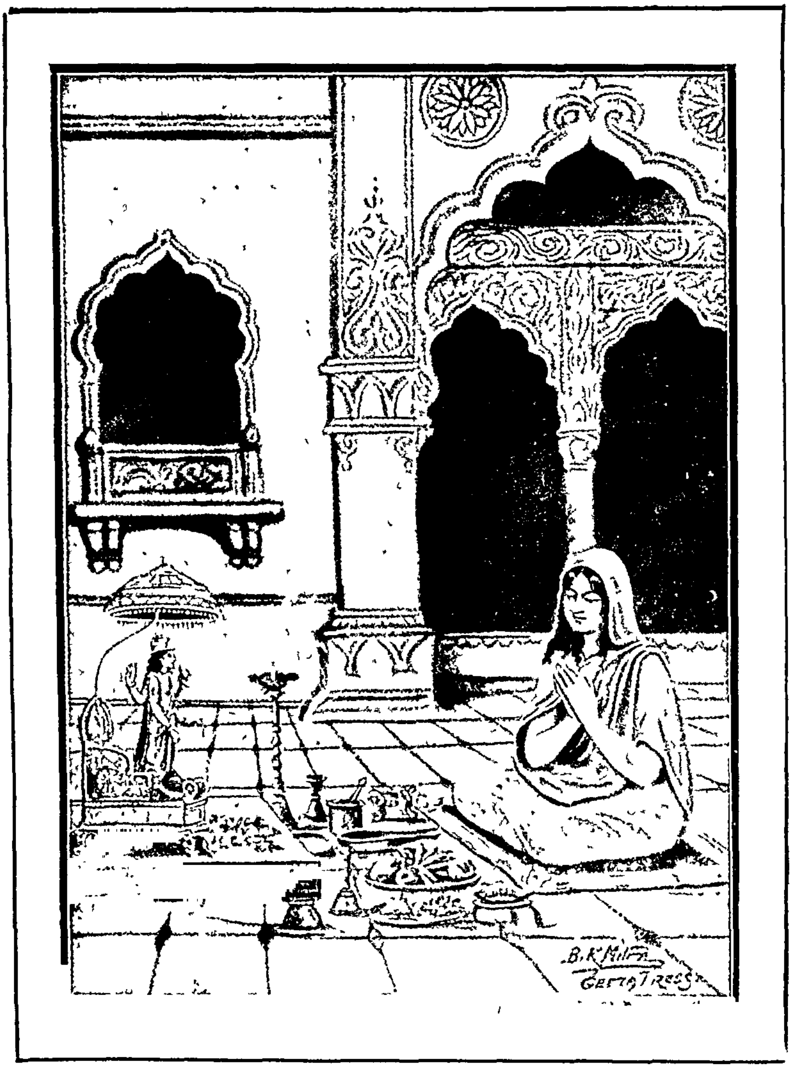
पुण्यात्मा मैकेरियसने मिश्रकी मरुभूमिके निर्जन एवं निर्जल प्रान्तोंमें अपने जीवनके साठ वर्ष व्यतीत किये। साठ वर्षतक लगातार वे अपने चारों ओर बालू एवं चट्टानोंका निरीक्षण करते और सायंकालको प्रतिदिन रक्तवर्ण रश्मिमालीको निर्जनताके अथाह समुद्रमें प्रवेश करते देखते रहे। यहींपर उन्होंने अपनी आत्म-विजय प्राप्त की और ईश्वरकी उपलब्धि की। उन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। उदाहरणतः अनेकों रोगियोंको अच्छा किया, मुर्दोंको जिलाया, भूत-प्रेतोंको निकाला और भविष्यवाणियाँ कीं। वे अपनी तपश्चर्याके लिये विख्यात थे। उनकी कुटियासे एक सुरंग किसी गुप्त गुफातक चली गयी थी। उनसे मिलनेके लिये आये हुए लोग उनका पता न पा सकें, इसलिये वे बहुधा उस गुफामें चले जाया करते थे। मेरे एक मित्रने एक बार उनसे आत्म-संयमके बारेमें पूछा तो उन्होंने कहा कि–'बेटा, हिम्मत रक्खो। मैंने बीस वर्षतक लगातार कभी न तो भरपेट रोटी खायी है, न पानी पीया है और न मैं नींदभर सोया हूँ। मैं नियमितरूपसे तौल-तौलकर कुछ खाता रहा हूँ, इसी प्रकार निश्चित नापका पानी पीता रहा हूँ और दीवारके सहारे बैठकर स्वल्प-सा सो लिया करता हूँ।'

सन्त मैकेरियसके साहस, धैर्य तथा ईश्वरमें विश्वासको बतलानेवाली अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। एक बारका जिक्र है कि वे टोकरियोंका एक बोझा सिरपर लादे स्केटिस (Scetis) नामक स्थानसे ऊपर पहाड़की ओर जा रहे थे। मार्गमें उन्हें इतनी थकावट प्रतीत हुई कि वे बैठकर भगवान्‌से यों प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभु! तुम जानते हो कि मैं अब नहीं चल सकता।' उनका इतना कहना ही था कि वे तुरन्त ही अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच गये।

एक दिन उन्होंने एक बालकको अपनी मातासे यह कहते हुए सुना कि 'अम्मा, एक धनी आदमी मुझसे प्रेम करता है किन्तु मैं बदलेमें उससे घृणा करता हूँ। साथ ही एक गरीब आदमी मुझसे घृणा करता है किन्तु मैं उसे प्यार करता हूँ।' मैकेरियसको यह सुनकर आश्चर्य हुआ और जब उसके शिष्योंने उनके आश्चर्यका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'भाई! बात बिल्कुल ठीक है; हमारे प्रभु बहुत बड़े धनी हैं और वे हमसे प्रेम भी करते हैं किन्तु हम उनकी अवहेलना करते हैं, इसके विपरीत हमारा शत्रु शैतान (Devil) अति दीन है और वह हमसे घृणा करता है, किन्तु फिर भी हम उसकी उस गन्दगीसे प्रेम करते हैं।

एक दिन एक शिष्यने मैकेरियसके पास जाकर उनसे मुक्तिका साधन पूछा। तपस्वीने उत्तर दिया कि 'तुम कब्रिस्तानमें जाकर वहाँ गड़े हुए मुर्दोंको गालियाँ दो। शिष्यने वहाँ जाकर मुर्दोंको गालियाँ देना और उन्हें पत्थरोंसे मारना शुरू किया, तदनन्तर वह अपने गुरुके पास लौट आया। गुरुने उससे पूछा कि 'उन लोगोंने तुमसे कुछ कहा तो नहीं?' वह बोला 'नहीं, किसीने चूँ तक नहीं किया।' तब गुरुजी बोले, 'अच्छा कल एक बार फिर जाओ और वहाँ गड़े हुए मुर्दोंकी प्रशंसा करो।' शिष्य वहाँ गया और मुर्दोंको ईश्वर-दूत एवं सन्त महात्मा कहकर उनकी प्रशंसा करने लगा। इसके बाद गुरुजीके पास लौट आया। उन्होंने फिर पूछा '*क्या तुम्हें अबकी बार भी कोई उत्तर नहीं मिला?*' उसने कहा 'नहीं, एक शब्द भी सुनायी नहीं दिया।' मैकेरियसने कहा—'बस, यह (समता) ही मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। तुम जानते हो, तुमने उनका कितना अपमान किया किन्तु उन्होंने बदलेमें तुमको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। और तुमने उनकी प्रशंसा की तब भी उन्होंने तुमसे कुछ नहीं कहा। यदि तुम अपने उद्धारकी इच्छा करते हो तो उनकी तरह मान-अपमान-की ओरसे उदासीन बन जाओ। लोग तुम्हारा कितना ही अहित क्यों न करें, कुछ परवा न करो और न तुम उनकी ओरसे की जानेवाली स्तुतिपर ही ध्यान दो। उनकी ओरसे जीते ही मुर्दे बन जाओ। फिर तुम्हारे उद्धारमें कोई शङ्का नहीं रहेगी।'

मैकेरियसने अपने मिलनेवालोंको समय-समयपर जो उपदेश दिये थे, अथवा अपने शिष्योंके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये थे, उनमेंसे पचास उपदेशोंका एक संग्रह उपलब्ध हुआ है, जो 'Fifty Homilies' के नामसे प्रसिद्ध है और जिसका साहित्यिक दृष्टिसे भी बड़ा महत्त्व है। उक्त संग्रह-



वैराग्यवती हिन्दू नारी भगवान्‌की पूजा करती है ।



भक्त नामदेव और कुत्तेके रूपमें भगवान्

में कई विषयोंका प्रतिपादन किया गया है और धर्मके अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया है। बिशप गोरे (Bishop Gore) नामक धर्मयाजकने, जो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हैं और इस सम्बन्धमें अपना मत देनेकी योग्यता रखते हैं, इन उपदेशोंके सम्बन्धमें यह लिखा है कि आध्यात्मिक जीवनका मार्ग दिखलानेवाले इस कोटिके उपदेश ईसाई-धर्ममें इने-गिने ही हैं।

स्थान-संकोचके कारण हम यहाँ सन्त मैकेरियसके केवल प्रार्थना-सम्बन्धी उपदेशोंका ही वर्णन करेंगे। उनका कहना यह है कि 'प्रार्थना वही कर सकता है जिसकी आत्मा बहुत ऊँची उठी हुई हो। जीवात्मा न तो परमात्मा ही है और न वह स्वरूपसे दुष्टस्वभाव अथवा अन्धकारमय है। जीवात्मा बुद्धिप्रधान, सुन्दर, महान् एवं अद्भुत है तथा ईश्वरकी साक्षात् प्रतिकृति है। परन्तु उसका निवास अन्धकारकी नगरीमें है अतः उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इस नगरीको छोड़कर अपने घरकी ओर प्रस्थान करे। जब कोई मनुष्य किसी नगरीमें देहत्याग करता है तब वह न तो वहाँके लोगोंका शब्द सुनता है, न उनकी बातचीत समझता है और न वहाँके कोलाहलको ही सुनता है, क्योंकि वह संसारकी ओरसे सदाके लिये आँखें मूँद लेता है और एक ऐसे लोकको चला जाता है जहाँ न तो यहाँके किसी मनुष्यका शब्द सुनायी देता है और न इस नगरका कोलाहल ही सुन पड़ता है। इसी प्रकार जीवात्मा जब इस वासनामय नगरकी ओरसे, जिसमें उसका निवास है, सदाके लिये मुँह मोड़ लेता है तब वह अपने अन्दर अन्धकारके आलापको नहीं सुनता। तब उसे न तो निरर्थक वादविवादकी ध्वनि एवं कोलाहल ही सुनायी पड़ता है और न अन्धकारकी आत्माओंका शोर-गुल ही। वह एक ऐसे नगरमें पहुँच जाता है, जहाँ शान्ति एवं सौजन्यका ही साम्राज्य है और जहाँ ईश्वरकी ज्योति जगमगाती है। वहाँ रहकर वह वहींके शब्द सुनता है, वहींके अधिकारोंको प्राप्त करता है, वहींके लोगोंसे वार्तालाप एवं सम्भाषण करता है और वहींके ऐसे आध्यात्मिक कार्य करता है जो ईश्वरके अनुरूप होते हैं। इस आध्यात्मिक नगरमें रहनेवाली आत्माका नैसर्गिक व्यापार प्रार्थना ही होता है।' मैकेरियसके सिद्धान्तके अनुसार प्रार्थना वास्तवमें एक क्रियात्मक विश्राम अथवा विश्रामयुक्त क्रिया है। जो लोग प्रभुके निकट पहुँचना चाहते हैं उन्हें नीरव एवं शान्तिमय स्थानमें बड़ी समाहिततताके साथ प्रार्थना करनी चाहिये। ईश्वरकी ओरसे जब सच्चा उत्तर मिलता है तो उसका चिह्न शान्ति ही होता है। प्रार्थनाकी दूसरी शर्त चित्तकी एकाग्रता है। प्रार्थना करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह एक किसानकी तरह अपने मनरूपी खेतको साफ करता रहे। उसे चाहिये कि वह असत्-सङ्कल्परूपी झाड़ियोंको काट डाले, जिनसे उसका मन घिरा हुआ है। क्योंकि पापके बोझसे दबी हुई आत्माकी दशा एक पहाड़ी जङ्गलकी-सी, नदीके सरकण्डोंकी-सी अथवा कँटीली झाड़ियोंके वनकी-सी हो जाती है। इनमेंसे होकर जो लोग जाना चाहते हैं, उन्हें अपने हाथोंको बढ़ाकर परिश्रमके साथ एवं बलपूर्वक मार्गको रोकनेवाली इन झाड़ियोंको हटाना पड़ता है। आत्माको परमात्म-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये भी इसी प्रकारके परिश्रम एवं अध्यवसायकी आवश्यकता होती है।

हमारी आत्माको एक चतुर व्यापारीका-सा बर्ताव करना चाहिये, जो धनकी प्राप्तिके लिये केवल एक ही उपायसे काम लेकर सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु आगे बढ़कर यह प्रयत्न करता है कि उसके मुनाफेमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो और चारों तरफसे धन आवे। एक उपायको काममें लाकर वह दूसरेका अवलम्बन लेता है, फिर तुरन्त ही तीसरेका; और साथ-ही-साथ उन सारी क्रियाओंसे बचता भी रहता है जिनसे उसके व्यापारमें हानि पहुँचती हो। यदि किसी काममें उसको अधिक लाभ प्रतीत होता हो तो वह थोड़े लाभके कामको छोड़कर उस अधिक लाभवालेको प्रारम्भ कर देगा। इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि हम अपनी आत्माको अनेक साधनोंसे सम्पन्न बनावें, जिससे कि हमें सबसे बड़ा लाभ अर्थात् ईश्वरकी प्राप्ति हो (यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः) क्योंकि ईश्वर ही हमें सच्ची प्रार्थना सिखलाता है। जिस आत्माकी वृत्तियाँ अच्छी हो जाती हैं उसकी ईश्वर अवश्य सहायता करता है। वह उस आत्मापर अपना प्रकाश डालता है, उसे सच्ची याचना सिखलाता है, ईश्वरके अनुरूप विशुद्ध आध्यात्मिक प्रार्थनाकी शक्ति प्रदान करता है और सच्चे मनकी पूजा बतलाता है। सूक्ष्म जगत्की सभी बातें अलौकिक होती हैं। आप अपने मनसे जो-जो क्रियाएँ करते हैं, वे सब बहुत ठीक हैं और ईश्वर उन्हें अङ्गीकार भी करता है, परन्तु वे सर्वथा विशुद्ध नहीं होतीं। उदाहरणके लिये आप

ईश्वरसे प्रेम करते हैं, किन्तु जैसे करना चाहिये, वैसे नहीं करते, (क्योंकि आपके मनको वैसे प्रेमके स्वरूपका पता ही नहीं है) ऐसी दशामें प्रभु स्वय आकर आपको अविचल प्रेम—दिव्य प्रेम प्रदान कर जाते हैं। आप स्वाभाविक ही शङ्का एव अस्थिरताको लिये हुए प्रार्थना करते हैं। ईश्वर आपको विशुद्ध प्रार्थना, सच्चे मनकी प्रार्थना बतला जाते हैं। वास्तवमें योग-युक्त प्रार्थनाका यही लक्षण है कि उसके अन्दर यह भाव रहता है कि 'हम जो कुछ भी करते हैं अपने बलपर नहीं, किन्तु वह वस्तु हमें भगवान्‌से प्राप्त हुई है।' आत्मा उस समय अपने अधिकारमें नहीं रहती, उसपर परमात्माका अधिकार हो जाता है और वह उससे अपनी इच्छाके अनुसार कर्म करवाता है।

योगयुक्त प्रार्थनाका दूसरा लक्षण यह है कि प्रार्थना करनेवालेको ईश्वर प्राप्तिकी इच्छाके सामने ईश्वरके द्वारा दी हुई शक्तियाँ तुच्छ जान पड़ती हैं। जिसप्रकार किसी धनिककी लड़कीकी सगाई हो जानेपर उसे विवाहसे पूर्व अपने भावी पतिकी ओरसे वस्त्रालङ्कार अथवा बहुमूल्य पात्रोंके रूपमें अनेक उपहार प्राप्त होते हैं, परन्तु उसे तबतक सन्तोष नहीं होता जबतक उसका पाणिग्रहण होकर वह अपने पतिकी अर्धाङ्गिनी नहीं बन जाती। इसी प्रकार जीवरूप कन्याकी परमात्मरूप उस दिव्य वरके साथ सगाई हो जानेपर, सम्भव है कि उसे ईश्वरीय-प्रसादके चिह्नरूप रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी शक्ति, ज्ञान या दिव्य प्रतिभाके रूपमें परमात्मा—वरकी ओरसे अनेकों उपहार मिलें, परन्तु उसका मन उनमें तनिक भी नहीं लुभता, उसे तबतक सन्तोष नहीं होता जबतक उसका ईश्वरके साथ पूर्णयोग अर्थात् अविचल एव व्यभिचाररहित प्रेम न हो जाय। जिन भाग्यवान् पुरुषोंने इस वस्तुकी आकाङ्क्षा की, वे विकारों एव चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो गये।

इसी बातको हम एक दूसरे दृष्टान्तसे भी समझ सकते हैं। मान लीजिये एक भूखे शिशुको यदि कोई मोतियोंकी माला तथा बहुमूल्य वस्त्रोंसे सुसज्जित करे तो उसे उन वस्त्रों एव आभूषणोंकी तनिक भी परवा नहीं होती, बल्कि वह उनसे घृणा करता है। उसे अपनी माताके स्तनोंके अतिरिक्त कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती, वह तो स्तन्यपानसे ही सुखी होता है। इसी प्रकार उस जीवको, जिसे परमात्माको प्राप्त करनेकी भूख लगी हुई है, उसीके द्वारा दी हुई आध्यात्मिक शक्तियोंसे भी शान्ति नहीं मिलती, वह तो उन शक्तियोंके मूल खजानेको पाकर ही सन्तुष्ट होता है।

जो इसप्रकार अपनी अधम वृत्तियों एव विषय-वासनाओंका ही नहीं, किन्तु उच्च एव आध्यात्मिक आकाङ्क्षाओंका भी दमन कर लेते हैं, उनको उपहाररूपमें स्वय प्रभु मिलते हैं जो हमारे लिये स्वर्गलोक, सञ्जीवनवृक्ष, मुक्ताफल, किरीट, शिल्पी, कृषक, यातनाओंको भोगनेवाले, दु ख भोगनेमें असमर्थ, मनुष्य, ईश्वर, सुरा एव सुधा, मेषशावक, दूल्हा, योद्धा, कवच एव सब कुछ है।*

मैकेरियसने ध्यानकी अवस्थाके सुखका कई जगह बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने इस अवस्थाका लक्षण यह बतलाया है कि ध्यान करनेवालेके अन्दर हृदयपर अनन्तताके विचारकी गहरी छाप पड़ जाती है, वह माधुर्यके समुद्रमें गोते लगाने लगता है तथा ईश्वरीय एव दिव्य पदार्थोंके चिन्तनमें मग्न हो जाता है। वह आनन्दके उद्रेकसे उसी प्रकार उल्लसित हो जाता है जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके सान्निध्यमें आनन्दसे सिहर उठती है। उसके अन्दर ये भाव इतने प्रबल हो जाते हैं कि मनुष्य सारे बन्धनोंको तोड़कर प्रार्थना करता हुआ देह-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा करने लगता है। किन्तु यह भाव स्थायी नहीं होता, उसकी तीव्रता घटती बढ़ती रहती है, जिसप्रकार अग्नि एक बार सहसा भभक उठती है और फिर उसकी ज्वाला मन्द होते होते बिल्कुल क्षीण सी हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यका सासारिक पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध न रह जाय और वह किसी एकान्त स्थानमें सदा समाधि दशामें ही उन्मत्तकी भाँति पड़ा रहे।

ऐसा प्रतीत होता है कि, मैकेरियसको प्रार्थनामें अनेक विचित्र-विचित्र अनुभव हुए थे। एक बार उन्हें ऐसा भान हुआ, मानो क्रूसका चिह्न तेजोमय रूपमें उनके सामने

---

* 'Who is made all things to us—paradise, tree of life, pearl, crown, builder, husbandman, sufferer, incapable of suffering, man, God, wine and living water, lamb, bridegroom, warrior, armour, christ all in all'

प्रकट हुआ और उनकी अन्तरात्मापर जाकर चिपक गया। दूसरी बार उन्हें एक दिव्य पोशाक प्राप्त हुई जो उन्हें पहना दी गयी और यह देखकर उन्हें बड़ा कौतुक एवं आश्चर्य हुआ। एक बार उनके अन्तरकी ज्योतिने भीतरी, गम्भीर एवं अव्यक्त-ज्योतिको व्यक्त कर दिया, जिससे वह ध्यानके आनन्दमें मग्न होकर उस समयके लिये मुक्त हो गये।

एक दिन किसी शिष्यने, जो बड़ा साहसी था, गुरुजीसे ध्यान तथा उसके फलके सम्बन्धमें पूछा। मैकेरियसने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया, उससे हमारे हृदयोंमें सन्तोंकी पूर्णताके प्रति प्रेमका भाव अच्छी प्रकार जागृत हो सकता है। उन्होंने कहा कि 'ध्यानसे शरीरके सारे अवयव एवं हृदय भी शान्त हो जाता है और आत्माके अन्दर आनन्दकी एक ऐसी बाढ़-सी आती है, जिसके कारण उसकी दशा एक भोले-भाले निर्दोष शिशुकी-सी हो जाती है। उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, फिर उससे किसीकी निन्दा नहीं होती; वह सबको अपनी विशुद्ध दृष्टिसे समानरूप देखता है, वह अखिल विश्वसे सन्तुष्ट रहता है और उसकी यह अभिलाषा होती है कि सब लोग प्रभुके भक्त एवं प्रेमी बन जायँ।'

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध है उनसे बढ़कर कोई सुखी नहीं, वे ही ईश्वरके लाडले लाल हैं। कभी उन्हें इतना आनन्द एवं अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती है मानो (कंगालको) किसी राजप्रासादमें आतिथ्य स्वीकार करनेका अवसर प्राप्त हो गया हो और कभी उनकी इस नववधूकी-सी दशा हो जाती है जो अपने नवविवाहित पतिके समागमका दिव्य आनन्द लूट रही हो। कभी-कभी उनका शरीर इतना लघु एवं सूक्ष्म हो जाता है कि उनका रूप देवताओं-जैसा अपार्थिव हो जाता है। उनका जीवन यथार्थमें एक वास्तविक जीवन होता है। वह ध्यान किस कामका जो हमारे अन्दर मनुष्यताका विकास न करे और हमारी सारी मनुष्य-जातिसे एकता न कर दे। अतएव कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे ईश्वरके प्रेमी मनुष्य-जातिके लिये आठ-आठ आँसू रो रहे हैं और विषाद कर रहे हैं। मानो मनुष्य-प्रेमकी ज्वालाने उन्हें जला डाला है। कभी-कभी उनकी आत्मामें आनन्द एवं प्रेमका ऐसा बाहुल्य होता है कि उन्हें मानो ऐसी इच्छा होती है कि बुरे-भलेका विचार न कर प्राणीमात्रको अपने गले लगा लें। उनके आनन्दका पार नहीं रहता, क्योंकि उनके लिये ईश्वरके धामका द्वार खुल जाता है। वे अनेक ड्योढ़ियोंमेंसे होकर भीतर जाते हैं और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों उनके लिये क्रमशः भीतरी प्रासादोंके द्वार खुलते जाते हैं। वे ईश्वरके प्रेम-रूपी धनको पाकर धनी हो जाते हैं और ज्यों-ज्यों उनका यह धन वृद्धिगत होता है, त्यों-ही-त्यों उनके सामने नये-नये रहस्योंका उद्घाटन होता है और उन्हें ईश्वरकी ओरसे वह अधिकार एवं सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसका वाणीके द्वारा वर्णन तो दूर रहा, निर्देश भी नहीं हो सकता।'

'जब जीव सिद्धावस्थाको प्राप्त होकर विकारोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसका परमात्माके साथ मूकमिलन होता है यहाँतक कि वह परमात्मासे मिलकर उसीका रूप बन जाता है, उस समय वह केवल प्रकाशमय, द्रष्टारूप, चिन्मय, आनन्द-स्वरूप, शान्तिरूप, आह्लादमय, प्रेम-स्वरूप, दयामय, सौजन्यसागर एवं करुणामय बन जाता है। जिसप्रकार समुद्रतलमें पड़ा हुआ पत्थर चारों तरफसे जलसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार सर्वतोभावेन परमात्मामें लीन हुए पुरुष साक्षात् प्रभुके सदृश बन जाते हैं।'

प्रभु-विश्वास

जगतमें आइके बिसरयो है जगतपति, जगत कियो है सोई जगत भरतु है।
तेरे निशिदिन चिन्ता और ही परी है आय, उद्यम अनेक भाँति-भाँतिको करतु है॥
इत उत जायके कमाई करि लाऊँ कछु नेकु न अज्ञानी नर धीरज धरतु है।
सुन्दर कहत एक प्रभुके विश्वास बिनु, बादहीकूँ वृथा शठ पचिके मरतु है॥

—सुन्दरदासजी

ईश्वरके नामकी महिमा

(लेखक—प० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी)

ईश्वरके नामोंकी महिमा अनन्त और अपार है। नाम-कीर्तन और स्मरणसे पापपुञ्ज नाश हो जाता है। यह अत्युक्ति नहीं, सत्य है।

'नारायणो नाम नरो नराणां
प्रसिद्धचौरः कथितः पृथिव्याम्।
अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं
हरत्यशेषं स्मरतां सदैव॥'

और इस कलियुगमें तो कल्याणका कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥'

क्योंकि—

'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।'

हरि-नाम-कीर्तनसे बड़े-बड़े पापियोंके पाप सहज ही नाश हो जाते हैं। केवल यही नहीं, मङ्गल और कल्याण भी होता है। यही हरिनामकी महिमा है।

जिन्हें ईश्वरकी सत्तामें ही सन्देह है वह नामोंकी महिमा क्यों मानने लगे? वह कहते हैं कि 'पानी-पानी कहनेसे जैसे प्यास नहीं जाती वैसे ही ईश्वरके केवल नाम रटनेसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे पानी पीनेसे ही प्यास बुझती है वैसे ही ईश्वरकी प्राप्तिसे ही आत्मानन्द तथा शान्ति प्राप्त होती है। ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय बिना समझे-बूझे नाम रटना नहीं बल्कि ज्ञान उपार्जन करना है।' यह भी एक उपाय है। केवल यही है दूसरा नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं। जो ऐसा कहते हैं, वह ईश्वरके नाम और पानीको एक-सा ही समझते हैं। भला पानी ईश्वरके नामों-का क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ पानी और कहाँ ईश्वरके नाम! ईश्वर स्रष्टा और पानी सृष्टि है। दोनोंके गुणोंमें जमीन आसमानका फर्क है। पानी लौकिक गुणयुक्त और वह अलौकिक गुणसम्पन्न है। पानीसे क्षणिक शान्ति मिलती है और ईश्वरके नामसे वह शान्ति मिलती है जो कभी जाती नहीं।

'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीक भये ब्रह्मसमाना॥'

जब उलटे नामका यह प्रभाव है तब सीधे नामकी महिमा कौन कह सकता है? कहा है—

राम नाम आराधिबो तुलसी वृथा न जाय।
लरिकाईको पैरिबो आगे होत सहाय॥
तुलसी अपने रामको रीझ भजो या खीज।
उलटे-सीधे जामिहैं खेत परे तें बीज॥

इसलिये नामका जप या कीर्तन करना चाहिये। इससे लाभ-ही-लाभ है, हानि नहीं। जिन्हें विश्वास न हो वह भी एक बार परीक्षाकर देख लें फिर जैसी इच्छा हो करें। सिर्फ दलील और तर्कमें समय नष्ट करना ठीक नहीं। उम्र थोड़ी है। वह भी घड़ी घड़ी घटती ही जाती है—

'गाफिल तुझे घड़ियाल य देता है मनादी।
गरदूने घड़ी उम्रकी इक और घटा दी॥'

इसलिये—

'राम-नामकी लूट है लूट सकै तो लूट।
अन्तकाल पछतायगा प्रान जायँगे छूट॥'

इसके सिवा यह भी याद रखनेकी बात है—

'फिलासफीकी बहसके अन्दर खुदा मिलता नहीं।
डोरको सुलझा रहे हैं और सिरा मिलता नहीं॥'

एक बात और है। जैसे विषका स्वाभाविक धर्म मारना, अमृतका जिलाना, अग्निका जलाना है वैसे ही हरि-नामका भी कल्याण करना है। जान-अनजान, हँस या रोकर चाहे जैसे अग्निमें हाथ डालनेसे जल जाता है, विष खानेसे मृत्यु और अमृतसे अमरता हो जाती है। वैसे ही हरि-नामसे भी कल्याण हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कह गये हैं—

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
राम-नाम सुन्दर करतारी। संसयविहँग उड़ावनहारी॥'

महापापी अजामिलके मुक्ति पानेका कारण भी नाम-महिमा ही है। मरनेके समय उसने अपने लड़के 'नारायण' को पुकारा, पर आ गये साक्षात् नारायण और हो गया उसका उद्धार। यही नामका अलौकिक गुण है।

अतएव अशङ्कित हो हरिनाम-कीर्तन करना चाहिये और जहाँतक बने इसका प्रचार भी करना चाहिये। इससे आपदा दूर होती है और सुख प्राप्त होता है। यह बड़ा ही कल्याणकारी है। इसकी महिमा अमित है—

'राम न सकहिं नाम-गुन गाई।'

फिर मेरी गिनती ही क्या है? आजकल तो इसकी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि—

'कलियुग केवल नाम अधारा।'

कल्याण और सुखका इससे बढ़कर सहज उपाय और कोई नहीं।

'राम-नाम मनिदीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहूँ जो चाहसि उजियार॥'

श्रीमद्वल्लभाचार्य और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीपुरुषोत्तमजी शर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य)

उपक्रम

जिस समय श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण भूतलपर आये, उस समय लोगोंकी यह स्थिति नहीं थी कि वे ईश्वरपर ही विश्वास न करते हों। उस समय भारतवर्षमें यवन-साम्राज्य था। यवन लोगोंमें अन्य विरोधी बातोंके होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वे ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रखते हैं। जैन, चार्वाक आदि अनीश्वरवादी लोग उस समय पहलेसे ही प्रायः शान्त हो चुके थे, अतः श्रीमद्वल्लभाचार्यको ईश्वर-सिद्धिपर स्वतन्त्र विचार करनेका कोई अवसर नहीं था। तथापि शास्त्रीय विचार करते समय यत्र-तत्र ईश्वरके विषयमें कुछ बातें उनके ग्रन्थोंमें आ गयी हैं, आज हम 'कल्याण' के पाठकोंके समक्ष उन्हीं विचारोंको संकलित, परिष्कृत अथवा विवृत करके रख रहे हैं।

क्या ईश्वर है ?

यह एक ऐसा विचित्र प्रश्न है कि इसका उत्तर 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही तरह देना बड़ा कठिन है। और यही होना भी चाहिये। यदि यह प्रश्न प्रत्यक्ष-प्रमाणसे हल कर दिया जा सकता तो सारी अनुपपत्तियाँ निवृत्त हो जातीं और प्रायः सभी ब्रह्मज्ञानी हो जाते। इसी अति कठिनताके कारण साधारण बुद्धिके लोग ईश्वरके अस्तित्वका निषेध करके अथवा उसके विरुद्ध विचार प्रकट करके अत्यन्त सरलतासे लोगोंको बहका सकते हैं। पर इन बातोंसे विचारशील लोगोंका ईश्वरके अस्तित्वपरसे विश्वास उठ नहीं सकता। इसका कारण यह है कि संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसे अपने निजके अस्तित्वपर विश्वास न हो—अर्थात् वह यह समझता हो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' और 'मैं कुछ हूँ' इसी विश्वासके साथ अपने अन्दर अपूर्णताकी प्रतीति अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्य इस बातका अनुभव करता है कि 'मैं अपूर्ण हूँ' क्योंकि वह अपनी अशक्ति समझता है। यह अपूर्णता इस बातकी सूचना देती है कि मैं किसी पूर्ण पदार्थका अंश हूँ जिसमें संसारकी सब शक्तियाँ हैं और जिससे मुझे किसी अंशमें ये प्राप्त हुई हैं।

अच्छा, अब यह सोचिये कि यह 'मैं' मानी जानेवाली चीज़ क्या है ? सोचते-सोचते अन्ततः आपको इस तत्त्वपर अवश्य ही पहुँचना पड़ता है कि यह वस्तु 'स्वप्रकाशज्ञान' रूप है—अर्थात् यह 'मैं' पदार्थ वह वस्तु है जिससे सारा जगत् प्रकाशित होता है, पर यह स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है, इसे अन्य कोई प्रकाशित नहीं करता। हम सभी सांसारिक वस्तुओंको सूर्य, अग्नि, बिजली आदि पदार्थोंसे प्रकाशित होते देखते हैं। यदि ये पदार्थ प्रकाश न दें तो सारा जगत् हमारे लिये अन्धकारमय अथवा यों कहिये कि अज्ञानमय हो जाय। पर सोचनेपर आपको प्रतीत होगा कि ये सब-के-सब प्रकाशक पदार्थ भी हमारी आत्मज्योतिसे ही प्रकाशित होते हैं। यदि हम मुर्दा हो जायँ तो एक सूर्य क्या करोड़ सूर्य उदय हों तब भी हमें किसी वस्तुका बोध नहीं हो सकता। इसीलिये भगवती श्रुतिने लिखा है—

> 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
> नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वहाँ (आत्माके विषयमें) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा तथा सब तारे मिलकर प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ प्रकाशित होती हैं, फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या ? उस (आत्मा) के प्रकाशित होनेपर यह सब अनुप्रकाशित होता है, यह सब उसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है।

पहले हम कह आये हैं कि जिसे हम 'मैं' रूपमें समझे हुए हैं, उसकी अपूर्णताका बोध हमें हमेशा होता रहता है। हम देखते हैं कि हमें डाक्टरीकी कुछ बातोंका बोध होता है तो फिलासफीकी बातोंका नहीं; यदि इन दोनोंका बोध है तो अन्य किसी बातका नहीं। और जिन कुछ बातोंका बोध होता भी है तो वही अपूर्ण। इस

प्रकृतिके रहस्यको—इस सृष्टिके तत्त्वको—पूर्णरूपसे न किसीने समझा है, न आगे कभी समझ सकता है।

इसीके साथ एक बात और समझनेकी है। जितने अपूर्ण पदार्थ हैं वे किसी पूर्ण पदार्थके अंश होते हैं। यदि आप एक ग्लोबमें बिजली चमकती देखते हैं तो वह अवश्यमेव उस अनन्त बिजलीका अंश है, जो सारे जगत्‌में व्याप्त है, ऐसा न होता तो एक ग्लोबकी बिजलीके साथ दूसरे ग्लोबकी बिजलीकी कुछ भी समानता न होती और जब जहाँ चाहिये वहाँ बिजली प्रकट नहीं की जा सकती।

अतः आपको यह भी अवश्यमेव स्वीकार करना पड़ेगा कि इस अपूर्णरूपमें दिखायी देनेवाले पूर्वोक्त 'स्वप्रकाश-ज्ञान' की भी कोई अनन्त निधि है और वही है ईश्वर। अतएव भगवती श्रुति कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् त्रिकालमें अबाधित अनन्त ज्ञानका नाम ही ब्रह्म अथवा ईश्वर है और भगवद्गीतामें जीवको ईश्वरका अंश बतलाया गया है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य यदि यह समझता है कि 'मैं कुछ हूँ' तो उसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि 'ईश्वर अवश्यमेव है' और ऐसी दशामें ईश्वरके अस्तित्वका निषेध स्वयं अपने आपको धोखा देना है तथा बुद्धिके सरासर विरुद्ध है।

ईश्वरका स्वरूप

ऊपर हम लिख आये हैं कि 'स्वप्रकाश अनन्त ज्ञान'* का नाम ही ईश्वर है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल ज्ञानरूप ही है। उसमें अन्य धर्म भी हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्यने ईश्वरके स्वरूपका वर्णन इसप्रकार किया है—

"ब्रह्म 'सत्' अर्थात् सर्वदा विद्यमान है, सारे जगत्‌का नाश हो जानेपर भी वह हमेशा मौजूद रहता है। वह ज्ञानरूप है। वह आनन्दरूप है अर्थात् ईश्वरके तिरोभावका नाम ही दुःख है और ईश्वर सदा सुखरूप है। हमें जो कुछ सुख प्राप्त होता है वह उसीके एक अंशरूपमें। वह व्यापक है—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। वह अव्यय है—उसमें कभी कोई कमी नहीं होती। उसमें सब शक्तियाँ हैं। वह स्वतन्त्र[1] है अर्थात् उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति निरवधि हैं—अनन्त हैं। वह सब कुछ जानता है, उससे कोई बात छिपी नहीं है। वह प्रकृतिके गुणोंसे रहित है।

संसारमें तीन प्रकारके भेद हैं। पहला—जैसे एक पेड़का दूसरे पेड़से, यह सजातीय भेद कहलाता है, दूसरा—जैसे पेड़का पत्थरसे, यह विजातीय भेद कहलाता है; तीसरा—जैसे पेड़का फल-फूल आदिसे (वे पेड़के एक अंश-रूप होनेपर भी पेड़ नहीं कहला सकते), यह स्वगत भेद कहलाता है। ईश्वर इन तीनों भेदोंसे रहित है, अर्थात् वह जगत्‌से किसी प्रकार भिन्न नहीं। वह सत्य, शौच आदि सहस्रों गुणोंसे सदा युक्त है। वह सबका आधार है। माया उसके वशमें है। आनन्द उसका आकार है। वह सबसे उत्तम है, उससे ऊपर और कुछ नहीं। वह (जगद्रूप होते हुए भी) जगत्‌के सब पदार्थोंसे विलक्षण है। वह जगत्‌का उपादान-कारण है (अर्थात् जगत् उस ईश्वररूप पदार्थसे ही बना हुआ है) और वही निमित्त-कारण (बनाने

---

* इस अनन्त ज्ञानकी ईश्वरताके विषयमें श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणने लिखा है—

'येष्वक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधस्ते तत्त्वविद ।……ते किं वदन्तीत्याह—यत्त्वद्वितीय ज्ञान द्वैतनिवर्तक (तत्) तत्त्वमित्यर्थः।

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेद इत्याह—'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इति।

(भा० प्र० स्क० अ० २ श्लोक ११ की सुबोधिनी)

सच्चिदानन्दरूप तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्तिस्वतन्त्र च सर्वज्ञ गुणवर्जितम्॥
सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्।
सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकै सदा॥
सर्वाधार वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम्।
प्रापञ्चिकपदार्थाना सर्वेषा तद्विलक्षणम्॥
जगत समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम्।
कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्॥
……य सर्वत्रैव सन्निष्ठन्नन्तर सत्यशेन्न तत्।
शरीर त न वेदेत्थ योऽनुविश्य प्रकाशते॥
सर्ववादानवसर नानावादानुरोधि तत्।
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च॥
विरुद्धसर्व धर्माणामाश्रय (यो ?) युक्त्यगोचरम् (र ?)
आविर्भावतिरोभावैर्मोहन बहुरूपत॥

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण श्लो० ६५–७२)

[1] —निरवधिज्ञानक्रियाशक्तियुक्त स्वतन्त्रो भवति। प्रकाश (तत्त्वदीपकी स्वकृत व्याख्या)

वाला) है। वह कभी अपनी आत्मामें रमण करता है (तब प्रलय होता है) और कभी आनन्दपूर्वक जगत्‌में रमण करता है (तब सृष्टि होती है।)

········वह सभी जगह पूर्णतया रहता है, पर जिसमें रहता है उसे स्पर्श नहीं करता। उसका शरीर (जगत्‌के पदार्थ) उसे नहीं जान पाता। इस तरह जो अनुप्रविष्ट होकर प्रकाशित हो रहा है, उसमें किसी वाद (मत-मतान्तर) को अवसर नहीं और वह अनेक वादोंका अनुसरण करनेवाला है अर्थात् वास्तवमें कोई वाद ऐसा नहीं जो ईश्वरके स्वरूपको समझा सके और वैसे कोई भी वाद ऐसा नहीं कि जिसकी बात ईश्वरमें घटित न होती हो। उसकी अनन्त मूर्त्तियाँ हैं। वह पहाड़की तरह स्थिर है और साथ ही चल भी है। सारांश यह कि वह सभी विरोधी धर्मोंका आश्रय है। जगत्‌के जितने परस्पर-विरोधी धर्म हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं, उनमेंसे युक्तिद्वारा एकका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कोई कहे कि पृथ्वीमें साँप रहते हैं तो चूहे नहीं रह सकते—यह बात मान्य नहीं, उसी तरह ईश्वरमें अमुक धर्म हैं और अमुक नहीं, यह कथन भी मान्य नहीं हो सकता।

वह आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा बहुतेरे रूप धारण करनेके कारण सबको मोहित करता रहता है अर्थात् ईश्वर जगत्‌के उन्हीं पदार्थोंमें कुछ धर्मोंको आविर्भूत करके और कुछ धर्मोंको तिरोभूत करके अनेक रूप धारण करता रहता है और इस तरह लोग चक्करमें पड़ जाते हैं।

यह है श्रीमद्वल्लभाचार्यने जो भगवत्स्वरूपके विषयमें बातें लिखी हैं उनका संक्षेप।

ईश्वर यदि है तो दिखायी क्यों नहीं देता ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर है और उसका उपर्युक्त प्रकारका स्वरूप भी है तो वह दिखायी क्यों नहीं देता ? इसके विषयमें श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरणने श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्धके आठवें अध्यायके १७–१९ श्लोकोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

ईश्वर प्रत्यक्षसे तो दिखायी देता ही नहीं, पर कार्य (जगत्) के द्वारा भी दिखायी नहीं देता अर्थात् जगत्‌रूपसे दिखायी देनेपर भी ईश्वररूपसे उसके दर्शन नहीं हो सकते; क्योंकि जहाँ वह कार्यरूपसे रहता है वहाँ कारणरूपसे नहीं और जहाँ कारणरूपसे रहता है वहाँ कार्यरूपसे नहीं—दोनों रूप एक साथ कहीं भी दिखायी नहीं दे सकते। अतः हमलोग कार्यरूप जगत्‌को ही देख सकते हैं, कारणरूपसे वर्त्तमान ईश्वरको नहीं देख सकते।

ऐसी दशामें शंका की जा सकती है कि—'महाशय ! तब आप सीधे शब्दोंमें यही क्यों नहीं कह देते कि—ईश्वर वस्तुतः ही दुर्ज्ञेय है, उसका जानना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव है, न कि किसी साधनके अभावके कारण।' सारांश यह कि उसे जाना जा सकता है अथवा नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। वेद स्वयं भी यही कहता है 'जो उसे (ईश्वरको) नहीं मानता उसने उसे मान रक्खा है और जिसने मान रक्खा है वह उसे नहीं जानता। वह एक ऐसी वस्तु है कि उसे विशेषरूपसे जाननेवाले बिल्कुल नहीं जानते और बिल्कुल न जानने-वाले अच्छी तरह जानते हैं।' वेदमें यह भी लिखा है 'कौन इस तरह जानता है कि वह कहाँ है अर्थात् उसका किसीको पता नहीं।' अतः साफ-साफ यही कह दीजिये कि ईश्वर अज्ञेय ही है और उसके ज्ञानकी प्रार्थना व्यर्थ है।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि वह प्राणिमात्रके बाहर-भीतर (सब जगह) स्थित है, अतएव उसका ज्ञान भी सुलभ है। सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप वही है—उसीके अस्तित्वसे ये सब वस्तुएँ विद्यमान हैं। पर उसका समझानेवाला दुर्लभ है। तब आप कहेंगे कि उसे अज्ञेय क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि, उसे विरुद्धधर्मा समझानेके लिये—अर्थात् वह दुर्ज्ञेय भी है और सुज्ञेय भी—यह समझानेके लिये ऐसा कहा जाता है। उपर्युक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है अतएव उसका ज्ञान सुलभ है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि, जब ईश्वर बाहर-भीतर सब जगह विद्यमान है, तब सबको ईश्वरका प्रत्यक्ष बोध क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उसके ऊपर मायाका परदा आ रहा है। इसका अर्थ यह है कि सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप होनेपर भी मायाके द्वारा अन्यथा प्रतीति होनेके कारण ईश्वरका प्रत्यक्ष बोध नहीं होता।

अर्थात् हमें सब चीजें दिखायी देनेपर भी वे स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र-उदासीन, हानिप्रद-लाभप्रद अथवा निरर्थक आदि रूपोंमें दिखायी देती हैं—वास्तविक स्वरूपमें नहीं। क्योंकि मायाने उन सब वस्तुओंपर अहंता-ममताका जाल बिछा रक्खा है। अतः हमें भ्रम हो रहा है और हमारी दशा 'पश्यन्नपि न पश्यति' की-सी हो रही है—हम देखत-भूलीके चक्करमें आ रहे हैं।

आप कहेंगे—भाई, भ्रमकी बात ठीक हो सकती है; पर सबको सब जगह भ्रम नहीं होता, किन्तु किसीको किसी विषयमें हो सकता है। 'सारी दुनियाको भ्रम हो रहा है' यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि भ्रम इन्द्रियके साथ दोष रहनेसे होता है, इन्द्रियमें दोष न होनेपर भ्रम कभी नहीं हो सकता। अतः जब हमारी इन्द्रियोंमें किसी तरहका दोष न हो तब, जैसे घट-आदिका भ्रमरहित बोध होता है, वैसे ईश्वरका भी शुद्ध बोध हो सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अधोक्षज है। अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानमें ईश्वर नहीं समा सकता—इन्द्रियोंके ज्ञानका सामर्थ्य नहीं कि वह वहाँतक पहुँच सके। अतएव श्रुतिमें लिखा है कि—'इन्द्रियोंको ईश्वरने बाहरकी तरफ जानेवाली बनाया है, इसीसे (मनुष्य) बाहरकी तरफ देखता है, आत्माके अन्दर नहीं।' अतः ईश्वरके वस्तुस्वरूप होनेपर भी और सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी उसका इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। (सुबोधिनी प्र० स्क अ० ८ श्लो० १७-१९ देखिये)

ईश्वर और जगत्का सम्बन्ध

शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त (अर्थात् श्रीमद्वल्लभाचार्यके मत) में ईश्वर और जगत्का तादात्म्य-सम्बन्ध है। ईश्वरसे जगत् अभिन्न पदार्थ है। 'तत्त्वार्थदीप' (निबन्ध) में लिखा है—

*"यह जगत् न प्रकृतिसे बना हुआ है, न परमाणुओंसे; न भ्रमरूप है, न अदृष्ट (प्रारब्ध) आदिके द्वारा उत्पन्न और न असत्की सत्ता ही है—अर्थात् पहले कुछ नहीं था और अब दिखायी दे रहा है, किन्तु भगवान् अर्थात् जिससे ऊपर कोई वस्तु नहीं उस वस्तुके प्रयत्नसे बना हुआ है और न केवल उसके प्रयत्नसे बना हुआ ही है, किन्तु भगवद्रूप है। क्योंकि एक ईश्वर ही सत् पदार्थ है, यदि जगत्को उससे भिन्न माना जाय तो 'असत्' की सत्ता हो जाय अर्थात् जो वस्तु कभी नहीं थी उसका अस्तित्व हो जायगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

यह जगत् मायाद्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् माया इसकी उत्पत्तिका साधन है। यह माया भगवान्की एक शक्ति है। भगवान्में जो सर्वरूप बन जानेकी शक्ति है उसे ही माया कहते हैं, जैसे कि पुरुषमें काम करनेकी शक्ति।

सारांश यह कि, ईश्वरकी उस ताकतका नाम जिसके द्वारा वह सब तरहके रूप धारण कर सकता है 'माया' है। उसके द्वारा ही वह सर्वरूप बना हुआ है। जगत्में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। यह माया भी ईश्वरसे अतिरिक्त पदार्थ नहीं, किन्तु ईश्वररूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से भिन्न नहीं हुआ करती।

अतः यह सिद्ध हुआ कि भगवान्ने अन्य किसीका आश्रय न लेते हुए अपनी शक्तिसे अपने आत्मारूप इस जगत्को बनाया है।

आपका सिद्धान्त है कि—

> आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।
> इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति॥
> अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।
>
> (तत्त्वदीप, सर्वनिर्णयप्रकरण, कारिका १८४)

'यह सब आत्मा ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इस श्रुतिके अर्थको लेकर सबको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सिद्ध करना चाहिये। यही ब्रह्मवाद है, शेष सब लोगोंको चक्करमें डालनेके लिये कल्पना की गयी है।

यह सिद्धान्त होनेपर भी जगत्में तीन प्रकारके अधिकारी हैं। उत्तम अधिकारी जगत्को भगवान् समझते हैं; मध्यम अधिकारी भगवान्से जगत्की उत्पत्ति मानते हैं और कार्य-कारणमें तादात्म्य-सम्बन्ध होनेके कारण जगत्को भगवान्के समान मानते हैं। मूर्ख अधिकारी

---

* अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्तात्मा, नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः, नाप्यसतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः—परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः। तादृशोऽपि भगवद्रूपः, अन्यथा असतः सत्ता स्यात्। माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तेनैव स्थिता, यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्। तेन स्वसामर्थ्येनान्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्चं कृतवानिति फलितम्।

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, शा० प्र० २७ वीं कारिकाका प्रकाश)

भगवान्‌को प्रलयकर्ता मानते हैं और जगत्‌को नाश होनेवाली वस्तु; अतः भगवान्‌के सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण और जगत्‌के नाशवान् होनेके कारण भगवान्‌को जगत्‌से भिन्न मानते हैं।'

(श्रीमद्भागवत १-५-२० की सुबोधिनी)

ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय

श्रीमद्वल्लभाचार्यने—

वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा।
एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात्॥

(निबन्ध, शा० प्र० ९६)

—की व्याख्या करते हुए लिखा है—'पाँच अंगोंसे युक्त पुरुष भगवान्‌की भक्ति करे। उनमेंसे पहला अंग है वैराग्य; क्योंकि वैराग्य न होनेसे भगवान्‌का आवेश नहीं होता। अतः भजन सिद्ध नहीं हो सकता। दूसरा अंग है ज्ञान, जिसका अर्थ है सब पदार्थोंका और भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप समझना; इसके अभावमें निश्चय न होनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तीसरा अंग है योग—अर्थात् चित्तका एकाग्र करना, क्योंकि मनके चञ्चल रहनेपर भक्ति नहीं हो सकती। चौथा अंग प्रेम है, प्रेम न होनेसे भक्ति स्वतः फलरूप नहीं हो सकती, क्योंकि बिना प्रेमके भक्तिमें रस नहीं आता। पाँचवाँ अंग है तप, तप न होनेपर देहादि कच्चे रहते हैं, ऐसे देहादिसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। तपसे देह-इन्द्रिय आदि परिपक्व हो जाते हैं।

होने तो ये पाँचों ही चाहिये, पर पाँचोंका समुदाय दुर्लभ है, अतः पाँचोंमेंसे एकको भी दृढ़ करके यदि ईश्वरका भजन करे तो मनुष्य अवश्य सिद्धिको प्राप्त होता है।

इसके बाद आपने लिखा है—

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्॥

इन श्लोकोंकी व्याख्या 'आवरण-भंग'का आशय लेते हुए यों है—वेदोंके अनुसार ईश्वरका ज्ञान दो प्रकारका है—'सब कुछ ईश्वरसे है' यह गौण ज्ञान और 'ईश्वर ही सब कुछ है' यह मुख्य ज्ञान; इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंसे युक्त होकर प्रेमके साथ श्रवण-कीर्तन आदि प्रकारसे जो भक्ति करता है वह भक्तिमार्गमें उत्तम भक्त कहलाता है। जिसे वेदार्थका ज्ञान नहीं है, पर प्रेमसे भक्ति करता है वह मध्यम भक्त है, अथवा प्रेमरहित ज्ञान हो तो वह भी मध्यम भक्त है। यहाँ इतना और समझ लेना है कि ज्ञानके अभावमें यदि प्रेम उत्कट हो तो मध्यम भक्त होता है, अन्यथा हीन कोटिका। और प्रेम तथा ज्ञान दोनोंसे रहित होकर जो भगवत्सेवा करता है तो उससे पापका नाश होता है। सारांश यह कि प्रेम-ज्ञानरहित भगवत्सेवक भक्त नहीं, किन्तु धर्मात्मा होता है।

उपसंहार

इस तरह संक्षेपमें श्रीमद्वल्लभाचार्यका ईश्वर-विषयक सिद्धान्त दिखाया गया है। पर वास्तविक सिद्धान्त तो उनका यह है कि—

अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते।
तपसा वेदयुक्त्या वा प्रसादात् परमात्मनः॥

अर्थात् ईश्वर एक ऐसा प्रमेय है जो युक्तिसे नहीं समझा जा सकता। उसके बोधके केवल तीन साधन हैं—एक तप, दूसरा वेदानुसारिणी (न कि केवल) युक्ति—अर्थात् वेदवाक्योंका मनन और तीसरा तथा सबसे मुख्य उपाय है परमात्मा—आत्माके भी आत्मारूप उस प्रभुकी कृपा।

इन सब बातोंका विस्तार श्रीमद्वल्लभाचार्यके निबन्ध, सुबोधिनी, अणुभाष्य आदि ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। आशा है, कृपालु पाठक अभी इतनेसे अपना सन्तोष कर लेंगे।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

विनती

यह दरियाकी वीनती तुम सेती महराज। तुम भृंगी मैं कीट हूँ मेरी तुमको लाज॥

—दरिया साहिब मारवाड़वाले

लीला-लावण्य

(लेखक—पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

ईश्वर ! कैसे करूँ तुम्हारा मैं वर-वर्णन ?
वर्णनीय तुम नहीं और मैं साधारण जन।
फिर भी ऐसा जान, तुम्हीं मुझमें रहते हो।
करते-हरते तुम्हीं, तुम्हीं सुनते-कहते हो।
लिखता हूँ दो शब्द मैं, क्योंकि भाव तुम भर रहे।
मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं सभी कुछ कर रहे॥

(२)

ले करके अवतार और बन प्रतिदिन-जन्मा
रहते हो तुम विभो ! किस तरह सदा अजन्मा ?
मुझे तुम्हारा रूप नहीं दिखलाई देता—
तो भी दर्शन नित्य तुम्हारा मैं कर लेता।
रोम-रोममें रम रहे, तो भी तुम्हें न जानता।
नहीं प्रभो ! पहचानता, अद्भुत तुम्हें बखानता॥

(३)

'ईश्वर कुछ भी नहीं, सभी कुछ यह माया है।
जड तत्त्वोंसे बनी स्वयं सबकी काया है।'
ऐसा कहते आज मूढतम जो मानव हैं—
मलिन-बुद्धि हैं, मोहग्रस्त हैं, वे दानव हैं।
सर्वांऽधिप ! सर्वत्र ही, रहते हो तुम सर्वदा।
फैल रही संसारमें, सुखद तुम्हारी सम्पदा॥

(४)

माया क्या है, ईश ! तुम्हारी वह छाया है।
तुम उसके हो नाथ, तुम्हारी वह जाया है।
स्वामी हो तुम और तुम्हारी वह दासी है।
विश्वनाथ तुम और तुम्हारी वह काशी है।
कारण हो तुम और वह कार्य-रूप बन मोहती।
सूक्ष्मरूप तुम और वह स्थूल रूप बन सोहती॥

(५)

हो तुम गन्ध अमन्द और वह पृथ्वी उज्ज्वल।
हो तुम रस-भाण्डार और है वह निर्मल-जल।
हो तुम रूप अनूप, और वह ज्योति मनोरम।
हो तुम सुन्दर-स्पर्श और वह स्पर्शन अनुपम।
तुम सुखदायक-शब्द हो, स्वच्छ-नील-अकाश वह।
हाथ जोड रहती खड़ी, सदा तुम्हारे पास वह॥

(६)

माया कहते उसे, ब्रह्म तुम कहलाते हो।
वह हो जाती प्रकृति, पुरुष-पद तुम पाते हो।
शङ्कर हो तुम और दिव्य वह शक्ति तुम्हारी।
सीता है वह और राम तुम हो असुरारी।
राधा है वह कृष्ण तुम, जीवन तुम वह देह है।
तुम उसके आधार हो, विश्वरूप वह गेह है॥

(७)

रहते हैं सब जीव तुम्हारे होकर वशके।
महा-मधुरतम-सिन्धु तुम्हीं हो अद्भुत रसके।
लेकर जग-लावण्य हो रहे तुम कुरूप हो।
धरते रूप अनेक, विश्वमें तुम अनूप हो।
हरे ! त्रिलोकीनाथ ! तुम निज भक्तोंके दास हो।
रहकर उससे दूर भी तुम प्रेमीके पास हो॥

(८)

तुम्हें चाहता नहीं क्योंकि तुम घट-घट-वासी।
किन्तु तुम्हारी एक कृपाका मैं अभिलाषी।
दे दो उसको प्रभो ! उसीका मैं इच्छुक हूँ—
और नहीं भगवान् ! तुम्हारा मैं भिक्षुक हूँ।
दान दयाको दो अभी, कृपा-पात्र मुझको करो।
भव्य-भाव मुझमें भरो, पाप-ताप मेरे हरो॥

सर्वस्रष्टा

(लेखक—श्रीवालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०)

अपने चारों ओर दृष्टि-निक्षेप करनेपर मुझमें एक भावना जागृत होती है। वह है—इस विस्तृत विशद एक महान् झाँकीके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

प्रातःकाल स्निग्ध-उषा-लालिमान्वित लाल-पीले-नीले-हरे फूलोंको नव्यश्री-प्लावित देखता हूँ, ओस-विन्दुओंको हरीतिमा-राजिपर मोतियों-सा जगमगाते पाता हूँ, मन्द-मन्द मलय-समीरणका मृदुल स्पर्श अनुभव करता हूँ, इठला-इठलाकर किलोल करती लहरियोंकी मृदुल रागिनी सुनता हूँ और कह उठता हूँ—कितना सौन्दर्य! कितना लावण्य!

मध्याह्नमें व्यस्त पुरुषोंके कार्य-कलाप देखता हूँ। कोई द्रुतगति भागा जा रहा है, तो कोई अपनी वस्तुकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाता; कोई पल-पलपर लाखोंका वारा-न्यारा कर रहा है, तो कोई उदर-पूर्तिके लिये पसीना वहानेमें लगा है और मैं कह उठता हूँ—कितनी शक्ति! कितनी विभूति!

सन्ध्याको सुनता हूँ किसीकी प्रशंसा, किसीकी निन्दा। कोई चिन्ता और दुःखोंकी कहानी कह रहा है, तो कोई हास्य और व्यंग्यसे चतुर्दिक् गुँजा रहा है; किसीका मुखड़ा उदास है, गति शिथिल है, तो किसीपर कान्ति दमदमा रही है, मस्ती और मादकता वरस रही है और मैं उलझते करुण भावसे सोचता हूँ—कितना वैषम्य! कितना विरोध!

जव कभी रात्रिको आँखें खुल पड़ती हैं, तो देखता हूँ—नील गगनमें चन्द्रमा तारिकाओंसे क्रीड़ा कर रहा है; मीठी-मीठी शीत उमड़ रही है; समस्त विश्व निद्राकी शान्त, निश्चिन्त, सुखद गोदमें पड़ा है और मनमें भाव उठता है—कितनी शान्ति! कितना सुख!

सोचता हूँ—यह सुन्दर लावण्य, सशक्त विभूति, विषम विरोध और शान्त सुख किसकी सृष्टि है? मानव-महत्त्वका यह निर्माण नहीं। क्षणभंगुरताका यह परिचय नहीं। यह अमर है, अपरिवर्तनीय है।

ऐसे ही समय मेरी नास्तिकता आस्तिक वन जाती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि मनुष्य जिसका निर्माण किया हुआ सजीव पुतला है, उस मानव-इतर शक्तिका अस्तित्व अग्राह्य नहीं।

कल्याणका मार्ग

(लेखक—जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी श्रीशीतलप्रसादजी)

मानव-जातिका कर्तव्य है कि अपने कल्याणके मार्गको ढूँढ़े और अपने जीवनको सफल वनावे।

वास्तवमें एक अन्तरंग लोक है, दूसरा वहिरंग लोक है। जहाँ जड़-चेतनका मिश्रण है और केवलमात्र जड़-ही-जड़ है, वह सब वहिरंग लोक है। इसके मोहमें पड़ा हुआ यह मानव विषयान्ध होकर, नाना प्रकार पापकर्म वाँधकर भव-भवमें भटका करता है। जो अन्तरंग लोकको पहचानता है, वही कल्याणके मार्गको पा लेता है। अन्तरंग लोक एक केवल आत्माराम है जो पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण शान्तिमय, पूर्ण आनन्दमय, अमूर्तिक, चिदाकार है, वही परमैश्वर्यमय परमेश्वर है, वही सर्व ज्ञेयोंमें ज्ञानद्वारा व्यापक होनेसे विष्णु है, वही परब्रह्मस्वरूप है, वही आनन्दका विधाता है, इससे ब्रह्मा है; वही कर्म-वन संहारक है, इससे रुद्र है; वही कामादि शत्रुओंसे अपराजित है इससे महावीर है; वही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है इससे बुद्ध है; वही परम मंगलका कर्ता है इससे शिव है; वही सर्व पदार्थोंमें महान् है—स्वपरप्रकाशक है इससे ऋषभ है और वही सर्व पुरुषोंमें उत्तम है इससे पुरुषोत्तम है—वह आत्माराम ही परमात्मा है। वह ज्ञानानन्दका महान् अद्भुत गम्भीर सागर है। इन्द्रियजनित, क्षणिक, अतृप्तिकारी आकुलतामय सांसारिक विषय-सुखसे विलक्षण अतीन्द्रिय, शाश्वत, परम तृप्तिकारी और निराकुल आत्मिक सुखका वही एक सुखसागर है। जो मानव वहिरंग लोकके मलिन जलसे कल्लोल करना छोड़ अन्तरंग लोकके क्षीर-जलवत् परम निर्मल जलमें क्रीड़ा करता है—उसीके रसका पान करता है, वही कल्याणका मार्ग पाता है। अन्तरंग लोकमें श्रद्धापूर्वक रमण करना ही मोक्ष-मार्ग है, सर्व पाप-मलको छुड़ानेवाला है, **संसारी** आत्माको शीघ्र शुद्ध वनानेवाला है, यही धर्म है।

धारे वह धर्मात्मा है। वही धर्मात्मा भगवान् परमात्माका अन्तरंग दृष्टिसे दर्शन करता है, परम सुख-शान्तिका लाभ करता है, वीतरागताकी बुद्धि पाकर रागद्वेषादिको मिटाता है। आत्मिक अनन्त बलको चमकाता है। कहा है—

'निज घटमें परमात्मा, चिन्मूरति भइया।
ताहि विलोकि सुदृष्टिधर पण्डित परखैया॥'

जो इन्द्रिय-रसोंके स्वादोंसे मुख मोड़ आत्मिक रसका स्वाद लेता है, वही ईश्वरकी सच्ची भक्ति करता है—वही सच्ची आत्मानुभूतिरूपी राधाका आराधक, पक्का उपासक है। जो आत्मिक गङ्गामें स्नान करता है, वही पवित्र हो जाता है। बालक-वृद्ध-युवाको, स्त्री तथा पुरुषको, क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य तथा शूद्रको, शासक व प्रजाको, व्यापारी व मजूरको, सेठ व सेवकको, ऊँच व नीचको निरन्तर प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम पाँच मिनटके लिये तो आत्मिक विश्रान्ति-गृहमें जाकर विश्राम करना ही चाहिये। सर्व बहिरंग लोकसे बेखबर हो जाना चाहिये। यही सच्ची पूजा है, इस पूजाके करनेमें हर कोई स्वतन्त्र है, कोई किसीको रोक नहीं सकता। यहाँ अछूत तथा छूतका विकल्प नहीं है। आत्मिक मन्दिरमें परमात्मादेव विराजित है, उसके चरणका स्पर्श हर कोई प्रेमी आत्मा कर सकता है। जो इस नित्य-कर्तव्यको पालता है वही मानवीय कल्याण हस्तगत करता है। सर्व विश्व वृक्षलतादि, पशु-पक्षी आदि, मानवादि प्राणियोंसे भरपूर है। हरएक प्राणीके भीतर अन्तरंग लोक समान है। सबको समान निरखकर ह्रस्व और दीर्घका भाव हटाकर जो विचार करता है वह परम साम्यभावका आश्रय करता है। उसे समतादेवीका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है, वह विश्वप्रेमका हार गलेमें पहन लेता है। सर्व विश्वके जड़-चेतन-मिश्रणरूप प्राणीका भी अवलोकन किया जाय तो सबमें समानता है। सब ही जीवित और सुखी होना चाहते हैं। यही विचार अहिंसा-बलको जागृत कर देता है, इससे दयाका भाव मनमें उमड़ आता है। यही भाव स्वरक्षा-पररक्षामें प्रवर्तन कराता है। यही भाव साधुको परम अहिंसक और गृहस्थको यथासम्भव अहिंसक बना देता है। जो संकल्पी हिंसासे बचाता है, आरम्भीमें यथाशक्ति यत्नसे बर्ताता है, निरर्थक हिंसा नहीं होने देता है। जो भाव तन-मन-धन सब दूसरेकी सेवार्थ अर्पण कर देनेकी प्रेरणा करता है, वह मानव-जीवनको कल्याणकारी बनानेवाला यही अहिंसक भाव है। कुछ कल्याणकारी वाक्योंका लाभ पाठकगण लें।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥

भावार्थ—ऐ भाई! विरक्त हो, वृथा कोलाहलसे क्या? स्वयं ही निश्चल होकर लगातार छः मासतक उस एकको अनुभव कर तो क्या तेरे हृदय-सरोवरमें पुद्गल जड़से भिन्न परम तेजस्वी आत्माका लाभ न होगा? अवश्य होगा।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षय- कर्ममोक्षः॥

भावार्थ—जो भेद-विज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माकी महिमामें रत हो जाते हैं, उनको नियतरूपसे शुद्ध आत्मबलका लाभ होता है। ऐसा होते हुए ही उन परद्रव्योंसे दूर रहनेवालोंको परम निश्चल अविनाशी मोक्षका लाभ हो जाता है।

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते
द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि
प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम्॥

भावार्थ—जो आपसे मित्रता करता है, वह परमलाभको पाता है, जो आपसे द्वेष करता है वह प्रत्ययके समान लोप हो जाता है। आप तो हे प्रभु! दोनोंपर उदासीन हैं तो भी आपकी चेष्टा बड़ी आश्चर्यमय है।

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं
यथा भिषग्मंत्रगुणैः स्वविग्रहम्॥

भावार्थ—सांसारिक सुखकी इच्छारूपी अग्निके दाहसे जलते हुए मनको अपने आत्मज्ञानमय अमृतके जलसे उसी तरह बुझा डाल जिस तरह वैद्य विषके दाहसे मूर्छित शरीरको मन्त्रोंके द्वारा विषरहित कर देता है।

प्रकृतिमें परमेश्वर

(लेखक—रेवरेण्ड श्री अर्थर ई. मैस्सी)

क्या ही यथार्थ वचन है—

'The fool hath said in his heart there is no God.'

'मूर्ख अपने मनमें यह कहकर सन्तोष कर लेता है कि ईश्वर नहीं है।'

वास्तवमें इस बातके बहुसंख्यक प्रमाण सर्वत्र विद्यमान हैं कि कोई सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि चैतन्यशक्ति अवश्य है। इसको सिद्ध करनेके लिये हमें ज्ञात लिंगसे अज्ञात तत्त्वका अनुसन्धान करना होगा। हम स्वयं विद्यमान हैं, इस विषयमें किसीको तनिक भी सन्देह नहीं है। हमारे जीवनका एक स्वरूप यह भी है कि हम उस अलक्ष्य-शक्तिको व्यवहारमें ला सकते हैं, चाहे हम स्वयं अपने हाथसे उसका प्रयोग करें अथवा अप्रत्यक्षरूपसे इस भौतिक जगत्के उन तत्त्वोंके सहारे करें जो हमारे आस-पास मौजूद हैं और जिनके अन्दर उस शक्तिने पहलेसे ही काम करना शुरू कर दिया है। किसी Cylinder मेंसे Piston को ऊपर उठानेकी दो वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं, एक तो अपने हाथोंका शक्तिसे उसे उठाना और दूसरे किसी Boiler के अन्दर पानीको वाष्पमें परिणतकर उस वाष्पके द्वारा अपनी निगरानीमें उसको ऊँचे उठवाना।

हम नयी-नयी वनस्पतियों और कई प्रकारके सुन्दर पदार्थोंको उसी प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, जिस प्रकार प्रकृतिके द्वारा इस कार्यका सम्पादन होता है। हम अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अथवा केवल विनोदके लिये सूर्यकी रश्मियोंका कई नूतन एवं रोचक प्रकारोंसे उपयोग कर सकते हैं। सूर्यके प्रकाशके अभावमें हम कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न कर सकते हैं। कहाँ तक गिनावें, हम हजारों तरहसे अपनी बुद्धिके द्वारा प्राकृतिक शक्तियोंका उपयोग कर सकते हैं एवं अपनी इच्छानुसार उनमें उलट-फेर कर सकते हैं। इस प्रकार अपनी परिमित शक्तिके अनुसार हम ब्रह्माण्ड-तत्त्वको रच सकते हैं। जिस कामको हम अपनी संकल्प-शक्तिकी प्रेरणा एवं आदेशके अनुसार अधूरे ढंगसे कर सकते हैं, वही कार्य प्रकृतिमें अधिक पूर्णता एवं व्यवस्थाके साथ प्रतिदिन होता रहता है और यह उस समयसे होता आ रहा है जब हमारा अथवा हमारे-जैसे और किसी चेतनायुक्त प्राणीका अस्तित्व ही नहीं था। इससे हमारा यह अनुमान किसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता कि विश्वके अन्दर एक ऐसी अन्य निरपेक्ष संकल्प-शक्ति काम कर रही है जिसके साथ हमारी संकल्प-शक्तिका वही सम्बन्ध है जो हमारे दैनिक जीवनके प्रत्येक कार्यमें किसी प्रधान कर्मचारीके साथ उसके अधीनस्थका अथवा स्वामीके साथ उसके नौकरका होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमें इस संसारमें उसके विकास एवं व्यवस्थामें विवेकपूर्ण भाग लेनेके लिये जन्म दिया गया है और यद्यपि हमें अपने-अपने अधिकारका काम करनेके लिये कुछ स्वतन्त्रता अवश्य दी गयी है किन्तु हमारे लिये सदा अपने सर्वनियन्ता एवं सर्वादेष्टा प्रभुके नियमों एवं आदेशोंका पालन करना आवश्यक है।

इस विश्वकी रचना एवं इसके सञ्चालनके सम्बन्धमें समय-समयपर कई प्रकारके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। उन सब सिद्धान्तोंकी समालोचना न करके हम एक बात निःशंक होकर कह सकते हैं कि सारे ज्योतिषियों एवं पदार्थ-विद्या-विशारदोंका इस विषयमें एकमत है कि विश्वके अतीत कालका इतिहास एवं उसकी वर्तमान स्थिति यह बतलाती है कि उसके अन्दर एक शक्ति निरन्तर ऐसी सावधानीसे कार्य कर रही है कि उसके द्वारा भ्रमसे अथवा किसी आकस्मिक कारणसे या अनियमितताके दोषसे सौर-मण्डलके किसी ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र और तारेको कभी क्षति नहीं पहुँचती। अवश्य ही कभी-कभी प्रत्यक्षमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वके महान् सञ्चालनमें त्रुटि हो रही है, किन्तु वास्तवमें वे त्रुटियाँ अपने ही अज्ञानसे अथवा प्राकृतिक नियमोंको पूर्णतया न समझनेके कारण होती हैं, उस नियामक शक्तिके प्रबन्धमें कहीं भूल नहीं होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक शक्तियाँ नियमपूर्वक एवं ढंगके साथ क्रमशः अव्यक्तसे व्यक्तकी ओर अग्रसर होती हुई कार्य करती रहती हैं। दृश्यमान् एवं अदृश्य-जगत्में परस्पर निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जिसके अन्दर बड़े-से-बड़े तार्किकको भी सृष्टिके आदिमें तथा इस समय भी एक निश्चित उद्देश्य एवं व्यवस्था दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रह सकती। उस सनातन पुरुषके लिये अतीत अथवा भविष्यकी कल्पना नहीं हो सकती, उसके द्वारा सदैव क्रिया होती रहती है।

प्रसिद्ध भूगर्भ विद्या विशारद प्रो० लायल (Professor Lyall) ने उन क्रमिक एवं बहुधा होनेवाले पार्थिव विकारोंके सम्बन्धमें यह लिखा है—

'*भूगर्भ विद्याका अध्ययन हमें यह बतलाता है कि* पृथ्वीकी वर्त्तमान आकृति ही असख्य जीवोंके निवासके योग्य हो, यह बात नहीं है। अतीत कालमें उसकी जो आकृति थी वह भी उस समयके प्राणियोंकी व्यवस्था और रहन सहनके लिये अनुकूल ही थी। समुद्रों, विस्तृत भू भागों (महाद्वीपों), द्वीपों तथा उनके जल वायुमें बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। साथ ही जीवोंके अन्दर भी परिवर्तन होते रहे हैं किन्तु ये सारे परिवर्तन वर्तमान कालकी वनस्पतियों एव प्राणियोंके परिवर्तनके अनुरूप ही हुए हैं इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्वके अन्दर आदिसे अन्ततक एक ही उद्देश्य काम कर रहा है।

चार्ल्स डारविन (Charles Darwin) जैसे वैज्ञानिकोंने अपनी गवेषणाओंसे यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि प्रकृतिके अन्दर कोई दिव्य शक्ति सदैव काम करती रहती है जो उन जीवोंको छाँट-छाँटकर उनकी वश परम्पराको कायम रखती है, जो पृथ्वीतलकी भौतिक अवस्थाके पूर्णतया अनुकूल है। मनुष्यकी उत्पत्तिके लिये तथा छोटे-छोटे जीवोंसे बड़े-बड़े जीवोंके विकासके लिये एक नवीन नियमका लागू होना आवश्यक हो गया है। वह नियम है The law of sexual selection अर्थात् नारीद्वारा नरका चुनाव। डारविन (Darwin) के सिद्धान्तके अनुसार इस नियमका आधार यह है कि बड़े-बड़े जानवरोंमें नर-जातिके अन्दर ही आकर्षकता होती है, जैसे पक्षियोंमें नर पक्षीके पख अधिक रग-विरगे एव देखनेमें सुन्दर होते हैं। अर्थात् प्राकृतिक विवेक (Natural selection) से नर-जातिके अन्दर ये गुण चिरस्थायी हो गये हैं। इसके अतिरिक्त जीवोंकी अनेक जातियोंमें इन गुणोंका पूर्ण विकास केवल यौवन-कालमें और किन्हीं किन्हीं जातियोंमें केवल उस ऋतुमें होता है जो मिथुनोपयुक्त (Breeding season) होती है। उस लेखकका कहना है कि यह बात विश्वासमें नहीं आती कि यह सब लीला उद्देश्यहीन हो।*

इसप्रकार हमें उस अदृश्य एव सर्वव्यापक शक्तिका पता लगता है जिसके विषयमें वैज्ञानिकोंका यह अनुभव है कि वह जड़ पदार्थोंका सञ्चालन करती है और जिसे स्पन्द (Motion), ऊष्मा (Heat), प्रकाश (Light), रासायनिक क्रिया (Chemical activity) इत्यादिके स्वरूपमें भौतिक शक्ति (Physcal Force) कहते हैं और सजीव प्रकृतिके क्षेत्रमें जिसके व्यापारको प्राण-शक्ति (Vitality) अथवा जीवन शक्ति (Vital energy) कहते हैं। साथ ही हमें यह भी पता चलता है कि वह शक्ति एक एव अखण्ड है और कतिपय नियमों (Laws) के अनुसार अथवा एक ही अटल विधानके अनुसार एक निश्चित योजनाको चरितार्थ कर रही है। अन्तमें उस शक्तिके कार्योंपर विचार करनेसे तथा उसकी कार्य प्रणाली पर ध्यान देनेसे यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति एक सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी चैतन्य शक्तिके अधीन तथा उससे साक्षात् सम्बद्ध रहकर कार्य करती है। विश्वके अन्दर शक्ति और ज्ञानके इस समन्वयको मनुष्यने श्रेष्ठता (Goodness) का आदर्श समझा और इसीलिये उसे ईश्वर (God) के नामसे पुकारना प्रारम्भ कर दिया।

'*गगन-मण्डल उस परमात्माकी महिमाका बखान* करता है और अनेक ग्रहों और नक्षत्रोंकी पक्ति उसकी अनुपम कारीगरीका प्रमाण है।†

मन भगवान्में

सत समरथ तें राखि मन, करिय जगतको काम।
जगजीवन यह मन्त्र है सदा सुक्ख विसराम॥

—जगजीवन साहेब

---

* It is incredible that all this display should be purposeless'

†The Heavens declare the glory of God and the firmament showeth His handiwork'

ईश्वर नहीं तो कुछ नहीं

(साधु टॉल्स्टॉय)

(१)

लोग अनेक प्रकारसे ईश्वरका स्मरण करते हैं, लेकिन उसे समझने और अनुभव करनेका मार्ग सबका एक ही है।

(२)

लोग कहते हैं, ईश्वर स्वर्गमें रहता है, वे उसे स्वर्गका राजा कहते हैं और वे यह भी कहते हैं कि वह मनुष्यमें रहता है।

जब कोई आदमी कुछ बुरा करता है, तो लोग उससे पूछते हैं—'क्या तुममें राम नहीं है ?' और यह ठीक है। जिसे हम ईश्वर कहते हैं, उसे हम स्वर्ग और मनुष्य दोनोंमें देखते हैं। यदि हम शरद-ऋतुकी किसी रातमें आकाशकी तरफ देखें तो हमें तारे तारे और तारोंसे भी परे अनन्त सितारे दिखायी पड़ते हैं।

और जब हम सोचते हैं कि इनमेंसे हर एक तारा हमारी इस पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है; यह जो तारे हमें दिखायी पड़ते हैं, उनसे परे सैकड़ों, हजारों, लाखों तारे उनके-से या उनसे भी बड़े हैं; और यह कि न तारोंका अन्त है, न आसमानका, तब हम समझने लगते हैं, कि कोई ऐसी चीज़ जरूर है जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते। और इस 'कुछ चीज़'को जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते, ईश्वर कहते हैं।

जब हम अपने अन्दर देखते हैं, तो हम अपने तईं, अपनी आत्माको देखते हैं। यह आत्मा न छुई जा सकती है, न सुनी जा सकती है, न देखी जा सकती है, न समझी जा सकती है, लेकिन और चीजोंकी अपेक्षा हम उसे अच्छी तरह जानते हैं और उसके द्वारा हम दुनियामें जो कुछ भी है, उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। हमारी अपनी आत्मामें यह जो अज्ञेय लेकिन सर्वज्ञ है, उसे भी हम ईश्वर कहते हैं।

इस तरह हम अपनेसे बाहर अपने आस-पासकी भौतिक सीमामें ईश्वरको जानते हैं और साथ ही आध्यात्मिक सीमामें भी, जिसका हम अपनी आत्माके अन्दर अनुभव करते हैं।

(३)

मनुष्य यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि उसके जीवनके साथ कुछ किया जा रहा है, वह किसीका हथियार है। लेकिन अगर वह किसीका हथियार है, तो ऐसा कोई अवश्य होना चाहिये जो उसे निमित्त बनाकर काम करता हो। वह कोई जो उसे निमित्त बनाकर काम करता है, ईश्वर है।

(४)

मनुष्यको प्रेम करना चाहिये, लेकिन वह वास्तविक प्रेम उसीसे कर सकता है, जिसमें कोई बुराई नहीं है। इसलिये ऐसी कोई चीज़ जरूर होनी चाहिये, जो बिल्कुल निर्दोष है। और सिर्फ एक ही ऐसी वस्तु है, जिसमें कोई बुराई नहीं है—ईश्वर !

(५)

आप ईश्वरका नाम लेनेसे बच सकते हैं, आप इस शब्दको टाल सकते हैं, लेकिन आप उसके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे बच नहीं सकते। यदि वह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है।

[अनु०—श्रीकाशीनाथ नारायण त्रिवेदी]

ईश्वर-विश्वास

मनसा वाचा कर्मणा जिनके है विश्वास।
पलटू हरिपर, रहत हैं तिन्हके पलटूदास ॥ १ ॥
पलट संसय छूटिगे मिलिया पूरा यार।
मगन आपने ख्यालमें भाड़ पड़ै संसार ॥ २ ॥

—पलटू साहिब

दर्शनोंमें ईश्वर

(लेखक—स्वामीजी श्रीदयानन्दजी)

प्रबल कलिके प्रतापसे धर्महीन जगत्‌की दृष्टि कुछ दिनोंसे जगदाधार, जगन्नियन्ता ईश्वरकी सत्ताको उड़ानेकी ओर लगी हुई है। सोवियट रूसमें तो भगवान्‌के अस्तित्वपर वोट लेकर अधिक वोटोंसे भगवान्‌को भगा दिया गया है, जिसके फलस्वरूप वहाँके प्रार्थना-मन्दिर (गिर्जे) या तो तोड़ दिये गये हैं या शिल्पकलाके कारखाने बना दिये गये हैं। इस देशमें भी ऐसी संस्थाओंकी कमी नहीं है, जहाँ ईश्वरकी नितान्त अनावश्यकता बतलायी जा रही है। 'ईश्वर-सत्ताके माननेसे ही साम्प्रदायिक विरोध बढ़कर भारतके उद्धारमें देर हो रही है, लोग वृथा दलबन्दीमें फँसकर जातीय एकताको नष्ट कर रहे हैं, बन्धनहीन निरंकुश स्वतन्त्र जीवनके लिये तो ईश्वरका मानना सदाके लिये केवल मानसिक दासताको मोल लेना है, क्योंकि ईश्वर-सत्ताके स्वीकारमात्रसे ही धर्म-बन्धन, कर्तव्याकर्तव्यका बन्धन, आचार-अनाचार-विचारका बन्धन—इसप्रकार अनेक बन्धन उत्पन्न होकर चित्तके स्वाधीनता-सुखको सदाके लिये नष्ट कर डालते हैं, अतः ईश्वर हो या न हो, हमें अपनी सुखमय जीवन-यात्राके निर्वाहके लिये उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है।' इसप्रकारकी दूषित विचारधारा आजकलके आसुरी-प्रकृतियुक्त जीवोंके हृदयको बहुत ही कलुषित कर रही है। अतः इस निबन्धमें ईश्वर-सत्ताकी सत्यतापर विचार करनेके पश्चात् किस किस वैदिक दर्शनने ईश्वरके विषयमें क्या-क्या सम्मति दी है, उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह करना केवल अपने विवेकका गला घोंटना है। धीर होकर अन्तरात्मासे पूछने पर तो स्वयं ही पता लग जाता है कि अनादि, अनन्त सृष्टिके मूलमें कोई कर्ता अवश्य ही है। वेदानुमत समस्त शास्त्रोंमें प्रकृतिको जड कहा गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

जडाऽहं तस्य सान्निध्यात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा॥

'जिस प्रकार चुम्बकके सान्निध्यमें रहनेसे जड लोहेमें सञ्चलन-शक्ति आती है, उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानसे जड प्रकृतिमें चेतनाजनित सृष्टि, स्थिति, प्रलयशक्ति आती है।' परन्तु वास्तवमें प्रकृति जड है। प्रकृतिका यह जडत्व अर्थात् स्वयं कर्तृत्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि-प्रकृतिमें ही नहीं किन्तु उसके परिणामजात पदार्थोंके भी अंग-अंगमें देखनेमें आता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि प्रकृति-परिणामसे उत्पन्न सभी पदार्थ जड हैं। उनमेंसे किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। पृथ्वी स्वेच्छासे भिन्न-भिन्न प्रकारका शस्य उत्पन्न नहीं कर सकती, जल स्वयं बरस नहीं सकता, वायु स्वयं नहीं बह सकता और अग्नि स्वयं भाँति-भाँतिके कार्य नहीं कर सकता। इनके अन्दर अवश्य कोई व्यापक चेतन सत्ता है, जिसके सञ्चालनसे ये सब जड वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं। वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक चेतनसत्ता ईश्वर हैं। इसमें यदि यह सन्देह हो कि, प्रकृति-परिणामजात पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदिका स्वभाव ही शस्य उत्पन्न करना, बरसना, बहना या जलाना इत्यादि है तो, इसका समाधान यह है कि किसी प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव तभी नियमित रूपसे कार्य कर सकता है, जब उसकी नियामक कोई चेतनशक्ति हो। माना कि पृथ्वीका स्वभाव शस्य उत्पन्न करना है, परन्तु किस देशमें, किस कालमें तथा किस ऋतुमें कैसा शस्य उत्पन्न होना चाहिये, इसका नियमन कौन करेगा? यह नियमन जड पृथ्वीके द्वारा कदापि नहीं हो सकता। इसके लिये पृथ्वीके अन्तर्विहारी नियामक चेतन होना चाहिये। जड स्वभावका परिणाम या क्रिया अन्धपरिणाम या अन्धक्रिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वसे ही उसकी अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुवर्तिता आ सकती है। जलका स्वभाव बरसना हो सकता है, परन्तु ऋतुके अनुसार ठीक-ठीक बरसना और जिस देशमें जितनी 'वर्षा' होनी चाहिये, उसको उसी नियमसे ठीक-ठीक बरसाना तभी सम्भव हो सकता है जब जलराज्यके अन्तर्विहारिणी कोई चेतन सञ्चालक-शक्ति हो। इसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होनेका अन्धस्वभाव रह सकता है परन्तु वसन्त-ऋतुमें मलय-



श्रीरामानुजाचार्य



श्रीवल्लभाचार्य



श्रीमध्वाचार्य



श्रीनिम्बार्काचार्य

पवन बहना, वर्षामें पूर्वदिशासे प्रवाहित होना, शीतकालमें पश्चिम या उत्तरसे और ग्रीष्म-ऋतुमें पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुप्रवाह अन्ध-स्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नहीं । इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि वायुमण्डलको नियमित सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतन सत्ता है । हम संसारके सामान्य कार्यमें देखते हैं कि जबतक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो तबतक किसी जड वस्तुद्वारा नियमानुसार कार्य नहीं हो सकता। दृष्टान्त-रूपसे समझ सकते हैं कि अग्निमें जलको वाष्प बनाकर उसी वाष्पके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और इञ्जिन आदि चला सकनेकी शक्ति अवश्य है परन्तु जिस परिमाणसे वाष्प बननेपर और जिस तरहसे इञ्जिन या मशीनमें उसके संयोग होनेपर इञ्जिन या मशीन ठीक-ठीक कार्य कर सकेगी, यह हिसाब या नियमानुसार वाष्प-संयोग करनेकी शक्ति अग्निमें नहीं है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाष्पका संयोग करनेवाले चेतन मनुष्यमें ही है जो नियमके अनुसार जलमें अग्निके संयोगद्वारा वाष्प बनाता है और उसी वाष्पको ठीक परिमाणमें प्रयोग करके समस्त वाष्पीय यानों तथा यन्त्रोंको चलाता है । इसमें और भी विचारनेका विषय यह है कि, यद्यपि वाष्पमें इञ्जिन चलानेकी और इञ्जिनमें गाड़ी खींचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड इञ्जिनका चलानेवाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो योग्य शक्तिसे निर्दिष्ट समयानुसार रेलगाड़ीका चलना, नियमित स्टेशनपर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनसे चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक होना इत्यादि बातें कभी जड इञ्जिनके द्वारा स्वतः नहीं हो सकतीं । जड अन्धशक्तिसे यह हो सकता है कि, यदि इञ्जिन चल पड़े तो चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नहीं और यदि कभी ठहर जाय तो फिर चल नहीं सकेगा । नियमित चलने-ठहरने तथा वेगवान् होनेके लिये किसी नियामक चेतन-शक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है । अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्यके नियमित चलानेके लिये भी चेतन सत्ताकी आवश्यकता होती है तो अनादि, अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टि-स्थितिकार्य, जिसमें इतना अमोघ नियम सदा ही प्रत्यक्ष हो रहा है कि एक पत्तीतक उसी नियमके विना हिल नहीं सकती, उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन सत्ता नहीं है इसप्रकार कल्पना करना उन्मत्त चिन्ता और उन्मत्त प्रलापके सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता । यदि जड प्रकृतिके सञ्चालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमयी विराट् प्रकृतिमें सृष्टि, स्थिति, प्रलयका नियमितक्रम नहीं रह सकता । सृष्टि-स्वभावमयी प्रकृति अनन्त कालतक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नहीं आता और यदि कभी प्रलय हो जाता तो प्रलयके गर्भसे नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिका उदय नहीं हो सकता । जीवोंकी कर्मानुसार उच्च-नीच-गति, रवि-शशिका नियमित उदय, ऋतुओंका नियमित विकास, शस्य-समृद्धिकी नियमित देशकालपात्रानुसार उत्पत्ति, दिवा-रात्रि, अमानिशा और पौर्णमासीका चक्रवत् परिवर्तन, चन्द्रकलाका नियमित विकास, भगवान् भास्करका राशिचक्रमें नियमित संक्रमण आदि सर्वतो-जाज्वल्यमान प्राकृतिक कोई भी क्रिया नियमित संघटित नहीं हो सकती । यह सभी विश्वनिदान, विश्वकर्त्ता, जगत्पाता, अनन्त करुणावरुणालय परम पिता ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय परमेश्वरकी अनादि, अनन्त प्रकृतिके अन्तर्हृदयमें सर्वव्यापिनी नित्यस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है, जिसको श्रद्धावान् भक्त प्रतिपल अनुभव करता हुआ परमानन्द-सागरमें लीन होता है, मिथ्या कुतर्क-कर्कशचित्त अज्ञानी जनोंके अन्धकारमय हृदयमें इस ज्ञान-ज्योतिका विस्तार होना कठिन तथा उन्हींके कृपा-कटाक्ष-सापेक्ष है ।

अब यह बतलानेकी चेष्टा की जाती है कि किस-किस दर्शनने अपनी ज्ञान-भूमिके अनुसार परमेश्वरकी इस सत्ताको कहाँतक कैसे प्रकट किया है ।

ईश्वरकी व्यापक अद्वितीय सत्ता प्रकृतिविलासकला-सम्पर्कसे निर्लिप्त होनेके कारण, जिन दर्शनोंमें प्रकृति परिणाम, प्रकृति अथवा कार्य ब्रह्मके साथ सम्बन्ध रखकर निज-निज ज्ञान-भूमियोंके अनुसार मुक्ति बतलायी गयी है, उन सब दर्शनोंमें ईश्वर-सत्ताका प्रधानतया निर्देश अथवा मुक्तिके साथ साक्षात् सम्पर्क नहीं दिखलाया गया है । उन सब दर्शनोंमें केवल सुख-दुःख-मोहमयी प्रकृतिसे मुक्त होना ही अपवर्गका साधन है, प्रायः इसीप्रकारका सिद्धान्त बताया गया है जो उनकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार यथार्थ ही है । परन्तु जिन दर्शनोंकी ज्ञान-भूमि प्रकृति-विकार तथा अव्यक्त-प्रकृतिसे अतीत-पदकी ओर मुमुक्षुको अग्रसर करती है, उनमें ईश्वर-सत्ताके साथ निःश्रेयसपदका साक्षात् सम्बन्ध बतलाया गया है और इसीलिये उन सब दर्शनोंमें केवल प्रकृति-परिणाम-जात दुःखकी निवृत्तिको

ही मुक्तिका लक्ष्य न बताकर नित्यानन्दमय परमात्मपद-में स्थितिको ही निःश्रेयसपदका प्रधान साधन बतलाया गया है। अब उपर्युक्त दो विभागोंके अनुसार किस दर्शन-में किस प्रकारसे ईश्वर-सत्ताका वर्णन किया गया है, इसपर विचार करना है।

न्यायदर्शन

न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमिमें आत्माको प्रमेय-कोटिके अन्तर्गत करके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञानको उसके लक्षणरूपसे बतलाया गया है। इच्छा, द्वेष आदि वास्तवमें अन्तःकरण-धर्म हैं। अतः इच्छा-द्वेषादिके साथ *आत्माका सम्पर्क बतानेके कारण न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमि* प्रकृति-परिणामसे बहुत ही सम्बन्धयुक्त है, ऐसा सिद्धान्त होता है। जिस अणुको नित्य बताकर उसीके सम्मेलनसे *न्याय-दर्शनमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है* वह अणु भी वास्तवमें प्रकृतिका ही विकारमात्र है। अतः प्रकृति-परिणाम तथा प्रकृतिके साथ साक्षात्‌रूपसे जिसकी ज्ञान-भूमिका सम्बन्ध है ऐसे न्याय-दर्शनमें ईश्वरकी अद्वितीय व्यापक सत्ताका साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता। इसीलिये न्याय-दर्शनकी मुक्ति केवल प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे ही मानी गयी है अर्थात् इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर मुमुक्षुको अपवर्ग-लाभ हो जाता है। इस अपवर्गके साथ ईश्वरका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि न्याय-दर्शन आस्तिक-दर्शन होनेसे कर्मफलके साथ उसमें ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्बन्ध बतलाया गया है और अनुमान-प्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे सृष्टिके साथ ईश्वरका सम्पर्क भी कथन किया गया है। यथा—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।

(न्यायदर्शन)

इसके भाष्यमें *महर्षि वात्स्यायनने कहा है*—

पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः। तस्मात् ईश्वरः कारणम्।

जीवका पराधीन कर्म-फल-भोग जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीवके कर्म-फलदाता हैं। इस तरहसे जड कर्मके चेतन प्रेरकरूपसे ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्पर्क बतलाकर न्याय-दर्शनने अपनी आस्तिकताका परिचय दिया है। प्रसिद्ध न्याय-वृत्तिकार विश्वनाथजीने उसी आह्निकके २१ वें सूत्रमें—

'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्।'

—इसप्रकार सूत्रवृत्तिद्वारा संसारकी उत्पत्तिके प्रति ईश्वरकी निमित्त कारणता प्रतिपन्न की है अर्थात् घटकी उत्पत्तिके लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्त-कारण है उसी प्रकार जगत्‌की उत्पत्तिके लिये ईश्वर निमित्त-कारण है। जिस प्रकार कार्य देखनेसे कारणका अनुमव होता है, उसी प्रकार कार्यब्रह्मरूप जगत्‌को देखनेसे उसके सृष्टि-कर्त्ता निमित्त-कारणरूप ईश्वरका अनुमान होता है। यही प्राचीन न्याय-दर्शनमें ईश्वर-सत्ताकी सिद्धि है।

वैशेषिकदर्शन

वैशेषिक-दर्शनकी ज्ञान-भूमि भी स्थूलतः न्याय-दर्शन-*की तरह है। उसमें भी प्रकृति-परिणाम-जात सुख-दुःखादि-*के साथ मनके द्वारा आत्माका सम्बन्ध बतलाया गया है और द्रव्य-गुणकर्मादि षट् पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिरूप अपवर्गका वर्णन किया गया है। इस निःश्रेयस्‌के साथ केवल दुःख-निवृत्तिका सम्पर्क होनेसे नित्यानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिक-दर्शनोक्त मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। और न इसकी ज्ञान-भूमिके साथ ही ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिक-दर्शनने अपनी आस्तिकताको प्रमाणित करनेके लिये न्याय-दर्शनकी तरह अनुमान-प्रमाणकी सहायतासे जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी निमित्त-कारणता प्रतिपादित की है। यथा—

'संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्'

'प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः'

(वैशेषिक द०)

इन सूत्रोंके उपस्कारमें शंकर मिश्रजीने लिखा है—

'सञ्ज्ञानाम कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयं अस्मद् विशिष्टानां ईश्वरमहर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम्। घटपटादिसञ्ज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव। य शब्दो यत्र ईश्वरेण सङ्केतितः स तत्र साधु। तथा च सिद्धं सञ्ज्ञाया ईश्वरलिंगत्वम्। एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम्। तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवत् इति।'

अर्थात् 'संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप आदि कार्य ये दो लौकिक मनुष्यसे विशेषतायुक्त ईश्वर, महर्षि आदिके अस्तित्वको प्रमाणित करते हैं। घट-पट

आदि नामसे जो तत्तत्पदार्थोंका बोध हो जाता है उसमें ईश्वर-सङ्केत ही कारण है। क्षिति, अप आदि जब कार्य हैं, तो इनके कर्त्ता भी कोई अवश्य होंगे वही कर्त्ता ईश्वर हैं।

अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी घटकुलालवत् निमित्त-कारणता है। यही वैशेषिक-दर्शनका आस्तिक-मत है। इस दर्शनके प्रसिद्ध टीकाकार प्रशस्तपादाचार्यजीने तो कई अन्य स्थानोंमें भी वैशेषिक-दर्शनके सूत्रोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शनकी परम आस्तिकता प्रतिपादित की है। पदार्थ-समूहोंका तत्त्व-ज्ञान ही मोक्षका कारण है इस प्रसंगमें प्रशस्तपादाचार्यजीने—

'तच्च ईश्वरनोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव'

'वह तत्त्व-ज्ञान ईश्वर-प्रेरणाजनित धर्मसे उत्पन्न होता है'—ऐसा कहकर वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्तिके साथ भी ईश्वरका परम्परा-सम्बन्ध बता दिया है। नित्य परमाणुओं-के संघातसे सृष्टि और विश्लेषणसे प्रलयके विषयमें वैशेषिक-दर्शनके सिद्धान्तोंका वर्णन करते समय प्रशस्त-पादाचार्यजीने लिखा है कि 'सकल भुवनपति महेश्वरकी अलौकिक इच्छा-शक्तिके द्वारा ही परमाणुओंमें स्पन्दन-शक्ति उत्पन्न होकर इसप्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है।'

अतः वैशेषिक-दर्शनकी परम आस्तिकता निर्विवाद सिद्ध है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। परवर्तीकालमें नव्य वैशेषिकोंने भी अनुमान-प्रमाणकी सहायतासे वैशेषिक-दर्शनमें ईश्वर-सत्ताकी विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणोंके साथ भी ईश्वरका सम्बन्ध निर्णय किया है।

योगदर्शन

सप्त ज्ञान-भूमियोंमेंसे तृतीय भूमिस्थानीय दर्शन योगदर्शन है। इसमें प्रकृतिको अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषादि दुःखोंका आगार कहकर प्रकृतिके द्वारा बद्ध पुरुषकी उससे मुक्ति होनेपर अत्यन्त दुःख-निवृत्तिरूप कैवल्यप्राप्ति होती है, यही योगका परम पुरुषार्थ बतलाया गया है, अतः दुःख-निवृत्ति ही मुक्तिका लक्ष्य होनेसे परमानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इस दर्शनकी ज्ञान-भूमिका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शनके अनुसार जब साधककी मुक्ति होती है उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृतिके सम्पर्कका त्याग कर देता है, उसके साथ फिर प्रकृतिका बन्धन-सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु उससे प्रकृतिका अस्तित्व लुप्त नहीं होता है, केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृतिके साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्धको छोड़कर उदासीनवत् प्रकृतिका द्रष्टा बन जाता है। अतः योग-दर्शनकी ज्ञान-भूमिके अनुसार भी मुक्तिके साथ ईश्वर-सत्ताका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परम आस्तिक योग-दर्शनमें मुक्ति-प्राप्तिके साधनरूपसे ईश्वर-सत्ताका अपूर्व वर्णन किया गया है। यथा—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'

'तस्य वाचकः प्रणवः'

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च'

'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'

इन सब सूत्रोंमें ईश्वरका योग-दर्शनोक्त स्वरूप तथा उनके ध्यान, उनके प्रति भक्ति और उनके दिव्य नामके जप-का फल बताया गया है।

योग-दर्शनके—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

—इस सूत्रका अर्थ भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—

'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभि-ध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति।

'विशेष भक्तिके साथ आराधना करनेसे साधकके प्रति प्रसन्न होकर 'इसका अभीष्ट सिद्ध हो जाय' ईश्वर ऐसी इच्छा करते हैं जिससे शीघ्र ही योगीको चित्तवृत्तिनिरोध-द्वारा असंप्रज्ञात समाधिलाभ हो जाता है।' इसप्रकारसे ईश्वरभक्तिद्वारा उपाय बताकर अगले तीन सूत्रोंमें महर्षि पतञ्जलिजीने ईश्वरका स्वरूप बताया है। ईश्वर अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारसे रहित पुरुष-विशेष हैं। अर्थात् सांख्य-प्रवचनका जो पुरुष है उससे कुछ विशेष सत्ता ईश्वरकी है। योग-दर्शन-भूमिमें प्रकृति-सम्बन्धका विशेष अस्तित्व रहनेके कारण वेदान्त-भूमिकी तरह इसमें

ईश्वरकी व्यापक अद्वैत सत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृति-बन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुषसे विशेषता बतानेके अर्थ महर्षि पतञ्जलिजीने अपने दर्शनमें ईश्वरको 'पुरुष-विशेष' कहा है। इस 'पुरुष-विशेष' ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है और कालके द्वारा परिच्छिन्न न होनेसे वे ज्ञानी महर्षियोंके भी गुरु हैं। क्योंकि महर्षिगण चाहे कितने ही ज्ञानी क्यों न हो जायँ, वे कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे नित्य ईश्वरके ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये ईश्वर महर्षियोंके भी गुरु हैं। इसके बाद परवर्ती तीन सूत्रोंमें ईश्वर-साधनका उपाय बतलाया गया है। जैसे-प्रणव उसका नाम है, प्रणवके साथ ईश्वरका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, इसलिये प्रणव-जप और उसकी अर्थभावनाके द्वारा प्रत्यगात्मा-पुरुषका साक्षात्कार और व्याधि-संशयादि अन्तराय दूर हो जाते हैं। इसप्रकारसे ईश्वरभक्तिद्वारा समाधिसिद्धि और पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। *यही आस्तिक-योग-दर्शनोक्त ईश्वर-सत्ताका परिस्फुट प्रमाण है।* इसके सिवा अनेक *बहिरंग* तथा *अन्तरंग* साधनोंमें भी योग-दर्शनमें ईश्वर-प्रणिधानकी महिमा और उपयोगिता बतायी गयी है। यथा—

'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

समाधि-भावना और अविद्यादि क्लेशदूरीकरणके लिये *योगशास्त्रमें जो क्रिया-योगका उपदेश किया गया है, उसमें तप और स्वाध्यायके अतिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' भी* एक अंग है। यहाँपर 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने यह किया है—

'ईश्वरप्रणिधानं-सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फल-सन्यासो वा।'

'*ईश्वरप्रणिधानका अर्थ परम गुरु ईश्वरमें समस्त कर्मों-का समर्पण अथवा कर्मफल-त्याग है।*' दूसरे सूत्रमें यम-नियमादि योगके अष्टांगोंमेंसे द्वितीयांग नियमका लक्षण बताया गया है जिसमें शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्यायके अतिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' को भी नियमके अन्यतम अंग-रूपसे बताया गया है। यहाँपर भी 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने-

'तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'

—परम गुरु ईश्वरमें समस्त कर्मोंका अर्पण ही ईश्वर-*प्रणिधान है—ऐसा किया है। अतः योगदर्शनकी आस्तिकता सर्वथा निर्विवाद है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।*

सांख्यदर्शन

योगदर्शनकी तरह सांख्यदर्शनमें भी प्रकृतिकी प्रधानता होनेसे मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। अनादि अविवेकद्वारा प्रकृतिके साथ पुरुषका औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है। जिससे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानका उदय होनेसे जब पुरुष अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूपको समझ जाता है तभी पुरुषकी मुक्ति होती है। अतः प्रकृतिसम्बन्ध-विच्छेदद्वारा त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही साख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार मुक्ति है। इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपदमें स्थितिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं है। अतः इस दर्शनमें ईश्वरकी व्यापक सत्ताकी उपलब्धिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पुरुषकी स्वरूपो-पलब्धिद्वारा *सांख्य-भूमिमें मुक्ति बतलायी गयी है,* वह पुरुष *जीवशरीरस्थित कूटस्थ चैतन्य है।* व्यापक ईश्वरकी जो *निर्लिप्त, निर्विकार ज्ञानमय सत्ता प्रतिपिण्डावच्छेदसे* देहमें विद्यमान रहती है, उसीको कूटस्थ चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वरका ही देहावच्छिन्न अंश होनेके कारण सदा निर्लिप्त और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव है। सांख्य-दर्शनमें प्रकृतिके साथ उसी पुरुषके अनादि, औपचारिक सम्बन्धको 'स्फटिक लौहित्यवत्' बन्धन और सृष्टिका कारण माना है और तत्त्वज्ञानद्वारा उस औपचारिक सम्बन्धकी निवृत्तिको मोक्ष माना है। अतः सांख्य-दर्शनके अनुसार जो मुक्ति होती है वह जीवशरीरमें कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धिके द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म, कारण किसी विभागके साथ उसके कर्तृत्व-भोक्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तवमें *प्रकृतिसे निर्लिप्त, उदासीन और उसका द्रष्टामात्र है। यही सांख्य-दर्शनोक्त मुक्ति है। अतः स्पष्ट है कि सांख्यीय मुक्ति-भूमिमें प्रकृतिकी व्यापक सत्ता अक्षुण्ण रहती है,* ईश्वरकी व्यापक सत्ता जान नहीं पड़ती, केवल अपने शरीरमें स्थित ईश्वरका चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। अतः अपने शरीरके विचारसे प्रति देहमें पुरुषकी भिन्न-भिन्न बहुत सत्ता मानना, प्रकृतिको नित्य मानना और अपनी ज्ञान-भूमिमें

मुक्तिके लिये ईश्वरकी सत्ताके माननेका प्रयोजन न समझना सांख्य-दर्शन-भूमिके अनुसार ठीक है। तथापि सांख्य-दर्शनने अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे जो ईश्वरके अस्तित्वको माना है, उसके द्वारा सांख्यदर्शनकी विशेष आस्तिकताका परिचय प्राप्त होता है। यथा—

'योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः'
'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'
'ईश्वरासिद्धेः'
'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः'
'उभयथाप्यसत्करत्वम्'
'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा'

'इन्द्रियोंकी सहायतासे लौकिक प्रत्यक्षके अतिरिक्त योगिगण योगबलसे जो अतीन्द्रिय वस्तुओंका प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्य-ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न रहनेपर भी ऐसे प्रत्यक्ष करनेमें कोई दोष नहीं है। योगिगण इस-प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष-शक्तिद्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओंका भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अति सूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्षके अगोचर और इसलिये सांख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार असिद्ध होनेपर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्षके द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचारसे सांख्य-भूमिमें ईश्वर सिद्ध नहीं होते क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त ही हो सकते हैं और न बद्ध। मुक्त होनेपर उनमें अभिमानाभावसे सृष्टि-कर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होनेपर उनमें सृष्टिकी शक्ति ही नहीं आ सकेगी। अतः लौकिक प्रत्यक्ष-विचारसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकते।' इतना कहकर फिर सांख्य-दर्शन कहता है कि 'यद्यपि लौकिक विचारसे ईश्वरकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपासनाके द्वारा सिद्ध पुरुषगण बारम्बार शास्त्रमें ईश्वरकी स्तुति कर गये हैं। इसलिये ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह नहीं करना चाहिये।' अर्थात् लौकिक प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर असिद्ध होनेपर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषों-की अलौकिक प्रत्यक्ष-शक्तिके द्वारा सदा ही उपलब्ध होते हैं। इसप्रकारसे आस्तिकतापूर्ण विचारद्वारा निज ज्ञान-भूमिमें अप्राप्य होनेपर भी सांख्य-दर्शनने ईश्वरकी सिद्धि की है। यह सांख्य-दर्शनकी विशेष आस्तिकताका ही निदर्शन है। वत्स-पोषणार्थ अचेतन दुग्धकी प्रवृत्तिकी तरह पुरुषके भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृतिकी प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा साधारण रीतिसे कहनेपर भी समष्टि और व्यष्टि-प्रकृतिपर जबतक चेतनपुरुष और जीवका अधिष्ठान नहीं होता है तबतक न तो जड-प्रकृतिमें परिणामकारिणी चेतन-शक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणामद्वारा सृष्टि-विस्तार ही कर सकती है, ऐसा अपने सूत्रोंद्वारा प्रतिपादित करके सांख्यदर्शनने और भी आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है। यथा—

'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।'
'विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्'

जिसप्रकार अयस्कान्तमणिके पास रहनेसे ही लोहेमें चलन-शक्ति आ जाती है उसी प्रकार 'सांख्यसे अनन्त' चेतनामय पुरुषके अधिष्ठानसे समष्टि-प्रकृति कार्य करती है और प्रति पिण्डमें औपचारिक बन्धनसे बद्ध जीवभावापन्न पुरुषके अधिष्ठानसे व्यष्टि-प्रकृति कार्य करती है। यह बात पहले ही कही गयी है कि प्रकृतिपर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है जो जीव-देहावच्छेदसे ईश्वरकी ही सत्ता है और—

'अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।'

उसी परमात्माने जीवरूपमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपका विकार उत्पन्न कर दिया, इस छान्दोग्य श्रुत्युक्त सिद्धान्तके अनुसार वह चेतन-सत्ता जब ईश्वरका ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकृतियोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध सांख्यदर्शनद्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ। केवल वेदान्तादि दर्शनोंके साथ उसका इतना ही भेद रह गया कि वेदान्तदर्शनमें ईश्वरकी इच्छासे प्रकृतिका परिणाम और सृष्टि-क्रिया मानी है और सांख्यदर्शनमें कूटस्थ चैतन्यके अधिष्ठानमात्रसे प्रकृतिका परिणाम बताया है। फलतः आस्तिकताके विषयमें दोनों दर्शनोंमें कोई विशेष विभिन्नता नहीं पायी गयी। अधिष्ठानमात्रसे प्राकृतिक परिणामके विषयमें स्मृतियोंमें भी प्रमाण मिलता है। यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्तासौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः॥

जिसप्रकार इच्छारहित अयस्कान्तमणिके पास रहनेसे ही लोहेमें चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुषके

अधिष्ठानमात्रसे ही संसारकी क्रिया होने लगती है। इस विचारसे आत्मामें कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि इच्छारहित होनेसे वे अकर्ता हैं और सान्निध्यद्वारा कर्ता भी हैं। यही पुरुषरूपसे प्रकृतिपर ईश्वरका अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शनकी परम आस्तिकताका परिचय है। मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरकी 'विभुतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न होनेसे सांख्यदर्शनमें ईश्वरकी 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया है।

कर्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर मीमांसा-दर्शनोंकी भूमियोंमें परमात्माके ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभावकी, क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की गयी है। ऐश्वर्य-भावमें परमात्मा ईश्वर अदृष्टके विधाता, पुण्यके फलदाता, पापियोंके शासनकर्ता और धर्मके प्रतिष्ठाता, सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निःश्वास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी—उन्हींकी दैवी विभूतिके स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्म-मीमांसा-दर्शनमें वेद, वेदानुकूल यज्ञ-भेद कर्म और देवताओंकी इतनी महिमा बतायी गयी है। यथा, कर्म-मीमांसामें—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

और भी—

यजेत स्वर्गकामः।
यजतेर्जातमपूर्वम्।
अपाम सोमं अमृता अभूम।

अक्षय्य ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति। सर्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजेत।

वेदकी यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। यज्ञीय सोमपान करके सब अमर हो जाते हैं। चातुर्मास्ययाग करनेवालेको अक्षय पुण्यलाभ होता है। अश्वमेधयज्ञद्वारा लोकजय, मृत्युजय, पापजय और ब्रह्महत्या-जैसे पापपर भी विजयलाभ होता है। इसप्रकारसे कर्म-मीमांसा-दर्शनमें यज्ञकी महिमा बताकर [illegible] महिमा, [illegible] और यज्ञक्रिया बतानेवाले वेदके [illegible] बतायी गयी है। यही कर्म-[illegible]-भाव-वर्णनका रहस्य है।

भक्ति-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें ईश्वरके माधुर्य-भावका स्पष्टीकरण है। इस भावमें भगवान् दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनके प्राण विक्रीत हैं, करुणाकी धारा जाह्नवी-यमुनाकी धारारूपसे प्रवाहित है, जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये (लोकदृष्टिसे) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परमव्रत है, इस भावमें भृगुपदाघात उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा-निवारण परम पौरुष है और करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्योंका आहुति-प्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान् भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं। इसी भावकी अलौकिक मधुरतामें उन्होंने भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे क्षमा माँगी थी। यथा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैता प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोकितं विषममेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग! यदि मे समये विलम्बः॥

'कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और छोटी उम्र और कहाँ मदोन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिपुका तुम्हारे ऊपर प्रबल अत्याचार! इस अभूतपूर्व विषमताको मैंने खूब देख लिया है, हे प्रिय! यदि मेरे आनेमें कुछ देर हो गयी हो तो मुझे क्षमा करो।' भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें इस माधुर्य-भावका भूरि-भूरि वर्णन है जैसा कि इस शास्त्रके प्रतिपादक महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारदके भक्तिसूत्रोंके पढ़नेसे पता लगता है। वेदमें भी—

'रसो वै सः'
'आनन्दरूपं परमं यद्विभाति'
'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'
'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा इस भावका पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्ति-दर्शनके सूत्रकार महर्षि शाण्डिल्यके मतमें 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वरके प्रति परमप्रेम या अनुरागको भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारदने भी 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' 'अमृतरूपा च' 'यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति' इत्यादि सूत्रोंके द्वारा ईश्वरके प्रति परमप्रेमको ही भक्तिका लक्षण कहा है। भगवत्प्रेममें मग्न हो जानेपर भक्तको बाहरी

विषयोंका भान नहीं रहता है, वह उन्मत्त–स्तब्धकी तरह रात-दिन परमात्माके रमणमें ही लगा रहता है। उसका हृदय-कमल सहस्रदल कमलकी तरह विकसित होकर श्रीभगवान्‌के पवित्र चरण-कमलोंमें विलीनताको प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका सार लक्ष्य है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्यकी प्राप्ति करानेके लिये ही भक्ति-मीमांसा-शास्त्रका पवित्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्ममीमांसा-दर्शनमें ईश्वर परमात्माके अन्यान्य भावोंके साथ उनके ज्ञानभावकी सम्यक् सिद्धि की गयी है।

ब्रह्ममीमांसा-दर्शनमें ब्रह्मके उस अध्यात्मभावकी मीमांसा की गयी है। जिस भावके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव मायासे अतीत है और जहाँ माया लय हो रहती है। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें मायाको मिथ्या और सान्त कहा गया है और जब मायाकी वस्तुसत्ता इस तरहसे अपनी भूमिमें अस्वीकृत हुई तो विश्व-जगत्‌को प्रकृतिका परिणाम न कहकर ब्रह्मका विवर्त्त ही कहा जायगा। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें संसारको ब्रह्मका विवर्त्त कहा गया है अर्थात् रज्जुमें सर्प-भ्रमकी तरह मोहिनी मायाके प्रतापसे ब्रह्ममें ही जगत्‌की भ्रान्ति हो रही है, वास्तवमें यह दृश्यमान् संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त-दर्शनका सिद्धान्त है। वेदान्त-भूमिके अनुसार स्वरूपोपलब्धि-दशामें माया-रहित तथा जगत् प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थिति होनेके कारण ही उस दशाके अनुसार व्यावहारिक दशामें भी जगत्‌को ब्रह्मका विवर्त्त माना गया है क्योंकि मायाके मिथ्यात्व और जगत्‌के ब्रह्म-रूपत्वकी धारणा मुमुक्षु साधकके चित्तमें जितनी प्रबल होगी, प्रपञ्चकी निवृत्तिके द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्त्तिनी हो जायगी। अतः संसारको विवर्त्तित ब्रह्मका रूप कहना और उसी विवर्त्तको जानकर आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निज ज्ञान-भूमिके अनुसार वेदान्तदर्शनके लिये उपयुक्त ही है।

इस वेदान्त-दर्शनमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म मायासे अतीत हैं, तो माया-सम्बन्धीय सृष्टि, स्थिति पालनादि सभी कार्य मायाशबलित, सगुण ब्रह्म ईश्वरके अधिकारमें ही होना चाहिये। इसलिये इस दर्शनमें ईश्वरको जगत्‌का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्त-कारण इसलिये कि उन्हींके द्वारा सृष्टि, स्थिति, प्रलयकार्य चलता है और उपादान-कारण इसलिये कि उन्हींपर सुवर्णमें कटक-कुण्डलकी नाईं मायाने समस्त विश्वकी भ्रान्तिको दिखलाया है। उनकी निमित्त-कारणताके विषयमें वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

'जन्माद्यस्य यतः' 'जगद्वाचित्वात्' इत्यादि।

संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय सगुण ब्रह्म ईश्वरके द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत्‌के कर्त्ता हैं। उनकी उपादान-कारणताके विषयमें भी वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्।'

इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने लिखा हैः—

एवं प्राप्ते ब्रूमः। प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव।

सगुण ब्रह्म केवल जगत्‌के निमित्त-कारण ही नहीं हैं अधिकन्तु उपादान-कारण भी हैं। फिर—

'योनिश्च हि गीयते'

—इस सूत्रके द्वारा भी उपादान-कारणता प्रतिपन्न होती है।

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' 'तथाऽन्यप्रतिषेधात्'

इन दोनों सूत्रोंमें भी जगत् और ब्रह्मकी एकता करके जिसप्रकार कुण्डल-वलय आदि सुवर्णालंकारोंमें वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नाम-रूपका ही भेद है, वस्तुतः सब सुवर्ण ही है, उसी प्रकार जगत् विविध नाम-रूप वैचित्र्य-पूर्ण होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत्‌के विषयमें ब्रह्मकी उपादान-कारणता विशेषरूपसे सिद्ध की गयी है।

'तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्'

आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वरका ही कार्य है। इस सूत्रके द्वारा जगदुत्पत्तिके विषयमें ईश्वरकी निमित्त-कारणता सिद्ध की गयी है। अतः वेदान्त-दर्शन-भूमिके अनुसार ईश्वरकी उभय-कारणता ही प्रतिपादित होती है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

'न स्थानतोपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि।'

अधिष्ठानमात्रसे ही संसारकी क्रिया होने लगती है। इस विचारसे आत्मामें कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि इच्छारहित होनेसे वे अकर्ता हैं और सान्निध्यद्वारा कर्ता भी हैं। यही पुरुषरूपसे प्रकृतिपर ईश्वरका अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शनकी परम आस्तिकताका परिचय है। मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरकी 'विभुतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञान भूमिमें प्रयोजन न होनेसे सांख्यदर्शनमें ईश्वरकी 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया है।

कर्म मीमांसा दर्शन

इसके अनन्तर मीमांसा दर्शनोंकी भूमियोंमें परमात्माके ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभावकी, क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की गयी है। ऐश्वर्य भावमें परमात्मा ईश्वर अदृष्टके विधाता, पुण्यके फलदाता, पापियोंके शासनकर्ता और धर्मके प्रतिष्ठाता, सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निश्वास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी—उन्हींकी दैवी विभूतिके स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्म-मीमांसा दर्शनमें वेद, वेदानुकूल यज्ञ भेद कर्म और देवताओंकी इतनी महिमा बतायी गयी है। यथा, कर्म-मीमांसामें—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

और भी—

यजेत स्वर्गकामः।
यजतर्जातमपूर्वम्।
अपाम सोमं अमृता अभूम।

अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति। सर्वान् लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते।

वेदकी यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। यज्ञीय सोमपान करके सब अमर हो जाते हैं। चातुर्मास्ययाग करनेवालेको अक्षय पुण्यलाभ होता है। अश्वमेधयज्ञद्वारा लोकजय, मृत्युजय, पापजय और ब्रह्महत्या-जैसे पापपर भी विजयलाभ होता है। इसप्रकारसे कर्म-मीमांसा दर्शनमें यज्ञकी महिमा बताकर प्रकारान्तरसे कर्मप्रेरक देवताओंकी महिमा, यज्ञरूप भगवान् विष्णुकी महिमा और यज्ञक्रिया बताने वाले वेदके कर्ता ईश्वरकी महिमा बतायी गयी है। यही कर्म-मीमांसाद्वारा ईश्वरके ऐश्वर्य भाव-वर्णनका रहस्य है।

भक्ति-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर भक्ति मीमांसा-शास्त्रमें ईश्वरके माधुर्य भावका स्पष्टीकरण है। इस भावमें भगवान् दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनके प्राण विक्रीत हैं, करुणाकी धारा जाह्नवी-यमुनाकी धारा रूपसे प्रवाहित है, जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये (लोकदृष्टिसे) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परमव्रत है, इस भावमें भृगुपदाघात उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा निवारण परम पौरुष है और करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्योंका आहुति प्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान् भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं। इसी भावकी अलौकिक मधुरतामें उन्होंने भक्त शिरोमणि प्रह्लादसे क्षमा माँगी थी। यथा—

क्व वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
कैता प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोकितं विषममेतदभूतपूर्वं
क्षन्तव्यमङ्ग! यदि मे समये विलम्बः॥

'कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और छोटी उम्र और कहाँ मदोन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिपुका तुम्हारे ऊपर प्रबल अत्याचार! इस अभूतपूर्व विषमता को मैंने खूब देख लिया है, हे प्रिय! यदि मेरे आनेमें कुछ देर हो गयी हो तो मुझे क्षमा करो।' भक्ति-मीमांसा शास्त्रमें इस माधुर्य भावका भूरि भूरि वर्णन है जैसा कि इस शास्त्रके प्रतिपादक महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारदके भक्तिसूत्रोंके पढ़नेसे पता लगता है। वेदमें भी—

'रसो वै सः'
'आनन्दरूपं परमं यद्विभाति'
रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'
'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।'

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा इस भावका पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्ति दर्शनके सूत्रकार महर्षि शाण्डिल्यके मतमें 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वरके प्रति परमप्रेम या अनुरागको भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारदने भी 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' 'अमृतरूपा च यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति' इत्यादि सूत्रोंके द्वारा ईश्वरके प्रति परमप्रेमको ही भक्तिका लक्षण कहा है। भगवत्प्रेममें मग्न हो जानेपर भक्तको बाहरी

विषयोंका भान नहीं रहता है, वह उन्मत्त–स्तब्धकी तरह रात-दिन परमात्माके रमणमें ही लगा रहता है। उसका हृदय-कमल सहस्रदल कमलकी तरह विकसित होकर श्रीभगवान्‌के पवित्र चरण-कमलोंमें विलीनताको प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका सार लक्ष्य है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्यकी प्राप्ति करानेके लिये ही भक्ति-मीमांसा-शास्त्रका पवित्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्ममीमांसा-दर्शनमें ईश्वर परमात्माके अन्यान्य भावोंके साथ उनके ज्ञानभावकी सम्यक् सिद्धि की गयी है।

ब्रह्ममीमांसा-दर्शनमें ब्रह्मके उस अध्यात्मभावकी मीमांसा की गयी है। जिस भावके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव मायासे अतीत है और जहाँ माया लय हो रहती है। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें मायाको मिथ्या और सान्त कहा गया है और जब मायाकी वस्तुसत्ता इस तरहसे अपनी भूमिमें अस्वीकृत हुई तो विश्व-जगत्‌को प्रकृतिका परिणाम न कहकर ब्रह्मका विवर्त्त ही कहा जायगा। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें संसारको ब्रह्मका विवर्त्त कहा गया है अर्थात् रज्जुमें सर्प-भ्रमकी तरह मोहिनी मायाके प्रतापसे ब्रह्ममें ही जगत्‌की भ्रान्ति हो रही है, वास्तवमें यह दृश्यमान् संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त-दर्शनका सिद्धान्त है। वेदान्त-भूमिके अनुसार स्वरूपोपलब्धि-दशामें माया-रहित तथा जगत् प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थिति होनेके कारण ही उस दशाके अनुसार व्यावहारिक दशामें भी जगत्‌को ब्रह्मका विवर्त्त माना गया है क्योंकि मायाके मिथ्यात्व और जगत्‌के ब्रह्म-रूपत्वकी धारणा मुमुक्षु साधकके चित्तमें जितनी प्रबल होगी, प्रपञ्चकी निवृत्तिके द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्त्तिनी हो जायगी। अतः संसारको विवर्त्तित ब्रह्मका रूप कहना और उसी विवर्त्तको जानकर आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निज ज्ञान-भूमिके अनुसार वेदान्तदर्शनके लिये उपयुक्त ही है।

इस वेदान्त-दर्शनमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म मायासे अतीत हैं, तो माया-सम्बन्धीय सृष्टि, स्थिति पालनादि सभी कार्य मायाशबलित, सगुण ब्रह्म ईश्वरके अधिकारमें ही होना चाहिये। इसलिये इस दर्शनमें ईश्वरको जगत्‌का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्त-कारण इसलिये कि उन्हींके द्वारा सृष्टि, स्थिति, प्रलयकार्य चलता है और उपादान-कारण इसलिये कि उन्हींपर सुवर्णमें कटक-कुण्डलकी नाईं मायाने समस्त विश्वकी भ्रान्तिको दिखलाया है। उनकी निमित्त-कारणताके विषयमें वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

'जन्माद्यस्य यतः' 'जगद्वाचित्वात्' इत्यादि।

संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय सगुण ब्रह्म ईश्वरके द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत्‌के कर्त्ता हैं। उनकी उपादान-कारणताके विषयमें भी वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्।'

इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने लिखा है:—

एवं प्राप्ते ब्रूमः। प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव।

सगुण ब्रह्म केवल जगत्‌के निमित्त-कारण ही नहीं हैं अधिकन्तु उपादान-कारण भी हैं। फिर—

'योनिश्च हि गीयते'

—इस सूत्रके द्वारा भी उपादान-कारणता प्रतिपन्न होती है।

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' 'तथाऽन्यप्रतिषेधात्'

इन दोनों सूत्रोंमें भी जगत् और ब्रह्मकी एकता करके जिसप्रकार कुण्डल-वलय आदि सुवर्णालंकारोंमें वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नाम-रूपका ही भेद है, वस्तुतः सब सुवर्ण ही है, उसी प्रकार जगत् विविध नाम-रूप वैचित्र्य-पूर्ण होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत्‌के विषयमें ब्रह्मकी उपादान-कारणता विशेषरूपसे सिद्ध की गयी है।

'तस्माद्ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्'

आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वरका ही कार्य है। इस सूत्रके द्वारा जगदुत्पत्तिके विषयमें ईश्वरकी निमित्त-कारणता सिद्ध की गयी है। अतः वेदान्त-दर्शन-भूमिके अनुसार ईश्वरकी उभय-कारणता ही प्रतिपादित होती है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

'न स्थानतोपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि।'

ब्रह्म सर्वत्र उभयलिंग है, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी निर्गुण-भावका विलोप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होनेपर साकार हो जायँगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें सूत्र है—

'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'

ब्रह्म निराकार हैं, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी साकार नहीं होते। 'प्रकाशवत् चावैयर्थ्यम्' जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश आधार-भेदसे सरल, वक्र आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी उपाधिके द्वारा नानारूप प्रतीत होते हैं, वास्तवमें उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होनेपर भी उपाधि-संयोगसे यदि ससीम हो तो इस सन्देहके उत्तरमें वेदान्त-दर्शन बताता है—

'अतोऽनन्तेन तथा हि लिंगम्'

ब्रह्मके सगुण अथवा निर्गुण दोनों ही स्वरूप अनन्त हैं।

'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'

प्रकाशरूप ब्रह्ममें सगुण-निर्गुण-भेद केवल उपाधि-भेदसे है, स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं है। इसप्रकार निर्गुण ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, इसलिये घटकुलालवत् निमित्त-कारण ईश्वर कहे गये हैं। अब इसमें प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर चेतन हैं और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वरसे अचेतन जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है कि 'चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति संसारमें हुआ करती है'—जैसे चेतन पुरुषसे अचेतन नख-लोमादिकी उत्पत्ति। अतः ईश्वरसे जगत्‌की उत्पत्ति शंकाजनक नहीं है, द्वितीय प्रश्न यह होता है कि कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि उपकरणकी सहायता-से घट निर्माण करता है। ईश्वरका जब कोई उपकरण नहीं है तो वे सृष्टि कैसे करेंगे? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

'क्षीरवद्धि' 'देवादिवदपि लोके'

जिसप्रकार दुग्ध आदि उपकरणके बिना ही दधि आदि रूपमें परिणत हो जाते हैं और जिसप्रकार देवता आदि उपकरणके बिना ही संकल्पमात्रसे सृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरणके बिना ही स्वतः जगत्-सृष्टि करते हैं। तृतीय प्रश्न यह होता है कि, 'ईश्वर जब निराकार हैं तो उनसे सृष्टि-कार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

'विकरणत्वादिति चेत् तदुक्तम्'

श्रुत्युक्त—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'

इत्यादि प्रमाणद्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकार-से भी सृष्टिकार्य हो सकता है। पुनः यह शंका होती है कि ईश्वर जब आप्तकाम हैं तो उनको सृष्टिकार्य करनेका क्या प्रयोजन है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'

सृष्टि उनका लीला-विलासमात्र है। जिसप्रकार शिशु बिना प्रयोजन ही क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठानसे प्रकृतिद्वारा स्वतः होती है। पुनः यह आपत्ति होती है कि संसार वैषम्यका आधार है। इसमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र, इसप्रकार देखनेमें आता है। यदि जगत् ईश्वरकी रचना है तो वे बड़े ही पक्षपाती या निष्ठुर होंगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

'फलमत उपपत्तेः'

'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः'

'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति'

ईश्वर कर्मफलके दाता हैं परन्तु कर्मके वैचित्र्यानुसार ही जीवको फल देते हैं, ऐसा न होनेसे शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न सृष्टि करते हैं। जिसका पूर्व सुकृत है उसे सुखी करते हैं जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुखी करते हैं। अतः इसमें ईश्वरका पक्षपात या निष्ठुरता सिद्ध नहीं होती। पूज्यपाद भाष्यकारने ईश्वरके कर्मानुसार सृष्टि-रहस्यके विषयमें कहा है—

'ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति।'

सृष्टिके विषयमें ईश्वरको मेघकी तरह समझना चाहिये। जिसप्रकार व्रीहि, यव, धान्य आदिके विषयमें

मेघ साधारण कारण है अर्थात् मेघके जलसे व्रीहि, यवादि उत्पन्न होते हैं परन्तु उसमें प्रत्येकके भीतर जो प्रकृति-वैषम्य है उसके लिये मेघ कारण नहीं है। उसके लिये व्रीहि, यवादिके बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण है। ठीक उसी प्रकार देवमनुष्यादि-सृष्टिके विषयमें ईश्वर साधारण कारण है, परन्तु उनके प्रत्येकके पृथक्-पृथक् सुख-दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्रय आदि विशेषताके लिये जीवोंके पृथक् कर्म ही असाधारण कारण हैं। ईश्वर उन्हीं पृथक्-पृथक् कर्मोंके अनुसार प्रत्येक जीवकी सृष्टि करते हैं। अतः सृष्टिके विषयमें पर्जन्यवत् साधारण कारण होनेसे ईश्वरमें पक्षपात या निष्ठुरताका कलंक नहीं लग सकता है। श्रुति कहती है—

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।'

पुण्यकर्मद्वारा जीवको पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और पापकर्मद्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीवको ईश्वर फल प्राप्त कराते हैं तो उनमें ऐश्वर्य कैसे समझा जाय? कर्मके अधीन हुए वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र कैसे कहला सकते हैं? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है क्योंकि दाह्य वस्तुके न होनेसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, इसलिये अग्निमें दाहिका शक्ति नहीं है ऐसा कहना पागलपन होगा। दाहिका शक्ति होनेसे ही अग्नि दाह्य वस्तुओंको दग्ध कर सकती है। जलादिमें दाहिका शक्ति नहीं है। इसलिये दाह्य वस्तुओंके संयोग होनेपर भी जलादि उनको दग्ध नहीं कर सकते। इसी तरहसे जड कर्मके नियामक सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें अनन्तशक्ति होनेसे ही वे जीवकृत-कर्मानुसार उनको फल दे सकते हैं, शक्ति न होती तो जीवके कर्म करनेपर भी उचित फल नहीं दे सकते। अतः जीवकृत कर्मोंकी अपेक्षा रहनेपर भी ईश्वरमें सर्वशक्तिमत्ताकी अभाव-कल्पना नहीं हो सकती, प्रजाओंके कर्मानुसार राजा दण्ड-पुरस्कारादि प्रदान करते हैं इसमें राजामें शक्ति या स्वतन्त्रताकी अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकारसे अनेक प्रमाणों तथा विचारोंद्वारा वेदान्त-दर्शनमें ईश्वरकी परमसत्ता जगच्चक्रपरिचालनके विषयमें प्रमाणित की गयी है। इस ईश्वर-सत्ताका स्वरूप क्या है जिसको साधनाके द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं। इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें लिखा है—

'आनन्दमयोऽभ्यासात्'

—ईश्वरकी वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है, जिसको साधनाके द्वारा साधक प्राप्त कर सकते हैं। साधनाके द्वारा ईश्वर कब प्राप्त होते हैं इस विषयमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्' 'तदोकोऽग्र ज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो हार्दानुगृहीतः शताधिकया।'

योगिगण शक्ति, ध्यान, प्रणिधानादिके द्वारा ईश्वरका दर्शन करते हैं। ईश्वरकी साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर जीवका भूला हुआ ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसादसे प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी साधकका हृदयाग्र प्रज्वलित होता है। जिसके प्रकाशसे साधकको निर्गमनद्वार अर्थात् मुक्तिमें प्रवेशद्वार विदित हो जाता है। वह उपासक भगवत्कृपासे पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुम्ना-पथसे निष्क्रान्त हो उत्तरायण या सहज-गतिसे परमधामको प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वराराधनके द्वारा वेदान्तवर्णित निःश्रेयस्-पदवी-प्राप्तिका परम उपाय है। अतः वेदान्त-दर्शनकी आस्तिकता सहजसिद्ध है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

वैदिक दर्शनोंमें ईश्वर-सत्ता-विषयक विचारके द्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञान-भूमिके अनुसार सभी दर्शनोंने ईश्वर-सत्ताको प्रतिपादित किया है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियोंकी क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमोन्नत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदान्तकी अन्तिम भूमिमें आकर पराकाष्ठाको प्राप्त हो गया है। आत्माके इसप्रकार श्रुति, शास्त्र और विचारसम्मत त्रिविध भाव और नित्य शुद्ध-बुद्ध निखिलकारण परम करुणामय स्वरूपकी सम्यक् उपलब्धि होनेपर मुमुक्षु जीवका संसार-बन्धन निरस्त हो जाता है, समस्त संशयजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं और राजयोगीको दुःखलवलेशविहीन नित्यानन्दमय परमपदमें चिरविलीनता प्राप्त हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वेद और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सञ्चालक 'स्वाध्यायमण्डल')

वेदपर विचार करनेवाले युरोपीय और भारतवर्षीय आधुनिक विद्वानोंकी सम्मति है कि 'वेदमें ईश्वर-विषयक विचार नहीं है, क्वचित् नासदीय सूक्तके समान कुछ विचार हैं, परन्तु वे अपवाद हैं। वेदमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थोंकी स्तुति है, परन्तु ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरविषयक कोई विशेष विचार नहीं है।' इन विद्वानोंका यह भी कहना है कि परमात्मविषयक कल्पना वेदसंहिताओंमें नहीं थी, वह उपनिषदोंमें उत्पन्न होकर बढ़ गयी है और सगुण उपासना तो पुराणोंसे ही फैली है।

आधुनिक विद्वानोंकी इस सम्मतिको देखकर जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानोंकी सम्मति देखनेका यत्न करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि 'वेद समस्त विद्याओंका भाण्डार है और उसमें आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तकी सभी विद्याएँ निहित हैं।' उपनिषद् और गीतामें तो स्पष्ट कहा है कि—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
> तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
> तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ ओमित्येतत्।
>
> (कठ० १।२।१५)

'सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं और जिसके उद्देश्यसे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, वह (परमात्माका) स्थान ओंकारसे बोधित होता है।' यहाँ ऐसा स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्र परमात्माका ही वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उपनिषत्कारकी सम्मति इस विषयमें निश्चित है। यही भाव गीतामें भी है—

> वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (१५।१५)

'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मेरा (ईश्वरका) बोध होता है।' जो लोग कहते हैं कि वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, उपनिषद्की और भगवद्गीताकी सम्मति उनके विरुद्ध है।

वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान है या नहीं, इसका जब हम विचार करने लगते हैं, तब हम उपर्युक्त वचनोंको पृथक् नहीं कर सकते। आधुनिक विचारक जिन उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानका वर्णन बतलाते हैं, उन्हीं उपनिषदोंकी यह सम्मति है कि वेदके सभी वचनोंमें एक ही अद्वितीय सत्तत्वका विचार किया गया है। यहाँ एक बात और यह विचारणीय है कि स्वयं उपनिषद् अपने ज्ञानके आविष्कारके प्रसंगमें वेदसंहिताके वचनोंको ही प्रमाणरूपसे आदरणीय मानते हैं। जो लोग उपनिषदोंका अध्ययन करते हैं, उन्हें इस बातका पता है। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्मज्ञानका उपदेश करनेवाले उपनिषद् वेद-मन्त्रोंको ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये वेद-मन्त्रोंमें भी आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वर-विषयक ज्ञान अवश्य होना चाहिये। स्वयं संहिताके मन्त्रमें भी यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

> यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।
>
> (ऋग्वेद १।१६४।३९)

'जो उसको नहीं जानता, वह वेद-मन्त्र लेकर क्या करेगा?' अर्थात् वेद-मन्त्र पढ़नेकी सार्थकता तभी होगी जब उस पढ़नेवालेको (तद् वेद) उस परमपदका ज्ञान होगा। जिसको वह ज्ञान नहीं होगा, उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। इस मन्त्रका विचार करनेपर भी यही स्पष्ट होता है कि वेद-मन्त्रोंकी अन्तिम सिद्धि परमात्मपदका ज्ञान ही है।

इन सब वचनोंपर मनन करनेसे हमें ऐसा स्पष्ट पता चलता है, कि आधुनिक विद्वानोंका यह मत कि वेदमें ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, सर्वथा अशुद्ध है। यहाँ कई पाठक कहेंगे कि 'केवल वचनोंको उद्धृत करनेसे इस पक्षकी सिद्धि कैसे हो सकती है?' यह कहना ठीक है, अतः अब हम वेद-संहिताके मन्त्रोंसे ही ईश्वर-विषयक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका प्रमाणसहित विवरण करते हैं। इस विषयमें सबसे प्रमुख यह वेद-मन्त्र विचार करनेयोग्य है—

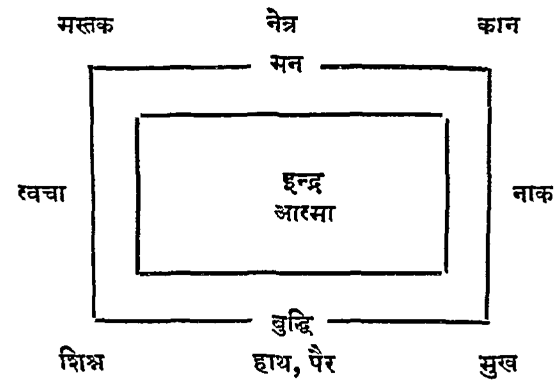
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋग्वेद १ । १६४ । ४६)

'(एकं सत्) सत्य तत्त्व एक ही है, परन्तु (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीतिसे करते हैं, उसी एक तत्त्वको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।' अर्थात् उसी एक आत्मतत्त्वके ये अनेक नाम हैं। एकके अनेक नाम व्यवहारमें भी होते हैं। एक ही मनुष्य पुत्र, पिता, भाई, पति, चचा, मामा, भतीजा आदि नामोंसे पुकारा जाता है और यदि वह अधिकारी हुआ तो उसीको तहसीलदार, जज, दीवान आदि नामोंसे पुकारते हैं। व्यावहारिक नातेसे ये विविध नाम होनेपर भी इन अनेक नामोंसे बोधित होनेवाला मनुष्य एक ही होता है। इसी तरह अग्नि, इन्द्र, पूषा आदि अनेक नामोंसे सम्बोधित होनेवाला एक ही ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश्वर है। नाम अनेक होनेपर भी तत्त्व अनेक नहीं हैं।

'अग्नि, वायु आदि सृष्टिके अन्तर्गत तत्त्वोंकी ही पूजा वेदमें कही है' यह मत उपर्युक्त वेद-मन्त्रद्वारा खण्डित हो जाता है और 'अग्नि आदि अनेक नामोंसे एक ही आत्माका बोध होता है' यह बात सिद्ध हो जाती है। इसपर भी आधुनिक विद्वानोंका यह कथन है कि 'यह मन्त्र अर्वाचीन है, अतः प्रामाणिक नहीं है।' इस कारण अब हम इस विषयपर अन्य रीतिसे विचार करते हैं—

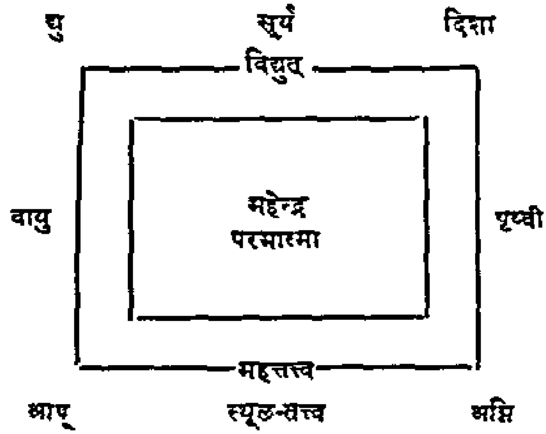
पाठक! 'इन्द्रिय' शब्द जानते हैं; 'इन्द्र' शब्दके साथ शक्तिवाचक 'य' प्रत्यय लगकर (इन्द्र+य) इन्द्रिय शब्द बना है। 'इन्द्रिय' शब्दका मूल अर्थ 'इन्द्रकी शक्ति' है। परन्तु वेद-मन्त्रोंमें तथा भाषामें 'इन्द्रिय' शब्द आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंके लिये प्रयुक्त होता है। क्योंकि इन आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदिसे उनके अन्दर निवास करनेवाले 'इन्द्र'की शक्ति प्रकट होती है। यदि आँख, नाक, कानोंमें 'इन्द्र-शक्ति' कार्य कर रही है तो इससे निःसन्देह यह अनुमान हो सकता है कि इनके पीछे अथवा बीचमें इन्द्रदेव बैठा है। यदि इनके पीछे इन्द्रदेव न होता, तो इनमें इन्द्र-शक्ति कहाँसे आती और इनका इन्द्रिय नाम भी कैसे सार्थक होता? अतः यह निःसन्देह सत्य है कि इन आँख, नाक, कान आदिके पीछे इन्द्रदेव विराजमान हैं, देखिये—



इसी प्रकार यहाँ पाठक अन्यान्य इन्द्रियोंकी भी कल्पना कर सकते हैं। इन्द्रदेवकी शक्ति प्रथम बुद्धिमें आती है और वहाँसे मनमें तथा मनसे इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है। इस विचारसे सिद्ध होता है कि इन्द्र-देवता अपने अन्दर है और उसकी शक्ति अपनी इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है। यह इन्द्रदेव हमारा 'आत्मा' ही है। वेदके मन्त्रोंमें जो इन्द्रदेवताका वर्णन है वह इसी आत्माका वर्णन है। और जो आत्माका वर्णन है वही परमात्माका वर्णन होता है; क्योंकि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश इन तीनों आकाशोंमें वस्तुतः एक ही आकाश है, अतः किसी भी आकाशका वर्णन किया जाय—वह उस एक ही आकाशका वर्णन होता है, इसी तरह—

जीवात्मा	परमात्मा
इन्द्र	महेन्द्र
देव	महादेव
ब्रह्म	परब्रह्म, ज्येष्ठब्रह्म
ईश	ईश्वर, परमेश्वर
पुरुष	पुरुषोत्तम
नर	नारायण
रुद्र	महारुद्र
जीव	शिव

इत्यादि शब्द-प्रयोगोंमें विभिन्न वस्तुका वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक ही सर्वगत स्थाणु आत्माका वर्णन है। अतः अपनी इन्द्रियोंके पीछे जो 'इन्द्र' है वही इन्द्र किंवा महेन्द्र, अग्नि आदि देवताओंके पीछे है, देखिये—



यहाँ भी पाठक अन्यान्य देवताओंकी कल्पना कर सकते हैं। शरीरमें इन्द्र है और सृष्टिमें महेन्द्र है, शरीरमें आत्मा है और सृष्टिमें परमात्मा है, शरीरमें देव है और जगत्में महादेव है, शरीरमें ईश है और जगत्में परमेश्वर है। यहाँ जो छोटे-बड़ेका भाव है वह अज्ञ जनोंके बोधके लिये है, वस्तुतः इनमें भेद नहीं है क्योंकि दोनों स्थानोंमें एक ही तत्त्व है, इसका वर्णन भगवद्गीतामें इसप्रकार है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
(गीता २ । २४)

'यह आत्मा नित्य (सर्वगतः) सर्वव्यापक (स्थाणुः) सर्वाधार अचल और सनातन है।' ऐसी स्थितिमें यदि हमने अपनी सुबोधताके लिये शरीरव्यापी आत्माका नाम 'जीवात्मा' किंवा 'इन्द्र' रख लिया और जगद्व्यापक आत्माका नाम 'परमात्मा' किंवा 'महेन्द्र' रक्खा तो उस मूल एक तत्त्वमें कौन-सा भेद हो गया? अस्तु।

इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जो इन्द्र-देवताका वर्णन है, वह निःसन्देह इसी एक आत्मतत्त्वका ही वर्णन है। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है, पिण्ड-ब्रह्माण्डका न्याय एक ही है और इसी न्यायसे परमेश्वरका ज्ञान हो सकता है। वेद-मन्त्रोंमें इसी रीतिसे परमेश्वरका ज्ञान दिया गया है। किसीको सन्देह न हो इसलिये यह बात वेदने ही स्पष्ट कर दी है; देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
(अथर्ववेद १० । ७ । १७)

'जो पुरुषमें अर्थात् मनुष्यके शरीरमें ब्रह्म देखते हैं वे परमेष्ठीको भी जान सकते हैं।' अर्थात् मनुष्यके शरीरमें जो आत्मा, ब्रह्म अथवा इन्द्रका साक्षात्कार करते हैं वे समष्टि-जगत्में परमात्मा, परब्रह्म किंवा महेन्द्रको जान सकते हैं क्योंकि पिण्ड-ब्रह्माण्डका एक ही नियम है।

इस विवेचनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि वेदका इन्द्र देवता किस तरह परमेश्वरका बोध करता है और साथ ही जीवात्माका भी वर्णन करता है। जो लोग इस तरह वेदका अध्ययन करेंगे, वे ही वेद-मन्त्रोंमें सर्वत्र परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे। आधुनिक लोग केवल शब्दका ऊपरी अर्थ देखते हैं, अतः वे वेद-मन्त्रोंके मुख्यार्थसे वञ्चित रह जाते हैं। शरीरमें जीवात्मा है, इतना ज्ञान होनेसे ही जगत्में परमात्मा है यह ज्ञान हो जाता है। इस तरह इन्द्र देवतासे जीवका और ईश्वरका ज्ञान होता है। जो कहते हैं कि इन्द्र देवता किसी अन्य पदार्थका बोध कराता है, वे गलतीपर हैं। व्याकरणाचार्य भगवान् पाणिनि मुनिने भी 'इन्द्रिय' शब्दकी सिद्धि करते हुए कहा है—

इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा॥
(अष्टा० ५ । २ । ९३)

इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुरनुमानात्।
(कौमुदी)

'इन्द्र नाम आत्माका है, यह आत्मा अन्दर है ऐसा अनुमान इन्द्रियव्यापार देखनेसे होता है, क्योंकि यह इन्द्रने किया है, बनाया है और वही इससे कार्य करता है।' इस सूत्रके देखनेसे सिद्ध होता है कि 'इन्द्र' शब्दका जो अर्थ हमने कहा है वह ऋषिसम्मत है। अतः वेदका इन्द्र देवता शरीरस्थित स्थायी जीवात्माका और सृष्टिव्यापक परमात्माका समानतया बोधक है। उदाहरण देखिये—

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्
अरान्न नेमिः परि ता बभूव॥
(ऋग्वेद १ । ३२ । १५)

'इन्द्र स्थावर-जङ्गम-जगत्का राजा है, वही प्रभु शान्त और सींगवाले मारक पशुओंका भी स्वामी है। सब प्रजाओंका वही एक राजा है। जिस तरह नेमिके चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार उस प्रभुके चारों ओर यह विश्व है।' इसप्रकारके मन्त्रोंमें इन्द्र शब्द परमात्मा किंवा परमेश्वरका वाचक है। अब जीवात्माके विषयमें देखिये—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ॥
(ऋग्वेद १० । ४८ । ५)

'मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं होता, यह धन मेरे पास ही रहता है, मैं कभी नहीं मरता, मैं अमर हूँ।' यह वर्णन शरीरमें रहनेवाले प्रबुद्ध जीवात्माका है। यहाँ पाठक इस बातको ध्यानमें रक्खें कि आज जो जीव है, वही कालान्तरमें उन्नत होता हुआ शिव बन जाता है। आज जो छोटा इन्द्र है, वही एक दिन महेन्द्र बनेगा, आज जो बद्ध है वही मुक्त होगा। इसीलिये जीवात्मा और परमात्माके नाम एक ही वेदमें आये हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदि नाम इसी कारण वेदमें इन दोनोंके हैं। पिता-पुत्रके नाम एक होना ही सिद्ध करता है कि जो आज पुत्र है वही कुछ समय व्यतीत होनेके पश्चात् पिता बनेगा। प्रत्येक पुत्र पिता होनेका अधिकारी है, इसी तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनेगा, प्रत्येक इन्द्र महेन्द्र होगा, प्रत्येक जीव शिव होगा और प्रत्येक पुरुष कभी-न-कभी पुरुषोत्तम हो जायगा। इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जैसा पुरुषका वर्णन है वैसा ही पुरुषोत्तमका भी वर्णन है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि 'सब वेदोंसे ईश्वरका ही वर्णन होता है।' (गीता १५। १५) यहाँतक जो विवेचन किया गया है उससे यह वैदिक वर्णनकी शैली सुस्पष्ट हो जायगी।

अब विशेष स्पष्टीकरणके लिये अग्निदेवका थोड़ा-सा वर्णन देखते हैं—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता।
(ऋग्वेद ६ । १ । १)

'हे अग्ने! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहला मननकर्ता है और हे (दस्म) दर्शनीय अग्ने! तू (धियः होता) बुद्धिका प्रदाता है।' यहाँ सायणाचार्य 'मनोता' शब्दका अर्थ 'मनः यत्र ऊतं सम्बद्धं भवति' ऐसा करते हैं। जहाँ मन सम्बद्ध हुआ होता है वह मनोता है। इन्द्रियाँ मनमें और मन आत्मामें संबद्ध होता है, यह बात प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरणका विचार करके जान सकता है। इसी प्रकार बुद्धिका दाता यहाँ आत्मा ही है। इसलिये यह वर्णन जीवात्मपरक है। यही विषय ऐतरेयब्राह्मणमें अधिक स्पष्ट किया गया है। अब वह भाग देखिये—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति।…तिस्रो वै देवानां मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि। वाग्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि। गौर्वै देवानां मनोता……अग्निर्वै देवानां मनोता……।' (ऐ० ब्रा० २। १०)

'देवोंके तीन मनोता हैं, वाक् देवोंका मनोता है क्योंकि उसमें देवोंका मन सम्बन्धित हुआ होता है। गौ और अग्नि ये दूसरे दो मनोता हैं।' यहाँ जो वाणीको मनोता कहा है, उससे शरीरान्तर्गत जीवात्माके साथ इस मन्त्रका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इसी विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव अनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥ (ऋग्वेद ६ । ९ । ४)

'यह पहिला हवनकर्त्ता अग्नि मरणधर्मवाले मनुष्योंमें अमर ज्योतिरूप है। यह (अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः) अमर होता हुआ भी शरीरके साथ बढ़ता है और इस जीवनरूप यज्ञमें स्थिर है।' यहाँ मर्त्य-शरीरोंमें जो अमर आत्माकी ज्योति है, उस आत्माग्निका ही वर्णन है। मनुष्यका जीवन-रूप शतसांवत्सरिक यज्ञ चल रहा है और इस जीवनयज्ञमें यही आत्मज्योतिरूप अमर आत्माग्नि प्रदीप्त है। श्रीसायणाचार्य इस मन्त्रका अर्थ (मर्त्येषु…शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते) 'मरनेवाले शरीरमें अमरज्योति उदरमें पाचक-शक्तिरूपसे है।' ऐसा करते हैं। तात्पर्य, यहाँका अग्नि आग नहीं है, परन्तु मर्त्य-शरीरोंमें जो अमर सत्य तत्त्व है, वही है। अब 'अग्नि' शब्दसे परमेश्वरका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें देखिये—

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्
पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋग्वेद १ । २४ । २)

'हम (अमृतानां प्रथमस्य अग्नेः) अमर देवोंमें पहले अग्निदेवका (चारु नाम) सुन्दर नाम (मनामहे) मनमें लाते हैं। वही हम सबको प्रकृतिमें (पुनः दात्) पुनः-पुनः डालता है और जिससे हम अपने माता-पिताको बारम्बार देख सकते हैं।'

यहाँ सम्पूर्ण अमर देवोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाले अग्निदेवका वर्णन है, यह अग्निदेव जीवात्माको पुनर्जन्मका योग करता है। यह निःसन्देह परमेश्वर है। अतः उसके नाम-स्मरण करनेका उल्लेख है। यहाँ कई पाठक प्रश्न

वैदिक संहिताओंमें ईश्वर या पुरुष

(लेखक—श्रीमंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल, आक्सन)

वैदिक साहित्यमें और विशेषकर वैदिक-संहिताओंमें ईश्वरवाद—इस विषयपर विचार करते हुए सबसे पहली बात, जो बहुतसे लोगोंको अजीब-सी प्रतीत होगी, यह है कि केवल वैदिक संहिताओंमें ही नहीं, किन्तु वैदिक साहित्यभरमें 'ईश्वर' शब्द रूढि रूपसे परमेश्वरके अर्थमें कहीं भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। यही नहीं, धर्म-सूत्रों, पाणिनिमुनिकी अष्टाध्यायी, व्याकरण-महाभाष्य और कौटिल्यके अर्थशास्त्रके विषयमें भी यही बात है। जहाँतक हम कह सकते हैं, यह शब्द उक्त अर्थमें सबसे पहले एक दो बार मनुस्मृतिमें तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है। महाभारत और रामायणमें यदि इसका प्रयोग मिले तो भी कोई बात नहीं, क्योंकि वे वैदिक साहित्यके अन्तर्गत नहीं हैं।

इसका विस्तार हम यहाँ नहीं करना चाहते। इस विचारको हम किसी दूसरे लेखके लिये स्थगित रखते हैं। इस लेखमें हमारा सम्बन्ध 'ईश्वर' शब्दसे उतना नहीं है जितना उसके आजकलके प्रचलित अर्थसे। इस दृष्टिसे यदि हम वैदिक संहिताओंको लेकर देखते हैं तो दो चार ही शब्द ऐसे मिलते हैं जो परमेश्वरके व्यापक और महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त हुए कहे जा सकते हैं। वैदिक देवताओंमें अधिकतर (अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, विष्णु, रुद्र आदि) ऐसे ही हैं जिनका स्थान और कर्म नियत है। दूसरे शब्दोंमें हम उन्हें कार्मिक (Functional or Departmental) तथा स्थानिक (Local) देवता ही कह सकते हैं। तभी तो निरुक्तमें यास्क मुनिने कहा है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वा इन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। (७।५)

उपासक या स्तोता स्तुति करते हुए उनका कितना ही बढ़ाकर वर्णन करे, उनमेंसे, वास्तवमें कोई भी 'परमदेव' या 'परमेश्वर' नहीं कहा जा सकता।

हाँ, वेदान्तके अर्थमें ब्रह्मका और 'परम पुरुष' (या विराट् पुरुष)के अर्थमें पुरुषका वर्णन, चारों संहिताओंको मिलाकर, बहुत ही थोड़े सूक्तोंमें आया है। यह वर्णन बड़े महत्त्वका है। इनमेंसे ब्रह्मका विचार इतना गूढ़ है कि वह सर्वसाधारणके 'परमेश्वर'का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। विद्वान् ही उसे पहचान या समझ सकते हैं। वास्तवमें वह निर्गुण है।

पुरुषका वर्णन ऐसा नहीं है। उसका वैदिक वर्णन बहुत कुछ परमेश्वरका वर्णन कहा जा सकता है। वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओंमें परमेश्वरका वाचक मुख्य शब्द 'पुरुष' है। भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें इसी अर्थमें 'पुरुषोत्तम' शब्द आया है। इसलिये इस लेखमें हम इसी शब्दको लेकर विचार करना चाहते हैं।

चारों संहिताओंमें लगभग ८० सूक्तोंमें 'पुरुष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिन सूक्तोंमें मनुष्यके अर्थको छोड़कर परम पुरुष या विराट् पुरुषके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है उनमेंसे प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' सबसे मुख्य है। 'पुरुष सूक्त'की परम प्रसिद्धिका कारण भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

'पुरुष सूक्त' थोड़े-बहुत पाठान्तरों तथा कुछ कम या अधिक मन्त्रोंके साथ सामवेदकी संहिताको छोड़कर शेष तीनों संहिताओंमें आया है। तो भी शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिताका ही पुरुष-सूक्त सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसलिये इस लेखके लिये उसीको हमने अपना आधार माना है। इस संहिताका यह ३१ वाँ अध्याय है। यहाँ हमारा अभिप्राय सारे सूक्तके अनुवादके देनेसे नहीं है। पुरुष विषयक मुख्य-मुख्य विचारोंको ही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं। विस्तारके भयसे यहाँ हम ऊपर शीर्षकके साथ तद्द्योतक मन्त्र या मन्त्रावयवको देकर उसके भावार्थको देना ही पर्याप्त समझेंगे। इसप्रकार पुरुष-सूक्तको समाप्त करके हम इसी अर्थमें पुरुषको वर्णन करनेवाले अन्यान्य वैदिक स्थलोंका भी संक्षेपमें दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

प्रथम, पुरुष-सूक्तको लीजिये।

विराट् पुरुषका रूप अति महान् है

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥



भगवान्—शक्तिरूपमें

अर्थात्—अनेकानेक शिरों, चक्षुरादि इन्द्रियों और पैरोंवाला वह महान् पुरुष ब्रह्माण्डरूपी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके उसके बाहर भी अवस्थित है।

वह सबका कारण और स्वामी है

पुरुष एवेद॑ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

अर्थात्—यावत् अतीत, वर्तमान और भविष्य पदार्थ हैं वे सब पुरुष ही हैं। अर्थात् पुरुषसे उत्पन्न हुए हैं। वह ही अमृतत्वका तथा बढ़नेवाले पदार्थोंका स्वामी है।

पुरुषकी महिमा लोकातीत है

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थात्—यह सारा ब्रह्माण्ड पुरुषकी महिमा है। पर वह स्वयं इससे भी बड़ा है। सारे पदार्थ उसके केवल एक चतुर्थांशके समान हैं। उसके अविनाशी तीन चतुर्थांश इस ब्रह्माण्डसे बाहर प्रकाशमान् स्वरूपमें अवस्थित हैं।

पुरुष ज्ञानका स्रोत और जगदुत्पादक है

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दा॑ँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

अर्थात्—उसी यजनीय परम पुरुषसे घृतादि यावत्-भोग्य पदार्थ तथा वायुपर आश्रित जंगली तथा ग्रामीण पशु—जैसे अश्व, गायें, मेंड़ और बकरियाँ—उत्पन्न हुए। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अन्य छन्द भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं।

मनुष्य-समाजके अंग पुरुषके अंग-स्थानीय हैं

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या॑ँ शूद्रोऽजायत॥

अर्थात्—उस पुरुषके ब्राह्मण मुखरूप, क्षत्रिय बाहुरूप, वैश्य ऊरुरूप और शूद्र पादस्वरूप हैं।

उसके ज्ञानको छोड़कर मृत्युको पार करनेका अन्य उपाय नहीं है

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात्—उसी प्रकाशस्वरूप पुरुषको जानकर मनुष्य मृत्युको उल्लंघन कर सकता है। मृत्यु या संसार-सागरको पार करनेका दूसरा मार्ग नहीं है।

वही देवोंका देव या महादेव है

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातः ... ...॥

अर्थात्—वही पुरुष देवताओंके लिये प्रकाश करता है। वही उनका नेता है। वह देवताओंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी मौजूद था। ... ...

ऊपर पुरुष-सूक्तसे पुरुष-विषयक मुख्य-मुख्य विचारोंको ही हमने दिखलाया है। शुक्ल-यजुर्वेदके अगले (३२वें) अध्यायमें भी पुरुषका ही वर्णन है। उस अध्यायसे भी दो-चार मन्त्रोंको लेकर हम यहाँ दिखाना चाहते हैं।

पुरुष त्रिकालातीत है

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥

अर्थात्—सब निमेष (या काल) पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं। कोई इसके किसी छोरको नहीं देख सकता।

पुरुषकी प्रतिमा नहीं हो सकती

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
... ...॥

अर्थात्—उस पुरुषकी, जिसका यश महान् है, प्रतिमा (या उपमा) नहीं हो सकती।

पुरुष सर्वत्र व्यापक है

... स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥

अर्थात्—वह पुरुष प्रजाओंमें ओतप्रोत है और व्यापक है।

पुरुषके साथ हमारा सम्बन्ध

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
... ...॥

अर्थात्—वह परम-पुरुष हमारा बन्धु है, वह हमारा उत्पादक है। वही सब ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है और सब पदार्थों और स्थानोंको जानता है।

पुरुष शब्दका अर्थ

परमात्माके अर्थमें पुरुषका जो वर्णन वैदिक संहिताओं-

के दो-चार सूक्तोंमें आया है उसका सार हमने ऊपर दिया है। अब देखना है कि पुरुष शब्दका यह अर्थ किस आधार-पर किया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण (१३।६।२।१) में इसप्रकार 'पुरुष' शब्दका निर्वचन किया है—

इमे वै लोका: पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुष:।

अर्थात्—त्रिलोकीरूपी पुरीमें व्याप्त होनेके कारण ही वह 'पुरुष' कहलाता है।

पर अथर्ववेद (१०।२।२८-३३) के देखनेसे प्रतीत होता है कि यही मनुष्यका शरीर वह पुरी है जिसमें रहनेसे उसको पुरुष कहते हैं। नीचेके मन्त्रों या मन्त्रा-वयवोंमें मनुष्य-शरीरको, बाइबिलके 'देवगृह' या (Temple of God) के ही अर्थोंमें स्पष्टतया परमात्माकी पुरी कहा है और यह ठीक भी है; क्योंकि भगवान्‌के दर्शन अपने हृदयमें ही होते हैं। उक्त मन्त्र या मन्त्रावयव यह हैं—

.. ... सर्वा दिश: पुरुष आबभूव।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्या: पुरुष उच्यते॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत:॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

उसी परमपुरुष अकालपुरुष या पुरुषोत्तमके लिये हमारा बार-बार नमस्कार है।

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके अनुसार ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—श्रीयुत श्रीधर मजूमदार एम० ए०)

परिच्छिन्न जीवात्माके लिये यह अत्यन्त कठिन ही नहीं, वरं असम्भव है कि वह अपरिच्छिन्न समष्टि-चेतन अथवा ब्रह्मके स्वरूपको सहसा यथार्थरूपमें समझ सके, फिर शब्दोंद्वारा उसके वास्तविक वर्णन करनेकी तो बात ही कौन-सी है? महर्षि व्यास-प्रणीत ब्रह्मसूत्रोंपर अनेक आचार्योंने भाष्य लिखे हैं और उनमेंसे प्रत्येकने ब्रह्मके स्वरूपका जो वर्णन किया है, वह देखनेमें एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न प्रतीत होता है। परन्तु उनमेंसे प्रत्येकने ही श्रुतिके प्रमाणोंका आश्रय लेकर अपने-अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। श्रुतियोंमें जो ज्ञान भरा हुआ है वह प्राचीन तत्त्ववेत्ता महर्षियोंके साक्षात् अनुभवका फल है। अत: उनमेंसे किसीके भी निर्णयपर शंका करना श्रुतियोंपर शंका करना है जिसे आस्तिक विद्वान् पाप समझते हैं, क्योंकि श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वदर्शी ऋषियोंका आन्तरिक अनुभव भरा हुआ है जो उन्होंने स्वतन्त्र विचार एवं साधन-से प्राप्त किया था। निम्नलिखित श्रुतिको ध्यानमें रखनेसे ये सारे मतभेद दूर हो सकते हैं—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥

अर्थात् वह ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्ति-स्वरूप, अविनाशी, अखिल सृष्टिका कारण, अद्वितीय, सर्व-व्यापक, चिदानन्द-स्वरूप, आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित, अलक्ष्य एवं अद्भुत है।

प्रत्येक भाष्यकारने ब्रह्मके उसी स्वरूपका वर्णन किया है जो उसके ध्यानमें आया, अत: हम उसे पूर्ण नहीं कह सकते, प्रत्येक भाष्यकारके साथ निष्पक्ष रहते हुए हम यह नहीं कह सकते कि अमुक भाष्यकारने ब्रह्मका जो स्वरूप बतलाया है वही पूर्णतया ठीक है और अन्य भाष्यकारों-का निरूपण ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे श्रुतिके प्रमाणमें विरोध आयेगा जो प्राचीन तत्त्ववेत्ता महर्षियोंके आन्तरिक अनुभवकी सुदृढ भित्तिपर स्थित है। ब्रह्मके सम्बन्धमें महर्षियोंका जो इसप्रकारका आन्तरिक अनुभव है, उसका आध्यात्मिक जगत्‌में उतना ही आदर है जितना वैज्ञानिक जगत्‌में अपने हाथोंद्वारा किये हुए प्रयोगोंका है। अन्तर केवल इतना ही है कि ऋषियोंके अनुभवमें, जिसे दिव्य ज्ञान (Revelation) कहते हैं, भ्रान्तिका लेश भी नहीं होता। अत: उपर्युक्त कारणोंसे हमें यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपमें भिन्न-भिन्न

भाष्यकारोंद्वारा निरूपित सारे स्वरूपोंका समन्वय हो जाता है और कुछ शेष भी रह जाता है जो अचिन्त्य, अव्यक्त एवं अतर्क्य है।

जगत्प्रसिद्ध महान् दार्शनिक स्वामी शंकराचार्यके द्वारा निरूपित अद्वैत्-सिद्धान्तमें ब्रह्मका स्वरूप मायातीत अर्थात् शुद्ध बतलाया गया है, उनका सिद्धान्त वास्तवमें बहुत ऊँचा है। वह सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि इस दृश्यमान् जगत्-से आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है और ब्रह्मके जिस अंशमें माया है वह मायातीत (शुद्ध) अंशके मुकाबलेमें बिल्कुल तुच्छ है (देखिये छान्दोग्योपनिषद् ३-१२-६)।*

भक्त आचार्य श्रीरामानुजने अपने विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तमें ब्रह्मका विश्वव्यापी रूप ही लिया है और ब्रह्माण्ड-को उसका विग्रह मानकर यह बताया है कि हमारा काम संसारके बिना नहीं चल सकता।† भक्तिरसमें डूबे हुए आचार्य श्रीमध्वने द्वैतका आश्रय लेकर ब्रह्मको सृष्टि-कर्ता और इस दृश्यमान् जगत्को उसका कार्य माना है। यह सिद्धान्त भी आपेक्षिक दृष्टिसे ठीक ही है। शान्तिप्रिय श्रीनिम्बार्का-चार्यने किसी दूसरे भाष्यकारका खण्डन न करते हुए द्वैत एवं अद्वैत दोनोंको ठीक माना है, इसीलिये उनका मत द्वैताद्वैत-सिद्धान्तके नामसे विख्यात है। वे ब्रह्मके माया-तीत (शुद्ध) एवं माया-विशिष्ट दोनों रूपोंको दृष्टि-भेदसे ठीक मानते हैं।

उपर्युक्त समस्त भाष्यकारोंने वेदान्तका आश्रय लिया है। अतः हम सभी आचार्योंके चरणोंमें सादर प्रणाम करते हैं एवं यह मानते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपका जैसा-जैसा वर्णन उन्होंने किया है वह सभी वास्तवमें ठीक एवं समानरूपसे मान्य है, क्योंकि श्रुति कहती है कि ब्रह्म हमारे अनुभवका विषय है, तर्कका नहीं। अपनी परिमित बुद्धिके चश्मेसे ये भिन्न-भिन्न निरूपण चाहे हमें परस्पर-विरोधी प्रतीत हों, किन्तु वे सभी पूर्णरूपसे ब्रह्मपर घटते हैं जो दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।

वेदान्तका किसी मतके साथ विरोध नहीं है। वह तो हमें उस सार्वभौम धर्मकी शिक्षा देता है जिससे जगत्के सारे धर्मोंकी सृष्टि हुई है।

प्रत्येक व्यष्टि-चेतन (जीव) के लिये यह सम्भव नहीं कि वह सहसा समष्टि-चेतन (ब्रह्म) के स्वरूपकी झलक पा सके। इसीलिये वेदान्तने अधिकार-भेदसे कई सीढ़ियों-की कल्पना की है, जिनमें द्वैतवादको प्रारम्भिक सीढ़ी और अद्वैतवादको, जिसमें सबका समावेश हो जाता है, अन्तिम सीढ़ी माना है। द्वैतसिद्धान्तमें भी साधककी रुचिके अनुसार भगवद्-भक्ति एवं ईश्वरोपासनाके दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि कई प्रकार माने गये हैं और वेदान्तको वे सभी मान्य हैं, क्योंकि उसके मतमें सभी मार्ग उस एक लक्ष्य—ब्रह्मकी प्राप्तिकी ओर ही ले जानेवाले हैं।

गोपालको भजो

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवरके सबै पात झरि जैहैं॥१॥
घरके कहैं बेग ही काढ़ो भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतमसे प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरैहैं॥२॥
कहँ वह ताल कहाँ वह सोभा, देखत धूर उड़ैहैं।
भाई-बन्धु कुटुंब-कबीला, सुमिरि-सुमिरि पछतैहैं॥३॥
बिना गुपाल कोउ नहिं अपना जस कीरति रहि जैहैं।
सो तो सूर दुर्लभ देवनको, सतसंगतिमें पैहैं॥४॥

—सूरदासजी

* तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥

† अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

वेदमें ईश्वर

(लेखक—प० श्रीक्षेत्रेशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय, प्रयाग विश्वविद्यालय)

वेदमें ईश्वरका स्वरूप क्या है यह जाननेके पहले हमें समझना चाहिये—वेद क्या है, उसकी अवधि कहाँतक है ? कारण यह है कि सम्पूर्ण वेदका समन्वय[1] करनेपर ही हम ईश्वरका वैदिक स्वरूप ठीक ठीक समझ सकते हैं, अन्यथा एकदेश मात्रका ग्रहण करनेसे हमें उसके सच्चे रूपका पता नहीं लगेगा।

हमारे प्राचीन आचार्य 'वेद' पदसे मन्त्र और ब्राह्मण-को[2] लेते हैं। ब्राह्मण प्रधानतया मन्त्रोंका व्याख्यान है। ब्राह्मण वैसा ही वेद है जैसा कि मन्त्र। वेदकी कुछ शाखाओंमें मन्त्रांश और ब्राह्मणांश भिन्न ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। यथा—शुक्ल-यजुर्वेदके मन्त्र हैं वाजसनेय-संहितामें, और उन मन्त्रोंके ब्राह्मण हैं शतपथ ब्राह्मणमें। परन्तु कृष्ण-यजुर्वेदमें मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ पाये जाते हैं।[3] यथा—काठकसंहिता, मैत्रायणीयसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता। ब्राह्मणोंमें[4] और दो प्रकारके ग्रन्थ पाये जाते हैं, आरण्यक और उपनिषद्। श्रुति या वेदकी अवधि उपनिषद्तक है। दूसरी दृष्टिसे वेदके दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डसे प्रधानतया उपनिषदोंको और कर्मकाण्डसे वेदका अवशिष्ट अंश समझना चाहिये। उपनिषदोंका और एक नाम है वेदान्त, अर्थात् चरमज्ञान। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें यद्यपि उद्देश्यका भेद है, तथापि परमार्थमें भेद नहीं है। कारण, ज्ञानस्वरूप वेदमें आत्मविरोध नहीं रह सकता, अतएव वेदमें ईश्वरका स्वरूप कैसा बताया गया है यह समझनेके लिये मन्त्र संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सबका उपयोग करना चाहिये। इस प्रबन्धमें सम्पूर्ण वेदका उपयोग किया जायगा। परन्तु अधिक ध्यान मन्त्र और ब्राह्मणके ऊपर ही रहेगा।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि वेदमें देवताओंका नाम या स्तुति नहीं है, जो कुछ स्तुति है सब ईश्वरकी ही है। ये लोग 'अग्नि', 'इन्द्र' इत्यादि पदसे उन नामके देवताओंको न लेकर परमेश्वरको ही लेते हैं। परन्तु श्रुति स्वयं इस बातका विरोध करती है। देखिये—

ऋक्संहिता १-१-४, 'हे अग्नि! तुम जिस हिंसारहित यज्ञको चारों ओरसे घेरे हो, वह यज्ञ देवोंके पास पहुँचता है'।[5]

ऋ०सं० १-२४-१ 'अमरोंमें मैं अब किस देवताका सुन्दर नाम लूँ। मुझे कौन अब पृथ्वीपर लौटा देगा, जिससे कि मैं पुनः अपने माता-पिताको देख सकूँ'।[6]

यहाँ भिन्न देवोंका उल्लेख बहुवचनसे किया गया है। माध्यन्दिनसंहिता १-१०-१ 'सवितृ देवकी प्रेरणासे अश्वि-देवोंके बाहुसे पूषाके हस्तसे अग्निके लिये तुम प्रिय हविःको मैं ग्रहण करता हूँ'।[7]

यहाँ सविता, अश्विकुमारद्वय, पूषा और अग्नि इन देवोंमें भेद किया गया है।

इन देवताओंकी स्तुति ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयके लिये की गयी है। ये देवता, जगत्की सृष्टि करना,

---

१ देखिये ब्रह्मसूत्र १-१-४ 'तत्तु समन्वयात्'।

२ आपस्तम्ब यज्ञ-परिभाषा-सूत्र १-३१ 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' महामुनि जैमिनिका भी यही मत है। 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इस सूत्रमें (पू० मी० सू० २। १। ३२) मन्त्रका लक्षण देकर आपने कहा है कि वेदका अवशिष्ट अंश ब्राह्मण है—'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२। १। ३३)।

३ यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथापि उसमें तैत्तिरीयसंहिताकी तरह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों पाये जाते हैं।

४ कहीं मन्त्रसंहितामें, यथा वाजसनेय-संहितामें ईशोपनिषद्।

५ अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥

६ कस्य नूनं कतमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्
पितरं च दृशेयं मातरं च॥

७ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामि॥

अथवा सृष्ट जगत्का यथावत् संनिवेश करना आदि नाना प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न हैं।

ऋ० सं० १–१५४–१ 'मैं अब विष्णुकी शक्तियोंकी महिमा गाऊँ, जिन्होंने पृथ्वीलोकका पूरा विस्तार नाप दिया है। इत्यादि।'[८]

श्रुति भिन्न-भिन्न देवोंका उल्लेख करके ही चुप नहीं रहती है। वह यह भी बतलाती है कि ये सब देवता वास्तवमें एक ईश्वरके ही रूप हैं। देखिये—

ऋ० सं० १–१६४–४६ 'ज्ञानी लोग एक सत् (अर्थात् ब्रह्म) को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि बहु नामसे कथन करते हैं।'[९]

इससे यह सिद्ध होता है कि देवता तो बहुत हैं परन्तु उन सबके पीछे परमार्थमें ईश्वर एक ही है, जिसके गुण, जिसकी महिमा अन्यान्य देवोंमें संक्रान्त हैं। उपनिषदोंमें ईश्वरको जगत्का स्रष्टा बताया गया है।[१०] मन्त्रोंमें जहाँ कहीं कोई देवता सृष्टि-व्यापारसे संसृष्ट पाया जाता है, वहाँ यही समझना चाहिये कि परमार्थमें ईश्वर ही स्रष्टा है। सामवेदके केनोपनिषद्में यह कहा गया है कि ब्रह्मकी ही शक्तिसे उसीकी प्रेरणासे हम मनका प्रयोग करते हैं, श्वास लेते हैं, बोलते हैं, सब कार्य करते हैं; देवता लोग भी ब्रह्मकी शक्तिसे ही अपना कार्य करते हैं।[११] उपनिषद् और मन्त्र-वाक्योंका समन्वय करनेसे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही जगत्का स्रष्टा है और सब शक्तियोंका मूल है।

श्रुति इससे भी आगे बढ़ जाती है। केवल सब देवता ही ईश्वरके रूप नहीं हैं, सारा संसार ईश्वरसे अभिन्न है। पुरुष-सूक्तमें कहा गया है पुरुष अर्थात् ईश्वर ही सब कुछ है।[१२] उपनिषदोंके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है), 'तत्त्वमसि' (जीव और ब्रह्म एक है) इत्यादि वाक्योंका यही तात्पर्य है। ऋक्-संहिताके प्रसिद्ध देवी-सूक्त (१०।१२५) में ब्रह्म और आत्माका ऐक्य माना गया है। इसी कारणसे वहाँ कहा गया है कि एक ही आत्मा रुद्र, वसु प्रभृति सबमें अनुगत रहता है, वह सभी कर्म करता है, सभी कुछ वह है। ऋक्-संहिताके चतुर्थ मण्डलके २६ वें सूक्तमें भी यही बात पायी जाती है। वहाँ वामदेव कहता है कि मैं ही मनु हुआ था, मैं ही सूर्य इत्यादि।[१३] अतएव उपनिषदोंमें कथित जीव और ब्रह्मका ऐक्य मन्त्रोंके साथ पर्याप्त रूपसे मेल खा जाता है। यही ईश्वर या जगत्के सम्बन्धमें श्रुतिका चरम सिद्धान्त है।

अब ईश्वरका वैदिक रूप क्या है, हमें यह जानना चाहिये। ब्राह्मणोंमें और कहीं-कहीं मन्त्र-संहिताओंमें ईश्वर 'प्रजापति' नामसे पुकारा गया है। वहाँ प्रजापति अनिरुक्त, अर्थात् कथनसे बाहर कहा गया है।[१४] इसका अर्थ यह है कि प्रजापतिका रूप दुर्ज्ञेय है। इसका हम उपनिषदोंके साथ मिलान करें तो यह समझमें आ जायगा कि अनिरुक्त प्रजापति निर्विशेष ब्रह्म ही है।[१५] यही

---

८ विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि। इत्यादि

९ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

१० यथा छान्दोग्य उपनिषद्, षष्ठ प्रपाठक, द्वितीय खण्ड; तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक।

११ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ के० उ० १।१–२॥

देवता लोग भी ईश्वरहीकी शक्तिसे शक्तिमान् हैं, इसके लिये इस उपनिषद्का द्वितीय खण्ड देखिये।

१२ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ऋ० सं० १०। ९०। २, मा० सं० ३१। २ इत्यादि

१३ देखिये ब्रह्मसूत्र १।१।३० 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' और उसपर श्रीशङ्कराचार्यजीका भाष्य।

१४ माध्यन्दिन-संहिता १।६।१, शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।१३ इत्यादि।

१५ बृहदारण्यक-उपनिषद् ४।२।४, 'स एष नेति नेतीत्यात्मा' छान्दोग्य-उपनिषद् ६।१२।२, 'तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति' का भी यही अर्थ है। ब्राह्मणोंके 'अनिरुक्त' प्रजापतिका अर्थ कैसे 'निर्विशेष' ब्रह्म है यह दिखानेके लिये एक स्वतन्त्र लेखकी अपेक्षा है।

निर्विशेष, सब गुणोंसे अतीत रूप ही ईश्वरका पारमार्थिक रूप है और व्यवहारके लिये सभी रूप उसके हैं।

अब हमें यह देखना है कि इस ईश्वरसे हमारा क्या लाभ है, इस विषयपर श्रुति क्या कहती है। ऐहिक और पारलौकिक लाभ देवोंकी पूजासे होते हैं, वे तो वास्तवमें ईश्वरहीके कारणसे हमें मिलते हैं। परन्तु एक बात केवल ईश्वरहीसे सिद्ध होती है जो और किसीसे नहीं होती। 'उसीको जाननेसे लोग मृत्युलोकको अतिक्रमण कर जाते हैं, मोक्षका और कोई उपाय नहीं है।'[१६] अतएव मोक्षके लिये हमें तन-मनसे ईश्वरकी उपासनामें लग जाना चाहिये।

पुराणोंमें ईश्वर

(लेखक—श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०)

'Encyclopaedia of Religion and Ethics' के लेखकने उस ग्रन्थके दसवें भागके ४५१ वें पृष्ठमें इस-प्रकार लिखा है—

'The theology taught is heterogeneous and most deities that enjoyed a certain amount of popular acceptance can be found praised in the Puranas.'

'अर्थात् पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी जो कुछ विवेचन मिलता है उसमें एकता नहीं पायी जाती और जिनकी जनतामें थोड़ी बहुत मान्यता थी, उनमेंसे अधिकांश देवताओंकी स्तुति की गयी है।'

त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवके अतिरिक्त उनमें इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र और मातरिश्वा इन प्रधान देवताओंका उल्लेख मिलता है। छोटे देवोंकी तो गिनती ही नहीं है। त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवका तथा इन्द्र,अग्नि प्रभृति अधिकांश वैदिक देवताओंका पुराणोंमें भी वही स्थान है जो वेदोंमें पाया जाता है। उपरिलिखित एवं अन्य देवताओंकी पुराणोंमें जो महिमा वर्णन की गयी है उसके आधारपर स्वर्गीय H. H. Wilson ने, जिन्होंने विष्णुपुराणका अंग्रेजीमें भाषान्तर किया है, इस सिद्धान्त-पर जोर दिया है कि पुराणोंका ढंग साम्प्रदायिक है। इस सिद्धान्तका विरोध उपर्युक्त विद्वान्‌के समयमें भी हुआ था। पुराणोंका विचारपूर्वक अध्ययन करनेवालेको उनमें साम्प्र-दायिकताका भाव कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, इतनी बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि सारे पुराणोंमें एक ही विषयका प्रतिपादन नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि जिस रूपमें भिन्न-भिन्न पुराण इस समय उपलब्ध हैं, उन सबकी रचना एक ही कालमें अथवा एक ही पुरुषके द्वारा हुई है। मूल-ग्रन्थोंकी रचनाके पीछे बहुत-से अर्वाचीन पुराणोंकी भी रचना हुई और इन अर्वाचीन ग्रन्थोंमें, सम्भव है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिकताकी झलक आ गयी हो। सारे पुराणोंपर दृष्टि डालनेसे यह पता चलता है कि अद्वैतवाद ही उनका सिद्धान्त है, जो वेदान्त-दर्शनका प्रतिपाद्य विषय है। यह बात उन दार्शनिक भागोंके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाती है जिनकी पौराणिक साहित्यमें न्यूनता नहीं है। पीछेके पुराणोंमें तो छहों दर्शनोंके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मिलता है, किन्तु वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य आदि प्राचीन पुराणोंमें केवल सांख्य, योग एवं वेदान्तके सिद्धान्तोंका ही आभास मिलता है। जिन दिनों पुराणोंके मूल-ग्रन्थ बने थे उस समय भिन्न-भिन्न दर्शनोंका सूत्रीकरण नहीं हुआ था यह मान लेना अयुक्तिपूर्ण नहीं जान पड़ता। युक्तियोंके द्वारा यह जाननेमें आता है कि उस समय दार्शनिक विचारोंकी धारा सामान्यरूपसे प्रवाहित थी तथा किसी दर्शन-विशेषका निर्माण नहीं हुआ था। इधर-उधर बिखरे हुए सिद्धान्त-वाक्योंको एकत्रित करनेपर इस निर्णयपर पहुँचना युक्ति-युक्त हो जाता है कि प्राचीन पुराणोंमें पीछेसे सूत्रबद्ध किये गये वेदान्त-दर्शनकी पूर्व-छटा दिखायी पड़ती है। वस्तुतः पुराणोंके रचनाकालमें योगदर्शनका विकास हो चुका था और वेदान्त-दर्शनका रचना-विकास होनेवाला था।

वेदान्त-दर्शन कुछ इने-गिने लोगोंकी सम्पत्ति बन गयी। चिरकालीन परम्पराके अनुसार वैदिक साहित्यका पठन-पाठन द्विजाति वर्णोंके लिये विहित होनेके कारण प्राचीन

१६ 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' मा० स० ३१। १८

ऋषि-मुनियोंने एक विशेष प्रकारके ग्रन्थोंका निर्माण किया, जिनसे सर्वसाधारणकी ज्ञानपिपासा शान्त हो सके। सर्वसाधारणके उपयोगके लिये लिखे जानेके कारण पुराणोंमें विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकारों तथा अनेक मत-मतान्तरोंका यहाँतक कि पितरोंकी उपासना एवं नास्तिक सिद्धान्तोंका भी वर्णन करना आवश्यक था। प्रमुख देवी-देवताओंके सम्बन्धमें रोचक एवं प्रभावोत्पादक आख्यानोंकी रचनाके द्वारा जन-साधारणके हृदयोंमें धार्मिक भावोंका जागृत करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य जान पड़ता है। उपासनामें व्यक्तिगत रुचिको प्रधानता दी गयी है। प्रत्येक मनुष्यको अपने मतके अनुसार आचरण करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है, यदि उससे दूसरेके धर्माचरणमें बाधा न पड़ती हो। इसप्रकारकी शिक्षण-पद्धतिके मूलमें वही भावना पायी जाती है जिसका भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कुरुक्षेत्रके मैदानमें निम्न-लिखित शब्दोंमें उपदेश दिया था। भगवान् आज्ञा करते हैं—

लोग चाहे जिस रूपमें मेरी उपासना करें और चाहे जिस नामसे मुझे पुकारें, उनकी उपासना और पुकार मुझे ही पहुँचती है क्योंकि मेरे सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।*

अद्वैत सिद्धान्तकी यह उच्च भावना पुराणोंके ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तको समझनेकी कुञ्जी है। पुराणोंमें उन मनुष्योंकी निन्दा की गयी है जो देवोंमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। पुराणोंमें कहीं इस बातका उपदेश नहीं दिया गया है कि अन्य देवताओंको छोड़कर किसी एक देवता-विशेषकी उपासना करो, इस सिद्धान्तके पोषक वाक्योंमेंसे वायुपुराणका निम्नलिखित वाक्य उदाहरणरूपसे लिया जा सकता है। उसका आशय यह है कि जो मनुष्य देवताओंमें भेद-बुद्धि रखता है वह वस्तुतः ईश्वरके प्रति अपराध करता है एवं जो उनमें अभेद-बुद्धि रखता है वही सच्चा ज्ञानी है। अनेक स्थलोंमें परमेश्वरके लिये 'नारायण' शब्दका प्रयोग किया गया है और इस शब्दका वैष्णव-सम्प्रदायके उपास्य देवके अर्थमें ही व्यवहार नहीं हुआ है। ईश्वर अथवा योगीश्वर अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके अर्थमें ही इसका जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। समस्त देवता उस एक परमात्माके ही विभिन्न रूप हैं जिसे हम नारायण, ईश्वर, महेश्वर, परब्रह्म, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। जबतक हम एक ईश्वरकी सत्ताको मानते हैं तबतक नाम-रूपके भेद हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अंग्रेजीमें एक कहावत है—All roads lead to Rome अर्थात् सारे राज-मार्ग रोम-नगरकी ओर जाते हैं। 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'। चाहे जिस पद्धतिसे और चाहे जिस नामसे लोग उसकी पूजा करें, पूजा एक उसीकी होती है। कर्म, अनुष्ठान, योगाभ्यास एवं यम-नियमादि केवल साधन हैं अर्थात् वे उस शाश्वत अविकारी उपास्यदेवके पदारविन्दके समीप पहुँचानेवाली सीढ़ियाँ हैं जिसके सिवा अन्य सब असत् है। वस्तुतः कठिन व्रत-साधन एवं अनुष्ठानादि शरीर और मनको मोक्ष-साधनके योग्य बनानेके लिये संस्कारमात्र हैं। सधे हुए मन और शरीरके द्वारा ही मनुष्य संसारके बन्धनसे मुक्त होनेकी चेष्टा कर सकता है। अतः पुराणोंके उपदेशके भावको ठीक-ठीक समझना चाहिये, किसी एक देवता अथवा मतकी प्रशंसाका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि इससे अन्य देवताओं अथवा सिद्धान्तोंकी निन्दा की गयी है। क्योंकि पुराणोंके मतमें प्रत्येक वस्तु उस सर्वमयका ही रूप अथवा अंश है। इसका प्रमाण यह है कि शैव-पुराणोंमें केवल शिवकी अथवा वैष्णव-पुराणोंमें केवल विष्णुकी ही प्रशंसा नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ वायु-पुराणमें, जिसकी गणना शैव-पुराणोंमें है विष्णुके पराक्रमका एवं नारायणकी महिमाका वर्णन किया गया है। उसमें विष्णु और महेश्वरके अवतारोंकी कथाएँ आती हैं, शिवपुरी तथा विष्णुपुरी दोनोंका उल्लेख मिलता है तथा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी भी प्रशंसा की गयी है, यहाँतक कि उसमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि इन तीनों देवताओंमें कोई भेद नहीं है। इसप्रकार जान पड़ता है कि वायुपुराणमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका विधान किया गया है। एक ही पुराणमें विष्णु और शिव दोनोंका उत्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अन्तमें यह कह देना पर्याप्त है कि पुराणोंका ढंग साम्प्रदायिक है यह सिद्धान्त बिल्कुल निराधार है। वास्तवमें एक नहीं, सभी पुराणोंका एक ही ईश्वरमें विश्वास है, जिसे हम नारायण अथवा ईश्वर कहते हैं।

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४।११)

पुराण और ईश्वर

(लेखक—प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, बी० ए०)

आचार्य यास्कने पुराण शब्दकी निरुक्ति 'पुरा नवम्' बतायी है। प्राचीन समयमें जो नया रह चुका हो वही पुराण है। दूसरे शब्दोंमें 'पुराण' शब्दका अर्थ है पुराना। पुराण नामक शास्त्रका उपनिषद्‌में भी उल्लेख है, उदाहरणार्थ, 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य, अ० ७, खं० १)। पुराण पञ्चम वेद है। संहिता-भेदसे यही पञ्चम वेद अष्टादश भागोंमें भगवान् वेदव्यासद्वारा प्रणीत हुआ है। पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी विचारोंकी प्रचुरता उपलब्ध है। निम्नाङ्कित पङ्क्तियोंमें उनका दिग्दर्शन करानेकी चेष्टा की जाती है।

तारा-मण्डल-मण्डित, अनेक-चमत्कार-वेष्टित, गिरि-गगनालङ्कृत, सरित्सरस्समुद्र-परिभृत, अतर्क्य विस्तार, अतुल प्रसार, अनेक कोटि ब्रह्माण्ड पुराण-पुरुष श्रीभगवान्‌के एक-एक रोममें इसप्रकार अहर्निश अप्रमत्तरूपसे विचरण कर रहे हैं जिसप्रकार किसी विशाल-कलेवर वातायनमें होकर अगण्य परमाणु-पुञ्ज भ्रमण करते हों। लोक-पितामह श्रीब्रह्मदेवने बाल-गोपालकी स्तुतिमें कहा था कि—

'क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाऽविगणिताण्डपराणुचर्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्।'

यही भाव यजुर्वेदके—

तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'

—में निहित है। पुराणोक्त ईश्वर निस्सन्देह 'महतो महीयान्' हैं। सलिलान्तर्गत झष-मकरादि उच्चावच जीव-निकाय जिसप्रकार समुद्र-पदसे समझ लिये जाते हैं, उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड भगवदन्तर्गत होनेके कारण 'ईश्वर' पदसे विदित हो जाते हैं—

'यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।'

प्राकृतिक गुण-जालसे परे होनेके कारण ईश्वर अगुण अथवा निर्गुण कहे जाते हैं।

'तथापि भूमन् महिमाऽगुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥'

परन्तु भक्तवत्सलता प्रभृति गुणग्रामसे मण्डित होनेके कारण तथा भक्तमनोरथानुसार प्राकृतिक गुणत्रयसे संग करनेके कारण ये सगुण भी हैं—

'गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै-
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः।'

संख्यामें ईश्वर एक हैं। एक समयमें अनेक रूप धारण करनेपर भी उनका पारमार्थिक एकत्व अव्याहत ही रहता है। पुराणोंमें एक ईश्वरके अनेक रूपोंका वर्णन है। उनके प्रधान रूप पाँच बताये गये हैं, यथा—१ मोदक-सुशोभित, मूषकवाहन, विघ्नविनाशन, सङ्कटहारी श्रीगणपति, २ त्रिशूल-विराजित, वृषभवाहन, दारिद्र्यदहन, गङ्गाधारी श्रीसदाशिव, ३ तेजोविलसित, एकचक्ररथवाहन, तमोविलापन, बुद्धि-वृद्धिकारी श्रीसूर्यदेव; ४ श्रीवत्सपदाङ्कित, गरुडवाहन, अज्ञानविध्वंसन, भक्तापत्तिनिवारी श्रीमन्नारायण; और ५ वराभयकरा, सिंहवाहिनी, मधुर-मूर्ति, जगदम्बिका श्रीदुर्गादेवी। ये पाँचों वस्तुतः अभिन्न हैं। पुराणोंमें इन पाँचोंका ही ईश्वरत्व प्रतिपादित है। विभूतिके तारतम्यके वर्णन भाव-प्रधान हैं। उस तारतम्यसे एक रूपका दूसरे रूपसे हीन अथवा अधिक होना सिद्ध नहीं होता। इन पाँचों रूपोंके विभिन्न दिव्य लोकोंका विशद वर्णन पुराणोंमें वर्णित है, जहाँ पहुँचनेपर पुनरावृत्तिका अभाव हो जाता है। इन अलौकिक ईश्वरीय धामोंकी समृद्धिका कथन मानव-सामर्थ्यका विषय नहीं है। भावुक जनोंके सन्तोषके हेतुसे श्रीव्यासदेवने उनका परम सुन्दर वर्णन किया ही है। श्रीमन्नारायणके वैकुण्ठलोकका आभास इन पद्योंमें मिल सकता है—

'वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः ।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन्वृषः ॥
यत्र नैःश्रेयसं नामवनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥'

वैष्णव-पुराण होनेपर भी, देखिये, श्रीमद्भागवतमें महादेवजीकी ईश्वरता किसप्रकार बतायी गयी है—

'जाने त्वमीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः ।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म सनातनम् ॥

उपर्युक्त पाँचों ही ईश्वरीय रूप-वैचित्र्यको अंगीकार-कर इतनी लीलाएँ करते हैं कि शेषजी भी उनको नहीं कह सकते हैं—

'गायन् गुणान्दशशताानन आदिदेवः
शेषोऽधुनाऽपि समवस्यति नाऽस्य पारम् ।'

पुराणोंके ईश्वर सृष्टिके कर्त्ता, पालक तथा संहारक हैं—

'आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥'

यह भाव वैदिक ही है । उपनिषद्-ब्रह्मके लिये जो 'तजलान्' कहा जाता है, उसका अभिप्राय यही है । इसी विचारको सम्मुख रखकर आचार्य बादरायणने 'जन्माद्यस्य यतः' की रचना की; और श्रीमद्भागवत-पुराण भी 'जन्माद्यस्य यतः' से प्रारम्भ होता है ।

श्रुतिमें ईश्वरको अन्तर्यामी कहा गया है—

'यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'
(बृहदारण्यक)

इसी तत्त्वको वेदान्तका 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म-व्यपदेशात्' यह सूत्र कह रहा है । पुराणोंको भी ईश्वरका अन्तर्यामित्व अभीष्ट है । श्रीकृष्णचन्द्रजीके विषयमें कहा गया है कि—

'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥'

बृहदारण्यकान्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मणमें कहा गया है कि—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।'

अर्थात् आत्माके लिये ही संसारकी सब वस्तुएँ अच्छी लगती हैं, उसी आत्माका दर्शन, श्रवण और ध्यान करना चाहिये । यहाँ आत्मा शब्दसे जीवात्माका बोध नहीं होना चाहिये, वह परमात्माके लिये प्रयुक्त है । शंकराचार्यजी-ने 'वाक्यान्वयात्' नामक सूत्रपर भाष्य करते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि—

'किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित् परमात्मेति ।……परमात्मोपदेश एवायम् ।'

परमात्माके लिये ही सांसारिक भोगोंकी प्रियता पुराणोंको भी अभीष्ट है । भागवतमें स्पष्ट लिखा है —

'तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मायया ॥'

पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरको सर्वज्ञ बताया गया है— 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।' पुराणोंके ईश्वर भी सर्वज्ञ हैं । श्रीकृष्णजीके लिये 'विश्ववित्' पदका प्रयोग इस बातका समर्थक है, यथा—

'क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥'

जिसप्रकार उत्तर-मीमांसाके अनुसार इस जगत्की सृष्टिमें भगवान्की लीला ही हेतु है—'लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्'—उसी प्रकार, पुराणोंके अनुसार, भगवान् जो नानाविध चरित्र करते हैं उनमें उनकी लीला ही प्रधान हेतु है । पुराणोंमें स्थान-स्थानपर लीला-शब्दका प्रयोग पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

'इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥'
'भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥'

पुराणवर्णित, मनोनयनवर्धन, प्रसन्नवदन ईश्वरके चारुतम चरण-नलिन-युगलका ध्यान करनेसे ऐहिक अभ्युदय तथा आमुष्मिक निश्श्रेयसकी अनायास उपलब्धि होती है। हे पुराणप्राण! पुराण-पुरुष! जगन्मङ्गल! श्रीभगवन्! हमें अपने चरणोंमें पराभक्ति दीजिये ।

वेदोंमें ईश्वर

(लेखक—श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए० एल एल० बी०)

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ२ आविवेश ॥

(ऋग्वेद म० ४ । सूक्त ५८ । मन्त्र ३)

मर्त्योंमें महादेव वृषभने प्रवेश किया है। वह त्रिधाबद्ध होकर डकराता है। उसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। वह महादेव अमृत है, मर्त्यके साथ उसका संपर्क हो गया है। यही जड़-चेतनकी गाँठ पड़ी है। अनिर्वचनीय महादेव मूर्त और निरुक्त हो गया है। यह महादेव वृषभ इन्द्र है। वेदोंमें जिसे इन्द्र कहा है वही उपनिषत्कालमें आत्मा है। इस इन्द्र वृषभके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार सींग हैं; ज्ञान, कर्म, उपासना तीन चरण हैं; त्रिपाद और एकपाद—अनन्त और सान्त दो सिर हैं, और सप्त प्राण इसके सात हाथ हैं। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंसे यह जकड़कर बाँधा हुआ है। इस देवकी महिमा अनन्त है। निज स्वरूपमें यह सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है। परन्तु मर्त्यसंपर्कसे यह विराट् विष्णु वामन हो गया है। इस साढ़े तीन हाथमें जकड़े हुए देवको लोग वामन समझकर उसका अनादर करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

वे नहीं जानते कि वामनका असली रूप विष्णु है—

वामनो ह विष्णुरास

(शतपथ १ । २ । ५ । ५)

उसके तीन चरणोंके विचक्रमणमें द्यु-पृथिवी-अन्तरिक्ष-लोक समाये हुए हैं, वह भूत, भविष्य, वर्तमान सबका परिच्छेत्ता है। अपने वामनरूपसे उसने हम सबको छल लिया है। मोहके कारण ही हम मायामें पड़े हुए हैं और उस एकरस नित्य इन्द्रको अनेक रूपवाला मर्त्यधर्मा समझकर स्वयं ही सर्वतासे हीन बन गये हैं।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

अनन्तसे सान्त होनेका नाम माया है (Finitising Principle) विष्णुका वामनावतार माया है, महादेवका मर्त्योंमें आना माया है। शं स्वरूपका आवरण करनेवाला यह शम्बर बहुत प्रबल है, इसपर विजयी बनकर ही इन्द्रको साम्राज्य प्राप्त होता है। इन्द्रकी शम्बर-विजय मनुष्यका आत्मदर्शन है। आत्मदर्शनके बिना इन्द्रके तीन पाश नहीं छूटते। कौषीतकी उपनिषद्में कहा है—'जबतक इन्द्रने आत्माको नहीं जाना तबतक असुर उसको हराते रहे। जब उसने अपने आपको जान लिया तब वह असुरोंको जीतकर सब भूतोंसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ बन गया। उसने स्वराज और आधिपत्य प्राप्त कर लिया। (४ । २०)

इस इन्द्रको बाँधनेवाले नाम और रूप हैं। इन्हींको देश और काल, ऋत और सत्य भी कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—

'अथ ब्रह्मैव परार्द्धमगच्छत्। तत्परार्द्धं गत्वा ऐक्षत कथं न्विमाँल्लोकान् प्रत्यवेयामिति। तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च।' (११ । २ । ३ । ३)

अर्थात् ब्रह्म तीन लोकोंसे अतीत था। अतीत रहते हुए उसने प्रेरणा की कि किस तरह मैं इनमें प्रविष्ट होऊँ। नाम और रूपके द्वारा वह इन लोकोंमें प्रविष्ट हुआ। अमृत ब्रह्म नामरूपके द्वारा मर्त्य बनकर सामने आया है। उस मर्त्य-धर्मसे छूटनेका उपाय ब्रह्मकी शरण या ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान है—

मर्त्या ह वाऽग्रे देवा आसुः। स यदैव ते ब्रह्मणापुरथाभूता आसुः।

अर्थात् मर्त्यदेव ब्रह्मको पाकर अमर बने।

वेदोंके अध्यात्मशास्त्रका यही मर्म है। ब्रह्म और आत्मा दोनों इन्द्रकी संज्ञाएँ हैं। यह इन्द्र अन्य देवोंके साथ कार्य करता है। ये अन्य देव इन्द्रियाँ हैं। ये देव इन्द्रजुष्ट, इन्द्रदत्त, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रलिंग हैं। असुरोंके साथ इन देवोंका सनातन युद्ध है। इन्द्रकी विजयसे सब देवोंकी महिमा बढ़ती है। इन्द्रके अज्ञानसे देवता असुरोंके

सामने हार जाते हैं। वस्तुतः यह देवासुर-संग्राम पाप और पुण्यकी द्विविध प्रवृत्तियोंका युद्ध है। प्रजापतिके विधानसे ही असुर पापमय हैं। वस्तुतः इन्द्र तो अजात-शत्रु, द्वन्द्वातीत है। न वह पहले कभी लड़ा है और न आज उसका किसीसे युद्ध है, उसके संग्रामोंकी कथा माया है। (देखिये शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१०)

सृष्टिके मूलमें ही समाधि और व्याधि, पुण्य और पाप, आरम्भ और अनारम्भ, चेतन और जड़, प्रकाश और तम, सत्य और अनृतका द्वन्द्व निहित है। ब्रह्मके संकल्प-का आदिरूप यह द्वैत है। ब्रह्माण्डगत समस्त प्रक्रियाओंमें इसके दर्शन होते हैं। भौतिक प्रकृति शक्ति-प्रकाशके इस द्वैतसे मुक्त नहीं है। अव्यक्त-दशामें एक रहते हुए यह शक्ति प्रकटरूपमें अनेक है। संख्यासे अस्पृष्ट होनेकी कल्पना-मात्र एकता है। संख्यासे संस्पृष्ट होना अनेकता है।

वेदोंमें इन्द्रकी महिमाका स्वर ही सबसे प्रधान है। अनेक गीतोंकी टेक यही है—'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः' अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, वह सर्वभूतमहेश्वर है, वह महादेव है। इन्द्र अप्रतिरथ है। वह शतक्रतु है। प्रजापति-ने इन्द्रको सब देवोंमें ज्येष्ठ बनाया है जिसके प्रतापसे बलवान् असुर भी काँपते रहते हैं। देवोंने कहा—**इन्द्र ही हम सबमें वीर्यवान् है—**

ते [देवाः] होचुः। इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तमः।

(श० ४।६।६।३)

इन्द्र सब देवोंका उपदेष्टा होनेसे उनमें अग्रणी है—

इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानामुपदेशनात्।

(तै० २।३।१।३)

तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति।

(श० १।६।३।२२)

अर्थात् सब देवता इन्द्रके ही रूप हैं। इन्द्रके कारण देवोंकी महिमा है।

इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः।

(ऐ० ७।१६)

अर्थात् इन्द्र सब देवोंसे ओज, बल, वीर्य, शक्ति-प्रवेशमें अतिशायी है। उसको सब एकवीर कहते हैं। उसने ही निकटतम जाकर ब्रह्मको पहले पहचाना, जहाँतक इन्द्र गया वहाँतक और कोई देव नहीं जा सका—

इन्द्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्, स हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श, स हि एनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

इन्द्रको ही ब्रह्मका ज्ञान हुआ। अग्निने कहा—'मैं जातवेदा हूँ, जिसे चाहूँ भस्म कर दूँ', परन्तु यक्षके दिये हुए एक तिनकेको अग्नि भस्म नहीं कर सका। वायुने कहा—'मैं मातरिश्वा हूँ, जिसे चाहूँ उड़ाकर फेंक दूँ।' यक्षने उसके आगे एक तिनका रख दिया, वायु जोर लगाकर थक गया पर तिनकेको न हिला सका। तब इन्द्र-से देवोंने कहा—तुम यक्षको जानो—यह है कौन? इन्द्र-के समक्ष यक्ष अन्तर्हित हो गया। तब उमा नामकी सात्त्विकी बुद्धिसे इन्द्रने यक्षका प्रत्यक्ष किया। इस मनो-हर कथामें ब्रह्मने यक्षरूपमें सब देवोंकी परीक्षा लेकर इन्द्रको ही अपना रूप विवृत करके दिखलाया। वस्तुतः ब्रह्म यक्ष या यज्ञका परमरूप है। उसका ज्ञान प्राणके दर्प-से होना अशक्य है। अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण, अनेक देव एक शक्तिके रूप हैं, इनके बलसे इन्द्रको कौन जान सकता है? Heat, Light, Electricity, Magnetism, Sound आदि नाना देव ब्रह्माण्डके आधार बनकर उसको थामे हैं। पर ये ही अन्तिम शक्तियाँ नहीं हैं। इनके द्वारा चैतन्य-तत्त्वका ज्ञान असम्भव है। ब्रह्मका ज्ञान तो स्वयंवर-से होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

आत्मा जिसको स्वयं वर लेती है उसके ही समक्ष अपना तनू विवृत करती है। यहाँ प्रवचन, ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य सब साधनमात्र हैं, सिद्धिकी प्राप्ति स्वयंवराधीन है।

ब्रह्मकी ही संज्ञा इन्द्र है। पिण्डमें वही इन्द्र आत्मा है। ब्रह्माण्डमें जो सूर्यादि देव या दिव्य शक्तियाँ (Cosmic Forces) हैं उनके ही प्रतिनिधि इस शरीरमें इन्द्रियाँ हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंमें एक ही जीवन-प्रवाह (Life-flow) है। जो हिरण्यगर्भ है वही वैश्वानर है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

हम वाणीसे बोलते हैं, वह वाक् अग्निकी ज्योति है। नासिकाके द्वारा प्राणवन्त होकर हम विराट् वायुके साथ एकता स्थापित करते हैं। सूर्य-प्रकाशसे वस्तुओंको रूप प्राप्त हुआ है, उसी रूपका प्रत्यक्ष करनेवाली

चक्षुरिन्द्रिय है। आकाश शब्दोत्पत्तिका हेतु है, वही शब्द हमारे कानोंसे सुना जाता है। बाह्य जलके ही समान हमारी देहमें वीर्य है जो जीवनकी स्थितिका कारण है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता है। बाह्य-जगत्की विद्युत्में जो सूक्ष्म परिवर्तन भी होता है उसीका प्रभाव तुरन्त हमारे शरीरपर पड़ता है। विराट् प्राणके साथ शरीरस्थ प्राणकी एकता है। एक-एक नक्षत्रकी ज्योतिका प्रभाव शरीरस्थ प्राणपर पड़ता है। दोनोंमें एक ही प्रकारकी विद्युत् है। विद्युत्की शक्तिसे आज हम सब स्तब्ध हो गये हैं। इसकी सूक्ष्म चेतना विश्वव्यापी है। क्षणभरमें विद्युत्की तरंगें पृथिवीमण्डलमें व्याप्त हो जाती हैं। इसी विद्युत्की वैदिक संज्ञा प्राण है। इस प्राणको ही देव कहा गया है। मूलमें एक होते हुए भी इसके अनेक रूप हैं। उन अनेक देवोंका वर्णन वैदिक सूक्तोंमें है। परन्तु मूलमें वे एक हैं। वैदिक ऋषियोंने सब देवोंकी एकताको भली प्रकार जान लिया था—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
> रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वद-
> न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
> (ऋ० १। १६४। ४६)

अर्थात् विप्र लोग एक ब्रह्मका ही अनेक नामोंसे बखान करते हैं। उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मा, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा कहा गया है। व्यावहारिक या सापेक्ष सत्तामें ये देव सविशेष कार्योंके करनेवाले हैं। व्याकृत दशामें (Differentiated state) सब देवोंके अपने-अपने धर्म हैं। पर अव्याकृतरूपमें वे एक ही हैं। यही बात जगत्में है। एक शक्तिके अनेक रूप विविधधर्मी हैं। एक ही सूर्यप्रकाशकी अनेक रश्मियाँ हैं जिनका पारस्परिक भेद है भी, और नहीं भी है। सौर रश्मियोंके सात सप्तकोंमें अनन्त किरणें हैं जिनका आपसका भेद लम्बाईकृत है। कुछ किरणें बहुत छोटी हैं और फिर उत्तरोत्तर क्रमसे लम्बाईकी वृद्धिसे अन्य अन्य कार्य करनेवाली किरणें हैं। यहाँ कुछका नाम हीट, लाइट और इलैक्ट्रिक आदि है। पर मूलमें सब एक हैं। यही बात वैदिक ऋषियोंने प्रत्यक्ष की थी। अनेकता है पर साथ ही एकता भी है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ या परमाणुकी द्विविध स्थिति है। अनेकताके साथ उसका सम्बन्ध सृष्टि है, एकताके साथ उसके सम्बन्धकी खोज समाधिकी ओर प्रगति है। इन्हींके वैदिक नाम त्रिपाद् और एकपाद् हैं। सर्वप्रथम सहस्रशीर्षा पुरुष या अनन्त ब्रह्म था। वह स्वयं ही द्विधा व्याकृत हुआ। त्रिपाद् और एकपाद्। त्रिपाद् सापेक्ष ब्रह्म है, एकपाद् भूतभव्यभुवन है जिसमें सब लोक समाये हुए हैं। त्रिपाद्की ओर जानेका नाम समाधि है, एकपाद्की ओर उत्क्रान्त होनेका नाम व्याधि है। यह क्रम किसी क्षण रुका नहीं रहता। सृष्टि और प्रलय सतत होते रहते हैं। बिना द्विविध प्रक्रियाके सत्ता असम्भव है। हम देशमें ठहरे हुए हैं और अपना एक रूप व्यक्त कर रहे हैं। साथ ही कालके प्रवाहसे आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् परिवर्तित हो रहे हैं। निष्कम्प स्थिति असम्भव है। जड़-जगत्में अच्युत धर्म नहीं देख पड़ता। इस परिवर्तन और प्रवाहके मध्यमें भी एकरस रहनेवाला ब्रह्म है जो उपहित होकर कूटस्थ चैतन्यरूपसे हम सबमें विद्यमान है। वह इन्द्र अनेजत् है, वह अच्युत है। उससे सब काँपते हैं, उसे कँपानेवाला कोई नहीं है। यह सृष्टि बहुत विलक्षण है। इसके अणुमात्रका भी वर्णन ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। सर्वत्र शब्दोंकी गति कुण्ठित हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ प्रत्येक पदार्थकी सापेक्षिक सत्ता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च। अथ यन्मूर्तं तदसत्यं, यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म, तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्मा। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत।

अर्थात् ब्रह्मके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष (Formless and Formed) मूर्त माया है, अमूर्त सत्य है। ब्रह्म एक ज्योति है, जो प्रकाश आदित्यमें है, जो ओ३म् है, वही ज्योति आत्मा है। उसने तीन प्रकारसे तीन गुणोंके द्वारा अपने आपको प्रगट किया है। सर्वत्र ही मूर्त और अमूर्त (Immanent and Transcendent) का द्वन्द्व है। परमाणुका मूर्तरूप है, अमूर्त भी है। मूर्तका निर्वचन किया जाता है, अमूर्त अनिर्वचनीय है। मूर्त एक अंशमात्र है, अमूर्त अनन्त है। मूर्तकी संज्ञा विष्णु है, अमूर्त शेष है। शेष और विष्णुका सम्बन्ध बहुत अद्भुत है। मूर्त अमूर्तके आधारसे ठहरा हुआ है। प्राण अमूर्त है, अन्न उसका मूर्तरूप है, पर दोनों ही ब्रह्मरूप हैं। कर्म मूर्त है, ज्ञान अमूर्त है। इस पारस्परिक सापेक्ष-भ्रमका कहीं अन्त नहीं है। वेदों और ब्राह्मणोंमें

अनेक परिभाषाओंसे मूर्त और अमूर्तके सम्बन्धका वर्णन है। यजमान मूर्त है, उसकी तुलनामें पुरोहित अमूर्त है। अन्न मूर्त और अन्नाद अमूर्त है। मूर्तसे अमूर्त बहुत बड़ा है। इन्द्रके ही दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। मूर्तरूप प्राण है, अमूर्तरूप आत्मा है। मूर्तको सत्य मानना अनुचित है। मूर्तरूपको ही ब्रह्मका अन्त समझना भूल है—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

प्राण, चक्षु, श्रोत्र मूर्त-कार्य हैं। इनका नियन्ता अमूर्त है, वही ब्रह्म है। प्राणकी शक्ति भी अचिन्त्य है। पर इन्द्र या ब्रह्म प्राणसे भी महान् है। असुर लोग प्राण-शक्तिको ही परम सत्ता समझते हैं, वे प्राणके भी प्राणको स्वीकार नहीं करते। हमीं लोग देव और हमीं असुर हैं। जीवनकी प्रवृत्तियोंके दो भेद दैवी और आसुरी कहलाते हैं। भौतिक प्रकृतिकी उपासना करना असुर-वृत्ति है। चैतन्यकी उपासना दैवी है। असुरोंके गुरु विरोचनने शरीरको ही आत्मा समझ लिया था। हमलोगोंमें बहुतेरे ऐसे ही हैं जो मुँहसे तो चैतन्यकी सत्ता स्वीकार करते हैं, पर आचरणमें शरीरको ही आत्मा माने हुए हैं। हम सगुण या मूर्तमें आसक्त हैं, उसकी ठीक उपासना, जो मोक्षका हेतु हो, हमसे नहीं बन पड़ती। अविद्या, मूर्तरूप या सृष्टि भी ब्रह्मका ही विकास या उपाधि है। उसका यथावत् उपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। हम उसका त्याग इन्द्र या आत्माके लिये नहीं कर सकते। यही कारण है जो हमारे यज्ञका भाग इन्द्रको न मिलकर अन्य देवों या असुरोंको मिल रहा है। दैवी विधानसे पूर्ण होनेवाले यज्ञोंका यक्ष या यजनरूप इन्द्र है, वह ही उस हविका अधिकारी है। इन्द्र देवाधिदेव या महादेव है। 'इन्द्रश्रेष्ठा वै देवाः'। इन्द्रके भाग पानेसे अन्य देव भी पुष्ट होते हैं। इन्द्रजुष्ट होकर ही इन्द्रियाँ संयम और दिव्य तेजके पथमें विचरती हैं। इन्द्रके आधिपत्यसे बहिष्कृत होना इन्द्रियों या देवोंकी पराजय है।

वेदों और ब्राह्मणोंमें इन्द्रियोंको ही पञ्च पञ्चजनाः कहा गया है। इन्द्रकी पाञ्चजन्य प्रजाएँ इन्द्रियाँ हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है:—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥
(४।४।१७)

अर्थात् मैं अमृत ब्रह्मका विद्वान् हूँ। मैं बताता हूँ कि आत्मा वह है जिसकी सत्तासे पञ्चजन या इन्द्रियाँ आकाश (Ether) में स्थितिमन्त है। आकाश महाप्राणका स्रोत है। उस महाप्राणसे एक सूत्रमें पिरोये हुए पञ्च इन्द्रियाख्य देव अत्यन्त ऊर्जसम्पन्न होकर जिसकी सत्तासे स्थितिशील हैं वह आत्मा है। ऋग्वेदमें भी कहा है—

यत्पाञ्चजन्यया विशा इन्द्रे घोषा असृक्षत ।
अस्तृणाद्बर्हणा विपो अर्यो मानस्य स क्षयः ॥
(८।६३।७)

अर्थात् पाञ्चजन्या प्रजाओंने संमनस् होकर इन्द्रकी जो स्तुति की उससे इन्द्र शत्रुओंका वध कर सका और वह मानका पात्र बना। पाञ्चजन्य विशोंकी अनुकूलता प्राप्त करके इन्द्र स्वराट् बनता है, वह वामनसे विष्णुत्व-पद पाता है। इन्द्रियसंयम ही समस्त नीति और अध्यात्मका मूल है। विश् अर्थात् प्रजाओंमें ओजस्वी होनेके कारण ही इन्द्रको विडौजा (विट्+ओजस्) कहते हैं। उसने देवोंका आधिपत्य प्राप्त करके बल, गोत्र, वृत्र, नमुचि, शम्बर, पाक आदि असुरोंको पददलित किया है। वह इन्द्र मरुत्वान् है। मरुत् संज्ञा प्राणोंकी है। प्राणसे इन्द्रका विरोध होना आसुरी है। प्राण इन्द्रके सहायक हों तो इन्द्रका बल अप्रतिरथ हो जाता है। इन्द्र और मरुत्का संवाद वेदोंमें है जहाँ मरुत् इन्द्रकी सहायताका वचन देते हैं। वस्तुतः महाप्राण या शक्ति एक ही है। परन्तु कार्य-भेद और उपाधि-भेदसे उसके अनेक भेद कल्पित किये गये हैं। प्राण पाँच हैं, प्राण सात हैं, प्राण ग्यारह हैं, इसी प्रकार प्राणोंकी उत्तरोत्तर संख्या बाईससे निन्यानवे तक वर्णित है। इन्द्र उन नवनवति पुरोंका विजेता है। वे पुर जबतक आयसी अर्थात् लोहेके हैं तबतक प्राणोंकी वृत्ति तामसी है। अयस्, रजत, स्वर्ण—ये तम, रज, सत्त्वकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। असुरोंने इन पुरियोंका निर्माण किया और इन दुर्गोंमें, कन्दराओंमें छिपकर वे इन्द्रसे लड़ते रहे। इन्द्रने पुरोंका भेदन किया, जिससे वह पुरन्दर कहा जाता है। त्रिपुरासुरके इन्हीं पुरोंका भेदन करनेके कारण शिवको त्रिपुरारि कहते हैं। पुरन्दर और त्रिपुरारि एक ही कल्पनाके दो रूप हैं। त्रिगुणात्मक शक्तिको आत्मसात् करनेके रहस्यका वर्णन ही दोनों जगह इष्ट है। तीन गुणोंके नाना भेदोंसे निरन्तर युद्ध करके इन्द्र स्वराट् बनता है। प्राणोंके अवान्तर-भेद अनन्त हैं, वे शत और सहस्र हैं। इन्द्र भी शत और

चक्षुरिन्द्रिय है। आकाश शब्दोत्पत्तिका हेतु है, वही शब्द हमारे कानोंसे सुना जाता है। बाह्य-जलके ही समान हमारी देहमें वीर्य है जो जीवनकी स्थितिका कारण है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता है। बाह्य-जगत्‌की विद्युत्‌में जो सूक्ष्म परिवर्तन भी होता है उसीका प्रभाव तुरन्त हमारे शरीरपर पड़ता है। विराट् प्राणके साथ शरीरस्थ प्राणकी एकता है। एक एक नक्षत्रकी ज्योतिका प्रभाव शरीरस्थ प्राणपर पड़ता है। दोनोंमें एक ही प्रकारकी विद्युत् है। विद्युत्‌की शक्तिसे आज हम सब स्तब्ध हो गये हैं। इसकी सूक्ष्म चेतना विश्वव्यापी है। क्षणभरमें विद्युत्‌की तरगें पृथिवीमण्डलमें व्याप्त हो जाती हैं। इसी विद्युत्‌की वैदिक सज्ञा प्राण है। इस प्राणको ही देव कहा गया है। मूलमें एक होते हुए भी इसके अनेक रूप हैं। उन अनेक देवोंका वर्णन वैदिक सूक्तोंमें है। परन्तु मूलमें वे एक हैं। वैदिक ऋषियोंने सब देवोंकी एकताको भली प्रकार जान लिया था—

> इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु
> रथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एक सद्विप्रा बहुधा वद
> न्त्यग्निं यम मातरिश्वानमाहु ॥
> (ऋ० १। १६४। ४६)

अर्थात् विप्र लोग एक ब्रह्मका ही अनेक नामोंसे बखान करते हैं। उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मा, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा कहा गया है। व्यावहारिक या सापेक्ष सत्तामें ये देव सविशेष कार्योंके करनेवाले हैं। व्याकृत दशामें (Differentiated state) सब देवोंके अपने-अपने धर्म हैं। पर अव्याकृतरूपमें वे एक ही हैं। यही बात जगत्‌में है। एक शक्तिके अनेक रूप विविधधर्मी हैं। एक ही सूर्यप्रकाशकी अनेक रश्मियाँ हैं जिनका पारस्परिक भेद है भी, और नहीं भी है। सौर रश्मियोंके सात सप्तकोंमें अनन्त किरणें हैं जिनका आपसका भेद लम्बाईकृत है। कुछ किरणें बहुत छोटी हैं और फिर उत्तरोत्तर क्रमसे लम्बाईकी वृद्धिसे अन्य अन्य कार्य करनेवाली किरणें हैं। यहाँ कुछका नाम हीट, लाइट और इलेक्ट्रिक आदि है। पर मूलमें सब एक हैं। यही बात वैदिक ऋषियोंने प्रत्यक्ष की थी। अनेकता है पर साथ ही एकता भी है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ या परमाणुकी द्विविध स्थिति है। अनेकताके साथ उसका सम्बन्ध सृष्टि है, एकताके साथ उसके सम्बन्धकी खोज समाधिकी ओर प्रगति है। इन्हींके वैदिक नाम त्रिपाद् और एकपाद् हैं। सर्वप्रथम सहस्रशीर्षा पुरुष या अनन्त ब्रह्म था। वह स्वय ही द्विधा व्याकृत हुआ। त्रिपाद् और एकपाद्। त्रिपाद् सापेक्ष ब्रह्म है, एकपाद् भूतभव्यभुवन है जिसमें सब लोक समाये हुए हैं। त्रिपाद्‌की ओर जानेका नाम समाधि है, एकपादकी ओर उत्क्रान्त होनेका नाम व्याधि है। यह क्रम किसी क्षण रुका नहीं रहता। सृष्टि और प्रलय संतत होते रहते हैं। बिना द्विविध प्रक्रियाके सत्ता असम्भव है। हम देशमें ठहरे हुए हैं और अपना एक रूप व्यक्त कर रहे हैं। साथ ही कालके प्रवाहसे आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् परिवर्तित हो रहे हैं। निष्कम्प स्थिति असम्भव है। जड़-जगत्‌में अच्युत धर्म नहीं देख पड़ता। इस परिवर्तन और प्रवाहके मध्यमें भी एकरस रहनेवाला ब्रह्म है जो उपहित होकर कूटस्थ चैतन्यरूपसे हम सबमें विद्यमान है। वह इन्द्र अनेजत् है, वह अच्युत है। उससे सब काँपते हैं, उसे कँपानेवाला कोई नहीं है। यह सृष्टि बहुत विलक्षण है। इसके अणुमात्रका भी वर्णन ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। सर्वत्र शास्त्रोंकी गति कुण्ठित हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ प्रत्येक पदार्थकी सापेक्षिक सत्ता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च। अथ यन्मूर्तं तदसत्य, यदमूर्तं तत्सत्य तद्ब्रह्म, तज्ज्योतिर्यज्ज्योति स आदित्य स वा एष ओमित्येतदात्मा। स त्रेधात्मान व्यकुरुत।

अर्थात् ब्रह्मके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष (Formless and Formed) मूर्त माया है, अमूर्त सत्य है। ब्रह्म एक ज्योति है, जो प्रकाश आदित्यमें है, जो ओ३म् है, वही ज्योति आत्मा है। उसने तीन प्रकारसे तीन गुणोंके द्वारा अपने आपको प्रगट किया है। सर्वत्र ही मूर्त और अमूर्त (Immanent and Trans cendent) का द्वन्द्व है। परमाणुका मूर्तरूप है, अमूर्त भी है। मूर्तका निर्वचन किया जाता है, अमूर्त अनिर्वचनीय है। मूर्त एक अशमात्र है, अमूर्त अनन्त है। मूर्तकी सज्ञा विष्णु है, अमूर्त शेष है। शेष और विष्णुका सम्बन्ध बहुत अद्भुत है। मूर्त अमूर्तके आधारसे ठहरा हुआ है। प्राण अमूर्त है, अन्न उसका मूर्तरूप है, पर दोनों ही ब्रह्मरूप हैं। कर्म मूर्त है, ज्ञान अमूर्त है। इस पारस्परिक सापेक्ष क्रमका कहीं अन्त नहीं है। वेदों और ब्राह्मणोंने

अनेक परिभाषाओंसे मूर्त और अमूर्तके सम्बन्धका वर्णन है। यजमान मूर्त है, उसकी तुलनामें पुरोहित अमूर्त है। अन्न मूर्त और अन्नाद अमूर्त है। मूर्तसे अमूर्त बहुत बड़ा है। इन्द्रके ही दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। मूर्तरूप प्राण है, अमूर्तरूप आत्मा है। मूर्तको सत्य मानना अनुचित है। मूर्तरूपको ही ब्रह्मका अन्त समझना भूल है—

> यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

प्राण, चक्षु, श्रोत्र मूर्त-कार्य हैं। इनका नियन्ता अमूर्त है, वही ब्रह्म है। प्राणकी शक्ति भी अचिन्त्य है। पर इन्द्र या ब्रह्म प्राणसे भी महान् है। असुर लोग प्राण-शक्तिको ही परम सत्ता समझते हैं, वे प्राणके भी प्राणको स्वीकार नहीं करते। हमीं लोग देव और हमीं असुर हैं। जीवनकी प्रवृत्तियोंके दो भेद दैवी और आसुरी कहलाते हैं। भौतिक प्रकृतिकी उपासना करना असुर-वृत्ति है। चैतन्यकी उपासना दैवी है। असुरोंके गुरु विरोचनने शरीरको ही आत्मा समझ लिया था। हमलोगोंमें बहुतेरे ऐसे ही हैं जो मुँहसे तो चैतन्यकी सत्ता स्वीकार करते हैं, पर आचरणमें शरीरको ही आत्मा माने हुए हैं। हम सगुण या मूर्तमें आसक्त हैं, उसकी ठीक उपासना, जो मोक्षका हेतु हो, हमसे नहीं बन पड़ती। अविद्या, मूर्तरूप या सृष्टि भी ब्रह्मका ही विकास या उपाधि है। उसका यथावत् उपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। हम उसका त्याग इन्द्र या आत्माके लिये नहीं कर सकते। यही कारण है जो हमारे यज्ञका भाग इन्द्रको न मिलकर अन्य देवों या असुरोंको मिल रहा है। दैवी विधानसे पूर्ण होनेवाले यज्ञोंका यक्ष या यजनरूप इन्द्र है, वह ही उस हविका अधिकारी है। इन्द्र देवाधिदेव या महादेव है। 'इन्द्रश्रेष्ठा वै देवाः'। इन्द्रके भाग पानेसे अन्य देव भी पुष्ट होते हैं। इन्द्रजुष्ट होकर ही इन्द्रियाँ संयम और दिव्य तेजके पथमें विचरती हैं। इन्द्रके आधिपत्यसे बहिष्कृत होना इन्द्रियों या देवोंकी पराजय है।

वेदों और ब्राह्मणोंमें इन्द्रियोंको ही पञ्च पञ्चजनाः कहा गया है। इन्द्रकी पाञ्चजन्य प्रजाएँ इन्द्रियाँ हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है:—

> यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
> तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
> (४।४।१७)

अर्थात् मैं अमृत ब्रह्मका विद्वान् हूँ। मैं बताता हूँ कि आत्मा वह है जिसकी सत्तासे पञ्चजन या इन्द्रियाँ आकाश (Ether) में स्थितिमन्त है। आकाश महाप्राणका स्रोत है। उस महाप्राणसे एक सूत्रमें पिरोये हुए पञ्च इन्द्रियाख्य देव अत्यन्त ऊर्जसम्पन्न होकर जिसकी सत्तासे स्थितिशील हैं वह आत्मा है। ऋग्वेदमें भी कहा है—

> यत्पाञ्चजन्यया विशा इन्द्रे घोषा असृक्षत।
> अस्तृणाद्बर्हणा विपो अर्यो मानस्य स क्षयः॥
> (८।६३।७)

अर्थात् पाञ्चजन्या प्रजाओंने संमनस् होकर इन्द्रकी जो स्तुति की उससे इन्द्र शत्रुओंका वध कर सका और वह मानका पात्र बना। पाञ्चजन्य विशोंकी अनुकूलता प्राप्त करके इन्द्र स्वराट् बनता है, वह वामनसे विष्णुत्व-पद पाता है। इन्द्रियसंयम ही समस्त नीति और अध्यात्मका मूल है। विश् अर्थात् प्रजाओंमें ओजस्वी होनेके कारण ही इन्द्रको विडौजा (विट्+ओजस्) कहते हैं। उसने देवोंका आधिपत्य प्राप्त करके बल, गोत्र, वृत्र, नमुचि, शम्बर, पाक आदि असुरोंको पददलित किया है। वह इन्द्र मरुत्वान् है। मरुत् संज्ञा प्राणोंकी है। प्राणसे इन्द्रका विरोध होना आसुरी है। प्राण इन्द्रके सहायक हों तो इन्द्रका बल अप्रतिरथ हो जाता है। इन्द्र और मरुत्का संवाद वेदोंमें है जहाँ मरुत् इन्द्रकी सहायताका वचन देते हैं। वस्तुतः महाप्राण या शक्ति एक ही है। परन्तु कार्य-भेद और उपाधि-भेदसे उसके अनेक भेद कल्पित किये गये हैं। प्राण पाँच हैं, प्राण सात हैं, प्राण ग्यारह हैं, इसी प्रकार प्राणोंकी उत्तरोत्तर संख्या बाईससे निन्यानवे तक वर्णित है। इन्द्र उन नवनवति पुरोंका विजेता है। वे पुर जबतक आयसी अर्थात् लोहेके हैं तबतक प्राणोंकी वृत्ति तामसी है। अयस्, रजत, स्वर्ण—ये तम, रज, सत्त्वकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। असुरोंने इन पुरियोंका निर्माण किया और इन दुर्गोंमें, कन्दराओंमें छिपकर वे इन्द्रसे लड़ते रहे। इन्द्रने पुरोंका भेदन किया, जिससे वह पुरन्दर कहा जाता है। त्रिपुरासुरके इन्हीं पुरोंका भेदन करनेके कारण शिवको त्रिपुरारि कहते हैं। पुरन्दर और त्रिपुरारि एक ही कल्पनाके दो रूप हैं। त्रिगुणात्मक शक्तिको आत्मसात् करनेके रहस्यका वर्णन ही दोनों जगह इष्ट है। तीन गुणोंके नाना भेदोंसे निरन्तर युद्ध करके इन्द्र स्वराट् बनता है। प्राणोंके अवान्तर-भेद अनन्त हैं, वे शत और सहस्र हैं। इन्द्र भी शत

सहस्रक्रतु और प्रज्ञावाला है । प्राण भी पूर्ण और इन्द्र भी पूर्ण है । ये वैदिक वाङ्मयकी विशेषताएँ हैं । इन गूढ़ अध्यात्मतत्त्वोंके विषयमें शब्दोंकी अभिधा परिमित है । उनकी अनन्तताको प्रदर्शित करनेके लिये बहुत-सी परिभाषाएँ रची गयी हैं । त्वष्टाके पुत्र त्रिशिरासे इन्द्रका संग्राम भी त्रैगुण्य और चेतनका द्वन्द्व है । इन गूढ़ संकेतोंका ज्ञान न होनेसे अल्पज्ञजन कथाकी भूल-भुलैयामें ही भटके रहते हैं। वेदोंकी शैली बहुत अपूर्व है। उसमें अधिराष्ट्र, अधिदैव, अध्यात्म आदि अर्थ समकक्ष होकर साथ-साथ चलते हैं । उनके शब्दोंकी व्यञ्जना भी अनन्त है । एक इन्द्र-शब्दके ही प्रकरण-भेदसे अनेक अर्थ हैं । *ब्रह्म*, आत्मा, सूर्य, प्राण, मन, वाक्, राजा, क्षत्र, वीर्य, वायु आदि इन्द्र-शब्दके अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं । ये ही अर्थ ब्रह्म-शब्दके हैं । इस अनन्ततासे चकित होकर वैदिक ज्ञानके विषयमें निश्चयरूपसे मतवादी होना दुष्कर है । वेदका मत इतना ही है, यह दावा अवैदिक-सा हो जाता है । इस देशके ब्रह्मवादी आचार्योंने वेदकी महिमाको भलीप्रकार जानकर उन्हें ब्रह्मज्ञानका प्रधान कारण माना था । श्रुतिको पक्षपात कुछ नहीं है । प्रकृतिको ही क्या पक्षपात है ? विराट्में सब कुछ है । असत्यपर वे हैं जो हठ करके एक ही पक्षपर आरूढ़ होकर दूसरेका खण्डन करते हैं । 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इन विरोधिनी श्रुतियोंका तारतम्य जान लेनेसे मूर्त और अमूर्त, आस्तिक और नास्तिक, सगुण और निर्गुण सब पक्षोंका समन्वय जाना जा सकता है । हमारे सामने नदी-तटपर पड़ा हुआ एक-एक परमाणु ब्रह्मका मूर्त और सगुण लिंग है । उसके रूपको जाननेके लिये इस समय भी असंख्य विज्ञानवेत्ता प्रयत्नशील हैं। पर उसके असली रूपको कोई नहीं जान पाया है । मूर्त और अमूर्तकी सन्धिको हम जान जायँ तो सारा भेद खुल जाय । पर इस भेदको प्रकृति हमसे गुह्य रखना चाहती है । समस्त प्रकृतिकी गाथा कौन कहे, आकाशमें निरन्तर बृहंणत्वको प्राप्त होनेवाले ब्रह्माण्डकी इयत्ता कहाँ ज्ञेय है, हमारे लिये तो एक परमाणु भी ब्रह्माण्डका यथेष्ट लिंग है, जिसने हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञानको सफलतापूर्वक चुनौती दे रक्खी है। इस अनन्तताकी कुछ झाँकी सान्तके उदाहरणसे हमारे सामने आ जाय, इस प्रयत्नका आयोजन वेदोंमें है ।

'भूमा वै सहस्रम्' । (श० ३ । ३ । ३ । ८) भूमा अनन्त है, अनन्त अज्ञेय है। यहाँ तर्क और शब्दोंकी गति कुण्ठित है। इन्द्र वैकुण्ठाधिपति है । जिस लोकमें अनुभव कुण्ठित नहीं होता वह इन्द्रका धाम है । वह इन्द्र सब छन्दोंका लक्ष्य है, उस विश्वरूपने छन्दोंके अमृतसे जन्म लिया है।

> यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः
> छन्दोभ्यो अध्यमृतात्सम्बभूव ।
> स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु ।

द्वैतवादमें ईश्वर

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

'ईश्वर नहीं है' यह ईश्वर-निषेधक वाक्य ही अपनेसे पूर्व ईश्वरका होना सिद्ध करता है ।

'ईश्वर है' यह स्वतन्त्र वाक्य अपना ही विधायक है । इसी भाँति अद्वैतवाद ही 'द्वैतवादमें ईश्वर' की सिद्धि बतला रहा है । ज्ञान सदैव द्वैत है, वह ज्ञाता और ज्ञेयके बीचमें होता है । जाग्रद्-अवस्था और प्रकाश भी द्वैत हैं, जबतक ज्ञान, जागृतावस्था, एवं अन्धकारका नाशकर प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तबतक 'बुद्धिवाद'के चक्करमें पड़े हुए मनुष्यके लिये किस वादमें ईश्वर है, यह निश्चय कर लेना सहज नहीं है । हाँ, जब कभी भी उक्त अवस्थाकी प्राप्ति होगी, तभी समस्त वादाविवादोंको, बाद देकर द्वैतवादमें ईश्वरकी सिद्धि और साधनाकी सफलतामें साधकको तनिक भी सन्देह नहीं रह सकेगा । दूसरी बात यह है कि द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ही इस बातको मानते हैं कि भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने द्वैतवादका खण्डन कर अद्वैतवादको स्थापित किया। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि श्रीशङ्कराचार्यजीसे पूर्व 'द्वैतवादमें ईश्वर' सिद्ध हो चुके हैं।

> यत्तद्वदन्तु शास्त्राणि यत्तद्व्याख्यान्तु तार्किकाः ।
> जीवनं मम चैतन्यपादाम्भोजसुधैव तु ॥
> (श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती)

नैयायिकोंके ईश्वर

(लेखक—पंडितवर श्रीपंचाननजी तर्करत्न)

नित्यज्ञानैश्वर्ययत्न्याऽध्यशक्तिः
श्रेयोभक्तिज्ञानकर्मप्रयुक्तिः ।
कारुण्याब्धिर्विश्ववन्द्योऽनवद्यः
पायादीशः सर्वतोदत्तविद्यः ॥

ईश्वर नैयायिकोंके सर्वस्व हैं, ईश्वरके अनुग्रह विना जीवके सभी कर्म निष्फल हैं। इसीसे नैयायिकगण यज्ञ-यागादि कर्म-मार्गमें ईश्वर-निष्ठ हैं, योग-मार्गमें ईश्वर-निरत हैं, भक्ति-मार्गमें ईश्वर-परायण हैं और ज्ञान-मार्गमें ईश्वर-तत्पर हैं।

न्यायशास्त्र-प्रवर्तक हरिद्रुमान् अहल्यापति अक्षपाद गौतम महर्षिको* महेश्वरकी साधनासे योगसिद्धि प्राप्त हुई थी। उन्होंने तर्कवादमें शिवजीको सन्तुष्ट किया था। देवीपुराणके अमुद्रित शुम्भ-निशुम्भ-मथनपादमें अक्षपाद नाम आया है और माधवाचार्यरचित शंकर-दिग्विजयमें 'चरणेक्षण' आदि अक्षपादके पर्यायवाची शब्दोंके हेतुका वर्णन है। तारानाथ तर्कवाचस्पतिने अपनी तत्त्वकौमुदी-टीकामें भी ऐसा ही वर्णन किया है। अक्षपाद शिवांश और शिवावतारके शिष्य थे (ब्रह्माण्डपुराण अनुषंगपाद) अतएव उनका शैव-सम्प्रदाय था। प्राचीन न्याय-निवन्ध-में प्रायः शिवकी वन्दना भी की जाती है। सूरिकृत 'षड्-दर्शन-समुच्चय' में लिखा है—

'अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः।'
(जैन हरिभद्र सूरि)

इस सम्प्रदायका प्रधान साधन-मार्ग योग था। इसी-लिये प्राचीन कालमें न्याय-दर्शनका नाम योग था।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने गौतमसूत्र १-१-२९ के भाष्यमें जो 'योगके मतसे असत्‌की उत्पत्ति' बतलायी है उससे भी न्याय-शास्त्रके योग नामका समर्थन होता है। क्योंकि प्रचलित योगदर्शनके मतसे असत्‌की उत्पत्ति नहीं होती, 'नासतो विद्यते भावः।' विशेषतः 'अभिधान-चिन्तामणि' में योग और नैयायिक इन दोनों शब्दोंको एकार्थक कहा है। कौटिलीय अर्थनीतिके आन्वीक्षिकी विभागमें भी न्यायके वदले जो 'योग' नाम आया है वह भी 'न्याय-शास्त्र' का समानार्थक ही है, क्योंकि वात्स्यायनने न्याय-भाष्यमें आन्वीक्षिकीका 'प्रदीपः सर्वशास्त्राणामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणाम्' यह स्वरूप वतलाया है। कौटिलीय अर्थ-नीतिमें भी यही दिखाया गया है। वर्त्तमान पातञ्जल-योगदर्शन अब भी सांख्य-प्रवचन-दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। खैर, यह अवान्तर विषय है। असल बात यह है कि इन दोनों दर्शनोंमें अर्थात् प्राचीन कालके योगदर्शन न्यायसूत्रमें और वर्त्तमान कालके योगदर्शन पातञ्जलमें—दोनोंमें ही ईश्वरका नाम लेकर स्पष्टरूपसे उनका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आत्मा हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं; जीवात्मा अनेक हैं, वे उपासक हैं और ईश्वर उपास्य हैं। यह सिद्धान्त दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान है। वैशेषिक-दर्शनके—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (१।१।३)

इस सूत्रमें 'तत्' शब्दका अर्थ ईश्वर है, भाष्यकार प्रशस्तपादने यह कहकर ईश्वरवादकी स्थापना की है। पर उसका मूल न्याय-सिद्धान्त ही है, अतएव उसको अलग समझना निरर्थक है। सांख्य या कापिलदर्शन न्यायादि-सम्मत ईश्वरवादके प्रतिकूल है। वेदान्तसूत्रका सुप्रसिद्ध शांकरभाष्य अद्वैत-तत्त्वका प्रचारक है। उसके मतमें ईश्वर और जीव एक ही हैं। केवल उपाधि-भेदसे उनमें संज्ञा-भेद है, शांकर-मतमें वस्तुतः उपास्य-उपासकका भेद नहीं

---

* अनावृष्टिसे दग्ध हुए विशुष्क भारतमें वरुणके वरसे गौतमके आश्रममें ही सदा हरिद्वर्ण वृक्षोंकी पंक्तियाँ विद्यमान रहती थीं; चाहे अहल्याके पति, गोदावरी-समानेता और गौतम-वंशमें श्रेष्ठ होनेके कारण हो, अथवा देवीपुराणोक्त शास्त्रार्थ-विजयी होनेके कारण हो, उनका एक नाम गौतम था। शिवपुराण ज्ञान-संहितामें अहल्यापति गौतमका चरित्र आया है। स्कन्द-पुराणके माहेश्वरखण्ड कुमारिकाखण्डमें लिखा है—

'अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।
गोदावरी समानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः।'

(शिवपुराण ज्ञानसंहिता, स्कन्दपुराण कुमारिकाखण्ड देखिये।)

न्यायोद्धारगभीरनिर्मलगिरा गौरीपतिस्तोषितो
वादे येन किरीटिनेव समरे देवः किराताकृतिः।
(न्यायमञ्जरी मूल देवीपुराण)

है, साध्य-साधन-भाव नहीं है, केवल एक अखण्ड चिन्मात्र ही सत्य है; कर्म, योग, भक्ति ये सभी कल्पनामात्र हैं। भक्ति-तत्त्वोपदेशक महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेव ने इस मतकी बड़ी निन्दा की है। खैर, हम अदरखके व्यापारियोंको जहाजकी खबरसे क्या मतलब? हमें तो यहाँ यही कहना है कि न्याय-शास्त्रके साधन-पथमें भक्ति-मार्ग भी सुविस्तीर्ण और सत्य है।

मीमांसक कर्मशक्तिवादी हैं, वे ईश्वरको स्वीकार करनेमें पराङ्मुख हैं। कर्म ही स्वर्गका हेतु और कर्म ही नरकका कारण है।

'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति'

नैयायिक कहते हैं कि कर्म अचेतन है, उसकी शक्ति भी अचेतन है और उसका व्यवस्थापक शास्त्र-वेद भी अचेतन है। यह अचेतनवर्ग किसी चेतनके अधिष्ठान बिना क्योंकर कोई कार्य कर सकता है? विशेषकर विधानदाताके करुणामय, विचक्षण और सत्यवादी न होनेपर, न तो उसके विधानानुसार चलनेसे कभी इष्ट-सिद्धि होती है और न उसके विधानको नहीं माननेसे कोई अनिष्ट ही हो सकता है। मीमांसकोंके मतमें इसप्रकारका विधानदाता कोई नहीं है, परन्तु न्यायके मतमें वह विधानदाता ईश्वर हैं। उन ईश्वरके आज्ञानुवर्ती कर्म ही धर्म या सत्य हैं और उनकी आज्ञाके विरुद्ध कर्म ही अधर्म या असत् हैं। याग-यज्ञादि कर्म उन्हींके द्वारा उपदिष्ट हैं और योग, भक्ति, ज्ञान भी उन्हींके द्वारा उपदिष्ट हैं। विद्यार्थीके अधिकार-भेदके अनुसार गुरु जिसप्रकार पाठ-भेदकी व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार ईश्वरने भी उपासकोंके अधिकार-भेदसे साधन-भेदकी व्यवस्था की है।

'सन्तानकी हित-कामनासे जननि तेहि ताड़न करे'—

इस सैद्धान्तिक लोकोक्तिको सामने रखनेपर ईश्वरको सर्वदा ही करुणामय कहनेमें कोई बाधा नहीं होती। पापकर्मोंके लिये ईश्वर दण्ड नहीं दें तो हमारे उन पापोंका क्षय किसप्रकार होगा? सत्कर्मका फल चित्त-शुद्धि है, शुद्ध-चेताको ईश्वर-कृपासे ही योग, भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति होती है (यह जयन्त भट्टका मत है)।

कृपामय ईश्वर सर्वकर्मप्रवर्तक, सर्वविद्यागुरु और सर्व-शिल्पादि-शिक्षक हैं। उनके अनुग्रह बिना मनुष्यका कोई भी कर्म सफल नहीं होता। यही वेद-शास्त्रोंके उपदेष्टा हैं, वही कर्मकार, रथकार और धनुर्धर आदिके रूपमें होकर शिक्षा देते हैं। यजुर्वेद, रुद्राध्याय और अनेक श्रुतियोंमें उन्हीं ईश्वरके तत्त्वका वर्णन है, उसी श्रुति-मूलक ईश्वर-तत्त्वका भगवान् गौतमने अपने सूत्रमें व्यक्त एवं गूढ़ भावसे उपदेश दिया है।

अनेक नैयायिकोंके सेव्य ईश्वर शिवरूप होनेपर भी त्रिमूर्ति हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों ही ईश्वर-मूर्ति हैं और त्रिमूर्ति होनेपर भी वे स्वरूपतः निराकार हैं। ॐ नमः (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपधारीको प्रणाम है)।

त्रिमूर्ति-चिन्तामणि, गौतमसूत्र, वात्स्यायन-भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य-टीका, कुसुमाञ्जलि, न्यायमञ्जरी, तत्त्व-चिन्तामणि, दीधिति, दीधिति-प्रकाश इत्यादि नव्य प्राचीन सभी प्रकारके न्यायग्रन्थ ईश्वर-तत्त्वके प्रतिपादक हैं। इनमेंसे कुछ ग्रन्थोंमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसकोंके निरीश्वरवादका खण्डनकर अपने मतकी स्थापना विशेषरूपसे की गयी है, जिनमें कुसुमाञ्जलि विशेष उल्लेखनीय है। ईश्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ ईश्वरानुमान-चिन्तामणि है। मूल गौतम-सूत्रसे आरम्भ करके यथासम्भव उसकी आलोचना की जाती है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।'

इस गौतमसूत्र ४।१।१९ से ४।१।२१ तक तीन सूत्रोंमें ईश्वरवादका स्पष्ट वर्णन है। इस सूत्रका भाष्यादि-सम्मत अर्थ यह है—

पूर्वपक्ष कहता है कि ईश्वर ही जगत्का एकमात्र कारण है, नहीं तो पुरुषकी चेष्टा विफल नहीं होती। जिस वस्तुसे जो पदार्थ उत्पन्न होनेवाला नहीं है, उसके लिये मनुष्य कितनी भी चेष्टा क्यों न करे, उसकी वह चेष्टा कभी सफल नहीं होती। कोई यदि सूतके बदले मिट्टीसे कपड़ा बुनना चाहे और इसके लिये चाहे जितनी चेष्टा करे, कभी कपड़ा नहीं बुना जायगा। कहीं कहीं तो सूतसे कपड़ा बुननेकी चेष्टा करनेपर भी बीचमें इतने विघ्न आ पड़ते हैं कि कपड़ा तैयार नहीं हो पाता। इसका कारण यही है कि इस विश्व-संसारका एकमात्र कारण ईश्वर है, मनुष्य इस बातको समझता नहीं। चर्म-चक्षुओंके अगोचर ईश्वरके न देख पड़नेके कारण वह दूसरी-दूसरी चीज़ोंसे अपना काम निकालना चाहता है



श्रीश्रीचैतन्यदेव



श्रीश्रीनित्यानन्द



श्रीअद्वैताचार्य



श्रीहरिदास

परन्तु कार्यके मूलमें ईश्वरके न रहनेपर कार्य सम्पन्न नहीं होता, अतएव ईश्वर ही कारण है। (यह सूत्र ब्रह्मके परिणामवाद और विवर्तवाद-मतका ज्ञापक है—ऐसा तात्पर्य टीकामें कहा है।) अगले सूत्रमें इस मतमें दोष दिखलाया गया है—

'न पुरुष कर्माभावे फलानिष्पत्तेः' (४-१-२०)

'यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्यके कर्म न करनेपर उसे फलकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव मनुष्यका कर्म अर्थात् पुरुषार्थ ही फल प्राप्तिका हेतु है, ईश्वर नहीं। इसके बाद न्याय-मतका चरम सिद्धान्तसूत्र है—

'तत्कारितत्वादहेतुः' (४-१-२१)

उस पुरुषार्थके मूलमें भी ईश्वर हैं—पुरुषार्थके अनुग्राहक ईश्वर हैं उन्हींके द्वारा फलकी प्राप्ति होती है। ईश्वर एकमात्र कारण न होनेपर भी (एवं परिणामोपादान या विवर्तोपादान न होनेपर भी) कर्मसापेक्ष निमित्त-कारण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह व्याख्या भाष्य और उसकी टीकाओंके भावोंके आधारपर लिखी गयी है। इसमें वाचस्पति मिश्रके विचार और समाधान सम्मिलित हैं। अपना स्वमत पीछे दिखलाया जायगा।

कोई भी व्याख्या हो, सबका मूल ईश्वरवादपर प्रतिष्ठित है, प्रदर्शित सूत्र इस बातका एक विशेष प्रमाण है। २-१-६८ के सूत्रमें भी आप्तरूपसे वेदवक्ता ईश्वरका प्रामाण्य निगूढ़ भावसे सूचित किया गया है। इस सूचनाने परवर्ती अनेक निबन्धोंमें ईश्वरके प्रमाणमें एक प्रबल युक्तिका काम दिया है।

'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाचाध्यात्मविध्युपायैः' (४-२-४३)

इस सूत्रकथित नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान भी एक है। अध्यात्म-विध्युपायमें ईश्वर-तत्त्वके श्रवणादिका ग्रहण किया जा सकता है। अतएव इस सूत्रके साथ भी ईश्वर-तत्त्वका गहरा सम्बन्ध है। यहाँ यह आपत्ति होती है कि—

'मूलदर्शनके षोडश पदार्थोंमें या उनके विभाग-बोधक सूत्रोंमें कहीं भी ईश्वरका नामतक नहीं आया है। दूसरी जगह जो ईश्वरकी चर्चा है वह एक प्रकारसे अप्रासंगिक है, वेदवक्ता-आप्तका जो प्रमाण दिया जाता है वह अप्रासंगिक न होनेपर भी स्पष्टतः ईश्वर-तत्त्वका बोधक नहीं है। वह आप्तपदवाच्य ऋषियोंके लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। अतएव निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन सूत्र-ग्रन्थके साथ ईश्वर-तत्त्वका सम्बन्ध है। इस आपत्तिका खण्डन दो प्रकारसे हो सकता है—

(१) भाष्यकारने कहा है—

तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः।

—अर्थात् ईश्वरमें आत्मत्व जाति है, आत्मासे ईश्वरमें विजातीयता नहीं है।

अतएव षोडश पदार्थोंमें जो द्वितीय पदार्थ प्रमेय है, उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आत्मा ईश्वरका भी बोधक है। ईश्वरमें द्वेष-दुःख न रहनेपर भी इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान उसके अनुमापक हैं। आत्मजातीय जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर) दोनोंहीके अनुमापक-हेतु 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम्' (१-१-१०)—इस सूत्रमें संग्रहीत हैं। दोनोंके सम्बन्धमें इनकी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिये। 'आत्मनो लिङ्गम्' इसके 'आत्मनः' इस एकवचनद्वारा आत्मत्व-जाति सूचित होती है। तीसरे अध्याय, २ आह्निकके ७० वें सूत्रमें आत्माका नानात्व स्वीकृत है, अतएव सभी आत्माओंका अनुमान इच्छादि-द्वारा करना पड़ता है। यह निश्चित होनेपर भी सूत्रमें 'आत्मनः' ऐसा एकवचन आत्मत्व-जातिके साथ अन्वय किये बिना सिद्ध नहीं होता। वही आत्मत्व-जाति ईश्वरमें भी विद्यमान है। सूत्रका ऐसा अभिप्राय समझकर ही भाष्यकारने ईश्वरमें आत्मत्व-जातिका होना स्वीकार किया है और 'आत्मान्तरमीश्वरः' कहा है अतएव यह निर्णय हुआ कि ईश्वर प्रमेयके अन्तर्गत हैं।

(२) गौतमसूत्रमें 'प्रमेय' शब्द पारिभाषिक है। जीवात्माका साक्षात्कार ही मुक्तिका प्रत्यक्ष कारण है। इसीलिये प्रमेयमें जीवात्माका ही स्थान रक्खा गया है। इसप्रकार ईश्वरको प्रमेयके अन्तर्गत न लिये जानेपर भी काल, दिशा प्रभृतिकी भाँति (२।१।२२) उनका अस्तित्व सम्यक् प्रकारसे स्वीकृत है।

न्यायसूत्रके षोडश पदार्थ विचारके प्रधान अंग हैं। विचार उसीको कहते हैं, जिससे जीवात्माका मनन, जीवात्माका योग और जीवात्माका साक्षात्कार होता है। न्यायसूत्रका यह भाव नहीं है कि उक्त षोडश पदार्थोंके अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं। वैसा माना जाय तो

पञ्चभूत, सुख, संयोग, समवाय इत्यादि द्रव्यगुणादिका अस्तित्व भी अस्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ये वस्तुएँ षोडश पदार्थोंमें नहीं हैं। पञ्चभूतोंकी तरह ईश्वर भी प्रसिद्ध है, अतएव षोडश पदार्थोंमें उसका नाम न आनेपर भी उसका उल्लेख-ईश्वर-कारणवाद-अप्रासंगिक नहीं है। प्रेत्य-भावके विचारमें उत्पत्ति विचार अपरिहार्य है, उत्पत्तिके विषयमें जो मत उस समय प्रचलित थे, उनका विचार-प्रसंग क्रमसे ही वहाँ किया जाना अप्रासंगिक नहीं था। वेदवक्ता आप्त ईश्वर नहीं है, यह बात न्यायसूत्रमें कहीं नहीं कही गयी है। इसके विपरीत पक्षान्तरमें न्यायसूत्र ३। १। २९ में श्रुतिप्रमाणको स्वीकार किया गया है, इसलिये 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे' (पु० सू० ७) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार वेदवक्ता आप्तके रूपमें ईश्वरको ग्रहण करना किसी प्रकार युक्तिके विरुद्ध नहीं है। ईश्वर-योग सिद्धि होनेपर जीवात्म साक्षात्कार सहज ही हो जाता है। अतएव तत्त्वज्ञानके उपयोगी आत्मसंस्कारके लिये भी ईश्वर प्रणिधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

यह समाधान भाष्यकार प्रभृतिके मतानुसार किया गया। अब मैं दूसरी पद्धतिसे समाधान करनेके लिये 'ईश्वरकारण' इत्यादि (४-१-१९ से २१ के) सूत्रोंकी व्याख्या और तरहसे करता हूँ। यह मेरी धृष्टता है तथापि मैं सुधी-समाजके सामने इसे विचारार्थ उपस्थित करता हूँ।

'पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभाव' यह प्रेत्यभाव आत्माके नित्य होनेसे ही सिद्ध होता है। देहात्मवादी या नैरात्म्यवादीका प्रेत्यभाव या पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होता। इस भावका सूत्र है—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः (४-१-१०)

इस सूत्रसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उत्पत्ति किस प्रकार होती है? उसका स्वमतसिद्ध उत्तर और साथ ही नास्तिकोंका समाधान अगले तीन सूत्रोंमें है। इसके बाद अभाव कारणवाद है, यह मत बौद्धोंका है। इस मतका सूत्र है—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् (४-१-१४)

अभावसे ही भाव वस्तुकी उत्पत्ति होती है। यह बात प्रत्यक्ष है कि बीजको ध्वंस किये बिना अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती। सभी कार्य कारण—ध्वंससे उत्पन्न होते हैं।

यदि यह मत कि, केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, खण्डित न हो तो, प्रवृत्ति धर्माधर्मकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकती, रागादि दोष धर्माधर्मके कारण नहीं हो सकते, मिथ्या ज्ञान दोषका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रवृत्ति प्रभृति सभी भाव पदार्थ हैं, अभाव नहीं हैं। बल्कि भाव-पदार्थको कारण माननेसे न्यायसूत्रके मूल सिद्धान्त (जो १-१-२ सूत्रोंमें वर्णित है) की ही रक्षा नहीं होती। इसलिये यहाँ १५ वें सूत्रसे १८ वें सूत्रतक इस विषयपर विचार और अभावकारणवादका खण्डन है। इस बातको भाष्यकार प्रभृतिने भी स्वीकार किया है। परन्तु—

'क्रमनिर्देशादप्रतिषेध' (४-१-१८)

—इस सूत्रको भाष्यकार प्रभृतिने न्यायमतके अनुकूल अर्थमें ग्रहण किया है। मेरे अनुमानसे, इस सूत्रका सहज अर्थ अभावकारणवादके अनुकूल है। क्योंकि पूर्ववर्ती १७ वें सूत्रमें अभावकारणवादका खण्डन है। जैसे—

'न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्ते'

बीजादि ध्वंसको ही अंकुरादिका कारण कहें तो जो बीज-ध्वंस बहुत पहले हो गया है, फिर उसी ध्वंस बीज-से अंकुरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? वही ध्वंस आज भी तो विद्यमान है। वास्तवमें जब ध्वंससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता तब अभावको कारण नहीं कहा जा सकता। न्याय-शास्त्रकृत इस खण्डनपर अभावकारणवादकी यह उक्ति है कि—

'क्रमनिर्देशादप्रतिषेध'

अर्थात् न्यायशास्त्रकृत यह खण्डन या प्रतिषेध नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य-कारणका अव्यवधान क्रम निर्दिष्ट है। बीज ध्वंस होते ही अंकुरोत्पत्ति हो यह क्रम है, अति पूर्वकालमें बीज ध्वंस होनेपर काल व्यवधानके कारण, क्रमभंग होनेसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इसी आशंकाके उत्तरमें न्यायसूत्रकारने स्वमत स्थापन करनेके लिये 'ईश्वर कारण··' (४-१-१९) यह सूत्र विन्यास किया है। अर्थात् केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, भाव-पदार्थ कारण नहीं है, यह नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें ईश्वरको कारण मानना ही पड़ेगा, यदि नहीं, तो पुरुषार्थ विफल क्यों होता है? इसपर नास्तिक बौद्ध कहते हैं—

'न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्ते (४-१-२०)

'ईश्वर कारण नहीं है, क्योंकि पुरुषके कर्मोंके बिना फल नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है। किसान खेती न करे तो

अनाज नहीं होता। कहना नहीं होगा कि यहाँ भी कृषि-कर्म-ध्वंसके बाद ही अनाजकी उत्पत्ति होती है। यह अभावकारणवादीका मत है। न्यायसूत्रकार इसका उत्तर देते हैं—

'तत्कारितत्वादहेतुः' (४-१-२१)

—अभावकारणवादीका प्रदर्शित कारण ईश्वरकारण-वादका खण्डन करनेमें अनुपयुक्त है। क्योंकि पुरुषका जो कर्म है वह भी ईश्वर-प्रवर्तित ही है। कोई भी कार्य केवल एक कारणसे उत्पन्न नहीं होता। बहुत-से कारणोंके सम्मेलनसे उत्पन्न होता है। इस सम्मेलनके मूलमें ईश्वर वर्तमान रहते हैं। वे अनुग्राहक हैं, इसीसे कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। अतएव विना भावके कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करना बिल्कुल अयुक्त है। यदि अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे किसी भाव-पदार्थका कारणत्व साधित होता हो तो उसी युक्तिसे अन्य भाव-पदार्थको कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं रह जाती। इसप्रकार प्रवृत्ति प्रभृतिका कारणत्व अबाध रह गया। सुतरां प्रेत्यभाव विचारके प्रसंगमें अपवर्ग-साधनके निर्णयके लिये इस विचार-विशेष-की आवश्यकता है। यहाँतक कि षोडश-पदार्थ-निर्देशके मूलमें भी यह ईश्वरवाद वर्तमान है। अतएव कहना पड़ता है कि ईश्वर ही न्याय-दर्शनके प्राणस्वरूप हैं। जो 'प्राणस्य प्राण' हैं, वे यदि न्यायके प्राणस्वरूप हों, तो कोई अनोखी बात नहीं है। अधिकन्तु न्यायशास्त्रके लिये वह अवश्य गौरवकी बात है, नैयायिकके लिये आशा और आश्वासनकी बात है। यहाँ मूल-सूत्रोंके साथ ईश्वरवादका अच्छेद्य सम्बन्ध दिखलाया गया। ईश्वरके स्वरूपकी सूत्रमें विस्तृत आलोचना न होनेपर भी 'तत्कारितत्वात्' इस संकेतसे उसका सूक्ष्म सूत्र दिखलाया गया है। आप्त-प्रामाण्य-निर्देश, अपवर्ग-विचार, आत्माका नित्यत्व और नानात्व-ज्ञापन, ईश्वर-प्रणिधानसे आत्म-संस्कार इत्यादि मन्थनके फलस्वरूप हमें एक प्रकाश-सम्पात मिल गया है। इससे हम समझते हैं कि—

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'
'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'
'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'
'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।'
'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥'

—इत्यादि उपनिषद्, रुद्राध्याय और विविध कर्म-काण्डका ईश्वरस्वरूप निर्णय ही न्यायशास्त्रका आधार है।

श्रुतिप्रमाणसिद्ध वे ईश्वर किसप्रकार अनुमानमें आ सकते हैं, 'तत्कारितत्वात्' एवं आप्त-प्रामाण्यमें यही सूचित किया गया है। क्योंकि ईश्वरकी कृति और वेद-कर्तृत्व ईश्वरानुमानके उत्कृष्ट हेतु हैं।

भाष्यकारने ईश्वर-स्वरूपके सम्बन्धमें निम्नलिखित आलोचना की है।

'अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसंपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टैश्वर्यं संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति।······आप्तकल्पश्चायं यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूतईश्वरोभूतानाम्।'

भावार्थ—जीवात्मामें अधर्म, मिथ्या ज्ञान और प्रमाद है। जिस आत्मामें यह सब नहीं है, बल्कि धर्मज्ञान, समाधि पूर्णरूपसे अवस्थित है, वैसा आत्मा ही ईश्वर हैं। उसकी धर्मसमाधिका फल अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य हैं। उनको धर्म-कर्म सापेक्ष नहीं है, संकल्पानुसार है। प्रत्येक जीवात्माका धर्माधर्म और पृथिव्यादि भूतोंकी प्रवृत्ति उन्हींके प्रभावसे होती है। सन्तानके लिये जिसप्रकार पिता यथार्थवादी हितोपदेष्टा और दयामय है, ईश्वर भी सब भूतोंके लिये वैसे ही पितृतुल्य हैं।

जरन्नैयायिक नामसे गंगेशद्वारा उल्लिखित जयन्त भट्ट कहते हैं—

'ज्ञानसुखेच्छाप्रयत्नधर्माः सन्तीश्वरे'

—अर्थात् ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म ईश्वरमें वर्तमान हैं। वार्तिककार उद्योतकर, तात्पर्यटीका-कार वाचस्पति मिश्र, तात्पर्यपरिशुद्धिकार उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय प्रभृति नव्य न्यायाचार्यगण ईश्वरमें सुख और धर्म स्वीकार नहीं करते। केवल दीधितिकार-शिरोमणिके मंगलाचरणमें 'अखण्डानन्दबोधाय' पद रहनेसे उनका मत जयन्त भट्ट आदिके साथ मिलता है या नहीं, इसमें सन्देह है। ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञता, नित्य इच्छा एवं नित्य यत्न है और कोई विशेष गुण नहीं है, यह मत नैयायिक-समाजमें सुप्रतिष्ठित है।

'सर्वप्राणिनोऽहं शयानोऽहमासीनोऽहं स्थितोऽहं जातोऽहं क्षीणोऽहमित्येवं प्रत्ययैः शरीराद्यं यन्त्रमारूढान् भ्रामयँस्तिष्ठति।'

अर्थात् 'मैं सोता हूँ, मैं बैठा हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जन्मा हूँ, मैं दुर्बल हूँ इत्यादि अनुभवोंके द्वारा शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको वह घुमाता रहता है।'

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी होनेपर भी सबसे अलग है और अपनी शक्तिके द्वारा सबका सञ्चालन करता है। उसीकी कृपासे परम शान्ति—शाश्वत पदकी प्राप्ति होती है। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुनको उसी प्रभुकी शरण जानेके लिये कहते हैं तथा इस ज्ञानको गुह्यसे भी गुह्यतर बतलाते हैं।

इन श्लोकोंमें हमें ईश्वरकी महिमा बतलायी गयी है और उस ईश्वरकी 'सर्वतोभावेन शरण' होनेको कहा गया है। यहाँतक तो ठीक है। इसके अगले दो श्लोकोंमें श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना गुह्यतम रहस्य बतलाते हैं और कहते हैं कि मैं ही वह ईश्वर हूँ और मेरी शरणमें चले आओ (गी० अ० १८।६५)।

इसप्रकार यह व्यक्त होता है कि १८ वें अध्यायके ६१।६२ श्लोकोंमें ईश्वर, उसकी महिमा एवं शरणागति आदिका वर्णन है और उससे अगले श्लोकमें हमें यह गुह्यतम बात बतायी गयी है कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् ईश्वर हैं और मनुष्यको उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये। इन दो बातोंका क्रमशः उल्लेख होना भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये एक नयी एवं मार्केकी बात बतलाता है, जिसपर जहाँतक मैं जानता हूँ अबतक किसी विद्वान्‌का ध्यान नहीं गया है। वह बात यह है कि भगवद्गीताके अधिकांश स्थलोंमें श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका व्यवहार किया है जैसे 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।' 'मामनुस्मर युध्य च।' 'मन्मना भव मद्भक्तो' इत्यादि इत्यादि। इसके साथ ही कई श्लोक धारा रूपसे ऐसे मिलते हैं जिनमें ईश्वर अथवा ब्रह्मका निर्देश अन्य पुरुषके द्वारा किया गया है। इसके उदाहरणरूपमें अठारहवें अध्यायके उपर्युक्त अवतरण पर्याप्त हैं।

इनके अतिरिक्त अध्याय ४।६ में भी ईश्वर शब्दका उल्लेख मिलता है। वहाँ श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका प्रयोग करते हुए यह कहा है कि मैं सारे भूतोंका ईश्वर हूँ—'भूतानामीश्वरोऽपि सन्।' उपर्युक्त श्लोकमें अवतारके सिद्धान्तका निरूपण किया गया है और उस प्रसंगमें श्रीकृष्णने कहा है कि मैं अपनी मायाके बलसे इस संसारमें अवतीर्ण होता हूँ।

भगवत्-प्रेम

'दया' प्रेम प्रगट्यो तिन्हें, तनकी तनि न सँभार।
हरि रसमें माते फिरैं गृह बन कौन बिचार॥ १॥
प्रेममगन जे साधवा बिचरत रहत निसंक।
हरि रसके माते 'दया' गिनै राव ना रंक॥ २॥
प्रेम मगन जे साध जन, तिन गति कही न जात।
रोय रोय गावत हँसत, 'दया' अटपटी बात॥ ३॥
हरि-रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृन-सम जानत साध॥ ४॥
प्रेममगन गद्गद बचन, पुलकि रोम सब अंग।
पुलकि रह्यो मन रूपमें 'दया' न ह्वै चित भंग॥ ५॥
कहूँ धरत पग परत कहुँ डिगमिगात सब देह।
'दया' मगन हरि रूपमें दिन दिन अधिक सनेह॥ ६॥

—दयाबाई

उपनिषद् और ईश्वर

(लेखक—श्रीमहानन्दजी सिद्धान्तालङ्कार, आयुर्वेदमार्तण्ड)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ (श्वेता० ६ । ७)
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वेता० ६ । १८)

ईश्वरकी जिज्ञासा

सृष्टिके अनादिकालसे दो प्रकारके पुरुष होते आये हैं, एक तो वे जो अपने स्व-रूपके ज्ञानके लिये प्रयत्न करते रहे हैं और दूसरे वे जो 'स्व' का विचार न करके 'पर'का ही अनुशीलन करते रहे हैं। मानवीय-प्रकृतिकी बनावट ही इसप्रकारकी है कि जो अधिक ज्ञानवान् संस्कृत संस्कार-सम्पन्न हैं, वे ही अपने स्व-रूपका मनन करते हैं और जो स्थूल-बुद्धिके हैं, वे इस सूक्ष्म विषयको समझ ही नहीं सकते, और सूक्ष्मात्-सूक्ष्म जो परमेश्वर है, उसपर विचार करनेकी योग्यता उनमें नहीं होती, इसलिये उनको ईश्वर-विषय अप्रिय होता है। इसी विषयमें कठ उपनिषद्में आता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कि इन्द्रियोंके गोलक और विषय दोनों ही बाहर हैं, इसलिये स्वभावतः पुरुष बहिर्मुख होता है, कोई ही धीर पुरुष, जिसमें अमृतत्वका भाव प्रवल होता है, इन्द्रियोंको रोक एवं अन्तर्मुखी करके अपने स्वरूपका दर्शन करता है। धीरके सम्बन्धमें कवि कालिदासने क्या सुन्दर कहा है कि—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

विकृत हो सकनेवाली परिस्थितिमें घिरे होनेपर भी जो विकारको प्राप्त नहीं होते, अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको संयममें रख सकते हैं, वे ही धीर होते हैं, अन्यथा—

प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शान्तिः कस्य नोपजायते ॥

—के अनुसार जब इन्द्रियाँ भोग करनेमें असमर्थ हों, उस समयकी बलात् शान्तिमें यथार्थ शान्तता नहीं कही जा सकती, यौवनकी मादकताके अवसरपर जो शान्त रहता है, वही शान्त कहलाता है।

आत्म-जिज्ञासा और ईश्वर-जिज्ञासा जिसप्रकार उच्च संस्कारोंका फल है, उसी प्रकार परिपक्व बुद्धिका भी परिणाम है। बुद्धिके परिपाकका सम्बन्ध शरीरानुपाती नहीं है, इसी कारण महापुरुषोंकी जीवनियाँ यह बतलाती हैं कि कई बाल्यकालमें ही विरक्त हो गये और उन्होंने सारा आयुष्य उसी परमेश्वर-चिन्तनमें विताया। बुद्धिके परिपक्व न होनेपर—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥

—की अवस्था आ जानेपर भी यह अनुभव होता है कि—'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' या—

'अंगानि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते'

—सब शरीर जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित हो गया है, टाँग कमरमें लटकी हुई है, पर तृष्णा-पिशाचिनी पूर्ण तरुणावस्थाको प्राप्त होती जा रही है। इसलिये ईश्वरोन्मुखी-वृत्ति सुकृतियोंकी ही हुआ करती है।

उपनिषद्कालमें जब संस्कारी जीव अधिकतामें थे, तो यह प्रश्न सामने था कि—

(१) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' (बृह० ४ । ५ । ६)

'तमेवैकमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ।' (मु० २ । ५)

(२) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २ । ५)

(३) इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।...
(कठ० ६ । ४)

(४) इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं
न चेदवेदिर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्य-
थेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥
(बृ० ४ । ४ । १४)

(५) तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
(बृ० ४ । ४ । २१)

(६) सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे विब्रूहीति ॥ (बृ० ४ । ५ । ४)

इन सबका सारांश एक ही है कि प्राचीन कर्मोंका फल भोगते हुए इस शरीरसे अमृतत्वको प्राप्त हो परमपिता परमात्माका साक्षात्कार कर मनुष्य-शरीरको सफल करें । यह शरीर और यह मनुष्य-योनि बड़े महत्त्वकी है, ज्ञानवान् मनके साथ इसी शरीरसे परम पदको प्राप्त किया जा सकता है । एक-एक क्षण उसी परमपदकी प्राप्तिमें बीते, सोते-जागते, खाते-पीते एक ही तड़प हो कि इसी जन्ममें ईश्वरकी पुनीत क्रोडमें हम विचरण करें, ऐसा न हो कि समय बीत जाय और हमें हाथ मल-मलकर पछताना पड़े । जब इतनी तड़प होती है तभी मनुष्य ईश्वर-जिज्ञासु कहलाता है । जब मनुष्य ईश्वर-विषयपर शौकिया बात चीत करता है, या मनबहलावसे प्रेरित होकर इस विषयपर कुछ सुन लेता है, या पढ़ लेता है, तो यह 'वाचोविग्लापन' है । प्राचीन समयमें तत्त्व-जिज्ञासासे प्रेरित होकर यत्र-तत्र ऋषि-मुनि, तपस्वी, ब्रह्मचारी विचरा करते थे और स्वयं शान्त होते हुए समाजमें शान्ति स्थापन करते थे ।

ईश्वर-जिज्ञासाके विघ्न

उपनिषदोंमें ईश्वर-जिज्ञासाके जो विघ्न बतलाये हैं, वे सदासे सभी जिज्ञासुओंके समक्ष रहते आये हैं । इनका नचिकेता और यमके संवादमें बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है । नचिकेतापर अत्यन्त प्रसन्न यमने उसे तीन वर माँगनेके लिये आज्ञा दी । नचिकेताने तृतीय वर यह माँगा कि—यह बतलाइये कि मनुष्य मरकर कहाँ जाता है ? आत्मा इसके बाद रहता है या नहीं ? हम सुनते हैं—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' और इसके विपरीत सुनते हैं—

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥'

दोनोंमेंसे क्या सत्य है ? 'अन्तमता सो गता' सिद्धान्त माननीय है या त्याज्य ? प्रश्नका स्वरूप है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥
(कठ० १ । २०)

इसके उत्तरमें यमने कहा कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥
(कठ० १ । २१)

यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है, इसमें देवताओंको भी सन्देह हो गया था इसलिये इसके स्थानपर अन्य वर माँगो, इसका आग्रह छोड़ दो । नचिकेता इसके उत्तरमें कहता है कि जब आप भी इसे इतना सूक्ष्म बतला रहे हैं जब देवोंको भी इसमें सन्देह हो गया था, तो भगवन्, आप-सरीखे ज्ञाता और वक्ता फिर काहेको मिलने लगे, मैं तो यही आपसे वररूपमें पूछना चाहता हूँ—

'देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥'
(कठ० १ । २२)

इसके उत्तरमें यमने फिर कहा कि—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।



भगवान्—गणपतिरूपमें

भूमेर्महदायतनं　　　　वृणीष्व
　　स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
　　वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ　　　नचिकेतस्त्वमेधि
　　कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥

ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके
　　सर्वान् कामाᳪश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
　　नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
　　नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥

(कठ० १ । २३—२४—२५)

अर्थात् १०० वर्षतककी दीर्घ आयुवाले पुत्र-पौत्र चाहो तो मैं देता हूँ । बहुत-से पशु हाथी-घोड़े चाहो तो मैं देता हूँ। बहुत-सा धन और तेज चाहो तो देता हूँ । बड़ी भारी जायदाद या भूमि चाहो तो वह माँगो और दीर्घ आयुष्य माँगो, सौ वर्ष या हजार वर्ष या जबतक तुम्हारा जी चाहे जीते रहनेका वरदान देता हूँ । इसके अतिरिक्त इस संसारमें जो-जो कार्य बड़े दुर्लभ हैं, जैसे आकाशगामी होना, समुद्रान्तःगामी होना Telepathy, television या अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा आदि सिद्धियाँ या जो भी तुम्हारी कल्पनामें आ सकता है, ऐसी वे सब वस्तुएँ निस्संकोच होकर माँगो । इसके अतिरिक्त शरीरसे, रंग-रूपसे मनःप्रसादकारी परम सुन्दर और रमणीय स्त्रियाँ, जो नाना प्रकारके वाहनोंमें सजधजकर बैठी हैं, तुम्हारे उपभोगके लिये देता हूँ । ये तुम्हें अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। ये जो कुछ अनन्त और कल्पनातीत भोग-सामग्री तुम्हें देता हूँ, इसका तुम निर्भय होकर भोग करो और भोगजन्य रोग या इन्द्रियक्षीणता या क्लेश तुम्हें न हो, यह भी वर तुम्हें देता हूँ । ये भोग अन्तवन्त या नाशवान् न हों, सदा तुम इनसे परिपूर्ण रहो—यह भी सब कुछ दे सकता हूँ। पर आत्मा-सम्बन्धी ऐसे गूढ़ प्रश्न तुम मत पूछो ।

इसी प्रकार बृहदारण्यकके चतुर्थ ब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीके संवादमें यह आता है कि मैत्रेयी बोली 'भगवन्, आप जो अपना सर्वस्व छोड़कर अन्यत्र जाने लगे हैं और अपनी सब सम्पत्ति बाँटकर देना चाहते हैं, तथा कहते हैं कि अब बटवारा हो जानेपर तेरा कात्यायनीसे लड़ाई-झगड़ा न रहेगा, तो, भगवन्, यह तो बतलाइये कि—

'सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति ।' 'नेति' होवाच याज्ञवल्क्यो 'यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितᳪस्यात्—अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति' सा होवाच मैत्रेयी 'येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां' 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।'

(बृ० ४ । ५ । ३-४)

'यदि आप सारी पृथ्वी धनसे पूर्ण करके मुझे दे दें तो क्या उससे मुझे अमृतत्व प्राप्त हो जायगा?' याज्ञवल्क्यने कहा कि 'नहीं, जैसे उपकरणसाधनसम्पन्न राजा-महाराजाओंका जीवन है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे मोक्षकी आशा करना दुराशामात्र है।' यह सुनकर मैत्रेयी बोली कि 'जिस वस्तुसे मुझे मोक्ष प्राप्त न हो, उसका संग्रह करके मैं क्या करूँगी ? आप तो मुझे उसीका उपदेश कीजिये, जिसे जान कर आप यह सब त्याग रहे हैं।'

इस वृत्तान्तसे यह स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें अन्य सांसारिक ईषणाओंकी विद्यमानता है, वह ईश्वरकी तरफ कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, 'प्रेमगली अति साँकरी तामें दो न समायँ।' जबतक जन, धन, पदकी भोग-वासनाएँ प्रबल रहेंगी, तबतक ईश्वर-विषय 'व्यर्थ' 'समय नष्ट करना' 'पागलपन' 'वहम' आदि शब्दोंसे तिरस्कृत होगा। जब सांसारिक विषयोंसे मन भरकर ऊब जाता है, सबको अनित्य, नाशवान् और हेय समझकर सत् नित्य अविनाशी तत्त्वकी तरफ प्रवृत्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये तड़पने लगता है, तभी वह इस कठिन मार्गकी ओर चल सकता है । सांसारिक भोग और भोगोंकी इच्छा, मार्गके भारी विघ्न हैं, इसी प्रकार पूर्ण वैराग्य, पूर्ण त्याग और अन्तर्मुखीन वृत्तिका अभाव तथा परमेश्वरके लिये तड़प न होना ईश्वर-विषयमें भारी विघ्न हैं।

ईश्वरका स्वरूप

(१) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्··· स इमाँल्लोकानसृजत ॥ (ऐत० १ । १-२)

(२) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ (तै० २ । १)

(३) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥

(छा० ३ । १४ । १)

(४) स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥ (बृ० ४ । ५ । १५ ॥ बृ० ३ । ९ । २६ । बृ० ४ । २ । ४)

(५) स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ (बृ० ४ । ५ । ११)

(६) स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः · · · · एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एषः ॥ (बृ० ४ । ४ । २२)

(७) स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता
तस्य लोकः स उ लोक एव ॥
(बृ० ४ । ४ । १३)

(८) प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ (बृ० ४।४।१८)

(९) एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥
(बृ० ४ । ४ । २०)

(१०) अस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ (बृ० ४ । ३ । ३२)

(११) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । (बृ० ३ । ९ । २८)

(१२) अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु अस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ बृ० २।५।१४)

(१३) स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥ (बृ० २ । ५ । १८)

(१४) एव वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति । (बृ० २ । ४ । १२)

(१५) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च ॥ (बृ० २।३।१।)

(१६) स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति ॥ (बृ० । २ । १ । २०)

(१७) अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः ।
(बृ० १ । ४ । १६)

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव ॥ (बृ० १ । ४ । १७)

(१८) तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान् प्रजाः पशून् । सर्वस्यैतस्मात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति ॥ (बृ० १ । २ । ५)

(१९) य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति ॥ (छा० ८ । ७ । १)

(२०) अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषाम् ॥(छा० ८।४। १)

(२१) एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ॥ (छा० ८ । ३ । ४)

(२२) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ (छा० ६ । २ । १)

(२३) रसो वै सः । (तैत्ति० ७ । ७)

(२४) ओमिति ब्रह्म ॥ ओमितीदꣳ सर्वम् ॥ (तै० १ । ८)

(२५) ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोयमात्मा चतुष्पात् ॥ (माण्डूक्य० १ । २)

(२६) यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ॥
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥
(मु० २ ।२ ।२)

(२७) यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानं ॥ (मु० २ । २ । ५)

(२८) यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ॥
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥
(मु० २ । २ । ७)

(२९) विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ (मु० २ । २ । ९)

(३०) तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(मु०२।२।१० कठ० २।५।१५)

(३१) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्॥
(मु० ३।१।३)

(३२) अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि
शुभ्रो.........................।
(मु० ३।१।५)

(३३) बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
(मु० ३।१।५)

(३४) यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-
मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
(मु० १।१।६)

(३५) यथा सतः पुरुषात्............
तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥
(मु० १।१।७)

(३६) यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥
(मु० १।१।९)

(३७) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
(मु० २।२।११)

(३८) तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ (प्रश्न ४।११)

(३९) एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा॥(कठ०२।५।९,१०,११)

(४०) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति॥
(कठ० २।५।१२)

(४१) नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
(कठ० २।५।१३)

(४२) य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य......॥ (कठ० २।४।५)

(४३) अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्॥
(कठ० १।२।२०)

(४४) अशरीरꣳ शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं...............॥
(कठ० १।२।२१)

(४५) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० १।२)

(४६) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। (केन० १।३)

(४७) ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥
(ईश० १)

(४८) अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्॥
(ईश० ४)

(४९) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः॥
(ईश० ५)

(५०) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥
(ईश० ८)

इनका सारांश यह है—

(१) आत्मा एक ही पूर्व था, उसने यह सब लोक-लोकान्तर बनाये।

(२) ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्तरूप है।

(३) जिससे सब संसार पैदा होता है, जिसमें फिर सब विलीन होता है और जिसके कारण संसारका संरक्षण, पालन-पोषण होता है वह ब्रह्म है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व—तद्ब्रह्मेति—

यह दूसरी श्रुति इसी अर्थको बताती है।

(४) यह ब्रह्म ग्रहण नहीं किया जा सकता, अविनाशी है, असंग है, मन-बुद्धिसे परे है।

(५) इसी परमात्माने सब वेद, पुराण, उपनिषदादि शास्त्र, लोक-लोकान्तर बनाये हैं।

(६) यह अजन्मा विज्ञानमय है, सबका स्वामी, अधिपति और रक्षक है।

(७) वह परमात्मा समस्त संसारका रचयिता है।

(८) वह प्राणोंका प्राण, चक्षु-श्रोत्र-मन आदिका प्रकाशक और श्रेष्ठ पुरातन ब्रह्म है।

(९) वह ईश्वर ध्रुव है और अप्रमेय है, निर्मल है, अजन्मा और महान् ध्रुव है।

(१०) यह आनन्दमय है, इसीके आनन्दकी मात्रासे अन्य वस्तुओंमें आनन्दका अनुभव होता है। यह महानन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'—यहाँ आनन्दका पारावार नहीं है।

(११) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।

(१२) सब संसारका मिठास यही है, और यह अमृतमय तथा तेजोमय है।

(१३) यह पुरुष है, प्रत्येक पदार्थके अन्दर विद्यमान है—इससे कोई स्थान खाली नहीं है।

(१४) यह ब्रह्म महान् है, अनन्त है, पार पानेकी सीमासे परे है, इसीसे सब पैदा होता है, और इसीमें सबका लय हो जाता है।

(१५) इस ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त, एक अमूर्त।

(१६) जैसे अग्निमेंसे विस्फुलिंग निकलते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामेंसे सब प्राण, सब लोक-लोकान्तर, सब देव, सब भूत पैदा होते हैं, यह सत्य है।

(१७) यह आत्मा सब लोक-लोकान्तरके प्राणियोंका आश्रय है। और यह एक ही आत्मा सबसे पूर्व था।

(१८) उस ईश्वरने यह सब कुछ बनाया, जो कुछ वेदादि शास्त्र हैं या यज्ञ प्रजादि हैं, उसीने बनाये हैं और सब उसीमें विलीन हो जाते हैं एवं सब उसीका भोजन बनते हैं।

(१९) वह परमात्मा भूख-प्याससे रहित, जरा-मरण-पापसे रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है।

(२०) यह ब्रह्म सब पापोंसे और संसार-सागरसे तारनेवाला है (सेतु है) और सबका धारणकर्ता है।

(२१) यह आत्मा अमृत और अभय है।

(२२) पहले सत्स्वरूप परमात्मा ही था, एक ही था, दूसरा नहीं।

(२३) वह परमात्मा 'रस' रूप है। सब संसारका 'रस' यही है।

(२४) इस परमात्माका नाम 'ओ३म्' है, इसीने सब कुछ पैदा किया है।

(२५) ओ३म् यह अविनाशी सदा विद्यमान है, इसीसे भूत, भविष्यत् पैदा होता है। यह कालसे परे है, सब कृति इसी ईश्वरकी है।

(२६) वह प्रकाशस्वरूप है, अणुसे अणु है, उसीमें सब लोक-लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं, यह अक्षर है, प्राणोंका प्राण है, मनोंका मन है और वाणियोंकी वाणी है। यह सत्यस्वरूप है, अमर है, यही ज्ञातव्य है।

(२७) जिसमें द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष मन और प्राणोंके साथ पिरोये हुए हैं, उसी एक आत्माको जानो।

(२८) जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है, जिसकी महिमा यह संसार है, जिसके लिये—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरवरतरुशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति ॥

यदि समुद्ररूपी दावातमें असितगिरिरूपी काली स्याही डालकर, इन्द्रलोकके कल्पवृक्षरूपी लेखनीसे पृथिवीरूपी कागजोंपर शारदा-जैसी विदुषी सदा हर समय तेरे गुणोंको लिखती रहे, उनका वर्णन करती रहे, तब भी हे परमात्मन् ! उनका अन्त नहीं हो सकता।

उस आनन्दरूप अमृतमय परमेश्वरको धीर लोग विज्ञानद्वारा देखते हैं।

(२९) वह परमात्मा निर्मल, पवित्र, उज्ज्वल ज्योतियोंकी ज्योति है, उसे आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं।

(३०) उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्

प्रकाशित होते हैं, सबका प्रकाशक वह है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है, उसीके प्रकाशकी मात्रा अन्य प्रकाशोंमें है।

(३१) वह परमात्मा तेजःस्वरूप, सबका कर्ता, सबका स्वामी और सर्वव्यापक है।

(३२) वह ज्योतिर्मय निर्मल, पवित्र प्रकाश सब शरीरोंके पीछे छिपा है।

(३३) वह परमात्मा बृहत् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, दूरसे दूर है और पाससे पास है, हृदय-गुहा (अपनी ही) में छिपा है। Ultra Micros-Cope (अत्यन्त तीक्ष्ण खुर्दबीनें उसकी सूक्ष्मताको नहीं पा सकतीं और महा भीमकाय दुरबीनें (Teliscopes) उसकी दूरीको नहीं लख सकतीं। इस सूक्ष्मता और महत्तामें जो कुछ घट रहा है, उसे अचिन्त्य ही कहकर मौन धारण करना पड़ता है।

(३४) उस ईश्वरका कोई गोत्र, जाति, वर्ण नहीं है, उसके आँख-कान नहीं हैं,उसके हाथ-पैर नहीं हैं,वह नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविनाशी है, वह संसारका उत्पादक है, उसे धीर लोग देखते हैं। यहाँपर श्वेताश्वतरका यह वचन खूब संगत होता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
३।१९।

दूसरे शब्दोंमें वही पूर्वोक्त श्रुतिका अनुवादमात्र है कि—

बिना हाथ-पैरके बलपूर्वक पकड़नेवाला है, बिना आँख-कानके देखता-सुनता है, वह सबका ज्ञाता है, उसका ज्ञाता कोई नहीं है, वह श्रेष्ठ, महान् पुरुष कहलाता है।

(३५) उस सत् अक्षरब्रह्मसे यह सब विश्व पैदा होता है।

(३६) जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है; जिसका ज्ञानमय तप है, उस ब्रह्मसे यह नाम रूप और अन्न ये तीन वस्तुएँ पैदा होती हैं।

(३७) वह अमृतमय ब्रह्म सामने है, वही ब्रह्म पीछे, दाहिने, बायें, नीचे, ऊपर सर्वत्र फैल रहा है, वही सबसे श्रेष्ठ है।

(३८) जो उस अविनाशी ब्रह्मको जानता है, वह उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक देखता है।

(३९) वह एक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा है।

(४०) वह ईश्वर एक है। सबका नियामक है। सर्व-व्यापक और सर्वान्तर्यामी है,एकसे अनेक वही बनाता है।

(४१) वह नित्य पदार्थोंसे भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है, एक है, सबका बनानेवाला वही है।

(४२) वह भूत और भविष्यत्‌का भी स्वामी है—वह मधु है और संसारमें मिठासके देनेवाला भी वही है।

(४३) वह सूक्ष्मोंसे भी सूक्ष्म, महान्‌से भी महान् इस प्राणीके अन्तरात्मामें छिपा है।

(४४) वह अशरीरी है और सब शरीरोंमें व्यापक है। वह अस्थिरोंमें स्थिर है, वह महान् है और विभु है।

(४५) वह श्रोत्रोंका श्रोत्र, मनका मन, वाणियोंकी वाणी, प्राणोंका प्राण, चक्षुओंका चक्षु है। ऐसे सबके आदिस्रोत परमात्माको धीर लोग मरनेके बाद प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

(४६) उस परमात्माके स्वरूपको न आँखोंसे देख सकते हैं, न वाणीसे कह सकते हैं, न मनसे कल्पना कर सकते हैं, न वह समझमें आता है कि उस ज्ञात और अज्ञात दोनोंसे परे ईश्वर-तत्त्वका कैसे उपदेश करें?

(४७) इस संसारमें जो भी कुछ है, सब वही है और जो कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, जो यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, वह सब परमात्माकी शक्तिसे ही। वह इसका स्वामी और अधिष्ठाता है।

यहाँपर भगवद्गीताका यह वचन कितना संगत होता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

जैसे मशीनके पुरजे हों, ऐसे, अपनी माया-शक्तिसे क्रमबद्धगतिसे ईश्वर सब प्राणिमात्रको उनके हृदय-देशमें स्थित होता हुआ चला रहा है।

(४८) वह ईश्वर एक है, वह स्वयं

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व—तद्ब्रह्मेति—

यह दूसरी श्रुति इसी अर्थको बताती है।

(४) यह ब्रह्म ग्रहण नहीं किया जा सकता, अविनाशी है, असंग है, मन-बुद्धिसे परे है।

(५) इसी परमात्माने सब वेद, पुराण, उपनिषदादि शास्त्र, लोक-लोकान्तर बनाये हैं।

(६) यह अजन्मा विज्ञानमय है, सबका स्वामी, अधिपति और रक्षक है।

(७) वह परमात्मा समस्त संसारका रचयिता है।

(८) वह प्राणोंका प्राण, चक्षु-श्रोत्र-मन आदिका प्रकाशक और श्रेष्ठ पुरातन ब्रह्म है।

(९) वह ईश्वर ध्रुव है और अप्रमेय है, निर्मल है, अजन्मा और महान् ध्रुव है।

(१०) यह आनन्दमय है, इसीके आनन्दकी मात्रासे अन्य वस्तुओंमें आनन्दका अनुभव होता है। यह महानन्द है—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'—यहाँ आनन्दका पारावार नहीं है।

(११) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।

(१२) सब संसारका मिठास यही है, और यह अमृतमय तथा तेजोमय है।

(१३) यह पुरुष है, प्रत्येक पदार्थके अन्दर विद्यमान है—इससे कोई स्थान खाली नहीं है।

(१४) यह ब्रह्म महान् है, अनन्त है, पार पानेकी सीमासे परे है, इसीसे सब पैदा होता है, और इसीमें सबका लय हो जाता है।

(१५) इस ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त, एक अमूर्त।

(१६) जैसे अग्निमेंसे विस्फुलिंग निकलते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामेंसे सब प्राण, सब लोक-लोकान्तर, सब देव, सब भूत पैदा होते हैं, यह सत्य है।

(१७) यह आत्मा सब लोक-लोकान्तरके प्राणियोंका आश्रय है। और यह एक ही आत्मा सबसे पूर्व था।

(१८) उस ईश्वरने यह सब कुछ बनाया, जो कुछ वेदादि शास्त्र हैं या यज्ञ प्रजादि हैं, उसीने बनाये हैं और सब उसीमें विलीन हो जाते हैं एवं सब उसीका भोजन बनते हैं।

(१९) यह परमात्मा भूख-प्याससे रहित, जरा-मरण-पापसे रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है।

(२०) यह ब्रह्म सब पापोंसे और संसार-सागरसे तारनेवाला है (सेतु है) और सबका धारणकर्ता है।

(२१) यह आत्मा अमृत और अभय है।

(२२) पहले सत्स्वरूप परमात्मा ही था, एक ही था, दूसरा नहीं।

(२३) यह परमात्मा 'रस' रूप है। सब संसारका 'रस' यही है।

(२४) इस परमात्माका नाम 'ओ३म्' है, इसीने सब कुछ पैदा किया है।

(२५) ओ३म् यह अविनाशी सदा विद्यमान है, इसीसे भूत, भविष्यत् पैदा होता है। यह कालसे परे है, सब कृति इसी ईश्वरकी है।

(२६) वह प्रकाशस्वरूप है, अणुसे अणु है, उसीमें सब लोक-लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं, यह अक्षर है, प्राणोंका प्राण है, मनोंका मन है और वाणियोंकी वाणी है। यह सत्यस्वरूप है, अमर है, यही ज्ञातव्य है।

(२७) जिसमें द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष मन और प्राणोंके साथ पिरोये हुए हैं, उसी एक आत्माको जानो।

(२८) जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है, जिसकी महिमा यह संसार है, जिसके लिये—

> असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
> सुरवरतरुशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
> तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति॥

यदि समुद्ररूपी दावातमें असितगिरिरूपी काली स्याही डालकर, इन्द्रलोकके कल्पवृक्षरूपी लेखनीसे पृथिवीरूपी कागजोंपर शारदा-जैसी विदुषी सदा हर समय तेरे गुणोंको लिखती रहे, उनका वर्णन करती रहे, तब भी हे परमात्मन् ! उनका अन्त नहीं हो सकता।

उस आनन्दरूप अमृतमय परमेश्वरको धीर लोग विज्ञानद्वारा देखते हैं।

(२९) वह परमात्मा निर्मल, पवित्र, उज्ज्वल ज्योतियोंकी ज्योति है, उसे आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं।

(३०) उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत

प्रकाशित होते हैं, सबका प्रकाशक वह है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है, उसीके प्रकाशकी मात्रा अन्य प्रकाशोंमें है।

(३१) वह परमात्मा तेजःस्वरूप, सबका कर्ता, सबका स्वामी और सर्वव्यापक है।

(३२) वह ज्योतिर्मय निर्मल, पवित्र प्रकाश सब शरीरोंके पीछे छिपा है।

(३३) वह परमात्मा बृहद् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, दूरसे दूर है और पाससे पास है, हृदय-गुहा (अपनी ही) में छिपा है। Ultra Micros-Cope (अत्यन्त तीक्ष्ण खुर्दबीनें उसकी सूक्ष्मताको नहीं पा सकतीं और महा भीमकाय दुरबीनें (Teliscopes) उसकी दूरीको नहीं लख सकतीं। इस सूक्ष्मता और महत्तामें जो कुछ घट रहा है, उसे अचिन्त्य ही कहकर मौन धारण करना पड़ता है।

(३४) उस ईश्वरका कोई गोत्र, जाति, वर्ण नहीं है, उसके आँख-कान नहीं हैं, उसके हाथ-पैर नहीं हैं, वह नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविनाशी है, वह संसारका उत्पादक है, उसे धीर लोग देखते हैं। यहाँपर श्वेताश्वतरका यह वचन खूब संगत होता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
३। १९।

दूसरे शब्दोंमें वही पूर्वोक्त श्रुतिका अनुवादमात्र है कि—

विना हाथ-पैरके बलपूर्वक पकड़नेवाला है, विना आँख-कानके देखता-सुनता है, वह सबका ज्ञाता है, उसका ज्ञाता कोई नहीं है, वह श्रेष्ठ, महान् पुरुष कहलाता है।

(३५) उस सब अक्षरब्रह्मसे यह सब विश्व पैदा होता है।

(३६) जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है; जिसका ज्ञानमय तप है, उस ब्रह्मसे यह नाम रूप और अन्न ये तीन वस्तुएँ पैदा होती हैं।

(३७) वह अमृतमय ब्रह्म सामने है, वही ब्रह्म पीछे, दाहिने, बायें, नीचे, ऊपर सर्वत्र फैल रहा है, वही सबसे श्रेष्ठ है।

(३८) जो उस अविनाशी ब्रह्मको जानता है, वह उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक देखता है।

(३९) वह एक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा है।

(४०) वह ईश्वर एक है। सबका नियामक है। सर्व-व्यापक और सर्वान्तर्यामी है, एकसे अनेक वही बनाता है।

(४१) वह नित्य पदार्थोंसे भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है, एक है, सबका बनानेवाला वही है।

(४२) वह भूत और भविष्यत्का भी स्वामी है—वह मधु है और संसारमें मिठासके देनेवाला भी वही है।

(४३) वह सूक्ष्मोंसे भी सूक्ष्म, महान्से भी महान् इस प्राणीके अन्तरात्मामें छिपा है।

(४४) वह अशरीरी है और सब शरीरोंमें व्यापक है। वह अस्थिरोंमें स्थिर है, वह महान् है और विभु है।

(४५) वह श्रोत्रोंका श्रोत्र, मनका मन, वाणियोंकी वाणी, प्राणोंका प्राण, चक्षुओंका चक्षु है। ऐसे सबके आदिस्रोत परमात्माको धीर लोग मरनेके बाद प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

(४६) उस परमात्माके स्वरूपको न आँखोंसे देख सकते हैं, न वाणीसे कह सकते हैं, न मनसे कल्पना कर सकते हैं, न वह समझमें आता है कि उस ज्ञात और अज्ञात दोनोंसे परे ईश्वर-तत्त्वका कैसे उपदेश करें?

(४७) इस संसारमें जो भी कुछ है, सब वही है और जो कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, जो यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, वह सब परमात्माकी शक्तिसे ही। वह इसका स्वामी और अधिष्ठाता है।

यहाँपर भगवद्गीताका यह वचन कितना संगत होता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

जैसे मशीनके पुरजे हों, ऐसे, अपनी माया-शक्तिसे क्रमबद्धगतिसे ईश्वर सब प्राणिमात्रको उनके हृदय-देशमें स्थित होता हुआ चला रहा है।

(४८) वह ईश्वर एक है, वह स्वयं न हिलता

संसारमात्रको, मनकी-गति तुल्य गतिसे चला रहा है, इसे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं, यह स्वयं पूर्वप्राप्त है।

(४९) वह स्वयं गति नहीं करता पर सबको गतिमें लाता है। वह दूरसे दूर और पाससे पास है। वह सर्वव्यापक होनेसे सबमें व्याप्त होता हुआ, सबसे परे भी है।

(५०) वह शुद्धस्वरूप, शरीररहित, नाड़ी आदि बन्धनोंसे रहित, तेजोमय, पापरहित है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक स्वयम्भू है और सब संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथायोग्य अनादिकालसे करता आ रहा है।

इनसे परमात्माके बहुत-से गुणोंका बोध हो जायगा। इनकी व्याख्याकर लेखको बढ़ानेसे लाभ नहीं है।*

सांख्यमें ईश्वरवाद

(लेखक—डा० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम०ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)

'क्या सांख्य-दर्शन ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है?' इस प्रश्नकी संक्षिप्त मीमांसा करना ही इस निबन्धका उद्देश्य है। साधारणतः सबकी यह धारणा है कि सांख्य निरीश्वरवादी है, वह ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं देता। इतना ही नहीं, यह ईश्वरके अस्तित्वको ही सर्वथा अस्वीकार करता है। इस धारणाका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सांख्यके कुछ सूत्रोंपर ही अवलम्बित है; उन सूत्रोंके मर्ममें प्रवेश न कर, केवल बाह्य दृष्टिसे देखनेपर यही प्रतीत होता है मानो वास्तविक ही सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको सर्वथा स्वीकार नहीं करता और जब हम यह देखते हैं कि सम्पूर्ण सांख्य-दर्शनमें किसी भी विषयको ईश्वरसे सम्बन्धित कर समझानेकी चेष्टा नहीं की गयी, तो हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। परन्तु हम यहाँ यह दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि सांख्यके सम्बन्धमें निरीश्वरताकी धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। सांख्य-सूत्रोंकी भ्रमयुक्त व्याख्याके कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो सांख्य-दर्शन वेदान्त-दर्शनके सदृश ही सेश्वर है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जिन सूत्रोंके सहारे सांख्यमें निरीश्वरभावकी अभिव्यक्ति होती वे सांख्य-प्रवचन-सूत्र प्रथम अध्यायके ९२ से ९९ और पाँचवें अध्यायके २ से १२ सूत्र हैं। परन्तु इन दोनों अध्यायोंके सूत्रोंकी भलीभाँति व्याख्या करनेसे ज्ञात होता है कि इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वरके अस्तित्वको अप्रमाणित करना तो है ही नहीं, प्रत्युत ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है, यह दिखलाना भी नहीं है। प्रथम अध्यायके सूत्रोंमें जिस युक्तिकी कल्पना की गयी है, उसका उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ईश्वरका अस्तित्व नहीं दिखलाया जा सकता और हमलोग भी इन्द्रियोंके द्वारा उसको नहीं जान सकते। पूर्वोक्त ९६ और ९९ सूत्रोंमें † तो स्पष्ट शब्दोंमें ही ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया है। पाँचवें अध्यायके सूत्रोंका उद्देश्य बिल्कुल ही भिन्न है। उनका उद्देश्य तो यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्धसे जगत्का वास्तविक कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं है; ईश्वर केवल परोक्षभावसे प्रकृतिके साथ संयुक्त हैं, और श्रुति भी यही कहती है कि साक्षात् सम्बन्धसे प्रकृति ही जगत्का कारण है, अतः ईश्वरके लिये प्रत्यक्ष सम्बन्धसे जगत्का कारण होनेमें कोई भी शास्त्रीय अथवा आगम-प्रमाण नहीं है। अवश्य ही ईश्वरको गौण कारण कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकृतिने ईश्वर-सान्निध्यके कारण ही सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त की है; परन्तु ईश्वर स्वरूपतः नित्यमुक्त और असंग हैं। सांख्य-दर्शनके पूर्वोक्त सूत्रोंमें यही बात सिद्ध की गयी है। अतएव यह बड़े आश्चर्यकी और हमलोगोंके ज्ञानसे परेकी बात है कि अनिरुद्ध भट्ट, विज्ञानभिक्षु,

* इस लेखमें आगे ईश्वर-प्राप्तिके उपनिषदोक्त सुन्दर साधनोंका वर्णन था परन्तु स्थानाभावसे उक्त अंश नहीं छापा गया, लेखक महोदय क्षमा करें। —सम्पादक

† तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्॥ (सांख्य १।९६, ९९)

और महादेवके समान विज्ञ व्याख्याकारोंने पूर्वोक्त सूत्रोंसे एक ऐसे भिन्न सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो केवल आश्चर्योत्पादक ही नहीं, प्रत्युत सांख्य-सम्बन्धी अन्यान्य अधिक विश्वसनीय व्याख्याओंसे भी मेल नहीं खाता। अधिक क्या, यह व्याख्या विज्ञानभिक्षुके निम्नलिखित अपने ही वाक्योंसे असंबद्ध है। वे वाक्य यों हैं—'कपिल-मूर्तिधारी भगवान्‌ने इस विवेक-शास्त्रद्वारा आत्मानात्म-विवेकके सम्बन्धमें, श्रुतिके अविरोधी इस छः अध्यायवाले ग्रन्थका उपदेश दिया था।' फिर आगे लिखा है कि 'जीवके अशेष दुःखोंको दूर करनेके अभिप्रायसे एवं वेदोपदिष्ट सत्यको जिसमें सब लोग प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्यसे सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश करनेके लिये नारायणदेव कपिल-मूर्ति धारण कर सांख्य-प्रणेताके रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।' (सांख्य-दर्शनकी विज्ञानभिक्षुकृत भाष्यकी भूमिकामें देखिये) इस भूमिका-से ऐसे और भी अनेकों वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु हमारे लिये इतने ही पर्याप्त हैं। इन उद्धृत वाक्यों-में हमें एक बातपर लक्ष्य करना चाहिये। वह यह कि स्वयं भगवान्‌ने ही यदि कपिल-मूर्ति धारणकर सांख्य-दर्शन-का उपदेश किया था तो वे वेदविरुद्ध मतका प्रचार कैसे करते? क्योंकि वेदमें ईश्वरका अस्तित्व अनेकों जगह स्पष्ट स्वीकृत है। यह स्मरण रखना चाहिये कि 'तत्त्व-समास' 'पञ्चशिखसूत्रम्' और 'सांख्य-कारिका'में ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है, जिससे ईश्वरका अस्तित्व अस्वीकार होता हो, या ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा कहा गया हो; वरं देखनेसे सहज ही पता लगता है कि केवल उपर्युक्त वाक्योंमें ही नहीं, पर सांख्य-प्रवचन-सूत्रमें भी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण है। वे इसीके तीसरे अध्यायके ५६ और ५७ वें सूत्र हैं। ❀

यद्यपि व्याख्याकारोंने इन दोनों सूत्रोंकी व्याख्या भी दूसरी तरहसे की है, परन्तु हमारे मतमें इनका यथार्थ तात्पर्य यही है कि प्रकृति जिस आत्माके अधीन होकर और जिसके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर पुनः आविर्भूत होती है एवं सृष्टि करती है वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्ता ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि श्रुतिवाक्यानुयायी सांख्यमें ईश्वरको निष्क्रिय कहा है, अतः वे सर्वकर्ता किसप्रकार हो सकते हैं? इसका साधारण उत्तर यह है कि जिसप्रकार राजाको युद्ध करनेवाला कहा जाता है परन्तु वास्तवमें राजा युद्ध नहीं करता, उसके सैनिक ही उसकी आज्ञाके अधीन हो उसीकी परिचालनासे युद्ध करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ईश्वरके प्रभाव और परिचालनमें ही कार्य करती है, अतः ईश्वरको अन्ततः परोक्षभावसे सब कार्योंका और सम्पूर्ण कर्तृत्वका मूल निर्झर कहा जा सकता है। ❀ यह बात पीछे प्रमाणित की जायगी कि वास्तवमें ईश्वर ही प्रकृत कर्ता है, प्रकृति तो उसके हाथका यन्त्रमात्र है।

सांख्य-दर्शन-सम्बन्धी समधिक प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्य-कारिका' में ही ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण मिलता है। दशवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें † स्पष्ट कहा गया है कि जिसप्रकार जगत्‌में केवल एक परमा प्रकृति है, उसी प्रकार केवल एक परम पुरुष भी है।

हम यदि सांख्य-सूत्रका प्रमाण स्वीकार करें, तो उसमें भी उपर्युक्त विषयपर प्रथम अध्यायके १५० से १५४ के सूत्रोंमें ‡ इसी सिद्धान्तको निर्धारित किया है।

पातञ्जल-योगसूत्रको देखिये। सभी विद्वान् योगसूत्र-को सांख्यदर्शनका एक अति आवश्यक परिशिष्ट मानते हैं और इसको सांख्यदर्शन ही कहते हैं। महाभारत-शान्तिपर्वमें ३०५ से ३०७ अध्यायतक वशिष्ठ ऋषिने और ३१६ अध्यायमें याज्ञवल्क्य ऋषिने यही बात कही है। अतएव यह कहना व्यर्थ है कि सांख्यदर्शनको भलीभाँति

❀ स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।
(सांख्य० ३। ५६-५७)

❀ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
गीतामें भगवान् कहते हैं कि मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्‌को रचती है।

† हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि॥
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।
(सांख्यकारिका १०। ११)

‡ उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः॥
उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्॥
एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः।
अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्॥
नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्॥
(सांख्य० १। १५

समझनेके लिये योगदर्शनका पूरा ज्ञान विशेष आवश्यक है और योगसूत्रका व्यास भाष्य केवल योगसूत्र समझनेके लिये ही अत्यन्त आवश्यक नहीं है, परन्तु समग्र सांख्य-दर्शन समझनेके लिये भी उसकी अत्यन्त आवश्यकता है, कुछ महानुभावोंका कहना है कि व्यास भाष्य योगसूत्रकी सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। साधारणतः पातञ्जल दर्शनको सेश्वर सांख्य और कपिल सांख्यको निरीश्वर-सांख्य कहा जाता है, परन्तु ऐसा विभाग क्यों किया गया, यह समझना कठिन है। क्योंकि यह तो पहले निश्चय किया जा चुका है कि कापिल सांख्य निरीश्वर नहीं है। महाभारतसे भी सिद्ध होता है कि सांख्य और योगदर्शनमें कोई पार्थक्य नहीं है, दोनों एक ही उपदेश देते हैं। सम्भवतः इस भेद बुद्धिका कारण सांख्य प्रवचनके कुछ सूत्रोंकी भ्रान्त व्याख्या ही है। (जिसके विषयमें पहले विचार किया जा चुका है।) अथवा कापिल सांख्यमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको आवश्यक नहीं समझा गया है क्योंकि इसमें जीवका प्रधान उद्देश्य मोक्ष साधन है। परन्तु योगदर्शनमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी आवश्यकता स्पष्ट स्वीकार की गयी है अतः निरीश्वर सांख्यसे जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको स्वीकार न करना और सेश्वर सांख्यसे ईश्वरकी आवश्यकता स्वीकार करना, यही समझना पड़ेगा। पातञ्जल दर्शनमें अनेकों स्थलोंपर इसप्रकार आवश्यकतासे अधिक ज़ोर दिया गया है। (समाधिपाद २३ से २६ के सूत्र देखिये) ईश्वरके सम्बन्धमें कई अन्य सूत्रोंमें भी वर्णन आया है (समाधिपाद सू० १, २२, विभूतिपाद सू० ६)। इन सूत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवकी मुक्तिके लिये पातञ्जल दर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व और उसकी आवश्यकता स्वीकार की गयी है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें परम पुरुष और जीव पुरुष ये दो प्रकारके पुरुष स्वीकार किये गये हैं। यहाँ इस बातपर लक्ष्य रखना चाहिये कि पातञ्जलदर्शनमें कहीं यह नहीं कहा गया है कि मनुष्यकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी एकान्त ही आवश्यकता है। केवल भक्ति विशेषके द्वारा ईश्वरकी उपासना करनेसे उनकी मुक्ति निकटतम होती है। मुक्ति प्राप्तिके और भी बहुत से उपाय हैं जिनमें ईश्वरकी उपासना प्रधान है (इस विषयमें विशेषकर समाधिपादके २१ और २२ के सूत्र देखिये।) अतएव वस्तुतः इस विषयमें सांख्य और पातञ्जलदर्शनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं है।

महाभारत शान्तिपर्वके ३०१ से ३१८ अध्यायतक सांख्य दर्शनपर एक सुन्दर विवरण मिलता है। ३०१ अध्यायमें सांख्य दर्शनकी बहुत प्रशंसा की गयी है और सांख्य ज्ञानका भी अति विस्तृत वर्णन है। यहाँतक कि सांख्य ज्ञानको स्वयं ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्यमें ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकृत करना तो दूर रहा, इसमें वर्णित ज्ञानको स्वयं ईश्वरसे एकीभूत किया गया है और उसे ईश्वरका मूर्त स्वरूप ही बतलाया है। यहाँतक लिखा है कि वेदमें जो ईश्वर ज्ञानकी बातें हैं वे भी सांख्यसे ही ली गयी हैं। शान्तिपर्वके ३०२ अध्यायके ३८ से ४२ श्लोकोंमें वशिष्ठ मुनिके कथनसे ऊपरका मत और भी समर्थित हो जाता है। इसी पर्वके ३०५ अध्यायके ३०, ३७, ३८, ३९ श्लोकोंमें भी वशिष्ठजीने ईश्वरके अस्तित्वको अधिकतर स्पष्टभावसे स्वीकार किया है। (इस सम्बन्धमें ३०७ अध्यायके २६–२७ श्लोक भी देखिये)। जनक और याज्ञवल्क्यके कथोपकथनमें भी सांख्यके सम्बन्धमें हम इस एक ही सिद्धान्तको पाते हैं (अ० ३१४ श्लो० २ और अ० ३१० श्लो० ५५, ५७ देखिये)।

ऊपरके विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है। परन्तु कुछ श्लोक ऐसे हैं जो इस अनुमानके विरोधी से प्रतीत होते हैं— अ० ३०७ के ४५ और ४६ वें श्लोकोंमें कहा गया है कि सांख्य जीवके सिवा अन्य किसी तत्त्वके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता, केवल योगदर्शन ही यह स्पष्ट स्वीकार करता है, पर ऊपरके विवेचनमें हम दिखला चुके हैं कि अन्यान्य अनेक सूत्रोंमें ही पचीस तत्त्वके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्वको अर्थात् ब्रह्म या ईश्वरके अस्तित्वको सांख्यने स्पष्ट स्वीकार किया है। अब इन दोनों विरोधी वाक्योंकी संगति कैसे बैठायी जाय ? इसका सामञ्जस्य अनेक प्रकारसे किया जा सकता है। प्रथम तो इन श्लोकोंमें पाठ भेद ही हो सकता है। दूसरे इनका प्रक्षिप्त होना भी सम्भव है, तीसरे पूर्व कथित श्लोकोंसे इनका सम्पूर्ण असामञ्जस्य भी नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकोंका यह अर्थ हो सकता है कि पचीस तत्त्व हैं अर्थात् पुरुष ही परम तत्त्व है और जो इनके ऊपर है वह निस्तत्त्व है, उसीका दूसरा नाम ईश्वर या ब्रह्म है। अतएव यदि सांख्य पचीस तत्त्वके अतिरिक्त अन्य एक तत्त्वको न भी स्वीकार करे तो भी किसी प्रकारकी असंगति नहीं होती। सांख्यके पूर्व-सूत्रोंमें यह स्पष्ट लिखा

है कि सम्पूर्ण तत्त्व, (यहाँतक जीव भी) परम पुरुषका ही सर्ग है अतः यदि सांख्य परम पुरुषको किसी भी तत्त्व-रूपसे न स्वीकार करे तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है। फिर पूर्व-सूत्रोंमें यह भी स्पष्ट कहा है कि जीव (जो पचीस तत्त्व है) त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वरके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस उपाधिके त्याग करनेपर जीवकी ईश्वरके साथ एकता हो सकती है। यों कहकर यदि सांख्य ईश्वरको एक अतिरिक्त तत्त्व न माने तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होती, असामञ्जस्यकी तो कोई बात ही नहीं। पर यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्वोक्त सूत्रोंमें बार-बार दृढ़ताके साथ यह कहा गया है कि सांख्य और योग एक हैं अर्थात् दोनोंका एक ही विषय है, योग-दर्शनमें ईश्वरके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि यद्यपि सांख्य साक्षात् सम्बन्धसे ईश्वरके विषयमें कुछ नहीं कहता (यद्यपि यह सत्य नहीं है) तो भी अन्ततः वह परोक्षभावसे ईश्वरको स्वीकार करता है। अस्वीकार करनेकी तो कोई शंका ही नहीं है, इससे पूर्वोक्त विषयकी मीमांसा हो जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें जीवके स्वभाव या प्रकृति, जीव एवं ईश्वरके सम्बन्धमें सांख्यके मतका भली-भाँति वर्णन किया गया है। (श्लोक २४, २५, ३० और ७२ अ० १३ श्लो० २२, २७ और अ० १४ श्लो० ३, ४ देखिये) भगवद्गीताके मतमें भी सांख्य ईश्वरके अस्तित्व-को स्वीकार करता है और जीव ईश्वरका ही बहुधा प्रकाश-मात्र है। दूसरे शब्दोंमें जीव त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर है।

श्रीमद्भागवतके कपिल और देवहूति-संवादमें जो सांख्यका वर्णन है, उसमें भी हम ईश्वर-अस्तित्व-सम्बन्धमें यही बात पाते हैं (स्क० ३ अ० २५ श्लो० १५, १७ अ० २६ श्लो० ३–७ देखिये)

उपनिषद् भी इसका समर्थन करते हैं। उपनिषद्का दर्शन-तत्त्व सांख्यसे ही गृहीत है। वहाँ यही कहा गया है कि सांख्य निरीश्वरवाद या अज्ञेयवादका उपदेश नहीं करता, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वका ही प्रत्यक्षरूपसे प्रतिपादन करता है।

नृसिंहरूप

दैत्य हिरण्यकश्यपने अपने आतङ्कको,
धर्माऽवलम्बियोंपर देशमें जमाया था।
सत्यको असत्यने, नीतिको अनीतिने जब,
धर्मको अधर्मने अकारण सताया था॥
'कुसुमाकर' कामी कुचाली मौज करते थे,
दम्भ दुराचारसे समाज घबराया था।
जब विपरीत सब रीति हो गई थी नाथ!
तब तू नृसिंहरूप ले करके आया था॥१॥

अत्याचारियोंका निज बाहु-बल-वीरतासे,
दीन-जन-रक्षा-हित नकशा बिगाड़ा था।
सुनीतिकी ध्वजाको फहराया था चारों ओर,
धर्म-अवरोधियोंके झण्डेको उखाड़ा था॥
दुष्ट दम्भियोंका पशु-बल चूर करनेको,
'कुसुमाकर' आकर प्रभु तू दहाड़ा था।
हिरनाकुश दैत्यसे बलिष्ठ स्वेच्छाचारीको,
धरके नृसिंहरूप पलमें पछाड़ा था॥२॥

देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर) बी० ए० एल-एल० बी०

योगदर्शनमें ईश्वर

(लेखक—प० श्रीलक्ष्मीधरजी वाजपेयी)

हमारे संस्कृत-साहित्यमें छः दर्शन छः ऋषियोंके बनाये हुए हैं। उनमें योग-दर्शन महर्षि पतञ्जलिका है। प्रायः सभी ऋषियोंने तीन तत्त्व मुख्य माने हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। अवश्य ही, सबने सबका मुख्यरूपसे प्रतिपादन नहीं किया है। अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयपर ही विशेष ज़ोर दिया है, परन्तु सबको एक साथ मिलाकर पढ़नेसे तत्त्व एक ही निकलता है।

अद्वैत-वेदान्त जीव और प्रकृतिको गौण मानकर, जो कुछ दृश्य और अदृश्य है, सबको ईश्वर ही मानता है। सांख्य शास्त्रके प्रणेता कपिलमुनि ईश्वरको न मानकर जीव और प्रकृति दोको ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, और भगवान् पतञ्जलि तीनोंका प्रतिपादन करके जीव और ईश्वर दोनोंको मुख्यता प्रदान करते हैं; और फिर उनमें भी ईश्वरको ही मुख्य मानते हैं।

पतञ्जलि ऋषिने मनुष्यको पूर्ण बनानेके लिये तीन शास्त्रोंकी रचना की है—(१) योगदर्शन, (२) व्याकरण-महाभाष्य और (३) राजमृगांक इत्यादि आयुर्वेदके ग्रन्थ। मन, वचन और शरीर तीनोंकी जब शुद्धि हो, तभी मनुष्य पूर्णताको प्राप्त कर सकता है, अतएव भगवान् पतञ्जलिने मनको शुद्ध करनेके लिये योग, वचन यानी वाणीको शुद्ध करनेके लिये पाणिनि महाभाष्य और काय-शुद्धिके लिये वैद्यकके ग्रन्थ रचे। यों तो देखनेमें ये तीनों बातें अलग-अलग दिखायी देती हैं; पर तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अस्तु।

'योग' शब्दका अर्थ जोड़ना है। इस शब्दका उच्चारण करते ही द्वैतकी भावना आती है—अर्थात् जहाँ दो, अथवा दोसे अधिक चीजें होंगी, वहीं वे आपसमें जोड़ी जायँगी। अतएव पतञ्जलि-ऋषि द्वैतको मानकर चलते हैं—यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। 'जीवात्माका परमात्मासे संयोग'—यही योगका अर्थ है। याज्ञवल्क्य-ऋषिने कहा है—

'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।'

अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके संयोगको ही योग कहना चाहिये—यही मनुष्यका परम और चरम सीमाका पुरुषार्थ है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपनी गीतामें कई स्थानोंपर—विशेषकर छठे अध्यायमें 'योग' शब्दकी पूरी-पूरी व्याख्या कर दी है। केवल व्याख्या ही नहीं, बल्कि योग-साधन, योगीके लक्षण इत्यादि भी विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। भगवान्ने बतलाया है कि इस आत्माके साथ दुःखका जो भयंकर संयोग—मायाका आवरण कहिये—लगा हुआ है, उससे आत्माका वियोग होना—यही योग है। दूसरे अध्यायमें 'समत्व'को योग बतलाया है और कहा है कि संगको त्यागकर—फलाशाको छोड़कर कर्म करो, सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रक्खो। यही योग है। एक जगह कहा है कि कर्मको कुशलतापूर्वक करना ही योग है। सबका मतलब एक ही है। अस्तु! भगवान् पतञ्जलि योगलक्षण इसप्रकार बतलाते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

अर्थात् चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है। इससे चित्तकी समावस्था, अर्थात् 'समाधि'-अवस्था प्राप्त होती है, जिसको भगवान् श्रीकृष्णने 'समत्व' योग कहा है।

महर्षि पतञ्जलिने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ये दो भेद योग या समाधिके किये हैं, इसी प्रकार चित्तका स्वभाव तीन प्रकारका माना है—प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति, देखे अथवा सुने हुए पदार्थोंका मनमें विचार करते रहना 'प्रख्या' है, फिर उन विषयोंसे सम्बन्ध करना 'प्रवृत्ति' है; और फिर उन विषयोंमें स्थित होना मनकी 'स्थिति' है। उपनिषदोंमें भी यही कहा है—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

अर्थात् मन जिस विषयका ध्यान करता रहता है, वही वाणीसे निकलता है और जो वाणीसे निकलता है, वही जीव कर्मसे करता है और जैसा कुछ करता है वैसा ही परिणाम निकलता है।

यह चित्तकी वृत्तियोंका ही फल है। सत्त्व, रज, तम गुणोंके अनुसार चित्तवृत्तियोंकी अनन्त शाखाएँ फूटती हैं।

जब चित्तकी वृत्ति सत्त्वगुणसे अधिक संयुक्त होती है तब मन केवल ईश्वरका चिन्तन करता है, जब तमोगुणसे युक्त होती है तब अधर्म, अज्ञान और विषयासक्तिका चिन्तन करता है; और जब शुद्ध रजोगुण चित्तमें अधिक हो जाता है तब मन धर्म और वैराग्यका चिन्तन करता है। इस पिछली अवस्थाको योगी लोग 'परं प्रसंख्यान' कहते हैं। इस अवस्थामें चित्त करीब-करीब सत्त्वगुणके पास पहुँच जाता है।

जो ज्ञानशक्ति परिणामसे रहित और शुद्ध होती है, वही सत्त्वगुण-प्रधान है—उस वृत्तिमें तम और रजका अभाव हो जाता है। चित्तवृत्ति एकाग्र होकर एक सत्त्वगुणके आश्रयसे रहती है। बाह्य विषयोंकी ओर ध्यान जाता है; पर चित्त उनमें रमता नहीं। यह सम्प्रज्ञात-योग है। परन्तु जब सत्त्वगुणके संस्कार भी नहीं रहते—केवलमात्र एक आत्मरतिकी ही अवस्था प्राप्त होती है—जीव आत्मचिन्तनमें ही मग्न रहता है, उस दशाको निर्विकल्प-समाधि या असंप्रज्ञात-योग कहते हैं। असम्प्रज्ञातका अर्थ ही यह है कि जहाँ एकमात्र ध्येय (ध्यान करने योग्य यानी ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषयका ज्ञान अथवा भान न हो।

क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध, ये पाँच अवस्थाएँ चित्तकी बतलायी गयी हैं।

क्षिप्त-अवस्थामें चित्त ऐसा चञ्चल रहता है कि जैसे हवामें दीपककी ज्योति लपलपाया करती है—स्थिर नहीं रहती। तमाम इधर-उधरके मनोरथोंमें चित्त डावाँडोल रहता है। यह रजोगुणकी अवस्था है।

विक्षिप्त-अवस्थामें भी रजोगुणकी ही प्रधानता रहती है; परन्तु बीच-बीचमें थोड़ा-सा सतोगुण भी झाँकता रहता है, जैसे न्यायाधीशके सामने जब मुकदमा होता है, तब बार-बार वह यही सोचता है कि इस अपराधीको दण्ड ही देना चाहिये; परन्तु बीच-बीचमें कभी-कभी कुछ दयाका भाव भी उसके चित्तमें आ जाता है। यह विक्षिप्त-अवस्था है।

तीसरी मूढ़-अवस्था, इसमें तमोगुणकी पूर्ण प्रधानता रहती है। काम-क्रोधादिके वश होकर जब चित्तका कर्तव्य-ज्ञान बिल्कुल नष्ट हो जाता है, तब उसे मूढ़ावस्था कहते हैं।

अब चौथी एकाग्र-अवस्थामें रजोगुण और तमोगुणका बिल्कुल लय हो जाता है; और सतोगुणका प्रभाव बढ़ता है। उदाहरणार्थ—इन पंक्तियोंके लेखकका चित्त एक बार अपने लेखन-कार्यमें इतना एकाग्र था कि दरवाजेसे एक बड़े धूम-धामकी सवारी बाजे-गाजेके साथ निकली, परन्तु कुछ मालूम ही न हुआ; और जब भान हुआ तब जलूस निकल गया था। अन्य लोग जो वहाँ थे, जलूस देख चुके थे। चित्तकी यह एकाग्र-अवस्था—यह भूमिका-अभ्याससे जब एक प्रकारकी आदत-सी बन जाय—मनोधर्म ही जब इसप्रकारका बन जाय—तब उस भूमिकाको एकाग्र-अवस्था कहेंगे।

अब पाँचवीं निरुद्ध-अवस्था लीजिये। इस अवस्थामें चित्त अन्य सब विषयोंसे निरावलम्ब होकर केवल ईश्वरमें तल्लीन हो जाता है। इसमें सत्त्वगुण भी नहीं रहता। सम्प्रज्ञात-समाधिमें ध्येयका ध्यान और ज्ञान, किसी-न-किसी रूपमें रहता है; परन्तु जब चित्तकी निरुद्धावस्था होती है तब ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी नष्ट होकर चित्तका लय अपने कारणमें हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात-समाधि है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—यही चित्तकी निरुद्धावस्था-योग है।

अब चित्तकी वृत्तियोंका विचार करना चाहिये। भगवान् पतञ्जलिने चित्तकी उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं—अर्थात् भूमिकाओंकी तरह पाँच ही चित्तकी वृत्तियाँ भी मानी हैं। ये वृत्तियाँ सुख-दुःख-कारक हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादिके संसर्गसे चित्तवृत्तियोंके दुःखाकार होनेपर आत्मा भी उनके संस्कारसे दुःखका अनुभव करता है। इसी प्रकार धर्म, विवेक, ज्ञान, वैराग्य, परोपकार इत्यादिकी वृत्तियोंसे आत्मा सुखी होता है। वास्तवमें तो आत्मा सुख-दुःखसे अलग है; परन्तु चित्तवृत्तियोंका आरोप उसपर होता है। जैसे युद्धमें सिपाही जीतता और हारता है; परन्तु जीत और हारका आरोप राजापर होता है। स्फटिक-मणि स्वयं शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, स्वयंप्रकाश है, परन्तु भिन्न-भिन्न रंगोंके आभासमें आकर वह भी भिन्न-भिन्न रंगोंकी दिखायी देती है। इसी प्रकार आत्माको भी समझना चाहिये। अब यह देखना है कि उक्त पाँच क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्तवृत्तियाँ कौन-सी हैं—

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच चित्तवृत्तियाँ हैं। यों तो चित्तवृत्तियाँ देखनेमें अनन्त

उनका कुछ ठिकाना नहीं है; परन्तु पतञ्जलि-मुनिने इन्हीं पाँचोंके अन्दर सबको ग्रहण कर लिया है।

प्रथम प्रमाणवृत्तिके तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष वह है, जिसको हम स्वयं देख-सुनकर निश्चय कर लेते हैं। अनुमान—जब किसी एक वस्तुको देखकर उसीके सदृश अथवा उससे विसदृश वस्तुओंपरसे उसको मिलाकर अथवा भिन्न करके उसका ठीक-ठीक अनुमान करते हैं। जैसे, जहाँपर धुवाँ होगा, हम अनुमान कर लेंगे कि वहाँ आग अवश्य है, अथवा जैसे नक्षत्र और चन्द्रमा अपने स्थानपर एक ही सदृश नहीं रहते, हम इससे अनुमान करते हैं कि उनमें गति अवश्य है। अब तीसरा प्रमाण 'आगम' है। आगम आप्त पुरुषोंके वाक्यको कहते हैं। जैसे कोई विद्वान्, सत्यवक्ता—जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है और जिसके विषयमें हम यह समझते हैं कि इसने स्वयं अनुभव किया है, उसकी बातको हम बिना अनुमान और प्रत्यक्षके ही 'प्रमाण' मान लेते हैं। बस, प्रमाणवृत्तिके यही मुख्य तीन भेद योग-दर्शनमें बतलाये गये हैं।

अब चित्तकी दूसरी वृत्ति 'विपर्यय' को लीजिये—विपर्यय विपरीत या मिथ्या ज्ञानको कहते हैं। है कुछ और ही, और हमको भास कुछ और ही होता है। रातको अँधेरेमें रस्सी, वृक्षकी जड़ अथवा अन्य किसी काली लम्बी चीज़को देखकर हम सर्पका भान करते हैं। दूरसे खम्भेको देखकर उसको हम आदमी समझते हैं। सांसारिक सुख सब इसी प्रकारके हैं, जिनको हम सुख समझते रहते हैं, पर हैं वास्तवमें वे दुःखरूप—उनका परिणाम दुःख है। यह चित्तकी दूसरी वृत्ति विपर्यय है।

अब तीसरी वृत्ति विकल्पको लीजिये—यह वृत्ति भी मनको बहुत बाधित करती है। इसका आधार केवल शब्दज्ञान है। वास्तवमें है कुछ नहीं; पर शब्दमात्रसे हम बतला रहे हैं कि यह चीज़ है। जैसे बन्ध्याका पुत्र। बन्ध्याका पुत्र होता ही नहीं, और यदि पुत्र है, तो वह बन्ध्या कैसी? इसीको विकल्प कहते हैं।

चौथी निद्रा-वृत्ति है। यह वृत्ति अभावज्ञानपर अवलम्बित है। ऊपर-ऊपरसे तो हम समझते हैं कि निद्रामें हमको कोई ज्ञान नहीं रहता; पर वास्तवमें निद्रामें भी एक प्रकारका ज्ञान रहता है। अन्यथा जागृत होनेपर हम यह कैसे कहते—'वाह! आज हम कैसे सुखसे सोये। बड़ी गहरी नींद आयी। दिमाग़ तरोताज़ा हो गया' अथवा, 'आह! आज नींद अच्छी नहीं आयी। सुस्ती बनी हुई है। आज काममें मन कैसे लगेगा।' इत्यादि इसप्रकारकी भावना, जागनेपर मनमें होती है। इसीका नाम अभाव-ज्ञान है। निद्रामें चित्त सांसारिक विषयोंसे अलग रहते हुए भी एक विशेष वृत्तिमें रहता है। यह निद्राकी वृत्ति भी योगमें विघ्नकारक है। इसलिये अन्य वृत्तियोंकी तरह इसका भी निरोध करके इसको भी अपने वशमें करना होता है।

अब पाँचवीं स्मृति-वृत्ति है। जिन विषयोंका हमने अनुभव किया है, उनको हम अपने अन्दर छुरा नहीं सकते। बार-बार हम उनको अपने अन्दर-ही-अन्दर जाहिर किया करते हैं। यह जो एक मनोवृत्ति है, इसीको स्मृति कहते हैं।

उपर्युक्त पाँचों वृत्तियाँ अवसर-अवसरके अनुसार सुखदायी और दुखदायी होती हैं; परन्तु योगी इन सभी चित्त-वृत्तियोंको दुखदायी ही मानता है; क्योंकि जिसमें हम समझते हैं कि सुख है, उसका भी परिणाम विवेकसे दुःख ही है। कारण सुखका अनुभव होनेके बाद—उसका वियोग होनेपर—दुःख अवश्यम्भावी है। इसलिये इन सभी चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके—उनके वशमें न होते हुए उनको अपने वशमें करके—अक्षय सुखको प्राप्त करना मनुष्यका परम पुरुषार्थ है; और यही—चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके समाधि-सुखका अनुभव करना—जीवात्म-परमात्मसंयोग होना—भगवान् पतञ्जलिके मतसे योग है।

अब देखना चाहिये कि यह शुभ योग कैसे प्राप्त हो। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेके लिये महर्षि पतञ्जलि दो मुख्य उपाय बतलाते हैं—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है। चित्तरूपी नदीके दो प्रवाह हैं। एक कैवल्यके उच्च शिखरसे निकलकर विवेक-भूमिमें बहता हुआ कल्याण-सागरमें जाकर मिलता है, और दूसरा प्रवाह संसार-रूप पर्वतसे निकलकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयोंकी भूमिपर बहता हुआ पाप-सागरमें गिरता है। जब चित्तकी वृत्तियाँ विषयोंमें फँसती हैं तो उसका परिणाम पाप, और जब वे विवेकसे चलती हैं तब उसका परिणाम 'कल्याण'

अर्थात् मोक्ष होता है। मुमुक्षु पुरुष चित्तके इन दोनों प्रवाहोंको क्षण-क्षणपर जाँचता रहता है, देखता रहता है, कि इस क्षणमें हमारा मन किधर जा रहा है और उसको किधर ले जाना है। मनका धर्म है कि वह किसी-न-किसी ओर जायगा अवश्य। यदि हम उसको कल्याण-की ओर नहीं ले चलेंगे, तो फिर दूसरा मार्ग पापका खुला है ही—उसीकी ओर वह बहने लगेगा। इसलिये पापकी ओरके प्रवाहको रोकनेके लिये 'वैराग्य' के बाँधकी जरूरत है। सांसारिक विषयोंमें जब हमको दोष-ही-दोष दिखायी देने लगते हैं और उनसे हमको पूर्ण घृणा हो जाती है, तब उस स्थितिको 'वैराग्य' कहते हैं। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, उसका मन फिर विषयोंके पापकी ओर नहीं चलता, वह अन्तर्मुख होकर आत्मा अर्थात् 'कल्याण' की ओर चलने लगता है। मनको इसी ओर कायम रखनेके लिये प्रयत्न और अभ्यासकी आवश्यकता है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णने भक्तप्रवर अर्जुनको इसी अभ्यास और वैराग्यके विषयमें समझाते हुए गीताके छठे अध्यायमें कहा है कि, इस संकल्प-विकल्पात्मक मनमें जितने प्रकारकी कामनाएँ अथवा वासनाएँ उठती हों, उन सबसे पूर्णतया वैराग्य धारण करो और तब विवेकसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको चारों ओरसे रोककर उनको अन्तर्मुख करो, जैसे कछुआ अपने सब अंगोंको भीतर समेट लेता है। फिर खूब धैर्यके साथ, विवेकपूर्वक, धीरे-धीरे चित्तको आत्मामें स्थिर करनेका प्रयत्न करो। यह चञ्चल और अस्थिर चित्त जिधर-जिधरको जावे, उधर-ही-उधरसे इसको घेरो; और घेर करके इसको खूब यत्नके साथ अपने वशमें लाओ। इसमें सन्देह नहीं कि यह चित्त अत्यन्त चञ्चल और वायुको तरह दुर्निग्रह है; परन्तु उपर्युक्त अभ्यास और वैराग्यसे यह अवश्य ही वशमें हो जाता है।

यह अभ्यास और वैराग्य उतना सहज नहीं है जितना हमको कहनेमें मालूम होता है। वास्तवमें इसी अभ्यास और वैराग्यके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि अष्टाङ्ग-योगसाधन भगवान् पतञ्जलिने बतलाया है और हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इसीके लिये अपने शरीरको मिट्टी (बाँबी, वल्मीक) तक बना डालते थे; और फिर उसी मिट्टीसे उनका दिव्य शरीर—तप्तकाञ्चनवर्णाभ दिव्य शरीर—निकलता था। अस्तु, अब हमको यह देखना चाहिये कि पतञ्जलि ऋषिने समाधिसाधन अथवा भगवत्प्राप्तिका सबसे सुगम उपाय क्या बतलाया है। उन्होंने अपने योगदर्शनमें कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

चित्तकी चञ्चलताको रोककर उसको अन्तर्मुख करके आत्मस्वरूपमें स्थापित करना बहुत ही कठिन उपाय है। सर्वसाधारण संसारी साधकोंको यह साधन सहज-साध्य नहीं है। इसलिये महामुनि पतञ्जलि 'ईश्वर-प्रणिधान' का सहज उपाय बतलाते हैं। 'प्रणिधान' कहते हैं 'भक्ति' या 'उपासना' को। ईश्वरकी उपासना ही समाधिसाधनका सबसे सरल उपाय है। यह उपासना क्या है? अपने प्रत्येक विचार और कार्यमें भगवान्‌का अधिष्ठान मानकर, जो भी कुछ विचार अथवा कार्य हमसे सम्पन्न हों, सब उसीके लिये—और उसीको अर्पण किये जायँ। ईशोपनिषद्‌के दो मन्त्रोंमें ईश्वरोपासनाका बहुत अच्छा स्वरूप दिखलाया है; और गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उपनिषदोंको दुह करके जो गीता-दूध निकाला है, उस दूधकी कदर इन मन्त्रोंसे भलीभाँति मालूम होती है—

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् यह जितना भी कुछ स्थावर-जङ्गम जगत् है, सबमें ईश्वर व्याप्त हो रहा है—यहाँतक कि हमारे हृदयके अन्दर जो एक छोटीसे भी छोटी विचारकी लहर उठती है, उसपर भी ईश्वरकी सत्ता है—वह सर्वत्र हाजिर-नाजिर है। इसलिये, इसमेंसे—इस जगतमेंसे—जितना कुछ उसने तेरे लिये दिया है, उतनेका ही तू भोग कर—जितना तेरा अधिकार है, उतने ही पैर फैला! अन्याय-पूर्वक दूसरेकी वस्तु हरण करनेकी इच्छा मत कर; क्योंकि यह सांसारिक सुख-वैभव किसीका नहीं है—एकमात्र ईश्वर ही इसका स्वामी है।

इसी प्रकार इस संसारमें आकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए ही तू सौ वर्ष या उससे भी अधिक,—जीनेकी इच्छा कर, क्योंकि इसप्रकार निष्काम—अर्थात् ईश्वरार्पण-पूर्वक—कर्म करनेसे ही तुझको कर्मका लेप नहीं होगा। तू संसार-बन्धनमें नहीं फँसेगा। इसके सिवा कर्मकचाटेसे छूटनेका और कोई भी मार्ग नहीं है।

तत्त्व यह निकलता है कि हम सब जगह ईश्वरकी सत्ता का अनुभव करके, निशिदिन उसका चिन्तन करते हुए, यावज्जीवन निष्काम कर्म करते रहें और ऐसे ही कर्म करें कि जिनको ईश्वरके प्रीत्यर्थ अर्पण करनेमें हमको ग्लानि न हो, तो हमारा चित्त शुद्ध होगा और भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमको दर्शन देंगे। समाधिसिद्धि होनेका यही मार्ग 'ईश्वरप्रणिधान' के शब्दसे महर्षि पतञ्जलि हमको सूचित करते हैं और सम्पूर्ण उपनिषद् और गीता भी इसीका समर्थन करती हैं।

अच्छा, अब जिस ईश्वरकी उपासनासे हमारा परम कल्याण है, उसका स्वरूप क्या है? ईश्वरका क्या लक्षण है कि जिससे हम उसको पहचानें? महात्मा पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें बतलाते हैं—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चार बातोंसे निर्लिप्त जो पुरुषविशेष है, वही ईश्वर है। क्लेश पाँच प्रकारके हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों क्लेशोंमें अविद्या ही मुख्य है। अविद्याके ही कारण अन्य दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुखकी और अनात्ममें आत्मबुद्धि होना ही अविद्या है। महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनमें कहा है कि इन्द्रियों और संस्कारोंके दोषसे अविद्याकी उत्पत्ति होती है। दूसरा क्लेश अस्मिता है। इसका अर्थ है अहंभाव। अहंभावसे, (आत्मज्ञानसे विरहित) अपनेको ही कर्त्ता-भोक्ता सब कुछ मानना अस्मिता है। राग सुखके आधार पर होता है। जिन वस्तुओंसे हमको सुख होता है—ऐसा हम समझते हैं—उनपर जो हमारी प्रीति है, वही 'राग' है। यह भी एक क्लेश ही है। द्वेष दुःखके आशयपर चलता है। जिससे हम दुःख समझते हैं, उससे द्वेष या घृणा करते हैं। यह चौथा क्लेश है। अब पाँचवाँ क्लेश 'अभिनिवेश' है। यह मृत्युका भयंकर दुःख है। छोटेसे लेकर बड़ेतक, मूर्खसे लेकर बड़े बड़े विद्वानोंतक—मृत्युका दुःख सबके सामने है। इन पाँचों क्लेशोंसे ईश्वर अलग है।

कर्म दो प्रकारके हैं—पुण्यात्मक और पापात्मक और इनका विपाक, अर्थात् शुभाशुभ फल, और उनका आशय अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंकी वासनाएँ, इन सबसे भी ईश्वर अलग है।

उपर्युक्त अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय जीवमें माने जाते हैं, अविद्या इत्यादिसे जीवको दुःख होता है। वेदोक्त विधि निषेधात्मक कर्मोंमें जीव फँसता है और उनके विपाक 'जन्म, आयु और भोग' भी जीवात्माको प्राप्त होते हैं, और इन भोगोंका आशय या संस्कार या वासनाएँ भी जीवके साथ लगी रहती हैं। यों तो जीवात्मा भी चेतन, शुद्ध, बुद्ध, नित्य और निष्कलंक है, परन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो क्लेशादि होते हैं, वे जीवमें ही आरोपित किये जाते हैं—जीव उनसे निर्लिप्त नहीं है। ईश्वर इन सब बातोंसे अलग 'पुरुष विशेष' है। पुरुषसे उसको विलक्षण बतलाया गया है। 'पुरुष' जीवको भी कहते हैं और ईश्वरको भी। शरीररूपी पुरका स्वामी होनेसे जीव पुरुष कहलाता है और सम्पूर्ण जगत्‌रूपी पुरका एकमात्र अध्यक्ष होनेसे ईश्वर भी पुरुष कहलाता है, परन्तु दोनोंमें भेद इतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियोंमें लिप्त है, तो दूसरा सबसे बिल्कुल निर्लिप्त है। मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों पक्षी 'सुपर्णा'—सुन्दर सामर्थ्यसे युक्त हैं और 'सयुजा' अर्थात् व्याप्य-व्यापक-रूपमें बिल्कुल एक-दूसरेसे मिले हुए हैं, और 'सखाया' अर्थात् समान ख्यातिवाले नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अतएव मैत्रीधर्ममें रत हैं और प्रकृतिरूप एक ही वृक्षपर दोनों प्रेमसे रहते हैं परन्तु भेद इतना ही है कि इनमेंसे एक अनादिकालसे प्रवृत्त कर्मपाशमें बद्ध होनेके कारण, उस वृक्षके शुभाशुभ कर्मोंके फलको यथावत् भोगता है और दूसरा कर्म विपाकसे सर्वथा निर्लेप (अपरामृष्ट) रहकर अपनी सर्वज्ञतासे उस जीवात्माके कर्मोंका साक्षीरूप रहता है। यही ईश्वरका ऐश्वर्य है। महात्मा पतञ्जलि कहते हैं—

'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'

वहाँ, अर्थात् ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और जितना कुछ ज्ञान दिखायी देता है, वह भी सब उसीसे है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशस्वरूप है, और जितना कुछ प्रकाश जगत्‌में है, वह

भी सब सूर्यहीसे है। ईश्वरकी परमावधि सर्वज्ञताका बीज सृष्टिकी रचना, धारण और संहारकी शक्तिमें मालूम होता है। उसके इस ज्ञानमय तपका प्रभाव वेदादि सब शास्त्रोंसे पूर्णतया प्रकट है—

ऋतश्च सत्यश्चामीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत, ततः समुद्रो अर्णवः, समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

—ऋग्वेद

अर्थात् उसी ज्ञानमय और प्रकाशस्वरूप ईश्वरकी अनन्त शक्तिसे ऋत अर्थात् वेदज्ञान और सत्य अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति उत्पन्न हुई। इसके बाद रात्रि अर्थात् प्रलयका महाघोर अन्धकार और तब एक प्रकारके विलक्षण प्रकम्पनके साथ पृथ्वी तथा आकाशमें सर्वत्र जलतत्त्व उत्पन्न हुआ। इसके बाद सम्पूर्ण विश्वको स्वाभाविक ही अपने वशमें रखनेवाले उस भगवान्‌ने दिन, रात और वर्ष इत्यादि कालकी सीमा प्रदर्शित करनेवाली गतिको उत्पन्न किया। सम्पूर्ण जगत्‌का धारण (पालन-पोषण) करनेवाले उस धाताने जिसप्रकार पूर्वकल्पोंमें अपने ज्ञानरूप तपोबलसे सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष, स्वर्लोक इत्यादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको रचा, उसी प्रकार इस कल्पमें भी रचा है और इसी प्रकार रचता आया है एवं आगे भी रचता जायगा।

इसीलिये ईश्वर 'निरतिशय सर्वज्ञबीज' कहा गया है। सर्वज्ञतामें सिर्फ उसके अनन्त ज्ञानका ही लक्षण नहीं है; बल्कि उसकी स्वाभाविक ज्ञानबलकी क्रियाका भी इसी सर्वज्ञबीजत्वमें अन्तर्भाव है। क्योंकि बिना क्रियाशीलताके केवल ज्ञान कोई चीज़ नहीं है। सृष्टिके सृजन, धारण और संहारमें ईश्वरकी जो अनन्त क्रियाशीलता देखी जाती है, उसीकी ओर पतञ्जलि मुनिने अपने उपर्युक्त सूत्रमें निर्देश किया है। भगवान् वेदव्यासने भी अपने वेदान्तदर्शनमें 'जन्माद्यस्य यतः' लिखकर यही सूचित किया है। सभी शास्त्रोंकी तरह गीता-शास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिससे इस सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है और जो इस स्थावर-जंगम जगत्‌में व्याप्त होकर सबका धारण कर रहा है, उसकी पूजा अपने कर्मोंसे ही करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे कर्म करो, जिससे वह प्रसन्न हो। यही ईश्वरकी सर्वोत्तम पूजा है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका मत स्पष्ट है। अस्तु, अब ईश्वरका अन्य लक्षण पतञ्जलि-मुनि बतलाते हैं—

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'

अर्थात् पूर्वकालमें ब्रह्मादि जितने ऋषि, मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं, वह सबका गुरुदादा है। वह कालमें बँधा नहीं है—अनादि, अनन्त है।

सृष्टि-उत्पत्तिके प्रारम्भमें, जीवोंकी उत्पत्तिके साथ ही, ईश्वरने अपना वेदरूपी ज्ञान प्रकट किया और उसी ज्ञानका उसने पूर्व-ऋषियोंको उपदेश दिया, मनुस्मृति और उपनिषदोंमें भी, इसका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥

(मुण्डक० २। १। ६-७)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजु०

इसी प्रकार वेद, उपनिषद्, छओं शास्त्र, ब्राह्मणग्रन्थ, सब स्मृतियाँ, सब पुराण और गीता इत्यादि सब शास्त्र एकमतसे यह मानते हैं कि ईश्वरने पहले अपना वेदरूप ज्ञान (चारों वेद) अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, इन चार ऋषियोंके हृदयमें प्रकाशित किया, फिर उनसे ब्रह्माजीने चारों वेद पढ़े, जिससे वे चतुर्मुख कहलाये। आज भी लोग कहते हैं कि विद्या पढ़नेसे मनुष्यके चार आँखें हो जाती हैं। इसी प्रकार चारों वेदोंके ज्ञाता ब्रह्माजी चतुर्मुख कहलाते हैं। भगवान् मनुने कहा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

ब्रह्माजीके पीछे विराट्, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्षप्रजापति, स्वायम्भुव मनु आदि हुए। इन सब ऋषियोंके मनमें परम्परासे ईश्वरने ही अपने ज्ञानका प्रकाश किया। उसीसे सब ऋषि उत्पन्न हुए और उसीने कृपा करके उनको ज्ञान भी दिया। जैसे पिता बालकको जन्म देकर उसको विद्याभ्यास इत्यादिमें लगाता है वैसे ही उस दयालु भगवान्‌ने मनुष्यको उत्पन्न करके, उसके लिये जीवनके साधेन प्राणायाम, अन्नादि ओषधियाँ और वेदके विधि-निषेधके द्वारा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादिका ज्ञान दिया। इसी प्रकार वह अनादि कालसे ज्ञान देता चला आता है और ऐसा ही ज्ञान देता चला आयगा। न उसका अन्त है और न उसके ज्ञानका अन्त है। भूत, वर्तमान, भविष्य सब उसीमें समाया हुआ है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

—यजु०

यह जो कुछ हो चुका है, वर्तमान है और जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब उसीके अन्दर समाया हुआ है। मोक्षरूप अमृतका अधिष्ठाता वही है; और अन्नादि ओषधियोंसे लेकर जितने स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका स्वामी वही एक है।

इसप्रकार वह हमारा उत्पादक, हमारा ज्ञानदाता और हमारे पूर्वज गुरुओंका गुरु है। उसको हम कैसे जानें? भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः'

अर्थात् उसका वाचक प्रणव, अर्थात् ओंकार (ओ३म्) है, ईश्वर वाच्य है और प्रणव ओंकार उसका वाचक यानी जतलानेवाला है। प्रणवका अर्थ है कि जिसके द्वारा उत्तम रीतिसे स्तुति की जाय। अथवा जो उत्तम रीतिसे स्तुति दर्शावे, उसे भी प्रणव कहते हैं। ओ३म् और ईश्वरका वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध नित्य, अनादि है। इस संकेतसे उसको प्रकाशित किया जाता है; किन्तु बनाया नहीं जाता। जैसे पिता और पुत्रका सम्बन्ध कोई बनाता नहीं है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। सिर्फ संकेतमात्र किया जाता है कि यह पुत्र और यह उसका पिता है।

ओ३म् ईश्वरका सर्वोत्तम नाम है। इसमें ईश्वरके सभी गुणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद्‌में अकार, उकार, मकार इत्यादि मात्राओंका विश्व, तैजस और प्राज्ञके रूपमें बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इससे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ताका पूर्ण बोध होता है। इसप्रकार प्रणव ईश्वरवाचक शब्द है। शब्द और अर्थका नित्य-सम्बन्ध है। शब्दके पीछे-पीछे अर्थ दौड़ता है। इसीलिये हमारे साधु-सन्तोंने नामकी बड़ी महिमा गायी है। बिना नामके रूप नहीं जाना जाता। नाम जपते-जपते उसका अर्थ हृदयमें समाता है। इसीलिये महर्षि-पतञ्जलिने अगले सूत्रमें कहा है—

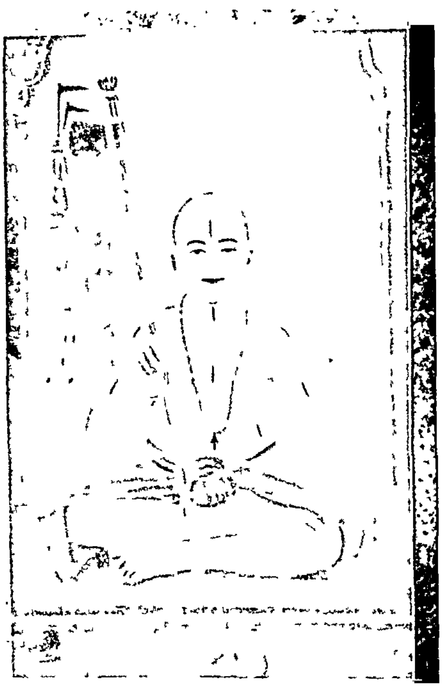
'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

प्रणवका जप क्या है? उसके अर्थ—अर्थात् ईश्वरकी भावना करना। ईश्वर-चिन्तन करना ही ओंकारका जप है। इससे चित्त एकाग्र होकर समाधि सिद्ध होती है। मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है कि किसी लक्ष्यको वेधनेके लिये तीन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—एक धनुष, दूसरे वाण और तीसरे मनकी एकाग्रता—अर्थात् मनकी सब वृत्तियोंको चारों ओरसे हटाकर एक लक्ष्यकी ही ओर लगाना। जबतक ये तीनों साधन अनुकूल न हों, तबतक लक्ष्यवेध नहीं हो सकता। इसलिये जो ब्रह्मरूप अति सूक्ष्म लक्ष्यको वेधना चाहता है उसको पहले उपनिषद् यानी ब्रह्मविद्याका दृढ धनुष हाथमें लेना चाहिये और फिर उपासना यानी अभ्यासयोगसे तीक्ष्ण वाणको उसमें जोड़ना चाहिये। इसके बाद अपने मनकी सब वृत्तियोंको सांसारिक सब विषयोंसे हटाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यमें स्थिर करना चाहिये। ऐसा करनेसे हम अवश्य ही अपने लक्ष्यको वेध सकेंगे। इस विषयमें उपनिषदोंने कई तरहसे कहा है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

—मुण्डक०

अर्थात् ओंकार ही धनुष है। जीवात्मा उसका वाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। मुमुक्षु पुरुषको ओंकाररूप धनुषमें आत्मरूप वाणको चढ़ाना चाहिये—अर्थात् ओंकारका बारम्बार अभ्यास करके अपनी आत्माको बलिष्ठ, उज्ज्वल, निर्विकार बनाना चाहिये। फिर अप्रमत्त होकर अर्थात् जितेन्द्रियतापूर्वक चित्तवृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे खींचकर चित्तको एकाग्र करके—वाचककी सहायतासे



स्वामी श्रीरामानन्दजी



श्रीकबीर साहेव



गो० श्रीतुलसीदासजी



श्रीपयहारीजी और पृथ्वीराज



श्रीज्ञानेश्वर



श्रीएकनाथ



श्रीतुकाराम



समर्थ श्रीरामदास

वाच्यरूप लक्ष्यको आत्मरूप वाणसे वेधना चाहिये। जिस-प्रकार वाण लक्ष्यमें पहुँचकर तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी ईश्वरमें प्रविष्ट होकर तन्मय हो जाती है। आत्मा कहीं ईश्वरसे अलग थोड़े ही है। 'यस्य आत्मा शरीरम्' अर्थात् जिसप्रकार जीवात्मा इस पाञ्च-भौतिक शरीरका चोगा पहने हैं, उसी प्रकार जीवात्मा ईश्वरका शरीर ही तो है। जीवात्मा—जो इतना सूक्ष्माति-सूक्ष्म है, वही—उस ईश्वरका शरीर है। इस जीवात्माका उपाधिरूप मल दूर हो जानेपर वह उस दिव्य परमात्मामें आप-ही-आप मिला हुआ तो है ही। उसी मलको दूर करनेके लिये—चित्तको स्वच्छ, चमकदार दर्पणकी तरह बनानेके लिये—प्रणवका जप भी एक अभ्यास है। श्वेता-श्वतर-उपनिषद्में भी इसी तरहका एक दृष्टान्त दिया है—

> स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
> ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवंपश्येन्निगूढवत् ॥
>
> श्वेताश्वतर०

अर्थात् जैसे एक अरणीको दूसरी अरणीपर रखकर—फिर खूब रगड़कर अग्नि निकालते हैं, उसी प्रकार 'अपनी देह (हृदय) रूप एक अरणीपर प्रणव-ओंकार-रूप दूसरी अरणीको धारण करके खूब रगड़वाजी करनी चाहिये—अखण्डरूपसे ओंकारका जप करनेसे उसके अर्थ, अर्थात् ईश्वरका हृदयके अन्दर चिन्तन करनेसे ध्यान लग जाता है और जिसप्रकार दो लकड़ियोंके रगड़नेसे उनके भीतर छिपी हुई अग्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार हृदय और प्रणवकी रगड़वाजीसे अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर वहाँ हृदय-मन्दिरमें प्रकाशित होता है और तब मनुष्य कृतार्थ होकर जिस आनन्दका अनुभव करता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता—

> समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
> निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
> न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
> स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

उपर्युक्त उपासना-योगके अभ्याससे, समाधि-साधन करके, जो मुमुक्षु अपने चित्तके अज्ञानादि सब मैल धो डालता है और अपनी आत्मामें ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध-चित्तको परमात्मामें लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है, वह वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उस परम आनन्दको तो जीवात्मा अपने अन्तःकरणमें ही अनुभव कर सकता है।

यही मनुष्य-जन्मका परम पुरुषार्थ है।

साइयाँ

पिया मैं आरत तेरी हो।
मातो तेरे नाममें मैं साँझ सवेरी हो॥१॥
या तनको दियलो करूँ मनसा करूँ वाती हो।
तेल भराऊँ प्रेमको वालूँ दिन राती हो॥२॥
पटिया पारूँ ज्ञानकी सुमति माँग सवारूँ हो।
पिया तेरे कारने धन जोबन वारूँ हो॥३॥
सेजड़िया बहुरँगिया चंगा फूल विछाया हो।
रैन गई तारा गिणत प्रभु अजहुँ न आया हो॥४॥
सावन भादों ऊमड़ो बरखा ऋतु छाई हो।
भौंह घटा घन घेरिके नैनन झरि लाई हो॥५॥
मात पिता तुमको दई तुम ही भल जानूँ हो।
तुम तजि और भतारको मनमें नहिँ आनूँ हो॥६॥
तुम हो पूरे साइयाँ पूरन पद दीजै हो।
मीरा व्याकुल विरहनी अपनी कर लीजै हो॥७॥

—मीराबाई

हिन्दू-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, केटी०, डी-लिट०, वाइस चांसलर, आन्ध्र-विश्वविद्यालय)

मानवीय संस्थाके रूपमें धर्म एक सजीव वस्तु है। इसमें उसी प्रकारका एकत्व और आत्मत्व है जैसा कि सजीव वस्तुओंमें होता है। यह एकत्व अपरिवर्तनीय सम्प्रदायका नहीं, किन्तु सतत परिवर्तनशील जीवनका है। धर्मका वास्तविक स्वरूप न तो उसकी अतीतावस्थामें मिल सकता है और न वर्तमान-अवस्थामें। धर्मकी व्याख्या उसके उद्देश्यके अनुसार होनी चाहिये, बाह्य शाब्दिक-रूपके अनुसार नहीं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने एम्पीडाक्लस (Empedocles) के सिद्धान्तोंकी व्याख्या इसी शैलीसे की थी (Metaphysics. 1.985 a 3)। यदि हम धर्मके इतिहासकी क्रमिक अवस्थाओंका अनुशीलन करें तो हमें उसमें एक गम्भीर और मौलिक वस्तुका पता लगेगा, जो पुनः पुनः अभिव्यक्त होती रहती है परन्तु पूर्णरूपसे अभिव्यक्त कभी नहीं होती। यही विकासात्मक आदर्श-प्रवर्तक तत्त्व जो प्रत्येक अवस्थामें अपूर्ण ही व्यक्त होता है, धर्मका यथार्थ तत्त्व, तात्पर्य या स्वरूप है। जो समग्र ऐतिहासिक प्रगतिमें ओतप्रोत है।

यदि हिन्दू-धर्मके तत्त्वपर विचार करें तो हम उसे आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यतापर आरूढ पावेंगे। आत्माके अन्तर्तम प्रदेशमें हमें सत्यकी अनुभूति होती है। धर्मकी अन्तर्वृत्तिमें आग्रह, उसकी अपरोक्षता अथवा अनुभवशीलताका हिन्दू-धर्मके इतिहासमें आदिसे अन्ततक निर्वाह किया गया है। हिन्दू लोग जो वैदिककालको अपने धर्मके आदिप्रवर्त्तकोंका युग मानते हैं उसका अभिप्राय यही है कि तत्कालीन ऋषि हमारे आदि-मार्ग-दर्शक, नेता, तथा आध्यात्मिक साम्राज्यमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वान्वेषक थे। संस्कृत-भाषाका 'ऋषि' शब्द दृश् (देखना) धातुसे बना है। इससे धर्मका अर्थ है दर्शन, साक्षात्कार और अपरोक्ष-अनुभव। ऋषियोंने जिस सत्यका पता लगाया है वह तार्किक आलोचना अथवा क्रमबद्ध दार्शनिक गवेषणाका परिणाम नहीं है बल्कि यह आध्यात्मिक अन्तर्बोध, दृष्टि अथवा प्रत्यक्ष अनुभव है। ऋषिवृन्द केवल वेदोंमें विहित तत्त्वोंके प्रतिपादक ही नहीं हैं, वे साक्षात्दर्शी सिद्ध पुरुष हैं जो अपने आत्माको परमात्माके साथ मिला करके शाश्वत-सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ हुए थे। उनका कोई भी वचन क्षणिक ज्ञानपर अवलम्बित नहीं है बल्कि उस दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर है जो उन्होंने तपोमय जीवन और आध्यात्मिक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त किया था। 'सदा पश्यन्ति सूरयः।' आज वेद जो सर्वश्रेष्ठ आप्तप्रमाणके रूपमें माने जाते हैं इसका कारण यही है कि वास्तविक अनुभवसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर निरा आदर्श नहीं है, जिसे हम ध्येय बनावें, बल्कि वह एक अनुभवगम्य यथार्थ सत्य है। आध्यात्मिक अनुभव हमारी कल्पना नहीं है बल्कि सत्यके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है।

जो सन्त केवल सुनी-सुनायी बात नहीं कहते बल्कि जिनका ईश्वरके साथ साक्षात् परिचय है उन्हें ईश्वरके निर्वचनकी आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कभी शंका और अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। उनकी अपूर्व और सरल निश्चयात्मिका बुद्धि किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकती। परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये, जिनका धर्मके विषयमें कोई निजी अनुभव नहीं होता, तथा जो बिना ही साधनके धार्मिक जीवनका आनन्द लूटना चाहते हैं, एवं जो धर्म-मार्गमें फलश्रुतियुक्त कथाओं तथा कर्मकाण्डके सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, लुभानेके लिये ही पुष्पित-वाणीका प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अपना अनुभव दूसरोंके प्रति प्रकट करने, उसके रहस्यको समझाने तथा विरोधियोंके आक्षेपोंका खण्डन करते हुए उसका समर्थन करनेके लिये भी हमें तर्क और भाषाकी सहायता आवश्यक होती है। हिन्दू-धर्ममें हमें अत्यन्त निर्गुणसे लेकर स्थूल सगुणरूपतकके अनुभवोंका क्रमिक वर्णन प्राप्त होता है।

जब कोई अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न पुरुष तर्क और युक्तिकी सहायतासे अपने अनुभवके समझानेकी चेष्टा करता है तो उसे श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ती है जो परमतत्त्वके निरूपणके लिये स्वयमेव अपेक्षित होती है। वह जानता

है कि आत्माका एक ऐसे जगत्से घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और उद्दीप्त सम्बन्ध है जो ऐन्द्रिय-ज्ञानकी भूमिसे बिल्कुल ही अतीत है तथा बुद्धिके द्वारा प्रकट की हुई लौकिक भूमिसे कहीं अधिक दीप्तिमान और सत्य है। बुद्धि, दिव्य-दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव समानरूपसे एक ऐसे पुरुषके सत्ताकी साक्षी देते हैं जो वस्तुतः चैतन्यमय है तथा अखिल सृष्टिका मूल आधार है, एवं 'अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है'—यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः' (ऋग्वेद १०। १२१)। आध्यात्मिक अनुभवकी सबसे बड़ी विशेषता है अनिर्वचनीयता। जब हम अपने अनुभूत सत्यके समझानेकी चेष्टा करते हैं, तो हमें विवश होकर बाह्य विधियों और भावनाओंका प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई भी बाह्य विधि अथवा भावना कितनी ही व्यापक क्यों न हो, वह उस परमसत्यका वर्णन करनेमें असमर्थ ही रहती है। भगवान् बुद्धने आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यताको स्वीकार किया है, परन्तु वे इस बातको नहीं मानते कि उस अनुभवसे किसी इससे परेकी वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा ईश्वरके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, यह विचार उनके मतसे एक अनुमान मात्र है, स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है। बुद्ध स्वीकृत सिद्धान्तोंकी सीमाके अन्दर रहनेकी चेष्टा करते हैं और वे केवल इस बातको मानते हैं कि इस दृश्य और स्पृश्य जगत्के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक जगत् ओतप्रोत है। महान् हिन्दू-दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता श्रीशङ्कर कहते हैं कि समस्त बाह्यरूप असत् हैं और वह सत् वस्तु इन सबसे परे है। उपनिषद्, बुद्ध, शङ्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा, जो अखण्ड, अद्वैत, केवल है तथा अनेकता और विकारसे युक्त जगत्से परे है, अथवा इसके अन्दर ओतप्रोत है, एक निरुपाधिक सत्ता है, जिसके वास्तविक स्वरूपका पूर्णतः चिन्तन करना अथवा वाणीद्वारा वर्णन करना नितान्त असम्भव है। विना संप्रतिपत्तिके हम स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वरकी महिमा अवर्णनीय है और मन तथा वाणीकी पहुँचके परे है। वह ज्ञेयसे भिन्न है और अज्ञेयसे परे है, 'तद्विदितादथो अविदितादधि'—(केन १। ३)। वहाँ नेत्रकी गति नहीं है और न वाणी ही पहुँच सकती है, न मन ही, 'अचक्षुष्क··· अवागमनः'—(बृहदारण्यक ३। ८। ८)। परन्तु इस बौद्धिक नम्रता और आध्यात्मिक अनहंकारतामें एक आपत्ति है। परमतत्त्वके विषयमें भगवान् बुद्धकी मौनताने उनके ऊपर नास्तिकताका लाञ्छन लगाया है। परमतत्त्वको समस्त गुणों और सम्बन्धोंसे रहित मानकर हम उसे केवल सत्तामात्रमें परिणत कर देते हैं जो एक प्रकारसे निरी शून्यता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि केवल मन्द-मति पुरुष आनुभविक गुणोंके अभावको सर्वसत्ताके अभावके रूपमें मान लेते हैं। निर्विशेष ब्रह्मके महान् गौरवका जो ज्ञान आत्माको प्राप्त है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही इसप्रकारके निषेधात्मक वाक्योंका आश्रय लिया गया है कि वह 'अन्य ही है' और उसके विषयमें 'नेति-नेति' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल 'नेति-नेति' कहकर ही सन्तोष नहीं करता। आध्यात्मिक अनुभवके तीन मुख्य स्वरूप हैं—सत्यता, ज्ञान और स्वतन्त्रता। (सत्, चित् और आनन्द)। यदि हमारे अनुभवके कुछ अंश इन विशेषताओंके साथ प्राप्त होते हैं तो समझना चाहिये कि समस्त अनुभवकी प्राप्ति इसी प्रकारसे सम्भव है। वह चेतना, जिसके अन्दर समस्त अनुभव अपनी अव्यवहितता, व्यक्तता और इतरव्यावृत्तिके साथ विद्यमान रहता है, ईश्वरीय सत्ता–चेतना है और वही हमारा आदर्श है। ईश्वरीय सत्तामें सत्य स्वयं ही अपना साक्षात् द्रष्टा है, स्वयं अपने स्वरूपका ज्ञाता तथा स्वयमेव सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी सत्तामें न हो, तथा उसमें अभिव्यक्त न होती हो; साथ ही सब प्रकारकी विषमताओंका भी उसमें अत्यन्त अभाव है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द है। संकल्प और उसके मूर्तरूपका, इच्छा और उसकी अभिव्यक्तिका, तथा प्रेम और उसके माधुर्यका वही आधार है। इन मानवीय प्रतिकृतियोंमें द्वैत, विरोध और संघर्ष रहता है। यही कारण है कि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी पूर्णताके सामने ये मानवीय तथा परिच्छिन्न गुण सर्वथा अपूर्ण हैं। परमतत्त्व वास्तविक है, सत्य नहीं; पूर्ण है, उत्तम नहीं। इसका स्वातन्त्र्य ही उसका जीवन है, उसका वास्तविक स्वभाव है।

यद्यपि आध्यात्मिक तत्त्वकी पूर्णता हमारे गुणोंसे बहुत ऊँची है, तथापि उसकी प्रकृति उस उच्चतम सत्तासे सादृश्य रखती है जिसका हमें अपने अन्दर ज्ञान होता है। यदि वास्तविक तत्त्व मनुष्यकी आत्मासे बिल्कुल ही परे होता तो उसकी सत्ताको अस्पष्टरूपसे समझना भी हमारे लिये

असम्भव था। इसलिये हमारा यह कहना युक्त नहीं कि परमतत्त्व सर्वथा अन्य ही है। मनुष्यकी आत्माके भीतर, उसके जीवनके केन्द्रमें, बुद्धिसे भी परे एक वस्तु है जो परमतत्त्वके ही अनुरूप है। परमतत्त्वके अनुभवके लिये मनुष्यके जीवनकी भीतरी तहमें एक यथार्थ आधार है। ईश्वरीय प्रकाश और मनुष्यका ध्यान, यह दोनों एक ही वस्तुकी दो दिशाएँ जान पड़ती हैं। मनुष्यमें और ईश्वरके अन्दर चैतन्यकी समानरूपसे स्थितिका दृढ़ निश्चय प्रत्येक आध्यात्मिक ज्ञानके लिये आवश्यक है। यह केवल अनुमानकी बात नहीं है, आध्यात्मिक अनुभवमें ही आत्मा और परमात्माके बीचकी दीवाल अपने आप ही दूर हो जाती है। हम उस परम तत्त्वके हैं और वह तत्त्व हमारे अन्दर प्रतिभासित है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तू है—यह महावाक्य एक अनुभूत तथ्यको बतलाता है। बाइबलके इस वाक्यसे कि, 'ईश्वरने मनुष्यको अपने ही सदृश बनाया; * (Genesis 1. 27) इस बातका समर्थन होता है कि मनुष्यकी आत्मामें ईश्वरकी सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। 'मनुष्यकी आत्मा ईश्वरका दीपक है †'(Proverbs XX 27) प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) का कहना है कि मनुष्य जीवनके सनातन रूपका एक प्रबल भागीदार है, वह इहलोकके नश्वर और अवास्तविक पदार्थोंसे अलग रहकर उसे आत्मसात् कर सकता है।' महात्मा ईसाने इसी गुह्य तत्त्वको इसप्रकार प्रकट किया है—'I and my father are one' अर्थात् मैं और मेरे पिता एक ही हैं।

ईश्वर अपरिच्छिन्न आत्मा है जो हमारे भीतर भी है और बाहर भी है। यदि ईश्वर हमारे भीतर न होता तो हमें अभावका ज्ञान न होता और यदि वह हमारे बाहर न होता तो हममें पूजाकी भावना न होती। यदि हम परमेश्वरके तत्त्वको जीवात्मासे ऊँचा मानते हैं तो हमारा धर्म भक्ति-प्रधान हो जाता है। ईश्वरके विषयमें हमारा जो सर्वोच्च ज्ञान होता है वह भी आंशिक ही होता है। सदा कुछ-न-कुछ अवशिष्ट रह ही जाता है जिसको न तो हम जानते हैं और न वर्णन ही कर सकते हैं। विशिष्ट धार्मिक भावना अपनेसे एक श्रेष्ठ तत्त्वके सम्पर्कमें आनेका आग्रह करती है, जिसके साथ अभिन्न होना मनुष्यके लिये असम्भव है।

ईश्वरके साथ मनुष्यके इस वैयक्तिक सम्बन्धकी विभिन्न स्थितियाँ हैं जिसमें परमेश्वरके सम्मुख अत्यन्त दीनभावसे लेकर उस परम प्रेममय प्रभुके साथ एकत्वका समावेश तक होता है, जिसकी कृपा महान्-से-महान् पापीको भी प्राप्त होती है। परम तत्त्वके साथ उस सर्वोच्च जीवन (आत्मा) की, जिसे हम जानते हैं, तुलना करना किसी नीची वस्तुके साथ उसकी तुलना करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है। भक्त पुरुष परमात्माको उस सगुणरूपमें देखता है जो इस जगत्का कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता है। निर्विशेष ब्रह्म और सगुण ईश्वरमें केवल दृष्टिकोणका भेद है, वस्तुतः कोई भेद नहीं। यदि भेद है तो केवल यही कि निर्गुण ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप निर्गुण है और प्रातिभासिक स्वरूप सगुण है। सगुणता उसका मूर्त स्वरूप है, और यदि हम इस मूर्तरूपकी उपेक्षा करते हैं तो सत्यका यह द्वार हमारे लिये बन्द हो जाता है।

हिन्दू-धर्म भारतवर्षके आध्यात्मिक साक्षात्कारकी प्रतिकृति है। यह परमात्माकी पूर्णता और एकताके अन्तर्ज्ञानपर अवलम्बित है। मानव-जीवन सदा सर्वत्र ईश्वरका ही एक अंश है, इस सिद्धान्तको मानकर इस धर्मने अन्य सब धर्मोंके साथ सौजन्यका भाव स्थापित किया है। हिन्दू-धर्म स्वीकार करता है कि एक ही अनुभव अनेकों प्रकारसे वर्णित हो सकता है। यदि हममेंसे कई मनुष्य ग्रीष्ममें सन्ध्याका दृश्य देखने बैठें तो विचार और भावकी दृष्टिसे हमारे अनुभव एक-से नहीं होंगे, तथा उन अनुभवोंके वर्णनमें भी विभिन्नता हो जायगी। परन्तु इस विभिन्नताको संशयवादके समर्थनमें लगानेकी जरूरत नहीं होती।

कालको कौन जीतेगा?

रामके काम मोकाम नहिं करत नर
  फिरत संसार चहुँ ओर धाया॥
करत संताप सब पाप सिरपर लिये
  साध और सन्त नहिं नेह लाया॥
बाँधिहै काल जंजाल जम-जालमें
  रहत नहिं चेत सब सुधि हेराया॥
कहैं गुलाल जो रामको जानिहैं
  जीतिहैं काल सोइ ज्ञान पाया॥

—गुलालसाहबजी

---

* So God created man in his own form; in the image of God created he him.

†The spirit of man is the candle of God.

बौद्ध-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—भिक्षु श्रीसोयेन शाकु, जापान)

बौद्ध-धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंमें एक यह सिद्धान्त भी है कि जगत्के अनन्त और नाना प्रकारके दृश्य एक ही तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं और उसीके अन्दर जीवन धारण करते हैं और वह तत्त्व देश और कालसे अपरिच्छिन्न है।

यह जगत् नानात्वसे पूर्ण है; तथापि मनकी रचना ही ऐसी हुई है कि वह एक ऐसे एकता प्रदर्शित करनेवाले तत्त्वको खोजता है जिसकी कल्पना दृश्योंकी प्रतीतिके लिये अनिवार्य है।

इसप्रकार बौद्ध-धर्म दो द्वारोंको स्वीकार करता है—समताका द्वार और इसके विपरीत नानात्वका द्वार। इसे और स्पष्टतासे कहें तो कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म नानात्व और समताके दो तत्त्वोंके समवायको स्वीकार करता है। पदार्थ अनेक होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी अनेक हैं। इसलिये बौद्ध-धर्म बतलाता है कि जहाँ हम जगत्की किसी विशेष अवस्थाको स्वीकार करते हैं जिसमें व्यक्तित्वकी प्रधानता होती है, वहाँ हमें यह न भूलना चाहिये कि समताके द्वारसे झाँकनेपर समस्त भेद-भाव एकत्वके एक महान् तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं।

इनमेंसे समताके द्वारको किसी अंशमें ईश्वरकी समानता और नानात्वके द्वारको व्यक्तिगत (जीव) की समानता दी जा सकती है।

समता और नानात्वके साथ ही बौद्ध-धर्म एक तीसरे 'कर्मके सिद्धान्त' को भी मानता है। जिसका निर्देश है कि समस्त पदार्थ गतिशील हैं और कर्म करते हैं। इस सिद्धान्तको केवल भौतिक जगत्में ही सीमित नहीं रक्खा जाता, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक जगत्में भी यही सिद्धान्त कार्यान्वित हो रहा है। इन्हीं शक्तियोंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियासे जगत् अपने अस्तित्वमें स्थित (निर्मित) है।

बौद्ध-धर्म ईश्वर अर्थात् समताके सिद्धान्तको जगत्में अन्तरस्थ (व्यापक) मानता है, परन्तु वह 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग नहीं करता। ईश्वरके पर्यायरूपसे बौद्ध-धर्म 'धर्मकाय' शब्दका व्यवहार करता है जिसे बुद्धकाय अर्थात् बुद्धका शरीर भी कहते हैं और 'समता' का बोध भी इन्हीं शब्दोंद्वारा होता है।

तत्त्वतः धर्मकाय अपरिच्छिन्न है, परन्तु इसके व्यक्त रूप सीमित और परिच्छिन्न हैं। बुद्धकायका यह आन्तरिक स्वभाव है कि वह दृश्य जगत्के नानात्वमें स्वयमेव व्यक्तित्व-रूप धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्वके बाहर नहीं खड़ा रह सकता बल्कि वह उसमें निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम इन समस्त वैयक्तिक दृश्योंकी विभिन्नतामें विचार करते हैं तो सर्वत्र इनके भीतर धर्मकायको उपस्थित पाते हैं जहाँ वस्तुओंकी समता दृग्गोचर होती है।

परन्तु यद्यपि बौद्ध-धर्म दृश्य जगत्की यथार्थता और नानात्वको मानता है तथापि उसका विश्वास है कि जो पदार्थ हमारे चतुर्दिक् दीख पड़ते हैं वह सब एक अन्तिम कारणसे उत्पन्न होते हैं जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है। यह जगत् उस कारण, आत्मा अथवा जीवनका व्यक्त स्वरूप है। अतः वस्तुओंमें चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो वह परमतत्त्वके स्वभावसे युक्त होती हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि तिर्यक् जन्तु तथा निर्जीव पदार्थ भी देवत्व (समता) को अपना कारण अभिव्यक्त करते हैं।

इसलिये ईश्वर जो इस जगत्में नहीं है वह असत् है; और जगत् जो ईश्वरमें नहीं है वह मिथ्या है। सब पदार्थ एकमें चले जाते हैं और एक ही समस्त पदार्थोंके रूपमें कर्म करता है। अनेक एकमें हैं और एक अनेकमें है। ईश्वर और जगत्के विषयमें बौद्धोंकी यही धारणा है। तरंग, लहरें, वीचि-राशि तरंगित, लहराती और उमंगित होती हुई भी केवल एक जलके नित्यस्वरूपकी विभिन्न गतियाँ हैं। इसी प्रकार विद्वान् बौद्ध जगत् और ईश्वरका चिन्तन करते हैं।

परन्तु ईश्वर अपने अस्तित्वको इस जगत्की अभिव्यक्तिमें ही लगा देता है तथा वह अपनी सृष्टिसे अभिन्न है, एवं जगत्का नाश होते ही वह नित्य शून्यतामें विलीन हो जाता है। ऐसा समझना अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। इसलिये हमें यह

नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर केवल समस्त व्यष्टिका समूहमात्र है। बल्कि समस्त सृष्टिके नष्ट हो जानेपर भी ईश्वर रहता है। वह नित्य है और इस जगत्के नष्ट होनेपर वह पलभरमें दूसरे जगत्की सृष्टि कर सकता है।

इसपर कुछ प्रश्न उठते हैं—यदि ईश्वर 'समता' का तत्त्व है तो हम किसप्रकार पदार्थोंकी समतामें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं? तथा किसप्रकार अपने मनको ऐसा स्वच्छ बना सकते हैं जिससे उस नित्य सत्यको प्रत्यक्ष कर सकें? किसप्रकार हम दृष्ट जगत्में 'समता' के तत्त्वको जान सकते हैं? तथा अभिलाषाओं, वेदनाओं, वासनाओं, सहज ज्ञान तथा प्रवृत्तियोंकी विभिन्नतामें उसे पहचान ही कैसे सकते हैं? किसप्रकारसे हम धर्मकायको उसकी विभिन्न क्रियाओंके अन्तर्गत देख सकते हैं तथा उसे प्राप्त कर सकते हैं?

इन प्रश्नोंके उत्तर निकालनेकी व्यावहारिक रीति केवल बुद्धिकी विवेचना नहीं है। हमें पहले मानसिक शान्ति प्राप्त करनी चाहिये। हमें आध्यात्मिकरूपसे पवित्र होना चाहिये। हमें समस्त बाधक वासनाओं, पक्षपातों और अन्धविश्वासोंसे मुक्त होना चाहिये। बौद्ध-धर्म आदिसे अन्ततक एक धर्म है और इसका उद्देश्य सदासे आध्यात्मिक और व्यावहारिक है। तथा वह मार्ग जो हम (व्यावहारिक धर्मवादियों) को उपर्युक्त प्रश्नोंके समाधानकी ओर ले जाता है, एकाग्रताका अभ्यास है जिसे बुद्धमतानुयायी 'ध्यान' कहते हैं। धर्मका अर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं। इसलिये धार्मिक पुरुष तत्त्वकी जिज्ञासा करते हैं, छायाकी नहीं; प्रकाश चाहते हैं, प्रतिबिम्ब नहीं; और इनकी प्राप्ति तर्क-वितर्कद्वारा कदापि नहीं हो सकती। हमें इस परिच्छिन्नतासे आगे बढ़कर साहसपूर्वक अज्ञातके अतलगर्भमें कूद पड़ना होगा।

क्या एक विनश्वर प्राणी अपनी परिच्छिन्न चेतनासे उस क्षेत्रका अन्तर्ज्ञान कर सकता है जो बुद्धिगोचर नहीं है? नहीं, जबतक वह केवल अपनी बुद्धि-सम्बन्धी क्षमतापर निर्भर करता है तबतक वह इसके लिये समर्थ नहीं हो सकता। बुद्धि हमारे अन्तर्जीवनसे बिल्कुल अनभिज्ञ होती है। केवल किसी वस्तुके समस्त गुणों, विशेषताओं तथा क्रियाओंको जानकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि हमें उसका पूर्ण ज्ञान हो गया। इन सबका ज्ञान इन्द्रियोंसे तथा बुद्धिकी शक्तिसे हो सकता है, तथापि वस्तुके कुछ स्वरूप अवशिष्ट रह जाते हैं जिनके ज्ञान होनेसे ही कहा जा सकता है कि हमें उस वस्तुका पूर्ण ज्ञान हुआ। विज्ञान और दर्शन-शास्त्रने बड़ा काम किया है परन्तु वे एक दुखी जीवको विश्राम, सुख, आनन्द और श्रद्धा प्रदान करनेमें असमर्थ हैं क्योंकि उनसे हमें पूर्ण तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तथा वे जीवनके रहस्यको खोलनेमें असमर्थ हैं। वे जो कुछ उपदेश देते हैं वह केवल जीवनके छिलके हैं। क्योंकि किसी वस्तुका ज्ञान तबतक पूर्ण नहीं होता, जबतक उसका मूल कारण अथवा अन्तर्जीवन अनुभूत नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि जबतक ज्ञाता (मन) और ज्ञेय (विषय) का द्वैत दूर नहीं होता और जीवन बौद्धिक विभिन्नतासे परे अपने तात्त्विक रूपमें नहीं जाना जाता तबतक वस्तु-तत्त्वका पूर्णज्ञान नहीं हो सकता। बौद्ध-धर्म बतलाता है कि एक घासकी पत्ती भी जो सायंकालके शीतल समीरमें थिरकती है तबतक पूर्णतया नहीं जानी जा सकती, जबतक हम अपने इस व्यक्तित्वसे अलग होकर अपनी व्यक्तिगत आत्माको घासकी आत्मामें निमज्जित नहीं कर देते।

जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है वहाँतक ईश्वरके अस्तित्व तथा उसके असीम प्रेमके विषयमें केवल विश्वास करना, अथवा केवल बातें करना मूर्खता है। यदि ईश्वर है तो उसकी प्राप्ति करनी चाहिये। यदि वह प्रेमस्वरूप है तो उसका परीक्षण होना चाहिये तथा उसे अपने अन्तर्तम जीवनका तत्त्व बनाना चाहिये। धार्मिक भावनाको जागृत किये बिना ईश्वर छायामात्र है, आत्मा प्रेत है और जीवन स्वप्नके समान है। इस शक्तिको बौद्ध-धर्ममें 'प्रज्ञा' के नामसे पुकारते हैं।

ईश्वरके अस्तित्व अथवा अभावके सिद्ध हो जानेपर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाते हैं क्योंकि वह इसके लिये अपनी बुद्धिका अन्यतम प्रयोग करते हैं जो इनके समर्थन तथा खण्डनका एकमात्र अस्त्र है। परन्तु जबतक मनुष्यके हृदयमें किसी अधिक तात्त्विक, जीवनप्रद, निरे सिद्धान्तिक तथा अमूर्त भावनासे अधिक आकर्षक अवर्णनीय वस्तुकी उत्कण्ठा है, तबतक हम इस परिणामपर पहुँच सकते हैं कि हमारी चेतना, चाहे वह ससीम ही क्यों न हो, बुद्धि-व्यापारके अतिरिक्त दूसरे मार्गसे वस्तुओंके अन्तर्तम जीवनके सम्पर्कमें आ सकती है। इसीलिये बौद्ध-धर्ममें प्रज्ञाके अस्तित्व-

को माना गया है तथा इसी शक्तिकी जागृतिके लिये बौद्धोंमें धार्मिक नियमोंका पालन किया जाता है।

परन्तु क्या विनश्वर प्राणी इस दृश्यमान जगत्‌में किसी नित्य वस्तुको प्राप्त कर सकता है ? जब प्रत्येक वस्तु जीवन और मृत्युके अलंघ्य नियमोंके वशीभूत है तो हम अविनाशी और नित्य वस्तुके लिये अपनी अन्तःप्रेरणाको किसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं कर सकते। बौद्ध-धर्म हमारी इस आध्यात्मिक आकांक्षाको जानता है और हमें बतलाता है कि दृश्य जगत्‌के परे एक अवस्था है जहाँ आत्मा पूर्ण परितृप्त हो सकता है।

यह अदृश्य जगत् भौतिक सीमासे परे है और इसलिये जन्म-मृत्युके नियमोंसे बहिर्भूत है। इसप्रकार सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण वह दुःख-सुखकी पहुँचके परे है जो वासनाशील पुरुषोंकी प्रवृत्ति और आचारको प्रेरित करते हैं। जो मनुष्य परिदृश्यमान जगत्‌की शृङ्खलासे मुक्त हुआ है उसे जगत्‌के विकार प्रभावित नहीं कर सकते। वह अदृश्य जगत्‌में शान्तिपूर्वक निवास करता है। केवल यथार्थ धार्मिक पुरुष भौतिक आवर्तन (जन्म-मृत्युके चक्र) के परे जा सकते हैं और नित्य शान्तिमय जीवन बिता सकते हैं।

सारांश यह है कि जगत् अनित्य और परिवर्तनशील है। जो लोग सांसारिकतासे ऊपर नहीं उठते वे वासनाके चक्रवातमें ऊपर-नीचे ठोकरें खाते हैं। परन्तु जो लोग वस्तुओंकी व्यवस्थाको जानते हैं वे ससीममें असीमको देखते हैं, दृश्यमें अदृश्यको देखते हैं और विपत्ति और क्लेशोंके बीच कल्याणको प्राप्त होते हैं।

इस लोकोत्तर जीवनकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास बहुत ही आवश्यक समझा जाता है। ध्यान एक शान्तिप्रद अवस्थाका साधन है। इसमें मनको विचारके लिये अवसर देना होता है और उच्छृङ्खल होनेसे उसे बचाया जाता है। इससे हमें ऐन्द्रिय विषयोंसे परे परम तत्त्वके लिये अभिरुचि उत्पन्न होती है। परन्तु धार्मिक दृष्टिसे यह ध्यान जबतक प्रज्ञाको जागृत न करे तथा जीवनके परम तत्त्वको हृदयङ्गम न करावे तबतक उतना उपयोगी नहीं समझा जायगा।

आत्म और अनात्मके आदान-प्रदानके ऊपर उठनेके लिये प्रज्ञा जगत्‌को इसकी अन्तिम एकता (चरम अद्वैतस्वरूप) को देखती है तथा जीवनके समस्त रूपोंकी वास्तविक अभिन्नताको प्रत्यक्ष करती है। वह जानती है कि जिस प्रेरणाकी उसे अनुभूति हो रही है, वह समस्त अस्तित्वोंकी उद्दीपक आत्मा है। प्रज्ञाका आदेश अन्तिम आदेश होता है, हमारी चेतनामें उससे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है जो उस आदेशको लुप्त कर सके।

जैसे प्रत्येक मनुष्यकी चेतना बर्फको ठण्डा तथा आगको गरम अनुभव करती है वैसे ही प्रज्ञा अपने अन्तर्तम जीवनमें जो कुछ देखती या अनुभव करती है वह सर्वत्र एक ही होता है। हमारे जीवनके अन्तर्गुहामें जो अनुभूति होती है उसे ही गॉड (God), अल्लाह, धर्मकाय, ताव, ब्रह्म आदि नाना नामोंसे पुकारते हैं।

केवल एक ही महान् तत्त्व है, हम सब उसके क्षणिक स्वरूप हैं। जब हम उस परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करते हैं, तब हम नित्य हैं; जब हम अपने अहंकार और अज्ञानके द्वारा उसके विपरीत चलते हैं तो नाशको प्राप्त होते हैं। उसकी आज्ञाका अनुवर्तन कर हम जीवन धारण करते हैं और उल्लंघन करनेपर हम नित्य प्रज्वलित अग्निमें डाल दिये जाते हैं।

वह परम तत्त्व पृथ्वीपरके विभिन्न देशोंमें उनकी संस्कृति, शिक्षा और संगके अनुसार विभिन्न नामों और उपाधियोंसे जाना जाता है। यथार्थतः मानव-जातिके एक होनेके कारण उस परम नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिका ज्ञान उसे कभी-न-कभी होगा ही, जो जगत्‌का नियन्त्रण करती है तथा जिसकी आज्ञाको, हम विनाशके भयसे, विवश होकर आदरपूर्वक पालन करते हैं।*

* भिक्षु सोयेन शाकुके उपदेशोंका अनुवाद डा० डी०टी० सुजुकिने अंगरेजीमें किया था, वही Sermons of a Buddist Abbot के नामसे पुस्तकरूपमें शिकागो अमेरिकाकी Open Court Publishing Company के द्वारा प्रकाशित हुआ था, इस लेखमें उसी पुस्तकके कुछ उपदेशोंका हिन्दी अनुवाद है। —सं० और प्रे० सतीशचन्द्र गुह

ईसाई-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—श्रीयुक्त एड्विन ग्रीव्स, इंगलैण्ड)

एक ही मनुष्यके फोटो यदि बीस फोटोग्राफरों-द्वारा लिये जायँ तो यह निश्चित है कि प्रत्येक फोटोमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रहेगा। सम्भव है कि वह अन्तर, उसे प्रकाशमें रखनेमें, मसालेमें कागज़में अथवा फोटोग्राफरकी दक्षता-में फर्क होनेके कारण आया हो, किन्तु अन्तर होगा अवश्य। कोई एक फोटो तो ऐसा उत्तम हो सकता है कि उसे हम 'बोलता हुआ चित्र' कहनेको तैयार होते हैं और दूसरा चित्र बहुत ही भद्दा हो सकता है। जब एक मनुष्यके फोटोका यह हाल है जिसे हम अच्छी तरहसे देख सकते हैं और जिसका फोटो वैज्ञानिक रीतिसे तैयार किया जाता है, तब हम ईश्वरके सम्बन्धमें यह आशा कैसे कर सकते हैं कि मनुष्यके द्वारा उसके स्वरूपके वर्णनकी चेष्टा सर्वथा यथार्थ ही हो? नेत्रोंसे किसीने उसे देखा नहीं और हमारे मन दुर्बल, शक्तिहीन, पापके कारण दूषित एवं कलुषित हो गये हैं। बहुधा हमारे वर्णनके पीछे आन्तरिक अनुभवका आधार नहीं होता, हमलोग केवल दूसरोंसे सुनी-सुनायी बातोंको ही प्रायः दोहराते हैं और जिनसे हमने वे बातें सुनी होती हैं वे भी प्रायः हमारी ही तरह होते हैं—'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'

सृष्टिके आदिसे लेकर अबतक ईश्वरके न मालूम कितने चित्र खींचे गये हैं! इनमेंसे कई तो ऐसे हैं जो अधूरे ही नहीं किन्तु दोषबहुल हैं और कदाचित् ईश्वरके स्वरूपको बिल्कुल ही विकृत कर देनेवाले हैं।

हमारा प्रयोजन इस समय यह नहीं है कि इसप्रकारके ईश्वर-विषयक निरूपणोंमेंसे किसी एकका वर्णन करें, उसके गुण-दोषोंका विवेचन करें अथवा उनकी भूलोंको सुधारें। हमारा उद्देश्य तो केवल इस बातको बतलानेका प्रयत्न करना है कि ईसाइयोंके मतमें 'ईश्वरका क्या स्वरूप' माना गया है। यह कार्य भी सहज नहीं है। कारण यह कि ईसाइयोंके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें इस विषयमें बहुत मतभेद हैं। यही नहीं, बल्कि एक ही सम्प्रदाय-सिद्धान्त-को माननेवाले विद्वानोंके निरूपणमें भी अन्तर है। ऐसी स्थितिमें मेरा यह दावा करना कि 'ईसाइयोंके मतमें ईश्वरका स्वरूप वही है जो मैं बतलाता हूँ' निरी धृष्टता एवं दुःसाहसमात्र होगा। मैं तो अधिक-से-अधिक ईसाइयोंकी ईश्वरीय धारणाका वही स्वरूप बतलानेकी चेष्टा करूँगा जो मैंने समझा है, तथा बाइबलके अध्ययन, अन्य महात्माओं एवं विद्वानोंके उपदेश एवं लेख, चिन्तन तथा वैयक्तिक अनुभव और दीर्घकाल तक प्रभु ईसामसीहके शिष्यत्वमें रहनेके फलस्वरूप प्राप्त हुए ज्ञानके आधारपर स्थिर किया है।

बाइबलमें ईश्वर-विषयक जितने निरूपण मिलते हैं, उनका ईसाई-जगत्में बड़ा मान है। अतएव हमारे लिये यह जिज्ञासा होना उचित ही है कि बाइबलके जेनिसिस (Genesis) नामक प्रथम अध्यायसे लेकर 'रिवीलेशन' (Revelation) नामक अन्तिम अध्यायतक क्या ईश्वरके सम्बन्धमें स्पष्टतया एक ही तरहका अविसंवादी वर्णन मिलता है? इसके उत्तरमें हम निःसकोच यह कह सकते हैं कि 'नहीं मिलता।' निःसन्देह कुछ लोगोंका यह मत है कि बाइबलके अन्तर्गत जितने भी ईश्वर-विषयक निरूपण हैं उनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुराने संस्करण (Old Testament) में ईश्वर-विषयक निरूपण उतने स्पष्ट एवं सर्वांगीण नहीं हैं जितने नये संस्करण (New Testament) में हजरत ईसाके द्वारा व्यक्त हुए हैं। परन्तु यह कहना पर्याप्त नहीं है। Old Testament एवं New Testament के वचनोंमें जो अन्तर हैं, उनकी बात तो किनारे रही, उक्त दोनों संस्करणोंमें ही भिन्न-भिन्न लेखकोंके वाक्यों-में भी इतना अन्तर है कि उनका समन्वय कर उनसे एक सुसंगत निरूपण करना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाइबलके अन्दर अद्भुत सामञ्जस्य है; परन्तु साथ ही कोई यह भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसके अन्दर वैषम्य भी अनेक एवं महान् हैं। बाइबल एक पुस्तक नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न मनुष्योंद्वारा लिखी हुई पुस्तकोंका एक संग्रह है और जिन लोगोंने ये पुस्तकें लिखी हैं उनका ईश्वर-विषयक ज्ञान एक-सा रहा हो अथवा अपने-अपने ज्ञानको भाषा-के द्वारा व्यक्त करनेकी योग्यता समान रही हो, यह बात भी



भगवान्—सूर्यरूपमें

किसी प्रकार नहीं कही जा सकती । उनके अनुभव एवं ज्ञानमें महान् अन्तर था ।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति क्रमिक होती है, उनका कथन यथार्थ एवं भावगर्भित है । ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति केवल व्यक्त दृश्यसे ही नहीं होती किन्तु अपने और दूसरोंके अनुभव तथा परम्परागत सिद्धान्तोंके द्वारा भी होती है । युगोंके बीत जानेपर लोगोंकी समझमें यह बात आती है कि एक युगतक जो सिद्धान्त सर्वमान्य रहा, वही अनुभवसे असत्य सिद्ध हुआ है और उसमें संशोधन एवं परिवर्तन-की आवश्यकता है । ज्ञानकी क्रमशः वृद्धि होती है । (Knowledge grows form more to more) सिद्धान्त जिसप्रकार भौतिक पदार्थोंके ज्ञानके सम्बन्ध-में सत्य है उसी प्रकार ईश्वरीय विज्ञानके सम्बन्धमें भी पूर्णतया चरितार्थ होता है । जो बात एक व्यक्तिके जीवनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें घटती है, वही बात कालरूपी आद्यन्तहीन प्रवाहके भिन्न-भिन्न युगोंपर लागू होती है । यदि किसी मनुष्यके विचार सत्तर वर्षकी अवस्थामें भी वैसे ही रहें जैसे सात वर्षकी अवस्थामें थे, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस मनुष्यके विकासमें निरोध हुआ है । अर्थात् उसका विकास पूर्ण नहीं हो पाया है, वह केवल अवस्थामें बूढ़ा हो गया है, परन्तु उसे जीवनका अनुभव पूर्णतया प्राप्त नहीं हुआ ।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर जगत्से बिल्कुल भिन्न है, उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं । जो लोग ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है, मनुष्योंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, उनका यह कहना केवल प्रलाप मात्र है, विचारपूर्ण नहीं । यदि ईश्वरका हमारे साथ कोई सम्बन्ध न हो तो फिर उसके साथ वैयक्तिक सम्पर्क अथवा उसके विषयमें वैयक्तिक अनुभवकी तो बात ही दूर रही, अपने विचारोंको भी उसके समीप पहुँचानेका कोई मार्ग न रह जाय; हम ईश्वरके सम्बन्धमें उतना ही जान सकते हैं, जितना उसके साथ हमारा सम्बन्ध होता है, हमारे प्रति जैसा उसका मनोभाव होता है, हमारे साथ वह जैसा व्यवहार करता है और हम उससे सहायता, दया और न्यायकी जितनी आशा करते हैं । हम जिस जगत्में रहते हैं, उसके अन्दर होनेवाले ईश्वरीय व्यापारोंसे ही हम उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं ।

बहुत-से लोगोंकी यह धारणा है कि बाइबलके अन्दर ईश्वर-सम्बन्धी जितने वाक्य हैं वे सब ईश्वरीय वाक्य हैं, उनके अन्दर कहीं-कहीं जो विरोध या वैषम्यका दोष झलकता है, उसका कारण हमारी बुद्धिकी दुर्बलता ही है, जो लोग हमसे अधिक बुद्धिमान् हैं वे इन वचनोंका समन्वय कर उनकी एकवाक्यता, कर सकते हैं और उन सबको एकत्र कर उनसे एक ऐसा निरूपण तैयार कर सकते हैं जिसमें ईश्वरके सारे गुणोंका समन्वय हो जाय । अवश्य ही उन लोगोंकी यह धारणा किसी हठके कारण नहीं, किन्तु अतिरिक्त श्रद्धाके कारण है जो एक प्रकारकी मानसिक दुर्बलता है ।

वास्तविक तथ्यको सामने रखकर हमें यह मानना पड़ता है कि मनुष्य उसी वस्तुको देख सकता है जिसे देखनेकी शक्ति उसके अन्दर है । मनुष्योंको ईश्वरके सम्बन्धमें जो साक्षात् अनुभव हुए, वे सब आंशिक थे, क्योंकि उनको पूर्णतया ग्रहण करनेकी शक्ति उनके अन्दर नहीं थी; पूर्ण सत्य इतना महान् है कि उनकी दृष्टि उसको समग्ररूपसे ग्रहण न कर सकी । मनुष्योंने अपनी-अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक योग्यताके अनुसार ही ईश्वरका निरूपण किया । मनुष्यका ज्ञान एवं अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-ही-त्यों उसका ईश्वरीय ज्ञान भी अधिक विस्तृत एवं गम्भीर होता गया । जो बात मनुष्योंके लिये थी, वही बात युगोंके सम्बन्धमें माननी चाहिये । जजों (Judges) के समयमें डेविड (David) के पूर्वजोंने ईश्वरका जो निरूपण किया, उसकी अपेक्षा वह स्वयं कदाचित् भक्त सेमुअल (Samuel) के उपदेशोंसे प्रभावित होकर अधिक महत्त्वका निरूपण कर सकता । कदाचित् उसकी आध्यात्मिक अवस्थाके अनुसार उसका ज्ञान भी घटता-बढ़ता रहा; कभी वह अधिक विशदरूप-से चमकने लगता तो कभी उसकी पापमय प्रवृत्तियोंके कारण उसपर कालिमा छा जाती । ईसाइया (Isaiah) ने अपनी आयुका अधिकांश समय जिसप्रकारके पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया, उसका अनुभव सुलेमान (Solomon) अपने विलासितामय एवं पतित जीवनमें किसप्रकार कर सकता था ?

Old Testament के कुछ अध्यायोंमें ईश्वरका

जो निरूपण किया गया है, उसमें, और ईसामसीहके अन्दर उस पवित्र, दयामय, मृदुस्वभाव प्रेमपूर्ण पिताके जिस स्वरूपकी अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें, आकाश-पातालका अन्तर है। पर साथ ही उसके अन्दर कुछ ऐसे अवतरण मिलते हैं जिनमें ईश्वरकी महत्ताका ही नहीं, किन्तु उसके सौजन्य, प्रेम एवं दयालुताका ऐसा विशद वर्णन है कि उससे अधिक विशद वर्णन कदाचित् (New Testament) में भी नहीं मिलेगा।

ईसाइयोंका ईश्वर-सम्बन्धी निरूपण अब्राहमको अच्छा नहीं लगा। ईसामसीहकी मृत्युसे, जो उस परम पिताके प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति थी, हमें वह अनुभव प्राप्त हुआ जो कदाचित् उनसे पूर्ववर्ती महर्षियों एवं धर्म-प्रवर्तकोंको नहीं प्राप्त हुआ था। हमारे प्रभु ईसाके प्राकट्यसे उनके जीवन तथा देह त्यागसे उनके पुनरुज्जीवन (*Resurrection*) एवं स्वर्गारोहण (Ascension) की घटनासे तथा उनके द्वारा परमात्माकी पवित्र ज्योतिके प्रसारसे ईश्वरकी वह अभिव्यक्ति हुई है, जो किसी दूसरे प्रकारसे हो ही नहीं सकती थी।

त्रैतवाद (Trinity)के सिद्धान्तमें यानी परमात्माके तीन स्वरूपोंके प्रतिपादनमें श्रद्धालु विद्वानोंको बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। हम यह जानते हैं कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ सत्यताका अंश है, परन्तु इस सिद्धान्तको यदि कोई तर्ककी कसौटीपर कसना चाहे तो उसे असफलता एवं निराशा ही होगी। त्रैतवादी और ऐक्यवादी अर्थात् ईश्वरके तीन स्वरूपोंको और एक ही स्वरूपको माननेवालोंके विभिन्न सिद्धान्त अकाट्य हैं, किन्तु जब उनका युक्तिसे समर्थन करने तथा दूसरोंके मतका खण्डन करनेकी चेष्टा की जाती है, तब गड़बड़ी मच जाती है। ईश्वरके तीन स्वरूप माननेवाले (Trinitarians) यद्यपि ईश्वरके स्वरूप तथा उनके सम्बन्धोंकी पूर्णताको स्वीकार करते हैं, परन्तु कभी-कभी वे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे (*Tritheism*) अर्थात् तीन ईश्वरोंकी सत्ता मानते हैं। ऐक्यवादी (Unitarian) अर्थात् ईश्वरका एक ही स्वरूप माननेवाले इस सिद्धान्तका विरोध करते हैं और एक ऐसी निरपेक्ष सत्ताको स्वीकार करते हैं जिसका किसी दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्पर्क अथवा सम्बन्ध नहीं है। उनका ईश्वर सम्बन्धहीन एवं गुणरहित है।

कदाचित् अधिकांश ईसाइयोंके धार्मिक—उपासनामय—जीवनमें इसप्रकारके ईश्वरके माननेमें कोई अड़चन नहीं होती, किन्तु उसके आधारपर किसी निश्चित मतका प्रतिपादन करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। इस तरहका कोई भी सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं हो सकता जो तीन व्यक्तियोंको एक ही उद्देश्यके लिये सम्मिलित मानता है। यदि यह कहें कि एक ही व्यक्तिके तीन स्वरूपोंकी कल्पना की गयी है तो इससे प्रभु ईसाके उन वचनोंकी एकवाक्यता नहीं होती जिनका बाइबलमें उल्लेख मिलता है। साथ ही प्राचीन ईसाई ईश्वरके Father, son and holy spirit अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा—ये जो तीन विभाग करते थे, उनमें भी विरोध आता है। यद्यपि दृष्टान्तों एवं उदाहरणोंका आश्रय सदा लाभदायक नहीं होता, फिर भी हम एक दृष्टान्त देनेका साहस करते हैं। जैसे बिजली कभी प्रकाश, कभी ताप एवं कभी शक्ति इत्यादि अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त होती है वैसे ही यह मान लेनेमें क्या कोई आपत्ति है कि पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा (Father, son and holy spirit) ये तीन भिन्न-भिन्न ईश्वर नहीं, किन्तु एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं?

उपर्युक्त मुख्य विचारोंका आधार लेकर हम संक्षेपमें यह बतलानेकी चेष्टा करेंगे कि ईसाइयोंके ईश्वर-सम्बन्धी निरूपणमें प्रधान बातें कौन-कौन-सी हैं?

१–ईश्वरकी सगुणता—व्यक्तित्व (Individuality) का अर्थ दूसरोंसे पृथक् एवं विलक्षण सत्ता है किन्तु सगुणता (*Personality*) के अन्दर सम्बन्ध अथवा सापेक्षताकी प्रधानता होती है। सगुणता ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका एक मुख्य अंग है। चाहे कोई मनुष्य अपनी बुद्धिसे परमात्म-तत्त्वकी गहनता एवं उच्चताकी थाह न पा सके, किन्तु उसका जगत्के साथ तथा जगत्के जीवोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसकी कई रूपोंमें अभिव्यक्ति हो चुकी है और अनुभवसे उसका समर्थन भी हो चुका है। उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति ईसाके विग्रहमें हुई है। ईसा मनुष्यके देहमें अवतरित ईश्वर हैं और व्यक्त अथवा अव्यक्तरूपसे सदा इस संसारमें विद्यमान रहते हैं। ईश्वर उन्हींके विग्रहको माध्यम बनाकर हमारे साथ सम्पर्क करता है और हमारे सम्पर्कका विषय होता है। हमारे आध्यात्मिक जीवनके साथ

घनिष्ठता हो जानेपर वह पवित्र आत्मा (Holy Spirit) अर्थात् ईश्वर हमारे ज्ञान, हमारी इच्छाओं एवं हमारे संकल्पोंको सञ्चालित और प्रभावित कर सकता है। इस आत्माको परमपिता परमात्माकी भेजी हुई आत्मा अथवा ईसाकी आत्मा कह सकते हैं। हम ईश्वरको जगत्‌से बिल्कुल परे नहीं मानते। वह तो सक्रियरूपसे संसारमें और विशेषकर हमारे हृद्-प्रदेशों तथा मन-मन्दिरोंमें निवास करता है। सगुणता (Personality) का अर्थ यही है कि ईश्वर एवं जीवके बीचमें अबाध सम्बन्ध है।

२-प्रेम (जिसका चरम विकास आत्मोत्सर्ग है)—ईश्वरका यह गुण इतना व्यापक एवं मुख्य है कि किसी भक्त साधकने ईश्वरको प्रेमका स्वरूप ही बता दिया (God is love)। उसका स्वरूप एवं सत्ता प्रेममयी है। ईश्वर स्वार्थी नहीं है, दूसरोंकी मंगलकामना एवं हित-साधन ही उसका एकमात्र ध्येय है। वह उन लोगोंके प्रेम एवं विश्रम्भके लिये लालायित रहता है जिन्हें उसने अपने ही अनुरूप बनाया है। पापने उस सम्बन्धका विच्छेद कर दिया है। ईश्वरका विरद है जीवको पापरूपी पाशसे मुक्त करना और अपने साथ प्रेम एवं सख्यका सम्बन्ध स्थापित करनेमें उसकी मदद करना। यह कार्य सर्वशक्तिमत्ताका ढिंढोरा पीटनेसे नहीं हो सकता, केवल नैतिक बलसे ही हो सकता है। जीव ईश्वरकी ओर तभी झुक सकता है जब उसे ईश्वरके असीम सौहार्द एवं प्रेमका विश्वास हो जाय और तभी वह बदलेमें ईश्वरके साथ प्रेम करने तथा उसपर पूर्णतया निर्भर होनेके लिये बाध्य होता है। अन्य मतावलम्बी ईश्वरकी गरिमा और महानतापर जोर देते होंगे, किन्तु ईसाइयोंके मतमें तो वह महानता उसके प्रेममें ही है। उसकी मनुष्यरूपमें अभिव्यक्तिकी अवज्ञा तथा उसके अवतार—ईसामसीह—की यातनाएँ और मृत्यु, यही उस ईश्वरकी महानताका एक सबसे बड़ा प्रमाण है। ईश्वर मनुष्योंकी-सी लीला इसीलिये करता है कि हमलोग उन लीलाओंमें योग दे सकें। Cross अर्थात् (बलिदान) का मार्ग ही उसका मार्ग है। हम लोग अपने अन्तःकरणकी क्षुद्रताके कारण यह कह सकते हैं कि ईश्वर जो हमसे इतना ऊँचा है, किसलिये इस मर्त्यलोकमें आवेगा और कष्ट सहकर मृत्युका आलिंगन करेगा? इसके उत्तरमें हम यही कह सकते हैं कि प्रेमके अन्दर एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जो प्रेमीसे सब कुछ करवा सकती है।

हमारे पिताकी सर्वज्ञता कैसी, यदि वह अपने बच्चोंके दुःख और दर्दको न जान सके ?*

ईसामसीहका अवतार, उसकी यन्त्रणाएँ एवं देहत्याग ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो इसी पृथ्वीपर एक निश्चित कालमें हुई थीं और जो उस सनातन पुरुष (परमेश्वर) की ही अभिव्यक्तियाँ थीं।

यह सिद्धान्त कि पिता अपने पुत्रको वे यातनाएँ भुगाता है जो वह स्वयं नहीं भोग सकता, प्रायश्चित्त (Atonement) का यथार्थ स्वरूप नहीं है। ईसामसीहके रूपमें ईश्वर ही संसारको अपने सम्मुख कर रहा था। ईसामसीहने स्वयं कहा था कि 'जिसने मुझे देख लिया उसने ईश्वरको भी देख लिया।'†

३-पवित्रता (Holiness)—'वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पवित्र है, पवित्र है, पवित्र है'—Old Testament में यह बात बार-बार दोहरायी गयी है। New Testament में भी इसका कई जगह उल्लेख मिलता है। ईश्वरमें अपवित्रताका लेश भी नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु संसारमें जितनी भी अयोग्य वस्तु है वह उन सबसे परे है। बाइबलमें कुछ ऐसे वाक्य मिल सकते हैं जिनमें ईश्वरकी ऐसी अनेक लीलाओंका वर्णन है जिनसे उक्त कथनमें विरोध आता है। इसका यही अर्थ है कि या तो हमने उन वाक्योंको ठीक तरहसे पढ़ा नहीं या हम उनके आशयको भलीभाँतिसे समझ नहीं सके अथवा वे वाक्य ही भ्रममूलक हैं। ईश्वरकी पवित्रताके विषयमें सन्देह करनेकी अपेक्षा बाइबल ईश्वरका रचा हुआ है इस सिद्धान्तको न मानना कहीं अच्छा है, क्योंकि यह सिद्धान्त आखिर मनुष्योंका ही तो स्थिर किया हुआ है।

४-औचित्य-प्रेम (Righteousness)—अंग्रेजीके 'Righteousness' शब्दका कुछ लोगोंने 'न्यायकारिता' (Justice) अर्थ किया है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है। 'Justice' शब्दका प्रायः बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। वह है पाप (दुष्कर्म) के बदलेमें दण्ड और

---

*'Shall, then, the Father all things know,
Except the children's want and pain?'

†'He that hath seen me hath seen the Father'

पुण्य अर्थात् सत्कर्मके बदलेमें पुरस्कार तौल-तौलकर देना। 'Righteousness' इससे ऊँची वस्तु है। उसका सम्बन्ध है औचित्य (Rightness) से। ईश्वर वही करता है जो उचित एवं श्रेष्ठ है। वह आततायीका सर्वनाश नहीं कर देता किन्तु उसके दुश्चरित्र एवं दुराचरणको छुड़ाकर उसे ठीक कर देता है, अर्थात् अपने प्रति, दूसरोंके प्रति तथा ईश्वरके प्रति उसके बर्तावको सुधार देता है। ईश्वरके औचित्य-प्रेमका यह भाव है कि उसका उद्देश्य इस अव्यवस्थित एवं विरोधग्रस्त जगत्में एकता एवं सदाचारको स्थापित करना है, ताकि इस विश्वरूपी वाद्यमेंसे एक ऐसा सुमधुर संगीत निकले जिसमें कोई एक भी विसंवादी स्वर न हो।

५–सर्वशक्तिमत्ता–कभी-कभी इसका अर्थ लोग यह समझ लेते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है। यह ठीक नहीं है। ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह ऐसे कार्यको करनेकी इच्छा ही नहीं करता जो सर्वथा उचित न हो। ईश्वर प्रेमी है एवं उसके विधान औचित्य-पूर्ण होते हैं, इसीलिये हम इस बातको देखकर प्रसन्न होते हैं कि वह सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर हमारा मंगल चाहता ही नहीं किन्तु कर भी सकता है इसी निश्चयसे हमारा उसके अन्दर विश्वास दृढ होता है और भरोसा बढ़ता है। ईश्वर सुहृद होनेपर भी शक्तिहीन होनेके कारण हमारे हित-साधनमें असमर्थ है यह बात हमारी कल्पनामें भी नहीं आ सकती।

६–विज्ञान (Wisdom)—इसका अर्थ है व्यावहारिक ज्ञान अथवा पूर्णतया उपयोगमें आनेवाली बुद्धि। अपने ज्ञानके ही द्वारा ईश्वर अपने सनातन उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सारे पदार्थोंसे मिलकर काम करवाता है—इस विश्वाससे कि हमारा पिता परमेश्वर सब कुछ जानता है तथा उसे हमारी चिन्ता है और उसकी शक्ति, जो उसके ज्ञानके द्वारा सञ्चालित होती है और उसके प्रेमसे प्रभावित होती है, सर्वसमर्थ एवं विजयिनी है, उन लोगोंको बड़ा आश्वासन मिलता है जो जीवनकी जटिल समस्याओंको देखकर घबरा जाते हैं।

इसी प्रकार उसकी दया, क्षमा, मृदुता, सहिष्णुता एवं अन्यान्य अनेकों गुणोंका वर्णन किया जा सकता है, किन्तु स्थान-संकोचवसे उन सबका विवरण नहीं दिया जाता। वास्तवमें ये सब गुण उन्हीं गुणोंके रूपान्तर अथवा प्रकारान्तर हैं और उन्हींके अन्तर्गत हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इतना लिखकर हम अपने इस निबन्धको समाप्त करते हैं। हमने ऊपर जो कुछ भी लिखा है वह इस महान् विषयका एक साधारण-सा चित्र है। इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको अच्छी तरह जानता है कि वह ईश्वरके स्वरूपको पूरी तरहसे समझने अथवा उचित रीतिसे उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। हम सबके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हम चुपचाप एवं धैर्यपूर्वक उस शुभवसरकी प्रतीक्षा करें, जब वह ईश्वर स्वयं हमारी आत्माके सम्मुख प्रकट हो, ताकि उसकी दयालुताको अधिकाधिक समझकर हम उसके साथ अधिक प्रेम कर सकें, उसपर पूरा भरोसा कर सकें और प्रभुके अनुगामी बनें, क्योंकि उनके रूपमें ईश्वर ही तो अवतीर्ण हुए हैं।

त्रिभुवन-कर्ता

साईं तेरी सरन हौं अबकी मोहिं निवाज
दूलनके प्रभु राखिये यहि बानाकी लाज॥१॥
चहिये सो करिहै सरम साईं तेरे दस्त।
बाँध्यो चरन सनेह मन, दुलनदास रसमस्त॥२॥
त्रिभुवन करता रामजी दास तुम्हार कहाइ।
तुम्हैं छाड़ि दूलन कहौ, केहि कौं याँचन जाइ॥३॥

—दूलनदासजी

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लेखक—श्रीगङ्गाचरणलालजी खन्ना, मन्त्री भारतीय बौद्धसंघ)

दो प्रकारके मनुष्योंसे धर्मके भावकी हानि होती है। एक वे हैं जो धर्मकी आड़में पाप करते हैं और अपना पेट पालते हैं। जब कोई पुरुषार्थी मनुष्य खड़ा होकर जनताकी आँखें खोल देता है, इनके दुष्ट कर्मोंका खातमा हो जाता है। परन्तु अत्यधिक हानि उन मनुष्योंसे होती है जिन्हें धर्मके नामपर अधिकार मिले होते हैं, जिसके कारण उनके हृदयसे दीनताका भाव जाता रहता है। उनकी पूजा होती है जिस कारण वे मालिककी याद भूल जाते हैं। इनकी बात मानी जाती है जिस कारण वे किसी नये भावको ग्रहण नहीं कर सकते। इनके हृदयमें सत्यकी खोज नहीं होती, ये सुबहके नये सूरजके चमत्कारको नहीं देख सकते और बहती हुई नदीके बहावकी कल्पना नहीं कर सकते, ये लोग दस्तावेज़ी धर्मके कायल होते हैं। जब धर्मकी बागडोर ऐसे अधिकारियोंके हाथमें आ जाती है तब बड़े-बड़े अन्याय होने लगते हैं, प्राणिमात्र दुःखित और व्याकुल हो जाते हैं, वर्षोंकी तरक्की रुकी रहती है। और एक बड़े परिवर्तनकी आवश्यकता होती है।

प्रायः ऐसे ही संकटके समय नास्तिकता या ईश्वर और धर्मके अविश्वास और खण्डनकी तलवार विध्वंसका काम करती है। धर्मकी बाढ़को रोकनेवाले अधिकारियोंको हटाकर नये धार्मिक जीवनकी उत्पत्तिके लिये मार्ग साफ़ करनेके लिये धार्मिक संशयवाद या नास्तिकताका युग भी आवश्यक है। एक बार कूड़ा हटनेपर धर्मका नया दृश्य और स्वरूप प्रकट होता है। संसारकी प्रायः सभी संस्थाओंकी बिगड़ी हुई अवस्था और प्राणिमात्रके दुःखोंको देखते हुए मुझे आश्चर्य नहीं होता कि नास्तिकता बढ़ती जाती है। हम लेखोंसे और व्याख्यानोंसे किसी नास्तिकको ईश्वरका उपासक नहीं बना सकते। संसारमें नास्तिकताके मिटानेका एक ही उपाय है और वह यह है कि ईश्वर-उपासक सच्चा और सेवाका जीवन व्यतीत करें और परिवर्तनके लिये तैयार रहें।

भारत ही नहीं, दूसरे देशोंमें भी यह बात फैली हुई है कि भगवान् बुद्ध ईश्वरकी हस्तीमें विश्वास नहीं रखते थे। इस भ्रमका कारण यह है कि बौद्ध-धर्ममें भी वे दो प्रकारके धर्मद्रोही हो गये जिनका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है और जो भगवान्‌के बताये परिवर्तनके लिये तैयार न थे। और भगवान्‌की बनायी हुई संघ, उस आदर्श जीवनसे जिसके द्वारा भगवान् अपने ऊँचे भावोंको संसारके सामने दर्शाना चाहते थे, पतित हो गयी। भगवान् बुद्धने ईश्वरताके भावको धर्म-स्वरूपमें वर्णन किया। इस धर्म-शब्दका जितना गूढ़ और मनोहर वर्णन बौद्ध-ग्रन्थोंमें किया गया है उतना किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं मिलता। मगर भगवान्‌ने यह शिक्षा दी कि इस भावका अनुभव ग्रन्थोंके पढ़नेसे नहीं होता, उसके लिये उपासनाकी आवश्यकता है। और यह उपासना एक सच्चे सेवकका जीवन है जिसकी पूर्ति भगवान्‌के बताये हुए अष्टांग मार्गपर चलनेसे होती है।

जिस समय भगवान्‌ने भारत-भूमिपर अवतार लिया उस समय धर्मके नामपर बहुत अन्याय प्रचलित थे। देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके बहाने लोग मूक पशुओंका जीवन तिनके बराबर भी नहीं समझते थे। राजा बिम्बसारके यज्ञमें भगवान्‌ने स्वयं अपने आपको निर्दोष पशुओंकी रक्षाके लिये अर्पित करके अपूर्व दयाका सोता बहाया था। इस एक कर्ममें जितना ईश्वर-भाव व्यक्त होता है उतना सहस्रों उपदेशोंसे नहीं हो सकता था।

मूढ़ लोगोंका विश्वास था कि जिसप्रकार ऊँचे अधिकारियोंको रिश्वतके द्वारा अधर्म करनेके लिये खरीदा जा सकता है, उसी तरह देवताओंको भी धर्मकी रिश्वत देकर अधर्मपर सही छाप लगा देनेके लिये राज़ी किया जा सकता है। ऐसी हालतमें अच्छे धार्मिक जीवनका रहस्य लोग भूल गये। ठीक इसी समय भगवान् बुद्धने अपने तपःपूत धार्मिक जीवनके द्वारा उपासना-मार्ग और धर्मके ऊँचे आदर्शको सामने रखकर मनुष्य-जातिको नास्तिकताकी निराशासे बचाया।

भगवान्‌ने आत्माको एक नाश होनेवाली वस्तु बताकर

हर एक प्राणीको निर्वाणका अधिकारी बताया । पर बौद्ध-ग्रन्थोंमें जिस वस्तुको आत्मा कहा है वह वह वस्तु है जो संस्कारों और कर्मोंके कारण एक दूसरेमें भिन्नता कर देती है और जो निर्वाणकी प्राप्तिपर नाश हो जाती है । इस आत्माका एक नष्ट होनेवाला सम्बन्ध उस वस्तुसे है जो हर एक चराचर जीवमें व्यापक है, जो बोधिचित्त है, जो अपनी सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर संस्कारों और कर्मोंसे पैदा होनेवाले घेरोंको तोड़कर निर्वाण पद पाती है । यह नश्वर सम्बन्ध कर्मानुसार स्थूल और सूक्ष्म हो जाता है और छिन-छिनमें बदलता रहता है । भगवान् बुद्धका यही भाव था जिसका श्रीशंकराचार्यजीने वेदान्तके नामसे प्रचार किया ।

धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरताके बड़े-बड़े मनोहर वर्णन मिलते हैं । उनमें वेदान्तका नेति-नेति वर्णन सबसे ऊँचा माना गया है । मगर मेरा तो ऐसा विचार है कि भगवान्‌का मौन, उनकी चुप और मुस्कान ही उसका सबसे ऊँचा और सच्चा वर्णन है । यह तो निराकार भावकी महिमा है, पर भक्तोंको इससे तृप्ति नहीं होती । वे लोग भगवान्‌के साकार और सगुण स्वरूपके उपासक हैं जिसकी उपासना करके करोड़ों मनुष्य इस भवसागरसे तर गये ।

कल्याणसे मुझको बड़ा प्रेम है और जब कभी मित्र लोग मुझको पढ़नेके लिये उसके अंक दे देते हैं, मैं उनमें बहुत-से ऐसे भाव पाता हूँ जिनका उपदेश मेरे भगवान्‌ने किया । मगर मैं भगवान्‌के साकार और सगुण स्वरूपका उपासक हूँ जिसका वर्णन कल्याणमें पानेको आँखें सदा प्यासी रहती हैं ।

इस्लाम-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सैयद कासिमअली विशारद, साहित्यालंकार)

इस्लाम-धर्मके प्रवर्तक हज़रत मुहम्मदने अरबकी भूमिमें, जब कि वहाँ अन्धाधुन्ध अत्याचार और अतिशय बीभत्स अनैतिकताका गहरा अन्धेरा छाया हुआ था, ईश्वरीय प्रेरणासे भलीभाँति आवश्यक सुधार और ईश्वरीय ज्ञानका प्रचार किया । उनके बनाये हुए नियम या मार्ग आज भी सबको खुदाकी सच्ची राह बता रहे हैं । इस्लामके कुछ सिद्धान्त देखिये—

(१) ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान् है और निराकाररूपमें सारे भूमण्डलका शासक है ।

(२) उस परमात्माको छोड़कर दूसरेकी भक्ति और प्रार्थना कभी न करनी चाहिये ।

(३) वह खुदा तोबा करनेसे (माफी माँगनेसे) सब कुसूर माफ करता है ।

(४) अल्लाह (ईश्वर) सब भले-बुरे कामोंका फल देता है और रोज-कियामत अथवा प्रलयके दिन सबके पाप-पुण्यका विचार करके विशेष फैसला करेगा ।

(५) परमेश्वरकी गति जानी नहीं जाती, वह इस संसारका शासक, पोषक और नियमपूर्वक चलानेवाला ईश्वर अदृश्य अतुलित शक्ति रखता है ।

उसकी (खुदाकी) आज्ञाएँ

(१) नमाज़ (ईश्वर-प्रार्थना)—प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक स्थानमें पवित्र होकर प्रतिदिन पाँच बार अवश्य करे ।

नमाज़ हर हालतमें सभी स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, अमीर-फ़कीर, बाल-वृद्ध सबको अनिवार्यरूपसे पढ़नी चाहिये । जनसमूहके साथ पढ़ना अति उत्तम है । मसजिदमें छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, रंग-कुरंग आदिका विचार नहीं करना चाहिये, वहाँ सभी लोग समान हैं । सबका एक-सा व्यवहार होता है तथा सब समान स्थानमें बैठते हैं ।

(२) रोज़ा—खासकर वर्षमें रमजान नामक माहमें एक महीने तक दिनभर बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीको निर्जल निराहार रहना चाहिये । और पूरा महीना रोजा रख चुकनेके बाद ईदुलफित्र (खुशीका भाग) अदा करना चाहिये । इस उपवासी माससे आत्माकी शान्ति और ईश्वर-भक्तिकी महानताको प्राप्त होकर प्रत्येक मुस्लिम (ईमानदार) सिपाहीके रूपमें अपना आदर्श प्रकट करता है ।

(३) ज़कात—प्रत्येक मुस्लिमको अपनी आमदनीका चालीसवाँ भाग निकालकर दीन-हीन, अपाहिज और दुखी नर-नारियोंकी सहायता करनी चाहिये।

(४) हज*—संसारके मुसलमानोंको सालमें एक वार अपने मक्के-मदीने आदि पवित्र तीर्थ-स्थानोंका दर्शन करना चाहिये। उसके लिये भी एक दिन ईदुज्जुहा (आदर्श त्यागका काल) मुकर्रर किया गया है। इस दिन संसारके सभी स्थानोंके थोड़े-वहुत प्रतिनिधि इकट्ठे होकर अपने नैतिक विचार परोपकारी कार्य और ईश्वरभक्तिके मार्गको सुदृढ़ और सुविशाल वनानेकी योजना रचते हैं।

(५) कुरान—'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' पर विश्वास-कर अपने आदर्शपर चलना।

इस्लाममें हर घड़ी पवित्रतासे इबादत वतलायी गयी है। अनेकों महान् वेदान्ती (सूफी) और कई अलमस्त फ़क़ीर 'अहं ब्रह्म' की सिद्धिपर पहुँचकर देशका अतिशय कल्याण कर चुके हैं। मुस्लिम-मजहवमें फिलासफीके जो कुछ सिद्धान्त प्रकट हुए हैं वे सब स्वाभाविक संगठनकी प्रभावशालिनी शक्तिके साथ जुड़े हुए हैं और एकतामें केन्द्रित हैं; इस्लाममें एक खुदा, एक धर्मग्रन्थ क़ुरान, एक पैगम्बर (ईश्वरीय प्रचारक) अथवा हज़रत मुहम्मद, एक रास्ता, एक ही इबादत, एक भाषा, एक भूषण, एक भाव, एक रस्मरिवाज़, एक ही प्रकारकी मसजिद और एक कानून है। सब लोग एक खुदाको मानते हैं। मुस्लिम-नाम-धारी मनुष्य किसी स्थानमें कैसी भी शिक्षा पाकर खुदाकी खुदाईको न माननेवाला कठिनतासे मिलेगा। कोई दैनिक नमाज़ नहीं पढ़ेगा तो आठवें दिन जुम्मा (शुक्रवार) को अवश्य मसजिदमें जायगा या सालमें ईदके दिन तो अवश्य ही नमाज़ पढ़ने जायगा और अपने भ्रम, भूल, पापोंकी तोबा करेगा (माफी माँगेगा)।

इस्लामके सिद्धान्तमें खुदा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अकृत्रिम, अदृश्य, अनोखा, अलवेला, अपरम्पार, कौतुकी, दयालु, न्यायी, निराकार और निर्विकार है। उसकी मूर्ति, उसका चित्र या उसका रूप बनाकर पूजना उसकी अपकीर्ति करना है। क्योंकि जब वह मिट्टीमें और फूलोंमें सबमें व्यापक है तो उस एक भगवान्‌को दूसरे भगवान्‌पर चढ़ाना ठीक नहीं, इससे उसकी विशालताकी अनन्तशक्ति-पर आक्षेप होता है। जब खुदा हमसे जुदा नहीं है; हमारे अन्दर है तो हम उसका भय रखकर पापोंसे वच सकते हैं। हिजरत (असहयोग) और शहीद होने (वीरगति) का मन्त्र प्रत्येक मुसलमानके रोम-रोममें इसीलिये फूँका गया है कि जहाँ अधर्म, अत्याचारका तम छाया हो वहाँ वह एकदम चला जाय और ईश्वरीय मार्ग,—ईश्वरीय भक्तिमें हँसते-हँसते अपने प्राण दे दे। उसकी यह वीर-गति अति आदरणीय है। परन्तु खुदा बुरे कामोंसे—पापोंसे सदा दूर रहनेका आदेश देता है और ईर्षा, द्वेष, हिंसा, लोभ, मोह, काम, क्रोध, मदसे वचे रहनेका मार्ग बताता है। खुदाके साम्राज्यमें खुदाका कुदरती कानून हमें हमेशा चेतावनी देता है और भूल करनेपर दण्ड भी देता है। हाँ, इस्लाममें खुदाकी इबादत हम गृहस्थीमें भी रहकर कर सकते हैं और जो इबादत हम करते हैं वही हमारे स्त्री-समाजके लिये भी है। इस्लाम मतमें खुदा अवतार नहीं लेता, वह अपने प्रिय भक्तोंकी प्रार्थना सुनकर उनकी सहायता करता है और अपनी आश्चर्यमयी प्रभासे समय-समयपर उन्हें दर्शन भी देता है। वह अपने भक्तोंका खयाल सदा रखता है।

× × ×

प्रेम-प्याला

आठ पहर चौंसठ घरी जन बुल्ला धरु ध्यान।
नहिं जानो कौनी घरी आइ मिलैं भगवान॥ १॥
आठ पहर चौंसठ घरी, भरो पियाला प्रेम।
बुल्ला कहै विचारिकै इहै हमारो नेम॥ २॥
जग आये जग जागिये पगिये हरिके नाम।
बुल्ला कहै विचारिकै छोड़ि देहु तन धाम॥ ३॥ —बुल्ला साहेव

* जो लोग हजको जाते हैं वे अपने हाथसे केवल एक ही कपड़ा तैयार करके पहनते हैं, वे किसी भी जीवको दुःख नहीं दे सकते, यहाँतक कि अपने शरीरकी जूँ तक भी नहीं मार सकते।

सिख-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—श्रीमान् ज्ञानी लालसिंहजी बी० ए०)

सिख-धर्म ईश्वरवादी है । इसमें ईश्वरके नीचे, सिवा गुरुके और किसीकी सत्ता नहीं मानी जाती । यह एक व्यावहारिक धर्म है । दूसरे शब्दोंमें, यह धर्म सांसारिक लोगोंका धर्म है, दार्शनिकोंका नहीं । सिख-गुरुओंने सांसारिक (गृहस्थी) लोगोंमें रहकर उन-जैसा जीवन व्यतीत किया और उनको अपनी सरल भाषामें वाणी उच्चारण की और इसप्रकार अपने व्यक्तित्वका प्रभाव डालकर उन्होंने लोगोंके जीवनको ऊँचा बनाया ।

ईश्वर क्या है ?

सिख-धर्मने ईश्वरके भिन्न-भिन्न नामोंके बारेमें कोई झगड़ा नहीं किया । श्रीगुरु-ग्रन्थसाहबकी वाणीमें राम, रहीम, अल्लाह, खुदा, गोविन्द और हरि इत्यादि अनेक नामोंका प्रयोग हुआ है । उस अपार शक्तिके स्वरूपको, जिसे देश, काल और भाषाके भेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे याद किया जाता है—'आदि श्रीगुरु ग्रन्थसाहब' की पहली दो तुकोंमें बतलाया है । सत्गुरु नानकदेवजी, अपने प्रीतमको, 'निरंकार' (निराकार) कहकर सम्बोधन किया करते थे । उनके समयमें संसार साकार ईश्वरका उपासक हो रहा था । उन्होंने बतलाया कि साकार विकारयुक्त होगा, इसलिये निराकार ही निर्विकार है । जैसा कि—

'रूप न रेख न रंग किछु, त्रिहु गुणते प्रभ भिन्न'

उस निराकारको समझनेके लिये सत्गुरुजीने उसका यह स्वरूप बतलाया है, जिससे शुद्ध अकाल पुरुष (ईश्वर) का ऊँचा स्वरूप समझमें आ जाय और किसी प्रकारका भ्रम न रह जाय । वह स्वरूप यह है—

'१ ओं सत्त नामु कर्ता पुरुख निरभउ निरवैर
अकाल मूर्ति अजूनी सैभं गुरप्रसादि'

पाठकोंकी सुगमताके लिये हम इस मूल-मन्त्रकी गुरुवाणीके आधारपर विशेषरूपेण निम्नप्रकारसे व्याख्या करते हैं—

(१) अकाल पुरुष एक है—

'एको सिमरो नानका जल-थल रहिआ समाइ ।'
दूजा काहे सिमरीए जम्मै ते मरि जाइ ।
प्राण अधार मीत साजन प्रभ एकै एकंकारै ।
सभ ते ऊचा ठाकुर नानकका बार-बार नमसकारै ।

(२) अकाल-पुरुष सत्त है—

'रूप सत्त जाका सत्त असथान'

(३) अकाल-पुरुषका नाम-रूप—

नामके धारे सगले जंत । नामके धारे खंड ब्रह्मंड ।
नामके धारे सिमृत बेद पुरान । नामके धारे सुनन ग्यान धिआन ।
नामके धारे आगास पाताल । नामके धारे सगल आकार ।
नामके धारे पुरीआ सभ भवन ।

(४) अकाल-पुरुष कर्ता है । तमाम सृष्टि उसीकी रची हुई है—

कका कारन कर्ता सोऊ

× × × ×

सभ तेरी कुदरत तू कादिर कर्ता

(५) अकाल-पुरुषका पुरुष स्वरूप—

'एका पुरुख सबाई नार'

(६) अकाल-पुरुष निर्भय है—

'नानक निरभउ निरंकार होर केते राम रवाल'
'सभना मउ लिखिआ सिर लेख, नानक निरभउ निरंकार सच एक'

(७) अकाल-पुरुष निर्वैर (शत्रुतासे रहित) है—

'निरवैर अकाल मूरत'

(८) अकाल-पुरुष मरता नहीं—

'काल रहत अनकाल सरूप'

(९) अकाल-पुरुष जन्म-मरणमें नहीं आता—

'जनम न मरै न आवै न जाइ'
'हरि जनम मरन बिहीन'
'तू पारब्रह्म परमेसर जोनि न आवही'

(१०) अकाल-पुरुष स्वतःप्रकाश है। अपने आप हुआ है। उसे बनानेवाला कोई नहीं है—

थापिआ न जाइ कीता न होइ
आपे आप निरंजन सोइ

बस, इसी प्रकार गुरुसाहबानने श्रीगुरुग्रन्थसाहबमें ईश्वरके और भी अनेकों गुणोंका वर्णन किया है। जैसा कि—वह सर्वशक्तिमान् है, न्यायाधीश है और उसका भय सबके ऊपर है इत्यादि।

ईश्वरके ये गुण किसी अन्य देव, देवी, पीर-पैगम्बर आदिमें नहीं हैं और सिख केवल उसी एककी ही उपासना करते हैं।

ईश्वर-प्राप्ति

सिख-धर्ममें ईश्वर-प्राप्तिका सबसे बड़ा साधन भक्ति माना गया है। जब मनुष्य भक्तिमें लीन हो जाता है तो शेष सभी गुण—जैसे—लोकसेवा, देशसेवा और प्रभुकी आज्ञामें रहना इत्यादि स्वयं ही आ जाते हैं। लिखा है—

'भाई रे भगतिहीन काहे जग आया'
'नानक बिन भगती जग बउराना, साचै शब्द मिलाई।'

परन्तु सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति भी अन्य धर्मोंमें कथित भक्तिसे कुछ विलक्षण प्रकारकी है। श्वास-श्वासपर ईश्वरके गुणोंका गान करना, सदा उसे याद रखना और स्मरण करना ही सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति है। भक्तिभाव-की जड़को सदा हरी-भरी रखना अत्यन्तावश्यक है और उसका सर्वोपरि साधन हरिकीर्तन है—

हरि कीर्ति साधसंगत है, सिर करमनके करमा।
भगति भाइ हरिकीर्तन करीऐ, जपि पारब्रह्म नानक निसतरीऐ॥
बिन सिमरन कूकर हरकाया। साकत लोभी बंधन पाया॥

मनुष्यका आत्मा उस अकाल-पुरुष परमात्माका अंश है। जबतक यह अपने स्रोतसे सम्बन्धित रहता है, तबतक बलवान् और निर्मल रहता है। उससे पृथक् होकर दुःखों और संकटोंमें फँस जाता है, इसलिये सदैव सुखी रहनेका उपाय केवल उस परमात्मासे जुड़े रहना ही है। जुड़े रहनेका उपाय केवलमात्र उस प्रभुसे प्रेम करना और अपने अस्तित्वको उसके प्यारमें भुला देना है। भक्ति-भावसे उस ईश्वरका श्वास-श्वासपर स्मरण करनेका अमोघ उपाय प्रेम है। सिखोंका गुरुमन्त्र 'वाहिगुरु' शब्द है, पर जिस समय रसनाद्वारा इसका जाप होता है उस समय ध्यान उसी अपार शक्तिका होता है, जिसे कि गुरुग्रन्थसाहबमें कई नामोंसे याद किया है।

सिख-धर्मके अनुसार परमात्मा सर्वत्र प्रकाशमान है, इसलिये उसको पानेके लिये जंगलोंमें घूमना, पहाड़ोंकी कन्दराओंमें बैठना या तीर्थादिमें भ्रमण करना व्यर्थ है। वह समीप-से-समीप और हाजरा-हजूर है। पुरुषके भीतर-बाहर वही बस रहा है इसलिये सिख परमात्माको अपने भीतर ही ढूँढ़ता है—

'सभ किछ घर महि बाहरि नाहीं। बाहरि टोले सो भरम भुलाहीं॥
मन कर हल्ले मेरे प्रीतमा हरि रिदै भाल भलाइ।
मन कर हल्ले मेरे प्यारिआ विच देही जोत समाल।'

बस, स्मरणद्वारा ही सिखके भीतर सदैव उसकी याद बनी रहती है। वह प्रत्येक कार्य करता हुआ यह समझता है कि ईश्वर मेरे कार्योंको देख रहा है, इसलिये वह वही कार्य करता है जो ईश्वरको भले लगें। अर्थात्, वह ईश्वरकी आज्ञामें चलता है और उसकी इच्छामें ही आनन्दित रहता है—

तन मनु धनु सभ सउंप गुरु कउ हुक्म मन्निये पाईऐ।
कहु नानक जिन हुकम पछाता, प्रभसाहिबका भेद तिन जाता।
अमृतवाणी उचरा हरिजसु, मिठ्ठा लागै तेरा भाना राम।

स्मरण रहे कि, सिख-धर्ममें भक्ति और स्मरणके अतिरिक्त अन्य शुभ कर्म कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। परमात्माकी यादके बिना शुभकर्म तो मनुष्यको अहंकारी बना देते हैं और सदा गिरा देनेका खतरा रखते हैं। इसलिये ईश्वर-प्राप्तिका केवलमात्र साधन 'एकस सिउ लिव लाए' है। अर्थात्, अपनी वृत्तिको सदा उस एकके साथ लगाये रखना है। उसका स्मरण करे, उसे याद रक्खे और इसप्रकार उस अपार शक्तिसे जुड़ा रहे।

(अनुवादक—श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना)

थियॉसफीमें ईश्वर

(लेखिका—श्रीमती सोफिया वाडिया)

थियॉसफी-मत ईश्वरके सगुण एवं मानवीय गुणोंसे युक्त स्वरूपका निषेध-खण्डन करता है, इसीसे इसके अनुयायियोंको लोग नास्तिक कहते हैं। मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की (Madame H. P. Blavatsky) ने, जो थियॉसफी-मतके सभी सच्चे अनुयायियोंकी गुरु हैं, अपने 'Secret Doctrine' नामक ग्रन्थकी पहली जिल्दके पृष्ठ २७९ पर लिखा है—

'यह गुह्य सिद्धान्त (Secret Doctrine) निरीश्वरवादका उपदेश नहीं देता। हिन्दू लोग मूर्तिपूजा अथवा सगुण ईश्वरको न माननेवालेके लिये 'नास्तिक' शब्दका प्रयोग करते हैं। इसी अर्थमें हम यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त भी अनीश्वरवादका उपदेश करता है। इस अर्थमें हम प्रत्येक रहस्यवादीको नास्तिक कह सकते हैं।'

इस प्रसंगमें मैडम ब्लावट्स्कीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि थियॉसफी ईश्वरके कौन-से स्वरूपको *नहीं मानती और साथ ही यह भी बता दिया है कि* हिन्दू लोग भी वस्तुतः ईश्वरके इस स्वरूपको नहीं मानते। मृण्मय अथवा धातुनिर्मित मूर्तिकी ही पूजा हिन्दू-धर्ममें नहीं है। सर्वव्यापक एवं अव्यक्त-जीवनके सारतत्त्वको प्रकट करनेवाली अथवा जीवनकी किसी विशिष्ट शक्ति अथवा अवस्थाविशेषको अभिव्यक्त करनेवाली मूर्तिका ध्यान एवं पूजन करना प्रकृतिके अन्तस्तलमें रहनेवाले एवं *अभिव्यक्तिके सारभूत रहस्यको समझनेकी चेष्टा करना है।* अतः सच्चे हिन्दुओंको मूर्तिपूजक कहना उतना ही भ्रममूलक है जितना थियॉसफी-मतके सच्चे अनुयायियोंको नास्तिक बतलाना!

इसके अतिरिक्त मैडम ब्लावट्स्की कहती हैं कि थियॉसफी-मत प्रकृतिके अन्दर एक निरपेक्ष दिव्य-तत्त्वकी आवश्यकताको सिद्ध करता है। जिसप्रकार वह सूर्यका निषेध नहीं करता, *उसी प्रकार वह ईश्वरका भी* निषेध नहीं करता। अन्तरंग सिद्धान्तने प्रकृतिके अन्दर ईश्वरका कभी निषेध नहीं किया और न उसने निरपेक्ष एवं अमूर्त-तत्त्वके माननेमें कभी आनाकानी ही की। हाँ, एकेश्वरवादी कहलानेवाले धर्मोंमें ईश्वरका जो स्वरूप माना गया है वह उसे मान्य नहीं है, उनके ईश्वर मनुष्यकी ही सृष्टि एवं प्रतिकृति हैं और इसप्रकार उन्होंने उस *अज्ञेय-तत्त्व*का तिरस्कार एवं उपहास-सा ही किया है। (देखिये Secret Doctrine Vol. I. Page XX.)

थियॉसफी किसप्रकारके ईश्वरका निराकरण करती है? जो लोग ईश्वरको मूर्ख सन्तान उत्पन्न करनेवाला सर्वविवेकी पिता, सत्त्वहीन मानवोंकी सृष्टि करनेवाला सर्वशक्तिमान् शासक, दीन, असहाय, दुखियोंको उत्पन्न करनेवाला अतिशय दयालु व्यवस्थापक, दुराचारी धूर्तों, व्यभिचारियों एवं चोरोंको पैदा करनेवाला सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता एवं शौचाचारविहीन व्याधिग्रस्त स्वार्थान्ध जीवोंका रचयिता परमपावन प्रेमी मानते हैं वे थियॉसफीके मतमें ईश्वरका तिरस्कार ही करते हैं। इसप्रकारके सृष्टिकर्ताको *मानना बुद्धिको गिराना एवं सदाचारको दूषित करना है।*

अब हमें यह देखना है कि थियॉसफी ईश्वरका कैसा स्वरूप मानती है? थियॉसफीके मतमें ईश्वर एक, सर्वव्यापक, सनातन, *अपरिच्छिन्न एवं अविकारी* तत्त्व है जिसके लिये हम 'जीवन' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। निर्गुणता ही उसका प्रधान लक्षण है। थियॉसफी इस बातपर ज़ोर देती है कि निर्गुणताको ही थियॉसफीके अध्यात्मवादका मुख्य सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये। इस बातको सिद्ध करनेके लिये मैडम ब्लावट्स्कीके लेखोंमेंसे कई अवतरण दिये जा सकते हैं। *परन्तु इस समय तो हमें थियॉसफीके द्वारा निरूपित* ईश्वरके तत्त्वका ही कुछ दिग्दर्शन कराना है।

यहाँ मैं निर्गुणताके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहती हूँ। निर्वाणकी भाँति निर्गुणता भी जीवन अथवा चेतनाकी एक अवस्था है। जिसप्रकार निर्वाणका अर्थ समुच्छेद नहीं है इसी प्रकार निर्गुणता कोई अनिर्देश्य कल्पना नहीं है। प्राकृत मनुष्योंके अनुभवके शब्दोंमें हम निर्गुणताके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। *किन्तु जिन्होंने अहंकारका सर्वथा त्याग कर* दिया है, ऐसे पुरुषोंके चरित्रका शान्तिपूर्वक मनन करनेसे तथा अहंकारशून्यताकी अवस्थाको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो साधक पुरुष जीवनमें इसप्रकार बननेका अभ्यास करते हैं

उनके आचरणोंपर गम्भीर विचार करनेसे निर्गुणताका भाव समझमें आ सकता है। सच्चे जीवन्मुक्त पुरुष अहंकार-शून्य होते हैं, 'गुरु ज्ञानी' कहलानेके अधिकारी वास्तवमें वे ही हैं। ये सच्चे गुरु अपने शिष्योंको शिक्षा एवं उपदेश देनेके लिये जिस पद्धतिका अनुसरण करते हैं उसके द्वारा उनको धीरे-धीरे और क्रमशः अहंकारशून्यताकी अवस्था प्राप्त करनेमें सहायता मिलती है। साधारण मनुष्योंकी जीवात्मा समुन्नत होकर महात्माके पदपर पहुँच जाती है। ये महात्मा ईश्वरतुल्य होते हैं, इन्हें हम दिव्य मानव कह सकते हैं। ये स्वयं अहंकारशून्यताके स्थूल एवं सजीव चित्र अथवा मूर्तियाँ होती हैं और इनकी जीवन-सरणि उसका अमूर्त स्वरूप होती है। उनकी स्थिति उन श्रीकृष्णके अन्दर होती है, जिन्हें जगत्का आधार (जगन्निवास) कहा गया है। परम पदपर प्रतिष्ठित होते हुए भी वे सदैव सर्ग-क्रियामें सक्रिय सहायता देते रहते हैं। अतएव यह बात बिल्कुल ठीक है कि गुरु-कृपाके बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। ईसाई योगी भी यही कहते हैं कि पुत्र (ईसामसीह) की सहायताके बिना पिता (परमेश्वर) की उपलब्धि नहीं हो सकती।

थियॉसफ़ीके मतमें God, Logos, ईश्वर, Master Adept (ज्ञानी) एवं महात्माका क्या स्वरूप है इस सम्बन्धमें जनतामें बहुत भ्रम फैला हुआ है, अतएव हमें इन अप्रासङ्गिक वार्तोंका उल्लेख करना पड़ा। जो लोग थियॉसफ़ीके सच्चे सिद्धान्त-की वास्तवमें जिज्ञासा रखते हों, उनसे मैं प्रार्थना करूँगी कि वे मैडम ब्लावट्स्कीके ग्रन्थोंका अध्ययन करें, क्योंकि थियॉसफ़ीके आधुनिक सिद्धान्तोंके आधार वे ही हैं। जिस-प्रकार श्रीकृष्णका असली सन्देश जानना हो तो स्वयं गीताको पढ़ना चाहिये, उसके भाष्यों और टीकाओंके पढ़नेसे श्रीकृष्णका वास्तविक अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार थियॉसफ़ीके सिद्धान्तोंसे अवगत होने-के लिये मैडम ब्लावट्स्कीके मूल ग्रन्थोंको पढ़ना चाहिये, उनकी व्याख्याओं, विवृत्तियों, एवं टीकाओंसे काम नहीं चलता।

अब हमें यह देखना है कि थियॉसफ़ी हमें ईश्वरके विषयमें क्या सिखाती है? थियॉसफ़ी वास्तवमें 'ब्रह्मविद्या' का ही नाम है अतएव उसके सिद्धान्त एवं उपदेश वही हैं जो वेदों, उपनिषदों तथा महर्षि व्यासप्रणीत ब्रह्म-सूत्रोंमें पाये जाते हैं और भगवद्गीता जो इन सब ग्रन्थोंका सार है, ब्रह्मविद्याका प्राण ही है। उसके अन्दर राजविद्या अथवा गुह्यविद्याका उपदेश दिया गया है, गीताके उपदेशों-में तथा मैडम ब्लावट्स्कीके अन्तरंग उपदेशोंमें बड़ा सादृश्य है। बात यह है कि उपर्युक्त महिलाने आधुनिक युगके लिये भगवद्गीताके उपदेशोंको ही दोहराया है।

थियॉसफ़ी ईश्वरके दो रूप मानती है—एक तो वह जो इस व्यक्त जगत्से अतीत है इसे थियॉसफ़ीकी भाषामें Be-ness (सत्तामात्र) कहते हैं। ईश्वरका दूसरा रूप वह है जो प्रकृतिमें ओतप्रोत है, इसे Be-coming (व्यक्तरूप) कहते हैं।

थियॉसफ़ीमें जिसे Be-ness कहा गया है उसीको दार्शनिक कूटस्थ (Absolute) कहते हैं और हिन्दू परब्रह्म कहते हैं एवं उसका स्वरूप निर्गुण अर्थात् गुण-रहित माना गया है। Be-coming अर्थात् ईश्वरका व्यक्त रूप वह है जिसे ब्रह्मका निःश्वास अर्थात् जीवन कहते हैं और जिसका स्वरूप अविच्छिन्न गति, अपरिच्छिन्न देश एवं अनन्त काल है। उपनिषदोंके 'तत्' और 'एतत्' शब्द मैडम ब्लावट्स्कीके 'Be-ness' और 'Be-coming' के ही पर्याय हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अपने इन्हीं दो स्वरूपोंका वर्णन किया है। (देखिये गीता अ० १० श्लो० ४२)

व्यवस्था जीवनका स्वरूप है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन क्रिया, देश एवं काल इन तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन अव्यक्त अवस्था-को प्राप्त होता है। व्यवस्थाकी प्रेरणासे जागृत होनेपर जीवन क्रिया, देश एवं कालरूप विश्वको अभिव्यक्त करता है। क्रिया, देश एवं काल अभिव्यक्तिके समानाधिकरण हैं, ईश्वर अथवा परमाणु, शक्ति अथवा रूप, स्थूल जगत् अथवा सूक्ष्म जगत्, जीवनके ये तीन स्वरूप क्रिया, देश एवं कालकी अभिव्यक्ति हैं, जिन्हें सारी त्रिमूर्तियोंकी योनि, परम त्रिमूर्ति कहते हैं। जीवनकी स्वरूपभूत व्यवस्थाका नाम कर्म है जो कारण एवं कार्यके रूपमें व्यक्त होता है, अथवा जिसे कार्य-कारण-भाव कह सकते हैं। एक रजः-कणसे लेकर तेजःपुञ्ज सूर्यतक संसारमें जितने भी व्यक्त पदार्थ हैं वे सब किसी-न-किसी कारणके कार्य हैं और उनसे अन्य कार्योंकी उत्पत्ति होती है। भगवद्गीता (८।३) में भूतप्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली तथा इनकी सत्ताको

कायम रखनेवाली प्रवृत्तिको कर्म कहा गया है। व्यवस्थासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति अर्थात् जीवनकी अभिव्यक्ति (प्रभव) होती है और उसीसे उसका संहार अर्थात् जीवनका तिरोभाव (प्रलय) होता है। इसीसे श्रीकृष्णने भगवद्गीता (९।७) में कहा है—कल्पके अन्तमें सारे भूत मेरी प्रकृतिमें लौट आते हैं और अगले कल्पके प्रारम्भमें उन्हें मैं फिर उत्पन्न करता हूँ।※

इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वव्यापक जीवन है, सर्वशक्तिसम्पन्न व्यवस्था है। जीवन एवं व्यवस्थाके रूपमें ईश्वर सर्वत्र एवं सर्वदा क्रियाशील रहता है। विश्वका सञ्चालन यदृच्छासे अथवा काकतालीय न्यायवत् नहीं होता और न वहाँ किसीकी मनमानी अथवा स्वेच्छाचारिता ही चलती है। प्रत्येक परमाणुमें, प्रत्येक शरीरमें, मनुष्यके प्रत्येक व्यवहारमें व्यवस्था अनवच्छिन्नरूपसे कार्य करती रहती है। देवताओं एवं देवियों, मनुष्यों एवं ऋषियों सभीके अन्दर व्यवस्थाका ही साम्राज्य है। देवताओंका देवत्व, मनुष्योंका मनुष्यत्व एवं ऋषियोंका ऋषित्व इसीके आधारपर स्थित है। मैडम ब्लावट्स्कीने Secret Doctrine (Vol. I, pp 274/75) में लिखा है—

'निर्जीव अथवा प्रज्ञाहीन प्रकृति कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि व्यवस्था विवेकशून्य अथवा अचेतन नहीं हो सकती।··· विश्वका सञ्चालन एवं नियमन भीतरसे बाहरकी ओर होता है। ······विश्वका सञ्चालन, नियमन एवं धारण-पोषण करनेवाली आत्माओंके अनन्त भेद एवं श्रेणियाँ हैं, उनमेंसे प्रत्येकको कोई-न-कोई कार्य अवश्य करना पड़ता है और उन्हें हम चाहे जिस नामसे पुकारें, चाहे उन्हें ध्यान-चोहान कहें अथवा देवदूत कहें वे सारे-के-सारे कर्मकी व्यवस्था एवं विश्वके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले हैं और इसी अर्थमें हम उन्हें दूत अथवा सन्देशवाहक कह सकते हैं। उनके ज्ञान एवं बुद्धिमें परस्पर महान् अन्तर है और उनके सम्बन्धमें यदि हम यह कहें कि वे विशुद्ध आत्माएँ हैं और उनके अन्दर पार्थिव अंशका लेश भी नहीं है, अतएव वे कालातीत हैं तो लोग यह कहेंगे कि यह हमारी कल्पनामात्र है।'

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं जिनको हमें पूरी तौरसे समझ लेना चाहिये—

(१) ईश्वर सर्वव्यापक है। उसका निवास वैकुण्ठलोकमें ही नहीं किन्तु पृथ्वीपर भी है। वह केवल भक्तोंके हृदयागारमें अथवा तत्त्वदर्शी मुनियोंके मस्तिष्कमें, एवं याजकके अंगोंमें ही नहीं रहता, किन्तु पापी, अज्ञानी, स्वार्थपरायण एवं रोगग्रस्त मनुष्योंके अन्दर भी उसका निवास है। उस जीवनके हाथ, पाँव, नेत्र, शिर, मुख एवं कान सर्वतोमुख हैं।※

(२) ईश्वर अन्तर्यामीरूपसे विश्वका सञ्चालन एवं नियमन करता है। स्फटिककी सुन्दर आकृति साँचेमें ढली हुई-सी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उसे कोई बाह्य सत्ता साँचेमें ढालने नहीं आती, पुष्पमें रंग अथवा गन्ध कहीं बाहरसे नहीं आता, पक्षीको उड़नेकी शक्ति कहीं बाहरसे प्राप्त नहीं होती और मनुष्यकी शुभ एवं अशुभ वृत्तियाँ, लूटने अथवा उत्सर्ग करनेकी प्रवृत्ति बाहरसे नहीं आती। सारी सृष्टि एक विकासकी क्रिया है, प्रत्येक आकारकी वृद्धि, प्रत्येक ब्रह्माण्डका विस्तार उस आकारके अन्दर रहनेवाले जीवनके स्पन्दसे ही होता है।

उपर्युक्त दो मूल-सिद्धान्तोंसे हम तर्कके आधारपर इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि एक जीवन ही असंख्य रूपोंमें प्रतिभासित होता है। जड़ एवं चैतन्यकी, प्रकृति एवं पुरुषकी वास्तवमें भिन्न अथवा विलक्षण सत्ता नहीं है, वे एक ही जीवनके दो स्वरूप हैं और प्रकृतिके समस्त रूप जीवनके ही रूप हैं। उपनिषदोंका यह उपदेश कि 'सबके अन्दर एक ही आत्मा है, किन्तु सबके अन्दर उसकी अभिव्यक्ति समानरूपसे नहीं होती' इसी बातको बतलाता है।

जीवनके त्रिगुणातीत स्वरूपके विवेचनके बाद हमने उसके त्रिगुणमय स्वरूपका विचार किया और अब हमें मनुष्य-जातिके अन्दर जीवनकी ओतप्रोतताका विचार करना है।

मानव-जातिमें चैतन्यके अन्दरसे विमर्श-शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् चैतन्यको स्वसंवेद हो जाता है। जंगली मनुष्यसे लेकर तत्त्ववेत्ता मुनियोंतक सबके अन्दर आत्मविमर्शक ज्ञान रहता है, उन सबके अन्दर 'मैं हूँ'

※ सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

※ सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(गीता १३।१३)

यह कहनेकी शक्ति विद्यमान रहती है। अन्य प्राणियोंकी तरह मनुष्योंमें भी यही नियम लागू होता है और उसका व्यापार भी इसी तरह अर्थात् भीतरसे बाहरकी ओर होता है। 'मैं' अथवा 'अहम्' का निवास मनुष्यके अन्दर होता है और उसकी शक्तियों तथा क्षमताओंका विकास इसी प्रकार होता है जिसप्रकार बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति होती है। अथवा कलिका पुष्पके रूपमें प्रस्फुटित होती है। अतः हमें अपने दोष एवं दुर्गुण किसी दूरवर्ती लोकमें रहनेवाले ईश्वरसे नहीं मिले, वे सब हमारे अन्दरसे ही प्रादुर्भूत हुए हैं। यही हाल हमारे सद्गुणों एवं शक्तियोंका है।

तब हम ईश्वरको कहाँ ढूँढ़ें? वह तो हमारे अन्दर ही है। फिर यह बाह्य जगत् जो हमें दिखायी देता है क्या है? यह केवल स्वसंवेदी मनुष्यके ज्ञानका साधनमात्र है, ज्ञानकी शक्ति तो मनुष्यके अन्दर ही रहती है। नेत्रोंकी सहायतासे हम सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रकाशको देख पाते हैं, मनकी सहायतासे हम विश्वकी रचनाको समझनेमें समर्थ होते हैं, समुद्रतटपर पड़े हुए कंकड़ एवं आकाशमें स्थित असंख्य लोकोंकी सुषुमाका अनुभव हम इसीलिये कर सकते हैं कि हमारे अन्दर सौन्दर्यका विकास हो रहा है। अधिक क्या, इस महान् विश्व अर्थात् जगत्के आन्तरिक रहस्यको हम इसीलिये समझ पाते हैं कि हमारे हृदयके अन्दर हम उस रहस्यको समझ चुके हैं क्योंकि हममेंसे प्रत्येकके अन्दर एक सूक्ष्म जगत् अलग-अलग है। विश्वमें अभिव्यक्त होनेवाली प्रकृतिकी सारी शक्तियाँ एवं क्षमताएँ वास्तवमें मनुष्यकी ही शक्तियाँ एवं क्षमताएँ हैं, मनुष्य विश्वकी एक छोटी-सी प्रतिकृति ही तो है। विश्वमें एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्यके अन्दर न हो। मनुष्य प्रच्छन्न ईश्वर है, वह ईश्वरत्वकी ओर क्रमशः अग्रसर हो रहा है।

अतः आत्मनिरीक्षण करनेपर हम अन्तमें अपनी सत्ताकी तहतक पहुँच सकेंगे और तब हमें यह विदित होगा कि हमारी सत्ताका केन्द्र और सारी सृष्टिका केन्द्र वास्तवमें एक ही है, क्योंकि यह ऊपर बताया जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति एक ही है। तब हमें इस महत्तम विषयका अनुभव कब होगा?

अनुभूतिके जिस मार्गपर मनुष्यको विवेकपूर्वक एवं सावधानीके साथ चलना चाहिये उसका वर्णन 'The Voice of the silence' (नीरवताका नाद) नामक पुस्तकमें मिलता है, मैडम ब्लावट्स्कीने उन कतिपय लोगोंके लाभके लिये जिन्हें वह पुस्तक समर्पित की गयी है उसका भाषान्तर करके उसपर अपनी ओरसे टिप्पणियाँ भी दी हैं। यह छोटी पुस्तक कई भागोंमें विभक्त है और लाणू अर्थात् चेलोंके दैनिक उपयोगके लिये संकलित की गयी है। उसमेंके कुछ पद्योंका सारांश नीचे दिया जाता है। देखिये गीताके उपदेशोंसे उसके उपदेश कितने मिलते-जुलते हैं।

(१) कितने शोककी बात है कि सभी मनुष्योंका 'आलय'से सम्बन्ध होते हुए भी अर्थात् उनकी उस परमात्मासे अभिन्नता होनेपर भी वे उस 'आलय' से कुछ भी लाभ नहीं उठाते।

यह अवतरण हमें साधनकी पहली सीढ़ी बतलाता है। अधिकांश नर-नारी इधर-उधर भटकते हुए अपनी जीवनयात्राको समाप्त कर देते हैं, किन्तु यह नहीं समझ पाते कि मनुष्य एक पथिक है और वह उस गुप्त गुहाकी यात्रा कर रहा है जहाँ ईश्वरका निवास है। हमारा हृदय ही वह गुहा है, ईश्वरका हमारे हृदयमें निवास है इस बातको जान लेना साधनकी पहली सीढ़ी है। ऐसी अवस्थामें हमें दो कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, एक तो ईश्वरकी सत्ताके निषेधका और दूसरे ईश्वरको बाहर ढूँढ़नेका। जीवन एवं व्यवस्थाकी सत्ताको अस्वीकार करनेवाला अथवा जीवन और व्यवस्था भीतरसे बाहरकी ओर प्रसारित होती है इस बातका निषेध करनेवाला शास्त्र आधिभौतिक ही है, चाहे उसका विषय विज्ञान, दर्शन अथवा धर्म कुछ भी हो। अतः हमें इस बातको समझ लेना चाहिये कि हमलोग यात्री हैं और हमारे हृदयरूपी गुहामें रहनेवाले ईश्वरका साक्षात्कार ही हमारा गम्यस्थान है।

(२) गुरु तो अनेक हैं किन्तु 'आलय' अर्थात् प्रधान आत्मा अथवा परमात्मा एक है। जिसप्रकार उस परमात्माका आलोक तुम्हारे अन्दर निवास करता है उसी प्रकार तुम उसके अन्दर निवास करो। जिसप्रकार तुम्हारे सहचर उस परमात्माके अन्दर निवास करते हैं उसी प्रकार तुम उनके अन्दर निवास करो।

'आलय' (प्रधान आत्मा) आत्मा अथवा परमात्माका ही नाम है। प्रत्येक मनुष्यके अन्दर उसका प्रकाश होता है और इसप्रकार वह उस परमात्माके साथ एकताका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

यदि ईश्वर हमलोगोंमेंसे प्रत्येकके अन्दर विद्यमान है तो वह उस सर्वव्यापक अंशीका ही स्वरूप होना चाहिये। हम रश्मिकी सहायतासे उस प्रकाशके उद्गम स्थानको पा सकते हैं जहाँसे रश्मि आविर्भूत होती है। हमारी आत्मा ही वह रश्मि है और जिस समय उसे यह ज्ञान हो जायगा कि 'मैं उस सूर्यसे अभिन्न हूँ जिसका मैं अंश हूँ।' उसी समय वह महात्माओंकी कोटिमें पहुँच जायगी, मरणशील प्राणी अमर हो जायगा, मनुष्य ईश्वरत्व प्राप्त कर लेगा और यात्राका अन्त हो जायगा।

अत हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि मुक्त होनेकी शक्ति हमारे ही अन्दर विद्यमान है, आलोक-रश्मि ही वह मार्ग है जो हमें उस आध्यात्मिक सूर्यके निकट पहुँचा देती है जिसे हम श्रीकृष्ण, ईसामसीह, अहुरमजद, अथवा अवलोकितेश्वर इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि उस आलोकमार्गपर चलनेकी शक्ति किसप्रकार प्राप्त हो। आत्म निर्भरता एव आत्म-विश्वाससे ही हम उस शक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य दूसरोंपर निर्भर करता है, दूसरोंके भरोसे रहता है वह उस मार्गपर नहीं चल सकता। जो लोग दूसरोंपर निर्भर करते हैं वे अन्धकारके मार्गसे जाते हैं जहाँ दु ख ही-दु ख है। इसीलिये मनु महाराजने हमें यह उपदेश दिया है कि परवशता दु ख एव शोकका मूल है और स्वाधीनता सुखका मूल है। किन्तु उपर्युक्त अवतरण-में हमें परस्पर सहायताका भी उपदेश दिया गया है। जो लोग परस्पर सहायता अथवा सार्वभौम भ्रातृभावके महत्त्वको न समझते हुए केवल आत्मविश्वासी होते हैं वे अहकार एव विनाशके मार्गको ग्रहण करते हैं। अत हमें चाहिये कि हम दूसरोंके अन्दर भी परमात्माको देखें और उसकी पूजा करें। इच्छाकी स्वतन्त्रता प्रत्येक नर-नारीका जन्मसिद्ध अधिकार है और हममेंसे किसीको यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरोंको दबाकर अपने अनुकूल बनावे। इतना ही नहीं, हमें यह भी सीखना चाहिये कि किसीकी इच्छाके विरुद्ध अथवा उसके अनजान-में उसके सकल्पको न बदलें। इस दिशामें हम लोगोंमें-से प्रत्येक मनुष्य अहकारशून्यताका अभ्यास कर सकता है। इसके लिये हमें अपने वर्गके लोगोंकी उपेक्षा अथवा अवहेलना करनेकी आवश्यकता नहीं है, सहिष्णुता, कृतज्ञता एव आदरके द्वारा अपनेको सबकी सहायता एव सेवाका साधन बनाकर हम इसका अभ्यास कर सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हमें इस बात-को भी समझना चाहिये कि जिसप्रकार हम दूसरोंकी सहायता करते हैं उसी प्रकार दूसरे लोग भी हमारी सेवा एव सहायताके साधन बने हुए हैं। हमलोग सब 'दरिद्र-नारायण' हैं, व्याधिग्रस्त देवता हैं, हममेंसे किसीमें एक दोष है तो दूसरेमें दूसरे ही प्रकारका दुर्गुण है, कोई शारीरिक व्याधिसे पीड़ित है तो कोई चरित्र भ्रष्ट है, कोई हाथोंसे परिश्रम नहीं करता तो किसीका मस्तक कोई काम नहीं करता, इत्यादि इत्यादि। इसप्रकार अपने सबके दोषोंको स्वीकार कर लेनेसे हमें सबकी महत्ता एवं गौरव-का परिज्ञान हो जाता है। इसप्रकार भ्रातृभाव हमारा ध्येय हो जाता है और सेवा ईश्वरके निकट पहुँचनेका मार्ग बन जाती है।

(२) तुम्हें अपनेको विशुद्ध 'आलय' से सर कर लेना है, प्रकृतिकी आत्मा—सकल्पसे एकता स्थापित करना है। उसके साथ एक हो जानेपर तुम अजेय हो जाओगे, किन्तु उससे पृथक् रहते हुए तुम सघृत्तिकी क्रीडाभूमि बन जाओगे, जो ससारके सारे अज्ञानोंका मूल है।

इससे पूर्वके उपदेशमें जो बात कही गयी है उसीका यह उपसहार है। हमें दैवीप्रकृति अथवा शक्तिको शरीर-के प्रत्येक द्वारपर प्रवाहित करना है। (देखिये गीता १४।११) हमें चाहिये कि हम प्रकृतिके विवेकपूर्ण कार्यों-के माध्यम बन जायँ। उस ज्ञानके बिना देखनेकी चेष्टा करना नेत्रवाले मनुष्योंकी अन्धकारमें देखनेकी चेष्टाके समान है। सारे पदार्थोंको देखनेकी, सारे विषयोंको समझनेकी एव सारे भूतप्राणियोंको आत्माका प्रकाश देनेकी चेष्टा करना, उनका सच्चा महत्त्व समझना है, आत्माके प्रकाशके बिना हम वैसे ही हैं जैसे अन्धोंके समु-दायमें अन्धे। हमारे ससारमें आज भी अधिकांश मनुष्यों-की यही दशा है। वे स्वय अन्धे होते हुए भी दूसरे अन्धोंको मार्ग दिखानेकी चेष्टा करते हैं। जो लोग आत्मा-की खोज करते हैं वे ही देखना आरम्भ करते हैं और जो लोग देखने लग जाते हैं वे दूसरोंकी आँखें खोलनेमें सहायक हो सकते हैं।

स्थानके सकोचसे मैं तेजोमय पुरुषोंके निवास-स्थान ज्ञानागार अथवा प्रकाशमय जगत्‌की पहुँचानेवाले

प्रकाश-मार्गकी मंज़िलोंका सविस्तर वर्णन नहीं कर सकती किन्तु 'The Voice of Silence' के उपर्युक्त अवतरणोंमें हमें विचारके लिये पर्याप्त सामग्री मिल गयी है। और उनपर विचार करनेसे हमपर भगवान् श्रीकृष्णके निम्नलिखित उपदेशकी सत्यता प्रकट हो जायगी जो उन्होंने अर्जुनके प्रति दिया है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४। ३४-३५)

विनयसे प्रश्नोत्तरके द्वारा तथा सेवा एवं तीव्र जिज्ञासाके द्वारा तू उस ज्ञानको प्राप्त कर। जिन ज्ञानी महात्माओंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है वे तुझे उस ज्ञानका उपदेश देंगे, जिसे प्राप्तकर तू फिर कभी मोहको प्राप्त नहीं होगा। और उस ज्ञानके द्वारा तू सारे भूत-प्राणियोंको पहले अपने अन्दर देखेगा फिर मेरे अन्दर देखेगा।

ज़रथोश्ती-धर्ममें ईश्वरवाद

(लेखक—प्रिन्सिपल श्री एच० जे० एस० तारापुरवाला, बी० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)

'उश्त-नो ज़ातो आथ्रव, यो स्पितामो ज़रथुश्त्रो'

(फरवरदीन यश्त, ९४)

बड़े सौभाग्यसे (हमारे) गुरु स्पितम ज़रथुश्त्रने जन्म लिया।

जगत्‌के प्रसिद्ध महापुरुषोंमें एक अशो * ज़रथुश्त्र थे। प्राचीनकालमें ईरानी आर्योंको धर्म सिखलाने और ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग दिखलानेके लिये उन्होंने जन्म लिया था। इनके जन्मके समय ईरानमें पूर्वप्रचलित धर्म बहुत ही बुरी स्थितिको पहुँच गया था। सत्य, नम्रता, दया आदि सद्‌गुण प्रायः नष्ट हो चुके थे। ईरान-देश मानो अत्याचार, असत्य और द्वेषकी ही लीला-भूमि बन गया था, सब लोग दुखी थे। उनको सुमार्ग दिखलानेवाला कोई न था। अवस्ताकी गाथामें कहा गया है कि उस समय पृथ्वी माताने गौका स्वरूप धारणकर ईश्वरके दरबारमें जाकर पुकार मचायी कि 'भगवन्! मुझपर कैसे-कैसे संकट आ रहे हैं, मुझको कैसे-कैसे दुःख झेलने पड़ते हैं, मैं क्यों पैदा की गयी? आज मुझे बचानेवाला कोई नज़र नहीं आता। मेरा उद्धार करे ऐसे किसी वीरका दर्शन कराइये, जिससे मेरे दुःखोंका नाश हो।' यह सुनकर जगत्कर्त्ताने पृथ्वीको धीरज दिया और कहा कि 'मैं यह काम ज़रथुश्त्रको सौंप दूँगा और वही तेरा उद्धार करेगा।'

इसके कुछ ही दिनों बाद ईरानके रए (रघ) नामक शहरमें राजवंशी कुटुम्बके एक सद्‌गुणी और सुशिक्षित पुरुष पोउरुशस्पके घर एक पुत्र पैदा हुआ। पोउरुशस्प बड़े विद्वान् और सदाचारी थे। उनका मन सदा ईश्वरभक्तिमें लगा रहता। उनकी पत्नी दोग्दो (दुग्धोवा) भी उन्हींजैसी थीं। पति-पत्नीमें प्रगाढ़ प्रेम था और उनका मन ईश्वर-सेवामें सदा लगा रहता था।

इस बालकके पैदा होनेके पूर्व ही अत्याचारी बादशाह और सरदारोंको अशुभ शकुन होने लगे। उन्हें मालूम हो गया कि पोउरुशस्पका बालक हमारे नाशके लिये ही जन्मेगा। इसलिये वे पहलेसे ही उसके विनाशकी युक्तियाँ सोचने लगे। इस बातकी सूचना मिलते ही पोउरुशस्पने तुरन्त ही अपनी गर्भवती पत्नीको उसके नैहर रए शहरमें भेज दिया। गर्भस्थ बालकका तेज इतना प्रभावशाली था कि वह माताके उदरसे ही दीखता था। ज्यों-ज्यों जन्म-समय निकट आता गया, त्यों-ही-त्यों माता दोग्दोका शरीर अधिक तेजस्वी और प्रकाशमय होता गया।

जन्मके समय बालकके मुखपर हँसी छिटक रही थी, मानो वह दिव्यधामसे अनन्त आनन्दको अपने साथ ही लाया हो। पोउरुशस्पने उसका नाम स्पितम रक्खा। कारण, इस नामके एक बड़े वीर पुरुष उनके कुटुम्बमें हो चुके थे। बाल्यावस्थामें इस बालकके नाशके लिये दुष्टोंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु 'जाको राखै साइयाँ

* 'अशो' शब्दका मूल अर्थ संस्कृतके 'ऋषि' शब्दसे मिलता-जुलता है। इन्हें हम महर्षि कह सकते हैं।

सकै नहिं कोय' इसके अनुसार उसका कोई एक बाल भी बाँका न कर सका। कहा जाता है कि एक बार इस बालकको जलती हुई आगमें डाल दिया गया था परन्तु अग्नि स्वयं बुझ गयी। एक बार इसको बाघोंके झुण्डमें फेंक दिया गया, परन्तु उन हिंसक पशुओंके जबड़े ही अकड़ गये। एक बार इसको घोड़ोंकी टापोंसे रौंदे जानेके लिये घोड़ोंके समूहमें रख दिया गया परन्तु एक बड़ा सफेद घोड़ा उसके ऊपर खड़ा हो गया और बालकको अपने पैरोंके बीचमें लेकर उसे बचा लिया। स्पितमकी उम्र ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, त्यों-ही त्यों पोउरुशास्पका हर्ष भी बढ़ता गया। उनको अपने इस बालकमें* भावी पैगम्बरके चिह्न स्पष्ट दिखलायी देने लगे। इसलिये उसको पढ़ानेका भार उन्होंने अपने ही ऊपर ले लिया। बालकको ईश्वर-भक्तिकी ओर लगानेवाले उसके पिता ही थे। उस समय ईरानी पन्द्रह वर्षकी उम्रमें युवक समझे जाकर गृहस्थाश्रमी बन जाते थे। परन्तु स्पितमने इसी उम्रमें वनकी राह ली। वह मनुष्यमात्रकी सेवाके उद्देश्यसे संसार, घर-बार, कुटुम्ब-वैभव सबको छोड़कर एकान्त वनवासी हो शान्त मनसे अपने हृदयको ईश्वरमें लगा देनेका प्रयत्न करने लगे। इस महाभारत तपश्चर्यामें उन्होंने लगभग पन्द्रह वर्ष बिताये।

ईश्वरका कोई सेवक जब मनुष्य-जातिके उद्धारके लिये तप करता है, तब दुष्ट शक्तियाँ उतने ही जोरके साथ उसका तप भंग करनेकी चेष्टा किया करती हैं। जिस-प्रकार भगवान् बुद्धकी तपस्याको रोकनेके लिये असुर मार अपनी सारी सेना लेकर पहुँचा था, जिसप्रकार ईसाको ललचानेके लिये शैतानने उनको सारे पृथ्वीके साम्राज्यका लोभ दिखाया था, उसी प्रकार स्पितमकी तपस्याके समय भी दुष्ट-शक्तियोंके सरदार अहेरेमनने उनपर हमला किया। अनेक प्रकारके लालच और भय दिखलाये, कहा कि 'सारी पृथ्वीका साम्राज्य ले ले, ईश्वरमें क्या रक्खा है' परन्तु दृढनिश्चयी न तो लोभमें आये और न भयभीत हुए। उन्होंने अहेरेमन से स्पष्ट कह दिया कि 'चाहे मेरे प्राण निकल जायँ, शरीरकी हड्डियाँ अलग-अलग होकर गिर पड़ें, पर मैं ईश्वरकी आराधना (माज़्दयश्नी) कभी नहीं छोड़ूँगा।' यह उत्तर सुनकर दुष्ट अहेरेमन निराश होकर अपने स्थान—गाढ अन्धकारमें भग गया। अब स्पितम सिद्धि प्राप्त कर अपनी तपश्चर्या पूरी कर ज़रथुश्त्र-नामसे प्रकट हुए। ज़रथुश्त्रका अर्थ सुनहरी (ज़रथ=हरित) रोशनी (उश्त्र†) वाला होता है। उनके अन्दरसे ईश्वरका प्रकाश पद-पदपर निकलता था, इसलिये उनको यह नाम प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण ज्ञान और परम शान्ति प्राप्तकर अब वह अपने कर्तव्य-पालनके लिये पूर्णतया तैयार हो गये और वनवास छोड़कर वापिस पुनः घर आ गये। इस समय उनकी अवस्था अनुमान तीस वर्षकी थी। जवानीका पूरा जोश था, हृदयमें साहस था और थी ईश्वरमें अडिग श्रद्धा। घर लौटते ही उन्होंने अपना सन्देश सुनाना शुरू कर दिया। सन्देश कुछ नया तो था नहीं, वही सनातन सत्य, वही सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरकी आराधना और वही मानव सेवा, जिसका सब देशोंमें, सभी कालमें अनेकों महागुरुओंद्वारा समय समयपर उपदेश दिया जा चुका है। इस सनातन सत्यको बीच बीचमें लोग भूल जाते हैं, इसीसे बारम्बार देश-कालके अनुसार शब्दोंमें उसे कहना पड़ता है।

अशो ज़रथुश्त्रका सन्देश सबसे पहले माननेवाले उनके चचेरे भाई मइध्योमाह थे। इस पहले शिष्यने जीवनपर्यन्त उनके साथ रहकर उनकी अनेकों सेवाएँ की। पैगम्बरको बड़े समयपर ढाढसहित करनेवाले, उनके संकटोंमें हिस्सा बँटानेवाले, उनकी आशा और निराशाके भागीदार बहुत वर्षोंतक केवल यह मइध्योमाह ही थे। संसारने आरम्भमें इस नये पैगम्बरकी कोई कद्र नहीं की। उनमें ईश्वरी शक्ति थी, परन्तु दुनियाँकी आँखों पर उस शक्तिकी कोई स्पष्ट झलक नहीं पड़ी। धर्म संस्थापकके सम्बन्धमें प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। उनका पहला सन्देश ग्रहण करनेवाले प्रायः साधारण मनुष्य ही हुआ करते हैं। आगे चलकर जब अधिकार-सम्पन्न और संसारकी नजरमें बड़े बड़े आदमी उनकी सहायता करते हैं तभी उस धर्मका प्रसार होता है। इसी प्रकार ज़रथुश्त्र भी वर्षोंतक फिरते रहे, परन्तु किसीने उनका पक्ष नहीं लिया। उनकी बड़ी इच्छा थी कि स्वदेश (पश्चिम ईरान) में ही उनका कार्य सफल हो परन्तु ऐसा नहीं हुआ और अन्तमें ठेठ पूर्व बल्ख

* स्पितम अपने भाई बहनोंमें सबके 'बिचले' थे।

† उष् धातुसे 'उश्त्र' बनता है। इस धातुका अर्थ है 'प्रकाश करना' संस्कृतमें उष्ण आदि शब्द इसी धातुसे बनते हैं।

(बख्धी, Bactria) के बादशाह वीश्तास्प (गुश्तास्प) ने उनका स्वागत कर सन्देश स्वीकार किया। वीश्तास्पके साथ ही उसके दो प्रसिद्ध वजीर जामास्प और फ्रषओश्त्र भी ज़रथुश्त्रके शिष्य बन गये।

इसके बाद नये ज़रथोश्ती-धर्मका विस्तार बड़े वेगसे होने लगा। इतनेपर भी धर्मके लिये वीश्तास्पको कई बार बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। अन्तमें सत्यकी जय हुई, दुष्टोंका पराजय हुआ और एक बार फिर पृथ्वीमाता-परसे पापका भार घटकर शान्ति और सत्यका राज्य स्थापित हुआ। अशो ज़रथुश्त्र स्वयं इस विजयको देख सके और अपना कार्य भलीभाँति पूरा कर लम्बी उम्रमें आपने देहत्याग किया।

ज़रथुश्त्रके काल-निर्णयका भार विद्वानोंपर छोड़कर हम यहाँ यही देखना चाहते हैं कि इन महागुरुने मनुष्यको मुक्तिका कौन-सा मार्ग बतलाया और इनके आनेसे पहले वहाँ किस धर्मका प्रचार था ?

प्राचीन कालमें एक प्रजा अपनेको आर्य कहती थी। उसको इस नामका बड़ा अभिमान था। अनार्य नाम नीच-से-नीच गिना जाता था। वह आर्य प्रजा मध्य एशियामें खासकर पामीरके पहाड़ोंमें बसती थी और एक ही धर्मका पालन करती थी तथा एक ही भाषा बोलती थी। इस प्रजाके लोग ईश्वर-रचित दिव्य तत्त्वोंकी—सूर्य, अग्नि, चन्द्र, वायु, जल आदिकी आराधना करते और उन देवताओंकी प्रशंसाके स्तोत्र बनाते तथा गाते। तथापि उन्हें इस बातका भलीभाँति ज्ञान था कि ईश्वर एक है। वे उस ईश्वरको 'अहुर' के नामसे पुकारते*। वे इस बातको भी जानते थे कि सत् एक ही है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(सत्य एक ही है, विद्वान् उसे नाना प्रकारसे कहते हैं, उसे अग्नि, यम अथवा वायु कहते हैं।) उपनिषदोंमें 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि शब्द बार-बार आते हैं।

उन लोगोंके भाव और आदर्श बहुत उच्च थे। वे अपना जीवन सादगीसे बिताते थे परन्तु ईश्वर-भक्तिमें विशेष मन रखते थे। उनके जीवनका मुख्य आदर्श वेदके 'ऋत' शब्दमें समाया हुआ है। यही शब्द अवस्तामें 'अष' के रूपसे मिलता है, जिसका अर्थ बिल्कुल 'ऋत' जैसा ही होता है। परवर्ती कालमें हिन्दू-शास्त्रोंने धर्म शब्दका जो अर्थ किया है, बौद्धोंने जिसको 'धम्म', मुसल्मानोंने इस्लाम, ईसाने Righteousness कहा है, यह ऋत या अष भी वही है।

इसके सिवा उन लोगोंमें उस समय भी तीन मुख्य वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (अवस्तामें—आथ्रव, रथएस्तार और वास्त्र्य) माने जाते थे और उनका उपनयन-संस्कार होता तभी वे द्विज (दुबारा जन्मे हुए) कहलाते थे। पारसियोंमें इस संस्कारको 'नवजोत' (नया जन्म) आज भी कहते हैं। यह नया जन्म अर्थात् धर्म-संघमें जन्म प्राचीन कालमें स्त्री और पुरुष दोनोंका ही होता था। आज भी हिन्दू उस समय जनेऊ और मेखला धारण करते हैं तथा सिरपर शिखा रखते हैं एवं पारसी सुदरेह और कुस्ती धारण करते हैं तथा सिरपर टोपी रखते हैं।

इस आदर्शको माननेवाली और इस सनातन-धर्मका पालन करनेवाली यह आर्य प्रजा सदियोंतक एक ही बनी रही। फिर पता नहीं क्यों उसके दो भाग हो गये। शायद कोई धार्मिक मतभेद रहा होगा। इससे कितने ही शब्दोंके अर्थ तो एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत हो गये। हिन्दुओंने असुर (अहुर) शब्दका अर्थ उलटा किया तो इसके जवाबमें ईरानियोंने देव (दएव) शब्दका अर्थ 'बुरी शक्ति धारण करनेवाला' अर्थात् राक्षस कर दिया। इसी तरह अन्य कितने ही देवताओंका स्वरूप भी पलट गया। ईरानियोंमें इन्द्र, नासत्य, विधाता इत्यादि कतिपय देवता बड़े दानव माने गये, फिर भी सोम (हओम), स्वर्—अथवा सूर्य (ह्वरे-क्षएत, खुरशीद), मास् (चन्द्रमा—माओङ्ह) मित्र (मिथ्र, मेहेर), यम, (यिम) आदिके स्वरूप वही बने रहे। इसी प्रकार उपनयन, वर्णभेद आदिको भी दोनों भागोंने बनाये रक्खा।

परन्तु समयके प्रवाहके साथ ही ईरानमें एक ईश्वरकी आराधना धीरे-धीरे कम होती गयी, ईश्वर (अहुर) की सर्वश्रेष्ठताको भूलकर लोग अधिकांशमें दूसरे देवताओंका पूजन करने लगे। इसीके साथ पुरातन 'अष' का मार्ग (अषहे पन्ताओ—ऋतस्य पन्थाः) भी विस्मृत हो गया। धर्म डूबने लगा, अत्याचारियोंका जोर बढ़ गया

* वेदके एक मन्त्रमें 'असुरः पिता नः' (असुर हमारा पिता) ये शब्द वरुणके लिये आते हैं।

और साधुपुरुषोंपर दुःख पड़ने लगे। ऐसे ही समय जगत्में महान् गुरु अवतरित होकर प्रजाको विस्मृत मार्ग एक बार पुनः दिखाया करते हैं (देखिये गीता ४। ७।८)। अतएव ईरानी प्रजाके उद्धारके लिये, उन्हें फिर एक बार ईश्वर (अहुरमजद) की भक्ति सिखलानेके लिये, फिर अषके मार्गपर चलानेके लिये महागुरु ज़रथुस्त्रने जन्म धारण किया। उनका उपदेश प्रायः उन्हींके शब्दोंमें, हमारे सौभाग्यसे आज भी सुरक्षित है। समयके प्रवाहमें पड़कर ईरानी आर्य-प्रजाको दो बार भारी पराजयका सामना करना पड़ा। पहिली बार ईस्वी सन्के ३३१ वर्ष पूर्व यूनानी सिकन्दर (Alexander) के हाथों और दूसरी बार ई० सन् ६५१ में अरबोंद्वारा। इन दोनों विप्लवोंमें असली ज़रथोश्ती-धर्मके ग्रन्थोंका नाश किया गया। तो भी ईश्वर-कृपासे कुछ साहित्य दस्तुरों (धर्म-गुरुओं) के कण्ठस्थ होनेके कारण बच हो गया। उसमें यज्ञ-क्रियाके मूल-मन्त्र भी हैं। उनके संग्रहको यस्न (यज्ञ) अथवा ईजस्न कहा जाता है। इसके बहत्तर मन्त्रोंमें* ज़रथुस्त्र पैग़म्बरका उपदेश भी शामिल है। इसे गाथा कहते हैं। और ये सब मिलकर पाँच हैं। अहुनवइति (हा २८–३४), ऊश्तवइति (हा ४३–४६), स्पेन्त-मइन्यु (हा ४७–५०), वोहु-क्षथ्र (हा ५१) और वहिश्तो-इश्ति (हा ५३)। इन पाँचोंमें (खासकर गाथा अहुन-वइति) में असो ज़रथुस्त्रका सन्देश है।

इनके उपदेशोंके तीन भाग हो सकते हैं—(१) ईश्वर-आराधना, (२) सद्-असद्का भेद और (३) जीवन किसप्रकार बिताना चाहिये इसका उपदेश।

ईश्वर एक है, वह सर्वोपरि है और वही चराचर जगत्का उत्पन्न करनेवाला है, यह शिक्षा ज़रथुस्त्रने फिरसे ताज़ा कर दी। वह दादार (स्रष्टा) अहुरमजद्के सिवा और कोई नहीं है। सारी सृष्टि उसीमेंसे निकलती है, और उसीमें लय हो जाती है। यह उनका सन्देश था। अहुरमजद्के सिवा और किसीकी आराधना नहीं करना, यह उनका फ़रमान है। अहुरमजद निराकार होनेसे उनकी उपासना एक ही प्रकारसे की जा सकती है। वह आराधना यह है कि उनके जो बड़े-बड़े खास गुण हैं उनका स्मरण और मनन करना। ज़रथुस्त्रने भगवान्के ऐसे छः मुख्य गुण बतलाये हैं। (१) अष, (२) वोहु-मनो, (३) क्षथ्र-वइर्य, (४) स्पेन्त-आर्मइति, (५) हऊर्वतात और (६) अमृततात्। पीछेसे इन्हीं गुणोंको 'देवता' अथवा फरिश्ता बना दिया गया है। और ये अमेषा-स्पेन्ता* (अमशास्पंद) के नामसे प्रसिद्ध हैं।

अष (ऋत)–ईश्वरका यह गुण प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध है। विश्वमें जो कुछ भी हो रहा है वह केवल अषके कारण ही है। यही 'धर्मचक्र' भगवान् बुद्धने भी समझाया था। अषके ही कारण स्वयं अहुरमजद (ईश्वर) अपने स्थानपर स्थित हैं। सारे संसारकी भित्ति अषपर ही निर्भर है। सृष्टि-रचनाके समय ईश्वरकी जो इच्छा थी, जिसके अनुसार यह सब उसने रचा, जो इस स्थावर-जंगमका हेतुरूप है वह अष ही है। दूसरी प्रकारसे देखें तो ईश्वरकी उस इच्छाके पूर्ण करनेमें, ईश्वरकी इस रचनामें सहायक होनेमें हमें जो कुछ आचरण करना चाहिये, वह भी अष ही है। ईश्वरेच्छाका अनुसरण कर, उसके नियमोंका पालन कर, सृष्टिक्रममें सहायक बनना यही अष† है। अहुरमजद इसी कारणसे अपने पदपर विराजित हैं और मनुष्य भी यही प्रार्थना करते हैं कि 'सर्वोत्तम अषको लेकर, सर्वश्रेष्ठ अषको लेकर, (हे अहुर!) हम तेरा दर्शन करें, हम तेरे पास पहुँचें और तेरे अन्दर समा जायँ।'‡

परन्तु इसप्रकारकी गूढ़ फिलॉसफीसे पूर्ण अषका रूप सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता। उनके लिये इसका स्मरण और मनन करना बहुत कठिन होता है। इसीलिये पैगम्बरने धर्मके चिह्नस्वरूप आतश (आतश्–अग्नि) का स्वीकार किया और आतश्को अषका बाह्य स्वरूप माना। आतश्को इसप्रकार माननेके दो कारण हैं, एक तो यह कि आतश् जिस वस्तुका स्पर्श करता है उसको अपने जैसा ही बना देता है और दूसरा यह कि अग्निकी लपट सदा ऊपरको ही उठती है। इसी कारणसे ज़रथोश्तियोंको आतश-परस्त (अग्नि-पूजक) माना जाता है और वे अष-वहिश्त (अर्दिबेहश्त) आतश्के फरिश्ता कहलाते हैं।

---

* ये मन्त्र पारसियोंमें 'हा' के नामसे प्रसिद्ध हैं इन्हीं ७२ 'हा' के स्मारकस्वरूप हमारी कुश्ती ७२ ऊनके तारोंसे बनायी जाती है।

* इस नामका अर्थ पवित्र अमर (शक्तियाँ) होता है।

† मुसलमान इसीको इस्लाम कहते हैं।

‡ अष वहिश्त, अष स्पश्त, दरेसाम थ्वा, पइरि थ्वा जम्याम, हमेम थ्वा हख्म।—होदावाम।

वोहु-मनो–(भला मन) यह ईश्वरका दूसरा गुण है। ईश्वरका मन भला ही होता है। उसकी उत्पन्न की हुई सब चीजें भी भली ही होती हैं। मनुष्यको अपके मार्गपर जानेमें वोहु-मनो (वहमन) फरिश्ता मदद करता है। संकटके समय केवल यही हमारी रक्षा कर सकता है। भले मनका एक स्वरूप प्रेम है और वह प्रेम सिर्फ मनुष्यों-के प्रति ही नहीं, समस्त जीवोंकी ओर उसकी धारा वहनी चाहिये। इसी कारण वोहु-मनो (वहमन) अमशास्पंद गौ-पशुओंका रखवाल गोपाल माना जाता है। गाय–पशुओंका पालन करनेसे, उनको भरपेट चारा-पानी देनेसे, उनकी हिंसक प्राणियोंसे रक्षा करनेसे हमें वहमनका आशीर्वाद प्राप्त होता है। आज भी पारसी मांसाहारी होनेपर भी हर महीनेकी दूसरी तारीख (वहमन रोज) को मांस नहीं खाते और कुछ लोग तो वहमन (११ वें) महीनेके तीसों दिन मांसका त्याग करते हैं। वहमनके आशीर्वादसे मनुष्यका मन शुद्ध होता है और उसे अपका मार्ग भलीभाँति सूझने लगता है तथा उसके ज्ञानकी वृद्धि होती है।

क्षथ्र-वइर्य–(शहेरवर) यह ईश्वरके प्रभुत्वका सूचक है। ईश्वर विश्वके प्रभु हैं, सवपर एकचक्र-सत्ता-धारी अद्वितीय स्वामी हैं। **शहेरवर** अमशास्पंद ईश्वरकी अपार, अनन्त शक्तिका स्मारक है। वह शक्ति जिस मनुष्यपर उतरती है वह मनुष्य कार्यदक्ष हो जाता है, ईश्वरका साथी वन जाता है। और लोक-कल्याणके कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। शहेरवर हमारे इस स्थूल भुवनमें धातु और धनके सरदार (स्वामी) हैं। क्योंकि इस निम्न संसारमें यही वस्तुएँ शक्तिका स्वरूप मानी जाती हैं।

स्पेन्त-आर्मइति–(अस्पनदारमद) का मूल अर्थ पवित्र सद्बुद्धि होता है। * यह धर्मपर एकनिष्ठ श्रद्धा और अहुर (ईश्वर) के प्रति अनन्य भक्तिभाव प्रदर्शित करती है। धर्मकी अधिष्ठात्री यही अमशास्पंद मानी जाती है। प्रत्येक ज़रथोश्ती नवजोत होनेपर इसीकी शरणमें जाता है। यही अमशास्पंद धरतीमाता हमारा भार वहन करने-वाली पृथ्वीपर अधिकार रखती है। जब कोई ज़रथोश्ती देहत्याग करता है तब वह इसी स्पेन्त-आर्मइति की गोदमें जाकर सोता है*।

हऊर्वतात्–(खोरदाद) यह अहुरमजदकी सम्पूर्ण-ताका सूचक है। ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण है और उसकी सम्पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीव प्रयत्नवान् है। यह अमशास्पंद जलकी अधिकारिणी है। इसके साथ **अमृततात्** (अमरदाद) अमशास्पंदका नाम सदा युक्त किया जाता है। अमरदाद ईश्वरका अमरत्व दर्शाता है और मनुष्यको मृत्युभयसे दूर करता है। यह अमशास्पंद वनस्पतिके साथ सम्बन्धित है।

इन छः अमशास्पन्द और सातवें अहुरमजद अर्थात् इसप्रकारके षड्गुण-सम्पन्न ईश्वरकी आराधना करना अशो ज़रथुश्त्रने ईरानी प्रजाको सिखाया और आतश् (अग्नि) को अपने धर्मका चिह्नरूप मानकर, उसे परम पवित्र तत्त्व समझकर† उसकी रक्षा करनेकी ईरानी प्रजा-को आज्ञा दी।

इन छः अमशास्पन्दोंके अतिरिक्त ज़रथुश्त्रने एक और भी शक्तिका वर्णन किया है और अमशास्पन्दोंकी भाँति उसको भी दैवी स्थान देकर मानो देवताकी ही उपमा दी है। वह स्रओष (सरोश) यजद (फरिश्ता) ‡ है। स्रओष शब्द स्रु (श्रु) धातुसे बना है, जिसका अर्थ प्रायः संस्कृत-के 'शुश्रूषा' जैसा ही होता है। मनुष्यमें यह सर्वोत्तम गुण माना जाता है। ईश्वरकी भक्ति, उसके नियमोंमें अडिग श्रद्धा और उसकी शुश्रूषा (सेवा)—सरोश इन सबका सूचक है। गाथामें यजदोंमेंसे सिर्फ इसीका ही नाम मिलता है। मनुष्यको जब यह प्राप्त होता है तभी वह मुक्तिके मार्गपर आरूढ़ हो सकता है। एक स्थानपर

* इन छः अमशास्पन्दोंमें पहले तीन नर-जाति-सूचक और दूसरे तीन नारी-जातिके हैं। ज़रथोश्ती-धर्ममें स्त्री-पुरुषका ज़रा भी भेद नहीं है, उसका यह भी एक प्रमाण है।

* मृत शरीरको दख्मपर चढ़ानेके बाद वहाँपर उपस्थित सव लोग 'स्पेन्त-आर्मइति' को नमस्कार करके मन्त्रोच्चारण करते हैं।

† इसी कारण पारसी मृत देहको जलाते नहीं, क्योंकि मुर्देके स्पर्शसे आतश् अपवित्र हो जाता है, उस शवको भूमिमें नहीं गाड़ा जाता और जलमें भी नहीं फेंका जा सकता। दख्मा बाँधकर उसमें शवको खुला रख देते हैं। वहाँ पक्षी उसका भक्षण कर जाते हैं। हड्डियाँ सूर्यके तापसे साफ होकर अन्तमें धूल बनकर दख्माके अन्दरके कुँएमें गिर पड़ती हैं।

‡ यजद अर्थात् पूजनीय (यज् धातुसे)। यजदोंका स्थान अमशास्पन्दसे कुछ नीचा है।

ज़रथुश्त्र स्वयं प्रार्थना करते हैं कि 'हे मज़्दा ! तू जिसको चाहता है उसके पास सरोश, वहमन (भला-मन) के साथ मिलकर जाता है* । अर्थात् तेरी कृपा होती है तभी मनुष्यमें तेरी सेवा करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और उसका मन भला बन जाता है ।

गाथामें अहुरमज़्दके अतिरिक्त इन सातों (छः अमशास्पन्द और एक सरोश) के नाम मिलते हैं, परन्तु अगले देवताओंमेंसे किसीका नाम नहीं मिलता । इससे यही सार निकलता है कि ज़रथुश्त्रने अहुरकी और उनके छः मुख्य गुणोंकी ही स्तुति की है एवं मनुष्य-जातिके लिये सरोश (शुश्रूषा) की आवश्यकता दिखलायी है । गाथाके इन नामोंको उनके असली अर्थमें लेनेसे लेखका अर्थ स्पष्ट समझमें आ जाता है । तो भी कई जगह इन गुणोंको 'आलंकारिक रीति' से (Allegorically) फरिश्ता माना गया है । गाथामें सबसे महान् उपदेश सदसत्की उत्पत्ति-विषयक है। इस उपदेशमें ज़रथोश्ती-धर्मकी गूढ़ फिलॉसफी समायी हुई है । गाथामें यह शिक्षा स्पष्ट शब्दोंमें दी गयी है कि सृष्टिके प्रारम्भमें अहुरमज़्दने दो दैवी शक्तियों-को (मइन्यू-मिनो) उत्पन्न किया । ये दोनों शक्तियाँ सदा ही एक दूसरेकी विरोधिनी हैं । जब ये दो शक्तियाँ मिलीं, तब इन्होंने सृष्टिका कार्य सफल करनेके लिये, प्रथम जीवन और अ-जीवनको उत्पन्न किया ।† इन दोनों मीनोंके नाम स्पेन्तो-मइन्यु (स्पेनामीनो) अर्थात् 'पवित्र शक्ति' और अंग्रो-मइन्यु (अहेरेमन) अर्थात् 'बुरी शक्ति' है । इन दोनों शक्तियोंके मिलनेसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति हो सकती है । वस्तुतः यह बुरी शक्ति भी ईश्वर-का ही एक रूप है । अगर यह न हो तो हम भलेको (पवित्रको) पहचान ही न सकें । जिसप्रकार हिन्दू सांख्यवादमें प्रकृति और पुरुष साथ मिलकर सृष्टि रचते हैं वैसे ही अंग्रो-मइन्यु और स्पेन्तो-मइन्यु दोनोंने मिलकर यह सब उत्पन्न किया है । परन्तु अन्तमें तो अंग्रो-मइन्युकी ही हार है । हमारा आत्मा इस स्थूल लोकमें उतर आया, इसलिये इतने ही अंशमें हम अंग्रो-मइन्युके वशमें हो गये । परन्तु हमारे अन्दर दैवी अंश भी है । स्पेन्तो-मइन्यु भी हमको उत्पन्न करनेमें सहायता करता है और हमारा कर्तव्य है कि धीरे-धीरे हमारे अन्दर स्पेन्तो-मइन्युका विकास होकर अन्तमें वह पूर्णरूपसे प्रकट हो जाय ।

एक दृष्टिसे अंग्रो-मइन्यु आभासमात्र (मायारूप) है । वह सिर्फ अ-जीवन ही पैदा करता है । वह केवल अभावरूप (Negation) है तो भी हमको वह सत्य-सा भासता है । इस अज्ञान-अन्धकारके मिटते ही स्पेन्तो-मइन्युका तेज पूर्णरूपसे झिलमलाने लगता है । जैसे तेजके साथ छाया भी होती है, वैसे ही स्पेन्तो-मइन्युके साथ अंग्रो-मइन्यु भी रहता है । जबतक हमलोग छायामें रहते हैं तबतक तेजको नहीं देख सकते और अन्धकारमें गोता खाते रहते हैं, परन्तु यह याद रहे कि छाया स्वयं कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं है ।

इस गहरी फ़िलॉसफ़ीके कारण ज़रथोश्ती-धर्मको अनेकों यूरोपियन विद्वान् एक प्रकारका द्वैतवाद (Dualism) कहते हैं, परन्तु वे इस मूल तत्त्वको भूल जाते हैं कि इन युगल शक्तियोंको उत्पन्न करनेवाला अहुरमज़्द तो एक और अद्वितीय ही है । फिर ज़रथोश्ती-धर्म शुद्ध 'अद्वैतवाद' नहीं तो क्या है ?

यहाँतक तो विद्वानोंके कामकी फिलॉसफीका वर्णन हुआ । साधारण मनुष्य तो इन सारी बातोंमें केवल ईश्वराराधना ही समझ सकता है और ईश्वरके छः गुणोंकी स्तुति करते-करते उनको फरिश्ताकी उपमा दे देता है । अंग्रो मइन्यु भयानक है, उससे दूर रहना चाहिये, यों विचार कर बालक ज्यों अन्धकारसे डरता है त्यों ही वह उससे दूर भागता है । अशो ज़रथुश्त्रके धर्ममें यदि केवल इतनी ही बात होती तो उस धर्मका इतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था । इस धर्मका खास रहस्य तो उनका बतलाया हुआ जीवन बितानेका मार्ग है और इसी कारण हजारों वर्ष बीत जानेपर भी आज लाखों आदमी भक्ति और प्रेमके साथ उनके पवित्र नामका स्मरण कर रहे हैं ।

धर्ममें तीन प्रकारके मार्ग हो सकते हैं;—ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग । दूसरे शब्दोंमें ईश्वरको तीन प्रकारसे पहचाना जा सकता है—ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा कर्मोंसे । अवश्य ही जो महात्मागण ईश्वरके साथ एकत्वको प्राप्त हो गये हैं, जो मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, उनमें तीनों शक्तियोंका एक ही साथ पूर्ण विकास देखा जाता है । परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये अपनेमें जिस शक्तिकी अधिकता हो, उसीके अनुकूल मार्ग ग्रहण करना चाहिये ।

* 'येम् ता मज़्दा' यह मन्त्र दिनमें अनेक बार पढ़ा जाता है।

† गाथा अहुनवइति ।

जिसप्रकार किसी एक मनुष्यके लिये अमुक मार्ग विशेष उपयोगी सिद्ध होता है उसी प्रकार एक प्रजाके जीवनमें भी अमुक शक्ति अधिकांशमें प्रकट होती है और तब वह प्रजा उस अपने अनुकूल मार्गको स्वीकार करके ही विजयिनी होती है। ईरानी प्रजा कर्मशील थी और इसीलिये ज़रथुश्त्रके धर्ममें कर्ममार्गपर विशेष ज़ोर दिया गया। आज भी पारसी-जाति उसी मार्गपर चल रही है।

अवस्तामें कहा गया है कि जब अहुरमजदने सृष्टिकी रचना की तब उसने 'अहुन-वइर्य' कलामका उच्चारण किया। जब अंग्रो-मइन्यु ज़रथुश्त्रको मारने आया, तब उन्होंने उच्च स्वरसे यह मन्त्र पढ़ा, जिससे डरकर अंग्रो-मइन्यु वहाँसे भाग गया और उसके साथी अन्यान्य 'दएव' गण भी अन्धकारमें जा छिपे। यह 'अहुन-वइर्य' मन्त्र ज़रथोश्ती-धर्ममें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस मन्त्रके लिये यह कहा गया है कि अहुनेम-वइरीम तनूम पाइति (अहुन-वइर्य शरीरकी रक्षा करता है)। एक दूसरे स्थलपर लिखा है कि जो इस कलामको भलीभाँति समझकर स्पष्ट रीतिसे उचित स्वर और रागके सहित इसे गाता है उसको शेष पूरे अवस्ताके पाठका पुण्य होता है। सारांश यह कि इस कलामका रहस्य बहुत ही गम्भीर माना जाता है। ज़रथोश्ती-धर्ममें यह मन्त्र सबसे पवित्र और पावनकर्ता समझा जाता है। इसका एक यही कारण हो सकता है कि इसमें ज़रथोश्ती-धर्मका वास्तविक तत्त्व समाया है। और इसी समझको ज़रथुश्त्रका पैगाम या सन्देश समझा जा सकता है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिसे भी हम इस कलामको समझें तो हमें सहज ही पता लग जायगा कि आजतक पारसी इस पुरातन-धर्मको क्यों पकड़े हुए हैं?

इस कलामका अर्थ* निम्नलिखित है—

'यथा अहू वइर्यो अथा रतुश् अपात्-चित् हचा; वङहेउश् दज़्दा मनङ्हो श्यओथननाम् अङ्हेउश मज़्दाई; क्षथ्रेम-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुब्यो ददत् वास्तारेम्।'

अर्थ—जैसे एक अहु (संसारका स्वामी) सर्वोत्तम (सबसे अधिक शक्ति और प्रभावशाली) (इस स्थूल लोकपर) होता है उसी प्रकार एक रतु (महात्मा ऋषि) (अपने) अष (सत्य) (केवल) के कारण (सब भुवनोंमें सर्वोत्तम है)।

वहुमन अमशास्पन्दकी भेट उनके लिये है जो सृष्टिके स्वामी (अहुरमजद) के लिये कार्य कर रहे हैं!

अहुरकी शक्ति उस मनुष्यको प्राप्त होती है जो सहायार्थियोंको (योग्य पात्रोंको) सहायता देता है।

मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं, तीनोंका पृथक्-पृथक् अर्थ दिखाया गया है। पहिली पंक्तिमें अहु और रतुकी महत्ताकी समानता की गयी है। अहु अर्थात् संसारका स्वामी, सारी पृथ्वीपर जिसकी दुहाई फिरती हो ऐसा बादशाह। और रतु अर्थात् महाज्ञानी धर्मोपदेशक ऋषि। अहु चाहे जितना बड़ा हो परन्तु रतु का स्थान उसकी अपेक्षा कहीं ऊँचा है। अहु तो केवल अपने देशमें ही पूजित होता है परन्तु रतु तो सारे भूमण्डलमें ही नहीं, स्वर्ग-लोकमें भी उच्च स्थानपर विराजता है। किस कारणसे? अपने अषकी शक्तिके कारणसे। जो महात्मा अषमें स्थित सृष्टिके रहस्यको समझ लेते हैं वे अपने ज्ञान-बलसे प्राप्त तपोबलके द्वारा उच्च स्थान प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार आर्यावर्तमें और इसी प्रकार ईरानमें भी धर्मगुरु (आथ्रव) का स्थान राजासे ऊँचा गिना जाता था। अवस्तामें देशके स्वामीकी अपेक्षा 'दस्तुरान दस्तुर' का दर्जा ऊँचा माना गया है। इसमें उनका ब्रह्मवर्चस—दैवीतेज ही कारण है। जिसने अष प्राप्त किया उसीको यह तेज भी मिलता है। और तभी उसका प्रभाव 'देशके पति' से भी अधिक होता है।

इसके बाद यह बतलाया गया है कि अषके मार्गपर चलनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये? वह मनुष्य 'सृष्टिके स्वामीके लिये कार्य करता रहे।' अषका मार्ग ही अहुरका (ईश्वरका) नियम है और उस पथपर चलना ही अहुरमजदके सृष्टिक्रममें सहायता पहुँचाना है। ऐसा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब ईश्वरको ही अर्पण* करता है। उसके हाथसे जो कुछ भी कार्य होता है, सब सृष्टिके स्वामीके लिये ही होता है। भगवदर्पित कर्मोंमें पापको स्थान नहीं है क्योंकि ऐसा मनुष्य फलकी

* इस मन्त्रके कम-से-कम २५ अनुवाद अलग-अलग हो चुके हैं। यह अनुवाद तो मै अपनी शक्तिके अनुसार कर रहा हूँ।

* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२७)

आशा ही नहीं करता। वह सदा-सर्वदा ईश्वरमें निमग्न रहकर निष्काम कर्म करता रहता है।

इसका फल क्या होगा? 'वहमन अमशास्पन्दकी प्राप्ति।' वहमन अमशास्पन्द अर्थात् 'भला-मन' और उसकी प्राप्ति अर्थात् मनका शुद्ध हो जाना—निर्मल हो जाना। इससे हमारे मनका सारा पापरूपी कीचड़ धुलकर मन स्वच्छ हो जायगा और जिसप्रकार स्वच्छ दर्पणपर सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार स्वच्छ मनपर ईश्वरका प्रतिबिम्ब चमक उठेगा। ऐसा मनुष्य ईश्वरकी इच्छाको स्पष्ट समझ सकता है, उसका मन निर्विकारी हो जाता है और उसमें सार-असार, सद्-असद्‌का विवेक उत्पन्न हो जाता है एवं उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है।

अन्तिम पंक्तिमें जो यह कहा गया है कि 'योग्य पात्रों' की सहायता करनेसे उसे अहुरकी शक्ति प्राप्त होती है। पात्रका अर्थ है जिसके पास किसी वस्तुका अभाव हो। ऐसे पात्रकी अभिलषित वस्तु यदि हमारे पास हो तो हमें उसको अवश्य ही वह देनी चाहिये और उसके अभावको मिटाना चाहिये। जिनके पास ईश्वर-प्रदत्त वस्तुएँ होती हैं उनको चाहिये कि जिनके पास उन वस्तुओंकी कमी हो, उनको उनका हिस्सा दे। किसीके पास अपार धन है, कोई विशाल ज्ञानसे सम्पन्न है, कोई शारीरिक बलसे पूर्ण है, किसीका धर्मबल अत्यन्त बढ़ा हुआ है। ऐसे लोग यदि ईश्वरसे पायी हुई इतनी देनको अपने ही पास रख छोड़ें तो उससे क्या लाभ हुआ? एक जगह पड़ा हुआ जल सड़ जाता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं और एक स्थानपर इकट्ठी की हुई खाद दुर्गन्ध और बीमारियाँ फैलाती हैं। परन्तु वही जल और खाद यदि उचित स्थानोंमें बाँट दी जाय तो उससे अनाज पैदा होता है और प्रजाका अमित उपकार होता है। इसी प्रकार ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, बटोरकर रखनेके लिये नहीं परन्तु योग्य पात्रोंको देनेके लिये है।

हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये। इसप्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उलटे बढ़ते हैं। ऐसे मनुष्योंको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है।* और ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों-ही-त्यों हमारे द्वारा मनुष्य-सेवा भी अधिक होती है।

एक ही शब्दमें जरथोश्ती-धर्मका सार निकाला जा सकता है, वह है—'परोपकार'।† सच्चा जरथोश्ती वही है जो अपने लिये कुछ भी नहीं माँगता और प्रत्येक कर्ममें दूसरोंकी भलाई देखता है। परोपकारका अर्थ है स्वार्थसे विपरीतता। यही अषके मार्गपर चलना है। इस महामन्त्र-को पूरा समझकर जो स्पष्टरूपसे गाता है उससे 'अंग्रो-मइन्यु' हार जाता है। यह कहना क्या अतिशयोक्ति गिना जायगा?

ऐसा आदर्श जीवन बितानेके लिये ईरानके महागुरुने मनुष्य-जातिके लिये तीन ही आदेश दिये थे—हुमत (सुविचार), हुख्त (सुवचन) और हु-वर्श्त (सुकर्म)। इन तीनोंमें सब धर्मोंके सब आदेश समा जाते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा कभी ऐसा कोई कार्य न करना जिससे दूसरेको पीड़ा पहुँचे। इन तीनोंमें प्रथम स्थान सुविचार-का है। धर्ममें, अषके मार्गपर जानेमें (निवृत्ति-मार्गमें) विचार ही सर्वोपरि है। मनसे कुकर्म करनेवाला पापी ही माना जाता है।‡ इस मार्गमें पहली शुद्धि मनकी ही है। और एक जरथोश्तीमें जबतक हुमत न हो तबतक वह एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

हुख्तका अर्थ जरथुश्त्रने मनु भगवान्‌के समान ही किया है§। सत्य बोलो, मीठे बोलो, कभी मधुर भी बोलो, परन्तु असत्य भाषण न करो। असली ईरानी सारे जगत्-में सत्यवादी माने जाते थे। ग्रीक लोग जब आपसमें लड़ते तो न्याय करानेके लिये ईरानके शाहन्शाहके समीप आते थे क्योंकि उनको ईरानी सत्य वचनपर पूरा विश्वास था।

हु-वर्श्त है उपर्युक्त कर्म-मार्ग। जबतक ईरानमें

---

* दुनियाकी धन-दौलत कदाचित् घट भी जाय, परन्तु उसके बदलेमें अहुरकी शक्ति (ईश्वरीय शक्ति) तो मिलती ही है। स्थूल जगत्‌की दौलत घटती है परन्तु दिव्यधामकी सम्पत्ति बढ़ती ही रहती है।

† अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

‡ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते॥

§ सत्य ब्रूयात्प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयाद् एष धर्म. सनातन॥
(मनुस्मृति)

ज़रथुश्त्र महागुरुकी शिक्षाके आदर्श जीवित थे, तबतक ईरानकी ध्वजा दशों दिशाओंमें फरकती थी। कालचक्रके साथ-साथ उन आदर्शोंकी विस्मृति होती गयी। प्रजाके नेता परोपकार भूलकर स्वार्थी बनने लगे, बस, तभीसे ज़रथोश्ती आर्य-धर्मकी अवनति हुई, धर्मका रहस्य गया, जीव गया; केवल क्रियाकर्मकाण्डका सूना ढाँचा रह गया। परिणामस्वरूप जिस समय नवीन प्रकट हुए हजरत महम्मदके इस्लाम-धर्मसे विग्रह हुआ तब ज़रथोश्ती-धर्म ईरानमें नष्टप्राय हो गया। परन्तु फिर भी जिन कुछ हृदयोंमें पवित्र अहुरमजदका वह पुराना आतश् (अग्नि) प्रज्वलित रह गया था, वे निरुपाय होकर धर्मके लिये अपना देश छोड़ 'भारत मौसी'की शरणमें आये। वे पारसी पूर्वपुरुष अपने साथ 'ईरानशाह' 'ईरानके पवित्र आतश्'-को लेते आये। यह आतश् पहले-पहल कब प्रज्वलित किया गया, इसकी तो किसीको खबर नहीं है*। पर हजारों वर्षोंतक वह पवित्र ज्वाला ईरानमें प्रकाशित रही और आज भी वही ज्वाला उदवाड़के ईरानशाहमें जल रही है और पारसियोंके हृदयस्थ अन्तर्ज्योति—'अहुरके पुत्र आतश्' को प्रज्वलित कर रही है। यह आतश् जबतक पारसी-हृदयमें जलता रहेगा तबतक ज़रथुश्त्रका सन्देश जीता रहेगा और ज़रथोश्ती जगत्‌के कल्याणार्थ कार्य करते रहेंगे।

पारसी इस भारत-भूमिमें सुखी हैं, सम्माननीय स्थानको प्राप्त हैं, इनका दूसरी प्रजाओंके साथ मित्रताका सम्बन्ध बना है, इन सब बातोंका केवल यही एक कारण है कि वे अभीतक अपने पैगम्बर—धर्मगुरुको भूले नहीं हैं। अभी उनके अन्तःकरणमें अहुरका आतश् जल ही रहा है। इस देशने पारसियोंको अपनाया और पारसियोंने भी इस देशको अपना ही मान लिया है।

अब ईरानमें नई जागृति आ रही है। ईरानके सच्चे सेवक फिर एक बार ज़रथुश्त्रका सन्देश समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। ईरानके नये शाहने अपना नाम रीझाशाह पहेलवी रक्खा है और अपने पुत्रको शाहपुरका प्राचीन नाम दिया है, यह बहुत अर्थसूचक समझा जाता है।

भविष्यके गर्भमें क्या है, इस बातको तो ईश्वर ही जानें; परन्तु इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अशो ज़रथुश्त्रने फिरसे आर्यप्रजामें सनातन धर्म जागृत किया था और हजारों वर्ष बीतनेपर भी आज उस धर्मका असर स्पष्ट दिखलायी पड़ रहा है। ज़रथुश्त्रका स्थान जगत्‌का उद्धार करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होनेवाले महागुरुओंमेंसे एक है और अन्तमें हम लोग यही इच्छा करते हैं 'रतुओंके रतु' अशो ज़रथुश्त्रका आशीर्वाद सदा इस जगत्‌को मिलता रहे जिससे उनके फर्मान (हुमत, हुख्त, हु-वर्श्त) कभी विस्मृत न हों और जिससे उनका जलाया हुआ आतश् अनन्त कालतक जलता रहकर पृथ्वीसे अज्ञानके अन्धकारको दूरकर मनुष्य-जातिको अहुरमजदकी (ईश्वरकी) प्राप्तिका एक ही पथ—अषका पथ—दिखला दे।

मैं दास हूँ

तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ मो पै कही न जाय।
इतनी सक्ति न जीभको महिमा कहै बनाय॥१॥
किरपा करौ अनाथपर तुम हौ दीनानाथ।
हाथ जोड़ माँगूँ यही मम सिर तम्हरे हाथ॥२॥
आदि पुरुष परमात्मा तुम्हैं नवाऊँ माथ।
चरनन पास निवास दे कीजै मोंहि सनाथ॥३॥
तुम्हरी भक्ति न छोड़हूँ तन मन सिर क्यों न जाव।
तुम साहिब मैं दास हूँ भलो बनो है दाव॥४॥

—चरनदासजी

* कुछ लोग यों मानते हैं कि ज़रथुश्त्र यह आतश् स्वयं 'अहुरमजद' के पाससे लाये थे।

आशा ही नहीं करता। वह सदा-सर्वदा ईश्वरमें निमग्न रहकर निष्काम कर्म करता रहता है।

इसका फल क्या होगा? 'वहमन अमशास्पन्दकी प्राप्ति।' वहमन अमशास्पन्द अर्थात् 'भला-मन' और उसकी प्राप्ति अर्थात् मनका शुद्ध हो जाना—निर्मल हो जाना। इससे हमारे मनका सारा पापरूपी कीचड़ धुलकर मन स्वच्छ हो जायगा और जिसप्रकार स्वच्छ दर्पणपर सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार स्वच्छ मनपर ईश्वरका प्रतिबिम्ब चमक उठेगा। ऐसा मनुष्य ईश्वरकी इच्छाको स्पष्ट समझ सकता है, उसका मन निर्विकारी हो जाता है और उसमें सार-असार, सत्-असत्का विवेक उत्पन्न हो जाता है एवं उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है।

अन्तिम पंक्तिमें जो यह कहा गया है कि 'योग्य पात्रों' की सहायता करनेसे उसे अहुरकी शक्ति प्राप्त होती है। पात्रका अर्थ है जिसके पास किसी वस्तुका अभाव हो। ऐसे पात्रकी अभिलषित वस्तु यदि हमारे पास हो तो हमें उसको अवश्य ही वह देनी चाहिये और उसके अभावको मिटाना चाहिये। जिनके पास ईश्वर-प्रदत्त वस्तुएँ होती हैं उनको चाहिये कि जिनके पास उन वस्तुओंकी कमी हो, उनको उनका हिस्सा दे। किसीके पास अपार धन है, कोई विशाल ज्ञानसे सम्पन्न है, कोई शारीरिक बलसे पूर्ण है, किसीका धर्मबल अत्यन्त बढ़ा हुआ है। ऐसे लोग यदि ईश्वरसे पायी हुई इतनी दैनको अपने ही पास रख छोड़ें तो उससे क्या लाभ हुआ? एक जगह पड़ा हुआ जल सड़ जाता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं और एक स्थानपर इकट्ठी की हुई खाद दुर्गन्ध और बीमारियाँ फैलाती है। परन्तु वही जल और खाद यदि उचित स्थानोंमें बाँट दी जाय तो उससे अनाज पैदा होता है और प्रजाका अमित उपकार होता है। इसी प्रकार ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, बटोरकर रखनेके लिये नहीं परन्तु योग्य पात्रोंको देनेके लिये है।

हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये। इसप्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उलटे बढ़ते हैं। ऐसे मनुष्योंको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है।* और ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों-ही-त्यों हमारे द्वारा मनुष्य-सेवा भी अधिक होती है।

एक ही शब्दमें ज़रथोइस्ती-धर्मका सार निकाला जा सकता है, वह है—'परोपकार'।† सच्चा ज़रथोइस्ती वही है जो अपने लिये कुछ भी नहीं माँगता और प्रत्येक कर्ममें दूसरोंकी भलाई देखता है। परोपकारका अर्थ है स्वार्थसे विपरीतता। यही अषके मार्गपर चलना है। इस महामन्त्रको पूरा समझकर जो स्पष्टरूपसे गाता है उससे 'अंग्रो-मइन्यु' हार जाता है। यह कहना क्या अतिशयोक्ति गिना जायगा?

ऐसा आदर्श जीवन वितानेके लिये ईरानके महागुरुने मनुष्य-जातिके लिये तीन ही आदेश दिये थे—हुमत (सुविचार), हुख्त (सुवचन) और हु-वर्श्त (सुकर्म)। इन तीनोंमें सब धर्मोंके सब आदेश समा जाते हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा कभी ऐसा कोई कार्य न करना जिससे दूसरेको पीड़ा पहुँचे। इन तीनोंमें प्रथम स्थान सुविचारका है। धर्ममें, अषके मार्गपर जानेमें (निवृत्ति-मार्गमें) विचार ही सर्वोपरि है। मनसे कुकर्म करनेवाला पापी ही माना जाता है।‡ इस मार्गमें पहली शुद्धि मनकी ही है। और एक ज़रथोइस्तीमें जबतक हुमत न हो तबतक वह एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

हुख्तका अर्थ ज़रथुस्त्रने मनु भगवान्के समान ही किया है §। सत्य बोलो, मीठे बोलो, कभी मधुर भी बोलो, परन्तु असत्य भाषण न करो। असली ईरानी सारे जगत्में सत्यवादी माने जाते थे। ग्रीक लोग जब आपसमें लड़ते तो न्याय करानेके लिये ईरानके शाहन्शाहके समीप आते थे क्योंकि उनको ईरानी सत्य वचनपर पूरा विश्वास था।

हु-वर्श्त है उपर्युक्त कर्म-मार्ग। जबतक ईरानमें

---

* दुनियाकी धन-दौलत कदाचित् घट भी जाय, परन्तु उसके बदलेमें अहुरकी शक्ति (ईश्वरीय शक्ति) तो मिलती ही है। स्थूल जगत्की दौलत घटती है परन्तु दिव्यधामकी सम्पत्ति बढ़ती ही रहती है।

† अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

‡ कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

§ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥
(मनुस्मृति)

ज़रथुश्त्र महागुरुकी शिक्षाके आदर्श जीवित थे, तबतक ईरानकी ध्वजा दशों दिशाओंमें फरकती थी। कालचक्रके साथ-साथ उन आदर्शोंकी विस्मृति होती गयी। प्रजाके नेता परोपकार भूलकर स्वार्थी बनने लगे, बस, तभीसे ज़रथोश्ती आर्य-धर्मकी अवनति हुई, धर्मका रहस्य गया, जीव गया; केवल क्रियाकर्मकाण्डका सूना ढाँचा रह गया। परिणामस्वरूप जिस समय नवीन प्रकट हुए हजरत महम्मदके इस्लाम-धर्मसे विग्रह हुआ तब ज़रथोश्ती-धर्म ईरानमें नष्टप्राय हो गया। परन्तु फिर भी जिन कुछ हृदयोंमें पवित्र अहुरमजदका वह पुराना आतश् (अग्नि) प्रज्वलित रह गया था, वे निरुपाय होकर धर्मके लिये अपना देश छोड़ 'भारत मौसी'की शरणमें आये। वे पारसी पूर्वपुरुष अपने साथ 'ईरानशाह' 'ईरानके पवित्र आतश्' को लेते आये। यह आतश् पहले-पहल कब प्रज्वलित किया गया, इसकी तो किसीको खबर नहीं है*। पर हजारों वर्षोंतक वह पवित्र ज्वाला ईरानमें प्रकाशित रही और आज भी वही ज्वाला उदवाड़के ईरानशाहमें जल रही है और पारसियोंके हृदयस्थ अन्तर्ज्योति—'अहुरके पुत्र आतश्' को प्रज्वलित कर रही है। यह आतश् जबतक पारसी-हृदयमें जलता रहेगा तबतक ज़रथुश्त्रका सन्देश जीता रहेगा और ज़रथोश्ती जगत्के कल्याणार्थ कार्य करते रहेंगे।

पारसी इस भारत-भूमिमें सुखी हैं, सम्माननीय स्थानको प्राप्त हैं, इनका दूसरी प्रजाओंके साथ मित्रताका सम्बन्ध बना है, इन सब बातोंका केवल यही एक कारण है कि वे अभीतक अपने पैगम्बर—धर्मगुरुको भूले नहीं हैं। अभी उनके अन्तःकरणमें अहुरका आतश् जल ही रहा है। इस देशने पारसियोंको अपनाया और पारसियोंने भी इस देशको अपना ही मान लिया है।

अब ईरानमें नई जागृति आ रही है। ईरानके सच्चे सेवक फिर एक बार ज़रथुश्त्रका सन्देश समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। ईरानके नये शाहने अपना नाम रीझाशाह पहेलवी रक्खा है और अपने पुत्रको शाहपुरका प्राचीन नाम दिया है, यह बहुत अर्थसूचक समझा जाता है।

भविष्यके गर्भमें क्या है, इस बातको तो ईश्वर ही जानें; परन्तु इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अशो ज़रथुश्त्रने फिरसे आर्यप्रजामें सनातन धर्म जागृत किया था और हजारों वर्ष बीतनेपर भी आज उस धर्मका असर स्पष्ट दिखलायी पड़ रहा है। ज़रथुश्त्रका स्थान जगत्का उद्धार करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होनेवाले महागुरुओंमेंसे एक है और अन्तमें हम लोग यही इच्छा करते हैं 'रतुओंके रतु' अशो ज़रथुश्त्रका आशीर्वाद सदा इस जगत्को मिलता रहे जिससे उनके फर्मान (हुमत, हुख्त, हु-वर्श्त) कभी विस्मृत न हों और जिससे उनका जलाया हुआ आतश् अनन्त कालतक जलता रहकर पृथ्वीसे अज्ञानके अन्धकारको दूरकर मनुष्य-जातिको अहुरमजदकी (ईश्वरकी) प्राप्तिका एक ही पथ—अषका पथ—दिखला दे।

मैं दास हूँ

तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ मो पै कही न जाय।
इतनी सक्ति न जीभको महिमा कहै बनाय॥१॥
किरपा करौ अनाथपर तुम हौ दीनानाथ।
हाथ जोड़ माँगूँ यही मम सिर तम्हरे हाथ॥२॥
आदि पुरुष परमात्मा तुम्हैं नवाऊँ माथ।
चरनन पास निवास दे कीजै मोंहि सनाथ॥३॥
तुम्हरी भक्ति न छोड़हूँ तन मन सिर क्यों न जाव।
तुम साहिब मैं दास हूँ भलो बनो है दाव॥४॥

—चरनदासजी

* कुछ लोग यों मानते हैं कि ज़रथुश्त्र यह आतश् स्वयं 'अहुरमजद' के पाससे लाये थे।

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—काव्यतीर्थ प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम, एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०)

आज २५०० वर्षोंसे बौद्ध-धर्मकी छत्रच्छायामें अनेक मनुष्य जीवनके अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करनेका उद्योग कर रहे हैं । आज भी संसारके अनुमानतः एक तिहाई जन 'नमो बुद्धाय शुद्धाय' की धुनमें अपनी जीवन-सरिताको अनन्त महासागरमें मिलानेका भगीरथ प्रयत्न करते हैं । हिन्दू-दर्शनोंमें आज बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन सम्मिलित कर लिये गये हैं और सनातनी हिन्दू 'बुद्ध' को भगवान्‌का अवतार माननेमें तनिक भी नहीं हिचकते; अधिक क्या, संसारका विद्वन्मण्डल यतः परो नास्ति भगवान् बुद्धकी पवित्र आत्मा और उनके उच्च उपदेशोंकी गुणग्राहकता दिखाना विद्वत्ताका लक्षण समझता है ।

भगवान् गौतम बुद्धकी इतनी महत्ता होते हुए भी जब भावुकजन सुनते हैं कि बौद्ध-धर्म नास्तिक है, उसमें ईश्वरवादका गन्ध नहीं है, वह शुष्क कर्मकी भित्तिपर आश्रित है तो उनका चित्त खिन्न हो जाता है और वह सोचने लगते हैं कि वह धर्म ही क्या जिसमें ईश्वरको स्थान नहीं है ? वह 'निर्वाण' कैसा जिसमें ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं है ? वह 'मोक्ष' कैसा जिसमें कोरा शून्यवाद हो ? वह जीवन कैसा जिसमें निराशाकी कर्मनाशा निरन्तर सुख और शान्तिका क्षय किया करती है ? आशय यह है कि बौद्ध-धर्म एक धोखेकी टट्टी मालूम होने लगता है और भावुक जनता उसे भयावह समझकर हरिनामके जहाज़पर चढ़कर भवसागरको पार करना चाहती है ।

इतना होते हुए भी यह प्रश्न उठता है कि यदि बौद्ध-धर्म सचमुच अनीश्वरवादी है तो इसकी इतनी उन्नति क्यों हुई ? जिस धर्ममें ईश्वरका प्रकाश नहीं है वह कभीका सड़ गया होता । अतः निश्चित है कि बौद्ध-धर्म वास्तवमें विलक्षण और विचित्र है । बौद्ध-धर्ममें ईश्वरका ढोल नहीं पीटा गया किन्तु यह भी नहीं कहा गया कि ईश्वर है ही नहीं । अपने भावको स्पष्ट करनेके लिये बौद्ध-धर्मके उदय होनेके कारण और उसके वास्तविक सिद्धान्तपर दो-चार शब्द लिखे जायँगे और इस धर्मका हिन्दू-धर्मसे सादृश्य दिखानेका भी प्रयत्न किया जायगा । इसके विकासको दिखानेमें ईश्वरी कल्पनाका भी उल्लेख होगा । यह भी सिद्ध करनेका उद्योग किया जायगा कि बौद्ध-धर्मको अनीश्वर-धर्म समझना भ्रम है । अस्तु ।

महाभारतकी अनेक शताब्दियोंके पश्चात् आर्य-धर्म बाह्याडम्बरोंका अड्डा हो गया था । उपनिषदोंके उच्च धर्मके नामपर अनेकों अत्याचार और दुराचार होने लगे थे । अन्धविश्वासके झञ्झावातसे ज्ञानदीपक बुझ चला था । पुजारीवर्ग भावुक जनताको उल्लू बनाकर अपने स्वार्थकी सिद्धि कर रहा था । वास्तविक धर्म—नित्य सत्य, मनुष्यता, दया, सौजन्य, करुणा आदि—प्रथा और रूढ़ियोंके नीचे दबा था । व्यावहारिक जीवनमें इन गुणोंकी कुछ क्रियाशीलता नहीं थी । समाज जर्जर हो गया था । राजनीति अबलाकी नाईं विवश समाजका पैशाचिक काण्ड देख रही थी । धर्मनीतिने अपना रंग बदल लिया था । अर्थका अनर्थ हो रहा था । यही प्रतीत होता था कि समाज-वृक्ष उखड़ जायगा । अभिप्राय यह कि जैसे यूरोपमें ईस्वी ४१० से ८०० तक अन्धकारयुग (Dark ages) और जैसे यूरोपमें १२ वीं शताब्दीसे १६ वीं शताब्दीतक पोपलीलाका ताण्डव नृत्य चल रहा था, लगभग वैसी ही विक्रमाब्दसे कोई ६०० वर्ष पूर्व भारतकी दशा हो गयी थी । एक प्रकारसे यह लहर संसार-व्यापिनी थी, किन्तु भारतमें धर्मको बलिदान करनेकी पूरी-पूरी तैयारी हो गयी थी । उसी समय शाक्य मुनि सिद्धार्थ गौतमका अवतार हुआ । कपिलवस्तुके राजा शुद्धोदनके घरमें एक ज्योति उतर आयी जिसके प्रकाशसे पाखण्डका निराकरण हुआ । गौतम बुद्धने उस समयके प्रचलित-धर्ममें जीवन-समस्याके हल करनेका साधन न पाया । वे घर-बारको छोड़कर उस 'चिन्तामणि' की खोजमें निकले जिसके प्राप्त हो जानेपर फिर चिन्ता न रह जाय । घोर तपस्याके पश्चात् उन्हें वह 'ज्योति' दिखायी पड़ी जिससे 'निर्वाण' अथवा 'मुक्ति' मिल सकती है ।

जीवनका उद्देश्य 'निर्वाण,' 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है ।



भगवान्—ब्रह्मारूपमें

यों तो समय-समयपर बौद्ध-सम्प्रदायने निर्वाणका अर्थ भिन्न-भिन्न समझा है, और यह निर्वाण यद्यपि खुले तौरपर हम हिन्दुओंका 'ब्रह्मानन्द' नहीं तथापि वासना, अज्ञान आदि विषयोंकी ज्वालाको बुझा देनेका ही नाम 'निर्वाण' है। अथवा यों समझिये कि सभी विषयोंसे नितान्त उपराम होनेपर एक अवस्थाविशेषका नाम 'निर्वाणावस्था' है और यह एक प्रकारका हमारा ब्रह्मानन्द ही है। व्यावहारिक सत्यका अनुभव होनेपर 'परमार्थ-सत्य' की खोज की जाती है। इसी परमार्थ-सत्यका अनुभव करना निर्वाण प्राप्त करना है। गौतम बुद्धकी इस खोजसे सभी दर्शन सहमत हैं। 'सर्वप्रपञ्चानामुपशमः' सभी प्रपञ्चोंका नाश करना ही 'निर्वाण' प्राप्त करना है। इस निर्वाणको बौद्ध-धर्मकी भिन्न-भिन्न शाखाओंने भिन्न-भिन्न रूपसे समझा है—जैसा ऊपर कहा गया है। निर्वाणके मुख्य दो भेद हैं—(१) उपाधिशेष (२) अनुपाधिशेष। निर्वाण प्राप्त होता है 'तृष्णोच्छेद' से। 'तृष्णोच्छेद' ही सांख्य-शास्त्रका 'वासना-राहित्य' है। संसारकी वासनाओंका अन्त होगा 'चत्वारि आर्यसत्यानि' अर्थात् चार आर्य सत्योंके अनुभवसे। वे चार आर्य सत्य हैं—दुःख, समुदय, निरोध, प्रतिपत्ति। संसारमें दुःख-ही-दुःख है। यह जीवन दुःखान्त-नाटक है। इस दुःखका उदय होता है 'जीवकी वासनासे।' इसका निरोध हो सकता है और इसकी प्रतिपत्ति 'अष्टांगि-मार्ग' और 'दशशील' आदिसे होती है। अष्टांगि-मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्गके बाधक हैं—(१) सत् कायदृष्टि, (२) विचिकित्सा (३) शीलवृत परामर्श (४) काम (५) प्रतिघ (६) रूपराग (७) अरूपराग (८) मान (९) औद्धत्य और (१०) अविद्या। दश निषेधात्मक शिक्षाएँ हैं—

(१) प्राणातिपात, (२) आदत्तादान, (३) अब्रह्मचर्य, (४) मृषावाद, (५) पैशुन्य, (६) औद्धत्य, (७) वृथा-प्रलाप, (८) लोभ (९) द्वेष (१०) विचिकित्सा। यही बौद्ध-धर्मकी सूक्ष्म क्रियात्मक बातें हैं। ये व्यावहारिक है और मनुष्यको प्रकाशमें लाती हैं। प्रारम्भमें गौतम बुद्धने इसी 'सत्कर्म' की भित्तिपर अपना 'धर्म' खड़ा किया था। यही सच्चा और ठोस संसारव्यापी धर्म है। भगवान् बुद्धने 'अत्तवाद' अर्थात् 'आत्मवाद' की निन्दा की थी। इसे भी एक प्रकारका 'आस्रव' बताया था। जैन-धर्ममें कर्म भगवान्‌का रूप धारण करता है किन्तु बौद्ध-धर्ममें कर्म ही 'भगवान्' और 'आत्मा' दोनोंका रूप धारण करता है। उस समय इस 'कर्म' पर बल देनेकी आवश्यकता थी। भगवान् बुद्धने 'अत्तवाद' की निन्दा की थी परन्तु उनके शिष्योंको यह सिद्ध करना पड़ा कि 'आत्मा' है या नहीं। इससे इन्हें भी दर्शनकी शरण लेनी पड़ी।

प्रथमतः गौतम बुद्धने कहा था 'नह्यत्र सच्चानि बहूनि नानानि।' बहुत नाना प्रकारके सत्य नहीं हैं। थोड़ेसे नित्य सत्य हैं। उन्हींके अनुसार चलना चाहिये। उसीसे सच्चा प्रकाश मिलता है और जीवन सफल होता है। दर्शन-वालोंको भी अपने-अपने दर्शनका 'मोह' रहता है। तर्क अप्रतिष्ठ है अतः दर्शन हानिकारक है। है तो यह ठीक, पर दर्शन बिना आन्तरिक ज्ञान होता भी नहीं। अतः गौतम बुद्धके शिष्योंमें दो वर्ग हो गये। पहले बौद्ध-धर्मके दो सम्प्रदाय हीनयान और महायान हुए। हीनयानमें भी दो वर्ग हो गये (१) वैभासिक और (२) सौतान्त्रिक। वैसे ही महायानमें दो वर्ग हुए—(१) योगाचार और (२) माध्यमिक। इन दर्शनोंके पढ़नेसे विदित होता है कि इनकी विचारशैली आर्य ग्रन्थोंपर आधारित है।

जब बौद्ध-धर्मको महायानरूप दिया गया उस समय बुद्धको 'भगवान्' का रूप दिया गया। महायान-सम्प्रदाय-में तो ईश्वरवाद है ही। महायान-सम्प्रदायके आचार्य नागार्जुनके गुरु कृष्ण भगवान् कहे जाते हैं। यदि ये कृष्ण वही वासुदेव श्रीकृष्ण हैं तो महायान पूर्णतया ईश्वर-मय है; और भारतीय इतिहासकी इस नयी खोजसे श्रीमद्भगवद्गीता संसारका धर्म-ग्रन्थ सिद्ध हो जायगा। पुराने हीनयानमें भी भगवान् बुद्धका 'तुषितस्वर्ग' में रहना लिखा पाया जाता है। अशोकके समयके 'कथावत्तु' ग्रन्थमें इसका उल्लेख है। इसके वर्णनमें ईश्वर-कल्पना गर्भित है। यदि ईश्वर नहीं तो 'तुषितस्वर्ग' कैसा? भगवान् बुद्धने लोगोंको कर्मकी ओर प्रेरित करना चाहा अतः ईश्वरका विषय 'अव्याकरणीय' कहकर छोड़ दिया। पश्चात् महाराज कनिष्कके समयमें आवश्यकतानुसार नागार्जुनने सारा महायान उपनिषद्‌पर आधारित किया। नागार्जुनका शून्यवाद श्रीशंकराचार्यका 'ब्रह्मवाद' ही

यदि भगवान् शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं तो नागार्जुन भी प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। थोड़ेमें यों समझिये कि बौद्ध-मत आर्य है, इसकी क्रियाएँ आर्य हैं। वेदने भी ईश्वरको 'नेति-नेति' कहा, गौतमने भी इन आध्यात्मिक प्रश्नोंको 'अव्याकरणीय' कहा। अतः यह निश्चित है कि बौद्ध-धर्म अनीश्वरवादी नहीं है। उसने सुकर्मद्वारा 'निर्वाण' प्राप्त होना बताया था; किन्तु 'हीनयान' सम्प्रदायमें ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं आया। अतः जब धार्मिक विकासमें ईश्वर-की आवश्यकता आ पड़ी तो कनिष्कके समयसे बौद्ध-धर्म-में महायान-शाखा चल पड़ी, जो महायान-धर्म हिन्दू-धर्मका एक रूपान्तरमात्र है। इसमें योग, भगवद्भक्ति, उपासनाके साथ कर्मपर ज़ोर दिया गया है।

बौद्ध-धर्मका षड्दर्शनके साथ अनेक बातोंमें सादृश्य है। सारे दर्शनोंका मूल दुःख है। उसका अन्त दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही है और यही मानव-जीवनका लक्ष्य है। सुकर्म ही मनुष्यकी मुक्तिके साधन हैं। कर्म, पुनर्जन्म, सांसारिक जीवन, मोक्ष-विचार इत्यादि सभी बातोंमें बौद्ध-दर्शन हिन्दू-दर्शनसे मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि इसमें कर्मपर अत्यन्त अधिक बल दिया गया है। जिसे हम लोग 'अदृष्ट' 'भगवन्माया' आदि कहते हैं। उसीको बौद्ध लोग अपने कर्मका 'कलाप' समझते हैं।

एक छोटे-से लेखमें दर्शनकी अत्यन्त सूक्ष्म बातोंका विवेचन नहीं हो सकता, तथापि यह मानना पड़ेगा कि हमारे अनेक आचार्योंने बौद्ध-दर्शनकी अनेक बातोंका खण्डन इसलिये किया है कि उन लोगोंने बौद्धोंके दृष्टि-कोणतक पहुँचनेका अवसर न पाया और अनेकोंने बात वही कही जो बौद्ध कहते थे, किन्तु उलट-फेर कर।

तात्पर्य यह कि बौद्ध-मत हिन्दू-धर्मका एक शिशु है। इसमें कुछ पैतृक गुण हैं और कुछ अपने गुण भी हैं। उसने बड़ी उन्नति की है। इससे हिन्दू-धर्म भी बढ़ा है, फला-फूला है। इसी बौद्ध-धर्मका बच्चा ईसाई-धर्म है, और इसी ईसाई तथा मूसाई-धर्मके आधारपर इस्लाम-मज़हबकी इमारत उठायी गयी है। कोई माने अथवा न माने, ऐतिहासिक सत्य-का सूर्य अज्ञानकी काली घटासे चिरकालतक छिप नहीं सकता। इसी सत्यके नाते हमें बौद्ध-धर्मके वास्तविक रूपको जगत्के सामने रखना है। इस समय न तो हम पिछले बौद्धोंके असहिष्णु दम्भ तथा अज्ञानकी आलोचना करेंगे और न हम उन समालोचकोंका उत्तर देंगे जो निट्शे (Nietzche) के साथ बौद्ध-धर्मकी यह समालोचना करते हैं कि इसने जीवनकी अमर-वेलिको मुरझा दिया है (Life is rejected)। अब समय आ गया है जब हम लोग भगवान् बुद्धके वास्तविक उपदेशोंको समझकर उसे हिन्दू-धर्मका सच्चा अंग बना लें और संसारके अन्य मतों-का उचित स्थान निश्चित करें। संसारके बौद्धोंका पवित्र देश भारत था, है, और रहेगा। उनके प्राचीन स्थानोंमें फिर उसी आर्य-धर्मका समयानुसार सुसंस्कार करना चाहिये। जब बौद्धोंका कर्म जग जायगा तो वही हिन्दू-धर्म-कथित श्रीकृष्ण भगवान्के कर्मयोगका रूप धारण करेगा।

बौद्धोंका शुष्क कर्मवृक्ष ईश्वरभावके अमृत-जलसे लहलहा उठेगा। तभी सच्ची ईश्वर-भक्ति होगी और अखण्ड ज्ञानोदय होगा। इसीसे भारत और संसारका कल्याण ध्रुव है।

भजन करो

एक घड़ीका मोल ना, दिनका कहा बखान।
सहजो ताहि न खोइये, बिना भजन भगवान॥१॥
बैठे लेटे चालते खान पान ब्यौहार।
जहाँ तहाँ सुमिरन करै सहजो हिये निहार॥२॥
सहजो भज हरिनामकूँ तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं अपनी सगी न देह॥३॥

—सहजोबाई

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें परमेश्वर

(लेखक—दार्शनिकपञ्चानन षड्दर्शनाचार्य न्यायवैशेषिकशास्त्री पं० श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण)

सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः सर्वकर्मफलप्रदः ।
अन्तर्यामी सर्वशक्तिसेवितः परमेश्वरः ॥
(सत्संगिजीवन)

परमेश्वर सर्वज्ञ है, ब्रह्मलोक, ईश्वर-सृष्टि, जीव-सृष्टि तथा माया इन सबके स्वरूप, स्वभाव आदिका ज्ञाता है ।

'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' (श्रुति)

और—

'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः ।' (श्रुति)

वह पुण्याऽपुण्यरहित है, जरारहित है, नित्य है, शोक-संसर्ग-शून्य है, अमर है, क्षुधा-तृषा-रहित है और सत्यसङ्कल्प है ।

'यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः'

उस परमात्माको सब पदार्थोंका नित्य प्रत्यक्ष-ज्ञान है तथा वह सर्व प्राणियोंको कर्म-फल देनेवाला है । वह अन्तर्यामी है—

'स आत्मा अन्तर्याम्यमृतः' (श्रुति)
'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (गीता)

सबके हृदयमें वह परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे विराजमान है ।

'सर्वत्रैवाऽन्वितः शक्त्या व्यतिरिक्तः स्वतः स्थितः ।
नियन्ता कालमायादेः सर्वकारणकारणम् ॥'
(सत्संगिजीवन)

वह परमात्मा अन्तर्यामीस्वरूपसे सर्व पदार्थोंमें अन्वय-व्यापक है । वह व्यापक होता हुआ भी अतिरिक्त दिव्य सच्चिदानन्दांशत्रययुक्त साकारस्वरूपसे अनन्तकोटि मुक्त ब्रह्मपुरुषोंके दृष्टिगोचर है ।

'योऽक्षरे तिष्ठन्नक्षरादन्तरः' 'अक्षरात्परतः परः' 'यस्तमसि तिष्ठन्तमसोऽन्तरः—यः स्वभक्तेभ्यो रमते सः सर्वस्वः'

वह परमेश्वर मायातीत अक्षर-ब्रह्ममें रहता हुआ भी उससे पर—भिन्न है, वह विराटादि ईश्वरोंसे पर है । वह मायामें प्रवेश करके रहता हुआ भी मायासे पर है एवं अपनेमें भक्तिवाले मुक्त पुरुषोंके साथ खेल खेलता है । भगवान्‌ने कहा है—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता)

सबको अपने उदरमें रखनेवाली माया तथा अक्षर-ब्रह्म इन दोनोंसे मैं पर हूँ, इसलिये वेदोंमें तथा लोकमें—जीवलोकमें, ईश्वरलोकमें, ब्रह्मलोकमें सर्वत्र मैं पुरुषोत्तम भगवान् कहलाता हूँ ।

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय'

हे धनंजय ! मेरेसे पर कोई भी नहीं है ।

'शुद्धे महाविभूताऽऽख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते ।
मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥'
(विष्णुपुराण)

शुद्ध महाविभूतिसंज्ञक परब्रह्म परमात्मा सर्वकारण-का कारण है, वही भगवान् शब्दसे व्यवहृत है, भगवान् शब्दका अर्थ है ऐश्वर्यवाला, जिसमें सर्वोत्तम ऐश्वर्योंकी पराकाष्ठा हो, जिसके ऐश्वर्योंके समान तथा अधिक ऐश्वर्य अन्य किसीमें न हों, ऐसे ऐश्वर्ययुक्तका नाम भगवान् है । वह अक्षर ब्रह्मपर्यन्त सबका स्वामी है ।

'यत्रैश्वर्याणां पराकाष्ठा स नारायणः परमेश्वरः परं ब्रह्मा-ऽक्षरातीतः पुरुषोत्तमः सर्वस्वामी'

—जिसमें अनवधिकातिशय समग्र ऐश्वर्योंकी सीमा है वह नारायण, परमेश्वर, परब्रह्म, अक्षरातीत, पुरुषोत्तम, स्वामिनारायण परमात्मा इत्यादि नामोंसे स्मरणीय, भजनीय, वन्दनीय, उपासनीय है । वह चिदचिदात्मक शरीरवान् होनेसे सविशेष शरीरी है तथा सर्व भगवदवतारोंका कारण है । वह परमेश्वर पाँच प्रकारसे व्यवस्थित है—यथा 'पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा ।'

परस्वरूप वह है जो अक्षरधाम संज्ञक ब्रह्मलोकमें अनन्त मुक्त पुरुषोंको दिव्य साकारस्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, वह मुक्तिदशा है ।

व्यूहस्वरूप वह है जो कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धस्वरूपसे प्रख्यात हैं ।

विभवस्वरूप वह है जो कि किसी एक ऐश्वर्य तथा विशेष शक्तिसहित प्रकट होते हैं, उसमें भी मुख्य, गौण, पूर्ण, अंश, आवेश इत्यादि भेद हैं।

'मुख्य अवतार-दिव्यस्वरूपसे अकस्मात् प्रकट होनेवाले नृसिंहादि।'

'गौण अवतार-नियत कार्यके लिये प्रकट होनेवाले विष्णु आदि।'

'पूर्ण अवतार-अनेक कलाओंसे परिपूर्ण श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्रादि।'

'अंश अवतार-किसी एक कलाविशेषसे जीवमें प्रवेश करके प्रकट होनेवाले।'

'आवेश अवतार-जिसमें स्वयं ईश्वर प्रवेश करके प्रकट हुए हों।'

अन्तर्यामीस्वरूप वह है जो सबके हृदयमें विराजमान है।

अर्चास्वरूप=मूर्ति—प्रतिमास्वरूपसे भक्तोंकी भावनाके अनुसार शुभ मन्दिरादिमें विराजमान हैं।

इन पाँच स्वरूपोंमेंसे व्यूह तथा विभव ये दोनों श्रीकृष्ण-परमात्माके स्वरूप हैं और ईश्वर जो कि विराट्, नारायण, प्रधानपुरुष, महापुरुष, प्रकृतिपुरुष, महाविष्णु आदि हैं उनके द्वारा विभवावताररूपसे प्रकट होते हैं। और परब्रह्म परमात्मा—परस्वरूपसे ब्रह्मलोकमें—अन्तर्यामिस्वरूपसे सर्वत्र और अर्चास्वरूपसे मन्दिरोंमें विराजमान हैं। परमेश्वर तथा उनके अवतार विभूति-ऐश्वर्य-शक्ति-दिव्यकल्याणगुण आदि उपनिषदों तथा शास्त्रोंसे सिद्ध हैं। उनकी ऐकान्तिक भक्तिसे मोक्ष होता है। वह परमात्मा निरतिशय सर्वज्ञताका बीजरूप है। पूर्णानन्द है, सब अवतारोंका कारणभूत है, सर्व विभूतियोंका स्वामी है, सर्व सुख-आनन्दका समुद्ररूप है स्वतः परिपूर्ण है, सर्वनियन्ता सर्वाधार है, सर्वसाक्षी तथा सबका उपास्य मूर्ति है, सर्वरसमय अखण्डमूर्ति है, सर्व-सुन्दरता, लावण्यता, करुणादिका भंडार है। इस चतुर्दश भुवनोंके ब्रह्माण्डमें रहे हुए जो जीवजात तथा ब्रह्माण्डसे बाहर और हिरण्मयकोश—प्रकृतिके उदरके भीतर रहनेवाले विराटादि, इन सबका स्वामी अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्दमूर्ति है, और उसका स्वामी परब्रह्म परमात्मा है।

श्रीस्वामिनारायणमतमें—ईश्वर तथा परमेश्वर भिन्न वस्तु हैं, यथा—

> देहत्रये विराडादौ व्याप्योत्पत्तिस्थितिक्षयान्।
> करोति जगतां यस्तु बहुज्ञः स च ईश्वरः॥

विराट्, सूत्रात्मा, अव्याकृत—इन शरीरोंमें रहकर जो ब्रह्माण्ड आदिके उत्पत्ति, पालन तथा क्षयको करता है वह जीव तथा देवोंकी अपेक्षासे बहुज्ञ है—वही ईश्वर है। ईश्वरोंको मायाकी उपाधि है। मायाके पार अक्षर ब्रह्मलोक है, उस अक्षरब्रह्मके स्वामी परमेश्वर परब्रह्म हैं। कोई उनके चौबीस अवतार कहते हैं और कोई उनतालीस कहते हैं; उन सबमेंसे—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

—जो जिस स्वरूपको भजता है उसको उसकी भावना अनुसार भगवान् फल-सिद्धि देते हैं इस वाक्यसे, 'परमेश्वरके किसी भी स्वरूपके भजनेवालेका कल्याण तथा उसे भगवान्की प्राप्ति होती है।'

जहाँ-जहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीस्वामिनारायण परमात्मा हैं तथा जहाँ-जहाँ अक्षरब्रह्मको जाननेवाले सत्पुरुष हैं, वहीं सर्व ऐश्वर्य, विभूति, विजय तथा अविचल नीति है।

राम

जो तुम तोरो राम मैं नहिं तोरूँ।
तुमसों तोरि कवन सों जोरूँ॥टेक॥
तीरथ बरत न करूँ अँदेसा।
तुम्हरे चरनकमल के भरोसा॥ १॥
जहँ-जहँ जाउँ तुम्हारी पूजा।
तुम-सा देव और नहिं दूजा॥ २॥
मैं अपनो मन हरि सों जोर्‌यो।
हरिसों जोरि सबन सों तोर्‌यो॥ ३॥
सबही पहर तुम्हारी आसा।
मन क्रम बचन कहै रैदासा॥ ४॥

—रैदासजी

प्रकृतिवादकी त्रुटियाँ*

(लेखक—प्रोफेसर श्रीभीखनलालजी आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्)

विज्ञानके नाना विभागोंमें प्रकृतिवादकी उपयोगिता चाहे जितनी हो, दार्शनिक सिद्धान्तकी हैसियतसे प्रकृतिवाद बहुत ही त्रुटिमय है। यह कहना असंगत न होगा कि दर्शन-जगत्‌में प्रकृतिवादका स्थान बहुत ही नीचा है। इस युगमें तो प्रायः वह कोई स्थान ही नहीं रखता। कुछ विद्वानोंका कहना तो यह है कि प्रकृतिवाद बहुत दिन हुए मर चुका, और अब उसके पुनर्जीवनकी कोई सम्भावना ही नहीं है। प्रकृतिवादपर बहुत-से आक्षेप किये गये हैं। उनमेंसे कुछका हम यहाँपर उल्लेख करते हैं।

१–मानसिक क्रियाएँ प्राकृतिक अर्थात् आधिभौतिक क्रियाओं, गतियों अथवा स्पन्दनोंसे नितान्त ही भिन्न हैं। शरीर अथवा मस्तिष्क और मन एवं उसकी चेतन क्रियाएँ भिन्न पदार्थ हैं। मस्तिष्क देशान्तर्गत है, मन देशान्तर्गत नहीं है, मन देशका द्रष्टा है। सारा देश मनका विषय है। मस्तिष्क वर्तमानकालमें रहनेवाली वस्तु है, किन्तु मन भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालोंका द्रष्टा है। मस्तिष्कमें केवल प्राकृतिक स्पन्दन होते हैं और उनके भौतिक संस्कार (Impressions) ही रहते हैं। मनमें उन संस्कारोंके अर्थ समझनेकी शक्ति है। मनमें वस्तुओंके सम्बन्ध समझनेकी शक्ति भी है जो मस्तिष्कमें नहीं है। प्राकृत जगत्‌में रूप, रस, गन्धादि गुणोंका तथा सुख-दुःखका अनुभव नहीं है। केवल क्रिया और स्पन्दन है। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता एडिंगटन साहबने ठीक कहा है कि यदि मनको जगत्‌से निकाल दिया जाय तो जगत् केवल प्राकृतिक शक्तियोंके स्पन्दनसमूहके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। चेतना चेतना है और प्राकृतिक स्पन्दन प्राकृतिक स्पन्दन है। एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों भिन्न हैं। चेतनाको किसी प्रकारका गति-सञ्चालन समझना या मनको प्राकृतिक पदार्थ कहना वैसा ही है जैसा कि बिल्लीको कुत्ता कहना या कालेको लाल कहना है। चेतना गति-सञ्चालनके कारण जागरित भले ही हो जाय या शरीर अथवा मस्तिष्कमें खराबी आनेसे मनकी क्रियाएँ भले ही रुक जायँ किन्तु गति-सञ्चालनमात्र मन अथवा चेतना नहीं हो सकते। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों एक नहीं हो सकते।

२–यह भी नहीं कहा जा सकता कि चेतना प्राकृतिक क्रिया-कलापका कार्य है। यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और सभी शक्तियाँ वर्तमान नहीं हैं तो यह चमत्कार हमारी समझमें कदापि नहीं आ सकता कि किसप्रकार प्रकृतिसे चेतनाका उदय हो गया। और यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और शक्तियाँ किसी रूपमें सदैव ही वर्तमान रहती हैं तो प्रकृतिका अर्थ ही दूसरा हो जाता है। वह प्रकृतिवादियोंकी प्रकृति न रहकर एक जगदुत्पादक चेतनशक्ति (ब्रह्म) हो जाती है। ऐसा न मानना कार्य-कारण-सम्बन्धी नियमके प्रतिकूल होगा। कार्य कारणहीका रूपान्तर होता है, कोई नयी वस्तु नहीं होती।

३–यदि चेतनाको प्रकृतिसे भिन्न माना जाय और यह भी मान लिया जाय कि चेतनाकी प्रकृतिसे उत्पत्ति होती है तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रकृतिसे किसी अप्राकृत वस्तुकी उत्पत्ति हुई और वह अप्राकृतिक वस्तु प्राकृतिक जगत्‌से बाह्य पदार्थ है। समस्त विज्ञानको यह सिद्धान्त मान्य है कि जब किसी कारणसे किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है तो कारणकी शक्तिका कार्यरूपमें परिणाम होता है अर्थात् वह शक्ति अब कारणरूपमें न रहकर कार्यरूपमें वर्त्तमान रहती है। यह सब मान लेनेसे विज्ञानके उस व्यापक सिद्धान्तका अपवाद होगा जो कि सब विज्ञानोंका आधारभूत है, कि संसारमें भौतिक शक्तिका परिमाण सीमित एवं नित्य है। प्रकृतिसे चेतना पैदा होनेमें प्रकृतिकी कुछ शक्तिका ह्रास अवश्य ही हो जायगा।

४–प्रकृतिवादियोंका कहना है कि मानसिक क्रियाएँ

---

* सम्मान्य श्रीआत्रेयजीके लेखके दो भाग थे, पहले भागमें प्रकृतिवादका स्वरूप बतलाकर दूसरेमें उसकी त्रुटियाँ बतलायी गयी थीं। लेख बहुत बड़ा होनेके कारण पहला भाग छोड़ दिया गया है। इससे इस अगले भागकी उपादेयतामें कोई कमी नहीं हुई है; आत्रेयजी क्षमा करें। —सम्पादक

प्राकृतिक संघटनोंपर निर्भर होती हैं। कोई भी दार्शनिक इस बातका प्रतिवाद नहीं करेगा किन्तु दो पदार्थोंमें इस सम्बन्धके होनेका यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि दोनोंमें कार्य कारण सम्बन्ध है, अथवा दोनों एक दूसरेको पैदा कर सकते हैं।

५—सृष्टिके इतिहासमें चेतनाके पैदा होने और नष्ट होनेके विषयमें कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इन महत्त्वपूर्ण घटनाओंका ज्ञान भी चेतनाद्वारा ही हो सकता है। चेतनाको अपनी उत्पत्ति और अपने नाशका अनुभव होना सर्वथा असम्भव और युक्तिहीन है। जेम्स, ग्रीन आदि विद्वानोंकी यह *सम्मति* है कि चेतनाको सृष्टिके आदिकालसे ही वर्तमान होना माने बिना बहुत सी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। किसी-न किसी रूपमें चेतनाको *आरम्भकालसे* ही माने बिना सर्वथा अचेतन प्रकृतिसे उसका उदय होना मान लेना अपनी हठधर्मीके ऊपर दार्शनिक बुद्धिको बलिदान कर देना है। विकास वादीके लिये भी चेतनाकी संवरण शक्तिकी उपस्थितिकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकूडगल साहबने अपने लेखोंमें यह भलीभाँति दिखलाया है कि सृष्टिमें, विशेषकर जीवन सृष्टिमें, चेतनाकी प्रयोजनात्मक क्रिया चारों ओर दिखलायी पड़ती है। बिना किसी प्रयोजनात्मक संवरण शक्तिको माने विकासका रहस्य समझमें ही नहीं आ सकता।

६—यदि प्राकृतिक पदार्थ परमाणुओं अथवा विद्युत् कणोंद्वारा संगठित हैं और उनके अतिरिक्त उनका द्रष्टा कोई चेतन पदार्थ नहीं है तो यह कहना कि प्रकृतिके परमाणु अथवा विद्युत्कण नाना नाम रूप धारण करते हैं नितान्त ही निरर्थक है। विद्युत्कणों अथवा परमाणुओंके दृष्टिकोणसे यदि देखा जाय तो जगत्में परमाणुओं अथवा विद्युत्कणोंके अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है। संघातका अर्थ किसी चेतन द्रष्टाहीके लिये हो सकता है, संघटित पदार्थोंके लिये नहीं। ऑक्सीजन और हायड्रोजनके विशेष अनुपातमें मिलनेसे पानी बन जानेका अर्थ यही है कि परमाणुओंका यह संघात कुछ चेतन प्राणियोंको जलरूपमें दिखायी देता है। वास्तविक रूपमें तो जल ऑक्सीजन और हायड्रोजनके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं।

७—इसी प्रकार परिणाम अथवा रूपान्तरमें तबदीली भी बिना चेतन द्रष्टाके निरर्थक उक्ति है। 'अ' का 'ब' में परिणत होना किसी चेतन द्रष्टाहीके दृष्टिकोणसे समझमें आ सकता है, 'अ' और 'ब के दृष्टिकोणसे नहीं। क्योंकि 'अ' जब 'ब' के रूपमें परिणत होता है तब 'अ' नहीं रहता और 'ब' का जबतक उदय नहीं होता तबतक 'ब' है ही नहीं। उसके लिये परिणाम निरर्थक है। यदि 'अ' और 'ब' दोनों नाम रूपोंके अन्तर्गत अपरिणत और समानरूपसे रहनेवाला कोई प्रकृति-तत्त्व भी मान लिया जाय तो उसके दृष्टिकोणसे भी तबदीली निरर्थक है। क्योंकि वह तो दोनों अवस्थाओंमें अपने अपरिणत स्वरूपमें स्थित रहता है। अतः किसी चेतन द्रष्टाहीके अनुभवमें परिणाम शब्द सार्थक है।

८—समुदयात्मक विकासवादीका कहना है कि पदार्थोंके संघातसे अवयवीमें एकदम नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। चेतनाशक्ति भी शरीरमें उत्पन्न हुआ एक ऐसा ही गुण है। इस विषयमें मैकूडगलने अपनी पुस्तक Modern Materialism and Emergent evolution में और सर आलिवर लॉजने अपनी पुस्तक *Beyond* physics में यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है और उनका कथन ठीक भी मालूम पड़ता है कि जिन गुण धर्मोंका आरम्भात्मक समुदय प्रकृतिवादी मानते हैं उनको अव्यक्त रूपमें उपस्थित माने बिना समुदयात्मक विकासवाद समझमें नहीं आ सकता। कारणात्मक परिस्थिति, संगठन अथवा संयोग उन अव्यक्त वस्तुओं अथवा गुणोंके व्यक्त होनेके निमित्त हैं। ये विद्वान् तो यहाँतक कहते हैं कि इन अव्यक्तरूपमें वर्तमान तत्त्वोंके व्यक्त करनेके निमित्त ही ये कारण उपस्थित होते हैं। और इस व्यक्तीकरण क्रियामें किसी चेतन पदार्थका हाथ है। समुदयात्मक विकासवादका जन्मदाता लॉयड मॉर्गन (*Lloyd* Morgan) भी इसी सिद्धान्तका पक्षपाती ज्ञात होता है।

९—इस बातके लिये कि जो वस्तु निराकार या अव्यक्त है, अथवा जो कोई जगह नहीं घेरती, वह असत्य अथवा सत्ताहीन है,कोई भी स्वयंसिद्ध युक्ति नहीं दी जा सकती। भौतिक पदार्थोंके विषयमें यह भले ही कहा जाय कि वे कुछ न-कुछ जगह अवश्य घेरेंगे। किन्तु मानसिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वोंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। मनोवैज्ञानिक अन्वेषणोंद्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि एक मनुष्यके मानसिक विचार दूसरे मनुष्यके मनमें व्यक्त किये जा सकते हैं। तथा किसी भी देश और कालमें

संघटित मानसिक घटना किसी दूसरे देशकालमें अपने यथार्थ स्वरूपमें अनुभव की जा सकती है। आधुनिक भौतिक विज्ञानके निष्कर्ष भी हमें स्थूल तथा साधारण प्रकृतिवादसे दूर ले जाते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानने संकल्पशक्ति और इच्छाशक्तिके अस्तित्वके पक्षमें हमारे लिये मार्ग खोल दिया है। वैज्ञानिक परमाणुको अब विद्युत्कणोंका संघात मानने लगे हैं। और वे विद्युत्कण कोई स्थूल पदार्थ नहीं हैं, प्रत्युत किसी अज्ञात शक्तिकी स्पन्दन-क्रियाएँ हैं। विज्ञान भी अब ऐसे कारणोंकी शरण लेने लग गया है जिनके विषयमें उसको कुछ भी ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन महोदयने अपने प्रसिद्ध *व्याख्यान* 'On the Nature of the Physical World' (1928) में कहा है, 'कोई अज्ञात कारण किसी अज्ञात क्रिया-कलापमें प्रवृत्त है और हम इसके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकते। हमें किसी ऐसे मूल-तत्त्वका सामना करना पड़ रहा है जो भौतिक जगत्‌के परेका पदार्थ है।' आधुनिक भौतिक विज्ञानके ये निष्कर्ष प्रकृतिवादको सदाके लिये खोखला कर देते हैं। भौतिक पदार्थोंकी परम सत्ता, देश और कालकी वास्तविकता, परमाणुओंका सर्वान्तरिक अस्तित्व तथा समस्त घटनाओंका निष्प्रयोजन नियति नियन्त्रण, इन सबकी जड़ हिल गयी है।

१०—विश्वका कारणात्मक क्रिया-कलाप एकदम प्रयोजनहीन कदापि नहीं कहा जा सकता। हम केवल संघटनाओंका क्रमशः आविर्भाव देखते हैं। उनके प्रयोजन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते। उनके विषयमें हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। मनुष्योंको हम रेलकी ओर दौड़ते देखते हैं किन्तु वे क्यों दौड़ रहे हैं यह हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार संसारकी घटनाओंको भी हम देखते हैं परन्तु उनका क्या प्रयोजन है यह हम कैसे जान सकते हैं? किसी कारणका न मिलना, उद्देश्य अथवा प्रयोजनका अदृश्य होना, उनकी सत्ताको अस्वीकार करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। अदृष्ट तथा अदृश्यको असत्य कहना एक बड़ी भारी दार्शनिक भूल है। संसारकी घटनाओंमें एक प्रकारकी संवरण-क्रियाका वर्तमान होना इसका पर्याप्त प्रमाण है कि ब्रह्माण्डके अन्तस्तलमें कोई उद्देश्य-सिद्धि निहित है। जड़ प्रकृति उद्देश्यमय क्रिया कैसे कर सकती है यह बात बुद्धिमें नहीं आती। यह मान लेना कि किसी चरम चेतनाके प्रभावसे परमाणुओंके संघात किसी उद्देश्यके लिये बनते और बिगड़ते हैं किसी प्रकार युक्तिहीन नहीं है, क्योंकि हमारे जीवनमें उद्देश्य-पूर्ण क्रियाओंका होना इस बातका संकेत है कि विश्व-शक्तिकी क्रिया, जिसके हम भी कार्य हैं, किसी अन्तिम उद्देश्यके लिये ही हो रही होगी।

११—प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्तकी कसौटी प्रमाणवाद है। प्रकृतिको प्रमाणवादकी कसौटीपर कसनेसे उसका खोखलापन और भी स्पष्ट हो जाता है। यदि हम अपने *अनुभवका विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट मालूम पड़ेगा* कि कोई भी ज्ञान बिना ज्ञाताके नहीं हो सकता।

हमारा अनुभव द्रष्टा और दृश्य दोनोंकी स्थितिकी साक्षी देता है लेकिन प्रकृतिवादी ज्ञाता या द्रष्टाको एकमात्र भूलकर दृश्यके ही अस्तित्वका समर्थन करता है। द्रष्टाके बिना दृश्यके अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। दृश्यका स्वरूप अधिकांशमें द्रष्टाके ऊपर निर्भर है। जैसा कि विज्ञानवादियोंने सिद्ध कर दिखाया है। दृश्यको ही अनुभवका एकमात्र उपकरण मान लेना किसी वस्तुके बहुत-से अंगोंमेंसे एकहीको सब कुछ मान लेना है। फिर दृश्यमें भी प्रकृतिवादी सारे दृश्य जगत्‌मेंसे उसके एक अंग प्रकृतिस्वरूपको ही सत्य वस्तु मानते हैं। और अंगोंकी अवहेलना करके उनको असत्यप्राय ही समझ लेते हैं। प्रकृतिवादी दृश्य जगद्व्यापी गुणोंको दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं। एक मुख्य दूसरा गौण। परिमाण-सम्बन्धी गुण-धर्मको वे मुख्य गुण कहते हैं और शब्द, रूप, रसादिको गौण कहते हैं। गौण-धर्मकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्वीकार करते हुए वे वस्तुओंके मुख्य धर्मोंको ही सत्य मानते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। वह तत्त्व सिद्धान्तपूर्ण और युक्तिसंगत कभी नहीं कहा जा सकता जो अनुभवप्राप्त किसी भी गुण-धर्मका निषेध करता है। प्रकृतिवादियोंके निषेध तो अगण्य हैं। द्रष्टाको सत्य जगत्‌से बाहर कर देना सबसे बड़ी दार्शनिक भूल है।

उपर्युक्त विचार-धारासे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृतिवाद युक्तिसंगत दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है।

विज्ञान और ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक—श्रीगणेशजी एम० ए, बी०एस-सी०)

हमें ईश्वरने बनाया या नहीं, सो तो ईश्वर ही जाने, पर यह निश्चित है कि प्रत्येक तत्त्ववेत्ताने अपने-अपने ईश्वरकी स्वयं रचना की है। पूर्वीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिकोंमेंसे किस दार्शनिकने ईश्वरका कौन-सा रूप स्थिर किया है सो तो दर्शन-शास्त्रके इतिहासोंमें भरा पड़ा है। यहाँ केवल यही देखना है कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा शुद्ध दार्शनिक तर्कके आधारपर निष्पक्ष भावसे क्या कोई ऐसी सत्ता सिद्ध की जा सकती है कि जिसे हम सर्वश्रेष्ठ कहकर वन्दन कर सकें।

वैज्ञानिक आविष्कारोंसे यह बात अब निश्चित हो चुकी है कि समस्त ब्रह्माण्डका द्रव्य अविनाशी है। रसायन-शास्त्र (Chemistry) के अनुसार ८६ से ऊपर तत्त्वोंका पता लग चुका है, पृथ्वी तथा पृथ्वीपरके समस्त जड तथा जीवित द्रव्य इन्हीं तत्त्वोंके बने हैं। प्रकाश-विच्छेद (Spectroscopic analysis) द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि आकाशके नक्षत्र-तारे आदि भी इन्हीं तत्त्वोंके बने हैं। ये समस्त तत्त्व स्वयं केवल दो तत्त्वोंके रूपान्तरमात्र हैं—इन दो तत्त्वोंको ऋण विद्युत् (electrons) तथा धन-विद्युत् (Protons) कहते हैं। विद्युत् तथा उष्णता आदि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (energy) भी इन्हीं दो तत्त्वोंके रूपान्तर हैं। अनुमान किया जाता है कि ये दो तत्त्व भी ईथर नामक एक आकाश-तत्त्वके भँवर (whirlpools) मात्र हैं। *इसप्रकार अन्तिम सिद्धान्त यही निकलता है कि* समस्त ब्रह्माण्डका द्रव्य (matter and energy) अविनाशी है—न उसका कभी पूर्ण नाश हो सकता है और न वह शून्यसे बनाया जा सकता है। ब्रह्माण्डके समस्त द्रव्यका माप, चाहे उसके कितने ही रूपान्तर हों, गणितकी दृष्टिसे सदैव ज्यों-का त्यों है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

—इस गीताके वाक्यमें भी ऊपरके सिद्धान्तका ही निचोड़ है। 'सत्' यह शब्द संस्कृतकी 'अस्' धातुसे बना है। 'अस्' का अर्थ है 'होना', इसप्रकार जो कुछ 'है' उसे सत् कहते हैं। उपर्युक्त नियमको ही सांख्य 'सत्कार्यवाद' के नामसे पुकारता है। सत् (existence), यह जगत्‌की द्रव्य-सत्ताका प्रथम सिद्धान्त है।

द्रव्यके सिवा इस संसारमें बड़े महत्त्वकी एक सत्ता और है जिसे चैतन्यता (awareness) अथवा चित् (consciousness) कहते हैं। 'मैं चैतन्य हूँ' इसकी धारा कभी नहीं टूटती। यह जीवित शरीर चाहे जैसी अवस्थामें रहे, पर रहता है सदैव चैतन्य। जाग्रत्-अवस्थामें चैतन्यताद्वारा ही सब अनुभव होते रहते हैं; स्वप्न-अवस्थामें भी स्वप्नका अनुभव मुझ चैतन्यको ही होता है और निद्राकी वह अवस्था जिसमें कोई स्वप्न नहीं दिखायी देता, उसका अनुभव भी मुझे ही होता है क्योंकि स्वप्न-विहीन निद्रा (सुषुप्ति) में 'मैं सुखसे सोया अथवा दुःखसे सोया'—ऐसा अनुभव जागनेपर मुझे ही होता है। सुषुप्तिके ऐसे अनुभवकी जाग्रत्-अवस्थामें स्मृति ही सुषुप्तिमें चैतन्यताके अस्तित्वका प्रमाण है। मैं सुषुप्तिमें न होता तो मैं दुःखसे सोया अथवा सुखसे—ऐसा अनुभव ही मुझे जाग्रत्‌में कैसे होता? तीव्र-से-तीव्र नशेमें अथवा क्लोरोफार्मकी बेहोशीमें भी चैतन्यता रहती है क्योंकि रिफ्लेक्स (reflex actions) ऐसी अवस्थामें भी होते हैं। शरीरकी रक्षाके लिये शरीरके किसी भी अंगमें जो हलचल होती है उसे रिफ्लेक्स कहते हैं जैसे आँखोंकी पुतलीके पास किसी भी वस्तुके आते ही पलकोंका इच्छा न रहते हुए भी गिर जाना इत्यादि। सुषुम्ना काटकर मेंढकके मस्तिष्कको उसके शरीरकी शिराओंसे भिन्न कर देनेपर भी उसके किसी अंगमें तेज़ाब लगानेपर उसका हाथ उस तेज़ाबकी जगहको रगड़ने लगता है—ऐसे रिफ्लेक्ससे यह सिद्ध होता है कि थोड़ी-बहुत चैतन्यता उसके पीड़ित अंग तथा हलचल करनेवाले अंगमें अवश्य है।

प्रत्येक जीवित शरीरमें जन्मसे मृत्युपर्यन्त यह चेतनता बनी रहती है। शरीरके मृत्युद्वारा नाश होनेपर भी यह चेतन-सत्ता बनी ही रहती है, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण उन बालकोंका वृत्तान्त है जो स्वयं अपने मुखसे अपने पूर्व-जन्मका वर्णन करते हैं और जो वर्णन कुछ उदाहरणोंमें



गुरु नानकजी



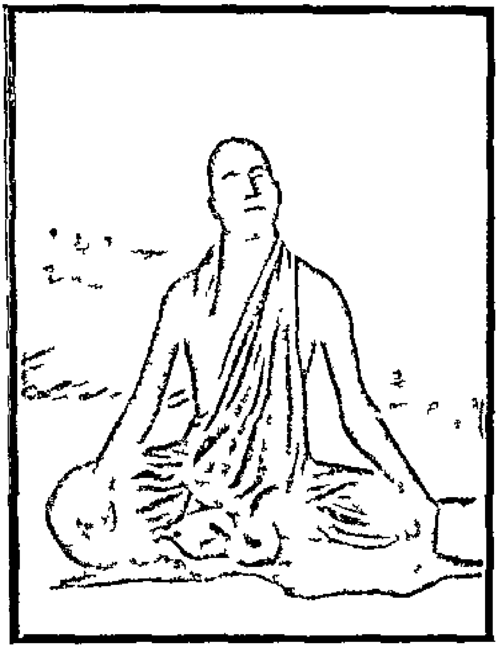
श्री श्रीचन्द्रजी



गुरु गोविन्दसिंहजी



श्रीवनखण्डीजी



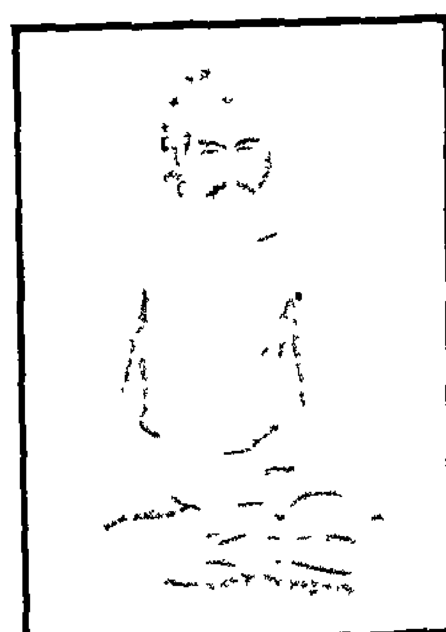
स्वामी रामतीर्थजी



स्वामी सहजानन्दजी (स्वामि नारायण)



स्वामी मंगलनाथजी



स्वामी सियारामजी

खोजद्वारा सत्य भी प्रमाणित हुआ है। अगस्त सन् १९२७ की (पूर्णसंख्या ६१ वीं) 'माधुरी' में बरेलीवाले जगदीशचन्द्रका वृत्तान्त उन उदाहरणोंमेंसे एक है जिसका पूरा अनुसन्धान किया गया है और उस बालकका वर्णन ठीक पाया गया है। उदाहरण चाहे कम हों, पर हैं वे अवश्य, और सत्यके खोजियोंके लिये ये उदाहरण प्रकृतिके वे संकेत हैं जिनके द्वारा जगत्‌के गुप्त रहस्योंकी ओर वे बढ़ सकते हैं। प्रकृतिके ऐसे संकेतोंको हम पहले अपवाद (Exceptions) कह देते हैं, पर आगे चलकर ये ही अपवाद साधारण सिद्धान्तोंका स्वरूप ले लेते हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिक आविष्कारोंके इतिहासमें यही बात इतस्ततः दीख पड़ती है।

मृत्युके पश्चात् सूक्ष्मदेहके बुद्धि-तत्त्वके साथ जिसमें कि सब संस्कारों तथा स्मृतियोंका अड्डा रहता है, चैतन्यता अथवा चिच्छक्ति दूसरे स्थूलदेहमें चली जाती है, इससे यह सिद्ध होता है कि स्थूलदेहके नाशके समय 'चित्' का नाश नहीं होता, यह 'चित्' मनुष्य, पशु तथा वृक्ष प्रत्येक जीवधारीमें स्थित है। अब देखना यह है कि क्या यह चित् जड द्रव्यमें भी मौजूद है?

हमें जड-जगत्‌का अनुभव होता है; हम ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा बाह्य पदार्थोंको अपनी चैतन्यतामें लाते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि बाह्य पदार्थोंमें यह शक्ति है कि वे 'चित्' से सम्बन्ध कर सकें अथवा यों कहिये कि चित्‌में जडसे मेल करनेकी शक्ति है। दो ही बातें हो सकती हैं— या तो चित्‌में कुछ जडताका गुण है या जडमें चित्‌का कुछ गुण है, नहीं तो यह असम्भव है कि चित् और जड ये दो बिलकुल भिन्न वस्तु आपसमें मेल कर सकें और चित्‌को जडका ज्ञान हो सके! दो बिलकुल भिन्न सत्ताओंमें किसी प्रकारका भी मेल-मिलाप नहीं हो सकता; मेल-मिलापके लिये उनमें कुछ-न-कुछ समानता अवश्य चाहिये। चित्‌में जडका कुछ गुण और जडमें चित्‌का कुछ गुण अनिवार्य है। बाह्य द्रव्यसत्तामें अवश्य चैतन्यता भी है। विद्यारण्यने पञ्चदशीमें इसी सिद्धान्तको यों कहा है कि—

'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः'

अर्थात् चैतन्य-सत्ता स्वयं जगत् बन गयी। शंकरका अद्वैततत्त्व ही यहाँतक ठहर पाता है। सांख्यका 'प्रकृति पुरुष' डेकार्टके 'जड तथा चेतन' के समान बहुत पीछे रह जाता है।

इतना ही नहीं कि जड द्रव्यमें चित्‌का अंश है परन्तु जड द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्ति भी व्याप्त है; क्योंकि ऊपरकी ही विचारधाराके अनुसार यह भी मानना होगा कि जड द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियाँ भी होनी चाहिये, नहीं तो जड द्रव्यका ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। गौतमके न्यायशास्त्रका यह परम सिद्धान्त आज दिन वैज्ञानिक आविष्कारोंसे भी सिद्ध हो रहा है। श्री० जगदीशचन्द्र बोसने अपने (Artificial retina) नामक ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि नेत्र-शक्ति जड-पदार्थोंमें भी मौजूद है। उन्होंने यह बताया है कि जीवित नेत्रोंमें भिन्न-भिन्न शक्तियों (उष्णता, विद्युत् आदि) से जो विकार होते हैं वे ही विकार उनके बनाये हुए कृत्रिम नेत्रमें भी होते हैं।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य हैं तो फिर 'मृतक देह' का क्या अर्थ है? मृतक देहमें चैतन्यता भी है, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ भी हैं परन्तु उसमें जीवन-तत्त्व (Protoplasm) की वह अवस्था नहीं है, जिससे उसमें जीवनके चिह्न दिखायी पड़ें। जैसे बिजली सब जगह है परन्तु बिजलीके लैम्प (bulb) में ही उसका प्रकाश होता है, बिगड़े हुए लैम्प (fused bulb) में उसका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही चित् तथा इन्द्रिय-शक्तियाँ मृतक देहमें रहती हुई भी जीवन-तत्त्वके बिगड़ जानेपर (stoppage of respiration in protoplasm) अपने आपको प्रकट (manifest) नहीं कर सकतीं। मृतक स्थूलदेहमें यदि सब कुछ विद्यमान है तो पुनर्जन्ममें उसमेंसे निकलकर क्या चला गया? इस प्रश्नका उत्तर असंगत हो जानेसे छोड़ दिया जाता है। यहाँ केवल इतना कह देना बस है कि सर्वव्यापी बुद्धि-तत्त्वमें 'अहं' के सम्बन्धसे वैयक्तिकता आ जाती है और नये-नये संस्कारोंको लेकर सूक्ष्मदेहकी अपने आप रचना हो जाती है। इस वैयक्तिकताके कारण ही सूक्ष्मदेह एक स्थूलदेहको छोड़कर पुनर्जन्ममें दूसरे स्थूलदेहमें चला जाता है। यदि आज 'विज्ञान' इतना बढ़ जावे कि किसी मृतक स्थूलदेहको जीवित कर दे तो उसमें अपने आप एक नूतन सूक्ष्मदेहकी रचनाका आरम्भ हो जायगा और यदि उसमेंसे निकला हुआ सूक्ष्मदेह उसमें वापस लाया जा सके तो पूर्ववत् संस्कारोंवाला मनुष्य पुनः उठ बैठेगा। प्राचीन भारतीय 'योग' में ऐसी शक्तिका वर्णन आता है।

इसप्रकार समस्त जगत्‌में जो द्रव्य व्याप्त है उसके दो

गुण सिद्ध हुए—एक तो सत् (existence) और दूसरा चित् (consciousness)। उस सत्ताका तीसरा गुण आनन्द (bliss) है। आनन्द आत्माका एक वह बल है जिसके आधारपर समस्त जीव-जगत् ठहरा हुआ है। शास्त्रकारोंने तीन प्रकारके दुःखोंका वर्णन किया है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। संसारमें सैकड़ों-हजारों प्रकारके दुःख दिखायी देते हैं। परन्तु यदि सुख-सदृश कोई पदार्थ न होता तो जीवमात्र प्रयत्नशील तथा आशावान् दिखायी न देते और क्षणमात्रमें समस्त जीवधारियोंका नाश हो जाता, जैसे कि एक नितान्त निराश मनुष्य आत्मघात कर लेता है। यदि हम सदा दुःखोंका ही ध्यान करें तो जीवन असम्भव हो जावे। सब दुःखोंके बीचमें भी हमें आनन्दका अनुभव होता ही रहता है। दुःख स्थायी नहीं है परन्तु आनन्द स्थायी है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानके पश्चात् आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

दुःखसे परम निवृत्तिका नाम मोक्ष तथा परमानन्द है। अन्तर्दृष्टिसे अपने अन्दर स्वयं देखनेपर अपना स्वभाव परम आनन्दमय प्रतीत होता है। यही आनन्द जिसे हम जड द्रव्य कहते हैं उसमें भी है। जड द्रव्योंसे उत्पन्न होनेवाले विषय-भोगोंको मनुष्य आनन्दके लिये ही करता है। दुःख प्राप्त होता है अनियामकता तथा अज्ञानसे। सुख-दुःखके अनुभवको जो सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) मानते हैं वे ठीक हैं, पर उससे आगे और उससे परे मनुष्य तथा जीवमात्रमें जो आनन्द-प्राप्तिकी समान इच्छा है, वह सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थायी इच्छा दुःख-प्राप्तिकी किसीको नहीं है। यह स्थायी आनन्द आत्माका अविनाशी गुण है।

राग-रागिनियाँ दुःखमें नहीं, वरं आनन्दमें निकला करती हैं। अभी हालमें ही डा० रमनने प्रयोगोंद्वारा सृष्टिके समस्त द्रव-पदार्थों (Liquids) में राग-रागिनियाँ सिद्ध की हैं। प्रत्येक द्रव एक अमुक प्रकारकी रागिनीको लगातार गा रहा है। यह इतनी ऊँची ध्वनि है कि मनुष्यके कान उसे नहीं सुन सकते, इसलिये डा० रमनने उस ध्वनिके वेग (Pitch) को यन्त्रोंद्वारा इतने नीचे उतार दिया है कि उसे अब कोई भी मनुष्य सुन सकता है। अलग-अलग द्रवोंकी भिन्न-भिन्न राग-रागिनियोंको पयानों इत्यादि बाजोंके साथ मिलाकर संगीतकी मजलिस जमानेमें भी वे कृतकृत्य हुए हैं।

एक ही सत्ता अथवा तत्त्वमें उपर्युक्त प्रकारसे सत् (Existence), चित् (Consciousness) और आनन्द (Bliss) ये तीन सिद्धान्त मिले। पर ये कोई ऐसे गुण नहीं हैं जिनका अलग अलग अस्तित्व सम्भव हो। संस्कृतभाषामें तो इनकी सन्धि 'सच्चिदानन्द' करनेपर होती है परन्तु प्रकृतिमें ये तीनों विशेषताएँ ऐसी मिली हैं कि उनकी सन्धिका तोड़ना अस्वाभाविक मालूम होता है। 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ' इस बातका अनुभव मनुष्यमात्रको लगातार हो रहा है। 'मैं नहीं हूँ' अथवा 'मैं जड हूँ' अथवा 'मैं दुःखमय हूँ'—ये भावनाएँ ही स्वयं भयानक-सी मालूम होती हैं। मैं जो कुछ हूँ उसका प्रमाण मुझे प्रतिक्षण अपने आप हठात् मिल रहा है। स्वामी रामतीर्थने कहा है और ठीक कहा है कि 'मनुष्यमात्रको किसी-न-किसी स्वरूपमें तथा अंशमें चापलूसी (flattery) पसन्द है इसका एकमात्र कारण केवल यही है कि मनुष्य स्वयं उन सब गुणोंसे युक्त और शाहन्शाह है, अपने स्वरूपकी स्मृतिमें आनन्दका आना स्वाभाविक है।'

अब यहाँ एक बड़ा कठिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब सर्वत्र एक ही तत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप व्याप्त है तो द्रष्टा (Subject) और दृश्य (Object) ये दो भिन्न परिस्थितियाँ कैसे सम्भव हो सकती हैं? द्रष्टा सदैव दृश्यसे भिन्न ही रहेगा अन्यथा द्रष्टा और दृश्य ऐसे दो शब्द भी केवल शुद्ध अद्वैत-तत्त्वमें नहीं बन सकते। चित् (द्रष्टा) को जड (दृश्य) का ज्ञान हो इसके लिये जहाँ यह आवश्यक है कि दोनोंमें कुछ-न-कुछ समानता हो, वहाँ यह भी आवश्यक है कि द्रष्टा और दृश्य दोनोंमें कुछ-न-कुछ असमानता भी हो, नहीं तो दर्शनके सदृश कोई क्रिया ही होना असम्भव है। प्रश्न यद्यपि कठिन है पर इसका उत्तर बिल्कुल सरल है।

सर्वव्यापी एक ही अविनाशी सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्वमें किसी भी कारणसे अथवा लीलामात्रसे अथवा स्वभावसे नामरूपादिद्वारा अनेकता प्रकट होती है, जैसे कि एक ही ईथरमें ऋण विद्युत् (Electrons) तथा धन-विद्युत् (Protons) ये दो तरहके भँवर हो जाते हैं अथवा जैसे समुद्रके जलके अन्दर लहरें, बुद्बुदे तथा भँवर आदि होते हैं। इन नाना प्रकारके भेदोंमें एक इन्तजाम ऐसा भी

हो जाता है जहाँ कि चित्‌के चित्तत्वकी सम्भावना हो जावे। जैसे कि विद्युत् सब जगह ओतप्रोत भरी हुई है, पर वह बल्बमें ही प्रकाशरूपसे प्रकट होती है, वैसे ही चित् सर्व-स्थलमें रहते हुए भी केवल एक अमुक प्रकारके इन्तज़ाममें ही द्रष्टा बनता है। वह इन्तज़ाम इसप्रकार है—जीवित स्थूल देह (जो जीवन-तत्त्व protoplasm से बनता है), इस स्थूलदेहमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्तियोंके प्रकटीकरणके लिये पाँच प्रकारकी स्थूल इन्द्रियाँ और तब इस स्थूलदेहके अन्दर मन, बुद्धि और संस्कारोंको वैयक्तिकता देनेवाला 'अहं' तत्त्व। यह सब हो चुकनेपर एक अमुक शरीरके अन्दरके चित् (Consciousness) में चैत्य (Awareness) होता है और उसे द्रष्टाका नाम मिल जाता है और बाह्य-जगत् उसका दृश्य बन जाता है।

यह सब कुछ होते हुए भी वह पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व निर्विकार ही रहता है, क्योंकि उस तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आने पाता, जैसे कि सुवर्णके कई प्रकारके गहने बन जानेपर भी वह पूर्ण तत्त्व सुवर्ण-ही-सुवर्ण है। इस अर्थमें हम नामरूपात्मक जगत्‌को मिथ्या तथा भ्रम कह सकते हैं, अर्थात् एक तत्त्वके सिवा कुछ है ही नहीं।

'अहं' एक ऐसा तत्त्व है कि जिसके द्वारा एक सर्व-व्यापी चित्‌में अनेकता प्रकट हो जाती है। प्रत्येक शरीरमें रहनेवाला चित् 'अहं' से बँधकर अपनेको परिमित व्यक्ति समझने लगता है। यह बात उस सर्वव्यापी चित् (चिदाकाश या ब्रह्म) के महान् अंशके साथ नहीं है जो कि देहोंसे बँधकर 'जीव' नहीं हो पाया है। वह चिदाकाश अहंकारसे अपरिमित होनेके कारण और प्रत्येक जीवसे तादात्म्यता (Continuity) के कारण समस्त जीवोंके अनुभवोंका ज्ञाता रहता है।

ईश्वरके अस्तित्वके जितने प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें तीन ही योग्य प्रमाण हैं, अर्थात् (१) कार्य-कारण-भाव-मूलक (Cosmological), सत्तामूलक (Ontological) तथा प्रयोजनमूलक (Teleological)। केअर्ड (Caird) ने इन प्रमाणोंका विस्तारसे वर्णन किया है। कैण्टने इन प्रमाणोंका खूब खण्डन किया है।

(१) कार्य-कारण-भाव-मूलक प्रमाण

सम्पूर्ण संसार कार्य है इसलिये इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। 'उस कारणका भी कोई कारण होना चाहिये और फिर उसका भी कोई कारण होना चाहिये'—इसप्रकारसे यदि चलते चलें तो कहीं कारणोंका अन्त न होगा और अनवस्था-दोष आ जायगा। इसलिये जगत्‌का कोई एक ही नजदीकका कारण है और उसे ईश्वर कहते हैं।

मैं इसप्रकारके प्रमाणोंको निन्दाकी दृष्टिसे देखता हूँ क्योंकि इसमें प्रमाण देनेवालेके हृदयमें सत्यके खोजकी कुछ भी इच्छा नहीं दीखती, केवल हार-जीतकी इच्छा, दुराग्रह और अज्ञान ही दिखायी देता है। नव्यन्यायमें भी ऐसी ही बातोंकी भरमार है, जैसे 'मनुष्यत्वावच्छिन्नो मनुष्यः' 'मनुष्यत्वावच्छेदको घटः' इत्यादि।

(२) सत्ता-मूलक प्रमाण

ऐन्सेल्म, डेकार्ट आदिने कहा है कि यदि ईश्वर कोई वस्तु न होता तो ईश्वरका प्रत्यय हृदयमें कैसे आता? गेलीलियो, कैण्ट आदिने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी कल्पना होनेके कारण यदि उसका अस्तित्व मान लें तो संसारमें जितने भिक्षुक हैं वे मनमें अशर्फियोंकी कल्पना करके करोड़पति हो जायँ।'

इस प्रमाणका वास्तविक अर्थ वैसा नहीं है जैसा गेलीलियो आदि समझ बैठे हैं। इस प्रमाणमें कुछ तथ्य है जो कि तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की शाखा धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मनोविज्ञान-शास्त्र (Psychology of religion) में है। समस्त संसारमें जितने धर्म हैं उनमें किसी-न-किसी महान् सत्ताका पूजन अथवा वन्दन होता है। नास्तिकों आदिको छोड़कर मनुष्य-मात्रके हृदयके अन्दर किसी-न-किसी महान् सत्ताके प्रति आदर, भय तथा श्रद्धा दिखायी देती है। संसारभरके धर्म तथा सम्प्रदायोंके अध्ययन करनेके बाद अन्तमें यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वकी किसी महान् सत्ताने मनुष्यमात्रके हृदयके अन्दर घर-सा कर रक्खा है। बिना किसी-न-किसी धर्मको माने मनुष्यके चित्तकी स्थिति मानो असम्भव-सी दीखती है। दक्षिण-अफ्रिका तथा मध्य-आस्ट्रेलियाकी अशिक्षित तथा जंगली जातियोंमें भी टोटेमिज़्म (Totemism) नामका धर्म कई प्रकारकी शाखाओंमें प्रचलित है। इस धर्ममें अनेक प्रकारके अद्‌भुत-अद्‌भुत विश्वास भरे हैं जो इन जातियोंमें स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए दीखते हैं। इनका भी विश्वकी अद्‌भुत सञ्चालिनी शक्तियोंमें विश्वास है।

यहाँ प्रश्न यह है कि जब किसी-न-किसी प्रकारकी अद्भुत सत्ताने मनुष्यमात्रके हृदयमें अपना घर कर रक्खा है तो क्या ऐसी कोई सत्ताका अस्तित्व मान लिया जाय या यों मान लिया जाय कि यह मनुष्यका एक जन्म-सिद्ध स्वभाव (Instinct) है कि वह ऐसी किसी-न-किसी सत्तामें विश्वास करे ? यदि ऐसा नहीं है तो क्या कारण है कि इस बेकामकी बातने मनुष्यके हृदयको भय तथा श्रद्धा-से भर रक्खा है ? तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की प्रधान शाखा धर्ममूलात्मक मनोविज्ञान शास्त्र (psychology of religion) के अनुसार कुछ ऐसी परीक्षाएँ की गयी हैं कि जिनमें नवजात बालकको जन्मसे ही धर्म तथा ईश्वर-सम्बन्धी सब बातोंसे दूर रक्खा गया है—यह देखनेके लिये कि ईश्वर-सम्बन्धी कोई बात उसके अन्दर स्वाभाविक ही उठती है अथवा नहीं। यद्यपि ऐसी परीक्षाएँ अधिक नहीं की गयी हैं परन्तु जितनी भी इनी-गिनी परीक्षाएँ की गयी हैं उनसे यह पता लगा है कि ईश्वर तथा धर्म आदि सम्बन्धी कोई भी बात मनुष्यमें स्वाभाविक नहीं पायी जाती; ये बातें उसे दी जाती हैं। जो कुछ भी हो इस ओर खोज होनी चाहिये क्योंकि जो कुछ अभीतक हुआ है उसे मैं अचूक तथा निश्चित माननेको तैयार नहीं हूँ, क्योंकि इन परीक्षाओंके साथ-ही-साथ महात्मा गान्धीके समान परीक्षक और सत्य-के खोजी भी विद्यमान हैं जिन्होंने अपने चित्तके हर एक विश्वासको माँजकर उसे फिरसे निष्पक्षभावसे स्थिर किया है। शुद्ध सत्यके प्रेमी महात्मा गान्धीने यह कई बार कहा है कि उनके हृदयमें ईश्वरकी प्रेरणा होती है, वे जो कुछ करते हैं उसी प्रेरणाके अनुसार करते हैं। ईश्वरके इस सत्तामूलक प्रमाणको कोई-कोई मनोविज्ञानशास्त्र-मूलक प्रमाण (Psychological proof) भी कहते हैं।

अब अन्तिम प्रयोजन-मूलक प्रमाण (Teleological proof) की परीक्षा करनी है। सृष्टिका जितना कार्य है वह किसी एक गुप्त प्रयोजनको लेकर हो रहा है और उसी रहस्यमय गुप्त उद्देश्यकी ओर सृष्टि बढ़ी चली जा रही है। उद्देश्य केवल चेतन व्यक्तिमें ही हो सकता है, अचेतनमें नहीं, इसलिये किसी चैतन्य शक्तिका अवश्य अस्तित्व है जिसे हम 'ईश्वर' कह सकते हैं। भौतिक तथा प्राणिशास्त्रसम्बन्धी विज्ञानकी जितनी भी शाखाएँ हैं उनमेंसे प्रत्येक सृष्टिके किसी-न-किसी एक गुप्त प्रयोजनकी ओर संकेत करती हैं। विस्तारमें न जाकर हम कुछ आवश्यक शास्त्रोंको ही लेकर यह देखेंगे कि उनमेंसे प्रत्येक किसप्रकारसे अपने-अपने ढंगपर विकासवाद (Evolution) को सिद्ध कर रहे हैं।

सृष्टि छः दिनमें नहीं बन गयी, जैसा कि बाइबलमें लिखा है परन्तु सृष्टि आज जैसी है वैसी अवस्थामें धीरे-धीरे वह सहस्रों सदियोंमें विकासद्वारा पहुँची है। विकास-का अर्थ है किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर धीरे धीरे आगे बढ़ना।

ज्योतिष-शास्त्र (Astronomy) द्वारा अब यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पहले एक बड़े भारी नीहारिका (Nebula) की हालतमें था जिससे कि आगे चलकर करोड़ों सौर-जगत् (Solar systems) की उत्पत्ति हुई है। हमारा सौर-जगत् आकाश-गंगाके करोड़ों सौर-जगत्मेंसे एक है। हमारी पृथ्वी हमारे सूर्यका ही एक टुकड़ा है जो ठण्डा होते-होते आज हमारे रहनेके योग्य हुई है अभी भी यह पूरी ठण्डी नहीं हुई है। इसके अन्दर अभी जलता हुआ गरम लावा (lava) भरा हुआ है जो कि ज्वालामुखियोंद्वारा निकला करता है।

भूगर्भशास्त्र (Geology) द्वारा यह विस्तारसे सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वीका तल, उसमेंके समुद्र, पहाड़ तथा नदियाँ आदि किस-किस प्रकारसे बनते-बनते ऐसी बनी हैं जैसी आज हैं। आज जहाँ हिमालय पर्वत है वहाँ पहले टेथिस नामका समुद्र था और आज जहाँ बंगालकी खाड़ी है वहाँ पहले आस्ट्रेलिया समाया हुआ था—इत्यादि सैकड़ों बातें सप्रमाण भूगर्भशास्त्रने सिद्ध कर दी है। गरम जलते हुए सूर्यके टुकड़े 'पृथ्वी' ने सदियों बाद आज वर्तमान परिस्थिति प्राप्त की है।

जब यह पृथ्वी जीवधारियोंके रहनेके योग्य हो गयी तब विचित्र प्रकारसे इसके समुद्रोंके अन्दर जीवनतत्त्व (Protoplasm) की उत्पत्ति हुई। यह प्रोटोप्लाज्म—कारबन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा फासफरस आदि पदार्थोंका वह विचित्र सम्मिश्रण है जो मनुष्यसे लेकर प्रत्येक जीवित प्राणी तथा पौधोंमें वर्तमान है और जिसके बिना जीवन नहीं रह सकता। विज्ञानवेत्ता जिस दिन इस पदार्थको प्रयोगशालामें अपने हाथसे तैयार कर लेंगे—जैसी कि उन्हें आशा है—उस दिन वे सृष्टिपर

विजय प्राप्त कर लेंगे। जीवन-तत्त्व समुद्रोंमें पहले-पहल अनेक प्रकारके जीवोंके रूपमें प्रकट हुआ। फिर विकास होते-होते उसने एक ओर मछली आदिका और दूसरी ओर वनस्पतियों आदिका रूप लिया। पशुओंसे बनते-बनते बन्दर बना, तब बनमानुष और फिर मनुष्य। इन सब बातोंका विस्तार वनस्पतिशास्त्र (Botany) तथा पशु-विज्ञानशास्त्र (Zoology) में भरा पड़ा है। यह भी सिद्ध किया जा रहा है कि मनुष्यका भी विकास हो रहा है। मनुष्य-विज्ञान-शास्त्र (Anthropology) ने यह दिखलाया है कि मनुष्य पहले कैसा जंगली था और उसने किसप्रकार अपना जंगलीपन त्यागा। 'Riddle of Mars' अर्थात् 'मंगल तारेकी पहेली' नामक पुस्तकमें यह सिद्ध किया गया है कि मंगल तारेपर मनुष्य रहते हैं और वे हमसे भी अधिक उन्नतिशील हैं। वहाँके इञ्जीनियर्सने ऐसी केनालें (Canals) बनायी हैं जिनका बनना हमारे यहाँ दुष्कर है।

रसायनशास्त्र (Chemistry) के एक बड़े आचार्य मेण्डेलेजिफ़ने यह सिद्ध किया है कि समस्त ब्रह्माण्डके जितने भी तत्त्वाणु हैं उन सबका विकास हुआ है। रेडियम आदि तत्त्वोंके विकासकी अवधितकका पता लग गया है। विकासका आरम्भ हाइड्रोजन-तत्त्वसे हुआ है और अभीतक तत्त्वाणुओंका विकास यूरेनियम नामक धातुतक पहुँच पाया है।

इसप्रकार जहाँ देखो वहीं विकास-ही-विकास होता चला जा रहा है। तत्त्ववेत्ताओंकी अब यह सबसे कठिन समस्या उनके सामने उपस्थित है कि सृष्टिके इस रहस्य-मय विकासके पीछे अवश्य ही कोई चेतन कर्त्ता होना चाहिये।

विज्ञान और ईश्वर

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी, एम० ए०)

विज्ञान ईश्वरके विषयमें निरपेक्षतासे मौन है। विज्ञानकी परीक्षाएँ दृश्य, स्थूल और सूक्ष्म जगत्के परमाणुओं-तक परिमित हैं। प्रकृतिकी खोज विज्ञानका श्रीगणेश है, उसका अन्त कहाँ चलकर होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। ज्ञेयके प्रतिपादन-से विज्ञानने अज्ञेय या परोक्ष विषयोंके विश्वासको धक्का पहुँचाया। यह अच्छा ही हुआ। उन्नीसवीं शताब्दीमें उदग्र बुद्धिवाद बहुत ज़ोरोंपर था। युग-युगान्तरसे लोग जिन कल्पनाओंके दास थे, उन सबको विज्ञानकी प्रचण्ड अग्निने झुलसा दिया। वीर योद्धाकी भाँति विज्ञानने तर्क और बुद्धिके अस्त्रोंसे विश्वासके दुर्गमें भीतर घुसकर प्रहार किया और धर्म और मतोंके संकीर्ण पुजारियोंको उसकी बढ़ती हुई विजयके सामने अपने हथियार रख देने पड़े। यह आँधी इस युगकी विशेषता है। मनुष्यने तर्क और बुद्धिको सिंहासनपर अधिष्ठित करनेका संकल्प कर लिया है, इसमें रोष या अमर्ष करनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिके प्रचण्ड नदके सामने जो बाधकरूपमें आया अथवा आवेगा वही बह जायगा।

सृष्टि कबसे है, संसारमें प्राणियोंकी सत्ताको कितना समय बीत गया, पृथिवीका सौरमण्डलमें क्या स्थान है, कर्मोंकी प्रेरणामें बाह्य हेतु क्या है—इन सब विषयोंपर उन्नीसवीं सदीके वैज्ञानिकोंने मनुष्य-जातिको नये पाठ पढ़ाये और लोगोंने पुराने दकियानूसी विचारोंको निस्सार जानकर पीछे छोड़ दिया। धर्म-शास्त्रोंका स्थान विज्ञान-शास्त्रोंने ले लिया। मनुष्य-जातिके नन्हे बच्चे नये प्रकाशसे चकित और आनन्दित होकर स्वतन्त्र सिपाहीकी भाँति प्राकृतिक रहस्योंके नये देश जीतनेको निकल पड़े। उनकी दिग्विजय सर्वतोमुखी, आश्चर्यमयी और प्रतिभाशालिनी हुई। सृष्टिकी आयुके जीर्ण विचार जाते रहे। एक ही सपाटेमें ऐसा मालूम होने लगा मानो यह पृथिवी कई करोड़ वर्षोंसे है। उत्तरोत्तर अनुसन्धानसे आज सब वैज्ञानिकोंकी ऐसी धारणा है कि पृथिवीकी आयु (Age of the Earth) दो अरब वर्ष (2000 million years) है। रेडियमकी खोजने इस परिणामको सत्य ठहराया है। हर्ष है आर्य-जातिमें प्रचलित सृष्टि संवत्सर

१९७२९४९०२१ से यह विज्ञानका अनुमान मिलता हुआ है। इसके अतिरिक्त दूरवीक्षण यन्त्रने पृथिवीका ब्रह्माण्डमें क्या स्थान है इसपर प्रकाश डाला। पहले लोग इसी गोलको सब जगत्‌का केन्द्र मानते थे। विज्ञानने बताया कि हमारे सौरमण्डलका केन्द्र सूर्य है और पृथिवी उसकी तुलनामें बहुत ही छोटी है। धीरे-धीरे यह खोज यहाँतक बढ़ी कि आज यह पृथिवी समस्त ब्रह्माण्डकी अपेक्षासे एक कणके बराबर भी नहीं है। इस विश्वमें जितने सागरोंके रज कण हैं, वे सब यदि ग्रह और ताराओंकी सख्याके बराबर मान लिये जायँ तो यह पृथिवी एक रज कणके भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अशके बराबर नहीं कही जा सकती। हमारे गणितके अक रो देते हैं। इस अनन्तताको शब्दोंमें व्यक्त करनेका साधन हमारे पास नहीं है। जहाँतक गणितके अक हमारे साथ रहें वहाँतक तो हमारी स्थिति दृढ सत्यपर समझी जाती है। जब हम इस अनन्तता या विशालताकी कुछ भी कल्पना निश्चित शब्दों और अंकोंमें नहीं बता सकते, तब मानो हम सत्य (Fact) को खोकर पुराण (Legand) के क्षेत्रमें चले जाते हैं। इस जगत्‌में सत्य कुछ ही दूरतक हमारा साथ देता है। आगे चलकर भौतिक अनुसन्धानमें भी हमें अपने आपको पुराणके हाथोंमें सौंप देना पड़ता है। पुराने पुराणोंको छोड़ दीजिये। नये विज्ञानके पुराणोंकी शरण लिये बिना गति नहीं है। विश्वकी विराटता पुराण ही है। वस्तुत ससार निरुक्त और अनिरुक्तका, सत्य और पुराणका, सान्त और अनन्तका अद्भुत सम्मिलन है। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानने हमें कल्पनाके जगत्‌में उठाकर निस्सहाय छोड़ दिया है—

Dr Hubble estimates that about two million such nebulae are visible in the great 100-inch telescope at Mount Wilson and that the whole universe is about a thousand million times as big as the part of space which is visible in this telescope Let us now multiply 1000 million by 2 million, and the product by 1000 million The answer (2×10^{24}) gives some indication of the probable number of grains of sand spread over England would make a layer hundreds of yards in depth Let us reflect that our earth is one millionth part of one such grain of sand, and our mundane affairs, our troubles and our achievements, begin to appear in their correct proportion to the universe as a whole

[Eos by Dr Jeans, p 21]

यह वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिये वेदोंने कहा है—'एतावानस्य महिमा।' पर विज्ञान 'अतो ज्यायाश्च पूरुष' कहनेकी आज्ञा हमें नहीं देता, अत हम पुरुषके विषयमें कुछ न कहेंगे। इस वर्णन-शैलीका नाम पुराण या कल्पना है जो अनिरुक्त पक्ष या अनन्तताका पोषण करती है।

यह तो सृष्टिकी विशालताका दिग्दर्शन हुआ। यहाँ विज्ञानकी गति अवरुद्ध हो गयी है। अब सृष्टि प्रक्रियापर किञ्चित् विचार करना है। यह सृष्टि जिस रूपमें हमारे सामने फैली है यह क्या पहली ही बारका आयोजन है, अथवा इससे पूर्वमें भी कभी सृष्टि थी, या इसके बाद भी फिर कभी सृष्टि होगी? हम जान चुके हैं कि पुराने ईसाई धर्मकी कल्पना या अन्य धर्मोंकी कल्पनाओंको पछाड़ कर विज्ञानने आगे कदम उठाया था। परन्तु सृष्टि प्रक्रिया का सन्तोषप्रद कोई भी समाधान आजतक विज्ञानके हाथ नहीं आया है। यह विषय भी दृश्य परिमित ज्ञानकी शृ खलाओंसे नहीं बँधना चाहता। वैज्ञानिक निश्चयरूपसे इस सृष्टिके पहले क्या था, कुछ नहीं कहते। हाँ, यह सृष्टि हमारे सामने फैली है यह ध्रुव घटना है। इस घटनाका अध्ययन विज्ञानको इष्ट है। इस अध्ययनमें एक नियम बहुत महत्त्व रखता है। उसका अंग्रेजी नाम Second Law of Thermodynamic है जिसका प्रतिपाद्य विषय यह है कि शक्तिका प्रवाह ऊँचे केन्द्रसे नीचे केन्द्रकी ओर होता है। उदाहरणार्थ एक वस्तुमें पाँच सहस्र डिग्री सेन्टोग्रेडकी गर्मी है और दूसरीमें दो हजार डिग्री। तापका प्रवाह पहलीसे दूसरीकी ओर होगा और तबतक बराबर होता रहेगा जबतक दोनोंमें समत्व स्थिति न हो जाय। प्रकृतिके ज्ञात अनुभवोंमें ऐसा कभी नहीं देखा गया कि दो हजार डिग्रीका ताप जिसमें है उसमेंसे उलटा प्रवाह ऊँचेकी ओर होने लगे। शक्तिका प्रवाह अधोमुख या प्रलयकी ओर है। प्रलयका तात्पर्य वह समता (Equilibrated condition) है जहाँ शक्तिके स्थानान्तरित न हो सकनेसे कोई कार्य नहीं हो सकता। वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्यके समान अनेक शक्तिके केन्द्र

ब्रह्माण्डमें हैं जिनकी शक्ति अनवरत वेगसे आकाशमें विशीर्ण हो रही है। यदि यही प्रवाह चलता रहा और कोई कारण ऐसा समझमें नहीं आता जिससे इस प्रवाहमें बाधा हो, तो एक समय ऐसा आयगा जब शक्तिके सम-वितरणसे विश्वमें कोई कार्य न हो सकेगा और सब प्रकृति शक्तिरूपमें परिवर्तित होकर अनन्त आकाशमें फैल जायगी। ऐसी दशामें फिर सृष्टिको सम्भव कर सकना असम्भव है। यदि उपर्युक्त दूसरे नियमका प्रतिद्वन्द्वी ऐसा भी कोई नियम हो जिसके अनुसार शक्तिके नये गर्भित केन्द्रोंकी रचना हो सके, तब तो प्रलयके बाद सृष्टिका प्रवाह पुनः प्रचलित हो सकता है। परन्तु अभीतक इस विषयमें हम कुछ नहीं जानते। विज्ञवर डा० जीन्सकी तो यहाँतक कल्पना है कि उस विप्रतिपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय यह है कि विश्वके बाहर किसी कारणको हम पुनः सृष्टिका हेतु मान लेवें। पर विज्ञान हमें इस विषयमें कुछ कहनेकी आज्ञा नहीं देता। हम तो संक्षेपमें यही कह सकते हैं कि आर्ष-कल्पनामें अभीद्ध तपसे सृष्टि मानी गयी है। यह तप ही शक्तिके गर्भित केन्द्र हैं। पर तपका जनयिता ब्रह्म है जो योगनिद्रासे इस तपको उत्पन्न करता है। निद्राकी कल्पनाके साथ जाग्रत्‌की कल्पना भी है। अर्थात् सृष्टि और प्रलय ये दोनों नैसर्गिक प्रवाहगत क्रम हैं जो परस्परापेक्षी हैं। दोनोंका आधार चैतन्यका ज्ञान है।

अब हम एक ऐसे विषयकी ओर आते हैं जिसका अनुसन्धान विज्ञानका महत्त्वपूर्ण अंग है। यह प्रश्न जड-जगत् और शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। जड-प्रकृति (Matter) का अन्तिम रूप क्या है इसका उत्तर सारा संसार विज्ञानसे माँग रहा है। और क्यों नहीं? जिस प्रकृतिकी प्रतिष्ठा इतने समारोहसे वैज्ञानिकोंने की है उसका परीक्षण भी होना चाहिये।

विज्ञानकी ही सत्यप्रियताने विद्वानोंको इस बातके जाननेको विवश किया कि प्रकृतिका अन्तिम रूप क्या है? पहले वैज्ञानिकोंने इस बातका पता लगाया कि स्थूल-जगत्‌में बानवे तत्त्व या पदार्थ (Elements) ऐसे हैं जिनके संयोगसे ही सारे रूप बनते हैं। ब्रह्माण्डमें कहीं चले जाइये, समस्त प्रकृति इन्हीं मौलिक पदार्थोंका संघट्ट है। भौतिक विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञानकी सम्मिलित खोजोंसे अब यह जान लेना बहुत सरल हो गया है कि सूर्य या और भी अचिन्त्य दूरीवाले नक्षत्रोंमें कितने तत्त्व (Elements) हैं। प्रत्येक तत्त्वका प्रकाश अलग-अलग है और किसी भी नक्षत्रसे आनेवाले प्रकाशके विश्लेषण (Spectrum analysis) से यह मालूम कर लेना बहुत आसान है कि उसकी प्राकृतिक रचना किन तत्त्वोंके संयोगसे है। इसप्रकार कुछ कालतक इन बानवे तत्त्वोंको विश्वका मूलभूत आधार मानते रहनेके बाद विज्ञानने एक पग और आगे रक्खा। यहाँपर वैज्ञानिकोंने परमाणु (Atom) के अन्तिम स्वरूप और उसकी आन्तरिक रचनाकी खोज आरम्भ की। आधुनिक शताब्दीके अनुसन्धानोंमें परमाणुकी रचना-विषयक खोज बहुत ही महत्त्व की है। इसने विज्ञान-शास्त्रमें आमूल क्रान्ति कर डाली है। कोई समय था जब परमाणुको लोग अविभज्य मानते थे। अब इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है कि परमाणुकी रचना सौर-मण्डलके ढंगपर है। परमाणुके बीचमें एक केन्द्र है जिसे प्रोटोन (Proton) कहते हैं। इस केन्द्रमें ही परमाणुका सारा वजन सञ्चित रहता है। इसके चारों ओर कुछ विद्युत्कण चक्कर काटते हैं जिनका नाम इलैक्ट्रन (Electron) रक्खा गया है। बस, परमाणु प्रोटोन और इलैक्ट्रनके समवायका नाम है। प्रोटोनके चारों ओर घूमनेवाले इलैक्ट्रनोंकी संख्या हर तत्त्वके परमाणुमें अलग-अलग है। चाँदी और सोनेका भेद असलियतमें कुछ नहीं। दोनोंके परमाणुओंके भीतर इलैक्ट्रनोंकी गिनतीमें भेद होनेसे यह ऊपरी भेद हो जाता है। इस आविष्कारने यह सिद्ध कर दिया है कि भौतिक प्रकृतिकी रचना परमाणु-मय है और एक मूल-पदार्थके परमाणुका दूसरेसे भेद केवल इलैक्ट्रनोंकी संख्यापर निर्भर है। वस्तुतः भेद कुछ नहीं है। परमाणुका स्वरूप क्या है? इस विषयकी खोजसे यह फल निकला कि परमाणुका स्वरूप विद्युत्‌रूप है। प्रोटोन और इलैक्ट्रन दोनों धन और ऋण विद्युत्‌के रूप हैं। विद्युत् एक ही है। उसका दो तरहसे प्रकट होना अनिवार्य है। बिना ऋण-धनके कोई कार्य नहीं हो सकता। वास्तविक दृष्टिसे ये दोनों उपाधिमात्र हैं। मूल विद्युत् एक-रस है। इसप्रकार भौतिक प्रकृतिका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश जो परमाणु है वह केवल विद्युत्‌का ऋण-धनात्मक प्रकाश-मात्र है। इस खोजने पुराने सब विचारोंको अस्तव्यस्त कर दिया है। मैटर और इनर्जीका सम्बन्ध ठीक-ठीक हम अभीतक नहीं जान पाये हैं। परमाणुके

भी वैज्ञानिकोंमें बहुत मतवाद हैं। दार्शनिक ह्वाइट हेडने तो परमाणुको चेतनधर्मविशिष्ट कार्यसम्पन्न मान लिया है। पर इससे समस्या किसी तरह हल नहीं होती। जैसे हम शक्तिके बारेमें अनभिज्ञ हैं वैसे ही चैतन्यके वैज्ञानिक स्वरूपके विषयमें तो हम और भी कोरे हैं। परमाणुओंकी भट्टीमें पड़कर दृश्य स्थूल जगत् हमारे हाथोंसे निकला जाता है। प्रत्यक्षवादको इससे बहुत धक्का पहुँचा है। और हम इसलिये बहुत विकल हैं कि हमारे स्थूल जगत्की रक्षा क्या हमारे देखते-देखते किसी तरह न हो सकेगी? परिणाम चाहे कुछ हो विज्ञानको तो सत्यकी पूजा करनी है। हमें सत्यकी खोज है, प्रत्यक्ष या परोक्षसे हमें क्या मतलब?

इसी प्रसंगमें एक और जटिलता आ गयी है। उसका वैज्ञानिक नाम Quantum Theory है। हमारा आधार यह था कि प्रकृति अखण्ड है। अखण्डता (Continuity) के कारण ही शक्ति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाती है। आगकी गर्मी लोहेमें पहुँचती है क्योंकि दोनोंको मिलानेवाला एक अखण्ड माध्यम है जिसके द्वारा शक्तिका सञ्चार होता है। इस अखण्डताके कारण ही हम यह आशा करते थे कि प्रकृतिकी उत्तरोत्तर खोजमें हमारी सारी सीढ़ियाँ व्यक्तरूपसे हमारे सामने रहेंगी और जहाँ भी प्रकृति और शक्तिकी ग्रन्थि होगी उसे हम पकड़ सकेंगे। परन्तु अब हमें मालूम होता है कि शक्तिका प्रवाह एकरस माध्यमका मुखापेक्षी नहीं है। शक्ति मण्डूकप्लुतिसे छोटे-छोटे बण्डलोंमें, जिन्हें क्वैण्टा कहते हैं, स्थानान्तरित होती है। अर्थात् जैसे मैटरका कण परमाणु है वैसे ही शक्तिका कण भी है। उसकी संज्ञा क्वैन्टम है। प्रकृति और शक्तिकी अखण्डताको सन्देहमें डाल देनेवाला यह नया सिद्धान्त अभीतक ठीक तरह पचाया नहीं जा सका है।

परन्तु भौतिकवादको संशयास्पद बनानेके लिये मानो इतना काफी नहीं था, इसलिये सापेक्ष्यवाद (Relativity) के सिद्धान्तने इस अखाड़ेमें प्रवेश करके विज्ञानकी जमी हुई जड़ोंको और भी चलायमान कर दिया। या यों कह लीजिये कि देशकाल-सम्बन्धी हमारे वैज्ञानिक भावोंका नवीन जीर्णोद्धार हो रहा है। वज़न और लम्बाईको हम निरपेक्ष सत्य मानकर न्यूटनके शिष्य बने हुए थे। अब आइन्स्टाइनने हमें बताया है कि ये भाव देशकालसे सापेक्ष हैं। जो वस्तु इस पृथिवीपर एक गज़ है, वही एक लाख पचास हज़ार मील फी-सेकण्डकी गतिसे चलनेपर आध गज़की रह जायगी। यही हाल वज़नका है। और शायद एक लाख छियासी हजार मील गतिसे चलनेपर तो उसमें कुछ भी लम्बाई या वज़न नहीं रह जायगा। यह सब आश्चर्यमय आविष्कार हैं जो स्थूल जगत्की कल्पनाको हमारे सामने बड़े वेगसे बदल रहे हैं। आइन्स्टाइनके अनुसार देश-काल विनत (curved) हैं और जहाँ मैटर सबसे अधिक है वहाँ यह झुकाव (curvature) सबसे अधिक है। पृथिवी सूर्यके चारों तरफ जिस मार्गसे घूमती है उसका कारण आकर्षणका नियम नहीं है, बल्कि पृथिवीके लिये आकाशमें उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं है। निज प्राकृतिक पदार्थकृत विनति तथा सूर्यकृत विनतिके वशीभूत होकर उसे उसी मार्गसे जाना ही पड़ता है। सापेक्ष्यवाद-सिद्धान्तके अनुसार विश्वका केन्द्र सर्वत्र है। हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति विश्वकी नाभिपर है जिसका अपना-अपना देशकालकृत चौखटा है। उस पञ्जरमें मानो वह जड़ा हुआ है। अभी नहीं कहा जा सकता हमारे सांसारिक जीवनपर इस सिद्धान्तका क्या प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा।

जड-जगत्की रचनाके विषयमें विज्ञानकी विप्रतिपत्तियोंको हमने कुछ देखा। चेतनाके विषयमें हमारा ज्ञान और भी परिमित है। जैसे हम परमाणुके अन्तिम रूपको नहीं जानते वैसे ही यह जानते हुए भी कि चैतन्यका अन्तिम रूप सेल (Cell) है, हम अभीतक इस बातका पता नहीं लगा सके कि सेलमें जीवनका स्रोत क्या है? सेलके केन्द्रमें उसका चैतन्य है, पर उसका मूल हेतु और उत्पत्ति क्या है यह हमें बिल्कुल नहीं मालूम। प्रकृति और चैतन्य दोनोंके मूलका अधूरा ज्ञान हमें है। इसमें सन्देह है कि कभी भी इनका कृत्स्न ज्ञान हमें हो सकेगा। मनके विषयमें कुछ जाननेका प्रयत्न हमने अभी आरम्भ ही किया है। हम नहीं कह सकते किसप्रकार प्राकृतिक मन जड-चेतनकी सन्धिको नियन्त्रित कर रहा है। गुप्त मन (Subconscious mind) की शक्तियोंको बिना जाने हमारा विज्ञान अधूरा ही है। प्राणिविज्ञान, भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान ये तीन बड़े शास्त्र इस समय हैं। तीनोंमें ही चैतन्य, प्रकृति और मनका स्वरूप हमसे छिपा हुआ है। बहुत कुछ जान लेनेपर भी जो अभी नहीं जान

पाया वही महत्त्वका है। आज वैज्ञानिक प्राणपणसे इन उलझनोंको हल करनेमें लगे हुए हैं। भविष्यकी सफलताके विषयमें क्या कहा जा सकता है? विज्ञानकी स्वीकृत परिभाषाओंको मानते हुए हमारा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान किस रूपमें सन्तोषदायक होगा, यह भी कहना कठिन है। ईश्वरके विषयमें मौन ग्रहण करना ही अलम् है। जड़-चेतनकी प्रतिक्रियाका जिस दिन कुछ निपटारा होगा उस दिन सम्भवतः इस प्रश्नका कुछ महत्त्व हो। आज हमारा भाव सत्यके जिज्ञासुका है। हम स्वयं अपने घरको ठीक करनेमें व्यस्त हैं, यह अनुकूल अवसर नहीं है जब वैज्ञानिक अपने घरसे निकलकर दूसरोंका दुर्ग ढाहनेकी चेष्टा करें। विज्ञानकी विजय मनुष्यकी विजय है। सृष्टिको जानने और समझनेका उसे जो साधन मिला है उसका प्रयोग विज्ञान है। उसने सत्यको जाननेके लिये नम्रतासे उसका प्रयोग करना सीखा है और आगे भी करता रहेगा।

विज्ञानशास्त्रके ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीशारदाप्रसादजी मिश्र 'औपनिषद' काव्योपनिषद्व्याकरणवेदान्तमीमांसातर्कपुराणतीर्थ)

जड या चेतन जगत्के जितने पदार्थ हैं, उनमें मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ है। जड तो ज्ञानशून्य हैं, उनकी बात ही क्या परन्तु चेतन प्राणिवर्गमें जितने स्तर हैं, सबमें ज्ञानकी मात्रा मनुष्यकी अपेक्षा बहुत ही न्यून मानी जाती है। मनुष्य देखने-सुनने आदि जितने ऐन्द्रिय अनुभव होते हैं, उन्हींमें सन्तोष नहीं कर लेता, किन्तु यहाँसे उसके ज्ञानकी बाराखड़ी ही प्रारम्भ होती है और आगे चलकर वह इसप्रकार विचार-तरंगोंमें डूब जाता है कि सामने आयी हुई वस्तुओंका भी अनुभव नहीं कर पाता। मनुष्यने अपने इस अद्भुत स्वभावके द्वारा ही अनेकों प्रकारके ऐसे साहित्य और कलाका आविष्कार और उनकी रचना की है जिनके द्वारा केवल मनुष्योंके ही अद्भुत स्वभावका परिचय नहीं मिलता, किन्तु जडवर्गके भी रहस्यमय महत्त्व समझे जाते हैं। क्या ऐसा हुए विना जडवर्ग रेल, तार आदिके रूपमें अपनी करामात दिखा सकते थे? प्राचीन कालमें इसप्रकार आविष्कार हुए थे या नहीं इसकी उलझनमें न पड़ यदि हम वर्तमान समयकी ही ओर आँख उठाकर देखें तो भी इन दिनों-दिन बढ़ते हुए आविष्कारोंसे कम आश्चर्यान्वित नहीं होते। अनेक आध्यात्मिक वीर अपने भगीरथ परिश्रमसे असम्भव समझे जानेवाले कार्योंको भी कर दिखलाते हैं। जो विद्या इन सभी चमत्कारोंकी माता है उसे ही विज्ञानविद्या कहते हैं। यद्यपि कुछ लोग विज्ञानकी इस उन्नतिको अस्वाभाविकताकी ओर अग्रसर होना बताकर लाञ्छित करते हैं परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि साधारण लोग जिन विज्ञानके कार्योंको अस्वाभाविक बताते हैं, विज्ञानशास्त्री उन्हें भी स्वाभाविक ही बताते हैं। जैसे विना किसी चेतन प्राणीको जोते गाड़ीका चलना साधारण लोग अस्वाभाविक बताते थे परन्तु विज्ञानशास्त्री कहते हैं कि पेट्रोल, कोयला, पानी, भाफ इत्यादिके उन-उन संयोगोंके होनेपर गाड़ीका स्वतः चलना ही स्वाभाविक है। अतः वे लोग होते हुए किसी कार्यकी अस्वाभाविकताको कबूल नहीं करते, करें भी क्यों, जब कि वे पदार्थोंके स्वभावोंको ही समझनेके लिये इतनी मगजपच्ची करते हैं और उसीमें सफलता पाते हैं। वस्तुओंके स्वभाव ही उनके सारे प्रयत्नोंकी मूलभित्ति है। इस तरह स्वभावोंके पिछलग्गू होकर ही तो कितने विज्ञानशास्त्री यहाँतक कह बैठते हैं कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभावोंके ऊपर ही निर्भर हैं, ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं। अस्तु, विज्ञानशास्त्रकी ही मूलभित्तिको मानकर यदि हम ईश्वरके विषयमें विचार करें तो क्या नतीजा निकलेगा? प्रारम्भमें उनके सर्वस्व स्वभावको ही लेकर विचार करना होगा। मिट्टी, पानी, तेज प्रभृति जितने पदार्थ हैं उनके स्वभाव यदि अलग-अलग हैं तो उन स्वभावोंका जो एक दूसरेपर प्रभाव पड़ता है उसमें कौन स्वभाव कारण है? कोई भी पदार्थ विना किसी अन्य पदार्थके संयोगके रूपान्तरमें नहीं परिणत होता। अतः उन अलग-अलगके स्वभावोंको मिलानेके लिये एक-एक माध्यम स्वभावोंको मानना अनिवार्य होगा। यदि मिट्टीके प्रत्येक अणुओंके अलग-अलग स्वभाव माने जायँगे तो उनमें घड़ा बनानेके एक सम्मिलित स्वभावको भी मानना

ही पड़ेगा। इसलिये और मिट्टीके एक अणुके और दूसरे अणुके स्वभावमें भी कुछ भेद न रहनेके कारण भी स्वभावोंमें अभेदको मानना ही युक्तिसंगत होगा। इस-प्रकार मिट्टीमात्रका जो एक स्वभाव है उसीके अधीन होकर वह तथा उसके अणु-परमाणु अपने कार्य कर सकेंगे। ऐसे ही मिट्टी और पानी मिलकर जो चीजें बनती हैं उनके लिये भी एक सम्मिलित स्वभावको मानना उचित ही है। माननेपर दोनोंकी कार्यकारिता उसीपर निर्भर होगी। चलना, हिलना, सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्पर्श आदि अनुभवयोग्य जितने विषय हैं वे सभी जिस स्वभावके परतन्त्र माने जायँगे वही महान् स्वभाव संसारमात्रका शासक होगा। प्रत्येक पदार्थमें सत्तारूपी स्वभावका अनुभव होता है इसलिये वह सबका स्वभाव-सत्ता ही सभी जगत्की सत्ताकी शासक होगी। उसको सत्तारूप समझते हुए भी सद्रूप समझना उचित है, क्योंकि यदि सत्ता असत् होगी तो उसका स्वभाव-असत्ता उसमें रहेगी और असत्तामें सत्ता रहेगी इसीलिये ऐसा मानना उचित नहीं है। स्वभावोंको अलग समझ लेनेपर फिर स्वभाववान् क्या रह जायगा? इसलिये दोनोंमें अभेद ही उचित समझा जायगा। इसप्रकार संसारका शासक जो पूर्णस्वभाव होगा वह सर्वस्वभावमय एक पूर्णद्रव्यरूप ही सिद्ध होगा। जड-मात्रमें वर्त्तमान क्रिया-शक्तिरूपी स्वभाव, चेतनमें विद्यमान ज्ञानशक्तिरूपी स्वभाव उनमें पूर्णतया व्याप्त रहेगा और वह तन्मय होगा। वही जड़ोंकी कर्मशक्तिका और चेतनोंकी ज्ञानशक्तिका मूलस्रोत होगा। यदि कहें कि जिसप्रकार जगत् उसके परतन्त्र है वैसे ही वह भी जगत्की प्रत्येक वस्तुके परतन्त्र होगा तो इसका यह उत्तर है कि एक-एक वस्तुके उत्पन्न और नष्ट होनेपर जब उसमें जरा भी विचलता नहीं आती प्रत्युत छोटी-छोटी शक्तियाँ भी प्रत्येक वस्तुको उसीके द्वारा मिलती हैं तो यदि वह उन शक्तियोंके परतन्त्र होगा तब इसका मतलब यही होगा कि वह शक्तिमय अपने ही परतन्त्र है। अपने परतन्त्र और स्वतन्त्र रहना एक ही बात है। उसको छोड़कर अन्य कोई भी स्वभाव या स्वभाववान् नहीं है। वही स्वभावरूपसे समझा जाकर स्वभाववानोंका और स्वभाववान् समझा जाकर स्वभावोंका नियामक होगा। वह सत्स्वभाव-मय, पूर्ण सत्चित्स्वभावमय, पूर्ण चित्आनन्दस्वभाव-मय, पूर्णानन्द और सर्वशक्तिमय सर्वशक्तिमान् है। यदि कहें कि वह सर्वजडतामय, पूर्ण जड सर्वअसत्तामय, शून्य और सर्वदुःखमय पूर्ण दुःखी क्यों नहीं माना जाता, तो इसका उत्तर यही होगा कि यदि जडतासे कर्मस्वभावोंको समझा जाय तब तो वह सर्वकर्ममय है ही। यदि जडतासे ज्ञान-शून्यताका ग्रहण करते हैं तो वह ज्ञानशक्तिमय कैसे ज्ञानशून्य जड माना जा सकता है? इसी तरह वह सर्वमय होते हुए शून्य कैसे माना जा सकता है और इसी चालसे आनन्द होते हुए किसीकी त्रुटि बिना वह दुःखमय कैसे हो सकता है क्योंकि अभीष्ट वस्तुओंकी त्रुटियाँ ही दुःखका रूप धारण करती हैं। जगत्में प्रतीत होती हुई वस्तुओंमें अपूर्णताको देखकर ही इन शब्दोंका प्रयोग होता है।

इन युक्तियोंसे स्वभाववादात्मक विज्ञान-शास्त्रका भी विश्रामधाम वही अद्वितीय सच्चिदानन्द सर्वनियन्ता पूर्ण परमेश्वर ही सिद्ध होता है।

साहेबकी याद

पानीकी इक बूँद सूँ, साज बनाया जीव।
अन्दर बहुत अँदेस था, बाहर बिसरा पीव॥ १॥
अधोमुखी जब रहे थे तल सिर ऊपर पाँव।
राखनहारा राखिया, जठर-अगिनकी लाव॥ २॥
जरठ-अगिनसे राखिया, ना साईं गुन भूल।
वह साहिब दरहाल है, क्यों बोवत है सूल॥ ३॥
अलिफ अलहकूँ यादकर जिन्द कीन्हा यह साज।
उस साहिब कूँ यादकर पाला बिन जल-नाज॥ ४॥

—गरीबदासजी

ईश्वर-दर्शन

(लेखक—शुद्धाद्वैतभूषण, दे० पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

जगत्‌में भिन्न-भिन्न प्रकृतिके मनुष्य हैं अतएव जबतक सृष्टिमें मनुष्यकी सत्ता रहेगी, कभी किसी एक विषयमें एक मत नहीं हो सकता। यह बात आस्तिक और नास्तिक दोनों ही सिद्धान्तोंसे ठीक है। आस्तिक कहते हैं कि भेदके बिना ईश्वरकी क्रीडाका आनन्द लिया नहीं जा सकता और नास्तिक कहते हैं कि प्रकृति (नेचर) का वैचित्र्य ही स्वभाव है। हजार मनुष्योंसे लेकर चार मनुष्योंतकका किसी अप्रत्यक्ष विषयमें कभी एक सिद्धान्त नहीं हुआ। कुछ-न-कुछ विभिन्नता रहती ही है। इसलिये जगत्‌में यदि ईश्वरको माननेवाले और न माननेवाले दोनों मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं।

ईश्वर और धर्म दोनों वस्तु लौकिक अप्रत्यक्ष हैं। धर्मके विषयमें हम अपने 'धर्म-दर्शन' में सब कुछ कह चुके हैं। आज कुछ ईश्वरके विषयमें लिखना है। प्राचीन दार्शनिक लोग और विशेषकर भारतीय विद्वान् ईश्वरके विषयमें इतना लिख गये हैं कि उसका अनुवाद करना भी कठिन हो रहा है। वैदेशिक लोग जिनमेंसे अधिकांश अभीतक वास्तविक जीव-सत्तातक भी जब नहीं पहुँच सके हैं तब वे ईश्वरको मानते हैं या नहीं, यह चर्चा करना भी भूल है। सच्चा आस्तिक भारतवर्ष है। यहाँके निवासियोंमें प्रायः सबने किसी-न-किसी प्रकारसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है। ज्ञानी और भक्तोंका तो ईश्वरको माने बिना एक पद भी नहीं चलता। इसलिये प्रायः भारतवासी सब-के-सब ईश्वरके अस्तित्वमें सहमत हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि मीमांसक (कर्मवादी) लोग ईश्वरको नहीं मानते। किन्तु हमारी समझमें यह बात ठीक नहीं है। मीमांसकने यदि ईश्वरका जोरसे प्रतिपादन नहीं किया तो उसका निषेध भी नहीं किया है। प्रतिपादन नहीं करनेमात्रसे ईश्वरका निषेध नहीं माना जा सकता। जिसने चेतनकी और उसमें भी आनन्दसहित जीवकी सत्ता स्वीकार कर ली, उसे ईश्वरके माननेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिये। जिसे सुखका अनुभव होता है वही तो जीव है और जिसे पूर्ण आनन्दका अनुभव है किंवा जिसमें पूर्ण आनन्द हो, वही ईश्वर है। जो थोड़े ज्ञान, थोड़े आनन्द और थोड़ी सामर्थ्यवाला हो, वह जीव और जो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण सामर्थ्यवाला हो, उसे ही सब आस्तिक ईश्वर कहते हैं। जीवको माननेवाले मीमांसक भी ईश्वरके पासतक पहुँच ही चुके हैं। प्रकाशका एक स्थिर केन्द्र न माना जाय तो फिर 'सबको प्रकाश कहाँसे मिल रहा है' यह प्रश्न सर्वदा बना रहता है, जलका उत्पादक या जलका एक अटूट मूल खजाना न माना जाय तो वर्षा कहाँसे होती है यह प्रश्न शेष रहता ही है। इसी तरह यदि आनन्दानुभवका एक स्थिर और अपार भण्डार ईश्वर ही न माना जाय तो फिर यह खण्डशः आनन्दानुभव सहसा कहाँसे आ गया, यह प्रश्न किसी तरह हल नहीं होता। कारणके बिना कभी कार्य नहीं होता।

कोई मीमांसक कहता है कि 'कारण और कार्यका' झगड़ा हमारे मिटाये मिटता नहीं, इसलिये हमारी बुद्धि ईश्वरको स्वीकार नहीं करती। वृक्षके फल या फूलमेंसे बीज पैदा होता है और बीजसे वृक्षको पैदा होते देखा है तब फिर कार्य-कारणके झगड़ेको कौन मिटावे? वृक्षसे बीज पैदा होता है इसलिये वह कारण हो सकता है लेकिन फिर वह वृक्ष बीजसे ही पैदा होता है, अब कहिये कौन कारण और कौन कार्य?

नहीं-नहीं, यह बात ठीक नहीं है। वृक्ष और बीजका दृष्टान्त देनेवाला यह तो स्वीकार करता है कि 'कार्यका कारण अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि वृक्षको कारण मानें कि बीजको? हमारी समझमें तो जब एकसे दूसरेको (वृक्षसे बीजको या बीजसे वृक्षको) उत्पन्न होते देखते हैं तो किसी एकको कारण माननेमें झगड़ा हो ही नहीं सकता, चाहे बीजको मानो चाहे वृक्षको। जो अप्रत्यक्ष वस्तु हो उसमें युक्तिका बाध या सहयोग हो सकता है, किन्तु जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसे उसी प्रकारकी माननी पड़ेगी जैसी वह है। जब देखते हैं कि वृक्षसे बीज पैदा होता है और बीजसे वृक्षका अंकुर भी पैदा होता है तो दोनोंको कारण और दोनोंको कार्य भी माननेमें क्या हानि है? कितने ही युक्तिप्रधानवादियोंने प्रकृति और विकृति उभयात्मक पदार्थ माने हैं। इसी प्रकारसे वृक्षादिको कार्य-

कारण उभयात्मक माननेमें क्या दोष है ? प्रत्यक्ष उन्हें उसी प्रकारका बता रहा है ।

अस्तु, किसीको भी कारण मानो किन्तु यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि कारणके बिना कोई भी कार्य हो नहीं सकता । जब यह सिद्धान्त सर्वमान्य है तब सबका आदिकारण ईश्वरके माननेमें क्या दोष है ?

कितने ही कर्मवादी लोग कहते हैं कि कर्मसे सब कुछ होता है, कर्म ही सब जगत्को पैदा करनेवाला है । ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, ईश्वर भी तो कर्मके अनुसार ही व्यवस्था करता है, यदि कहो कि ईश्वर कर्मके बिना ही सबको फल-दान आदि करता है तब तो उसे भारी अन्यायी मानना पड़ेगा । और जब कर्मके अनुसार ही वह सुफल-कुफल दे सकता है, अन्यथा नहीं, तो फिर कर्म ही सब कुछ है ईश्वर कोई चीज़ नहीं है । ईष्टे असौ ईश्वरः । जो स्वतन्त्र रहकर कुछ कर सके उसे ही ईश्वर कहना उचित है । ईश्वरसे भी कर्मके बिना कुछ होता नहीं, कर्मसे ही सब कुछ होता है तब ईश्वरको मानना व्यर्थ है ।

ठीक है, कर्मसे ही सब कुछ होता है किन्तु कर्म जड है उसीको ही सब कुछ करनेवाला माननेमें दीवालको भी कर्ता मानना पड़ेगा । हम देखते हैं कि क्रियामात्र चेतन-प्रयुक्त होती है । चेतनके बिना क्रिया हो नहीं सकती इसलिये जड-स्वभाव कर्मको कर्ता मानना भूल है ।

कितने ही कहते हैं कि वायु भी तो जड है किन्तु जड वायु भी चलता-फिरता तो है फिर जडमें क्रिया नहीं होती, चेतनमें ही हो सकती है यह कैसे माना जाय ? इसलिये जगत्को पैदा करनेके लिये किसी विशिष्ट चेतनकी (ईश्वरकी) अपेक्षा नहीं है ।

इसके उत्तरमें कितने ही आस्तिक विद्वान् कहते हैं कि वायुमें भी चेतन अन्तर्हित है, कोई ऐसा स्थान और कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जहाँ चेतन न हो । ईश्वर व्यापक है अतएव उसका चैतन्यगुण भी व्यापक है । वह सर्वत्र मौजूद है अतएव जड वायुमें तत्प्रयुक्त क्रिया होती है । वास्तवमें तो चेतनका धर्म क्रिया नहीं किन्तु ज्ञान है । सत्का धर्म क्रिया है, वायु सत् है इसलिये उसमें क्रिया भी है । घड़ी सत्-पदार्थ है, एक बार उसमें चाबी लगा देनेसे वह आठ रोज या आठ प्रहर चलती रहेगी । चलना उसमें है किन्तु कौन-सा यन्त्र (साँचा) बनाकर कहाँ-कहाँ किस तरह रख देनेसे वह आठ रोज नित्य चलती रहेगी यह ज्ञान चेतनका है । वायु सत् है, उसमें क्रिया है किन्तु किस समय और कितना वायु चलना उचित है यह किसी ज्ञाताके ऊपर ही निर्भर है । अन्यथा आजतक कभीका प्रलय हो गया होता । रथ चल रहा है, चाबी दी हुई गाड़ी चल रही है, पर यदि चेतन सहायक न हो तो उनका चलना व्यवस्थित नहीं रह सकता या गति ही उत्पन्न न होगी । इसलिये जड-पदार्थको गतिशील करनेमें और उसकी गतिको व्यवस्थित रखनेमें किंवा नियमित समयमें उसकी गतिको रोकने या परिवर्तित करनेके लिये किसी एक सर्वविशिष्ट चेतनकी अपेक्षा रहती ही है ।

पश्चिमीय अनेक विद्वानोंने भी इस जगत्के निर्माण, स्थिति और इसके नाशपर बहुत-सा विचार किया है । डार्विन और हक्सले प्रभृति दार्शनिकोंके मतमें यद्यपि परस्पर नितान्त भेद है तथापि ये सब लोग 'नेबुला' से सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । इनके मतमें यह 'नेबुला' एक वाष्पीय प्रकाशमान पिण्ड है । उनका कहना है कि गोफनमें रक्खी हुई मिट्टीकी भाँति घूमते हुए नेबुलाके बिखरते हुए अवयवोंके रूपमें विविध ग्रह और उपग्रहों (चन्द्र-सूर्य-तारा प्रभृति) की सृष्टि हुई है । इनके मतमें यह नेबुला स्वतन्त्र है, उच्छृंखल है, और अनियन्त्रित है । इसके ऊपर किसीका अंकुश नहीं है । किन्तु विचार इतना ही है कि क्या यह बात सम्भव है ?

इसप्रकारसे अवयवोंके बिखरनेके लिये भी किसी विशेष प्रकारकी मिट्टीकी अपेक्षा रहती है । मिट्टीको पानीमें घोलकर बिल्कुल पतली कर ली जाय तो वह मिट्टी इस कार्यके उपयुक्त न होगी । लोटेके अन्दर जल भरकर और उसे डोरीमें बाँधकर तेजीसे घुमाया जाय तो चाहे लोटा कितना ही टेढ़ा-तिरछा होता रहे किंवा उलटा भी हो जाय तथापि उसमेंसे एक बूँद भी जल उसके बाहर नहीं निकल पाता । चिकनी मिट्टीको पानीमें खूब कड़ी सानकर और गोफनमें रखकर यदि उसे घुमावें तो उसका भी यही परिणाम होगा, अर्थात् उसका एक कण भी गोफनसे बाहर नहीं निकलेगा । हाँ, यदि कुछ रूखी कणवाली मिट्टी किसी विशेष परिमाणके साथ तपे हुए जलमें मिलाकर गोफनमें घुमायी जाय तो कदाचित् उसके कण इधर-उधर बिखर सकें और इस तरह नेबुलासे

सौरचक्रकी उत्पत्ति मान ली जाय। किन्तु फिर भी नेबुलासे सौरचक्रकी उत्पत्तिके लिये उसमें एक विशेष आकार-प्रकार, एक विशेष गति-विधि और विशेष घन-विरलभावकी अपेक्षा रहती ही है। इतने अधिक नियमित और नियत आकार-प्रकार, गति-विधिवाले सौरमण्डलकी (जिसमें सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र प्रभृति सब भगण आ जाते हैं) उत्पत्ति अनियमित, अनियत आकार-प्रकारवाले एवं अनियत गति-विधिवाले उच्छृंखल प्रकृति नेबुलासे हुई है यह माननेको साधारण बुद्धि भी तैयार नहीं है? इसलिये मानना पड़ेगा कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशके प्रत्येक कार्यमें किसी सर्वज्ञ शक्तिका हाथ अवश्य है।

विश्वके भीतर अभी भी क्रम और नियम काम कर रहे हैं, विश्वमें एक प्रकारकी स्थिरता है, विश्वके अन्दर प्रतिक्षण विविध सञ्चालन नियम और क्रमसे होते रहते हैं और यह सब बातें हैं बोधगम्य। तो क्या ऐसी वस्तुको पैदा करनेमें किसी पूर्ण विचारशक्तिकी आवश्यकता नहीं रहती? यह सब बातें ऐसी हैं जिनका उपपादन, प्रत्येक पदार्थमें अन्तर्हित किसी अनिर्वचनीय विचारशक्तिको माने विना हो ही नहीं सकता। किसी भी बड़े कार्यको सुचारुरूपसे चलानेके लिये हमें विचारशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। सारे भारतमें क्या सारे संसारमें रेलोंका जाल बिछा हुआ है। रेलोंका व्यवस्थित प्रबन्ध भी हो रहा है। डाक, पैसेंजर, एक्सप्रेस, माल और स्पेशल सब गाड़ियाँ छूटती हैं, सब रुकती हैं परन्तु कितनी व्यवस्थितिसे? किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। परन्तु उन सबका सञ्चालन, किसी विचारशील मस्तिष्कके विना तो नहीं हो रहा है। अवश्य ही किसी विचारशील शक्तिके विना रेलकी व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती। सैन्य-सञ्चालनमें भी किसी असाधारण ज्ञानशक्तिवाले महापुरुषकी आवश्यकता पड़ती है। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं भी हम कोई क्रम, नियम और व्यवस्था देखते हैं, स्वाभाविक रीतिसे इस विचारपर पहुँचते हैं कि उसके पीछे अवश्य ही कोई असाधारण विचारशक्ति कार्य कर रही है, इसी तरह जब हम देख रहे हैं कि जगत्का विकास क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है, इसका सञ्चालन क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा और इसका नाश भी क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा भी, तो फिर इसके उत्पादन, स्थिति और नाशमें किसी सर्वज्ञ महापुरुषको कारण न मानना कितनी भारी मूर्खता है?

किसी उत्तम कविकी कविताको देखकर प्रत्येक सहृदयके हृदयमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसका बनानेवाला कौन है? अब यदि कोई कह दे कि 'अजी यह तो एक रोज बड़े जोरसे आँधी चल रही थी उस समय प्रेसमें टाइप जो उड़-उड़कर चिपकने लगे तो यह कविता अपने-आप इस तरहकी बन गयी।' कहिये! ऐसे उत्तरपर ऐसा कौन सचेतन पुरुष है जिसे हँसी आये बिना रह जायगी? अवश्य ही ऐसा उत्तर देनेवाला पागल या बालक समझा जायगा। जो लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्वकी इस तरहकी रचना करनेवाला, स्वतन्त्र उच्छृंखल और अनियमित जड नेबुला है, या अन्धी प्रकृति है वे अवश्य ही विज्ञ-समाजमें परिहासके पात्र हैं। एकसे अनेक हो जानेका अनुभव और अनेकसे एक हो जानेका अनुभव, बस, इसीको विद्वान् लोग विज्ञान और ज्ञान कहते हैं। एक सुवर्ण ही अनेक प्रकारके गहने हो गया है या सब गहने ही यह पिघला हुआ सोना है। विज्ञान और ज्ञान दोनों ही इस विश्वमें फैले हुए हैं और यह स्पष्ट कह रहे हैं कि हमारे पीछे ही छुपा हुआ एक अनन्त ज्ञान-राशि बैठा है।

खाद्य-सामग्री मानव-जीवनके लिये एक अपरिहार्य वस्तु है। इस खाद्य-सामग्रीका यदि विश्लेषण और वैशेष्य भेद किया जाय तो मेरी समझमें वह विश्लेषण और वैशिष्ट्य-निरूपण एक विशाल विश्वके रूपमें परिणत हो जायगा। खाद्य-सामग्रीके षड्रस, उनमेंसे प्रत्येक रसके अन्तर्भूत सैकड़ों पदार्थ और उन सब पदार्थोंमें भी एक-एकके अनेकों भेद, इसप्रकार केवल हमारी खाद्य-सामग्रीका परिगणन भी हमारी गणित-सीमाके बाहर निकल जाता है। परन्तु इस अनन्त-खाद्य-विश्वको भी आजके वैज्ञानिक-सिद्धान्तोंने परिमित कर दिया है। अनेक प्रकारकी खाद्य-सामग्रीका विश्लेषण कर लेनेके बाद आजके वैज्ञानिक इस परिणामपर पहुँचे हैं कि उनकी सृष्टि केवल छः प्रकारके मौलिक पदार्थोंके परमाणुओंसे हुई है। कारबन (Carbon), ऑक्सीजन (Oxygen), हाइड्रोजन (Hydrogen), नाइट्रोजन (Nitrogen), सल्फर (Sulphur) और फास्फरस (Phosphorous)। यह छः तत्त्व हैं, जिनसे कि हमारे इस अनन्त खाद्य-जगत्की उत्पत्ति

इने-गिने मूल-तत्त्वोंसे किसप्रकार अनन्तकी अपरिमितकी उत्पत्ति होती है, यही तो आश्चर्य है। इससे भी विशेष आश्चर्य भारतीय दर्शनोंमें है। भारतीय दर्शन और पुराणोंमें इस अमेय, अपरिच्छेद्य विश्व-विभेद (विज्ञान) को रजस्, सत्त्व और तमस् इन तीन ही तत्त्वोंमें समेट लिया है। उनका कहना है कि इन तीन गुणोंका ही यह सब फैलाव है। आश्चर्य! आश्चर्य!! एक ही बगीचेमें लगे हुए आम, जामुन, केले, इमली, अनार, नीबू प्रभृतिके वृक्ष, सूर्य-जल-वायु-पृथ्वीसे समान सम्बन्ध रखते हुए भी किसप्रकार विभिन्न फल, फूल, पत्ते और रसोंकी सृष्टि करते हैं, क्या यह अन्ध-प्रकृतिका या रासायनिक परिवर्तनका ही परिणाम है? कभी नहीं, कभी नहीं। अचेतन प्रकृति और जड रासायनिक परिवर्तन, किसी तरह भी इस क्रमयुक्त अस्वतन्त्र, नियमित, नियत और सांकुश विश्वका उत्पादक नहीं हो सकता। तत्त्व छः मानिये या तीन, उसके विकास, वैचित्र्य और बहुभवनमें किसी एक अपरिमित ज्ञान-राशि महापुरुषकी अपेक्षा रहती ही है। जड-पदार्थोंसे अपने-आप इस सम्पूर्ण विश्वका विकास, वैचित्र्य और बहुभवन माननेवाले उतने ही परिहासके पात्र हैं कि जितना यह कहनेवाला कि प्रेसके कम्पोजीटरोंने थैलेमें अक्षरोंको भरकर खूब जोरसे देरतक हिलाया तो उनके अन्धघर्षणसे या उलट-पुलट होनेसे थैलेमें एक अमरकोषकी पुस्तक बनकर तैयार हो गयी। वास्तवमें अमरकोषका बनानेवाला कोई विद्वान् नहीं है। इसलिये जगत्के आश्चर्यमय पदार्थ सूर्यादि ग्रहगण, इसका वैचित्र्य, इसका क्रम-विकास, इसका बहुभवन और ज्ञान-विज्ञान ही—ये स्वयं कह रहे हैं कि इस विश्वका उत्पादन किसी अनन्त ज्ञानराशि, कल्याण-गुणमण्डित, निर्दोष, आनन्दमय पुरुषोत्तमसे ही हुआ है, वही इस अपार विश्वका मूल है।

जिसप्रकार विश्ववैचित्र्यादि अपने मूल पुरुषोत्तमका विश्वास कराते हैं इसी प्रकार विश्वकी बोधगम्यता भी अपने मूलमें विचारशील मस्तिष्कका विश्वास कराती है। जिस वस्तुको एक मस्तिष्क समझ सकता है, अवश्य ही उसकी उत्पत्ति भी किसी विचारशील शक्तिसे ही होनी चाहिये। उदाहरणतः आजकल प्राचीन अन्वेषण-कर्ताओंने अनेक स्थानोंपर जमीन खोदकर प्राचीन जगत्के अनेकानेक ध्वस्तावशेषोंका जीर्णोद्धार किया है। भारतीय खुदाईमें बौद्धकालीन और उससे भी प्राचीन अनेक शिलालेख जहाँ-तहाँ मिले हैं। बैबीलोनिया और मैसोपोटामियामें भी इसप्रकारकी सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं। आज हजारों वर्ष बीत जानेके बाद भी जब कि उस भाषाका जाननेवाला, जिनमें कि वह शिलालेख खुदे हुए हैं, शायद कोई शेष नहीं। किन्तु विशेषज्ञ विद्वानोंने एँड़ीसे चोटीतक अपना पसीना बहाकर उन शिलालेखोंके पढ़नेका प्रयत्न किया और उसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। उन प्राचीनतम शिलालेखोंमें शायद कोई भी ऐसा न बचा होगा जो पढ़ न लिया गया हो, इसका कारण क्या है? वास्तवमें उनकी रचनामें एक विशेषता थी और उस विशेषताकी सृष्टि किसी विचारशील मस्तिष्कसे हुई थी। इसीलिये हमारे मस्तिष्कने उसे समझ लिया। इसी प्रकार यदि विश्वकी गति-विधिका कोई अर्थ है, प्रयोजन है, यदि उसका स्वरूप किसी मस्तिष्कद्वारा समझा जा सकता है तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इसकी उत्पत्ति भी किसी अनन्त ज्ञान-भण्डार शक्तिशाली महापुरुषसे हुई है।

कितने ही मनुष्योंके मनमें यह सन्देह रहता है कि यदि ईश्वर नामक कोई व्यक्ति इस जगत्में वर्तमान है तो फिर हमें दीखता क्यों नहीं? आजतक किसीको भी उसके दर्शन नहीं हुए? नदी, पर्वत, आकाश प्रभृति पदार्थ जब जगत्में विद्यमान हैं तो सबको उनका प्रत्यक्ष हो रहा है। ईश्वर भी यदि जगत्में है तो कभी-न-कभी उसके दर्शन हो ही जाने चाहिये। हमलोगोंमें किसीको भी उसके दर्शन नहीं होते इसलिये ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है, यही मानना ठीक है।

उन लोगोंसे हमारा यह प्रश्न है कि क्या जो-जो पदार्थ विद्यमान हैं वे सब-के-सब आपको प्रत्यक्ष होते ही हैं? प्रथम तो यह कहना कि 'जो पदार्थ विद्यमान है वह दीखता ही है' बड़ी भूल है। दुनियामें बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें विद्यमान रहते भी हम नहीं देखते। प्रत्यक्ष होनेके कारणोंकी सत्ता और बाधकोंका अभाव होनेसे ही प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं। कितने ही पदार्थ वर्तमान हैं तथापि अति दूर होनेसे हम उन्हें नहीं देख सकते। कोई वस्तु अति समीप होनेसे भी नहीं दीखती, जैसे अपनी ही आँखका काजल। प्रत्यक्ष करनेकी इन्द्रियकी यथार्थता न होनेपर भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव अति सूक्ष्म कीटाणुओंके लिये और ताराओंके देखनेके लिये

वैज्ञानिकोंको एक पृथक् ही यन्त्रका आविष्कार करना पड़ा। क्या उसके पहले सूक्ष्मतम तारों और कीटाणुओंकी सत्ता ही नहीं थी ? किसी समय अपना चित्त अपने स्वरूपमें नहीं होता तो सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दीखती। अभिभवसे भी पदार्थका दर्शन नहीं होता । दिनमें भी तारे विद्यमान रहते हैं किन्तु सूर्यके तेजसे उनका अभिभव हो जाता है इसलिये उनका दर्शन नहीं होता । समान वस्तुमें मिल जानेसे भी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। अपनी अञ्जलिका जल यदि घड़ेके पानीमें मिला दिया जाय तो उस अञ्जलिके जलकी सत्ता रहते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता । दुग्धमें घृत होता ही है किन्तु वह कितने ही पदार्थोंके साथ इस तरह मिला हुआ है कि उसके होते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता ।

इसलिये यह दलील तो किसी कामकी नहीं कि 'ईश्वर है तो दीखता क्यों नहीं ? हमें दीखता नहीं इसलिये उसकी सत्ता ही नहीं ।' जिस पदार्थके दर्शनकी जो रीति है, जो मार्ग है, उस मार्ग और उस रीतिका अवलम्बन करनेसे उसका दर्शन होता है, इसी प्रकार ईश्वरका दर्शन होता है, हुआ है और हो सकता है । पवन सर्वत्र विद्यमान है किन्तु किसी समय (बहुत गर्मीके समय) हमें यह कहना पड़ता है कि 'भाई ! आज तो हवा बिल्कुल नहीं है, थोड़ा पंखा तो करो' जब पंखा करने लगे तो हवा आने लगी । इस जगह यह प्रश्न अवश्य होता है कि यह हवा कहाँसे आ गयी ? क्या पंखेमें रक्खी थी जो टपक पड़ी, या क्या पंखेने पैदा कर दी ? नहीं-नहीं, यह बात नहीं है, पञ्चमहाभूत सर्वत्र विद्यमान ही हैं, पवन भी पञ्चभूतोंमेंसे एक है अतएव सर्वत्र सदा ही अपने स्वरूपसे वर्तमान रहता है । जिस समय हमें गरमी लग रही थी उस समय भी वह विद्यमान था, किन्तु उसके प्रत्यक्ष होनेका जो मार्ग था वह किसीने ग्रहण नहीं किया था इसीलिये वह प्रकट नहीं हुआ था । जब पंखा उठाया और हिलाया तो पंखेके आघातसे वह प्रकाशित हो गया ।

माना कि ईश्वर है और दीखता भी नहीं किन्तु क्या इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है ही नहीं ? ईश्वरकी प्राप्तिके लिये जो-जो मार्ग अपने-अपने अधिकारानुसार शास्त्रमें कहे गये हैं उनका अनुसरण करो, उपायानुसार अपने मनका नियोग करो, ईश्वर दीखेगा । बड़े-बड़े विद्वान् अनुभवी महात्माओंने ज्ञान और भक्ति ये दो उपाय ईश्वर-का साक्षात्कार होनेके लिये बताये हैं, ज्ञान और भक्तिके साधनोंका ग्रहण करो, श्रम करो, मनको वशमें रक्खो, जब उसकी इच्छा होगी, दीखेगा ।

लोहा, कोयला, पत्थर, जल, अग्नि और बुद्धि तथा कृति किंवा जो-जो पदार्थ रेलके बनने और चलनेमें अपेक्षित हैं वे सब रेल बननेके दो सौ वर्ष पूर्व भी विद्यमान थे । रेलके दर्शन क्यों न हुए ? इसका उत्तर इतना ही है कि जो मार्ग उसके बनने या प्रत्यक्ष होनेका था, वह किसीके ध्यानमें नहीं आया, रेल न बनी और न दीखी, अब जब उसका निर्देशक मिल गया, रेलका प्रत्यक्ष होने लगा । इन अनित्य पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें जिस और जैसी निर्देशक और प्रत्यक्ष होनेकी रीतिकी अपेक्षा रहती है उस उपदेष्टा और वैसी ही रीतिकी नित्य पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें भी अपेक्षा रहती ही है । आकाश नित्य पदार्थ है वह सर्वत्र विद्यमान है किन्तु जहाँतक उसपरसे आवरण न हटाया जायगा और उसका निर्देशक न होगा उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा । बड़े पहाड़में विशद आकाश मौजूद है । कहीं एक जगहसे गुफाके द्वारा उसके भीतर प्रवेश किया जाता है किन्तु उसका भी मार्ग और उपदेष्टा मिलना चाहिये, जहाँतक मार्ग और निर्देशक नहीं होगा, उसका अवलोकन नहीं हो सकता ।

इसी प्रकारसे ईश्वरके प्रत्यक्ष होनेमें भी मार्ग-साधना-चरण और उपदेष्टाकी आवश्यकता है ही । किसी फलकी प्राप्तिमें यद्यपि साधनोंका निर्देश अनादि कालसे लिखित, पठित रहता है तथापि उसके उपदेष्टाकी अपेक्षा रहती ही है । वेदादि शास्त्रोंमें ईश्वर-प्राप्तिके उपाय कहे हुए हैं तथापि तन्मार्ग और तत्साधनोंके उपदेष्टाओंकी आवश्यकता रहती ही है ।

आजकल स्वतन्त्रताका वायु बड़े जोरसे बह रहा है । आजकल सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं वास्तवमें स्वतन्त्रता ही जीवमात्रका ध्येय है परन्तु वह स्वतन्त्रता कहाँ है ? सुख, स्वतन्त्रता, ज्ञान, दाक्षिण्य, दया प्रभृति गुण भी किसी-न-किसी अप्रमेय खजानेमेंसे ही आते हैं, अन्यथा—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

इस सिद्धान्तके अनुसार किसी भी पदार्थका आकस्मिक दर्शन होना ही अविश्वसनीय समझा जायगा । सुख, स्वातन्त्र्य, दया, दाक्षिण्य और ज्ञान प्रभृति गुणोंका जो पूर्ण भण्डार है वही ईश्वर है । पर उसका प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान-

मार्ग, भक्ति-मार्ग प्रभृति उपायोंके द्वारा ही हो सकता है। बाहरी थोथे प्रपञ्चोंसे नहीं।

पाठकगण ! जो लोग भारतीय आध्यात्मिक विद्यासे शून्य हैं, विदेशीय विद्या, भाषा, सभ्यता और विदेशीय भावोंसे भरे हैं, उन्हीं लोगोंकी ऐसी ऊट-पटांग बातें और विचारशक्तिकी कसौटीपर क्षणमात्र भी न ठहरनेवाले तर्क सूझा करते हैं। जो लोग दृढ़ आस्तिक हैं, जिन्होंने अपने घरको अच्छी तरह देख लिया है, जिन्हें अपने शास्त्र, अपने पूर्वज और उनके ज्ञानपर पूर्ण विश्वास है तथा जिन्हें परमात्मापर भक्ति है वे लोग तो ऐसी पापमयी बातोंको न तो अपनी जिह्वापर भी लाना चाहते हैं और न कानोंसे सुनना ही चाहते हैं। उन्हें तो वृक्षोंके प्रत्येक पत्र, फूल और डालियोंपर, आकाशमें, पृथ्वीपर, वायुमें, समुद्रमें किंवा विश्वके समस्त पदार्थोंमें ईश्वरके दर्शन हो रहे हैं!

परमात्माका अस्तित्व

(लेखक—आचार्य श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर)

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।

श्रीप्रतापचन्द्र मजूमदार जब पहले-पहल विलायत गये थे तब वहाँ अध्यापक टिण्डालसे भेंट होनेपर टिण्डाल महोदयने उनसे कहा था कि किसी समय पूर्वसे ही सत्य-धर्मका उदय हुआ था और अब दूसरी बार भी वह पूर्वसे ही उदित होगा। *

१—ऋषि-प्रदर्शित पथ—

भारतके पुण्यश्लोक ऋषियोंद्वारा ही सर्वप्रथम सत्य-धर्मका प्रचार हुआ था। इसका प्रधान कारण भारतके ऋषियोंका आत्म-प्रत्यय था। ऋषियोंने कभी आत्म-प्रत्ययका त्याग नहीं किया, प्रत्युत वे उसीका अवलम्बनकर शरीर, मन और वाणीसे अध्यात्म-तत्त्वकी खोजमें लगे रहे। इस आत्म-प्रत्ययने ही उनको बतलाया कि 'आत्मा है और वह अपनेको आप ही पहचान सकता है।' इसी आत्म-प्रत्ययके आधारपर उन्होंने आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति की और अपनेको कृतार्थ समझा। आत्म-प्रत्ययसे उन्हें यह निश्चय हो गया था कि भूमा ईश्वर है। इसी निश्चयके सहारे उन्होंने आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिमें लगकर आत्म-प्रत्यय-सिद्ध जिन अमूल्य सत्य तत्त्वोंका आविष्कार किया था, आज भी वे सब सत्य मुक्तकण्ठसे उनका यशोगान कर रहे हैं। इसके पश्चात् जब आर्यगण अपने पूर्वपुरुष ऋषियोंके प्रदर्शित पथसे विपरीत चलकर ज्यों-ज्यों आत्म-प्रत्ययकी अवहेलना करने लगे, त्यों-ही-त्यों भ्रान्त मत और उपधर्म आदिका प्रचार बढ़ने लगा। पर हमें आशा है कि हम पुनः वैदिक ऋषियोंके बतलाये हुए आत्म-प्रत्ययके सन्मार्गका अवलम्बनकर जगत्‌में फिर सत्य-धर्मका प्रचार कर सकेंगे; और अध्यापक टिण्डाल-जैसे वैज्ञानिक विद्वान्‌की उपर्युक्त उक्तिमें हमारी इसी आशाकी प्रतिध्वनि सुनायी दे रही है।

२—ब्रह्मतत्त्वमें आत्म-प्रत्यय—

अध्यात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें एकमात्र आत्म-प्रत्यय ही सर्वोत्तम उपाय है। इस आत्म-प्रत्ययके आश्रयसे आत्मा और आत्मज्ञानके सम्बन्धमें जो जाननेमें आता है, कुतर्क छोड़कर युक्तियुक्त विचार करनेपर उस सबकी सत्यता ही सिद्ध होती है। यहाँ हमें देखना है कि ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें आत्म-प्रत्यय जो कुछ बतलाता है वह सत्य है, कल्पना नहीं है।

३—ब्रह्मज्ञान आत्म-प्रत्यय-सिद्ध सत्य है—

जिसप्रकार अपनेको जान सकना आत्म-प्रत्यय-सिद्ध एक महान् सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी आत्म-प्रत्यय-सिद्ध महान् सत्य है। आत्म-प्रत्यय स्पष्ट कहता है कि ब्रह्मसत्ता सर्वापेक्षा अधिक और महत्तम सत्य है। सुतरां हमें यह कहनेका विशेष अधिकार है कि यदि ब्रह्मका वस्तुतः अस्तित्व है और यदि वह सम्पूर्ण सत्योंका मूलतम सत्य है तो हम बाह्य जगत्‌में और अन्तर्जगत्‌में सर्वत्र उसका किसी-न-किसी प्रकार परिचय अवश्य पावेंगे। दृष्टान्तरूपमें भौतिक जगत्‌के एक सत्यको ही लीजिये।

* True religion once come from the east and from the east it shall come again.



भगवान्—अग्निरूपमें

'मध्याकर्षण' (वह शक्ति है जिसके बलसे विश्व-ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण परमाणु निर्दिष्ट नियमके अनुसार एक दूसरेको आकर्षित कर रहे हैं) यह भौतिक जगत्‌का एक सुप्रतिष्ठित सत्य है। पर जिस समय पहले-पहल इसका आविष्कार हुआ था, उस समय इसको लोगोंने सत्य नहीं समझा था। उस समय यह केवल एक मत था कि सम्पूर्ण परमाणुओंमें एक नियमित आकर्षण-शक्ति है, चाहे वे परमाणु जलते हुए सूर्यमें हों, ग्रहोंमें घूम रहे हों, वायुमें बहते हों अथवा प्राणियोंके देह-यन्त्रोंमें निवास करते हों। फिर परीक्षा होते-होते यह निश्चय हो गया कि इस सत्यमें कहीं व्यतिक्रम नहीं है। तब सबने मध्याकर्षणके नियमकी सत्यताको स्वीकार कर लिया। ग्रहों और उपग्रहोंके परिभ्रमणमें, वस्तुओंके पृथ्वीपर पड़नेमें, विषुववृत्त (Equinoctial) और केन्द्रवर्ति-स्थानोंमें, भारकी तारतम्यतामें, समुद्र-गर्भमें, भारकी अधिकतामें—इसप्रकार नाना प्रकारकी घटनाओंमें मध्याकर्षणरूप सत्य-नियमका प्रसार सर्वत्र दीखने लगा। अतः जिसप्रकार इस मध्याकर्षणरूप नियमको हमलोगोंने आरम्भमें किसी प्रकार प्राप्त किया और फिर परीक्षासे इसकी सत्यताको मान लिया। इसी प्रकार हम जानते हैं या हमारी धारणा होती है (चाहे वह आत्म-प्रत्ययके अवलम्बनसे हो या अन्य किसी उपायसे, यह जाननेकी यहाँ आवश्यकता नहीं) कि ईश्वर है और वह सम्पूर्ण सत्यका मूलाधार है, वही सत्यका मूल निर्झर—परम सत्य है। अब हमें यह देखना है कि हमारी यह धारणा केवल कल्पना ही है या सत्य है। इसके लिये यह देखना होगा कि हमें जिन विषयोंका ज्ञान होता है उन सभीमें ईश्वर हैं या नहीं। जब हम ईश्वरको सब सत्योंका मूल कहते हैं तब ज्ञानके किसी एक ही अंगविशेषको देखनेसे ही काम नहीं चलेगा। ज्ञानके समस्त अंगोंमें हमें ईश्वर देखना होगा।

४–ईश्वर हमें पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हैं, इसीसे उनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि यदि हम ईश्वरको पूर्णरूपसे नहीं समझ सकते या वह जिन नियमोंसे जगत्‌का नियमन करता है, उन सब नियमोंको नहीं जान सकते, तो इससे ईश्वर है ही नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। ऐसा मानना तो सर्वथा पागलपन है। हम यह जानते हैं कि मध्याकर्षणका नियम जगत्‌में कार्य करता है और इसीलिये उसके अस्तित्वको भी स्वीकार करते हैं। परन्तु वह इसप्रकार कार्य क्यों करता है? इस नियमकी रक्षा किस तरहसे होती है? और वस्तुतः यह क्या शक्ति है? इन बातोंमें गहरा रहस्य भरा है। एक ग्रहके परमाणु दूसरे ग्रहके परमाणुओंसे हजारों कोस दूर रहकर भी बिना ही किसी जड-अवलम्बनके किसप्रकार परस्पर आकर्षण करते हैं, यह हमारी विचार-धारासे अतीत है। तो भी इस शक्तिको काम करते देख और जड-जगत्‌में उसका परिचय प्राप्तकर हम स्वीकार करते हैं कि निश्चय ही यह शक्ति है। इसी प्रकार ईश्वर इस जगत्‌का किस शक्तिके द्वारा नियमन करते हैं या उनका स्वरूप क्या है इत्यादि बातें पूर्णरूपसे समझमें न आनेपर भी यदि हमें इस विश्व-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र उनका परिचय प्राप्त हो, सभी जगह उनका हाथ दीख पड़े तो हमें बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि परमात्मा अवश्य हैं और वही सब सत्योंके मूलाधार, परम सत्य हैं।

हमारी बुद्धि उन्हें चाहे न समझ सके, उनकी 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया' चाहे सम्पूर्णरूपसे हमारी बुद्धिमें न आवे, परन्तु कनक-किरण-रञ्जित प्रभात-गगन उनकी महिमा गानेसे कभी निवृत्त नहीं होगा और न गम्भीर रात्रिमें व्याकुल-चित्त साधकके समीप अगणित ग्रह-नक्षत्र पद-पदपर नाचते हुए ईश्वरकी सत्ताका सन्देश सुनानेसे कभी विरत होंगे। समग्र मानव-समुदायके आत्मासे सर्वदा ही ब्रह्म-जिज्ञासाका महासंगीत ध्वनित होता रहेगा।

५–हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं—

पहले कहा जा चुका है कि हमें अपने ज्ञानके समस्त अंगोंमें ईश्वरका परिचय प्राप्त करना पड़ेगा। अतः हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं। साधारणतः हम आत्मज्ञानके प्रधान चार अंग देखते हैं—इच्छाशक्ति, प्रज्ञा, नीतिज्ञान और श्रद्धा।

(१) इच्छाशक्ति–हम समझते हैं कि हम इच्छा करते हैं और हम ही उस इच्छाके अनुसार कार्य भी करते हैं। इच्छानुसार किये हुए यत्न और चेष्टाओंको ही कार्यका कारण समझते हैं। क्योंकि कार्य-परम्परा हमें उस कारणका अनुसरण करती दीखती है। इसलिये हम मानते कि हमारी सफलताका असली कारण हमारी इच्छा

(२) प्रज्ञाशक्ति–प्रज्ञाकी शक्तिसे ही हम शृंखला और अशृंखलाका भेद समझ पाते हैं। इसीके द्वारा हम किसी-किसी उद्देश्य-साधनके लिये अनेकों उपायोंको काममें लानेकी चेष्टा करते हैं। इसीसे हम वस्तुओंके विभिन्न अंगोंमें सामञ्जस्यका अनुभव करते हैं। सारांश यह कि जिन सब कार्योंको ज्ञानका कार्य कहा जाता है, वे सभी इस प्रज्ञाशक्तिद्वारा सम्पादित होते हैं। इसप्रकार हम समझते हैं कि एक प्रज्ञाशक्ति हमारे अन्दर है जो भविष्यत्‌के प्रति दृष्टि रखती है एवं उद्देश्य स्थिर करने आदिका कार्य करती है।

(३) नीतिज्ञान–हमें ज्ञात है कि हमारे अन्दर न्याय और अन्यायका भाव दृढ़तासे अंकित है। न मालूम कौन चुपके-चुपके कह जाता है कि यह कर्तव्य है, इसको करना ही पड़ेगा एवं यह अकर्तव्य है, इसका परित्याग करो। कर्तव्य-पालनसे उत्पन्न होनेवाली आत्मप्रसन्नता और अकर्तव्य-कर्मके सम्पादनसे पैदा होनेवाली आत्म-ग्लानि किसीसे छिपी नहीं है। जबतक हम अपनेको मनुष्य कहेंगे, तबतक मनुष्योचित दायित्वसे हम कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिसप्रकार सत्कर्मोंकी प्रशंसा किये बिना हमसे नहीं रहा जाता, इसी प्रकार बुरे कामोंसे घृणा किये बिना भी चित्त नहीं मानता। अतः यह सिद्ध है कि हम सत्-असत्‌की विवेचनासे रहित दायित्वहीन नहीं, प्रत्युत नीतिज्ञानयुक्त और दायित्व-विशिष्ट मनुष्य हैं।

(४) श्रद्धा–हमें यह ज्ञात है कि हमारे आत्माके अन्दर एक भाव श्रद्धा है। इसीके प्रभावसे हम किसी सीमित पार्थिव-पदार्थमें किसी प्रकारसे या किसी भी ज्ञानसे सन्तुष्ट न होकर सबके आश्रयरूप, अनन्तस्वरूप परिपूर्ण परमपिताका सान्निध्य प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। यह श्रद्धा ही मानव-आत्माका उच्चतम अधिकार है। यही हमें सिखलाती है कि हम भी उस शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूपकी सन्तान हैं। इसी श्रद्धाकी सत्तासे हमारे आत्मामें ईश्वरकी पवित्र मूर्ति प्रतिफलित होती है। श्रद्धाके कारण ही हमें यह ज्ञात होता है कि हम केवल इस पृथ्वीके जीव नहीं हैं, एक लोकसे लोकान्तरमें जाकर उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त करते हुए हम प्रभुकी महिमाकी और भी अधिक उत्साहसे घोषणा कर सकते हैं।

इसप्रकार मानव-आत्माके ज्ञानको स्थूलतः चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मनुष्यमात्रमें ये चारों अंग समान स्वरूपसे ही प्रस्फुटित हों, यह बात नहीं है। उन्नत, सुसभ्य साधुके हृदयमें इनका जैसा समुज्ज्वल प्रकाश होता है, दक्षिण-अमेरिकाके असभ्य मनुष्य-हृदयमें वैसी उज्ज्वलतासे इनका प्रकाश नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञानके इन चारों अंगोंके बीज तो अवश्य ही मनुष्यमात्रके हृदयमें हैं। आदिम मानवके हृदयमें भी इस चतुर्विध ज्ञानका बीज बोया हुआ था; इसके अनेकों प्रमाण हैं। परन्तु उसके निकट इनके पूर्णावयवोंको खोजने जाना, बड़े भारी वट-वृक्षकी गुणावली जाननेके लिये वट-बीजके पास जानेके समान व्यर्थ है।

६–आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका सोपान है—

मानव-आत्मा अपने ज्ञानके चार अंगोंके द्वारा परमात्माको चार प्रकारसे उपलब्ध करता है—

(१) कारणवाद–ईश्वरको हम सर्वशक्तिमान्, इच्छामय पुरुष जानते हैं। वे इच्छासे ही इस विश्वको रचकर और नियमित बनाकर अपना मंगलमय उद्देश्य सफल कर रहे हैं। पाश्चात्य दार्शनिक ईश्वरको जगत्‌के स्रष्टा और पालनकर्ताके रूपमें स्वीकार करनेको 'कारणवाद' कहते हैं।

(२) प्रज्ञावाद–जब विश्व-शिल्पकी आड़में बुद्धिके द्वारा पता लगानेपर हम कौशलको कार्य करते देखते हैं तो हम स्वभावतः ही उस विश्व-रचयिताके ज्ञानस्वरूपका दर्शन करते हैं, तब हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह 'सर्वज्ञ' 'सर्वविद्' है, वह सम्पूर्ण घटनाओं और समस्त विषयोंको साधारणरूपसे भी जानता है एवं विशेषरूपसे भी। वही समग्र ज्ञानकी चरम सीमा है। वह प्रत्येक प्राणीके योग्य उपयुक्त व्यवस्था कर सब बातोंका विधान करता है। 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः,' इस प्रकार जगत्‌में कौशलका प्रसार देखकर ईश्वरको ज्ञानस्वरूपमें उपलब्ध करना ही पाश्चात्योंका बुद्धिवाद (Argument from design) है।

(३) नीतिवाद–जब हम अपने आत्मामें अपने ही भीतरसे सदा-सर्वदा पवित्र रहनेका एवं सुपथपर चलनेका आदेश प्राप्त करते हैं, तो हमें उस आदेशदाता परमगुरुके पवित्र 'शुद्धमपापविद्धम्' शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूपके दर्शन होते हैं। उस समय हमें ज्ञात होता है कि वह परिपूर्ण न्यायस्वरूप है। इस स्वरूपसे उसका कभी पतन नहीं होता। इस पवित्र भावसे पवित्रस्वरूप ईश्वरको उपलब्ध करनेका नाम नीतिवाद है।

(४) श्रद्धावाद—जब हम अपनेको उसकी सन्तान समझते हैं तब हमें उस ईश्वरके पिताके रूपमें दर्शन होते हैं। उस समय हम उसे परमपिता, करुणामयी माता, प्रेममय सखा आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं। उसे अनन्त प्रेमके परिपूर्ण प्रस्रवणके रूपमें अनुभव करते हैं। यही मनुष्यकी उन्नततम अवस्था है। यही अध्यात्म-धर्मकी सुप्रशस्त पत्तन-भूमि है। इस अवस्थाका क्षणिक न रहकर स्थायी हो जाना ही आत्माका चरम लक्ष्यपर पहुँच जाना है। यही अध्यात्म-योग-संसिद्धि है। इसप्रकार आध्यात्मिक भावसे ईश्वर-पितृत्व उपलब्ध करना ही श्रद्धावाद है।

हमने यह देखा कि आत्मा अपने इन चार अंगोंके अवलम्बनसे ईश्वरको चार प्रकारसे उपलब्ध करता है। कोई-कोई ऐसा कहकर मज़ाक करते हैं कि इसप्रकारकी ईश्वरोपलब्धि उसका मानवीकरण है, परन्तु हम इसको मानवीकरण नहीं कह सकते। प्रतिपक्षियोंका कहना है कि हमारे अन्दर जो चार प्रकारका ज्ञान है उस ज्ञानके साथ मिले हुए मनुष्यभावके एक बृहत् या भूमारूपकी कल्पनाको—उस बृहत् मनुष्यको हम ईश्वरका नाम दे देते हैं। पर हमारा यह कहना है कि हम ईश्वरकी बृहत् मनुष्यरूपमें कल्पना नहीं कर सकते। हमें यह पता है कि हमारे आत्मामें जो शक्तियाँ हैं, ईश्वरमें वे शक्तियाँ हमसे अनन्तगुण अधिक हैं। यह भी सम्भव है कि हमारी आत्म-शक्तियोंके अतिरिक्त और भी अनेक विभिन्न शक्तियाँ ईश्वरमें हैं। अवश्य ही उन सब शक्तियोंके विषयमें हम कुछ भी जाननेमें समर्थ नहीं हैं। हम अपने ज्ञानकी सीमाका किसी प्रकार अतिक्रमण नहीं कर सकते। देवलोकमें जानेपर यदि हमें कोई विशेष शक्ति प्राप्त होगी तब हम उस शक्तिके आधारपर एक नवीन भावसे ईश्वरका परिचय पा सकेंगे। हम अपनी इन्द्रियोंके कार्योंको जान सकते हैं, इसीलिये अन्य व्यक्तियोंके भी उन्नत या अनुन्नत इन्द्रिय-कार्योंको समझते हैं। हमारी इन्द्रियोंके अतिरिक्त कोई विशेष इन्द्रिय है, या विशेष इन्द्रियका कोई विषय है, इस बातकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे अन्दर जो भाव, वृत्ति या ज्ञान हैं, वे सभी अन्य जीवोंमें न्यूनाधिक परिमाणमें हैं। यह कल्पना हम अनायास कर सकते हैं, परन्तु हमारी ज्ञानवृत्तियोंसे अतिरिक्त भिन्न प्रकारकी ज्ञानवृत्तिवाले जीवकी धारणा हम किसी प्रकार नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ज्ञान चाहे कितनी ही उच्च सीमापर आरोहण कर जाय, वह अपनी अभिज्ञताके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानसे उपकरण संग्रह नहीं कर सकता। इसीलिये हम कहते हैं मानव-आत्मा-द्वारा ईश्वरको जानना उसका मानवीकरण करना नहीं है। ईश्वरकी जो शक्तियाँ हैं, अन्ततः उनमेंसे कुछ शक्तियाँ उस परमप्रभुने मानव-आत्मामें निहित कर दी हैं। अतएव परमात्मासे मानव-आत्माका कुछ अंशमें तो निश्चय ही वस्तुगत सादृश्य है। जब हम भूमाके प्रति मानव-आत्मा-की एक गहरी आकांक्षा देखते हैं और यह देखते हैं कि जगत्में तृष्णा, क्षुधा प्रभृति नाना प्रकारकी आकांक्षाओंकी पूर्तिके उपाय विद्यमान हैं तब फिर क्या इस आकांक्षाकी तृप्तिका कोई उपाय नहीं होगा? अधिक क्या, यह आकांक्षा ही उस भूमा पुरुषके अस्तित्वकी साक्षी देती है।

ईश्वर सब भूतोंके सुहृद्

(लेखक—श्रीअनन्तराव कोल्हटकर, बी० ए०)

इस भौतिक सुधारोंके युगमें, लोग प्रायः स्वार्थ-परायण हो रहे हैं, इन्द्रिय-भोग ही उनका एकमात्र ध्येय हो गया है। स्वार्थके लिये परपीडन करते समय, निवारण करनेवाले ईश्वरांश अन्तरात्माकी आवाजको सुनकर भी वे नहीं मानते। ईश्वरांश और स्वानुभूत अन्तरात्माको न माननेवाले लोग अदृश्य तथा अचिन्त्य परमात्माको कैसे मान सकते हैं? विश्वका पालक विश्वमंगलके हेतु तुम्हारे ही हृदयमें आ बैठा है और तुम्हें सर्वदा पापसे निवृत्त करता रहता है, उसीकी आज्ञा मानते जाओ और सच्चे सुख तथा शाश्वत कल्याणके भागी बनो।

ईश्वरमें विश्वास

जब मनुष्यको यह विश्वास हो जाता है कि ईश्वरने मेरा हाथ पकड़ लिया है, तब वह ईश्वरके इतना नजदीक पहुँच जाता है कि उसके हृदयमें आशंका या भय रहता ही नहीं। उसको प्रतीत होता है कि जगत्की कोई भी वस्तुस्थिति उसपर आघात नहीं पहुँचा सकती। 'ईश्वर सदा-सर्वदा हमारा हाथ पकड़े हमारी रक्षा कर रहे हैं' ऐसा विश्वास होनेपर जीवनमें विलक्षण निश्चिन्तता आ जाती है। और अपनेको वह शान्ति तथा शक्ति मिलती है जो अन्य किसी भी वस्तुसे नहीं मिल सकती।

—ऑरिसन मार्डन्

शक्ति और शिव

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरत्न)

मनुष्यका जीवन-स्रोत यदि अनन्त-तक प्रवाहित होता रहता, महा-मोहके द्वारा परिपूरित इस परम रमणीय जगत्‌के उद्यानमें मनुष्य यदि अमर पक्षीके समान सदा चहकता रहता, यदि वासनारूपी लुब्धिका अपने अत्यन्त लुभावने ललित जालमें जीवोंको फँसाकर फिर 'वास-ना' 'वास-ना' रूपी हृदय-विदारक सार्वभौम घोषणाको न सुनाती तो जगत्‌की जिज्ञासामें कौन लगता ? तब तो जीवनकी तरी सदा सुख-सागरके तरंगोंमें तरंगायमान होती हुई बहती चली जाती ! ओह ! जीवनके सुखकी तहमें भी मृत्युका कोमल लास्य कैसा भयानक परिणाम उपस्थित करता है जिसके स्मरणमात्रसे अखिल प्राणी काँप उठते हैं । स्रष्टाने जगत्‌रूपी कमनीय, कोमल कुसुमकलिकाके कलेवरको भाँति-भाँतिके मनो-मुग्धकारी रंगोंसे रञ्जित कर इसके अन्तर्गत अपने डंकोंसे मृत्यु-व्यथासे व्यथित करनेवाले कालकीटको आश्रय क्यों दिया ? सुख-दुःख, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मोह आदि नाना प्रकारके द्वन्द्वोंके मध्य खींचातानीमें पड़ा हुआ जगत् कैसा कोलाहल मचा रहा है ? बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य है !

इसी दृश्यसे द्रवीभूत होकर भारतके मनस्वियोंने सहस्रावधि संवत्सर पर्यन्त कष्ट सहकर महान् तपके द्वारा जीवोंको इस दुःखसे उद्धार करनेके निमित्त विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया । दिन-रात हम प्राणधारियोंको दुःखसे भय-भीत होकर उससे छुटकारा पानेके लिये चेष्टित देखते हैं, जगत्‌में दुःखकी यह व्यापकता इतने स्पष्टरूपसे दीख पड़ती है कि इसकी ओरसे निःशंक होकर जीता हुआ कोई भी दृष्टिपथमें नहीं आता । इस परम सत्यको कि—संसार दुःखोंसे आवृत है, दुःखोंसे निर्मित हो दुःखोंके द्वारा ही परिचालित हो रहा है—सभी महापुरुषोंने एक स्वरसे स्वीकार किया है । भगवान् बुद्धके चार परम सत्योंमें सर्व-प्रथम इसीकी गणना हुई है कि जीवन-जगत् दुःखमय है । भगवान् पतञ्जलिने भी यही कहा है कि—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।'

वस्तुतः जब हम दुःखसे भयभीत होकर उससे बचनेमें ही सबको संलग्न देखते हैं तो इस तथ्यको अस्वीकार कर ही कैसे सकते हैं ? अथवा इसमें सन्देह ही कैसे उपस्थित हो सकता है ? ईश्वरकृष्ण अपनी कारिकामें सांख्यतत्त्वान्वेषणके आदिभूत इस सिद्धान्तका निरूपण करते हुए कहते हैं—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥

अर्थात् 'तीनों प्रकारके दुःखोंसे संताड़ित होकर उसके नाशके कारणोंको खोजनेमें मनुष्य लगे हुए हैं, परन्तु हम उनको जिन उपायोंका प्रयोग करते हुए देखते हैं, वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनसे दुःखका अत्यन्त अभाव नहीं होता ।' जगत्‌में दुःखसे बचनेकी चेष्टामें रत हो जो मनुष्य सुखास्वादनके लिये लालायित हो रहा है, उसके लिये सावधान करते हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सती ।
अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं नो गवेस्सथ ॥

अर्थात् 'हे मनुष्य ! इस नित्यप्रति प्रज्वलित जगत्‌में सुख कहाँ और आनन्द कहाँ ? अरे ! अज्ञानान्धकारसे ढके हुए उस ज्ञान-दीपकको क्यों नहीं खोजता ?' वस्तुतः प्रज्वलित त्रितापानलसे त्राण पानेके लिये उस ज्ञान-दीपकके खोजनेकी आवश्यकता है जिसकी प्राप्तिसे भगवान्‌के उपर्युक्त संकेतके अनुसार यथार्थ सुख और आनन्दको पाकर जीव कृतार्थ हो सकता है ।

पहले कहा जा चुका है कि भारतके मनस्वियोंने एतदर्थ विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया है, अतः उनके पदोंका ही अनुसरण करते हुए यथामति संक्षेपमें अज्ञानान्धकारसे ढके ज्ञानदीपकके खोजनेकी चेष्टा की जाती है ।

मानव-जीवन जिस जगत्‌में आबद्ध हो रहा है उसे हम तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—भौतिक

जगत्, मानसिक जगत् और बौद्धिक जगत् । जीवनके समस्त क्रियाकलाप इन्हीं तीन भूमिकाओंमें होते हैं। इनके ही ज्ञानरूपी बन्धन (जिसे अविद्यान्धकार कह सकते हैं) में पड़ा हुआ मानव-जीवन दुःख अनुभव करता है।

भौतिक जगत्के ऊपर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि यह समस्त क्रीड़ा केवल तीन ही खेलाड़ियोंकी खेल है, वे हैं—द्रव्य, गुण और कर्म।* उदाहरणके लिये एक छोटे-से बीजको लीजिये; वह द्रव्य है, उसमें रूप, रंग, अंकुरित होना तथा पुष्पित, पल्लवित होना आदि गुण हैं और कर्मके द्वारा हम इन गुणोंको उसमें प्रत्यक्ष देखते हैं। पृथ्वी एक द्रव्य है, उसमें आकर्षण, उत्पादन आदि गुण हैं और दैनिक तथा वार्षिक गति (कर्म) के द्वारा वह दिन-रात तथा ऋतुओंका प्रादुर्भाव करती हुई नाना प्रकारकी ओषधियों, वनस्पतियों एवं प्रजाका उत्पादन और धारण-पोषण करती है। सारांश यह है कि भौतिक जगत्में जहाँ कहीं जो कुछ दीख पड़ता है वह द्रव्य, गुण और कर्मकी क्रीड़ाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह तीनों इसप्रकार एक साथ मिलकर खेलते हुए दीख पड़ते हैं कि इनको अलग करना असम्भव-सा जान पड़ता है।

इन तीनोंको यदि हम दार्शनिक भाषामें व्यक्त करें तो कह सकते हैं कि द्रव्य तम है, गुण सत्त्व है और कर्म रज है। सांख्य-शास्त्रमें वर्णित सत्त्व-रज-तमकी परिभाषासे इन द्रव्यादि तीनोंको मिलानेसे इनमें तनिक भी अन्तर नहीं दीख पड़ता। ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

अर्थात् 'सत्त्व लघु और प्रकाशक, रज उपष्टम्भक और चल, तथा तम भारी और आवरण डालनेवाला होता है।' अब इनसे द्रव्यादि तीनोंको मिलाइये। वृक्ष द्रव्य है, इसमें भारीपन और आवरण है; वृक्षको प्रकाशित करनेवाले गुण हैं रंग, रूप आदि, जो लघु और प्रकाशक हैं। उसमें बढ़नेका कर्म उपष्टम्भक और चल है। अतः भौतिक जगत्को दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि वह सत्त्व, रज, तमकी क्रीड़ा है।

अब मानसिक जगत्को लीजिये। मानसिक व्यापारों-पर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे उन्हें भी तीन ही प्रमुख तत्त्वोंमें हम विभाजित हुआ पाते हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसमें वेदना, स्मृति आदिका समावेश ज्ञानके अन्दर, लोभ-द्वेषादिका इच्छाके अन्दर, तथा विचार, चिन्ता, संकल्प आदिका क्रियाके अन्दर हो जाता है। मानसिक व्यापारोंका यह विश्लेषण उदाहरणद्वारा सुगमता-से समझमें आ जा सकता है। मान लीजिये वृक्षपर एक फल है। उसे चक्षुरिन्द्रियद्वारा देखकर मनमें फलके होनेका ज्ञान हुआ, तत्काल उसके प्राप्त करनेकी इच्छा (लोभ) उत्पन्न हुई और उसने कर्मेन्द्रिय (हाथ) को इसके लिये प्रेरित किया। यहाँ प्रेरणा क्रिया हुई। दूसरा उदाहरण लीजिये, रास्तेमें एक सर्पको आँखोंद्वारा देखकर मनको उसका ज्ञान हुआ, उसे घातक समझकर बचनेकी इच्छा हुई और भागनेके लिये कर्मेन्द्रिय (पैरों) को प्रेरणा करना क्रिया हुई। इसी प्रकार समस्त मानस-जगत्को हम ज्ञान, इच्छा और क्रियासे ओतप्रोत पाते हैं। परन्तु यह तीनों भी सत्त्व, रज और तमके ही रूपान्तर हैं। योगदर्शनके भाष्यमें वेदव्यासजी कहते हैं—

'चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।'

अर्थात् चित्त (मन) की तीन अवस्थाएँ हैं—प्रख्या-(प्रकाश) शील ज्ञान, प्रवृत्तिशील क्रिया और स्थिति-शील इच्छा। इन प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिको सत्त्व, रज और तमका ही पर्याय समझना चाहिये। इसप्रकार मानसिक जगत्को भी हमने सत्त्व, रज और तमकी क्रीड़ाके रूपमें देखा।

अब रहा बौद्धिक जगत्। मानस-व्यापारके उपरम होनेपर जो जीवनकी स्थिति होती है उसे हम बौद्धिक जगत्के नामसे पुकार सकते हैं, उस समय बुद्धि या तो सत् अवस्थामें रहती है या चित्, अथवा आनन्दकी अवस्थामें। इसप्रकार बौद्धिक जगत्का विश्लेषण भी तीन ही प्रमुख तत्त्वोंके अन्तर्गत होता है। सत्, चित् और

* यद्यपि अन्नंभट्टने 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः' इसप्रकार सात पदार्थोंको स्वीकार किया है तथापि सामान्य, विशेष, समवाय और अभावकी सत्ता द्रव्यादि तीनोंके नानात्वसे आपेक्षित होनेके कारण मूलतः तीन ही पदार्थ माने गये हैं।

आनन्दको हम सत्त्व, रज और तमका ही रूपान्तर समझते हैं, क्योंकि सत् प्रकाशक है, चित् चल है और आनन्द गुरुत्वपूर्ण है।

इसप्रकार व्यक्त जगत्की तीनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे यह ज्ञात हो गया कि यह समस्त लीला सत्त्व रज तमकी क्रीड़ा है। इस क्रीड़ाके देखनेके हमारे पास तीन साधन हैं—बाह्यकरण, अन्तःकरण और बुद्धि। बाह्यकरण (इन्द्रियों)से भौतिक जगत्के व्यापार, अन्तःकरण (मन) से मानसिक जगत्के व्यापार तथा बुद्धिके द्वारा बौद्धिक जगत्के व्यापारोंका बोध होता है। बुद्धिके व्यापारके परे सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्था (अर्थात् जहाँ सत्त्व, रज और तम विकृतरूपमें न होनेके कारण अव्यक्तावस्था में हैं) प्रकृति पर्देमें बैठी हुई यह सारी लीला करती जा रही है। ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

> प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
> तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥

'जिस जगत्रूपी खेलको हम द्रव्य (तम), गुण (सत्त्व) और कर्म (रज) की क्रीड़ा समझते थे वह वस्तुतः इन तीनोंकी साम्यावस्था अर्थात् प्रकृतिका खेल है। प्रकृतिरूपी नटी रंगभूमिमें आती है, 'वह मायाविनी अव्यक्तरूपमें रहकर बुद्धि (महत्)को प्रकट करती है, बुद्धिसे अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ आती हैं, पञ्चमहाभूत प्रादुर्भूत हो जाते हैं।' इसप्रकार इस विलक्षण विश्वरूप रंगभूमिको सजाकर प्रकृति नटी नृत्य करती है।*

यह तो हुआ शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकृतिका विवेचन, अब देखिये आधुनिक वैज्ञानिक इस विषयमें क्या कहते हैं। विज्ञानवादी द्रव्य (matter) के दो प्रकारके विशिष्ट गुण मानते हैं—मुख्य और गौण। मुख्य गुणोंके अन्तर्गत आकुञ्चन (distraction), प्रसरण (extension), गुरुत्व (weight) दबाव (resistance) आदिका और गौण गुणोंके अन्तर्गत रंग (colour), गन्ध (smell) आदिका समावेश होता है। इनमें मुख्य गुणोंको यदि हम खूब विचार करके देखें तो यह सभी शक्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं जिसे वैज्ञानिक stress या energy कहते हैं। और दूसरे प्रकारके गुण तो केवल इन्हीं मुख्य गुणोंके प्रभावसे हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। इसप्रकार जगत्की समस्त क्रीड़ा शक्तिकी क्रीड़ा ही समझी जा सकती है। इसी शक्तिको सांख्य प्रकृति नाम प्रदान करता है। इसीका स्तवन करता हुआ देवीभागवत कहता है—

> त्वमसि भूसलिलं पवनस्तथा
> खमपि वह्निगुणश्च तथा पुनः।
> जननि तानि पुनः करणानि च
> त्वमसि बुद्धिमनोऽप्यथहङ्कृतिः॥
> (३।५।३)

अर्थात् 'हे जननि! तू ही पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश (पञ्चभूत), तथा इनके गुण (पञ्च तन्मात्रा), दसों इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और अहङ्कार है।'

इसप्रकार क्या पिण्ड, क्या ब्रह्माण्ड सबकी रचना यह प्रकृति (शक्ति या माया) ही अव्यक्तरूपसे कर रही है। पिण्डमें गुरुत्व गुण विशिष्ट भौतिक शरीर मानसिक जगत्का आवरण करती हुई तमस्-प्रधाना सृष्टि है। इस आवरणके भीतर मनोविकारोंका समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर रज प्रधाना सृष्टि है, एवं मानस-व्यापारके परे प्रकाशशीला बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व कारण शरीर सत्त्व प्रधाना सृष्टि है। इसी प्रकार भूलोक तम प्रधान, अन्तरिक्ष रज प्रधान और द्युलोक सत्त्वप्रधान होनेके कारण ब्रह्माण्डकी सृष्टि भी ठीक पिण्डवत् ही दीख पड़ती है, इसीलिये कहा गया है कि, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' यह तो स्थूल दृष्टिकी बात हुई, सूक्ष्म दृष्टिसे भी यदि जगत्के प्रत्येक द्रव्योंपर विचार किया जाय तो सर्वत्र ही एक अखण्ड और

---

* इसी निश्चयको सर जान उडरफने अपने *Power as matter* नामक ग्रन्थमें एक Syllogism के द्वारा इसप्रकार सिद्ध किया है—

The mass of moving charge is a function of its velocity, the mass of matter is wholly the masses of the charges by which it is constituted, therefore the mass of matter is also a function of velocity Mass of things is thus dependent on its stress system, or what may be called in sanskrit shaktivyuha

भावार्थ यह है कि द्रव्याश्रित गुणोंका अस्तित्व क्रियापर निर्भर करता है और द्रव्य गुणका परिणाम है। इसलिये द्रव्य क्रियापर निर्भर करता है। इसप्रकार समस्त द्रव्य गुण-कर्म शक्ति व्यूह (Stress system) अर्थात् प्रकृतिपर अवलम्बित है।

अव्यक्तरूपसे प्रकृति (शक्ति या माया) की ही लीला दीख पड़ेगी ।

इस शक्तिके स्वरूपका अन्वेषण भी अनेक प्रकारसे किया गया है। आधुनिक विज्ञानवादी विद्युत्के धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative) दो स्वरूपोंका प्रत्यक्षकर उनके अद्भुत सम्मिश्रणसे जगत्के नाना विकारों (modifications) को चरितार्थ होते देखते हैं। धनात्मक और ऋणात्मक राशिका परम संयोग (sum total) गणित-शास्त्रके अनुसार $\{(+)+(-)\}=0$ शून्य ही होता है और शून्यका विवेचन नहीं किया जा सकता। वेदान्त भी मायाको अनिर्वचनीय ही कहकर विराम लेता है। इस-प्रकार शक्ति (प्रकृति या माया) के विषयमें आधुनिक भौतिक विज्ञानका विवेचन और वेदान्तका निश्चय एक हो जाता है।

अब यह स्पष्ट हो गया कि जगत्में यावद्विकार हो रहे हैं, सब शक्तिके खेल हैं। शक्ति ही सबको उत्पन्न करती है, वही सबका पोषण कर रही है और अन्तमें उसीके द्वारा सबका नाश भी हो रहा है। यही कारण है कि शक्तिसे भयभीत होकर उसका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये जगत्में नानारूपेण उसकी पूजा की जाती है। निबन्धके अत्यन्त बढ़ जानेके भयसे शक्तिके जिन नाना रूपोंकी पूजा अति प्राचीनकालसे जगत्के प्रायः सभी सभ्य देशोंमें होती आयी है उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। इसलिये शक्तिके विषयमें प्रयोजन और आधार-सम्बन्धी दो प्रश्नोंका उत्तर देकर ही विराम लिया जायगा।

शक्तिकी इस क्रीड़ाको देखकर सामान्यतः यह प्रश्न उठता है कि इसका प्रयोजन क्या है और यह किस आधार-पर नृत्य कर रही है? सांख्य-शास्त्र उत्तर देता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं तथा प्रवृत्तिप्रधानस्य।

अर्थात् 'प्रकृति (प्रधान) की प्रवृत्ति, इसकी समस्त लीला पुरुषके दर्शनके लिये है।' सांख्यके इस उत्तरमें दूसरे प्रश्नका भी समाधान हो जाता है, अर्थात् पुरुषके देखनेके लिये पुरुषके ही आधारपर प्रकृति (शक्ति या माया) नृत्य कर रही है।

इसप्रकार संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप समस्त क्रियाओंके कर्ताके रूपमें जिसे प्रकृति (शक्ति या माया) को हमने देखा था अब यथार्थतः वह पुरुषकी ही महिमा है, उसकी क्रीड़ा है, पुरुष पड़ा तमाशा देख रहा है और उसके इशारेपर नृत्य करती हुई प्रकृति अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार करती जा रही है।

अरे वैज्ञानिक! तू शक्तिकी क्रीड़ाके अवलोकनमें ही क्यों मुग्ध हो रहा है? देख शक्तिके तले कौन सोया हुआ मुस्करा रहा है—वह शिव है, मंगलमय है। अहा! कैसा आश्चर्य है! जो शक्ति (सती) शिवकी निन्दा सुनते ही दक्षके यज्ञमें योगाग्निद्वारा शरीर त्याग करती है, वही सुप्त शिवके वक्षःस्थलपर शिवके संकेतसे ही* इसप्रकार नृत्य कर रही है। परम आश्चर्य है!

शिवस्य निन्दया हि याऽत्यजद्वपुः स्वमेकदा।
तदङ्घ्रिपङ्कजद्वयं शवे शिवे किमद्भुतम्॥

शक्ति उसकी महिमा है वह पुरुष (शिव) इससे कहीं महान् है, यह अखिल सृष्टि तो उसका एक तुच्छ अंश है, उसका अधिकांश अमृतमय द्युलोकमें है। परन्तु बिना शक्तिके शिवका दर्शन होना दुर्लभ है; शक्तिके साधनसे, शक्तिकी कृपासे ही शिवकी प्राप्ति होती है। यही कारण है कि शिवके नाम लेनेके पहले शक्तिको स्मरण किया जाता है। सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर प्रभृति लोकविश्रुत नामोंमें सीता, राधा, गौरी, यही क्यों लक्ष्मी, सरस्वती, काली आदि समस्त शक्तिके नाम हैं और राम, कृष्ण, शंकर प्रभृति शिवके नाम हैं। इसी शिवको प्राप्त करना मानव-जीवनका परम ध्येय है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

अर्थात् यदि इस जन्ममें शिवको प्राप्त कर लिया तो ठीक है, नहीं तो महान् विनाशको प्राप्त होगा अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर त्रितापानलमें दग्ध होता रहेगा। इसलिये धीर पुरुष अखिल विश्वमें उस शिव-

* काली और शिवकी एक प्रतिकृति बहुत व्यापकरूपेण पायी जाती है। बिहार और बंगालमें जो कालीकी मूर्ति होती है, वह इसी प्रकारकी होती है। नीचे शिव सोये रहते हैं और उनके वक्षःस्थलपर काली खड़ी रहती है। यह प्रतिकृति ही इस निबन्धके शक्ति-शिव-विवेचनकी प्रतिमा है।

को विचार करके (प्राप्त करके) मरनेपर अमरत्वको प्राप्त होते हैं।

जिसकी महिमा (शक्ति) के विषयमें कहा जाता है—

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखालेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

तथा नेति नेति कहकर वेद भी जिसके वर्णनमें विराम लेते हैं, उस शिवके विषयमें कुछ न कह मादृश पामर जीव तो इसीपर सन्तोष करते हैं कि—

मूर्तिर्मृदा बिल्वदलेन पूजा
ऽप्रयाससाध्यं वदनं च वाद्यम्।
फलं तु तद्यन्मनसामिकाक्ष्य
निःस्वस्य त्रिदिवेश्वरपदं वै॥

ईश्वरके नाम पत्र

(लेखक—मुंशी श्रीकन्हैयालालजी एम० ए०, एल-एल० बी०, एडवोकेट)

एक गरीबकी झोंपड़ी थी। दर्जी चिन्तित बैठा था। उसे नया टैक्स देना था, पर खानेहीको पैसे न थे, टैक्स कहाँसे देता? अधीर होकर उसने बड़े प्रेम और श्रद्धासे ईश्वरके नाम एक पत्र लिखा और वह उसे डाकखानेमें छोड़ आया।

सार्टरोंके हाथमें जब वह पत्र गया तो वह हैरान हुए कि इसका क्या करें? पता इस तरह लिखा था—

'सेवामें ईश्वर दीनदयालुके'

लिफाफेपर टिकट लगे थे। सार्टरोंने पत्रको पोस्ट मास्टर जेनरलके पास भेज दिया, उसने उसे गवर्नरको दिया। उसमें लिखा था—

'प्यारे ईश्वर! मेरा नाम बी० काजन्सकी है। मैं दर्जीका काम करता हूँ। तू जानता ही है कि मैं बहुत-से टैक्स लग जानेके कारण कितना कर्जदार हो गया हूँ, अब और नया टैक्स लग गया है, उसको देनेके लिये मैं असमर्थ हूँ, इसलिये मेरी चीजें भी कुर्क होनेवाली हैं। अतः प्यारे भगवन्! मैं बड़ी चिन्तामें हूँ और तेरी दयाके लिये प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि तेरे सिवा मुझे और कोई शरण नहीं दे सकता। यदि तूने मेरी सहायता न की तो मैं और मेरे घरके लोग भूखों मर जायँगे। मुझे तुरन्त एक हजार लाटी (तीन सौ रुपये) भेज दे। इससे मेरे घरमेंसे चिन्ता दूर हो जायगी और फिरसे आनन्द हो जायगा।'

पत्रके नीचे दर्जीने अपना हस्ताक्षर किया था।

गवर्नरने कुछ सोचा, फिर अपने सेक्रेटरीको बुलाकर यह उत्तर लिखवा दिया—

'मिस्टर बी० काजन्सकी! मुझे तुम्हारा पत्र मिला। इस पत्रके साथ पाँच सौ लाटीकी हुण्डी भेज रहा हूँ। मैं आशा करता हूँ कि तुम अपने देशके प्रेमी और एक सदाचारी पुरुष बनोगे।'

पत्र गवर्नरके लेटर पेपरपर भेजा गया था और उसके महलका पता उसपर छपा था।

कुछ दिन बाद धन्यवादका पत्र गवर्नरके महलके पतेसे पहुँचा। उसमें यह लिखा था—

'प्यारे ईश्वर! मैं तेरी दयाके लिये, जो तूने एक गरीब दर्जीकी दुर्दशा देखकर की, अनेकों बार धन्यवाद देता हूँ। सचमुच तू नेकी और प्रेमका ईश्वर है। हाँ, एक प्रार्थना और है कि अगर तू कभी फिर मेरी सहायता करे और रुपये भेजे तो गवर्नरके हाथों न भेजना। वहाँके लोग हर रकमका आधा फौजके खर्चके लिये ले लेते हैं।'*

---

* यूरोपकी एक सच्ची घटना।

ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

(१)

पता नहीं, किस प्रयत्नसे प्राणोंका पोषण होता आ रहा था । व्यापक अन्धकारके अन्दर-ही-अन्दर अगणित योनि, आयु और अवस्थाओंके बिता देनेपर किसी प्रकारके प्रकाशकर पदार्थ (ज्ञान या सूर्य) का आभास हुआ । उससे अश्रुत और अदृष्टपूर्व अनेकों प्रकारके लोक-आलोक, वन-उपवन, प्राणी-पदार्थ और नानाविध पदार्थ यथाक्रम दीख पड़े ।

उनमें इन्द्रकी उपलब्धिसे शक्तिका सञ्चार हुआ, वरुणकी प्राप्तिसे बड़ा सहारा मिला, अग्निकी आराधनासे अनेकों काम हो गये और अन्तमें मरुत्‌के मिश्रणने सब सन्ताप मिटा दिये । मालूम हुआ कि और भी अनेकों प्रकारके उपधारणीय पदार्थ प्रस्तुत हैं । उनके अनुभवसे विचार हुआ कि ये सब क्या हैं ? कहाँसे आये हैं ? और इनका दाता, प्रणेता या निर्माता कौन है ?

सम्भव है ये सब उस अन्धी बुढ़ियाके खेल हैं जिसका पंगु पति उसके कन्धोंपर चढ़ा हुआ उससे यथेच्छ काम करवाता है । और आँखोंवाले उसे विश्वभरको बनाने या बिगाड़नेवाली 'आयुर्बलकरा शुभा' मानते हैं । अन्धीके ऐसे विलक्षण काम और पंगुके ऐसे उत्कृष्ट अधिकार ! बड़ी ही विचित्र बात है ! समझमें नहीं आता कि असली तत्त्व क्या है ?

लोग कहते हैं कि इन्द्र, अग्नि, मरुद्‌गण, देव-दानव, मानवगण, पृथ्वी, आकाश, लोकगण और पशु-पक्षी-कीटाणुगण आदि प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ हैं । संसारमें चर-अचर और दृश्य-अदृश्य जो कुछ विद्यमान हैं, प्रकृतिकी विभूति हैं । सारे संसारको सावयव बिगाड़ देना या बना देना प्रकृतिका स्वभाव है ।

संसार प्रकृतिकी विकृतिसे बनता है और उसकी सत्कृतिसे बिगड़ता है । सृष्टिकी रचना प्रकृतिका विकार है और महाप्रलय उसका सुस्वास्थ्य या शयन है । यह विकार या सुस्वास्थ्य किसी एक हदतक होते हैं और एकके पीछे दूसरा यथाक्रम होते रहते हैं ।

भू-पृष्ठके किसी भागको जलप्लावित रखना, किसीको जलती हुई बालूका भूटान बना देना, सूखे और रेतीले भू-भागोंको हरे वृक्षोंसे वेष्टित रखना, या जनशून्य जंगलोंको प्राणी और पदार्थोंसे व्याप्त करना, अथवा अमित व्याप्तिको मिटाकर उनको शून्य बना देना, इत्यादि सब काम प्रकृतिके ही हैं ।

संसारमें जितने प्रकारके प्राणी-पदार्थ, उद्भव-विनाश, शुष्क-आर्द्र, शीत-उष्ण, जन्म-मरण और ऋतु-परिवर्तन आदि जो कुछ हैं ये सब प्रकृति-साम्राज्यके प्रयत्न या विधानमात्र हैं । इन्हीं विधानोंसे विश्वको सर्दी, गरमी, वर्षा, वन-बाग-बगीचे, खेती-बारी, गन्ध-सुगन्ध, आँधी-तूफान, निस्तब्धता और पञ्चभूत-समुद्‌भूत, उपद्रव या शान्ति आदिका अनुभव होता है इसीलिये पूर्वाचार्योंने प्रकृतिको दैवी शक्ति, महामाया, महेश्वरी, जगदम्बा, विश्वेश्वरी, जगद्धात्री, स्थिति-संहार-कारिणी, निद्रा, भगवती, नटी, नर्तकी, नवयौवना और नानामुखी कहा है । ऐसी अवस्थामें सन्देह होता है कि फिर ईश्वर कौन है ?

(२)

उक्त सन्देहकी निवृत्तिके लिये कहा जा सकता है कि किसी भी देश, जाति, समुदाय या अवस्थाके प्रायः सभी मनुष्य अपनी-अपनी भावना या धारणासे प्रेरित होकर इष्टसिद्धि या अनिष्ट-सम्भावना आदिमें 'ईश्वर करे ऐसा हो' 'ईश्वर करे ऐसा न हो' 'ईश्वरने ही ऐसा किया है' या 'ईश्वरने ऐसा नहीं किया' इत्यादि वाक्य उच्चारण किया करते हैं । क्यों किया करते हैं ? इसलिये कि उस समय उनकी अन्तरात्मामें प्रकृतिका प्रभाव फीका पड़ जाता है और वे किसी अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तस्वरूप, अदृष्ट सत्ता या सत्त्वमें तन्मय हो जाते हैं । तब स्वतः वैसा उच्चारण होता है और उस उच्चारणके अमिट और सत्यसम्भव सत्त्वपर वे विश्वास रखते हैं । ऐसा करनेपर भी उनको ईश्वरका तादृश रूप या तदाभास नहीं होता परन्तु वे मान लेते हैं कि यह ईश्वरने ही किया है या ईश्वर ही ऐसा करेगा, अथवा यही ईश्वर है । ऐसी धारणा उनकी उसी प्रकारकी होती है जिसप्रकार किसीने दूध नहीं देखा

हो किन्तु दहीके मिलनेपर मान लेता हो कि यह दूधका सत्त्व है।

परन्तु इसप्रकार इस रूपमें ईश्वरको मान लेनेवाले मनुष्य अत्यल्प होते हैं। जिन्होंने इष्टलाभ या आपत्ति-निवारण अथवा प्रकृतिविरुद्ध सम्भवका अनुभव किया हो अथवा करते रहते हों, वे किसी अवसरपर या किसी अंशमें ईश्वरको या उसकी सत्ताको मान लेते हैं किन्तु जो लोग इसप्रकारके कल्पनागत इष्टसिद्धि अथवा अनिष्ट-निरसन मात्रसे मनमाने रूपमें की गयी कल्पनाओंको सहज ही ईश्वर नहीं मानते। वे कब मानते हैं? जब कि प्रकृतिकी सामर्थ्यके समस्त कार्य असफल हुए चले जा रहे हों और उसके चाहकर विनष्ट किये हुए सकल काम सफल हुए चले जा रहे हों। तब वे विवश होकर ईश्वरकी सम्भावना मान लेते हैं। कुछ उदाहरण लीजिये—

प्रकृतिका नियम है कि अग्निमें पड़े हुए प्राणी या पदार्थ तत्काल या कुछ कालमें गल जाते, पिघल जाते या भस्म हो जाते हैं; पानीमें डूबे हुए उतराते, गल जाते या विनष्ट हो जाते हैं; पृथ्वीमें दबे हुए सड़ जाते, मर जाते या उग आते हैं; हवामें उड़े हुए सूख जाते, बिखर जाते या हलके हो जाते हैं और आकाशसे गिरे हुए गड़ जाते, टूट जाते या विलुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार महाविषके खानेसे मनुष्य मर जाते हैं; ग्राहादिके ग्रसनसे गजादि ग्रस्त हो जाते हैं; बाज आदिके आक्रमणसे क्षुद्र पक्षी ग्रस्त हो जाते हैं, सिंहादि हिंसकोंके दाढ़में गये हुए गौ आदिका बचना कठिन हो जाता है। खड्ग-प्रहारसे गलविच्छेद होकर रहता है, सुतीक्ष्ण बाणके सद्य प्रहारसे शश-शावक मर ही जाते हैं और तोप या बन्दूक आदिसे कोई भी प्राणी गत-प्राण हुए बिना नहीं रह सकते।

कदाचित् नाश्य-नाशक, भेद्य-भेदक और भक्ष्य-भक्षक आदिके यथायोग्य योग होनेपर भी नाश्यका नाश न हो, भेद्यका भेदन नहीं किया जाय या भक्ष्यका भक्षण न हो सके तो मानना पड़ता है कि प्रकृतिका पराभव नहीं, किन्तु प्रकृतिप्रणेता ईश्वरकी सत्ताका प्रभाव है। ऐसे ही अवसरों, कारणों या घटनाओंके संघटित होनेपर ईश्वरमें आस्था रखनेवाले कहा करते हैं कि 'यह ईश्वरने ही किया है' अथवा 'ईश्वर ही ऐसा कर सकता है।'

(३)

कुम्हारके आवाँमें आग लगायी गयी है। उसकी अनन्त ज्वालाओंने मिट्टीके बर्तनोंको लाल बना दिया है। और आग शीतल होनेपर बीचके घड़ेमें बिल्लीके बच्चे भाग गये हैं। सैकड़ों घरोंके छान और छप्पर जल गये हैं। उनके अन्दर अनेकों जीव मय सामानके खाक हो गये हैं। और एक सुकोमल शिशु स्वस्थ सोया हुआ मिलता है। तीन मञ्जिलके ऊँचे मकानसे अबोध बालक गिर गया है, आँगणके कठोर पत्थरोंपर पड़कर पहले कई वस्तुएँ विनष्ट हुई हैं और उन्हीं पत्थरोंपर पड़कर वह बालक हँसी-खुशी उठ बैठा है। पचास फीट ऊँची वृक्ष-शाखासे एक नित्यका अभ्यासी जल-कुण्डमें कई बार कूदा है और एक बार वह उसके तटवर्ती तृणमें अटककर मर गया है। बरसाती बाढ़के आकस्मिक आक्रमणसे मार्ग-मध्यके प्रायः सब गाँव बह गये हैं और बगलका एक झोंपड़ा बच गया है तथा अति दूरका एक सुदृढ़ महल पानीकी फटकारसे टूट गया है।

प्यासा गज जलाशयमें गया है, वहाँ ग्राहने उसे ग्रस लिया है, प्राण जानेमें सूँड़का अग्र मात्र शेष है। ऐसी अवस्थामें गजके पदतलसे ग्राहतन्तु टूट गया है और गज बच गया है। कौरवोंकी सभामें पाण्डवोंके सामने लज्जाशीला द्रौपदीका चीर उतारा जाता है, नग्न होनेमें दस गज चीरका कुछ ही अंश शेष रहा है और अन्तरात्माके आग्रहसे वह अनन्त हो गया है।

महाभारतके युद्धोद्यत वीरोंसे व्याप्त भूमिमें गर्भिणी टिटहरी आ गयी है। इस भूमिपर अगणित वीर और उनके रथ, घोड़े, हाथी आदि हताहत होकर ढेर हो गये हैं। उन्हींके बीचमें गज-घण्टाके नीचे टिटहरी-शावक पोषित हुए हैं। अति विशाल लौह-स्तम्भको अग्निके आतपसे लाल किया गया है। उसी स्तम्भसे चिपक जानेके लिये बालक प्रह्लादको आज्ञा हुई है। उसी क्षण लौह-स्तम्भपर अगणित चींटियाँ विचरण करती हुई देखी गयी हैं और भक्त प्रह्लाद हँसी-खुशी उसके चिपक गया है।

इसप्रकारके नये और पुराने अगणित उदाहरण शास्त्रोंमें और संसारमें सुप्रसिद्ध हैं। इस क्षुद्रकाय लेखमें उनका दिग्दर्शन भी नहीं हो सकता। फिर भी कुछ उदाहरण इस जमानेके और दिये जाते हैं।

(४)

पिछली साल पैंतीस आदमी नावमें बैठकर यमुनाके परली पार गये थे। रास्तेमें मेह-आँधी आयी और बिजली गिरी। सबके बीचमेंसे उठकर एक आदमी मल्लाहके पास

पहुँचनेपर बिजलीसे मर गया। दूसरी यात्रामें पूरे पचास आदमी नावसे गये। तूफानके वेगसे समूची नाव उलट गयी और एकके सिवा सब मर गये।

सुरम्य महलके सुप्रकाशित प्रांगणमें सुश्वेत शय्यापर श्यामसिंह सोये हुए थे और कितने ही संरक्षकोंके सान्निध्यमें उनको काला सर्प काट गया था। एक फूटे घरकी टूटी खटियापर अबोध शिशु सो रहा था, उसके समीप एक साँप भी था और बच्चेके उछल-कूदसे वह दबता-भिंचता या आकुञ्चित भी होता था परन्तु फिर भी साँपने शिशुको काटा नहीं था।

मीराके मारनेके लिये सोनेके प्यालेमें हलाहल भेजा गया था। वह उसे ईश्वरका चरणोदक मानकर पी गयी थी और प्रसन्नताके साथ जीवित भी रही थी।

(५)

कहाँतक कहें, ईश्वरकी सत्ताका आभास करानेवाली अनेकों कथाएँ हैं। उनको सुनने, देखने और ध्यानमें लानेसे ईश्वरका होना माना जाता है। कठिनाई इस बातकी है कि उसका स्वरूप समझमें नहीं आता। शास्त्रोंमें उसको अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अनादि, निरञ्जन, निराकार और ज्योतिःस्वरूप आदि बतलाया है। फिर सामान्य मनुष्य कैसे जान सकते हैं कि ईश्वर ऐसा है?

त्रिकालदर्शी महर्षियोंने चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी और पदार्थमें ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है और जन-समुदायके उद्धारके लिये उन्होंने कई देवी-देवताओंको ईश्वरतुल्य माना है। साथ ही ईश्वरके भी अनेकों अवतार बतलाये हैं। जो लोग ईश्वरके स्वरूपको समझ नहीं सकते किन्तु सृष्टिमें ईश्वरकी सत्ता मानते हैं, उनके ध्यानके लिये भगवान्‌के स्वरूप और आकार-प्रकार भी निश्चित किये हैं।

अधिकांशने अग्नि, वायु, वरुण और सूर्यादिको ईश्वरके अंश बतलाया है। विशेषकर सूर्यको ईश्वर माननेमें किसीने संकोच नहीं किया है। विचारकर देखा जाय तो अनन्त, अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य, निरञ्जन, निराकार या ज्योतिःस्वरूप आदिका आभास सूर्यमें प्रत्यक्ष आभासित होता है। अतः सूर्यको ईश्वरका प्रतिनिधि माननेमें कोई आपत्ति नहीं किन्तु बहुत दिनोंतक ईश्वरका और ईश्वरतुल्य सूर्यका स्मरण किया जाय एवं इनके स्वरूपका विचार किया जाय तो बोध हो सकता है कि ईश्वरके दरबारमें ऐसे अनेकों सूर्य और अनेकों सृष्टि हैं।

कदाचित् कायदेके साथ कल्पना की जाय और सूक्ष्म दृष्टिसे ध्यान दिया जाय तो ईश्वरका और उनकी सावयव सृष्टिका अथवा सूर्यादिका सम्पूर्ण समावेश या समाधान हमारे शरीरके अन्दर हो जाता है। फिर क्या चाहिये? यही कि वैसी धी-धारणा और विचार हों।

सिरजनहार साईं

साईं किया सो ह्वै रहा जो कुछ करै सो होइ।
करता करै सो होत है काहे कलपै कोइ॥ १॥
सोइ हमारा साइयाँ जो सबका पूरणहार।
दादू जीवन मरणका जाके हाथ विचार॥ २॥
सर्ग भवन पाताल मधि आदि अन्त सब सिष्ट।
सिरजि सबन कौं देत है सोई हमारा इष्ट॥ ३॥
मनसा वाचा कर्मणा साहिबका वेसास।
सेवग सिरजनहारका करै कौनकी आस॥ ४॥
सिरजनहारा सबनका ऐसा है समरत्थ।
सोई सेवग ह्वै रहा, जहँ सकल पसारे हत्थ॥ ५॥
धनि-धनि साहिब तू बड़ा, कौन अनूपम रीति।
सकल लोक सिर साइयाँ, ह्वै करि रहा अतीत॥ ६॥
हूँ बलिहारी सुरतकी सबकी करै सँभाल।
कीड़ी कुञ्जर पलकमें करता है प्रतिपाल॥ ७॥ दादूदयालजी

अगर है शौक मिलनेका तो हरदम लौ लगाये जा ॥

ठीक है, निरन्तर नाम-जपके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार अवश्यम्भावी है। यद्यपि भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों रूप अगम हैं, तथापि नाम जपनेवालोंको दोनोंका ज्ञान सुगमतासे हो जाता है। ऐसा ही सन्तोंका अनुभव है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

देखिय रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नामबिहीना ॥
नाम रूप अति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ॥
अगुण सगुण बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लव लाये। होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये ॥
नाम जीह जपि जागहिं योगी। बिरति बिरंचि प्रपंच वियोगी ॥
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
शिव ब्रह्मादिक शुक मुनि योगी। नाम प्रताप ब्रह्म-रस भोगी ॥
उलटा नाम जपा जग जाना। बाल्मीक भये ब्रह्म समाना ॥
उभय अगम युग सुगम नाम ते। कहहुँ नाम बड ब्रह्मराम ते ॥
कहँ लगि बरनौं नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई ॥

महात्मा कबीरदासजी कहते हैं—

सूर मिलावे चन्दको चन्द मिलवै सूर।
याहि भेद जिन जानियाँ ताहि मिला गुरु पर ॥
जा पवनपर चन्दा बसे ताहि न ग्रासे काल।
जो यह भेदै जानहीं सोही जौहरी लाल ॥
पानीमें पावक बसे अति घन बरसे मेह।
तीनो अधर अकास है कौन पवनको छेह ॥
बलिहारी उस नामकी जिनकी दयासे लीन्ह।
जो यह भेद बतावही सीस अरपि तेहि दीन्ह ॥
श्वास श्वासपर सुमिरन लागा। कहे कबीर विषय सब भागा ॥

गुरु नानक साहेब कहते हैं—

अहम उपदेश सयम इन्द्रियनो जापसो अजपा जापे।
सदा रहे कचन सी काया काल न कबहूँ व्यापे ॥

दरिया साहेब कहते हैं—

नामहि जपे शून्य मन धरे। पाँचों इन्द्रिय बसम करे ॥
ब्रह्म अग्निमें होमे काया। ताका विष्णु पखारे पाया ॥

नाम-जपकी अनन्त महिमा है। इसमें जो जितना ही गहरा पैठता है, उतना ही अधिक उसे आनन्द मिलता है। किनारे ही बैठकर कोई रत्न चाहे तो कहाँसे पा सकता है। कबीर साहेबने ठीक ही कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।
हौं बौरी बूडत डरी रही किनारे बैठ ॥

जीवन-वैचित्र्य

जीवनकी तरल-तरङ्गें, नित उठती हैं लहराती,
पर खुद ही टकराकर हैं होतीं विनष्ट अज्ञानी।१।

यह जीवन-लीला-माया है इसकी चलन अनोखी,
बस सदन खेल है इसका, क्रन्दन है अकथ कहानी।२।

इस दग्ध क्षुब्ध सागरमें, नीरव उठती हैं लहरें,
बस मूक वेदनाकी है, उनमें वह एक निशानी।३।

रविकी प्रकाशमय किरणें सन्देश सदा जो लातीं,
हम नित्य भूल जाते हैं, यह भीषण-प्रथा पुरानी।४।

रजनीकी नीरवतामें भी एक अजब विनिमय है,
अद्वैत रङ्गकी, उसने प्राङ्गणमें चादर तानी।५।

यह 'अहम्' भावना ही तो, 'तू-तू मैं-मैं' सिखलाती,
बस द्वैत-राज्यमें तब तो, वह करती है मनमानी।६।

जिसने भी परम पिताका, दर्शन है सबमें पाया,
वह मुक्त हुआ मायासे औ बना आत्म-विज्ञानी।७।

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

ईश्वरीय सत्ता

(लेखक—श्रीपापाजी महाराज)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

विश्वकी दृश्य-अदृश्य सभी वस्तुओंमें ईश्वरका निवास है। अनन्त ब्रह्माण्ड-का सञ्चालन भगवान्‌की मायाद्वारा हो रहा है । प्रत्येक गतिमें, प्रत्येक स्पन्दनमें मायाकी क्रीड़ा हो रही है । राग-द्वेष मायाके प्रधान स्वरूप हैं । राग-द्वेषके वशीभूत होकर हम सभी सत्य चिन्तनसे पृथक् हो गये हैं । इस पृथक्‌तामें मायाकी अन्तरंग-लीला काम कर रही है । यही कारण है कि ईश्वरके अस्तित्व एवं श्रीकृष्णके प्रेम-तत्त्वमें अविश्वासकी लहर उठ रही है ।

प्रपञ्चके मानी हैं पञ्च महाभूतोंका संयोग । इस संयोगमें, इस प्रपञ्चके प्राबल्यमें ईश्वर-तत्त्वका गम्भीर बोध दूर हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'मम माया दुरत्यया' मेरी माया बड़ी दुरत्यय है । इसके चक्करमें पड़कर सभी प्राणी पिस रहे हैं । विश्वके प्रत्येक पदार्थमें जो संघात हो रहा है वह मायाका स्थूल खेल है । तारों एवं नक्षत्रोंके सञ्चालनमें जो क्रिया हो रही है वह मायाकी अन्तरंग-लीला है । आधुनिक संसारमें, भाई-भाईमें, पिता-पुत्रमें, पति-पत्नीमें, शत्रु-मित्रमें जो संघात चल रहा है वह स्वार्थका स्थूल स्वरूप है । मायानिहित कार्योंमें स्पष्ट भावसे यही दृष्टिगोचर हो रहा है । अनादि-कालसे राग-द्वेषके वशीभूत होकर एक प्राणी दूसरे प्राणीको निगल जानेके उद्देश्यसे युद्ध करता आ रहा है । साधनाका लक्ष्य ईश्वर-तत्त्व एवं श्रीकृष्णके महा प्रेम-तत्त्वको जानना है । हमारी प्रत्येक चेष्टामें यही उद्देश्य निहित है । प्रकृति-जगत्‌के समस्त प्राणी अनादि विराट्‌से निकलकर अनन्त विस्तारकी ओर जा रहे हैं । जिन्होंने यत्किञ्चित् साधनमें सफलता प्राप्त की है उन्होंने यही अनुभव किया है कि ईश्वर सब भूतोंमें निवास कर रहा है । भगवद्दर्शन एवं आत्मसम्मेलनमें कोई भी अन्तर नहीं है । आत्म-दर्शनकी प्रणाली ईश्वर-दर्शनकी प्रणाली है । ईश्वरीय बोध मनुष्यको चुप कर देता है । इसी तरह प्रेम-तत्त्वके गम्भीर प्रदेशमें घुसनेवाले लोगोंने अपने आपको खोकर एक अनिर्वचनीय आनन्दकी उपलब्धि की है । किन्तु निषेधात्मक अवस्थामें मनुष्य अपने निर्दिष्ट साधन-पथसे पृथक् होकर नास्तिकताके वायुमण्डलमें प्रवेश कर जाता है । उस वक्त उसे ईश्वरीय बोध और ईश्वरकी व्यापकतामें नास्तिकताकी प्रतीति होने लगती है । उस समय उसकी सारी शक्तियाँ नास्तिकताके परमाणुओंसे ओतप्रोत हो जाती हैं । वह बहुत दिनोंतक नास्तिकताके घोर कुण्डमें पड़ा हुआ अहंभावके साथ खेल करता रहता है । भगवान् उसकी स्थिति बतलाते हुए कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गीता १६ । १३–१६)

सचमुच आस्तिकतासे रहित जीवन अन्धकारमय है । भगवान् कहते हैं—'ते पतन्ति नरकेऽशुचौ' वे प्राणी महाघोर नरक-कुण्डमें पतित हो जाते हैं । ऐसे प्राणियोंका कल्याण नहीं । जब वे धीरे-धीरे अपने प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अपने नरक-कुण्डके जीवनकी समाप्ति कर पाते हैं तब ईश्वरीय कृपाका अनुभव करने लगते हैं ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।

संसारके वे प्राणी जो रात-दिन कामिनी-कांचनके चक्करमें पड़े हुए हैं, ईश्वरीय महातत्त्वको नहीं जान सकते, किन्तु जिनके जीवनमें दिव्य नेत्र हैं वे ही उस महातत्त्वको देख और समझ सकते हैं । भगवान् कहते हैं—

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

यथार्थतः विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरीय सत्ता निवास कर रही है, ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी वस्तु नहीं है ।

अस्ति, भाति एवं प्रीतिसे रहित कोई भी वस्तु नहीं है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' प्रत्येक वस्तुमें निहित है। प्रकृति-जगत्के महाव्यापारमें ये तीनों अव्यक्तरूपसे निवास करते हैं। इस स्थलमें तीनोंकी अव्यक्तावस्थाका अर्थ पाठक यह न लगायें कि तीनोंका विशाल अस्तित्व सीमित हो जाता है और उनका स्वरूप अंशतः परिमित हो जाता है। किन्तु प्रकृति-जगत्के विराट् व्यापारमें भौतिक दृष्टिसे इनका अस्तित्व स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। ज्यों ही मनुष्य मायाकी क्रीडासे अलग होकर तात्त्विक विषयपर दृष्टि डालता है त्यों ही उसे 'सूत्रे मणिगणा इव' इस वाक्यका यथार्थ बोध हो जाता है। महामाया प्रकृतिके विराट् खेलमें समस्त प्राणी मोहित हो रहे हैं। प्रकृति समस्त प्राणियोंको कन्दुककी भाँति नीचे-ऊपर फेंकनेमें व्यस्त है। जब ईश्वरीय कृपा होती है तभी प्रकृतिके हाथसे प्राणीका छुटकारा होता है। जो व्यक्ति ईश्वरीय बोध प्राप्त करना चाहता है उसे प्रकृति-जगत्से छुटकारा प्राप्त करना होगा। छुटकारा प्राप्त करनेके लिये ईश्वरीय कृपाकी याचना करनी पड़ेगी। अपने अहंकी हत्या करनी होगी। अहंका नाश होते ही ईश्वरीय कृपाकी सुनहरी किरणें दृष्टिगोचर होने लगेंगी। इन दिव्य किरणोंके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सारी अन्धता मिट जायगी। फिर वह अपने हृदयमें ईश्वरकी महा मञ्जुल मूर्तिका दर्शन करने लगेगा इसीलिये तो भगवान् कहते हैं—'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

ॐ शान्तिः

ईश्वर निराकार और साकार दोनों है

(लेखक—स्वामी श्रीहरिनामदासजी उदासीन)

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्त ईश्वरः।

अर्थात् 'जो करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें समर्थ हो वही ईश्वर है।' ईश्वरका यह लक्षण निराकार और साकार दोनोंमें वर्तता है। ईश्वर एक है, परन्तु वादभेदसे दो प्रकारका माना जाता है। उसे निराकारवादी निराकार मानते हैं और साकारवादी निराकारके साथ उसे साकार भी मानते हैं। जो निराकारवादी हैं वह निराकार-सत्तामें ही पदार्थोंके प्रति कर्तृत्व, अकर्तृत्व तथा अन्यथा कर्तृत्व-शक्ति मानते हैं।

साकारवादी निराकारमें कुछ नहीं मानते। वह निराकार ब्रह्मको 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' अर्थात् आकाशके समान सबमें स्थित और व्यापक होकर सबसे निर्लेप रहनेवाला तथा नित्य मानते हैं। साकारवादियोंमें साकार ब्रह्मको विभिन्नरूपसे माना जाता है; कोई तो उसे ब्रह्माण्ड (विराट्) रूपसे मानता है, जैसा कि—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

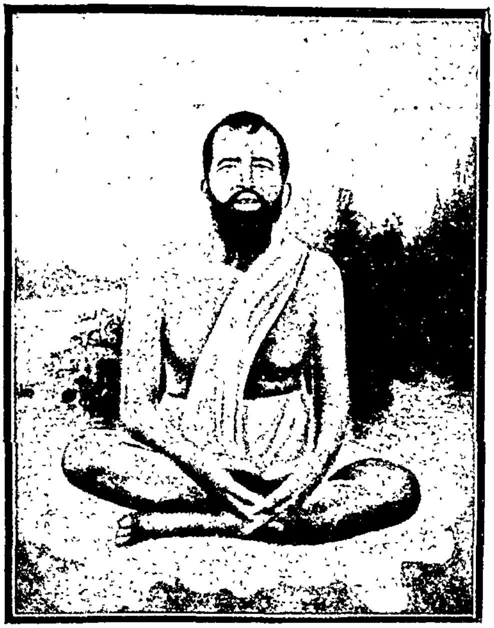
—श्रुतिके इस मन्त्रमें व्यक्त किया गया है। कोई साकारवादी मायाद्वारा ईश्वरकी कल्पना करते हैं अर्थात् ब्रह्मका मायामें पड़ा हुआ आभास ही ईश्वर है। वे कहते हैं—

बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पुरुषाणि कल्पितम्।
जीवत्वमीश्वरत्वञ्च तथा ब्रह्मणि कल्पितम्॥

तात्पर्य यह है कि एक ही चेतन (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब मायामें पड़ता है तो वह ईश्वर होता है और वही प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें पड़ता है तो वह जीव होता है। इसप्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद निराकार और साकार दोनों ईश्वरको मानता है।

जगत्का कर्ता कुछ लोग साक्षात् निराकारको मानते हैं और कुछ लोग परम्पराद्वारा मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त लक्षण दोनोंमें घटनेके कारण दोनों ही ईश्वरके वाचक हैं। ईश्वरका स्वरूप व्यापक और नित्य है और यही परम तत्त्व है, इसीके कारण ईश्वर सर्वशक्तिमान् होता हुआ अनादि है।

ईश्वर स्वयं अतर्क्य है। अज्ञानियोंकी तर्कनासे तर्क-द्वारा वस्तुकी सिद्धिकर प्रत्यक्षको पुनः प्रत्यक्ष कराया जाता है। ईश्वरके अस्ति, भाति और प्रियरूप होनेसे उसकी सत्ता अनादिरूपा है जो निराकार और साकार दोनोंमें घटती है। इसलिये ईश्वरको निराकार और साकार दोनों मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।



रामकृष्ण परमहंस



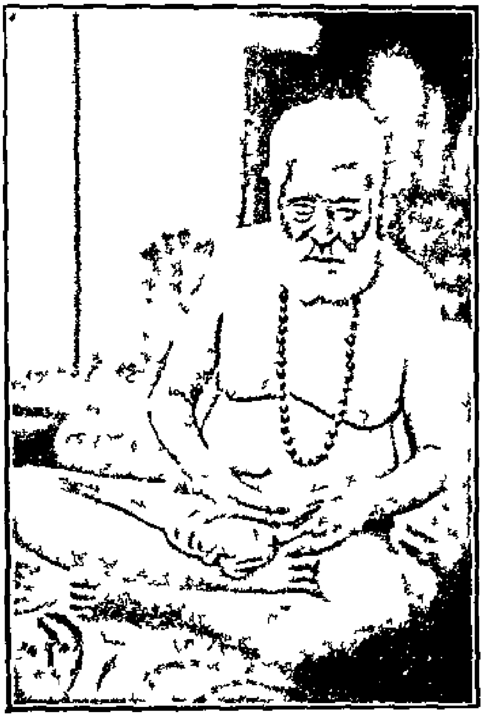
प्रभु जगद्बन्धु



स्वामी विवेकानन्द



विजयकृष्ण गोस्वामी



स्वामी विशुद्धानन्द



स्वामी भास्करानन्द



तैलंग स्वामी



सिद्धारूढ स्वामी

मेरा ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीदेवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार आचार्य गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी)

ईश्वर क्या है ? और उसकी भक्ति क्या है ? यह मैं नहीं कह सकता । पर मैं भी अपने एक ईश्वरकी भक्ति ज़रूर करता हूँ । अतः मुझे यह शिकायत भी नहीं होती कि लोग ईश्वर-भक्ति नहीं करते हैं । क्योंकि मेरी समझमें ईश्वर-भक्ति तो प्रत्येक मनुष्य करता है । पर मुझे यह शंका ज़रूर होती है कि असली ईश्वरको हमलोग बहुत कम जानते हैं । हम जिसे ईश्वर समझते हैं उसकी भक्ति तो हम करते हैं—स्वभावतः और सच्चे दिलसे उसकी भक्ति करते हैं । जो मनुष्य धनको सर्व-समर्थ वस्तु देखता है वह दिन-रात धन-संग्रहमें लगा हुआ है और इसप्रकार अपने धन-प्रभुके लिये सब कुछ (अपना स्वास्थ्य, अपना धर्मतक) कुर्बान कर रहा है । क्योंकि वह धनसे परे किसी अन्य ईश्वरको नहीं देख पाता है । इसी तरह संसारके असंख्यों मनुष्य विषयानन्दको, प्रतिष्ठाको, प्रभावको, विद्वत्ताको, संगठन-शक्ति आदिको ईश्वर समझते हुए उनकी उपासनामें लगे हुए हैं ।

इन लोगोंको यह कौन बतावे कि यह ईश्वरकी भक्ति नहीं है, इन धन आदिमें ईश्वरत्व नहीं है । इन्हें धन आदिमें ईश्वरता (सर्व-समर्थता) साफ दिखायी देती है ।

हाँ, जब कोई क्लेश वा आपत्ति आती है और ये धन आदि उस समय हमारी रक्षा नहीं कर सकते, ये अनीश्वर सिद्ध होते हैं तब हम अवश्य कुछ देरके लिये दीन और नम्र हो जाते हैं । माना हुआ हमारा आधार छिन जानेसे हम किसी अज्ञात शक्तिकी (असली ईश्वरकी) तरफ झुकते हैं । पर दुःख—आपत्ति टलते ही फिर सब भूल जाते हैं और भौतिक सुखोंके सहारे अपने दिन मज़ेमें काटते जाते हैं । रिवाज़ या फैशनके तौरपर ईश्वरका नाम लेते जाते हैं, सन्ध्या-वन्दन, जप, पाठ भी करते जाते हैं, पर हमें ईश्वरकी और उसकी भक्ति करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । सुख देनेवाले विषयों आदिके रूपमें हम अपने ईश्वरकी भक्ति अच्छी तरह करते जाते हैं और असली ईश्वरसे दूर रहते हैं ।

असली ईश्वरकी झाँकी (असली ईश्वरका क्षणिक दर्शन) हमें दुःख-आपत्तिके आ पड़नेपर क्यों दीखती है ? इसका उत्तर मेरी समझमें यह है कि दुःखोंके आ जानेसे स्वार्थका पर्दा कुछ देरके लिये हट जाता है । आपत्ति आनेपर स्वार्थका बाह्याडम्बर छिन्न-भिन्न हो जाता है (यद्यपि अन्दर स्वार्थ-वृत्ति बनी रहती है जो फिर अपने इस बाह्य संसारको बना देती है) । सचमुच स्वार्थ ही वह वस्तु है जो मनुष्यको ईश्वर-दर्शनसे रोके हुए है, मनुष्यकी आँखोंसे असली ईश्वरत्वको ओझल किये हुए है । जिन लोगोंपर आया हुआ दुःख-क्लेश उनके स्वार्थको ढीला करनेका भी कारण नहीं होता, उनके समीप दुःख-जैसा ईश्वरीय दूत भी बेकार आता है । दुःखसे, वैराग्यसे और ज्ञानसे या किसी भी प्रकारसे अथवा किसी भी क्रमसे स्वार्थका धुन्ध हट जाय तो ईश्वर दीख जाता है । ईश्वरका स्वरूप क्या है ? ये सूक्ष्म बातें मैं नहीं जानता । मुझे तो इतना दीखता है कि **स्वार्थके क्षय होनेपर जो कुछ दिखायी देता है वह सब कुछ ईश्वर है ।** मुझे इस ईश्वरके स्मरण करनेसे सुख मिलता है । इसका अनुभव करनेपर अपार आनन्द मिलता है । इसके बिना मैं रह नहीं सकता । यह परमेश्वर जब कुछ देरके लिये भी दीखना बन्द हो जाता है, तो मेरा जी घबराने लगता है । निष्काम, निःस्वार्थ, निरहंकार होनेपर दीखनेवाले (अनुभव होनेवाले) इस तत्त्वसे परे मुझे और कोई ईश्वर नहीं दीखता । इसके आगेकी किसी सूक्ष्म वस्तुको मेरी बुद्धि नहीं समझ सकती ।

यह, सब प्राणियोंमें सम होकर रमा हुआ, हर एक वस्तुमें समाया हुआ, मेरा ईश्वर है । संसारमें दीखनेवाली धन, जन आदिकी सब भौतिक, अभौतिक शक्तियाँ इस जगत्-सञ्चालक महाशक्तिके क्षुद्र अंश हैं । अतः इसमें अपनेको अर्पित करके मैं निश्चिन्तताका अनुभव करता हूँ । इससे परे किसी भी वस्तुमें ईश्वरत्व मुझे नहीं दीखता । इस वस्तुके स्मरण आते ही उसके लिये स्वभावतः प्रेम (भक्ति) उमड़ता है । सदा सब वस्तुओंमें उसके साथ अपनी एकता करनेसे परितृप्ति प्राप्त होती है । निःस्वार्थ हो प्राणियोंकी सेवा करनेसे उसकी परम सुख मिलता है । केवल मनुष्य और

नहीं, किन्तु वृक्ष आदि प्रत्येक जड़ वस्तुके साथ भी एकताका अनुभव किये बिना शान्ति नहीं मिलती। वह तत्त्व सर्वव्यापक है और अपना (आत्मा) है। प्रत्येक वस्तुके अन्तरतममें (प्रत्येक वस्तुकी आत्मा होकर) वही बैठा हुआ दिखायी देता है। उसके साथ एक हो जानेकी आन्तर-तीव्र इच्छा सदा बनी रहती है। स्वार्थशून्यताद्वारा उसके साथ एकताका अनुभव करनेमें अपार सुख मिलता है। साफ देखता हूँ कि जो आदमी दिन-रात नाम जपता है पर वह यदि स्वार्थ-धुन्धको परे हटा, सर्वव्यापक होकर दीखनेवाली इस वस्तुको नहीं देखता; जो मनुष्य घण्टों समाधि लगाता है, पर राग, द्वेष, अहंकारको नहीं भूलता वह मेरी समझमें असली परमेश्वरसे बहुत दूर है। दूसरी तरफ जो मनुष्य सब प्राणियोंकी सेवामें अपने-आपको भूला रहता है, स्वार्थकी धुन्धसे ऊपर उठ जाता है, वह सन्ध्या-वन्दन न करता हुआ, कभी भक्ति-स्तोत्र न गाता हुआ भी प्रभुका सच्चा भक्त है।

मेरा ईश्वर तो यही है। जब मैं इसे अपने किसी अन्य भाईको दिखलानेकी चेष्टा करता हूँ तो यही कहकर दिखला सकता हूँ कि स्वार्थ, अहंकारके हट जानेपर, अपने इस शरीरसे बाहर और जुदा, अपने-आपको देख लेनेपर 'सब जगह रमी हुई सब वस्तुओंको अन्दरसे मिलानेवाली जो एक सर्वगत वस्तुका अनुभव होता है वही परमेश्वर है।' इस प्रभुको याद करके मैं अमर हो जाता हूँ। मरना-जीना एकसम हो जाता है। इस अपने प्रभुकी यादमें संसारका घोर-से-घोर भी कष्ट ऐसा नहीं जिसे मैं सुखसे नहीं सह सकता। इसे देख लेनेपर (मेरी समझमें) मनुष्य किसी अन्यकी भक्ति नहीं कर सकता, ये मेरे प्रभु चुपकेसे मेरे ऐसे प्यारे और भजनीय हो गये हैं कि जब थोड़े क्षणोंके लिये भी मेरा बाह्य व्यापार बन्द होता है तो मेरा प्राण, मेरा मन, मेरी बुद्धि—ये सब-के-सब उस प्रभुका भजन करने लगते हैं, कुछ देर बाद शरीरका भी एक-एक अणु इस भजन-संगीतमें सम्मिलित हो बजने लगता है और जो कुछ दिन-रात बाह्य व्यापार करता हूँ वह सब भी उस प्रभुके लिये—उसकी प्रीतिकी भावनासे—किया करता हूँ। हे मेरे प्रभु! मेरा सब कुछ चौबीसों घण्टे सर्वभावसे तेरे लिये अर्पित है। हे मेरे पाठक भाइयो! ईश्वर-भक्तिपर मैं इसके सिवा और क्या लिख सकता हूँ!

ईश्वर अनन्त है

(लेखक—पं० श्रीगंगाप्रसादजी महता एम० ए०)

इंगलैण्डके प्रसिद्ध दार्शनिक कवि ब्राउनिंगने नीचे लिखी पंक्तियोंमें परमात्माके अस्तित्वके विषयमें अपने गम्भीर अनुभवका इसप्रकार उल्लेख किया है—

Though Master keeps aloof,
Signs of His Presence multiply
From roof to basement
Of the building.

कविके उक्त कथनका सारांश यह है कि विश्वका स्वामी यद्यपि स्वयं अलग रहता है तथापि उसके अस्तित्वके सूचक लक्षण इस विश्वके समस्त अंग-प्रत्यंगोंमें देख पड़ते हैं। यह सारा विश्व उस प्रभुकी रचना-चातुरीका निदर्शन है—उसकी कमनीय कलाका कौशल है। चित्रकारके समान उसने बिना किसी उपादानके इस अद्भुत और सुन्दर विश्वको मानो रचकर खड़ा कर दिया है। महात्मा तुलसीदासने ठीक ही लिखा है—

'केशव! कहि न जाय का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये॥'

× × × ×

'निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्यते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

यह परिदृश्यमान विश्व एक महान् आश्चर्य है। उसका रचना-क्रम विचित्र है। उसका निर्माण बुद्धि-पुरःसर हुआ प्रतीत होता है। उसके संगठनमें नियम और उद्देश्यकी हमें प्रतीति होती है। यह सारा विश्व किसी अक्षर शक्तिके प्रशासनपर स्थित मालूम होता है—

'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः।'

जैसे अग्निसे विस्फुलिंग और सूर्यसे किरणें प्रकट होती हैं और उनमें ही लीन हो जाती हैं वैसे ही उस स्वयंप्रकाश प्रभुसे यह सारा प्रपञ्च प्रकट होता है—

'यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत्स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनःखानि शरीरसर्गाः ॥'
(गजेन्द्रस्तुति)

यह विश्व क्यों और किस क्रमसे प्रकट हुआ, इस प्रश्नके विषयमें मूक रहना ही अच्छा है। परमात्माकी 'अघटितघटनापटीयसी' मायाके कार्योंको पूर्णरीत्या समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है। उसकी पराशक्ति अनिर्वचनीय है—

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥'
(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

यह जगत् परमाणुओंके आकस्मिक संपर्कसे नहीं बना है, परमाणुओंके आकस्मिक संयोगसे क्या यह 'रचना विचित्र' हो सकती थी? क्या महाकवि शेक्सपियरकी नाटकीय रचनाएँ अंगरेजीकी वर्णमालाके २६ अक्षरोंके आकस्मिक संयोगसे उत्पन्न हो सकती थीं? ये कल्पनाएँ नितान्त युक्तिशून्य हैं। विश्वकी घटनाएँ नियमबद्धरूपसे चलती हैं। उसकी रचनामें क्रम देख पड़ता है। वह सचेत पुरुषकी कृति मालूम होती है। चेतन ही इस जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। प्रकृति परमात्माके संकल्पका उद्गार है—'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति।' यह सारा विश्व उसीमें ओतप्रोत है और उससे जुदा भी नहीं। भगवान्ने गीताजीमें कहा है—

'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥'

परमार्थ-दृष्टिसे यह सारा विश्व हरिरूप है—

'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः
हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः ॥'

जगत् और जीवको हरिरूप कहनेका यही अभिप्राय है कि ये दोनों उसके ही अंश हैं जैसा कि गीतामें लिखा है—

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥'

जीव और जगत्को हरिरूप मानते हुए जीव और जगत्से हरिकी महिमाको परिमित करना उचित नहीं। श्रुति पुकारकर कहती है—

'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।'

गीतामें कहा है—

'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।'

जो कुछ हमारे चर्म-चक्षुओंसे दीखता है उससे भी अधिक आश्चर्यजनक ईश्वरकृत सृष्टियाँ विद्यमान हैं जो हमें बुद्धिगोचर नहीं होतीं—जो हमारी कल्पना-शक्तिकी पहुँचके बाहर हैं। महाकवि शेक्सपियरने यथार्थ लिखा है—

'There are more things in Heaven and Earth, Horatio! thou are dreamt of in your Philosophy.'

उस प्रभुके ऐश्वर्य और माधुर्यका पारावार नहीं। जीव उस दिव्य ज्योतिका विस्फुलिंगमात्र है। जगत् उसके जाज्वल्यमान तेजकी एक किरणमात्र है। यदि आकाशमें सहस्र सूर्य एक साथ उदित होकर अपना प्रकाश फैलावें तो कदाचित् उनका समस्त तेज परमात्माके विराट् तेजकी बराबरी कर सके—

'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥'

ईश्वरको तत्त्व-दर्शियोंने द्विविधरूपमें अनुभव किया है। वे उसका 'ब्रह्म' और 'आत्मा' इन नामोंसे वर्णन करते हैं। वह बृहत् है और विश्वका उपबृंहण (वृद्धि) करनेवाला है इसलिये 'ब्रह्म' कहलाता है।

'बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च आत्मा ब्रह्मैव गीयते ।'

वह मनुष्यके अन्तर्जगत्का 'साक्षी' और 'चेता' है इसलिये उसे 'आत्मा' कहते हैं। वह सत्, चित्, अनन्त है। वह उपनिषद्के महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदोंसे लक्षित होता है। वे 'तत्' और 'त्वम्' ब्रह्म और आत्मा—एक ही हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥'

उस परम तत्त्वको अपने संकीर्ण दृष्टिकोणसे देखनेके कारण हमें उसकी—

'अणोरणीयान्महतो महीयान्'

—महिमाका पूरा-पूरा आभास नहीं मिल सकता। अतएव, श्रुतिमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर उसका निर्देश किया है। उसे 'अनन्त' अथवा 'भूमा' कहनेका यही तात्पर्य है कि हम किसी भी नाम, कल्पना अथवा विचार-सम्प्रदायसे उसका याथातथ्य वर्णन नहीं कर सकते। लार्ड टेनीसनने ठीक ही लिखा है—

'Our little systems have their day;
They have their day and cease to be;
They are but broken lights of Thee,
And Thou, my Lord, art more than they.'

मनुष्यके संकीर्ण और दिक्कालपरिच्छिन्न विचार परमात्माकी अनन्तताको, उसकी असंख्य विभूतियोंको तथा आश्चर्यमयी कृतियोंको समझ नहीं सकते।

उस 'अनन्तके अनुकूल' होकर अथवा उस 'अनहद-नाद' के स्वरमें स्वर मिलाकर जीना और मरना मरणधर्मा-का पवित्र ध्येय होना चाहिये।

ईश्वर-सिद्धि

(लेखक—रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए० एल-एल० बी०)

'ईश्वर है या नहीं' इस विषयपर जगत्के विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। नास्तिक तो 'ईश्वरासिद्धेः' कहते हैं और किसी भी शास्त्रीय प्रमाणसे ईश्वरका सिद्ध होना नहीं मानते। स्पेन्सर कहता है कि 'आदिकारण अज्ञात और अज्ञेय है।' ईश्वरके लक्षणमें सभी एकमत हैं। ईश्वर जगत्-कारण और बुद्धिमान् है, ईश्वरकी यह कल्पना सर्वत्र मान्य है। परमात्मा परब्रह्म आदि शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन किया गया है। सभी धर्म ईश्वरके अस्तित्वपर ही प्रतिष्ठित हैं। बल्कि ईश्वरको माने बिना धर्मकी कल्पना ही नहीं हो सकती। ईश्वरके स्वरूप-पर मतभेद हो सकता है परन्तु ईश्वरके अस्तित्वपर किसी धर्मका मतभेद नहीं है। बहुत-से विद्वानोंका मत है कि शब्दप्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती। अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान-प्रमाणोंसे ईश्वर सिद्ध नहीं होता। वेदान्तसूत्रका आरम्भ ही इसी सिद्धान्तसे है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें इस विषयका उपन्यास करके दूसरे ही सूत्रमें ब्रह्मका यह लक्षण बतलाया गया है 'जन्मादि अस्य यतः अस्य जगतः जन्मादि जन्मस्थितिलयाः यस्य सकाशात् तद्ब्रह्म।' अर्थात् इस जगत्की जहाँसे उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है वही ब्रह्म है। इस व्याख्यामें ईश्वर-विषयक दोनों-तीनों प्रकारकी कल्पनाओंका अन्तर्भाव है। ईश्वरने जगत् निर्माण किया अर्थात् ईश्वर जगत्का कारण है। कारण दो प्रकारके होते हैं—निमित्त और उपादान। बढ़ईने रथ बनाया, इसमें बढ़ई रथका निमित्त-कारण है और किसी वृक्षकी लकड़ी उपादान-कारण है। ईश्वर किसी सिद्धान्तमें केवल निमित्त-कारण माने गये हैं और किसीमें उपादान भी। बाइबलमें कहा है God said let there be water and there was water ईश्वरने कहा,—'वहाँ पानी हो, और पानी हो गया।'

इसमें ईश्वरको केवल निमित्त-कारण बतलाया गया है और जगत्का निर्माण शून्यसे माना है। ईश्वरकी कल्पना-में अचिन्त्य शक्तिमत्त्व है अर्थात् वह शून्यसे भी सृष्टि-निर्माण कर सकता है परन्तु यह कथन अरुचिकर है। उप-निषद्में पूछा है, 'कथमसतः सज्जायेत', और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' यह उत्तर दिया गया है। कुछ विद्वान् matter अथवा chaos यानी प्रकृतिको ईश्वर-भिन्न मानकर यह कहते हैं कि ईश्वरने Chaosसे सृष्टि बनायी, यही सिद्धान्त हमारे यहाँ सांख्य-तत्त्वज्ञानका है। सांख्य-का सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष विभिन्न हैं एवं पुरुष-सन्निधिसे प्रकृति अर्थात् जड-प्रधान सृष्टि निर्माण करता है। परन्तु यह मत भी रुचिकर नहीं है।

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव विद्ध्यनादी उभावपि'

यहाँ दो अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर-के न निर्माण किये हुए अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं। यह भी सम्भव है क्योंकि ईश्वरकी कल्पनाको किञ्चित् संकुचित करनेमें कोई बाधा नहीं। तथापि इस अरुचिको स्वीकारकर अद्वैत-सिद्धान्त यह कहता है कि ईश्वर जगत्को

अपने ही शरीरसे प्रकट करता है। इसके लिये 'यथोर्णनाभिः' आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं। और ईश्वर ही निमित्त और उपादानरूपसे जगत्‌का कारण है। इसीको वेदान्तशास्त्रमें 'अभिन्ननिमित्तोपादान' सिद्धान्त कहा है और—

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'

इस वेदान्तसूत्रसे इसका प्रतिपादन होता है। ये तीनों सिद्धान्त (१, ईश्वरने शून्यसे जगत् निर्माण किया, २, ईश्वरने matter अर्थात् प्रकृतिसे जगत् निर्माण किया और ३, ईश्वरने अपनेसे ही जगत्‌का निर्माण किया) वेदान्तके 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रमें युक्तिसे प्रतिपादित हुए हैं। यतःका अर्थ उपादान मुख्य है परन्तु निमित्त भी हो सकता है। 'येन' अथवा 'यस्मिन्' न कहकर 'यतः' कहना ठीक ही हुआ है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म जगत्‌का स्रष्टा है, यह मूल कल्पना सब धर्मोंमें और प्राणीमात्रके हृदयमें जड़ जमाये हुए है। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष पूछते हैं कि इस कल्पनामें प्रमाण क्या है? वेदान्तसूत्र इस प्रश्नका यही उत्तर देता है कि इसमें केवल शब्द ही प्रमाण है, इसके लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान-प्रमाण नहीं हो सकते। शब्दप्रमाणका अर्थ है—आप्तवाक्य-प्रमाण। अन्तर्दर्शी अतीन्द्रियज्ञान-सम्पन्न ऋषियोंने ऐसा कहा है। यह उत्तर तीसरे सूत्रमें है 'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् शास्त्र—वेद ईश्वरको जगत्स्रष्टा बतलाता है। 'तत्तु समन्वयात्' इस चौथे सूत्रमें यह कहा है कि सारे शास्त्र-वचनोंका समन्वय करनेपर यही बात सिद्ध होती है। मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदोंमें ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनका समन्वय करना चाहिये। ईसाई और इस्लाम आदि अन्य धर्मोंके लोग बाइबल और कुरान आदि ग्रन्थोंको आप्तप्रमाण मानते हैं।

निश्चय ही यही सिद्धान्त मानना होगा। ईश्वर प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। बुद्धिमान् मनुष्य भौतिक शास्त्रकी रीतिसे ईश्वरकी खोजमें जहाँतक गये हैं वहाँतक उन्हें ईश्वरका पता नहीं लगा है। किसी नैयायिकको मृत्युकालमें यह कहा गया कि 'जगत् कारणं स्मर' उसने 'परमाणवः' का स्मरण किया, ईश्वरका नहीं। पर आजका भौतिक शास्त्र तो इन अनेक परमाणुओंके भी परे Electron तक पहुँच गया है। किसी समय बहुत-से Elements माने जाते थे पर अब एक Electron ही रह गया है, परन्तु वह Electron ईश्वर नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनुमान-प्रमाणका तो यहाँ अवसर ही नहीं क्योंकि ईश्वरके विषयमें व्याप्ति नहीं हो सकती। 'यच्च दृष्टं तदुत्पत्तिमत्, यथा रथः' इस व्याप्तिसे सृष्टि उत्पत्तिमत् है अर्थात् उसका कोई कर्त्ता है। परन्तु ईश्वरका कर्त्ता कौन है, यहाँ अनुमान कुण्ठित हो जाता है। बढ़ईने रथ बनाया, वह रथका कर्त्ता हुआ और बढ़ईका भी कर्त्ता ईश्वर है पर ईश्वरका कर्त्ता कौन है? ईश्वर एक ही वस्तु होनेसे यहाँ अनुमान-प्रमाणको अवसर नहीं। यही हालत उपमान-प्रमाणकी है। क्योंकि ईश्वर निरुपमान है, उसमें कोई दृष्टान्त नहीं बैठता। प्रारम्भमें ऋषियोंने रथके उपमानसे ईश्वरकी कल्पना की थी और इसलिये रथकारकी भाँति ईश्वरको बुद्धिमान् माना है। क्योंकि जड (सांख्योंका प्रधान) सृष्टिका कारण नहीं माना जा सकता। अनेक प्रकारकी कुशलतायुक्त सृष्टि-रचना देखकर (जैसे मनुष्यका शरीरयन्त्र किसप्रकार सूक्ष्म और विभिन्न व्यापारशक्तियोंसे युक्त है) आश्चर्य होता है। 'रचनानुपपत्तेश्चानुमानम्' इस वेदान्तसूत्रमें यह बतलाया गया है कि जड-प्रकृति इसप्रकार रचना-चातुर्य नहीं दिखला सकती। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंने ईश्वरकी सिद्धिके लिये इसीको Argument of design कहा है। ये सब प्रमाण ईश्वरकी सम्भवताको सिद्ध करनेवाले हैं परन्तु शास्त्रीय प्रमाणकोटितक नहीं पहुँचते।

इसप्रकार यह मानना पड़ता है कि ईश्वर-सिद्धिके लिये प्रत्यक्ष या अनुमानरूप शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलते। तथापि मेरा अपना खास मत यह है कि इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल सकता है। सूक्ष्म रीतिसे उचित खोज होनी चाहिये। हम श्रद्धावान् लोग शब्द-प्रमाणको और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको अवश्य सत्य मानते हैं, परन्तु यदि कोई वादी आकर पूछे कि 'अमेरिका है?' तो हम यही कहेंगे कि 'है' क्योंकि जिन लोगोंने जाकर अमेरिकाको देखा है उन आप्त—विश्वसनीय पुरुषोंके वचन हम मानते हैं। तथापि इसपर भी कोई शंका करे तो हम उसे जहाजमें बैठाकर समुद्रपार ले जाकर अमेरिका दिखला सकते हैं। इसी तरह हमारे ऋषियोंके अतीन्द्रिय-ज्ञानी होनेपर कोई शंका करे तो उसे हम अमेरिका के दिखानेकी भाँति प्रत्यक्ष बतला सकते हैं या

प्रश्न आता है। मेरी समझमें तो इसका यही उत्तर होना चाहिये कि 'हाँ, बतला सकते हैं।' अवश्य ही इस विषयकी विशेष खोज होनी चाहिये और भौतिक शास्त्र-वेत्ताओंकी चित्तवृत्ति इस ओर झुकनी चाहिये। यह मार्ग स्वप्न-सृष्टिका है। बहुत लोगोंको इस बातका अनुभव होगा कि प्रातःकालके समय हम कोई-कोई स्वप्न देखते हैं जो सच निकलते हैं। एक समयकी बात है, मैंने प्रातःकालके समय स्वप्नमें एक मुर्देको ले जाते देखा और साथ जानेवालेसे पूछनेपर यह मालूम हुआ कि अभी इनका देहान्त हुआ है। मैं यह स्वप्न देख ही रहा था कि चित्रशाला-प्रेसके स्वामी श्रीवासुदेवराव जोशीने आकर मुझको पुकारा कि 'उठो, चलो, दामले सीताराम पन्तका देहान्त हो गया।' मैं जग पड़ा और स्वप्नकी बात सत्य देख आश्चर्य करने लगा। विचार करनेपर इसका यही कारण प्रतीत हुआ कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंश होनेके कारण विद्युत्-संदेशकी भाँति भावी बातोंसे परिचित होता है। स्वप्न-शास्त्रका भी यह मत है कि प्रातःकालके समय जो अकल्पित स्वप्न आता है वह प्रायः सच होता है। मेरी समझसे इसका अनुभव अनेकों सज्जनोंको होगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सर्वव्यापी ज्ञानस्वरूप है और सृष्टिकर्ता एवं सृष्टिसे अभिन्न है, इसका अनुभव मनुष्यको होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है और ईश्वर-सिद्धिके सम्बन्धमें भौतिक शास्त्रज्ञोंके लिये सर्वथा विचारणीय है।

स्वराज्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीप्रज्ञानपादजी महाराज)

जीवके प्रवृत्ति-निवृत्ति-मूलक प्रत्येक वृत्ति, स्पन्दन या कर्मके मूलमें प्रयोजन-बोध रहता है। प्रयोजन-बोध या तज्जनित संकल्प अथवा कामनाके विना किसी जीवकी कोई भी क्रिया नहीं होती। इसीलिये कहा है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते

अतः जीव-जीवनकी मूल-वासनाओं (Instincts) पर विचारकर जीवनके सहज स्वाभाविक आदर्श या लक्ष्यपर पहुँचना युक्ति-युक्त और विचार-सिद्ध है।

जीवनकी सारी प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करनेपर पता लगता है कि उनके मूलमें, आहार, निद्रा, भय और मैथुनका एक स्वाभाविक प्रयोजन-बोध है। कहा भी है—

आहारनिद्राभयमैथुनश्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

प्रवृत्तिका अर्थ है बाहरी जगत्की ओर गतिकी चेष्टा। परन्तु प्रकृतिका एक अलङ्घ्य नियम यह है कि ज्यों ही बाहरकी ओर गति या क्रिया (action) होती है, त्यों ही उस बाह्य क्रियाके प्रतिकूल एक विपरीत क्रिया (re-action) उत्पन्न होती है। इस क्रिया और प्रतिक्रियामें गतिकी विपरीतता होती है पर मात्राकी समानता ही रहती है, (For every action, there an equal and *opposite* re-action—'Newton's third law of motion') यह जड़-विज्ञानका मुख्य नियम है, प्रकृतिके समस्त अंगोंमें एक ही नियम कार्य करता है। अतः मानसिक-विज्ञान या अध्यात्म-विज्ञानका भी यह एक प्रधान नियम है। इसीलिये प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक बाह्य-गति (——→) के साथ साथ उतनी ही निवृत्ति या अन्तर्गति (←——) की भी उत्पत्ति हुआ करती है। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुख-दुःख, सम्पद्-विपद, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु आदिकी अविरल, अवच्छेदरहित धारा ही जीवन या संसार है। इसीलिये कहा जाता है संसार द्वन्द्वात्मक है—दोका लीलाक्षेत्र है। संसारमें—जीवनमें जो कुछ हो रहा है, यह सभी इस प्रवृत्ति-निवृत्तिमूलक द्वन्द्वके अविच्छेद्य, रहस्यमय, परिवर्तनशील भावकी अभिव्यक्ति-मात्र है। इसी तत्त्वको बंग-कवि दूसरे शब्दोंमें कहते हैं—

सुख-दुख दुटि भाई,
सुखेर लागिया ये करे पीरिति, दुख जाय तारे ठाईं—

अर्थात् सुख-दुःख दोनों भाई हैं, जो सुखके लिये सुखसे प्रेम करता है, दुःख उसके पास आप ही जा पहुँचता है।

द्वन्द्वकी यह विपरीत क्रिया, इतने अज्ञातरूपसे एवं इतने शीघ्र वेगसे चलती है कि उसीका एक अंग होनेके कारण मन उसे पकड़ नहीं पाता। उसी प्रवाहमें बहा जाता है, मनको प्रवृत्ति-निवृत्तिका ऐकान्तिक, तात्त्विक या

एककालीन बोध नहीं होता, यदि होता तो मन देखता कि जिस घड़ी प्रवृत्तिका उदय होता है उसी क्षण उतनी ही निवृत्तिकी भी उत्पत्ति होनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिकी विपरीतता एवं समानताके कारण, वे प्रति मुहूर्त परस्पर ध्वंस हो रही हैं। (⇆) सुतरां दृश्य या देश, काल, पात्र नामक कुछ भी नहीं रह जाता या नहीं है; खण्ड, सक्रिय, स्पन्दन-शील 'कुछ' भी नहीं है; है एक अखण्ड, शान्त केवल—जिसका इशारा श्रुति करती है—

'तदेवावशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'

—'मैं शिव, केवल ही नित्य अवशिष्ट हूँ।' मैं हूँ—शून्य, शान्त, प्रज्ञानम्, 'शान्तं शिवमद्वैतम्।' मैं ही हूँ, दूसरा तो और कुछ भी नहीं है। 'यदि और भी कुछ है' ऐसा कहा जाय, तो वह भी मैं ही हूँ, मेरा ही नामान्तरमात्र है, इसीलिये तत्त्वदर्शी कहते हैं—

'हइले आत्म-संस्थित करिया निरोध, तव,
अहङ्कार-चित्त-बुद्धि-मन।
जानिबे स्वरूप स्वीय, ब्रह्म, विष्णु, आत्मा, शिव,
तोमारई वैदिक विशेषण॥

अर्थात् अहंकार, चित्त, बुद्धि और मनके निरोध करनेपर जब आत्म-संस्थित हो जाओगे, तव अपने स्वरूपका बोध होगा। उस समय जानोगे कि ब्रह्म, विष्णु, आत्मा, शिव सब तुम्हारे ही वैदिक विशेषण हैं यही वेदोपनिषद् है, यही सम्बोधि है, यही प्रज्ञान है। एकमात्र 'अहम्' 'अहमस्मि' और जिस किसीका ही अस्तित्व स्वीकार क्यों न किया जाय, वह भी मैं हूँ। केवलमात्र 'सोहम्'।

यदि 'ईश्वर' स्वीकृत है तो वह मैं हूँ। शेष सब दृश्यमात्र, मायामात्र है, कुछ भी नहीं है; मनके सामने, अपने ही सामने, अपना ही खेलमात्र है। यह केवल, शान्त, शिव स्थिति ही नित्य सत्य है। पर यह स्थिति मनके अगोचर है इसलिये प्रवृत्तिके साथ ही इस शान्त, शिव, केवल स्थितिसे बाहर निकलनेकी चेष्टाके साथ ही, इस चेष्टाको ध्वंसकर नित्य-स्थितिको स्थिर रखनेके लिये निवृत्तिका उदय होता है। यह निवृत्तिका भाव सभी जीवोंमें है। अव्यक्तरूपसे जिसमें इस निवृत्तिकी तीव्रता होती है, उसीका नाम है—मुमुक्षु। इस निवृत्तिका व्यक्त-बोध ही धर्म-बोध है। जिसमें इस ज्ञानका उदय होता है वही मानव है, वही नर है। इसीलिये प्रवृत्तिका भाव है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

और निवृत्तिकी वाणी है—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

आत्मेतर वस्तुमें—एक 'मैं' तत्त्वके सिवा अन्य किसी अज्ञानजनित कल्पित वस्तुमें श्रद्धा करने और द्वैत-बुद्धिका आश्रय ग्रहण करनेका नाम पशुता है; एवं अद्वैत 'मैं' में स्थिति प्राप्त करनेकी चेष्टाका नाम ही मानवता है; इसीसे श्रुतिका आदेश है—

'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति, 'योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमसीति न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम्'

और इसी बातको मौलाना रूमने बड़ी सुन्दर भाषामें व्यक्त किया है—

तफ़रक़ह् दर रूहे हैवानी बुअद्
रूहे वाहिद रूहे इन्सानी बुअद्

—पशुमें द्वैतका ज्ञान और मनुष्यमें अद्वैतका ज्ञान रहता है।

द्वैत विषय या आत्मेतर वस्तुको सत्य जान उसके पीछे न दौड़कर अद्वैत, अविषय या आत्म-वस्तुमें स्थित होनेका भाव जीवमात्रका सहज स्वाभाविक धर्म है, परन्तु यह धर्म अव्यक्त भावसे रहता है, इसलिये उसके अस्तित्वका बोध प्रत्यक्षमें नहीं होता, इसीसे मनुष्य और पशुमें भेद है। पर-राज्य त्यागकर स्व-राज्यमें सुप्रतिष्ठित होनेकी चेष्टाका व्यक्त रूप ही मानव-जीवन है; इसीलिये स्वराज्य, मनुष्यका जन्म-सिद्ध अधिकार है। यही मानव-धर्म है, यही आर्य-धर्म है। और मनुष्य इस धर्मकी अभिव्यक्ति है इसीलिये मनुष्यका गौरव है। इसीसे भागवतमें कहा है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयो मनुजं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

—मानवेतर सम्पूर्ण सृष्टि करके भी ब्रह्माजीको तृप्ति नहीं मिली; तब अन्तमें उन्होंने बुद्धियुक्त विचारशील मानवकी सृष्टि करके तृप्ति प्राप्त की।

ईश्वर-स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीसर्वेदानन्दजी महाराज)

मनुष्य अल्पज्ञ है और समय-समयपर वह अपनी अल्पज्ञताका परिचय देता रहता है। इसी अल्पज्ञताके कारण वह कभी-कभी स्वयं सन्मार्गको छोड़कर विपरीत मार्गपर चलता है तथा औरोंको भी उस मार्गमें ले जानेका प्रयत्न करता है, जिसका फल अन्तमें दुःख उठाना होता है। उसकी यह अल्पज्ञता दो प्रकारकी होती है—एक, किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होना और दूसरी, किसी वस्तुको विपरीत समझना। इसमें पहली हानिकारक है और दूसरी दुःखप्रद। पहली दीनताको जगाती है तो दूसरी पराधीनतामें फँसाती है। यह लोक-प्रत्यक्ष बात है।

ईश्वर वेदादि सच्छास्त्रप्रसिद्ध, अनन्तशक्ति, अतुल-बल, अद्भुत-महिमा, विश्वव्यापक, विश्वम्भर, विश्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, निराकार, निर्विकार, निराधार, धाता-विधाता, कर्मफलप्रदाता, नित्य, निरञ्जन, न्यायकारी, पवित्र, विचित्र, सर्वमित्र, असहाय, एक और सच्चिदानन्द-स्वरूप है। एतद्विशेषणविशिष्ट ईश्वरका वेद पक्षपाती है। वह बतलाता है कि ईश्वर ही मंगलमय, मंगलस्वरूप और मंगलकारी है, उसीकी उपासना करनेसे मानव-समाजका कल्याण होता है। ईश्वर ही सबका इष्टदेव और उपास्य है। उसके यथार्थ स्वरूपको न जानकर पुरुष दुःख उठाता है, तथा उसके यथावद् ज्ञानसे मनुष्य सन्मार्गमें आकर सत्यप्रिय हो जाता है।

किसी कारणवश वेद-प्रचारके मन्द पड़ जानेसे जन-समाजको छिन्न-भिन्न करनेवाले बहुमतवाद खड़े हो गये। मत-मतान्तरकी अधिकतासे एकता नष्ट हो गयी और मनुष्य-समाजका अहित होने लगा। वेद-प्रतिपादित ईश्वरस्वरूपको भूल जानेके कारण, मनमानी कल्पनाओं-से ईश्वर-स्वरूपका निरूपण होनेके कारण, तथा विपरीत मिथ्या विश्वासमें संलग्न होकर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेषमें मग्न होनेके कारण मनुष्य समस्त प्रकारके गौरवसे हाथ धो बैठा। सम्प्रदाय-भेदसे नाना प्रकारके बखेड़े उत्पन्न हो गये। यह सबको प्रत्यक्ष ही है।

ऐसी अवस्थामें यदि वर्तमानकालके नवयुवकोंके मन-में परमेश्वर-विचार-विषयक सन्देह उत्पन्न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सामान्यतः मनुष्य-समाज और विशेषतः युवक-समाजकी रुचि ईश्वरमें बनाये रखने तथा उन्हें प्रभु-प्रेमसे विमुख न होने देनेका एकमात्र यही उपाय है कि उनको ईश्वरका यथार्थ स्वरूप बतलाया जाय और सत्यासत्य-विवेक-विहीन मत-वादोंका दोष भी दिखलाया जाय। अन्यथा उनकी प्रवृत्ति नास्तिकताकी ओर बढ़ती ही जायगी, बन्द न हो सकेगी।

इस ईश्वर-विचार-प्रधान देशमें ऐसी प्रवृत्तिका उठना निस्सन्देह ग्लानि और हानिकर है, इसलिये विद्वान् और विचारशील अनुभवी पुरुषोंको इस कुत्सित गतिके दूर करनेका यथोचित यत्न करना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य सन्मार्गसे दूर हो जाता है, उसे इधर-उधर भटकना ही पड़ता है तथा उसका अन्तःकरण अनेक प्रकारके विचारों-का स्थान बन जाता है। आज अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। ईश्वर एकतत्त्व, अपरिवर्तनशील तथा स्थिर-स्वभाव है; परन्तु जिज्ञासु जब उसके विषयमें कुछ जानना चाहता है तो उसे एक ईश्वरके विषयमें अनेक प्रकारके उत्तर मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें नवयुवकोंके मनमें, जिनकी प्रवृत्ति तत्काल तीव्र और उत्साहित होती है, इसप्रकारके विचार सहज ही उठते हैं कि 'या तो ईश्वर है ही नहीं और यदि है भी तो उसे कोई जान नहीं सकता, जिस मनुष्यके मनोराज्यमें जैसा जँचता है वह उसे वैसा ही मान लेता है, ईश्वरको मानना ही सब बखेड़ोंका मूल कारण है, इससे जन-समाजको नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़े हैं, अतएव इसका परित्याग ही ठीक है।' भारतवर्षमें तो इसप्रकारके विचार अभी अंकुरित ही हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य देशोंमें यह वृक्षके रूपमें आकर अपना कटु फल भी प्रदान कर रहे हैं।

जब इसप्रकारके भ्रमपूर्ण विचार ईश्वरके विषयमें हो रहे हैं तब वेदप्रतिपादित दार्शनिक विचारसम्मत ईश्वरस्वरूपका निरूपण करना, तथा उसे ही एकमात्र उपास्यदेव मानकर उसकी उपासनाके लिये लोगोंको प्रेरित करना ही इस कुविचारधाराके रोकनेका उचित



भगवान्—दत्तात्रेयरूपमें

उपाय जान पड़ता है। इसलिये ईश्वर-विषयमें वेदका विचार उपस्थित किया जाता है—

'सर्वेषां वेदानां ब्रह्मणि तात्पर्यमस्ति।'

अर्थात् 'साक्षात् या परम्परा-सम्बन्धसे सब वेदोंका तात्पर्य ब्रह्मको जानने और उसकी प्राप्ति करनेमें ही है।' जो पुरुष चारों वेदोंको पढ़कर उस परमेश्वरके जाननेका यत्न नहीं करता, वह मनुष्य-जन्मके यथार्थ उद्देश्यको पूरा नहीं करता है; अतएव वेद-पठनसे जो लाभ होना चाहिये उससे वह वञ्चित ही रह जाता है। वह जिन धनादि वस्तुओंके उपार्जनमें सदैव तत्पर रहता है वह तो साथ नहीं देती हैं और जो साथ देनेवाली वस्तु थी उसको वह प्राप्त नहीं करता है। अन्तमें वह अपनी बेसमझीपर पछताता और नयनोंसे नीर बहाता हुआ शरीरको छोड़ देता है।

स एष एक एक वृत एक एव तस्मिन् सर्वे देवा एक वृतो भवतीति॥

अर्थात् परमात्मा एक है। एकको तीन बार कथन करनेसे यह सिद्ध हो रहा है कि वह परिणाम-विकारसे शून्य सदा एकरस है, वह मोक्षस्वरूप है और अपने भक्तोंके लिये मुक्तिका दाता है। वह विश्वव्यापक है। जिज्ञासुका अन्तःकरण यदि मल, विक्षेप और आवरणसे रहित हो तो उसे उसमें परमात्माके दर्शन होते हैं। सर्वाधार सर्वाधिकरणकी व्याप्तिमें ही समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्यरूपसे विद्यमान है। व्याप्य-व्यापक-भावके सम्बन्धसे एक होते हुए भी दोनों स्वरूपसे भिन्न हैं। इस आश्चर्यमय महान् शक्तिका प्रतिपादन वेद जिसप्रकार करता है वह युक्तियुक्त है। संसारके विद्वान् अपनी-अपनी भाषामें वेदानुकूल ईश्वरका ही संकेत करते हैं। इससे कोई विमुख नहीं हो सकता। जो विमुख होता है वह दुःख उठाता है। यह तो एक ऐसी शक्ति है जो स्वीकृति (इक़रार) तथा अस्वीकृति (इनकार) दोनों अवस्थाओंमें प्रकट होती है।

वेदसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र-शिरोमणि वेदान्तशास्त्र कह रहा है—'जन्माद्यस्य यतः।' अर्थात् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन और यथासमय संहार जिसके अधिकारमें है वह ब्रह्म है। इसी एक ब्रह्मके गुण-कर्म-भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि अनेक नाम हैं। ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नका यह कितना महत्त्वपूर्ण उत्तर है, इसे सुनकर मनुष्य मूक हो जाता है, उसके मनमें हर्ष और भयकी विचारधारा बहने लगती है। इसका बारम्बार मनन करनेसे मनुष्यके मनसे अनिष्ट-चिन्ता दूर हो जाती है तथा सत्यता, निर्भयता, सहिष्णुता और उदारताका अन्तःकरणमें प्रकाश होने लगता है। ईश्वरका यथार्थ विचार करनेसे मनुष्य प्राणीमात्रसे प्रेम करना सीखता है।

इसलिये जो मनुष्य ईश्वरकी उपासना, उसकी चर्चा तथा उसकी भक्तिका उपदेश जनतामें देता है उसका अन्तःकरण विनयभावसे युक्त तथा ईर्ष्या-द्वेषादि दोषोंसे मुक्त होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, प्रत्युत इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं। निर्धन और अशिक्षित पतित पुरुष, जिनकी विचारशक्ति हिन्दू-समाजके पीछे चलती है तथा जो हिन्दू-समाजके अंग और श्रमजीवी हैं उनके उत्थानका जब प्रश्न उठता है तो साधारण जन-समाज तो उनका साथ देता है, परन्तु ईश्वरके पुजारी ही इस कार्यमें बाधक होते हैं। ईश्वरका पूजन करे और उसका स्वभाव इसप्रकार सरलतासे दूर और कठोरतासे भरपूर हो तो बतलाइये लोगोंको किसप्रकार ईश्वरमें विश्वास और उसके पूजनमें रुचि हो सकती है? ईश्वर-भक्तके स्वभावमें मृदुता, वचनमें मधुरता और लोकहितकी प्रवृत्ति होनी चाहिये। भारतीय नवयुवक-समाजका ध्यान जो ईश्वरसे विमुख हो रहा है, उसका कारण यह तथाकथित ईश्वरके पुजारी हैं जो अपनेको सर्वोपरि मान रहे हैं।

वह जन-समाज स्वयं पतित हो जाता है जो औरोंको पतितावस्थामें देखना चाहता है। जो यथार्थ ईश्वरका भक्त होता है उसके अन्तःकरणमें ईश्वरकी दयालुता, न्याय आदि गुण स्वाभाविक ही उपस्थित रहते हैं, वह दूसरोंको कष्टमें नहीं देख सकता; बल्कि स्वयं दुःख उठाकर औरोंका हित करना उसका स्वभाव हो जाता है। यह बात वेद-विहित ईश्वरके ज्ञानसे मनुष्यके मनमें जागृत हो जाती है। वेदोंमें इसप्रकारके उपदेश स्थान-स्थानपर मिलते हैं जिनका पालन करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण विश्वप्रेमसे पूरित हो जाता है, इस बातके न जाननेसे ही संसारमें बखेड़े बढ़ते जा रहे हैं, तथा धर्मप्राण भारतीय नवयुवकोंकी विचारधारा भी विपरीतगामिनी हो रही है।

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः।

अर्थात् 'जो मनुष्य लोक-व्यवहारमें चतुर होते हैं, वेदार्थका यथार्थ ज्ञान उन्हींको होता है,' यह महात्मा

कपिलका अनुशासन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वेद और लोकशान्तिमें कोई भेद नहीं है। जब वेदार्थका ज्ञान ही नहीं रहेगा तब तत्सिद्ध परमात्माका यथार्थ बोध कैसे हो सकता है? यही कारण है कि विपरीत ज्ञानके फन्देमें पड़ भारतवर्षमें बड़े-बड़े अनर्थ उत्पन्न होते जा रहे हैं। अतः जो मनुष्य-समाज लोकव्यापारमें जितना ही निपुण होता जायगा वह उतना ही वेदार्थके समीप होकर ईश्वरके यथार्थ स्वरूपको तथा उसकी प्राप्तिके मार्गको अनुभव करेगा। यह सत्य है और यदि इस विचारकी ओर गति हो तो संसारकी उन्नति निस्सन्देह है।

ईश्वर प्रत्यक्ष हैं

(लेखक—स्वामीजी श्रीसोमतीर्थजी महाराज)

संसारकी ओर विचार करके देखनेपर चेतन-सत्ताकी स्थिति दो प्रकारकी दीख पड़ती है—अभिमानीके रूपमें और आधेयके रूपमें। उदाहरणके लिये मनुष्यको ही लीजिये, वह अपने शरीरका अभिमानी है और पृथ्वीका आधेय है अर्थात् पृथ्वीके आश्रयपर ठहरा हुआ है। (शरीरके) अभिमानीकी शरीर-सम्बन्धी बाह्य क्रियाएँ बिना किसी श्रम या यत्नके स्वभावतः हुआ करती हैं; अभिमानीको उसके लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता। जैसे हम लोगोंको पलकोंके गिराने-उठाने, मल-मूत्र त्यागने, सोते समय करवट बदलने आदिमें किसी प्रकारके यत्नकी अपेक्षा नहीं होती है। यह सभी काम स्वभावतः ही होते रहते हैं।

हम देखते हैं कि आधारका प्रयोजन, केवल आधेयके भोगके लिये ही होता है। पृथ्वीके कारण हम सब भोग भोग सकते हैं और हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले जूँ तथा कीटाणुओंको हमारे शरीरद्वारा ही भोगकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार हमें पृथ्वीके माप, तौल, परिमाण आदिका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक आधेयको आधारके माप-तौलका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है। हमारे सिरमें रहनेवाली जूँके लिये सिरके बाल वनस्पतिके तुल्य हैं; यदि उसे संयोगवश पीठपर आना पड़े तो उसे यह एक वनस्पतिशून्य सरपट मैदानके ही समान जान पड़ेगा। अथवा यदि उसे कानके भीतर जाना पड़े तो इसे वह एक बड़ी लम्बी-चौड़ी अन्धकारमयी गुफा समझेगी। कहनेका तात्पर्य यही है कि हमारे शरीरके कीटाणु हमारे शरीरकी इयत्ताको उसी प्रकार ठीक-ठीक नहीं जानते जिसप्रकार हम लोग अपने आधार पृथ्वीकी इयत्ताको नहीं जानते हैं। जिसप्रकार हम लोग खाना-पीना, शौचादि करना, सन्तानोत्पादन करना प्रभृति कर्म पृथ्वीपर अनायास करते हैं और पृथ्वीको कोई शरीर नहीं मानते उसी प्रकार जूँ, मांस तथा रुधिरके कीटाणु अपने सभी प्रकारके कर्म हमारे शरीरपर करते हैं और इसे शरीर नहीं, बल्कि पृथ्वी-जैसी बड़ी चीज़—आधार मानते हैं। हम इन कीटोंसे बने हुए कीटमय शरीरके अभिमानी हैं और पृथ्वीके आधारपर टिके हुए हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरके समस्त कीट अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं और हमारे शरीरके आधारपर टिके हुए हैं।

अब यदि थोड़ा सा और सूक्ष्म विचार करें तो जान पड़ेगा कि इन कीटोंका शरीर भी हमारे शरीरके समान ही सूक्ष्मतर कीटोंसे मिलकर बना है। क्योंकि यह निश्चय बात है कि प्रत्येक शरीरमें कीट होते हैं और कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ कीट न हों। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रसे देखनेपर यह जाना जा चुका है कि हमारे शरीरके रक्तके एक बूँदमें असंख्य कीटाणुओंके शरीर हैं, तथा साफ पानीके एक बूँदमें भी असंख्य कीट होते हैं। अस्तु, हमारे शरीरके कीटाणुओंके शरीर अपर सूक्ष्म कीटाणुओंसे निर्मित हुए हैं तथा हमारे शरीरके कीटाणु उन सूक्ष्म कीटाणुओंके आधार हैं, एवं वे सूक्ष्म कीटाणु अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं।

यदि इसी प्रकार आगे बढ़ते जायँ तो यह ताँता वहाँ जाकर खतम होगा जहाँ चेतन प्राणमय सत्ताके अतिरिक्त कुछ भी न बच रहेगा। यह चेतन-सत्ता उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणुओंसे लेकर हमारे शरीरतकमें ओतप्रोत है। बीचके समस्त अभिमानी शरीरोंका ज़रा-सा भी स्थान ऐसा नहीं, जो उस चेतन-सत्तासे रहित हो।

यह तो हुई सूक्ष्मकी बात, अब ज़रा आइये विभुकी ओर बढ़ें । पृथ्वी हमारा आधार है और हम उसके आधेय हैं । जिसप्रकार हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले आधेयरूप कीटाणु हमारे शरीरसे पृथक् नहीं बल्कि इसके ही एक अंग हैं उसी प्रकार हम भी पृथ्वीके एक अंग हैं । और पृथ्वी भी एक शरीर है । वैदिक साहित्यमें सभी पदार्थोंका एक अभिमानी देवता माना गया है । मनुष्य-शरीरका अभिमानी देवता मनुष्य है, पृथ्वीका अभिमानी देवता पृथ्वी और सूर्यका अभिमानी देवता सूर्य है । जो होता है उसीका वह शरीर होता है और वह किसीका आधेय होता है । पृथ्वी एक अभिमानी आत्माका शरीर है जिसका आधार सूर्य है । सूर्य अपने शरीरका अभिमानी देवता है, जिसमें समस्त ग्रहमण्डलका समावेश हो जाता है, अतः उसका आधार कोई उससे बड़ा मण्डल है । इसी प्रकार आगे बढ़ते जायँ तो इस अनन्त विश्वका एक चरम सीमाका अर्थात् निःसीम अभिमानी देवता मिलेगा । उसे ही हम ईश्वर कहते हैं ।

वह ईश्वर सबका आधार है । उसका कोई आधार नहीं । यदि कोई उसका आधार होता तो वह उसको भोग प्रदान करनेके लिये होता । जैसा हम पहले कह चुके हैं कि आधार आधेयके भोगके लिये ही होता है । परन्तु ईश्वर सर्वमय है अतः वह निराधार है ।

ईश्वरको, जो समस्त विश्वका अभिमानी चेतनात्मा है, संसारके सञ्चालन करनेके लिये उसी प्रकार यत्न नहीं करना पड़ता है जिसप्रकार कि हमें आँखके झपकानेमें यत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि उसकी बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त क्रियाएँ स्वाभाविकी होती हैं—

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । (श्रुति)

भगवान्‌का निरूपण तो हुआ, परन्तु उसका प्रत्यक्ष कैसे होता है ? ऊपरके विवेचनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि जब हम कहते हैं कि मनुष्य प्रत्यक्ष दीखता है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि हम शरीर-विशिष्ट चेतन-सत्ताको प्रत्यक्ष करते हैं । केवल आत्मा कभी प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः अब यह निर्विवाद मानना होगा कि यह समस्त विश्व ईश्वरका शरीर है और हमें शरीर-विशिष्ट ईश्वरका प्रतिक्षण प्रत्यक्ष हो रहा है ।

भगवान् मेरे बगीचेमें

(लेखक—श्रीयुत मोर्टन अलेक्ज़ेण्डर, सम्पादक ह्यूमानिटी, अमेरिका)

आज सुबह मैंने भगवान्‌के दर्शन किये । धन्य हैं वे आँखें जिन्होंने उस प्यारे मनमोहनकी छविको निहारा । अनन्त कालसे प्राण उसकी खोजमें छटपटा रहे थे । लोगोंने उसे पुकारते-पुकारते रात और दिन एक कर डाला ।

उनमेंसे कई चिल्ला उठे—'देखो, 'भगवान् ये रहे ।' कोई दूसरा कहने लगा—'भगवान् यहाँ नहीं, वहाँ हैं ।' परन्तु हाय ! कोई भी उनका पता न लगा सका ! रात्रिमें जिसप्रकार बालक नींदमें चिल्ला उठते हैं उसी प्रकार असंख्य प्राणी 'हे भगवन् ! तुम कहाँ हो ? सम्मुख क्यों नहीं आते ?' *इसप्रकार चिल्लाते-चिल्लाते अपनी दुःख एवं* नैराश्यपूर्ण स्वल्प जीवन-लीलाको समाप्त करके चले गये परन्तु उसका पता नहीं पा सके ।

लाखों दूसरे भाई 'यह सब मिथ्या है, कहीं कोई ईश्वर नहीं है', इसप्रकार बिलखते-बिलखते घोर निराशाके अन्धकारमें विलीन हो गये ।

परन्तु मेरे प्यारे भाइयो ! क्या ही अच्छा होता यदि आजके भाग्यशाली उषाकालमें आप मेरे साथ मेरे बगीचेमें चलते ! अहा ! मैंने उस प्रियतमकी छविको देखा ही नहीं, उसके हृदयहारी मन्द मधुर स्वरको इन भाग्यवान् कानोंसे सुना भी । इतना ही नहीं, मैंने उसके सलोने अंगोंसे प्रस्फुटित होनेवाली उल्लासजनक स्वर्गीय सुगन्धका भी अनुभव किया ।

पहले मुझे सन्देह हुआ कि कहीं आँखें मेरी वञ्चना तो नहीं कर रही हैं ? क्या यह मधुर मूर्ति जिसे मैं देख रहा हूँ, सच्ची है ? सामने आम्रवृक्षकी शाखापर नव किसलयोंके क्रोडमें बैठी हुई बुलबुल बोल उठी, 'क्या तुम नहीं देखते ? क्या तुम नहीं देखते, यह वही तो है ? निस्सन्देह वही है ।'

ईसाने क्या ही अच्छा कहा है—'वही लोग ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है ।'

कर्मफल ईश्वराधीन

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ (गीता)

संसारमें आकर जो अज्ञ—अनजान रहेंगे, मिथ्याज्ञानमें फँसे रहेंगे, अथवा विज्ञ होकर भी अश्रद्दधान—श्रद्धाविहीन रहेंगे, अथवा संशयात्मा—सन्देहवादी बने रहेंगे किंवा सन्देह-सागरमें गोते खाते रहेंगे, ऐसे लोगोंको तो न यह लोक है, न परलोक है और न किसी प्रकारका सुख ही है।

इसीलिये अज्ञानावस्थासे बाहर निकलनेके लिये, अथवा विज्ञ रहते भी अश्रद्दधान कोटि किंवा सन्देहवादको मिटानेके लिये गीताने जो सुन्दर उपाय बतलाये हैं, वह ये हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अर्थात् तत्त्वदर्शी, साक्षात्कृतधर्मा आप्त ज्ञानी पुरुषोंके पास जाकर प्रणिपातसे (आन्तरिक श्रद्धाका द्योतक नमस्कार, अभिवादनादि) सेवया—सेवासे क्योंकि—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिसप्रकार कुएँको खोदनेवाला कुदालीसे खोदता-खोदता कुछ कालमें जलको पाता है इसी प्रकार शुश्रूषु पुरुष गुरुगत विद्याको प्राप्त करता है। प्रणिपात और सेवा इन दो आवश्यक साधनोंके साथ-साथ, परिप्रश्न अर्थात् जिज्ञासित विषयको स्पष्ट करनेके लिये, गुरुसे उनकी बातको स्पष्ट करानेके लिये, विविध प्रश्न—इसप्रकार पुरुष विज्ञ, श्रद्दधान और संशयरहित बनकर इष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता था पर अब वह परम्परा लुप्त-सी होती जाती है।

अब ऐसी गुरु-शिष्य-परम्परा कम देखनेको मिलती है और विदेशी पद्धति एवं विदेशी शासनमें शिक्षा-प्रणाली भी विदेशी और अस्वाभाविक हो रही है, इसीलिये हमारे देशके युवक स्वशिक्षा, स्वशास्त्र, स्वधर्म और स्वकर्मके गहन तत्त्वोंसे अनभिज्ञ, अश्रद्दधान और संशयात्मा हो रहे हैं। इनके मस्तिष्कमें ऐसे ज्ञान-विज्ञान भरे अथवा ठूँसे जाते हैं कि इनको न तो ईश्वरमें विश्वास रहता है। और न कर्मफलमें ये कोरे संशयात्मा बन जाते हैं, इसीलिये भारत दुखी है, यह नवयुवक सदा पूछते रहते हैं कि 'तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? जीता है या मरा है? यदि जीता है तो फिर भारतकी दुर्दशा क्यों हो रही है? यह दिन-दहाड़े अत्याचार और अनाचार क्यों बढ़ रहे हैं? धार्मिक भारतवासियोंको, सात्त्विक भारतवासियोंको, दैवी सम्पद्के उपासक भारतीयोंको ये—

'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥'
'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'
'प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः'

आसुरी सम्पद्वाले क्यों दबोचे जा रहे हैं, क्यों खाये जा रहे हैं? इत्यादि।'

प्रश्न करनेवालोंको यह विदित नहीं कि कर्मफल भी कोई वस्तु है और वह उस ईश्वरके अधीन है जो कि हमारे कर्मानुसार कभी हमारे प्रयत्नोंको सर्वथा निष्फल कर देता है, कभी प्रयत्नोंका फल बहुत देरमें देता है, कभी (प्रत्यक्षरूपमें मालूम नहीं पड़ता कि हमने कुछ किया किन्तु) बिना कुछ किये ही दोनों हाथोंसे फल देता है और हम चकित रह जाते हैं कि हमने न कुछ किया और न कराया, सेंत-मेंतमें यह फल कैसे मिल गया? हम अज्ञ, अश्रद्दधान, संशयात्मा यह नहीं जानते कि किसी समय, जन्म-जन्मान्तरमें सञ्चित कर्मका यह फल आया है। हम यह समझते हैं कि किये जानेवाले कर्मोंका फल तुरन्त ही अपने सामने आ जाय तो ईश्वर है नहीं तो नहीं, यह हमारी मूर्खता है। भला अनन्त कर्माशयकी बातको तो हम कब जान सकेंगे जब कि हम इसी जीवनमें जीते जी देखते हैं कि दस-पाँच सालकी बाततकको हम भूल जाते हैं। हाँ, अपरिग्रहमें स्थैर्य रखनेवाले योगीजन अवश्य ही

जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंको जान लेते हैं, पर वह भी पूर्ण रीतिसे नहीं—एक-दो जन्मके कर्मोंको जान भी लिया तो क्या बात हुई ?

प्रायः नवशिक्षित यह कहते रहते हैं—यदि किया हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता तो वह कर्म स्वयं जब चाहे, जिस रूपमें चाहे, जितनी मात्रामें चाहे, फलेगा और अवश्य फलेगा। इसके फलनमें ईश्वरका अडंगा क्यों लगाया जाय ? इन संशयात्माओंको यह विदित नहीं कि जड-कर्म चेतनाश्रयके विना स्वेच्छासे फल नहीं दे सकते। यदि कर्मोंमें इसप्रकारकी चेतना-शक्ति होती तो सम्भवतः ईश्वरकी आवश्यकता न रहती, कर्म स्वयं ही एक दूसरा ईश्वर बन बैठता। इन लोगोंको यह पता नहीं कि कर्म करना, न करना, उलटा करना, यह सब जीवात्माके अधीन है। इसलिये जीवात्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल भोगनेमें परतन्त्र है। इसीलिये वेदोंमें उपदेश दिया गया है कि—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
>
> (यजुः—ईशोपनिषद्)

हे मनुष्य! शुभ कर्मोंको करते हुए और फलकी इच्छा छोड़कर सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न कर, इससे तुझको कर्म नहीं चिपटेंगे और तू भी कर्मजालमें जल-कमलवत् रहकर सुख-दुःखोंसे ऊपर उठेगा।

बात तो ठीक है, गीता भी ऐसा ही कहती है, उपनिषदोंका अस्पर्शवाद, गौड़पादकारिकाका अलेपवाद, कर्मयोग आदिका यही अभिप्राय है क्योंकि फल अपने अधीन नहीं है। हम संसारकी घटनाओंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो विदित होगा कि कर्मोंकी विचित्र गति है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने एक प्रसंगपर कहा है कि—

> समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न तत्रास्माभिः किं कर्त्तव्यम्।

छात्रोंमें समानरूपसे पढ़ने और प्रयत्न करनेवालोंमें कुछ तो उस अर्थको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उस विषयको जान जाते हैं, दूसरे कोरे बुद्धू रह जाते हैं, इसमें हम क्या करें ? यही बात दूसरी जगह हम प्रत्यक्ष-रूपमें देखते हैं कि एक ही वस्तुके लिये कोई घोर प्रयत्न करके भी फलसे वञ्चित रह जाता है, कोई नाममात्र फल पाता है, कोई बहुत कुछ न करके भी न जाने बैठे-बैठे फल पा जाता है। कोई जन्मसे ही राजपुत्र, कोई जन्मसे ही दरिद्रनारायण, कोई जन्मसे ही गायक, कवि, विद्वान्, बुद्धिमान् और कोई जन्मसे ही जड होता है। यह आर्थिक, बौद्धिक और अन्य प्रकारकी विषमताएँ क्यों? सबका उत्तर एक है—कर्मफल। दूसरी ओर देखते हैं कि इसी जन्ममें किये गये बहुत-से कर्मोंके फल मिलते भी हैं, नहीं भी मिलते। यह क्यों ?—कभी-कभी उलटे भी मिलते हैं, यह क्या आश्चर्य नहीं। इसीलिये मानना पड़ता है कि कोई ऐसी अदृश्य शक्ति पीछे अवश्य है जो कर्म-सूत्रोंको हाथमें लेकर प्राणियोंको स्वेच्छापूर्वक कठपुतलीकी तरह नचाती रहती है। इसी बातको न्याय-दर्शनमें बहुत स्पष्ट किया गया है—

पूर्वपक्ष—

> ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्यदर्शनात्।
>
> (४।१९)

अर्थात् पुरुष जो प्रयत्न करता है यह आवश्यक नहीं उसका फल अवश्य ही पावे। इससे ज्ञात होता है कि फल पराधीन है और वह जिसके अधीन है वही ईश्वर है।

उत्तरपक्ष—

> न पुरुषकर्माभावे फलनिष्पत्तेः
>
> (४।२०)

यदि फल ईश्वराधीन है तो फिर पुरुषको विना कर्म किये ही फल क्यों नहीं मिलता, विना कर्मके ही फल मिलना चाहिये।

सिद्धान्तपक्ष—

> तत्कारितत्त्वादहेतुः (४।२१)

जब पुरुष प्रयत्न करता है तब यदि ईश्वर अनुग्रह करता है तो उसका फल मिलता है, यदि पुरुषके पुरुषार्थके साथ उसका (ईश्वरका) अनुग्रह न हो तो वह कर्म निष्फल जाता है—इसलिये तुम जो कह रहे हो कि विना ही कर्मके ईश्वर फल देवे यह बात युक्तियुक्त नहीं।

इसपर कोई यह आपत्ति कर सकता है कि किया हुआ कर्म नष्ट हो जाय यह बात कैसे ? समझानेके लिये मोटी-सी बात यह कह सकते हैं कि पूर्व जन्ममें तुमने

किसीके किये-कराये कामको बिगाड़ा था, इस जन्ममें तुमने इसी प्रकारका काम किया, तुमको तो वह बात—बिगाड़नेकी बात याद नहीं रही। पर न्यायकारी ईश्वर जानता है, उसने भी न्याय-परायणतासे तुम्हारा किया-कराया काम बिगाड़ दिया, खेल बिगाड़ दिया अर्थात् तुम्हारे कर्मको निष्फल कर दिया—इसीसे इसप्रकारके विफल कर्मोंकी बात समझ लीजिये। किसीने पूर्वजन्ममें इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि इस जन्ममें बिना पुरुषार्थसे ही उसको विपुल धन, विपुल सामग्री, विपुल बुद्धि, विपुल विद्या मिली। इसमें किसीसे ईर्ष्या-डाहकी अथवा ईश्वरको कोसते रहनेकी क्या बात है? मोटा-सा दृष्टान्त लीजिये—

एक किसानने खेतमें हल चलाया, बीज बोया, वृष्टि भी हुई, फसल भी खड़ी हुई, पर दैववश उसे कोई और ही काट ले गये अथवा वह स्वयं अचानक मर गया और उस फसलका उपभोग दूसरे ही ले रहे हैं जिन्होंने ज़रा भी पुरुषार्थ नहीं किया था। इसी एक दृष्टान्तसे प्रारब्ध, क्रियमाण और सञ्चित कर्मोंकी बात समझमें आ जायगी। यह कर्म-मीमांसा और उसकी फल-मीमांसा इतनी गहन है कि भगवान् श्रीकृष्णको भी 'गहना कर्मणो गतिः' कहना पड़ा।

यह जन्म-चक्र-परम्परा भी इस कर्म-वैचित्र्यके कारण ही है। इसीलिये मनुष्य जो कर्म करता है—धर्म-अधर्म करता है उसके फलोंका नाम शास्त्रकारोंने 'अदृष्ट' रख छोड़ा है। 'अदृष्ट' अर्थात् जो देखे नहीं जाते किन्तु जिनको भुगतना पड़ता है। अदृष्ट संस्कारोंकी भी यही महिमा है। जब 'अदृष्ट' प्रतिबन्धक पड़ जाते हैं तब पुरुषार्थ नहीं फलता। जब 'अदृष्ट' अनुकूल पड़ जाते हैं, जितने अंशमें अनुकूल पड़ जाते हैं उतने अंशोंमें फल भी मिलता है। इस अदृष्टचक्रका प्रवर्तक है वही न्यायकारी प्रभु। गीतामें इस बातको—

(१) अधिष्ठानं तथा (२) कर्ता (३) करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् (४) चेष्टाः (५) दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

—कहकर स्पष्ट किया है। किसी कार्यकी सफलताके पाँच कारण हैं (१) अधिष्ठान अर्थात् स्थान (२) कर्ता=करनेवाला (३) करण अर्थात् उपकरण (४) चेष्टा=प्रयत्न और (५) दैव अर्थात् परमेश्वर जिसको हम दैव कहते हैं वही दैव है। इन पाँचोंमेंसे एक भी न रहे तो कार्य विफल हो जाता है। प्रथम चार विद्यमान भी हों और पाँचवाँ दैव प्रतिकूल रहे तो सब अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टा विफल हो जाती हैं। एक कुम्हार मिट्टी, उपकरण अर्थात् दण्डादि सामग्री लेकर घड़ा बनाने बैठता है इतनेमें अदृष्टवश ऐसी आँधी आती है कि उस आँधीसे पासके एक पेड़की बड़ी शाखा बने-बनाये घड़ेपर आ पड़ती है और बना-बनाया घड़ा नष्ट हो जाता है। अथवा बने-बनाये घड़े आँवेमें रख दिये और आँवा तैयार होनेपर देखते हैं कि आधा घड़ा पक गया, आधा कच्चा रह गया, अथवा घड़ा पक गया तो उसमें चीर पड़ गयी इसलिये कामका न रहा। कहिये है कि नहीं दैवविलसित? यही बात मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें देखे तो न उसको हर्ष होगा न विषाद।

इसीलिये गीताने फलकी कामना छोड़कर निष्काम-भावसे कर्म करते रहनेका उपदेश दिया है। जब निष्काम-भावसे कर्म करोगे, फल मिले तो वाहवा, न मिले तो विषाद नहीं; थोड़ा फल मिले तो भी सन्तोष रहेगा। जिसने इस अदृष्टचक्रको समझा, जिसने कर्मकी गहन गतिको जाना, जिसने दैवगतिको पहचाना वह पुरुष जगद्वन्द्य है। जब अदृष्टचक्रका प्रवर्त्तक दैव है—जैसा कि वेदान्त कहता है—शुभाशुभका प्रवर्त्तक वह है—तब क्यों न उसीपर सब कुछ छोड़कर हम निष्कामभावसे अपने कर्म करते रहें। जब हमारा कोई कार्य सफल नहीं होता तब हम समयको दोष देते हैं, ईश्वरको दोष देते हैं और प्रारब्धको कोसने लगते हैं। इसमें न समयका दोष, न ईश्वरका दोष, न प्रारब्धका दोष—यदि कुछ दोष है तो वह है कर्मदोष। बस, एक तत्त्वको समझ लीजिये।

'स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः'

मुझ-जैसा अल्पज्ञ इस विषयमें अधिक विवेचन करनेमें असमर्थ है। मैं गीता अध्याय १६ के एक वाक्यकी ओर अंगुलिनिर्देश करके इस लेखको समाप्त करता हूँ। वह वाक्य यह है और बड़े महत्त्वका है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'

अच्छा, नमस्कार! प्रत्येक कार्य करते हुए चाहे वह देशका हो अथवा धर्मका, इस तत्त्वको न भूलिये। ईश्वरपर विश्वास रखिये और फलकी ओर न देख बेखटके आगे बढ़ते जाइये।

ईश्वर-समर्पण

(लेखक—रूसी ऋषि श्रीनिकोलस रॉयरिक)

ओ दिक्कालाद्यनवच्छिन्न सत्ता! प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जब क्षोभ हुआ उस समय तू विद्यमान थी; समयके प्रवाहसे भी पूर्व तेरा अस्तित्व था; तू निर्गुण है, तेरे अन्दर तीनों शक्तियोंका समावेश है; तू एक, सर्वव्यापक, चैतन्य शक्ति है; तू निलयरहित है, स्वयम्भू है और अचिन्त्य है। तेरी सत्ता सब जगह परिपूर्ण है, सब कुछ तेरे अन्दर समाया हुआ है, तू ही सृष्टिकी उत्पत्ति एवं पालन करनेवाली है; तुझे हम ईश्वर कहकर पूजते हैं।

उपर्युक्त स्तुति रूसके आदिकवि Dergavin के अमर काव्यके (जो उसने सन् १७८४ में लिखा था) प्रारम्भिक पद्यका भाषानुवाद है।

एक दूसरा रूसका महाकवि यों कहता है—

'मैं गगनमण्डलमें उस परमेश्वरकी छविको देखता हूँ।'*

गिरजाघरोंमें प्रार्थनाके समय निम्नलिखित वाक्यका पाठ किया जाता है—

'मेरा उस एक ईश्वरमें विश्वास है जो सर्वशक्तिमान् पिता है और जो द्यावा, पृथिवी तथा प्रत्येक दृश्य एवं अदृश्य पदार्थका रचयिता है।†

संसारकी समस्त जातियाँ अपनी-अपनी भाषामें उस परात्पर पुरुषोत्तम, समस्त प्राणियोंके प्राण, सारी सत्ताओंके आत्मारूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ही अथक एवं पवित्र प्रयत्न करती हैं। प्रत्येक पुरुष अपने-अपने संकुचित हृत्प्रदेशमें तथा उस सौन्दर्य-राशि-विषयक परिच्छिन्न ज्ञानकी सीमामें उस Elohim (परमेश्वर) के लिये उत्तम-से-उत्तम नामोंका प्रयोग करता है। हम चाहते हैं कि परमात्माकी पवित्र नामावली उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। जब हम उनको एकत्रित कर एक ही साथ उनका उच्चारण करते हैं उस समय उनके अन्दर संसारकी सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च वस्तुका भान होने लगता है, जिसके द्वारा मनुष्यके मानसिक भावोंकी अभिव्यक्ति होती है और जिससे स्थूल हाथोंपर पवित्रतम चित्रवर्ण लिखे जा सकते हैं। जिस समय बालक नक्षत्रोंकी छटाका दर्शन करता है और इसप्रकार अनन्त ब्रह्माण्डोंकी ओर दृष्टिपात करता है उस समय उसके मस्तिष्कमें उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी पवित्र विकाररहित सत्ताका भाव अवश्य जागृत होता है। इस उदात्त विचारसे उसके अन्दर वही सनातन देदीप्यमान भाव उदित होता है जिसका वर्णन निम्नलिखित पंक्तियोंमें किया गया है—

'मेरे पिताके कई महल हैं।'

इससे एक दूसरी उक्तिका भी समर्थन होता है जो उतनी ही महान् एवं व्यापक है। वह इसप्रकार है—

'परन्तु वह समय आता है और इस क्षण भी वर्तमान है जब सच्चा पुजारी उस परम पिताकी सच्चे भावसे पूजा करेगा क्योंकि वह पिता ऐसे लोगोंकी खोजमें रहता है, जिनकी वह स्वयं सच्चे मनसे पूजा कर सके।'

A. H. Cotton नामक विद्वान्ने 'Has science discovered God?' (क्या विज्ञानने ईश्वरका पता लगाया है?) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जो हालहीमें प्रकाशित हुई है। उस संग्रहमें मुख्य-मुख्य वैज्ञानिकोंके ईश्वर-विषयक विचारोंका संकलन किया गया है। उसके अन्दर Millikan, Einstein, Oliver Lodge, Thompson, Byrd, Curtiss, Eddington, Jeans, Mather आदि प्रसिद्ध विज्ञानविशारदोंके विचार दिये गये हैं। इनमेंसे प्रत्येकने अपने ढंगसे परमात्म-तत्त्वकी महिमा गायी है जो सबसे ऊँचा एवं सबका समन्वय करनेवाला तत्त्व है और जिसके बिना अनन्तताके महत्त्वकी कल्पना भी असम्भव है।

वह समय अब नहीं रहा जब किसी झूठे वैज्ञानिक जड़वादके नामपर इस महान् तत्त्वका निराकरण किया

* And in heaven I see God.

† 'I believe in One God the Father, Almighty, Creator of Heaven and Earth and of everything visible and invisible.'

जाता था। मानव-जातिके इतिहासका परिशीलन करनेसे पता चलता है कि जब मनुष्यने अपने ही दोषोंसे अपनेको अज्ञानरूपी घोर अन्धकारसे घिरा हुआ पाया और अपने पार्श्ववर्ती पदार्थों, महान् आकृतियों एवं मूल तत्त्वोंके अर्थको नहीं समझ सका तब उसने निराश होकर नास्तिकवादका आश्रय लिया। हमारे पूर्वज भी कभी-कभी इस अहंकारपूर्ण दूषित सिद्धान्तको मानने लगते थे कि हमारे अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है। समस्त दूरवर्ती लोकोंको वे अपने ही विनोदके निमित्त टिमटिमानेवाले दीपकमात्र समझते थे और सूर्यको भी वे अपने व्यक्तिगत आरामका साधन मानते थे।

बाजारफ् (Bazaroff) नामक प्रसिद्ध नास्तिककी यह मूर्खतापूर्ण उक्ति थी कि मेरे मर जानेके बाद मेरी मिट्टीसे केवल *Burdock* के फूल उगेंगे। परन्तु इस-प्रकारकी मूर्खतापूर्ण उक्तियोंसे कहनेवालेकी निरभिमानता प्रकट होती हो, सो बात नहीं है। वास्तवमें इसप्रकारकी उक्तियोंसे वह यह व्यक्त करना चाहता था कि हमारे जड-शरीरके साथ ही हमारा भी अन्त हो जायगा। उसे अपने आपेक्षिक एवं भौतिक ज्ञानका बड़ा गर्व था। टर्जेनफ् (Turgeneff) नामक उपन्यासलेखकने अपने प्रसिद्ध उप-न्यास 'Fathers and Sons' (पिता और पुत्र) में इसप्रकार के एक नास्तिकका वर्णन किया है। टर्जेनफ् (*Turgeneff*) खूब जानता था कि इसप्रकारके सिद्धान्त कितने भ्रमपूर्ण होते हैं। एक दूसरे रूसी लेखक दस्तवस्की (Dostoevsky) ने इसी विषयपर एक उपन्यास लिखा है जिसमें उसने भविष्यमें होनेवाले नास्तिक किसानोंका एक उदाहरण दिया है। उसमें एक नास्तिक सिपाहीका वर्णन आता है जो गिरजाघरकी एक अत्यन्त पवित्र वस्तुको एक खम्भेपर रखकर उसपर गोली चलाता है। 'ईश्वर नहीं है' इस बातको अपने मनमें दृढ़ करनेके हेतुसे ही वह इस अपवित्र कार्यको करता है। ज्यों ही वह यह कार्य करता है, त्यों ही अपने सामने ईसामसीहकी-सी आकृतिको प्रकट होते देखता है। भविष्यमें आनेवाले नास्तिकवादके इस उदाहरणमें ईश्वरकी एक विचित्र प्रार्थनाका वर्णन है, जिसमें किसी पवित्र चिह्नके रूपमें चमत्कार दिखलानेकी इच्छा प्रकट की गयी है और यह इच्छा मानव-हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें सदासे बनी हुई है। इसप्रकार मनुष्य अपने हृदयमें इस बातको समझता है कि विनाशका प्रत्येक रूप नास्तिकताका द्योतक है।

हमारे पास हालहीकी छपी हुई एक मार्केकी पुस्तक है जिसमें उन चमत्कारपूर्ण घटनाओंका वर्णन है जो पिछले वर्षोंमें हुई हैं। इस पुस्तकके अन्दर ऐसी अनेक घटनाओं-का वर्णन है जो कई प्रत्यक्ष-दर्शियोंद्वारा प्रमाणित हो चुकी हैं और जिनका समाचारपत्रोंमें भी उल्लेख हो चुका है। *Lourdes* नामक स्थानमें लोगों-को चमत्कारोंके द्वारा किसप्रकार स्वास्थ्यलाभ हुआ, इसका अन्य पुस्तकोंमें भी उल्लेख मिलता है। हमें यह भी पता लगा है कि सन् १९२५ ई० में वल्गा (Volga) नदीके तटपर स्थित Kostroma नामक नगरमें एक वृद्ध साधु-का देहान्त हुआ। उसके पत्रोंमें हिमालयके तपस्वियों (Holies of Himavat) के आश्रमोंको कौन-सा मार्ग जाता है इसका वर्णन मिला है। इसके अतिरिक्त साइबेरिया-के कुछ लोग जो पुराने ईसाईमतको मानते हैं अब भी Belovodye (*White Waters*) नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करते हैं और ईश्वरके साथ ऊँचे-से-ऊँचा सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं। उसी मार्गमें 'Don-dam-donpa' अर्थात् तिब्बतके बौद्धोंके अनुभव-का सबसे ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है।

मनुष्य यदि विवेकहीन नास्तिकवादके मार्गको छोड़-कर ईश्वरके मार्गपर आरूढ़ हो जाय जो ज्योतिर्मय सर्गात्मक विचारका मार्ग है, तो उसे संसारकी सारी जातियोंसे ईश्वरकी सत्तामें असंख्य प्रमाण एवं उसमें विश्वास उत्पन्न करनेवाली अनेक सत्य घटनाएँ मिलने लगेंगी, जिनका महत्त्व शुद्ध अन्तःकरणवाले लोगोंपर तुरन्त प्रकट हो जायगा। वे सारी जातियाँ जो ईश्वर-प्राप्तिकी चेष्टा कर रही हैं और जो ईश्वरको प्रकट कर रही हैं, अपने मनमें यह भी जानती हैं कि उनका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। सब अपने-अपने ढंगसे और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उसी उज्ज्वल भविष्यकी आशा लगाये उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे दिल खोलकर प्रार्थना करते हैं। इस्फहानमें उस महापुरुषकी अगवानीके लिये सफेद घोड़ा (White steed) अभीसे कसा-कसाया तैयार है। Hamadan का Rabbi यह कहेगा कि 'यदि तुम प्रकाशकी खोजमें

हो तो तुम भी Israel हो।'* भारतवर्षके ब्राह्मण वसन्तऋतुके नये पुष्पोंको लेकर तुम्हारे साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अर्चा करने आ रहे हैं। उनमेंसे प्रत्येक मनुष्य जो अपने ढंगसे उस श्रेष्ठ एवं प्रशस्त भविष्यकी प्रतीक्षामें उद्योग कर रहा है ईश्वरको जानता है।

J. St. Hilaire द्वारा लिखित 'On Eastern crossroads' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमें गुरु-भक्तिके विषयमें एक बड़ी भावपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक उक्तिका उल्लेख किया गया है जिसका भाव यह है—

"मुझे एक छोटी अवस्थाके हिन्दू-बालककी अच्छी तरह याद है जिसे गुरु मिल गया था। हमने उससे पूछा कि 'गुरुके अभावमें यदि तुम सूर्यकी ओर झाँको तो क्या तुम्हें सूर्यका प्रकाश मालूम होगा?'

लड़केने मुस्कराकर उत्तर दिया कि 'उस समय सूर्यकी सत्ता अवश्य रहेगी परन्तु अपने गुरुदेवके सान्निध्यमें मेरे लिये एक नहीं बारह सूर्योंका प्रकाश होगा।'

भारतवर्षके ज्ञानका सूर्य अवश्य चमकेगा क्योंकि नदीके तटपर एक ऐसा बालक बैठा है जो गुरुको जानता है।"

जो लोग विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न पुरुषोंका इसप्रकार आदर करते हैं उनके अन्दर ईश्वरकी सत्तामें अटल विश्वास प्रकट होता है। केवल विश्वास ही नहीं, उन्हें ईश्वरके स्वरूपका परोक्ष ज्ञान भी है ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानके अनन्तर ईश्वरकी खोज प्रारम्भ होती है और खोजसे उसकी अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, कण-कणमें उसकी सत्ता व्याप्त है, इस बातको जान लेनेसे ईश्वरकी महत्तामें कोई अन्तर तो आता ही नहीं। बल्कि इस बातको जान लेनेपर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्थाओंमें, दूरवर्ती लोकोंमें, यहाँतक कि हमारे नेत्र जिन-जिन वस्तुओंको देखते हैं और हमारे हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें हम जिस-जिस वस्तुका अनुभव करते हैं उन सबके अन्दर वास्तविकता आ जाती है। मनुष्यका हृदय सूर्योंका सूर्य है, वह उस सर्वशक्तिमान् प्रभुका मन्दिर है। सच पूछिये तो विज्ञान और महान् धर्मोंमें चिरकालतक पार्थक्य नहीं रहता। शक्ति, रश्मि, लहरें, स्वर और वे सारी महत्ताएँ जो आँखोंसे नहीं दिखायी देतीं और जो ईश्वरकी वास्तविक शक्तिके चमत्कार हैं हमें इस बातके लिये प्रेरित करती हैं कि हम उनपर निष्पक्षभावसे विचार करें, क्योंकि ऐसा करनेसे हम उस अनन्त ज्ञानार्णवके समीप पहुँच सकते हैं, उन सबसे ऊँचे सुन्दर लोकोंमें जा सकते हैं जहाँ छोटे-छोटे सांसारिक भेद नहीं दीख पड़ते, जहाँ द्वेष और घृणाका अस्तित्व ही नहीं है किन्तु सर्गात्मक विचारकी प्रचण्ड ज्वाला जहाँ सदा प्रदीप्त रहती है और उस सर्वशक्तिमान्‌के महान् संकल्पके प्रकाशमें प्रबुद्ध-हृदयकी ज्वालासे मानवीय संकल्प उदात्त हो जाता है।

अबतक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने हृदयका व्यापार शरीरतक ही सीमित बताया है, उन्होंने उसकी उच्चतर उपयोगिताको नहीं समझा है। हृदयका कार्य उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियोंका परिवर्तन करना है जो निरन्तर उसमेंसे होकर प्रवाहित होती रहती हैं और ज्ञानको परिपक्व एवं परिमार्जित करती रहती हैं। हिन्दुओंकी प्राचीन परम्परासे यह ज्ञान है कि मनरूपी दुर्धर्ष शक्तिका निवास हृदयमें है और यही कारण है कि वे लोग जब विचारकी बात करते हैं तब हृदयपर अपना हाथ रखते हैं। इसप्रकार मस्तिष्कका यन्त्र जिसे कभी-कभी लोग हृदयके व्यापारसे बलपूर्वक पृथक् कर देते हैं फिरसे वास्तविकताका सच्चा सहकारी बन जाता है, और सहकारिताके इस भावमें आत्मा अर्थात् ईश्वरकी सर्वव्यापकताके महान् तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है। सहकारिताका भाव जो मानवजातिके उज्ज्वल भविष्यके लिये पूर्वनिश्चित है सच्ची ईश्वरानुभूतिके बिल्कुल निकट है। जिन लोगोंकी आत्मा प्रबल होती थी वे ईश्वरका अनुकरण करनेके दायित्वपूर्ण कार्यसे भयभीत नहीं होते थे। Thomas a Kempis द्वारा रचित 'The Imitation of Christ' नामक पुस्तकमें अहंकारका भाव नहीं है अपितु उच्चतम सहयोगके लिये आह्वान है।

पूर्वीय देशोंमें प्राचीन कालसे ही ईश्वरकी भावना दृढ़ रही है, इसीलिये उन्हें इस बातको देखकर आश्चर्य हुआ कि विज्ञान अपनेको ईश्वरसे पृथक् करनेकी चेष्टा कर रहा है। पूर्वीय देशोंमें हृदयको ईश्वरके निकट पहुँचानेवाली प्रथम सीढ़ी माना है। Mt. Sinai के तपस्वियोंने तथा सारे ऋषियों एवं धर्मप्रवर्तकोंने, जिन्हें ईश्वर-प्राप्तिका रंग

* 'You are also Israel if you search for the Light!'

लग गया था, मानव-हृदयकी उन महान् शक्तियोंका पता लगा लिया था जो हमारे लिये आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक हैं।

स्वामी विवेकानन्दने ठीक कहा है कि कतिपय आधुनिक दार्शनिकोंने तत्त्वोंको समझनेकी शक्तिमें अन्तर होनेके कारण यह प्रश्न उठाया कि ईश्वर शब्दके स्थानमें किसी अन्य परिभाषाका रखना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु उन विज्ञ स्वामीजीने यह निर्णय किया कि इस शब्दके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे मानवीय प्रयत्नोंकी शक्ति सन्निहित है, इसीलिये उसके गम्भीर वाच्यार्थमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये। वास्तवमें इसप्रकारका निन्दनीय प्रयत्न उस आदियुगकी खोजके समान होगा जब मनुष्यका अन्तःकरण, जो कई प्रकारकी प्रारम्भिक परिस्थितियोंके बन्धनमें था, असीम महत्ताके तत्त्वको अपनी पार्थिव एवं सापेक्ष बुद्धि और परिभाषाओंकी सीमामें लानेकी चेष्टा करता था।

परमात्म-तत्त्वका, जिसके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे अनन्त गुणोंका समावेश है हम अपने पार्थिव एवं परिमित शब्दकोषके द्वारा वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु हृदयकी भाषा इसप्रकार संकुचित नहीं है। वह उस भाषाके द्वारा असीमताके उस सर्वोच्च ज्ञानको समझ लेता है जिसकी रश्मियाँ चेतनारूपी कमल-कुड्मल पर क्रीड़ा करती रहती हैं। मुझे स्मरण है कि एक बार मेरे स्वर्गीय प्रिय मित्र Alexander Blockने, जो एक प्रसिद्ध कवि थे *Religious Philosophic Society* (धार्मिक दार्शनिक परिषद्) में जाना छोड़ दिया था। जब लोगोंने उनकी अनुपस्थितिका कारण पूछा तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि 'मैं वहाँ इसलिये नहीं जाता कि लोग वहाँ अनिर्वचनीयकी व्याख्या करते हैं*।' उनके लिये यह महान् अनिर्वचनीय वाचामगोचर शक्ति वास्तविक थी। कविकी सूक्ष्म दृष्टिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्हें यह बात बड़ी धृष्टतापूर्ण जची कि इतने महान्, इतने सूक्ष्म एवं इतने अपरिच्छिन्न तत्त्वके विषयमें लोग वाक्कलह करें, जिसकी पुकार केवल हृदयके कानोंको ही सुनायी देती है। ईश्वरके लिये हम चाहे कितने ही बड़े शब्दोंका प्रयोग क्यों न करें, उनके द्वारा उसकी वर्णनातीत महत्तामें परिच्छिन्नता आ ही जाती है, जो आस्तिकोंके लिये एक महान् दोष है। इस समय ईश्वरको, प्राचीन शास्त्रोंकी आज्ञाओंको, उस अनिर्वचनीय, वाचामगोचर वर्णनातीत अपरिच्छिन्न शक्तिको, उस वस्तुको जो हमारे निकटतम है तथा जिससे प्रत्येक मानवहृदय सर्व-हितका विचार करते समय परिपूर्ण रहता है, स्मरण करनेका खास अवसर है। शास्त्रके सर्वोत्तम आदेशोंमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताका कैसा सुन्दर वर्णन है!

संसार अनेक प्रकारके संकटोंसे छिन्न-भिन्न हो रहा है, इस विपत्तिमें, इस दैन्यावस्थामें आवश्यकता इस बातकी है कि एक बार फिर महान् ईश्वरीय तत्त्वका प्रचार हो। मनुष्य यदि उस तत्त्वका आंशिक अनुभव भी कर ले तो उसका जीवन नन्दनकानन बन जाय। जीवका ईश्वरसे विमुख होना, उस स्वतन्त्र, बन्धनरहित देदीप्यमान ज्ञानसे विमुख होना, पूर्णताके पूर्वनिश्चित आनन्दसे मुँह मोड़ना इस उपयोगी सांसारिक जीवनको शोकपूर्ण बना देना है। किन्तु हमारा भविष्य दुःखमय नहीं है, हमारे भाग्यमें विपत्ति नहीं लिखी है, हमारे लिये सर्वातिशायी आनन्द, सर्गात्मक विचारधारा एवं हृदयरूप मन्दिरमेंसे निकलनेवाला सुखमय सौरभ ये सब निश्चित हैं। ईश्वरोन्मुख मनुष्योंको परिणाममें कभी दुःख नहीं मिलता, उनका निवास सदा परिवर्तित परिश्रम एवं ज्ञानके सुखमय उद्यानमें ही होता है। कवि Derjavin अपनी ईश्वरविषयक कविताको इसप्रकार समाप्त करता है—

'हे सृष्टिकर्ता! मैं तेरी ही सृष्टि हूँ! मैं तेरे ही ज्ञानका परिणाम हूँ! तू जीवनके आनन्दमय स्रोतको बहानेवाला है, तू ही मेरी आत्माका जीवन है, उसका स्वामी है। तेरी विज्ञता यह चाहती है कि मेरी अमर सत्ता मृत्युके भयानक गर्तमेंसे होकर गुजरे, मेरी आत्मा मर्त्यलोककी सैर करे और मृत्युके व्याजसे, ऐ पिता! मैं तेरी अनन्ततामें फिर समा जाऊँ!

ओ अनिर्वचनीय अचिन्त्यशक्ति! मैं यह जानता हूँ कि मेरी आत्माकी कल्पनाएँ तेरी छायाको भी नहीं जान सकतीं। परन्तु यदि तेरी महिमाका गान ही किया जाय तो हम शक्तिहीन मर्त्यजीव इससे बढ़कर तेरा क्या आदर कर सकते हैं कि हम अमर शरीर धारणकर तेरी दृष्टिसे ओझल हो जायँ और तेरे लिये कृतज्ञताके आँसू बहावें!'

* *Because they speak there of the Unspeakable.*

आन्तरिक ज्योति

(लेखिका—श्री लिलि एल. एलन, धर्मपत्नी स्व० जेम्स एलन)

जब प्रातःस्मरणीय प्रभु ईसामसीहने अपने शिष्योंसे यह कहा कि 'अपनी ज्योतिको जनतामें इसप्रकार जगमगाने दो कि उसके द्वारा वे तुम्हारे सत्कार्यों-को देख सकें और वैकुण्ठमें रहनेवाले उस परम पिताकी महिमाका विस्तार हो,'* उनका अभिप्राय केवल सत्-कार्योंके प्रभावको बतलाना ही नहीं था। चिरकालतक हमारी यह धारणा रही कि उनकी इस उक्तिका आशय केवल सत्कार्योंकी महिमाको बतलाना ही था, किन्तु कई वर्षोंके परिपक्व अनुभवसे जो दीर्घकालके मौन-साधन एवं ध्यानसे प्राप्त हुआ है, हमें यह ज्ञात हुआ है कि ईसाने सत्कार्योंमें प्रतिभासित होनेवाले प्रकाशसे विलक्षण किसी और ही प्रकाशका यहाँ संकेत किया है। पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों देशोंके धर्म-ग्रन्थोंमें ज्योतिका वर्णन आता है। उदाहरणके लिये निम्नलिखित वाक्यांश पर्याप्त है—

वह ज्योति जो मर्त्यलोकमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्य-को उद्भासित करती है (The light that lighteth every man that cometh into the world) आन्तरिक ज्योति (The Inner light) ईश्वरके मुखकी ज्योति (The Light of God's Face) इत्यादि। हमें अपने आन्तरिक अनुभवसे जब उस ज्योतिकी वास्तविक सत्ताका पता लगा, तभीसे हमारे ध्यानमें यह बात आ गयी कि जिन 'सत्कार्यों' का ईसामसीहके उपर्युक्त वचनमें उल्लेख है वे उस ज्योतिका रूप नहीं, प्रतिविम्बमात्र हैं। जीवका परमात्माके साथ निकट सम्बन्ध हो जानेपर अन्तरमें एक ज्योति जगमगाने लगती है और तब उसके तथा ईश्वरके मुखारविन्दके बीचमें कोई व्यवधान नहीं रहता। जब हमारा अन्तःकरण कल्मषहीन हो जाता है और हम पवित्रता एवं शान्तिके मार्गपर आरूढ़ होकर उस परम पिताके समीप पहुँच जाते हैं, उस समय हमें उस ज्योतिके सम्यक् दर्शन होते हैं। उस समय हमें उसके प्रसारका अनुभव होता है और हमें यह भी भान होता है कि दूसरोंको भी उसकी सत्ताका ज्ञान है। वह ज्योति मस्तिष्कके अन्दर वास्तवमें प्रदीप्त रहती है और चेहरेके प्रत्येक अवयवमें उद्भासित होती है। इतना ही नहीं, शरीरकी प्रत्येक चेष्टामें वह प्रतिभासित होती है।

ईसामसीहने इस अन्तर्ज्योतिको 'विलक्षण नेत्र' के नामसे निर्देश किया है। उन्होंने एक स्थलपर कहा है—'तुम्हारे अन्दर जगमगानेवाली ज्योति यदि कहीं अन्धकारसे आवृत हो जाय तो बताओ वह अन्धकार कितना महान् होगा?' क्या हमलोग इस बातको नहीं जानते कि क्या वास्तविक पापाचरणसे—इन्द्रिय-परायणता, दुष्ट संकल्प, ईश्वरके अनुग्रहको प्राप्त करनेके साधनोंकी अवहेलना तथा ध्यान एवं प्रार्थनाकी आवश्यकताको भूल जानेके कारण हम उस प्रकाशको बुझा नहीं रहे हैं? हम जानते हैं कि हमारी क्रियाओं, संकल्पों एवं इच्छाओंसे वह प्रकाश शान्त हो जाता है। अधिक क्या, दर्पणमें यदि हम अपने मुखके प्रतिविम्बको देखें तो हमें वह अन्धकार स्पष्ट दिखायी देगा, यद्यपि दूसरे लोग उस अन्धकारको नहीं देख सकते। वास्तवमें वह अन्धकार कितना महान् है! जबतक वह ज्योति फिरसे प्राप्त नहीं हो जाती तबतक आत्मामें कितनी पीड़ा और छटपटाहट रहती है? वह आन्तरिक ज्योति जिसके सम्बन्धमें योगियोंने तथा पुराने (Quaker) सम्प्रदायके अनुयायियोंने बहुत कुछ लिखा है, केवल आन्तरिक अनुभवकी अपेक्षा कहीं ऊँची वस्तु है। इन पंक्तियोंकी लेखिकाको लगातार कई वर्षोंसे भलीभाँति यह विदित है कि जबतक आत्मा अपने अनुभवोंसे आज्ञानुवर्तिताका पाठ नहीं पढ़ लेता और उस ज्योतिको भीतर एवं बाहर निरन्तर जागृत रखने, उस पवित्र दीपको निरन्तर अखण्डरूपसे प्रदीप्त रखनेका उपाय नहीं जान जाता, जिससे कि वह सारे विश्वको उद्भासित कर उस परमपिताकी महिमाको बढ़ावे, वह प्रकाश कितनी ही बार बुझ जाता है।

---

* Let your light so shine before men that they may see your good work and glorify your Father which is in Heaven.

यह ज्योति आध्यात्मिक नहीं है, प्रत्युत एक भौतिक ज्योति ही है, यद्यपि यह ऐसे सूक्ष्म तत्त्वसे बनी हुई है कि उसे कोई छू नहीं सकता और मनके अतिरिक्त कोई उसका नाश भी नहीं कर सकता। वह इतनी सूक्ष्म है कि वह स्थूल पदार्थोंके अन्दर प्रवेश कर सकती है, मांस और हड्डियोंके आवरणको भेदकर चेहरे एवं कपालके अन्दरसे दिखायी दे सकती है और जिस समय वह आत्माके स्नेहकी शक्तिको पाकर तेजीसे चमकने लगती है उस समय वह चारों दिशाओंमें फैल जाती है और अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारको भी विदीर्ण कर सकती है। यह प्रकाश उस मनुष्यके व्यक्तित्वसे प्रस्फुटित होता है जिसे उसपर अधिकार प्राप्त हो चुका है। जो लोग अन्धकारमें हैं और जिनपर मृत्युकी छाया पड़ी हुई है उनको प्रकाशका दान देनेका आधुनिक जगत्‌के साधारण धर्मोपदेशकोंने जो अर्थ समझा है उसकी अपेक्षा उसका वास्तविक अर्थ कहीं अधिक व्यापक है।

इन पंक्तियोंकी लेखिका इस बातको भलीभाँति जानती है कि मनुष्यको अपनी आत्मासे समय-समयपर यह प्रश्न पूछते रहना चाहिये, जो उसके लिये अत्यन्त लाभदायक है—

'क्या वह ज्योति तुम्हारे अन्दर स्पष्टतया उद्भासित है और संसारमें अपनी किरणोंका प्रसार कर रही है?'

ईश्वर-मीमांसा

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

ध्येय वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं मम चक्रपाणे॥

जगत्में प्रायः सभी ईश्वरवादी हैं। कुछ लोग तर्कवाद या विद्या-बुद्धिके गर्वसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेका प्रयास करते देखे जाते हैं। परन्तु अन्तमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध हो ही जाती है। यदि कोई कहे कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है तो उसका यह कहना निराधार है, क्योंकि उसके बोलनेसे ही जीभका होना सिद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि मेरे पिता हुए ही नहीं तो उसका यह कथन भी निराधार ही होगा, क्योंकि जब वह है तो अवश्य ही उसका जन्मदाता भी स्वतः सिद्ध है, चाहे वह उसको जाने या न जाने। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें है। जब कोई मनुष्य किसी घने जंगलमें जाकर देखता है कि वहाँ एक सुन्दर मन्दिर बना हुआ है और उसके समीप एक सुरम्य वाटिका लगी है, जिसमें नाना प्रकारके फल-फूलोंके वृक्ष यथास्थान सुव्यवस्थित हैं, तथा जिसके एक ओर एक चिड़ियाखाना भी है, जिसमें विभिन्न प्रकारके पशु-पक्षी अलग-अलग विभागोंमें पिंजड़ोंमें बन्द हैं, ऐसी अवस्थामें उसे यह मानना ही होगा कि इन सबका बनानेवाला कोई अवश्य है। नियमित और सुव्यवस्थित कर्मके देखनेसे ही कर्त्ताका अनुमान होता है, यह स्वाभाविक है।

प्राचीन वैदिक युगमें एक समय इस जगत्‌को देखकर कुछ ऋषियोंके मनमें शंका हुई थी, उस समय उन्होंने जो निर्णय किया था उसका वर्णन श्वेताश्वतर-उपनिषद्‌में इसप्रकार है—

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति।
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

अर्थात् 'ब्रह्मवादी कहते हैं, क्या ब्रह्म कारण है? हम किससे जन्मे हैं? किससे जीते हैं? और किसमें लीन होते हैं? हे ब्रह्मवेत्ताओ! बताओ वह कौन अधिष्ठाता है जिसकी व्यवस्थासे हम सुख दुःखोंमें बर्तते हैं?' इसके बाद स्थूलदृष्टिसे दीख पड़नेवाले मूल-कारणोंको प्रश्नकर्त्ता स्वयं शंकायुक्त शब्दोंमें कहता है और साथ ही उनका निराकरण भी करता है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥

अर्थात् क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा अथवा

पञ्चभूत कारण हैं, या जीवात्मा कारण है ? यह बात विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अनात्म-पदार्थ जड है। और जीवात्मा भी सुख-दुःखमें लिप्त रहनेके कारण सर्वशक्तिमान् नहीं है।

काल शब्दका अभिप्राय यही है कि समस्त सृष्टि-सम्बन्धी क्रियाएँ काल-विशेषमें ही होती हैं, जैसे सभी वस्तुएँ अपनी ऋतुमें ही उत्पन्न होतीं, फलती-फूलतीं और नष्ट होती हैं, इसीलिये कारणरूपमें कालका अनुमान किया गया है।

पदार्थोंके स्वभावसे ही जगत्में सारी क्रियाएँ होती देखी जाती हैं, जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है और जलका गलानेका इत्यादि; अतएव स्वभावको कारणरूपसे अनुमान किया गया है।

नियति शब्दका अर्थ है होनहार। जैसे कोई मनुष्य पूर्ण सावधानीसे चला जा रहा है, अचानक वज्रपातसे उसकी मृत्यु हो जाती है और लोग कह उठते हैं, 'होनहार ही ऐसी थी।' इसी प्रकार अकारण ही नियतिरूपमें समस्त क्रियाएँ होती हैं, नियतिको कारण कहनेवाले ऐसा बतलाते हैं।

बिना चेष्टाके जो काम अपने-आप हो जाय उसे यदृच्छा कहते हैं, जैसे बिना किसी चेष्टाके किसी वस्तुका बीज किसी सुनसान स्थानमें पहुँचकर वृक्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यदृच्छासे जगत्का अस्तित्व है। ऐसा यदृच्छाको कारण माननेवाले कहते हैं।

भूतानि शब्दसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतोंका ग्रहण होता है और पुरुष शब्द जीवात्माका द्योतक है।

इसप्रकार कालादिको कारणरूपसे अनुमान करके उसका निराकरण भी इसी श्लोकमें कर दिया गया है। अर्थात् यह सब जड होनेके कारण कर्त्ता नहीं हो सकते, तथा जीवात्मा चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं सुख-दुःखका भोक्ता होनेके कारण कर्त्ता नहीं है। इस-प्रकार मूल-कारणका निश्चय न होते देख ऋषियोंने ध्यान-मग्न होकर देखा—

> ते ध्यानयोगानुगता अपश्य-
> न्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
> यः कारणानि निखिलानि तानि
> कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

अर्थात् 'तब उन लोगोंने ध्यानयोगमें मग्न होकर अपने गुणोंसे छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा। जो स्वयं काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पञ्चभूत तथा आत्मारूप समस्त कारणोंके एक ही कारणरूपमें अधिष्ठित है।'

इसप्रकार शास्त्रोंमें जगत्की उत्पत्तिमें मूलभूत अन्य सब कारणोंका निराकरण करके एकमात्र ईश्वरको ही आदि-कारण सिद्ध किया है। इसपर यदि कोई कहे कि हम शास्त्रोंकी बात नहीं मानना चाहते, तो उसे तर्क और युक्तिद्वारा भी ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा। जो नास्तिक विचारवाले जगत्की उत्पत्तिका मूल-कारण प्रकृति (Nature) को मानते हैं, ईश्वरको नहीं मानते, उनसे यह पूछा जा सकता है कि, 'क्या सृष्टि सुव्यवस्थित, नियमित और ज्ञानपूर्वक है अथवा अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक ?' इसका उत्तर यदि यह मिले कि, वह अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक है, तो यह सर्वथा असंगत होगा क्योंकि लोकमें इसके विरुद्ध देखा जाता है। जगत्में कोई भी कार्य अव्यवस्थित नहीं है, बल्कि जिस वस्तुकी जहाँ आवश्यकता है वहीं वहाँ रक्खी गयी है। जीवोंके अङ्ग प्रत्यङ्गसे लेकर समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सुव्यवस्थित और नियमित देखी जाती है। सूर्य-चन्द्र आदि समस्त ग्रहोंका एक निर्दिष्ट गतिमें बर्तना, उनका क्रमानुसार उदय-अस्त होना, ऋतुओंका नियमित-रूपसे आना, अपने-अपने बीजसे वृक्ष और प्राणियोंका उत्पन्न होना, पाप-पुण्यका यथोचित फल यथा-समय बलात् प्राप्त होना, ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जंगम जीवोंके लिये जीवन-धारणोपयोगी जल, वायु, आहार आदिकी यथायोग्य व्यवस्था इत्यादि अनेक प्रकारकी सुव्यवस्थाएँ देखी जाती हैं जिनको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता, और न उन्हें अनियमित ही कह सकता है।

जो व्यवहार प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर होता है उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती; तथा जो कार्य नियमित और सुव्यवस्थित होता है वह ज्ञानपूर्वक ही माना जाता है और इसप्रकार उसका कर्ता भी अवश्य होता है। क्योंकि अज्ञानपूर्वक और प्रकृतितः हुए कार्यमें व्यवस्था और नियम नहीं रह सकते। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुव्यवस्थित और सुनियमित सृष्टि ज्ञानपूर्वक होती है। इसप्रकार प्रकृतिको सृष्टिका

मूल-कारण माननेवालोंको यह मानना पड़ेगा कि या तो प्रकृति (Nature) चेतन है या स-चेतन।

यदि प्रकृतिको चेतन मान लिया गया तो ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत हो गयी। तब केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है अर्थात् नास्तिक उसी चेतन सत्ताको प्रकृति कहते हैं जिसे शास्त्र ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर प्रभृति नामोंसे पुकारते हैं। केवल नाम-भेदसे वास्तविक भेद नहीं माना जाता, क्योंकि जगत्में देश, जाति, भाषा और सम्प्रदाय-भेदसे सृष्टि-कर्ताको अनेक नामोंसे सम्बोधन किया जाता है। और यदि पूर्वपक्ष प्रकृतिको चेतन न मानकर स-चेतन मानता है तब भी अनीश्वरवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि चेतनायुक्त प्रकृतिको स्वीकार करना सविशेष परमात्माको स्वीकार करना है। शास्त्र भी कहते हैं कि प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है, जड़-चेतनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति है।

> यावत्सञ्जायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥
> (गीता १३। २६)

अर्थात् 'हे अर्जुन! यावत् किञ्चित् स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ ही समझ।' तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धसे सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है। अतएव सब प्रकारसे यह मानना पड़ता है कि सृष्टिका मूल-कारण परमात्मा है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो हम उसे देख क्यों नहीं पाते? इसका उत्तर यह है कि जगत्में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, पर उनकी सत्तामें निश्चितरूपेण विश्वास करते हैं। जैसे, दूधमें व्यापक मक्खन, काष्ठमें स्थित अग्नि इत्यादिको हम प्रत्यक्ष नेत्रोंसे नहीं देखते, पर इनके अस्तित्वमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता और साधनके द्वारा हम इन्हें प्रकट करके प्रत्यक्ष भी देखते हैं। इसप्रकार जब सांसारिक वस्तुओंके प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अस्तित्व माना जाता है तब ईश्वरके, जो युक्ति, अनुमान तथा शास्त्रसे सिद्ध है, अस्तित्वमें क्योंकर सन्देह हो सकता है? साथ ही ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि साधनद्वारा ईश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुतः अनित्य जागतिक पदार्थोंकी सत्ताके अनुरूप ईश्वरकी सत्ताको प्रमाणित करना ठीक नहीं है। क्योंकि जितने जागतिक पदार्थ हैं, जिनकी सत्तामें हमें दृढ़ विश्वास है तथा जो इन्द्रिय-गोचर भी हैं वे सभी मायिक, अनित्य, परिणामी, क्षणभंगुर और नाशमान हैं। इसके विपरीत ईश्वर नित्य, सत्य, अपरिणामी और अविनाशी है। ईश्वरके इस विलक्षण रहस्यको धीर ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं। श्रीभगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
> (२। १६)

अर्थात् 'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है, इन दोनोंका तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि एक परमात्मा ही इस दृश्य जगत्का आधार और स्वरूप है अर्थात् वही इसका अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है। अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण उसको कहते हैं जो स्वयं निमित्त कारण भी हो और उपादान कारण भी। घटका उपादान कारण मिट्टी है, और निमित्त कारण कुम्भकार, चक्र आदि हैं। वस्तु जिससे बनती है वह उपादान कहलाता है। वस्तु कार्यरूप होती है और उपादान कारणरूप होता है, जैसे मिट्टीसे घट आदि बनते हैं, इसमें घट कार्य है और मिट्टी उपादान कारण है। घट वास्तवमें मिट्टी ही होता है, क्योंकि कार्य कारणसे भिन्न अथवा विजातीय नहीं होता। निमित्त कारण उसे कहते हैं जिसकी सहायतासे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी स्वयं घटरूप नहीं बन जाती, बल्कि घटके बननेमें कुम्हार, चक्र आदिकी सहायता अपेक्षित होती है, अतएव यहाँ कुम्हार, चक्र आदि निमित्तकारण हैं। वेदान्तके अनुसार इस जगत्की उत्पत्तिमें परमात्मा स्वयं ही उपादान और निमित्त कारण है, इसीलिये उसे अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कहा जाता है। श्रुति कहती है—

> पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात् 'वह परम अक्षर सच्चिदानन्दघन परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् (भी) पूर्ण है (क्योंकि) पूर्ण ब्रह्मसे

(ही यह) पूर्णरूप जगत् निकलता है। यह पूर्ण जगत् पूर्ण ब्रह्म परमात्माको लेकर (पूर्ण ब्रह्म परमात्मामें ही अनन्यभावसे स्थित रहनेके कारण) पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।' तथा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म है, उस ब्रह्मसे ही इस जगत्की उत्पत्ति है, उसीमें इसकी स्थिति है और उसीमें इसका लय होता है। अतएव शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।' इत्यादि अनेक वचनोंसे ईश्वर ही जगत्-रूपमें प्रतीत होता है, यह बात सिद्ध होती है। परन्तु 'ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' यह धारणा तत्त्व-ज्ञानके विना नहीं हो सकती। तथापि शान्तिपूर्वक विचार करनेसे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस जीवका ईश्वरके साथ अनिर्दिष्ट कालसे एक अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है, और उससे कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वरका ही अंश है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

अर्थात् 'इस देहमें जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' गो० तुलसीदासजीने भी कहा है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

इसीलिये जीव अज्ञातरूपसे ईश्वरको मानता हुआ साधारणतः उसकी ओर आकर्षित भी होता है। जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें व्यवहृत वस्तु अथवा विशेष सम्बन्धवाले मनुष्यका नाम अज्ञानतः भी कभी-कभी बोल उठता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता न मानने-का अभिमान करनेवाला पुरुष भी जब विशेष आपत्तिमें ग्रस्त हो जाता है तो अनिच्छापूर्वक भी ईश्वरको पुकारने लगता है। एक नास्तिककी कहानी प्रसिद्ध है। एक बार वह जहाजमें बैठकर कहीं जा रहा था। उसी समय समुद्रमें एक भारी तूफान आया और वह जहाज डूबने लगा तब तो उस नास्तिकके मुँहसे भी बरबस यह आवाज़ निकल पड़ी कि 'हे भगवन्! इस विपत्तिसे बचाओ।'

इसप्रकार सामान्यतः (इच्छा या अनिच्छासे) आस्तिक-नास्तिक सभी ईश्वरको माननेवाले ठहरेंगे। परन्तु वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो यथार्थरूपसे ईश्वरको माननेवाले बहुत कम मिलेंगे। क्योंकि जो लोग 'ईश्वर है' ऐसा कहते हैं, वे भी अधिकांशमें सचमुच ईश्वरको माननेवाले नहीं ठहरते। ईश्वरके माननेवालेके प्रधान लक्षण हैं—पापाचरणसे निवृत्ति, सदाचरणमें प्रवृत्ति, ईश्वर-में प्रेम, दुःख और हानिमें उद्वेगशून्यता, और अचल शान्ति। यह सब लक्षण अकैतवरूपसे उसीमें मिलेंगे जो यथार्थतः ईश्वरको माननेवाला होगा। इस कसौटी-पर कसकर प्रत्येक मनुष्य अपनी परीक्षा आप कर सकता है कि वह कहाँतक ईश्वरका माननेवाला है।

इसप्रकार निश्चय हो गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी ईश्वरको मानते हैं परन्तु विशेषरूपसे उसे मानने-वालोंकी संख्या बहुत ही कम है। परन्तु विशेषरूपसे माननेवाले ही विशेषरूपसे ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं। ईश्वरका सामान्य ज्ञान जीवको सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त नहीं करता; उसका विशेष ज्ञान ही परम कल्याण-प्रद होता है। जैसे पारसके निकट रहनेपर और उसे पारस कहते रहनेपर भी जबतक उसके गुण, प्रभाव और उपयोग-का ज्ञान नहीं होता तबतक मनुष्यकी दरिद्रता बनी ही रहती है, जैसे ही उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका विशेष ज्ञान हुआ वैसे ही दरिद्रता भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार परमात्माके विशेष ज्ञानसे दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरके प्रधानतः दो भेद माने जाते हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण स्वरूपको शुद्ध ब्रह्म, परमात्मा, केवल, चैतन्य आदि नामसे भी पुकारा जाता है। यह माया-रहित और केवल है। श्रुति कहती है—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-
मचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।६)

अर्थात् 'जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसके न गोत्र है, न वर्ण है, न नेत्र हैं, न श्रोत्र हैं, न हाथ हैं, न पाँव है; वह नित्य, विभु अर्थात् सबमें व्यापक बहुत सूक्ष्म और अव्यय है। ऐसे सब भूतोंके मूल-कारण-को धीर पुरुष देखते हैं।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३।१२)

अर्थात् 'जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा; वह आदिरहित परम ब्रह्म है, न उसे सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।'

इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियाँ निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, परन्तु 'इत्थमूत' रूपसे उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। वेद उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्दोंसे कराता है, अथवा केवल 'अस्ति' (है) इस शब्दसे उसका परिचय कराया जाता है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥
(कठ० ६। १२)

अर्थात् 'परमात्मा वाणीसे, मनसे अथवा नेत्रसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह परमात्मा केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' इसके अतिरिक्त कैसे उपलब्ध होता है?' इस प्रश्नका उत्तर इसके आगेकी श्रुति देती है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥
(कठ० ६। १३)

अर्थात् 'वह है', इस रूपसे तथा तत्त्व-स्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इसप्रकार अनुभव कर लिया तो उसका तत्त्वस्वरूप स्पष्ट हो जाता है।' वस्तुतः निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियोंसे अतीत है, किसीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे पकड़ सके। श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

अर्थात् 'जहाँसे मन और वाणी उसको प्राप्त किये बिना ही लौट आते हैं।' भला, अलौकिक वस्तुको पार्थिव वस्तुओंके द्वारा कोई कैसे जान सकता है?

परम ब्रह्मके इस निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर भी यह कथन नहीं बनता है कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है। इसी बातको श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥
(केन०)

अर्थात् 'यदि तू समझता है कि मैं उसको पूरा-पूरा जानता हूँ तो निस्सन्देह तू ब्रह्मका स्वरूप अल्प ही जानता है। इसका स्वरूप जो तू जानता है और जो देवताओंमें है (वह भी अल्प है)। तब मैं समझता हूँ कि तुझे अपना जाना हुआ अभी विचारने योग्य है' इसके आगेवाली श्रुतिमें ऋषि अपने तत्त्वनिष्ठ शिष्यसे पूछता है कि क्या तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है? शिष्य उत्तर देता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

अर्थात् 'मैं यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्मको पूर्णरूपेण जानता हूँ, न यही कि मैं उसे नहीं जानता हूँ, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ। हममेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह मेरी इस बातको जानता है कि मैं न तो उसे नहीं जानता हूँ और न जानता हूँ।' ऐसे विलक्षण निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन क्यों नहीं हो सकता है, इसका कारण भी श्रुति बतलाती है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि॥

अर्थात् 'न वहाँ नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी पहुँचती है, न मन ही पहुँचता है। हम नहीं समझते, नहीं जानते कि कैसे उसका उपदेश किया जाय? वह जाने हुएसे निराला है और न जाने हुएसे भी निराला है, यह हमने बड़ोंसे सुना है जिन्होंने हमारे लिये इसका कथन किया है।'

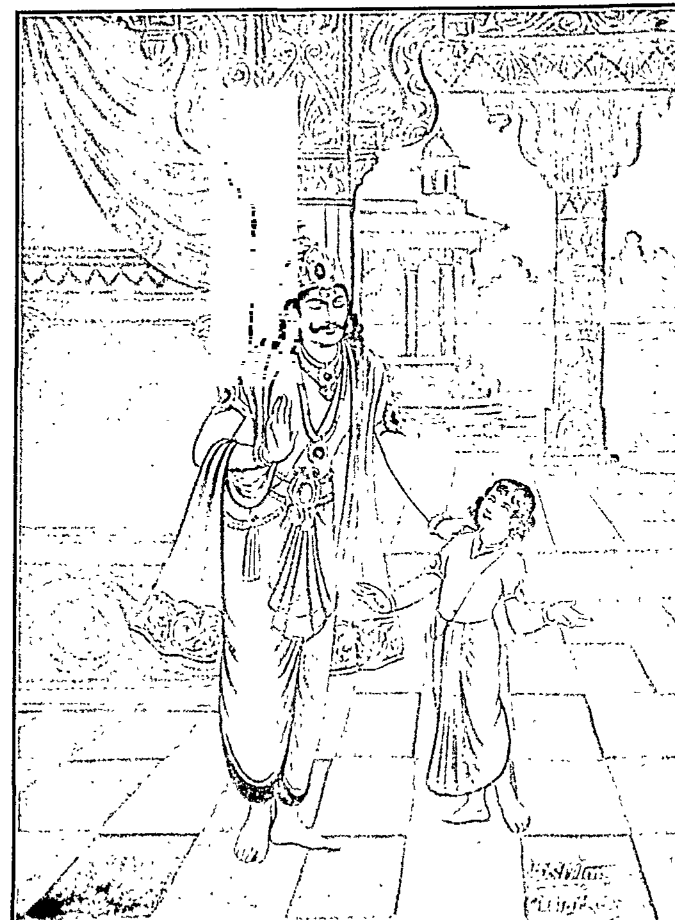
ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ज्ञाता ज्ञेयसे भिन्न नहीं रहता, अर्थात् परिच्छिन्न ज्ञाताकी अलग सत्ता नहीं रहती, केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। उस समय न ज्ञाता रह जाता है, न ज्ञेय और न ज्ञान, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। तब क्या रहता है? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'ज्ञेयमात्र रहता है' अथवा 'ज्ञातामात्र रहता है'—दोनोंका भाव एक ही है। निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत कोई भी भेद नहीं है। एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ, अथवा एक पशुका दूसरे अपने ही जातिके पशुके साथ सजातीय भेद होता है। परमात्माके समान किसी दूसरे परमात्माके न होनेके कारण उसमें सजातीय भेद नहीं होता। दो विभिन्न जातिकी वस्तुओंमें जो पारस्परिक भेद होता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं; जैसे मनुष्य और वृक्ष दोनों विभिन्न जातिके

याज्ञवल्क्य—मैत्रेयी



मुझे धन नहीं चाहिये, परमात्मा चाहिये।

श्रेयार्थी बालक नचिकेता और यमराज



भोग नहीं, भगवान्‌का स्वरूप समझाइये।

हैं अतः इनका पारस्परिक विजातीय भेद है। परमात्मामें यह भेद भी नहीं है क्योंकि परमात्मासे भिन्न कुछ है ही नहीं—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।'

मनुष्य-शरीरमें हाथ, पैर, सिर आदि तथा वृक्षमें मूल, डाली, पत्ते, फल, फूल आदि अनेक भेद होते हैं। अपने भीतर ही होनेवाले इसप्रकारके भेदको स्वगत-भेद कहते हैं। परमात्माके अन्दर इस स्वगत-भेदका भी अभाव है। इसप्रकार निर्गुण शुद्ध ब्रह्म तीनों प्रकारके भेदोंसे रहित है।

अब सगुण ब्रह्मका विचार किया जाता है। माया-सहित ब्रह्मको सगुण ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि सत्त्व, रज, तम तीनों गुण ही मायाके स्वरूप हैं, इसलिये सगुण (गुणविशिष्ट) ब्रह्म मायायुक्त ही माना जाता है। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। परमात्माके सर्वव्यापक मायासहित स्वरूपको सगुण निराकार कहते हैं। सृष्टिके आदिमें उसीके सङ्कल्प-से सृष्टिकार्य आरम्भ होता है। जैसे—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

(गीता ९ । ४)

अर्थात् 'मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माके अव्यक्त-रूपसे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधारपर स्थित हैं इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।' श्रुति भी कहती है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

अर्थात् 'सबको वशमें रखनेवाला, सब भूतोंका अन्तरात्मा, वह एक जो एकरूप (प्रकृति) को अनेक प्रकारका बनाता है उसको जो धीर पुरुष आत्मामें स्थित देखते हैं उन्हींको सदा सुखकी प्राप्ति होती है अन्योंको नहीं।' इसप्रकार जो परमात्मा अव्यक्त, सर्वव्यापक और इन्द्रियातीत है, जिसे 'अणोरणीयान्महतोमहीयान्' अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्से भी महान् कहा जाता है, तथा जिसमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वही परमात्मा सगुण निराकार-स्वरूप है। अब सगुण साकार-स्वरूपका विवेचन किया जाता है।

परमात्माका जो स्वरूप मायासहित है तथा इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य आकारवान् है उसे सगुण साकार-स्वरूप कहते हैं। जैसे—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अर्थात् 'जिसका शान्त स्वरूप है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए है, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर है तथा सम्पूर्ण विश्वका आधार है, जो आकाशके समान व्याप्त है, नीले मेघके समान जिसका वर्ण है, जिसके सम्पूर्ण अंग अतिशय सुन्दर हैं, जिसे योगीजन ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं, उस सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी, संसारके भयको दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीपति कमलनयन विष्णु भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ।'

इसप्रकारके सगुण साकाररूपके, सम्प्रदाय और मत-भेदसे, अनेकों नाम और रूप माने जाते हैं, जैसे—ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि। भगवान्के इस रूप-भेदका कारण भक्तोंके भावोंकी भिन्नता है। हिन्दू-सम्प्रदाय-में भावकी ही प्रधानता है; इसलिये धातुमयी, पाषाणमयी, मृण्मयी, दारुमयी और मनोमयी आदि जितने प्रकारकी मूर्तिकी उपासना की जाती है, सबमें भावकी ही प्रधानता होती है। धातु या पाषाणकी पूजा नहीं होती। इसके वास्तविक रहस्यको न समझ सकनेके कारण कुछ लोग मिट्टी या पाषाणकी मूर्तिकी पूजामें शंका करते हैं। परन्तु वे लोग यदि पूजा और स्तुतिके मन्त्रोंके अर्थोंपर ध्यान दें तो सहज ही ज्ञात हो जायगा कि उनमें कहीं भी पाषाण, मिट्टी या धातुकी प्रशंसा नहीं होती। अतएव उपासक अपने हृदय (भाव) और वाणी (स्तवन) से जिसकी पूजा करता है वास्तवमें पूजा उसीकी होती है।

भगवान्के रूपकी सीमा बाँध लेना और यह कहना कि भगवान्का केवल एकमात्र यही स्वरूप है, कदापि उचित नहीं। कुछ साम्प्रदायिक भाववाले लोग अपने इष्टदेवके सिवा अन्य रूपोंकी निन्दा भी कर देते हैं, पर ऐसा करना बालकवत् अज्ञता है। जो पुरुष अपने इष्टदेव—भगवान्की प्रशंसा और दूसरेके भगवान्की निन्दा करते हैं वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका तिरस्कार करते हैं। इस विषयकी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है।

एक पिताके दो पुत्र थे। उन्होंने अपने पिताके दोनों

पैरोंकी सेवा अलग-अलग बाँट रक्खी थी। एक दिन जब दोनों अपने-अपने हिस्सेके पैरोंकी सेवा कर रहे थे कि संयोगसे एक पैर दूसरे पैरसे जा लगा और उस पैरकी सेवा करनेवाले लड़केने दूसरे पैरमें एक घूँसा जमा दिया और कहा कि 'तू मेरे सेव्य पैरमें क्यों आ लगा ?' अपने सेव्य चरणको मार खाते देखकर दूसरा लड़का क्रोधमें आया और उसने दूसरे पैरपर दो घूँसे जमाये। इसप्रकार परस्पर क्रोधित हो दोनों पुत्र अपने पिताके पैरोंको पीटने लगे। उन बेचारोंके यह नहीं समझमें आया कि इसप्रकार अपने पिताका अनिष्ट कर रहे हैं। पैरोंमें चोट लगनेसे पिताने उनको रोका, तब दोनों पुत्रोंने अपनी-अपनी शिकायत कह सुनायी। पिताने उनकी मूर्खतापर अफसोस करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों ही जिसे सेवा समझते थे वह वस्तुत. सेवा न थी, बल्कि पारस्परिक द्वेषके द्वारा मूर्खतावश पिताका अनिष्ट किया गया था।

इसी प्रकार जो लोग अपने इष्टकी उपासना करते तथा अन्य लोगोंके इष्टको तुच्छ मानकर उसका तिरस्कार करते हैं वह अपने ही इष्टका तिरस्कार करते हैं। हाँ, इष्टदेव चाहे जिस रूपमें हो उसकी उपासना ईश्वररूपसे ही करनी चाहिये, उसको सर्वेश्वर माननेमें कोई हानि नहीं है। परन्तु किसी देवकी निन्दा करनेका अधिकार किसीको नहीं है। ईश्वरमें विश्वास रखनेवाले तथा उसकी उपासना करनेवालेको नीचे लिखी बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

१ ईश्वर एकसे अधिक नहीं हो सकता।
२ ईश्वर एकदेशीय नहीं होता।
३ ईश्वर एकजातीय नहीं होता।
४ ईश्वर अल्पज्ञ नहीं होता।
५ ईश्वरकी सामर्थ्य परिमित नहीं होती।
६ ईश्वर पक्षपाती और स्वार्थी नहीं होता।
७ ईश्वरसे अन्य कुछ भी तथा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।
८ ईश्वर किसी प्रकार पापाचरणका प्रेरक नहीं होता।
९ ईश्वर सर्वोच्च है और महापापीका भी हितैषी है।
१० ईश्वर एककालीन नहीं होता।
११ ईश्वर परम दयालु, सर्वज्ञ और आनन्दरूप है।

सभी उपासकोंको अपने-अपने इष्टमें इन ग्यारह भावोंको अवश्य ही रखना चाहिये। जहाँ भावना अल्प होती है वहाँ लाभ भी अल्प होता है और जहाँ भावना महान् होती है वहाँ फल भी महान् होता है। यदि वस्तुतः कोई ईश्वरका यथार्थ रूप देखना चाहे तो बुद्धिबलसे उसको देखना या दिखाना नहीं हो सकता। उसे तो यथार्थतः वही जानता है, जिसको वह प्रभु स्वयं जना देता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

'सो जानै जेहि देहु जनाई।'
तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानत भक्त भक्त-उर चन्दन॥

श्रुति भी कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य'

वस्तुतः भगवान् क्या हैं, इसे तो स्वयं वही जानते हैं, या उनके सच्चे प्यारे भक्त उन्हींकी कृपासे कुछ जान सकते हैं। 'अन्योंके कथन ठीक नहीं', यह नहीं कहा जा सकता, और 'ईश्वर इत्थम्भूत अर्थात् ऐसा ही है', यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ईश्वरका रहस्य अलौकिक है। प्रायः ईश्वरके विषयमें कहनेवाले अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कुछ दूरतक कहते भी हैं, फिर भी उनका कहना अपूर्ण ही रह जाता है। इस बातको स्पष्ट करनेवाली हाथीके स्वरूपके सम्बन्धमें पैर, सूँड, कान और दाँतको ही हाथी बतानेवाले चार अन्धोंकी लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

अतः ईश्वरके जितने भी स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं, तथा सच्चे भक्तोंने स्वीकार किये हैं। उन सभीको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये और अपनी प्रीति या रुचि जिस भाव (रूप या नाम) में हो उसीकी ईश्वरभावनासे उपासना करनी चाहिये। सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधकको अपने इष्टमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं देखनी चाहिये, क्योंकि जहाँ अपूर्णता है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है। साधकका भाव पूर्ण और सर्वोच्च होना चाहिये, फिर वह चाहे जिस नाम-रूपकी उपासना करे, वह सर्वेश्वर पूर्ण ईश्वरकी ही उपासना समझी जायगी। परन्तु यदि नाम-रूप अति मनोहर और श्रेष्ठ है, पर भाव श्रेष्ठ नहीं है तो वह उपासना सर्वेश्वर महेश्वरकी नहीं हो सकती। अब अन्तमें उस सर्वेश्वर परमात्माको प्रणाम करके लेख समाप्त किया जाता है—

ॐ खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य॥

ईश्वर अतर्क्य है

(लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा, लुधियाना)

दुर्भाग्यवश संस्कृत-विद्याका ह्रास होनेके कारण आजकल वातावरण कुछ ऐसा हो गया है कि देशके नवयुवक केवल उसी बातको मानना चाहते हैं जो युक्तियुक्त हो और बुद्धिकी कसौटीपर कसी जा सके। इसलिये 'ईश्वर है' ऐसा कहनेवालोंसे भी वह ईश्वरके अस्तित्वमें युक्ति माँगते हैं। वह यह कदापि नहीं सोचते कि इस विषयमें युक्ति माँगना न्यायानुकूल है या न्याय-विरुद्ध ? क्योंकि युक्ति या तर्कसे वही वस्तु जानी जा सकती है जो परिच्छिन्न हो। अपरिच्छिन्न और विभु वस्तुकी युक्तिद्वारा सिद्धि माननेमें निम्नलिखित अनेक दोष बलात्कार आ प्राप्त होते हैं।

१–जो किसी वस्तुको सिद्ध करता है वह न्यायानुसार अधिक-देशवर्ती होता है और जिस वस्तुकी सिद्धि की जाती है वह न्यून-देशवर्ती होती है। अधिक-देशवर्ती वस्तु न्यून-देशवर्ती वस्तुकी अपेक्षा विभु होती है। अतः यदि युक्तिसे ईश्वरकी सिद्धिका प्रयास किया जाय तो वह साधक होनेके कारण ईश्वरकी अपेक्षा विभु ठहरेगी और ईश्वर साध्य होनेसे युक्तिकी अपेक्षा परिच्छिन्न हो जायगा तथा परिच्छिन्न होनेसे घट-पट आदिकी भाँति नश्वर और अनात्म-पदार्थ ठहरेगा। परन्तु यह किसी भी ईश्वरवादीको अभीष्ट नहीं है। अतः विभु पदार्थमें युक्ति माँगना ही सर्वथा युक्तिहीन और असम्भव है।

२–युक्ति कहते हैं हेतु या कारणको; जो एक प्रकारसे अन्तःकरण अर्थात् बुद्धिकी परिणामी वृत्ति है। क्योंकि बुद्धि जितनी अधिक कुशाग्र होती है उतनी ही अधिक पदार्थ-ग्राहिणी और युक्तिप्रधान होती है। परन्तु वह स्वयं प्रकृतिका कार्य होनेके कारण जड है, तथा चेतनके आभासको प्राप्त करके ही चेष्टा करती और पदार्थोंको निश्चय करती है। शास्त्रोंने बुद्धिका लक्षण भी—'निश्चयात्मिका बुद्धिः' बतलाया है। परन्तु स्वयं जड होनेके कारण वह ईश्वरको नहीं जान सकती।

'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता)
'बुद्धेरात्मा महान् परः' (श्रुति)

—इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका भी यही अभिप्राय है कि ईश्वर बुद्धिसे भी परे है। अतः बुद्धिके परिणाम अथवा कार्यरूप युक्ति उस परमात्माको कैसे जान सकती है ? इसप्रकार बुद्धिरूप कारण और युक्तिरूप कार्यको ईश्वर-सिद्धिमें कारण माननेसे 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' के समान बलात्कार व्याघात-दोष आ उपस्थित होता है। क्योंकि जो वस्तु स्वयं जिसके बिना असिद्ध है, उस अपने पूर्वभूत सिद्ध साधकको वह किसप्रकार सिद्ध कर सकती है ? अतः जड और परिच्छिन्न बुद्धिसे चेतन और विभु ईश्वरकी सिद्धिकी अभिलाषा करना सर्वथा अयुक्त है।

३–प्रायः यह बात सुननेमें आती है कि तीव्र-से-तीव्र बुद्धिवाला मनुष्य भी किसी सांसारिक कठिन समस्याके आ पड़नेपर कह उठता है कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं आती। जब सांसारिक घटनाओंके समझनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि असमर्थ रहती है तो उसके द्वारा उस ब्रह्माण्ड-नायक प्रभुको जानना व्याघात-दोष-ग्रसित बात नहीं तो और क्या है ? पाञ्चरात्र-आगममें कैसा सुन्दर कहा है कि—

अपि त्वां भगवन् ब्रह्मशिवशक्रमहर्षयः।
द्रष्टुं यष्टुं अभीष्टोतुमद्यापीशं नहीशिरे॥

अर्थात् 'उस परमेश्वरको देखने, यज्ञ और प्रशंसा आदिसे याथातथ्य जाननेमें ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र और महर्षिगण भी समर्थ नहीं होते हैं।' अतः जो जगन्नायक ब्रह्मा और शिवादि-जैसे समष्टि-बुद्धिवालोंकी बुद्धिका भी अविषय है उसे हम जैसे क्षुद्र व्यष्टि-बुद्धिवालोंकी बुद्धि कैसे प्रत्यक्ष कर सकती है ?

४–जो बुद्धि पहले ही अज्ञानावृत होनेके कारण अपनेमें ईश्वरके प्रत्यक्षका अभाव प्रकट करती है, उस अज्ञान-तिमिरसे ग्रसित बुद्धिरूप अधिकरणमें साक्षात् ज्ञानके पुञ्ज और प्रकाशस्वरूप ईश्वर कैसे प्रकट हो सकते हैं ? क्योंकि न्यायानुसार तम-प्रकाशकी भाँति दो परस्पर-विरोधी गुणोंका एक ही समयमें, एक ही अधिकरणमें रहना असम्भव है। युक्तिरूप कार्यका कारण बुद्धि स्वयं ही अज्ञानका कार्य है, और चिदाभासके बिना अत्यन्त जड है, एवं कूटस्थरूप अधिष्ठानमें कल्पित

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित् प्रतिबिम्बकः ।

(पञ्चदशी ६ । २३)

—अर्थात् कूटस्थमें, कल्पित बुद्धिमें चैतन्यका आभास पड़ता है अतः ऐसी स्वसत्ताहीन, कल्पित, जड और परप्रकाश्य क्षुद्रबुद्धिके भी कार्यस्वरूप क्षुद्रातिक्षुद्र युक्तिसे ज्ञानस्वरूप, चेतन परमात्मदेवका ज्ञान प्राप्त करना खपुष्प तथा शशशृंगवत् अत्यन्त असम्भव है ।

५—जो मनुष्य यह कहे कि ईश्वर मेरी बुद्धिमें नहीं आता, उसे कैसे मानूँ ? उससे पूछना चाहिये कि भाई ! बुद्धिसे परे तो तुम्हारे मतमें कोई वस्तु है ही नहीं, फिर जो तुम कहते हो 'मेरी बुद्धि', तो इस 'मेरी' से तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? बुद्धिमें 'मेरेपन' का अभिमान करनेवाला वह कौन है ? क्योंकि जो मनुष्य 'मेरी पुस्तक' ऐसा कहता है वह निश्चय ही पुस्तकसे पृथक् कोई भिन्न वस्तु होता है । जिसप्रकार पुस्तक और उसमें अपना स्वत्व प्रकट करनेवाले पुरुषमें परस्पर वस्तु और स्वामीका सम्बन्ध होता है उसी प्रकार बुद्धि और 'मेरी बुद्धि' कहनेवालेमें भी वस्तु (सेवक) और स्वामीका सम्बन्ध निश्चय है । क्योंकि 'मेरी' कहनेवाला बुद्धिका स्वामी हुआ और बुद्धि उसकी वस्तु (सेविका) ठहरी । फिर सेविकासे उसके स्वामीकी अनुभूति, उसके ऐश्वर्यजन्य आनन्द और सुखकी सीमा पूछना सर्वथा अयुक्त है । पुनः उस मनुष्यसे, जो यह कहता है कि 'युक्तिद्वारा मेरी बुद्धिमें ईश्वरको बैठा दो,' यह पूछना चाहिये कि तुम जो 'मेरी' कहते हो वह 'मेरी' प्रयोग करनेवाला जड है या चेतन ? यदि जड है तो 'मेरी' कहकर स्वत्व प्रकट करनेवाला कोई चेतन है या नहीं ? यदि इस 'मेरी' को जाननेवाला दूसरा और उस दूसरेको जाननेवाला तीसरा—इसप्रकार मानें तो अनवस्था अथवा चक्रिक आदि दोष आ प्राप्त होंगे । और यदि वादी कहे कि बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वत्व करती है तो यह बात सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि वस्तु किसीकी होती है वह स्वयं वस्तुवाली नहीं बन जाती । जैसे पुस्तक किसी मनुष्यकी होती है, वह स्वयं पुस्तकवाली नहीं बन जाती । यदि बुद्धि स्वयं बुद्धिवाली (स्वत्व प्रकट करनेवाली) बने तो इसकी अव्याप्ति पुस्तक, घट-पट आदिमें हो जाती है । अतः बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वत्वबुद्धि करती है, ऐसा कहना नहीं बनता ।

परन्तु वह मनुष्य जिसके मतमें युक्ति ही मान्य है यदि यह कहे कि बुद्धिको 'मेरी' कहनेवालेको मैं नहीं जानता; मेरी युक्ति और बुद्धिसे वह परे है तो उससे कहना चाहिये कि 'भाई ! जब तुम्हारी बुद्धि और युक्ति तुम्हारे व्यष्टिरूप बुद्धिमें 'मेरी' कहनेवाले किसी पदार्थविशेषको नहीं समझ सकती और तुम्हारी बुद्धिका व्यष्टि अभिमानी स्वामी ही जब तुम्हारी बुद्धि और उसके कार्य युक्तिसे परे है तो समष्टि-बुद्धियोंके एकमात्र सञ्चालक, प्रेरक और नियामकको जो तुम बुद्धिके परिणामरूप युक्तिसे समझना चाहते हो, यह वन्ध्यापुत्रका खपुष्पके चापसे शशशृङ्गको तोड़नेकी चेष्टा नहीं तो और क्या है ? बुद्धिके परिणामरूप युक्तिद्वारा ईश्वरके प्रत्यक्ष न होनेमें केवल शुष्क युक्ति ही प्रमाण नहीं, बल्कि वेद-भगवान् भी इस विषयमें उच्चस्वरसे घोषित करते हैं—

'येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति'—(बृहदारण्यक २ । ४ । १४)

अर्थात् 'हे मैत्रेयी ! जिससे यह सम्पूर्ण जाना जाता है, उसको किससे जाना जाय, विज्ञाताको किससे जाना जाय ?'

'एष नेतिनेति आत्मा अगृह्यो नहि गृह्यते'

अर्थात् आत्मा यह नहीं है, नहीं है; आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता—

'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृह० ३ । ७ । २३)

अर्थात् इस आत्मासे अन्य कोई विज्ञाता नहीं है—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यमित्यादि'— (छान्दोग्य ७ । २४ । १)

अर्थात् जिसमें कोई नहीं देख सकता, जिसको कोई नहीं सुन अथवा जान सकता है वह भूमा अर्थात् आत्मा है । जिसमें दूसरा देख सकता है, जिसको दूसरा सुन सकता है, जान सकता है वह अल्प है । भूमा निश्चय ही अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य अर्थात् मरणशील है ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो० (केनोपनिषद् २)

अर्थात् जो श्रोत्रका श्रोत्र है और मनका भी मन है ।

'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृहदारण्यक ३ । ७ । २२)

अर्थात् जो बुद्धिमें स्थित होकर बुद्धिमें रमा हुआ है,

और बुद्धि जिसको नहीं जानती, जिसका बुद्धि शरीर है वह बुद्धिके भीतर रहकर उसको व्यापारमें लगाता है वही तेरा अविनाशी अन्तर्यामी आत्मा है।

इसप्रकार अनेक श्रुतियाँ उस परमात्मदेवको बुद्धि तथा उसके कार्य युक्तिका अविषय प्रतिपादन करती हैं।

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि बुद्धिमें 'मेरी' कहनेवाला कौन है, यह तो ईश्वर ही जाने, हम इसे क्या समझ सकते हैं, तो उसके कथनसे बलात्कार ईश्वरकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जिसको बुद्धि न जान सके और जहाँ जाकर समस्त उक्ति, युक्ति, तर्क और बुद्धिमत्ताका पर्यवसान हो जाय, वही आत्मा, वही ईश्वर और वही परमसाध्य और उपास्यदेव है। ऐसे विभु, अपरिच्छिन्न और पूर्णतम वस्तुमें युक्ति माँगना स्वयं न्यायाध्यक्ष बनने और ईश्वरको अपने न्यायका विषय बनानेकी चेष्टा करना है।

६–संसारकी प्रायः सभी वस्तुएँ त्रिपुटीग्रसित हैं। जैसे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय; ध्याता, ध्यान, ध्येय; उपासक, उपासना, उपास्य इत्यादि। इसलिये यदि युक्तिरूप बुद्धिकी वृत्तिद्वारा ईश्वरका ज्ञान प्राप्त होना माना जाय तो युक्ति तो ज्ञाता होगी और ईश्वर ज्ञेय वस्तु ठहरेगा। ज्ञातारूप जजकी अपेक्षा ज्ञेयरूप वस्तु सर्वदा परिच्छिन्न, छोटी और आज्ञानिबन्धनी होती है। जैसे न्यायाध्यक्षकी अपेक्षा विवादकर्त्ता दोनों पक्ष न्यूनस्थानीय होते हैं और उस प्रधान पुरुष हाकिमके हुक्मके बन्धनमें होते हैं, अपने कथनको उसके सामने निवेदन कर देनेके अनन्तर वह स्वयं जड़वत् उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं और उसकी आज्ञानुकूल चेष्टा करनेके अतिरिक्त और कुछ कार्य न्यायालयमें नहीं कर सकते। यही स्थिति हमारी युक्तिके ज्ञाता बननेपर न्यायानुसार विभु, अपरिच्छिन्न, सर्वाधिष्ठान, जगन्नियन्ता और सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी हो जायगी, जो सर्वथा युक्तिहीन और न्यायविरुद्ध है।

इसप्रकार अनेकों युक्तियोंसे यह बात सिद्ध होती है कि ईश्वरके विषयमें युक्ति माँगना ही सर्वथा अन्यायग्रसित और युक्तिहीन है। क्योंकि जो स्वयंप्रकाश और सबमें एकरस ओतप्रोत, सबका ज्ञाता, द्रष्टा और स्वयंसिद्ध है उस सबके साधकको दूसरा कौन किसप्रकार सिद्ध कर सकता है? वह ईश्वर मन और वाणीका भी विषय नहीं है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

अर्थात् वाणी और मन उसके पासतक बिना पहुँचे ही लौट आते हैं—

'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'

(केन० ३)

अर्थात् 'उसके पासतक न आँखें, न वाणी और न मन ही पहुँचते हैं, अतः नहीं समझमें आता कि उसका किसप्रकार याथातथ्येन उपदेश करें, क्योंकि न तो वह ज्ञात है और न बुद्धिमें ही आ सकता है।' इसप्रकार सर्वशास्त्रशिरोमणि वेद भी जब पूर्णतया उसका निरूपण करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तब दूसरा कौन उसे सिद्ध कर दिखानेमें समर्थ हो सकता है?

इसलिये तुच्छ युक्तियोंसे उस परम श्रद्धेय सर्वात्मा ईश्वरकी सिद्धिकी इच्छा करना केवल शुष्क वाद है, यह बात हमने ऊपर युक्तियोंद्वारा सिद्ध कर दी है। अतः जब युक्तिविषयक प्रश्नका करना ही नहीं बनता तो यों ही ऐसे असिद्ध प्रश्नके उत्तरमें युक्तियाँ स्थापन करना अन्यथासिद्ध अरण्यरोदन और जल विलोकर नवनीत निकालनेकी चेष्टा करनेकी भाँति व्यर्थ प्रयासमात्र है। गुरु नानकदेवकी इस वाणीके अनुसार कि, 'पिताकी बात क्या जाने पूत' दुर्बल और तुच्छ युक्ति उस प्रभुके पवित्र चरणोंतक नहीं पहुँच सकती। इसलिये उस परब्रह्मको उक्ति-युक्तिसे परे, सबका कल्याण करनेवाला, भुक्ति और मुक्तिदायक, निरतिशय आनन्दका देनेवाला जानकर उसके परमपावन चरणकमलोंमें सदा निःशङ्क होकर अनन्यभक्ति और गाढ़ प्रेमसे अपने मनरूपी भृंगको समर्पण करना चाहिये, जिससे जन्म-मरणकी दुःसह पीड़ा शान्त हो।

ईश्वरकी महिमा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी हालना)

'कल्याण' के इस ईश्वरांकके लिये जो लेखोंकी सूची प्रकाशित हुई है उसमें एक विषय 'ईश्वरकी महिमा' भी है। इसी सम्बन्धमें कुछ शब्द निवेदन करनेकी मैं आज्ञा चाहता हूँ। वास्तवमें ईश्वरकी महिमा इतनी बड़ी और अपार है कि उसे यथार्थरूपसे वर्णन करना प्रायः असम्भव है। किन्तु जैसा कि रामचरित-मानसमें लिखा है कि—

> निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं।
> निगम शेष शिव पार न पावहिं॥

भगवान्‌की महिमाका वेद, शेषजी और शिवजी पार नहीं पा सकते, उनकी उस अपूर्व महिमाको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ऋषि-मुनियोंने कुछ-कुछ वर्णन किया है। मैं अपनी ओरसे कुछ न कहकर पहले ईश्वरके निर्गुण रूपकी परम कल्याणस्वरूप भगवान् शंकरने पार्वतीजीसे जो महिमा कही है उसीका नीचे रसास्वादन करनेकी पाठकोंसे प्रार्थना करता हूँ—

निर्गुण रूपकी महिमा

> आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
> बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिध नाना॥
> आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
> तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
> असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

विज्ञ पाठकोंने देखा होगा कि भगवान् शंकरने कितने थोड़े शब्दोंमें ईश्वरके निर्गुण रूपकी कितनी सुन्दर महिमा कही है। अब नीचे उनके सगुण रूपकी महिमा दी जाती है। किन्तु इससे पहले भगवान् शंकरहीके दो शब्दोंमें यह बता देना अनुचित न होगा कि ईश्वर निर्गुण ब्रह्मसे सगुण रूप क्यों धारण करता है। महादेवजी ईश्वरके निर्गुण रूपकी ऊपर दी हुई महिमा वर्णन करनेके बाद कहते हैं कि—

> जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
> सोइ दसरथ सुत भगतहित, कौसलपति भगवान॥

अर्थात् 'जिस ईश्वरको वेदके जाननेवाले पण्डित इस-प्रकार गाते हैं और जिनका मुनीश्वर लोग ध्यान करते हैं वही निर्गुण ब्रह्म ईश्वर-भक्तोंके लिये दशरथके पुत्र होकर अयोध्यानाथ भगवान् श्रीरामचन्द्रका रूप धारण करते हैं।'

अब ईश्वरके इन्हीं सगुण रूपधारी 'कोसलपति' भगवान् रामचन्द्रकी अपूर्व महिमा सुनिये। परम ईश्वर-भक्त और ज्ञानी काग्भुशुण्डिजीने श्रीरामचन्द्रजीकी जो अलौकिक महिमा वर्णन की है, उसे पढ़कर मनुष्य एक साथ ही भक्ति, प्रेम और आनन्दसे गद्गद हो जाता है। वह अमृतरस अब पान कीजिये—

सगुण रूपकी महिमा*

> राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
> सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥

अर्थ—सौ करोड़ कामदेवोंके समान श्रीरामचन्द्रजीका शरीर सुन्दर है और वे करोड़ दुर्गाके समान अनगिनती शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं। सौ करोड़ इन्द्रोंके समान जिनका भोग-विलास है और सौ करोड़ आकाशोंके समान जिनका विस्तार है।

> मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
> ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भवत्रास॥

अर्थ—सौ करोड़ पवनोंसे भी जिनका ज्यादा बल है और सौ करोड़ सूर्यके समान जिनका प्रकाश है। जो सौ करोड़ चन्द्रमाओंके समान शीतल हैं और संसारके सब तापोंको नाश करनेवाले हैं।

> काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त।
> धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधरष भगवन्त॥

अर्थ—जो सौ करोड़ कालके समान अत्यन्त दुस्तर (कठिनतासे तरनेयोग्य), दुर्ग अर्थात् कठिनाईसे प्राप्त होनेयोग्य और जो दुरन्त (जिनका अन्त नहीं) है। और जो भगवान् सौ करोड़ अग्निके समान कठिनतासे धारण करनेयोग्य हैं।

---

* नीचे दिये हुए पद्योंका अर्थ भी इसलिये दे दिया गया है कि सब पाठक पूर्णरूपसे इनका रस ग्रहण करें।—लेखक

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपुंज नसावन॥

अर्थ-प्रभु सौ करोड़ पातालोंके समान अथाह हैं और सौ करोड़ यमराजोंके समान भयङ्कर हैं। वे करोड़ों तीर्थोंके समान पवित्र हैं और जिनका नाम सब पापके समूहोंको नाश करनेवाला है।

हिम गिरि कोटि अचल रघुवीरा। सिंधु-कोटि सत सम गंभीरा॥
कामधेनु सत कोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥

अर्थ-जो करोड़ों हिमालय-पर्वतोंके समान अचल हैं, जो सौ करोड़ समुद्रके समान गहरे हैं और जो भगवान् सौ करोड़ कामधेनुओंके समान सबकी कामनाओंको पूरा करनेवाले हैं।

सारद कोटि अमित चतुराई। विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
विष्णु कोटि सत पालन करता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

अर्थ-जो करोड़ सरस्वतीके समान चतुर हैं और जो सृष्टिके उत्पन्न करनेमें सौ करोड़ ब्रह्मासे भी अधिक निपुण हैं, जो सौ करोड़ विष्णुके समान पालनकर्त्ता हैं और जो सौ करोड़ महादेवके समान संहारकर्त्ता हैं।

धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥
भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥

अर्थ-जो सौ करोड़ कुवेरोंके समान धनवान् हैं और जो करोड़ों माया और प्रपञ्चके खजाने हैं, जो सौ करोड़ शेषजीके समान (पृथ्वीका) भार धारण किये हैं और जो अवधि और उपमारहित हैं।

हमारे पाठकोंने ऊपर सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सगुण रूपकी कुछ महिमा देखी, किन्तु उसके अन्तमें जो कहा है कि 'निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा' वही विल्कुल ठीक है। अर्थात् जो प्रभु जगदीश्वर हैं उनकी न कोई सीमा है और न उनकी कोई उपमा हो सकती है। जैसे करोड़ों पटबीजनोंसे सूर्यकी उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे असंख्य तारागणोंसे चन्द्रमाकी उपमा नहीं दी जा सकती और जैसे समुद्रकी उपमा समुद्रहीसे दी जा सकती है उसी तरह वस्तुतः ईश्वरकी या रामकी या कृष्णकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती। उनकी उपमा तो उन्हींसे दी जा सकती है।

दशावतार

(लेखक—एक प्रेमी महाशय)

ईश्वरके अनन्त अवतार हैं। भक्तोंके दुःख दूर करनेको उन्हें अनेकों बार अवतरित होना पड़ता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गीता ४।८)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने स्वीकार किया है कि 'साधुओंकी रक्षा, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मका सम्यक् स्थापन करनेके लिये मैं बार-बार प्रकट होता हूँ।'

जिसप्रकार ८४ लाख आसनों और योनियोंमें केवल ८४ आसन और ८४ योनियाँ प्रधान हैं और ८४ में भी सिर्फ ३२ ही मुख्य हैं। उसी प्रकार अनन्त अवतारोंमें भी २४ अवतार प्रधान या प्रख्यात हैं और उन २४ में भी केवल १० ही मुख्य माने जाते हैं।

पुराणोंमें उनका अद्भुत, विचित्र और विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, यहाँ भगवद्भक्तोंके हृदयोद्दीपनार्थ उनका साधारण दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

सर्वप्रथम मत्स्यावतार हुआ था। उसके बाद कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि हुए।

(१) मत्स्यावतार

प्रत्येक कल्पके अन्तमें महाप्रलय होता है। जिस समय प्रजापति (ब्रह्मा) योगनिद्राके वश हो रहे थे, उस समय उनके मुखसे वेदादिका निष्काशन हो गया। उनको हयग्रीवने हड़प लिया तब वेदोद्धारके विचारसे भगवान्ने शफरी या हिलसा नामकी मछलीका रूप धारण किया।

उस अवसरपर राजर्षि सत्यव्रत भगवत्प्राप्तिके लिये केवल जल पीकर कठिन तप कर रहा था। एक दिन वह कृतमाला नदीमें जाकर तर्पण करने लगा, उसी समय उसकी अञ्जलिमें एक मछली आ गयी। राजाने जलाञ्जलिके साथ उसे भी नदीमें छोड़ दिया, तब वह मछली बोली कि—

राजन्! मछलीमार जन्तुओंसे मेरी रक्षा करनी चाहिये, नहीं तो ये मुझे खा जायँगे। यह सुनकर सत्यव्रतने उसे अपने कमण्डलुमें डाल लिया और आश्रममें ले आया। वहाँ आनेपर वह एक ही रातमें इतनी बढ़ी कि कमण्डलुमें नहीं समायी। तब राजर्षिने उसे एक कुएँमें छोड़ दिया, वहाँ वह तीन ही मुहूर्तमें कुएँ-जितनी हो गयी। तब राजर्षिने उसे शतयोजन विस्तीर्ण जलाशयमें स्थान दिया, किन्तु वहाँ भी वह इतनी बढ़ी कि जलाशय उसीसे भर गया। यह देखकर राजर्षिने पूछा कि—

भगवन्! आप कौन हैं? एक ही दिनमें आपने इस शतयोजनविस्तीर्ण जलाशयको व्याप्त कर लिया। सम्भव है आप कोई अवतार हैं। यह सुनकर मत्स्यने उत्तर दिया कि—'आजसे सातवें दिन यह सम्पूर्ण भूमण्डल भूर्भुवादि लोकोंसहित जलप्लावित हो जायगा। उसी समय तेरे पास एक नाव आवेगी। उसके आते ही तू मेरे सींगमें उस नावको सर्परज्जुसे बाँध देना।' यह कहकर वह अदृश्य हो गयी।

सातवें दिन सत्यव्रत कुशासनपर बैठकर मत्स्यावतार-का ध्यान करने लगा। देखते-देखते समुद्र उमड़ चले। महामेघ बरसने लगे और सर्वत्र जल भर गया। इतनेमें एक नाव आयी, उसमें सप्तर्षियोंके साथ सत्यव्रत बैठ गया और स्तुति करने लगा। उसी अवसरपर एक शृंगधारी महान् मत्स्य देख पड़ा। राजर्षिने तुरन्त उसके सींगमें नौका-को बाँध दिया। वह उसे बड़े वेगसे खींच ले गया और ब्राह्मी निशामें उसने उनको तत्त्वोपदेश किया। अन्तमें हयग्रीवको मारकर ब्रह्माको वेद प्रदान किया और आप मत्स्यावतारसे स्वधाम पधार गये।

(२) कूर्मावतार

जिस समय प्रलय-कालके जलमें भगवान् सो रहे थे, उस समय उनके शरीरमें आद्याशक्ति उत्पन्न हुई। ईश्वरने उससे ब्रह्मा, विष्णु और महेशको प्रकट किया। तब वही शक्ति शवरूपमें ब्रह्माके निकट गयी, उन्होंने उसे चारों ओरसे देखा, इस कारण वे चतुर्मुख हो गये। फिर वह विष्णुके समीप गयी उन्होंने उसे दूरसे ही लौटा दिया। अन्तमें उसने शिवके समीप रहनेकी इच्छा प्रकट की, तब शिवने कहा कि तुम सौ बार शरीर बदल सको तो मैं तुम्हें स्वीकार कर सकता हूँ। यह सुन शक्तिने वैसा ही किया और वह शिवमें लीन हो गयी।

शक्तिके स्थिर होनेपर विष्णुने ब्रह्माको सृष्टि रचनेके लिये कहा किन्तु पृथ्वीका बीज न देखकर ब्रह्मा कुछ न कर सके। तब विष्णुने कर्णमलसे मधुकैटभ उत्पन्न किये। उत्पन्न होते ही वे खानेको दौड़े। तब ब्रह्माने विष्णुकी शरण ली और मधुकैटभको मरवा दिया। ब्रह्माने उनके मेदेसे मेदिनीको उत्पन्न किया। और हड्डियोंसे पर्वत बनाये, किन्तु उनसे जब वह डगमगाने लगी तब भगवान्ने कूर्मरूप धारण किया।

(३) वराहावतार

ब्रह्मासे सृष्टिक्रम आरम्भ करनेकी आज्ञा पाये हुए मनुने पृथ्वीको जलप्लावित देखकर उनसे कहा कि—हे ब्रह्मन्! यह सम्पूर्ण भूमि प्रलय-पयोनिधिमें निमग्न है। इसके उद्धारका उपाय कीजिये, जिससे हम और मरीचि आदि आपकी आज्ञाका पालन करें।

यह सुन ब्रह्माने विचार किया कि जिसने मुझे उत्पन्न किया है वही इसका प्रबन्ध कर सकेंगे। उसी समय विचार-मग्न ब्रह्माके नासारन्ध्रसे अङ्गुष्ठप्रमाण वराह बाहर निकले और बाहर आते ही उन्होंने गजेन्द्र-जैसा शरीर बनाकर ऐरावतकी तरह गर्जना की। तब ब्रह्मादिने उनका स्तवन किया। और वराह भगवान् जलमें प्रविष्ट होकर पृथ्वीको ऊपर ले आये। अन्तमें हिरण्याक्षको मारकर स्वधामको पधार गये।

कालिकापुराणमें लिखा है कि यज्ञोंकी उत्पत्ति वराहजीके अंग-प्रत्यंगोंसे हुई थी और उस समय उनकी संख्या आठ हजार थी।

(४) नृसिंहावतार

ब्रह्मासे वर प्राप्त करके दितिके पुत्र हिरण्यकशिपुने गौ, ब्राह्मण, देवता और विष्णुसे वैर किया था। उसके चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद सबसे बड़ा था। पुत्रवात्सल्य-के अनुरोधसे हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर एक बार पूछा कि—'कहो बेटा! तुम इतने दिनसे पढ़ रहे हो, तुमने क्या-क्या सीखा? इसके उत्तरमें प्रह्लादने कहा कि—

> 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥'
>
> (श्रीमद्भा० ७।५।२३).

पिताजी! भगवद्-साक्षात्कार करानेवाली नौ प्रकारकी



श्रीगायत्री देवी

भक्ति है। उनका मैंने गर्भहीमें अध्ययन किया है। यहाँ आकर तो मैं उसका अनुशीलन कर रहा हूँ।

यह सुनकर हिरण्यकशिपुने विचार किया कि यह तो अपने वैरी विष्णुका भक्त बना जा रहा है। इसको जीवित रखना विष-वृक्षको बढ़ाना है। यह विचारकर उसने प्रह्लादके मारनेके अनेकों यत्न किये किन्तु भगवत्कृपासे सब निष्फल गये। तब उसने कहा कि 'कहो प्रह्लाद—हाथियोंसे, सर्पोंसे, पर्वतोंसे और अग्नि आदिसे तुम्हारी किसने रक्षा की—यदि तुम कहो कि—'सर्वव्यापी भगवान्ने।' तो क्या वह इस खम्भेमें भी है? प्रह्लादने उत्तर दिया कि—'हाँ अवश्य है।' तब हिरण्यकशिपुने क्रोध करके अतिवेगसे उस खम्भेपर एक मुक्का मारा। ऐसा करते ही भक्तभयहारी भगवान्ने नृसिंहावतार धारण करके गर्जन करते हुए खम्भेसे निकलकर दर्शन दिये और तत्काल हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादको अभयदान दिया।

(५) वामनावतार

प्रह्लादके पोते बलिने इन्द्रादिको परास्त करके इन्द्रासन लेनेका प्रयत्न किया था। यह देखकर देवमाता अदितिके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उसके गर्भसे उत्पन्न होकर इन्द्रादिको स्वर्ग दिलानेकी प्रतिज्ञा की। तदनुसार उन्होंने वामन-रूप धारण किया। यह सही है कि माँगनेसे मनुष्य छोटा हो जाता है। इस विचारसे भगवान् पहले ही बावन अंगुलके बावने बन गये।

बलिराजाने उनसे बहुत कुछ माँगनेको कहा, किन्तु उन्होंने केवल तीन पैंड भूमि माँगी। बलि उसके देनेको तैयार हो गया। शुक्राचार्य जान गये कि ये भगवान् हैं। उन्होंने राजाको दान देनेसे मने किया। परन्तु बलि वाक्यबद्ध था, उसने संकल्प कर दिया। वामन भगवान्ने पृथ्वीपर पैंड लगाये। पहले पैंडमें पृथ्वी और दूसरेमें आकाश नाप लिया। तीसरा पैंड बाकी रह गया उस क्षणमें बलिको घरबार छोड़कर पातालमें जाना पड़ा। भगवान् भी उसकी दृढ़तासे मुग्ध होकर उसके द्वारपर द्वारपाल बन रहे।

(६) परशुरामावतार

जमदग्निके पुत्र परशुराम रेणुकाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। उनके पाँच भाई और थे। एक दिन जमदग्निने अपने पुत्रोंको किसी कारण रेणुकाके सिर काटनेको कहा। माताको मारनेमें कोई भी पुत्र तैयार नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने परशुरामको कहा तब उसने तुरन्त अपने फरसाको उठाया और माताका मस्तक उड़ा दिया।

जमदग्नि इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे वर माँगनेको कहा। तब परशुरामने कहा कि 'मेरी माता जीवित हो जाय और इन्हें मेरे इस कृत्यका स्मरण न रहे।' ऐसा ही हुआ। परशुरामजीने मदोन्मत्त क्षत्रिय राजाओंका संहार कर पृथ्वीका भार उतारा।

(७) रामावतार

वृद्धावस्था आ जानेपर भी दशरथके सन्तान न हुई, तब वशिष्ठजीके अनुरोधसे उन्होंने 'पुत्रेष्टि' यज्ञ किया। उसके लिये अङ्ग-देशसे ऋष्यशृंग आये थे। यज्ञके यथावत् सम्पन्न हो जानेपर यज्ञकुण्डसे एक पुरुष निकला। उसके हाथमें 'यज्ञचरु' था। उसने वह दशरथको दिया। उस चरुके प्रभावसे तीनों रानियोंके चार पुत्र हुए। उनमें बड़ी रानी कौसल्याके उदरसे रामचन्द्र हुए। उनके आदर्श और शिक्षाप्रद चरित्र वाल्मीकीय रामायण आदिमें विस्तारसे वर्णित हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम थे।

(८) बलरामावतार

विवाहके बाद देवकीको कंस पहुँचाने गया तब मार्गमें आकाशवाणी हुई कि 'जिसको तू पहुँचाने जा रहा है इसका आठवाँ गर्भ तेरा घातक है।' यह सुन कंसने वसुदेव और देवकी दोनोंको कैदखानेमें डाल दिया और जब-जब उसके गर्भसे बालक जन्मे तब-ही-तब वह उनको मारता रहा।

सातवें गर्भमें जो बच्चा आया उसको योगमायाने वहाँसे हटाकर रोहिणीके गर्भमें रख दिया। उस समय रोहिणी वसुदेवके मित्र नन्दबाबाके यहाँ थी। समय पाकर उस गर्भसे बलराम उत्पन्न हुए। उन्होंने बड़े-बड़े असुरोंका संहार किया और द्विविद नामके वानरको मारा। अन्तमें उन्होंने अपने शरीरका योगबलसे त्याग कर दिया। और स्वधाम पधार गये। उस समय उनके मुखसे फणवाला एक महासर्प निकला था और समुद्रमें प्रवेश कर गया था।

(९) बौद्धावतार

एक बार दैत्योंने देवराज इन्द्रसे पूछा कि किस कामके

करनेसे हमारा स्थिर राज्य रह सकता है। शुद्ध भावसे इन्द्रने उत्तर दिया कि तुम यज्ञ और वेदविहित आचार करो। तब दैत्योंने महायज्ञका आरम्भ किया यह देख देवताओंने विष्णुकी शरण ली।

विष्णु संन्यासीका रूप धारण करके हाथमें एक झाड़ू लेकर अपवित्र वेशसे यज्ञमें गये। इनको देखकर दैत्योंने परिचय प्राप्त किया। तब नवागतने उत्तर दिया कि—'तुम जो यह यज्ञ कर रहे हो इसमें प्राणियोंका वध होता है। देखो जीवहिंसाके लिये मैं कितना सचिन्त रहता हूँ। जब मैं चलता हूँ तो भूमिको बुहारीसे बहारकर पाँव रखता हूँ।'

संन्यासीके उपदेशको सुनकर दैत्यलोग भी 'अहिंसा परमो धर्मः' मानने लगे। और उस नवागत संन्यासीने बौद्धरूपसे त्रैलोक्यका रक्षण किया।

(१०) कल्कि-अवतार

भागवतादिमें लिखा है कि—कलियुगके अन्तमें अत्याचारोंसे प्रपीडित देवताओंके प्रार्थी होनेपर विष्णुयशाके घर भगवान् कल्कि प्रकट होंगे। परशुराम उनको वेद पढ़ावेंगे। शिव शस्त्रास्त्रोंका सन्धान सिखावेंगे। साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे। तब कल्कि भगवान् सब पापियोंका नाश करेंगे।

स्मरण रहे कि इस लेखमें अवतारोंकी विस्तृत कथा किसी अंशमें नहीं आ सकी है किन्तु कुछ अपरिचित और ज्ञातव्य बातोंका ही समावेश किया गया है।

लोग ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं?

(लेखक—कु० श्रीनिवासदासजी पोद्दार)

मैं न तो विद्वान् हूँ और न ज्ञानी हूँ। ऐसी अवस्थामें मेरा ईश्वरके विषयमें चर्चा करना हास्यास्पद हो सकता है। इसलिये अपनी भूल-चूकके लिये क्षमा चाहते हुए दयालु पाठकोंसे निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे इस लेखके दोषोंपर ध्यान न देते हुए कृपया इसमें यदि कुछ उपयोगी बात आ गयी हो तो उसीपर विचार करेंगे।

सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापरयुगमें इस भूतलपर अनेकों राक्षस तथा आततायी पुरुष उत्पन्न हुए, जिनके द्वारा नाना प्रकारके पापोंका संसारमें आविर्भाव हुआ। नास्तिकवादके आदिप्रचारक भी ये ही थे; परन्तु यद्यपि उन युगोंमें इन राक्षसोंके अत्याचारसे समस्त जगत्में हाहाकार मच गया था और उनके भयसे लोग ईश्वरका नामतक लेनेसे डरते थे तथापि जनसमुदायके हृदयमें ईश्वरीय सत्ताके विषयमें दृढ़ विश्वास तथा अटूट प्रेम था। परन्तु कलिमें यद्यपि वैसे राक्षस साक्षात् नहीं दीखते तथापि जनताकी मनोवृत्तिमें ईश्वरीय सत्ताका अभाव देखकर आश्चर्य होता है। तथा यह जाननेकी बड़ी उत्सुकता होती है कि 'लोग ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं?'

बात असल यह है कि इस कलिमें भी पाप-प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देनेवाला तथा नास्तिकताका प्रचण्ड प्रचार करनेवाला एक जड राक्षस आविर्भूत हुआ है। पुराने समयके राक्षस देवताओं तथा ऋषि-मुनियों एवं ब्राह्मणोंके धर्म-कर्म करनेमें नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित करते थे और कभी-कभी तो वे इनके जानके गाहक हो जाते थे, परन्तु यह कलिका राक्षस जड होनेपर भी इतना बड़ा भयानक नीतिज्ञ है कि इसने जनताकी रुचिको ही धर्म-कर्मकी ओरसे मोड़ लिया है, तथा अब इसके मनुष्यत्वको ही निर्मूल नाश करना चाहता है।

कलिकालका यह महाराक्षस शक्तियन्त्र (Power machine) है। यह बड़ा ही बलवान् और भयंकर है, इसकी समस्त चेष्टाएँ मानव-जातिके अस्तित्वको मिटानेके लिये ही हो रही हैं। मनुष्यमें मानवोचित गुणोंका यह धीरे-धीरे लोप करता जा रहा है। इसने ईश्वरीय सत्ताके विरुद्ध ऐसा प्रबल विद्रोह खड़ा कर दिया है कि बहुत-से देशोंमें नास्तिकताका साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है। देखनेमें तो यह मनुष्यके लिये बड़ा ही उपकारी तथा आज्ञाकारी प्रतीत होता है परन्तु थोड़ा-सा विचार करते ही इसका असली स्वरूप समझमें आ जाता है। वस्तुतः यह हमारा महान् शत्रु

शत्रु है और हमारे बीचमें रहकर अपने नाशकारी प्रयत्नोंद्वारा हमें प्रतिदिन नपुंसक, निकम्मा और ईश्वर-पराङ्मुख बनाता जा रहा है!

भगवान् मनु लिखते हैं कि मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुनमें मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, परन्तु निवृत्ति मनुष्यको महत्फल प्रदान करनेवाली होती है। इसलिये सांसारिक विषयोंसे निवृत्त रहकर ही मनुष्य महाफलरूपी चैतन्य अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। चौरासी लाख योनियोंमें एक मानव-योनिको छोड़कर शेष समस्त प्रकृतिके अधीन रहनेके कारण निवृत्तिके लिये यत्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। मनुष्य भी यदि प्रवृत्ति-मार्गमें ही लगा रहा तब तो बेचारा जीव सदा आवागमनके चक्रमें घूमता हुआ दुःख ही पाता रहेगा और कभी शान्ति न पा सकेगा।

परन्तु इस महाराक्षस शक्तियन्त्र (Power-machine) का आविर्भाव तो इसीलिये हुआ है कि लोग सदा प्रवृत्तिमें ही फँसे रहें। यह केवल विलासिताकी सामग्रियाँ तैयार करता है और वह भी इतने अधिक परिमाणमें कि यदि मनुष्य उसे कितना ही अधिक उपयोगमें लावे, भण्डार खाली नहीं हो सकता। शक्तियन्त्र अधिकाधिक विलास-सामग्री तैयार करनेके लिये आगे बढ़ रहा है, इसके लिये दिन-पर-दिन नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं और मानव-जाति अधिकाधिक इसकी ओर आकर्षित होती जा रही है।

अच्छा, अब इस नाशकारी यन्त्रके प्रयत्नोंको देखिये। सबसे पहले इसने मनुष्य-जातिको दो हिस्सोंमें बाँटा—पूँजीपति और मजदूर। इनमें पूँजीपतियोंके पास आवश्यकतासे अधिक धन सञ्चय हो गया और वे विलासिताके पुजारी बन मोटरों और वायुयानोंद्वारा संसारकी हवा खाने लगे। दूसरे बचे बेचारे मजदूर, जो उन्हींकी मिलोंमें दिन-रात काम करके भी भरपेट अन्न खानेके लिये नहीं पाते। पहले परिश्रमी मनुष्य गाँवोंमें काम करके सुखसे अपनी जीविका चलाते थे, आज इस राक्षस-यन्त्रने उन्हें निकम्मा बनाकर दाने-दानेके लिये मुहताज कर दिया है। दिन-रात पेटकी फिक्रमें लगे रहनेके कारण इनको धर्म या ईश्वरसे कुछ सरोकार ही नहीं रह गया है। पूँजीपति नित-नये कारखानोंकी व्यवस्था करने, अधिकाधिक माल तैयार कराकर बाहर भेजनेके ही पचड़ेमें लगे हुए हैं, उन्हें भी कहाँ फुरसत कि धर्म या ईश्वरके विषयमें कुछ सोचें। धनकी लिप्सामें उन्मत्त हो वे नये-नये आविष्कारोंके सफल करनेमें ही मानव-जीवनकी सफलता समझे बैठे हैं। विद्वानोंको भी इस राक्षस यन्त्रने नहीं छोड़ा है, वे भी परमात्मा-विषयक तत्त्वोंकी चर्चा तथा धर्म-प्रचार छोड़कर शक्तियन्त्रकी उपयोगिता तथा भौतिक पदार्थोंकी उन्नतिके प्रोत्साहनमें ही अपने जीवनको लगाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

पहले तो इसका प्रभाव शहरोंमें ही था पर अब वह संक्रामक रोगकी तरह धीरे-धीरे देहातके रहनेवालोंको भी अपने चमक-दमकसे आकर्षित कर रहा है। जो बेचारे अपना जीवन सादगी और पवित्रतासे व्यतीत करते थे वे भी अब इसके चक्रमें फँस गाँवोंको छोड़ झुण्ड-का-झुण्ड बाँधकर शहरोंमें आ रहे हैं। नगरोंकी जन-संख्या अब बाढ़के समान बढ़ रही है। उनके लिये बड़े-बड़े मकान बन रहे हैं जिनमें वे कबूतरखानेके समान ठूँसे जा रहे हैं। देहातोंकी खुली हवामें रहनेवाले शहरोंकी गन्दगीमें आकर, और वह भी एक जगह रहकर अपने स्वास्थ्यसे भी हाथ धो रहे हैं।

जलकी गाथा भी बड़ी ही भयानक और दुःखद है। कूप, तालाब और नदियोंका ताजा जल जो मिट्टी, हवा और सूर्यकी गर्मीसे शुद्ध होकर हमें मिलता था, वह आज लोहेकी टङ्कियों तथा लोहेके नलोंमें बन्द करके हमें पीनेके लिये मिलता है। इससे हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है और हम दिन-प्रति-दिन कमजोर होते जा रहे हैं।

इसप्रकार इस शक्तियन्त्र (Power-machine) ने हमारे लिये दूषित पदार्थों तथा दूषित वातावरणको उपस्थित कर हमारे स्वास्थ्य और सात्त्विकताको नष्टप्राय कर दिया है। जिससे हम ईश्वरको ढूँढ़ना तो दूर रहे दिन-प्रति-दिन सांसारिक पदार्थोंके अर्जनमें ही शक्तिकी तलाश करते हुए उत्तरोत्तर विनाशकी ओर बढ़े चले जा रहे हैं। इस यन्त्रने हमारे सामने धनकी महत्ताको इतना बढ़ा दिया है कि हम धन जुटानेमें ही व्यस्त रहते हैं। धनके द्वारा उच्च-से-उच्च विलासितामय जीवन व्यतीत करनेके लिये हमारी पाशविक वृत्तियाँ व्याकुल रहती हैं। हम इतना भी नहीं विचार सकते कि सांसारिक सुख चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, हमें शान्ति और सुख न दे सकेगा, विलासिताकी ओर हम जितना ही बढ़ते

जायँगे उतनी ही हमारी तृष्णा बढ़ती जायगी और उतना ही अधिक हम व्याकुल और दुखी होंगे । सुखप्रद तो केवल एक ही ईश्वर है जो अनन्त है जिसमें सारी कामनाएँ लीन हो जाती हैं । परन्तु हम ईश्वरको भूल गये हैं, क्योंकि इस शक्तियन्त्ररूपी महाराक्षसने हमारे दृष्टिकोणको बदलकर विलासितामय बना दिया है । यही प्रधान कारण है कि संसारमें नास्तिकता बढ़ रही है और वह विनाशके गर्तमें गिरता जा रहा है । समस्त अनर्थोंका प्रधान-कारण यही शक्तियन्त्र है । इसकी काली करतूतोंसे हमारे पूर्वज अच्छी तरह परिचित थे, तभी तो मनु महाराजने यन्त्रोंसे काम लेनेका निषेध किया है । चीन देशके लियोटज़ू नामक महापुरुषने, जो चीनके तीन बड़े धर्मोंमेंसे एक धर्मके प्रवर्तक थे, भी मशीनसे काम लेनेकी स्पष्ट शब्दोंमें मनाही की थी, इंगलैण्ड-देशके अगाध पण्डित कार्लाइलने भी मशीनोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा था ।

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥'

तथा—

'कलौ केशवकीर्तनम्'

अर्थात् कलियुगमें केवल भगवन्नाम-जपसे सब अनर्थों-का नाश होकर मानव-समाजका कल्याण हो सकता है । इसीलिये पतितपावन परम ब्रह्म परमात्माने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतार लेकर कलिमें परमपद-साधनरूप कीर्तन-विधिका उपदेश किया है । भगवान्ने श्रीनित्यानन्दप्रभुको विवाह कर गृहस्थ होनेकी आज्ञा दी, तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही भगवन्नामका प्रचार करनेके लिये उनको उपदेश दिया, जिससे गृहस्थोंको भी कीर्तन करनेमें किसी प्रकारका संशय न हो । महाप्रभुने स्वयं भी एक जगह बैठकर कीर्तन नहीं किया बल्कि उन्होंने कीर्तनको व्यक्तिगत न रखकर उसे सार्वजनिक रूप दिया, तथा दूषित वातावरणको दूर कर जीवमात्रके कल्याणका मार्ग खोल दिया । यही कारण था कि उन्होंने गाँव गाँव और गली-गली घूम-घूमकर कीर्तनके रहस्यकी शिक्षा लोगोंको दी । उन्होंने कीर्तनमें किसी सामग्रीविशेषपर जोर न डालकर जहाँतक हो भगवच्चिन्तनमें मन लगाकर भगवन्नाम और गुणोंका कीर्तन करना ही बतलाया ।

ईश्वरके अटल विश्वासी भक्त

(प्रे०—पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल वाणीभूषण)

(१)

इटलीको स्वतन्त्र बनानेवाला वीर नवयुवकोंका अग्रणी नेता गेरीवाल्डी इतना बड़ा नामी पुरुष क्यों हुआ ? इस योग्यताका कारण उसकी माताका ईश्वर-प्रेम है। वह बड़ी ही ईश्वर-परायणा साध्वी नारी थी और गेरीवाल्डीका चरित्र सुधारनेमें उसीका पूरा हाथ था। गेरीवाल्डी आत्मचरित पुस्तकमें लिखता है कि—मुझमें असाधारण साहस देखकर जनता विस्मित होती है और संग्राममें मेरे पास किसी दैवी-शक्तिके होनेका अनुमान करती है। इस साहस और शूरताका मूल कारण तो ईश्वरीय बलके ऊपर मेरे अटल विश्वासका होना ही है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जबतक सतीत्वकी अवतार देवीतुल्य मेरी माता, मेरे प्राण-रक्षार्थ परमेश्वरकी आराधनामें मग्न रहेगी, तबतक मुझे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ज़रा भी शङ्का नहीं। मैं ईश्वरके भरोसे निश्चिन्त हूँ।

परिणाम यह हुआ कि, गेरीवाल्डीके कानोंके पाससे युद्धक्षेत्रमें सनसनाती हुई गोलियाँ चलने लगीं और तोपोंके गोले फूट-फूटकर अग्नि बरसाने लगे। उस समय इस वीरको यही जान पड़ता था कि मेरी माता मानो घुटने टेककर जगन्नियन्ता ईश्वरके निकट अपने पुत्रके प्राण बचानेके लिये प्रबल प्रार्थना कर रही है।

(२)

एक मनुष्यने किसी फकीरसे तीन सवाल किये—(१) 'ईश्वरकी सत्ता सर्वत्र है' ऐसा प्रत्येक जन कहता है, परन्तु मैं उसे क्यों नहीं देख सकता ? वह कहाँ है मुझे बतलाइये। (२) मनुष्यको उसके पापसे सज़ा किसलिये होती है ? क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, प्रभुकी प्रेरणासे ही तो करता है। (३) ईश्वर शैतानको नरकाग्निमें डालकर सजा देता है, ऐसा भी क्यों होता है ? क्योंकि शैतान आप ही अग्निरूप है, तो फिर अग्निकी अग्निके ऊपर क्या चलेगी ?

गम्भीरतासे इन प्रश्नोंको सुनकर फकीरने जमीनसे एक ढेला उठाया और तानकर प्रश्नकर्ताके शिरपर दे मारा। वह चोट खाकर रोता-चिल्लाता काजीके पास पहुँचा, और उसने नालिश कर दी। काजीने फकीरको बुलाकर जवाब तलब किया कि बतलाओ तुमने इस आदमीको पत्थरसे क्यों मारा ? फकीरने बेधड़क उत्तर दिया कि मैंने इसके तीन प्रश्नोंका यह उत्तर दिया है। यह बतलावे कि सिरपर चोट लगनेसे जो दुःख हुआ है, उसका रूप कैसा है और वह हमें क्यों नहीं दीख पड़ता ? पीछे हम इसे ईश्वर बतला देंगे। (अर्थात् ईश्वर आन्तरिक अनुभवद्वारा देखा जाता है) दूसरा उत्तर यह कि, हमने जो कुछ किया सो एकमात्र ईश्वरकी प्रेरणासे किया है, फिर ईश्वरकृत अपराधपर हमें सजा क्यों ? यह आदमी हमारा कसूर क्यों मानता है ? इसका शरीर मिट्टीका बना है, तो फिर मिट्टीकी मिट्टीके ऊपर क्या चल सकती है ? फकीरसे इसप्रकार उत्तर पाकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। काजी साहब भी खुश हो गये।

(३)

तिरुवल्लुवारका दूसरा नाम मुनिवाहन था। ईस्वी सन् १०० में दक्षिण भारतके एक चाण्डालके घरमें जन्म हुआ था। वह सङ्गीतविद्यामें निपुण ईश्वरका परम भक्त था। भजन गाता-गाता बहुधा वह प्रेममग्न हो बाह्य-ज्ञान-शून्य हो पड़ता था। सुप्रसिद्ध कावेरी तीर्थ श्रीरङ्गम्‌में एक दिन नदीके मार्गमें गाते-गाते मूर्छित हो पड़ा था। इसी समय श्रीरङ्गनाथजीका एक पुजारी ठाकुरजीकी पूजाके लिये कावेरी जल भरने जाता था, चाण्डालद्वारा रास्ता रुका जानकर उसने क्रोधित हो उसे ऐसा मारा कि तिरुवल्लु होशमें आ गया। वह खड़ा हो गया और रास्ता खुल गया। पुजारी पवित्रतासे जल भरकर मन्दिर पहुँचा तो देखा कि भीतरसे दरवाजा बन्द है। तब तो इसने भगवान्‌की बड़ी स्तुति-प्रार्थनाकर क्षमा माँगी कि 'हे प्रभो! मुझसे जाने-अनजाने जो भी अपराध हुआ हो, वह माफ करो।' मन्दिरसे आज्ञा सुन पड़ी कि—'यदि तू उस मेरे चाण्डाल भक्तको कन्धेपर बैठाकर, मन्दिरकी प्रदक्षिणा करे तो तुरन्त दरवाजा खुल जाय।' सेवक बहुत शरमाया। फिर अति पश्चात्तापपूर्वक भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेपर मन्दिरका द्वार खुल गया।

आयेंगे उतनी ही हमारी तृष्णा बढ़ती जायगी और उतना ही अधिक हम व्याकुल और दुखी होंगे। सुखप्रद तो केवल एक ही ईश्वर है जो अनन्त है जिसमें सारी कामनाएँ लीन हो जाती हैं। परन्तु हम ईश्वरको भूल गये हैं, क्योंकि इस शक्तियन्त्ररूपी महाराक्षसने हमारे दृष्टिकोणको बदलकर विलासितामय बना दिया है। यही प्रधान कारण है कि संसारमें नास्तिकता बढ़ रही है और वह विनाशके गर्तमें गिरता जा रहा है। समस्त अनर्थोंका प्रधान-कारण यही शक्तियन्त्र है। इसकी काली करतूतोंसे हमारे पूर्वज अच्छी तरह परिचित थे, तभी तो मनु महाराजने यन्त्रोंसे काम लेनेका निषेध किया है। चीन-देशके लियोटज़ू नामक महापुरुषने, जो चीनके तीन बड़े धर्मोंमेंसे एक धर्मके प्रवर्तक थे, भी मशीनसे काम लेनेकी स्पष्ट शब्दोंमें मनाही की थी, इंगलैण्ड-देशके अगाध पण्डित कार्लाइलने भी मशीनोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा था।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शक्तियन्त्रके द्वारा मनुष्य भोगमें अत्यन्त प्रवृत्त होकर ईश्वरकी सत्ताको भूल गया है। जिससे वह विलासिताकी ओर बढ़ता हुआ दिन-पर-दिन कमज़ोर होता दुःख-ही-दुःख भोग रहा है। अतः अब यह आवश्यक हो जाता है कि हम इन सब बातोंपर विचारकर इससे बचनेका उपाय सोचें। यह रावणादिके समान जीवधारी राक्षस तो है नहीं कि इसके नाशके लिये महान् अस्त्र-शस्त्रकी योजना करनी पड़े। इसका तो सारा दारोमदार हमारी मनोवृत्तियोंपर है, यदि हमारी मनोवृत्तियाँ ठीक रास्तेपर आ जायँ तो इस महाराक्षसके नष्ट होनेमें देर न लगेगी। मनोवृत्तियोंके ठीक करनेके लिये हमें बाह्यरूपसे तो विलासिताका त्यागकर हाथकी कारीगरियोंको उत्तेजन देना होगा और साथ ही अपनी आन्तरिक शक्तिको भी जागृत करना पड़ेगा। परन्तु इसके लिये हमारे पास साधन क्या हैं? कलिकालमें यज्ञ, पूजन आदि कार्योंका विधिवत् हो सकना सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके लिये चतुर्दिक् शुद्ध वातावरण तथा पवित्र वस्तुओंका अभाव-सा दीख पड़ता है। परन्तु हमारे पूर्वज महर्षि त्रिकालज्ञ होनेके कारण कलिके दोषोंको पूर्णतया जानते थे और इसीलिये उन्होंने एक स्वरसे कहा था कि—

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥'

तथा—

'कलौ केशवकीर्तनम्'

अर्थात् कलियुगमें केवल भगवन्नाम-जपसे सब अनर्थोंका नाश होकर मानव-समाजका कल्याण हो सकता है। इसीलिये पतितपावन परम ब्रह्म परमात्माने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतार लेकर कलिमें परमपद-साधनरूप कीर्तन-विधिका उपदेश किया है। भगवान्‌ने श्रीनित्यानन्दप्रभुको विवाह कर गृहस्थ होनेकी आज्ञा दी, तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही भगवन्नामका प्रचार करनेके लिये उनको उपदेश दिया, जिससे गृहस्थोंको भी कीर्तन करनेमें किसी प्रकारका संशय न हो। महाप्रभुने स्वयं भी एक जगह बैठकर कीर्तन नहीं किया बल्कि उन्होंने कीर्तनको व्यक्तिगत न रखकर उसे सार्वजनिक रूप दिया, तथा दूषित वातावरणको दूर कर जीवमात्रके कल्याणका मार्ग खोल दिया। यही कारण था कि उन्होंने गाँव-गाँव और गली-गली घूम-घूमकर कीर्तनके रहस्यकी शिक्षा लोगोंको दी। उन्होंने कीर्तनमें किसी सामग्रीविशेषपर ज़ोर न डालकर जहाँतक हो भगवच्चिन्तनमें मन लगाकर भगवन्नाम और गुणोंका कीर्तन करना ही बतलाया।

कैसा सुगम साधन है! इसे संसारके सब धर्मवाले अपना सकते हैं। क्योंकि ईश्वरको माननेवाले सभी धर्मोंके लोग उनके नामकी *प्रार्थना तथा गुणानुवादको परम पवित्र कर्त्तव्य मानते हैं। अतः सभी नर-नारी एक साथ बैठकर इस क्लेशमय जीवनसे त्राण पानेके लिये करुणभावसे* भगवान्‌की प्रार्थना करें। कीर्तन करनेवाली मण्डलियाँ घूम-घूमकर शुद्ध प्रेमभावसे लोगोंमें भगवन्नाम संकीर्तनके महत्त्वको बतलावें। यदि हम इसप्रकार सम्मिलित प्रार्थना करेंगे तो हमारे सच्चे आर्तनादको सुनकर भगवान्‌का आसन अवश्य डोल उठेगा और तब वह पतितपावन भक्तवत्सल हमारा अवश्य ही त्राण करेंगे और कलिके कल्मषोंसे हमारी रक्षाकर हमें उस मार्गमें लगावेंगे जिसपर चलनेसे मानवसमाज शाश्वत सुख और परम शान्ति प्राप्त कर सकेगा।

ईश्वरके अटल विश्वासी भक्त

(प्रे०—पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल वाणीभूषण)

(१)

इटलीको स्वतन्त्र बनानेवाला वीर नवयुवकोंका अग्रणी नेता गेरीवाल्डी इतना बड़ा नामी पुरुष क्यों हुआ ? इस योग्यताका कारण उसकी माताका ईश्वर-प्रेम है। वह बड़ी ही ईश्वर-परायणा साध्वी नारी थी और गेरीवाल्डीका चरित्र सुधारनेमें उसीका पूरा हाथ था। गेरीवाल्डी आत्मचरित पुस्तकमें लिखता है कि—मुझमें असाधारण साहस देखकर जनता विस्मित होती है और संग्राममें मेरे पास किसी दैवी-शक्तिके होनेका अनुमान करती है। इस साहस और शूरताका मूल कारण तो ईश्वरीय बलके ऊपर मेरे अटल विश्वासका होना ही है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जबतक सतीत्वकी अवतार देवीतुल्य मेरी माता, मेरे प्राण-रक्षार्थ परमेश्वरकी आराधनामें मग्न रहेगी, तबतक मुझे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये ज़रा भी शङ्का नहीं। मैं ईश्वरके भरोसे निश्चिन्त हूँ।

परिणाम यह हुआ कि, गेरीवाल्डीके कानोंके पाससे युद्धक्षेत्रमें सनसनाती हुई गोलियाँ चलने लगीं और तोपोंके गोले फूट-फूटकर अग्नि बरसाने लगे। उस समय इस वीरको यही जान पड़ता था कि मेरी माता मानो घुटने टेककर जगन्नियन्ता ईश्वरके निकट अपने पुत्रके प्राण बचानेके लिये प्रबल प्रार्थना कर रही है।

(२)

एक मनुष्यने किसी फकीरसे तीन सवाल किये—(१) 'ईश्वरकी सत्ता सर्वत्र है' ऐसा प्रत्येक जन कहता है, परन्तु मैं उसे क्यों नहीं देख सकता ? वह कहाँ है मुझे बतलाइये। (२) मनुष्यको उसके पापसे सज़ा किसलिये होती है ? क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, प्रभुकी प्रेरणासे ही तो करता है। (३) ईश्वर शैतानको नरकाग्निमें डालकर सजा देता है, ऐसा भी क्यों होता है ? क्योंकि शैतान आप ही अग्निरूप है, तो फिर अग्निकी अग्निके ऊपर क्या चलेगी ?

गम्भीरतासे इन प्रश्नोंको सुनकर फकीरने जमीनसे एक ढेला उठाया और तानकर प्रश्नकर्ताके शिरपर दे मारा। वह चोट खाकर रोता-चिल्लाता काजीके पास पहुँचा, और उसने नालिश कर दी। काजीने फकीरको बुलाकर जवाब तलब किया कि बतलाओ तुमने इस आदमीको पत्थरसे क्यों मारा ? फकीरने बेधड़क उत्तर दिया कि मैंने इसके तीन प्रश्नोंका यह उत्तर दिया है। यह बतलावे कि सिरपर चोट लगनेसे जो दुःख हुआ है, उसका रूप कैसा है और वह हमें क्यों नहीं दीख पड़ता ? पीछे हम इसे ईश्वर बतला देंगे। (अर्थात् ईश्वर आन्तरिक अनुभवद्वारा देखा जाता है) दूसरा उत्तर यह कि, हमने जो कुछ किया सो एकमात्र ईश्वरकी प्रेरणासे किया है, फिर ईश्वरकृत अपराधपर हमें सजा क्यों ? यह आदमी हमारा कसूर क्यों मानता है ? इसका शरीर मिट्टीका बना है, तो फिर मिट्टीकी मिट्टीके ऊपर क्या चल सकती है ? फकीरसे इसप्रकार उत्तर पाकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। काजी साहब भी खुश हो गये।

(३)

तिरुवल्लुवारका दूसरा नाम मुनिवाहन था। ईस्वी सन् १०० में दक्षिण भारतके एक चाण्डालके घरमें जन्म हुआ था। वह सङ्गीतविद्यामें निपुण ईश्वरका परम भक्त था। भजन गाता-गाता बहुधा वह प्रेममग्न हो बाह्य-ज्ञान-शून्य हो पड़ता था। सुप्रसिद्ध कावेरी तीर्थ श्रीरङ्गम्‌में एक दिन नदीके मार्गमें गाते-गाते मूर्छित हो पड़ा था। इसी समय श्रीरङ्गनाथजीका एक पुजारी ठाकुरजीकी पूजाके लिये कावेरी जल भरने जाता था, चाण्डालद्वारा रास्ता रुका जानकर उसने क्रोधित हो उसे ऐसा मारा कि तिरुवल्लु होशमें आ गया। वह खड़ा हो गया और रास्ता खुल गया। पुजारी पवित्रतासे जल भरकर मन्दिर पहुँचा तो देखा कि भीतरसे दरवाजा बन्द है। तब तो इसने भगवान्‌की बड़ी स्तुति-प्रार्थनाकर क्षमा माँगी कि 'हे प्रभो! मुझसे जाने-अनजाने जो भी अपराध हुआ हो, वह माफ करो।' मन्दिरसे आज्ञा सुन पड़ी कि—'यदि तू उस मेरे चाण्डाल भक्तको कन्धेपर बैठाकर, मन्दिरकी प्रदक्षिणा करे तो तुरन्त दरवाजा खुल जाय।' सेवक बहुत शरमाया। फिर अति पश्चात्तापपूर्वक भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेपर मन्दिरका द्वार खुल गया।

(४)

एक ब्राह्मणके मनमें धनवान् बननेकी बड़ी लालसा थी। एतदर्थ वह व्यापार करता और साधु-संग भी करता था। पर किसी तरह भी काफी धन एकत्र न कर सका। किसी रोज़ सेवासे खुश होकर एक साधुने कहा कि वृन्दावनमें श्रीसनातन गोस्वामीजीके पास पारसमणि है, जिसका स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है। लोभी ब्राह्मण दौड़ा हुआ गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचा और प्रार्थना कर कहने लगा कि आप मुझे पारसमणि दे दें, तो मैं आपकी दयासे देशमें सबसे बड़ा सेठ बन जाऊँ। गोस्वामीजी बोले, वह राखके ढेरमें पड़ी है, उठा ले जा। मेरे किसी कामकी नहीं। ब्राह्मण आश्चर्य-चकित हो गया। उसने हाथ जोड़ पूछा, 'भगवन्! क्या पारसमणिसे भी ज्यादा कीमती कोई पदार्थ आपके पास है कि जिसके कारण आपने ऐसी मणि बेपरवाहीसे फेंक रक्खी है?' गुरुजी बोले, 'हाँ, मेरे पास एक ऐसी वस्तु है, जिसके सामने संसारकी सारी वस्तुएँ असार हैं।' ब्राह्मणने जब उसके लिये ही आग्रह कर दिया, तो महात्माने धीरेसे उसके कानमें 'हरिनाम' का मन्त्र सुनाकर धर्मके लिये उपदेश कर दिया। राम-धन लेकर वह सानन्द घर गया, और उसने सञ्चित धन भी दान कर दिया। 'निर्धनके हरिनाम परम धन।'

(५)

किसी स्त्रीका एक पुरुषसे सच्चा प्रेम हो गया था। वह उसके बिना संसारमें कुछ भी नहीं देखती थी, प्रियतमके वियोगमें उसका खाना-पीना और सोना सब छूट गया था। उसकी सुन्दर काया सूखने लगी। इतनेमें समाचार मिला, तो प्यारेसे मिलनेको दौड़ चली। मार्गमें अकबर बादशाहका पड़ाव पड़ा था, बादशाह अपने खेमेके पास जाज़िम बिछाकर नमाज़ पढ़ रहा था। प्रेम-मतवाली स्त्री बादशाह या उसके आसनका कुछ भी ख्याल न रखती हुई, जाज़िम रौंदती उधरसे जा निकली। अकबरको क्रोध तो खूब चढ़ा, पर नमाज़ पढ़ता था, क्रोध रोकना ही पड़ा। वह स्त्री प्रियतमसे मिलकर उसके साथ हँसती हुई जब लौटी, तब बादशाहने कहा 'अरी पापिन! तुझे इतना भी होश न रहा कि यह जाज़िम है। यहाँपर नमाज़ पढ़ी जा रही है।' प्रेममग्न स्त्रीने निर्भयताके साथ हँसकर उत्तर दिया, 'बादशाह सलामत! मैं तो मनुष्यके प्रेममें पागल थी, इससे आपको न देख सकी। परन्तु आपने मुझे किस तरह देखा और जाना? ईश्वरके प्रेमी और विश्वासी भक्त उस प्रभुके ध्यान-समय सर्वदा ही तन्मय रहते हैं। प्रेममें बेसुध रहते हैं। आप कुरान पढ़कर थक गये हैं, पर आपके दिलमें अभीतक 'मालिक' के प्रति सच्चा प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ। नहीं तो ध्यानके समय मुझे न देखते।

नर-राची सूझी नहीं तुम कस लख्यो सुजान?
पढ़ि कुरान बौरा भए नहिं रांच्यो रहिमान?

(६)

भक्त राजनारायण बसु वृद्धावस्थामें रोगके कारण राज-गृहीमें रहते थे। देशभक्त बाबू अश्विनीकुमार दत्तके आप गुरु थे। रोगका समाचार पाकर अश्विनी बाबू गुरुदर्शनार्थ पहुँचे। तीन महीनोंसे बसु महाशय लकवेसे पीड़ित थे, अश्विनी बाबू गम्भीर उदासीन मुख हो कमरेके अन्दर गये। प्रणाम करते ही बसु बाबू बहुत प्रसन्न हो सहर्ष बोले, अश्विनी! आओ आओ, बहुत दिन हो गये तुम नहीं मिले थे। ऐसा कहकर एक हाथसे ही आलिंगन किया। दूसरा हाथ लकवा मारनेसे बेकाम था। तत्पश्चात् बातचीत शुरू कर दी। शेली, बायरन, वर्ड्सवर्थ, हाफिज़, भगवद्गीता और उपनिषदोंके वाक्य, श्लोकपर श्लोक बड़ी खुशीसे बोलने लगे। मानो दुःखकी ज़रा भी परवा नहीं। सानन्द तीन घण्टे व्यतीत हो गये। अश्विनी बाबूको इससे कुछ आश्चर्य हुआ और विदा होते समय उन्होंने पूछा,—'आप-की तबियत अच्छी नहीं, यह जानकर मैं तो उदास हो आपको देखने आया था। परन्तु यहाँ आकर देखता हूँ कि आपके आनन्दका कुछ ठिकाना नहीं! तीन माससे आप बिस्तरपर पड़े हैं, तथापि क्या आपको दुःख नहीं होता?' राजनारायण बसुने उत्तर दिया,—'अश्विनी! मैं अब वृद्ध हो गया हूँ। जिस भगवान्‌की कृपासे इतने जीवनमें कितने ही सुन्दर दृश्य देखे, अनेक सुन्दर स्थान देखे, बहुत-से मांगलिक बनाव देखे और आनन्दका उपभोग किया, उसी प्रभुकी इच्छानुसार क्या थोड़े दिन मैं इस रोगशय्यापर प्रसन्नतासे पड़ा-पड़ा भजन नहीं कर सकता?' इसीका नाम है सच्चा भगवत्प्रेम! सच्चे भगवद्भक्त रोगजनित वेदनाको भी वेदना नहीं समझते।

(७)

प्रार्थनाद्वारा रोग मिटानेका प्रयोग पाश्चात्य देशोंमें सम्प्रति चलने लगा है, अपने यहाँ भारतमें तो यह सनातन

रीति है। संकटके समय ईश्वरपर पूरा विश्वास रखकर, उसीके भरोसे रोगीको छोड़ने और आरोग्य लाभ करनेवाले अनेक मनुष्य हैं। सर थामस म्यूरकी भी परमात्माके प्रति ऐसी ही अटूट श्रद्धा थी। इनकी प्यारी लड़की बहुत बीमार हो गयी। नामी-नामी डाक्टर हार गये। सब उपाय कर डाले। परन्तु किसी प्रकार भी उसकी निद्राको रोक न सके। अवस्था दिनों दिन खराब होती गयी। सगे-सम्बन्धी सब निराश हो गये। पुत्रीका दुःख देखकर म्यूरका हृदय भर आया। वह अशरणके एकमात्र शरण भगवान्‌के शरण हो गया, नित्यके अभ्यासानुसार उपासना-गृहमें जाकर घुटने टेक अश्रुपूर्ण नयन साञ्जलि प्रभुसे प्रार्थना करने लगा,—'हे सर्वशक्तिमान् दयालु पिता! तेरे लिये कुछ भी असम्भव नहीं। तू मेरी उपासनासे प्रसन्न हो तो मुझपर इतनी कृपा कर। मेरी प्यारी बेटीको बचा दे। मरी यह नम्र प्रार्थना स्वीकार कर।' थोड़ी देर बाद स्वस्थ होनेपर अन्तर्यामी प्रभुकी कृपासे म्यूरके मनमें ऐसा विचार उठा कि अमुक उपाय भी अजमा देखना चाहिये। आशा है कि इस उपचारसे रोगीको अवश्य लाभ होगा। तुरन्त ही उसने डाक्टरोंको अपना अभिप्राय जना दिया। उन लोगोंने स्वीकार कर कहा, तुम्हारा विचार बहुत ठीक है। इस रोगपर यही उपचार सर्वोत्तम, सर्वमान्य है, अभीतक हमलोगोंको इसकी सुध नहीं आयी थी, ऐसी विस्मृतिके लिये आश्चर्य है।

इस उपायसे रोग भग गया। कन्या मृत्युमुखसे बच गयी। पिताके शुद्ध अन्तःकरणकी अखण्ड प्रार्थनाने जादूका असर किया। इस उदाहरणद्वारा यह नहीं कहा जाता है कि रोगावस्थामें कोई ओषधि आदि न करें। उपचारोंके साथ-साथ रोगी और उनके सम्बन्धी लोग प्रभुकी शरण पकड़ उनका आशीर्वाद भी एकाग्रचित्त हो माँगना सीखें। यही हमारा उद्देश्य है। ऐसे समय जो शान्तिका वातावरण पैदा होता है, वह रोगीको आराम करनेमें बड़ी मदद करता है। ईश्वर अपने भक्तोंकी सहायता अवश्य करता है।

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(गुजराती आदर्श दृष्टान्तमालासे)

ईश्वर और परमेश्वरका स्वरूप

किसी महद्वस्तुका क्षुद्र वस्तुके ऊपर जो एक गौरवपूर्ण प्रभाव होता है, उसे ऐश्वर्य कहते हैं। इस ऐश्वर्यसे जो युक्त हो, उसकी ईश्वर संज्ञा है। संसारमें चेतन या अचेतन कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जिसपर ईश्वरके ऐश्वर्यका प्रभाव न हो; किन्तु इसकी अनुभूति चेतनोंको ही होती है। महत्‌चैतन्य ईश्वरपर श्रद्धापूर्ण विश्वास करना क्षुद्रचैतन्य जीवोंका एक स्वरूपगत स्वभाव है। जड–बद्ध जीवोंमें इस स्वभावका परिचय मनुष्य-जीवनमें ही विशेषरूपसे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जीवकी चेतनता जितनी जडभावापन्न होगी, यह स्वभाव उतना ही संकुचित होगा। चेतनता जितनी जड-भावसे मुक्त होगी यह स्वभाव भी उतना ही विकसित होगा। समस्त प्राणियोंमें मनुष्य ही जड-भावसे अधिक मुक्त है। विभिन्न देशवासियोंके जीवनपर विचार करनेसे यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। नितान्त वन्यजीवनसे लेकर अत्यन्त सभ्य जीवनपर्यन्त मनुष्य-जीवनकी अनेक अवस्थाएँ हैं। इन सभीमें किसी-न-किसी रूपमें ईश्वर-विश्वास अवश्य पाया जाता है। वन्यजीवनके मनुष्य पशुओंके समान जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने चेतनगत स्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको, नद-नदियोंको, वृक्षोंको एवं प्रकाशयुक्त सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि जडीय पिण्डोंको अपना दाता, पाता, नियन्ता, ईश्वर जानकर पूजते रहते हैं। जैसे-जैसे इनमें जडताका ह्रास एवं चेतनताका प्रकाश होता जाता है, वैसे-ही-वैसे इनके ईश्वर-विश्वासरूप स्वभावका विकास होता रहता है। यही मनुष्य-जीवनकी उन्नतिका क्रम है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी पाये जाते हैं, जो ईश्वरपर विश्वास नहीं करते। यह उनके चेतनकी अस्वस्थ अवस्था है। ये लोग दुर्भाग्यवश बीचमें ही क्रमोन्नतिके पथसे पतित हो, कुसङ्ग और कुशिक्षाके द्वारा कुसंस्कारोंका पोषण करते हुए कुतर्की बनकर अविश्वासके गर्तमें गिर

जाते हैं। इससे इन्हींकी हानि होती है, ईश्वरकी कोई हानि नहीं होती। सत्य सर्वत्र और सर्वदा समान होता है। जिसप्रकार पाँच और पाँच दश होते हैं, यह बात सभी देशोंके लोग सर्वदा स्वीकार करते आये हैं। पाँच और पाँच बीस होते हैं, इसे कोई भी स्वीकार नहीं करता। यदि कोई ऐसा कहे भी तो वह पागल माना जायगा। इसी प्रकार ईश्वर-विश्वास सभी मनुष्य सर्वत्र सर्वदासे करते आये हैं। ईश्वर-विश्वास न करना स्वाभाविक नहीं है। यह लोगोंने पीछेसे सीखा है।

कोई मनुष्य कितना भी विद्या, विज्ञान, कला, सभ्यतासे सम्पन्न क्यों न हो, यदि उसमें ईश्वर-विश्वास नहीं है तो उसका जीवन पशु-जीवनसे किसी प्रकार भी उत्तम नहीं है। वास्तविक मनुष्य-जीवनका परिचय ईश्वर-विश्वाससे ही मिलता है। ईश्वर-विश्वास करनेवालोंकी साधारणतः दो श्रेणियाँ हैं—एक कल्पित ईश्वरवादी, दूसरे यथार्थ ईश्वरवादी। कल्पित ईश्वरवादी नीतिको ही सर्वप्रधान मानते हैं। समाज-सञ्चालनके लिये जो नियम बनाये जाते हैं, उसे नीति कहते हैं। ये लोग ईश्वर-विश्वासको इसी नीतिका एक विशेष अंगमात्र मानते हैं। इन लोगोंका कहना है कि ईश्वर-विश्वासके बिना नीति सम्पूर्ण नहीं होती। ईश्वर-विश्वास-शून्य मनुष्य कितना भी नीति-निपुण क्यों न हो, जब कभी उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोगोंके लिये प्रबलरूपसे लालायित हो उठती हैं, उस समय वह प्रत्यक्षभावसे नहीं तो परोक्षभावसे नीतिविरुद्ध कार्य प्रायः कर बैठता है। ईश्वर-विश्वासीकी परोक्षमें भी अनाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर परोक्षमें भी सब देखता रहता है। ये लोग यह भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो उसके माननेवालेको बहुत कुछ लाभ है और यदि नहीं है तो भी उसके माननेसे कोई हानि नहीं है। इसके विपरीत यदि कहीं ईश्वर हुआ तो न माननेवालोंकी बहुत बड़ी हानि है। अतएव मनुष्यके सांसारिक जीवनके लिये ईश्वर-विश्वास बहुत ही हितकर है। दूसरी श्रेणीके ईश्वरवादी ईश्वरके अस्तित्वको यथार्थरूपसे स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि यदि ईश्वरको वास्तविक न माना जाय तो उसका ईश्वरत्व ही कुछ नहीं रहता—

'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः स्वतन्त्र ईश्वरः।'

इस उक्तिके अनुसार सामर्थ्यवान्‌का नाम ही ईश्वर है। कल्पित ईश्वर नीति या कर्मके परतन्त्र रहता है। उसका महत्त्व एक न्यायी शासक (मजिस्ट्रेट) से अधिक कुछ भी नहीं रहता। उसमें क्षमा-गुणका अभाव हो जाता है, जो कि उसकी ईश्वरताकी रक्षाके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ईश्वर इस विश्व-ब्रह्माण्डमें जीव और जड दोनोंको अन्तर्यामी होकर व्यष्टि और समष्टिरूपसे अवस्थिति करता है। सबका नियमन करता है। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। ईश्वर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपनी सृजन-शक्तिद्वारा ब्रह्मारूपसे सृष्टि, पोषण-शक्तिद्वारा विष्णुरूपसे पालन एवं निधन-शक्तिद्वारा रुद्ररूपसे संहार करता है। ये सब कार्य कभी स्वयं करता है, कभी शक्ति-सञ्चार कर अधिकारी जीवोंद्वारा कराता है। उस समय जीव भी ईश्वर-नामसे अभिहित होते हैं। यही कारण है कि ईश्वरके अनेक रूप कहे जाते हैं, जिन्हें पढ़-सुनकर बहुत-से लोग अनेकेश्वरवादी या अवैध ईश्वरोपासक हो गये हैं।

परमेश्वर एक है। जिसका ऐश्वर्य परम अर्थात् सर्वोपरि है, उसे परमेश्वर कहते हैं। इसीके ऐश्वर्यमें सबके ऐश्वर्यका पर्यवसान है। समस्त ईश्वर-नाम-धारी ईश्वरोंकी ईशता इसीसे स्थिर है। यह ईश्वरोंका भी ईश्वर महेश्वर है—देवताओंका भी परम देवता है। श्रुति भी कहती है—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं दैवतानां परमं च दैवतम्'

ईश्वर और परमेश्वर कोई पृथक्-पृथक् दो पदार्थ नहीं हैं, ये एक ही स्वरूपतत्त्वके दो भावमात्र हैं। सृष्ट पदार्थोंके प्रति प्रसारित ईशताका नाम ईश्वर है एवं केन्द्रीभूत ईशताका नाम परमेश्वर है। वास्तव वस्तु एकमात्र स्वरूपतत्त्व ही है।

वस्तुमात्रका कुछ-न-कुछ एक स्वरूप अवश्य होता है, अतएव वास्तव वस्तुका भी एक स्वरूप है! जड़ीय वस्तुका स्वरूप जड़मय होता है—चैतन्य वस्तुका स्वरूप चेतनमय होता है। वास्तव वस्तु चैतन्यघन है—अतः उसका स्वरूप भी शुद्ध चेतनमय है—यही उसका आकार है। यह स्वरूप चर्म-चक्षुओंका विषय न होनेके कारण अनेक लोग इसके अस्तित्वमें भी सन्देह करते हैं।

मनुष्यको जो एक अनुभव-वृत्ति प्राप्त है, उसीसे इस स्वरूपका प्रत्यक्ष हो सकता है। यह अनुभव-वृत्ति तीन

प्रकारकी है—स्थूलदेहगत इन्द्रियजन्य ज्ञान, सूक्ष्म-देहगत मनोद्भवबोध एवं आत्मगत चिद्दर्शनसामर्थ्य। इनमेंसे प्रथम दोनों प्राकृत हैं, इनसे स्वरूपका प्रत्यक्ष होना असम्भव है। आत्मगत चिद्दर्शनसामर्थ्यसे ही स्वरूपका साक्षात्कार होता है।

श्रीकृष्ण ही स्वरूपतत्त्व हैं। यही ईश्वर और परमेश्वर दोनोंके आश्रय हैं। ब्रह्मसंहितामें लिखा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणः॥

अर्थात्—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं—गोविन्द स्वयं अनादि, सबके आदि एवं समस्त कारणोंके कारण हैं।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही इस श्रीकृष्णस्वरूपके सम्बन्धमें लिखा है—

'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।'

अर्थात् यही सबका वेद्य है, यही वास्तव वस्तु है, कल्याणदाता है एवं तापत्रयका विनाशक है।

कृष्णकिंकर बालकृष्ण

हरि-नाम

भावुक-हृदय-सीपके मोती! मानस-चिन्तामणि अभिराम!
दिव्य अर्थसे भरे हुए हे अनुपमेय सद्गुण-गण-धाम!
जगमें ब्रह्म-तत्त्वके प्रतिनिधि! भक्तोंके सर्वस्व ललाम!
बसो निरन्तर रोम-रोममें अविनश्वर बनकर हरि-नाम!॥१॥

जिह्वा करे तुम्हारा ही जप, कान सुनें वह मंजुल तान
आँखोंमें हो छटा तुम्हारी, मनमें रमे तुम्हारा ध्यान।
श्वासों-प्रश्वासोंमें भी बस उठे तुम्हारा ही कल गान
तब जानूँ जब स्वेद-छिद्र तक वही सुनावें नाद महान॥२॥

प्रेम-सुधा-तरुके मीठे फल! भव-सागरके सुदृढ़ पोत!
सत्पथके पथिकोंके संबल! सात्विक-शक्ति-सरितके स्रोत!
अभ्यन्तर-तमके शुचि साबुन! भुक्ति-मुक्तिके वर आगार!
हुआ करे मेरी नस-नसमें सदा तुम्हारा शुभ सञ्चार॥३॥

मुझ निर्धनके तुम ही धन हो, निर्बलके बल हो विख्यात
आश्रयहीन दीनके आश्रय, तुम्हीं पतितपावन अवदात।
जीवन-नौकाके केवट हो, चित्त-पङ्कके शुचि जलजात!
सदा तुम्हारे पक्के रँगमें रँगा रहे मेरा मन तात!॥४॥

नाम-रूप हैं एक, नाममें देखूँगा मैं रूप ललाम
'हरि' के परदेमें ही स्थित हैं श्रीहरि चिन्मय शोभा-धाम।
हरि ईश्वर है, ईश्वर हरि है, वहीं जीवका वर विश्राम
जिह्वे! भज आनन्द-मग्न हो मधुराक्षर श्रीश्रीहरि-नाम॥५॥

बलदेवप्रसाद मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०

ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि

(लेखक—पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रि० मारवाड़ी संस्कृत-कालेज, काशी)

परमात्माके बनाये हुए इस जगत्‌में सभी प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणके अधीन है। इन प्रमाणोंके बिना सदसत् वस्तुओंका यथार्थ निर्णय न हो सकनेके कारण इष्टानिष्टका निर्णय करनेवाला ज्ञान नहीं हो सकता। और इष्टानिष्टके ज्ञान बिना वस्तुओंमें इच्छा-द्वेष (अपेक्षा तथा उपेक्षा) की उत्पत्ति न होनेसे संसार-यात्रा ही लुप्त हो जाती है। यदि अनुमानकी प्रमाणता न मानें तो दूसरे पुरुषमें समवेत (रहनेवाले) संशय, विपर्यय आदिका केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणद्वारा ज्ञान न हो सकनेके कारण परपक्षके बिना जाने ही उसके खण्डनमें प्रवृत्त होनेसे अपनी लौकिकता और परीक्षकता नष्ट होती है। प्रमाणताके स्वतोग्राह्य होनेके कारण ज्ञानकी प्रमाणतामें संशय नहीं होता, अतः प्रमाणताकी शङ्का करनेवालेकी प्रवृत्ति आदि लिङ्गसे अनुमेय अनुमानकी प्रमाणता न माननेसे प्रत्यक्षकी ही प्रमाणता नष्ट हो जायगी। फिर धूमके देखनेसे अग्निका ज्ञान, मुखकी प्रसन्नतासे सुखका ज्ञान, मुखकी मलिनतासे दुःखका ज्ञान, रोदन आदिसे शोककी अधिकता कैसे जानी जा सकती है? अतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्षके समान अनुमानकी भी प्रमाणता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। इसी प्रकार आगम (शब्द-प्रमाण) की प्रमाणता न माननेसे बालकका अपने माता-पिताका निश्चय, वनके पशुओंमें व्याघ्र, गवय आदिके हिंस्र-अहिंस्र होनेका निश्चय, ओषधियोंके हितकर-अहितकर होनेका निश्चय, शङ्ख और मृत पुरुषके कपाल आदिकी पवित्रता और अपवित्रताका निश्चय किसप्रकार किया जा सकता है? अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी प्रमाणता किसीके द्वारा भी खण्डन नहीं की जा सकती। इन त्रिविध जागरूक प्रमाणोंके रहते हुए आज जो प्रमाण-शक्तिसे अनभिज्ञ, वेद-स्मृति-पुराण-इतिहास आदिका लेशमात्र भी ज्ञान न रखनेवाले, पाश्चात्य कुशिक्षासे युक्त मतिवाले अर्थ और काममात्रमें लीन रहनेवाले सुधारक-धुरीण पुरुष ईश्वरके अस्तित्वमें ही शङ्का करते हैं तथा बहुमतके द्वारा ईश्वरका अभावतक निश्चय कर डालते हैं, उनके व्यामोह (भ्रम) को मिटानेके लिये ईश्वरका उपक्रम कर कुछ लिखा जाता है।

अब 'ईश्वर नहीं है', ऐसा जो कहा जाता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, अथवा अनुमान-प्रमाणके अभावमें या ईश्वरके प्रतिपादन करनेवाले आगम-प्रमाणके अभावमें कहा जाता है? यदि प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, तो वह बाह्य प्रत्यक्षाभाव है या मानस प्रत्यक्षाभाव। यदि बाह्य प्रत्यक्षका अभाव मानें तो वह ठीक है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्षका उद्भूत रूप तथा स्पार्शन प्रत्यक्षका उद्भूत स्पर्श हेतु है और ईश्वरमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्शका अभाव है अतः ईश्वरका चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होता। घ्राण-रसनादि इन्द्रियाँ गन्ध और रसादि गुणोंका ग्रहण करती हैं और ईश्वर गुण नहीं, बल्कि गुणवान् द्रव्य है अतः गन्धरसादि गुणोंके अभावमें ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेमें घ्राणादि इन्द्रियोंकी असमर्थताके कारण ईश्वर-ज्ञानमें बहिरिन्द्रियोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, यदि ईश्वरके अस्तित्वके न माननेमें मानस प्रत्यक्षके अभावको कारण मानें तो प्रश्न उठता है कि 'वह अभाव अपने मानस प्रत्यक्षका अभाव है अथवा सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव है।' अपने मानस प्रत्यक्षके अभावमें वस्तुमात्रका अभाव मानना किसी भी विद्वान्‌को स्वीकृत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे अपने ज्ञानके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंके अभावका प्रसङ्ग आ जाता है। यदि सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव ईश्वरास्तित्वके न माननेका कारण है, तो यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि किसीको भी ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यदि कोई कहे कि तुमने यदि ईश्वरको प्रत्यक्ष किया है तो मुझे भी उसको दिखलाओ। उससे कहा जा सकता है कि तुम अपने प्रत्यक्ष किये हुए सुख-दुःखादिको मुझे दिखलाओ। तो इसका उत्तर यही मिलेगा कि मनोवेद्य सुख-दुःखादि दूसरोंको नहीं दिखलाये जा सकते। इसी प्रकार यम-नियमादि अनेक प्रकारके उपायों तथा अनुष्ठानोंसे पवित्र किये हुए मनके द्वारा जानने योग्य ईश्वर भी किसीको दिखलाये नहीं जा सकते। यदि कोई कहे कि इस-प्रकारका ईश्वरप्रत्यक्ष भ्रान्तिमूलक है, इससे वस्तुसिद्धि नहीं हो सकती; तो तुम्हारे सुख-दुःखादिके प्रत्यक्षको भी भ्रान्ति-मूलक कहा जा सकता है और इससे सुख-दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकते। इसपर यदि कोई कहे कि सुख-दुःखादिकी

वेदना सबको होती है, तो उससे पूछा जा सकता है कि किसके सुख-दुःखादिकी वेदना सबको होती है ? जैसे तुम और हम सभी अपने-अपने सुख-दुःखादिको अपने-आप जानते हैं, उसी प्रकार विधि और अनुष्ठानके द्वारा जिसका मन शुद्ध हो गया है उसीके द्वारा ईश्वर जाना जा सकता है, दूसरों-के द्वारा नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। यदि सुख-दुःखके विषयमें कोई यह शङ्का करे कि इष्ट-प्राप्तिका सुख और अनिष्ट-प्राप्तिका दुःख जैसा चैत्र (पुरुषविशेष) को अनुभूत होता है वैसा ही मुझे भी अनुभूत होता है। इसका उत्तर यह है कि शम,दम,तितिक्षासे युक्त निदिध्यासनशील चैत्र-को जिसप्रकार ईश्वरका अनुभव होता है उसी प्रकारसे मुझे भी अनुभव होता है, क्या इसमें भी कोई शङ्का है ? यदि ऐसा कहें कि अपने अनुभवके विना हम दूसरेकी प्रतीतिमात्रपर विश्वास नहीं करते, क्योंकि दूसरे दोषवश शङ्खको भी पीला देखते हैं, बड़े चन्द्रमाको भी प्रादेश (तर्जनी और अंगूठेके बीचकी दूरी) मात्र समझते हैं, शुक्ति (सीप) को भी रजतरूपमें ग्रहण करते हैं; भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा (प्रवञ्चना) आदिके कारण वस्तुओंको अन्यथा बतलाते हैं, अतः केवल दूसरोंकी प्रतीतिमात्रसे किसी वस्तुकी सत्ताका निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु उपर्युक्त मनुष्योंमें जहाँ पित्त, दूरस्थता, भय, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष होते हैं वहाँ भ्रम कहा जा सकता है। योगसाधन, अनुष्ठानादिसे क्षीणकल्मष वीतराग योगीमें लेशमात्र भी दोषकी सम्भावना नहीं होती। अतः उनके प्रत्यक्षके अप्रमाणत्वकी शङ्का करना अपने-आपको कलङ्कित करनेके लिये दुःसाहस करना है, नहीं तो उसकी अप्रमाणता सिद्ध नहीं की जा सकती।

यदि कोई शङ्का करे कि 'योगियोंमें दोषका अभाव भी कैसे निश्चय किया जा सकता है ?' इसका उत्तर यों है कि उनके अभक्ष्य, अपेय, द्वैतमें अनुराग, कुजीविका, कुतार्किकता, व्यग्रता, अभिसन्धि, पाखण्डका संसर्ग, प्रवञ्चना आदि दोषोंसे हीन होनेके कारण उनमें दोषाभावका निश्चय किया जा सकता है। 'अपने मनके द्वारा दूसरेकी आत्माका प्रत्यक्ष न हो जाय इसलिये अपने मानस प्रत्यक्षके लिये परात्मव्यावृत्त विजातीय मनःसंयोगको हेतु मानते हैं, फिर ईश्वरका मानस प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? और यदि इसको हेतु न मानें तो दूसरोंके भी सुख-दुःखादि अपने प्रत्यक्ष गोचर हो जाते हैं, अतः ईश्वरका प्रत्यक्ष-ज्ञान सिद्ध नहीं होता।' इस शङ्काका उत्तर यह है कि ईश्वरमें आत्मत्व-जाति नहीं है। क्योंकि आत्मत्व-जाति सुख-दुःख-के समवायि-कारणके रूपमें सिद्ध होती है और ईश्वरमें सुख-दुःखका अभाव है। अतः ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें मानस प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष-प्रमाण) का व्याघात नहीं होता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका भी अभाव नहीं है। अनुमान-ज्ञान पक्षवृत्ति, सपक्षवृत्ति, विपक्षावृत्ति, अबाधित,असत्प्रतिपक्षित नामक हेतुओंसे होता है। इनका स्वरूप कहीं स्वयमेव और कहीं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनरूप पाँच अवयवोंद्वारा निर्धारित होता है। इसप्रकारके हेतुओंके ज्ञानसे निर्बाध साध्यकी प्रतीति देखी जाती है। जैसे धूम आदि हेतुओंसे पर्वतादिमें अग्नि-की प्रतीति होती है। ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें, द्व्यणु-कादिमें निर्धारित पञ्चरूपोपेत कार्यरूप हेतु है। (जैसे, द्व्यणुक सकर्तृक है—प्रतिज्ञा; क्योंकि यह कार्य है—हेतु; जो कार्य होता है वह सकर्तृक होता है, जैसे घट—उदाहरण; द्व्यणुक भी कार्य है—उपनय; इसलिये वह सकर्तृक है—निगमन।) हममें उन द्व्यणुकोंके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान नहीं है, और ऐसा कोई कर्त्ता नहीं दीख पड़ता जो उपादानको प्रत्यक्ष किये विना कार्यका सम्पादन करे, एवं द्व्यणुकको कार्यरूपमें देखकर उसके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान, चिकीर्षा और कृतिसे युक्त कर्त्ता अर्थात् ईश्वरकी निर्बाध प्रतीति होती है। अतः कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वरकी सिद्धि अनुमानद्वारा नहीं होती।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि प्रत्यक्ष न होनेके कारण 'द्व्यणुक नहीं हैं, अतः वे कार्य भी नहीं हैं। इसप्रकार अनुमान-वाक्यमें पक्षासिद्धि और हेतुमें स्वरूपा-सिद्धि दोष होता है।' परन्तु सावयव द्रव्य बाह्येन्द्रियों-द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। अतः 'त्रसरेणुका सावयव द्रव्यसे आरम्भ होता है, क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है' इस न्यायसे द्व्यणुक निरवयव नहीं सिद्ध होते हैं इसलिये पक्षासिद्धि दोष नहीं आ सकता। द्व्यणुकके सावयव होनेके कारण उसका कार्यत्व भी सिद्ध ही है अतः हेतुमें स्वरूपासिद्धि दोष भी नहीं आता।

दूसरी शङ्का यह होती है कि 'अङ्कुर आदि कार्य हैं परन्तु वे सकर्तृक नहीं देखे जाते, अतः यहाँ विपक्षा-भावकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये द्व्यणुकादिका कार्यत्व

हेतु पर्याप्त नहीं है।' उत्तर यह है कि विपक्ष निश्चित-साध्याभाववान्‌को कहते हैं, न कि संदिग्ध साध्यवान्‌को। परन्तु अङ्कुरादिमें सकर्तृकत्वका सन्देह होनेसे संदिग्ध-साध्य उपस्थित होता है अतः विपक्षकी आपत्ति नहीं आती। बल्कि अंकुरादिमें ईश्वरके व्याप्त रहनेके कारण उनमें सकर्तृक सिद्ध होनेसे विपक्षाभावकी प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार द्व्यणुकादिका कार्यत्व हेतु सिद्ध हो जाता है। और यदि संदिग्ध-साध्यको विपक्ष मानें तो पर्वतमें अग्निका सन्देह होनेसे धूमरूप हेतुमें भी विपक्षासत्वका अभाव हो जायगा, जिससे अनुमानमात्रके उच्छेदकी आपत्ति आती है।

यदि यह शंका उठायी जाय कि 'द्व्यणुक कर्तृजन्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें शरीराजन्यत्व है' इस तर्कसे सत्प्रतिपक्षका प्रसङ्ग आता है। परन्तु शरीर-विशेषण घटित होनेके कारण यह हेतु उपयुक्त नहीं। बल्कि जिसप्रकार पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करनेके लिये *नीलधूमरूप* हेतु व्याप्यत्वासिद्धि दोषसे युक्त होता है, उसी प्रकार इस हेतुमें भी व्याप्यत्वासिद्धि दोष है; और शरीर-विशेषणका उपादान न रहनेपर हेतुमें स्वरूपासिद्धि दोषकी आपत्ति होती है। इसलिये सकर्तृकत्व साधक उपर्युक्त हेतुमें सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं आ सकता।

बाधकान्तरसे भी इस हेतुका बाध नहीं होता। 'अग्नि शीतल है क्योंकि वह जलके समान ही कृतक (कृत्रिम) है;' 'शङ्खके समान प्राणीका अङ्ग होनेके कारण नरशिरका कपाल पवित्र है' इत्यादि *अनुमान-वाक्योंमें* 'अग्निकी शीतलता और कपालकी पवित्रता' के बाधक प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण मिलते हैं परन्तु अङ्कुरादिकोंके सकर्तृकत्वके बाधक प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण कहीं नहीं मिलते।

यदि कोई शङ्का करे कि 'अङ्कुरादिके कर्ताकी उपलब्धि न होनेके कारण उपर्युक्त हेतुमें साध्याभाव क्यों न निश्चय किया जाय?' तो इसका उत्तर यह है कि योग्य अनुपलब्धिसे ही अभावका ग्रहण किया जाता है, यदि ऐसा न होता तो गुरुत्व और संस्कारादिकी उपलब्धि न होनेके कारण उनका भी अभाव हो जाता; परन्तु ऐसी बात नहीं है अतः साध्याभावका प्रसङ्ग लाना अयुक्त है।

अब यह प्रश्न उठता है कि ईश्वरको शरीर है या नहीं? यदि है तो दृश्य है या अदृश्य? परन्तु दिखलायी न देनेके कारण दृश्य शरीर नहीं माना जा सकता। अदृश्य शरीर माननेपर भी उसके अवयवी होनेके कारण घनीभूत पाषाणके भीतर रहनेवाले मेंढक आदिके शरीरमें कार्य करनेके लिये अपनेको छिन्न-भिन्न किये बिना प्रवेश करना सम्भव न होनेके कारण ईश्वरमें कर्तृत्वका अभाव आता है *अतः अदृश्य शरीर भी मानना ठीक नहीं।* उस शरीरको नित्य परमाणुरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि अन्तराल न रहनेके कारण उसमें मनका अभाव हो जायगा जिससे इन्द्रियोंका आश्रयत्व ही सिद्ध न हो सकेगा। और 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' इस मानसे चेष्टा और इन्द्रियोंका आश्रय न होनेसे शरीरत्वका ही अभाव हो जायगा।

ईश्वरका शरीराभाव हो जानेपर यह अनुमान होता है कि 'घटादिके समान ईश्वर कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीरी है' इसप्रकार अकर्तृत्व सिद्ध हो जानेपर ईश्वरके अस्तित्वका ही अपलाप हो जाता है। परन्तु यह शङ्का *ठीक नहीं, क्योंकि अभाव-ज्ञानका कारण अधिकरण-ज्ञान* होता है। ईश्वरात्मक अधिकरण-ज्ञानके अभावमें उसमें अशरीरित्वका ज्ञान न हो सकनेके कारण उसका कर्तृत्वाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। तथा अधिकरणके ज्ञानमें इस अनुमानद्वारा कर्तृस्वरूप धर्मिग्राहक-प्रमाणका ही बाध हो जाता है।

कर्ताको शरीरी होना ही चाहिये, यह व्याप्ति भी विपक्षबाधक तर्कके न होनेसे दुर्बल है, अतः वह कर्ता और कार्यमें कार्य-कारण-भावके अनुसन्धानात्मक प्रबल तर्करूप *कर्तृत्व-कार्यत्वकी व्याप्तिका विघात नहीं कर सकती।* अब यह शङ्का होती है कि तब अशरीरीमें कर्तृत्व कैसे आ सकता है? क्योंकि सभी कर्ता कारक-स्वरूपका अवधारण (*निश्चय*) करते हैं तब इच्छा करते हैं कि हम अमुक पदार्थसे अमुक कार्य करेंगे। तत्पश्चात् प्रयत्न करते हैं, तब शरीरको व्यापारमें लगाते हैं, पश्चात् कारणोंको एकत्रकर कार्य करते हैं। कर्ता अवधारण (निश्चय), इच्छा, प्रयत्न, शरीर-व्यापार आदिके बिना कार्य नहीं करता है, इसप्रकार *अन्वय-व्यतिरेकसे बुद्धिके समान* शरीर भी कार्यकी उत्पत्तिमें कारण है अतः उसे छोड़ा नहीं जा सकता है। शरीरका परित्याग करनेपर बुद्धिका भी परित्याग करना होगा। क्योंकि यदि शरीरके बिना ही अपने विशेष प्रभावके कारण ईश्वर कार्य कर सकते हैं तो वह बुद्धिके बिना भी करेंगे।

इस शङ्कापर यह आक्षेप होता है कि 'क्या शरीरित्व ही कर्तृत्व है अथवा परिदृष्टसामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्व ?' यदि शरीरित्वको कर्तृत्व माने तो सुषुप्त और उदासीन पुरुषके कर्तृत्वका प्रसङ्ग आ जाता है, अतः कोई शरीरी होनेसे ही कर्ता नहीं हो सकता। परिदृष्टसामर्थ्यकारक-प्रयोक्तृत्व तो अशरीरीमें भी सम्भव है। जैसे आत्माके द्वारा प्रेरित हो अपना शरीर कार्य करता है, और इस शरीरकी प्रेरणारूपी कार्यमें आत्मा दूसरे शरीरकी अपेक्षा नहीं करता, तथा न स्वशरीरकी ही अपेक्षा करता है क्योंकि ऐसा करनेसे आत्मामें क्रिया-विरोध उत्पन्न होता है।

अब प्रश्न यह होता है कि शरीर न रहनेपर ईश्वरमें किसप्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया होती हैं। क्योंकि ज्ञानादिकी उत्पत्ति शरीरके विना नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया आगन्तुक तथा विनाशस्वभाववाली हैं वहाँ ही शरीरकी अपेक्षा होती है, जहाँ ये स्वतःसिद्ध हैं वहाँ शरीरकी अपेक्षा नहीं होती। अतः ईश्वरके शरीरी होनेका प्रसङ्ग नहीं आता। और न ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नकी नित्यतामें कोई विरोध आता है। क्योंकि रूप आदि गुणोंकी आश्रय-भेद (परमाणु और कार्यरूप) से नित्य और अनित्य दो गतियाँ देखी जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानादिकी भी दो गतियाँ—नित्यानित्य हो सकती हैं, इसमें विरोध ही क्या है ? इसप्रकार कार्यविशेषसे सिद्ध कर्तृविशेषकी सर्वज्ञता सिद्ध होनेके कारण कोई विशेष शङ्का नहीं रह जाती। सर्वज्ञताके कारण उसमें मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता, मिथ्याज्ञानके अभावमें रागद्वेषका अभाव, और रागद्वेषके अभावमें क्रमशः प्रवृत्ति, धर्माधर्म, सुखदुःखका भी अभाव होता है। तथा सर्वदा ही अनुभव होनेके कारण उसमें स्मृति और संस्कार भी नहीं होते हैं, इसप्रकार संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न-रूप आठ गुणोंसे युक्त भगवान् ईश्वर हैं। वह मिथ्याज्ञानरूपी बन्धनसे रहित होनेके कारण बद्ध नहीं हैं, और उसके अभावसे वह मुक्त भी नहीं हैं। इस तरह ईश्वरको अपनेसे विलक्षण ही जानना चाहिये।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि 'जहाँ कार्य होता है वहाँ कर्ता भी अवश्य होता है, इस सामान्य व्याप्तिके द्वारा किसप्रकार ऐसे अलौकिक विलक्षण कर्ताकी सिद्धि हो सकती है ?' परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि कार्य-विशेषके द्वारा कारणविशेषका अनुमान लोकसिद्ध है, जैसे अन्य धूमसे विलक्षण चन्दन-धूमकी उपलब्धिसे चन्दनोद्भूत वह्निका ही अनुमान होता है। तथा विलक्षण कार्यसे विलक्षण कर्ताका ही अनुमान किया जाता है। जैसे सुन्दर वस्त्रको देखकर कुशल कुविन्द (जुलाहे) का अनुमान होता है।

संसारकी सृष्टि और प्रलय ईश्वरकी इच्छाके अधीन है। क्योंकि उसके विना सृष्टि और प्रलयकी व्यवस्था ही नहीं उपपन्न हो सकती है। सृष्टि-प्रलय-व्यवस्थाको ईश्वरेच्छाके अधीन न मानकर अदृष्टके अधीन मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अदृष्ट अचेतन होनेके कारण नियामक नहीं हो सकता, और नियामकताके अभावमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

यदि कोई कहे कि 'पुरुषके निमित्त प्रधानकी प्रवृत्तिसे सृष्टि और प्रलय होता है। क्योंकि पुरुषका निमित्त दो प्रकारका होता है—शब्दादिकी उपलब्धि और प्रकृति-पुरुषका भेद-दर्शन। और यह दोनों प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्तिके विना सम्भव नहीं हैं। अतः पुरुषके निमित्त प्रवृत्त हुआ प्रधान (प्रकृति) जगत्‌का स्रष्टा है और अनागत पुरुषार्थ ही प्रकृतिका प्रयोजक है, इसप्रकार अन्योन्याश्रय-दोषका अवसर भी नहीं आता है। तथा अचेतनकी भी दूसरेके लिये प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे वत्सकी वृद्धिके लिये क्षीरकी प्रवृत्ति होती है।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इस मतसे सत्‌का विनाश नहीं होता, अतः असत्‌की उत्पत्ति न होगी। इससे सृष्टि-प्रलयके कभी-कभी होनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि पुरुषार्थके सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण उसके द्वारा प्रयुक्त प्रधानमें सतत प्रवृत्तिकी आपत्ति होती है और पुरुषार्थका विनाश न होनेके कारण प्रलय भी नहीं हो सकता। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिमें रजोगुणकी अभिवृद्धिसे सृष्टि, सत्त्वगुणकी वृद्धिसे जगत्‌की स्थिति और तमोगुणकी अभिवृद्धिसे प्रलय होता है, इस-प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहारका क्रम चलता है।' तो यह प्रश्न उठता है कि 'सत्त्व, रज, तममें इसप्रकारकी विषमता ही क्यों आती है ?'

क्षीरकी प्रवृत्ति भी चेतनके अधिष्ठानसे ही होती है, नहीं तो मूर्च्छा या मृतावस्थामें भी उसकी प्रवृत्ति होनी

चाहिये थी। इसी प्रकार कालविशेष किंवा स्वभावविशेषके द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है, यह मत भी निराकृत हो गया, क्योंकि चेतनद्वारा अधिष्ठित होनेपर ही अचेतन कार्य करता है। और स्वभावके स्वतन्त्र न होनेके कारण सृष्टिके पूर्वमें उसकी स्थिति भी नहीं हो सकती।

यदि स्वभावको परमाणुनिष्ठ मानें तो यह प्रश्न उठता है कि वह नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो सर्वदा ही सृष्टि होनी चाहिये; और यदि अनित्य है तो किस स्वभावसे संहार और किस स्वभावसे उत्पत्ति होती है, यह कारण बतलाना होगा। और स्वभावकी एकमात्रमें वृत्ति रहनेसे अन्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; यदि उसमें अनेक-वृत्तित्व मानें तो यह शंका होती है कि स्वभाव एक है या अनेक ? एक माननेसे एक स्वभावसे उत्पन्न कार्य भी एक ही स्वभाववाले होने चाहिये और इससे अग्निमें भी शीतलता, तथा जलमें दहनशीलताकी आपत्ति हो जायगी। और यदि स्वभाव अनेक हैं तो यह प्रश्न उठता है कि वे चेतन हैं या अचेतन ? यदि चेतन हैं तो उनके भिन्न-भिन्न अभिप्राय होनेके कारण नियतकालमें सृष्टि और प्रलय नहीं हो सकते। यदि यह माना जाय कि एक ही अभिप्रायसे सबकी प्रवृत्ति होती है तो हमारे मतकी अपेक्षा इसमें गौरव आ जाता है, और इस महान् प्रयत्नके द्वारा अर्जित किये हुए मतका लाघव ही हमारा मत है। यदि स्वभाव अचेतन हैं तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है। अचेतन चेतनके द्वारा अधिष्ठित हुए बिना कार्यक्षम नहीं हो सकते। इतनेसे ही—

> 'अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः ।
> केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥'
> 'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ।'

—इत्यादि प्रलाप भी निरस्त समझने चाहिये। क्योंकि संस्थानविशेषरूप तीक्ष्णता आदिकी उत्पत्ति अदृष्टविशेषसे ही होती है। महर्षि कणादने भी यही बात कही है—

> 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं
> मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ।'

अर्थात् 'अग्निका ऊर्ध्वज्वलन, वायुका तिर्यक् गमन, तथा मानस कर्मोंकी उत्पत्ति अदृष्टद्वारा ही करायी जाती है।

यदि कोई यह शङ्का उठावे कि, 'ईश्वरकी इच्छाके नित्य होनेसे सर्वदा ही जगत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है और सृष्टिकी इच्छाके नित्य होनेसे प्रलयकी प्राप्ति नहीं होती है। और प्रलयेच्छाके नित्यत्वको भी स्वीकार करनेसे सदा जगत्की सृष्टिकी प्राप्ति न होकर प्रलय ही बना रहेगा।' तो इसका उत्तर यह है कि प्राणियोंके कर्मविपाकके अनुसन्धानानुसार सृष्टि-प्रलय करनेवाली भगवान्की इच्छा स्वरूपतः नित्य होती हुई भी कभी सृष्टिविषयक और कभी संहारविषयक होती है, अतः इसमें उक्त दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसपर यदि शङ्का हो कि 'निष्क्रिय ईश्वरमें कर्तृत्व किसप्रकार सम्भव हो सकता है ? क्योंकि जो क्रियावान् होता है उसीमें कर्तृत्व भी होता है।' तो इसका समाधान यह है कि 'ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवान्में ही कर्तृत्व होता है, केवल क्रियावान्में कर्तृत्व मानें तो क्रियाके सर्वत्र सुलभ होनेके कारण सर्वत्र ही कर्तृत्वकी आपत्ति होती है। और ईश्वरमें ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न अबाधित हैं, अतः उसमें कर्तृत्वका व्याघात कैसे सम्भव हो सकता है ?

अब प्रश्न होता है कि ईश्वरके सृष्टि करनेमें क्या हेतु है—'स्वार्थ अथवा परार्थ ? उसकी सृष्टिका स्वार्थ हेतु नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सुख-दुःखसे रहित होनेके कारण स्वार्थमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि परार्थ सृष्टि होती है तो सबको सुखी उत्पन्न करना चाहिये, नाना प्रकारके दुःखोंके भोगोंसे युक्त सृष्टि ठीक नहीं।' उत्तर यह है कि ईश्वरकी सृष्टि परार्थ ही होती है; और परार्थ जो क्रिया होती है वह करुणाधीन देखी जाती है। ईश्वरमें समस्त प्राणियोंके दुःख नाश करनेकी इच्छारूपी करुणा है, उसीसे सृष्टि होती है। अनादि शुभाशुभ संस्कारोंसे युक्त अपने धर्माधर्मरूपी शृङ्खलामें बँधे अपवर्ग-द्वारसे बहिर्भूत प्राणियोंके प्रति ईश्वरकी अनुकम्पा क्यों न हो ? जिन कर्मोंके फल नहीं भोगे गये हैं उनका नाश सृष्टिके बिना नहीं हो सकता, अतः उन फलोंके भोगनेके लिये नरकादिकी सृष्टि करनेवाला ईश्वर दयालु ही है। उपभोगप्रबन्धसे परिश्रान्त हुए प्राणियोंको बीच-बीचमें विश्राम देनेके लिये वे प्रलय भी करते हैं, यह सब ईश्वरकी कृपा ही है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि 'अविनाशी कर्मोंके फलोपभोगमें प्रतिबन्ध सम्भव न होनेके कारण समस्त जगत्का एक साथ प्रलय होना उपपन्न नहीं होता।' परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है क्योंकि कर्मोंकी शक्ति ईश्वरकी इच्छासे प्रतिबद्ध होती है, उस इच्छासे प्रेरित होकर

ही कर्म फल प्रदान करते हैं, उसकी इच्छासे प्रतिबद्ध हो कर्म फलसे उपरत होते हैं। इसका कारण यह है कि अचेतन चेतनके अधिष्ठानके विना अपने कार्यके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं देखे जाते। अब यह शङ्का होती है कि 'सृष्टि और प्रलयका हेतु ईश्वरेच्छा ही क्यों न मान लिया जाय, कर्मकी तो कोई आवश्यकता नहीं दीख पड़ती?' इसका समाधान यह है कि कर्मके विना जगत्का वैचित्र्य सिद्ध नहीं होता; अतः कर्मोंके नियोजनमें ही ईश्वरकी स्वतन्त्रता है, जगत्के वैचित्र्यमें नहीं। इस प्रकार केवल ईश्वरके कर्तृत्वमें नित्य सृष्टिका प्रसङ्ग, जगत्की विचित्रताकी अनुपपत्ति, अदृष्टकी अपेक्षामें उसीके द्वारा सृष्टि सामञ्जस्य होनेके कारण ईश्वर-कल्पनाकी अनावश्यकता, स्वार्थ-सृष्टि आदिमें प्रवृत्त होनेसे ईश्वरकी अनीश्वरताका प्रसङ्ग, परार्थ प्रवृत्त होनेसे सुखमयी सृष्टिका प्रसङ्ग, समस्त जगत्के संहारकी अकाण्डता, तथा नरक-कारागारमें प्राणियोंके डालनेकी निर्घृणता प्रभृति प्रलापोंका निराकरण हो जाता है।

यदि कोई कहे कि दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें निर्दयता आरोपित होती है, तो यह युक्त न होगा, क्योंकि इससे हितके लिये निष्ठुर व्यवहार करनेवाले पिता, अध्यापक तथा वैद्य भी निर्दय कहलायेंगे, जो कदापि सङ्गत नहीं है। दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें दुर्जनता भी नहीं आरोपित की जा सकती क्योंकि उसमें दोषोंका अभाव है। दोषोंके अभावका कारण उसमें मोहका अभाव है, तथा मोहाभावका कारण उसकी सर्वज्ञता है। सर्वज्ञता उसमें सकल जगत्के निर्माता होनेके कारण है इत्यादि बातोंका स्वयमेव विचार करना चाहिये। इसप्रकार ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाला कार्यत्वरूप हेतु प्रत्यक्ष वर्तमान है और इसमें बाधक प्रमाणका भी अभाव है अतः द्वयणुकके कर्तृत्वरूपमें ईश्वरकी निराबाध सिद्धि होती है।

इसी प्रकार 'घटरूप कर्म प्रयत्नजन्य हैं अतः सृष्टिके आदिमें द्वयणुकप्रयोजक कर्म भी प्रयत्नजन्य हैं, 'धृतिके कारण गगनमें पक्षियोंका पतन नहीं होता, गुरुत्वविशिष्ट परमाणुका भी पतन नहीं होता है अतः उस पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्न (धृति) का कोई प्रयोक्ता है।' 'घटका नाश प्रयत्नसे होता है, अतः ब्रह्माण्डके नाशके प्रयत्नका भी कोई प्रयोक्ता है।' जिसप्रकार आधुनिक कल्पित लिप्यादिका व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषद्वारा प्रयोज्य है, उसी प्रकार व्यवहारत्वके कारण घटादि व्यवहार भी स्वतन्त्र पुरुषद्वारा प्रयोज्य है।' 'जिसप्रकार चैत्रवाक्यजन्या प्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थजन्या है उसी प्रकार शाब्द प्रमाके कारण वेदजन्या प्रमा भी किसी विलक्षण वक्तृयथार्थवाक्यार्थजन्या है।' 'वेदत्वके कारण वेद असांसारिक पुरुषप्रणीत है क्योंकि जिसमें वेदत्व नहीं है वह काव्य सांसारिक पुरुष-प्रणीत है।' 'महाभारतादिके समान वाक्यत्वके कारण वेद भी पौरुषेय हैं।' 'एकत्वातिरिक्त संख्यात्वके कारण द्वयणुक-परिमाणको उत्पन्न करनेवाली संख्या भी किसी बुद्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न होती है।'—इत्यादि अनुमान भी साक्षात् अथवा परम्परासे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि करते हैं। यही बात उदयनाचार्यने अपनी कुसुमाञ्जलिमें कही है—

> कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

इसप्रकार अनुमान-प्रमाण निर्बाध गतिसे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें प्रवृत्त होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वरास्तित्वकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका अभाव है। आगम-प्रमाणका भी इसमें अभाव नहीं है।

'विश्वतश्चक्षुरिति०' 'पाणिपादो०' 'अहं सर्वस्य प्रभवः०' 'यदा सदेव०' 'अज्ञो जन्तु०' 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः०' 'पिताहमस्य जगतः०' 'ईश्वरमुपासीत०' 'सोऽकामयत०' 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्० ।'

—इत्यादि अनेकों श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके प्रमाणोंसे ईश्वरका प्रतिपादन होता है।

आवश्यकता पड़नेपर ईश्वर शरीरविशेषको परिग्रह करके प्राणियोंको तत्तत्कला-कौशल प्रभृतिका उपदेश देते हैं और सिखलाते हैं, भगवन्निष्ठोंकी रक्षा करते हैं, दुर्वृत्तोंको दण्ड देते हैं। इसी अभिप्रायसे उदयनाचार्यने आत्मतत्त्वविवेक ग्रन्थके मंगल श्लोकमें 'व्युत्पत्तेः कारणम्' कहा है और भगवान् वेदव्यासजी गीतामें कहते हैं—

> 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

सब ईश्वर ही है

(लेखक—बाबा माधवानन्दजी)

एक समय किसी शिष्यने अपने गुरुके पास जा दण्डवत् कर दोनों हाथ जोड़कर पूछा कि, 'हे भगवन्! इस संसाररूपी आडम्बरका मालिक कौन है? यह संसार किसके द्वारा प्रकाशित हो रहा है?' गुरुजीने उत्तर दिया—'शिष्य! इस संसारका मालिक ईश्वर है। यह संसार ईश्वरसे उसी प्रकार पृथक् कभी नहीं रह सकता जिसप्रकार सूर्यसे धूप, तथा स्वर्णसे भूषण अलग नहीं रह सकते। हे पुत्र! संसार और ईश्वरमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, केवल अज्ञानीजनोंको ही इनमें भेद जान पड़ता है। अज्ञानके दूर होते ही संसार ईश्वररूप दीखने लगता है। जिसप्रकार जलमें लहर और बुद्बुद् दिखलायी देते हैं, परन्तु जलसे पृथक् न लहर है, न बुद्बुद् है, उसी प्रकार जो कुछ दीख रहा है अथवा सुननेमें आता है सब ईश्वर है। जड़ और चेतन सब उसके रूप हैं, उसके बिना न जड़ है न चेतन।'

शिष्यने पुनः पूछा—'हे दीनदयालु! इस जगत्को ईश्वरने बनाया है या और किसी प्रकार बना है?' गुरुजीने उत्तर दिया—'हे पुत्र! ईश्वरसे भिन्न कोई वस्तु ही नहीं; तब वह कैसे किसको बनायेगा? जैसे घट और मिट्टीमें भेद नहीं है, जहाँ घट है वहाँ मिट्टी भी है; बिना मिट्टीके घट नहीं बनता, घटका समस्त अंग मिट्टी ही है। इसी प्रकार संसार ईश्वररूप ही है। अज्ञानियोंको मृगतृष्णाके जलकी भाँति इनमें भेद मालूम होता है। जब ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अज्ञानी पुरुष कोशिश करते हैं और उनका अज्ञान दूर हो जाता है तो यह संसार ईश्वर-स्वरूप ही दिखलायी देता है।' शिष्यने फिर पूछा कि 'हे प्रभो! जब यह संसार ईश्वर ही है तो यह माता-पिता, स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्रादि सब प्रपञ्च भी मिथ्या ही होगा?' गुरुजीने कहा—'हे पुत्र! यह प्रपञ्च अज्ञानसे भासता है। जब तू भेद-बुद्धि दूर कर देगा तो तुझे यह संसार इस रूपमें नहीं भासेगा, सब ईश्वर ही दिखलायी देगा। ईश्वरसे अलग द्वैतभावमें संसार भासता है। जिसप्रकार जल और बुद्बुद् भेद-बुद्धिसे दो दीख पड़ते हैं, बुद्बुद्को यदि जलसे अलग करनेके लिये हम हाथ डालें तो केवल जल ही हाथ आता है, बुद्बुद् मिट जाता है; इसी प्रकार सांसारिक प्रपञ्चरूपी बुद्बुद्को ईश्वररूपी जलसे पृथक् करना चाहें तो वह कदापि अलग न होगा, ज्ञान होनेपर केवल ईश्वर ही दीख पड़ेगा।' तब शिष्यने कहा—'हे प्रभो! जब हम सबको ईश्वररूप जानेंगे तब हमसे पाप न होगा और पाप न होनेसे नरक भी नहीं जाना पड़ेगा। इसलिये हमारे ऊपर दया करके वह उपाय बतलाइये, जिससे हम समस्त जगत्को ईश्वररूप जानें।' गुरुजी बोले—'हे पुत्र! जो कुछ कहने-सुनने, देखने-दिखानेमें आ रहा है, वह सब ईश्वर ही है। तू मेरे इस वाक्यपर विश्वास कर और 'वासुदेवः सर्वमिति' 'सब ईश्वररूप हैं,' इस मन्त्रका स्वयं जाप कर तथा दूसरोंसे भी यही जपाया कर। यही मोक्षका साधन है।

भक्तकी परख

भक्तकी परख तिलक, छापा, माला, कण्ठी, रामनामी, मुंडन या जटासे नहीं होती। ये सब आवश्यक हैं, उत्तम हैं, परन्तु इनसे उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवान्के प्रेमसे पूर्ण हो गया है। जिसके हृदयमें भगवान्की जगह भोगोंने घर कर रक्खा हो उसको न तो यह भक्तोंका बाना धारण करनेका अधिकार है और न इससे कोई लाभ ही है। ऊपरका भेष देखकर किसीने भक्त मान भी लिया तो क्या हुआ? भेषधारीको इससे कोई लाभ नहीं। कंगालको लखपती माननेसे कंगाली नहीं छूट सकती। हृदय पापकी आगसे जलता ही रहेगा। भक्त वह है जो सर्वत्र सर्वदा अपने भगवान्को देखता है और उसके दिव्य गुण सत्य, प्रेम, करुणा, आनन्द, ज्ञान आदिका अनुसरण प्राण-पणसे करता है। बाना हो या न हो।

ईश्वर-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री 'श्रीहरि')

'ईश्वर' यह कितना सुन्दर शब्द है। इस शब्दमें शान्ति है, तृप्ति है, सन्तोष है, मिठास है और आकर्षण है। इस शब्दके सुनते ही हृदयमें प्रेम और आनन्द इन दोनोंका ही एक साथ सञ्चार होता है। इन सब बातोंसे पता चलता है कि 'ईश्वर' शब्दके वाच्यार्थके साथ हमारा कोई निकटतम सम्बन्ध है। कौन-सा सम्बन्ध है इस बातका पता लगाना कठिन है। हाँ, वे कोई हमारे हैं अवश्य, इस बातमें सन्देह नहीं। हम मोह-निद्रामें पड़े सो रहे हैं। हमारी आँखोंके आगे अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है। हम देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं। हम अपने सम्बन्धको भूल गये हैं। बहुत कुछ स्मरण करते हैं किन्तु स्मृति-पथमें नहीं आता है। उनके साथ हमारे काल्पनिक सम्बन्ध तो बहुत-से हैं। वे अनन्त नील गगन हैं, हम उनके एक छोटे-से नवल नक्षत्र हैं। वे परमपावन पारिजात-प्रसून हैं, हम उनके ही क्षुद्र किंजल्क-कण हैं। वे प्रेमके प्रशान्त महासागर हैं, हम उनके ही एक छोटे-से प्रेमबिन्दु हैं। वे हमारे पूज्य इष्टदेव हैं और हम उन्हींके पथ-भ्रष्ट, भ्रान्त पुजारी हैं। हमारे और उनके बीच यही द्वैतभावना और काल्पनिक सम्बन्ध हैं। वे हमें क्या समझते हैं, यह वे ही जानें। उनके साथ हमारा कोई वास्तविक सम्बन्ध है कि नहीं, इस प्रपञ्चमें कौन पड़े। हाँ, इतना तो हम अवश्य जानते हैं, वे भक्तवत्सल हैं, दीनदयालु हैं और हैं अशरण-शरण। यही उनका ऐश्वर्य या ईश्वरता है।

❀ ❀ ❀ ❀

ईशितुं शीलमस्येति 'ईश्वरः' अथवा ईष्टे इति 'ईश्वरः' सर्वैश्वर्यशाली, सर्वलोकनियामक इत्यर्थः, यही 'ईश्वर' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। सच्चिदानन्दमय परमात्मा-का वर्णन ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीन रूपोंमें पाया जाता है। क्रमशः इन तीनोंका सम्बन्ध परमात्माके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत आदि भावोंसे है। एक और अद्वितीय परमात्मामें इसप्रकारकी भेदप्रतीति केवल प्रकृति-सम्बन्धसे ही होती है। वाणी और मनसे अगोचर, माया-सम्पर्क-रहित परमात्म-सत्ताको 'ब्रह्म' कहते हैं। अध्यात्मभावनाके 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंमें यही 'तत्' पदवाच्य हैं। सर्वान्तर्यामी, सर्वलोकैकसाक्षी, सर्वैश्वर्यशाली, मायासम्पर्कसहित परमात्म-सत्ताको 'ईश' कहते हैं। अधिदैव-भावनाके 'सोऽहम्' आदि महावाक्योंमें यही 'सः' पदवाच्य हैं। समस्त विश्वके आधार, प्राकृतात्मक, परम सत्ताको 'विराट्' कहते हैं। अधिभूत-भावनाके 'कार्यब्रह्म' का सम्बन्ध इसी स्थूलभावसे है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन्हीं तीनों भावोंका स्पष्टीकरण निम्नलिखित मन्त्रके द्वारा किया गया है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्॥

अक्षर, परमब्रह्मका जो माया-सम्पर्क-रहित अपना भाव है, वही अध्यात्म है। उनका क्षरसंज्ञक जो प्रकृति-विलासमय भाव है, वही अधिभूत है। इसी प्रकार उनका पुरुषसंज्ञक जो प्रकृतिके ऊपर नियन्तृत्वका भाव है, वही अधिदैव है। फलतः ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीनों ही सच्चिदानन्दमय परमात्माके रूपान्तर हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

'सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्।'

हे सर्वव्यापिन्! तुम सगुण तथा निर्गुण सभी हो। तुम्हारा निर्गुण रूप मन और वाणीसे सर्वथा अगोचर है। शक्तिमती माया तुम्हारे समीप पहुँचनेमें असमर्था होकर लज्जासे दूर हट जाती है। तुम सांसारिक सुख-दुःखोंसे रहित, निरवच्छिन्न आनन्दमय हो। तुम नित्य, निरञ्जन एवं निर्विकार हो, इसीलिये तत्त्वज्ञ लोग तुम्हें निर्विशेष 'ब्रह्म' कहते हैं। किन्तु हे सर्वान्तर्यामिन्!

'लीलया वापि युञ्जेरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः'

वही तुम निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म लीलावश गुण और क्रियाओंसे युक्त होते हो। जो तुम किसी समय मन, वाणी और इन्द्रियोंसे अगोचर होनेके कारण अज, अजर, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अक्षर, अनादि, अनन्त एवं श्रुतिके द्वारा 'नेति-नेति' कहकर

सम्बोधित होते थे, वही तुम अपनी इच्छारूपिणी माया-शक्तिसे सम्पर्कित होनेपर सर्वलोकैकसाक्षी, सर्वलोक-नियामक, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, अशरण-शरण, करुणामय, पतितपावन एवं भक्तवत्सल भगवान्‌के नामसे पुकारे जाते हो।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

जिस अद्वितीय ज्ञानसत्ताको तत्त्वज्ञानी 'तत्त्व' कहकर पुकारते हैं, वही निर्गुण ब्रह्म है, परमात्मा है और सगुण ब्रह्म भगवान् या 'ईश्वर' भी है। इसी भावको लेकर दैवी-मीमांसादर्शनमें स्पष्टरूपसे लिखा गया है—

'ब्रह्मेशयोरैक्यं पार्थक्यं तु प्रकृतिवैभवात्'

ब्रह्म और ईश अर्थात् 'ईश्वरपदवाच्य' दोनों ही एक हैं। इन दोनोंमें भेदकी प्रतीति तो केवल प्रकृति या मायाके वैभवके कारण ही है।

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृतिको 'माया' और ईश्वरको उसके सञ्चालक 'मायी' समझना चाहिये। वही मायापति, महेश्वर इस समस्त विशाल विश्वके प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त हैं।

हे दीनबन्धो! तुम्हारे निर्विशेषरूप 'ब्रह्म' और सविशेषरूप 'ईश्वर' का यही तो सार है।

❁ ❁ ❁ ❁

वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति तथा पुराण आदि ग्रन्थोंमें सर्वत्र 'ईश्वर' का वर्णन तथा 'ईश्वर' की उपासना-का विधान पाया जाता है। सभी दर्शन तथा शास्त्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे 'ईश्वर' की सत्ताका निरूपण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश आदि सब 'ईश्वर' के ही नाम हैं। ईश्वरकी रजोगुणमयी सृष्टिकारिणी शक्तिका नाम ब्रह्मा, सत्त्वगुणमयी स्थितिकारिणी शक्तिका नाम विष्णु एवं तमोगुणमयी प्रलयकारिणी शक्तिका नाम रुद्र है। इसप्रकार जगदात्मा सगुण ब्रह्म ईश्वर ही इस अनन्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके नियामक हैं। 'ईश्वर' सर्वाधिपति, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सबके शरण्य हैं। समस्त चराचर विश्व उनके वशमें है और वे एकमात्र इस विशाल विश्वके शासक हैं। श्रीमद्भागवतमें किसी भगवद्भक्तने यह ठीक ही कहा है—

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥

जिनमें यह विश्व है, जिनसे यह विश्व है, जिनके द्वारा यह विश्व है, जो स्वयं विश्वरूप हैं एवं जो इस विश्व और इस विश्वके परसे भी परे हैं, मैं उन स्वयम्भू भगवान्‌की शरण लेता हूँ। अहो, कैसा सुन्दर वर्णन है और कैसी अनोखी भक्तकी भावना है। एक ही श्लोकमें—

'तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्'

अपनी शक्तिरूपिणी प्रकृतिकी उपाधिके संयोगसे निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' भावको प्राप्त होते हैं, इस सर्ववादि-सम्मत सिद्धान्तका कैसा सुन्दर समन्वय है। यही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' अपने प्यारे भक्तोंके भक्त-वत्सल, भगवान् तथा प्रेमपोषित प्राणियोंके प्राणाधार हैं।

❁ ❁ ❁ ❁

प्रेमसुधाका प्यासा आया, प्यासा ही अब जाता है,
सच है, 'श्रीहरि' प्रेमरसामृत, बिना शान्ति क्या पाता है।

यह समस्त विश्व प्रेमके पीछे पागल हो रहा है। प्रेमके लिये जीता है और प्रेमके ही लिये मरता है। संसारके लिये प्रेम ही सबसे अनोखी और बहुमूल्य चीज़ है। वह प्रेमके ऊपर सब कुछ निछावर करनेको क्षणभरमें तैयार हो जाता है। यह प्रेमामृतका प्यासा प्राणी मरुस्थलके मृगकी भाँति प्रेम-मरीचिकामें तड़प-तड़पकर मरता है और उसी प्यासको बुझानेके लिये बार-बार चौरासीका चक्कर भी काटता रहता है किन्तु हा, उसकी वह अपरिमेय प्यास बुझनेमें नहीं आती है। बुझे तो भला कैसे बुझे, वह अपने प्यारे प्रेम-सिन्धुको छोड़कर विषयरूप ज्वालामुखीके अंगारोंसे प्यासको बुझाना चाहता है। हे प्रेमरूप! हरे!! यह आपकी कैसी प्रवञ्चना है? कैसी अनोखी लीला है? तुम्हींको तो पानेके लिये यह सब काण्ड हो रहा है और तुम प्रत्येक प्राणीके हृदयदेशमें बैठे हुए यह सब कौतुक देख रहे हो? प्रेममें सुख है, शान्ति है और है अनिर्वचनीय आत्म-तृप्ति। इसीलिये तो इस प्राणि-जगत्‌का प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार मित्र, पुत्र, कलत्र, धन-धान्य एवं मान-वैभव आदिमें प्रेमकी प्राण-प्रतिष्ठा कर रहा है। संसारके सभी सम्बन्धोंका मूलाधार प्रेम ही तो है। प्रेम ही संसारका कारण है अथवा प्रेम

ही संसार है। हे प्रेमसिन्धो ! तुम्हारे प्रेमका एक बिन्दु पाकर, जब यह जन्म-जन्मान्तरका प्यासा जीव अनन्त एवं अनिर्वचनीय आत्म-तृप्तिका अनुभव करता है, तो फिर जो पुण्यात्मा प्राणी तुम्हारी उपासना करते-करते अपने नाम और रूपको भूलकर सिन्धुगामी नदी-नदकी भाँति तुम्हींमें मिल जाते हैं, उनके अनिर्वचनीय सुख, शान्ति तथा आत्मतृप्तिका वर्णन भला कौन कर सकता है ? नारदसूत्रमें परम भागवत भगवान् नारदका यह कहना अक्षरशः सत्य है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' 'मूकास्वादनवत्' 'शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च ।'

शान्तिरूप और परमानन्दरूप होनेके कारण मूक (गूँगा) पुरुषके रसास्वादनके समान प्रेमका स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है ।

❀ ❀ ❀ ❀

'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपता सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति'

भगवद्भावनासे द्रवीभूत होकर परम प्रियतम भगवान्‌के साथ चित्तका जो सविकल्प तदाकार-भाव (भगवदाकाररूपता) है, उसीको 'भक्ति' कहते हैं। अथवा—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' 'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्'

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको 'भक्ति' कहते हैं। कारण, 'ईश्वर' के प्रति परम प्रेम होनेसे ही जीव अमृतत्वको प्राप्त होता है। जीव-जगत्‌का यही परम पुरुषार्थ, परमगति या चरम लक्ष्य है। हम पहले बतला चुके हैं, प्रेम ही संसारका कारण है अथवा प्रेम ही संसार है, अतः संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सभी प्रेममूलक हैं। एक प्रेम ही उपाधिभेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है। मित्रके प्रति प्रेमको 'स्नेह' कहते हैं, पुत्रके प्रति प्रेमको 'वात्सल्य' कहते हैं, प्रणयिनीके प्रति प्रेमको 'रति या प्रीति' कहते हैं, गुरुजनोंके प्रति प्रेमको 'श्रद्धा' कहते हैं। इसी प्रकार ईश्वर या इष्टदेवके प्रति प्रेमको 'भक्ति' कहते हैं। विश्वका प्रत्येक पदार्थ विनश्वर होनेके कारण मित्र, पुत्र एवं कलत्र आदिमें जो प्रेम है, वह परिणामतापसे असम्पर्कित नहीं है। वहाँ प्रियजन-संयोग आदिमें जो प्रेमानन्दकी प्रतीति होती है, वह वियोग आदि दुःखोंसे संवलित होनेके कारण दुःखरूप ही है। यही कारण है नित्यानन्दप्रयासी जीव जब इस लौकिक प्रेमसे बार-बार प्रवञ्चित होकर प्रेमजनित सुखके स्थानपर भीषण परिणामतापको ही भोगता है, तो फिर उसे इस विनश्वर लौकिक प्रेमसे विरक्ति हो जाती है। उस समय प्राक्तन पुण्य, गुरुजनोंकी कृपा, सत्संग एवं तत्त्व-चिन्तनके द्वारा 'ईश्वर' के प्रति जो परम प्रेम उत्पन्न होता है, उसीका नाम 'ईश्वर-भक्ति' है। 'ईश्वर-भक्ति' के द्वारा मनुष्य केवल आत्मकल्याण ही नहीं करता है किन्तु वह इस दुःखमय संसारको सुखमय स्वर्ग बना देता है। 'ईश्वर-भक्ति' के ऊपर वह सांसारिक ऐश्वर्यों और स्वर्गिक सुखोंको कौन कहे 'मोक्ष-सुख' तकको निछावर कर देता है। इस अलभ्य लाभको प्राप्त करनेपर उसे अन्य किसी लाभका प्रलोभन नहीं रह जाता। ईश्वर-भक्त कृतकृत्य हो जाता है। अपने परम प्रियतम, प्रेमरूप भगवान्‌के साथ एकरूप होकर अपने अपरूप नाम और रूपको सदाके लिये उनके प्रेमसागरकी तरंगोंमें बहाकर वह स्वयं 'प्रेमरूप' हो जाता है। यही 'ईश्वर-भक्ति' का रहस्य है।

साक्षात्कार

माँकी ममतामें, छोह-भरी क्षमतामें,
स्नेहार्द्र पिताकी स्नेह-भरी समतामें,
बच्चोंकी कोमल-कंठ-कलित वाणीमें,
तू पतिपरायणा नारी कल्याणीमें,
घर घरमें रहता पग पगमें मिल जाता,
पर, अज्ञानी तुझको पहचान न पाता।

—सोहनलाल द्विवेदी, बी० ए०

भक्तके भगवान्

(लेखक—भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री साहित्याचार्य)

[कहानी]

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गी० ९।३०-३१)

(१)

पुण्यपुरी मथुराके उन गली, रास्तोंमें लोगोंकी बेहद भीड़ मच रही है, जो यमुनाके बहुत निकट पड़ते हैं। सैकड़ों नर-नारी बगलमें धोती और कलसा लिये यमुनातटकी तरफ जा रहे हैं। उमंगभरे बच्चे यमुनामें खेल करनेकी खुशीसे आगे-आगे दौड़े जा रहे हैं। घाटोंपरकी दूकानें खूब मालसे भरी हैं। सौदा खरीदनेवालोंके ठट्ट लगे हैं। कण्ठी-मालावालोंकी आज बन आयी है, अच्छी तरह कण्ठी बाँधी जा रही है। इस धूमधामका यही कारण है कि आज कार्तिकशुक्ला द्वितीया (यमद्वितीया) का पुण्य पर्व है। इस दिन सूर्यतनया भगवती यमुनाका स्नान विशेषकर पुण्यप्रद समझा जाता है। दूर-दूरके यात्री यमुनाकी 'डुबकी' लेने आये हैं। यमुनाके घाटोंपर खचाखच भीड़ हो रही है। लोगोंको गोता लगाकर निकलना मुहाल हो रहा है।

जनाने-घाटोंपर आज महिलाओंकी भीड़ है। कितनी ही हिन्दू-रमणियाँ पुण्य-प्राप्तिके निमित्त यमुनामें गोता लगा रही हैं। कोई घाटकी सीढ़ियोंपर खड़ी होकर सूर्यदेवको प्रणाम कर रही हैं, कोई 'तिहारो दरस मोहि भावै श्रीयमुने' कहकर प्रभाती ही गुनगुना रही है। जो पूजा-पाठ कुछ नहीं जानती वह केवल 'जय जमुने, जय जमुने' कहकर ही अपनी भक्ति प्रकट कर रही है। कई नवीनाएँ यहाँ भी अपने घरका ही पचड़ा लिये हैं। किसीने दिवाली कैसे मनी, इसका किस्सा शुरू किया। कोई अपनी महँदी और चोटीका ही जिकर छेड़ बैठी। जो इनसे भी अधिक लजीली थीं उनकी कानों-ही-कानोंमें काना-फूसी होने लगी। ऐसे नाजुक समयमें यकायक घाटपर एक हल्ला मच गया।

घाटके एक तरफ एक युवती स्नान कर रही थी, वह थी समाजमें कलङ्किनी बालविधवा। नाम था कमला। घाटकी बहुत-सी स्त्रियाँ उसे जानती थीं। पहचाननेका एक कारण भी था। जिस मुहल्लेमें कमला रहती थी, उसी मुहल्लेकी बहुत-सी स्त्रियाँ इस घाटपर नहाने आयी थीं। इस पर्वके दिन कुलाङ्गनाओंसे सटकर उसे नहाते देख सतीत्वके तेजसे प्रकाशित, सावित्रीकी प्रतिमूर्ति श्रीमती महिला-मण्डली क्रोध और घृणासे गरज उठी। क्या लिखनेवालेको सच कहे बिना नहीं रहा जाता कि जिसे ये कलङ्किनी वेश्या समझती थीं, वह कोई बाज़ारू वेश्या न थी। यौवनके प्रलोभनमें पड़कर बालविधवा कमला एक पड़ोसी युवकके साथ घरसे निकल पड़ी थी। कुछ दिन अपने लानेवालेके साथ पृथक् मकान रास्तेके किनारे किराये लेकर रही। अब इन दिनों एक साधारण मुहल्लेमें गृहस्थकी तरह रह रही है। यौवनकी आँधी निकल जाने बाद कमलाने अपनेको सँभाला, लेकिन अब क्या हो सकता था? घर छोड़कर बाहर जानेके बाद समाज कब साथ दे सकता था? यौवनकी एकमात्र गलती कमलाके हृदयमें काँटे-सी खटकने लगी। अपने प्रणयीपर वह भाव न रहा। अधिक समय वह अकेलेमें बिताती थी। यमुना नहाने, देवदर्शन आदिमें बहुत काल व्यतीत कर देती थी, किन्तु जिस समय कमला अपने लानेवालेके साथ रास्तेवाले मकानमें रहती थी, उसी समय कमलाके प्रति लोगोंके भाव एकदम बदल गये थे। उसे लोग वेश्याकी तरह अस्पृश्य समझने लगे थे। स्त्रियोंमें पापिनी समझी जाकर घृणाके साथ उसकी कड़ी आलोचना होने लगी।

यही कारण था कि जो स्त्री स्तोत्रपाठ कर रही थी, वह स्तुति बन्दकर, नाक-भौं चढ़ाकर बोली—'अर अभागी! इसी घाटपर मरने आयी थी क्या?' जो सूर्यदेवको प्रणाम कर रही थी, वह प्रणामको छोड़कर ज्येष्ठके सूर्यकी तरह गरमाकर बोल उठी—'हट यहाँसे, दिखायी नहीं देता, हमलोग यहाँ नहा रही हैं?'

कमला समाजसे कलङ्किनी थी। जो पाप धोये नहीं धुलता, वह उसे घेरे हुए था। फिर वह यमुना-स्नानको क्यों आती थी? यमुनाके पुण्यपयसे क्या वेश्याका पाप धुल सकता है? दोनों आँखोंकी गङ्गा-सरस्वतीका प्रवाह

यमुनामें मिला सकनेपर वेश्याका पाप भी, मालूम होता है, धुल सकता है।

जो कुछ हो, कमला प्रतिदिन यमुना नहाने आती है। आज भी आयी थी। किन्तु इसके पहले ऐसा तीव्र तिरस्कार उसे कभी सहना नहीं पड़ा था। तो भी वह विचलित न हुई। आँसूभरे मुँहको नीचे किये ही धीरे-धीरे स्नान समाप्त किया। पीतलके कलसेको जलसे भरकर घाटके ऊपर आयी। घाटके एक कोनेपर खड़े रहकर, डरते-डरते, आँसू बरसाती हुई आँखोंसे पुण्यसलिला यमुनादेवीकी तरफ उसने देखा। कलसेको बगलमें लिये ही झुककर प्रणाम किया। इसके अनन्तर काले मेघकी तरह घने बालोंको पीठपर झुलाती हुई, वह गीले कपड़ोंसे अधखुले सिर रास्तेमें चलने लगी।

(२)

यमुनाके घाटसे कमलाका घर बहुत दूर था। अनुमान एक मील होगा। रास्ता चलते-चलते उसके चित्तमें विचार हुआ—'सब लोग देवताको जल चढ़ाने जाते हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ ठाकुरके मन्दिरमें पानघर, फूलघरकी सेवा भी करती हैं। कई ठाकुरके भण्डारमें दाल, चावल बीननेकी सेवा ही करती हैं। फिर मैं क्यों न करूँ? मेरा जल क्या ठाकुरजी स्वीकार नहीं करेंगे? नहीं करें तो मैं उनके मन्दिरकी सीढ़ियोंको ही धो आऊँगी। किन्तु उसका भी मुझे अधिकार है क्या? मेरा जल नीच जातियोंके भी काम नहीं आता। मेरे जलके छींटे लगनेपर वे लोग भी अपवित्र हो जाते हैं फिर मुझे दालान वा सीढ़ियोंके धोनेका अधिकार कैसे हो सकता है? देखें, आज मदनमोहनजी धोने देते हैं कि नहीं?'

ये बातें सोचती-सोचती कमला रास्ता तय करने लगी। यमुनाके घाटोंसे थोड़ी दूरपर ही श्रीमदनमोहनजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। इस विशालकाय मन्दिरके चारों तरफ आने-जानेके आम रास्ते हैं, जिनकी लोगोंमें परिक्रमाके नामसे प्रसिद्धि है। इसी परिक्रमाके दक्षिणी प्रान्तमें कमलाका घर था। यह रास्ता और रास्तोंकी अपेक्षा कम चलता है। इसमें मकानोंकी संख्या भी बहुत हलकी थी।

कमला उस दिन घर न जाकर जलपूर्ण कलसा लिये मदनमोहनजीके मन्दिरमें जा पहुँची। मन्दिरके चौकमें आकर वह खड़ी हो गयी। आगे जानेका और 'जगमोहन'[१] की सीढ़ीपर चढ़नेका उसे साहस न हुआ। परिचित मनुष्यों-को देखते ही वह घबरा उठती थी। लज्जा ही क्या, अपने ऊपर उसे एक प्रकारकी घृणा हो रही थी। सीढ़ियोंके सहारे सटी हुई वह बहुत देरतक खड़ी रही। उसके मनमें इच्छा थी कि कलसेके जलसे मन्दिरके दालानको धोकर देव-सेवाके पुण्यमें कुछ भाग ले, किन्तु साहस न हुआ। वह समाजमें कलङ्किनी है। उसका छुआ जल अपवित्र है। कमला किसीसे कुछ न कहकर चुपचाप एक तरफ खड़ी रह गयी।

मन्दिरकी टहलनी एक अहीरनी बुहारी लिये चौकमें बुहारी दे रही थी। वह कमलाको जानती थी। उसे वहाँ खड़ी देखकर उसने कहा—'यहाँ क्यों खड़ी है? हट जा यहाँसे, बुहारी देने दे।'

कमला हटकर दूर खड़ी हो गयी। अहीरनीने झुँझलाकर कहा-'तू चाहती क्या है?' कमलाने झिझकते हुए जवाब दिया—'मेरे इस कलसेके जलसे……।' आगे बोल न सकी। बोलनेका साहस ही न हुआ।

'तेरे जलका क्या होगा री? क्या ठाकुरजीको नहलाना चाहती है?'

'ना'

'तो?'

'सीढ़ियाँ और दालानको धोना चाहती हूँ।'

'हट यहाँसे। इसके मिजाज तो देखो। हमलोगोंका ही छुआ जल मन्दिरमें नहीं जाता। ये आयी हैं जल-सेवा करने! चल दूर हो यहाँसे!'

मन्दिरके 'समाधानीजी' जगमोहनमें बैठे कारण-विशेषसे दर्शनियोंका दर्शन कर रहे थे। ऊपरकी बात-चीतका कुछ हिस्सा उनके कानोंमें पड़ा। आगे बढ़कर उन्होंने चौककी तरफ देखा। बड़ी गम्भीरताके साथ पूछने लगे—'क्या हल्ला कर रही है री?'

टहलनीने जोशसे कहा—'हल्ला क्या है? लोगोंके आजकल मिजाज ही नहीं माते! वेश्या जल लेकर आयी है और कहती है कि ठाकुरजीके मन्दिरको धोऊँगी।'

ठाकुरजीके पारिषद् 'समाधानीजी' गौरवभरे स्वरमें कमलासे कहने लगे—'देखो, तुम्हारा छुआ जल कोई काम नहीं आ सकता। चौकके धोनेमें भी नहीं लिया जा सकता। जबतक वह सूखे नहीं, उसपर लोगोंके पाँव पड़नेकी शङ्का है।'

१ निजमन्दिरके आगेका आँगन।

कमलाने नीचा मुँह किये ही समाधानीजीकी आज्ञा सुनी। इसके अनन्तर उदास-मन, धीरे-धीरे चौकसे हटकर वह मन्दिरके पीछे बगीचेमें पहुँची। वहाँ थोड़ी देर ठहरकर कुछ सोचा। फिर चारों तरफ नजर दौड़ाकर एक बार देखा कि वहाँ भी कोई देखता तो नहीं है। फिर एकान्त देखकर वह भूमिपर बैठ गयी। ठाकुरजीका ध्यानकर कलसेका समूचा जल अर्घ्यकी भाँति भूमिपर डाल दिया। जलसे सिंची उस गीली मृत्तिकाको लेकर ललाट और जिह्वापर लगाया। इसके अनन्तर ठाकुरजीके उद्देश्यसे भूमिमें मस्तक टेककर प्रणाम किया। फिर खाली कलसेको बगलमें लिये वह घरको चली।

(२)

वर्षके तीन सौ उनसठ दिनोंको पारकर आज फिर 'यमद्वितीया' आयी है। कमला इस वर्ष प्रत्येक दिन यमुना-स्नानको गयी है और यमुना-जलसे कलसा भर मदनमोहनजीके मन्दिरके पीछे बगीचेमें बैठकर ठाकुरजीके उद्देश्यसे उसने प्रतिदिन भूमिमें जल सींचा है।

आज फिर वही पुण्यपर्व 'यमद्वितीया' उपस्थित है। कमला आज बड़े सवेरे ही यमुना-स्नानको चली। प्रतिदिनकी तरह आज भी पवित्र जलसे कलसा भर भक्ति और गद्गद्-कण्ठसे यमुनाजीको प्रणाम कर वह घरकी तरफ लौटी। कमला उस दिन घर भी न गयी और न प्रतिदिनकी तरह वह मन्दिरके बगीचेमें ही पहुँची। आज वह यमुना-जल-पूर्ण कलसा लिये गीले वस्त्रोंसे मन्दिरके चौकमें खड़ी है। दर्शनके लिये उसका हृदय व्याकुल है, आँखोंसे आँसू टपक रहे हैं। वह चाहती है एक बार दूरसे फिर ठाकुरजीका दर्शन करूँ। मन्दिरके जगमोहनको धोकर देव-सेवाके पुण्यको अब वह अपने हिस्सेमें लेना नहीं चाहती। वह तो मनुष्योंकी भीड़में दूरसे ही केवल एक बार ठाकुरजीकी मनोहर मूर्तिका दर्शन चाहती है। एक वर्ष पूर्व इसी दिन चौकमें खड़ी होकर उसने ठाकुरजीकी मूर्तिके दर्शन किये थे। उस पर्वके दिन एक बारके दर्शनमें ही वंशी बजाते हुए श्रीमदनमोहनजीकी उस मनोहर मूर्तिको उसने अपने हृदयमें अङ्कित कर लिया है। उस दिनसे लेकर आजतक वर्षभर वह उसी मूर्तिका लगातार ध्यान करती रही है। मन्दिरके पिछवाड़े, आमके वृक्षके नीचे बैठकर उसी मूर्तिका ध्यान करती हुई वह कलसभरे जलसे अर्घ्य देती रही है। ध्यानके द्वारा हृदयमें चित्रित की हुई उस मनोहर मूर्तिको प्रत्यक्ष दर्शनसे आज फिर उज्ज्वल करनेकी वासना लिये वह मन्दिरमें आयी है। क्या ठाकुरजी दर्शन नहीं देंगे?

मन्दिरके दर्शन उस समयतक खुले नहीं थे। समाधानीजी भी किसी कामसे बाहर गये हुए थे। कमला बगलमें कलसा लिये चौकके एक तरफ खड़ी हो गयी। इस तरह खड़े-खड़े बहुत समय बीत गया, जलसे भरे कलसेको बहुत देरतक कमरपर लिये वह थक गयी थी, किन्तु ठाकुरजीके लिये लाये हुए कलसेको वह जमीनपर कैसे रख सकती थी? उसे खाली भी करना नहीं चाहती थी। उसने स्थिर कर लिया था कि आज चौकके किनारेसे ठाकुरजीका दर्शन करते-करते इस कलसेके जलको उनके चरणोंपर चढ़ानेका ध्यान करूँगी। किन्तु ठाकुरजीका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। बोझसे कमला बेबस हो चली। कमरपर बोझ लेकर खड़े रहनेकी बिल्कुल शक्ति न रही। वह बड़ी दीनतासे ठाकुरजीका ध्यान करती हुई कहने लगी—'हे स्वामी! अब खड़ा नहीं रहा जाता। पलभरके लिये एक बार दर्शन दे दीजिये।'

मन्दिरके मुखियाजी उसी समय कमलाके आगे होकर निकले। आजकल वह सेवामें सदा नहीं जाते। वृद्ध हो जानेके कारण उन्होंने इस पवित्र कर्तव्यसे छुट्टी जरूर ले ली थी तो भी भगवत्सेवामें दृढ़ अनुराग होनेके कारण कुछ दिन अपनी इच्छासे सेवाके लिये स्नान करते हैं। आज भी सेवाके लिये भीतर जा रहे थे।

उन्होंने देखा कि चौकके एक तरफ एक स्त्री कलसा लिये देरसे खड़ी है। उन्होंने पूछा—'बेटी! तुम क्या चाहती हो?'

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि मुखियाजी कमलाको नहीं जानते थे परन्तु कमला उन्हें जानती थी और श्रद्धा भी करती थी। वे वास्तवमें भगवद्भक्त थे और उपासनाके तत्त्वको जाननेवाले थे। उन्होंने सभी सम्प्रदायोंके भक्ति-ग्रन्थोंका बड़े प्रेमसे मनन किया था। उनके बाल्य और यौवन-कालका परिचय हमें नहीं परन्तु वर्तमानमें वह बहुत ही श्रद्धेय हो गये हैं। भगवान्‌में किसीका थोड़ा भी सत्य-प्रेम देखते हैं तो उनका हृदय पुलकित हो उठता है। वह पण्डित और भगवद्भक्त, वयोवृद्ध और मार्मिक, सरल

और उदार हैं। जो उन्हें एक वार भी पहचान जाता है वह उनमें श्रद्धा किये विना नहीं रह सकता।

कमलाको इससे पहले उनके इतने पास आनेका अवसर नहीं मिला था, दूरसे ही उसने इन्हें देखा था। शुभ्र केश, देवकान्तिमण्डित उस महापुरुषकी सात्त्विक मूर्तिको इस समय सम्मुख ही देखकर भक्तिप्लुतचित्तसे वह चुपचाप खड़ी रह गयी, कुछ जवाव न निकला।

प्रश्नका उत्तर न पाकर वृद्ध मुखियाजीने फिर पूछा—'कहो बेटी! क्या चाहती हो?'

कमलासे तो भी बोला न गया। मुखियाजीने कहा—'क्या ठाकुरजीके लिये जल लेकर आयी हो?'

'ना'

'तो क्या चाहती हो?'

'ठाकुरजीका एक वार······'

'दर्शन करना चाहती हो?'

'हाँ'

'आओ, मेरे साथ आओ, अभी पट खोलता हूँ। आगे खड़ी होकर अच्छी तरह दर्शन कर लेना' कहकर वह तेजीके साथ मन्दिरमें चले गये। द्वारका परदा हटाकर उन्होंने देखा कि वह स्त्री वहाँ नहीं है। दूर नज़र डालकर उन्होंने देखा कि वह जगमोहनके नीचे चौकमें ही खड़ी है। मुखियाजीने संकेत किया—'ऊपर आ जाओ।'

कमला एकचित्त होकर नीचेसे ही ठाकुरजीका दर्शन कर रही थी। ध्यानभङ्ग होनेके बाद उसने देखा कि मुखियाजी उसे बुला रहे हैं। दर्शन करती-करती वह बड़े व्यग्रभावसे आगे अवश्य बढ़ी परन्तु जगमोहनकी सीढ़ीके पास जाकर रुक गयी। आगे न जा सकी। अबके मुखियाजीने जोरसे पुकारकर कहा—'ऊपर आकर दर्शन कर लो।'

कमलाको बड़ी तड़फड़ाहट थी कि वह पास जाकर ठाकुरजीका अच्छी तरह दर्शन करे किन्तु अपनी उस प्रवल वासनाको दवाकर नीचा मस्तक किये ही वह बड़े धीर-भावसे बोली—'आगे आनेका मुझको अधिकार नहीं।'

मुखियाजी—अधिकार क्यों नहीं है बेटी! जिसको ठाकुरजीके दर्शनकी इच्छा प्रवल है उसको सब अधिकार है।

कमला—मैं···मैं···

मुखि०—तुम कौन हो?

कम०—मैं कलङ्किनी हूँ, समाजसे निर्वासित हूँ।

मुखि०—नहीं, तुम कलङ्किनी नहीं हो, ठाकुरजीकी भक्त हो। ऊपर चढ़कर निःशङ्क आगे आ जाओ।

कमला ठाकुरजीकी भक्त है! यह तो वह अवतक नहीं जानती थी। उसके शरीरमें एक विजली-सी दौड़ गयी। उसको अब कोई रुकावट न रही। वह सीढ़ी चढ़कर जगमोहनके आरम्भके किनारेपर ही खड़ी हो गयी।

(४)

इसी समय पीछेकी तरफसे समाधानीजीका स्वर सुनायी दिया। वह किसी वैष्णवसे वात करते-करते आगे आ रहे थे। कमलाको जगमोहनमें खड़े देखकर वह एकदम अग्निशर्मा हो उठे। कर्कशकण्ठसे कहा—'अभागी! जगमोहनमें चली आयी? वाह रे तेरे मिजाज। जा, नीचे उतर जा।'

कमलाका वह आनन्द और उत्साह एकदम जाता रहा। संकोच और अनुतापने उसके हृदयको एकदम दवा लिया। लज्जासे उसके पैर पत्थरके हो रहे थे, तो भी वह लौटनेकी कोशिश कर रही थी। इसी समय निजमन्दिरसे वाहर निकलकर मुखियाजीने समाधानीजीसे कहा—'इस स्त्रीका तिरस्कार क्यों कर रहे हो?'

समा०—देखिये न! मन्दिरके पास ही आ गयी है।

मुखि०—तो इसमें क्या अपराध हुआ?

समा०—ये समाजकी कलङ्किनी है, वेश्या है।

मुखि०—वेश्याके लिये क्या ठाकुरजीके दर्शनका निषेध है?

समा०—दर्शन निषिद्ध न हो परन्तु पास आकर स्पर्शन जरूर निषिद्ध है।

मुखि०—यह आपको किसने समझाया है? वड़े-बड़े पीठस्थानोंमें क्या होता है?

समा०—बड़े धामोंके लिये कोई नियम नहीं।

मुखि०—तो किसी मन्दिरमें भी यह नियम नहीं है। मेरा विश्वास है कि पापी-से-पापीके स्पर्शसे भी भगवान् अपवित्र नहीं होते।

समा०—तो फिर पञ्चामृत आदिसे श्रीअङ्गशोधनकी व्यवस्था क्यों है?

मुखि०—यह है अपने लोगोंके लिये, ठाकुरजीके लिये नहीं। भक्तलोग ठाकुरजीके शोधनका यत्न करके अपने मनका शोधन करते हैं। जो भगवान् हैं, चर और अचरके स्वामी हैं, वह कभी अपवित्र नहीं होते। खैर, ठाकुरजीको तो इसने स्पर्श भी नहीं किया था। यह तो केवल चौकसे आगे आकर जगमोहनमें खड़ी हो गयी है। क्या इसीसे मन्दिर अपवित्र हो गया?

समा०—हो क्यों नहीं गया?

समाधानीजीको बहुत आगे बढ़ते देखकर प्रशान्त महासागरमें भी एक लहर उठी, मुखियाजीने ज़रा उत्तेजनाके स्वरमें कहा—'अच्छा, प्रत्यक्ष देवता इन श्रीमदनमोहनजीके सम्मुख खड़े रहकर क्या आप यह कह सकते हैं कि आप और मैं इस मन्दिरमें खड़े रहकर मन्दिरको अपवित्र नहीं करते? समाजमें चाहे यह प्रत्यक्षरूपसे कलङ्किनी है परन्तु क्या आप और मैं अन्दरसे भी दूधके धोये ही निकलेंगे? यौवनकी बातोंको याद करके सच्चे हृदयसे कहिये तो देखें?'

समाधानी महाशय इस बार सहम गये। थोड़ी देर चुप रहकर कमलाकी तरफ देखकर बोले—'क्यों री! क्या आज फिर चौक धोने आयी है? जा, जिस जगह नित्य जल ढालती आयी है वहीं जल ढाल दे।'

मुखियाजीने पूछा—'नित्य कहाँ जल ढालती है?'

समा०—मन्दिरके बगीचेमें।

मुखि०—चलिये देखें।

दोनों वहाँसे उतरकर मन्दिरके समीप बगीचेमें पहुँचे। वहाँ एक पेड़के नीचे प्रतिदिन जल ढालनेसे पड़ा हुआ *एक गड्ढा दीखता था।* उसको दिखाकर समाधानीजीने कहा—'यह अभागिन नित्य यहीं जल ढालती है।'

मुखि०—जल कहाँसे लाती है?

समा०—यह कौन जाने, परन्तु लोग कहते हैं कि नित्य यमुनास्नानको जाती है फिर वहाँसे आकर नित्य ही यहाँ जलका अर्घ्य देती है।

मुखि०—यह जल ठाकुरजीके जलघरमें क्यों नहीं देती?

समा०—क्या कलङ्किनीके छुए जलसे देव-सेवा हो सकती है? एक वर्ष पहले आजके ही दिन *जगमोहन* धोनेके लिये वह आयी थी, वही धोने नहीं दिया, फिर उसका जल सेवामें तो क्या काम आयेगा?

मुखि०—आपके विचारसे काम न आवे, मैं काममें लूँगा। कहकर वह मन्दिरमें लौट आये। वहाँ आकर देखा कि जलका भरा कलसा लिये जगमोहनमें चढ़नेकी सीढ़ीके पास उसी तरह नीचा मस्तक किये कमला खड़ी है। मुखियाजीने कहा—'तुम जल ठाकुरजीके जलघरमें ले चलो।'

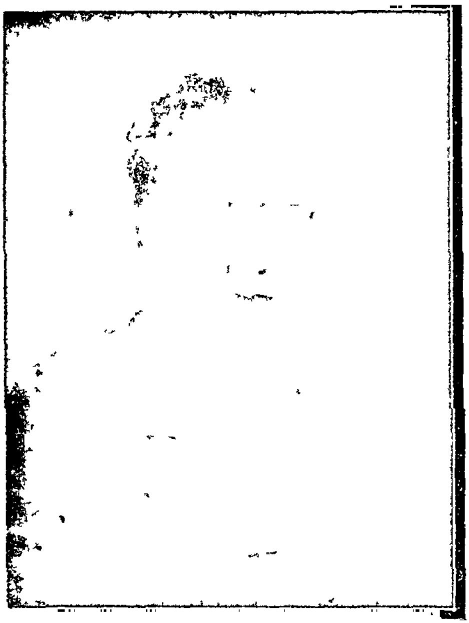
कमलाको इस बातपर विश्वास नहीं आया। उसने पीछे फिरकर देखा, शायद और किसीके प्रति यह बात कही गयी है। किन्तु अपने पीछे किसीको न देखा। अब *आश्चर्यभरी दृष्टिसे उसने मुखियाजीकी ओर देखा।* उन्होंने फिर कहा—'यह जल जलघरमें ले चलो।'

असमञ्जसमें पड़ी कमला बड़े संकोचसे दो-चार पैंड आगे बढ़कर जगमोहनमें खड़ी हो गयी। यह स्थान उसके लिये परमपावन तीर्थक्षेत्र था। उस स्थानपर वह आजतक नहीं आ पायी थी। जो लोग यहाँ खड़े रहकर ठाकुरजीका दर्शन करते थे उन्हें वह बड़ा भाग्यवान् समझती थी। इस सौभाग्यके लिये उसने कई बार आँसू टपकाये थे। आज कमला ठाकुरजीकी कृपासे उसी स्थानमें खड़ी है।

कमला जलघरमें नहीं गयी। जगमोहनमें एक तरफ थोड़ी जगह दो बार हाथसे धोकर घड़ेको रख दिया। मुखियाजी स्वयं उसे उठाकर जलघरमें ले गये और थोड़ी ही देरमें घड़ेको खाली कर ले आये। आकर देखा कि कमला प्राङ्गणकी धूलिमें लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर रही है। जिस समय उठकर वह खड़ी हुई उस समय उसके कपोल और छातीसे होकर अश्रुधाराएँ बह रही थीं। देवोपम मुखियाजीने उसे लक्ष्यकर कहा—'बेटी! तुम जिस भक्तिसे ठाकुरजीके दर्शन करती आयी हो, मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी वह भक्ति अक्षय हो। भक्तिप्लुतचित्तसे ठाकुरजीको *लक्ष्य* करके चाहे किसी भी स्थानपर अर्घ्य दिया जाय, ठाकुरजी उसे प्रेमसे ग्रहण करते हैं। ठाकुरजी आगे-पीछे भी कुछ नहीं गिनते। वे ब्राह्मण *या शूद्र, गङ्गाजल वा साधारण पानी, इनमें भेदकी दृष्टि नहीं* डालते। वह तो चाहते हैं केवल भक्तका हृदय। तुम उनको अपना हृदय दे दो। अपने पापोंके लिये रोओ। *तुम्हारे सब पाप धुल जायँगे।'* मुखियाजीके चरणोंमें प्रणाम करके कमला घर लौट आयी।

(५)

घरके *आँगनमें* आमके वृक्षके नीचे बैठकर एक युवा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। उसने कमलासे पूछा—'आज इतनी देर क्यों हुई?'



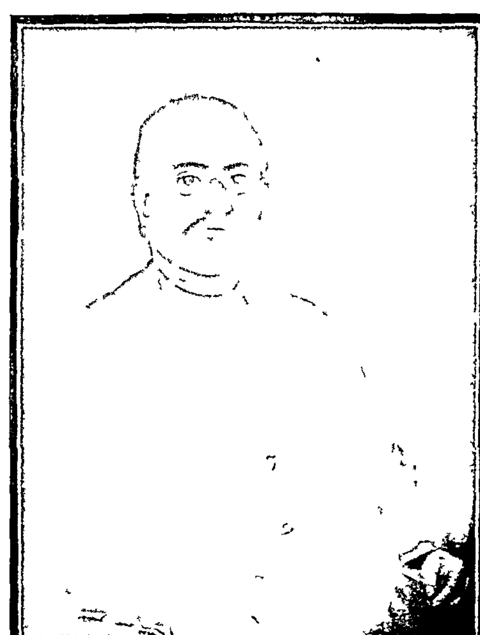
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर



देवेन्द्रनाथ ठाकुर



स्वामी दयानन्द



केशवचन्द्र सेन

कमला कुछ जवाब न देकर अपने कोठेमें चली गयी और अन्दरसे उसने किवाड़ बन्द कर लिये। वह मट्टीभरी भूमिपर लोटती हुई रोने लगी। उस रोनेका अन्त न था, विश्राम भी न था। किसीको मालूम न हो इसलिये मुखमें कपड़ा ठूँसकर चुपचाप रोने लगी। उसके मनमें निरन्तर यही घूम रहा था कि—'पापोंके लिये रोओ। तुम्हारे सब पाप धुल जायँगे।' रोती हुई कमला भगवान्‌को लक्ष्य करके मन-ही-मन कहने लगी—'ठाकुरजी! मैं जीवनपर्यन्त निरन्तर रोऊँगी। रो-रोकर अपनी छातीका रक्त आँखोंके द्वारा बाहर निकाल दूँगी। हे दयामय! मेरे पापोंको धो दीजिये।'

उसी समय किसीने दरवाजेको खटखटाया। कमला चौंककर बिजलीकी तरह एकदम उठ खड़ी हुई। बड़े यत्नसे उसने अपनेको सँभाला। आँखोंका जल पोंछ डाला। किन्तु किवाड़ नहीं खोले। शय्यापर निश्चल होकर अपने अदृष्टकी बातें सोचने लगी। दरवाजेपर जोर-जोरसे धक्के पड़ने लगे, किन्तु कमलाने उसपर दृष्टितक नहीं डाली। थोड़ी देर पीछे अपने मनमें कोई विचार स्थिर करके उसने द्वार खोल दिया।

द्वारपर वही युवा हाथमें हुक्का लिये खड़ा था। उसने कहा—'मालूम होता है कमले! फिर तुम रो रही थी।'

कमलाने जवाब नहीं दिया। युवाने कहा—'क्यों रो-रोकर अपने देहको छोड़ना चाहती हो कमला!'

कम०—देहके रखनेसे क्या सुख है?

युवा—सुख? जितने दिन पृथिवीपर रहा जाय उतने दिन सुख ही है।

कम०—उतने ही दिन दुःख है। निरन्तर पाप-स्मृतिकी यन्त्रणा है।

युवा—तुम घर छोड़कर मेरे साथ चली आयी हो, क्या इसीका यह दुःख है? इसीसे क्या तुम बराबर रोती हो? पहले तो तुम्हारी यह बात न थी। वर्षभरसे तुममें यह परिवर्तन देखता हूँ। आज सच-सच कह दो! क्या करनेसे तुम फिर वैसी ही हो सकती हो?

कम०—वैसा होना अब कठिन ही नहीं, असम्भव है। मैं जो कुछ छोड़कर आयी हूँ, उसे कोई अब लौटाकर पीछा नहीं दे सकता।

युवा—खैर, इसे जाने दो। यह बतलाओ इतना रोती क्यों हो?

कम०—रोती क्यों हूँ? छाती चीरकर दिखाये विना शब्दोंसे यह समझाया नहीं जा सकता।

युवा—कमले! मैं ही तुम्हारे सब दुःखोंका मूल हूँ। तुम सुखसे पिता-माता, राजाओंका-सा वैभव लिये संसार चला रही थी। मैं न जाने किस खोटे मुहूर्तमें तुम्हारे रूप और गुणोंपर मुग्ध होकर तुम्हें चाहने लगा था। यदि मैं केवल प्रेम करके ही रह जाता तो भी तुम्हारे हृदयमें आज यह अग्नि नहीं जलती। मैंने अपने प्रेमको तुमपर प्रकट किया। तुमने भी उसका प्रतिदान दिया। कमला! कहो, अब किस उपायसे तुम सुखी हो सकती हो?

कम०—क्या तुम वह कर सकोगे?

युवा—कर सकूँगा। प्राण देनेसे भी यदि तुम मुहूर्त-भरके लिये भी सुखी होओ तो मैं उसके लिये तैयार हूँ।

कम०—तो तुम मुझे छोड़कर अपने घर लौट जाओ।

युवा—घरमें मेरा कौन है कमला?

कम०—घरमें तुम्हारे स्त्री-पुत्र-धन-जन सब कुछ तो है।

युवा—किन्तु कमला नहीं।

कम०—कमला पाप है, स्त्री पुण्य। इतने दिन पापकी सेवा की थी, अब पुण्यका परिचय करो।

युवा—कमलाकी तुलनामें स्त्री?

कम०—स्त्रीके चरणोंके नीचे सैकड़ों कमलाएँ लोटती हैं। एक बार लौट जाकर तुम देखो तो सही।

युवा—कमला तुम जिस मार्गमें जाना चाहती हो, मुझे भी उसका साथी बना लो। तुम्हें छोड़कर मैं नहीं रह सकूँगा।

कम०—जिस सुखकी आशासे मेरा संसर्ग चाहते हो, वह सुख अब नहीं पा सकोगे। तुम्हारा सुख स्त्रीके संसर्गमें है। मेरा सुख स्वर्गगत स्वामीके चरणतलमें। मार्ग बिलकुल अलग-अलग हैं। मुझे छोड़कर घर चले जाओ। नहीं तो ······।

युवा—नहीं तो क्या करोगी कमला?

कम०—नहीं तो, मैं ही इस घरको छोड़ जाऊँगी।

युवा—इतने प्रेमका यह प्रतिदान?

कम०—मेरे सम्मुख तुम्हारे प्रेमका अब मूल्य नहीं।

युवा—कमला! कमला! इतने दिन पीछे ... वियोग हो ही गया?

कमला अब उस जगह खड़ी नहीं रह सकी। वहाँसे दूसरी तरफ चली गयी।

(६)

एक वर्ष व्यतीत हो गया है। कमला अब अकेली है। अपने मनसे घरका काम करती है और चिन्ता करती है। घरके कामका अन्त है किन्तु चिन्ताका अवसान नहीं। अनन्त विचारसमूहोंको अपने हृदयमें दबाये हुए जलसे भरे गम्भीर मेघखण्डकी तरह कमला चारों तरफ चलती फिरती है।

कमला पूजा नहीं करती, जप-तप कुछ भी नहीं करती। वह केवल एक कलसा यमुनाजलका भरकर मदनमोहनजीके मन्दिरमें दे आती है। वहाँ ही उसका सब कार्य समाप्त हो जाता है।

निस्तब्ध रात्रिमें जब समस्त पृथिवी बेखबर होकर सोती, उस समय कमला चुपचाप उठकर श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरके सम्मुख पहुँचती। दरवाजेके आगे धूलिमें लोटकर बहुत देरतक रोती रहती। इस तरह वह प्रतिदिन करती। शीत-वर्षा कुछ भी नहीं गिनती। कमला किसीके भी घर नहीं जाती। उसके भी घर कोई नहीं आता। कमला किसीके भी साथ बातचीत नहीं करती, दूसरा भी कोई उससे बातचीत करनेके लिये लालायित न था। वह अकेली रोती। सप्ताहमें एक दिन बाज़ार जाती। वहाँसे दाल-चावल जो कुछ भी ला सकती, उसीसे अपने दिन काटती। दाल, चावल, लवण और नाममात्रको घी इनके सिवा वह कुछ नहीं खाती, खानेकी इच्छा भी नहीं होती।

कमलाके पास रूप और यौवन दोनों ही थे। जहाँ ये दोनों होते हैं वहीं विपत्ति साथ है। कोई-कोई उसका पीछा करता। कमलाने एक दिन अपने हाथसे अपनी वह निविड केशराशि काट डाली। ताते लोहेसे कपोल और छातीको जलाकर विरूप बना डाला। उस दिनसे कोई पुरुष उसकी तरफ फिरकर देखता तक नहीं।

कमलाके पास कुछ रुपये और गहने थे। यमुना-स्नान करके लौटती बार वह उसमेंसे गरीब-दुखियोंको बाँट देती। यह धन पापसे कमाया न था। पिताका घर छोड़ते समय वह साथ लायी थी। सो भी ठाकुरजीकी सेवामें इस पैसेको लगानेका कमलाको साहस नहीं होता था। यमुनाके किनारेपर अगर कहीं उसे अच्छे फूल दिखायी देते उन्हें अवश्य ठाकुरजीके लिये ले जाती।

जगमोहनमें दूर खड़ी हुई कमला एक दिन ठाकुरजीके दर्शन कर रही थी। जब उसने देखा कि मेरे लाये हुए फूलोंसे ठाकुरजीके दोनों चरण ढके हुए हैं तब वह भक्ति और आनन्दसे अधीर होकर रो उठी। उसने ठाकुरजीको प्रणाम नहीं किया। 'हे मदनमोहनजी' कहकर एक दफा पुकारा भी नहीं। वह केवल रोने लग गयी। उस दिनसे आनन्द-विह्वलचित्त हुई कमलाके उसी दशामें कितने ही दिन बीत गये।

कमला प्रतिदिन ठाकुरजीकी सेवाके लिये यमुनाजल दे आती। फूल मिलनेपर फूल दे आती। कभी-कभी माला गूँथकर ठाकुरजीके लिये दे आती। समाधानीजी अब कोई आपत्ति नहीं करते। कमला ठाकुरजीके लिये जो कुछ दे आती उसे वह सादर ग्रहण करते।

इस तरह एक वर्ष और बीत गया। कमलाने एक दिन वकीलके घर जाकर एक दानपत्र लिखवाया। उसकी स्थावर अस्थावर जो कुछ सम्पत्ति थी, उसको इस दानपत्रके द्वारा मदनमोहनजीके अर्पण कर दिया। दानपत्र मदनमोहनजीके मन्दिरमें रखकर कमला फिर मथुरामें दिखायी नहीं दी। कहाँ गयी, किसीको मालूम न हो सका।

(७)

कमला घर छोड़कर कौड़ी भी साथ न ले केवल एक साड़ी ही पहिने जगदीशके लिये रवाना हुई। रास्ता जानती नहीं, आने-जानेवालोंसे पूछकर आगे बढ़ती है। पासमें एक पैसा नहीं, भिक्षा माँगकर पेट भरती है। दिन-पर-दिन बीतने लगे। कमला बड़े उत्साहसे मार्गमें आगे बढ़ने लगी। इस तरह कई मास बीत गये। अभी जगदीशपुरी बहुत दूर थी। कमलासे अब पहलेकी तरह मार्ग नहीं चला जाता। कभी उपवास, कभी आधे पेट, यों करते-करते वह बिल्कुल दुर्बल हो गयी। उत्साह धीरे-धीरे मन्द पड़ गया। चलनेकी शक्ति क्रम-क्रमसे घट चुकी है। कमला इस समय ध्यान करने लगी—'भगवन्! अब मेरी क्या गति होगी?'

कमला एक दिन रास्ता चलते-चलते एकदम थक गयी। सन्ध्याके समय ही वह रास्तेके किनारे एक वृक्षके नीचे सो गयी। सोती-सोती सोचने लगी—'मालूम होता

है मेरे भाग्यमें जगदीशका दर्शन नहीं बदा है । जो वहाँ एक वार चला जाता है उसके पाप कट जाते हैं। मैं रो नहीं सकी, इसीलिये मेरे पाप नहीं धुले । जगन्नाथजीके दर्शनको चली थी, मालूम होता है वह भी भाग्यमें नहीं है । हे ठाकुरजी ! मेरा क्या होनहार है? इस पाप-भारको उठानेकी अब मुझमें शक्ति नहीं ।'

सोचते-सोचते कमलाको निद्रा आ गयी। स्वप्नमें उसने देखा कि मध्याकाशमें एक मनोहर मूर्ति विराजमान है । वह देखने लगी—जिस जगह तारे खिलते हैं, चन्द्रमा सुशोभित होता है, उस स्थानपर नवजलधरश्याम, कमलदललोचन श्रीमदनमोहन वङ्किम-भंगिमा-से खड़े वंशी वजा रहे हैं । उनके ओष्ठोंमें हास्य, नयनोंमें करुणा विराजमान है । शत-शत चन्द्रमाओंके प्रतिविम्ब उनके नखोंमें पड़ रहे हैं । लक्ष-लक्ष नक्षत्र उनके चरणतलमें लोट रहे हैं । आकाश, पृथिवी सब लुप्त हो चुके हैं । सब जगत्का तेज इकट्ठा होकर उस मूर्तिको घेरे हुए है । कमलाने नींदमें ही पुलकित शरीर होकर पूछा—'क्या आप ही श्रीहरि हैं'

उत्तर मिला —'हाँ'

'क्या आप मुझे दर्शन देने आये हैं ?'

'ना'

'मैं आपके दर्शन करने जगदीशपुरी जा रही हूँ ।'

'मैं जगदीशपुरीमें नहीं रहता ।'

'तव कहाँ रहते हैं ?'

'मैं मनुष्योंके हृदयमें रहता हूँ । जो मुझको पुकार सकता है और मुझे देखना जानता है, वही मेरा दर्शन पा सकता है ।

'मैं पुकारना नहीं जानती । कृपा करके मुझे पुकारना सिखा दीजिये ।'

कोई उत्तर नहीं मिला । कमला आवेगमें फिर कहने लगी—'हे ठाकुरजी ! मुझे आपको पुकारना सिखा दीजिये ।'

इस वार भी कोई जवाव नहीं मिला । देखते-देखते आकाशकी वह मूर्ति मन्द होती-होती आकाशपटमें लीन हो गयी । कमला व्याकुलहृदयसे पुकारने लगी—'हे ठाकुरजी ! वता दीजिये किस उपायसे आप मिलेंगे ?

दिग्दिगन्त प्रतिध्वनित करता हुआ फिर चीत्कार सुनायी दिया—'हे दयामय, वता दीजिये, किसप्रकारसे आप मिलेंगे ?'

उस कातर चीत्कारसे स्थावर-जङ्गम, आकाश-पृथिवी भी पुलकित होकर प्रतिध्वनि करने लगे—'वता दीजिये दयामय ! किस उपायसे आप मिलेंगे ?'

चीत्कार-शब्दसे कमलाकी निद्रा टूट गयी । वह उठकर चारों तरफ देखने लगी । उसने पृथिवी देखी, आकाश देखा, तारे देखे, किन्तु कहीं भी उस मूर्तिको नहीं देखा । निराशाकुल हृदयसे आकाशकी तरफ देखती हुई वह निस्तब्ध बैठी रह गयी ।

स्वप्नमें जो कुछ सुना था, कमलाको सव याद था। कमला एक-एक करके उन वातोंको विचारने लगी । सवेरा हो चला था । कमला वृक्षके नीचेसे उठ खड़ी हुई । जिस रास्ते होकर मथुरासे आयी थी, उसी रास्तेसे मथुराकी तरफ लौट चली ।

(८)

कमलाका भ्रम हट गया । वह अब जगन्नाथपुरी जानेके लिये लालायित नहीं है । कमलाको मालूम हो गया है कि हृदयकी अवस्थाविशेषका नाम ही है 'जगदीशपुरी ।' जव अन्तःकरणमें श्रीराधाकृष्णकी युगल मूर्ति निरन्तर विराजने लगती है तव ही मनुष्यको जगदीशके दर्शन हो पाते हैं । नहीं तो जगदीशपुरीमें पापाकुल हृदयसे चिरकालतक जीवन व्यतीत करनेपर भी मनुष्यको जगन्नाथका दर्शन नहीं होता ।

रास्ता चलते-चलते कमला विचारने लगी—'हाय हाय ! मैंने क्या किया । अज्ञान-अबोध मनके वशीभूत होकर मैं जगन्नाथपुरीकी तरफ दौड़ आयी ! हे मेरे मदनमोहनजी ! अवोध पुत्रीको क्षमा करना । तुम्हारे चरण ही मेरे लिये जगदीशपुरी हैं, तुम्हारे चरण ही मेरे पुण्य-तीर्थ हैं । तुम्हारे चरणोंपर जल ढालते-ढालते ही मैंने पापोंके लिये रोना सीखा है । पत्थर छोड़कर सोना पहिचाना है । तुम ही मेरे जगदीशपुरीके जगदीश हो । तुम ही मेरे वैकुण्ठके स्वामी श्रीहरि हो । हे ठाकुरजी, मेरे अपराधको क्षमा करना ।'

कातरकण्ठसे मदनमोहनजीको पुकारती-पुकारती कमला रास्ता चलने लगी । दिन-पर-दिन—मास-पर-मास व्यतीत होने लगे । कमलासे अव पहलेकी भाँति रास्ता नहीं चला जाता । एक दिनके मार्गमें दस दिन लग जाते हैं । उपवासोंसे क्षीण थके-माँदे देहको किसी तरह घसीटती हुई बड़ी मुश्किलसे वह मथुरा

उस दिन यमद्वितीयाका पुण्यपर्व था, किन्तु कमलाको मालूम न था। रास्ते-घाटोंपर चारों तरफ लोगोंकी भीड़ थी। सबका मुख यमुनाकी तरफ था। कौतुकवश हो कमलाने एक स्त्रीसे पूछा—'हैं री! तुमलोग सब कहाँ जा रही हो?' स्त्रीने झनखाकर जवाब दिया—'मर अभागिन! क्या तुझे यह भी मालूम नहीं है कि आज 'यमद्वितीया' है।'

कमला भी यमुनाजी नहाने चल पड़ी।

यमुनाजीके जलमें कण्ठपर्यन्त डूबकर कमला विचारने लगी—'आज फिर वही यमद्वितीयाका दिन है। इसी दिन मैंने व्रत ग्रहण किया था, आज इस ही दिन व्रतका उद्यापन करूँगी। हे मा यमुने! मेरे पाप धो डालो। इस देहभारसे मुझे मुक्त कर दो मा! मा मा!……'

इससे आगे बोला न गया। दोनों गालोंपर होकर निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी। दोनों आँखोंके दो प्रवाह यमुनाप्रवाहमें मिल रहे थे।

स्नान करके कमला मदनमोहनजीके मन्दिरकी तरफ चल पड़ी। उसके देहमें न जाने कहाँसे इस समय नवीन शक्ति आ गयी थी, मनमें नया उत्साह भर गया था। वह इस लम्बे रास्तेको बहुत थोड़े समयमें लाँघकर अति शीघ्रतासे मन्दिरके आँगनमें आ उपस्थित हुई।

उस समय दर्शन खुल गये थे। सङ्कोचरहित कमला धड़धड़ाती हुई जगमोहनमें पहुँच एकचित्तसे ठाकुरजीके दर्शन करने लगी। उस दिन वृद्ध मुखियाजी सेवामें स्वयं उपस्थित थे। आरतीके अनन्तर पीछे फिरकर उन्होंने देखा कि कमला खड़ी है। देखते ही वह उसे पहचान गये। उन्होंने कहा—'आज बहुत दिन पीछे लौटी हो, ठाकुरजीको प्रणाम करो बेटी!'

कमला ठाकुरजीके चरणोंसे नेत्रोंको न हटाती हुई ही बोली—'किसको प्रणाम करूँ? ठाकुरजीको? उनके चरणोंमें मैं नित्य कोटि-कोटि प्रणाम करती आयी हूँ। उनके चरणोंमें मैं लोटा करती हूँ। मैं उन्हींके चरणोंपर मस्तक रक्खे हुए पड़ी हूँ। अब कहाँ माथा टेककर किसे प्रणाम करूँगी?'

मुखियाजीको विस्मय हुआ। थोड़ी देर निस्तब्ध रहकर उन्होंने पूछा—'चरणामृत लोगी?'

कमला—'चरणामृत? चरणामृत कहाँ दोगे? मुखमें स्थान नहीं। समस्त देहपर मदनमोहनजीका अधिकार हो चुका। मस्तकपर मदनमोहन, जिह्वापर मदनमोहन। चरणामृत कहाँ दोगे?'

मुखियाजीको आश्चर्यके साथ-साथ कमलापर असीम श्रद्धा हो उठी। उन्होंने पूछा—'क्या ठाकुरजीका प्रसादी-पुष्प लोगी?'

कमला—फूल? दो। उनके चरणोंके पुष्प उनके चरणोंपर ही चढ़ा दो।

कहकर कमलाने अपना पैर आगे बढ़ा दिया। महानुभाव मुखियाजी बड़े ज्ञानी थे, तो भी कमलाके पाँवपर प्रसादी-फूल चढ़ानेका साहस उन्हें न हुआ।

कमलाने किसी तरफ भी फिरकर न देखा। उसके दोनों नेत्र बन्द हो गये। वह ध्यानमग्न होकर धमसे वहीं बैठ गयी। वह ध्यान फिर कभी भङ्ग न हुआ और न वह नेत्र ही फिर कभी खुले! कमला मदनमोहनजीमें मिलकर मदनमोहनजी बन गयी!

सन्ध्याके समय परमदयालु मुखियाजी कमलाके देहको स्वयं वहन करके यमुनातटपर अग्निसंस्कार कर आये!!

ईश्वर-श्रद्धा

दर्शन-शास्त्र चाहे जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करें, अध्यात्म चाहे जहाँ जाय, परन्तु जबतक इस संसारमें मृत्यु है, जबतक मनुष्य-हृदयमें कमजोरी है और जबतक उस कमजोरीकी अवस्थामें मनुष्यके हृदयसे पुकार उठती है तबतक संसारमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा बनी ही रहेगी। —स्वामी विवेकानन्द

ईश्वर-प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ *

(लेखक—पं० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके । यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥

लोक-मर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है । प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्' अर्थात् गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है । इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है। क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीर-सुखकी इच्छा नहीं थी । वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त । इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है । इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं । पूर्वराग, मिलन, विछोह या विरह ।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषयभोग कुछ भी नहीं सुहाते । सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है । रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेमियोंकी भिन्न-भिन्न दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है । इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक भावोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ भावोंका वर्णन करते हैं । वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-भंग, पुलक और प्रलय । अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये—

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना । मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं ।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय, उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं । अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी । उन्होंने स्वयं कहा है—

'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।'

अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं ।

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना, या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना इसे 'स्वेद' कहते हैं ।

अश्रु—विना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं । हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं, वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं । शोकके आँसू गरम होते हैं और वे बीचसे ही बहते हैं ।

स्वर-भंग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके । उसे 'स्वरभेद' 'गद्गद्' या स्वर-भंग कहते हैं ।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं । उसका असली स्वरूप है, 'आकृतिका बदल जाना ।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे पुलक या रोमाञ्च कहते हैं ।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी आ जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं । 'बेहोश होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़नेका नाम प्रलय है ।'

उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु ईश्वर-प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं ।

पहले हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विछोह ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं । अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये—

---

* गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाली श्रीश्रीचैतन्य-चरितावलीके अमुद्रित पञ्चम खण्डके एक अध्यायका कुछ अंश ।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है। इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

> हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
> हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
> हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
> हा ! हा ! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ?

हे देव ! हे दयालो ! हे विश्वमें एकमात्र बन्धु ! ओ काले ! अरे ओ चपल ! हे करुणाके सागर ! हे स्वामिन् ! हे मेरे साथ रमण करनेवाले ! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश ! तुम कब मुझे दर्शन दोगे ?

इस श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो, तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है !

अब दूसरा है, सम्मिलन-सुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-सुखको तो दो एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे ? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसंगवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन-सुखको तो सिर्फ वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

> ए री ! आज-कालिह सब लोक-लाज त्यागि दोऊ,
> सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
> यह रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहे,
> कहाँलौं सयानी ! चन्द हाथन छिपायबो॥
> आज हौं निहारयो बीर, निपट कलिन्दी तीर,
> दोउनको दोउन सौं मुख मुसकायबो।
> दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ,
> उन्हें, भूल गयीं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है। वह भी कालिन्दीकूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ ?

> 'दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
> उन्हें, भूल गयीं गैयाँ, इन्हें गागर उठायबो ॥'

-कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको।

अब तीसरी दशा है विरहकी। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरीसे श्रेष्ठ हैं। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

> बिरहा-बिरहा मत कहो, बिरहा है सुलतान।
> जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

विरहके भी तीन भेद हैं। भविष्य-विरह, वर्तमान-विरह और भूत-विरह। इनमें भी परस्परमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही कलेजेमें जो एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी-विरह' है।

ऐसी विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विछोहमें सभीके हृदयमें होती है, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी-विरह-वेदना हुई, वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किन्तु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमूढ़-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापका मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—राधिकाजी कह रही हैं—

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके कमल-मुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी।' यह भावी-विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धड़कन होती है। सीनेमें कोई मानो साथ ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही 'वर्तमान-विरह' कहते हैं।

गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओंकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमरवाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है—

> एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं,
> व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
> विसृज्य लज्जां रुरुदुःस्म सुस्वरं,
> गोविन्द! दामोदर! माधवेति॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसे कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुई, नाना भाँतिके आर्त-वचनोंको कहती हुई और लोक-लाज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव! हा दामोदर! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान-विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं। इसी द्विविधाका नाम 'भूत-विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य ही है, किन्तु पता नहीं वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायँ! बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

> चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
> प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥
> (उज्ज्वलनीलमणि श्लो० ६४)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रज-भाषा-गगनके परम प्रकाशवान् 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

> नाहिंन रह्यो हियमें ठौर।
> नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
> चलत, चितवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोवत रात।
> हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥

कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात॥
श्याम गात सरोज-आनन ललित-गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है, यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

या पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि! योषितः।
अस्माकन्तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥
(पद्यावली)

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्ण-के साथ ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' धन्य है, निद्रा आवे कहाँ, आँखोंमें तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं!

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

ब्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहे पिआओ॥
जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे! कोउ
हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न! भला कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये—

कृशता—प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुण-स्वरसे श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठि बहुरि सम्हारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आशा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्र खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी श्रीराधाकी 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उद्वेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृत्यु-तककी दशों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्यु-तुल्य अवस्था' ही बताया है। श्रीराधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्यु-तुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता—'शरीरकी सुधि न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं। इसे ही 'मलिनता' या 'मलिनाङ्गता' कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

'तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।'

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है। श्रीसीताजीकी खोजमें श्रीलक्ष्मणजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी वनोंमें फिर रहे हैं। हृदयमें भारी विरह है,



ऋषि-आश्रम

अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे ! स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ ! नाथ ! किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः ।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे! देव्यागतिर्मृग्यते
का देवी ? जनकाधिराजतनया, हा ! जानकि ! कासि हा !!

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया ! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही ।'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो ! आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान् ?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम ।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा, तुम कौन हो ?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन् ! हे दयालो ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं ? मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जङ्गलोंमें क्यों घूम रहे हैं ?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम देवीकी खोज कर रहे हैं ।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी ?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी ।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते ! हा जानकि ! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्छित हो जाते हैं। इन बे-सिर पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणवश जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं । विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है । उदाहरण लीजिये । श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि ।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्माज्वरः ॥

(ललितमाधव नाटक)

'हे सखि ! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेद-ज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है । यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है । पृथ्वीपर जितने जहर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह है, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा तीव्र विसूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है । प्यारी सखि ! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है ।' इसीका नाम 'विरह-व्याधि' है ।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है, तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं । उदाहरण लीजिये । उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु ।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता ॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! श्रीराधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है, चेतन-अवस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है । कभी धूलिमें ही लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने ही लगती है । हे मुरारे ! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-खेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है ।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी 'उन्मादिनी'का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे 'विरहोन्माद' न कहकर 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा । सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी गोपी,
दुखी-सी रहति कछु नाहीं सुधि देहकी ।

मोही-सी, लुभाई, कछु मोदक-सो खाये सदा,
विसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी॥
रिस भरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी।
पूँछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी॥

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है, उसे 'मोह' कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिचन्द्रजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये, मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूखि झाँझरी सी है कै देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूरि जान॥
'हरीचन्द' रावरे विरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आयो प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती तो ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण, प्राणनाथकी आशासे ही अटके हुए हैं। 'मोह' की दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रातके दुखसे बचे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना।' इसका दृष्टान्त लीजिये। बँगलाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर-वाणीमें ही ब्रजवासियोंकी दशमी दशाका दर्शन कीजिये—

माधव! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन, गणि कत राखब, ब्रजबधु-जीवन-शेल॥१॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल, कोइ-कोइ लुठइ निकुञ्ज॥२॥
पतदिन विरहे, मरण-पथ पेखलु, तोहे तिरिवध पुनपुञ्ज॥३॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरि परान॥४॥
जीवन मरण, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान॥५॥

दूती कह रही है—'प्यारे माधव! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये? दुनियाभरके झूठे, कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इसप्रकार झूठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहोगे। अब तुम्हें ब्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ, वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लम्बी-लम्बी साँसें ले रही हैं। इसप्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ दिन-रात्रिको बिता रही हैं। तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उन मछलियोंकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हों और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिसप्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं, किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो!'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और पुनः मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान प्रवर्धनशील कहा गया है। (प्रतिक्षणवर्द्धमानम्) अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीप तक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ' महाभाव और 'अधिरूढ' महाभाव दो भेद बताये गये हैं। 'अधिरूढ' महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्घूर्णा, चित्र, जल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ

था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके निम्नांकित श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रक्खा है, ऐसा अवशचित्त पुरुष संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ अपने प्यारे श्रीकृष्णके नामसंकीर्तनमें अनुरागवश कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी थिरक-थिरककर नृत्य करने लगता है।

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो धातु साथ ही हैं। इससे खूब जोरोंसे ठाह मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। 'रू' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द आप-से-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभवगम्य विषय है, श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशा बतायी गयी हैं। (१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भाव-शावल्य और (४) भाव-शान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भाव-शावल्य कहते हैं। जैसे 'पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयंकर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ।' इसी प्रकार इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-शान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरह-भाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय, दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूप-माधुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय, तब सभी बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो आप-से-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, त्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-से-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किन्तु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रक्खा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

> तदश्मसारं हृदयं बतेदं
> यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
> न विक्रियेताथ यदाविकारो,
> नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फौलादकी तरह—समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-स्मरण-मात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो

जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमेंसे जलकी धारा बहने लगेगी, कब हम 'गद्गद् कण्ठसे 'कृष्ण कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। १८ वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी, कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौर-भक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुड-स्तम्भके समीप, जगमोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक दो-दिन नहीं, साल दो साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका जगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बन्द नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्ण भावसे चलता रहा। वैष्णव भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुर गूँज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

पुकार

(लेखिका—श्रीमती यशोदादेवी, धर्मपत्नी मु० कन्हैयालालजी एडवोकेट)

[कहानी]

(१)

तुम करुणाके सागर तुम पालनकर्ता,
मैं अबोध अज्ञानी कृपा करो भर्ता,
ओ३म् जय जगदीश हरे।
तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तरयामी,
पारब्रह्म परमेश्वर तुम सबके स्वामी,
ओ३म् जय जगदीश हरे।
जय जगदीश हरे, प्रभु जय जगदीश हरे।

आरती खतम हो गयी, घण्टा, शंख, घड़ियाल रख दिये गये। सबने एकस्वरसे चिल्लाकर कहा, बोलो—परमपिता परमात्माकी जय। जगत्पतिकी जय।

सबने सिर नवाये। पर एक प्रौढ़ा उसी तरह सिर झुकाये बैठी रही। आरती करनेवाले प्रौढ़ने कहा—'प्रिये! क्या आज भजन न गाओगी?'

प्रौढ़ाने सिर उठाया, उस समय उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। बड़े कष्टसे उसने कहा—'देव, क्या इतने दिनोंकी सेवाका यही फल मिल रहा है?'

प्रौढ़—प्रिये, शान्त होओ, धैर्य धारण करो, वह दीनोंके नाथ, अशरणोंको शरण देनेवाले जो कुछ कर रहे हैं, अच्छा ही कर रहे हैं। आज तुम कैसी पगली हो गयी हो?

प्रौढ़ा—अगर उनको दया आती तो क्या हम गरीबोंकी आह न सुनते? आह! मेरे बच्चे भूखा मर रहे हैं, मेरी सुकुमार बच्चियाँ बिलख रही हैं। ठाकुरजीकी सेवा क्या यों ही निरर्थक जा रही है?

प्रौढ़—न कहो प्रिये, ऐसा न कहो। आज तुम बच्चोंकी बिलख, बच्चियोंकी तड़प देखकर अधीर हो रही हो। निश्चय रक्खो, वे सब मंगल कर रहे हैं। वे हमलोगोंकी परीक्षा ले रहे हैं, इस परीक्षामें हमें उत्तीर्ण होना चाहिये। अधीर न होओ, उठो, शान्त होओ। मुझे बड़ा दुःख हो रहा है कि तुम्हारे विचार आज ऐसे क्यों हो गये?

प्रौढ़ा—देव, क्या करूँ, दुःख सहते-सहते मेरा कलेजा पक गया। सदा सुखमें पले हुए मेरे बच्चे आज जब रोटी माँगेंगे तो मैं क्या दूँगी?

प्रौढ़—बस इसीलिये, इसीलिये भगवान्‌की दयापर सन्देह कर रही थी। अरे, इसके लिये तो मातृ-स्नेह काफी है, जहाँ तुम एक बार बच्चोंको प्यारसे हृदय लगा लोगी,

सारी भूख काफूर हो जायगी। उठो, ठाकुरजीसे अपने आजके इस अपराधके लिये क्षमा माँगो। आइन्दा भूलसे भी कभी ऐसे विचार अपने चित्तमें न लाना। ज़रा सोचो तो सही। नौ महीनेतक पेटमें बच्चेका कौन पालन करता है? उसीकी दयासे तो आज हमलोग हाथ-पैरवाले बने हैं। उसीकी दयासे आज चलने-फिरने और सुननेकी शक्ति बनी है। यह सब उसीकी कृपाका फल है, उसकी असीम दयाको कौन वर्णन कर सकता है? उठो, क्षमा माँगो।' इतना कहकर वे चले गये।

प्रौढ़ा जाकर ठाकुरजीके सिंहासनके समीप खड़ी होकर न जाने कितनी देरतक हाथ जोड़े खड़ी रही। उस समय वह ध्यानमें इतनी निमग्न हो गयी कि उसे दीन-दुनियाँकी खबर न रही। थोड़ी देर बाद एक बच्चेने आकर कहा—अम्मा, भूख लगी है कुछ खानेको दे।

प्रौढ़ाको अब होश हुआ। उसने बच्चेको हृदयसे लगाकर कहा—बेटा! ठाकुरजीको हाथ जोड़ो, वे ही तुम्हें खानेको देंगे।

बच्चेने दोनों नन्हें-नन्हें हाथ जोड़कर कहा—ठाकुरजी महाराज! आज हमें अच्छी-अच्छी चीजें खानेको दो।

उस समय प्रौढ़ाके आँखोंसे आँसूकी धार बह रही थी।

(२)

'अम्मा! आज खानेको क्या बनेगा? सिरकी कलशी उतारती हुई सरोजनीने मातासे पूछा। सरोजनी चौदह-पन्द्रह वर्षकी सुकुमार बालिका थी, वह बाल्यकाल समाप्त करके युवावस्थामें पदार्पण कर रही थी। सरोजनी जैसी सुन्दरी थी वैसी ही सुशीला भी थी। सिरकी कलशी नीचे रख हाथकी धोती अरगनीपर फैलाकर वह आँगनमें खड़ी हो गयी।

माँ उस समय न जाने किस ध्यानमें मग्न थी, कुछ न बोली। सरोजनीने अपनी छोटी बहिन सरलासे पूछा—'सरला! बाबूजी कहाँ हैं?'

सरला—मुझे नहीं मालूम दीदी! आज जब तुम नहाने गयी, अम्मा बहुत रो रही थीं।

सरोजनी—तुझे मालूम है सरला! अम्मा क्यों रो रही थीं?

सरला—मुझे तो नहीं मालूम दीदी!

सरोजनी माताके पास जाकर बैठ गयी, उस समय उसकी माँ हाथमें शायद कोई कुरता लेकर सी रही थी। सीनेमें वह ऐसी तन्मय हो रही थी कि उलटा-पुलटा कुरता सी रही थी परन्तु उसे इतना ज्ञान न था कि वह क्या कर रही है। सरोजनीने हाथसे कुरता ले लिया और बोली—माँ, देखो न, तुम उलटा कुरता सी रही हो? आज कैसे बैठी हो?

अब माताको अपनी तन्मयताका ज्ञान हुआ, उसने कहा—हाँ बेटी, भूल गयी, तुम कब नहाकर आयी।

सरोजनी—मैं तो बहुत देरसे आयी हूँ, मैं पूछ रही थी कि खानेको क्या बनाऊँ, अभी राजू, विरजू भूखे आते होंगे।

माँ—'देखो बेटी, शायद मटकीमें कुछ आटा हो, उसीकी रोटियाँ सेंक लो।

सरोजनी—और पिताजी क्या खायेंगे माँ, ऐसी धूपमें कोई निकलनेका साहस नहीं करता, वे कहाँ गये?

माँ—बेटी, वे नौकरीकी तलाशमें गये हैं, कहीं खबर थी।

सरोजनी—माँ! तुम और पिताजी तो चिन्ताके मारे घुले जा रहे हो; उठो न, नहा-धो डालो, कैसा मुँह सूख गया है?

माँ—अभी नहीं बेटी, कुरता पूरा हो जाय, झुन्नूकी अम्माने इसे आज ही माँगा है। तुम जाकर रोटी बना लो।

सरोजनी एक दीर्घ निश्वास छोड़कर उठ खड़ी हुई। भण्डारघरमें जाकर उसने सब मटकियाँ ढूँढ़ डाली, पर किसीमें आटा न था। वह सन्न हो गयी। किस मुँहसे जाकर कहे कि आटा नहीं है। भाई भूखे आते होंगे, पिता भूखे आते होंगे, सरोजनी क्या कहेगी। वह आह करके ज़मीनपर बैठ गयी और रोने लगी। इतनेमें एक साधुने पुकारा—बच्चा भीख दो।

कोई न बोला। फिर साधुने आवाज लगायी। 'बच्चा, साधु भूखा है, एक रोटीका आटा दे जाओ।'

अबकी सरोजनी झल्ला पड़ी। इतनेमें राजू, विरजूने दौड़े-दौड़े स्कूलसे आकर सरोजनीका पल्ला पकड़ लिया और बोले—'दीदी! बड़ी भूख लग रही है, चलो खानेको दो!'

सरोजनी बेचारी बड़े असमञ्जसमें पड़ी, उधर साधु बार-बार हाँक दे रहा था। सरोजनी भाइयोंसे पल्ला छुड़ा

कर दरवाजेके पास जाकर बोली—बाबा ! हमींलोग भूखों मर रहे हैं तुम्हें कहाँसे दें ?'

साधु—न कहो बेटी, ऐसा न कहो। परमात्माकी दयासे तुम्हारे घरमें सब कुछ है।

सरोजनी—बाबा ! तुम तो जिद कर रहे हो, अगर घरमें कुछ होता तो मैं तुमको भिक्षा न देती ! हमारे दरवाजेसे भिक्षुक लौट जाय, इससे क्या मुझे कम दुःख हो रहा है, परमात्मा हम दीनोंकी पुकारको नहीं सुनते। पुकारते-पुकारते थक गयी हूँ।

साधु—न बेटी, उस जगत्पिताकी दयाका पार नहीं है, उसकी सत्ता और महिमाका पार बड़े-बड़े ज्ञानी नहीं पा सकते। तुम भूखी हो, इसी कारण तुम परमात्माको कठोर समझ रही हो। देखो जाकर तुम्हारे घरमें आटा भरा है।' इतना कहकर साधु एक ओरको चल दिया। सरोजनी ठगी-सी खड़ी रह गयी, पास ही माँ और भाई बहिन खड़े थे। माँने कहा—बेटी, चलो घरमें चलें।

सरोजनी—(रोकर)—माँ ! बड़े दुःखकी बात है भिक्षुक भूखा चला गया।

माँ—क्या करूँ बेटी। जो कुछ हो रहा है अच्छा हो रहा है, विपत्तिमें धैर्य धारण करना चाहिये, यह संसार परीक्षागृह है, यह सब परीक्षा हो रही है।

सरोजनीने अन्दर जाकर ढूँढा, पीछेकी ओर जिसे सरोजनी देखना भूल गयी थी, सचमुच एक मटकीमें आटा भरा था, उसने कहा—माँ ! देखो न साधु सच ही कह रहा था कि तुम्हारे घरमें आटा है, मैंने ढूँढा ही नहीं।

माँ—बेटी, उस साधुहीकी कृपाका फल है, सर्वशक्तिमान् परमात्माने भेजा है, दुःखमें हमलोग पागल होकर न जाने क्या क्या कह बैठते हैं ?

बोलो एक बार सर्वशक्तिमान् परमात्माकी जय !

सब बच्चे चिल्लाकर कह उठे, ठाकुरजी महाराजकी जय। माँका मुख आनन्दसे खिल उठा। उसने बच्चोंको प्यारसे गले लगा लिया।

(२)

जयशङ्करप्रसाद काशीके एक कपड़ेकी मिलके मैनेजर थे, काफी आमदनी थी, कम्पनीमें बड़ा मान था, मालिक इनसे बड़ा प्रसन्न रहा करता था, उसे इनपर असीम विश्वास था। ये भी बड़ी सचाईसे काम करते थे, पर अन्य सारे कर्मचारी इनसे जलते थे, क्योंकि उन सबको इनके कारण ऊपरकी आमदनी नहीं होती थी, न तो ये खुद रुपया लूटते, न औरोंको लूटने देते। इनकी साधुता और न्यायप्रियता कर्मचारियोंको असह्य हो रही थी। वे सब मिलकर षड्यन्त्र रचने लगे।

घरमें पत्नी श्यामा और दो लड़के राजमोहन, ब्रजमोहन और दो लड़कियाँ सरला, सरोजनी थीं। ये २५०) तनख्वाहके पाते। उसीमें श्यामा और बच्चे सभी खुश थे, सबसे बढ़कर उनके परिवारमें एक बात बड़ी दृढ़ थी, वह यह कि जयशङ्करप्रसाद और स्त्री-बच्चे सभी परमेश्वरके सच्चे भक्त थे। उनकी भक्ति ऊपरसे दिखावेकी न थी। घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति थी। सुबह-शाम आरती-पूजा होती, बच्चे घण्टा-घड़ियाल बजाते, जयशङ्कर आरती करते और श्यामा भजन गाती। कैसा सुन्दर दृश्य उस समय रहता ! जयशङ्करप्रसाद दिखानेको तो गृहस्थीमें थे, पर मन उनका सदा विरक्त रहता।

समय सदा एक-सा नहीं रहता। संसार कर्मक्षेत्र है, परीक्षाघर है, सबकी परीक्षा होती है। जयशङ्करप्रसादके भी परीक्षाका समय आ गया। विपत्तियाँ कभी पूछकर नहीं आतीं। मिलके मालिकको लोगोंके लगाने-बुझानेसे इनके कार्योंपर सन्देह हो गया। धीरे-धीरे वह सन्देह दृढ होता गया। दुश्मनोंकी चाल सूझी। कम्पनीके दो हजार रुपये गायब हो गये, जयशङ्करप्रसादके हाथमें सारा कार्य था। कार्यकर्ता ही पकड़ा जाता है। बेचारे सन्न हो गये। मुद्दत नौकरी करते गुजर गयी थी, कभी किसीने अंगुलीतक न उठायी थी, आज वे चोर हो गये। मालिकका सन्देह और भी पक्का हो गया। कम्पनीकी तरफसे गबनका मुकद्दमा चला दिया गया और वे कामपरसे मुअत्तल कर दिये गये। घरमें पत्नी श्यामाने सुना तो सिर पीट लिया, जो बात कभी स्वप्नमें भी न आयी थी, वही हो गयी, पतिपर मिथ्या दोषारोपण कर दिया गया। जयशङ्करप्रसाद आकर एकदम खटियापर पड़ गये और अपने भगवान्को पुकारने लगे।

वह विपत्ति तो थी ही, घरमें जो कुछ पूँजी थी, पत्नीके आभूषण थे, सब बेचबाचकर वे मुकदमेमें लगाने लगे। जयशङ्करप्रसाद खुले हाथके आदमी थे, रिश्वतका पैसा लेना पाप समझते थे, नहीं तो आज उन्होंने सोनेकी

दीवार खड़ी कर ली होती। मुश्किलसे हजार-डेढ़-हजारके सामान निकले होंगे, वेचकर काशीके पास ही गाँवमें चले आये। काशीमें उनकी इतनी बदनामी हो गयी थी कि घरसे बाहर निकलना कठिन था। शहरके लोगोंमें इतनी सहानुभूति नहीं होती कि वे विपत्तिमें एक दूसरेके सहायक हों।

जयशङ्करप्रसाद गाँवमें आकर भी बदनामीसे न बच सके। सरोजनी काफी सयानी हो गयी थी। उसका व्याह होना जरूरी था, यहाँ खानेको भी ठिकाना न था, व्याह कैसे हो? उधर मुकद्दमा दायर। कुछ समझमें न आता था कि क्या करें। बच्चोंका सूखा मुँह देखकर श्यामाका जी मसोस उठता। जिन बच्चोंको इतने लाड़-प्यारसे पाला था, उन्हीं बच्चोंको एक बार चवेना, सूखी रोटी खाते देखकर वह तड़प उठती। लड़कियोंके व्याहके कितने मंसूबे उसने बाँधे थे, वे सब उसके हृदयमें रह गये, आज लड़कियोंको सयानी देखकर वह घबड़ा जाती कि कैसे वह इनके हाथ पीले कर सकेगी। गाँवकी स्त्रियाँ तरह-तरहकी बातें कहतीं। कोई-कोई तो श्यामासे कह बैठती, 'बहिन, तुम्हारे दाना कैसे हज़म होता है, सयानी लड़कीको बैठाकर क्या कमाई खाओगी? सचमुच शहरी लोगोंको लज्जा नहीं आती, घरमें जवान लड़कियाँ बैठी रहें, उनके मनमें कुछ आती ही नहीं।' श्यामा वेचारी क्या उत्तर देती, वह सिर झुकाकर ताने सुन लिया करती थी।

दोनों लड़कियाँ दिन-पर-दिन निखरी चली आती थीं, श्यामा वेचारी उनको देख-देखकर घुली जाती थी, पतिसे कहती तो वे यही उत्तर देते 'परमात्माको याद करो, वही सब दुःखोंको काटेंगे। वही हम सबोंकी विपत्तियोंका अन्त करेंगे।' कभी-कभी पत्नी घबड़ा उठती पर जयशङ्करप्रसादके हृदयमें विश्वास, साहस और धैर्य था। वह सोचते थे कि प्रभु सब ठीक करेंगे।

(४)

सरोजनी रोज तालावसे पानी लेने जाती, मकानसे तालाब दूर था, माँ चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी थी, उसके बदनमें इतना ज़ोर न था कि कलसी भरकर ले आवे, सरला अभी छोटी थी, जयशङ्करप्रसाद मुकद्दमेके पीछे हैरान रहते। कभी यहाँ कभी वहाँ इधर-उधर दौड़-धूप लगाये रहते थे। जगह-जगह नौकरीके तलाशमें मारे-मारे फिरते, पर कहीं भी ठिकाना नहीं लगता था। साथ ही सरोजनीके लिये वर भी ढूँढ़ते, पर वर मिलना आसान काम न था। जिसके लड़के होते हैं उसके मिजाज शानपर चढ़े होते हैं। जहाँ जाते, वही, दो हजार, चार हजार सुनाते। जिसके घरमें दस रुपयेका भी ठिकाना नहीं, वह हजार रुपये कहाँसे लावे? बेचारे चारों तरफसे हताश-से होते जाते।

सरोजनी रोज सुबह तालाबसे पानी लाने जाती। एक दिन वह तड़के ही चली गयी। राहमें एक दुष्ट युवकने उससे छेड़खानी की। सब ओर सन्नाटा था, कुछ-कुछ अँधेरा हो रहा था, लोग घरोंमें सो रहे थे, दुष्टने पीछेसे आकर सरोजनीका आँचल पकड़कर खींचा। सरोजनीने उसे डाँटा, पर वह कब माननेवाला था? निरुपाय अबलाने मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारा। उसके मनमें निश्चय था कि 'जिसने द्रौपदीकी लाज रक्खी, जिसने गजराजको ग्राहके मुँहसे छुड़ाया, वह अवश्य मेरी रक्षा करेगा।' उसने कहा, 'दुष्ट! भला चाहता है तो छोड़ दे मेरे आँचलको, सतीको न सता। कहीं भगवान्‌का कोप हो गया तो बे-मौत मारा जायगा।'

युवक–बुला न अपने भगवान्‌को! अब तो मैं तुझे नहीं छोड़ सकता।

यह कहकर वह युवक सरोजनीको पकड़ना ही चाहता था कि सरोजनी चिल्ला पड़ी—'कहाँ हो मधुसूदन, कहाँ हो भगवन्! मेरी रक्षा करो, इस पापीके हाथोंसे मेरे सतीत्वको बचाओ।'

जरा-सी भी देर होती तो न मालूम सरोजनीपर क्या बीतती, पर न जाने कहाँसे एक दूसरा युवक कूदकर आ पहुँचा, आते ही उसने पहले युवकका गला पकड़कर उसके पीठपर दो लातें मारी और बोला—पापी! एक अबलाका सतीत्व भङ्ग कर रहा था, बोल सुअर, तेरे माँ-बहिन नहीं हैं?

युवक थर-थर काँपने लगा, उसने हाथ जोड़कर कहा—आप हैं भय्याजी! मुझसे कसूर हुआ। माफ कीजिये।

दूसरा युवक–मुझसे माफी न माँग! माँग इस अपनी बहिनसे, खबरदार जो तूने अब किसीपर आँखें उठायीं।'

न जाने कौन-सी प्रेरणा उस युवकके हृदयमें उठी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'बहिन! मुझ पापीको क्षमा करो।' सरोजनी थर-थर काँप रही थी, उसकी समझमें कुछ नहीं आता था। वह गद्गद् हो गयी। भगवान्‌की प्रेरणासे आये हुए दूसरे युवकके प्रति उसका हृदय भक्ति-श्रद्धासे

कर दरवाजेके पास जाकर बोली—बाबा ! हमींलोग भूखों मर रहे हैं तुम्हें कहाँसे दें ?'

साधु—न कहो बेटी, ऐसा न कहो । परमात्माकी दयासे तुम्हारे घरमें सब कुछ है ।

सरोजनी—बाबा ! तुम तो जिद् कर रहे हो, अगर घरमें कुछ होता तो मैं तुमको भिक्षा न देती । हमारे दरवाजेसे भिक्षुक लौट जाय, इससे क्या मुझे कम दुःख हो रहा है, परमात्मा हम दीनोंकी पुकारको नहीं सुनते । पुकारते-पुकारते थक गयी हूँ ।

साधु—न बेटी, उस जगत्पिताकी दयाका पार नहीं है, उसकी सत्ता और महिमाका पार बडे-बड़े ज्ञानी नहीं पा सकते । तुम भूखी हो, इसी कारण तुम परमात्माको कठोर समझ रही हो । देखो जाकर तुम्हारे घरमें आटा भरा है ।' इतना कहकर साधु एक ओरको चल दिया । सरोजनी ठगी-सी खड़ी रह गयी, पास ही माँ और भाई बहिन खड़े थे । माँने कहा—बेटी, चलो घरमें चलें ।

सरोजनी—(रोकर)—माँ ! बड़े दुःखकी बात है भिक्षुक भूखा चला गया ।

माँ—क्या करूँ बेटी । जो कुछ हो रहा है अच्छा हो रहा है, विपत्तिमें धैर्य धारण करना चाहिये, यह संसार परीक्षागृह है, यह सब परीक्षा हो रही है ।

सरोजनीने अन्दर जाकर ढूँढा, पीछेकी ओर जिसे सरोजनी देखना भूल गयी थी, सचमुच एक मटकीमें आटा भरा था, उसने कहा—माँ ! देखो न साधु सच ही कह रहा था कि तुम्हारे घरमें आटा है, मैंने ढूँढा ही नहीं ।

माँ—बेटी, उस साधुहीकी कृपाका फल है, सर्वशक्तिमान् परमात्माने भेजा है, दुःखमें हमलोग पागल होकर न जाने क्या क्या कह बैठते हैं ?

बोलो एक बार सर्वशक्तिमान् परमात्माकी जय !

सब बच्चे चिल्लाकर कह उठे, ठाकुरजी महाराजकी जय । माँका मुख आनन्दसे खिल उठा । उसने बच्चोंको प्यारसे गले लगा लिया ।

(२)

जयशङ्करप्रसाद काशीके एक कपड़ेकी मिलके मैनेजर थे, काफी आमदनी थी, कम्पनीमें बड़ा मान था, मालिक इनसे बड़ा प्रसन्न रहा करता था, उसे इनपर असीम विश्वास था । ये भी बड़ी सचाईसे काम करते थे, पर अन्य सारे कर्मचारी इनसे जलते थे, क्योंकि उन सबको इनके कारण ऊपरकी आमदनी नहीं होती थी, न तो ये खुद रुपया लूटते, न औरोंको लूटने देते । इनकी साधुता और न्यायप्रियता कर्मचारियोंको असह्य हो रही थी । वे सब मिलकर षड्यन्त्र रचने लगे ।

घरमें पत्नी श्यामा और दो लड़के राजमोहन, व्रजमोहन और दो लड़कियाँ सरला, सरोजनी थीं । ये २५०) तनख्वाहके पाते । उसीमें श्यामा और बच्चे सभी खुश थे, सबसे बढ़कर उनके परिवारमें एक बात बड़ी दृढ़ थी, वह यह कि जयशङ्करप्रसाद और स्त्री-बच्चे सभी परमेश्वरके सच्चे भक्त थे । उनकी भक्ति ऊपरसे दिखावेकी न थी । घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति थी । सुबह-शाम आरती-पूजा होती, बच्चे घण्टा-घड़ियाल बजाते, जयशङ्कर आरती करते और श्यामा भजन गाती । कैसा सुन्दर दृश्य उस समय रहता ? जयशङ्करप्रसाद दिखानेको तो गृहस्थीमें थे, पर मन उनका सदा विरक्त रहता ।

समय सदा एक-सा नहीं रहता । संसार कर्मक्षेत्र है, परीक्षाघर है, सबकी परीक्षा होती है । जयशङ्करप्रसादके भी परीक्षाका समय आ गया । विपत्तियाँ कभी पूछकर नहीं आतीं । मिलके मालिकको लोगोंके लगाने-बुझानेसे इनके कार्योंपर सन्देह हो गया । धीरे-धीरे वह सन्देह दृढ होता गया । दुश्मनोंको चाल सूझी । कम्पनीके दो हजार रुपये गायब हो गये, जयशङ्करप्रसादके हाथमें सारा कार्य था । कार्यकर्ता ही पकड़ा जाता है । बेचारे सन्न हो गये । मुद्दत नौकरी करते गुजर गयी थी, कभी किसीने अंगुलीतक न उठायी थी, आज वे चोर हो गये । मालिकका सन्देह और भी पक्का हो गया । कम्पनीकी तरफसे गबनका मुकदमा चला दिया गया और वे कामपरसे मुअत्तल कर दिये गये । घरमें पत्नी श्यामाने सुना तो सिर पीट लिया, जो बात कभी स्वप्नमें भी न आयी थी, वही हो गयी, पतिपर मिथ्या दोषारोपण कर दिया गया । जयशङ्करप्रसाद आकर एकदम खटियापर पड़ गये और अपने भगवान्‌को पुकारने लगे ।

यह विपत्ति तो थी ही, घरमें जो कुछ पूँजी थी, पत्नीके आभूषण थे, सब बेचबाचकर वे मुकदमेमें लगाने लगे । जयशङ्करप्रसाद खुले हाथके आदमी थे, रिश्वतका पैसा लेना पाप समझते थे, नहीं तो आज उन्होंने सोनेकी

दीवार खड़ी कर ली होती। मुश्किलसे हजार-डेढ़-हजारके सामान निकले होंगे, बेचकर काशीके पास ही गाँवमें चले आये। काशीमें उनकी इतनी बदनामी हो गयी थी कि घरसे बाहर निकलना कठिन था। शहरके लोगोंमें इतनी सहानुभूति नहीं होती कि वे विपत्तिमें एक दूसरेके सहायक हों।

जयशङ्करप्रसाद गाँवमें आकर भी बदनामीसे न बच सके। सरोजनी काफी सयानी हो गयी थी। उसका व्याह होना जरूरी था, यहाँ खानेको भी ठिकाना न था, व्याह कैसे हो? उधर मुकद्दमा दायर। कुछ समझमें न आता था कि क्या करें। बच्चोंका सूखा मुँह देखकर श्यामाका जी मसोस उठता। जिन बच्चोंको इतने लाड़-प्यारसे पाला था, उन्हीं बच्चोंको एक बार चबेना, सूखी रोटी खाते देखकर वह तड़प उठती। लड़कियोंके व्याहके कितने मंसूबे उसने बाँधे थे, वे सब उसके हृदयमें रह गये, आज लड़कियोंको सयानी देखकर वह घबड़ा जाती कि कैसे वह इनके हाथ पीले कर सकेगी। गाँवकी स्त्रियाँ तरह-तरहकी बातें कहतीं। कोई-कोई तो श्यामासे कह बैठती, 'बहिन, तुम्हारे दाना कैसे हजम होता है, सयानी लड़कीको बैठाकर क्या कमाई खाओगी? सचमुच शहरी लोगोंको लज्जा नहीं आती, घरमें जवान लड़कियाँ बैठी रहें, उनके मनमें कुछ आती ही नहीं।' श्यामा बेचारी क्या उत्तर देती, वह सिर झुकाकर ताने सुन लिया करती थी।

दोनों लड़कियाँ दिन-पर-दिन निखरी चली आती थीं, श्यामा बेचारी उनको देख-देखकर घुली जाती थी, पतिसे कहती तो वे यही उत्तर देते 'परमात्माको याद करो, वही सब दुःखोंको काटेंगे। वही हम सबोंकी विपत्तियोंका अन्त करेंगे।' कभी-कभी पत्नी घबड़ा उठती पर जयशङ्करप्रसादके हृदयमें विश्वास, साहस और धैर्य था। वह सोचते थे कि प्रभु सब ठीक करेंगे।

(४)

सरोजनी रोज तालाबसे पानी लेने जाती, मकानसे तालाब दूर था, माँ चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी थी, उसके बदनमें इतना ज़ोर न था कि कलसी भरकर ले आवे, सरला अभी छोटी थी, जयशङ्करप्रसाद मुकद्दमेके पीछे हैरान रहते। कभी यहाँ कभी वहाँ इधर-उधर दौड़-धूप लगाये रहते थे। जगह-जगह नौकरीके तलाशमें मारे-मारे फिरते, पर कहीं भी ठिकाना नहीं लगता था। साथ ही सरोजनीके लिये वर भी ढूँढ़ते, पर वर मिलना आसान काम न था। जिसके लड़के होते हैं उसके मिजाज शानपर चढ़े होते हैं। जहाँ जाते, वही दो हजार, चार हजार सुनाते। जिसके घरमें दस रुपयेका भी ठिकाना नहीं, वह हजार रुपये कहाँसे लावे? बेचारे चारों तरफसे हताश-से होते जाते।

सरोजनी रोज सुबह तालाबसे पानी लाने जाती। एक दिन वह तड़के ही चली गयी। राहमें एक दुष्ट युवकने उससे छेड़खानी की। सब ओर सन्नाटा था, कुछ-कुछ अँधेरा हो रहा था, लोग घरोंमें सो रहे थे, दुष्टने पीछेसे आकर सरोजनीका आँचल पकड़कर खींचा। सरोजनीने उसे डाँटा, पर वह कब माननेवाला था? निरुपाय अबलाने मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारा। उसके मनमें निश्चय था कि 'जिसने द्रौपदीकी लाज रक्खी, जिसने गजराजको ग्राहके मुँहसे छुड़ाया, वह अवश्य मेरी रक्षा करेगा।' उसने कहा, 'दुष्ट! भला चाहता है तो छोड़ दे मेरे आँचलको, सतीको न सता। कहीं भगवान्‌का कोप हो गया तो बे-मौत मारा जायगा।'

युवक-बुला न अपने भगवान्‌को! अब तो मैं तुझे नहीं छोड़ सकता।

यह कहकर वह युवक सरोजनीको पकड़ना ही चाहता था कि सरोजनी चिल्ला पड़ी—'कहाँ हो मधुसूदन, कहाँ हो भगवन्! मेरी रक्षा करो, इस पापीके हाथोंसे मेरे सतीत्वको बचाओ।'

जरा-सी भी देर होती तो न मालूम सरोजनीपर क्या बीतती, पर न जाने कहाँसे एक दूसरा युवक कूदकर आ पहुँचा, आते ही उसने पहले युवकका गला पकड़कर उसके पीठपर दो लातें मारी और बोला—पापी! एक अबलाका सतीत्व भङ्ग कर रहा था, बोल सुअर, तेरे माँ-बहिन नहीं हैं?

युवक थर-थर काँपने लगा, उसने हाथ जोड़कर कहा—आप हैं भय्याजी! मुझसे कसूर हुआ। माफ कीजिये।

दूसरा युवक-मुझसे माफी न माँग! माँग इस अपनी बहिनसे, खबरदार जो तूने अब किसीपर आँखें उठायीं।'

न जाने कौन-सी प्रेरणा उस युवकके हृदयमें उठी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'बहिन! मुझ पापीको क्षमा करो।' सरोजनी थर-थर काँप रही थी, उसकी समझमें कुछ नहीं आता था। वह गद्गद् हो गयी। भगवान्‌की · १ आये हुए दूसरे युवकके प्रति उसका हृदय भक्ति

भर गया। उसने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे मूक भाषामें युवकका अभिनन्दन किया।

सरोजनीको बचानेवाला गाँवके जमींदारका सुशील सुशिक्षित पुत्र सुरेन्द्रनाथ था।

फिर उस युवकने कहा—बहिन! क्या मुझे क्षमा न मिलेगी?

सरोजनीने बड़े कष्टसे कहा—क्षमा? मुझसे न माँगो। उस जगत्-पितासे माँगो जिसने दया करके तुम्हें आज कुकर्मसे बचाया। उसीकी याद करो, जिसको तुम समझते थे कि वह कहीं नहीं है। आजसे तुम किसी भी स्त्रीको अपनी बहिन समझ सकोगे?

युवक-समझ सकूँगा बहिन, तुम्हारी दयासे! यह कहकर वह सरोजनीके पैरोंपर गिर पड़ा।

सुरेन्द्रनाथने कहा-'क्या आप मेरे साथ चल सकेंगी मैं आपको सुरक्षित घर पहुँचा दूँगा। इतने तड़के पानी लेने न जाया करें।'

सरोजनी चल खड़ी हुई, इतनेमें सुरेन्द्रके पिताने, जो हल्ला सुनकर आ रहे थे, पास आकर कहा—क्या है सुरेन्द्र? यह क्यों हल्ला मचा था? तुम यहाँ कैसे? और यह इस समय क्यों आया? यह लड़की कौन है?

सुरेन्द्रने सब वृत्तान्त कहा। जमींदार अपने पुत्रका साहस सुनकर बड़े प्रसन्न हुए।

फिर सरोजनीसे पूछा-तुम किसकी लड़की हो बेटी! सरोजनी एक क्षण चुप रही। बड़े कष्टसे उसने लजाते हुए कहा—उधर जो मकान है, मेरे पिता जयशङ्करप्रसाद हैं।

जमींदार-जयशङ्करप्रसाद। तुम उन्हींकी कन्या हो, जैसे वह हैं, वैसी ही साक्षात् लक्ष्मी तुम हो बेटी! मुझे तुम अपने पिताके बराबर समझना, आजतक मैंने तुम्हें नहीं देखा था। जाओ बेटी, तुम्हारी माँ घबराती होंगी!

सरोजनी एक बार उनके चरणोंमें सिर झुकाकर और मन-ही-मन अपने हृदयदेवको प्रणाम करके चली गयी।

× × × ×

(५)

आज काशीकी अदालतमें काफी भीड़ है। एक ईश्वरके सच्चे भक्त और सेवककी अदालतसे सजा मिलनेवाली है। कितने लोग इस तमाशेको देख रहे हैं, कितने लोग काना-फूसी कर रहे हैं कि 'देखो, कैसा पाखण्डी निकला, ऊपरसे कैसा सच्चा और ईश्वर-भक्त बना फिरता था और भीतर इस तरहके खेल खेल रहा था।' कुछ लोग कह रहे थे, 'भाई, यह कलजुग है 'मुँहमें राम, बगलमें छूरी,' 'रामनाम जपना, पराया माल अपना।' बस आजकल ऐसे ही भक्त हैं।' बेचारे जयशङ्करप्रसाद एक तरफ कैदीकी तरह सिर झुकाये खड़े सब कुछ देख-सुन रहे थे। आज मुकद्दमेकी आखिरी पेशी है, आज ही उनके भाग्यका फैसला होनेवाला है, उनके खिलाफ गवाही हो रही है परन्तु जयशङ्कर यही सोच रहे हैं कि 'परमात्मा जो कुछ कर रहे हैं अच्छा ही कर रहे हैं। उनके कार्योंको कौन समझ सकता है?' मन-ही-मन वह अपने इष्टदेवका स्मरण कर रहे थे। मालूम होता है कि प्रभुने उनकी गुहार सुन ली। जजने कहा—हिसाबका खाता लाओ।

मिलके मालिकने फौरन खाता पेश किया। जजने गौरसे देखा, देखते ही उसे विश्वास हो गया कि और सब जगहकी लिखावटोंसे यह लिखावट बिल्कुल भिन्न है, वह समझ गया कि यह जाल जयशङ्करका नहीं है, मिलके मालिकने भी देखकर मन-ही मन कहा 'कि दर-असल यह अक्षर तो किसी दूसरेके हैं।'

जजने कहा—वेल, जयशङ्कर, तुम बरी कर दिये गये, वह बिल्कुल बनावटी जाल था।

जजका कहना था कि जयशङ्कर संकटमोचन भगवान्की जयका नारा लगा जजको प्रणाम कर अपने घरकी ओर दौड़े। उनके मनमें था कि चलकर पहले ठाकुरजीकी स्तुति करें, जिन्होंने इस विपद्से रक्षा की। मिलके मालिक पुकारते ही रह गये कि एक बात सुने जाओ, पर वहाँ कौन सुनता था, पागलकी भाँति जयशङ्करप्रसाद भागे जा रहे थे। उनके पैर ठिकाने न पड़ते थे, ठाकुरजीकी दयाके सिवा इन्हें इस समय और कुछ भी याद न था।

× × × ×

अपनी झोपड़ीमें जयशङ्करप्रसाद श्यामा, सरोजनी, सरला, राजू, बिरजू सभीके साथ हरिभजनमें लगे हुए हैं। भगवान्की आरतीका समय है, आज आरतीमें कुछ विशेष आनन्द है, सरोजनीने कुछ ज्यादा फूल इकट्ठा करके भगवान्के लिये मोटा हार गूँथा है। भगवान्का फूलोंसे शृंगार किया गया है। जो कुछ साग-सत्तू घरमें मौजूद था उसे बड़े प्रेमसे बनाया गया है। आरती करके सब गुसाईं तुलसीदासजीका भजन गाने लगे।

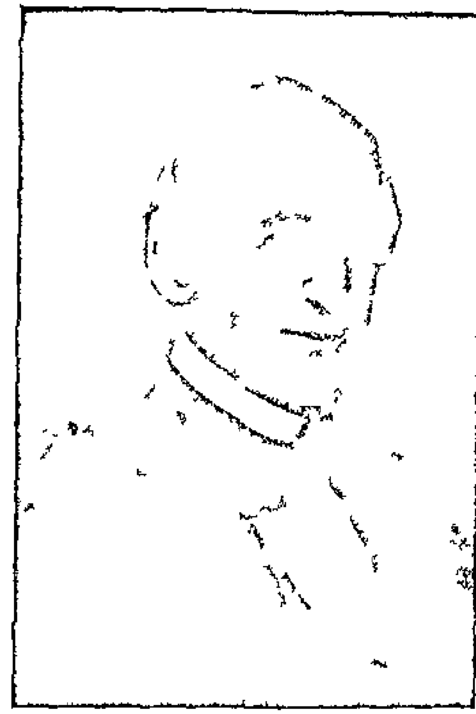
हरि तजि और भजिये काहि?
नाहिंनै कोउ रामसो ममता प्रनत पर जाहि।



महात्मा जरथोश्त्र



सुकरात



एमरसन



टाल्सटाय



गानेमें ऐसे मग्न थे कि किसीको अपने तन-वदनकी सुधि न थी । मारे प्रसन्नताके सभी मस्त थे, इतनेमें किसीने पुकारकर एक पत्र दिया, परन्तु उन्हें यह न सूझा कि उस पत्रको खोलकर पढ़ें । सब हरिभजनमें मग्न रहे । थोड़ी देर बाद एक आदमी दूसरा पत्र दे गया, उसे भी लेकर रख दिया ।

दो घण्टेतक हरिभजनका समाँ बँधा रहा । जब सब सावधान हुए, तब जयशंकरप्रसादने पहिला पत्र खोला, पत्रको पढ़ते ही उनका चेहरा हर्षसे खिल उठा—श्यामाने पूछा क्या है, 'किसका पत्र है?'

जयशङ्कर—श्यामा ! जरा भगवान्‌की महिमा तो देखो ! मिलके मालिकका पत्र आया है, उन्होंने लिखा है कि 'आप मुझसे नाराज होकर चले गये, आइये, आपकी जगह खाली है, गलतीसे आपपर झूठा मुकदमा चला, इसका मुझे बड़ा दुःख है, मैंने कचहरीमें आपको पुकारा था परन्तु आप जल्दीमें भागे चले गये । यह दो हजार रुपयेका चेक हर्जानेका भेज रहा हूँ ।' बोलो श्यामा ! किसकी दयासे ? सबने एक स्वरसे पुकारा, ठाकुरजीकी कृपासे, उस जगत्-पिताकी दयासे ।

दूसरा पत्र खोला गया । वह सरोजनीको दुष्टके हाथसे बचानेवाले सुरेन्द्रनाथके पिताका पत्र था । उसमें लिखा था—

प्रिय जयशङ्करप्रसादजी !

मैंने आपकी पुत्रीकी बहुत प्रशंसा सुनी है, साक्षात् लक्ष्मी है और मेरी बहू होने लायक है, आप हरगिज़ यह खयाल न कीजियेगा कि मैं धनवान् हूँ और आप गरीब हैं । रुपया कोई चीज नहीं है । आपकी पुत्री साक्षात् लक्ष्मीकी तरह मेरे घरमें उजेला करेगी । आशा है कि आप इसे स्वीकार करेंगे ।

आपका परमहितैषी
राजेन्द्रनाथ जमींदार

फिरसे सबने ठाकुरजीकी जयजयकार की । कहाँ तो ढूँढ़े भी गरीब घर न मिलता था, कहाँ ठाकुरजीकी दयासे इतना बड़ा घर अनायास ही मिल गया । सबने चिल्लाकर जय पुकारी । परन्तु सरोजनीने मन-ही-मन कहा—'वाह भगवन् ! आपने मेरी पुकार खूब सुनी !'

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

(लेखक—म० श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी, न्यायमीमांसोपाध्याय, तर्कवेदान्ततीर्थ, वेदान्तशिरोमणि, दर्शननिधि)

हमारे प्राचीन दर्शनकार वैदिक सिद्धान्तको ही आगे रखकर अपने-अपने दर्शनीय मतके प्रतिपादनमें कृतकार्य हुए हैं । अतएव समस्त दार्शनिक विचार मुख्यतया वेदानुकूल होते हुए कुछ थोड़े-से परिगणित गौण विचारोंमें ही पार्थक्य रखते हैं ।'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्तिसे विज्ञान (अर्थात् तत्त्वज्ञान) ही दर्शन शब्दका अर्थ है। इस अर्थके प्रतिपादक ऋषि-मुनि-प्रणीत दर्शनशास्त्र अनेक होते हुए भी प्रधानतया वेदान्त, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग, इसप्रकार षड्दर्शन ही माने जाते हैं । यद्यपि सर्वदर्शनसंग्रह नामक अपने बनाये हुए ग्रन्थमें माधवाचार्यजीने और भी अनेक दर्शनोंका संग्रह किया है, तथापि उनमें बौद्ध और चार्वाकादि दर्शनोंको छोड़कर वेदोंको माननेवाले समस्त आस्तिक दर्शनोंका उपर्युक्त इन्हीं षड्दर्शनोंमें समावेश हो जाता है । इसी प्रकार शाण्डिल्य-सूत्रादि भक्ति-प्रतिपादक दर्शनोंका भी उत्तरमीमांसामें समावेश समझना चाहिये । इन दर्शनोंके प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंके प्रचारक और ग्रन्थरूपमें रचयिता श्रीवेदव्यास, जैमिनि, गौतम, कणाद, कपिल और हिरण्यगर्भ अथवा पतञ्जलि ये महर्षि माने जाते हैं । इन परावरज्ञ महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष शब्दोंसे कहे जानेवाले पुरुषार्थको उपादेय बतलाते हुए मोक्षको परम पुरुषार्थ सिद्धकर सर्वतोभावेन मोक्षको ही प्राधान्य माना है । और वह ईश्वरोपासनाजनित ईश्वरीय प्रसादसे ही साध्य है । इस मतको निर्विवादरूपसे सब दर्शनाचार्य स्वीकार करते हैं । प्रत्येक दर्शनकी प्रवृत्ति ईश्वरीय सत्ता और ईश्वरीय वैभवका वर्णन करते हुए अपने प्रतिपाद्य विषयका मुख्याधार ईश्वर है, इसीमें पर्यवसित होती है । और उन सब दार्शनिक विचारोंका केन्द्रस्थान एक परमतत्त्व ईश्वर ही सिद्ध होता है ।*

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण स्थानाभावसे पूरा नहीं दिया जा सका, अगले अंकोंमें अवकाशानुसार छापनेका विचार है । विद्वान् लेखक महोदय कृपया क्षमा करें । —सम्पादक

ईश्वरकी सत्ता, स्वरूप, स्थान, प्राप्तिके उपाय और फल

(लेखक—पं० श्रीबाबूरामजी शुक्ल पथार्थवाचस्पति)

ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करनेवाले प्राचीन कालसे हैं। क्योंकि हिन्दू-शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि नास्तिकोंके मतोंका खण्डन मिलता है। ईश्वरके न माननेवालोंको नास्तिक कहते हैं, परन्तु पाणिनि मुनिने नास्तिकका दूसरा ही लक्षण किया है। उनके अष्टाध्यायी सूत्रोंमें एक सूत्र है—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' अर्थात् जो परलोक तथा कर्म-फलको मानते हैं वे आस्तिक हैं, और जो इन्हें नहीं मानते वे नास्तिक हैं। शास्त्रोंमें कई प्रकारके नास्तिकोंका वर्णन आता है उनमें पूर्ण नास्तिक चार्वाक-मतवाले होते हैं। उनका सिद्धान्त है कि 'देहसे भिन्न कोई आत्मा कहीं नहीं मिलता; अतः देह ही आत्मा है।' यदि कोई कहे कि 'हमारा देह' यह प्रत्यय सबको होता है, अतः इससे सिद्ध है कि आत्मा स्वामी और देह उसकी वस्तु है। परन्तु 'हमारा आत्मा' ऐसा प्रत्यय भी तो हमें होता है, अतः देह स्वामी और आत्मा उसकी वस्तु हो गया। इसलिये देह और आत्मामें कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं। इसलिये जब मनुष्य मर जाता है तो पुनः उसका जन्म लेना सम्भव नहीं। जैसे दीपकके बुझ जानेपर पुनः उसे जलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि वही रोशनी लौट आयी है। अतः आत्माकी सत्ता शरीरके साथ ही समाप्त हो जाती है। उस आत्माके लिये स्वर्ग, नरक आदिकी कल्पनाएँ बिल्कुल झूठी हैं, और जब स्वर्गादि फल ही नहीं तो उसको प्रदान करनेवाला ईश्वर कहाँसे हो सकता है?'

बौद्ध और जैन ऐसे नास्तिक नहीं हैं क्योंकि ये कर्मके फलको पूर्णतया स्वीकार करते हैं। परन्तु कहते हैं कि 'जैसे भाँग पीनेसे नशा हो आता है उसी प्रकार कर्म सत् या असत् जैसा हो वैसा ही उसका फल भी हो जाता है। फलका देनेवाला कोई ईश्वर नहीं, ईश्वरको मानना भ्रम-मात्र है। इनके मतसे जीवकी दशा बहुत ऊँची मानी गयी है जिसको प्राप्त होनेसे मनुष्य तीर्थङ्कर बुद्ध हो जाता है और उसकी जगत्‌में प्रतिष्ठा और पूजा होती है। यदि इनसे पूछो कि 'यदि ईश्वर नहीं है तो संसारका रचयिता कौन है?' तो वह उत्तर देंगे 'संसार कभी रचा ही नहीं गया।' यदि पूछो, जगत्‌को कौन धारण कर रहा है? तो वह कहेंगे जगत्‌को कोई धारण नहीं करता, यह अनन्त आकाशमें गिरता चला जा रहा है। सृष्टि आदि विषयोंमें भी इनके उत्तर इसी प्रकारके प्राप्त होते हैं। अब संक्षेपमें इनके सिद्धान्तोंका खण्डन किया जाता है। पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराजने महिम्नस्तोत्रमें कहा है—

हे देवेश! जिस-जिस वस्तुके अवयव (खण्ड) हो सकते हैं उनकी उत्पत्ति भी अवश्य होती है, यह नियम है और पृथ्वी आदिके टुकड़े हो सकते हैं। तब उत्पत्ति भी सिद्ध है? आपको छोड़कर जगत्‌के नियमोंका अधिष्ठाता कौन हो सकता है? यदि ईश्वर नहीं है तो चतुर्दश भुवनोंके उत्पादनमें कौन समर्थ हो सकता है? केवल मूढ पुरुष ही, हे प्रभो! आपकी सत्तामें शंका करते हैं।

ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें दो प्रमाण और हैं—

१–जन्मसे गूँगे और बहरे पुरुष आकाशकी ओर अंगुली उठाकर भगवान्‌का संकेत करते हैं।

२–जगत्‌में ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती हैं जिन्हें ईश्वरकृत माने बिना काम नहीं चल सकता। उनमें मनुष्यकी बुद्धि कारण खोजनेमें हैरान हो जाती है।

अच्छा, ईश्वर है तो उसका स्वरूप कैसा है? ऋषि-मुनियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे प्रत्यक्ष करके ईश्वरको सत्-चित्-आनन्द तथा विरुद्ध धर्मयुक्त जैसे, निराकार और साकार, सर्वगुणयुक्त और निर्गुण, एवं सर्वाश्चर्यमय माना है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर जब इस-प्रकारका है तो उसका ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे दे रहे हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७। २५)

अर्थात् 'भगवान्‌की योगमायासे विमूढमति हुए पुरुष भगवान्‌का दर्शन नहीं कर पाते।' अब प्रश्न होता है, ईश्वर कहाँ रहता है? इसका उत्तर यह है कि ऐसा

कोई स्थान नहीं, जहाँ ईश्वर न हो, वह सर्वव्यापी है। गीता कहती है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उत्तर यह है कि मायाके कारण ही भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, जो इस मायासे मुक्त होता है वही उनका दर्शन पा सकता है। मायासे बचनेके उपायको भी स्वयं भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

अर्थात् जो मेरी शरण आते हैं वे ही इस मायाको पार करते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वरके ज्ञानसे फल क्या मिलता है? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य ईश्वरपर विश्वास न होनेके कारण ही अनेकों पाप करता है। जब मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌की कोई मूर्ति बसी रहती है तो उससे कोई पाप नहीं होता, क्योंकि जब उसका मन किसी पाप-कर्ममें रत होना चाहता है तो चट वह हृदयस्थ मूर्ति सामने आ जाती है और मनुष्य भयभीत हो पाप-कर्मसे बच रहता है। इसलिये यदि सब ही मनुष्य भगवान्‌के सच्चे उपासक हो जायँ तो फिर किसीको कोई दुःख कैसे दे सकता है और तब इस मृत्यु-लोकमें सर्वत्र सुख-शान्ति फैल जा सकती है। इसलिये कहा है कि—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥
(वि० स०)

तथा—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरून् गमः॥
(मनु०)

अर्थात् जो नियामक न्यायकारी प्रभु तेरे हृदयमें स्थित है, उससे यदि तुझे विवाद न हो तो गंगा और कुरुक्षेत्रको मत जा। सारांश यह है कि गंगादि तीर्थोंकी यात्रा पापके नाशके लिये होती है और पाप करनेकी इच्छा होते ही हृदयस्थ ईश्वरकी प्रेरणा उससे बचनेकी होती है परन्तु मनुष्य उसकी अवहेलना करके पाप करता है, यदि उसकी अवहेलना न करे, प्रभुके संकेतके अनुसार चले तो फिर उसे गङ्गादि तीर्थोंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता ही न पड़े। भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

तथा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

संसारमें जीवोंको सबसे बड़ा दुःख जन्म-मरणका बन्धन है, जबतक आवागमन बना हुआ है मनुष्यको जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि नाना प्रकारके कष्टोंसे पीड़ित होता रहना होगा। इस बन्धनको दूर करनेका एकमात्र उपाय है भक्तिद्वारा भगवान्‌को पाना। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् 'इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।' और भगवान्‌की प्राप्ति केवल मनुष्य-देहसे ही हो सकती है। इसीलिये भगवान् व्यासजी कहते हैं कि—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(श्रीमद्भा०)

अर्थात् 'अपनी अनादि शक्तिसे ब्रह्माजीने वृक्ष, कीट, पशु, पक्षी, मच्छर, मछली प्रभृति जीवोंकी रचना की, परन्तु उनसे उनका चित्त प्रसन्न न हुआ, तब उन्होंने ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने योग्य मानव प्राणीको रचा और इससे उन्हें तुष्टि मिली।' इससे यह सिद्ध होता है कि जिस मनुष्यने ईश्वरको न जाना, उसका जन्म व्यर्थ ही गया तथा ईश्वरके प्राप्त करनेकी जो शक्ति ब्रह्माजीने उसे दी थी उसका ठीक उपयोग न कर वह कृतघ्न ही बना। जिसने ईश्वरको जान लिया उसका जन्म सफल हुआ और वह अनादि जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो कृतकृत्य हो गया।

यच्चिन्तनं यत्स्मरणं यदर्चनं
यत्कीर्तनं यत्कथनं यदीक्षणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा०)

अर्थात् 'जिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन, स्मरण अर्चन, कीर्तन, दर्शन संसारके समस्त पापोंको धो देता है उन्हें हमारा बारम्बार नमस्कार हो।'

जीव और ईश्वर

(लेखक—डा० एच० डब्ल्यू० बी० मोरेनो एम० ए०, पी-एच० डी०)

नास्तिकवादके जितने भी सिद्धान्त हैं उन सबके विपक्षमें तथा आत्मा एवं परमात्माके अस्तित्वमें सबसे बड़ा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण मनुष्यकी प्रतीति है, जो उसके जीवन एवं विकासकी सारी अभिव्यक्तियोंमें दृष्टिगोचर होती है । सभ्यताके आदियुगमें मनुष्यके अनुभवमें यह बात आयी कि इस दृश्यमान एवं व्यक्त जगत्‌की ओटमें कोई अदृश्य एवं अव्यक्त तत्त्व भी है, जिसकी अभिव्यक्ति अधिक वास्तविक होती है । इसीका नाम आत्मा अथवा जीव रक्खा गया । इस धारणाके अनुसार उस समयके मनुष्य Animism (जीववाद) के *सिद्धान्तको मानने लगे, तथा वृक्ष, वन एवं मनुष्य* सबके अन्दर जीवकी कल्पना की जाने लगी । आत्मा ही प्रत्येक वस्तुका जीवन माना जाने लगा । व्यष्टि-चेतनके पीछे समष्टि-चेतन अर्थात् ईश्वरकी स्थिति मानी गयी । अफ्रीकाकी अर्धनग्न जंगली जातियाँ, आस्ट्रेलियाके आदिम निवासी, मलायाप्रायद्वीपके असभ्य निवासी, न्यूगिनीकी बर्बर जातियाँ, अर्द्धसभ्य मलानेशिया और फीजी द्वीपके निवासी, मेक्सिको और पेरूके जंगली 'अज़्टेक' और अमेरिकाके 'रेड इण्डियन' ये सभी प्रत्येक वस्तुके मूलमें जीवात्माका अस्तित्व मानते थे और विश्वका आत्मा अर्थात् ईश्वर भी उसीके अन्तर्गत माना जाता था ।

प्राचीन कालके मिश्र-देश वासियोंमें गहन दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनकी शक्ति नहीं थी । उनका जीवात्मा अथवा ईश्वरके अस्तित्वमें उतने ही अंशमें विश्वास था, जितने अंशमें उनका मनुष्यके भावी सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध होता था । मिश्र-देशवासियोंका हाल बतलानेवाली सबसे प्राचीन पुस्तक पिरामिड टेक्स्ट्स (Pyramid Texts) है *जिसमें मृत्युके पश्चात् राजाओंकी क्या गति होती है* इसका वर्णन है । उसमें लिखा है कि राजाओं एवं धर्मात्मा पुरुषों-को मृत्युके अनन्तर स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है और दुष्कर्म करनेवालोंको नरकमें ढकेला जाता है और वहाँ उन्हें नारकीय आत्माओंके द्वारा अनेक प्रकारकी यातनाएँ मिलती हैं । पुण्य और पापका निर्णय करनेवाला अधिकारी ओसिरिस (Osiris) कहलाता था । मिश्र-देशवासियोंकी धर्म-पुस्तकोंमें—जो प्रेतात्माओंकी पुस्तकें कहलाती हैं—*आत्मा और परमात्माके अस्तित्वको स्वतःसिद्ध माना है* और उनका जीव और ईश्वरमें विश्वास होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यही है । सुकरात (Socrates), अफलातूँ (Plato) और अरस्तू (Aristotle) ये यूनानके सबसे बड़े दार्शनिक माने गये हैं । अफलातूँद्वारा रचित अपोलाजी (Apology) नामक ग्रन्थमें सुकरातके विरुद्ध चलाये मामलेमें न्यायाधीशने क्या विचार किया तथा उसे किस-प्रकार मृत्युका दण्ड मिला, इसका विशद वर्णन है । यह ग्रन्थ हमें इस समय भी उपलब्ध है तथा संसारके साहित्यमें इसका बहुत ऊँचा स्थान है । सुकरातको इस विषयमें *कोई शंका न थी कि जीवसंज्ञक कोई आध्यात्मिक शक्ति* अवश्य है । उसका यह विश्वास था कि मृत्युके पश्चात् जीवात्मा शरीरको छोड़कर परमात्मामें मिल जाता है और उसके स्वरूपको कोई समझ नहीं सकता ।

अफलातूँके अध्यात्मविषयक विवेचनपर उसके Theory of Ideas (सङ्कल्पसिद्धान्त) का गहरा प्रभाव पड़ा, जो बिल्कुल स्वाभाविक था । वह सिद्धान्त यह था कि मानसिक सङ्कल्प एक वास्तविक सत्ता है और संसारका प्रत्येक पदार्थ उस वास्तविक तत्त्वका ही मूर्तरूप है जिसका अस्तित्व सङ्कल्प-जगत्‌में है । अफलातूँके आध्यात्मिक विचारों-का उसके शिष्य अरस्तूपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने एक जगह अमृतत्वकी सिद्धि (Achieving Immortality) का उल्लेख किया है । उसके Ethics (नीतिशास्त्र) नामक ग्रन्थ (१०-७) में यह लिखा है कि हमें उन लोगोंकी बात नहीं माननी चाहिये जो हमें मानवीय विचारोंकी सीमाके अन्दर रहनेको कहते हैं, किन्तु जहाँ-तक हो सके, हमें अमरत्वको प्राप्त करने तथा अपने सारे कार्योंको मनुष्यत्वके उच्चतम आदर्शके साँचेमें ढालनेकी भरसक चेष्टा करनी चाहिये । प्लाटिनस (Plotinus) नामक दार्शनिकने 'अभिनव भाववाद' (Neo-platonism) नामक नये सिद्धान्तका प्रचार किया जिसमें मनुष्यकी आध्यात्मिक वृत्तियोंके सम्बन्धमें ज़ोर दिया गया है तथा

यह बतलाया गया है कि उनके द्वारा मनुष्य ईश्वरके साथ एकता एवं साहचर्यका रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

प्राचीन रोमन-जातिके लोगोंके आत्मा एवं परमात्माके सम्बन्धमें क्या विचार थे, यह निश्चितरूपसे बतलाना कठिन है। रोम-देशमें जबतक प्रजातन्त्र-राज्य स्थापित नहीं हुआ तबतक उन लोगोंमें दार्शनिक विचारका प्रचार नहीं हुआ था। प्रजातन्त्रके युगमें उनपर यूनानके दार्शनिक विचारोंका प्रभाव पड़ा और तबसे वे भी स्वतन्त्ररूपसे अध्यात्म-विषयपर विचार करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'Anima' एवं 'Deus' इन शब्दोंका रोमन लोगोंने ही पहले-पहल प्रयोग किया था, किन्तु 'Anima' शब्दका उन्होंने केवल प्राणवायुके अर्थमें और 'Deus' शब्दका अपने अनेक देवताओंमेंसे एक देवताके साकाररूपके अर्थमें प्रयोग किया था। रोमन-साहित्यमें एन्नियस (Ennius) नामक विद्वान्‌के कालसे पूर्व (जिसकी रचनाएँ ईस्वी सन्‌से १६९ वर्ष पूर्वकी मानी जाती हैं) जीवात्मा एवं परमात्माकी स्वतन्त्र सत्ताका उल्लेख नहीं पाया जाता। एन्नियस (Ennius) के पश्चाद्वर्ती दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञोंमेंसे भी कुछने इनकी सत्ताको स्पष्टरूपसे स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणतः सिसरो (Cicero) एवं जूलियस सीज़र (Julius caesar) दोनों ही संशयवादी थे तथा ल्यूक्रेटियस (Lucretius) के विचार स्थिर नहीं थे; उसके सिद्धान्त इपिक्यूरस (Epicurus) की भाँति जड़वादको लिये हुए थे।

हिन्दू-शास्त्रोंमें अति प्राचीनकालसे जीवात्माको शरीरसे भिन्न माना गया है और मृत्युके बाद भी उसकी स्थिति मानी गयी है। उनके मतमें ईश्वर ही एकमात्र पूर्ण पुरुष है जिसके अन्दर लीन होकर समस्त चराचर प्राणी शाश्वत सुख एवं पूर्णताका अनुभव करते हैं। कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, इसको सिद्ध करनेके लिये ही पुनर्जन्मके सिद्धान्तका आविष्कार हुआ। जगत्‌में पुण्यात्मा कष्ट पाते हैं और दुष्ट लोग फूलते-फलते हैं इस सनातन समस्याको हल करनेके लिये हिन्दुओंने काफी प्रयत्न किया। जीवन अनादि एवं अनन्त है तथा सांसारिक सुख एवं दुःख, सम्पत्ति एवं विपत्ति हमें अपने प्राक्तन जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके फलरूपमें ही प्राप्त होती हैं। पुण्योंका सञ्चय बढ़ जानेसे जीव आध्यात्मिक उन्नतिके उच्चतम शिखरपर पहुँचकर उस पूर्णब्रह्म परमात्मामें मिल जाता है अथवा क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होकर अपनी इच्छा एवं प्रयत्नसे फिर ऊपरकी ओर उठता है। मनुष्यकी आत्मा एक अव्यक्त चैतन्यशक्ति है और उसके कर्मोंमें उस चैतन्यशक्तिकी उसकी आन्तरिक ज्योतिके सामने अभिव्यक्ति होती है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें जीवात्मा एवं शरीरके बीचमें यही अन्तर बताया गया है कि जीवात्माकी न तो परिभाषा हो सकती है और न उसका वाच्यार्थ ही निश्चित किया जा सकता है। उपनिषदोंमें आत्माके विषयमें, जिसे ब्रह्मके नामसे भी निर्दिष्ट किया गया है, यह कहा है कि वह एक सर्वव्यापक तत्त्व है जो सारे मनुष्यों एवं सारी वस्तुओंमें स्थित है। उनके मतमें जीवात्मा उस समष्टि-चेतनरूप ब्रह्मका ही अंश है और मृत्युके समयमें देहके नष्ट हो जानेपर भी आत्माके अविनाशी बने रहनेमें कोई बाधा नहीं आती। जीवात्माकी समष्टि-चेतनरूप परमात्माके साथ एकताको पहचान लेना ही उसके यथार्थ महत्त्व एवं गुणको समझना है।

बेबीलोनिया-निवासियोंके मतमें जीवनका अर्थ आत्माके साथ सम्पर्क होना नहीं किन्तु स्वतन्त्ररूपसे स्थित रहनेकी शक्तिका नाम ही जीवन है। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मरनेके बाद रसातलकी किसी खोहमें यातनामय जीवन व्यतीत करता है और उस समय उसका शरीर प्रायः सड़ी हुई अवस्थामें रहता है। उनका शरीरसे भिन्न शरीरीकी स्वतन्त्र सत्तामें विश्वास नहीं था, अतएव वे लोग प्रेतात्माके शरीरको तृप्त करनेके लिये उसकी कब्रके ऊपरकी जमीनको पानीसे सींचते थे।

यहूदी लोग आत्मा और परमात्माके स्वरूप-ज्ञानके बहुत निकट पहुँच गये थे। उनके जिनिसिस (Genesis) नामक ग्रन्थ भाग (२–७) में यह लिखा है कि 'Jahweh ने मनुष्यके नासारन्ध्रमें प्राण-वायु फूँक दी और वह जीती-जागती आत्मा बन गयी' 'I Kings' नामक ग्रन्थ भाग (१७–२२) में Elijals के एक बच्चेको पुनर्जीवित कर देनेके प्रसंगमें यह उल्लेख मिलता है कि 'उस बच्चेकी आत्मा उसके शरीरमें फिर आ गयी।' उनकी बाइबिलमें मृत्युके बाद आत्मा कहाँ रहती है इस सम्बन्धमें कुछ वाक्य मिलते हैं। इसाइहा (Isaiah) नामक ग्रन्थभाग (१४। ९-११) के देखनेसे यह पता चलता है कि मृत्युके बाद जीव शियल (Sheol) नामक छाया-जगत् (Shadow-world) में यातनाएँ भोगता है। इज़िकिल (Ezekiel) नामक ग्रन्थमें प्रेतात्माओंके निवास-स्थान शियल (Sheol) को रसातलका एक भाग बतलाया गया है जहाँ सारी जातियोंकी प्रेतात्माएँ एकत्र हो जाती हैं और जहाँके निवासियोंको

Nephaim अर्थात् 'दुर्दशापन्न प्राणी' कहा गया है। उस समयके ग्रन्थोंमें भी आत्माके अमरत्वका कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। उदाहरणके लिये डेनियल (Daniel) नामक ग्रन्थ भाग (१२-१३) में यह लिखा है कि 'जो लोग स्वय समझदार हैं वे नक्षत्रोंकी भाँति अपनी ज्योतिका प्रसार करेंगे किन्तु जो पवित्र आत्माएँ दूसरोंको भी सन्मार्गगामी बनाती हैं वे अनन्त कालतक ध्रुवतारेकी भाँति चमकती रहेंगी।'

जीवात्माको परमात्मासे अमरत्व प्राप्त हुआ है इस सम्बन्धमें आगे चलकर Pharisee और Sadducee इन दो जातियोंमें मतभेद हो गया। और Pharisee लोग यह मानने लगे कि एक निश्चित अवधिके अनन्तर प्रेतात्माएँ जागृत होकर फिरसे अपने-अपने कर्मोंमेंसे निकल आयेंगी, प्रेतात्माओंके जागृत होनेके सम्बन्धमें ईसाइयोंका जो मत है उसका मूल Sadducees का सिद्धान्त ही है। Old Testament के कतिपय स्थलोंमें भी जीवात्माके अमरत्व का उल्लेख मिलता है। उदाहरणत उसके Proverbs' नामक भाग (२२-२७) में यह लिखा है कि 'मनुष्यकी आत्मा प्रभुकी ज्योति है।' Ecclesiastes नामक भाग (१२-७) में भी लिखा है कि 'आत्मा लौटकर परमात्माके पास चली जायगी, जहाँसे वह आयी है।' Psalms नामक भाग (१६-१०,११) में यह लिखा है कि 'तू मेरे जीवनका पथ प्रदर्शक बन जा! तेरे सान्निध्यमें ही मुझे पूर्ण आनन्दका अनुभव होता है।'

ईसाइयोंका सिद्धान्त Old Testament के सिद्धान्तोंसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है, क्योंकि New Testament में Old Testament की मनोवृत्तिका ही अनुसरण किया गया है। ईसामसीहकी आत्माकी पुनर्जागृतिके सिद्धान्तको प्राचीन कालके ईसाइयोंने अक्षरश मान लिया, जिसके फलस्वरूप दो और बातें सिद्धान्तरूपसे मानी जाने लगीं—एक तो आत्माकी अमरता और दूसरी आध्यात्मिक पिताके रूपमें ईश्वरका साक्षात्‌रूपसे जीवकी सहायता करना। प्रेतात्माओंकी पुनर्जागृतिके सिद्धान्तको केवल ईसाइयोंने ही नहीं माना है। Pharisees में भी इसका प्रचार था और उनसे भी पहले ईरानदेशके Mithra सम्प्रदायवालोंको तथा Babylonia देशके Tammuz नामक विद्वान्‌को मिश्रदेशके Osiris नामक पण्डितको, यूनानके Dionysius नामक दार्शनिकको यह मत मान्य था। भारतवर्षके श्रीकृष्ण इस सिद्धान्तको मानते ही थे। Jerome नामक दार्शनिकके समयमें यह सिद्धान्त प्रचलित था कि ईश्वरके द्वारा ही जीवोंकी सृष्टि होती है। उन लोगोंका कथन यह था कि 'ईश्वरके यहाँसे प्रतिदिन जीवात्माएँ आती हैं केवल शरीरोंकी रचना माता पिताके रज-वीर्यसे होती है।' Scholasticism मतके प्रधान अनुयायी Aquinas (ईस्वी सन् १२२४-१२७५) ने जीवके विषयमें यह कहा है कि इस नामरूपात्मक जगत्‌में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर एव उसकी भौतिक सृष्टिके बीचका तत्त्व जीव ही है।

मुसलमानोंके कुरानपर भी Old Testament का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसमें लिखा है कि जब पुण्यात्मा पुरुषोंका देहान्त होता है तब अल्लाहमियाँ उनकी आत्माओंको अपने निकट बुला लेते हैं और क़यामतके दिनतक उन्हें अपने पास ही रखते हैं और फिर उन्हें वापिस अपना-अपना चोला बख्श देते हैं। मुसलमानों का आम खयाल यह है कि रूह इन्सानके जिस्मसे मुँहके जरिये बाहर निकलती है, मगर कुछ लोगोंका खयाल यह है कि वह खोपड़ीके पिछले हिस्सेकी तरफसे निकलकर जिस्मसे जुदा होती है।

विकास सिद्धान्तके अनुसार जीवकी सबसे बड़ी उन्नति मनुष्य-देहमें होती है। 'मनुष्य मरकर फिर जन्म लेता है या नहीं' यह प्रश्न बहुत प्राचीन कालमें Job के समयमें भी पूछा गया था। श्रद्धालु पुरुष यह मानते हैं कि मरनेके बाद भी मनुष्यका सूक्ष्म (मानसिक) शरीर परमपिता परमात्माकी गोदमें निरन्तर निवास करता है। यह विश्वास केवल अन्ध-श्रद्धालुओंका ही नहीं, कविकी कल्पना भी यही है। कवि क्या कहता है, सुनिये—

तू हमें मिट्टीमें न मिलाना, तूने ही मनुष्यको सिरजा है, वह बेचारा इसका प्रयोजन क्या जाने! वह केवल इतनी बात समझता है कि तूने उसे मरनेके लिये नहीं बनाया। उसका बनानेवाला तू है और वह तू न्यायकारी है, बस, इसीमें उसको सन्तोष है।

मानव हृदयकी यह आशा-लता अनन्त कालतक पल्लवित एव पुष्पित होती रहेगी कि उसकी आत्मा परम पिता परमात्माकी गोदमेंसे आयी है और इसलिये वह अमर है। मानव जीवनकी सार्थकता केवल अपने जीवनको सुधारनेमें ही नहीं है, उसका उद्देश्य तभी सिद्ध होता है जब वह दूसरोंके जीवनको इसप्रकार उन्नत बना देता है कि वे पूर्णताके शिखरपर पहुँचकर ईश्वरके सदृश बन जाते हैं।

ईश्वर एक है

(लेखक—श्रीमती आर० एस० सुब्बालक्ष्मी अम्मल बी० ए०, एल० टी०)

एक महान् तत्त्वदर्शीका कथन है कि संसारमें जितने मनुष्य हैं उतने ही देवता और उतने ही धर्म हैं। यदि हम अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी उन्नति और उसके विकासका अध्ययन करें और भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्यकी अवस्था कैसी थी, इसका चित्र कल्पनाके पटपर यदि खींच सकें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अवस्थाओंमें किसप्रकार धीरे-धीरे एवं क्रमशः जागृति, विकास एवं उन्नति हुई है। प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यका स्थूल शरीर अधिक बलिष्ठ होता है और आन्तरिक शक्तियाँ प्रायः सभी सुप्त रहती हैं। इसके अनन्तर मनकी बारी आती है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। उसके विचार तथा उसकी बुद्धि ही उसकी रक्षा करती है, क्योंकि उसकी शारीरिक-शक्ति घोड़े, हाथी इत्यादि अधिक बलवान् जन्तुओंकी शक्तिके सामने नगण्य ठहरती है। ज्यों-ज्यों उसकी मानसिक-शक्ति विकसित एवं उन्नत होती है, त्यों-ही-त्यों वह अपने चारों ओर देखने तथा अपने समीपवर्ती पदार्थोंकी जाँच-परख करने एवं उन्हें अपने अनुभवकी कसौटीपर कसकर उनपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय करता है। यहाँतक कि वह भयंकर-से-भयंकर जंगली पशुओंको भी, जिनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शारीरिक बल होता है, अपने वशमें कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शारीरिक बलकी अपेक्षा बुद्धि-बल कहीं बड़ा है और वह मनुष्य, जो विशिष्ट ज्ञान एवं बुद्धिसे सम्पन्न है, उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है जिसका शरीर तो बलिष्ठ है परन्तु जिसकी मानसिक-शक्ति दुर्बल है। इसके पश्चात् मनुष्यकी नैतिक शक्तिका नम्बर आता है। कोई मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है और भिन्न-भिन्न विषयोंमें उसका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा है, परन्तु यदि उसमें चरित्र-बलकी कमी है तो समाजमें उसका उतना आदर एवं सम्मान नहीं होता, जितना एक चरित्रसम्पन्न कम बुद्धिमान् पुरुषका होता है, अन्तमें मनुष्यका आध्यात्मिक विकास होता है। आध्यात्मिक पुरुष वह है जिसके अन्दर दैवीसम्पत्तिका यथेष्ट विकास हो, जिसने भगवत्-प्रेम, योगाभ्यास एवं तपके द्वारा अपनी अधम वृत्तियोंको, अपने आसुरी भावोंको दबा लिया हो और जिसने आध्यात्मिक भावोंको खूब जागृत कर लिया हो।

हम भलीभाँति जानते हैं कि इन चार प्रकारके पुरुषोंमें, जिनकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ क्रमशः उन्नत हैं, परस्पर कितना अन्तर है। शारीरिक बलसम्पन्न पुरुषमें, जिसकी दूसरी शक्तियाँ उन्नत नहीं हुई हैं, तथा आध्यात्मिक पुरुषमें उतना ही अन्तर है जितना एक सर्वश्रेष्ठ जीव तथा अधम-से-अधम कोटिके मनुष्यमें है। मनुष्यजातिके क्रमिक विकासके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि किसप्रकार मनुष्य क्रमशः शारीरिक उन्नतिसे मानसिक उन्नतिकी ओर, मानसिकसे नैतिक उन्नतिकी ओर तथा नैतिकसे आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर अग्रसर होता है। अतः इन विभिन्न श्रेणियोंके मनुष्योंकी ईश्वरके विषयमें भी विभिन्न धारणा होनी ही चाहिये। जिस मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई है उसकी ईश्वर-विषयक भावना भी उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची और उदात्त होगी, जिसकी मनोवृत्ति बहुत निम्नगामिनी है। यही नहीं, जिन लोगोंका आध्यात्मिक विकास समान कोटिका है उन लोगोंमें भी ईश्वरके सम्बन्धमें विभिन्न धारणाएँ होती हैं। इसलिये यह उक्ति यथार्थ ही है कि संसारमें जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म और उतने ही ईश्वर हैं। हाँ, यदि कोई अनुचित बात है तो यह है कि कभी-कभी वे लोग भी, जिनका आध्यात्मिक विकास बहुत बढ़ा-चढ़ा है, अपने-अपने ईश्वरके विषयमें झगड़ने लगते हैं और इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर एक है, उसके सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ ही विभिन्न हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति,' 'एकमेवाद्वितीयम्' ये श्रुतियाँ इसी बातको बतलाती हैं कि ईश्वर एक है, उसे लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं तथा अनेक प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं। गुलाबके फूलमें एक ही प्रकारकी सुगन्ध आवेगी, चाहे हम उसे किसी भी नामसे पुकारें। स्नेहमयी जननी अपने

बालकको अनेक वात्सल्यपूर्ण नामोंसे पुकारती है, किन्तु उन नामोंसे बालकमें अनेकता नहीं आ जाती, इस सम्बन्धमें एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है। चार यात्री, जिनकी बोली अलग-अलग थी, दैव-संयोगसे एक ही स्थानपर पहुँच गये, थके-माँदे तथा भूख-प्याससे व्याकुल होनेके कारण वे एक वृक्षकी छायामें बैठ गये और अपनी भूख-प्यास मिटानेका उपाय सोचने लगे। चारों ही अपनी-अपनी भाषामें एक ही फलका नाम लेकर लड़ने लगे। उन्हें इस बातका ज्ञान नहीं था कि हमलोग एक ही फलको चाहते हैं। इतनेमें फल बेचनेवाला उधरसे आ निकला। दैव संयोगसे उसके पास वे ही फल थे जिनके लिये चारों यात्रियोंमें झगड़ा हो रहा था। ज्यों ही उनकी दृष्टि उन फलोंपर पड़ी, सब-के-सब आनन्दके मारे उछल पड़े और कहने लगे कि हम इसी फलको चाहते थे। सबका झगड़ा मिट गया। यह तो हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्त यह है कि जिसप्रकार एक ही फलके भिन्न-भिन्न भाषाओंमें भिन्न-भिन्न नाम हैं, इसी प्रकार ईश्वर एक है, उसके नाम, गुण एवं स्वरूप कई बताये गये हैं। तामिल-भाषाके एक महाकविने ईश्वरको समुद्रकी उपमा दी है। जिसप्रकार संसारकी समस्त नदियाँ समुद्रमें आकर अपने नाम, रूपको पूर्णतया विलीन कर देती हैं उसी प्रकार सारे धर्म ईश्वरके निकट पहुँचकर अपने भेद-भावको सर्वथा भूल जाते हैं। विशिष्टज्ञानसम्पन्न मनुष्योंको चाहिये कि वे इस बातको भलीभाँति हृदयङ्गम करके एक दूसरेके विचारोंके प्रति आदर एवं सहिष्णुताका भाव रक्खें और मामूली मतभेदके कारण लड़ाई-झगड़ा न करें। हम सब भगवत्प्राप्तिके मार्गपर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे हैं और क्रमशः उन्नतिकी सीढ़ीपर चढ़ रहे हैं। जबतक हमलोग निम्न अवस्थाके साधक हैं तभीतक यह समझते हैं कि हम-लोगोंके ईश्वर अलग-अलग हैं। कुछ ही आगे बढ़नेपर सारी अनेकताएँ मिट जाती हैं और यह अनुभव होने लगता है कि वास्तवमें ईश्वर एक है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(गीता ७। २१)

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूँ।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस-उसको ही वह प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

बस, हम चाहे जिस रूप या चाहे जिस नामसे ईश्वरकी उपासना करें, वह सबको स्वीकार कर लेता है, क्योंकि वह एक है।

ईश्वर-प्राप्तिके उपाय

१—ईश्वरके प्रभाव और महत्वको यथार्थ जाननेवाले महापुरुषोंका संग।

२—ईश्वरके प्रभाव और महत्वसे पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन।

३—ईश्वरके नामका जप और गुणोंका श्रवण-कीर्तन।

४—ईश्वरका ध्यान।

५—विश्वरूप भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा।

६—ईश्वर-प्रार्थना।

७—ईश्वरके अनुकूल आचरण यानी सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, विनय, तप, स्वाध्याय, आस्तिकता और श्रद्धा आदिको बढ़ाना।

८—लोक-परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य।

९—सद्गुरुमें परम श्रद्धा और गुरु-सेवा।

१०—ईश्वरमें अखण्ड विश्वास।

११—घर-बाहर सर्वत्र ईश्वर-चर्चा।

१२—अभिमान, दम्भ और कठोरताका सर्वथा त्याग।

१३—काम क्रोध लोभसे बचना।

१४—नास्तिक-संगका सर्वथा त्याग।

१५—परधर्म-सहिष्णुता।

१६—सबमें ईश्वरबुद्धि रखते हुए ही बर्ताव करनेकी चेष्टा।

ईश्वर नहीं है, ऐसी बात न कहो

(लेखक—भिक्षु श्रीगौरीशंकरजी)

ईश्वरकी सत्तामें संशयके लिये अवसर ही नहीं है, इसलिये उसमें सन्देह करना उचित नहीं है । क्योंकि इस विषयको दर्शनकारोंने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, योगीजनोंने इसे योगाभ्यासके द्वारा प्रत्यक्ष किया है, धर्ममें विश्वास रखनेवालोंकी ईश्वरमें निष्ठा सदासे निश्चलरूपसे चली आती है और सर्वसाधारणकी धारणा तो ईश्वरकी सत्तामें परम्परासे देखनेमें आती ही है, अतः इस विषयपर कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है; परन्तु आजकल कुछ लोगोंको पाश्चात्य-विद्या-पिशाचिनीके संस्कारोंसे तथा पाश्चात्य-संसर्गसे 'ईश्वर है या नहीं है,' इसप्रकारकी कुभावना पैदा होने लगी है । पाश्चात्य-देशोंमें नास्तिकता-का ज़ोर है, परन्तु वहाँ भी दैत्यपुरीमें प्रह्लादके समान ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेवाले लोग पाये जाते हैं । कुछ ही दिन पहलेकी बात है । यूरोपके एक प्रधान नगरमें एक पुरुष रहता था जो ईश्वरकी सत्ताको सर्वत्र देखता था, परन्तु दूसरे पुरुषोंके विलासके लिये वह कहा करता था कि 'भाई, परमात्मा कोई वस्तु नहीं है और न कोई उसको सिद्ध ही कर सकता है ।' विलासीजन प्रायः दूसरोंको चिढ़ाया करते हैं, अतः लोग उसको यह कहकर चिढ़ाने लगे कि 'ईश्वर है और उसे सिद्ध भी किया जा सकता है ।'

परन्तु इस मज़ाकका उसपर उलटा असर पड़ा, वह स्वयं निश्चय कर बैठा कि ईश्वर यथार्थमें नहीं है । अपने इस निश्चयका वह प्रचार भी करने लगा । एक दिन वह बहुत-से पुरुषोंके बीच बैठा कह रहा था कि 'आज मैं आपलोगोंके सामने परमेश्वरको सौ गालियाँ दूँगा । इससे यदि किसी प्रकारका दण्ड मुझको न मिला तो यह निश्चय हो जायगा कि ईश्वर है ही नहीं ।' इतना कहकर वह गन्दी गालियाँ बकने लगा और साथ ही यह भी कहने लगा कि 'देखो भाई, आज साधारण मनुष्य भी किसीकी ऐसी गाली नहीं सह सकता, परमात्मा तो परम पुरुष कहलाता है, वह यदि होता तो क्योंकर सहता ?' इतना कहना था कि अकस्मात् उसके ऊपर किसी पक्षीने बींट कर दी और उसी समय उसका शरीर दग्ध होने लगा । अब वह मनुष्य व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगा और नम्रतापूर्वक प्रभुके पवित्र नामोंका उच्चारण करते हुए लोगोंसे कहने लगा, 'देखो भाई, मुझे मज़ाकका फल मिल रहा है । अब आपलोग इससे सीख सकते हैं कि किसीको ईश्वरकी महत्ता या उसकी सत्तामें कभी सन्देह न करना चाहिये ।' इस आश्चर्यजनक घटनाका अबतक वहाँ प्रभाव है । अतः हमलोगोंको भी, 'ईश्वर नहीं है,' इसप्रकारकी बात कभी दिल्लगीमें भी नहीं कहनी चाहिये । ईश्वरकी सत्तामें स्वप्नमें भी सन्देह करना उचित नहीं है ।

प्रभो

प्रभो ! एक क्षुद्र प्राणी जिसे अपने ही अस्तित्वका पता नहीं, तुम्हारा अस्तित्व सिद्ध करनेका हास्यास्पद प्रयत्न कर रहा है, कहाँ तुम्हारी अनन्त शक्ति और कहाँ यह तुम्हारे ही हाथोंका बना एक छोटा-सा खिलौना !

लीलामय नटवर ! तुम्हारी लीला अनन्त आश्चर्यमयी अलौकिक है । इसकी मोहिनी मायाकी चमकमें चौंधिया-कर मेरे चर्म-चक्षु अज्ञानान्धकारकी काली यवनिकासे ढक गये । ग़ज़ब हो गया नाथ ! भूल गया अपने स्रष्टाको इस विज्ञानमयी भुलावनी विषय-तृष्णामें फँसकर ! बुद्धि तुम्हारे अस्तित्वमें भी सन्देह करने लगी ।

बचाओ स्वामिन् ! बुद्धि दो, वही शान्तिप्रदा स्थिर बुद्धि जिसे पाकर तुम्हें भलीभाँति समझ सकूँ ! 'मैं' के भ्रममें भ्रमित इस अनाथको सहारा दो नाथ ! नहीं तो इस अभिमानकी मस्तीमें मदमत्त हो यह मत्त पाप-पंकमें धँस जायगा ।

चाहे जितने अपराध क्यों न करूँ, पर हूँ तुम्हारी ही एक क्षुद्र-सन्तान ! प्रभो ! अपना मंगलमय हाथ मेरे मस्तक-पर रख मुझे अभय कर दो, जिससे फिर ऐसी भूल कभी न हो और तुम्हारे दिखलाये पथपर चिरकालतक चलता रहूँ ।

प्यारे मालिक ! यह जीवनकी जीर्ण तरी तुम्हारे हाथों समर्पित है, मेरी सारी भूलोंको भुलाकर सँभालो अपनी चीज़को, यह जीर्ण-से-जीर्ण होकर टूट जाय तुम्हारे चरणतलमें ।

—मोहन

अनीश्वरवादसे जगत्‌का संहार

(ले०—राजाबहादुर श्रीश्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव एम० आर० ए० एस० पुरातत्त्व-विशारद, विद्यावाचस्पति)

ईश्वर ही एकमात्र सनातन-तत्त्व है। वेदोंने उसे सत्य एवं अनन्त बतलाया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।' 'द्यावाभूमी जनयन् देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।' अर्थात्—ब्रह्म आद्यन्तहीन है, वह ज्ञानरूप एवं आनन्दमय है।…… वह पृथ्वी एवं आकाशका रचयिता है, विश्वका अधिपति है एवं त्रिभुवनका रक्षक है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

> य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
> उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
> न जायते म्रियते वा कदाचि-
> न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
> न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

जो मनुष्य ईश्वरको जन्मने एवं मरनेवाला मानता है वह मूर्ख है। वस्तुतः आत्मा नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, वह शरीरके नाशसे नाश नहीं होता है। आत्मा इस अनित्य देहरूपी कारागारमें आबद्ध है, किन्तु जो लोग ज्ञानी हैं वे कर्म-फलके संन्यासके द्वारा अर्थात् भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सब कुछ निवेदन करके उसीका निरन्तर स्मरण करते हुए इस कारागारसे मुक्त हो जाते हैं।

यदि जीव और ईश्वरमें भेद न होता तो ईश्वरकी सृष्टिका भोग नहीं बनता। उदाहरणके लिये किसी फलका आस्वादन तभी सम्भव होता है जब फल एवं उसका भोक्ता दोनों ही हों। यदि दोनोंमेंसे एकका भी अभाव हो तो आस्वादन नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव एवं ईश्वरकी भिन्न सत्ता होनेसे ही ईश्वरकी सृष्टिका भोग होता है। यदि हम ईश्वरकी सत्तामें विश्वास न करें तो जीवोंकी सृष्टि निष्फल हो जाती है और ऐसी दशामें जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परन्तु जो लोग यह समझते हैं कि सृष्टि बिना किसी कारणके ही उत्पन्न हो गयी, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। हम देखते हैं कि बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। उदाहरणतः घड़ा बनानेके लिये हमें मिट्टी, डोरी, चाक, जल और कुम्हार, इतने कारणोंकी आवश्यकता होती है। जिसप्रकार घड़ेकी उत्पत्ति इतने कारणोंके समवायसे होती है इसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी किसी-न-किसी पुरुषके प्रयत्नका फल होना चाहिये। जिसप्रकार साधारण प्रयत्नसे साधारण कार्य होते हैं इसी प्रकार असाधारण प्रयत्नसे असाधारण कार्य होते हैं। यह सृष्टि साधारण प्रयत्नसे नहीं हो सकती। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि इसे उत्पन्न करनेवाला कोई असाधारण पुरुष अवश्य है। वह असाधारण व्यक्ति ईश्वर है। उसकी सत्ताको अस्वीकार करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना किसी बालकका माता-पिताकी सत्ताको अस्वीकार करना। अतः ईश्वर इस सृष्टिका वास्तविक कारण है। हम प्रायः देखते हैं कि कार्यके न रहनेपर कारणके अभावका अनुमान होता है। उदाहरणके लिये जब हमारे पास कोई घड़ा नहीं होता उस समय हमें उसके कारणोंके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार यदि हम ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करें तो हमें विश्वकी सत्ताका भी निषेध करना होगा। विश्वकी सत्ता उसके रचयिताकी सत्तामें सच्चा प्रमाण है।

ईश्वर न होता तो लोग पाप और पुण्यका विचार ही क्यों करते? यदि हमें अपने कर्मका फल देनेवाला कोई न हो तो हमारे लिये यह विचारनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कौन-सा कार्य उचित और कौन-सा अनुचित है, क्योंकि उन्हें देखनेवाला और उनकी शुभाशुभताका निर्णय करनेवाला कोई नहीं है। हमारे अन्दर पापसे बचनेकी तथा धर्माचरण करनेकी जो आन्तरिक प्रवृत्ति होती है वह ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है!

पुराणोंमें लिखा है कि ईश्वर आनन्दका भण्डार है, वह आनन्द इन्द्र, अग्नि अथवा अन्य किसी देवताको भी प्राप्त नहीं है। उस आनन्दकी प्राप्तिके लिये मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है और सदाचारमें प्रवृत्त होता है। उसके सत्कर्मोंके फलस्वरूप उसका भविष्य-जीवन सुखमय हो जाता है।

जिसप्रकार दीपकके बिना भवन अन्धकारमय हो जाता है और गृहपतिके अभावमें सारा गृहस्थ चौपट हो जाता है उसी प्रकार ईश्वरके बिना मनुष्यकी उन्नति असम्भव है। ईश्वरके अस्तित्वमें अविश्वास करना अपने-आप अपना संहार करना है। ईश्वरको न माननेसे उच्छृंखलता फैल जाती है और संसार दुराचारका आगार बन जाता है। अतः ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये।

ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज)

'ईश्वर है या नहीं' इसप्रकारका विकल्प अशिक्षित बुद्धिवालोंको हुआ करता है। शिक्षित बुद्धिवाले ऐसा विवाद नहीं करते, क्योंकि वे 'ईश्वर है' इसप्रकार जानते हैं और उसका अपरोक्ष अनुभव करते हैं। 'ईश्वर नामका कोई भी तत्त्व नहीं है,' यह किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, 'ईश्वर एक तत्त्व है' यह प्रमाण-निपुण विद्वानोंके द्वारा सब प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। 'यदि परमेश्वर नहीं है तो जगत् भी नहीं है', इसप्रकार शश-विषाण (खरगोशके सींग) के समान जगत्‌की रूप-हीनताकी आपत्ति होती है जिसका पर्याय शून्य भी है। परन्तु यह कथन अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जगत्‌का अस्तित्व सिद्ध है। घट है, पट है, नाग (हस्ती) है, नग (पर्वत) है, नगर है इत्यादि घट-पट आदि विभिन्न आकारोंका संसार है, यही सब मनुष्य स्वीकार करते हैं। जगत् नहीं है, इसे न तो कोई स्वीकार करता है और न व्यवहारमें लाता है। ऐसी अवस्थामें सत्ताविशिष्ट इस उपादेयात्मक अर्थात् कार्यभूत जगत्‌का कोई सत्ताविशिष्ट उपादानात्मक कारण होना आवश्यक है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं; जैसे लोकमें स्वर्ण-निर्मित कुण्डल, कङ्कण, मुद्रिका आदि कार्योंका उपादान स्वर्ण देखा जाता है। इसलिये इस सत्तात्मक वस्तु-जगत्‌का कारण तथा समस्त कार्योंमें समवेत ईश्वर-तत्त्व है। उस ईश्वर-तत्त्वके नास्तित्वका समर्थन अपनेको दार्शनिक माननेवाले प्राचीन अथवा आधुनिक पुरुष कैसे कर सकते हैं ?

सत्तात्मक होनेसे ईश्वरकी ज्ञानात्मकता तथा अनन्तता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जड और परिच्छिन्न वस्तुमें सत्ता अर्थात् अविनश्वरता नहीं रहती—जो जड और परिच्छिन्न वस्तु है वह विनाशशील और असत्य है, ऐसा लोकमें देखा जाता है। इसलिये सत्य और ज्ञानरूप परमात्मा देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न हैं, तथा सर्वस्वतन्त्र शोकरहित प्रत्यगात्माके भी आत्मा एवं समस्त प्राणियोंके परम प्रेमपात्र होनेके कारण असीम आनन्दघन, और जगत्‌के आधारभूत भी हैं, इसमें कौन बुद्धिमान् सन्देह कर सकता है? बल्कि कर्त्ताके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, स्वर्णकारके बिना कुण्डल आदि नहीं बन सकते, इसलिये जगत्‌का कर्त्ता होनेसे ईश्वर निमित्तकारण भी हैं। तथा वही परमात्मा विश्वका उपादानभूत, सर्वस्व, सर्वशक्तिमान् अद्वितीय एवं सत्यज्ञानानन्दस्वरूप हैं, यह आपाततः स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त इतर वस्तु है ही नहीं। वही सृष्टि करके जगत्‌को स्थितिकालमें नियमित करते हैं। 'अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत्‌के कर्त्ता एवं नियामक हैं' यदि यह स्वीकार न किया जाय तो यह बतलाना होगा कि किसकी शक्तिसे नियन्त्रित होकर ये सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने स्थानोंका अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इससे यह भलीभाँति निश्चय हुआ कि सबके कर्ता तथा सबके नियामक परमात्मा हैं, जिनकी शक्तिसे यह समस्त सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। भगवती श्रुति भी अत्यन्त गम्भीर शैलीसे इसी अर्थका प्रतिपादन करती है—

> 'भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः'
> 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे' इत्यादि।

जिसके भयसे वायु, सूर्य, चन्द्र, नदी, समुद्र प्रभृति मर्यादाका अतिक्रमण न करके अपने कर्ममें निरन्तर परिनिष्ठित देखे जाते हैं, वह 'सर्वेश्वर सर्वनियामक है' ऐसा समझना चाहिये; 'वह नहीं है' ऐसा समझना ठीक नहीं। इसप्रकार केवल न्यायके बलसे ही नहीं बल्कि अनुभवके बलसे भी विद्वानोंको ईश्वरकी सिद्धि होती है। विद्वान् परमहंस योगीजन सम्यक् पराभक्ति नामक अध्यात्मज्ञानदीपके प्रकाशसे उस सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरका प्रत्यक्ष करके उसमें सदा रमण करते हैं। इस-प्रकार निरन्तर हृदयके अभ्यन्तर साक्षात् ईश्वरका अनुभव करनेवाले हमारे प्राचीन महर्षियोंके उद्गारस्वरूप इन सूत्रात्मक वाक्योंको सब लोगोंको समझना चाहिये—

> 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'

—इत्यादि ईश्वरके लक्षणपरक वाक्य उपनिषदोंमें प्रसिद्ध हैं। ये वाक्य शुष्क अनुमानमात्रका सहारा लेनेवाले, वस्तुतत्त्वका कुछ भी अनुभव नहीं रखनेवाले लोगोंके लिये नहीं हैं, यह विशेषरूपसे कहना है। अतः यह बात सिद्ध होती है कि कोई निराकांक्ष परमेश्वर-सत्त्व अवश्य है और वह भी सत्तामात्र है, इसपर अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त विचारोंसे यह समर्थन किया गया कि ईश्वर-का मुख्य स्वरूप पारमार्थिक, निराकार एवं अपरिणामी है। अब उसके जो व्यावहारिक परिणामी तथा अप्रधान (गौण) अनेक रूप हैं उनकी भी उपपत्तिपूर्वक सिद्धि की जाती है। यदि अनुमान और अनुभवसे सत्तामात्रस्वरूप जगत्का कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, कोई वस्तु ईश्वरपदवाच्य स्वीकार की जाती है तो 'वह वस्तु भक्तजनोंके ऊपर अनुकम्पित हो उनके द्वारा कल्पित भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होती है' ऐसा माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती। तथा स्वयं निराकार भगवान् भी चतुर्भुज, चतुर्मुख, त्रिनेत्र आदि, और राम-कृष्ण आदि विभिन्न आकारोंको धारण करते हैं, एवं भक्तजनोंके दर्शन, कीर्तन और भजनका विषय बनते हैं, इसमें भी कुछ अयुक्त नहीं जान पड़ता। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् 'जो भक्त जिस स्वरूपसे मेरी अनन्य भक्तिके द्वारा उपासना करते हैं मैं उन्हें उसी स्वरूपसे दर्शन देकर अनुगृहीत करता हूँ।'

पुनः भक्तोंके सङ्कल्पके अनुसार करुणावरुणालय पर-मात्माने यथासमय उनके आगे अवतार धारण किया है और उन भक्तोंने भगवान्के सम्मुख रूपको नेत्रोंसे देखकर अपने जन्मको कृतार्थ किया है। भक्तवत्सल परमेश्वरने उन लोगोंको अभीष्ट वरदान देकर अनुगृहीत किया है, यह सब वृत्तान्त पुराण तथा भगवद्-चरित्रके जाननेवाले विद्वानोंसे छिपे नहीं हैं। जिसप्रकार अतीतकालमें ध्रुव, प्रह्लाद आदि तथा श्रीचैतन्य, तुलसीदास, मीराबाई प्रभृति श्रेष्ठ भक्तजनोंने अपने मन-कल्पित मनोहर स्वरूपों-से अन्तर्यामी भगवान्का साक्षात् दर्शन किया था, उसी प्रकार आज भी कोई भी श्रद्धालु पुरुष अपनी अनन्यभक्तिके द्वारा अपनी भावनाके अनुसार कल्पित साकार स्वरूपसे परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। इस विषयमें किसी भी विद्वान्को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैदिक धर्मावलम्बियोंके समान वेद-बाह्य इस्लाम तथा ईसाई-धर्मके अनुयायी भी अपनी-अपनी भावनाके अनुकूल अपने परम इष्टरूपसे परमात्माको मानने, दर्शन, उपासना तथा कीर्तन करनेके योग्य हैं। इसका कोई भी निषेध नहीं कर सकता। *यदि हम हिन्दूलोग चतुर्भुज आदि स्वरूपसे अपने प्यारे अन्तर्यामी भगवान्की उपासना तथा उनका साक्षात् दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं तो इतर धर्मावलम्बी भी अपने अनुकूल परम इष्टरूपसे उस प्रियतम परमात्माकी उपासना तथा उनका दर्शन क्यों नहीं कर सकते? अवश्य ही वे लोग भी ईश्वरका दर्शन कर सकते हैं, यह न्याय तथा अनुभवसे सिद्ध है।'*

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

अर्थात् एक अपरिणामी पारमार्थिक ईश्वरतत्त्व ही विद्वानोंके द्वारा अनेक प्रकार तथा स्वरूपोंसे व्यवहृत होता है, इस परम सत्यको आजसे हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वपुरुषोंने उच्चस्वरसे घोषित किया था। इसलिये हम वैदिक धर्मकी सहिमाको धन्य समझते हैं।

अतः श्रद्धालु और अधिकारी पुरुषोंके द्वारा स्वयं निराकार परमात्माकी भी साकाररूपसे उपासना और उनका साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। इसप्रकार *भक्तजनोंके मनको आनन्दित करनेवाले, जगत्को अनुगृहीत करनेवाले जगद्-प्रतिपालक परमेश्वरके साकार स्वरूप* भी हैं, ऐसा समझना चाहिये। 'उसके साकार रूप नहीं हैं' ऐसा समझना कदापि ठीक नहीं। यही क्यों, पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानोंमें सबसे प्रधान प्लेटो, अरिस्टाटल, काण्ट, हेगल आदिने भी परमेश्वर-तत्त्वका प्रतिषेध नहीं किया है। यह बात उन महाशयोंको जाननी चाहिये जो महर्षि व्यास आदि प्राच्य मुनिवरोंके वाक्योंकी अपेक्षा पाश्चात्यों के वचनोंको ही प्रबल प्रमाण मानते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि वाणी और मनके गोचर न होने तथा कार्य-कारण-भावसे परे होनेके कारण प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणसे ईश्वर-तत्त्वका अच्छी तरह निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु उनका यह सिद्धान्त ईश्वरकी असत्ताका प्रतिपादन नहीं करता बल्कि ईश्वर तत्त्वके निर्णय करनेमें उनके असामर्थ्यका द्योतन करता

है। इसप्रकार इनके द्वारा स्वयं ईश्वरकी महिमाका समर्थन होता है। बल्कि, यदि सर्वनियामक परमेश्वर साकार अथवा निराकार हैं तो उनकी उपासनाके द्वारा प्राप्त होनेवाला उनका दर्शन ही मानव-समाजका मुख्य धर्म है, इस बातमें किसी भी सदसद्विवेकमें समर्थ विद्वान्‌को संशय नहीं हो सकता। जगत्पिता परमात्माकी उपासना तथा उसका साक्षात्कार करनेका अधिकार मनुष्यको ही है, पशुओंको नहीं, यह बात हमें विशेषरूपसे याद रखनी चाहिये। चारों पुरुषार्थोंमें ईश्वर-दर्शनरूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, अर्थ और काम नहीं। इस प्रसिद्ध पुरुषार्थके जाननेवाले हमारे पूर्वज महर्षियोंने इस भारतवर्षमें अन्य देशोंके लिये ईश्वर-दर्शनमें लगानेवाली अपूर्व धर्म-मर्यादाको निश्चित कर उसका सम्यक् प्रचार किया था। यह हम भारतीयोंके लिये परम सौभाग्यकी बात है। स्नान, भोजन, मैथुन आदि सर्वसाधारणके समस्त कर्म भी जिसप्रकार परम्परासे ईश्वरानुभवमें साधक बनें उसी प्रकार उन्हें उन्होंने धर्मके रूपमें योजित किया है। ऐसी भारतीय धर्म-मर्यादाकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि स्नान, भोजन, मैथुन आदिका आचरण विषयके आनन्द-भोगके लिये नहीं है बल्कि परम्परासे मोक्षके लिये है। देखते-देखते नष्ट हो जानेवाली भौतिक सम्पत्ति नहीं, बल्कि नित्यानन्दस्वरूपिणी अध्यात्म-सम्पत्तिको प्राप्त करना ही उनका परम लक्ष्य था। इस प्रकृत धर्म-मर्यादाके सामर्थ्यसे ही आज भी हमारा हिन्दू-समाज सचेतन होकर जी रहा है। यह हमलोगोंके लिये अभिमानकी बात है। जगत्‌के इतिहासका निरीक्षण करनेपर यह कोई भी स्पष्टतः जान सकता है कि बहुतेरे समाज भौतिक सुख-सम्पत्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हुए वर्षाऋतुके छोटे-छोटे गुल्म आदिकी भाँति तत्तत्कालमें तत्तत्स्थानोंमें उदित हुए, बढ़े और नष्ट हो गये। परन्तु हिन्दू-समाज भौतिक सम्पत्तिसे संयुक्त अथवा वियुक्त होकर अध्यात्म-श्रद्धारूपी कवच शरीरमें धारणकर एकरूपसे पूर्वके समान आज भी जीवित है। यह बात ऐतिहासिक लोग मानते हैं तथापि विषयतृष्णासे अन्धबुद्धि हुए अपनेको पण्डित समझनेवाले आधुनिक पुरुष परोक्षरूपसे भी परमात्माके अस्तित्वका निर्णय करनेमें असमर्थ होकर, जैसे दिवान्ध (उल्लू) पक्षी स्वयं सूर्यके दर्शनमें असमर्थ हो त्रिभुवनको सूर्यके अस्तित्वसे शून्य प्रमाणित करता है, वैसे ही जो निर्लज्जताके साथ संसारको ईश्वरहीन कहते हैं, वे चाहे स्वदेशी हों या विदेशी, ईश्वरवादी यथार्थदर्शी पण्डितोंको उन बेचारोंपर दया करनी चाहिये।

भगवान्

इस 'ईश्वरांक' में ईश्वरके सम्बन्धमें अनेक ऐसे-ऐसे पूज्यचरण सन्तों, महात्माओं, विद्वानों और गुरुजनोंके लेख प्रकाशित हो रहे हैं कि जिनकी पवित्र चरण-धूलिको मस्तकपर चढ़ाकर मुझे अपना जीवन सफल करना चाहिये। इनमें कई महानुभाव तो ऐसे हैं, जिनके चरणोंमें बैठकर आजीवन उपदेश ग्रहण करना मेरे लिये परम सौभाग्यका विषय है। ऐसी अवस्थामें मैं क्या लिखूँ? मुझमें न तो योग्यता है और न कुछ लिखनेको मेरे लिये रह ही गया है। तथापि कुछ प्रेमी मित्रोंकी अभिलाषा देखकर मैं बहुत ही संक्षेपमें अपने विचार लिख रहा हूँ।

१-सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता हैं, वे अनिर्वचनीय हैं, अनुभवगम्य हैं।

२-भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं, भगवान् ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्‌मेंसे ही सबकी उत्पत्ति है उन्हींमें सबका निवास है, उन्हींमें सब लय होते हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्त्ता वही हैं। वे सत् हैं, सत्-असत् हैं, सत्-असत् दोनोंसे परे हैं। सब कुछ उनमें है, वे सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं। ये सभी बातें अपनी-अपनी सीमामें सत्य हैं। इतनेपर भी भगवान् इन सबसे विलक्षण हैं। जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है, सब शाखाचन्द्र-न्यायसे उनका लक्ष्य करानेके लिये ही है।

३-भगवान् सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वशिरोमणि, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव, सुन्दर, गुणातीत और कालातीत हैं। वे निर्गुण हैं, सगुण हैं, निराकार हैं, साकार हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है। अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर देना उनकी लीलामात्र है। वे कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसमर्थ हैं।

४–वे एकदेशीय, एककालीन न होते हुए ही अवतार लेते हैं, प्रकट होते हैं, भक्तको उसकी इच्छानुसार दिव्य साकार दिव्य विग्रहमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। यह सर्वथा सत्य है। वे परम दयालु, परम सुहृद्, परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्वामी, सखा सब हैं। वे पतितपावन, दीनबन्धु, अशरणशरण, भक्तवत्सल हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकार रूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पक्षपातहीन, सबके आश्रय, शुभ-प्रेरक, अशुभ-बाधक, रक्षक, योगक्षेमवाहक, शरणागतवत्सल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५–उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंसे आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही हैं, उनको पानेके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जैसे भगवान्की एकतामें कभी द्वैत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य स्थान एक है, परन्तु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६–अपने-अपने पथपर चलकर सबको भगवान्की ओर आगे बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७–जो इस उद्देश्य-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान् हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। इस भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८–ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना वस्तुतः महापाप है। इस महापापसे सबको सदा बड़ी सावधानीके साथ बचना चाहिये।

९–'ईश्वर है' यह विश्वास दृढ़ और पूर्ण होनेपर सारे दोष आप ही मिट जायँगे और सदाके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेसे ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०–इसके लिये सन्त-महात्माओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक श्रवण, मनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्से आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११–भगवान्के नामका जप प्रेमसहित सदा करते रहना चाहिये। जीवन बीता जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पछतावेका पार नहीं रहेगा।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार

स० श्रीचन्द्रजी और बा० जहाँगीर

(प्रेषक—श्रीसन्तप्रसादजी, साधुबेला)

बादशाह-हिन्दू कहते हैं कि 'ईश्वर साकार है' फिर वह दिखलायी क्यों नहीं पड़ता?

सद्गुरु–निराकार ईश्वरने ही साकार जगत्का रूप धारण किया है, यह सारा जगत् ईश्वररूप है। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप इन पाँच वस्तुओंसे यह जगत् बना है। इनमें अस्ति–सत्, भाति–चित् और प्रिय–आनन्द ये तीन ब्रह्म–ईश्वर हैं, और नाम, रूप जगत् है, ये दोनों नाश होनेवाले हैं, इसीलिये जगत् नाशवान् कहलाता है, पर सत्, चित्, आनन्दरूपसे ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, अतः सर्वव्यापक है।

बादशाह–आपके हिन्दू-मतसे खास-खास मन्दिरोंमें ईश्वरको विराजमान समझकर मूर्ति-पूजा की जाती है, तब फिर ईश्वर सर्वव्यापक कैसे हुआ?

सद्गुरु–सांसारिक व्यवहारमें लगे हुए जीवोंको ईश्वरकी सर्वव्यापकता समझाने एवं उनके चित्तको एकाग्र करनेके लिये ही मूर्ति-पूजा है। यह पत्थर या धातुकी पूजा नहीं है, पर पत्थरमें व्यापक ईश्वरकी पूजा है, पत्थरका नाम लेकर पूजा नहीं की जाती, ईश्वरका नाम लेकर की जाती है।

संसारके प्रत्येक मत-मतान्तरवाले अपने-अपने खास ढंगसे पूजा करते हैं, इसका क्या मतलब है? यही कि, उक्त मतवाले परमात्माकी प्राप्तिका वही मार्ग समझते हैं जो उनके आचार्योंने बतलाया है। हमारे हिन्दू-धर्ममें तो यहाँतक कहा है कि—'जले विष्णुः, स्थले विष्णुः' सब जगह ईश्वरको व्यापक समझो, इन मूर्तियोंमें भी यही ईश्वर है, उसी सर्वव्यापी ईश्वरकी पूजा करो। इस मूर्ति-पूजासे तो ईश्वरकी सर्वव्यापकता ही सिद्ध होती है, यह तो हृदय शुद्ध करनेका एक मार्ग है, क्योंकि पवित्र हृदय होनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है।

ईश्वर सर्वव्यापक हैं, पर उनको देखनेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता पड़ती है। जिसप्रकार दूधमें घी दिखलायी नहीं पड़ता, काष्ठमें अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती, पर दधिको मन्थन करनेसे घी और काठको रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिसे सद्गुरु एवं सत्संग-द्वारा श्रवणकर, मूर्ति-पूजा, भक्ति, योग आदि साधनोंसे निर्मल अन्तःकरण होनेपर ईश्वरज्ञान होता है। इसीसे जीवका कल्याण होता है।

क्षमा-याचना

गत वर्ष कल्याण और सर्व-कल्याणाधार श्रीभगवान्‌के प्रेमी, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके एक प्रोफेसर महोदयने बातों-ही-बातोंमें कहा कि 'कल्याणमें ईश्वरवादकी सिद्धिके सम्बन्धमें कुछ चर्चा होनी चाहिये। इस समय देशमें कई कारणोंसे अनीश्वरवादकी ओर लोगोंका कुछ झुकाव हो रहा है, ऐसी अवस्थामें ईश्वरवादके समर्थनमें कल्याणमें कुछ लेखोंका प्रकाशित होना अति आवश्यक है।' उस समय कल्याणका 'कृष्णांक' प्रकाशित हो चुका था। इसके बाद जब अगले वर्षके विशेषांकके सम्बन्धमें विचार होने लगा, तब प्रोफेसर महोदयके शब्दोंके संस्कार हृदयमें जग उठे और सर्वसम्मतिसे ईश्वरांक प्रकाशित करना निश्चित हो गया और तभीसे—गत पौषमाससे ही 'ईश्वरांक' की तैयारी आरम्भ कर दी गयी। काम बहुत बड़ा था, हमलोग अपनी शक्तिकी अल्पताको खूब जानते थे, इससे बीच-बीचमें साहसमें कमी होना स्वाभाविक था, परन्तु ईश्वरकी अपार कृपाके भरोसे काम चलने लगा। देश-विदेशके सम्मान्य सन्तों और विद्वानोंसे लेखोंके लिये प्रार्थना की गयी और अति आनन्दकी बात है कि हमारी प्रार्थनाका बड़ा ही आशातीत उत्तर मिला। ईश्वरांकके लिये इतने लेख आये कि परिशिष्टांकसहित ६०० से अधिक पृष्ठकी बहुत ठोस सामग्री दी जानेपर भी संख्याके हिसाबसे दो तिहाईसे अधिक लेख रह गये। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि अभी भारतवर्षमें ईश्वरपर जितना विश्वास है, उसको देखते अविश्वासका प्रचार करनेवालोंकी संख्या आटेमें नमक जितनी भी नहीं है।

यह सत्य है कि न तो ईश्वरका यथार्थ स्वरूप ही शब्दोंसे बतलाया जा सकता है और न प्रमाणोंके बलपर किसीके हृदयमें ईश्वरका विश्वास ही कराया जा सकता है। ईश्वर-विश्वास तो ईश्वर-कृपासे ही होता है। फिर हम लोगोंमें तो ऐसी कोई योग्यता ही नहीं है जो ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ भी कह सकें। हम जब अपनी ओर देखते हैं तो हमें मुक्तकण्ठसे यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि हमारी शक्ति, हमारी योग्यता और हमारी आकांक्षाका फल यह 'ईश्वरांक' नहीं है। भगवान्‌ने कृपा करके इसी बहाने इस पवित्र चर्चामें जीवनका कुछ अंश बितानेका सुअवसर दे दिया; और भगवत्प्रेरणासे सन्त-महात्मा, विद्वान् और प्रेमी महानुभावोंने लेख लिखकर, चतुर चित्रकारोंने चित्र बनाकर तथा अन्यान्य प्रेमी महानुभावोंने विविध प्रकारसे सहायता कर हमें इस योग्य बना दिया जिससे हम अल्पशक्ति और अल्पमतिके व्यक्ति ईश्वरके नामपर यह ग्रन्थ आपलोगोंके सामने उपस्थित कर सके।

जिन महानुभावोंसे हमें इस कार्यमें सहायता प्राप्त हुई है उनके नामोंकी पूरी सूची तो बहुत बड़ी है, हम उन सभी सज्जनोंके हृदयसे कृतज्ञ हैं, परन्तु जिन महानुभावोंने सत्परामर्श देकर, लेखकोंके नाम-पते बतला कर, लेखकोंसे अनुरोध कर, अन्य भाषाओंके लेखोंका अनुवाद कर, चित्र प्रदान कर, सामग्री-संग्रहमें सहयोग देकर अथवा अन्य विविध प्रकारसे हमारी सहायता की है, उनमें मुख्यतया निम्नलिखित सज्जनोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक एम० ए०, पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए०, पं० श्रीगंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०, पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम०ए०, पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, आचार्य श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीरघुवर मिट्ठूलाल एम० ए०, महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा, पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०, श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, महाशय श्रीकाशीनाथजी, श्रीनारायणदास के० गान्धी सत्याग्रह आश्रम, श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, श्रीसदानन्दजी, श्रीतारापुरवाला, श्रीफिरोज सी० दावर, श्रीगुरांदित्ताजी खन्ना, पं० श्रीविष्णु वापट शास्त्री, श्री लिली एलन, व्यवस्थापक गीता-पाठशाला बम्बई, श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवाला, श्रीरामजीमल बाबूलाल, पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए०, श्री आर० एस० नारायण स्वामी, श्रीरामरक्खाजी गुरुकुल कांगड़ी, पं० श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी बी० ए०, सम्पादक डान Dawn, सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार, पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री विद्यानिधि, सोहनलालजी गोयलीय आदि आदि।

इसके अतिरिक्त हम अपने परम प्रिय श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए० महोदयके बहुत ही ऋणी हैं, जिन्होंने

आरम्भसे अन्ततक विविध प्रकारकी सहायता देकर इस अङ्कको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेमें सच्चे हृदयसे अपनी शक्तिका पूरा प्रयोग किया है। यद्यपि खास पदपर प्रतिष्ठित होनेके कारण वे इस अङ्कके सम्पादकरूपमें पाठकोंके सामने नहीं आ सके, तथापि इस अङ्कमें उनका बहुत कुछ प्रयत्न है, यह बात तो निर्विवाद ही है।

ईश्वरांकमें प्रकाशित सभी मत न तो कल्याण-सम्पादकके हैं और न कल्याणके ही हैं। यह बात पाठक ध्यानमें रक्खें। अस्तु।

ईश्वरांकके लिये हिन्दीके अतिरिक्त, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बङ्गला, उर्दू, अङ्गरेजी, फ्रेंच, गुरुमुखीमें अनेकों लेख आये थे, जिनका अनुवाद कराया गया। इस बारके लेखकोंमें युक्तप्रान्त, बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, मद्रास, पञ्जाब, राजपूताना आदि विभिन्न प्रान्तीय भारतीय विद्वानोंके अतिरिक्त इङ्गलैण्ड, अमेरिका, रूस आदि देशोंके विद्वान् भी हैं। इनमें सब सम्प्रदायोंके हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी हैं। इससे सबकी ईश्वर-प्रियताका पता लगता है।

हम अपने कृपालु लेखकों और कवियोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए विविध त्रुटियोंके लिये उनसे करबद्ध क्षमा-याचना करते हैं। लेखोंके बहुत अधिक आ जानेके कारण अनेक स्वीकृत लेख प्रेसमें देकर इच्छा न रहनेपर भी वापस लेने पड़े हैं। स्थानाभाव और अन्यान्य कारणोंसे काट-छाँट भी की गयी है। कई लेख अधूरे छपे हैं, तथा कुछका केवल अंशमात्र ही छपा है। इतना बड़ा अङ्क कर देनेपर भी सब लेख नहीं दिये जा सके, सब मिलाकर ४८६ कविता और लेख आये हैं, जिनमें केवल १२६ ही छप सके हैं। लेख न छप सकनेके अपराधके लिये कृपालु लेखक महोदय कृपाकर क्षमा करें।

इस अङ्कके लिये जितने विषय सोचे गये थे, उनमेंसे बहुत-से रह गये हैं। सरलता लानेकी चेष्टा करनेपर भी विषयकी गम्भीरतासे ईश्वराङ्क कुछ गम्भीर हो गया है। एक पूज्य महानुभावने इसके कुछ लेखोंको सुनकर कहा कि यह तो दर्शनांक है। अस्तु, जैसा कुछ है, आपके सामने है, अच्छे-बुरेका निर्णय आप ही लोग करें। हमलोग तो आप गुरुजनोंकी आज्ञाके वाहक हैं और उसमें सदा त्रुटि हो जानेकी ही सम्भावना है। इस अङ्कके सम्पादन करनेमें हमसे जो अनधिकार चेष्टा बन पड़ी है, गुरुजन, महात्मा, सन्त, ज्ञानी, भगवत्प्रेमी, ईश्वरपरायण, ईश्वर-मर्मज्ञ सुधी जन और पूज्य विद्वज्जन तथा अनुभवी सम्पादकगण उस धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें।

जो मनसा और वचसा भी अचिन्त्य और अगम्य है, उसे शब्दोंकी सीमामें व्यक्त करनेका हमारा यह प्रयत्न तत्त्ववस्तु या परमार्थकी दृष्टिसे केवल मोह-जनित ही है।

अविद्याको आधार बनाये बिना इसप्रकारका आयोजन हो ही नहीं सकता। पर आत्मसन्तोष इतना ही है कि अविद्याजनित प्रयास भी मृत्युसे पार उतरनेका एक साधन बनाया जा सकता है। विद्या और अविद्या दोनों ही नारायणी सत्ता या मायाके भेद हैं। उस मायासे छूटनेके लिये हमारी प्रार्थना यही है—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

सम्पादक

स्वीकृत

(१)

घरसे यह सोच उठी थी
उपहार उन्हें मैं दूँगी
करके प्रसन्न मन उनका
उनके शुभ आशिष लूँगी

(२)

पर जब उनकी वह प्रतिमा
नयनोंसे देखी जाकर
तब छिपा लिया अञ्चलमें
उपहार-हार सकुचाकर

(३)

मैले कपड़ोंके भीतर
तण्डुल जिसने पहचाने
वह हार छिपाया मेरा
रहता कब तक अनजाने

(४)

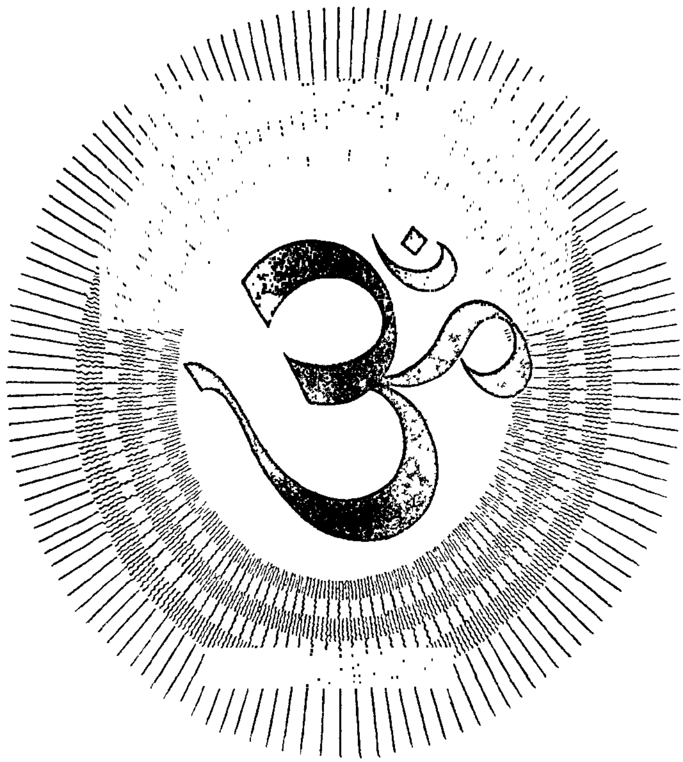
मैं लज्जित मूक खड़ी थी
प्रभुने धीमे मुस्काया
फिर खड़े सामने मेरे
होकर निज शीश झुकाया

—'बचन'

श्रीपरमात्मने नमः

परिशिष्टांक

प्रश्नोत्तरी



नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्त्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटियुगधारिणे नमः ॥

वर्ष ७
अंक २

कल्याण कार्यालय,
गोरखपुर

भाद्रपद
१९८

ॐ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनन्द भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् अगमय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

मीरा



गिरधारीलाल, चाकर राखोजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेपि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, भाद्रपद १९८९ सितम्बर १९३२ | संख्या २ पूर्ण संख्या ७४

कल्याण-प्रार्थना

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैलाः नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः ।
द्वीपाः नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु नो विश्वरूपः ॥

प्रार्थना

(१)

प्यारे ! तू ही हमसे अपनी कुछ प्रार्थना कराय तो कर सकते हैं, नहीं तो नहीं । तुझे रिझानेहारे हम होते कौन हैं ? न वह लगनसे लहराता हुआ मग्न मन है, न वह पीरको चूमती हुई रस भरी वाणी है और न प्रेम व सेवामें रँगे हुए हमारे वे सात्त्विक कर्म ही हैं । अब कैसे करें तेरी प्रार्थना ! सुनते हैं, प्रार्थनासे ही तो तेरी रीझका रास्ता हमें मिलेगा, पर यहाँ तो उस कूचेकी तरफ जानेको मन ही नहीं होता ।

नाथ ! हमारे अठलाते मनको यदि तू अपनी मुसक्यानकी रसरीसे बाँध ले, तब कहीं उसपर तेरी मानिनी रीझके मोहन मन्त्र अंकित हो सकेंगे ।

हमारी विषय विहारिणी वाणीको यदि तू अपने अद्वैत-रसमें भिगो दे, तभी वह प्रेम पीरमें मतवाली होकर तेरे मधुर नामकी रट लगा सकेगी । और, हमारे कठोरतम क्रूर कर्मोंको यदि तू करुणाके गहरे रंगमें डुबो दे, तभी वे तेरी परम प्रीतिको आलिङ्गन दे सकेंगे ।

अभी यह सब कहाँ है ! तेरे प्यार-भरे सकेतोंका अर्थ लगाना तो दूर रहा, हमारी रूठी हुई नजर भी उन-पर नहीं जाती । हम अन्धे हैं; आँखें हैं, पर अन्धे हैं । हम तेरे प्रकाशकी भीख माँगते हैं । सुझा दे प्यारे, अपनी रीझकी वह राह, वह गोकुलगाँवकी गली, फिर करा ले हमसे अपनी मन-चाही प्रार्थना, जितनी भी और जैसी भी तू कराना चाहे ।

हाँ, हम आज तेरे प्रेम प्रकाशकी भीख माँगते हैं—उसे माँगते हैं हम अन्धी आँखोंसे, भूले-भटके दिलसे, बौखलायी हुई वाणीसे और अपने काले-कुटिल कर्मोंसे । अय हमारे अनोखे स्वामी ! हम भिखारियोंकी इस तड़पती हुई माँगको ही यदि तू, अपना मन समझानेके लिए, प्रार्थनाके रूपमें ले रहा है, तो अच्छी बात है, मुफ्तमें ही हम तेरे प्रार्थियोंमें आ गये । पर तेरी सबसे बड़ी कृपा तो यही होगी, नाथ, कि हम प्रार्थना तो करते जायँ, पर मग्न रहा करें इसी बेखबरीमें, कि तेरी प्यारी रीझ हमारी गिरफ्तसे अब भी कोसों दूर है । अरे हाँ, एक तो वैसे ही तङ्ग आ गये हैं अपनी मदमाती खुदीसे, अब वह और गलेसे न लिपटे, बस यही तो तुझसे चाहते हैं ।

हममें जो कुछ भी 'हमारा' हो, उसे तू अपनी रीझके झीने तारोंमें उलझा ले, बस, इसीमें हमारे बेकार जीवनकी सारी उलझन सुलझ जायगी । तेरी खुशी, तेरी मर्जी, इसी अर्जको तू प्रार्थना मानता है, तो मानता जा, हमारा क्या वश !

प्यारे, प्रियतम, प्रभो ! कब सुझायगा तू अपने प्रेम प्रकाशका वह प्यारा रास्ता, कि जिसके सहारे मैं तेरे पैरोंको अन्तरात्माके ओठोंसे चूम सकूँगा ।

—वियोगी हरि

(२)

इन्दुं कैरविणीव कोकपटलीवाम्भोजिनीवल्लभं
मेघं चातकमण्डलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम् ।
माकन्दं पिकसुन्दरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषितं
चेतोवृत्तिरियं सदा प्रियवर ! त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते ॥

जिसप्रकार कुमोदिनी चन्द्रमाके लिये, चकवा-चकवी सूर्यके लिये, चातक-मण्डली मेघके लिये, भ्रमर गण पुष्पोंके लिये, कोयल आमके लिये तथा सुन्दरी सती अपने प्रवासी पतिके लिये उत्कण्ठित रहती है उसी प्रकार हे प्रिय परमात्मन् ! तुम्हारे दर्शनके लिये हमारी चित्तवृत्ति उत्कण्ठित हो रही है ।

नो मुक्त्यै स्पृहयामि नाथ विभवैः कार्यं न सांसारिकैः
किन्त्वायोज्य करौ पुनः पुनरिदं त्वामीशमभ्यर्थये ।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मन्दिरे
कान्तारे निशिवासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि ॥

हे प्रभो ! मैं न मोक्षकी इच्छा करता हूँ और न सांसारिक भोगोंकी, किन्तु करबद्ध होकर हे ईश ! मैं बार-बार तुझ स्वामीसे यही माँगता हूँ कि स्वप्नमें-जागृतिमें, स्थितिमें-गतिमें, दुःखमें सुखमें, घरमें-वनमें, रात्रिमें-दिनमें निरन्तर आपमें ही मेरी भक्ति रहे ।

राधे कृष्ण रमे विष्णो सीते राम शिवे शिव ।
यासि सासि नमो नित्यं योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

आप चाहे राधे हों चाहे कृष्ण, चाहे लक्ष्मी हों चाहे विष्णु, चाहे सीता हों चाहे राम, और चाहे पार्वती हों चाहे शिव, चाहे जिस स्त्रीरूप या पुरुषरूपमें आप हों आप (ईश्वर) को नित्य नमस्कार है, नमस्कार है ।

—सम्पा० रामनरसिंह हरलालका

ॐ

प्रश्नावली

१–ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

२–ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

३–ईश्वरके होनेमें कौन-कौनसे प्रबल प्रमाण हैं ?

४–अपने जीवनकी ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये, जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका विश्वास बहुत बढ़ा हो ?

उपर्युक्त चार प्रश्न कुछ चुने हुए सन्त-महात्मा और विद्वान् पुरुषोंकी सेवामें पत्रद्वारा भेजे गये थे, और कुछ ऐसे विरक्त महात्माओंकी सेवामें, जिनमेंसे अधिकांश जन-कोलाहल-शून्य तपोभूमियोंमें निवास करते हैं और लिखने-लिखानेका न तो सामान रखते हैं तथा न लिखना चाहते ही हैं, प्रश्नावली देकर श्रीप्यारेलालजी डागा और श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको भेजा गया था। बड़े ही आनन्दकी बात है कि बहुतेरे महानुभावोंने कृपा करके प्रश्नोंका उत्तर दिया है। चतुर्थ प्रश्नका उत्तर देनेमें सन्तोंने बहुत ही संकोच किया है। अपने जीवनकी शुद्ध आध्यात्मिक घटनाएँ बतलानेके लिये तो प्रायः ही अस्वीकार कर दिया। बात भी उचित ही है। सर्वसाधारणके सामने आध्यात्मिक अनुभवकी बातें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये। इसीलिये जिन महानुभावोंने कृपा करके कुछ बातें बतलायी थीं, उनको भी पूरा-पूरा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया, इससे वे छोड़ दी गयी हैं।

पहले प्रश्नका कुछ महानुभावोंने यह समझकर उत्तर दिया है कि 'ईश्वरको माननेमें क्या हेतु है' और कुछने यह समझकर कि 'ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है।' कुछने चारों प्रश्नोंका एक ही साथ उत्तर दिया है। जिन प्रेमी सज्जनोंने सन्तोंसे उत्तर लिखवानेमें सहायता की है, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं।

महात्मा गांधीजीसे भी इसी आशयके कुछ प्रश्न पूछे गये थे। उन्होंने यरवदासे उत्तर भी दिया था, परन्तु निम्नलिखित शब्दोंमें छापनेकी आज्ञा नहीं दी, इससे उन्हें नहीं छापा गया। महात्माजीके सत्यकी महिमाको बढ़ानेवाले शब्द ये हैं—

'छापना नहीं'........बात यह है सरकारी लोग मेरे खतोंका या विचारोंका प्रकट होना चाहते नहीं हैं, उनकी दृष्टि मैं समझ सकता हूँ और उसके अनुकूल यथाशक्ति चलता हूँ........यह सब व्यवहार विश्वाससे चलता है। सत्यको ही परम ईश्वर माननेवाला मैं इस विश्वासका घात करना नहीं चाहता हूँ।' अस्तु।

अब उपर्युक्त प्रश्नोंकी उत्तरावली प्रकाशित की जाती है, पाठक-पाठिकागण इससे यथेष्ट लाभ उठावेंगे। ऐसी आशा है। —सम्पादक

उत्तरावली

(१) स्वामी श्रीउड़ियास्वामीजी महाराज

१, २, ३—मनुष्य किसी नवीन वस्तुको देखकर उसके जाननेकी इच्छा करता है, जिसप्रकार बच्चा चन्द्रमाको देखकर अपनी मासे उसका नाम पूछता है, फिर उसे पकड़नेकी इच्छा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—१ वस्तुको देखनेकी, २ उसको जाननेकी और ३ उसे प्राप्त करनेकी।

उसका (जीवका) ज्ञान अपूर्ण है, इस बातको वह सदा अनुभव करता है और उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करता रहता है। वास्तवमें हम अल्प-ज्ञान, अल्प-शक्ति और अल्प-क्रिया हैं। इस अपूर्णताको पूर्ण करनेके लिये हमें ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये; हमारा अल्प-ज्ञान, अल्प-शक्ति तथा अल्प-क्रिया ईश्वरको माने बिना कभी पूर्ण हो ही नहीं सकती।

ईश्वरकी सत्ताको न माननेसे हम सदैव अल्प-ज्ञानी, अल्प-शक्ति तथा अल्प-द्रष्टा ही रहेंगे; ज्ञानी कभी नहीं हो सकेंगे। क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वाभाविक ही हमारी प्रवृत्ति संसारकी ओर होगी; फलतः हम जड़वादी और जड़मति हो जायँगे। जीवका स्वभाव प्रेम करना है—ईश्वरको न माननेसे वह विषयरूप संसारसे ही प्रेम करेगा।

अपने स्वाभाविक अल्प-ज्ञान, अल्प-क्रिया तथा अल्प-शक्तिका अनुभव होते रहनेसे स्वयमेव ही यह सिद्ध हो जाता है कि कोई एक ऐसा महान् जरूर है, जो पूर्ण-ज्ञान, पूर्ण-क्रिया और पूर्ण-शक्ति है। हमारी अपनी अपूर्णता ही किसीकी पूर्णता एवं महत्ताको सिद्ध करती है।

हम जानते हैं कि हम पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि-को केवल अपने व्यवहारमें ही ला सकते हैं, उनको मिला-कर कोई नवीन वस्तु भी बना सकते हैं, परन्तु हम उन मूल तत्त्वोंका निर्माण कभी नहीं कर सकते।

हमारी यह अशक्ति ही किसी महान् शक्तिको सिद्ध करती है। जो जिस वस्तुका निर्माण-कर्ता होता है, वही उसका द्रष्टा भी होता है। हम इन पञ्च महाभूतोंके और इस अखिल ब्रह्माण्डके न स्रष्टा हैं, न द्रष्टा हैं और न ज्ञाता ही हैं। हमारी यह अल्प-दृष्टि तथा अनभिज्ञता ही किसी सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञके अस्तित्वको सिद्ध करती है।

जो लोग परमात्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, उनको यह तो अवश्य मानना पड़ता है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पञ्च महाभूतोंका तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका कोई कर्ता अवश्य है, क्योंकि जड वस्तु अपने आप 'निर्मित' नहीं हो सकती, दो वस्तुओंके मिलनेसे तीसरी अवश्य बन जाती है, पर उसमें भी मिलानेवाला कोई कारण होता है। मिलाई जानेवाली मूल वस्तुओंका कर्ता होना तो अवश्यम्भावी है, परन्तु उसे लोग न तो स्पष्ट देख सकते हैं, न सूक्ष्म बुद्धिद्वारा उसका अनुभव ही कर सकते हैं, इसलिये किंकर्तव्यविमूढ होकर बिना समझे-बूझे अनायास ही यह कह बैठते हैं कि सब कुछ अपने-आप ही बन गया। यद्यपि वे यह अवश्य अनुभव करते हैं कि उनका ऐसा कहना नितान्त ही निराधार, निस्सार एवं निर्मूल है।

निज-निर्मित वस्तुओंको हम बना सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं परन्तु ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको न हम बना सकते हैं और न नष्ट कर सकते हैं।

हम जलसे बर्फ और मिट्टीसे ईंट बना सकते हैं और उन्हें बिगाड़ भी सकते हैं परन्तु जल तथा मिट्टीको न हम निर्माण कर सकते हैं, न हम उन्हें नष्ट कर सकते हैं। जब हम अपने विचारसे उन्हें नष्ट हुआ समझते हैं, तब भी वे वास्तवमें नष्ट नहीं होते, केवल उनका रूपान्तर हो जाता है। हमारी यह असमर्थता ही उस सर्वसमर्थके अस्तित्व-को सिद्ध करती है। हमारी सामर्थ्य और शक्तिका ह्रास प्रतिक्षण होता रहता है, ईश्वरकी शक्ति कभी न तो घटती है, न नष्ट होती है, ईश्वर सदा-सर्वदा एकरस रहता है।

हमारी असमर्थता और लघुता इसीसे प्रकट है कि निरन्तर अनेकानेक साधना करनेपर ही हमें सिद्धियाँ प्राप्त

हो सकती हैं और वह भी बहुत ही परिमित। अनन्य सिद्धिकी प्राप्ति हम नहीं कर सकते, हम सृष्टि कभी नहीं रच सकते, जीव सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकता, पूर्ण विधिको हम नहीं जान सकते। कोई कितना ही कुशल क्यों न हो, दूसरा उसमें दोष निकाल सकता है, ईश्वरके कार्योंमें कोई दोष नहीं निकाल सकता।

यों तो हम प्रतिदिन ही जाग्रत्-अवस्थामें उत्पत्ति और सुषुप्ति-अवस्थामें प्रलय किया करते हैं परन्तु सर्व-उत्पत्ति और सर्व-प्रलय हम नहीं कर सकते।

हम आमके वृक्षको लगाते हैं, उसे नष्ट भी कर सकते हैं परन्तु बीजको नष्ट नहीं कर सकते। मतलब यह कि निज-निर्मित वस्तुओंको हम बना-बिगाड़ सकते हैं, ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको नहीं।

यह अनुमान सर्वथा निर्मूल है कि प्रकृति स्वयं ही सृजनका कार्य सम्पादन कर लेती है। क्योंकि प्रकृति क्रियाहीन और जड़ है, वह स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती। जिसप्रकार हमारी क्रिया-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, हमारे अधिकारमें है। इसी प्रकार तत्त्वोंकी क्रिया-शक्ति भी उनके (प्रेरक) सञ्चालक प्रभुके हाथमें है। हममें दो शक्तियाँ हैं, १ आत्मिक (ईश्वरीय) और २ प्राकृतिक (मायिक)। हमारी इस दूसरी शक्तिका सञ्चालन पहली शक्तिके द्वारा ही होता है।

४—(क) हमारे घरमें देवीकी उपासना अधिक थी, मैंने भी देवीका अनुष्ठान किया था, वह इसलिये कि संसार बहुत दुखी है, किसी प्रकार उसका दुःख दूर किया जा सके तो उत्तम है। मेरे मनमें यह कामना हुई कि मुझे यदि द्रौपदीकी हाँडीका-सा एक पात्र मिल जाय तो अनायास ही लोगोंका कुछ उपकार हो सकता है। इस अनुष्ठानकी पूर्तिके लिये मैं कामरूप जाकर कामाक्षा-देवीकी उपासना करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् कामरूपके निकटवर्ती एक महन्त ब्रह्मचारीका शिष्य हो गया। ब्रह्मचारीजीकी मृत्युके पश्चात् उनके स्थानपर लोगोंने मुझे महन्त बना दिया। महन्त होनेकी अवस्थामें भी मेरा अनुष्ठान लगातार चलता रहा, उस समय वहाँ बहुत लोग आया करते और रोज लगभग तीन-चार सौ रुपये आते। मैं उन रुपयोंको स्पर्श न करता। दूसरे ही लोग उन्हें साधुओंके भण्डारे आदिमें खर्च करते रहते। उस समय मैं किसीके लिये जो कुछ कह देता, वही सत्य हो जाता। किसीको दुराचारी-पापी कहता तो वह स्वयं स्वीकार करता, मुझमें यह दोष है। यह दशा पचीस दिनतक रही, फिर मैंने सोचा कि इस तरह रहना ठीक नहीं। यदि लाख रुपये भी मिल गये तो एक गाँवका कष्ट दूर होगा। तत्पश्चात् यह बात ध्यानमें आयी कि यदि द्रौपदीकी तरहका मुझे कोई पात्र मिल जाय तो भी उससे क्या होगा? यह सब सोचकर मैं एक दिन चुपकेसे शौचके बहाने चल दिया और मैंने आठ कोसपर पहुँचकर ही दम लिया। इसके पश्चात् जंगलोंमें घूमता रहा। दुर्गाका उपासक था ही, अब मुझे श्रीकृष्ण-प्रेम भी होने लगा।

एक रातकी बात है; सूर्य अस्त हो गया था, चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक रही थी, जंगलमें नहरके किनारे एक सुन्दर बालक और एक बालिका मेरे समीप आकर कहने लगे, 'कहो तो बाबाजी, हम रोटी लावें,' मैंने कहा 'इतनी रात तुम कहाँसे रोटी लाओगे?' उन्होंने कहा 'हमारा गाँव पास ही है।' वे घूम-घामकर थोड़ी ही देरमें रोटी ले आये। मैंने रोटी खायी और वहीं सो रहा। प्रातःकाल बहुत सवेरे मेरे उठनेके पूर्व ही वे दोनों फिर आये और बोले, 'बाबा! मट्ठा पीओगे' मैंने कहा 'तुम इतने सवेरे फिर कहाँसे आ गये और इस समय मट्ठा कहाँसे लाओगे?' उन्होंने कहा 'हमारा गाँव निकट ही तो है।' वे इधर-उधर घूमकर तत्काल ही मट्ठा ले आये और मैंने उसे पी लिया। उनके चले जानेपर मैंने खोज की तो मालूम हुआ कि वहाँ दूर-दूरतक कहीं गाँवका नामनिशान भी नहीं, जंगल-ही-जंगल है।

(ख) मेरे एक मित्र ब्रह्मचारीजी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक थे। वे किष्किन्धामें किसी महात्मा सिद्ध पुरुषको जानते थे और उनसे शिक्षा लेने जा रहे थे। मार्गमें उन्हें बड़ी प्यास लगी, उनका कण्ठ सूखा जाता था; लोटा, डोर उनके पास थे, वे एक कुएँ पर गये, तब मालूम हुआ कि कुआँ बहुत गहरा है। लोटा फाँसनेपर जलका पता नहीं। जल बहुत नीचा था, निराश होकर वे वहीं बैठ गये; अत्यधिक प्यासके कारण प्राण अत्यन्त छटपटाने लगे। ऐसा मालूम होता था कि अब दस-ही-पाँच मिनटोंमें प्राण निकल जायँगे। उस समय वे 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' पुकारने लगे। इतनेमें ही यकायक एक बालक उनके पास आया और कहने लगा कि 'मुझे अपना लोटा-डोर दे दो,

मैं जल लाऊँगा।' ब्रह्मचारीजीका लोटा-डोर लेकर वह बालक उसी कुएँ से जल खींच लाया और उसने आकर उन्हें पिला दिया। तदनन्तर बालकने कहा 'तुम जिस साधुके पास जाते हो वह महा पाखण्डी है।' ब्रह्मचारीजीने कहा कि 'तुम छोटेसे बालक उस साधुके पाखण्डको क्या जानते हो और तुम कहाँ रहते हो?' उसने उत्तर दिया कि 'मैं यहीं जंगलमें गाय चराया करता हूँ, मैं उस साधुको खूब जानता हूँ।' इसके बाद ब्रह्मचारीजी जब होशमें आये तो उन्हें वह बालक नहीं दीख पड़ा, कुएँ पर जाकर लोटा फाँसा तो मालूम हुआ कि वह पहलेकी ही भाँति खूब गहरा है।

(ग) अतरौली तहसीलमें एक कायस्थ गृहस्थ रहते थे, घरमें स्त्री, पुरुष तथा एक लड़की ये तीन प्राणी थे, पुरुष पटवारीका काम करते थे। किसी मामलेमें उन्हें सात सालकी जेल हो गयी। घरमें कन्या और स्त्री रह गयीं। लड़की ब्याह योग्य हुई, घरमें कुछ था नहीं; उसके मामाने विवाहका सारा भार अपने ऊपर लिया, विवाह पक्का हो गया। जब विवाहके तीन-चार दिन रह गये, तब किसी कारणसे मामाने साफ इन्कार कर दिया कि 'मुझसे कुछ भी नहीं हो सकेगा।' बरात आनेवाली है, ब्याहका दिन है, पर घरमें कुछ भी नहीं है। बेचारी स्त्री महान् कष्टसे पीड़िता होकर रात्रिको एक कोठरीमें जा पड़ी। पड़ोसी कायस्थोंने विचार किया कि, बरात आ रही है, यदि वह बिना सत्कार वापस लौट गयी तो हम सबकी बदनामी होगी। यह विचारकर उन लोगोंने कुछ प्रबन्ध करके भट्ठी खुदवानेका लगा लगाया। सब बैठे थे, भट्ठी खुद रही थी। उसी समय भट्ठी खोदनेमें ही एक घड़ा निकला। लोगोंका ध्यान दूसरी ओर था, भट्ठी खोदनेवाले दोनों आदमियोंने सलाह करके घड़ा उड़ाना चाहा। उनमेंसे एक आदमी उसे कपड़ेमें छिपाकर किसी कामके बहाने चलने लगा। भट्ठी खुदनेकी जल्दी थी, लोगोंने कहा 'भाई, काम छोड़कर कहाँ जाते हो?' वह कुछ बहाना बताकर आगे बढ़ा। लोगोंको ऐसे वक्त उसका काम छोड़कर जाना बहुत बुरा लगा। एकने उठकर उसे रोका, देखा तो कपड़ेमें लपेटा एक घड़ा है, उसे निकलवाया, तो मालूम हुआ उसमें पाँच-सात सौ या कुछ कम-ज्यादा रुपये हैं, देखते ही सब लोगोंने कहा 'भगवान्‌की कृपा है, इस लड़कीके भाग्यसे यह निकला है, तुम कहाँ ले जाते हो?' लोगोंने जाकर कन्याकी माँको कोठरीसे निकालकर उससे सारा हाल कहा, और उसी रुपयेसे उस कन्याका विवाह सम्पन्न किया। भगवान्‌ने उसकी करुण-पुकार सुनी।

(घ) अलीगढ़में एक कायस्थ-घरानेके दो लड़के थे, एकको संग्रहणीकी बीमारी हो गयी। अनेकों वैद्य-डाक्टरोंका इलाज कराया गया, घरका सब जेवर नष्ट हो गया, पर कुछ लाभ नहीं हुआ। दैवयोगसे कोई महात्मा वहाँ आ गये। उन्होंने उसकी हालत देखकर कहा 'तुम्हें तो मरना-जीना एक बराबर है ही। मैं तुम्हें यह महामन्त्र बताता हूँ, इसका अखण्ड जाप करो। श्रीरामचन्द्रजीका इष्ट रक्खो।' उसने उसी समयसे महात्माजीके आदेशानुसार जाप प्रारम्भ कर दिया। बिना किसी भी औषधिके एक मासके जापसे रोग पूर्ण शान्त हो गया। इसके बाद उसकी ऐसी स्थिति हो गयी कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मण हर समय उसे अपने साथ रहते प्रतीत होने लगे। चलते-फिरते, नहाते-धोते, शौच जाते सभी समय यही हाल। एक दिन शौच जाते समय उसने देखा कि वही मूर्ति सामने खड़ी है, वह बोला 'महाराज! शौचके समय तो मत आया करो' उसी दिनसे फिर दर्शन नहीं हुए।

(ङ) यमुना-किनारेका खेरकी तहसीलका एक जाट मेरे पास आता-जाता था, उसकी घटना है। वह हर पूर्णिमाको यमुनाजी पार करके वृन्दावन जाता और वहाँ श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शन करता। यह नियम उसका तीस-चालीस वर्षसे था। एक समय पूर्णिमाके पहले दिन चतुर्दशीको उसके जवान लड़केकी मृत्यु हो गयी। एक ही लड़का था। गाँवभरमें हाहाकार मच गया, लड़केकी लाश लेकर गाँवके बहुत-से लोगोंके साथ वह यमुना-किनारे श्मशान गया और उसने लड़केका दाह-संस्कार किया। इस कामसे छुट्टी पानेपर जब सब लोग चलने लगे तो वह जाट बोला 'भाई! जो होना था सो हो गया, आप लोग तो सब घर जायँ, मेरे कल पूर्णिमा है, मुझे श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शन करने हैं। मैं तो अब वृन्दावन जाऊँगा।' सब लोग कहने लगे 'कैसा पागल है, जवान लड़का मरा है, लोग इसके घरपर आवेंगे और यह कहता है मुझे वृन्दावन जाना है।' कई लोगोंने उसे समझाया पर उसने नहीं माना और कहा कि 'मेरा तो बहुत दिनोंसे यह नियम है, मैं तो श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शनको तो अवश्य जाऊँगा, चाहे कुछ भी हो।' इतना कहकर वह चल

दिया। हवा बड़े वेगसे चल रही थी। वर्षा भी होने लगी। साथके सब लोग तो घर चले आये। उसने नाव-वालेको यमुनाजी पार करनेको कहा, मल्लाहने ऐसे भयङ्कर तूफानमें नाव ले जानेसे साफ इन्कार कर दिया। जाटको पुत्र-शोक तो था ही, अब कल पूर्णिमाको सवेरे नियमानुसार श्रीबाँकेविहारीजीके दर्शन नहीं होंगे, इस बातपर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह शोकसे अत्यन्त पीड़ित होकर उसी मल्लाहकी कुटियामें जा पड़ा। उधर श्रीबाँकेविहारीजीका पण्डा रात्रिके बारह बजेतक जाटका इन्तजार करके अपने घर गया, क्योंकि जाट चतुर्दशीकी ही रात्रिको वृन्दावन पहुँच जाया करता था।

इधर रात्रिको जाटने देखा कि 'पण्डाजी सामने खड़े हैं और प्रसाद दे रहे हैं। जाटने प्रसाद लिया, जल पिया और सो गया। सवेरे आँख खुलनेपर जाटने अपनेको वृन्दावनमें उसी कोठरीमें पाया, जहाँ जाकर वह हमेशा रात्रिको सोया करता था। तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा 'मैं तो यमुनाके उस पार सोया था, यहाँ कैसे आ गया' रात्रिकी पण्डाजीके प्रसादकी घटना याद आयी, उसने पण्डाजीसे जाकर पूँछा तो, पण्डाजीने कहा कि 'भाई, मैंने तो प्रसाद नहीं दिया, हो न हो, तुम्हें भगवान् श्रीबाँकेविहारीजीने दर्शन दिया है।' उस कोठरीमें जल और प्रसादके कण भी बिखरे हुए मिले। जाट बोला 'हाय! लालाने बड़ा धोखा दिया!' वह जाट अब मर गया है।

(च) मैं हरद्वारके कुम्भसे वापिस लौट रहा था, रास्तेमें जिला मुजफ्फरनगरके एक गाँवमेंसे जाना हुआ, वहाँ एक ब्राह्मणने भिक्षा करायी। मैं वहाँ रुक गया। बहुत-से लोग वहाँ आये। उनमें एक ठाकुर साहेब भी थे—उनकी अवस्था ७०-७५ वर्षकी होगी, चेहरेपर बड़ा तेज, शरीर खूब हृष्ट-पुष्ट था। वे प्रायः दिनभर माला लिये जप करते रहते। यों वे अपनेको आर्यसमाजी कहते। मैंने एक दिन उनसे पूछा, 'आप आर्यसमाजी हैं, फिर मालासे जप कैसे करते हैं?' उन्होंने अपने जीवनकी घटना इस-प्रकार सुनायी—

'मेरी अवस्था आठ-दश वर्षकी थी, तब मुझे श्रीस्वामी दयानन्दजीके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके ब्रह्मचर्य और सत्यताको देखकर मेरी उनपर अपार श्रद्धा हो गयी। मैंने उनके ब्रह्मचर्य और सत्यका आदर्श सामने रखकर जीवनभर इन दोनों व्रतोंके पालनका निश्चय किया। मैं स्वामीजीका पूर्ण अनुगामी बन गया। स्वभावतः मेरे विचारमें श्रीकृष्णके लिये यह अटल निश्चय हो गया कि कृष्ण ही भारतवर्षके पतनका कारण है। दुनियाभरके छल-कपट, व्यभिचार आदि जितने दोष हैं, सब उसमें थे। कृष्ण नहीं हुआ होता तो शायद भारतवर्षमें यह पाप इस रूपमें नहीं फैलता। इस भावनासे मैं कृष्णका भरपूर विरोधी हो गया। मेरा ब्रह्मचर्य और सत्यका व्रत चालू रहा।

अनुमान २०-२२ वर्षकी उम्रमें मैं काशी चला गया, इस बीच मैं कुछ पढ़-लिख भी गया था। मैं पहलवानी करता था। काशीमें एक ठाकुरसाहबको एक ऐसे हृष्ट-पुष्ट पहलवानकी लड़ाई-झगड़ेके समयके लिये जुरूरत थी। उन्होंने मुझे रख लिया। मेरे जिम्मे कुछ भी काम नहीं था। खूब कसरत करना, बादाम-घी इत्यादि चाहे जितने माल खाना, पहलवानी करना और ठाकुरसाहब जब कभी कहीं बाहर जायँ तो लाठी लेकर उनके साथ होजाना। मैं नित्य प्रातः ३॥-४ बजे उठता। शौच-स्नान करके २-३ घण्टे खूब सन्ध्या-गायत्री-जप आदि करता। दिनमें प्रायः तीन चार बार स्नान करता। दोपहरकी और सायंकी सन्ध्या करता। मेरा जीवन खूब आचार-विचार, कर्म-काण्डमें बीतता। इन सब बातोंके अतिरिक्त मैं रात्रिको नियमसे प्रतिदिन आर्यसमाजमें जाता और एक घण्टे व्याख्यान देता। व्याख्यानमें मेरा एकमात्र विषय रहता, कृष्ण और रामकी भरपेट निन्दा करना और उन्हें शक्तिभर गालियाँ देना। जिन ठाकुरसाहबके यहाँ मैं रहता था उनके एक श्रीकृष्ण भगवान्‌का मन्दिर था। उसके पुजारी श्रीकृष्णके बड़े भक्त थे। ठाकुरसाहबके घरमें भी ठाकुर-पूजा थी। घरके स्त्री-पुरुष बड़े-छोटे प्रायः सभी बड़े प्रेमसे पूजा करते। यद्यपि मैं श्रीकृष्णका कट्टर विरोधी था परन्तु मेरे ब्रह्मचर्य और सत्यके व्रतसे प्रसन्न होकर मन्दिरके पुजारी और ठाकुरसाहब दोनों ही मुझपर बड़ा स्नेह रखते। कभी-कभी पुजारीजी मुझसे कहते 'ठाकुरसाहब, यदि तुम कृष्णकी उपासना करो तो तुम्हारे-जैसे सच्चे आदमीको बहुत जल्दी साक्षात्कार हो जाय।' पुजारीजी तो मुझपर बड़ा अनुग्रह करके यह बातें कहते पर मैं उसके बदलेमें उनको और उनके कृष्णको भरपेट खोटी-खरी सुनाता। पुजारी

प्रायः यही कहते और मेरा वही उत्तर होता। एक दिन पुजारीजीने जब फिर यही बात कही तो मुझे बहुत ही क्रोध आ गया। मैंने शक्तिभर कृष्ण और पुजारीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। यहाँतक कि उस दिनके मेरे इस कठोर कथनसे पुजारीजी व्यथित होकर रोने लगे।

उस दिन पुजारीजीको बहुत ही कष्ट हुआ। मैं उस दिन रात्रिको दस बजे दूध पीकर सदैवकी भाँति भूमिपर सो गया। पास ही तख्तपर पुजारीजी सो रहे थे। रात्रिको मेरी आँख खुली तो क्या देखता हूँ कि खूब उजाला हो रहा है, महान् सूर्यका-सा प्रकाश है, मैं एकदम फड़फड़ाकर उठ बैठा, मैं प्रात: साढ़े तीन बजेका जागनेवाला, आज इतनी देर हो गयी, मुझे बड़ा कष्ट-सा हुआ। मैंने उठकर देखा, पण्डितजीके तख्तके पास दस-बारह वर्षका एक सुन्दर बालक खड़ा है और मुझे देख-देखकर हँस रहा है। मुझे उस बालकको इस तरह मुस्कराते देखकर गुस्सा आया और मैंने उससे फटकारकर कहा 'मेरी धोती लोटा कहाँ है, जल्दी ला, हँसता क्यों है?' वह यह सुनकर और हँसने लगा। मुझे बड़ा बुरा लगा, मैं उसे मारनेको दौड़ा। बालक तख्तके चारों ओर भागने लगा। मैं उसके पीछे-पीछे भागता, बालक आगे-आगे तख्तके चारों ओर चक्कर लगाता, पर मेरे हाथ नहीं आता। वह ज्यों-ज्यों हँसता, त्यों-ही-त्यों मुझे क्रोध चढ़ता, मैं उसे फटकारता और चिल्लाता। मेरा चिल्लाना सुनकर पुजारीजी भी उठ बैठे, और भी आसपासके बहुतसे स्त्री-पुरुष वहाँ जमा हो गये। वे सब-के-सब आश्चर्यसे मुझसे बार-बार पूछने लगे, 'ठाकुरसाहब, क्या बात है? आज आपको क्या हो गया है?' मैं उस बालकके हँसनेकी शैतानी बतलाकर कहने लगा 'देखो, इस बालकको समझा दो, नहीं तो इसके हकमें अच्छा न होगा।' वे बेचारे कुछ भी नहीं समझ सके। जब इस झंझटमें बहुत देर हो गयी तो मैं देखता हूँ कि वह लड़का झटसे पुजारीजीकी गोदमें जा बैठा और तत्काल अदृश्य हो गया। मैं भी हैरान रह गया। इसीके साथ मुझे जो बड़ा भारी प्रकाश दीख रहा था, वह जाता रहा, चारों ओर वही रातका अन्धकार छा गया। लोगोंसे तथा पुजारीजीसे बात हुई, तो वे कहने लगे 'ठाकुरसाहब! यहाँ तो कोई लड़का नहीं है, हम सब लोग बड़े आश्चर्यमें हैं कि आज इस रात्रिके समय आपको न जाने क्या हो गया है?' मैंने अपनेको कुछ और सावधान करके घड़ी दिखवायी तो रातका एक बजा था। मैंने सारी घटना लोगोंको सुनायी। सब कहने लगे 'ठाकुरसाहब, जिनकी आप बहुत निन्दा करते थे, यह चमत्कार उन्हींका तो नहीं है?' मैंने कहा 'कुछ भी हो, ऐसी बातोंसे मैं कृष्णको भगवान् नहीं मान सकता। हाँ, आजसे मैं कृष्ण और पुजारीजीको गालियाँ नहीं दूँगा।' उस दिनसे मैंने गालियाँ देना बन्द कर दिया और प्रायः पुजारीजीके पास मन्दिरमें आने-जाने लगा।

एक दिन मैं मन्दिरमें जाकर देखता हूँ कि जिन ठाकुरसाहबके यहाँ मैं रहता था, उनका बारह-तेरह वर्षका एक लड़का, जो तीन-चार महीनेसे ननसाल गया था, वहाँ खड़ा है। उसे देखकर मैंने उससे पूछा 'तू कब आया?' वह बोला 'मैं तो कल ही आ गया था।' मुझे झूठसे बड़ी चिढ़ थी। मैंने कहा, तू मेरे सामने झूठ बोलता है, मैं तो हर समय घरमें रहता हूँ, वहीं खाता-पीता हूँ, मैंने तो तुझे कलसे नहीं देखा।' लड़का यह सुनकर मेरी तरफ देख-देखकर हँसने लगा। मुझे बड़ा गुस्सा आया, एक तो झूठ बोलता है और फिर हँसता है नालायक—मैं उसे मारनेको दौड़ा। वह भी भागने लगा। वह फिरकर मेरी तरफ देखता और हँस देता, वहाँसे भागकर वह घरकी तरफ चला, मैं भी उसीके पीछे-पीछे दौड़ा। वह दौड़कर घरमें घुस गया। मैं भी चिल्लाता हुआ गुस्सेमें भरा घरमें चला गया, वहाँ भीतर घरमें मुझे चिल्लाते देखकर घरके स्त्री-पुरुष अवाक् रह गये और मुझसे पूछने लगे 'ठाकुरसाहब! क्या बात है?' मैंने कहा, 'यह तुम्हारा लड़का जो अभी घरमें भागकर आया है, बड़ा शैतान है—मुझसे झूठ बोलता है कि मैं कल आ गया था और मुझे देख-देखकर हँसता है। इसे जल्दी निकालकर लाओ, कहाँ जाकर छिपा है?' घरके सब लोग कहने लगे 'ठाकुरसाहब! आपको आज क्या हो गया है? वह लड़का तो तीन-चार महीने हुए ननसाल गया है, वह यहाँ कहाँसे आया?' मैंने कहा, 'नहीं अभी मेरे सामनेसे भागकर आया है।' इसपर सब लोगोंने कहा 'आप चाहे जहाँ घरभरमें देख सकते हैं, यहाँ कोई नहीं है।' मैंने सारा घर छान डाला, उसे न पाकर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। तब मैंने सब लोगोंसे अपना हाल कहा। यह घटना सुनकर कई लोग कहने लगे, 'ठाकुरसाहब, यह उसी

कृष्णका चमत्कार दीखता है।' मैंने कहा 'भाई! चाहे जो कुछ हो, जबतक एक बार फिरसे ऐसी कोई बात नहीं हो जायगी तबतक मैं उसको 'भगवान्' नहीं मानूँगा।'

मैं रोज मन्दिरमें पुजारीजीके पास जाता ही था, पूर्व घटनाके ठीक बाइसवें दिन, मैं देखता हूँ कि वही बालक, जो घर भाग गया था आज फिर मन्दिरमें खड़ा हँस रहा है। मैंने कहा, 'कहो, कहाँ थे?' बालक बोला, 'वाह, हम तो यहीं रहते हैं।' मैंने कहा, 'उस दिन आप झूठ क्यों बोले थे कि मैं कल आया हूँ?' बालक कहने लगा 'ठाकुरसाहब, आपको मालूम नहीं, हम खेलमें कई बार ऐसी झूठ बोल जाते हैं।' यह कहकर बालक तुरन्त अदृश्य हो गया। मैं पुजारीजीके चरणोंपर गिर पड़ा और अपने पूर्व अपराधोंके लिये क्षमा माँगने लगा। पुजारीजीने बड़े प्रेमसे मुझे उठाकर हृदयसे लगा लिया और द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका मुझे उपदेश किया। उसी समयसे मैं आर्यसमाजी होते हुए भी इसप्रकार मालासे द्वादशाक्षर मन्त्रका जप करने लगा और भगवान् श्रीकृष्णका उपासक बन गया! तबसे अबतक मेरी वही स्थिति है।'

(२) स्वामी श्रीअच्युतमुनिजी महाराज

चारों प्रश्नोंको सुननेपर आप बोले—

'पहले तीन प्रश्नोंपर तो लिखनेवालेकी सुविधा होनेसे लिखानेको जी चाहता है। चौथे प्रश्नके सम्बन्धमें मेरे जीवनमें बड़ी-बड़ी घटनाएँ हैं। मैंने तो यही समझा है कि ईश्वरमें विश्वास होनेपर जब मुझ-जैसेका उद्धार हो गया, तो कोई कैसा ही पापी-से-पापी क्यों न हो, विश्वास होनेसे उसका अवश्य ही उद्धार होगा। मेरा जीवन दत्तात्रेयसे कम नहीं है। मैंने अपने जीवनके चौबीसवें वर्षमें गुरुसे मन्त्रोपदेश लिया। तभीसे मुझे तो आत्मदर्शन हो गया। मुझे तो प्रेम पीछे हुआ, दर्शन पहले। तभीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानने लगा।

(दूसरी बार कहा—)

यदि ईश्वर है तो, क्या हमारे न माननेसे वह नष्ट हो जायगा। कुमारिल भट्टने इसी प्रकार ईश्वरको न माननेवालोंको समझाया था कि ईश्वर यदि नहीं है और हम उसे मानते हैं तो उसके न होनेके कारण हमारे इस लोकके कर्म सिर्फ नष्ट हो जायँगे और अधिक-से-अधिक हम तुम-जैसे ईश्वरके न माननेवाले हो जायँगे, इससे अधिक-से-अधिक हमारी यही हानि होगी कि तुमने संसारके भोगोंको भोगकर मौज उड़ायी और हमने न उड़ायी। और यदि ईश्वर हुआ तो फिर तुम न माननेवालोंकी क्या दशा होगी? तुमको तो फिर किसी भी प्रकार उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

कुमारिल भट्टने जिन गुरुओंसे विद्या पढ़ी थी, उन्हींको परास्त किया। गुरुके परास्त करनेके पापके कारण उन्होंने प्रायश्चित्त करनेका निश्चय किया, यद्यपि श्रीशङ्कर स्वामीने उनसे कहा था कि तुमने यह सब धर्मके लिये किया है तथापि कुमारिलने शिष्टाचारके नाते प्रायश्चित्तरूप अपनेको दाभ सुलगाकर भस्म कर दिया।

श्रुतिका वाक्य है—

> असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
> अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥
> (तैत्तिरीय उ० ६)

जो कहता है ब्रह्म नहीं है, वह आप भी नहीं है, वह अपनेको भी नहीं मान सकता। उसके आत्माका भी खण्डन हो जायगा, वह असत् हो जायगा, मुर्दा हो जायगा। उसे मनुष्य-योनि नहीं प्राप्त होगी। जो ब्रह्मकी सत्ता मानता है, वही सत्‌रूप ब्रह्मको जानता है और तभी वह अपनेको भी मान सकता है। ईश्वर-सिद्धिके लिये शारीरिक तृतीयाध्याय, द्वितीय पादके सूत्र ४८, ४९, ५०, ५१ देखने चाहिये। संक्षेपमें इन सूत्रोंका सिद्धान्त यह है—

मीमांसक कर्म और फल दोनोंके बीचमें एक अदृष्ट है यह मानता है, यज्ञ-कर्म किया तो क्रिया तो कर्मके साथ नष्ट हो जाती है, फल होता है कालान्तरमें, उस समय कर्म तो फल पैदा कर नहीं सकता। कर्म करनेसे जो अदृष्ट-संस्कार बनता है, वही फल देता है, वह तबतक नष्ट नहीं होता जबतक कि फल न हो जाय। उसका कहना है अदृष्ट तो तुमको भी मानना होगा, जब अदृष्टसे फल हो जायगा तो ईश्वरके माननेकी क्या जरूरत है? वेदान्ती कहता है, अदृष्ट जड है और जड

कभी फल दे नहीं सकता। इसलिये जो शास्त्रकारोंसे माना हुआ ईश्वर है, कर्म चाहे नष्ट हो जायँ, पर वह उस ईश्वरको मालूम रहता है और कालान्तरमें वही उसका फल देता है, इसलिये बीचमें अदृष्टके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

ईश्वरको माननेसे लाभ

कीट भ्रमरके भयसे उसका ध्यान करता है, ध्यान करते-करते वह तद्रूप हो जाता है। इसी प्रकार जो भगवत्-स्मरण करते हैं वे भगवद्रूप हो जाते हैं। ईश्वर—परमेश्वरके माननेसे, स्मरण करनेसे सब प्रकारके कष्ट दूर होते हैं, यह लाभ है। जो सदा उसका स्मरण करते हैं उनपर तो कष्ट आते ही नहीं। विपत्तिकालमें लोग उसका स्मरण करते हैं, इससे सिद्ध है कि उसके स्मरणसे विपत्ति—कष्ट दूर होते हैं। विष्णुसहस्रनाममें पाठ है कि स्मरणमात्रसे जन्म-मरणरूप बन्धनसे मनुष्य छूट जाता है।

सारा संसार—सूर्य, चन्द्र आदि अपने-अपने नियमसे चलते हैं, यह बड़ा भारी प्रमाण है कि इसके चलानेवाला कोई अवश्य है। दृष्ट सृष्टि सब नश्वर हैं, कार्य है, इसका बनानेवाला कारण अवश्य ही कोई होना चाहिये। हम जीव इसके कारण नहीं हो सकते। हम पहाड़ नहीं बना सकते, जल नहीं बना सकते, पृथिवी नहीं बना सकते, अतः इसके बनानेवाला कोई अवश्य है।

यही ईश्वरके अस्तित्वमें प्रबल प्रमाण है। यह शरीर तो जड है, वह तो तुम हो नहीं, इसमें जो चेतन द्रष्टा है वही तुम हो!

(३) स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज

ऐसे प्रश्न न तो भक्त ही कर सकता है न तो ज्ञानी ही, यदि कोई भक्त या ज्ञानी है और वह कहता है कि 'ईश्वर है या नहीं' तो मैं उसे भक्त या ज्ञानी नहीं मान सकता। इसप्रकारके प्रश्नोत्तरसे भक्त या ज्ञानीको तो कुछ लाभ होगा नहीं। हाँ, नास्तिक या संशयचेलाको अवश्य ही लाभ हो सकता है। यहाँ मेरे पास एक ठाकुर आया करते हैं, उन्होंने आकर एक दिन कहा कि बचपनमें तो यह संशय था ही नहीं। हाँ, कालेजमें जब पढ़ता था, तब संशयकी दृष्टिसे तो नहीं, पर कभी-कभी यह कल्पना एक नास्तिक मित्रके सहवाससे उठती कि 'ईश्वर है या नहीं?'

मैंने उससे छः-सात प्रश्न किये, मैंने कहा 'पहले तू यह बता कि ईश्वर न माननेसे क्या लाभ है, माननेसे क्या हानि है?' मेरा स्वभाव इसी प्रकार समझानेका है।

अनुभवके सम्बन्धमें तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि जो शास्त्रमें है उससे भिन्न किसीको कोई अनुभव हो नहीं सकता। यदि कोई कहता है तो उसकी वह साधारण कल्पना है, अनुभव नहीं। चाहे जितने विद्वान् आ जायँ मैं यह माननेको तैयार नहीं।

ऐसी बात नहीं है कि मेरे जीवनमें ऐसी घटनाएँ नहीं हुई हैं, बहुत हुई हैं, पर मैं इस विषयमें कुछ भी कहनेको तैयार नहीं।

प्रश्न पुनः पूछनेपर आपने क्रमशः उत्तर दिया—

१-२-- दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये। दुःखकी निवृत्ति तो सामान्य कर्मोंसे ईश्वरके न माननेपर भी हो सकती है जैसे प्यास या भूखका दुःख पानी या भोजन मिलनेपर निवृत्त हो जाता है। परन्तु उससे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। कल फिर भूख या प्यास लगेगी। ऐसे ही पुत्र-धनके अभावमें दुःख होता है। जिसके भावमें सुख होता है, उसके अभावमें दुःख होगा ही। इसप्रकार आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति—परम और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

मैंने पूछा, 'निरतिशय सुख क्या है?' तो आप बोले—जिसके अतिरिक्त और सुख हो ही नहीं सकता। सुखका स्वरूप जो कुछ कहा जा सकता है, जितना शब्दोंद्वारा व्यक्त किया जा सकता है, उतना ही किया जायगा। करके देखो, जो साधन-आदिमें प्रवृत्त हुआ है, जिसका कभी दस मिनटोंके लिये भी चित्त एकाग्र हुआ है, वही इसे जानता है। राज्य-भोगादि जगत्का सम्पूर्ण सुख एक ओर रक्खे और भगवत्-चिन्तनादिका क्षणभरका सुख एक ओर रक्खे तो यह उससे करोड़ों गुणा अधिक होता है ऐसा श्रुति और पुराणोंमें भी लिखा है और अपने निश्चयमें भी यही आता है।

सुखकी भिन्नताएँ तो सबको प्रत्यक्ष ही हैं। स्त्री-

अर्जुनका रथ जल रहा है



भक्तवत्सलता

(४) स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज

चारों प्रश्नोंको पूछनेपर आप बोले—

मैं तो क्या कहूँ ? मुझे तो न किसी प्रकारका अनुभव है, न कोई ऐसी विशेष बात है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि भक्तजन मुझपर प्रेम करते हैं, मुझे अपना मानते हैं, यही मैं तो भगवत्‌की अपने ऊपर बड़ी कृपा मानता हूँ।

भगवान्‌के सम्बन्धकी बात तो क्या कहूँ। साधु सन्यासियोंमें कहीं कहीं वह बात नहीं मिलती, जो छोटे-छोटे बालकोंमें मिलती है। भगवत् सम्बन्धी बात इन बालकोंसे पूछो (दैवयोगसे उसी समय कहींसे चार पाँच बालक भी वहाँ आ गये)। श्रीस्वामीजीने उनसे पंजाबी (भाषा) में कहा, 'बालको ! भगवान्‌को तुमलोग जानते हो तो कहो।' कई बार पूछनेपर और तो सब चुप रहे परन्तु उनमेंसे एक बच्चा बोला, 'परमेश्वर सब जगह हैं', स्वामीजी बोले 'सब जगह हैं, तुमने लोगोंसे सुना है या देखा भी है ?' इसपर सब बालक कुछ चुप से ही रहे। तब स्वामीजी महाराजने एक गुरुका उदाहरण देते हुए कहा कि 'दो शिष्य थे, उनसे गुरुजीने भगवान्‌का—ईश्वरका स्वरूप पूछा, एकने अनेक शास्त्रसम्मत बातें बतायीं, उसके रूपका विविध प्रकारसे वर्णन किया, दूसरेसे पूछा गया तो वह कुछ भी नहीं बोला, केवल चुप रहा।

ईश्वरको जो देखता है वह कुछ कह नहीं सकता। उसके लिये जब कुछ कहना होता है, तो उससे नीचेकी स्थितिमें उतरकर ही कहना होता है। ईश्वरका सच्चा वर्णन मौन है, ईश्वरको यदि देखनेकी इच्छा हो तो जाकर भगवान्‌के भक्तोंके दर्शन करो। वही ईश्वरका रूप है। संसारके उदाहरणसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान्‌के भक्तोंके पास जानेसे स्वाभाविक ही सुख और शान्तिका अनुभव होता है। संसारके पाप ताप नष्ट होते हैं। यही उसका प्रत्यक्ष रूप है, इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

होशियारपुरके एक प्रेमी वकील महोदयने श्रीहरिबाबाजी महाराजके जीवनकी कई घटनायें बतलायीं, परन्तु श्रीबाबाजीकी आज्ञा बिना उनको प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया।

(पुनः प्रार्थना करनेपर निम्नलिखित पत्र आपने भेजा।)

ॐ श्रीहरिः श्रीगुरवे नमः।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

महान् पुरुषोंका संग और सामीप्य ही श्रीभगवान्‌की सत्ता और उनके आनन्दको प्रत्यक्ष दिखलाता है। पूज्यपाद श्रीगुरुदेवकी समीपतामें बिना ही किसी साधन या प्रयत्नके मुझे श्रीभगवान्‌की स्फूर्ति प्रायः निरन्तर रहती थी और यदि कभी स्वप्नमें भी संकट या भय होता तो अपने आप उसी अवस्थामें श्रीभगवान्‌द्वारा वह हट जाता था। श्रीगुरुदेवके वाक्यामृत इस समय स्मरण आते हैं। अकबरने बीरबलसे पूछा—

१–तुम्हारा खुदा कहाँ रहता है ? २–क्या करता है ? ३–क्या खाता है और ४–संकल्पद्वारा ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी अवतार क्यों धारण करता है ? बीरबलने तीन प्रश्नोंका उत्तर दिया—

१–रहता तो सर्वत्र ही है पर प्रत्यक्ष प्रकट सन्तोंके हृदयमें होता है। यदि मिलना चाहो तो वहीं मिलेगा।

२–काजियोंको पाजी और पाजियोंको काजी (अनवच्छिन्न परिवर्तन)।

३–जीवाभिमान।

चौथे प्रश्नके उत्तरके लिये बीरबलने कुछ मुहलत माँगी और इसी बीचमें अकबरके छोटे शाहजादेके समान एक नकली बालक बनवाया जो ठीक वैसा ही दीख पड़ता था। बच्चेको खेलानेवाली दासीको समझा दिया कि 'जब आज सायंकालको बादशाह बाहरसे आकर जलाशयके पास बैठें और तुम्हें पुकारकर बच्चा माँगें तो असली बच्चेको दूसरेके पास छिपाकर नकली बच्चा देते समय पाँव फिसल जानेका बहाना करके गिर पड़ना और साथ ही नकली बच्चेको जलाशयमें गिरा देना।' शामको अकबरके बाहरसे आकर बैठने और दासीको बच्चेके लिये पुकारनेपर दासीने वैसा ही किया। बच्चेको पानीमें गिरते देख बादशाह घबराकर स्वयं जलमें कूदनेको तैयार हो गये, इतनेहीमें बीरबलने झट असली बच्चा लाकर कहा 'सरकार ! घबराइये नहीं, शाहजादा तो यह मौजूद है।' अकबरको बीरबलकी ऐसी

चेष्टापर क्रोध आया और उसने वीरबलको दण्डका हुक्म दिया। वीरबलने कहा 'हजूर, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर दिया है। हम आपके सैंकड़ों नौकर-चाकर मौजूद थे जो आपकी आज्ञापर प्राणतक देनेको तैयार थे, तो भी बच्चेपर आपका इतना स्नेह था कि आप स्वयं जलमें कूदनेको विवश हो गये। इसी प्रकार संकल्पमात्रसे ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी श्रीभगवान्‌को अपने भक्त इतने प्यारे हैं कि वह प्रेमविवश होकर स्वयं प्रकट होते हैं।

(क) श्रीश्रीगुरुदेवको श्रीवृन्दावनमें प्रकट दर्शन

श्रीमहाराजजी (श्रीगुरुदेव) को यह जानकर कि, अब भी श्रीवृन्दावनके श्रीसेवा-कुंजमें श्रीश्यामसुन्दर पूर्ववत् लीला करते हैं, दर्शनकी बड़ी इच्छा हुई। श्रीसेवा-कुञ्जमें रातको कोई रहने नहीं पाता, इसलिये श्रीमहाराजजी आधी रात्रिके करीब जाकर कुंजकी दीवारपर चढ़कर बैठ जाते और भगवत्-स्मरण करते रहते, फिर चार बजेके करीब उतरकर आ जाते। इसी प्रकार करते-करते जितने दिनोंका मनमें संकल्प किया था, उनमें केवल एक ही दिन शेष रह गया, पर दर्शन नहीं हुए। अन्तकी रात्रि आ गयी। मन आशा और निराशा दोनोंसे भरा था कि अकस्मात् सामने रासमण्डल प्रकट हुआ। एक सखीने कहा 'यहाँ तो कोई मनुष्य है।' श्रीश्यामसुन्दर बोले 'नहीं वह तो मेरे परम भक्त हैं।' रास आरम्भ हुआ, चारों ओर प्रेमानन्द छा गया। उस परमोत्कृष्ट रसको पानकर श्रीमहाराजजी प्रेमानन्दमें विभोर हो गये, इतनेमें श्रीश्याम-सुन्दरने आकर श्रीमहाराजजीके कन्धेपर अपना करकमल रक्खा और कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो।' श्रीमहाराजजीने कहा 'आपके दर्शनसे परे और क्या है? बस, ऐसा ही आपके चरणोंमें प्रेम बना रहे।' श्रीश्यामसुन्दर 'तथास्तु' कहकर मण्डलसहित अन्तर्धान हो गये। श्रीमहाराजजी भी मस्तीमें झूमते-झूमते वहाँसे आ गये। श्रीमहाराजजीके मुखारविन्दसे जीवनभरमें एक बार एकान्तमें यह प्रसंग सुना था। सुनाते समय श्रीमहाराजजीके रोम-रोमसे दिव्यानन्द प्रकट हो रहा था और वही स्मृति मेरे जीवनका साधन है और साधन रहेगी।

(ख)—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

श्रीमहाराजजी विद्याध्ययन काल (संन्यस्त अवस्था) में श्रीकाशीजीमें निवास करते थे। एक बार अनध्यायीमें एक दूसरे वृद्ध ब्राह्मण पण्डितजीके साथ वे बाहर वनभ्रमण और एकान्तसेवनको गये। वे सर्वत्र आनन्दपूर्वक प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌के प्रकाशका अनुभव करते और घूमते-घूमते दोपहरको जंगलमें एक टूटे हुए मन्दिरपर पहुँचे। धूप अधिक थी, विश्रामके निमित्त वहीं बैठ गये। दोनोंको भूख भी खूब लग गयी थी, परन्तु भिक्षाके निमित्त पास कोई बस्ती नहीं। पण्डित बोले 'अब क्या किया जाय?' श्रीमहाराजजी बोले, 'गोविन्द भजन करो, स्मर्तव्यः सदा विष्णुः विस्मर्तव्यो न जातुचित्।' इतनेमें ही एक विलक्षण पुरुष वनमें आया, उसके हाथमें एक दोना, जिसमें पाँच पेड़े थे। श्रीमहाराजजीके सामने प्रसाद रख, प्रणाम कर, वह चला गया। कुछ बातचीत नहीं हुई। पण्डितजीने पूछा 'कोई आपका भक्त था क्या?' श्रीमहाराजजीने मुसकराकर कहा 'हाँ, भक्त ही था (क्योंकि चिरकालसे भक्तोंके सच्चे भक्त श्रीभगवान् ही हैं) अब महाराजजी पण्डितजीसे और पण्डितजी महाराजजीसे आग्रह करने लगे कि 'इससे जलपान कर लें, आपको बहुत भूख लगी है।' एक दूसरेको ऐसा कहें पर संकोचवश उन पेड़ोंको ग्रहण कोई न करें। तब फिर मन्दिरकी छतपरसे उसी पुरुषकी आवाज आयी, कि 'संकोच मत करो, दोनों ग्रहण करो। कुछ आश्चर्य और आनन्दके पीछे दोनोंने एक-एक करके पेड़ा उठाना आरम्भ किया। दोनों रुचिपूर्वक पेड़े खाते जायँ, पर दोनेमें वही पाँचके पाँच। दोनोंने पेटभर प्रसाद पाया। पर दोनेके पेड़े पाँच ही बच रहे (अनन्त श्रीभगवान्‌के सम्बन्धका सभी कुछ अनन्त है) श्री-भगवद्लीलाको देख दोनों आनन्द-उत्साहसे भर गये। सायंकाल काशीजीमें आ सब किसीको उसमेंसे प्रसाद दिया। फिर भी दोनेके पेड़े पाँचके पाँच। तब श्रीमहाराजजीने उस दोनेको प्रसादसहित श्रीभागीरथीजीके अर्पण कर दिया।

ऐसी श्रीमहाराजजीके सम्बन्धकी बीसियों अलौकिक घटनाएँ स्मरण आ रही हैं, संकोचवश लिखनेका साहस नहीं। हरि ॐ

आपका—
स्वतःप्रकाश

(५) ब्रह्मचारी श्रीरामशरणदासजी

१-३ प्रश्न सुनकर आप बोले—

जीव ईश्वरका अंश है। जिसप्रकार बचपनसे बकरियों-में रहनेके कारण सिंह निज स्वरूपको भूलकर, अपनेको बकरीका बच्चा मानने लगता है, अपनी शक्ति-सामर्थ्य स्वभावका उसे पता नहीं रहता। इसी प्रकार यह जीव भी अपनेको भूला हुआ है।

इतना बडा हमारा शरीर प्रारम्भमें कामदेवकी एक बूँदके रूपमें था। नौ-दस महीने गर्भमें रहा। इसमें हवाके धागेके समान श्वास है। यह उसीकी शक्तिसे बना है, यदि कोई कहे कि इसे हमने बनाया, तो यह कहना मिथ्या है, एक नेत्र फूट जाय, हम नहीं बना सकते। जिसने ऐसा सुन्दर शरीर बनाया, जिसने सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी पदार्थ बनाये, उसको इस शरीरमें आकर हमने भुला दिया। हमको यह भी मालूम नहीं कि हम कहाँसे आये हैं, कौन हैं, कहाँ जायँगे। जिस वक्तसे हमारा परमात्मासे विछोह हुआ, हम उसे भूल गये। परमात्मा तो सब जगह व्यापक है।

हममें अनेक आकांक्षाएँ पैदा होती हैं। चाहे त्रिलोकीका वैभव प्राप्त हो जाय तो भी आगे कुछ और पानेकी इच्छा बनी ही रहती है।

जिसका बीज होगा, उसका वृक्ष होगा। गेहूँका बीज अंकुर होकर जलकी सहायतासे वृक्षके रूपमें परिणत होता है। वही बीज जल न मिलनेसे गरमीके कारण अंकुरकी जगह घुनका रूप धारण कर स्वयं अपनेको ही भक्षण करता है। फिर वह गेहूँ उग नहीं सकता।

इसलिये मनुष्यको ऐसा उद्योग करना चाहिये कि जिसमें वह सर्वव्यापक परमात्मामें मिल जाय; उसकी प्राप्तिका साधन उपासना-कर्म-ज्ञान आदि हैं। सन्तोंके समागमसे वह मिल सकता है।

४—मैं आठ-दस वर्षका था, तभीसे श्रीमद्भागवत आदिकी कथा बड़े प्रेमसे सुनता था। एक समय काठियावाड़ गुजरात गया, वहाँ बहुत दिन रहना हुआ। मेरे गुरुदेव बुन्देलखण्डकी ओरके थे। झाँसीकी लड़ाईमें वे अंगरेजोंसे लड़े थे। उनके हाथसे अठारह अंगरेज मारे गये थे। उसके बाद वे वैष्णव हो गये। उनको बुन्देलखण्डमें जानेकी इजाजत नहीं थी। उनके साथ मेरा खूब सत्संग हुआ। वहाँसे वे श्रीद्वारिकाजी दर्शनके लिये गये। रास्तेमें उनका देहान्त हो गया। मैं अकेला ही श्रीद्वारिकाजीकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें श्रीवृन्दावन या श्रीअयोध्याजीका कोई मिलता तो मैं उससे प्रार्थना करता कि कोई ऐसा भजन कहो जिससे मुझे भगवान्‌के दर्शन हों, जब वे भजन कहते तब मैं खूब रोता। पहले भी प्रभुकी यादमें मैं बहुत रोया करता था। एक दिन एक जगलमें दो-तीन मीलतक कोई गाँव नहीं था। जेठका महीना था। बड़े कडाकेकी धूप पड़ रही थी। एकादशीका दिन, मेरा व्रत था। आसपास ढाकके बहुतसे वृक्ष थे। मैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये रोता जाता था। उसी समय देखता हूँ तो आगे एक श्याम रंगका पुरुष पाँच-सात लड़कोंको साथ लिये कोई पाँच-छः सौ गौओंको चरा रहा है। एक फटा-सा कपड़ा लपेटे हुए है। मुझसे बोला, 'महाराज! हमारे तिलक कर दो, हम तुम्हारे चेले हो जायँगे।' फिर कहा कि, 'अपना यह लोटा हमें दे दो।' मैंने अपना लोटा उसे दिया। उसमें तीन सेर दूध आता था, तत्काल ही उसने वह लोटा दूधसे भरकर मुझे दे दिया और कुजेकी मिश्री दी, तदनन्तर बोला, 'हम गौ ले आवें।' बस, इतना कहकर वह अदृश्य हो गया। मैंने देखा, न वहाँ गौएँ हैं और न वे पाँच-सात बालक ही। यह देखकर मैं बहुत ही पछताया-रोया।

इसके बाद ब्रह्मचारीजी महाराजने कई अनुभवकी बातें कृपा करके और बतलायीं।

(६) स्वामी श्रीविलासपुरीजी महाराज

१–जीवमें पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ईश्वरमें इन दोषोंका अभाव है, उनकी कृपासे जीवके दोष दूर हो जाते हैं। अतः अपने दोष निकालनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

२–ईश्वरके न माननेसे दोष बने ही रहेंगे। यह हानि है।

३–प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

प्रत्यक्ष–नेत्रोंसे दीखनेवाले इस कार्यरूप सारे संसारका कोई कारण अवश्य है। इससे अधिक और प्रत्यक्षका वह विषय नहीं है।

अनुमान–चित्रको देखते ही दो बातें सिद्ध होती हैं, एक उसके बनानेवाला कोई चित्रकार है और दूसरी स्याही–रंग है। इसी प्रकार जगत्‌को देखनेसे उसके बनानेवाले ईश्वर (चित्रकार) और प्रकृति (स्याही) का अनुमान होता है।

शब्द-प्रमाण–तो हम नित्य ही मानते हैं। किसीने आकर परदेशमें गये हुए पुत्रकी मृत्युका समाचार कहा, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान न होनेपर भी कहनेवालेके शब्दको प्रमाण मानकर पिता-माता दुखी हो जाते हैं। ईश्वरके लिये शब्द-प्रमाण वेद, गीता तथा अन्यान्य शास्त्र हैं।

४–ईश्वरकी कृपालुताका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर कर्मोंका फल सुख-दुःख तो और योनियोंमें भी दे सकता है पर मनुष्य-योनि ही ऐसी है जिसमें शुभाशुभ जाननेकी और ईश्वरको पहचाननेकी शक्ति है। ईश्वरने वह ऐसी शुभयोनि देकर हमपर बड़ी ही कृपा की है।

(७) स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी महाराज

प्रश्न सुनानेके पश्चात् विशेषरूपसे अनुभव कहनेकी प्रार्थना की गयी थी, उसपर आप बोले—

'मेरा जन्म जालन्धरके निकट लुहार ग्राममें क्षत्रिय-कुलमें हुआ था, बचपनसे ही श्रीमद्भागवत आदिकी कथा सुननेमें मेरी बड़ी रुचि थी। कथामें मैंने एक दिन यह प्रसंग सुना कि गुरुके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। तबसे मुझे गुरु मिलनेकी लालसा बढ़ने लगी। मेरा विचार था, संसारमें महात्मा तो बहुत हैं, पर ऐसे महात्मा बहुत कम हैं कि जिनसे वास्तविक लाभ मिल सके। दैवयोगसे एक बार गाँवके बाहर एक महात्मा आकर ठहरे। मैं तो उनके पास नहीं गया, पर और बहुत-से लोग उनके दर्शन और सत्संगके लिये वहाँ जाते। मेरे पिताजी बड़े शुद्ध आचारके तथा ईश्वरपरायण पुरुष थे। एक दिन लोग पिताजीको भी वहाँ ले गये। वहाँसे लौटकर कई लोगोंने मुझसे कहा, 'महात्मा बड़े अच्छे दीखते हैं।' मैंने पूछा 'आपने उनमें क्या अच्छापन देखा?' वे कहने लगे 'वे हठरहित और निरभिमान महात्मा हैं, किसी विषयपर उनसे बात हो रही थी, उस समय हमने ठीक उनके विचारोंके विपरीत बात कही। यद्यपि हम जानते थे कि हमारा कथन ठीक नहीं है। इसपर भी वे अधिक वाद-विवाद न कर शान्त ही रहे और बोले 'यही ठीक होगा।' यह महात्माका मुख्य लक्षण है।'

मैं उनके पास गया, मुझे भी उनके प्रति कुछ श्रद्धा-सी हो गयी। इस बार तो वे चले गये, कुछ दिनों बाद दूसरी बार आये, तब मैंने उनके सामने कुछ प्रसाद रखकर उनसे दीक्षाके लिये प्रार्थना की। वे कहने लगे 'मैं कुछ नहीं जानता। गुरु सोच-समझकर करना चाहिये। बिना विचारे काम करके तुम पीछे पछताओगे।' इसप्रकार हिला-हिलाकर वे मुझे बहुत दिनोंतक जाँचते रहे और दूसरे-दूसरे महात्माओंके नाम गुरु-दीक्षा लेनेको बताते रहे। वे ज्यों-ज्यों मने करने लगे, त्यों-ही-त्यों मेरी श्रद्धा उनपर बढ़ने लगी। मैं उन्हींसे दीक्षा लेनेकी प्रार्थना करता रहा। एक दिन मैंने कहा 'महाराज! यों ही जीवनका अन्त हो जायगा और कुछ लाभ नहीं होगा।' वे बोले, 'नहीं, ऐसा नहीं होगा।' तब उन्होंने मुझे कुछ साधारण-सी बात बतायी। मैं सात वर्षतक

आदेशानुसार साधन करता रहा। गुरुजी कभी-कभी ग्राममें आते, कभी बाहर दूसरी जगह विचरने चले जाते। सात वर्षके अनुष्ठानके बाद एक दिन मैं रास्तेसे जा रहा था कि यकायक मेरी अवस्था पलट गयी। शरीरकी दशाका कुछ पता नहीं रहा। यह स्पष्ट अनुभव होने लगा कि मेरी ही सत्तासे सारा संसार परिपूर्ण है। पशु-पक्षी, जल-थल और पत्ते-पत्तेमें मुझे यह प्रतीति होती थी कि मैं ही इन सबको सत्ता दे रहा हूँ। यह अवस्था कई घण्टोंतक रही। फिर उसी प्रकार मेरी पूर्व अवस्था हो गयी। उस समयके बाद मैं बराबर इसी साधनको करता रहा। जब सात वर्ष और बीत गये तब एक दिन मैंने गुरु महाराजसे कहा 'महाराज! बारह वर्षोंमें तो घूरेकी भी बदलती है, भगवान् सुन लेता है, मुझे चौदह वर्ष हो गये। अब तो कृपा करो।' तब उन्होंने मुझे असली बात बतायी। उसके मालूम होते ही अन्दरसे एकदम आनन्दके फव्वारे छूटने लगे। ऐसा मालूम होने लगा कि सारा जगत् आनन्दसे परिपूर्ण है। यह अवस्था बढ़ती ही चली गयी। यहाँतक कि मैं बहत्तर-बहत्तर घण्टेतक इसी अवस्थामें रहने लगा, खाने-पीनेकी कुछ सुधि नहीं, उस समय मेरे पास होकर जो लोग निकल जाते या मैं जहाँ होकर निकलता, आस-पासके लोग चकित रह जाते, उन्हें कुछ बड़े ही आनन्दका अनुभव होता, वे कहते 'यह क्या हो गया!'

इसके बाद श्रीस्वामीजी महाराजने अन्य कई महत्त्वपूर्ण अनुभव सुनानेकी महती कृपा की। फिर कहा—

'मेरी बहत्तर घण्टेतक समाधिकी दशा रहती। निर्गुण रूपका अनुभव होता। सगुणका कभी-कभी हुआ। और तो कई लोगोंको मेरी दृष्टिसे दिव्यधामके दर्शन हुए। मेरे अन्दर जो-जो विलक्षण हालतें कई वर्षोंतक रहीं, उनको मैं कह नहीं सकता। उस समय ऐसी स्थिति रही कि मेरे पास होकर कोई आदमी निकल जाता तो वह एक अपार आनन्दमें डूब जाता। उस स्थितिमें मुझे क्षुधा-पिपासा आदि भी नहीं व्यापते थे। मेरी हालत ऊँची होती तो गुरुजी नीचे गिरा देते। तीन बार मेरी हालत गुरुजीने नीचे गिरायी। मैंने दुखी होकर कहा 'महाराज! ऐसा क्यों करते हो?' तो कहा 'तुमसे बहुत काम कराना है।' जब मैं कई लोगोंकी ऐसी अवस्था कर देता तो गुरुजी महाराज कहते 'ऐसा पागल नहीं बनाना' उन्होंने तीन बार ऐसा कहा और जिस दिन तीसरी बार ऐसा कहा उसी दिनसे मुझमें वह शक्ति नहीं रही।

(८) स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज

हम वृन्दावनकी परिक्रमामें जा रहे थे। धूप बहुत पड़ती थी। एक जगह छाँहमें बैठ गये, और भी बहुत-से लोग बैठे थे। चित्तमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी अत्यन्त आकांक्षा कई दिनसे लग रही थी। उसी समय बालरूपमें पीताम्बर पहिने, सिरपर मुकुट रक्खे, हाथमें वंशी लिये प्रभुके दर्शन हुए। उसी क्षण एक बँदरियाको एक कुत्तेने पकड़ लिया। उसके कारण बड़ी चिल्लाहट-सी मच गयी। मेरा ध्यान भी उधर गया। फिर मैंने देखा तो वह मूर्ति नहीं दीख पड़ी।

(९) एक भावुक महानुभाव

(नाम प्रकट करनेकी अनुमति नहीं)

आज मुझे भजन करते समय यह प्रतीत हुआ कि ईश्वरके अस्तित्वका प्रबल प्रमाण मौत है, इससे बढ़कर और कोई प्रबल प्रमाण नहीं।

जिन्दगीभर तो बहुत-से मनुष्य अपने पुरुषार्थपर निर्भर रहते हैं। यह पुरुषार्थ उनका है तो मरते समय वे क्यों नहीं अपना पुरुषार्थ कर लेते? यह निश्चय है कि बड़े-बड़े नास्तिक भी मरना और बूढ़ा होना नहीं चाहते।

जब बच्चे थे तब तो बढ़ाने-घटानेकी शक्ति तुममें थी नहीं। यदि उसे भी पुरुषार्थसे बढ़ाया मानते हो तो फिर प्रयत्न करते भी शरीर क्यों क्षीण होता है? नौजवानको पुरुषार्थ करते-करते क्यों बीमारी आती है?

कोई ऐसी शक्ति दुनियामें अवश्य है जो हमारी इच्छा और उद्योगके विपरीत हमको मरने-जीनेके लिये बाध्य करती है।

बड़े-बड़े पण्डित, कवि, गुणज्ञ दरिद्रतामें क्यों रहते हैं? इससे सिद्ध है कि कोई शक्ति हमारे ऊपर रहकर शासन करती है।

(१०) सुखकी चोईवाले महात्मा

तीन रूप हैं—१ अस्ति (सत्), २ भाति (प्रतीति चेतनता), ३ प्रिय (प्यारा आनन्दमय) यह तीनों रूप सबमें एक-से रहते हैं।

घटको फोड़ दो तो उसका नाम, आकार चाहे न रहे पर अस्ति, भाति, प्रिय नष्ट नहीं होगा।

संसारके सभी आदमी सुख चाहते हैं और पूर्ण सुख जीवमें है नहीं, वह उस परमात्मामें है। इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये। यदि तुम शून्यको नहीं जानते और कहते हो कि कुछ नहीं, तो तुम्हारा कहना नहीं बनता। और अगर जानते हो तो जो जाननेवाला है वही शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप तुम हो।

अपने आपमें घटा लो। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति सब मैं हूँ। मैं सब अवस्थाओंको जानता हूँ। सबका ज्ञाता हूँ। जो मैं जाग्रत्‌में हूँ वही स्वप्नमें हूँ, जो स्वप्नमें हूँ वही सुषुप्तिमें हूँ। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तुम्हें नहीं जानते, तुम तीनोंको जाननेवाले हो।

तुम सबसे प्यारे हो, तुम्हारे ही प्यारको पाकर सब प्यारे प्रतीत होते हैं, खाँड़ जिसके साथ लगती है उसीको मीठा बना देती है।

मेरे निजके गाँवमें एक कुआँ और मन्दिर था। वहाँ इस शरीरके एक सम्बन्धी विचार-सागर ग्रन्थ पढ़ते। मुझमें और तो कोई संस्कार था नहीं, परमात्मा है या नहीं, इसका भी कोई विशेष विचार नहीं था। ग्रन्थमें एक दिन गुरुकी महिमा सुनी, वह विषय चार दिन चला और उसे मैंने नित्य बड़े ध्यानसे सुना। वह कुछ उस समय मुझे कण्ठ-सा हो गया—

वेद अर्थकूं भलै पिछानं। आतम ब्रह्मरूप इक जाने।
भेद पंचकी बुद्धि नसावै। अद्वय अनल ब्रह्म दरसावै॥
भव मिथ्या मृग-तृषा समाना। अनुभव इम भासत नहिं आना।
सो गुरु दे अद्भुत उपदेशा। छेदक सिखा न लुंचित केशा॥

एक दिन मैंने यह कथा वाचकजीको सुनायी, उन्होंने कहा, 'तुम्हारी बुद्धि बड़ी चञ्चल है, तुम्हीं पढ़ा करो।' उस दिनसे मैं ही पढ़ता। पढ़ते-पढ़ते यह निश्चय-सा हो गया कि आत्मा सत्य है यह सब संसार मिथ्या है। जब मिथ्या है तो इसके लिये क्या यत्न करना है? तीन दृष्टियाँ हैं—१ शास्त्रीय, २ लौकिक और ३ ज्ञान।

शास्त्रीय दृष्टिसे तीनों कालमें संसार है ही नहीं, ज्ञान-दृष्टिसे वह अनिर्वचनीय है और लौकिक दृष्टिमें सत् है।

उस समय यह निश्चय हुआ कि यह सब ब्रह्मरूप है। वहाँ एक महात्मा प्रायः महीने-दो-महीनेपर आया करते थे। विद्या साधारण तो वहींके पण्डितोंसे पढ़ी थी, उन महात्माके सहवाससे मेरी संन्यास लेनेकी इच्छा और बढ़ी। मैंने पण्डितजीसे आज्ञा माँगी। पण्डितजीने कहा 'हमारे कन्या है, उसकी शादी करके दस वर्ष बाद इकट्ठा संन्यास लेंगे, तभी तुम्हें पढ़ायी हुई विद्या सफल होगी। इस बीचमें अभ्यास करते रहें।' जो सन्त महात्मा आते उनसे वे बार-बार साधनकी बातें पूछते रहते। इसप्रकार ग्यारह वर्ष बीत गये, तब मैंने पण्डितजीसे कहा, आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी, अब हम जाते हैं, आपने दस वर्षका वचन दिया था। उससे एक वर्ष और अधिक हो गया। इसप्रकार चालीस वर्षकी अवस्थामें मैं घरसे निकला। संन्यासकी इच्छासे मैं ऋषिकेश गया, गुरुजीके पास बराबर एक मासतक नित्य जाता, पर वे नेत्र नहीं मिलाते। एक दिन कृपा करके उन्होंने मुझे गंगाजीमें खड़ा किया और अपने ही हाथों मेरी शिखा उतार दी। तबसे आनन्दकी उपलब्धिका अभ्यास करता हूँ। जब आनन्दकी उपलब्धि होती है तभी संसारसे मन हटता है। जबतक आनन्द नहीं होता तबतक संसारसे मन नहीं हटता। अभ्यासके बलसे ऐसा अनुभव होता है कि सारा ब्रह्माण्ड मेरी ही सत्तासे स्थित है।

ध्यानमें नित्य ही कुछ ऐसा विलक्षण प्रकाश हजारों

सूर्यके समान होता है, जबतक ध्यान नहीं छूटता, वह नहीं मिटता।

इसके बाद महात्माजीने अपने साधनको तथा अनुभवकी कई विलक्षण बातें बतलायीं।

(११) स्वामी परमहंसजी, राजघाट

मैं पन्द्रह वर्षसे अब पचहत्तर वर्षतक संन्यास-आश्रममें हूँ। बदायूँमें एक पण्डितजी बड़े प्रेमसे दस बजेतक भागवत, रामायण कहते थे, उन्हीं पण्डितजीके सत्संगसे मुझे पहले-पहल लगन लगी। वे मेरे ही ग्रामके रहनेवाले थे।

मैं लड़कपनसे ही भागवत-धर्मका आचरण करने लगा था। लड़कपनसे भगवद्भजनके अभ्यासका यह फल है कि इस वृद्धावस्थामें भी कोई दुःख नहीं व्यापता है। ऐसे दयालु हरिके भजनकी क्या कहें, उन दयामयकी दयालुताका स्मरण आते ही हृदय गद्गद् हो जाता है (इस समय आपके अश्रुपात होने लगा) प्रभो! आपकी शरण हूँ। जब मनुष्य भगवान्‌की शरण ले लेगा तभी निर्भय भजन करेगा। भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं। भक्त अपने स्वामीको प्रत्यक्ष देखकर प्रसन्न होता है। जहाँ भक्त स्मरण करता है, वहीं भगवान्‌का दर्शन होता है।

किसी प्रकार वह मुक्ति दे भी दे, पर भक्तिका मिलना बहुत कठिन है। भगवान्‌की कृपा ही भगवद्-दर्शन है, उसीका ध्यान और मनन करें। जो वस्तु है, विद्यमानरूपसे सब भगवान् ही हैं। उन्हें प्रेमसे भजना चाहिये।

जब भगवान्‌का चिन्तन-स्मरण किया जाता है तभी वह दर्शन देते हैं, जैसे गौ बछड़ेकी रक्षा करती है, ऐसे ही भगवान्‌की महाकृपा रक्षा करती है और वही उसके दर्शन हैं।

भगवान् भक्तके समीप रहते हैं, इसीसे हमें तो समीप ही प्रतीत होते हैं, जो कुछ है सब उन्हींका है। रात-दिन वे श्यामसुन्दर मुरलीधारी आँखोंके सामने रहते हैं।

लड़कपनसे ही भागवतसे अधिक प्रेम रहा, इसीसे लोग मुझे परमहंस कहने लगे। जैसे बने वैसे मनको भगवान्‌में लगावे। दस-बारह वर्षकी बात है, रातको मैं जंगलमें सो रहा था, एक जीव मेरे चारों ओर डोलता रहा। एक दिन वह मेरे सिरसे टकराकर लोटने लगा। मैं जब जागा तो वह भाग गया। देखनेपर ऐसा मालूम हुआ जैसे गधेका बच्चा हो, पिछाई गधे-जैसी, मुख सिंह-जैसा। उसे लोग मोकड कहते हैं, वह जीवित मनुष्यपर चोट नहीं करता। मेरी तो प्रभु रक्षा करते हैं। अब तो बल नहीं रहा, नहीं तो दिनमें श्रीमद्भागवत पढ़ता, ऊँचे स्वरसे भगवत्-नाम लेता, रात्रिको बड़े वेगसे कीर्तन करता। खूब ही प्रेम आता, बड़ा भारी आनन्द आता, अश्रुधारा बहने लगती। जैसे-जैसे नाम लेता हूँ वैसे-ही-वैसे मंगलमयी श्यामसुन्दर मूर्तिके दर्शन होते हैं।

(१२) स्वामी श्रीअतुलानन्दजी महाराज

१-जीवका असली स्वरूप ब्रह्म है, उसके साथ एकीभूत होनेके लिये ब्रह्म (ईश्वर) को मानना चाहिये। एकीभूत हुए बिना माया नहीं छूटेगी। मायाके न छूटनेसे जन्म-मरणरूप उपाधि बनी ही रहेगी।

२-ईश्वरको न माननेसे आत्मस्वरूपका बोध न होगा, स्व-स्वरूपकी पहचान न होगी। अपने स्वरूपको पहचाने बिना जन्म-मरणके चक्रसे जीव नहीं छूट सकता।

३-जीव जब माया-विषयका चिन्तन छोड़कर प्रभुका मनन करता है तब उसे अनुभव होता है, सच्चिदानन्द, पूर्णानन्द, महानन्द ज्योतिर्मय स्वरूपका दर्शन होता है।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल इन सबको कौन शक्ति देता है? इन सबमें जिसका अस्तित्व है, इनको जो नियमानुसार चलाता है, वह ईश्वर है, यही ईश्वरका प्रबल प्रमाण है।

४-थोड़ा-बहुत जो भजन करके देखा है, उससे मुझे ऐसी चीज़ मिली है जिसमें मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, जिसे बतलानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। ईश्वर-कृपा मुझे अनेक प्रकारसे प्राप्त हुई है।

इस शरीरको नौ वर्षकी उम्रसे साकार मूर्ति श्रीकृष्ण, काली, शिव आदिकी उपासनाका शौक था। वह उपासना सतरह-अठारह वर्षकी उम्रतक लगातार चलती रही। अठारह वर्षकी उम्रमें वैराग्य हुआ। यह इच्छा हुई कि ईश्वर साक्षात् मिलना चाहिये, पर वह कहाँ मिलेगा? पहाड़, नदी, जंगलमें कहाँ मिलेगा? उसी समय गृहस्थको छोड़ दिया, विवेक-वैराग्य जागा। मैंने जंगल, गुफा, पहाड़ोंमें खूब भजन किया।

इसके बाद प्रार्थना करनेपर आपने अपने कठोर साधनकी कुछ बातें बतलानेकी कृपा की।

(१३) स्वामी श्रीलक्ष्मणसिंहजी

(इस समय आप नेत्रहीन हैं। अवस्था लगभग सत्तर वर्ष)

१—ईश्वरको अपने कल्याणके लिये मानना चाहिये। कल्याण दो प्रकारका है, संसार-दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, यही मोक्षका स्वरूप है। क्योंकि संसारमें जन्म-मरण और नाना प्रकारके दुःख हैं, इन दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ईश्वरके माने बिना नहीं होगी।

२—न माननेसे जन्म-मरणरूप दुःखसे कभी छुटकारा नहीं होगा। यही सबसे बड़ी हानि है।

३—ईश्वरके वेद और श्रुति आदि मुख्य प्रमाण हैं। संसारकी दृष्टिसे जैसे माता-पिताको मानते आये हैं, उसी प्रकार वेद, श्रुतिके प्रमाणोंको मानना चाहिये।

४—वैराग्य आदि साधन अपेक्षित हैं, साधन बिना साध्य वस्तु नहीं मिलती। मनुष्य अनेक जन्मोंसे जब भजन करता चला आता है, तब परमात्माकी कृपासे उसे कोई महात्मा मिल जाते हैं, वे समझा देते हैं कि जिसका तू भजन करता है, वह आप ही है। जब सभी कुछ ईश्वर नजर आता है तब वह किसके साथ राग करे और किससे प्रेम करे? यह भी शास्त्रीय बात है। अनुभव नहीं।

जो अनुभव है वह कहनेका विषय नहीं, मन-वाणी वहाँतक जा नहीं सकते।

संसारको असार जानकर इधर आनेके लिये मनमें प्रवृत्ति हुई, मेरा जन्म जिला होशियारपुरसे तीस कोसपर एक स्थान दिसुआ मकरियामें हुआ था। पचीस-छब्बीस वर्षकी अवस्थामें यह वैराग्यकी भावना उठी, फिर गुरु मिले। यह संसार असार है, लोगोंके जन्म-मरणको देखकर भजनकी ओर प्रवृत्ति हुई थी। मुर्देके साथ जाते हैं, उस समय प्रायः सबको वैराग्य हो आता है, पर वह ठहरता नहीं, वैराग्य असली होना चाहिये।

(१४) श्रीज्वालासिंहजी

(आपने कृपापूर्वक अपनी आँखों-देखी दो घटनाएँ सुनायीं)

(क) संवत् ८८ के श्रावण-मासमें एक पागल अवधूत यहाँ पधारे, उन्हें प्रायः सभी पागल कहकर पुकारते। अवस्था देखनेमें तीस-बत्तीसकी होगी। रंग गेहुँआ, चेहरा प्रकाशयुक्त, होंठ लाल, ब्रह्मचर्यसे पूर्ण, दुपहरीमें आकर यहाँ खड़े हो गये। क्षेत्रसे लेकर भिक्षा की। यहाँसे चार कोसपर ब्योरऊ गाँवके चोखेसिंह पहलवान कभी-कभी मेरे पास आते थे। वे व्रजकी यात्राके मेरे मित्र थे। वे भी यहीं थे। उसी समय हरद्वारपुरका एक लोधी आया और कहने लगा 'मेरी स्त्री बहुत बीमार है, कुछ दवा हो तो दे दो, उसकी पसलीमें बड़ा दर्द है।' पागल महाराज भी वहीं बैठे थे, लोधेकी बात सुनकर वह अचानक बोल उठे 'जा, देख अब दर्द नहीं होता।' लोधेने उसे यों ही पागलकी बात समझी और उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। मैंने कहा, 'महात्माकी बात है, तू घर जाकर एक बार देख।' वह घर गया और तुरन्त ही वापस लौटकर बोला, 'उसको आराम है, पहले दाहिनी पसलीमें दर्द था अब थोड़ा-सा बाईं पसलीमें रहा है।' (उसके दर्दका बहुत दिनसे इलाज हो रहा था, पर फायदा नहीं होता था) यह सुनकर पागलने फिर कहा, 'जा, देख, अब दर्द नहीं है।' लोधा फिर घर गया और

आकर कहने लगा 'आराम है।' लोगोंने पागलके चरण पकड़ लिये। पागल ठहाका मारकर मस्त हँसी हँसने लगा और बोला 'प्यारे कृष्ण! ऐसा धोखा न दिया करो, तुमने मेरे मुँहसे क्या निकलवा दिया?' मेरे मित्र पहलवान कहने लगे, 'महाराज! उस प्यारे कृष्णके हमें भी दर्शन कराइये, पर हम देखेंगे चतुर्भुजी रूप।' मैंने भी कहा 'महाराज, इन्हें करा दो, फिर हमें भी कराना।'

मेरे मित्र पहलवान नित्य पचास हजार नाम-जप किया करते थे। वे आश्रमके नीचे गंगामें पूज्य श्रीअच्युत मुनिजी महाराजकी जो नौका खाली खड़ी थी, उसमें भजन करने चले गये। एक घण्टे बाद पागल भी वहीं पहुँचा। पहलवान नौकाके कमरेमें बैठे सन्ध्या कर रहे थे, पागलने जाकर कमरेके किवाड़ बन्द कर दिये, उस समय पहलवानको श्रीकृष्णकी कई रंगोंकी एक अति भयानक आकृति दीखने लगी। (पहलवानके बतलाये हुए उस समयके रूपकी याद आती है तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।) पहलवान उसे देखकर डर गये और लगे भागने। पागलने उनके दोनों पहुँचे पकड़ लिये और हाथ पीछे करके उन्हें जकड़कर बैठा लिया। पहलवान बिल्कुल बेहोश-से हो गये। तब पागलने उन्हें छोड़ा। थोड़ी देरमें जब उन्हें होश आया तो वे थर-थर काँपते मेरे पास आये और वहाँका वृत्तान्त कहने लगे। मैंने उन्हें डाँट दिया कि 'खबरदार, ऐसी बातें कहने योग्य नहीं हैं, तुम्हारे धन्य भाग्य हैं जो यह बात नसीब हुई।'

पहलवान भाँग पीया करते थे, जब भागने लगे थे तो पागलने भाँगकी गोली पहलवानसे वहीं छीन ली थी। पागल वहाँसे चले गये और शामको भाँग पीये हुएकी-सी स्थितिमें आकर यहाँ पक्के सीमेण्टके चबूतरेपर खड़े हो गये। पहले मैंने कहा था 'महाराज! इनको दर्शन करा दो, फिर हमें भी कराना।' पागल पहलवानसे कहने लगे 'अगर तू रहा-सहा चतुर्भुजी देखना चाहता है तो, या तो तू नहीं होगा या तेरा पुत्र नहीं होगा!' मुझसे कहा, 'तू भी दर्शन करना चाहता है?' मैंने कहा, 'आप नाखुश न हों, हमें नहीं चाहिये। हम तो ऐसे ही भले हैं।' पागल बोले, 'अच्छा, देखना चाहता है तो पहले श्रीकृष्णके कालीनागको देख।' देखते-ही-देखते अकस्मात् एक बड़ा भयंकर काला सर्प आया (वहाँ पक्के सीमेण्टके चबूतरेपर सर्प होनेकी या आनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं हो सकती) और मेरी जाँघतक दोनों पैरोंमें लिपट गया। मैं भौंचक रह गया और एकदम झटका देता हुआ तड़ककर दूर जा खड़ा हुआ। सर्प मेरे पैरोंसे छूटकर वहीं पास ही देखते-ही-देखते लुप्त हो गया। बादमें देखा भी, पर कहीं पता नहीं लगा! पागल उस समय चिल्लाकर बोले, 'देखा, कृष्णका कालीनाग, और करेगा कृष्ण-दर्शन?' मैंने कहा, 'नहीं महाराज! आप क्रोध न करें, मुझे कृष्ण-दर्शन नहीं चाहिये।'

मुझे बुखार हो गया, इसके चौथे दिन मैं और पहलवान रास और दर्शनोंकी इच्छासे वृन्दावनके लिये चल पड़े। वृन्दावन जाते समय मुझे १०२ डिग्रीका ज्वर हो गया। हम दोनों वृन्दावनके निकट जा रहे थे, देखते हैं, जयपुरवालोंके मन्दिरके पास एक पेड़की जड़में वही पागल धोक दिये पड़े हैं। मैंने कहा 'पागल तो यह पड़े।' खैर, हमलोग वृन्दावन पहुँचे। दो-तीन दिन रास देखा, टिकारीवाली रानीके मन्दिरमें छोटेलालकी मण्डलीका रास होता था। हमलोग उसी मण्डलीका रास देखते। तीसरे दिन वहाँ ऊखल-बन्धन-लीला थी। हम बड़े प्रेमसे सुन रहे थे, उसमें एक बात बड़ी उत्तम और विलक्षण आयी, जिसके कारण हमारा हृदय द्रवित होने लगा। जब मैया यशोदा व्रजचन्दलालको पकड़नेके लिये दौड़ती है और लीलाधर लीला करते हुए हाथ नहीं आते, तब मैया श्यामसुन्दरको खड़े रहनेके लिये सत्ययुगके भक्तोंकी शपथ दिलाती है, पर प्रभु हाथ नहीं आते, फिर त्रेताके भक्तोंकी शपथ देती है तो भी उन्हें नहीं पकड़ पाती, फिर द्वापरके भक्तोंकी शपथ देती है, इसपर भी वे हाथ नहीं आते, अन्तमें कलियुगके भक्तोंकी शपथ देती है। जिस समय कलिके भक्तोंकी शपथ महाराज सुनते हैं, उसी समय खड़े हो जाते हैं और मैया पकड़कर उन्हें ऊखलसे बाँध देती है। फिर ऊखल घरके सामनेके वृक्षोंमें अटक जाता है। यह लीला हो रही थी। भगवान्‌ने दोनों वृक्षोंको झटका देकर तोड़ा और उनमेंसे प्रकट हुए यमलार्जुन भगवान्‌की स्तुति करने लगे। उस समय भगवान्‌का चतुर्भुजरूप था। यमलार्जुन यह स्तुति कर रहे थे—

धन्य मुनिवर शाप दीनो अति अनुग्रह सो कियो।
जासु सुर-ब्रह्मादि दुर्लभ नाथ! तुम दर्शन दियो॥
अब कृपा करि प्रभु देहु यह वर चरण-पंकज मति रहे।
जन्मैं जहाँ निज कर्म वश, तहँ एक तुम्हरी रति रहे॥

जिस समय यह 'धन्य मुनिवर शाप दीनो' शब्द कहे जा रहे थे, उस समय मैंने पहलवानकी तरफ मुड़कर देखा कि मेरे और पहलवानके सिरके ऊपरसे पीछेसे खड़े होकर पागल हाथ बढ़ाये हुए भगवान्‌के चतुर्भुजरूपकी ओर अंगुलीका इशारा कर रहे हैं और कहते हैं 'ले, कर ले दर्शन चतुर्भुजरूपके।' रास समाप्त हुआ तो पागल बोले, 'तूने हमें इतनी दूरसे परेशान किया।' यह कहकर वे तो चले गये—इधर रास समाप्त होते ही पहलवान बे-सुध-से हो गये, वे प्रेममें विभोर हो गये, उस दिन पहलवानको बड़ा ही आनन्द आया। पहलवानने कहा कि 'आज कहीं ऐसा भाग्य हो जाय कि नाथ (जो रासमें चतुर्भुज भगवान् बने हुए थे) के चरणारविन्द इस मस्तकपर लग जायँ।'

रास समाप्त होनेपर श्रीठाकुरजीको मैं ही अपने कन्धेपर चढ़ाकर निवास-स्थानपर ले जाया करता (मैंने बहुत बड़ी खोज-बीनके बाद ब्रजभरकी सभी रास-मण्डलियोंमेंसे चुनकर इस मण्डलीके श्रीठाकुरजी तथा महारानीजीके प्रति अपना सब कुछ अर्पण किया था) उस दिन पहलवानके कन्धेपर बैठनेको श्रीठाकुरजीसे प्रार्थना की। श्रीठाकुरजी उछलकर पहलवानके कन्धेपर बैठ गये। पहलवान उनके दोनों चरणकमलोंको अपने हाथोंसे थामे अपार आनन्दमें मग्न होते हुए उन्हें निवास-स्थानपर ले गये। उस समयकी पहलवानकी आनन्दमयी स्थिति देखने योग्य थी। वहाँसे पहलवान मेरे पास डेरेपर आये और शेष रात्रिभर उनको नींद नहीं आयी, हँसते-हँसते प्रभात हो गया। दूसरे दिन हम दोनों भैरियाको चल दिये। रास्तेमें मुझे भी ज्यादा तकलीफ हो गयी। मैं तो गाड़ीमें आया और पहलवान पैदल आये। यहाँ आकर पहलवानको छः लंघन हुए। परन्तु वह यहाँ मन्दिरमें जो नित्य कीर्तन हुआ करता था, उसमें जरूर जाते। एक दिन वह बोले, एक बालिश्तभर ऊपरतक पैरोंकी जान निकल गयी है। दूसरे दिन बोले, दो बित्ता पैर निर्जीव हैं। तीसरे दिन तीन, चौथे दिन चार, पाँचवें दिन पाँच, इस तरह कहते-कहते छठे दिन कहने लगे, अब सारे शरीरके प्राण निकले जा रहे हैं। अन्तिम समय कहने लगे कि 'जिसके लिये हम यह 'जी' लाये थे, वह हमें मिल गया। अब यह शरीर रहे या न रहे। कोई बात नहीं।' अन्त समयमें मुझसे बोले 'भैया, राधारमणसे हमारा चरण छूना कहना और कहना हमारे हेतु वे फिर राधारमण बनेंगे, हम फिर उन्हें इसी भावमें देखेंगे।' अन्त समयमें यह पद कहा—

> जिस हालमें जिस वेशमें जिस देशमें रहूँ।
> राधारमण राधारमण राधारमण कहूँ॥

इसप्रकार उस मनमोहनके प्रेममें मतवाले भक्तने अपने प्राण विसर्जन कर दिये!

उनकी स्थिति कुछ ऐसी हो गयी थी कि वे सोतेमें, जागतेमें प्रायः प्यारे मनमोहनकी अनेक लीलाएँ देखा करते। ऐसे-ऐसे पद सुनाते जो किसी पुस्तकमें देखनेको नहीं मिलते। यहाँतक कहते कि प्यारेके आनन्दमेंसे मुझको कोई जगा देता है और कहता है 'उठकर भजन कर।'

कोई कहता, 'भजन क्यों नहीं करते?' तो कहते, 'भजनका जो फल है, वह प्यारे मेरे सामने खड़े हैं।' रास देखनेके बाद वे आठ नौ दिन जीये। वे कहते, एक बड़ा निर्मल शीशा है, उसके दायें-बायें सूर्य और चन्द्रमा हैं, बीचमें प्यारेकी मधुर मूर्ति है। ब्रजमें रहते, तबतक वे प्रायः इसी पदको गाते रहते—

> 'माथे पै मुकुट देख, चन्द्रिका चटक देख,
> छविकी लटक देख, रूपरस पीजिये।'

(ख) एक ब्रह्मचारी आये थे, उन्होंने यहाँ आकर चालीस दिनोंका पुरश्चरण किया। क्षेत्रमें भोजन पा जाते और सारा समय गङ्गाकिनारे व्यतीत करते। डेढ़ मासके बाद जब अनुष्ठान समाप्त हो गया, तब वे यहाँसे ब्रज-यात्राको जानेका विचार करने लगे। खर्चा उनके पास कुछ नहीं था। मैंने उन्हें एक रुपया दिया और कहा 'आप अलीगढ़तक पैदल जाइये, वहाँसे रेलमें बैठ जाइयेगा।' वह अलीगढ़ तो गये नहीं, राजघाट गये और स्टेशनपर जाकर उन्होंने अलीगढ़तककी टिकट लेनेका विचार किया, इतनेमें एक आदमी आया और बोला, 'महाराज। मथुरा तो नहीं जाओगे? मेरे पास एक टिकट है।' वह बोले 'हमारे पास इतने दाम नहीं।' परन्तु वह आदमी बिना दाम लिये ही टिकट देकर चला गया। उनकी भावना ऐसी थी कि सम्पूर्ण तीर्थ गिरिराजके दर्शन करनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिले तो और कहीं नहीं मिलेंगे क्योंकि श्रीराम और श्रीकृष्णकी प्राचीन निशानी है तो गिरिराज है। जब मुसलमान भक्त रसखान, आलम,

आदिल आदिने गिरिराजकी परिक्रमामें भगवान्‌के दर्शन किये हैं तो मैं तो हिन्दू हूँ, मुझको क्यों नहीं दर्शन होंगे? वह मथुरा उतरे, वहाँसे गिरिराज पहुँचे। परिक्रमा-की कीमत एक रुपया जो उनके पास था, खर्च हो चुका था। एकादशीके व्रतका दिन था। इनका रात-दिनका समय भगवन्नाम-जपमें ही बीतता था। परिक्रमा कर चुके तो एकादशीके दोपहरके समय इन्हें एक लड़का मिला और बोला 'बाबा, तुम परिक्रमा कर रहे हो, आज तुमको भोजन नहीं मिला?' वे बोले, 'नहीं मिला, हम तो कई परिक्रमा करने आये थे, यहाँ भिक्षाका ठीक नहीं है, प्यारेकी ऐसी ही मर्जी है, हम क्या करें?' लड़का बोला, 'चलो हम अपने घर खिला लावें।'—लड़का उन्हें एक ब्राह्मणीके घर ले गया। ब्राह्मणी बड़ी भक्त थी, एकादशीके दिन फलाहार बनाये बैठी थी। लड़केने घरमें जाकर उन्हें पानी दिया। ब्राह्मणीका यह नियम था कि कोई साधु आता तो पहले उसे भोजन कराती फिर आप करती। ब्रह्मचारीजी बैठ गये, ब्राह्मणीने फलाहार परोसा। ब्रह्मचारीजी खाने लगे। लड़का चला गया। जब फलाहार कर चुके तो ब्राह्मणी बोली, 'महाराज! मैं तो इसी आशामें थी कि कोई आवे तो फलाहार कराऊँ। आपको कौन बुलाकर लाया?', ब्रह्मचारी बोले 'तुम्हारा पुत्र लिवा लाया था, बोला 'यह घर मेरा है'।' बुढ़िया कहने लगी 'महाराज! मेरे तो कोई पुत्र ही नहीं, इस लड़केको तो मैं जानती भी नहीं, कौन है!' यह सुनकर ब्रह्मचारीजी दंग रह गये और फूट-फूटकर रोने लगे। यह घटना स्वयं ब्रह्मचारीजीने वापस लौटनेपर मुझसे कही थी।

(१५) स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

बहुत-से लोगोंको कहते सुनता हूँ कि ईश्वर दूर है, मैं कहता हूँ, हाजिरा-हुजूर है, सर्वत्र भरपूर है। कई कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, मेरा कहना है कि ईश्वर इर कहीं है। पाससे भी पास है, खासुल-खास है। सबका अपना आप है, निष्पाप है, निष्ताप है, आनन्दका समुद्र बेमाप है, शान्तिका अचल पहाड़ है, उसमें न पर्दा है न आड़ है! ईश्वर-कृपा बिना ईश्वरका ज्ञान नहीं होता, ईश्वरके ज्ञान हुए बिना मनुष्यका कल्याण नहीं होता। ईश्वरका ज्ञान हुआ कि क्षणभरमें जीवका कल्याण हुआ! ईश्वर सन्मात्र है, चिन्मात्र है, सुखमात्र है, अमात्र है! सन्मय है, चिन्मय है, आनन्दमय है, निरामय है! शुद्ध है, बुद्ध है, निर्मुक्त है, अक्षय है, अव्यय है, अनिरुक्त है, प्यारे-से-प्यारा है, सर्व उपाधियोंसे न्यारा है, उजियारोंका उजियारा है! न उसका रंग है, न रूप है, रंगरूपसे रहित अरूप है, न उसमें छाया है न धूप है, उपमारहित अनूप है, निष्कल है, निरञ्जन है, भवभयभञ्जन है, आँखोंको खोलनेवाला अद्भुत अञ्जन है, अपने जनोंके लिये सुखदाता रञ्जन है! एक है, शान्त है, अद्वय है, अनन्त है, सब कल्पनाओंसे दूर है, सब नूरोंका नूर है! अव्यक्त है, अचिन्त्य है, इन्द्रियोंसे पर मनसे रहित निश्चिन्त है, अकथनीय है, अनिर्वचनीय है! पावनसे भी पावन है, शुद्धसे भी शुद्ध परम सुहावन है, प्राणोंका प्राण है, जानकी जान है, सत्य है, ब्रह्म है, प्रज्ञान है, न ग्राह्य है न त्याज्य है, न प्राप्य है न अप्राप्य है! अपना आप होनेसे सर्वदा ही प्राप्त है, उसको जानकर कर्तव्य हो जाता समाप्त है! एक है, अद्वितीय है, फिर भी मायासे मोहित पुरुषोंको भासता सद्वितीय है! स्वयंज्योति है, सबको प्रकाशता है, सबसे प्रथम भासता है, स्वयंसिद्ध है, विद्वानोंको प्रसिद्ध है, अविद्वानोंको अप्रसिद्ध है, सब कुछ होता उसीसे सिद्ध है! मिथ्या भी संसार ईश्वरकी सत्तासे सच्चा-सा प्रतीत होता है, अशुचि भी देह ईश्वरकी पवित्रता-से पवित्र-सा दिखायी देता है, जैसे मृत्तिका सत्य है, घट कल्पित है, जैसे सुवर्ण वस्तु है, भूषण आरोपित है, जैसे लोहा परमार्थरूप है, खड्गादि अध्यस्त हैं, इसी प्रकार एक ईश्वर ही सत्य है और सर्व नाम-रूप जगत् उसमें अध्यारोपित है!

एक ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है, न कहीं जाता है, न कहीं आता है, सर्वदा है, सर्वत्र है, सर्व है, मन समझता है कि मैं सबसे अधिक दौड़नेवाला हूँ, मेरे समान कोई दौड़ नहीं सकता, परन्तु जब मन ईश्वरका दर्शन कर लेता है, तो समझता है कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ, वहाँ ही ईश्वरको पाता हूँ, इसलिये मैं कोई वस्तु नहीं हूँ, ईश्वर ही मेरा स्वरूप है। ईश्वर न हिलता है, न डुलता है, न घटता है, न बढ़ता है, किन्तु सर्वदा एकरस है। इन्द्रियाँ ईश्वरतक नहीं पहुँच सकतीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ जाती हैं, वहाँ-वहाँ

ईश्वर पूर्वसे ही विद्यमान है। अनेक विश्व ईश्वरमेंसे उत्पन्न हो-होकर लय हो जाते हैं, ईश्वर ज्यों-का-त्यों ही रहता है, ईश्वरमें विश्वका नामतक नहीं है, ईश्वरकी मायासे मोहित पुरुषोंको ईश्वरमें विश्व भासते हैं। परमार्थसे ईश्वर असंग है, अनंग है, निष्कल है, निरञ्जन है, गुणातीत है, मायातीत है, कायातीत है, सर्वातीत है, ठोस है, निर्घोष है, निर्दोष है, ऐसे ईश्वरमें विश्वकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यह विश्व ब्रह्माका रचा हुआ है, ऐसा शास्त्रकारोंका कथन है, यह उनका कथन ठीक ही है, परन्तु मन बिना यह विश्व देखनेमें नहीं आता, मनसे ही देखनेमें आता है, इसलिये विचार कर देखा जाय, तो यह विश्व मनका ही रचा हुआ है। जब मन बारम्बार ईश्वरानुसन्धान करता है तो मनको निश्चय हो जाता है कि मैं मन नहीं हूँ, किन्तु अक्षय, अव्यय, निरामय शिव ही हूँ। तब वह इसप्रकारका अनुभव करता है—

अहाहा! मैं मन नहीं हूँ, अब मैं नाममात्रका मन हूँ, देखनेमात्र हूँ, संस्कारमात्र हूँ, जली हुई रस्सीके समान दूसरोंकी दृष्टिमें मनका आकार हूँ, वस्तुतः सच्चिदानन्द निर्विकार निराकार हूँ। शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, निर्मुक्त हूँ, चिद्घन हूँ, शब्दसे रहित हूँ, स्पर्शसे वर्जित हूँ, रूपसे हीन हूँ, रससे विहीन हूँ, गन्धसे शून्य हूँ, सर्वसे पीन हूँ, शब्दका शब्द हूँ, स्पर्शका स्पर्श हूँ, रूपका रूप हूँ, रसका रस हूँ और गन्धका भी गन्ध हूँ। आकाशका आकाश हूँ, वायुका वायु हूँ, तेजका तेज हूँ, जलका जल हूँ और पृथिवीकी पृथिवी हूँ। पूर्वमें मैं हूँ, पश्चिममें मैं हूँ, दक्षिणमें मैं हूँ, उत्तरमें मैं हूँ। आग्नेयमें, नैऋत्यमें, वायव्यमें और ईशानमें मैं हूँ। नीचे मैं हूँ, ऊपर मैं हूँ, सर्वत्र मैं हूँ। सर्वका प्रकाशक हूँ, ज्योतियोंका ज्योति हूँ, तमसे परे हूँ, आदि-अन्त-मध्यसे रहित हूँ, सर्व भेदोंसे वर्जित हूँ। सर्व नाम मेरे ही हैं, सर्व नामोंसे मैं रहित हूँ, तीनों देहोंसे रहित तीनों देहोंका साक्षी हूँ, तीनों लोकोंसे रहित तीनों लोकोंका प्रकाशक हूँ! देहों और लोकोंका ही नहीं, उनके अभावका भी मैं साक्षी हूँ।

मैं ही एक सुखरूप हूँ, मेरे सिवा सब दुःखरूप है, मांसादिका बना हुआ स्थूल देह प्रत्यक्ष दुःखरूप है; वासनाएँ, सूक्ष्म शरीर कामादिका हेतु होनेसे दुःखरूप हैं और कारण-शरीर अज्ञानरूप होनेसे दुःखरूप है, तीनों गुण दुःखरूप हैं, तमोगुण अज्ञानरूप होनेसे, रजोगुण विक्षेपरूप होनेसे और सत्त्वगुण परिणामी होनेसे दुःखरूप है। तीनों गुणोंका बना हुआ ब्रह्माण्ड दुःखरूप है, यद्यपि ब्रह्माण्ड दुःखरूप है परन्तु यह ब्रह्माण्ड मुझ आनन्दस्वरूप आत्मामें अध्यस्त होनेसे मुझसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरे विचारसे ब्रह्माण्डका आत्यन्तिक प्रलय हो गया है। आत्यन्तिक प्रलय ही ब्रह्मस्वरूप सुखरूप है, इसीका नाम मोक्ष है, यह ही कैवल्यपद है, यह ही निर्वाण है, यह ही मेरा स्वरूप है, इसलिये मैं शान्त हूँ, सुख हूँ, आनन्द हूँ, परमानन्द हूँ, अमृत हूँ, निरामय हूँ, निरञ्जन हूँ, भूमा हूँ, निर्विकार हूँ, निर्भय हूँ, निःशोक हूँ, निर्मोह हूँ, सदाशिव हूँ, देहातीत हूँ, मायातीत हूँ, निष्प्रपञ्च हूँ, अद्वय हूँ, एक हूँ, अच्छेद्य हूँ, अभेद्य हूँ, निरवद्य हूँ, शब्दातीत हूँ। क्या कहूँ क्या हूँ, जो हूँ सो हूँ, सुखका अक्षय सागर हूँ, शान्तिका अचल पहाड़ हूँ, अखण्ड आनन्दका भण्डार हूँ, रसोंका रस हूँ, सारका सार हूँ, वाह गुरु! वाह शास्त्र! वाह ईश्वर! मालामाल कर दिया, निहाल कर दिया, संसार-सागरसे पार कर दिया! आप तीनोंकी कृपा बिना कोई अपने बलसे अथाह संसार-समुद्रका पार नहीं पा सकता, आपकी कृपा ही संसार-सागरसे पार करनेवाली और नरको नारायण बनानेवाली है! सनकादि गुरुओंको नमस्कार है! करोड़ों वार नमस्कार है!! बारम्बार नमस्कार है!!!

शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

कुं०—नाना कुछ भी है नहीं, एक तत्त्व भरपूर।
सबका अपना आप सो, नहीं पास नहिं दूर॥
नहीं पास नहिं दूर, सर्वमें एक समाया।
सच्चित् पूर्ण अखण्ड, भेद दिखलाती माया॥
भोला! सो नर धन्य, तत्त्व जिसने पहिचाना।
सो नर है हतभाग्य, एकमें देखे नाना॥
भूमा ही सुखरूप है, अल्प माँहि सुख नाहिं।
अविचल सुख यदि इष्ट हो, लय हो भूमा माहिं॥
लय हो भूमा माहिं, मोड़ ले मुख भोगोंसे।
हो जा अपना आप, छूट जा सब रोगोंसे॥
भोला! भीतर देख, फिरे मत बाहर घूमा।
अल्प माहिं सुख नाहिं, मात्र केवल सुख भूमा॥

(१६) पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न

१—अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक करनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

व्याख्या—

जीवमात्र ही त्रिगुणात्मिका मायाके अधीन हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं; सत्त्वगुण ज्ञान और सुख-प्रधान है, रजोगुण कर्म और दुःख-प्रधान है एवं तमोगुण आवृतभाव और मोह-प्रधान है। सभी जीवोंमें न्यूनाधिक-रूपसे ये तीनों गुण अपनी शक्तिको प्रकट करते हैं। अन्यान्य जीवोंमें ज्ञानका विकास अल्प होनेके कारण वे तम-प्रधान हैं; मनुष्य कर्मठ होनेके कारण साधारणतः रज-प्रधान होने-पर भी उसमें जाति-वर्ण-भेदसे सत्त्वादि गुणोंका आपेक्षिक तारतम्य रहता है। इन तीनों गुणोंकी त्रितन्त्री रज्जुसे जीव-मात्र बँधे हुए हैं। सत्त्व-प्रधान मनुष्य ज्ञान और सुखके बन्धनमें, राजस मनुष्य कर्म और दुःखके बन्धनमें और तामस मनुष्य निद्रा, प्रमाद, आलस्य और भयसे अभिभूत होनेके कारण इनके बन्धनमें बँधे हैं। इस बन्धनसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—ईश्वरकृपा। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

'जो मेरी शरण होते हैं वे मेरी मायासे तर जाते हैं।' इस प्रमाणसे ही नहीं, जरा-सा प्रयत्न करनेपर इस बातको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है। मनकी कैसी भी अवस्था हो, कुछ देरतक बलात् बैठ जाओ और मनको अपने हृदय-कमलपर स्थित इष्टदेवके चरणोंमें लगा दो, थोड़ी ही देर क्यों न हो, फिर देखो, उस समय जो शान्ति मिलती है वह कितनी मधुर है! इसप्रकार जितनी अधिक देर बैठ सकोगे, उतना ही शान्तिका आस्वादन अधिक मिलेगा, इस प्रशान्त भावके स्थायी होनेपर, यदि इसी अवस्थामें देह-त्याग हो जायगा तो तुम सहज ही बन्धनसे मुक्त होने-के मार्गपर चले जाओगे। ईश्वरको न माननेपर यह शान्ति तुम्हें कभी नहीं मिल सकती। सम्भव है कि शराबके नशे-की भाँति तुम्हें कामिनी-काञ्चनमें उद्दाम आनन्दका अनुभव हो, किन्तु वह शान्ति नहीं है, बन्धन-मुक्तिका मार्ग नहीं है। पता नहीं, संसार-नदीके प्रवाहमें बहते-बहते तुम किस भयानक अथाह सागरमें जाकर गिर पड़ोगे। ईश्वर-भक्ति इस भव-नदीके बीचमें एक आनन्द-द्वीप है, इस द्वीपका आश्रय मिल जानेपर नदीमें बहना नहीं पड़ता। नहीं तो, इस बातका कोई निश्चय नहीं है कि इस जन्मका मनुष्य दूसरे जन्ममें किस योनिको प्राप्त होकर पुनः भ्रमणके चक्रमें पड़ जायगा, ईश्वरका आश्रय लेनेपर ही मनुष्य-जन्म सार्थक होगा, तभी वह उलटा बहकर संसार-सरिताके मूल-स्थानपर पहुँच सकेगा।

२—ऐसी कोई हानि ही नहीं है जो ईश्वरमें अविश्वास करनेपर न हो।

व्याख्या—

ईश्वरमें अविश्वासी मनुष्य नीतिके रूपमें सत्यनिष्ठता-को ग्रहण कर सकता है परन्तु ऐसी अवस्थामें गुप्तरूपसे उसका सत्यनिष्ठासे गिर जाना बहुत सम्भव है। जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, जिसके मनमें भगवत्कृपा प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, वह कितना ही समाजसेवक क्यों न हो, केवल नीतिका आश्रय लेकर वह काम-क्रोधादि रिपुओंकी सामयिक उत्तेजनासे कभी नहीं बच सकता और उपर्युक्त शान्तिके मार्गकी ओर तो वह जा ही नहीं सकता। अतएव ईश्वरको न माननेमें सत्यसे गिरना, इन्द्रियसंयमका अभाव और शान्तिपथके अनुसन्धानमें असमर्थता आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं।

३—ईश्वर समस्त प्रमाणोंसे अतीत है, ऐसा दार्शनिकगण कहते हैं, उनके इस कथनका क्या अर्थ है, इस विषयपर मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता। पर मेरा अपना मत यह है कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं। एक तृणसे लेकर बड़े भारी महतरु जिस ओर भी देखो, सभी ईश्वरका प्रमाण है। यह अनन्त विचित्रतामय विश्वपट कोई आकस्मिक नहीं है, अचेतनका विकास नहीं है, इसके अन्दर जो निपुणता भरी है, उसको सर्वज्ञ और सर्व-शक्तियोंके स्वामीके अतिरिक्त और कोई नहीं दिखला सकता। इसके सिवा मैं अपने विश्वासपर यह भी कहता हूँ कि भगवान् भक्तके दृष्टिगोचर और वाक्य-प्रयोगके द्वारा श्रुतिगोचर भी हुआ करते हैं। शास्त्रप्रमाण तो है ही; मैं पुनः कहता हूँ कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध हैं। उनको प्रत्यक्ष किया जाता है, अनुमानसे समझा जाता

है और आप्त-वाक्योंसे जाना जाता है। ईश्वरकी सिद्धिके लिये प्रमाण नहीं ढूँढ़ना पड़ता।

४—प्रायः ३३—३४ वर्ष पहलेकी बात है। श्रावणके कृष्णपक्षकी रात्रि थी, आकाश बादलोंसे आच्छादित था, मैं रातको आठ बजेकी ट्रेनसे, कलकत्तेसे अपने घर जा रहा था। हमारा मकान भट्टपल्ली गाँवमें कलकत्तेसे साढ़े बाईस मील उत्तरकी ओर है। बाईस मीलपर काँकनाड़ा स्टेशन है, स्टेशनसे उत्तर छः-सात मिनटके रास्तेपर हमारी पाठशाला है, उससे उत्तर तीन-चार मिनट चलनेपर हमारा घर मिलता है, रेलकी पटरीके नीचे इस समय स्टेशनसे लेकर हमारे घरके पासतक पक्की *सड़क बन गयी है। किन्तु उस समय पक्की सड़क नहीं थी।* बल्कि पाठशालाके सामने एक पुष्करणी थी और पूर्वकी ओर रेलके तार लगे हुए थे; पुष्करणीके पूर्वांश और तारोंके पश्चिमांशके बीचसे एक छोटी-सी पगडण्डी थी। ट्रेन आनेके समय भगवत्कृपासे मेरा मन उनके नाम-कीर्तनमें लग गया। जिस समय ट्रेन बारकपुर स्टेशनपर पहुँची, उस समय थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था, बारकपुरमें सारी गाड़ी खाली हो गयी। उच्चस्वरसे नाम-कीर्तनका सुयोग देखकर मेरे मनमें अत्यन्त आनन्द हुआ, परन्तु वर्षा और अन्धकारको देखकर कुछ क्षणोंके लिये मन जरा चञ्चल हो गया। रेलके किनारे रास्तेकी फिसलाहट और अँधेरेमें पुष्करणीके बीचसे होकर जानेमें क्लेशकी बात याद आ गयी, मनमें स्फुरणा हुई कि कहाँ तो यह आनन्द और कहाँ ट्रेनसे उतरते ही उतना क्लेश! परन्तु दूसरे ही क्षण यह विचार जाता रहा और मैं नाम-कीर्तनके आनन्दमें निमग्न हो गया। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय मुझे बाह्यज्ञान नहीं था, क्योंकि काँकनाड़ा स्टेशन आते ही मुझे पता लग गया और मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। अब नाम-कीर्तन बन्द हो गया। सब ओर अन्धकार छा रहा था, सीधे रास्तेमें बड़ी फिसलान है और दूरके राज-पथपर शराबियोंका उपद्रव है। अन्तमें मैंने सीधे रास्तेसे ही जाना स्थिर किया और धीरे-धीरे चल पड़ा। कुछ ही दूर चला था कि मैंने देखा, लालटेन लिये कोई आ रहा है और दक्षिणकी ओर जोरसे आगे बढ़ रहा है, रास्तेके बगलमें आते ही मैंने देखा, मेरे ही दो विद्यार्थी हैं। मैंने विस्मित होकर उनसे पूछा 'तुम लोग कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा 'आपको लेने।' मैंने फिर पूछा 'तुम लोगोंको कैसे पता लगा कि मैं इसी ट्रेनसे आ रहा हूँ?' विद्यार्थियोंने उत्तर दिया 'अभी जो ट्रेन स्टेशनसे निकल गयी उसमेंसे आप ही तो बड़े जोरसे हमलोगोंका नाम लेकर पुकारते हुए कह रहे थे कि रोशनी लेकर जल्दी स्टेशनपर आओ, इसीसे हमलोग दौड़े आये हैं।' 'ट्रेन स्टेशनसे उत्तरकी ओर गयी, फिर तुम दक्षिणकी ओर क्यों आये?' मैंने छात्रोंसे पूछा। उन्होंने कहा 'ठीक तो नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों किया, परन्तु यह सोचा कि पहले काँकनाड़ा स्टेशन देखकर तब उत्तरके नैहाटी स्टेशन जायँगे, इसीसे इधर चले आये।' मैंने सोचा, 'मैं कितना हतभाग्य हूँ, मुझे इस सामान्य क्लेशका स्मरण न होता, तो पता नहीं कितनी भगवत्-कृपा प्राप्त होती! उस समयकी मनकी स्थितिका क्या वर्णन करूँ? मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। मैंने गद्गद्-कण्ठ होकर दोनों छात्रोंसे कहा 'अरे, तुम बड़े भाग्यवान् हो, तुमने आज भगवान्‌के शब्द श्रवण किये, मैंने तुम्हें नहीं पुकारा था, यह पुकार तो उन्हींकी थी।'

वे दोनों ही छात्र अध्यापक हुए। दोनोंने ही उपाधियाँ प्राप्त कीं। इनमेंसे मथुरेश तर्कतीर्थ तो सिमलापाल-राज्यके सभा-पण्डित हुए; अब इनका परलोकवास हो गया है और दूसरे श्रीमान् रामरक्ष तर्कतीर्थ इस समय मेदिनीपुर जिलेकी प्रधान चतुष्पाठीके प्रधान अध्यापक हैं।

उस समय मुझे इसप्रकारकी कृपाके और भी अनुभव होते, किन्तु वयोवृद्धिके साथ-ही-साथ मेरी अवनति होती गयी। इस समय मैं प्रभुसे दूर हूँ। उनका परित्यक्त अपराधी भृत्य हूँ। ये सब बातें खोलनेकी नहीं थीं, किन्तु बहुत दिनोंसे मैं उन्हें भूल रहा हूँ, उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता हूँ, इसीसे निराश होकर आज यह लिख रहा हूँ।

चौथे प्रश्नका उपसंहार यह है कि मैं अपनी दस वर्षकी उम्रमें ही, केवल बाईस घण्टेके अन्दर पहले पितृहीन और फिर मातृहीन हो गया था, तबसे वही— 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।'—भगवान् मेरे पिता-माता बन गये और उन्होंने ही मेरी रक्षा और शिक्षादिकी सारी व्यवस्थाएँ कीं। इस सम्बन्धकी प्रत्येक घटना मेरे लिये उनके माता-पिता होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है; किन्तु इन बातोंका केवल मुझको ही पता है, दूसरा

कोई साक्षी नहीं, इसीसे मैंने इनका उल्लेख न करके, केवल एक उसी घटनाका वर्णन किया है, जिसका एक अप्रमादी साक्षी अभीतक जीवित है। लालटेन लेकर स्टेशनपर छात्रोंको बुलाना मेरे उन पिता-माताका ही कार्य था, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण, छात्र मेरी पाठशालामें पढ़ रहे थे, अनेक छात्र थे, चलती हुई गाड़ीसे मनुष्यके पुकारनेपर उसका बाहरके लोगोंद्वारा सुना जाना असम्भव है। यद्यपि हमारी पाठशाला रेलसे ५०-६० फुटकी दूरीपर ही थी, किन्तु चलती गाड़ीसे और मेरे ही स्वरसे पुनः-पुनः पुकारना भगवान्की लीलाके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। छात्रोंने मुझसे कहा था, कि 'हमलोग निःसन्देहरूपसे आपकी ही आवाज सुनकर दौड़े आये हैं। काँकनाडासे उत्तर डेढ़ मीलकी दूरीपर नैहाटी स्टेशन है, आप यहाँ न मिलते तो हमलोग नैहाटी आते, परन्तु यहाँसे छूटकर नैहाटीको जाती हुई गाड़ीसे आपकी आवाज़ सुनकर भी हम यहाँ क्यों आये, इस बातका ठीक उत्तर हम नहीं दे सकते, प्रबल इच्छा हुईकी पहले यही स्टेशन देख चलें।'

कृपाकी यह घटना अति क्षुद्र होनेपर भी उन माता-पिताने यह सोचकर कि, इस अँधेरी बरसातकी रातमें हमारा बच्चा क्लेशकर मार्गसे कैसे जायगा, उसका उपाय किया था। मेरे घर लौटनेका कोई समय निश्चित न होनेके कारण मैं पहलेसे कोई व्यवस्था न कर सका, किन्तु मेरे माँ-बापने वह व्यवस्था—प्रकाश लेकर सामने जानेवाले-की व्यवस्था कर दी!

इस समय मैं भक्तिशून्य, कठिन-हृदय होनेपर भी, उसकी कृपाकी बातका स्मरणकर सचमुच मुग्ध हो जाता हूँ; और भी कितनी ही बातें हैं, पर उन्हें कह नहीं सकता।

पोद्दारजी! आप चिरजीवी हों, आपके इस प्रश्नसे उस समयके भावने जाग्रत् होकर क्षणकालके लिये मेरे हृदयको शीतल कर दिया।

(१७) रमण महर्षि

१—क्योंकि ईश्वर (आत्मा) हमारे लिये सबसे बढ़कर प्रिय है, इसलिये हम निश्चयपूर्वक उसमें विश्वास करते हैं तथा हमें उसमें विश्वास करना भी चाहिये। ईश्वर हमसे भिन्न नहीं है, बल्कि वह हमारा अन्तरतम आत्मा है। इसीलिये हम ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं।

२—जो मनुष्य ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह केवल जगत्के बाह्यस्वरूपके प्रत्यक्षमें ही निमग्न रहता है। और यह समस्त शोक और सन्तापका मूल कारण है। शान्ति और आनन्दके चाहनेवाले पुरुषको अपने भीतर ईश्वर अर्थात् सत्-चित्-आनन्दको खोजना होगा।

३—अन्तर्ज्ञान-सम्बन्धी अनुभवके लिये किस प्रमाण—प्रबल प्रमाणकी आवश्यकता है? प्रमाणकी अपेक्षा अन्तर-अनुभव कहीं अधिक विश्वसनीय होता है। ईश्वर है। केवल ईश्वर ही है और आप उसके अस्तित्वका प्रमाण माँगते हैं। इस विषयके बौद्धिक (तार्किक) प्रमाण भी हैं, वे शास्त्रोंमें मिलते हैं। परन्तु अन्तर्ज्ञान सबसे प्रबल प्रमाण है।

४—पहलेकी बात है, जब मैं अरयानी बेल्लूरके मन्दिरमें गया, तो वहाँ कोई न था। इसलिये मैं सामनेके शिखरके समीप खड़ा-खड़ा प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देरके बाद मन्दिरका द्वार खुला और मैंने अन्दर प्रवेशकर मण्डपमें स्थान ग्रहण किया, वही स्थान उस अँधेरे मन्दिरमें कुछ प्रकाशमय था। वहाँ बैठते ही मैं ध्यानमें मग्न हो गया। अचानक मुझको दिव्य प्रकाश दीख पड़ा जो प्रस्फुटित होकर अपनी दीप्तिसे चतुर्दिक् दीप्तिमान हो उठा। मैं अपने स्थानसे उठा और मैंने सोचा कि 'अवश्य ही भगवान्का यहाँ आविर्भाव होगा और यह देखनेके लिये कि कहीं प्रकाश अन्दरसे तो नहीं फूटा पड़ता है, मैं मन्दिरके गर्भगृहमें गया। परन्तु उस कोठरीमें ऐसा प्रकाश न पाकर मुझे विश्वास हो गया कि वह प्रकाश प्रतिमासे नहीं आया था। वह प्रकाश चाहे जो हो, वह तत्क्षण विलीन हो गया। इसके बाद मैं पुनः समाधिमें लीन हो गया। जिन्हें विशेष जानना हो उन्हें श्री बी० बी० एन० स्वामी-लिखित 'Self-realisation' नामक ग्रन्थके पृष्ठ २०, २१, २३, २४, २५, २६, २९, ३०, ३६, ३७ को देखने चाहिये।



विश्वासी भक्त ध्रुव

(१८) श्रीजयदयालजी गोयन्दका

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है । आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते । ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी,कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है, इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्यों-की मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके मानने-वालोंको उत्तम समझता हुआ भी मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य ही अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं । जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है । क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाणभूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
>
> (गीता ३ । २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं । ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ । यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि कल्याणके पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके संग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका कुछ अंश अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनो-विनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर क्षमा करेंगे । ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ?

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है । इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है ।

(ख) ईश्वरको बिना माने उसके तत्त्वकी खोज नहीं हो सकती और उसकी खोज हुए बिना उसके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और ईश्वर-ज्ञानके बिना कल्याण होना सम्भव नहीं ।

(ग) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है ।

(घ) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्य-के द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता । जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं । झूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं ।

(ङ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं । वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है ।

(च) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है । क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है ।

> वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
> आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे अनन्त लाभ है ।

२-(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृंखलता बढ़ती है । उच्छृंखल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो

जाता है जिसके परिणाममें वह और महा दुखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना आत्माका कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको न मानें तो क्या आश्चर्य है? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३-ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूलबुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषको भी शंका हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सबका प्रमाण सिद्ध होता है उसके विषयमें प्रमाण पूछना एक प्रकारका बालकपन है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शंका करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है' तो यह कहा जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ और शरीर जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शंका हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ और शरीर भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इसप्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्ति प्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्ति प्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं' सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड़ है या चेतन। यदि जड़ कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमानुसार

नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, बिना सञ्चालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है' तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड़ होनेके कारण उनमें क्रियाओंके अनुसार फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और चेतन जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उसके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है। अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

उपर्युक्त प्रमाण तो तर्कानुकूल दिये गये हैं, वस्तुतः ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

'इस जगत्‌में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वर करके व्याप्त है।'

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः' 'शास्त्रयोनित्वात्।'

जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५।१५

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ १८।६१

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ १३।१७

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जानने योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५ । १७

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण पोषण करता है, एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

(समाधिपाद २४ २५-२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरण-भय) इन पाँच क्लेशोंसे, पाप पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुष-विशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञता है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है तथा कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। (तैत्तिरीय ३।१)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं, नाश होकर जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तरतलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष सब भूतोंका निवास-स्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।

भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

'हे ब्राह्मण! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं द्रष्टा हूँ, तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।

महाभारत-अनुशासनपर्वके १४९ वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जानने-वाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं।' 'जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और आश्रयके परमधाम हैं।' 'जो पवित्र वस्तुओंका पवित्र है, जो मङ्गलोंका मङ्गल रूप है, जो देवताओंका परम देवता है और जो प्राणी मात्रका अविनाशी पिता है।'

वाल्मीकीय रामायण—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे देव ! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परम-धर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक् आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद शास्त्र नहीं है जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसल्मान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्व-शक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्की शक्तिका आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्याय-कारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इसप्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उससे होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर निश्चय करनेसे अवश्य लाभ होता है।

(१९) श्रीपरमहंस बाबा श्रीअवधविहारीदासजी महाराज, त्रिवेणीबाँध

१–ईश्वरको दो कारणोंसे माना जाता है। पहला कारण यह है कि जीव ईश्वरका अंश है और अंशका धर्म है अंशीको मानना, क्योंकि अंशीके विना अंशका निर्वाह ही नहीं हो सकता है। अतः अंश यदि अपने धर्मका पालन करनेके लिये ईश्वरको (अंशीको) न मानेगा तो उसे नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़ेंगे। जीव ईश्वरका अंश है इसमें ये प्रमाण हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गीता)

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

(रामचरितमानस)

दूसरा कारण है कि ईश्वरको माननेवाले ही त्रियोग कर सकते हैं। त्रियोग अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन्हींमेंसे किसीके द्वारा साधन करता हुआ जीव अपने जीवनके चरम लक्ष्य ईश्वरको प्राप्त होकर जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर अचल हो जाता है। ईश्वरके नहीं माननेसे मनुष्यका उद्धार कभी नहीं हो सकता है। प्रमाण यह है—

सरिता-जल जल-निधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

अतः ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये।

२–ईश्वरको न माननेवालेको त्रियोग दुर्लभ है और योगसे श्रेष्ठ दूसरा कोई लाभ नहीं। इसमें प्रमाण है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

(गीता ६ । २२-२३)

लाभ कि रघुपति भक्ति अकुण्ठा। × × ×
लाभ कि कछु हरिभक्ति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥

(रामचरितमानस)

ईश्वरको न माननेवाले इसप्रकारके भक्तियोगसे वञ्चित रह जाते हैं, भक्तियोगसे रहित होनेके समान दूसरी कोई हानि नहीं है। इसका प्रमाण यह है—

हानि कि जग यहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नरतनु पाई॥

सारांश यह है कि ईश्वरको न माननेवाला अधोगतिको प्राप्त होता है और इससे बढ़कर कोई हानि नहीं हो सकती है।

३–पुराणोंमें यह बात स्पष्टरूपसे लिखी मिलती है कि समुद्रके मन्थन करते समय जब हलाहल विष निकला और उसके तेजसे देवता-दैत्य सब जलने लगे, तब शिवजीने भगवान्‌का नाम लेकर उसको पान कर लिया। भगवान्‌ने उनकी रक्षा की, उस हलाहल विषसे मृत्युके स्थानमें अमृतका फल उन्हें प्रदान किया। इससे ईश्वरका होना सिद्ध होता है। दूसरी एक कथा सबको विदित ही है। दुर्योधनकी सभामें दुःशासनने द्रौपदीका चीर पकड़कर उसे नंगी करना चाहा। द्रौपदीने ईश्वरका स्मरण किया, दुःशासन चीर खींचते-खींचते हार गया, उसकी एक ओर चीरका पहाड़-सा हो गया, परन्तु द्रौपदीको वह नंगी न कर सका। द्रौपदी वैसे ही चीर पहने खड़ी रही। यह ईश्वरकी रक्षाका सुन्दर उदाहरण है। इससे ईश्वरके होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ईश्वरके होनेका तीसरा प्रमाण यह है कि गर्भगत शरीरमें प्राण-वायुका प्रवेश करना और पुनः शरीरसे उसका बाहर निकलना किसका खेल है? सिवा ईश्वरके ऐसी सामर्थ्य और किसीमें नहीं है। इससे भी ईश्वरका होना सिद्ध है।

४–ऐसी घटनाओंका वर्णन सर्वसाधारणके लिये नहीं किया जा सकता, यह कुछ अधिकारी पुरुषोंको ही बतलाया जा सकता है। इसलिये विवशता है।

(२०) श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज'

१–हमें ईश्वरमें विश्वास करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर आत्मतत्त्वके लिये सम्भवनीय आध्यात्मिक विकासकी सर्वोच्च अवस्था है।

२–यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो या तो हम निरुद्देश्य जीवन बिताते रहेंगे या किसी तुच्छ विषयकी प्राप्तिमें इसे लगा देंगे, जिससे हमें जीवनकी सर्वोच्च अवस्थाका आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा।

३–ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें मेरे पास दो प्रमाण हैं– व्यक्तिगत अनुभव और भगवत्प्राप्त महात्माओंके अखण्डनीय आप्तवाक्य।

४–सन् १८९७ ई० में मैं अम्बालासे मैट्रिक्युलेशनकी परीक्षामें सम्मिलित हुआ था। सभी कहा करते थे कि मैं अनुत्तीर्ण हो जाऊँगा, क्योंकि मैं क्लासमें कमज़ोर था। मैं बहुत ही खिन्न रहा करता था और किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा हो गया था। मैं एक मिशन हाईस्कूलसे परीक्षामें बैठा था, उस स्कूलमें पढ़ायी प्रारम्भ होनेके पहले प्रतिदिन प्रातः ईश्वर-प्रार्थना हुआ करती थी, परन्तु कोई भी विद्यार्थी उसमें दिलचस्पी नहीं रखता था। परीक्षाफलके प्रकाशित होनेके एक दिन पहले, जो नियमतः लाहौरसे प्रकाशित होनेको था, जब मैं अत्यन्त खिन्न-सा हो रहा था, तब मेरे मनमें आया कि मैं भी तनिक प्रार्थना करनेकी तो चेष्टा करूँ। अपने अबोध बालभावसे मैं पाँच मिनटतक ईश्वरकी प्रार्थना करता रहा और तत्काल ही मुझे एक ऐसा आन्तरिक अनुभव हुआ, जिससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरा परीक्षाफल सर्वथा अनुकूल होगा, तब मुझे बहुत ही आश्चर्य और आनन्द हुआ। इस अनुभवसे मुझे स्वभावतः सान्त्वना मिली और मैं तमाम चिन्ताओंसे मुक्त हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं पुनः प्रार्थनाके लिये बैठा तब फिर मुझे वही अनुभव हुआ, परन्तु जिस समय मैं आसनपर बैठा इसका आनन्द ले रहा था, मेरी उस कोठरीकी खिड़कीके नीचेसे किसीने पुकारकर कहा कि 'तुम अनुत्तीर्ण हो गये।' लाहौरसे मेरे एक सम्बन्धीका इसी आशयका तार आया था। मैं इस समाचारको सुनकर अवाक् रह गया। मैं धीरेसे अपनी कोठरीके दरवाजेपर पहुँचा और बड़ी आशंकासे उसे खोला परन्तु एक अन्तर्ध्वनि बलात् मुझे शान्त और निर्भय रहनेके लिये प्रेरित करने लगी। मैं सड़कपर गया और तारको अपने हाथमें ले लिया। उसे एक, दो, तीन बार पढ़ा और भीतर-ही-भीतर बहुत दुखी हुआ। मेरी दादी, जो वहाँ आ गयी थी, मुझे सान्त्वना देने लगी। परन्तु मैंने उसे यह कहकर चुप करा दिया कि मैं फेल नहीं हो सकता। मैं पोस्टआफिस गया जो मेरे घरसे दो फर्लांगकी दूरीपर था और वहाँ मैंने अपने सहपाठियों और उनके सम्बन्धियोंका जमघट देखा, जो अनुत्तीर्ण छात्रोंकी नामावलीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। करीब ९॥ बजे पोस्ट-मास्टरने हमारे हाईस्कूलके एक प्रतिनिधिको एक बन्द लिफाफा दिया। लिफाफा खोलकर नामावली निकाली गयी। उसके देखनेपर यह पता लगा कि मैं अनुत्तीर्ण

नहीं हुआ हूँ बल्कि विचाराधीन (Under Consideration) रक्खा गया हूँ । इस 'विचाराधीन' शब्दका अर्थ कोई भी नहीं समझ सका, क्योंकि यह शब्द प्रथम बार ही अनुत्तीर्ण छात्रोंकी सूचीमें आया था। एक ही सप्ताहमें जब मुझे उत्तीर्ण होनेकी सूचना मिल गयी तो इस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो गया ।

यही मेरे जीवनकी पहली घटना है जिससे भगवान्के अस्तित्व और उसकी दयामें मेरा विश्वास दृढ़ हुआ ।

(२१) श्रीज्योतिजी*

१–जो नित्य चैतन्यस्वरूप और सत्य वस्तु है उसमें विश्वास करना ही होगा । यह हमारे जीवनके साथ एक सूत्रमें ग्रथित स्वतःसिद्ध विषय है । जब एक छोटा शिशु गाढ़ निद्रामें भौतिक संस्कारोंसे दूर रहता है तब वह अपने साथी प्राणारामके दर्शन कर हँसता है, रोता है और भाँति-भाँतिके खेलके भाव दिखलाता है । इस बातको बहुतेरे मनुष्य अपनी आँखोंसे देखते हैं। उसी प्रकार ईश्वरमें विश्वास भी हमलोगोंका स्वतःसिद्ध संस्कार है । अतएव यदि हम शिशुकी निद्राके साथीके समान उसको (ईश्वरको) साथी बनाना चाहें तो इसके लिये हमें कर्म, ज्ञान और भक्तियोगका अवलम्बन करना आवश्यक है । शिशु क्रमशः जितना ही पिता-माताके संस्कारसे आच्छन्न होता जाता है, उतना ही चैतन्य-सत्तासे वह दूर होता जाता है । यह विश्वनियन्ताका ही खेल है और इसी खेलमें आनन्द है । ईश्वर तो केवल निष्क्रिय भोक्ता और दर्शक है । जबतक जीव किसी भी कौशलसे उसके समान नहीं हो जाता तबतक इस खेलका विराम नहीं है ।

हमारे नेत्रोंके अगोचर मन नामक एक वस्तु है । उसे किसी प्रकार भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता । मनके पीछे वह विराट चैतन्य-शक्ति वर्तमान है । उसीके प्रकाशसे मन प्रकाशित है । मन जब ज्ञान-शक्तिके अवलम्बनसे निश्चलताको प्राप्त होता है तब प्रत्यक्ष ही वह ईश्वरके लिये अत्यन्त व्याकुल देखनेमें आता है । उस समय वह ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको स्वीकार नहीं करना चाहता । उसकी वाणी रुक जाती है, नेत्रोंके जल (अश्रुप्रवाह) से उसका वक्षःस्थल प्रवाहित हो उठता है । परन्तु उस समय भी उसे ईश्वरके दर्शन या उसकी उपलब्धि नहीं होती । यह अवस्था बहुत कुछ श्मशान-वैराग्यके सदृश होती है ।

यदि कोई कहे कि 'मनसे लेकर संसारमें जितने पदार्थ हैं, सभी प्राकृतिक नियमोंमें चलते हैं, अतः ईश्वर नामक किसी शक्तिमान् पदार्थकी कल्पना करना व्यर्थ है' ऐसा कथन भ्रमपूर्ण होगा । क्योंकि प्राणिजगत्में देखा जाता है कि मनुष्यके अतिरिक्त सभी प्राणी प्रकृतिके नियमोंमें चलते हैं, उनको 'मैं' का बोध नहीं है । मनुष्यको 'मैं' का बोध है । तथा उसी 'मैं' वस्तुका अन्वेषण करते-करते ही आत्म-चैतन्य ईश्वरका पता लग जाता है । उसकी उपलब्धि साधनके द्वारा ही हो सकती है ।

अनेकों कारणोंसे हम ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये बाध्य हैं । वास्तवमें यह विश्वास हमारे जीवन और जीवनके संस्कारोंकी समष्टि है । हमारा जीवन अनेक शक्तियोंका समन्वयस्वरूप है । इनका अच्छी तरह विश्लेषण करनेसे ईश्वरके अस्तित्वका पता लग जाता है। ईश्वरको न मानना अपने-आपको ही खो देना है । क्योंकि चार ही दिनों बाद हमलोगोंको अनिश्चित अवस्थामें जगत्से विदा होना होगा । केवल प्रकृतिको ही जीवनका आदि और अन्त मान लेनेसे जीवनके रहस्यका उद्घाटन नहीं होता । चैतन्य-सत्ताके बोध और अतीन्द्रिय-ज्ञानके द्वारा जीवनमें गम्भीर ज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है, इसकी मीमांसा केवल युक्तियोंसे नहीं हो सकती । क्योंकि युक्ति किसी अनुभवसिद्ध विषयका अवलम्बन कर अग्रसर होती है और वह विषय यदि मनकी भ्रम-प्रमाद-पूर्ण अवस्थाका अनुभव है, तो उसका फल भी तदनुरूप होना निश्चित है । अतएव केवल अनिर्वचनीय चैतन्य-

* श्रद्धेय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए० से मालूम हुआ है कि श्रीज्योतिजीने एक संन्यासीजीकी कृपासे बाल्यकालमें ही बहुत विलक्षण-विलक्षण अनुभव प्राप्त किये हैं। ये अध्यात्म-तत्त्वमें एक विशेष अनुभवसम्पन्न पुरुष हैं, परन्तु छिपकर रहते हैं, इसीसे इनका असली नाम प्रकाशित नहीं किया गया । —सम्पादक

सत्ताके स्पर्शसे ईश्वरमें विश्वास हो सकता है। इसके सिवा वास्तविक ईश्वर-विश्वासके लिये और कोई भी उपाय नहीं है।

२—ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विश्वास न हो अथवा जीवनमें ईश्वरकी उपलब्धि न हो सके तो मनुष्य-जीवनमें इससे अधिक दुर्भाग्यकी बात क्या हो सकती है? क्योंकि प्राणिजगत्‌में मनुष्य श्रेष्ठ है, तथा एकमात्र मनुष्य ही धर्मका अवलम्बनकर ईश्वरतक पहुँच सकता है, इसीलिये मनुष्यकी इतनी श्रेष्ठता है। ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें ज्ञान न होनेसे सर्वापेक्षा अधिक हानि यही है कि हम पहले जिसप्रकार पूर्ण चैतन्यस्वरूप थे, उस अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकेंगे। सृष्टिमें दो भाव हैं—एक प्रकाश और दूसरा अन्धकार। इनमें अन्धकारका विकास नहीं होता, परन्तु प्रकाशमें विकास होता है। यदि ईश्वर-रूप पूर्णसत्ताकी उपलब्धि न हो सकी तो हमें सदाके लिये मोहग्रस्त हो अन्धकारमें विलीन होकर रहना पड़ेगा। प्रश्न हो सकता है कि इसमें क्या हानि है? वस्तुतः इसमें हानि निश्चय है, क्योंकि चैतन्यकी आलोक और अन्धकार-मय जो दो अवस्थाएँ हैं उनमेंसे आलोकमें सङ्कोच और विकासकी क्रिया परिलक्षित होती है, परन्तु अन्धकार सदैव संकुचित रहता है। अतएव इस संकुचित और अवगुण्ठित अन्धकारमय अवस्थामें पड़े रहनेसे कोई भी लाभ नहीं होता। अन्धकार अथवा जड-अवस्थामें चैतन्य सुप्तरूपमें अवस्थित रहता है, उसमें किसी वस्तुके ज्ञान और शक्तिका विकाश नहीं हो सकता। प्रकाशमें सभी वस्तुओंका विकास होता है। विकासमें आनन्द है। अतएव आनन्दकी कामना रखनेवालोंको प्रकाश प्राप्त करना आवश्यक है। जीवनमें तीन स्तर दिखायी देते हैं। प्रथम स्तरमें सुख-दुःख आदि किसी प्रकारका बोध नहीं होता, यह सुप्त अज्ञानावस्था है। द्वितीय स्तरमें सुख-दुःखका बोध है, मनमें चञ्चलता है, द्वन्द्व है। तृतीय स्तरमें पूर्णावस्था, अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्दका विकास है, यह पूर्ण स्वाधीनावस्था है, इसमें आत्म-चैतन्य देश और कालकी सीमा लाँघकर देदीप्यमान रहता है। यह अवस्था समरूप है। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वरमें विश्वास न करनेसे हमें प्रथम अवस्थामें ही पड़े रहना होता है।

३—ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें मन ही स्वतःसिद्ध प्रमाण है। परन्तु मन ईश्वर नहीं है। हम जो तीन वस्तु अर्थात् मन, बुद्धि और अहङ्कारको लेकर गर्व करते हैं, इनमेंसे कोई भी ईश्वर नहीं। बुद्धि और अहङ्कार मनके ही अनुचर हैं। फिर मन भी जो चाहता है वह कर नहीं सकता। मनके पीछे एक विराट चैतन्य-सत्ता है जो जलमें रस प्रदानकी भाँति निश्चल-भावसे सब कुछ दे रही है। उसीको हम प्राणाराम, ईश्वर अथवा ब्रह्म कहते हैं। मन मोहकी मादकतासे आच्छन्न होकर सांसारिक व्यापारमें लिप्त होनेपर भी जीवनके अन्तिम कालमें ईश्वरको अस्वीकार नहीं कर सकता। उस समय सब भूलें पकड़ी जाती हैं। मन जब देहरूप घटका आश्रय कर कार्य करने योग्य होता है तब भी ईश्वरकी सहायता न रहनेपर उसका कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें, यदि मनको ही ईश्वर माना जाय तो मनके लिये असाध्य कोई भी कार्य क्यों होना चाहिये? वस्तुतः हम यदि मनको शुद्ध कर सकें तो वह हमें ईश्वरके समीप पहुँचाकर स्वयं विलीन हो जाता है। उस समय मन नहीं रहता, बल्कि मनके अतीत एक बोधशक्ति रहती है। सारांश यह कि, चित्तके शुद्ध होकर क्रमशः स्थिर होनेपर पहले चैतन्यसत्ताकी परोक्ष तथा उसके बाद अपरोक्ष अनुभूति होती है। तब मनके द्वारा ही मनकी भूल पकड़ जाती है और मनके स्तब्ध होते ही सत्यका प्रकाश होता है। ईश्वरके दर्शन ही ईश्वरके अस्तित्वमें अकाट्य प्रमाण है।

४—अपने जीवनकी ईश्वरोपलब्धि-सम्बन्धी बातें बतलानेमें दोष आता है और वे ठीक-ठीक बतलायी भी नहीं जा सकतीं। यह कोई साधारण विषय नहीं है कि जिसको कहने अथवा लिखनेसे ही लोग समझ सकें। क्योंकि यह प्रत्येकके प्राणकी वस्तु है तथा मन ही इसका साक्षी है। इसके अतिरिक्त जिसने जिस भावसे ईश्वरको देखनेकी चेष्टा की, उसी भावसे उसने उसको देखा है। किन्तु पूर्णत्वकी दृष्टिसे देखनेपर श्रीकृष्णके चरित्र एवं उनके उपदेशका अवलम्बन करनेके सिवा कोई उपाय नहीं है। अन्य जो कुछ वर्तमान युगमें हो रहा है, सब उसीका चर्वित-चर्वण मात्र है। गीतामें उन्होंने जिस 'मैं' शब्दका व्यवहार किया है, वह प्रत्येक जीवका 'मैं' है, व्यक्तिगत 'मैं' नहीं है। वर्तमान युगकी भाषामें कहा जा सकता है कि वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबका 'मैं' है। वह

धर्मका 'मैं', कर्मका 'मैं', ज्ञानका 'मैं' और भक्तिका 'मैं' है। उस पूर्ण वस्तु भगवान्‌को ही 'मैं' कहकर वर्णन किया गया है। अवश्य अन्यान्य सामर्थ्यवान् प्रातःस्मरणीय महात्माओंने ईश्वरकी उपलब्धिके विषयमें नाना प्रकारकी बातें कही हैं, किन्तु विश्वरूप दर्शन कराकर ईश्वरकी उपलब्धि कोई करा सके हैं या नहीं, यह हम नहीं जानते। परन्तु श्रीकृष्ण-सखा अर्जुनका मोह तो इतनेपर भी दूर नहीं होता। हा! हम कितने मूर्ख हैं कि आज बिना बाधा, बिना ही कष्ट पण्डितोंके समान केवल भाषापर निर्भर करके ईश्वर-तत्त्व समझानेकी चेष्टा करते हैं। अस्तु, भूमिकाको छोड़कर अपनी दो एक बातें कहता हूँ। विश्वास-अविश्वास मानवजीवनकी नीति है। परन्तु इससे मेरी नीतिमें परिवर्तन न होगा। मैं जो हूँ वही रहूँगा।

संसारमें, ईश्वरमें विश्वासके विषयमें भिन्न-भिन्न महात्मा भिन्न-भिन्न मत प्रकाश करते हैं, तथा पृथक्-पृथक् मतोंका निर्देश कर गये हैं। मत और मार्गोंकी अभिन्नता कहीं भी नहीं पायी जाती। इसका वास्तविक कारण वही हैं, वह अनन्त, असीम और चैतन्यस्वरूप हैं। उनकी माता-पिता अथवा बन्धुके रूपमें उपलब्धि की जाती है; पिता-माता अथवा बन्धुके समान उनके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है; यही क्यों, उनके साथ कथा-वार्त्ता (बातचीत) भी की जा सकती है। किन्तु इसप्रकार करनेसे कोई वैसा ईश्वर नहीं हो जाता। ईश्वरके विषयमें जो यह बात कही गयी है वह दो प्रकारसे सम्भव हो सकती है। (१) साधक मनकी दृढ़ताके ऊपर अवलम्बित कर विराट चैतन्यके द्वारा इच्छानुरूप सृष्टिका विकास कर सकता है; अथवा (२) जो चैतन्य-सत्ता निरन्तर मनके पीछे रहती है, वह कभी-कभी दया करके भक्तको दर्शन देती रहती है। किन्तु जो ईश्वर हो जाते हैं, उनको फिर दर्शनकी आवश्यकता नहीं होती। वह पूर्ण वस्तुमें स्थित होकर पूर्ण ही हो जाते हैं, दूसरा कुछ रह नहीं जाता, वह सुषुप्त नहीं होते, पूर्ण बोधको प्राप्त कर चैतन्यस्वरूप हो जाते हैं।

मैंने ईश्वर-दर्शनके सम्बन्धमें अपने जीवनमें जो अनुभव किया है, उनमेंहीसे दो एक घटनाओंको संक्षेपमें निवेदन करता हूँ।

(क)

उस समय मेरी अवस्था बारह-तेरह वर्षकी थी। एक महात्माके अनुग्रहसे मैंने ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें सैकड़ों घटनाएँ देखी थीं। एक दिन देखता क्या हूँ कि वह महापुरुष मेरे समीप बैठे हैं, उन्होंने क्या किया, मुझे ज्ञात नहीं है। मैं देखने लगा कि आकाशसे एक ज्योतिर्मय पदार्थ मानो मेरे भीतर प्रवेश कर रहा है। उसके प्रवेश करते ही मैं देखने लगा कि 'मैं' रूपमें मेरा कुछ भी नहीं रह गया है। समीप ही एक बिल्ली बैठी थी। मैंने उसकी ओर देखा तो जान पड़ा, मानो वह भी मैं हूँ। फिर तो जिस ओर मेरी दृष्टि जाने लगी, उसी ओर मैं प्रत्येक वस्तुमें अपनेको देखने लगा, मानो एक आनन्दकी तरंग तरंगित हो उठी। उसी अवस्थामें अकस्मात् मैं सोचने लगा कि कहीं मेरा मस्तिष्क तो बिगड़ नहीं गया है? नहीं तो मैं ऐसा क्यों देखता हूँ? इसी अवस्थामें मैं बिल्लीको पकड़ने चला, जैसे ही मैंने बिल्लीको पकड़ा, मैं देखता हूँ कि मैं मानवी 'मैं' नहीं हूँ, तथा मैंने कभी पृथक् मनुष्यरूपमें जन्म लिया है, यह भी स्मरण नहीं है। मैं बिल्ली हो गया। बिल्ली होकर अधिक समयतक न रह सका। अपनी पूर्वावस्थामें लौट आया, किन्तु शरीरमें मानो अब भी एक नशा-सा छाया हुआ था। वह महात्मा हँस रहे थे, बोले—'इसीके लिये मनुष्यको साधन करना पड़ता है, यह अत्यन्त ही कठिन है। विराट चैतन्य तुम्हारी साधनावस्थामें यदि कृपा करें तो तुम इस अवस्थामें पहुँच सकते हो, नहीं तो नहीं पहुँच सकते।

ईश्वर-दर्शनकी सत्यताको प्रमाणित करनेके लिये एक प्रशस्त उपाय है। अपनेको आत्म-चैतन्यमें लीन करके भी उससे पृथक् रहनेका एक कौशल है अर्थात् द्वैतभावमें निर्बोधके समान दर्शकके रूपमें रहा जा सकता है। पश्चात् जब ज्ञान होता है, जब दर्शनीय विषयका पूर्ण ज्ञान होता है उस समय किसी प्रकार भी भूल—भ्रान्ति नहीं हो सकती है। (जो देखना नहीं जानते उनके लिये समझनेका कोई उपाय नहीं है; क्योंकि यह विषय साधनकी अपेक्षा रखता है।)

मनुष्यके जीवनमें जो विभूति-दर्शन होता है, उसमें ज्ञानतः कोई विशेषता न रहनेपर भी बहुत कुछ विचारणीय बातें रहती हैं।

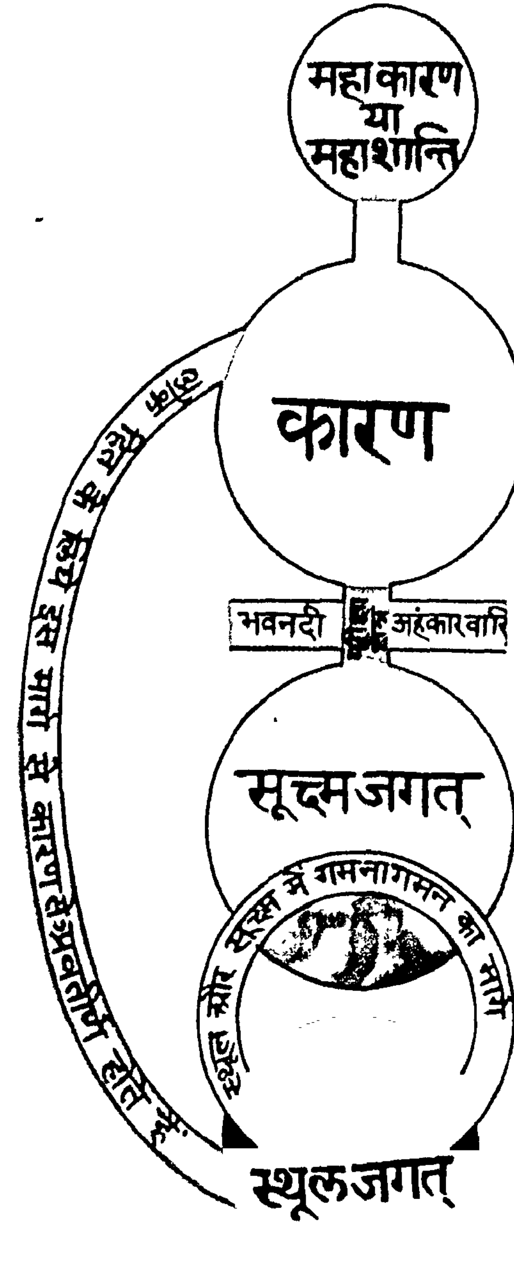
(ख)

१९१७ ई० में जब मैं काशी आया, उस समय मैं बिल्कुल ही अपरिचित था। अगस्त्यकुण्डके एक गृहस्थके नाम एक सज्जनका एक पत्र लाया था, उसीके सहारे एक अपरिचित घरमें चला गया। मकान-मालिक महानुभाव उपस्थित नहीं थे, उनकी कन्याने मुझे तीसरे तल्लेका एक कमरा दिखा दिया। मैं अत्यन्त संकोचके साथ कपड़े-लत्ते रखकर, एक चटाईके ऊपर लेटे-लेटे बाबा विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णाका चिन्तन करने लगा, एवं अत्यन्त पवित्र भावसे उनके चरणोंमें प्रार्थना करने लगा। यही मेरा प्रथम काशी-दर्शन था। काशीके माहात्म्यसे मेरा हृदय पूर्ण था। परन्तु तिसपर भी पराधीन मन यह सोच रहा था कि यदि वस्तुतः परमेश्वर पूर्णरूपसे केवल यहीं रहते हैं तो जगत्‌के अन्यान्य प्रान्तोंके लोग किसप्रकार उन्हें प्राप्त करेंगे? मैं इसी विचारमें मग्न था, उसी समय देखता हूँ कि एक स्त्री गोदमें एक शिशुको लिये हुए नीचेसे सीढ़ियोंद्वारा मेरे पास आकर खड़ी हो गयी और बोली—'बाबा! तुम जो सोच रहे हो वही ठीक है। परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान हैं, भक्तोंने उनको भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्रकट कर दिया है।' उसी समय एक दूसरी स्त्री उसी सीढ़ीसे आकर मुझसे कहने लगी—'स्नान करके भोजनके लिये आइये।' पहली स्त्री अब नहीं ठहरी, मेरे देखते-देखते ही वह सीढ़ीसे उतर गयी। दूसरी स्त्रीसे मैंने पूछा—'क्या आपने गोदमें बच्चेको लिये एक स्त्रीको अभी जाते देखा है?' उसने कहा—'नहीं, मैंने तो नहीं देखा; हमारे घरमें तो बच्चेको गोदमें लिये कोई भी स्त्री नहीं आयी।' मैं आश्चर्यान्वित होकर मन-ही-मन सोचने लगा कि 'वह पूर्ण ब्रह्ममयी माँ ही आयी थीं, क्योंकि उनकी गोदमें मैंने जिस शिशुको देखा, वह मेरे ही अनुरूप बालक जान पड़ता था, अर्थात् शिशुरूपमें मानो मैं ही था।'

ऐसे मनुष्य कम हैं जिनके जीवनमें ईश्वरके सम्बन्धमें इसप्रकारकी छोटी-छोटी घटनाएँ न होती हों; इन सब विभूतियोंमें कोई रहस्य न होता तो लोगोंके मनमें ईश्वरके प्रति विश्वास होना अस्वाभाविक हो जाता।

हमारे जीवनके कुछ स्तर हैं। वे स्तर स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं महाकारणद्वारा आवृत हैं। इनमें महाकारण पूर्णावस्था है, कारण बीजावस्था है, सूक्ष्म स्थूलकी छायाके समान अवस्था है, और स्थूल घटावस्था अथवा पिण्डावस्था है। स्वर-वर्णोंके बिना जिसप्रकार व्यञ्जनका उच्चारण नहीं होता, इसी प्रकार यह परिदृश्यमान जगत् स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके बिना नहीं चल सकता; इन्हींके द्वारा जगत् आवृत है। अतएव हमारा जीवन भी स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके भीतर छिपा हुआ है। सूक्ष्म अर्थात् द्वितीय स्तरसे यह समस्त स्तर प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। बगलके चित्रसे यह विषय समझमें आ सकता है।

इस चित्रमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके सम्बन्धमें वर्णन है। हमारे इस दृश्यमान जगत्‌के पीछे सूक्ष्म जगत् है, हम स्थूल जगत्‌में जो कुछ करते हैं, वही कर्मके फलरूपमें सूक्ष्म जगत्‌में जमा होता है। जिसप्रकार स्थूल देहके कर्मोंके फल सूक्ष्म देहमें जन्मान्तरके लिये अणुरूपमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत्‌के अणुरूपमें सदा विराजमान है। यदि कोई अल्पकालके लिये भी स्थूल जगत्‌से अलग होकर देखनेकी शक्ति प्राप्त कर लें तो उन्हें उस समय सूक्ष्म जगत्‌की अभिज्ञता और उसका आभास मिल सकता है। सूक्ष्म जगत् न तो गाढ़ अन्धकारमय है और न गाढ़ प्रकाशमय। चित्रमें जिसप्रकार रंग दीख पड़ता है, वह उसी प्रकारका है। उसका रंग कभी परिवर्तन नहीं होता। पृथ्वीको परिवेष्टित किये हुए सन्ध्याकालीन मेघके समान उसका रंग होता है। वृष्टिके बाद जिसप्रकार आकाशमें इन्द्रधनुष पृथ्वीको परिवेष्टित करता है उसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत्‌को परिवेष्टित किये हुए है। सूक्ष्म जगत्‌से स्थूल जगत् अन्धकाराच्छन्न दीख पड़ता है। किन्तु प्रकृतिके नियमानुसार जब कोई जीव स्थूल जगत्‌के समीपवर्ती होता है तब अन्धकार और प्रकाश मिले हुए दीख पड़ते हैं। यह इन्द्रधनुषके समान परिवेष्टनके भीतरके ओरकी अवस्था है। सूक्ष्म-जगत्‌में सूर्यका प्रकाश नहीं है। पृथ्वीमें आकर प्रवेश करनेसे सूर्यका प्रकाश मिलता है, तथा सूर्यके दर्शन होते हैं। आकाशमें हम जो ग्रह-नक्षत्रोंमें प्रकाश देखते हैं वह परस्पर एकके प्रकाशसे दूसरेमें फैला हुआ प्रकाशमात्र है। प्रथम अर्थात् आदिप्रकाश कहाँसे आता है, इस बातको कोई नहीं बतला सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्‌का प्रकाश कहाँसे आता है, यह भी नहीं कहा जा


महाकारण
या
महाशान्ति
कारण
भवनदी
अहंकारवारि
सूक्ष्मजगत्
स्थूल और सूक्ष्म में गमनागमन का मार्ग
इस मार्ग से कारणसेअवतीर्ण होते हैं
स्थूलजगत्

जगत् चतुष्टय

सकता। सूक्ष्म-जगत्‌के ऊपर जो भव-नदी और अहङ्कार-रूप परीक्षा-क्षेत्र इत्यादि चित्रमें दिखाये गये हैं वे साधन-जगत्‌के विषय हैं; अर्थात् स्थूल-जगत्‌के नाना विषयोंमें नैतिक जीवनकी परीक्षा देते-देते जब हमें यथार्थ ज्ञान होगा, तब हम सूक्ष्म-जगत्‌को लाँघ कर कारण-जगत्‌के समीपवर्ती होंगे। वृक्षका कारण जैसे बीज है, सृष्टिका कारण भी वैसे ही कारण-जगत् है। वहाँ (कारण-जगत्‌में) सभी वस्तुओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं। पृथ्वीसे शुद्ध सत्ताको लेकर कारण-जगत्‌में पहुँचना होता है। जहाँ पहुँचनेपर स्थूलमें और सूक्ष्ममें भटकनेका कारण समझमें आ जाता है। किन्तु बीचमें भव-नदी परीक्षा-क्षेत्र है और अहङ्काररूपी जल है जो चित्रमें दिखाया गया है, उसे एक प्रकारसे बीजमें जल, प्रकाश तथा हवा देनेके समान समझना होगा। क्योंकि जल, प्रकाश और हवाके न पानेपर बीज अंकुरित और प्रस्फुटित नहीं होता। भव-नदीसे परीक्षा देकर पार होनेके समय भी 'मैं' रूप अहङ्कारका त्याग करना पड़ता है। सूक्ष्म-जगत्‌के पीछे एवं कारण-जगत्‌के मध्यवर्ती स्थानमें एक प्रकारका कम्पन है, वह देखनेमें समुद्रकी लहरोंके समान है। इसीलिये बोल-चालकी भाषामें उसे भव-नदी कहते हैं। उसीमें मनुष्यको महाराजा हरिश्चन्द्रके समान अपने पुण्यका चिन्तन करते-करते अहङ्कार आकर रोक देता है। भव-नदी-परीक्षा-क्षेत्रमें अहङ्काररूप जलकी लहरें सहज ही पार होने नहीं देतीं।

यह कारण-जगत् क्या है? सृष्टिकर्ताकी इच्छाका जहाँ विकास और स्फूर्ति देखी जाती है उसे ही कारण-जगत् कहते हैं। वह प्रायः स्थिर है, उसमें चाञ्चल्य सामान्य ही होता है। वहाँ अनेक साधु-महात्मा वास करते हैं। योगसाधकगण योगके द्वारा, कर्मयोगी कर्मयोगद्वारा, ज्ञानी ज्ञानयोगके द्वारा, एवं भक्तजन भक्तिके द्वारा वहीं जाकर स्थिर हो सकते हैं। ये समस्त साधु-महात्मागण स्थूल-जगत्‌के मङ्गलके लिये समय-समयपर पृथ्वीमें आते रहते हैं। सूक्ष्म-जगत् और भव-नदी उनको रोक नहीं सकती। वह जहाँसे आते हैं, काम शेष होनेपर फिर सीधे वहीं लौट जाते हैं।

महाकारण अथवा महाशक्ति चैतन्यकी पूर्ण अवस्था है। गम्भीर वस्तु नीलवर्ण प्रतीत हुआ करती है, इससे इसका भी वर्ण नील है। वह महाशक्ति सम्पूर्ण वस्तुओंको लेकर धीर-स्थिर-भावसे द्रष्टाके रूपमें स्थित है। वही पूर्ण अवस्था है। मनुष्य इस अवस्थामें पहुँचनेपर ही सर्वथा पूर्ण हो जाता है। तब द्वैतभाव नहीं रह जाता, अर्थात् वह 'मैं' हो जाता है।

ईश्वरकी पूर्णताकी उपलब्धि करनेके लिये इस समस्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणके भीतरसे होकर महाकारण अथवा पूर्ण ईश्वर-तत्त्वमें पहुँचना होता है।

(ग)

जब उस नितान्त बाल्यावस्थामें भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल होकर मैंने संन्यास-जीवन बितानेका सङ्कल्प किया था, उस समय एक दिन हुगली जिलेके त्रिवेणीके तटपर जो घटना घटी थी, उसको किस भाषामें व्यक्त करूँ, यह समझमें नहीं आता। संन्यास शब्दका यदि कोई अर्थ है, और गीताके—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—वाक्यमें यदि कोई सत्यता है, तो उस समय मुझको वही सत्यता प्राप्त हुई थी। मेरी उस समयकी अवस्था वस्तुतः ही अव्यक्त है। दो दिन और दो रात वहाँ गङ्गा-जल पीकर और भूँजा खाकर बिताये। मैं सर्वथा निराश्रय और अपरिचित था। एक अपरिचित मनुष्य मेरे साथ थे, पर वह भी एक दिन रहकर ही चले गये थे, अतएव मैं अकेला था। तीसरे दिन रात्रिके शेष कालमें क्षुधाकी ज्वाला और मनके संतापसे लेटे-लेटे मैं विचार कर रहा था और प्रभात होनेकी बाट देख रहा था, इसी समय एक स्त्रीने आकर मेरा नाम लेकर पुकारा। पुकार सुनते ही मैंने आँख खोलकर देखा, सचमुच एक लाल रंगकी साड़ी पहने एक स्त्री खड़ी हैं, उनके हाथमें एक रकाबी है जो सोनेकी मालूम पड़ती थी। उनके शरीरसे निकलती हुई ज्योतिने उस स्थानको प्रकाशमय कर दिया था। दूसरी बार उनकी ओर आँख खोलकर देखनेकी मुझमें शक्ति नहीं रही, मैं आँखें मूँदे हुए ही उनके साथ बातें करने लगा। आँखें मुँदी रहनेपर भी मानो मेरे भीतरसे होकर प्रकाश आँखोंके द्वारा बाहर निकल रहा था, इसलिये मैंने दोनों हाथोंसे आँखोंको ढँक लिया था। वे मुझको पुकारकर बोलीं 'क्या गङ्गा-स्नान नहीं करोगे? अबेर हो रही है।' मैंने हाथकी आड़से जरा-जरा आँख खोलकर देखा कि वह एक थालीमें फूल तोड़ रही हैं। मैं जहाँ था, वहाँ एक ताड़के वृक्षके चारों ओर नाना प्रकारके फूलोंके पौधे

तथा तुलसीके पेड़ थे। उन पौधोंसे ही वह फूल तोड़ रही थीं। फिर उन्होंने कहा—'चलो, गङ्गा-स्नान नहीं करोगे?' वह मृदु-मृदु हँस रहीं थीं, मुसकराती हुई बोलीं—'यहाँ क्यों आये हो? मैं सबके ही भीतर हूँ।' उस समय मैं अपने भीतरसे एक अत्यन्त मधुर शब्द सुन रहा था। वह वीणा और वंशीकी मिली हुई ध्वनिके समान था। उन्होंने मुझसे कहा—'जानते हो यह शब्द कहाँसे आता है?' फिर उसी समय कहा—'एक बार मुँह तो फैलाओ।' मुँह फैलाते ही मैंने सुना कि वह शब्द मेरे ही मुख और कानके अन्दरसे आ रहा है। उन्होंने कहा—'मैं इस शब्दके पीछे ज्योतिर्मय प्रकाशके रूपमें रहती हूँ। तथा प्रकाशके पीछे सर्वदर्शी, सर्वज्ञ और साक्षीरूपमें विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त हूँ।' इतना कहकर वह धीरे-धीरे गङ्गाकी ओर चली गयीं। मैं भी मन्त्रमुग्ध होकर उनके पीछे-पीछे चला। गङ्गाके ऊपर स्नान-घाटके पास ही एक श्मशान है, हम दोनों ही वहाँ गये और उन्होंने मुझे बैठनेके लिये कहा, मैं घुटने टेक उनके पैरोंके समीप बैठ गया। वह मेरे सिर-पर हाथ रखकर खड़ी हो गयीं और बोलीं—'घर चले जाओ, तुम्हारी गर्भधारिणी जननी अत्यन्त व्याकुल हो रही है।' इसी बातके साथ-साथ उसी स्थानसे मुझे अपनी माँ दिखायी पड़ने लगी। प्रभातकालीन सूर्यका प्रकाश विकीर्ण हो उठा और उसीके साथ मैं बछड़ा खोई हुई गौके समान भटकने लगा।

उनको प्रकाशित करनेकी कोई कितनी ही चेष्टा क्यों न करे, उनकी इच्छा न होनेपर कोई उनको प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीसे अन्तिम बात यह है—

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।'

पूर्वकथित वीणा और वंशीकी मिश्र-ध्वनिसे मैंने यही समझा कि इस ध्वनि या शब्दके आश्रयसे पूर्णा-वस्थामें पहुँचा जा सकता है। पूर्णत्वमें पहुँचनेका यही एक मार्ग है।

(२२) गंगातीर-निवासी सन्त

(नाम प्रकाशित करनेकी आज्ञा नहीं)

ईश्वरके होनेमें मुझे कोई संशय नहीं है, इसलिये मैं क्या उत्तर लिखूँ? प्रमाण चाहते हो तो वेद-शास्त्रोंमें ईश्वरकी सत्ताको कथन करनेवाले अनन्त प्रमाण हैं, वहाँसे देखकर लिख सकते हो।

१—कर्मफलकी सिद्धिके लिये ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये, कर्म जड है, इसलिये वह फल नहीं दे सकता। तथा ईश्वर जिसको ऊर्ध्व ले जाना चाहता है उससे साधु-कर्म कराता है और जिसको अधः ले जाना चाहता है उससे असाधु-कर्म कराता है। जैसे घटादि पदार्थोंके होनेमें उसके कर्ताको मानना पड़ता है। वैसे ही इस जगत‌के सम्पूर्ण पदार्थोंके कर्ता ईश्वरको भी मानना पड़ेगा। जैसे घट कार्य है उसी प्रकार जगत् भी कार्य है और इस जगत‌का कारण ईश्वर है।

२—यदि ईश्वरको न मानोगे तो जगत‌के नियत कार्य भी न होंगे। जैसे सूर्य तपता है, वायु चलता है, मेघ वर्षा करते हैं इत्यादि। यह सब कार्य ईश्वरकी आज्ञासे ही होते हैं। यदि ईश्वरको न मानोगे तो मुक्ति आदिकी हानि होगी।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपाल, कंस आदि ईश्वरको न माननेवाले लोगोंकी कैसी दुर्दशा हुई और वसुदेव, देवकी, प्रह्लाद, विभीषण आदि ईश्वरको माननेवालोंको इस लोकमें द्वन्द्वोंकी निवृत्ति और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हुई। इसलिये ईश्वरको मानना ही श्रेयस्कर है।

ईश्वरको न माननेवाले भी प्रकारान्तरसे ईश्वरको स्वीकार करते हैं, यदि वे स्वीकार नहीं करेंगे तो ईश्वरका अभाव है यह क्योंकर कहेंगे? जैसे कोई कहे कि घटका अभाव है। जिसने घटको कभी नहीं देखा होगा, वह कभी घटका अभाव नहीं कह सकता, क्योंकि अभावका ज्ञान अनुयोगी-प्रतियोगीपूर्वक ही हुआ करता है। जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी है और जिसमें अभाव रहता है वह अनुयोगी होता है, जैसे घटका

अभाव पृथ्वीमें है, उसमें घट प्रतियोगी है और पृथ्वी अनुयोगी है। इसी प्रकार ईश्वरका अभाव किस अधिकरणमें रहेगा? यदि पृथ्वीमें कहो तो इसके विरुद्ध प्रमाणोंसे बृहदारण्यकोपनिषद्का अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रमाणोंसे भरा पड़ा है।

कारणको न माननेसे कार्य कैसे होगा? जैसे तुम अपने पिताको कारण नहीं मानोगे तो तुम कार्य कैसे हो गये? और जब अपना ही अभाव मान लिया तो इससे बढ़कर और क्या हानि होगी? इसलिये पिताको अवश्य मानना पड़ेगा और जब पिताको मान लिया तो पिताका शरीर भी किसीका कार्य है, अतः परम्परासे ईश्वर ही सबका कारण सिद्ध होगा। ईश्वरसे भिन्न कोई कारण हो ही नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर ही जगत्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, वही पितारूपसे पुत्रको उत्पन्न करता है, कुलाल होकर घटको रचता है, जुलाहा होकर वस्त्र बुनता है। इसी प्रकार सब जगत्को रचता है, यदि ईश्वरसे भिन्न जगत्‌रूपी कार्यका कोई कारण मानोगे तो एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान नहीं होगा 'येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति' (छान्दोग्य ६।१।३) इस श्रुतिवाक्यका विरोध होगा। अन्य स्थलमें भी कहा है—

माटीको कारज घट जैसे, माटी ताके बाहिर माहिं।
जलतें फेन तरंग बुदबुदा, उपजत जलतें जुदे सु नाहिं॥
ऐसे जो जाको है कारज, कारणरूप पिछानहु ताहिं।
कारण ईश सकलको सो मैं लय चिन्तन जानहु विधि याहिं॥

यदि कोई कहे कि शून्य यानी अभाव ही जगत्का कारण है तो सब पदार्थोंमें उस शून्य अभावकी प्रतीति होनी चाहिये; क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत होता है। क्या शून्यका तुमने अनुभव किया है? यदि नहीं, तो जिस शून्यका अनुभव ही नहीं किया उसको कारण कैसे कह सकते हो? यदि यह कहो कि शून्यका अनुभव किया है तो शून्यसे कोई भिन्न अनुभव करनेवाला मानना पड़ेगा और उस चेतनको ही हम ईश्वर मानते हैं। वास्तवमें अभावसे भावकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। जैसे बीजके अभावसे वृक्ष आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, माता-पिताके अभावसे सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार शून्यसे पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्य तो स्वयं अभावरूप है उससे भावकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

३—ईश्वरके होनेमें वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्र एवं सद्गुरु, सन्त-महात्माओंके अनुभव तथा उनके वचन ही प्रमाण हैं। अनुमान-प्रमाण भी है जैसे 'क्षित्य-ङ्कुरादिकं कर्तृजन्यंकार्यत्वात् घटवत्' जितने पृथ्वी आदि कार्य पदार्थ हैं वे सर्व कर्ता करके जन्य हैं। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

× × × सदसच्चाहमर्जुन॥
(९।१९)

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
(७।७)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना॥
(९।४)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(१०।२०)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(१०।४२)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
(१३।२)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(१३।२७)

उपनिषदोंमें कहा है—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईश० १)

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मा-दग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। (तैत्तिरीय० २।८)

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।
(तैत्तिरीय० ३।१)

वेदान्त-सिद्धान्तमें सम्पूर्ण कार्यमात्रके प्रति जो कारण होवे, उसको साधारण कारण यानी ईश्वर कहते हैं। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उन लोगोंको अपने पिता,

पितामह आदिको भी न मानना चाहिये, क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रमाण ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक शास्त्र प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रश्न होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है जैसे उत्तराखण्डके गौरी फलको कोई नहीं जानता इसलिये तद्विषयक प्रश्न ही कोई नहीं करता। वैसे ही नास्तिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनसे ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। आस्तिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सच्चिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आस्तिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है केवल कथनमात्रसे नहीं, इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है।'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्'और'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) जितने अधिदैव आदि पदार्थ हैं उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सबका नियन्तापना यह परमात्माका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। यह युक्ति सिद्ध भी है क्योंकि 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) 'इस ईश्वरसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति होनेसे' वह सबका अध्यक्ष है और सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सर्व प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, लोहेके ज्ञानसे लोहेके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्‌के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्ता ही न मानोगे तो उपर्युक्त दृष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपादान-कारण ही मानोगे तो प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा*। जिस एकके श्रवणसे सबका श्रवण हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, जिसके एकके मननसे सबका मनन हो जाता है। यह सब प्रतिज्ञा-वचन हैं।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं मानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि जिसके प्रति उपादान-कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो और जिसमें इच्छा एवं यत्न हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्‌का उपादान-कारण है और रजोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्‌का स्रष्टा है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपादान है। जो उपादान होता है वह कार्यमें अनुगत होता है; जैसे घटका मृत्तिका उपादान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपादान-कारण है। इसलिये वह सबमें अनुगत है जैसे 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'घट प्रतीत होता है' 'पट प्रतीत होता है,' यह चेतनताकी प्रतीति है और 'घट प्रिय है पट प्रिय है' यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पदार्थोंमें पूर्ण होकर व्यापकरूपसे प्रतीत हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंसे मृत्तिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगह सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। नाम-रूपात्मक जगत् वास्तवमें परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्‌में श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक-ऋषिने बहुत विस्तारके साथ वर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत

---

* 'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति×××॥' यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ (छान्दोग्य० ६।१।३, ४, ५)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

ही सम्पूर्ण व्यष्टि-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अलग-अलग क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। जब ईश्वरको न मानोगे तो अपनेको तथा इस जगत्‌को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके निषेधसे सबका निषेध होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी इष्ट नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हान। मन चञ्चल, सूक्ष्म, विवधान।
तिरोधान, सजाती-सङ्ग। अष्ट हेत धारो चित अङ्ग॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अञ्जन अत्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अञ्जन नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हान—अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चञ्चल—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) विवधान—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोधान—तारे दिनमें नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजाती-सङ्ग—वर्षाका जल जो तालाब या नदीमें मिल जाता है जिससे उसकी अलग प्रतीति नहीं होती किन्तु यह नहीं कहा जाता कि वृष्टिका जल उनमें नहीं है।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी योगी पुरुष इन्हें देखता है।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थल-स्थलपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

'यह जो दीखे अम्बर तारे, किन ओ चीते चीतन हारे।'

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चितेरेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

'तू कर्ता सच्यार मेंढा साँई।'

हे परमात्मन्! तू सर्व जगत्‌का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आप्त वक्ता है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक ॐ सतनाम कर्ता पुरुष निर्भउ, निर्वैर।
अकालमूरत अजूनि सैभं गुरुप्रसाद जप॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ओमूस्वरूप है। अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सत् ही स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नाममात्र जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे वैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। अंग अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'धीअसकेत जगतके ईशा' शोभायमान सत्यादिका

पितामह आदिको भी न मानना चाहिये, क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रमाण ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक शास्त्र प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रश्न होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है जैसे उत्तराखण्डके गौरी फलको कोई नहीं जानता इसलिये तद्विषयक प्रश्न ही कोई नहीं करता। वैसे ही नास्तिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनसे ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। आस्तिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सच्चिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आस्तिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है केवल कथनमात्रसे नहीं, इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है। 'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्' और 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) जितने अधिदैव आदि पदार्थ हैं उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सर्वका नियन्तापना यह परमात्माका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। यह युक्ति सिद्ध भी है क्योंकि 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) 'इस ईश्वरसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति होनेसे' वह सर्वका अध्यक्ष है और सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सर्व प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, लोहेके ज्ञानसे लोहेके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्ता ही न मानोगे तो उपर्युक्त दृष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपादान-कारण ही मानोगे तो प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा*। जिस एकके श्रवणसे सबका श्रवण हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, जिसके एकके मननसे सबका मनन हो जाता है। यह सब प्रतिज्ञा-वचन हैं।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं मानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्त्ता ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि जिसके प्रति उपादान-कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो और जिसमें इच्छा एवं यत्न हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का उपादान-कारण है और रजोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपादान है। जो उपादान होता है वह कार्यमें अनुगत होता है; जैसे घटका मृत्तिका उपादान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपादान-कारण है। इसलिये वह सबमें अनुगत है जैसे 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'घट प्रतीत होता है' 'पट प्रतीत होता है,' यह चेतनताकी प्रतीति है और 'घट प्रिय है पट प्रिय है' यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पदार्थोंमें पूर्ण होकर व्यापकरूपसे प्रतीत हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंसे मृत्तिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगत् सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। नाम-रूपात्मक जगत् वास्तवमें परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक-ऋषिने बहुत विस्तारके साथ वर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत

---

* 'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति XXX।' यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ (छान्दोग्य० ६।१।३, ४, ५)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

ही सम्पूर्ण व्यष्टि-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अलग-अलग क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। जब ईश्वरको न मानोगे तो अपनेको तथा इस जगत्को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके निषेधसे सबका निषेध होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी इष्ट नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हान। मन चञ्चल, सूक्ष्म, विवधान।
तिरोधान, सजाती-सङ्ग। अष्ट हेत धारो चित अङ्ग॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अञ्जन अत्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अञ्जन नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हान—अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चञ्चल—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) विवधान—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोधान—तारे दिनमें नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजाती-सङ्ग—वर्षाका जल जो तालाब या नदीमें मिल जाता है जिससे उसकी अलग प्रतीति नहीं होती किन्तु यह नहीं कहा जाता कि वृष्टिका जल उनमें नहीं है।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी योगी पुरुष इन्हें देखता है।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थल-स्थलपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

'यह जो दीखे अम्बर तारे, किन ओ चीते चीतन हारे।'

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चितेरेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

'तू कर्ता सच्यार मेंढा साँई।'

हे परमात्मन्! तू सर्व जगत्का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आप्त वक्ता है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक ॐ सतनाम कर्ता पुरुष निर्भउ, निर्वैर।
अकालमूरत अजूनि सैभं गुरुप्रसाद जप॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ओम्स्वरूप है। अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सत् ही स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नाममात्र जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे वैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। संभं अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'श्रीअसकेत जगतके ईसा' शोभायमान सत्यारका

पितामह आदिको भी न मानना चाहिये, क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रमाण ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक शास्त्र प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रश्न होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है जैसे उत्तराखण्डके गौरी पत्थरको कोई नहीं जानता इसलिये तद्विषयक प्रश्न ही कोई नहीं करता। वैसे ही नास्तिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनसे ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। आस्तिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सच्चिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आस्तिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है केवल कथनमात्रसे नहीं, इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है।'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्' और 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) जितने अधिदैव आदि पदार्थ हैं उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सबका नियन्तापना यह परमात्माका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। यह युक्ति सिद्ध भी है क्योंकि 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) 'इस ईश्वरसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति होनेसे' यह सबका अध्यक्ष है और सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सर्व प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, लोहेके ज्ञानसे लोहेके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्ता ही न मानोगे तो उपर्युक्त दृष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपादान-कारण ही मानोगे तो प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा *। जिस एकके श्रवणसे सबका श्रवण हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, जिसके एकके मननसे सबका मनन हो जाता है। यह सब प्रतिज्ञा-वचन हैं।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं मानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्ता ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि जिसके प्रति उपादान-कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो और जिसमें इच्छा एवं यत्न हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का उपादान-कारण है और रजोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपादान है। जो उपादान होता है वह कार्यमें अनुगत होता है; जैसे घटका मृत्तिका उपादान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपादान-कारण है। इसलिये वह सबमें अनुगत है जैसे 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'घट प्रतीत होता है' 'पट प्रतीत होता है,' यह चेतनताकी प्रतीति है और 'घट प्रिय है पट प्रिय है' यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पदार्थोंमें पूर्ण होकर व्यापकरूपसे प्रतीत हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंसे मृत्तिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगत् सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। नाम रूपात्मक जगत् वास्तवमें परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक ऋषिने बहुत विस्तारके साथ वर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत

---

* 'येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।' यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ (छान्दोग्य० ६।१।३, ४, ५)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

ही सम्पूर्ण व्यष्टि-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अलग-अलग क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। जब ईश्वरको न मानोगे तो अपनेको तथा इस जगत्‌को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके निषेधसे सबका निषेध होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी इष्ट नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हान। मन चञ्चल, सूक्ष्म, विवधान।
तिरोधान, सजाती-सङ्ग। अष्ट हेत धारो चित अङ्ग॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अञ्जन अत्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अञ्जन नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हान—अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चञ्चल—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) विवधान—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोधान—तारे दिनमें नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजाती-सङ्ग—वर्षाका जल जो तालाब या नदीमें मिल जाता है जिससे उसकी अलग प्रतीति नहीं होती किन्तु यह नहीं कहा जाता कि वृष्टिका जल उनमें नहीं है।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी योगी पुरुष इन्हें देखता है।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थल-स्थलपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

'यह जो दीखे अम्बर तारे, किन ओ चीते चीतन हारे।'

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चितेरेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

'तू कर्ता सच्यार मेंढा साँई।'

हे परमात्मन्! तू सर्व जगत्‌का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आप्त वक्ता है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक ॐ सतनाम कर्ता पुरुष निर्भउ, निर्वैर।
अकालमूरत अजूनि सैभं गुरुप्रसाद जप॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ओमूस्वरूप है। अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सत् हो स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नाममात्र जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे वैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। अंग अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'श्रीअसकेत जगतके ईशा' शोभायमान तलवारका

पितामह आदिको भी न मानना चाहिये, क्योंकि पिता आदिके माननेमें भी शब्द-प्रमाण ही है। इसी प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें भी वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि अनेक शास्त्र प्रमाण हैं।

जिस वस्तुका प्रश्न होता है, उसका सामान्य ज्ञान होता है जैसे उत्तराखण्डके गौरी फलको कोई नहीं जानता इसलिये तद्विषयक प्रश्न ही कोई नहीं करता। वैसे ही नास्तिकोंको भी ईश्वरका सामान्य ज्ञान है, इसलिये उनके कथनसे ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। आस्तिकोंको तो विशेषरूपसे ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ईश्वर-साक्षात्कार होता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि अवतार ईश्वरके विशेष रूप हैं और सच्चिदानन्द ईश्वरका सामान्य रूप है। आस्तिकोंको ईश्वरके सामान्य और विशेष दोनों रूपोंका साक्षात्कार होता है।

लक्षण और प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है केवल कथनमात्रसे नहीं, इसलिये अब ईश्वरके कुछ लक्षणोंका कथन किया जाता है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह ईश्वरका स्वरूप-लक्षण है। 'जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्' और 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र १।२।१८) जितने अधिदैव आदि पदार्थ हैं उन सबका अन्तर्यामी अर्थात् नियन्ता है। यह बात श्रुति भी कहती है। सर्वका नियन्तापना यह परमात्माका ही धर्म है, पृथ्वी आदि अभिमानी देवताओंका धर्म नहीं है। यह युक्ति सिद्ध भी है क्योंकि 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) 'इस ईश्वरसे ही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति होनेसे' वह सर्वका अध्यक्ष है और सृष्टि, स्थिति, संहार करनेवाला भी वही है।

जिस ईश्वरको न जाननेसे सब अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और जिसको जाननेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, वही ईश्वर सर्व प्रकारके जिज्ञासु अधिकारियोंको जिज्ञासितव्य है। जैसे मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण आभूषणोंका ज्ञान हो जाता है, लोहेके ज्ञानसे लोहेके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक ईश्वरके ज्ञानसे सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। जब ईश्वरको केवल कर्त्ता ही न मानोगे तो उपर्युक्त दृष्टान्तोंका विरोध होगा। और यदि ईश्वरको केवल उपादान-कारण ही मानोगे तो प्रतिज्ञाके वचनोंका विरोध होगा *। जिस एकके श्रवणसे सबका श्रवण हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है, जिसके एकके मननसे सबका मनन हो जाता है। यह सब प्रतिज्ञा-वचन है।

यदि ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् नहीं मानोगे तो सर्व-सृष्टिका कर्त्ता ईश्वर नहीं होगा, क्योंकि जिसके प्रति उपादान-कारणका अपरोक्ष ज्ञान हो और जिसमें इच्छा एवं यत्न हो, वही कर्ता कहलाता है। मायाके तमोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का उपादान-कारण है और रजोगुण-युक्त होनेसे ईश्वर जगत्का स्रष्टा है और सत्त्वगुणयुक्त हुआ वही सर्वज्ञ है।

ब्रह्म (ईश्वर) प्रपञ्चका उपादान है। जो उपादान होता है वह कार्यमें अनुगत होता है; जैसे घटका मृत्तिका उपादान-कारण है, वह घटमें अनुगत है, इसी प्रकार ईश्वर सब प्रपञ्चका उपादान-कारण है। इसलिये वह सबमें अनुगत है जैसे 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, यह सत्ताकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'घट प्रतीत होता है' 'पट प्रतीत होता है,' यह चेतनताकी प्रतीति है और 'घट प्रिय है पट प्रिय है' यह आनन्दकी प्रतीति है। ये सब ईश्वरके सच्चिदानन्दस्वरूपका ही बोध कराते हैं। ईश्वर ही सब पदार्थोंमें पूर्ण होकर व्यापकरूपसे प्रतीत हो रहा है, जैसे घटमें नेत्रोंसे मृत्तिकाकी ही प्रतीति होती है, घट मानना मिथ्या है, इसी प्रकार सब जगह सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ही प्रतीति होती है। नाम-रूपात्मक जगत् वास्तवमें परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है, यह बात छान्दोग्य-उपनिषद्में श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक-ऋषिने बहुत विस्तारके साथ वर्णन की है।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है और सम्पूर्ण समष्टि सूक्ष्म शरीर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर है, एवं माया उसका कारण-शरीर है। ईश्वरके इन तीनों शरीरोंके अन्तर्गत

---

* 'येनाश्रुत२ श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञातं विज्ञातमिति×××॥' यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञात२ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात२ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ (छान्दोग्य० ६।१।३, ४, ५)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

ही सम्पूर्ण व्यष्टि-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अलग-अलग क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यष्टि शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। जब ईश्वरको न मानोगे तो अपनेको तथा इस जगत्को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके निषेधसे सबका निषेध होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी इष्ट नहीं है, इस न्यायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

'दूर, समीप, इन्द्रियको हान। मन चञ्चल, सूक्ष्म, विवधान।
तिरोधान, सजाती-सङ्ग। अष्ट हेत धारो चित अङ्ग॥'

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अञ्जन अत्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अञ्जन नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हान—अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चञ्चल—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) विवधान—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोधान—तारे दिनमें नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजाती-सङ्ग—वर्षाका जल जो तालाब या नदीमें मिल जाता है जिससे उसकी अलग प्रतीति नहीं होती किन्तु यह नहीं कहा जाता कि वृष्टिका जल उनमें नहीं है।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी योगी पुरुष इन्हें देखता है।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके लिये अनेक प्रमाण स्थल-स्थलपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

'यह जो दीखे अम्बर तारे, किन ओ चीते चीतन हारे।'

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चितेरेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

'तू कर्ता सच्यार मेंढा साँई।'

हे परमात्मन्! तू सर्व जगत्का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् आप्त वक्ता है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें मंगलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

'एक ॐ सतनाम कर्ता पुरुष निर्भउ, निर्वैर।
अकालमूरत अजूनि सैभं गुरुप्रसाद जप॥'

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ओमूस्वरूप है। अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सत् ही स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नाममात्र जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कहो कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि 'नहीं', पूर्ण होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे वैर नहीं है। जिसका कालसे रहित स्वरूप है, जो मृत्युका भी मृत्यु है। वह अजूनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। अंग अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। 'गुरुप्रसाद' यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

'श्रीअसकेत जगतके ईशा' शोभायमान तत्कारक

चिह्न है जिसकी ध्वजामें, ऐसा सर्व जगत्‌का नियन्ता ईश्वर है।

गुरु गोविन्दसिंहका तवप्रसाद सवैया—

'दीननकी प्रतिपाल करे नित, सन्त उबार गनीमन गारै।
पक्षि पशू नग नाग नराधिप, सर्व समे सबको प्रतिपारै॥
पोषत है जलमें थलमें, पलमें कलके नहीं कर्म विचारै।
दीनदयाल दयानिधि दोषन देखत हैं पर देत न हारै॥'

मूल श्लोक सुखमनी सोलवां—गुरु नानक साहब कहते हैं—

'आदि सच जुगादि सच है भी सच, नानक होसी भी सच।'

सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम वह परमात्मा सत् था।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'
(छान्दोग्य० ६।२।१)

सत्ययुग आदिके पूर्व इच्छा-कालमें वह परमात्मा सत् हुआ। 'तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय' वह परमात्मा वर्तमान-कालमें भी सत् है और गुरु नानकजी कहते हैं वह भविष्यमें भी सत् ही रहेगा। इसी मूल श्लोककी *व्याख्यामें लिखते हैं*—

'चरण सत्त सत परसनहार, पूजा सत्त सत सेवदार।
दरशन सत सत पेखनहार, नाम सत्त सत ध्यावनहार॥
आप सत्त सत्त सब धारी, आपे गुण आपे गुणकारी।
शब्द सत्त सत्त प्रबकता, सुरत सत्त सत्त जस सुनता॥
बूझनहारको सत सब होय, नानक सत्त सत्त प्रभु सोय।

इसप्रकार जाननेवालेको सर्वत्र सत् परमात्मा ही प्रतीत होता है, क्योंकि भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंमें वह सत् है। और भी कहा है—

आद पूर्ण मध्य पूर्ण अन्त पूर्ण परमेश्वर है।
सिमरन्त सन्त सर्वत रमणं, नानक अघ नासन जगदीश्वर है॥

× × × ×

एक कृष्णं सर्व देवा, देव देवात आत्मा, आत्मा वासुदेवस्य।
जे को जाणे भ्यो। नानक ताका दास है सोइ निरञ्जन देव॥

× × × ×

वासुदेव सर्वत्रमें, ऊन न कतहु ठठाय।
अन्दर बाहिर सदा संग, नानक काहे दुराय॥

नानकजी कहते हैं कि जो सबमें निवास करता है अथवा जिसमें सब निवास करते हैं वह वासुदेव सर्वत्र है। किसी जगह भी उसकी कमी नहीं है। क्योंकि वह अन्दर-बाहर सदा संग रहनेवाला है। हे नास्तिको! ऐसे परमात्माको तुम क्यों छिपाते हो? वह परमात्मा तुम्हारे छिपानेपर छिप नहीं सकता। जैसे उल्लू सूर्यका अभाव कथन करता है परन्तु उल्लूके कहनेमात्रसे सूर्यका *अभाव नहीं हो सकता। सूर्य तो अपना अभाव करनेवाले उल्लूको भी अपना प्रकाश ही देता है, इसी प्रकार सर्व*-प्रकाशक ईश्वरका नास्तिक लोग अभाव करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि नास्तिकोंकी सिद्धि भी ईश्वरसे ही होती है। इसलिये ईश्वरको सदा मानना चाहिये।

जल थल मही अल पूर्या, स्वामी सिरजनहार।
अनेक भाँति होय पसर्‌या नानक एकुंकार॥

जल, मरुभूमि, पृथ्वी, आकाशादि पञ्चभूतोंमें वह परमात्मा पूर्ण हो रहा है, वह परमात्मा सबका नियन्ता है और वह नाना रूपोंसे संसाररूप होकर विस्तृत हो रहा है, उसका ॐकार नाम है इसलिये ईश्वरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वासुदेवः सर्वमिति। ... (गीता ७।१९)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ... (उपनिषद्)

४–जिस ईश्वरकी कृपासे हम आपलोगोंमेंसे निकल-कर इस वेषमें आये और आपलोग हमलोगोंको नमस्कार करते हैं तथा आपके परिचित लोग आपको भक्त जानकर नमस्कार करते हैं, यह सब ईश्वरकी ही दया है और ईश्वरमें विश्वास बढ़ानेवाली ही बातें हैं।

घटनाएँ

(क) एक सन्त कई वर्ष पहले मुझे मिले थे, उन्होंने *अपने जीवनकी एक घटना मुझे सुनायी थी, जिससे ईश्वरकी* सत्ता और उसकी दयामें विश्वास विशेष बढ़ता है।

वह सन्त बद्रीनारायणके दर्शनार्थ गया था, वहाँसे लौटते समय रास्तेमें उसको दस्त बहुत लगने लगे, जिससे वह बहुत निर्बल हो गया; तब वह एक गुफामें बेहोश होकर पड़ गया। इसके बाद एक पुरुष उसके पास आकर बोला कि 'महात्माजी! यह दवा खाइये और इसका पथ्य हम भेज देंगे।' तदुपरान्त दो घण्टे बाद दही और *भात लेकर वही पुरुष आया और उस महात्माको देकर* चला गया। इसी प्रकार तीन दिनोंतक वह पुरुष ठीक

समयपर आकर दवाई तथा पथ्य उस महात्माको बराबर देता रहा। जब महात्माके शरीरमें कुछ शक्तिका सञ्चार हुआ तब वे एक दिन गुफासे बाहर निकले तो उनको अपने चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ दिखायी दी। कहीं कोई मनुष्य या पशु-पक्षी आदि वस्तु नजर न आयी। तब तो उसको बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'यह आदमी कौन है और मेरे लिये खानेको कहाँसे लाता है?' इसके बाद जब वह पुरुष खानेके लिये सामान लेकर आया, तब उससे महात्माने पूछा कि 'आप कौन हैं? कहाँसे आते हैं? कहाँ रहते हैं?' इसके उत्तरमें उस पुरुषने कहा कि 'आप खा लीजिये, इन प्रश्नोंसे क्या प्रयोजन है?' तब महात्माने बड़े आग्रहसे कहा कि 'आप अपना हाल बता देंगे तभी खायँगे, नहीं तो नहीं खायँगे।' इसके बाद वह पुरुष उस महात्माको उसी जगह चतुर्भुज विष्णु भगवान्‌के रूपमें दीखने लगा और बोला कि 'मैं भगवान् हूँ' तब वह महात्मा बोला कि तो आप यहाँ साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं पर अन्य जगह आप साक्षात्‌रूपसे सेवा क्यों नहीं करते?' तब भगवान् बोले कि 'जहाँ कोई नहीं होता, वहाँ हम साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं, और जिस जगह अन्य कोई होते हैं वहाँ हम अपने भक्तोंके द्वारा सेवा कराते हैं।' इससे यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही सबका योगक्षेम करता है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
>
> (गीता ९। २२)

(ख) रियासत पटियालामें अमरगढ़ नामक एक कस्बा है। उसमें एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी टाँगें जुड़ी हुई थीं, इसलिये वह लकड़ीके खड़ाऊँके सहारेसे बैठा-बैठा ही चला करता था। उसने अपने मनमें विचार किया कि मैं श्रीजगन्नाथ भगवान्‌के दर्शन करूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाय। पश्चात् उसने अपने घरवालोंसे कहा कि 'मुझे श्रीजगन्नाथजी जानेके लिये खर्च दे दो, क्योंकि मुझे वहाँ दर्शन करनेके लिये जाना है।' घरवालोंने कहा कि 'तुम दिनभरमें एक मीलसे अधिक तो जा नहीं सकते फिर इतनी दूर श्रीजगन्नाथधाम कैसे जाओगे?' उस समय रेलगाड़ी तो थी नहीं, इसलिये उसके सम्बन्धियोंने भी जानेकी राय नहीं दी। परन्तु उसने किसीकी बात नहीं सुनी। इसपर सब गाँववालोंने भी उसे जानेसे बहुत रोका परन्तु वह अपने दृढ़ संकल्पसे जरा भी न डिगा और जानेके लिये तैयार हो गया। तब उसके घरवालोंने उसको रास्तेके लिये कुछ खर्च दे दिया और वह अपना थोड़ा-सा सामान पीठपर बाँधकर प्रभुका स्मरण करके घरसे चल पड़ा। चलते-चलते थोड़ी दूर जानेके बाद वह थक गया और जंगलमें एक वृक्षके नीचे जाकर छायामें विश्राम करने लगा। इतनेहीमें उसी जगह एक पुरुषने आकर उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो?' इसके उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और श्रीजगन्नाथ भगवान्‌के दर्शनके लिये जा रहा हूँ।' तब उस पुरुषने कहा कि 'ब्राह्मण-देवता! तुम वहाँतक कैसे जा सकोगे, तुम्हारेमें चलनेकी शक्ति तो है ही नहीं, अच्छा हो, तुम यहींसे लौट जाओ।' इसप्रकार उस पुरुषने बहुत मने किया तब ब्राह्मण बोला कि 'मैंने तो अपना शरीर श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया है इसलिये बिना उनके दर्शन किये मैं लौट नहीं सकता।' इसपर उस पुरुषने कहा कि 'यदि श्रीजगन्नाथजीके दर्शन तुम्हें इसी जगह हो जायँ तब तो लौट जाओगे?' तब ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने हैं, कहीं-पर हो जायँ।' तदनन्तर उस ब्राह्मणको वही पुरुष भगवान् श्रीजगन्नाथजीके रूपमें दीखने लगा, ब्राह्मणने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे कहा कि 'हे नाथ! आपके दर्शन तो मुझे हो गये हैं, परन्तु मेरे गाँववाले इस बातको नहीं मानेंगे, इसलिये आप कोई चमत्कार दिखलाइये जिससे उनके मनमें सन्देह न रहे' तब भगवान्‌ने उसकी एँड़ीपर अपना चरण रखकर एक झटका देकर उसे सीधा सुन्दर पुरुष बना दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वह ब्राह्मण भगवत्प्रेमसे प्लावित होकर उनकी अहैतुकी असीम दयाका तथा उनके माधुर्यरूपका चिन्तन करता हुआ अपने पैरोंसे चलकर घर पहुँचा और यह घटना सबसे कही, तब सब लोगोंने इस बातको मान लिया। इस घटनाको हुए करीब सत्तर-अस्सी वर्ष ही हुए होंगे। उस ब्राह्मणकी सन्तान उसी ग्राममें अभीतक मौजूद है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता और उनकी विशेष दयाकी परिचायक है।

(ग) थोड़े ही वर्ष पहलेकी बहुत प्रसिद्ध वृन्दावनकी घटना है, श्रीनारायण स्वामीजी एक बड़े प्रसिद्ध भक्त हुए थे, जिनके बनाये हुए बहुत-से पद तथा दोहे आजकल बहुत

प्रचलित हैं। उन्हीं महात्माकी एक अमृतसरमें रहनेवाली कुबड़ी शिष्या थी, वह प्राय प्रतिवर्ष श्रावणके झूलोंके समय वृन्दावन जाया करती और वहाँपर नारायण स्वामीकी मँढ़ीपर रास कराया करती थी। एक समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप बननेवालेसे रासके समयमें उस कुबड़ी माईने प्रार्थना की कि 'भगवन्! मथुरामें रहनेवाली कुबरीकी कूब तो भगवान्‌ने तत्काल दूर कर दी थी, आप भी भगवान् हैं, इसलिये मेरी कमर भी सीधी कर दीजिये।' इतनेमें जो भगवान्‌के रूप बने थे, उन्होंने आकर उस कुबड़ी माईके कमरमें एक लात मारी, जिससे तत्काल उसकी कमर सीधी हो गयी। यह थोड़े ही वर्षोंकी घटना है, जिसे बहुत लोग जानते हैं। हमें भी एक महात्माने यह बात उस कुबड़ी माईकी जबानी सुनी हुई सुनायी थी। सिद्धान्तसे भी यह कोई असम्भव या दुर्घट बात नहीं है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता एव उसकी विशेष दयाको प्रकट करती है—तात्पर्य यह कि जिसका ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयापर पूर्ण विश्वास है उसको उससे लाभ भी पूर्ण होता है। अनेक भक्तोंकी जिन घटनाओंका वर्णन सुना जाता है वे सब ध्रुव सत्य हैं। इसलिये ईश्वरमें और उसकी दयामें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। इसमें किञ्चिद्मात्र भी सशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें कहा है 'सशयात्मा विनश्यति' (४।४०) सशयवाला पुरुष विनाशको प्राप्त होता है।

(घ) स० १९६०में हरिद्वारका कुम्भ था। यह हमारे आँखों देखी बात है। रात्रिमें एक बेरीके वृक्षके नीचे हमलोग नेत्र मूँदे हुए ध्यानमें बैठे थे। उसी समय एक सिंह हमलोगोंके पास आ गया और गरजने लगा। हमने कभी सिंहकी गर्जना सुनी हुई नहीं थी, इसलिये हमें डर नहीं लगा और हमने अपने वस्त्रको हिलाकर थोड़ा शब्द किया, जिससे वह सिंह पीछे हट गया। इतनेमें वहाँ हल्ला होने लगा, तब किसी महात्माने आकर हमसे कहा कि 'अभी यहाँ सिंह आया था।' इसी प्रकार कई दफे सर्प हमारे शरीरपर चढ़ गये, चोर भी हमारे पास आये। उस समय हमारी सहायता करनेवाला कोई व्यक्ति हमारे पास नहीं था और जब हमने ईश्वरका ध्यान किया तब उसने हमारी रक्षा की। इसलिये ईश्वर सत्य है! सत्य है! सत्य है! ईश्वरपर अवश्य विश्वास करना चाहिये।

जब देवताओंको अपनी विजय देखकर अभिमान हुआ तब उनका मान भङ्ग करनेके लिये उमादेवीके रूपमें वहाँपर ईश्वर प्रकट हुए, यह कथा 'केन उपनिषद्' में विस्तारपूर्वक वर्णन की गयी है। प्रह्लादके लिये वे खम्भेमेंसे प्रकट हो गये, क्योंकि वे सब जगह व्याप्त हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र, ध्रुव आदिकी कथाओंको पढ़ने, सुनने, मनन करनेसे उनकी सत्ता तथा दयामें विश्वास अधिक होता है। जिस समय, जिस जगह दृढ विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारो उसी समय वहींपर वह प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

एक ब्राह्मण बड़ा गरीब था, उसके पास कुछ भी नहीं था, किन्तु उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मैं किसी प्रकारसे राजाके दर्शन करूँ। इसी चिन्तामें वह दिन-रात दुखी रहा करता था। वह यह बात जानता था कि मुझ-जैसे कँगलेको राजाके पास कौन जाने देगा? एक दिन वह एक महात्माके पास जाकर उनसे बोला कि 'महाराज! मुझे राजाके दर्शन कैसे हों, मुझे इसी बातकी चिन्ता हर समय लगी रहती है।' तब उस महात्माने कहा कि 'भाई! राजाका मकान बन रहा है, उसमें जाकर कुछ भी मजूरी न लेकर राजाके दर्शनके लिये मन लगाकर खूब उत्साहपूर्वक काम करते रहो, ऐसा करते रहनेसे किसी दिन राजाके दर्शन भी हो जायँगे। यह बात सुनकर वह पुरुष राजाके मकानमें प्रेमपूर्वक काम करने लगा, सन्ध्या-समय जब अन्य सब मजूरोंको मजदूरी दी गयी, तब उस ब्राह्मणको भी बुलाकर मजूरी देने लगे, तब वह बोला कि 'मैं तो कुछ भी नहीं लूँगा, क्योंकि मैं तो केवल महाराजाके लिये ही काम करता हूँ।' जब इसप्रकारसे काम करते हुए कई दिन बीत गये तो परम्परा करके यह बात राजाके पास पहुँची कि 'एक मजदूर कुछ भी मजूरी न लेकर केवल आपके लिये ही काम करता है।' इस बातको सुनकर राजा बोला कि उस मजूरको मेरे पास ले आओ, अब वह ब्राह्मण राजाके सामने गया, तब राजाने उससे पूछा कि 'तुम मुझसे क्या चाहते हो?' इसपर वह ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो आपके दर्शनकी इच्छा थी, सो हो गये, अब कुछ भी इच्छा नहीं है।' राजाने उसको बहुत-से द्रव्यादि पदार्थ देने चाहे किन्तु उसने कुछ भी नहीं लिया, तब राजाने उसको अपने बराबरका अधिकार देकर अपने सदृश बना लिया।

दार्ष्टान्त इसप्रकार है कि जो लोग धन, मान, स्त्री,

पुत्रादि सांसारिक पदार्थोंकी कामना करके ईश्वरकी आराधना करते हैं वे तो राजाके मजदूरोंकी भाँति नियत किये हुए पैसे पानेके ही अधिकारी हैं। पर जो निष्काम भक्त केवल ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये ही कर्म या उपासनादि करते हैं, परमेश्वर इस लोकमें ध्रुव, प्रह्लादकी भाँति उनके द्वन्द्वोंकी निवृत्ति करके अन्तमें उन्हें अपने धाम या मोक्ष-पदकी प्राप्ति करा देते हैं।

इसलिये उन ईश्वरकी शरण होकर निष्काम भावसे उनकी भक्ति करनी चाहिये। कलियुगमें यही सबसे सरल और सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

> जैं प्राणी 'हौं' 'मैं' तजी, कता राम पिछान।
> कह नानक वह मुक्त नर, ए मन साची जान॥

जिस व्यक्तिने अपने साढ़े तीन हाथके शरीरके अहंकारको त्याग दिया है और सबके कर्ता ईश्वरको तत्त्वसे जान लिया है, गुरु नानकजी कहते हैं 'अरे मन! वह मनुष्य मुक्तस्वरूप ही है यह बात सत्य समझ।'

एक राजा था, उसने अपने देशमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'जो व्यक्ति दो घण्टेके अन्दर हमारे पास आ जायगा उसको हम अपना राज्य दे देंगे।' ऐसा कहला कर उस राजाने अपने बैठनेकी जगहके बीचके रास्तेमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके उत्तम-से-उत्तम भोग्य पदार्थ अपने पास आने-वालोंको मुफ्तमें भोगनेके लिये रखवा दिये, जैसे अच्छे-अच्छे गायन गानेवाली सुन्दर अप्सराओंके सदृश युवती स्त्रियाँ तथा फोनोग्राफ, हारमोनियम, तम्बूरे, सितार, वीणा, मृदंग आदि अनेक वाद्य बजानेवाले प्रवीण लोग नाना प्रकारके गायनके साथ वाद्य बजाकर मनको मोहित करने लगे। मखमली गद्दोंकी शय्या एवं मनको लुभानेवाली इन्द्रकी अप्सराओंको भी अपने रूप-लावण्य और मन्द मुस्कानसे मात करनेवाली युवती स्त्रियाँ अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं। अनेक प्रकारके नाटक, सिनेमा तथा नेत्रोंको मोहनेवाले सुन्दर-सुन्दर दृश्य पदार्थ रखवा दिये कि वे देखनेवालोंको दूर जाने ही नहीं देते। खानेके लिये मेवा, मिष्टान्न, फल आदि इतनी सामग्री एकत्रित कर दी गयी कि उनकी संख्या ही नहीं गिनी जाती तथा उनके रसास्वादन किये बिना ही मुँहमें पानी भर आता है। इसी प्रकार सुगन्धिके लिये अतर-फुलैल, एसेंस, पुष्प, बाग-बगीचे ऐसे रचे गये कि वहाँसे हटनेको चित्त ही नहीं चाहता। यह तो इन्द्रियोंके कुछ विषय हुए। अब मनको फँसानेके लिये भी नाना प्रकारकी सामग्री एकत्रित कर दी गयी। इन सब मनोमोहक सामग्रियोंके उपभोगका आनन्द बिना ही कुछ दिये मन चाहे जितना करनेकी खुली आज्ञा राजाने सबके लिये दे दी। साथ ही यह भी कह दिया गया कि दो घण्टे पूरे होनेपर सबको जबरदस्ती बाहर निकाल दिया जायगा।

हजारों-लाखोंकी संख्यामें लोग राजासे मिलनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये। पर सबने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार अपना मन उन भोग्य वस्तुओंके उपभोगमें लगा दिया, अधिकांश तो उनमें इतने निमग्न हो गये कि राजाके पास जाना ही भूल गये। कुछ बुद्धिमान् थे, उन्होंने विचार किया कि अभी तो समय बहुत है, इन पदार्थोंका उपभोग कर लें, ठीक समयपर राजाके पास पहुँचकर राज्य ले लेंगे। ऐसा विचारकर वे भी उन भोग्य-सामग्रियोंमें ही लिप्त हो गये। उनमेंसे किसी एक अति बुद्धिमान् व्यक्तिने ऐसा विचार किया कि यह सब सामग्री तो राजाकी है और राजाके पास जानेसे जब हम स्वयं राज्यके मालिक ही हो जायँगे फिर यह सब सामग्री आप ही हमारी हो जायगी, तब मनचाहा इनका उपभोग कर लेंगे, ऐसा विचार करके वह व्यक्ति किसी भी ओर जरा भी न ताक सीधा तेजीसे चलकर राजाके पास पहुँच गया। राजासे भेंट होते ही राजाने अपनी पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार उसको राज्य देकर स्वयं वनकी राह ली।

दार्ष्टान्त इसप्रकार समझना चाहिये कि ईश्वररूपी राजाने मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ रचकर उनको आज्ञा कर दी कि जो जीव मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके इन सब पदार्थोंसे मोह हटाकर केवल मेरे परायण हो जायगा उसे मैं अपने परमधामका मालिक बना दूँगा या उसे परमपद यानी मोक्षपदकी प्राप्ति करा दूँगा। परम दयालु ईश्वरकी ऐसी आज्ञा होनेपर भी मायामरीचिकामें मोहित रहनेवाले अधिकांश जीव मायिक पदार्थोंके उपभोगमें ही अपना जीवन नष्ट कर देते हैं, कुछ समझदार लोग ऐसा विचार करते हैं कि अन्त समयमें ईश्वरमें प्रेम करके संसारी पदार्थोंसे मोह हटा लेंगे किन्तु जैसे दो घण्टेकी

अवधिके समाप्त होते ही उन लोगोंको धक्के देकर निकाल दिया गया, इसी प्रकार श्वासोंकी अवधि पूरी होते ही इन जीवोंको कालदेव जबरदस्ती यहाँसे ले जाकर उनके अपने-अपने कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंके चक्करमें भ्रमण करायँगे। नचिकेताके सदृश कोई विरला ही वैराग्यवान् पुरुष ब्रह्मलोकपर्यन्तके सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थोंको नाशवान् समझकर उनमें दोषदृष्टि करके ईश्वरके भजन-ध्यानके परायण हो जायगा तो उसको इसी जन्ममें ईश्वरका साक्षात्कार होकर परमपदकी प्राप्ति हो जायगी।

हरिः ॐ तत्सत्

(२३) स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी 'कैलासाश्रम'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् 'एक ही देवता सब भूतोंके भीतर है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अध्यक्ष है, सब भूतोंका अधिवास है, साक्षी है, चेतन है, अद्वैत है और निर्गुण है।'

मूर्खसे लेकर बड़े-बड़े विद्वान्‌तक, बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी दिन-रात इस मायात्मक भौतिक प्रपञ्चकी विचित्रताका अनुभव करते हैं। सबको प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस अपूर्व व्यावहारिक संसारको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। देहात्मवादी नास्तिकसे लेकर परम आस्तिक अद्वितीय ब्रह्मवादी वेदान्तीतक सभीने अपनी-अपनी प्रक्रियाके अनुसार इस कार्यरूपी जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निरूपण किया है, तथा कार्य कारण-पूर्वक ही हुआ करता है, इस लौकिक न्यायके अनुसार उन्होंने जगद्रूप कार्यके कारणका निरूपण करनेकी भी चेष्टा की है।

'भूतानीति च तद्विदः।'
'यज्ञा इति च तद्विदः।'
'पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे।'
विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥

अर्थात् 'भूतवादी जगत्‌का मूलकारण पञ्चभूतोंको ही बतलाते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञको कारण बतलाते हैं, कोई पचीस तत्त्वोंको, कोई छब्बीस तत्त्वोंको कारण मानते हैं। कोई कहते हैं कि यह जगत् स्वप्नके समान अथवा मायास्वरूप है, दूसरे कहते हैं भगवान्‌की इच्छामात्रसे जगत्‌की सृष्टि हो जाती है। कालवादी कहते हैं कि कालसे पञ्चभूतोंकी सृष्टि होती है, दूसरे कहते हैं कि सृष्टि भोगके लिये है और तीसरे कहते हैं कि यह जगत् भगवान्‌की लीला है, कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर आप्तकाम हैं, उनको इच्छा नहीं होती, सृष्टि करना उनका स्वभावमात्र है।'

इसप्रकार विभिन्न मतवादी अपने-अपने मतानुसार सृष्टिके कारणकी कल्पना करते हैं। यह सृष्टि चाहे जिस-प्रकार बनी हो, बुद्धिमानोंके लिये विचारणीय यह है कि इस अद्भुत जगत्‌रूपी शिल्पका शिल्पी कौन है? जिसप्रकार किसी प्रदर्शनीमें जानेपर वहाँके विचित्र शिल्प तथा कला-कौशलादिको देखकर उनके रचयिताके अस्तित्वकी स्फूर्ति दर्शकके चित्तमें स्वयमेव उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस अनिर्वचनीय जगत् शिल्पके कर्त्ताके रूपमें ईश्वरकी अनुभूति सबके चित्तमें स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे होती ही है। उपनिषदोंके अनुयायी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप मानते हैं। कपिलके अनुयायी आदि विद्वान् सिद्धको ईश्वर कहा करते हैं। पतञ्जलि मुनिके अनुयायी क्लेश,कर्म-विपाकादि सम्बन्धसे रहित पुरुषविशेषको ईश्वर मानते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञ-पुरुषको ईश्वर कहते हैं। तार्किक लोग नित्यज्ञान आदि अष्ट गुणोंसे विशिष्ट चेतन विभु कर्त्ताको ही ईश्वर मानते हैं। मीमांसक लोग भी उपास्यरूपसे ईश्वरको मानते हैं। चार्वाक लोग भी ईश्वरको व्यवहारसिद्ध मानते हैं। अधिक क्या—

जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः॥

अर्थात् 'जल, पत्थर, मिट्टी, काठ, लोहा, कुदाल आदि

यह सभी ईश्वर ही हैं, इनकी पूजा करनेसे ये अवश्य ही फल प्रदान करते हैं ।'

इसप्रकार जब सबने किसी-न-किसी रूपमें ईश्वरको माना है तो फिर ऐसे सर्वानुभव-प्रसिद्ध ईश्वरमें सन्देह ही कैसे हो सकता है ? और जब सन्देह ही नहीं तो उसके निरूपणकी क्या आवश्यकता है ? तथापि विभिन्न वादोंके पारस्परिक विरोधके कारण लोगोंके मनमें जो यह संशय होता है कि 'ईश्वरको क्यों माना जाय, उसके न माननेसे क्या हानि है तथा ईश्वर है इसका प्रमाण क्या है ?' इनके निवारणके लिये यत्किञ्चित् शास्त्रीय युक्तियोंकी सहायतासे यहाँ ईश्वर-सम्बन्धी विचार किया जाता है । यद्यपि ईश्वर श्रुति-स्मृति-अनुभव-प्रसिद्ध होनेके कारण सिद्ध ही है तथापि जबतक श्रुति-स्मृति-जन्य प्रमाण तर्कद्वारा उपपन्न नहीं किया जाता तबतक यथार्थतः वस्तु-विषयक प्रमा-ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती । जिसप्रकार घट-पट आदि कार्यके कारण कुम्भकार और तन्तुवाय (जुलाहा) आदि हैं, यह बात सबको अनुभवसिद्ध है, फिर यदि कोई अज्ञ पुरुष सन्देह करे कि घटात्मक कार्य है तो रहे, पर उसका कारण कुम्भकारको क्यों मानें ? इस संशयके निवारणके लिये यही युक्ति दी जा सकती है कि बिना किसी चेतन कर्त्ताके कम्बु-ग्रीवा आदि आकारविशिष्ट घटात्मक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यदि घटादि कर्तृजन्य नहीं होगा तो वह कार्यरूपमें नहीं आ सकता, क्योंकि जो कार्य होता है वह कार्याभिज्ञ कर्त्ताके द्वारा ही होता है। इस सार्वत्रिक व्याप्तिके अनुसार अन्यथा कार्य-कारण-भाव सम्भव नहीं है ।

देव, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, पितृ, पिशाचादि विचित्र; स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि विलक्षण; विविध प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान और साधन आदि विशेषणोंसे युक्त जगत्, जो परम अभिज्ञ अत्यन्त कर्मकुशल शिल्पियोंसे भी रचा जाना असम्भव है, तथा जो सदा देश-काल-निमित्तके अनुसार एक महान् नियमका अनुवर्तन करते हुए प्रवृत्त और निवृत्त हो रहा है; अवश्य ही भोक्ता और कर्म तथा फलका विभाग जाननेवाले किसी पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ है । लोकमें भी देखा जाता है कि गृह, प्रासाद तथा रथ आदिकी रचना इनका विभाग जाननेवाले किसी चेतन पुरुषके प्रयत्नपर निर्भर करती है । इसी प्रकार यह भी मानना ही पड़ेगा कि इस विचित्र जगत्की रचना भी किसी चेतन सर्वज्ञ पुरुषके द्वारा हुई है । इसी बातको प्रमाणकुशल नैयायिकोंने 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' इस अनुमानसे सिद्ध किया है । इसप्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी व्यवस्था अन्यथासिद्ध न होनेके कारण जगत्-कर्ता ईश्वरको स्वीकार करना ही पड़ता है ।

यहाँ यदि कोई नास्तिक शङ्का करे कि 'जब पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों भूतोंके संघातरूप कारणसे ही जगत् उत्पन्न हो सकता है तो इनसे पृथक् ईश्वरको क्यों माना जाय ?' इसका उत्तर यह है कि 'भूतवर्ग स्वयं अचेतन हैं, अचेतन पदार्थमें स्वयं प्रवृत्ति नहीं बन सकती, और प्रवृत्तिके न होनेसे इनका पारस्परिक सम्मिलन भी सम्भव नहीं; यदि सम्मिलन (संघात) नहीं तो सृष्टिकी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है ? यदि कोई कहे कि 'जड-वायु तो स्वतः प्रवृत्त होकर अन्तरिक्षमें तृणादिको धारण करता है, इसी प्रकार ये सब भूत भी स्वतःप्रवृत्त होकर जगत्का हेतु बन जा सकते हैं ।' परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि यदि जड वायु स्वतः प्रवृत्त होकर कार्य करता तो जडस्वरूप साधारण धर्म-विशिष्ट शकट आदिमें भी स्वतः प्रवृत्ति होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । यह सभी जानते हैं कि शकटमें गति चेतनद्वारा ही होती है । इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जड-भूतोंका पारस्परिक मिलन भी किसी चेतन पुरुषके ही अधीन है । श्रुति भी कहती है—

'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपो अन्तरो यमयति ।'
(बृहदारण्यक)

'भीषाऽस्माद् वातः पवते ।'
'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।'
'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।' इत्यादि ।

भावार्थ यह है कि सर्वनियन्ता ईश्वर सबके अन्तर्गत अन्तर्यामीरूपसे स्थित होकर सबको प्रेरणा कर रहे हैं ।

यदि कोई कहे कि यह जो विचित्र उपभोगों तथा प्राणियोंके विविध कर्मरूप साधनकी विलक्षणतासे पूर्ण जगत् है वह कर्मके द्वारा ही बना है, क्योंकि ईश्वरमें विषमता और निर्घृणता आदि दोषोंको दूर करनेके लिये कर्मनिष्ठ अचिन्त्य प्रभावको सर्व वादियोंने ।

विचित्रताका कारण अङ्गीकार किया है, अतएव सर्ववादि-सम्मत कर्मको अपूर्व जगत्का कारण माननेसे यदि काम चलता है तो एक और नित्य सर्वज्ञ ईश्वरको जगत्का कर्ता मानना व्यर्थ है ।

परन्तु यहाँपर विचारणीय यह है कि कर्म जड है या चेतन ? कर्मको स्वरूपमे अवश्य ही जड कहना होगा और वह जड-कर्म स्वतन्त्र होकर किसी कार्यका कारण नहीं बन सकता । जिसप्रकार दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंके एकत्रित रहनेपर भी उनको प्रेरित करनेवाला कुम्भकार-रूपी कर्ता यदि न हो तो घटरूप कार्य नहीं बन सकता, उसी प्रकार कर्म आदि जड-कारणोंके वर्तमान रहनेपर भी बिना कर्ता ईश्वरके इस विचित्रतासे पूर्ण जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अधिक क्या, एक रज-कण भी अन्तर्यामी ईश्वरके संकेत बिना अपने स्थानसे हिल नहीं सकता । फिर इस विशाल ब्रह्माण्डके उद्भव और प्रलयकी तो बात ही क्या है ?

क्योंकि जड-कर्म कर्त्ताके अधीन होनेसे उसके प्रयत्नसे उत्पन्न होता है, तथा उस प्रयत्नके शान्त होनेके साथ ही शान्त हो जाता है, अतः कर्त्ताके प्रयत्नके उपरम होनेपर उपरत होनेवाला कर्म कालान्तर अथवा देशान्तरमें चेतन कर्त्ताके सिवा कैसे फलको उत्पन्न कर सकता है ? इसीलिये फलदाता चेतन पुरुषको मानना ही पड़ेगा और वही चेतन ईश्वर है ।

पुनः यदि कोई शङ्का करे कि, 'कर्म यदि स्वतः फल-दाता न होनेसे जगत्की उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता तो कर्मकर्त्ता जीवको ही फलदाता क्यों न मान लिया जाय ? फिर जगत्-उत्पत्तिके लिये कारणभूत एक पृथक् ईश्वरके माननेकी आवश्यकता ही नहीं होगी ।' यह शङ्का भी बिलकुल ही युक्तिहीन है, क्योंकि अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान् होनेके कारण जीव सब काल, सब देश, सब निमित्तों तथा तदनुरूप फलों एवं उन फलोंके यथोचित विभागसे अभिज्ञ नहीं हो सकता, फिर वह फलदाता तथा जगन्निर्माता कैसे हो सकता है ? और यदि जीव ही स्वतन्त्ररूपसे कर्मनियन्ता, फलदाता और सर्वदेशकालादि-का ज्ञाता होता तो उसे कभी अनिष्ट फलकी प्राप्ति होती ही नहीं । भला संसारमें ऐसा कौन मूर्ख है जो स्वेच्छासे स्वयं दुःख भोग करना चाहता हो, बल्कि—

> जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
> र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
> केनापि देवेन हृदि स्थितेन
> यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

तथा—

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (श्रुति)

—इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव (कर्म-फल-भोगमें) कदापि स्वतन्त्र नहीं है । इसलिये वह जगत्-कर्त्ता, फल-दाता नहीं हो सकता । अतः कर्म और उसके फलोंका विभाग-कर्त्ता तथा सबका नियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वरको मानना ही होगा ।

यदि कोई कहे कि 'निर्निमित्तक कर्म ही फल प्रदान करनेमें प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा मान लें तो अनिष्ट-फलाप्राप्तिरूप दोष भी नहीं आता है और ईश्वरको भी प्रेरकरूपमें निमित्त माननेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है ।' यह लाघव प्रदर्शित करनेवाला सिद्धान्त केवल अविचारसे ही सुन्दर दीख पड़ता है, क्योंकि इस संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसे निर्निमित्तक (बिना निमित्तके बनी हुई) कहा जाय । छोटी-से-छोटी वस्तुका विकार भी बिना निमित्तके नहीं हो सकता । अतएव लोकविरुद्ध तथा प्रमाणान्तरसे सिद्ध न होनेसे कर्म बिना किसी निमित्तके विकृत होकर फलरूपमें परिणत हुआ किसीका भोग्य नहीं बन सकता ।

निरीश्वरवादी बौद्ध कहते हैं कि, 'जैसे अयस्कान्तमणि कदाचित् चेतनके द्वारा प्रेरित होनेपर कालान्तरमें भी लोहेका आकर्षक होती है, वैसे ही क्षणिक विज्ञानरूप आत्माका किया हुआ कर्म भी कालान्तरमें फलका प्रेरक बन सकता है । ईश्वर कोई वस्तु नहीं है ।' परन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि कर्म सदा कर्त्ताके साथ रहता है और क्षणिक विज्ञानसे कालान्तरमें कर्त्ताका अभाव हो जाता है जिससे न तो कर्म ही रहता है और न उसका फल भोगनेवाला । यदि कोई कहे कि उस कर्मफलका भोक्ता दूसरे क्षणमें उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञानात्मा हो जाता है, तब तो अत्यन्त ही अव्यवस्था-दोषकी प्राप्ति हो जायगी । कर्म करेगा कोई एक और फल भोगेगा कोई दूसरा । इसप्रकार 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश प्रसंग' रूप महान् दोष उत्पन्न हो जायगा । कर्म क्षणिक होनेके कारण

बिना फल प्रदान किये ही नष्ट हो जायगा, और यही 'कृतविप्रणाश' दोष है; तथा बिना ही किया हुआ कर्म फल देनेमें प्रवृत्त होगा जो 'अकृताभ्यागम' दोष है। ऐसी अव्यवस्था हो जानेसे फिर संसारमें कौन पुरुष फलकी इच्छासे कर्ममें प्रवृत्त हो सकता है? अतः कालान्तरमें फल आदिके व्यवस्थापकके रूपमें ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये।

जरन्मीमांसक कहते हैं कि, 'फल आदिके व्यवस्थापक जब कर्म मौजूद ही हैं तो प्रमाणहीन ईश्वरके माननेकी क्या आवश्यकता है? वेद भी तो 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंसे स्वर्ग फलको उद्देश्य करके यागादिका विधान करते हैं, इससे स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्म ही स्वर्गादि फलके उत्पादक हैं। फिर वेदने भी तो कहीं ईश्वरका प्रतिपादन नहीं किया है। यदि कोई कहे कि क्षणिक यागादि कर्म कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलके उत्पादक कैसे हो सकते हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि यागादि कर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति न हो तो वेदका वचन व्यर्थ हो जायगा और इससे वेद अप्रामाणिक हो जायँगे। किन्तु वेद अपौरुषेय निरपेक्ष स्वतः प्रमाणस्वरूप हैं अतः यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी स्वर्गादिका कारण बन सकता है।' इसपर यदि कोई आक्षेप करे कि 'कारण तो वह होता है जो कार्यके अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती हो। स्वर्गादि फलरूप कार्यके उत्पन्न होनेके अव्यवहित पूर्वक्षणमें तो यागादिरूप साधन कभी विद्यमान नहीं रहते फिर वह यागादि कर्म स्वर्गादिके कारण कैसे हो सकते हैं?' इसका मीमांसक उत्तर देते हैं कि 'क्षणिक ओषधिसेवनसे उत्पन्न हुआ स्थायी संस्कार जिसप्रकार कालान्तरगत आरोग्यका कारण होता है, उसी प्रकार यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी तज्जन्य अवान्तर स्थायी अदृष्टद्वारा स्वर्गादि फलको प्रदान करेगा। भाव यह है कि यागादि कर्मसे एक स्थायी अदृष्ट उत्पन्न होता है जो यागादिके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता, और वही कालान्तरमें यागादि अनुष्ठान करनेवालोंको स्वर्गादि फल प्रदान करता है। अतः ईश्वर फलदाताके रूपमें सिद्ध नहीं होता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जो वेदवाक्य मिलते हैं वे अर्थवादरूप होनेसे इसमें प्रमाण नहीं हो सकते, अतः उनसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती।'

मीमांसकोंकी यह कल्पना भी युक्तिविरुद्ध है। दृष्टके अनुसार ही अदृष्टकी कल्पना हुआ करती है। दृष्टविरुद्ध कल्पना कभी आदरणीय नहीं हो सकती। लोकमें देखा जाता है कि जो-जो कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले होते हैं उनके वे फल अवश्य ही चेतनप्रयुक्त होते हैं। कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक तो दृष्ट फल देनेवाला और दूसरा अदृष्ट फल देनेवाला। इनमें पहला दृष्ट फल देनेवाला फिर दो प्रकारका होता है, एक तो तत्काल फल देनेवाला और दूसरा भविष्यत्में फल देनेवाला। गमन, भोजनादि कर्म प्राप्ति-तृप्ति आदि फल तत्काल ही प्रदान करते हैं; दूसरे कृषि, सेवा आदि कर्म व्रीहि, द्रव्य आदि फल भविष्यमें प्रदान करते हैं। तत्काल फल प्रदान करनेवाले कर्म फलदानके बाद नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वे फलापवर्गी होते हैं; और कालान्तरमें फल देनेवाले कर्म फल देनेसे पहले ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वे उत्पन्न-प्रध्वंसी होते हैं। यह उत्पन्न-प्रध्वंसी कर्म चेतन कर्त्ताके बिना कालान्तरमें फलदायक नहीं हो सकता। लोकमें देखा जाता है कि राजा, सेव्यबुद्धिसे किये हुए सेवारूप कर्मके नष्ट होनेपर भी कालान्तरमें सेवानुरूप फल सेवकको प्रदान करता है। सेवा-कर्म स्वतः नष्ट होकर कालान्तरमें कदापि स्वतन्त्र फलदाता नहीं बन सकता और न सेवाजन्य अदृष्ट ही स्वतन्त्र फल दे सकता है। इसी प्रकार कृषि आदि कर्मोंके द्वारा उत्पन्न धान्य आदि फलको कालान्तरमें पकनेपर कृषकके घरपर न तो कृषकके छोड़े हुए हल आदि यन्त्र, न कृषि आदि कर्म और न तज्जन्य संस्कार ही पहुँचाते हैं, बल्कि किसी चेतनपुरुषके द्वारा ही उस धान्यरूप फलकी प्राप्ति कृषकको होती है। इस लौकिक दृष्टान्तके अनुसार उत्पन्न-प्रध्वंसी यागादि कर्म भी चेतन ईश्वरके बिना कालान्तरमें फलके पहुँचानेवाले नहीं हो सकते। अतः फल-प्रदाताके रूपमें सर्वज्ञ नित्य चेतन ईश्वरको माने बिना काम नहीं चल सकता।

मीमांसक यह भी शंका कर सकते हैं कि 'लौकिक कर्ममें यह नियम लागू होते हैं, तो वैदिक कर्मोंको इनके अधीन क्यों किया जाय?' यह शंका यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ अपने स्वभावको कदापि नहीं त्याग सकता। जिसप्रकार किसी भी देश, कालमें अग्नि अपनी उष्णताको नहीं त्याग सकती, उसी प्रकार कर्म भी चाहे वह लौकिक हों या वैदिक, कर्मत्वधर्म सामान्य होनेके कारण अपने धर्म (अर्थात् कर्त्ताकी अपेक्षा फल-प्रदान)

को कभी नहीं त्याग सकते। अब रह गया कि 'याग अदृष्टके द्वारा कर्म-फलको प्रदान करेगा,' तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि अदृष्ट व्यापार है और व्यापार कारणके आश्रित होता है। जैसे चक्रका भ्रम्यादि व्यापार दण्डके आश्रित और दण्डजन्य होता है। अब अदृष्ट व्यापारवान् कर्म यागके आश्रित और यागसे उत्पन्न होता है, वह याग आदि कर्मके नाशसे आश्रयहीन होकर कहाँ ठहर सकता है? और व्यापारवान्‌के नाशके साथ व्यापार-का नाश अवश्यम्भावी होनेके कारण यागादि कर्मोंके नष्ट होनेपर अदृष्ट स्थायी नहीं हो सकता, फिर वह स्वर्ग-का उत्पादक कैसे हो सकता है? अतएव अदृष्टके फलोत्पादक न होनेपर ईश्वरको कर्म-फल-दाता मानना ही पड़ेगा। अतएव सर्वलोकसाक्षी कर्म, कर्मफल और भोक्ता-को जाननेवाला क्लेशकर्मविपाकाशयसे रहित सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध होता है जो असंग और निर्लेप रहकर जीव-जगत्‌का एकमात्र धाता, कर्ता और नियन्ता है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

यहाँ यदि कोई शंका करे कि, 'निर्लेप सर्वान्तर्यामी ईश्वर ही सबका प्रेरक और नियामक है, तो निग्रहानुग्रह-का कर्त्ता होनेसे वह राग-द्वेषादिसे युक्त हो जायगा और लोक अथवा वेदमें इसके प्रमाण भी मिलते हैं। क्योंकि लोकमें कुछ मनुष्य तो धन-दौलतके अधिकारी बनकर भाँति-भाँतिके मनोरम पदार्थोंका भोग करते हैं और दूसरे निरन्तर दुःख भोगते हुए हाय-हाय करते दिन व्यतीत करते हैं। वेदमें लिखा है, 'स एष साधु-कर्म कारयति।' तथा स्वयं भगवान् कहते हैं कि—

> 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'
> 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।'

—इसप्रकार ज्ञात होता है कि भगवान् किसीको तो अपना प्यारा मानकर सुख-भोग तथा मोक्ष-प्रदान कर अनुग्रह करते हैं और किसीको शत्रु मानकर घोर नरकमें डाल निग्रह करते हैं। इसप्रकार भगवान्‌में पक्षपातादि दोष आ जाते हैं, फिर अपने समान ही पक्षपातादि दोषसे युक्त भगवान्‌को माननेसे क्या लाभ?'

ठीक है, परन्तु निग्रहानुग्रहके कर्त्ता होनेसे ही ईश्वरमें पक्षपात तथा रागादि दोष नहीं आ सकते। लोकमें तो इसके बहुतेरे दृष्टान्त मिलते हैं—माता-पिता अपने सन्तानोंके प्रति निग्रहानुग्रहकर्त्ता होनेसे न तो पक्षपाती कहे जा सकते हैं और न रागादिवान् ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि वे निग्रहानुग्रह जो कुछ करते हैं, सन्तानके सर्वथा कल्याणके लिये ही करते हैं। इसी प्रकार कृपालु परमपिता परमेश्वर भी निग्रहानुग्रहद्वारा भूतोंका कल्याण ही करते हैं।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि 'अज्ञ माता-पितामें यह दृष्टान्त घट सकता है, परन्तु सर्वान्तर्यामी ईश्वरमें यह कैसे घटेगा? अन्तर्यामी होनेके कारण समरस होनेसे ईश्वरको सब भूतोंकी एकाकार प्रवृत्तिका कारण होना चाहिये; फिर जब वह आप्तकाम ही है तो 'आप्तकामस्य का स्पृहा' इस श्रौत-न्यायके अनुसार ईश्वरमें सुख-दुःख-का दातृत्व नहीं बन सकता।' ये शंकाएँ भी निराधार हैं, क्योंकि ईश्वरमें उसप्रकारका प्रेरकत्व नहीं है। शास्त्रमें अनादि कर्मोंकी वासनासे संश्लिष्ट अन्तःकरणसे उपहित चैतन्यके सान्निध्यको ही अन्तर्यामी ईश्वरका प्रेरकत्व कहा गया है। जिसप्रकार चुम्बक केवल सान्निध्यसे ही लोहेका प्रेरक होता है, इसी प्रकार प्रेरक होनेके कारण निर्लेप ईश्वरमें दोष नहीं आ सकता। अनादि कर्मवासनाके अनुरूप विज्ञानात्माका परिणाम ही ईश्वरकृत जीवकी प्रवृत्ति है। उन वासनाओंके अनुसार जीव जैसे-जैसे कर्म करता है, वैसे ही ईश्वर उसे फल देता है। जिसप्रकार राजा दुष्टको दण्ड देने तथा शिष्टको पालन करनेसे अन्यायी नहीं कहलाता उसी प्रकार ईश्वर कर्मानुसार सुख-दुःख-दाता होनेपर भी दोषका भागी नहीं हो सकता। इसमें श्रुति-स्मृति आदिके अनेकों प्रमाण हैं।

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति' 'पुण्यं वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' 'स वा एष महान् अज आत्मान्नादो वसुदानः'—इत्यादि श्रुतिः।

> 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
> 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।'
> 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।'

—इत्यादि स्मृतिः

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।' 'फलमत उपपत्तेः।' 'श्रुतत्वाच्च।' 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्।' —इत्यादि ब्रह्मसूत्र

पुनः यह शङ्का होती है कि 'अपने उपभोगके साधनों-के नियन्ता चेतन जीवके होते हुए भी जीवातिरिक्त किसी ईश्वरको नियन्ता माननेसे, उस ईश्वरके लिये दूसरेको नियन्ता मानना होगा और उस दूसरेके लिये तीसरेको मानना होगा; इसप्रकार अनवस्था-दोषकी आपत्ति होगी, अतः अनवस्था-दोषके परिहारके लिये जीवातिरिक्त नियामक ईश्वरको मानना ठीक नहीं।' यह शङ्का भी युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि सबका प्रत्यक्भूत ईश्वर सबका आत्मा होनेके कारण जीवका भी आत्मा है। कल्पित औपाधिक भेद रहनेपर भी ईश्वर जीवसे तत्त्वतः भिन्न नहीं है। अतः अनवस्थादि दोषका लेश भी ईश्वर-सिद्धिमें बाधक नहीं हो सकता। भगवती श्रुति भी ईश्वर और जीवकी अभिन्नता-का प्रतिपादन करती है—

'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।' तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य व्याकरवाणि।'

'कार्योपाधिरयंजीवः कारणोपाधिरीश्वरः।' —इत्यादि

सांसारिक जीवके आत्मभूत होनेसे ईश्वर भी सांसारिक हो जायगा, ऐसी शङ्का भी ठीक नहीं होती; क्योंकि ईश्वर सब धर्माधर्मसे असंस्पृष्ट होनेके कारण निर्लेप और निरवद्य है।—असंगो ह्ययं पुरुषः। इसप्रकार ईश्वर केवल युक्तियोंसे ही सिद्ध है, ऐसी बात नहीं। बल्कि वह शत सहस्र श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणोंसे भी प्रमाणित है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
(कठ०)

'विजरो विमृत्युः' 'जरामृत्युमत्येति'— (छान्दो०)
'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः एष सर्वेश्वरः पुण्यं कर्म कारयति।'
(छान्दो०)

'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मुण्डक, श्वेता०)
'एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृहदारण्यक०)
'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'— (तैत्तिरीय०)
'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' (ऋग्वेद)
'विश्वतश्चक्षुरुत…द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।' (यजुर्वेद)
'विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' (श्वेता०)

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक०)
'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी' (माण्डूक्य०)
'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' (श्वेताश्व०)
'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐतरेय०)
'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्तिरीय०)
'तदैक्षत् बहु स्यामिति' (छान्दो०)
'तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावा' (मुण्डक०)
'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृहदारण्यक)
'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।'
'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्।' 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय।'
'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'
'अहमादिर्हि भूतानां मध्यमन्तस्तथैव च।'
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।' (गीता)
'जन्माद्यस्य यतः।' 'शास्त्रयोनित्वात्।'
'ईक्षतेर्नाशब्दम्।' 'स्वाप्ययात्।'
'नेतरोऽनुपपत्तेः।' 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्।' (ब्रह्मसूत्र०)

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
(महाभारत मोक्षपर्व)

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः॥
(पुराण)

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' (श्रीमद्भागवत)

इसपर यदि शङ्का की जाय कि उपर्युक्त वाक्य प्रमाण नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह केवल अर्थवादमात्र हैं; तो यह कथन युक्ति-संगत नहीं हो सकता। क्योंकि अर्थवाद वाक्य उसे ही कहते हैं जो स्वार्थमें प्रमाणशून्य होकर विधि-निषेधसे परे अर्थात् अङ्गमात्र हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रमाणवाक्य किसी सन्निहित विधि या निषेधके शेषभूत नहीं हैं, अतः यह अर्थवाद वाक्य नहीं कहे जा सकते। इन वाक्योंके समन्वयसे जिस अनन्य बोधक ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है उसका बाध देखनेमें नहीं आता। इसलिये उपर्युक्त श्रुति आदिके वचन स्वार्थमें ही प्रमाण-भूत हैं, अर्थवाद नहीं हैं।

दूसरा एक नियम यह है कि जिस शब्दसे अबाध्य प्रमा उत्पन्न होती है वह शब्द भी स्वार्थमें प्रमाणभूत होते हैं; अतः समस्त ईश्वर-सम्बन्धी वाक्य अबाध्य ज्ञानजनक होनेसे स्वार्थमें प्रमाणभूत हैं, अर्थवाद कदापि नहीं हैं।

(२५) स्वामीजी श्रीकल्याणदेवजी

१–ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि ईश्वरने हम जीवोंके लिये संसारमें अनेक प्रकारके भोग-पदार्थ और भोग भोगनेके स्थान और नाना प्रकारके शरीर निर्माण किये हैं। उनमें विशेष करके मनुष्य देहमें पशु-पक्षियोंसे अधिक ज्ञान देकर हमारा बड़ा भारी उपकार किया है तथा जलचर, स्थलचर और आकाशमें विचरनेवाले सब जीवोंका मनुष्यको राजा बनाया है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त भोग और कैवल्यपर्यन्त मोक्ष—ये दोनों ईश्वरके आराधनसे ही प्राप्त होते हैं। इसलिये भोग और मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंको चाहिये कि ईश्वरको मानकर श्वास-श्वास उनका आराधन करे। जिसने गर्भमें तथा बाल्य-अवस्था आदिमें रक्षा की है, ऐसे ईश्वरको एक क्षण भी न भूलना चाहिये।

२–ईश्वरको न माननेमें महान् हानि वेदमें कही है—

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्॥

(तैत्तिरीय०)

जिसने इतने उपकार किये उसको न मानना कृतघ्नता-रूप महापाप है। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि ईश्वरको न माननेवालोंकी कैसी दुर्दशा हुई है? जो ईश्वरको नहीं मानता, उसे अपने आपको भी न मानना चाहिये। क्योंकि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीय० ब्रह्म० ६) जीवरूप करके ईश्वरने ही प्रवेश किया है। ईश्वरको न माननेसे जन्म-मरण आदि चौरासी लक्ष योनिकी प्राप्तिरूप महा अनर्थकी प्राप्ति होगी। यह बात कठ-उपनिषद्में भी लिखी है—

'न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥'

(कठ० १।२।६)

३–'मैं हूँ' यही ईश्वरके होनेमें प्रबल प्रमाण है। आस्तिकोंके लिये ईश्वरके होनेमें प्रमाण देनेकी जरूरत ही नहीं है, उन्हें तो सदा-सर्वदा ईश्वर प्रत्यक्ष ही भान होता है और श्रुति, स्मृति, सूत्र, इतिहास, पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सिद्धिके प्रबल प्रमाण हैं। यथा श्रुति—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।

(तैत्तिरीय० भृगु० १)

ब्रह्मसूत्र—

जन्माद्यस्य यतः (१।१।२) शास्त्रयोनित्वात् (१।१।३)

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।

(२।३।४३)

श्रीमद्भगवद्गीता—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (१०।८)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (१५।७)

श्रीमद्भागवत—

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्।

(एकादश स्कन्ध)

अन्य शास्त्र—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

चारों वेदोंके चार महावाक्य भी ईश्वरके प्रबल प्रमाण हैं यथा—

'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऋग्वेदीय—ऐतरेयोपनिषत् (५।४)

'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेदीय—बृहदारण्यकोपनिषत् (१।४।१०)

'तत्त्वमसि' सामवेदीय–छान्दोग्योपनिषत् (६।८।७)

'अयमात्मा ब्रह्म' अथर्ववेदीय—माण्डूक्योपनिषत् (२)

४–अपने जीवनकी घटनाके सम्बन्धमें वास्तवमें तो उत्तर नहीं दिया जा सकता और वैसे ईश्वरकी दया तो सदा सर्वदा अनुभव हुआ करती है। प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक मास तथा प्रति सप्ताहमें कोई-न-कोई ऐसी घटना होती ही रहती है, जिससे ईश्वरकी दयामें विश्वास विशेष बढ़े। क्योंकि अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें सदा ईश्वर ही लगाता है। एकान्त स्थानमें रहनेकी रुचि उत्पन्न करके आत्मचिन्तनमें तथा सत्संग और शास्त्र विचारमें प्रवृत्त कराके प्रतिक्षण परमात्मा दयाका दान करता है; समय-समयपर योगक्षेम करता है, आत्मानु-

सन्धानको छोड़कर लौकिक कामना तो कभी सन्तको होनी ही नहीं चाहिये। ईश्वरकी दयामें इससे बढ़कर विश्वास ही क्या हो सकता है ? मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति, सद्गुरुकी प्राप्ति, आत्मज्ञानकी प्राप्ति, शरीरकी नीरोगता, मोक्षमार्गके सम्पूर्ण विघ्नोंकी निवृत्ति—यह सब ईश्वर-कृपासे ही होते हैं।

गुरु ग्रन्थ साहवमें लिखा है—

'जो जो चितवे सन्त जन सो सो लेता मान'

जैसे बच्चा अपने माता-पितासे कोई चीज माँगता है तो वह वस्तु उसे मिल जाती है, इसी प्रकार ईश्वरसे भक्त-जन जो-जो पदार्थ माँगता है ईश्वर उसे प्राप्त करा देता है। इससे बढ़कर ईश्वरकी दया क्या होगी ?

(२६) स्वामी श्रीनिर्वाणप्रकाशजी

१—श्रीभगवान् गीतामें इसका उत्तर देते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ ७। २९

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ९।३२

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९। २२

२—श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ९। ३

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ १८।५८

३—यह प्रश्न द्वैतवादमें किया जा सकता है। अद्वैतवाद-में न तो ऐसे प्रश्न बनते हैं और न उनका उत्तर ही बनता है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म'—अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, एक अद्वैत सत्तामात्र है।

यह सृष्टि ही ईश्वरके होनेमें प्रत्यक्ष प्रबल प्रमाण है। कार्य स्वयं ही अपने कारणका प्रमाण होता है। जैसे घटसे प्रतीत होता है कि इसका कोई बनानेवाला (कर्त्ता) भी है। यदि प्रकृतिवादी कहें कि सृष्टि परम्परासे चली आती है, इसका कर्त्ता कोई नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि प्रकृति तो स्वयं जड है, अतः इसका कर्त्ता अवश्य ही चेतन मानना पड़ेगा। जैसे यदि कोई लिखे हुए कागजको कहे कि इसके अक्षर स्वयं ही बन गये हैं, इनका लिखने-वाला कोई नहीं, तो यह बात नहीं बनती। इसका प्रमाण गीतामें इसप्रकार है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ १०। ८

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ १४। ३

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ १८। ६१

४—एक बार मैं सपरिवार गंगोत्री, जमनोत्री तथा बदरीनारायणकी यात्राके लिये निकला। उस समय मेरी अवस्था करीब १८ सालकी थी। गंगोत्री पहुँचनेपर एक अत्यन्त शीतल स्वभावके महागम्भीर ब्रह्मचारी महात्माका दर्शन हुआ। मैं तीन दिनतक उनका सत्संग करता रहा। वह महात्मा पहले उत्तरकाशीमें निवास करते थे, बारह वर्षतक उन्होंने फलाहार किया, परन्तु आत्माको शान्ति न मिली, अन्तमें उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने गंगोत्री-में जाकर शरीर छोड़ देनेका विचार किया।

उत्तरकाशीसे वह महात्मा गंगोत्रीकी ओर चल दिये और वहाँसे चार मील ऊपर ब्रह्माके वनमें पहुँचे। उस वनमें जाकर एक गुफाके भीतर वह तीन दिन-रात निराहार पड़े रहे। तीसरी रातको एक अवधूत भोजपत्रकी कोपीन पहने उनके सामने गुफामें उपस्थित हुआ और बोला—'महात्मन् ! तू क्यों भूखा-प्यासा पड़ा है ?' महात्मा चौंक पड़े। सामने श्यामवर्ण अवधूतको देखकर बोले कि 'हे प्रभु ! आप कौन हैं ?' अवधूतने उत्तर दिया—'मैं दत्त अवधूत हूँ। महात्मा उनके चरणोंपर गिर पड़े और बोले—'भगवन् ! मुझे इतने दिनोंके कष्ट सहन करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, इसलिये मैं अब यह शरीर छोड़ देना चाहता हूँ।' अवधूत बोले—'तुझे अवश्य शान्ति मिलेगी।

शान्तिस्वरूप ही है। अब अन्न ग्रहण कर। आजकल अन्नमें ही प्राण है। और यहाँसे शीघ्र चला जा।' इतना कहकर वह महात्मा अदृश्य हो गये।

वहाँसे वह ब्रह्मचारीजी गंगोत्री आये और तबसे महाशान्तरूप हो ब्रह्मानन्दमें मग्न हो रहने लगे। उन महात्मासे जब मुझे साक्षात्कार करनेका शुभ अवसर मिला और जब उनका समस्त वृत्तान्त सुननेमें आया तो मेरा विश्वास ईश्वरमें और अधिक बढ़ गया। घर आनेके थोड़े ही दिनों बाद मैंने भगवान् श्रीकृष्णजीकी शरण ली।

कहाँसे हो ?

वैराग्य नहीं है विषयोंसे तो मन उपराम कहाँसे हो ?
शम आदि नहीं हैं साधन जो तो आतमज्ञान कहाँसे हो ?
त्रिसना न गयी तन-मन धनसे तो अन्तर शान्ति कहाँसे हो ?
जब अन्तर शान्ति न प्राप्त हुई तो सुख निर्वाण कहाँसे हो ?
जो गुल[1] ही नहीं हैं गुलशनमें[2] तो गुल आबाद कहाँसे हो ?
जब अक्ल[3] फिरंगी[4] तबह[5] हुआ तो फिर इन्साफ[6] कहाँसे हो ?
बेफिक्र फकीरी नहीं करी तो फिर आजाद कहाँसे हो ?
जब कुफ्र[7] कि शब[8] नहिं दूर हुई निर्वाण प्रकाश कहाँसे हो ?

करता-करता करि रह्या और करै नहिं कोय।
साहब सब समरत्थ है जो कुछ करै सो होय॥
जो कुछ करै सो होय और नहिं करने हारा।
हौं हौं मैं मैं करै अज्ञ नहिं जाननहारा॥
बाजीगरका खेल कृष्ण गीतामें गाया।
ईश्वर प्रेरक हृदे सिथित भरमावत माया॥
कह निर्वाणप्रकाश आश है कृष्ण तुम्हारी।
जिउ भावे तिउ करौ लाज है तुम्हें हमारी॥

(२७) स्वामी श्रीब्रह्मकेतुजी उदासीन

सं० १९६० विक्रमकी बात है। मैं श्रीद्वारकाधीश भगवान्‌का दर्शनकर श्रीद्वारका-धामसे यात्रा करता हुआ श्रीपुष्कर-तीर्थके निकट अजमेर-नगरमें पहुँचा। वहाँ सायंकालमें आनासागर-तालाबके तटपर वृद्ध योगिराज श्रीस्वामी सन्तरामजी उदासीन महात्माके दर्शन हुए। उनसे बहुत कुछ कथा-वार्ता होनेके बाद मैंने पूछा कि 'भगवन् ! अपने जीवनकी कोई ऐसी घटनाका वर्णन कीजिये जिससे भगवान्‌की सत्ता और उसकी दयामें आपका विश्वास दृढ़ हुआ हो।' महात्माजी बोले—'मैं युवावस्थामें घरसे निकलकर सरकारी फौजमें भरती हो, सीमाप्रान्तमें पेशावरके समीप एक छावनीमें रहता था। एक दिन हमारे सामने ही उधरके यवन लोग गोवध करनेके लिये तैयार हुए। मैंने उनको मना किया, इसपर वे लोग हमारे ऊपर बिगड़ खड़े हुए। मुझसे भी नहीं रहा गया और उनको प्राण-दण्ड देकर मैंने गो-माताका उद्धार किया। उनके सम्बन्धियोंने सरकारसे फरियाद की। मेरे ऊपर मुकदमा चला और मैं ईश्वरकी प्रार्थना करके अदालतमें गया। उसकी कृपासे मेरी रिहाई हो गयी और मेरा विश्वास भगवान्‌में खूब बढ़ गया। फिर तो मैंने नौकरी छोड़ दी और काशीमें जाकर कुछ दिनतक संस्कृत पढ़ी। पीछे एक दिन भगवत्प्रेरणासे मैं श्रीरामेश्वरजीकी यात्राके लिये चल पड़ा।

रास्तेमें निजाम हैदराबादके राज्यमें श्रीगोदावरीके तटपर मैंने एक ब्राह्मणोंके ग्राममें चातुर्मास बिताया। उस गाँवसे दो मीलकी दूरीपर एक सुन्दर मनोहर वनमें एक वृद्ध महात्मा रहते थे। वह महात्मा पञ्जाबके रहनेवाले थे और लगभग तीस वर्षसे उस वनमें रहा करते थे। पहले जब आये थे तब उनमें संस्कृतकी गन्ध भी नहीं थी, परन्तु अब वह संस्कृत खूब बोलते थे। उनकी ख्याति सुनकर मुझे उनसे मिलनेकी अत्यन्त श्रद्धा हुई और मैं एक दिन उनके दर्शनके लिये वहाँ पहुँचा। वह गौर शरीर, ब्रह्मवर्चस-सम्पन्न, जटाजूट-संशोभित, शरीरमें विभूति लगाये सिद्धासनपर बैठे थे। उनकी आयु ७०-७५ वर्षके लगभगकी जान पड़ती थी। वह षोडश नामवाले मन्त्रकी निरन्तर धुनि लगाते रहते थे। मेरे वहाँ पहुँचनेपर मन्त्र-जप धीरे-धीरे करने लग गये। मुझसे उस महात्मासे संस्कृतमें ही सम्भाषण हुआ। मैंने उनसे पूछा—'भगवन् ! आपने संस्कृत कहाँ और किससे पढ़ी ?' महात्माने कहा—'यहीं ईश्वरसे।' मैंने फिर पूछा—'सो कैसे ?' महात्मा बोले—'सुनो, मेरा जन्म पञ्जाबमें हुआ था। मैं

१ प्रेम २ हृदय ३ बुद्धि ४ मन ५ नष्ट ६ कर्तव्याकर्तव्य विचार ७ अज्ञान ८ रात्रि।

बचपनसे ही घर-द्वार छोड़कर साधु-वेशमें निर्वाण-मण्डलीमें रहने लगा था। श्रीगोदावरी-कुम्भ-पर्व करनेके लिये मैं इधर आया। इधर संस्कृत जाननेवाले ब्राह्मणसे एक दिन बात-चीत हुई, उसने बात-ही-बातमें कहा 'कि तुम साधु लोग अपढ़ होते हो।' यह सुनकर मेरा चित्त बड़ा ही दुखी हुआ और मैंने तीन दिन-रात अन्न-जल छोड़कर उदासीन भावसे काल व्यतीत किया। चौथे दिन प्रातःकाल स्वप्नावस्थामें महर्षि नारदके दर्शन हुए और उन्होंने कहा—'साधो! हरि-नामको रात-दिन रटते रहो। अल्प कालमें ही विद्वान् हो जाओगे।' नारदजीके इसी उपदेशसे मैंने हरि-नामकी रटन लगायी और उसीकी कृपासे मेरी इच्छा पूर्ण हो गयी।

महाराजने अपनी कुटियामें ले जाकर मुझे सिद्धान्त-कौमुदी, महाभाष्य तथा षड्दर्शन सभाष्य दिखलाये और कहा कि 'आजकल मैं अद्वैतसिद्धिको विचारा करता हूँ।' इसे सुनकर ईश्वरमें मेरा अत्यन्त ही विश्वास और प्रेम बढ़ा।

अब मेरे मनमें आप्त-पुरुषोंके वचनोंपर अत्यन्त ही दृढ़ विश्वास हो गया है। 'भगवद्भक्त जो चिन्तन करते हैं उसे ईश्वर अवश्य पूर्ण करता है।' मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है

(२८) रायबहादुर लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०

१—आप जानते हैं कि हमारे धर्ममें ईश्वर हमारी अपील तभी सुनता है जब हममें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों होती हैं जो तुलसीदासजीने कृष्ण-गीतावलीमें लिखा है—

तुलसी निरखि प्रतीति, प्रीति, गति आरत-पाल कृपाल मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेष लखि, बिरदावलि मूरति नर नारी॥*

द्रौपदीजीकी साड़ीका बढ़ जाना कपोलकल्पित घटना माननेवालोंको हम क्या कहें, परन्तु आजकलका विज्ञान आत्मबल (Will-force) की बड़ी महिमा बताता है। यही बल है जिसके कारण एक मुट्ठीभर हड्डीका बूढ़ा बड़े-बड़े शक्तिशालियोंको शङ्काके चक्करमें डाल देता है। उसके पास न कोई अस्त्र है न शस्त्र, न धन है न राज्य है, केवल यही एक आत्मबल अभिमानियोंका गर्व चूर करनेमें समर्थ हो जाता है। किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि एक ही वारमें उसका काम तमाम कर दे। यह आत्मबल ही सही, परन्तु इस आत्मबलका सञ्चालक कौन है?

मनुष्यका चित्त स्वभावसे अवलम्ब माँगता है। किसीको चोट लगती है तो वह 'बाप-रे-बाप' चिल्लाता है, माँ बच्चेको पीटती है तब भी बच्चा 'माँ-ही-माँ' पुकारता है। इसका क्या कारण है? बापको मरे बहुत दिन हो गये। अब वह सहायता करने कैसे आयेगा? परन्तु बचपनमें जब बाप जीता था तो उसने बच्चेको कई बार बचाया था। वही बात बड़े होनेपर भी बच्चेके चित्तमें गड़-सी गयी है या यों कहिये कि वह स्वभावहीसे एक अदृश्य अवलम्बन ढूँढ़ रहा है। यूनानके प्रसिद्ध हकीम एपिकटिटूस (Epictetus) ने लिखा है कि अत्याचारी जिस रीतिसे प्राण-हरण करता है वह अत्यन्त सुगम है। कभी किसी अत्याचारीने किसीका गला छः महीनेमें नहीं काटा, परन्तु ज्वरग्रस्त होकर मरनेमें कभी-कभी बरसों लग जाते हैं। अत्याचारी अपने जीमें यह समझा करे कि हम प्रबल हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है। परन्तु कितने अत्याचारी कुत्तोंकी मौत मरे हैं। प्राण निकल जानेपर उनकी वह शेखी कहाँ गयी? उनका बल किसने हर लिया? जिन लोगोंने उनका अत्याचार अपनी आँखों देखा है वे कहते हैं कि अच्छा हुआ जो वह कुत्तोंकी मौत मरा। औरङ्गजेब धर्मान्ध था। उसे पूरा विश्वास था कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह इस्लाम-धर्मके

* जिन महाशयने कृष्णगीतावलीको नहीं पढ़ी है। उनके लिये पूरा पद लिखा जाता है—

कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी।
महावीर रनधीर पाँच पति; क्यों देहैं मोहि होन उघारी॥
राज समाज सभासद समरथ; भीषम द्रोण धर्मधुरधारी।
अबला अनघ अनवसर अनुचित; होत हेरि करिहैं रखवारी॥
यों मन गुनत दुसासन दुरजन; तमक्यो ताकि गहि दुहुँ कर सारी।
सकुचि गात गोवति कमठी ज्यों; हहरी हृदय बिकल भइ भारी॥
अपनेनिको अपनो बिलोकि बल; सकल आस बिस्वास बिसारी।
हाथ उठाय अनाथ-नाथ सों; 'पाहि पाहि' प्रभु पाहि पुकारी॥
तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति; आरतपाल कृपाल मुरारी।
बसन बेष राखी बिसेष लखि; बिरदावलि मूरति नरनारी॥

है; मन्दिर तोड़ना, काफिरोंका बध करना परम धर्म है, इससे मुझको खुदावन्दताला बिहिश्तमें सबसे ऊँचा स्थान देगा। परन्तु मरते समय उसकी मति किसने फेर दी और वह मरनेसे डर रहा है और कहता है—

हरचे बादाबाद मा किश्ती दराब अन्दाखतेम्

अर्थ—जो चाहे सो हो, हमने तो अपना बेड़ा पानीमें डाल दिया।

उसके इस वाक्यपर विचार कीजिये। उसको प्रतीत होने लगा कि ऐसी प्रजाको सताना, जिनका केवल धर्म उससे भिन्न था, अच्छा काम न हुआ और उसकी बिहिश्त-में परमपद पानेकी आशा सन्देहके आवर्त्तमें पड़ गयी। इसका क्या कारण हो सकता है? वही झूठा अवलम्ब।

जिनका अवलम्ब सच्चा है वे बड़े सुखसे संसारको छोड़ते हैं। जैसा कि बालिके विषयमें गोस्वामी तुलसी-दासने लिखा है—

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन-माल जिमि कंठते, गिरत न जानइ नाग॥

इसके पहले बालिका वाक्य भी सारगर्भित है—

सुनहु राम स्वामी सकल चलन चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी अन्तकाल गति तोरि॥

इसमें कृष्णगीतावलीकी 'गति' भी आ गयी है, जिससे यह ध्वनित है कि तुमको छोड़कर मेरा और कहीं ठिकाना नहीं है और प्रीति तो दोहेके प्रथम चरणमें है ही। इसी प्रीतिकी शुद्ध पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं।

इस प्रश्नपर पूरा-पूरा विचार करनेसे यह लेख बहुत बढ़ जायगा। इससे एक ही बात और लिखी जाती है। फिजियालोजी (Physiology) में मस्तिष्क तथा मेरु-दण्डमें अनेक केन्द्र (Centres) देखे गये हैं, जैसे सिरके मस्तिष्कके एक भागमें बोलनेका केन्द्र है। उस भागके ऊपर खोपड़ीमें कड़ी चोट लगी तो उस केन्द्रका काम बन्द हो जाता है और मनुष्य बोल नहीं सकता। परन्तु इसके आगे विज्ञान काम नहीं करता और वेदकी वही श्रुति सिद्ध होती है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अभी थोड़े दिन हुए इंग्लिस्तानके एक सुप्रसिद्ध अध्यात्म-विद्या (Spritualism) के पण्डित सर आलिवर लाजने कहा था कि जीवन-विज्ञानमें अनेकों प्रसंग ऐसे आते हैं जिसमें बुद्धि काम नहीं करती और यही मानना पड़ता है कि इस जीवको सञ्चालन करनेवाली कोई शक्तिविशेष है जिसका हम अनुमान ही कर सकते हैं।

इन्हीं दो बातोंसे अर्थात् मनुष्यका हृदय एक सच्चा अवलम्ब चाहता है और दूसरा यह कि विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी अनेक बातें ऐसी हैं जो बिना एक अदृश्य सञ्चालक शक्ति माने हुए समझमें नहीं आ सकतीं, हम ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं।

२—इसका पहला उत्तर तो प्रश्न (१) के उत्तर-के अन्तर्गत है अर्थात् मनुष्य, जिसका हृदय अवलम्बन माँगता है, निरालम्ब हो जायगा और उसका जीवन दुःखमय होगा। हमने बहुत-से नास्तिकोंके चरित पढ़े हैं—जैसे डेविड ह्यूम (David Hume) जो बड़े सज्जन और बड़े उदार थे। बौद्ध-धर्मको भी लोग नास्तिक मानते हैं। परन्तु इसके धार्मिक और विनयसम्बन्धी सिद्धान्त बहुत बढ़े-चढ़े हैं। श्रीराहुल सांकृतायनकी रची पुस्तक बुद्धचर्याकी भूमिकामें लिखा हुआ है कि बुद्धदेवके उपदेश दो प्रकारके थे। एक साधारण धर्म और दर्शनके विषयमें और दूसरे भिक्षु-भिक्षुणियोंके नियम। पहलेको पालीमें 'धम्म' (धर्म) कहा गया है और दूसरेको विनय। इस धर्ममें तथा मीमांसकोंमें कर्म प्रधान है। पर इसे कर्म कहो या नैयायिकोंके अनुसार कर्त्ता कहो, अथवा वेदान्तियोंके मतसे ब्रह्म मानो, हमारी समझमें केवल नाम-मात्रका झगड़ा है। एक अक्षर-शक्ति माननी ही पड़ेगी, चाहे उसे किसी नामसे पुकारो। साधारण जनता-में इतना आत्मबल नहीं होता कि डेविड ह्यूमकी भाँति अपना चरित्र शुद्ध रक्खें। अभी तो यह है कि हमारे पापोंको पुलिस या राजकर्मचारी नहीं देखते परन्तु ईश्वर तो देखता है। मनुने मनुष्यके शरीरमें जो ईश्वरका एक प्रतिबिम्ब आत्मा है उसको हमारे कर्मोंका साक्षी माना है। मनुस्मृतिमें न्यायाधीशका धर्म है कि गवाहको यह समझा दे कि झूठ मत बोलो। उसका एक वाक्य यह है—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्॥

आत्मा ही आत्माका साक्षी है, आत्मा ही आत्माकी गति है। ऐसा जानकर तुम मनुष्योंके उत्तम साक्षी अपनी आत्माका अपमान (झूठ बोलकर) न करो।



सेंट फ्रांसिस



सेंट लूई



कैथेरिन



एलिजावेथ



मेर्यो



टेरेसा

मृच्छकटिक नाटकमें एक नीच दास यह कह रहा है कि चन्द्रमा और सूर्य साक्षी हैं, यह सब उसी सिद्धान्तको सूचित कर रहा है कि हमारे कर्मोंका देखनेवाला एक अदृश्य पुरुष है जिसकी शक्तिको अगर हम समझें तो हमें पापकी प्रवृत्तिसे रोकता है। ऐसी शक्तिमें विश्वास न होनेसे साधारण जनता स्वच्छन्द हो जायगी, जिससे प्रजा-विप्लवकी सम्भावना है। यह हमारे जानमें बड़ी हानि है।

३–ईश्वर प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर-सिद्धिके सारे प्रमाण उपमान (Analogy) ही हैं और कोई-कोई दार्शनिक उपमानको प्रमाण नहीं मानते। ऐसे उपमानका एक उदाहरण हम रोमन दार्शनिक एपिकटिटसके वाक्यसे उद्धृत करते हैं—

'हमलोग संसारके कामोंमें ऐसे ही फँसे रहते हैं जैसे मेलेवाले मेलोंमें। मेलोंमें गाय-बैल बिकनेको आ रहे हैं। मेलेकी भीड़का अधिकांश क्रय-विक्रयके लिये आया हुआ है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो केवल मेला देखने आये हैं और यह पूछते हैं कि मेला कैसे लगा और क्यों लगा, किसने लगाया और किस प्रयोजनसे लगाया? इस संसारकी भी यही दशा है। इसमें कुछ तो पशु हैं, जिन्हें केवल अपने चारेकी चिन्ता है। थोड़े-से लोग यह जानना चाहते हैं कि संसार क्या है और इसका शासनकर्त्ता कौन है।

प्रश्न–क्या इसका कोई शासनकर्त्ता नहीं है?

उत्तर–बिना शासनकर्त्ता और निरीक्षकके किसी भी राज्य या कुलका प्रबन्ध एक दिन भी नहीं चल सकता और इतना बड़ा संसार केवल संयोग (Chance) से कैसे स्थिर रह सकता है? जब शासनकर्त्ताका अस्तित्व सिद्ध हो गया तो यह प्रश्न उठते हैं—

(१) इस शासनकर्त्ताके गुण क्या हैं?

(२) उसके शासनकी रीति क्या है?

(३) हमलोग जो उसके शासनमें रहते हैं, क्या हैं और किस प्रयोजनसे बनाये गये हैं?

ऐसे विचार उन्हीं थोड़े-से दर्शकोंके चित्तमें उठते हैं जो इस मेलेका तत्त्व जाननेका प्रयत्न करते हैं और मेलेसे लौट जाते हैं परन्तु और मेलेवाले ऐसोंपर हँसते हैं। पशुओंमें भी समझ होती तो वे भी उनपर हँसते जिनको दाना-घास छोड़कर और बातोंकी चिन्ता नहीं रहती है।'

ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु सबका खण्डन हो सकता है। इसीसे सांख्य-शास्त्रके आचार्य कपिलने कहा है कि—

ईश्वरासिद्धेः

संसारमें साधारणतः और भारतवर्षमें विशेष करके अनेक सन्त हो गये हैं। इसका एक उदाहरण महात्मा सूरकिशोर हैं। सूरकिशोरजी मिथिलेश-नन्दिनीजीको अपनी बेटी मानकर भावना करते थे। अयोध्या आते थे तो सरयूके उत्तर तटपर ठहरते थे, क्योंकि जामाताके नगरमें जाना निषिद्ध है। उनके पास सीताजीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति थी, जिसका वे नित्य शृंगार और पूजा करते थे। एक दिन फूलोंके बड़े सुन्दर गहने बनाकर आपने मूर्तिका शृंगार किया और ध्यानमग्न हो गये। भावना करते-करते कहने लगे कि हमने तो अपनी बेटी महाराज दशरथके घर यह समझकर ब्याही थी कि वे धनाढ्य हैं, पुत्रीको सोनेके गहने पहनायेंगे। इसी भावनामें वह अत्यन्त व्याकुल हो गये और रोने लगे। श्रीजी भावनामें उनको दर्शन देकर बोलीं कि 'बाबा, सोच न करो, यहाँ गहनोंकी कमी नहीं है, गरमीके कारण सोनेके गहने उतार दिये और फूलके गहने पहन लिये हैं।'

क्या हम इनको झूठा मक्कार और दगाबाज समझें? या पागल मानें? परन्तु और बातोंमें सन्तोंका पागलपन देख नहीं पड़ता। इनके उपदेश समाजकी स्थितिके लिये अत्यन्त लाभकारी होते हैं। हजारों इनको पूजते हैं। इनमें कितने पढ़े-लिखे विद्वान् भी होते हैं। हम यह माननेको तैयार हैं कि धर्मके नामसे बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं, परन्तु इसमें धर्मका क्या दोष है? दो चार बने हुए सन्त स्वार्थी लोभी लम्पट निकल गये तो इससे सारा सन्त-समाज कैसे कलंकित हो सकता है? धर्म वही है जिससे उपदेश ग्रहण करनेवालेके चित्तको शान्ति हो; दुःख सहन करनेकी क्षमता बढ़ जाय और ऐसे उपदेश सन्तोंहीसे प्राप्त हुए हैं। हम उनको मक्कार कैसे कह सकते हैं? ईश्वरके अस्तित्वका यह बहुत पुष्ट प्रमाण नहीं है, परन्तु ९ मतमें यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

फारसीमें एक पद्य प्रसिद्ध है—

मर्दाने खुदा खुदा न बाशन्द । लेकिन बखुदा जुदा न बाशन्द ॥

अर्थ—

हरिजन यदपि नहीं हरि अहहीं। हरिसे कबहुँ विलग नहिं रहहीं ॥

परन्तु भक्त और भगवन्त दोनोंकी महिमा उसीके समझमें आ सकती है जिसमें श्रद्धा और भक्ति दोनों हों। मैं अयोध्यावासी हूँ। मेरे माता-पिता दोनों वैष्णव थे और अयोध्याके प्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदासजीके शरणागत थे। ये महापुरुष पहले बादशाही सेनामें रावर्ट (Robert) साहबकी पल्टनके सिपाही थे। मैं इनका बहुत मुँहलगा था। मैंने इनसे पूछा 'बाबाजी, मैंने सुना है कि एक बार आपके बदले भगवान्‌ने पहरा दिया था।' बाबाजी कहने लगे— 'बच्चे, हम क्या जानें, किसीने हमारे बदले पहरा दे दिया होगा। हम तो दिन-भर अपनी बारकमें बैठे 'सीताराम सीताराम' जपते थे। कुछ भक्त सिपाही भी हमारे पास आकर बैठ जाते थे और घण्टों रामधुन होती थी। एक बार हमने अपनी पलटनके कप्तान साहबके पास जाकर सलाम किया और उनसे कहा कि 'हम आपकी नौकरी न करेंगे।' कप्तान बड़ा सज्जन था कहने लगा कि 'रघुनाथसिंह! हम तुमको जानते हैं, तुम बड़े भक्त हो। तुम जहाँ जी चाहे रहो, तुम्हारी तनख्वाह तुम्हारे पास भेजवा दी जायगी' बाबाजीने उत्तर दिया—'मनुष मजूरी देत हैं कैसे राखैं राम।' इसका अर्थ यह है कि 'हम आपके नौकर हैं, काम भी पूरा नहीं करते तब भी आप हमको खानेको देते हैं। जब हम भगवान्‌की सेवा करेंगे तो वह हमको कैसे भूखा रख सकते हैं?' इतना कहकर बाबाजी जगन्नाथपुरीको चले गये। वहाँसे लौटनेपर कुछ दिन चित्रकूट रहे। फिर अयोध्यामें वासुदेव घाटपर मौनीबाबाके शिष्य हुए और फिर यावज्जीवन श्रीअयोध्यासे बाहर नहीं गये, मेरे माता-पिताकी बाबाजीके चरणोंमें बड़ी भक्ति थी। मेरा नाम भी उन्हींका रक्खा हुआ है। मेरे जितने संस्कार हुए सब बाबाजीकी आज्ञासे किये गये। जब मुण्डनका समय आया, तो पिताजीने बाबासे निवेदन किया कि बच्चेका मूँडन करना चाहिये। बाबाजी बोले 'कल ले आओ नाई भी साथ लेते आना।' घर लौटकर जब मेरी मातासे कहा तो माता कहने लगी कि 'साइत भी पूछ ली है?' पिताजीने कहा कि 'बाबाजीकी आज्ञासे बढ़कर साइत नहीं हो सकती।'

दूसरे दिन हमलोग गनेशी नाईको साथ लेकर छावनीमें पहुँचे। बाबाजी उस समय सरयू-स्नान कर रहे थे। पिताजीको दण्डवत् करते देखकर अपने शिष्यसे बोले कि 'वह कटोरी उठा लाओ जिसमें हम शालग्राम नहलाते हैं।' शिष्यने कटोरी लाकर नाईको दे दी और उसने उसमें सरयू-जल भर लिया। बाबाजीने कहा 'अच्छा मूँड दो।' नाई पिताजीको देखने लगा और पिताजीने उसका अभिप्राय समझकर कटोरीमें कुछ रुपये डाल दिये। मुण्डन हो गया और हमलोग बाबाजीको दण्डवत् प्रणाम करके घर लौट आये। नाई इसके पीछे बहुत दिनोंतक जिया और सदा यही कहता रहा कि 'भइया, जबसे ई कटोरा मोरे घर आवा है, मोरे खायका नहीं घटा।'

इसके थोड़े ही दिन पीछे पाँचवें वर्षमें विद्यारम्भ निश्चय किया गया। हमलोग कायस्थ हैं, हमारे यहाँ मौलवी बुलाये जाते थे और फातिहा पढ़कर 'बिस्मिल्लाह' कराया जाता था। परन्तु पिताजीकी भक्ति उन्हें फिर बाबाजीके चरणोंमें खींच ले गयी और बाबाजीकी आज्ञासे पाटी बोरका लेकर हमलोग छावनी पहुँचे। बाबाजीने बोरकेमें सरयूजीका कीचड़ घोलवाया और कसेहरी (एक प्रकारकी कच्ची किलक) मँगवाकर उसकी लेखनी बनायी गयी। फिर महात्माजीने मुझे अपने पास बिठा लिया और पाटीके ऊपर विनयपत्रिकाका एक पद लिखा। बाबाजी बोलते जाते थे और मैं दोहराता जाता था। पद्य समाप्त होनेपर वही पाटी, बोरका और कलम मुझे दे दिये गये और मुझसे कहा गया कि इसी लेखनीसे पाटीपर एक रेखा खींच दो। बाबाजीका पकड़ाया हुआ कलम सत्तर बरस हो गये, अबतक मेरे हाथसे नहीं छूटा।

जब स्कूलमें नाम लिखा गया तो जब-जब परीक्षा होती थी बाबाजीसे आज्ञा ली जाती थी। ५ बरस स्कूलकी और ४ बरस कालेजकी पढ़ाईमें कभी विरला ही अवसर हुआ है जब दर्जेमें पहलेसे दूसरा नम्बर आया हो। अवधके स्कूलोंको मिलाकर जब परीक्षा हुई तो अवधमें सबसे ऊँचा नम्बर रहा। जब अवध और पश्चिमोत्तर देशके कालेजोंको मिलाकर इम्तिहान लिया गया तो उसमें भी अव्वल ही नम्बर रहा और जब बी० ए० की परीक्षा दी

गयी तो उस समय अकेला कलकत्ता विश्वविद्यालय था जिसमें लंका (कोलम्बो), रंगून, पंजाब, मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर देशके छात्र सम्मिलित थे, उसमें भी सबसे ऊँचा नम्बर मिला, जो इस प्रान्तके रहनेवालेको न पहले कभी मिला था और न उसके पीछे कभी मिला। कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें अबतक मेरी प्रतिष्ठा है और वहाँके सुप्रसिद्ध वाइस-चान्सलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय मुझे One of my most distinguised fellow graduates for whom I have the highest respect लिखा करते थे।

तीसरी घटना इसीके कुछ दिन पीछेकी है। जून १८७९ में मेरा विवाह हुआ। जब बरात समधीके द्वारपर पहुँची और पालकी उतारकर रक्खी गयी, उन्हीं बाबाजीके दो चेले फूलकी एक माला और दो बड़े-बड़े आम लिये हुए पिताजीके पास पहुँचे और बोले कि 'बाबाजीने बच्चेके लिये यह माला और दो आम भेजे हैं, पिताजी उनको लेकर मेरे पास आये। माला मेरे गलेमें डाल दी गयी और दोनों आम जैसे ही वैरागी मेरे हाथोंपर रखने लगा, पिताजी बोल उठे कि बाबाजीने तुझे इस विवाहसे दो पुत्र दिये। दोनों पुत्रोंमें ज्येष्ठ इस समय आबकारी कमिश्नरका परसनल असिस्टेन्ट है और उसका छोटा भाई रजिस्ट्रार डिपार्टमेण्टल इक्जामिनेशन्स है। इसके उपरान्त उनकी माताने त्रिवेणी वास लिया।

मुझे भी वैष्णवी शिक्षाका प्रभाव पद-पदपर अनुभूत हुआ है। संसार काँटोंका वन है। बड़े-बड़े संकट झेलने पड़े हैं परन्तु इस शिक्षाने कवचका काम किया है। छोटे मुँह बड़ी बात है, परन्तु अनेक अवसरोंपर ऐसा अनुभव हुआ है कि धनुष-बाण लिये हुए सरकार मेरे पीछे खड़े हैं और कहते हैं कि 'सावधान, जबतक तू धर्मपथपर चलेगा, तेरी रक्षा की जायगी और तू विचलित होगा तो तू भी मार खा जायगा।'

इस ७५ वर्षके जीवनमें अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनसे बचनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया गया है। साहित्यक्षेत्रमें ही एक महाशयने हमारा अपमान करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी। परन्तु हमने कभी उनकी और उनके साथियोंकी परवा न की। हमारे मित्रों और सहायकोंकी कमी नहीं थी परन्तु सबको रोक दिया और यही कहते रहे कि जो व्यर्थ द्वेष या ईर्षाके वस हमपर वार कर रहा है उसके प्रत्युत्तरमें कोई लाभ नहीं है, क्योंकि ईर्षा एक ऐसी अग्नि है जिसे मनुष्य आप ही उत्पन्न करता और आप ही उसमें भस्म होता है। और ईश्वरकी दयासे हमारी हानिको कौन कहे, लगातार उन्नति ही होती गयी। और हमें इस बातका सन्तोष है कि हम कुछ साहित्यजीवियोंकी सहायता कर रहे हैं। इसको हम ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें।

एक घटना हम और लिखना चाहते हैं। मुरादाबादमें जब हम डिप्टीकलक्टर थे तो एक मण्डली ऐसी बनी हुई थी जो कहती थी कि हमसे मिलकर रहो, जितनी चाहो उतनी रिश्वत लो। उस मण्डलीमें नित्य रण्डियोंका जलसा होता था। यह भी एक प्रलोभन था। परन्तु हमने अपने कर्त्तव्यके विचारसे उस मण्डलीमें सम्मिलित होना स्वीकार न किया। एक दिन २० वीं तारीखको सूर्य अस्त होने लगा जब हम कचहरीसे उठे। विक्टोरिया-फिटनकी सवारी थी। सईसने कहा कि टप (Hood) गिरा दिया जाय, हमने कहा नहीं, देर हो गयी है घर चलो। जब हम शहरमें पहुँचे तो तहसीलके फाटकके सामने एक दुष्टने एक लाठी चलायी। लाठीका वार टपपर पड़ा और उसकी उछलती चोट हमारी बायें कनपटीपर लगी। इसके कारण वहाँ सूजन हो गयी। टप न उठा होता तो खोपड़ी चूर हो गयी होती। हमारा गूजर चपरासी कोचबकसपरसे कूद पड़ा और उस दुष्टको पकड़कर कोतवाली ले गया। दूसरे दिन जॅट मजिस्ट्रेटने उसे आठ महीनेका कारावास दिया। हम जानते थे कि उसने यह काम किसकी प्रेरणासे किया है परन्तु ईश्वरको धन्यवाद देकर चुप रहे। इसे ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें?

आपने अपनी आँखों देखा है कि हमने अपने मकानमें एक कमरा रामायण-मन्दिर बना रक्खा है। उसमें अनेक प्रकारके रामायण-ग्रन्थ और रामचरित-सम्बन्धी चित्र हैं। हम उसीमें रहते हैं। चौकीके सामने श्रीरामजानकीका एक सुन्दर चित्र लगा हुआ है। उसके दर्शनसे लोचन तृप्त रहते हैं।

फारसीमें एक पद्य प्रसिद्ध है—

मर्दाने ख़ुदा ख़ुदा न बाशन्द। लेकिन ज़ख़ुदा जुदा न बाशन्द॥

अर्थ—

हरिजन यदपि नहीं हरि अहहीं। हरिसे कबहुँ विलग नहिं रहहीं॥

परन्तु भक्त और भगवन्त दोनोंकी महिमा उसीके समझमें आ सकती है जिसमें श्रद्धा और भक्ति दोनों हों। मैं अयोध्यावासी हूँ। मेरे माता पिता दोनों वैष्णव थे और अयोध्याके प्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदासजीके शरणागत थे। ये महापुरुष पहले बादशाही सेनामें रावर्ट (Robert) साहबकी पल्टनके सिपाही थे। मैं इनका बहुत मुँहलगा था। मैंने इनसे पूछा 'बाबाजी, मैंने सुना है कि एक बार आपके बदले भगवान्‌ने पहरा दिया था।' बाबाजी कहने लगे— 'बचे, हम क्या जानें, किसीने हमारे बदले पहरा दे दिया होगा। हम तो दिन-भर अपनी बारकमें बैठे 'सीताराम सीताराम' जपते थे। कुछ भक्त सिपाही भी हमारे पास आकर बैठ जाते थे और घण्टों रामधुन होती थी। एक बार हमने अपनी पल्टनके कप्तान साहबके पास जाकर सलाम किया और उनसे कहा कि 'हम आपकी नौकरी न करेंगे।' कप्तान बड़ा सज्जन था कहने लगा कि 'रघुनाथसिंह! हम तुमको जानते हैं, तुम बड़े भक्त हो। तुम जहाँ जी चाहे रहो, तुम्हारी तनख्वाह तुम्हारे पास भेजवा दी जायगी' बाबाजीने उत्तर दिया—'मनुष मजूरी देत हैं कैसे राखैं राम।' इसका अर्थ यह है कि 'हम आपके नौकर हैं, काम भी पूरा नहीं करत तब भी आप हमको खानेको देते हैं। अब हम भगवान्‌की सेवा करेंगे तो वह हमको कैसे भूखा रख सकते हैं!' इतना कहकर बाबाजी जगन्नाथपुरीको चले गये। वहाँसे लौटनेपर कुछ दिन चित्रकूट रहे। फिर अयोध्यामें वासुदेव घाटपर मौनीबाबाके शिष्य हुए और फिर यावज्जीवन श्रीअयोध्यासे बाहर नहीं गये, मेरे माता-पिताकी बाबाजीके चरणोंमें बड़ी भक्ति थी। मेरा नाम भी उन्हींका रक्खा हुआ है। मेरे जितने संस्कार हुए सब बाबाजीकी आज्ञासे किये गये। जब मुण्डनका समय आया, तो पिताजीने बाबासे निवेदन किया कि बच्चेका मूँडन करना चाहिये। बाबाजी बोले 'कल ले आओ नाई भी साथ लेत आना।' घर लौटकर जब मैरी मातासे कहा तो माता कहने लगी कि 'साइत भी पूछ ली है?' पिताजीने कहा कि 'बाबाजीकी आज्ञासे बढ़कर साइत नहीं हो सकती।'

दूसरे दिन हमलोग गनेशी नाईको साथ लेकर छावनीमें पहुँचे। बाबाजी उस समय सरयू स्नान कर रहे थे। पिताजीको दण्डवत् करते देखकर अपने शिष्यसे बोले कि 'वह कटोरी उठा लाओ जिसमें हम शालग्राम नहलाते हैं।' शिष्यने कटोरी लाकर नाईको दे दी और उसने उसमें सरयू-जल भर लिया। बाबाजीने कहा 'अच्छा मूँड़ दो।' नाई पिताजीको देखने लगा और पिताजीने उसका अभिप्राय समझकर कटोरीमें कुछ रुपये डाल दिये। मुण्डन हो गया और हमलोग बाबाजीको दण्डवत् प्रणाम करके घर लौट आये। नाई इसके पीछे बहुत दिनोंतक जिया और सदा यही कहता रहा कि 'भइया, जबसे ई कटोरा मोरे घर आवा है, मोरे खायका नहीं घटा।'

इसके थोड़े ही दिन पीछे पाँचवें वर्षमें विद्यारम्भ निश्चय किया गया। हमलोग कायस्थ हैं, हमारे यहाँ मौलवी बुलाये जाते थे और फातिहा पढ़कर 'बिस्मिल्लाह' कराया जाता था। परन्तु पिताजीकी भक्ति उन्हें फिर बाबाजीके चरणोंमें खींच ले गयी और बाबाजीकी आज्ञासे पाटी-बोरका लेकर हमलोग छावनी पहुँचे। बाबाजीने बोरकेमें सरयूजीका कीचड़ घोलवाया और कसेहरी (एक प्रकारकी कच्ची किलक) मँगवाकर उसकी लेखनी बनायी गयी। फिर महात्माजीने मुझे अपने पास बिठा लिया और पाटीके ऊपर विनयपत्रिकाका एक पद लिखा। बाबाजी बोलते जाते थे और मैं दोहराता जाता था। पद समाप्त होनेपर वही पाटी, बोरका और कलम मुझे दे दिये गये और मुझसे कहा गया कि इसी लेखनीसे पाटीपर एक रेखा खींच दो। बाबाजीका पकड़ाया हुआ कलम सत्तर बरस हो गये, अबतक मेरे हाथसे नहीं छूटा।

जब स्कूलमें नाम लिखा गया तो जब-जब परीक्षा होती थी बाबाजीसे आज्ञा ली जाती थी। ५ बरस स्कूलकी और ४ बरस कालेजकी पढ़ाईमें कभी विरला ही अवसर हुआ है जब दर्जेमें पहलेसे दूसरा नम्बर आया हो। अवधके स्कूलोंको मिलाकर जब परीक्षा हुई तो अवधमें सबसे ऊँचा नम्बर रहा। जब अवध और पश्चिमोत्तर देशके कालेजोंको मिलाकर इम्तिहान लिया गया तो उसमें भी अव्वल ही नम्बर रहा और जब बी० ए० की परीक्षा दी

गयी तो उस समय अकेला कलकत्ता विश्वविद्यालय था जिसमें लंका (कोलम्बो), रंगून, पंजाब, मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर देशके छात्र सम्मिलित थे, उसमें भी सबसे ऊँचा नम्बर मिला, जो इस प्रान्तके रहनेवालेको न पहले कभी मिला था और न उसके पीछे कभी मिला। कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें अबतक मेरी प्रतिष्ठा है और वहाँके सुप्रसिद्ध वाइस-चान्सलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय मुझे One of my most distinguised fellow graduates for whom I have the highest respect लिखा करते थे।

तीसरी घटना इसीके कुछ दिन पीछेकी है। जून १८७९ में मेरा विवाह हुआ। जब बरात समधीके द्वार-पर पहुँची और पालकी उतारकर रक्खी गयी, उन्हीं बाबाजीके दो चेले फूलकी एक माला और दो बड़े-बड़े आम लिये हुए पिताजीके पास पहुँचे और बोले कि 'बाबाजी-ने बच्चेके लिये यह माला और दो आम भेजे हैं, पिताजी उनको लेकर मेरे पास आये। माला मेरे गलेमें डाल दी गयी और दोनों आम जैसे ही वैरागी मेरे हाथोंपर रखने लगा, पिताजी बोल उठे कि बाबाजीने तुझे इस विवाहसे दो पुत्र दिये। दोनों पुत्रोंमें ज्येष्ठ इस समय आबकारी कमिश्नर-का परसनल असिस्टेन्ट है और उसका छोटा भाई रजिस्ट्रार डिपार्टमेण्टल इक्जामिनेशन्स है। इसके उपरान्त उनकी माताने त्रिवेणी वास लिया।

मुझे भी वैष्णवी शिक्षाका प्रभाव पद-पदपर अनुभूत हुआ है। संसार काँटोंका वन है। बड़े-बड़े संकट झेलने पड़े हैं परन्तु इस शिक्षाने कवचका काम किया है। छोटे मुँह बड़ी बात है, परन्तु अनेक अवसरोंपर ऐसा अनुभव हुआ है कि धनुष-बाण लिये हुए सरकार मेरे पीछे खड़े हैं और कहते हैं कि 'सावधान, जबतक तू धर्मपथपर चलेगा, तेरी रक्षा की जायगी और तू विचलित होगा तो तू भी मार खा जायगा।'

इस ७५ वर्षके जीवनमें अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनसे बचनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया गया है। साहित्यक्षेत्रमें ही एक महाशयने हमारा अपमान करने-में कोई कसर नहीं रक्खी। परन्तु हमने कभी उनकी और उनके साथियोंकी परवा न की। हमारे मित्रों और सहायकोंकी कमी नहीं थी परन्तु सबको रोक दिया और यही कहते रहे कि जो व्यर्थ द्वेष या ईर्षाके वस हमपर वार कर रहा है उसके प्रत्युत्तरमें कोई लाभ नहीं है, क्योंकि ईर्षा एक ऐसी अग्नि है जिसे मनुष्य आप ही उत्पन्न करता और आप ही उसमें भस्म होता है। और ईश्वरकी दयासे हमारी हानिको कौन कहे, लगातार उन्नति ही होती गयी। और हमें इस बातका सन्तोष है कि हम कुछ साहित्य-जीवियोंकी सहायता कर रहे हैं। इसको हम ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें।

एक घटना हम और लिखना चाहते हैं। मुरादाबादमें जब हम डिप्टीकलक्टर थे तो एक मण्डली ऐसी बनी हुई थी जो कहती थी कि हमसे मिलकर रहो, जितनी चाहो उतनी रिश्वत लो। उस मण्डलीमें नित्य रण्डियोंका जलसा होता था। यह भी एक प्रलोभन था। परन्तु हमने अपने कर्त्तव्यके विचारसे उस मण्डलीमें सम्मिलित होना स्वीकार न किया। एक दिन २० वीं तारीखको सूर्य अस्त होने लगा जब हम कचहरीसे उठे। विक्टोरिया-फिटनकी सवारी थी। सईसने कहा कि टप (Hood) गिरा दिया जाय, हमने कहा नहीं, देर हो गयी है घर चलो। जब हम शहरमें पहुँचे तो तहसीलके फाटकके सामने एक दुष्टने एक लाठी चलायी। लाठीका वार टपपर पड़ा और उसकी उछलती चोट हमारी बायें कनपटीपर लगी। इसके कारण वहाँ सूजन हो गयी। टप न उठा होता तो खोपड़ी चूर हो गयी होती। हमारा गूजर चपरासी कोचबकसपरसे कूद पड़ा और उस दुष्टको पकड़कर कोतवाली ले गया। दूसरे दिन जॅट मजिस्ट्रेटने उसे आठ महीनेका कारावास दिया। हम जानते थे कि उसने यह काम किसकी प्रेरणासे किया है परन्तु ईश्वरको धन्यवाद देकर चुप रहे। इसे ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें ?

आपने अपनी आँखों देखा है कि हमने अपने मकानमें एक कमरा रामायण-मन्दिर बना रक्खा है। उसमें अनेक प्रकारके रामायण-ग्रन्थ और रामचरित-सम्बन्धी चित्र हैं। हम उसीमें रहते हैं। चौकीके सामने श्रीरामजानकीका एक सुन्दर चित्र लगा हुआ है। उसके दर्शनसे लोचन तृप्त रहते हैं।

(२९) महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण

१—श्रीभगवान्‌को माननेसे मनुष्य परा-शान्ति और शाश्वत-स्थानकी प्राप्तिका अधिकारी होता है। प्रमाण यह है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (गीता)

२—श्रीभगवान्‌को न माननेसे मनुष्य इस संसारसे सर्वथा वञ्चित होता है तथा दूसरोंका अनिष्ट करनेमें प्रवृत्त होता है। प्रमाण—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ (गीता)

३—अनुमान और श्रुतिके द्वारा भगवान्‌का परोक्ष-ज्ञान होता है। उनकी कृपा होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा भी सर्वत्र उनकी सत्ताकी उपलब्धि हो सकती है। प्रमाण—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता)

न्यायचर्चेयमीशस्य श्रवणानन्तरागता।
उपासनैव क्रियते मननव्यपदेशभाक्॥
(न्यायकुसुमाञ्जलि)

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि। (छान्दोग्योपनिषद्)

४—जीवनकी प्रत्येक विपत्तिमें ही ईश्वरकी सत्ता और करुणा स्पष्टरूपमें प्रकाशित होती है। जैसे—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भागवत)

(३०) सर लल्लूभाई साँवलदास

१—जिन लोगोंने इस जगत्‌के कारण और प्रयोजन-को समझनेके लिये गम्भीरतापूर्वक विचार किया है उनको अर्वाचीन विज्ञानके द्वारा प्राप्त हुए परिणामों तथा अर्वाचीन और प्राचीन दार्शनिकोंके द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि विज्ञान और दर्शनकी अधिकार-सीमाके परे एक वस्तु है जिसकी क्रियाशीलता ऐसे दृश्योंमें व्यक्त हो जाया करती है जिनका रहस्योद्घाटन विज्ञानके द्वारा नहीं होता, तथा जिसका निर्णय तथा कथित वैज्ञानिक रीतिद्वारा नहीं किया जा सकता। उस शक्ति अथवा सत्ताके गुणोंका वर्णन वैदिककालीन ऋषियोंकी 'नेति नेति' के द्वारा सम्यक्‌रूपसे होता है। उस शक्तिको परब्रह्म, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, पुरुषप्रकृति, भगवान् अथवा दैव जिस नामसे मनुष्य चाहते हैं, पुकारते हैं। जब विज्ञान जगत्‌के रहस्य-के उद्घाटनमें असमर्थ होता है तब प्रायः हम सबके भीतर इसके समाधानकी उत्कण्ठा होती है, जो हमें किसी दैवी शक्तिमें विश्वास करनेके लिये विवश करती है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। मैं समझता हूँ कि ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेमें यह सर्वश्रेष्ठ प्रबल प्रमाण है।

४—उच्च ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न होने तथा सनातनी देवी और देवताओंके विश्वासमें पाले-पोसे जानेके कारण पाश्चात्य लेखकों तथा धार्मिक हिन्दू सुधारकोंके खण्डन-मण्डनके सम्पर्कमें आनेपर मेरे हृदयको गहरी ठेस लगी। आगस्टस् कौम्ट, हर्बर्ट स्पेंसर और हक्सलेके ग्रन्थोंको पढ़कर मेरी श्रद्धा मूलतः लड़खड़ा गयी। चार्ल्स ब्रैडला और श्रीमती एनी बेसेण्टके लेखोंने मेरी बीस वर्षकी अवस्थामें ही मुझे संशयवादी (Agnostic) बना डाला। यद्यपि मैं खुले तौरपर ईश्वरको अस्वीकार करता था परन्तु बहुधा अपने विज्ञानके अधूरे ज्ञानपर मैं निराश हो जाया करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे मुझे यह ज्ञान पड़ने लगा कि विज्ञान और अर्वाचीन दर्शन परम ज्ञानके द्वारको नहीं

खोलते, वैसे-ही-वैसे मेरी निराशा बढ़ती गयी। इसी सन्दिग्ध मानसिक दशामें मेरे श्रद्धास्पद गुरु श्रीरामकृष्ण भाण्डारकरने मेरे हाथमें William James की Verieties of Religious Experience नामक पुस्तक दी। यहींसे मेरे धार्मिक जीवनमें परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

विज्ञान और दर्शनके परे कोई शक्ति है, इस विश्वासका बीज मेरी बड़ी लड़कीकी दुःसाध्य बीमारीके अवसरपर मेरी स्वर्गीय पत्नीकी ईश्वरीय भावनाके द्वारा पल्लवित हुआ। मेरी दूसरी लड़कीने जब अपनी दीर्घकालीन और दुःसाध्य बीमारीमें अत्यन्त शारीरिक पीड़ासे दुःखित रहते हुए भी भक्ति और श्रद्धाके पदोंकी रचना की तो उसके प्रभावसे मेरी ईश्वरास्तित्वकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गयी। इसप्रकार जिस अभूतपूर्व श्रद्धासे मैं सम्पन्न हुआ, वह न तो मेरे बचपनकी श्रद्धा थी और न हमारे सहस्रशः देशवासियोंकी श्रद्धा थी, परन्तु मेरे प्रयोजनके लिये वह पर्याप्त थी। ईश्वरमें इसप्रकारकी आस्थाका पुनर्वार होना उस प्रभुकी महती दयाका एक चिह्न है। मैंने उसकी कृपा तथा रक्षाके अनेकों प्रसंगोंका अनुभव किया है, परन्तु वह मेरे व्यक्तित्वसे इतना घनिष्ठ सम्पर्क रखते हैं कि उनका उल्लेख न करना ही ठीक है।*

(३१) स्वामी श्रीअभेदानन्दजी, अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण वेदान्त आश्रम

१–ईश्वर हमारे प्राण एवं चेतनाका अनन्त स्रोत है तथा हमारे आत्माका आत्मा है। इसीलिये हमें उसके अस्तित्वमें विश्वास करना चाहिये। हम उसीके अन्दर रहते हैं, उसीके अन्दर चलते-फिरते हैं और उसीके अन्दर जीते हैं। परन्तु हमें ऐसे ईश्वरकी सत्तामें विश्वास नहीं करना चाहिये जिसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वह इस बाह्य जगत्‌को शून्यमेंसे उत्पन्न करता है और जो अपने धाममें सिंहासनासीन होकर पापियोंको नरककी ज्वालामें अनन्त कालतक जलाता है और पुण्यात्माओंको अक्षय स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति कराता है। इसप्रकारका ईश्वर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं विधि-निषेधोंके पोषक प्रचारकोंकी कल्पनामें ही रहता है।

ईश्वर वह महान् समष्टि है जिसके हम सारे जीव क्षुद्रातिक्षुद्र अंशमात्र हैं। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा क्षणिक एवं प्रातिभासिक बाह्य सत्ताओंके मूलमें रहनेवाला वास्तविक तत्त्व है। जिसप्रकार अंशका अस्तित्व अंशीके आधारपर है इसी प्रकार हमारी सत्ता ईश्वरके आधारपर है। इसप्रकारके ईश्वरको न माननेसे हमारा जीवन व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशामें हमारे लिये न तो सदाचारकी, न नीतिकी और न धर्मकी आवश्यकता रहेगी और हमारा जीवन पशुओंका-सा हो जायगा। दूसरे और तीसरे प्रश्नोंका उत्तर भी इसीके अन्दर आ जाता है।

४–मैंने सारे संसारका भ्रमण किया है। मैं जिस समय संसार-यात्राके लिये चला था, उस समय एक बिल्कुल अकिञ्चन संन्यासी था। मैंने लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, सैन्फ्रान्सिस्को तथा अमेरिकाके संयुक्तप्रदेश, कनाडा, अलास्का एवं मेक्सिकोके अन्यान्य नगरोंमें भाषण दिये अमेरिकाके संयुक्तप्रदेशमें धर्मोपदेशकके रूपमें २५ वर्ष व्यतीत किये, अटलान्टिक महासागरको सत्रह बार पार किया। जापान, चीन, एवं फिलिपिपाइन द्वीपमें भ्रमण किया और भारतवर्षको लौटनेपर मैंने पैदल हिमालयको पार किया और तिब्बतको गया और फिर २५ वर्षतक केदारनाथ, बदरीनाथ, गङ्गोत्तरी, जमनोत्तरी, अमरनाथ, द्वारका, रामेश्वर एवं अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करता रहा। मेरे जीवनके इस दीर्घकालमें हजारों ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे मेरा ईश्वरकी सत्तामें विश्वास दृढ़ होता गया और मुझे सर्वत्र उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वरकी दया-ही-दया दीख पड़ी। जिसे ईश्वरमें विश्वास होता है उसकी भगवान् स्वयं सारी अवस्थाओंमें रक्षा करते हैं। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छोड़नेके बाद शाश्वत-सुख एवं ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है।

---

* पहले और दूसरे प्रश्नोंका भी आपने उत्तर लिखा था, पर किसी कारणवश उसको प्रकाशित नहीं किया गया। पूज्य वयोवृद्ध विद्वान् लेखक महोदय कल्याणकी नीतिको समझकर क्षमा करेंगे। — सम्पादक

(३२) श्रीआनन्दघनरामजी

१-(क) क्योंकि, हमारे कल्याणके लिये प्रयत्न करनेवाले आप्त-पुरुषोंने ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये कहा है।

(ख) क्योंकि, हमें एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता है जो हमें कल्याण प्रदान करनेवाली, उन्नतिमें सहायता पहुँचानेवाली हो।

(ग) *सत्य और सामर्थ्यवान् शक्तिरूप ईश्वरका अस्तित्व* है, इसलिये हमें उसमें विश्वास करना चाहिये।

२-(क) ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करनेसे हम श्रेष्ठ और महान् विभूतियोंके वचनोंका उल्लङ्घन करनेवाले अहंकारी होकर पतितावस्थाको प्राप्त हो जायँगे।

(ख) हम कभी अपनी पूर्ण उन्नति नहीं कर सकेंगे।

(ग) *ईश्वर एक श्रेष्ठ शक्ति है, ऐसा विश्वास न होनेसे* उस शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता, और उसके सामर्थ्य और गुणका ज्ञान नहीं हुआ तो उसके साथ एकत्वकी प्राप्ति न हो सकेगी, इससे हम अज्ञानी, सामर्थ्यहीन, दीन, हीन और क्षुद्र ही बने रहेंगे।

३-(क) पूर्वकालीन पुरुषोंमेंसे अधिकाधिक लोगोंने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है।

(ख) योगशास्त्रकर्ता महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(१।२४)

अर्थात् क्लेश, कर्म, जन्म आदि अविद्यासे रहित उद्धार करनेमें समर्थ पुरुष ही ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)

अर्थात् उसमें असीम सर्वज्ञानका बीज है।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१।२६)

अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ और कालकी सीमाके परे हैं।

(ग) श्रुति भी कहती है—

ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः।

(निरालम्बोपनिषद्)

अर्थात् जब ब्रह्म अपनी शक्तिः प्रकृतिके योगसे सब लोकोंको उत्पन्नकर उनके अन्तरमें प्रवेश करके सबकी बुद्धि, इन्द्रिय आदिका नियन्त्रण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं।

(घ) श्रीमच्छंकराचार्य भी कहते हैं—

मायोपाधिस्सन्नीश्वर इत्युच्यते, अविद्योपाधिस्सन्नात्मा, जीव इत्युच्यते। (तत्त्वबोध)

अर्थात् ब्रह्म मायाकी उपाधिसे युक्त होकर ईश्वर कहलाता है तथा अविद्याकी उपाधिसे आत्मा अथवा जीव कहलाता है।

(ङ) श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

(१८।६१)

अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

(गीता १५।१७)

अर्थात् जो अविनाशी तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उनको धारण पोषण करता है वह ईश्वर है।

इसप्रकार आप्त-वाक्य शब्द-प्रमाण है। अब अनुमान-प्रमाण लीजिये। *जिसप्रकार वर्षाकी* अनेक बूँदें जिस अज्ञात खजानेसे निकलकर आकाशमें आ पृथ्वीपर गिरती हैं उन्हींको समुद्र कहा जाता है। ये बिन्दु उसके द्योतक होते हैं, उसी प्रकार यह अनन्त भूल जिससे निर्माण होते हैं वह खजाना ईश्वर ही है ऐसा अनुमानद्वारा व्यक्त होता है। अब प्रत्यक्ष-प्रमाणको लीजिये।

मैं हूँ। मैं ज्ञान, सुख और सत्ताका स्वयं अनुभव करता हूँ। मैं हूँ (अस्ति), इस विषयमें मुझे शङ्का ही नहीं है। मैं हूँ, इसकी ज्ञानस्फुरणा (भाति) मुझे ही होती है, मुझे सबसे अधिक प्रिय 'मैं' ही है। यही (सत् चित् आनन्द) सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्दका पूर्ण शक्तिस्थान अर्थात् ईश्वरका प्रत्यक्ष-प्रमाण है।

इस 'मैं' रूप सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान और सीमित आनन्दका अहङ्कार प्रेमके द्वारा जितनी अधिक सीमामें एकरूप होकर बढ़ता जायगा उतना ही अधिक ईश्वरीय सामर्थ्यका अनुभव करते-करते मनुष्य पूर्ण

ईश्वरीय सत्ताके अनुभवका आनन्द प्राप्त करेगा। यह प्रत्यक्ष-प्रमाणका शास्त्रानुकूल अनुभव प्रत्यक्ष है।

४—इस प्रश्नके उत्तरके लिये मेरी १५ वर्षकी अवस्थासे लेकर आजतक लगभग ७० वर्षके अनेक अनुभव मेरी डायरीमें दर्ज हैं, उनमें ५० डायरियाँ मेरे पास ऐसी हैं, जिनमें बड़े-बड़े लोगोंके अनुभव उनके हस्ताक्षरके साथ लिखे हुए हैं। तथापि उनमेंसे केवल ५ अनुभव संक्षेपमें यहाँ दिये जाते हैं।

(क) मेरे पिताजी छोटी अवस्थासे ही पुराण आदि ग्रन्थ बाँचा करते थे। जब वे पोथी बाँचने लगते तो मैं उनके पास बैठकर सुना करता था। परन्तु पीछे जब मैं शिक्षा प्राप्त करने लगा और कुछ साहित्यका मैंने अध्ययन किया तो उन कथाओंके विषयमें मुझे संशय होने लगे। ऐसी स्थितिमें ही मैं सन् १८८३ ई० में चित्रणी गाँव अपने ननिहालमें गया। एक दिन मैं गाँवके बाहर ऊसर भूमिमें जाकर बैठा था कि मुझे स्पष्टतः यह वाणी सुन पड़ी कि 'तू छः महीनेके अन्दर मर जायगा।' मैंने तभीसे पाठशाला छोड़ दी और पढ़ना-लिखना भी छोड़ दिया तथा शिव-मन्दिरमें बैठकर दिन-रात भगवान्‌के ध्यानमें बिताने लगा। छः महीने बीतनेपर मुझे सन्तोष हुआ और तब इन्द्रियातीत ज्ञानका भी मुझे अनुभव होने लगा। सन् १८८४ के सितम्बरमें मेरे पिताका अचानक देहान्त हो गया। स्कूलमें मेरी शिक्षा मराठी पाँचवें दर्जेतक हुई थी तथा अंगरेजी दूसरी पुस्तकसे मैंने दस पाठ पढ़े थे। सन् १८८५ में मैं पटवारीगिरीकी परीक्षा पास करके पटवारीका काम करने लगा। किसी सुयोग्य सद्गुरुद्वारा मन्त्र लेनेकी इच्छा मेरे मनमें उत्पन्न होने लगी, परन्तु खोजनेपर मुझे कोई योग्य गुरु न मिला। अचानक ता० ६-८-९० को एक पुरुषने स्वप्नमें मुझे मन्त्रोपदेश किया और अपनेको चैतन्य-सम्प्रदायका अनुयायी बतलाकर परानन्द और ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ पढ़ने तथा नागपुरकी ओर साक्षात्कार होनेकी बात कहकर चला गया। जगनेपर मैंने बहुत दिनोंतक उन पुस्तकोंकी तलाश की। अन्तमें एक दिन एक बनियेके रद्दी कागजोंके बोरेमें खोजनेपर मुझे अचानक वे ग्रन्थ मिल गये और उन्हें पाकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ। फिर पीछे १९—१२—९३ ई० के दिन नागपुरकी ओर नादगाँव नामक ग्राममें स्वप्नमें दर्शन दिये हुए पुरुषके थोड़े समयके लिये मुझको दर्शन हुए और उन्होंने मुझे स्वप्नकी याद दिलायी और फिर प्रसाद देकर वह कहीं निकल गये।

(ख) ता० ८—१२—९० ई० की बात है, मैं तासगाँव-में पटवारीका काम करता था। एक दिन कलक्टर मि० कैंडीने मुझे बाँधोंकी और फस्ल जाँच करनेके लिये बुलाया। वह काम किसी दूसरे पटवारीद्वारा हुआ था, उसके विषयमें मुझे कुछ जानकारी न थी, उस समय जो मैंने साहबके साथ स्पष्ट और खरी बातें कीं तो उसे मुझपर गुस्सा हो आया। चिटनवीस बलवन्त भास्कर खाँडेकरने उसे वस्तुस्थितिको खूब समझा दी थी, तथापि वह एक पत्थरको ठोकर मारकर मेरी ओर बेंत उठाकर लपका, मैं प्रभु-स्मरणमें ज्यों-का-त्यों शान्त और निर्भय खड़ा था। मेरे समीप आकर उसने मेरे ऊपर उठाये हुए बेंतको वापस लिया और क्रोधित होकर चपरासीको बुलाकर उससे कहा—'उठाओ पत्थर, सिरपर दो।' चपरासीने पत्थर उठाकर अपने सिरपर रख लिया। साहेबने फिर एक-दो बार उसे 'सिरपर दो, सिरपर दो' कहा; और चपरासीने दोनों ही बार उत्तर दिया—'ले लिया है साहब!' तब साहबने उसे दो बेंत लगाये और कहा 'फेंक दो' चपरासीने पत्थर फेंक दिया। इसप्रकार साहेब-के 'दो' शब्दको उसने 'लो' समझा और बेंत मेरे ऊपर न लगकर उसके ऊपर लगे!

(ग) ता० ४-९-९७ की बात है। मैं वेंदरी गाँवमें पटवारीके कामपर था। कागजात देखनेके लिये सांगलीके नायब-पदाधिकारीने मुझे बुलाया। उनके क्लर्कने कागजों-को देखनेके लिये मुझसे कुछ रुपये माँगे और बिना रुपये लिये कागजोंको देखनेसे इनकार कर दिया जिससे मैं लौट न सका। अन्तमें मैंने एक दिन सवेरे नायब-पदाधिकारी-के घरपर जाकर गुप्तरूपसे उससे सब बातें कह डालीं। दोपहरके वक्त कचहरी जाकर उसने मुझे बुलाया और सरकारी तौरपर मुझसे जवाब तलब किया और कहा कि 'जो कुछ तुमने मुझसे कहा है उसे सिद्ध करो, नहीं तो मेरे आफिसको बदनाम करनेके कारण तुमपर दावा किया जायगा।' मैंने कहा—'कोई गवाह तो मेरे पास नहीं है, उस क्लर्कको ही बुलाकर जवाब तलब कर लीजिये।' क्लर्कने उलटे मुझपर ही दोषारोपण किया और कहा कि, 'यही जल्दी लौटनेके गर्जसे कागजातको देखनेके लिये मुझे दो रुपये दे रहा था परन्तु मैंने क्रम आनेपर देखनेका वादा

किया था, इस बातको शिरगाँवका पटेल जानता है।' यह सुनकर मैंने उसकी ओर देखकर जोरसे पूछा—'क्या आपने मुझसे रुपये नहीं माँगे थे?' मेरे शब्दोंको सुनते ही वह बेहोश होकर जमीनपर गिर पड़ा। डा० गोंडबेको बुलाने चपरासी दौड़े, उनके आनेके पहले ही वह होशमें आया और अपने रुपये माँगनेके अपराधको स्वीकारकर उसने क्षमा माँगी। इसप्रकार उस प्रसङ्गमें प्रभुने मुझे बचाया।

(घ) ता० ११-९-१९०१ को बात है। प्लेगके कारण हमलोग वासवीके खेतोंमें झोंपड़ियोंमें रहते थे तथापि मैं प्रतिदिन सौ-पचास प्लेगके रोगियोंको देखकर उन्हें ओषधि दिया करता था। इसी बीच मुझे और मेरी स्त्रीको बुखार चढ़ आया और तीन दिनतक हम पड़े रहे। डा० माधवराव सोनी रोज आकर हमें देख जाया करते थे। एक दिन मैं बिल्कुल बेहोश हो गया। घरके लोग सब काम छोड़कर मेरे पास बैठ गये। मेरा मानसिक जप चल रहा था। एक बजेके बाद तो मुझे कुछ भी होश न रहा। केवल मनोमय जपका स्मरण हो आता था। करीब तीन बजेके समय मेरी बायीं ओर एक काली और भयङ्कर बड़ी आकृति आकर बैठ गयी और मेरी पीठके नीचेसे हाथ डालकर उसने मुझे उठाना चाहा। इस समय मेरी आँखें मुँदी हुई थीं परन्तु वह स्वप्न नहीं था, इसी बीच आकाशमें एक लम्बी-सी सूक्ष्म आकृति दीख पड़ी और एक सूक्ष्म आवाज सुनायी देने लगी। वह आकृति मेरे समीप आने लगी और आवाज़ भी कुछ बुलन्द होने लगी। यह आकृति उस काली आकृतिकी अपेक्षा बड़ी थी, समीप आते ही वह पूर्णतया दीख पड़ने लगी। उसका शरीर उजला और मुँह लाल था, ऐसी श्रीहनूमान्‌जीकी मूर्तिको मैंने देखा। वह उस काली आकृतिको पकड़कर आकाशमें उड़ गयी। तब मुझे बाहरी होश हुआ, मुझमें ताकत आ गयी और मैं कपड़े पहनकर बाहर चला गया। लोगोंने कहा कि इसे सन्निपात हो गया है, बाहर न जाने दो; परन्तु मैंने सबको अपने होशमें आनेका विश्वास दिलाया। मैं दो मील दूर डा० सोनीके पास गया, उन्होंने देखा तो मुझे १०३° बुखार था। वहाँसे मैं और वह साथ-साथ मेरी झोंपड़ीको आये। मैं तो उसी क्षण अच्छा हो गया और मेरी स्त्री दूसरे दिन चंगी हुई।

(ङ) ता० २६-११-१९१७ ई० की बात है। मैं नित्य नियमके अनुसार आनन्दपूर्वक काम-धन्धेमें लगा हुआ 'राम-नाम' स्मरण कर रहा था, उसी समय कुछ मित्र मुझसे मिलनेके लिये आये। बम्बईसे आये हुए एक स्नेहीके दिये हुए फलको मैं अपने मित्रोंको ईश्वरार्पण-बुद्धिसे बाँटकर अन्तमें अपने मुँहमें दे ही रहा था कि इतनेमें मेरे सामने अन्तरिक्षमें नीलवर्ण प्रकाशमय वस्त्राभरणोंसे युक्त पैरोंमें पैंजनी पहने मुरली बजाती और नृत्य करती हुई एक वित्तेकी एक सजीव मूर्ति दीख पड़ी। अकस्मात् प्रकट हुई उस दिव्य मूर्तिको देखकर मैं चकित हो गया। मेरे नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर आये, शरीरमें रोमाञ्च हो गया और मैं तल्लीनभावसे उसकी ओर देखने लगा, वह मूर्ति वैसे ही नाचती हुई ऊपर उठती थोड़ी ही देरमें अन्तर्हित हो गयी। मैं उसके स्मरणके आनन्दमें संसारको भूलकर वहीं स्तब्ध हो गया। बोलते-बोलते अचानक मेरी ऐसी अवस्थाको देखकर मित्र-मण्डली विस्मित हो गयी। एक आदमी डाक्टरको बुलाने गया। डाक्टरके आनेके पहले ही मैं उनके साथ आनन्दपूर्वक बातें करने लगा और मैंने इस चमत्कारको कह सुनाया।

इसप्रकार मानवी शक्ति तथा मानवी प्रयत्नके परे अनेक प्रकारके अनुभव प्रदानकर प्रभु मेरे मनको विकसितकर सदा सर्वदा आनन्दपूर्वक हरि-स्मरण कराते हुए परदुःख निवारण तथा ज्ञानदानके कार्यमें जीवन बितानेके लिये योग्य सहायता करते रहते हैं।

(३३) रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०, एल-एल० बी०

१-२—ये दोनों प्रश्न मेरी समझसे व्यर्थ हैं। ईश्वर हैं तो यह प्रश्न ही नहीं बनते। आप यदि चाहें तो यह मान सकते हैं कि जल, आकाश अथवा सूर्य कुछ भी नहीं हैं और यह भी मान सकते हैं कि इन सबकी सत्ताको न माननेमें ही लाभ है। परन्तु आपके न माननेपर भी इनकी सत्ता अवश्य है। इसके अतिरिक्त अपने लाभके लिये झूठी बातपर विश्वास करना बुद्धिमानीका काम नहीं।

यदि हमें यह निश्चय है कि ईश्वर है तो फिर आपके मानने और न माननेसे कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

३–यह प्रश्न है कि ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये आपके पास क्या प्रमाण हैं बिल्कुल ठीक है। ईश्वरकी सत्तामें मुख्य तीन ही प्रमाण हैं, पहला अनुमान, दूसरा शब्द और तीसरा प्रत्यक्ष। हमारे जो स्वप्न सच्चे निकलते हैं उनके द्वारा ईश्वरकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन सब प्रमाणोंका विचार मैं अपने निबन्धमें कर चुका हूँ।

४–इस प्रश्नमें आप दो बातोंको भूलसे एकमें ही रख देते हैं। आप मुझसे यह चाहते हैं कि मैं ईश्वरकी सत्ताके प्रमाणरूपमें अपने कुछ और अनुभव बताऊँ, परन्तु आप साथमें 'दया' को भी जोड़ देते हैं। दयाका प्रश्न बिल्कुल भिन्न है। पाश्चात्य विद्वानोंके मतमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवं दयासागर हैं, किन्तु वेदान्त-दर्शनको यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। महर्षि बादरायणने एक सूत्रमें कर्मके सिद्धान्तको माननेके लिये 'वैषम्यनैर्घृण्य-प्रसंगात्' इस कारणका निर्देश किया है। किन्तु हमारे सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको उसके कर्मके अनुसार ही शुभाशुभ फल मिलता है। इस कर्मके सिद्धान्तको न माननेसे ईश्वरके अन्दर विषमता (वैषम्य) एवं निर्दयता (नैर्घृण्य) का दोष आता है 'हिन्दुधर्माची तत्त्वे' इस विषयपर मैंने जो कोई निबन्ध लिखे हैं तथा व्याख्यान दिये हैं उनमें मैंने इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मैं ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणमें अपने एक स्वप्नका उल्लेख करूँगा। वह इसप्रकार है—अपनी 'हिन्दु-भारतका अन्त' नामक पुस्तकके मुद्रण-व्ययमें कुछ कमी पड़नेके कारण श्रीमान् महाराजा साहेब काश्मीरको इसे अर्पण कर उनसे कुछ द्रव्य प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मैं श्रीनगर गया और वहाँ आठ-दस दिन ठहरकर इसके लिये उद्योग करता रहा, किन्तु सफल नहीं हुआ। मेरे मित्र, जिनके यहाँ मैं ठहरा था, मुझसे कहने लगे कि तुम कुछ दिन और ठहरो और काश्मीरकी सैर करो। वे मुझे किसी प्रकार भी जाने नहीं देते थे। एक दिन रातको प्रातःकालके करीब मैंने स्वप्नमें एक आवाज़ सुनी 'अरे, वैद्य! तू यहाँ क्यों पड़ा है, दक्षिणको लौट जा।' दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक जरूरी तार मिला। बम्बईके निकट शासवने नामक ग्राममें एक वैश्याश्रम है। यह तार उसके मुख्याध्यापकका भेजा हुआ था। उसमें लिखा था कि 'अमुक तिथिको इस आश्रमका वार्षिक समारम्भ है इसके लिये आप अध्यक्ष चुने गये हैं अतः अवश्य पधारिये।' इस तारको पढ़कर मेरे मित्रको आज्ञा देनी ही पड़ी। बस, फिर क्या था, मैं तुरन्त वहाँसे चल पड़ा। लौटती बार मैं इन्दौर होकर आया। वहाँ मेरे एक मित्र सरदार कीबे साहब हैं, मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझसे पूछा कि आप काश्मीर क्यों गये थे? मेरे कारण बतलानेपर वे बोले 'आप इतनी दूर क्यों गये? मैं आपको इस हिन्दी पुस्तकके मुद्रणके लिये सरकारी ग्राण्टसे एक हजार रुपये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने रुपयोंका चेक भी उसी समय लिखकर दे दिया। मैं अपने इस स्वप्नपर आश्चर्य करने लगा और उस समय मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि ईश्वर केवल हैं ही नहीं, किन्तु वे सबके अन्तःकरणमें रहकर 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' इस वचनके अनुसार सारे संसार-चक्रको यन्त्रवत् चला भी रहे हैं।

(३४) डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०

१–क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना हमारा आन्तरिक स्वभाव है। देखा गया है कि मनुष्य जन्मसे ही ईश्वरमें विश्वास करता है। बिना किसीके उपदेशके वह एक ऐसी वस्तुमें विश्वास करता है जो स्वयमेव अज्ञेय है तथा उसके नियमन और बुद्धिके परे है। कोई जन्मसे नास्तिक नहीं होता बल्कि बनाया जाता है। वह परिस्थितियोंसे निर्मित होता है तथा अपने अधूरे निर्णय (विकृत निगमन) के द्वारा ईश्वरकी यथार्थ भावना करनेमें असमर्थ होता है। हम अपने अस्तित्वके समान ही ईश्वरके अस्तित्वका निषेध नहीं कर सकते। यद्यपि वह हमारी तर्कशक्तिकी पहुँचसे बहुत दूर है तथापि हमें उसकी उपस्थितिका पग-पगपर अनुभव होता है।

२–ईश्वरमें विश्वास न करनेसे यही हानि होती है कि हम एक ऐसे तत्त्वको जान-बूझकर भुला देते हैं जो हमें कभी नहीं भूलता। यह तो मार्गमें पड़े हुए ठोकर देने-वाले पत्थरोंका विचार न करके आँख मूँद करके दौड़नेके समान है। बल्कि साथ ही ईश्वरके दयालु स्वरूपके प्रति श्रद्धाकी अवज्ञा करनेसे हम कृतघ्न बन हैं,

स्वयमेव जीवनके इस भ्रम-जालमें निरन्तर सहायता करनेवाले एक मित्रकी सहायतासे लाभ उठानेसे वञ्चित रह जाते हैं।

३-ईश्वरकी भावना केवल अन्तर्ज्ञानसे होती है। ईश्वरसे एक ऐसी वस्तुका भान होता है जिसमें प्रत्येक वस्तुका समावेश हो जाता है। वह एक तत्त्व है जो आत्म और अनात्म—समस्त दृश्योंकी व्याख्या करता है। वस्तु स्वभावके अनुरूप, हमारी समस्त सत्ताके उसके अन्तर्गत होनेके कारण वह हमारी शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी शक्तिका विषय नहीं बनाया जा सकता। बुद्धिके द्वारा उसे खोजना, पृथ्वीपर रहकर इसके चक्करके देखनेकी चेष्टा करनेके समान है। यही कारण है कि बुद्धि उसे पूरा-पूरा नहीं समझ पाती और संशयके लिये कुछ-न-कुछ अवसर रह ही जाता है। परन्तु हम उसका अनुभव कर सकते हैं और यह अनुभव ही उसके *अस्तित्वमें विश्वास* करनेका दृढ़ आधार है। तथापि हम कुछ हेतु उपस्थित करते हैं जिनसे हमारा समाधान हुआ है तथा जो औरोंका भी समाधान कर सकते हैं।

(क) ईश्वरके किसी रूपमें विश्वास करना, चाहे वह रूप कैसा ही भद्दा क्यों न हो, हमारा *जन्मजात स्वभाव* है। देखा गया है कि अत्यन्त असभ्य जातिका मनुष्य भी किसी शक्तिमें विश्वास करता है जिसे वह अदम्य समझता है और इसलिये उसको अपने ही भद्दे ढंगसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है। सुसभ्य पुरुषके मनमें ईश्वरके दूसरे ही स्वरूपका भान होता है जो सृष्टिके कल्याणके लिये सदा ही सावधान और चैतन्य रहता है। सुसभ्य पुरुष उसकी पूजा, उसकी महिमा और दयाका गुणगान करता हुआ उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। इस-प्रकार ईश्वरके दो स्वरूप हैं—भयानक और दयालु। पहले स्वरूपसे वह एक निरंकुश शासकके समान है, जिसके आदेशको पालन करना ही होगा। कोई भी, यहाँतक कि जड़-पदार्थ भी दण्डमुक्त हो उसके आदेशोंकी अवहेलना करनेका साहस नहीं कर सकते। सूर्य, तारे, नक्षत्र, अग्नि, वायु और जल सभी नतसिर हो उसके आदिष्ट पथका अनुसरण कर रहे हैं। दूसरे स्वरूपमें वह श्रद्धेय पिता, स्नेही मित्रके समान है, जो महान्-से-महान् और तुच्छ-से-तुच्छ प्राणीकी समानरूपसे सुधि लेता है। वह शिशुके उत्पन्न होनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें दूध उत्पन्न कर देता है, तथा जगत्‌को सब प्रकारसे सौम्य और सुसज्जित बना प्राणियोंके निवास योग्य बनाता है। यह दो स्वरूप जो जगत्‌के कोने-कोनेमें अभिव्यक्त दीख पड़ते हैं प्रायः सार्वभौम ईश्वर-विश्वासके मूल आधार हैं।

(ख) सभी युगों और देशोंके महात्माओंने, जिन्हें तत्कालीन पुरुषोंने बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिसे अपनेसे बहुत ही श्रेष्ठ समझा था, ईश्वरमें विश्वास तथा उसकी दया और न्यायमें श्रद्धा रखनेकी शिक्षा दी है। एवं उनमें किसी अन्य प्रवृत्तिका आरोपण नहीं किया गया है। उनमें भ्रमका तो आक्षेप ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि भ्रम या तो अत्यन्त भयसे उत्पन्न होता है या उत्कट अभिलाषासे। क्योंकि किसी मनुष्यका असत्‌के पीछे दौड़ना सम्भव नहीं है, और एक सच्चे पुरुषमें, जो सांसारिक ऐश्वर्यकी बिल्कुल ही परवा नहीं करता, अत्यन्त भयका होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिये यह *परिणाम निकालना युक्ति*-संगत है कि उन महात्माओंने अपने श्रेष्ठ अन्तर्ज्ञानके द्वारा, सांसारिक कार्यकलापकी क्षुब्धतासे मुक्त हो ईश्वरका प्रत्यक्ष अनुभव किया और दूसरोंको जो इससे वञ्चित थे, अपने निजी विश्वासद्वारा प्रोत्साहित करनेकी चेष्टा की।

(ग) यह जगत् प्रत्यक्षरूपसे *सामञ्जस्य और असामञ्जस्य*का सम्मिश्रण है। रचना और विनाश, अमृत और विष, जीवन और मृत्यु, प्रकाश और अन्धकार इस संसारमें साथ-साथ चलते हैं। तथापि संसारका प्रवाह चला जाता है, और विभिन्नतामें एकता, असामञ्जस्यमें सामञ्जस्य, क्षणभंगुरतामें नित्यता दीख पड़ती है। वह कौन-सी शक्ति है जो समस्त अव्यवस्थित शक्तियोंको नियमनमें रखती है, तथा समस्त भ्रमात्मक दृश्योंमें एक चरम सत्यका निश्चय कराती है? हम इस जगत्‌में प्रत्येक वस्तुको अपने स्थानमें पाते हैं, प्रत्येक वस्तुको अपने पूर्णरूपमें पाते हैं, प्रत्येक वस्तुएँ परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियामें लगी हुई अपने निजी ढंगसे विकसित हो रही हैं, मानो सबका लक्ष्य एक ही है। मनुष्यके मनमें इससे श्रेष्ठ रचनाका चिन्तन नहीं हो सकता। वह कौन है जो इसप्रकार छोटे-से-छोटे अणुओंके द्वारा खेल रहा है? इसे कोई यदृच्छा, प्रकृति अथवा अनन्त कालकी क्षुब्धता ही क्यों न कहे, हम तो इसे *ईश्वर* कहेंगे। केवल नाममें मतभेद हो सकता है, तथ्यमें सब ही एक मत हैं।

(घ) हममेंसे प्रत्येक अनुभव करते हैं कि हम हैं, और

अपने निजके अस्तित्वमें अपने विश्वासका आधार केवल अपनी चेतना होती है। अर्थात् इस अनुभवका विषय एक अद्वैत तत्त्व है जो शरीरसे बिल्कुल ही भिन्न है, यह जीवनकी विभिन्न परिवर्तनशील अवस्थाओं—बाल्य, युवा, वृद्धावस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति प्रभृति सभीके अन्तर्गत अनुभूतिकी एकताके द्वारा तथा उस स्मृति-शक्तिके द्वारा सिद्ध होता है जो जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंको एक सूत्रमें ग्रथित करती है। हम जानते हैं कि हमारा शरीर भौतिक है, क्योंकि वह द्रव्योंके द्वारा अर्थात् रज-वीर्यके द्वारा निर्मित होता है, द्रव्योंके द्वारा पोषण किया जाता है, और द्रव्योंकी कमीके कारण विनाशको प्राप्त होता है। हम यह भी जानते हैं कि समस्त भौतिक द्रव्य जड होते हैं, इसलिये किसी प्रकारके भी विनिमय अथवा मिश्रणसे द्रव्यके द्वारा चेतना नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि यह माना जाता है कि द्रव्यात्मक विभिन्न तत्त्वोंके मिश्रणके द्वारा हम केवल उनमें किसी विशिष्ट रीतिसे सहयोग करनेके लिये प्रेरित कर सकते हैं परन्तु इससे हम ऐसे किसी पदार्थको उत्पन्न नहीं कर सकते जिसका उनमें सर्वथा अभाव है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि जिसे हम आत्मा या जीव कहते हैं वह सत्ता है, परिणाम नहीं है। इसलिये वह अनादि, अनन्त और नित्य है। तत्त्वतः शक्तिस्वरूप होनेके कारण, जो केवल अपनी उपस्थितिसे द्रव्यके रचनात्मक गुणोंको इसलिये प्रेरित करता है कि अपने आश्रयके लिये एक अस्थायी जीवन-गृह बना और उसकी रक्षा कर सके, वह तत्त्व एक, तथा समस्त प्राण-धारियोंमें एक ही रूपमें है। उष्णता अथवा विद्युत्के समान प्रत्येक वस्तुओंमें इसे अन्तर्भूत मानना पड़ेगा जो उनके समान ही स्वयमेव कुछ अधिष्ठानोंमें जिसे हम सजीव कहते हैं अभिव्यक्त होता है, तथा निर्जीव पदार्थोंके द्वारा उनके आन्तरिक गुणोंका निर्धारण करते हुए क्रिया-शील होता है। इस सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्को हम ईश्वर कहते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि क्या द्रव्य (प्रकृति) पूर्णतया आत्मा (पुरुष) से भिन्न है अर्थात् क्या ज्ञातासे ज्ञेय तत्त्वतः अलग है? यदि अलग है तो ज्ञानका प्राप्त करना कैसे सम्भव है, क्योंकि ऐसी कोई निर्दिष्ट प्रणाली नहीं जिससे एकका प्रवेश दूसरेमें हो सके? यह देखा जाता है कि द्रव्यके समस्त गुणोंका वर्गीकरण केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द अर्थात् उन तत्त्वोंमें हो सकता है जो क्रमशः हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं। हमारी छठीं ज्ञानेन्द्रिय मन है जो इन पाँचोंका सञ्चालन करता है, तथा इनके अनुभवोंको विचारसे संयुक्त करता है। यह माना जाता है कि गुण विशेषतः जब वे इन पाँच तत्त्वोंके रूपमें रहते हैं तब उस द्रव्यसे जिनसे उनका सम्बन्ध रहता है अलग नहीं किये जा सकते, तथा उनसे जो संवेदन हमारी तत्तद् इन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं वह इन दोनों प्रकारके तत्त्वोंके सादृश्यके प्रत्यक्ष रूप हैं। दूसरे शब्दोंमें ज्ञानके साधन, स्वयं ज्ञान और ज्ञेय एक ही श्रेणी तथा एक ही प्रकारके हैं। मन जो उन्हें एकत्रित और संयुक्त कर सकता है उसमें उनके ग्रहण करनेकी शक्ति आवश्यक है और इस बातका बोध आत्मामें ही होना चाहिये जो केवल अपनी उपस्थिति-मात्रसे मनमें जीवन प्रदान करता है। इसप्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञाता और ज्ञेयके इन दो विभिन्न स्वरूपोंमें केवल एक ही तत्त्व, ज्ञान अथवा चेतना है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि 'ईश्वरका अस्तित्व' यह कथन केवल लौकिक प्रयोग है क्योंकि 'ईश्वर' और 'अस्तित्व' समानार्थक शब्द हैं।

४–मेरा अपने जीवनका एक अनुभव यह है कि चाहे कितनी ही अदम्य कठिनाइयाँ उपस्थित हों, तुम्हें ईश्वरकी सहायता निश्चय ही प्राप्त होगी—शर्त यह है कि तुम उसकी कृपाके द्वारा प्राप्त अन्तःकरण और बुद्धिके अनुकूल काम करो, वह सहायता किसी अलौकिक रीतिसे नहीं, बल्कि बहुधा ऐसे सामान्य निमित्तोंके द्वारा मिलती है कि तुम्हारे लिये यह जानना भी कठिन हो जाता है कि उसमें उपकार करनेवाले ईश्वरका हाथ है।

(३५) श्रीयादवजी महाराज, बम्बई

१–भगवान्‌को इसलिये मानना चाहिये कि—इस सारे नाशवान् जगत्‌में एक वही अचल सत्य है। उसे मानना चाहिये अपूर्णसे पूर्णतामें पहुँचनेके लिये, असत्यसे निकलकर सत्यमें पहुँचनेके लिये, मृत्युमेंसे अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये, देहसे छूटकर आत्माको पानेके लिये, मायाके पुराने बन्धनोंसे छूटकर मुक्त होनेके लिये, अधोगतिके घोर अन्धकारमय गहरे गढ्ढेसे निकलकर देवताओंकी उच्च भूमिकाका दर्शन करनेके लिये। तिमिरसे निकलकर दिव्य ज्योति प्राप्त करनेके लिये, पाप-पथको परित्यागकर पुण्य प्रदेशमें प्रवेश करनेके लिये, मायासे मुक्त होकर महापद पानेके लिये और शोक, मोह, क्लेश, सन्ताप, रोग, जरा, मरण आदि दुःखोंसे छूटकर परमधाममें—परमब्रह्मके अनन्तकालीन अलौकिक दिव्य सुख, शाश्वती शान्ति एवं अखण्ड आनन्दमें विहरनेके लिये।

इसप्रकार अपने श्रेयके लिये, हितके लिये या कल्याणके लिये परमेश्वरको मानना पड़ता है।

२–मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मके जिम्मेवार है, इन्साफके समय उसे प्रभुके सामने हिसाब पेश करना पड़ेगा। यही समझकर संसारमें सारे पापोंको छोड़कर मनुष्य पुण्यमार्गपर चलता है।

परन्तु जब मनुष्य भ्रमवश यह मान लेता है कि परमेश्वर ही नहीं है, अपने किसी भी कर्मका जवाब पूछनेवाला ही कोई नहीं है, तब उसके लिये पाप-पुण्य-जैसी कोई चीज़ रहती ही नहीं। उसके लिये पाप-पुण्य दोनों समान हैं। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य आदिमें आस्तिकके मनमें जो भेद रहता है, वह नास्तिकके मनसे निकल जाता है। वह उच्छृङ्खल हो जाता है।

ऐसा मनुष्य, किस समय, किस मुहूर्तमें कौन-सा दुष्कर्म नहीं कर बैठेगा, यह कहना असम्भव है। ऐसे मनुष्य देश, समाज और कुटुम्ब ही नहीं, अपने लिये भी भयङ्कर होते हैं।

क्योंकि ज्यों ही मनुष्य धर्मकी मर्यादा और बन्धनोंसे छूट जाता है, त्यों ही वह स्वेच्छाचारी हो जाता है। फिर मनमानी करनेको उसके लिये दसों दिशाएँ खुली हो जाती हैं।

उसे दोष तो लगता नहीं, उसके सिरपर कोई इन्साफ करनेवाला है इस बातको वह मानता नहीं, अन्तमें अपने कृत्योंके लिये कहीं जवाब तलब होगा यह बात उसे स्वीकार नहीं। फिर किसीका धन हर लेनेमें क्या आपत्ति है? किसीके पास कोई अच्छी चीज देखी और उसको लूट लिया, इसमें क्या खराबी है? किसीकी स्त्रीको उड़ा लेनेमें क्या हर्ज है? और यदि किसीके साथ झगड़ा हो जाय, वैमनस्य या वैर हो तो उसे सदाके लिये हटा देनेमें—मार डालनेमें, काट डालनेमें ही कौन-सा दोष है? कुछ नहीं।

सचमुच, मनुष्य जब यह मानने लगता है कि 'परमेश्वर नहीं है', तब वह मनुष्य न रहकर राक्षस बन जाता है। ऐसे नास्तिक जहाँ बढ़ जाते हैं, उस स्थानमें और नरकमें कोई विशेष भेद नहीं होता।

परमेश्वरको न मानना सर्वनाशको निमन्त्रण देना है।

३–शून्य अव्यक्तमेंसे व्यक्त सृष्टि कहाँसे पैदा हो गयी? मांस-मूत्र और विष्ठामें मनुष्य बन जाता है, उसमें जीव आ जाता है, फिर देखो तो वह अपार विचारवान्, अगाध-बुद्धि और अत्यन्त चतुर होता है। यह सब बातें कहाँसे आयीं?

एक ही वीर पुरुष रणक्षेत्रमें सहस्रों मनुष्योंको मार देता है, उसमें यह शक्ति कहाँसे उत्पन्न हो गयी? फिर जब वही ढल पड़ता है, तब उसे श्मशानमें ले जानेके लिये उठानेको उलटे चार आदमी बुलाने पड़ते हैं; अब उसकी वह शक्ति कहाँ चली गयी?

एक राजा लाखों मनुष्योंपर हुकूमत चलाता है। परन्तु मरनेपर उसकी कीमत भी मिट्टी बराबर हो जाती है। उस समय वैद्योंको बुलाइये, वे कपालपर हाथ रखकर कहेंगे,—मरे मनुष्यपर हमारी दवा कोई काम नहीं करती। जबतक जीव होता है, तभीतक दवाएँ कारगर होती हैं। वैद्य यदि जिला सकते हों अथवा उनकी दवाओंमें यदि जीवन देनेकी शक्ति हो तो मृत देहपर उनका असर क्यों नहीं होता? क्या उस समय औषधका तत्त्व निकल जाता है? क्या वैद्योंकी होशियारी मारी जाती है?

अन्धेरेमें दीपक झलमलाता है, वैसे ही शून्यमेंसे यकायक चेतन प्रकट होता है। और जैसे दीपकके बुझते

ही अन्धकार छा जाता है, वैसे ही चेतनके निकल जानेके साथ ही देहके लिये समस्त सार वस्तुएँ असार हो जाती हैं। ऐसा वह जीवन-तत्त्व क्या वस्तु है ?

पञ्चभूतोंसे प्राणी बनते हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि हमने पाँच तत्त्वोंपर विजय प्राप्त किया है, उनको अपने वशमें कर लिया है। पवन, जल, अग्नि और आकाशी तत्त्व आज मनुष्यके दास बनकर नौकरोंकी भाँति काम कर रहे हैं यह हमारा प्रताप है।

इन वैज्ञानिकोंसे पूछिये, क्या आप इन तत्त्वोंसे प्राणियोंकी रचना कर सकते हैं ? क्या आप मृत देहको जीवित कर सकते हैं ?

जीव क्या है ? कहाँसे आता है ? किस तरह आता है ? देहमें कब और कैसे प्रवेश करता है ? मरनेके समय वह देहसे निकलकर कहाँ जाता है ? इन प्रश्नोंका निश्चित उत्तर आप दे सकते हैं ? हमारी नजरके सामने मनुष्य मरते हैं परन्तु किसीने जीवको जाते देखा है ? उसे रोकनेकी शक्ति किसीमें है ? देहमेंसे निकलनेके बाद कोई वापस उसी देहमें प्रवेश कर सकेगा ? दुनियामें बड़ी-बड़ी खोज हुई है, हजारों नये हुनर और सहस्रों गुप्त कलाएँ मनुष्यके हाथ लगी हैं, यह सत्य है, परन्तु बड़ी-बड़ी डींग हाँकनेवाले वैज्ञानिक, बहुमूल्यवान् ओषधियाँ रखनेवाले प्राणाचार्य वैद्यराज, एवं चतुर कलाकार आदिसे यह प्रश्न है कि क्या आप जीवन-मरणके भेदका पता पा सके हैं ? उसका सञ्चालन-सूत्र क्या आपके हाथमें है ? आप इस विषयमें अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं ? आप इसका उत्तर दे सकते हैं ? सभी सिर हिलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करेंगे। सभी कबूल करेंगे कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है, हम अपूर्ण हैं, हमारी समझ अभी अधूरी है।

इसप्रकार हार मानकर जहाँ मनुष्यमात्र अपनी असमर्थता घोषित करते हैं, वहाँ हमें यह निश्चय विश्वास होता है कि इस विश्वका सञ्चालक और नियन्ता कोई है। जगत्में नित्य होनेवाली अद्भुत घटनाएँ इस महासमर्थ प्रभुके अस्तित्वकी साक्षी दे रही हैं और दृश्यमें क्रीड़ा करनेवाला समस्त क्रीड़ाओंका सूत्र उस सर्वशक्तिमान् महान् परमात्माके हाथमें है, इस बातको साबित कर रही हैं।*

(३६) पण्डितवर श्रीमायारामजी वेदान्ततीर्थ

अपनी बुद्धिसे इन प्रश्नोंका उत्तर देना मुझे बहुत ही कठिन मालूम होता है। ईश्वरास्तित्व-विषयक विचारार्णव अत्यन्त ही गम्भीर है, उसका थाह हमारे परम पूज्य महर्षि वशिष्ट, वामदेव, भृगु, अंगिरा आदि तथा अर्वाचीन विद्वत्-श्रेष्ठ उदयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय प्रभृति भी नहीं पा सके हैं। अतः इस विषयका यदि सम्यक् विवेचन मैं न कर सकूँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसलिये मेरे इस विचारमें जो त्रुटियाँ हों उनका समाहित चित्तसे समाधान कर दयालु विद्वद्वृन्द क्षमा प्रदर्शित करेंगे। क्योंकि क्षमा ही सत्पुरुषोंका भूषण है।

जगत्में दो पदार्थ हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन-पदार्थके ग्रहण, त्याग अथवा नाश आदि व्यापार चेतन-जन्य ही होते हैं; जैसे घट-पट आदिकी उत्पत्ति, स्थिति, तथा उनका व्यवहार और नाश यह सभी जीवरूपी चैतन्यके प्रयत्नद्वारा होता है। परन्तु पृथ्वी आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय जीव-चैतन्यके प्रयत्नसे नहीं होता; क्योंकि जीवमें पृथ्वी आदि उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृति नित्यरूपा नहीं है। अतः एक ऐसे पदार्थकी कल्पना आवश्यक है, जिसमें यह नित्यरूपसे रहते हों। पृथ्वी आदि पदार्थ घट आदिकी तरह जन्य हैं और जीव उनका कर्त्ता नहीं हो सकता, अतः इनके कर्त्तारूपमें जीवातिरिक्त एक चेतनकी आवश्यकता है और वही चेतन ईश्वर है। ईश्वर अनुमान और शब्द-प्रमाणसे सिद्ध होता है। हमारे देशके प्राचीन विद्वानोंने अनुमान-प्रमाणमें कार्यत्व आदि निम्नलिखित हेतुओंसे ईश्वरकी सिद्धि दिखलायी है। जैसे—

* पूज्यचरण श्रीयादवजी महाराज अब इस संसारमें नहीं रहे, उन्होंने सारी उम्र हरि-भक्ति और हरि-नामका जप, कीर्तन और प्रचारकर जीवनका परम लाभ प्राप्त किया। ऐसे पुण्य-पुरुषोंका ही संसारमें जन्म लेना सार्थक है। —सम्पादक

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥

(कुसुमाञ्जलि ५। १)

अर्थात् कार्यत्व, आयोजनत्व, धृतिमत्व, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य, संख्याविशेषसे विश्वविद् ईश्वरकी सिद्धि होती है।

कार्यत्व-(क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्)

अर्थात् जिसप्रकार घट-पटादि कार्य सकर्तृक हैं। उसी प्रकार पृथ्वी और अंकुर आदि भी कार्य होनेसे सकर्तृक हैं, और वह कर्ता पृथ्वी आदि उपादान-गोचर अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृतियुक्त ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता।

आयोजनत्व-(सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादिशरीरक्रियावत्)

अर्थात् जिसप्रकार हमारे शरीरकी क्रियाएँ चेतनके व्यापारसे ही उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदि कालमें द्व्यणुकसे लेकर परमाणुद्वयसंयोगपर्यन्त जो कर्म हैं वह चेतनके प्रयत्नसे ही उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यहाँ चेतन-पदसे जीवका ग्रहण न होकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरका ही बोध होता है।

धृतिमत्व—(ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्वात् वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आकाशमें पक्षियोंके द्वारा मुँहमें धारण किये जानेपर काष्ठादि स्थित रहते हैं, उसी प्रकार धारण किये जाने (धृतिमत्व होने) के कारण ब्रह्माण्डादि भी अपने पतनके प्रतिबन्धकरूप किसी प्रयत्नवान्में अधिष्ठित हैं; और वह प्रयत्नवान् ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता।

पद—(पटादि सम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादि व्यवहारवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आधुनिक लिपि आदिका व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा होता है उसी प्रकार व्यवहार होनेके कारण घट-पट आदि पदोंका प्रथम व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा ही प्रयोगमें आया होगा और क्योंकि जीवको सृष्टिके आदिमें घट-पटादिविषयक ज्ञान सम्भव नहीं, इसलिये घटादि पदोंको प्रथम व्यवहारमें प्रयुक्त करनेवाला ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता।

प्रत्यय—(वेदजन्यज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमा कारणगुणजन्या अर्थात् किसी चेतनसे होती है, उसी प्रकार प्रमा होनेके कारण वेदजन्य ज्ञान भी कारणगुणजन्य अर्थात् किसी चेतनद्वारा होना चाहिये और वह चेतन जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेदजन्य ज्ञानका उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान उसे नहीं है। इसलिये तद्वत् ज्ञानविशिष्ट केवल ईश्वर ही सिद्ध होता है।

श्रुति—(वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आयुर्वेद पुरुषप्रणीत होता है उसी प्रकार वेदत्वके कारण वेद भी पुरुषप्रणीत है और वह पुरुष जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेद महाज्ञानकल्प है, इसलिये जीवातिरिक्त ईश्वर ही वेदप्रणेता सिद्ध होता है।

वाक्य—(वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतवत् वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्)

अर्थात् जिसप्रकार महाभारतादि वाक्य पुरुषप्रणीत हैं उसी प्रकार वाक्य होनेके कारण वेद भी पौरुषेय हैं, परन्तु वेदके महाज्ञानकल्प होनेके कारण चेतन जीव उसके प्रणेता नहीं हो सकते, अतः तद्विषयक उपादानज्ञानयुक्त ईश्वर ही वेदवाक्यप्रणेता सिद्ध होता है।

संख्या विशेष—(द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् प्रकृष्टतादशकपालसदृश कपालद्वयारब्धघटपरिमाणवत्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रकृष्टकपालद्वयगत परिमाणसे उत्पन्न घट-परिमाण है उसी प्रकार परिमाणप्रचयके अनादि होनेसे जन्यपरिमाणके कारण द्व्यणुक-परिमाण संख्याजन्य है। और सृष्टिके आदिमें इस द्व्यणुक परिमाणगत द्वित्व-संख्याकी उत्पत्ति हमारे बुद्धिद्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय तृतीयक्षण अथवा चतुर्थक्षण-ध्वंसप्रतियोगिनी बुद्धिका अभाव है। अतः इसप्रकारकी संख्याका उत्पादक नित्य बुद्धिवाला ईश्वर सिद्ध होता है।

२—ईश्वरको यदि न माना जाय तो अचेतन कर्मोंका फलदाता किसी-न-किसीको मानना ही पड़ेगा। यदि कोई

कहे कि अचेतन कर्म स्वयं फल देते हैं, तो यह बात युक्त न होगी। क्योंकि यदि कर्म किसी चैतन्यके नियन्त्रणके बिना स्वयमेव फल प्रदान करें तो कर्मोंका फल सब समयमें ही मिलना चाहिये, परन्तु ऐसा जगत्में नहीं देखा जाता; अतः कर्मोंका फलप्रदाता ईश्वर है। पुनः यदि शङ्का की जाय कि 'मान लें, यदि कर्मफलदाता ईश्वर है, और जगत्में किसी मनुष्यको सुख-विलाससे पूर्ण तथा किसीको दीन-हीन अकिञ्चन बना देता है जैसा कि देखा जाता है, तो इससे ईश्वरमें वैषम्य-नैर्घृण्य दोष आ जाता है।' परन्तु ऐसी शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि ईश्वर कर्मफल देनेमें स्वतन्त्र है, और जीवोंको उनके कर्मानुसार ही फल प्रदान करता है, अतः उसमें पक्षपात-दोष नहीं आ सकता। इसलिये ईश्वरको माने बिना सांसारिक व्यवस्था प्रमाणित नहीं हो सकती।

३–ईश्वरास्तित्वमें अनुमान-प्रमाण किञ्चित् प्रदर्शित किया गया, जिसे विशेष जाननेकी इच्छा हो वह श्रीउदयनाचार्यकृत 'कुसुमाञ्जलि', श्रीगंगेशोपाध्यायकृत 'ईश्वरानुमान-चिन्तामणि,' कदलीकारकृत 'ईश्वरानुमान-कदली' आदि ग्रन्थोंको देखें जिनमें अनुमानसे नाना प्रकारकी युक्तियोंद्वारा ईश्वरकी सिद्धि की गयी है।

अब ईश्वरकी सिद्धिमें ईश्वरोक्त वेद भी प्रमाणित हो जाता है। जैसे—

'द्यावाभूमी जनयन्देव एकः
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'

अर्थात् 'स्वर्ग और पृथ्वीको बनानेवाले वह एक ही देव (परमात्मा) सबकी रक्षा करते हैं।' तथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

अर्थात् 'सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न कर जो वेद-ज्ञान प्रदान करता है, उस आत्मबुद्धिके प्रकाशरूप देवके शरणमें मैं मुमुक्षु जाता हूँ।' इसप्रकार अनेक श्रुतियाँ ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण हैं।

भगवान् वेदव्यासने अपने ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञानिरोधात्' इत्यादि सूत्रोंसे स्पष्टतः ईश्वरको सिद्ध किया है।

परम कारुण्याग्रगण्य भगवान् महर्षि पतञ्जलिजी भी कहते हैं कि—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

अर्थात् 'क्लेश-कर्म-विपाकादिसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है। तथा भगवान् गौतमने भी अपने इस सूत्र 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मसाफल्यदर्शनात्' अर्थात् 'पुरुषके कर्मोंके साफल्यसे उनके कारणरूपसे ईश्वर सिद्ध होता है।'—से ईश्वरकी सिद्धि की है। महर्षि कणाद भी 'संज्ञा-कर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गं प्रत्यक्षप्रवृत्ततया संज्ञाकर्मणः'—इत्यादि सूत्रोंसे ईश्वरकी आवश्यकता बतलाते हैं।

सांख्यसूत्रके पञ्चमाध्यायमें यद्यपि ईश्वरको अन्यथा-सिद्ध किया है तथापि उसके कपिलप्रणीत होनेमें सन्देह है। यदि सांख्यसूत्र कपिलप्रणीत है तो 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्रको प्रौढिवादमात्र माना जा सकता है और यदि नहीं है तो इसकी प्रामाणिकता ही नहीं मानी जा सकती। वाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदीमें 'न च क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न साध्येन' इत्यादिद्वारा ईश्वरमें कर्त्तव्यका खण्डन किया है और बतलाया है कि किसी भी कार्यमें कारुण्य और स्वार्थसे ही प्रेक्षावत्पुरुषकी प्रवृत्ति होती है। सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व जीवोंको सुख-दुःखके साधक इन्द्रियादि नहीं होते, क्योंकि उस समय इन्द्रियादिका आश्रय शरीर नहीं रहता है अतः उस समय उन्हें सुख-दुःख भी नहीं होते। इसलिये जब दुःख ही नहीं तो जीव दुःख-परिहारक कारुण्य ईश्वरमें कहाँसे आ सकता? अर्थात् कारुण्यसे ईश्वरद्वारा सृष्टि सिद्ध नहीं होती। यदि कोई कहे कि सृष्टि होनेके बाद जीवोंके दुःखसे करुणावश ईश्वर उनपर दया करता है, तो यह भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि जीवोंमें दुःख होनेसे तत्परिहारक ईश्वरमें कारुण्यका होना तथा ईश्वरमें कारुण्यके होनेसे जीवोंमें दुःखका होना अन्योन्याश्रय दोष पूर्ण हो जाता है। अतः कारुण्यसे सृष्टिमें ईश्वरकी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरे ईश्वरके पूर्णकाम होनेके कारण भी अपने स्वार्थके उद्देश्यसे सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः ईश्वर कदापि जगत्का कर्त्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति ही जगत्कर्त्री है।

परन्तु सांख्यवादियोंकी यह बात युक्तियुक्त नहीं है, भगवान् वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रके 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंसे सांख्यमतका निराकरण होता है। महर्षि जैमिनि

तथा कुमारिल भट्ट प्रभृति पूर्व-मीमांसकोंने भी अपने शास्त्रोंमें ईश्वरकी चर्चा नहीं की है, कर्मकी प्रधानता दिखलाना ही उनकी इस प्रवृत्तिका कारण है।

उपर्युक्त संक्षिप्त प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको अनेक नामोंवाला कहा गया है—

> यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
> बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
> अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
> सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

अर्थात् 'जिस ईश्वरको शैवलोग 'शिव' मानकर उपासना करते हैं और वेदान्तीलोग जिन्हें 'ब्रह्म' मानते हैं, बौद्ध 'बुद्ध' मानते हैं, प्रमाणपटु नैयायिकगण जिन्हें 'जगत्कर्ता' मानते हैं, जैनीलोग जिन्हें 'अर्हन्' मानते हैं और मीमांसक जिन्हें 'कर्म' मानते हैं, ऐसे त्रिलोकीनाथ हमारी रक्षा करें।' यदि सच पूछा जाय तो संसारमें कोई ऐसा पुरुष न होगा जो ईश्वरको न मानता हो। महानास्तिक चार्वाकादि भी किसी-न-किसी तरह ईश्वरको मानते ही हैं; श्रीउदयनाचार्यजी कुसुमाञ्जलिमें लिखते हैं—

इह यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इति औपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः; लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः; पितामह इति पौराणिकाः; यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः; निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः; यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः; लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, किं बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मेति उपासते तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धाऽनुभावे भगवति सन्देह एव कुतः? किं निरूपणीयमिति।'

अर्थात् इस संसारमें किसी भी पुरुषार्थके चाहनेवाले पुरुष ईश्वरको मानते हैं। जैसे अद्वैतवादी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाला मानते हैं, कापिलमतवाले उसे आदि विद्वान् और सिद्ध मानते हैं, पातञ्जल उसे क्लेशादिरहित और निर्माणकायाधिष्ठित सम्प्रदायप्रद्योतक और अनुग्राहक कहते हैं, महापाशुपत लोग लोक-वेद-विरुद्धसे निर्लेप और स्वतन्त्र मानते हैं, शैव उसे शिव कहते हैं, वैष्णव पुरुषोत्तम कहते हैं, पौराणिक पितामह कहते हैं, याज्ञिक उसे यज्ञ-पुरुष कहते हैं, दिगम्बर (जैन) उसे वस्त्र-रहित कहते हैं, मीमांसक उसे उपासनासे प्रसिद्ध कहते हैं, नैयायिक जगत्कर्ता कहते हैं, चार्वाक लोकव्यवहारसिद्ध कहते हैं, अधिक क्या कहें शिल्पशास्त्रज्ञ भी जिसे विश्वकर्मा कहते हैं उस गोत्र-प्रवरादिके समान समस्त संसारमें प्रसिद्ध परमात्मामें सन्देह कहाँसे हो सकता है?

ईश्वर वेदोंके द्वारा हिताहित उपदेशोंको देनेवाला जगत्का परमपिता है। उसे नैयायिकलोग जगत्का निमित्त-कारण तथा अद्वैतवादी अभिन्न निमित्तोपादान-कारण मानते हैं। इसी प्रकार समस्त आचार्य ईश्वरको जगत्का कारण मानते हैं। ईश्वर पितृवत् दयालु है, कोई भी दुश्चरित पुरुष उसकी शरण लेता है तो वह परमेश्वर उसे पुनीतकर सर्वोच्च बना देता है। जीव भगवान्की शरण लेकर ही उसकी कृपासे इस महादुःखरूप संसारसे तर जाते हैं। एक उपासक कहता है—

> अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
> अगतिं शरणागतं भजे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

अर्थात् 'हे भगवन्! इस भयङ्कर संसारमें गिर हजारों अपराधोंका पात्र बना हुआ मैं दूसरे किसी मार्गको न देखकर आपके शरणको प्राप्त होता हूँ। नाथ! अब आप कृपाकर मुझे अपनाइये।'

४—मुझे भगवान्की अकारण परमदयालुतापर विश्वास है, वह अनेक अवसरोंपर मेरे अपराधोंका विचार न कर मेरी चित्त-वृत्तिको अपनी ओर लगाता हुआ जगत्के नाना प्रकारके दुःखोंसे त्राण करता है। भगवान्के समान दूसरा कोई भी करुणाशील तथा परमोदार नहीं है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि सब कर्मोंको छोड़कर भगवान्के अनन्य शरण हुआ जाय तो बिना किसी ही क्रियाके मनुष्यका उद्धार हो सकता है। भगवान् कहते हैं—



प्रेमीभक्त—सूरदास

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

जब-जब विक्षेपादि दोषोंसे मेरा मन विक्षिप्त होता है तब-तब उस परमात्माके नाम-स्मरणसे मेरे चित्तमें शान्ति आती है। उसके स्मरण और ध्यानसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। मैं तो श्रीहरिको संसाररूपी वटका बीज मानता हूँ—

भव एव वटः प्रोक्तः तत्पतिः परमेश्वरः ।
तमेव नौमि देवेशं श्रीशं वटपतिं प्रभुम् ॥

अर्थात् संसार ही वट है और उसका पति परमेश्वर है अतः उस देवेश लक्ष्मीपति प्रभु वटपतिको मैं नमस्कार करता हूँ।

इन वटपति भगवान्‌को मैं शिवेश या श्रीशसे अभिन्न मानता हूँ, यही मेरा सगुण-ब्रह्मके सम्बन्धमें निश्चय है,— इसीको स्वनिर्मित वटपत्यष्टकमें मैंने इसप्रकार लिखा है—

निराकारं स्वामिञ्जयतु तव रूपं श्रुतिनुतं ।
अहं तु त्वां मन्ये करचरणयुक्तं गुणनिधिम् ।
शिवेशः श्रीशो वा भवतु न भिदा यत्र तमहं ।
नमामि श्रीनाथं भवभयहरं श्रीवटपतिम् ॥

भगवान्‌की अपरम्पार महिमाको मुझ-जैसा मन्दप्रज्ञ मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? पर हरिचरण-सेवी भगवद्-भक्तोंकी कृपासे जो कुछ सुना था, लिख दिया है, अब इसे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस श्लोकके अनुसार प्रभु-चरणोंमें समर्पण करता हूँ

(३७) स्वामी श्रीशिवानन्दजी

१—प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये ईश्वरमें विश्वास करना अनिवार्य है। इसके विना मनुष्यका चल ही नहीं सकता। अविद्या अथवा अज्ञानके प्रभावसे मनुष्यको दुःख सुख-सा प्रतीत होता है। जगत् दुःख, शोक, विपत्ति और क्लेशोंसे पूर्ण है। जगत् आगका गोला है। राग-द्वेष, क्रोध-ईर्ष्या और मत्सरसे भरा हुआ अन्तःकरण जलती हुई भट्ठी है। विषयी पुरुष भ्रमके कारण मोहमें पड़ रहे हैं। जन्म-मृत्यु, जरा-रोग और शोकसे हमें स्वयमेव मुक्त होना है। यह केवल ईश्वरमें विश्वास करनेसे ही हो सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। धन और ऐश्वर्यसे हमें यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। यहाँतक कि यदि हमें सार्वभौम राज्यकी भी प्राप्ति हो जाय तो उससे भी हमें चिन्ता, क्लेश, दुःख, शोक, भय और निराशा आदिसे छुटकारा नहीं मिल सकता। केवल ईश्वरमें श्रद्धा तथा ध्यानके द्वारा भगवत्-प्राप्ति होनेसे ही यथार्थ शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो सकती है तथा हम सब प्रकारके भय और चिन्तानलसे त्राण पा सकते हैं जो प्रतिक्षण हमें जलाते रहते हैं। ईश्वरमें श्रद्धा होनेसे हम उसका सतत चिन्तन करनेके लिये तथा उसका ध्यान करनेके लिये प्रेरित होते हैं और फलतः हमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

ईश्वरमें और ईश्वर-प्राप्तिमें श्रद्धा रखनेसे हमें परम शान्तिकी प्राप्ति होगी, उस शान्तिके प्राप्त होते ही समस्त दुःख निर्मूल हो जायँगे। फिर हमारा भटकना बन्द हो जायगा। हम कर्मके बन्धनसे छूट जायँगे। हम अमर हो जायँगे। हमें शाश्वत दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होगी। हम एक ऐसे पदको प्राप्त होंगे जहाँसे पुनः इस दुःखमय लोकको लौटना न होगा, क्योंकि दिव्य ज्ञानके द्वारा हमारे पापोंका नाश हो जायगा। हमारा मन सदा समाहित रहेगा। फिर हमें न तो सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होगा और न दुःखकी प्राप्तिमें विषाद ही होगा। हमारा अन्तःकरण हिमवत् शीतल हो जायगा और हम दिव्य चेतनामें सदा अवस्थित रहेंगे। हमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी। हम ईश्वरके साथ एकरस हो जायँगे तथा हमें नित्य, अनन्त, अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होगी। दिव्य चेतनामें अवस्थित होनेपर हम भारी-से-भारी दुःखमें भी विचलित न होंगे। हमें अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति होगी।

यदि हम अनन्य चित्तसे दृढ़तापूर्वक भक्तिभावसे ईश्वरकी अर्चना करेंगे तो वह हमें पूर्ण अभय प्रदान करेंगे। ईश्वर हमें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा उन्हें सुगमतासे प्राप्त कर सकें। हमारे ऊपर वह हमारे अज्ञानान्धकारको ज्ञानज्योतिके

नष्ट कर देते हैं। यदि हम दृढ भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने मनको उसमें लगावें तो वह संसार-समुद्रसे शीघ्र ही हमारा उद्धार करते हैं। हम तीनों गुणोंको पार कर जाते हैं तथा जन्म-मृत्यु, जरा-शोकसे छुटकारा पाकर अमर-सुधाका पान करते हैं। उनमें विश्वास करनेसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा हम उन्हें तत्त्वतः जानेंगे तथा उसमें प्रवेश करेंगे। उनकी कृपासे हम मार्गमें आनेवाली समस्त बाधाओंको दूर करेंगे तथा परमपद—परमधामको प्राप्त होंगे।

२—यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो हमें इस संसारमें बारम्बार जन्म लेना पड़ेगा तथा नाना प्रकारके दुःख सहने पड़ेंगे। अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयात्मा पुरुष विनाशको प्राप्त होते हैं। उन्हें तनिक भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती। संशयात्माके लिये न तो इहलोक है और न परलोक। जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह सत्य और असत्यको नहीं पहचान सकता, उसे विवेक शक्ति नहीं रहती। ऐसे पुरुष असत्यवादी, अभिमानी और अहंकारी होते हैं। उन्हें अतिशय काम, क्रोध और लोभ होता है। वे गर्हित उपायोंसे धनका अर्जन और संग्रह करते हैं। वे आसुरी स्वभावके मनुष्य बन जाते हैं। वे नाना प्रकारके घोर पाप करते हैं। उनके जीवनका कोई आदर्श नहीं होता, वे आसुरी-योनिको प्राप्त होते हैं, तथा जन्म-जन्मान्तर मूढ़ताको प्राप्त हो हीनतम नरकमें गिरते हैं।

३ तृतीय प्रश्नका उत्तर 'ब्रह्म' शीर्षकके लेखमें आ गया है।

४—लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए, दक्षिण भारतके त्रिचनापल्ली जिलेमें कारूर-स्थानके समीप नेरूर ग्राममें सदाशिव ब्रह्म इन्द्र सरस्वती नामके एक बहुत ही प्रसिद्ध ज्ञानी-योगी रहते थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आत्मविद्या विलास तथा अन्य बहुतेरे ग्रन्थोंका प्रणयन किया था तथा नाना प्रकारके चमत्कार दिखलाये थे। एक बार जब वे कावेरीके तटपर समाधिमग्न थे कि बाढ़से बहकर किसी दूसरे स्थानमें चले गये और बालूके नीचे गड़ गये। मजदूर खेत जोतनेके लिये गये और उन्होंने योगीके सिरपर आघात किया और उससे कुछ रक्त निकल आया। उन्होंने वहाँ खोदना शुरू किया और एक योगीको समाधिस्थ देखकर वे अत्यन्त चकित हुए।

दूसरी बार एक समय वह अवधूतके रूपमें नंगे ही एक मुसलमान-सरदारके जनाना खीमेमें घुस गये। वह सरदार महात्माके ऊपर बहुत ही गुस्सा हुआ और उसने क्रोधमें उनकी एक बाँह काट डाली। सदाशिव ब्राह्मण बिना ही कुछ कहे सुने वहाँसे चल दिये, उनके ढंगसे मालूम होता था कि उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं है। सरदार महात्माकी इस अद्भुत अवस्थापर अत्यन्त ही चकित हुआ। उसने विचारा कि यह मनुष्य अवश्य ही कोई महात्मा है। उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और उसने महात्मासे क्षमा माँगनेके लिये उनका पीछा किया। सदाशिवको पता ही न था कि उनकी बाँह कटी हुई है। जब सरदारने कैम्पकी सारी घटना उनसे कह सुनायी तो सदाशिवने कह दिया कि हमने तो क्षमा कर ही रक्खी है और उन्होंने अपनी कटी हुई बाँहको छू दिया। वहाँ तत्काल नयी बाँह निकल आयी।

इस महात्माके जीवन चरित्रको जाननेसे मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा। मुझे दृढ विश्वास हो गया कि मन और इन्द्रियोंकी क्रीडासे तथा विषयोंसे परे एक स्वतन्त्र दिव्य जीवन है। वह महात्मा जगत्से नितान्त अनजान रहते थे। जब उनकी बाँह कट गयी थी तो उन्हें तनिक भी उसका अनुभव नहीं हुआ था। वह दिव्य चेतनामें सराबोर थे। साधारण पुरुष शरीरमें एक सूईके चुभनेसे भी चीत्कार कर उठता है। आप्त पुरुषोंके द्वारा जब महात्मा सदाशिवकी इस अद्भुत घटनाको मैंने सुना और जब मैंने इसे पुस्तकोंमें पढ़ा तब मेरे मनमें एक दृढ विश्वास हो गया कि एक दैवी सत्ता तथा दैवी शाश्वत जीवन है जहाँ समस्त दुःख विलीन हो जाते हैं, समस्त कामनाएँ परितृप्त हो जाती हैं तथा मनुष्यको परम आनन्द, परम शान्ति तथा परम ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरकी दया

निम्नलिखित विचारोंसे मुझे सदा ईश्वरकी असीम दयाका अनुभव होता है।

माताके गर्भमें कलल और भ्रूणका पालन तथा दस मासतक उनकी रक्षा कौन करता है?—ईश्वर! शिशुके उत्पन्न होनेके पूर्व माताके स्तनोंमें दूधका प्रबन्ध कौन करता है?—ईश्वर! भोजनको रस और रक्तके रूपमें कौन परिणत करता है?—ईश्वर! रक्तको हृदयसे धमनी-में कौन प्रवाहित करता है?—ईश्वर! मलको तमाम

अँतड़ियोंसे अधोभागमें कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! उस मेंढकको जो अखण्ड चट्टानके भीतर रहता है भोजन कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! वह शरीरके भीतर मेहतर-का काम करता है, वह बाह्य जगत्में सूअरका रूप धारणकर प्राकृतिक मेहतरका काम करता है। वह नारंगी-अंगूरका रूप धारणकर तुम्हारे सूखे गलेकी प्यास बुझाता है। वह एक सावधान नौकरके समान तुम्हारी आँखोंके पलकोंको बन्द कर देता है जिससे उनमें धूल न पड़ने पावे। वह तुम्हारे लिये सब कुछ करता है। उसकी असीम अनुकम्पा प्रत्येक वस्तुमें, सृष्टिके प्रत्येक परमाणुमें दीख पड़ती है। एक छोटे-से अपराधके करनेपर भी तुम्हें अपने नौकरको क्षमा करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है। तुम कितना क्रोध प्रकट करते हो, परन्तु परमात्मा असंख्य जन्मोंके तुम्हारे करोड़ों घोर अपराधोंको क्षमा कर देता है। वह कैसा अद्भुत धैर्यवान् है ? उसकी अपूर्व करुणाको तो देखो ! उसका सतत चिन्तन करते रहो। उसे सदा स्मरण करो। श्रद्धा और भक्तिके साथ उसके हरि, राम, नारायण, शिव प्रभृति नामोंका जाप करो।

(३८) श्री-श्रीभीमचन्द्र चटर्जी बी० ए०, बी० एल०, बी० एस-सी, एम० आइ० इ० इ०, एम० आइ० इ०

ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति—मुझे अपने जीवनमें ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति कब हुई है, यह बात पूछी गयी है। अपने विषयमें कुछ कहना यद्यपि शिष्टाचार-विरुद्ध होगा तो भी मैं जीवनकी कुछ घटनाओंको संक्षेपमें लिख रहा हूँ। इसमें जहाँ कहीं अहङ्कारका भाव आवे, उसपर पाठक कृपया ध्यान न देंगे।

बचपनमें ही पितृहीन होनेके बादसे आजतक मैं बराबर ईश्वरकी कृपाका उपभोग करता आ रहा हूँ। अतएव उसकी कृपाका कौन-सा नमूना आपको बतलाऊँ, यह समझमें नहीं आता। अनेकों घटनाएँ साधारण दृष्टिसे देखनेपर अशुभ जान पड़ी थीं, परन्तु कुछ दिनों बाद यह बात समझमें आ गयी कि शिव कभी अशिव नहीं हो सकते। मैं ढाई वर्षका शिशु जब पितृहीन हुआ, उस समय मेरी माता कहती थीं कि 'जब तुमलोगोंको कोई अभाव हो, तभी शिवको स्मरण करना, वह सर्व-व्यापी हैं, अतः जिस अवस्थामें तुम जहाँ उन्हें पुकारोगे, वे सुनेंगे और जो अच्छा होगा, करेंगे। शिव अशिव नहीं हो सकते। उनको केवल अपनी अवस्था जना देना, क्या चाहिये तथा क्या नहीं चाहिये, इसको वह आप समझ लेंगे।' यह 'मातृ-आदेश' ही हमलोगोंकी मूल सम्पत्ति (Capital) है, जीवनभर हम इसीको लेकर उथल-पुथल करते रहे हैं।

जन्मके बाद ही मेरा श्वास बन्द (Suspended respiration) हो गया और शरीरपर मिट्टी-सी लगी रहनेके कारण धायने मृत शिशु समझकर मुझको फेंक देनेके लिये गमछेमें बाँध लिया और सूतिकागृहको साफकर मुझे ले जानेको तैयार ही थी कि उसी समय मेरी चाची-ने 'पुत्र हुआ किन्तु मरा हुआ' सुनकर विस्मित और दुःखित हो सूतिकागृहमें प्रवेश किया, उसने मुझे खोल-कर मेरे शरीरसे मिट्टी हटाकर देखा कि शरीरका लाल रंग है तथा सड़ जानेपर जो दुर्गन्ध होती है, वह भी नहीं है। उन्होंने सन्देह करके शरीरका सब मैल हटाया और पैरोंपर, मुँहमें गोल मिर्च लगायी, तथा और क्या क्या किया, मुझे मालूम नहीं। फल यह हुआ कि मैं रोने और श्वास लेने लगा। भगवान्की कृपासे उस समय गंगा-यात्रा नहीं करनी पड़ी। चाची बहुधा मुझे मेरा जन्म-वृत्तान्त सुनाया करती थीं।

मेरी अवस्था लगभग चार वर्षकी और मेरे बड़े भाईकी सात वर्षकी थी, उस समय मेरे अत्यन्त कठिन रोग हो गया। माताने कोई उपाय न देख श्रीश्रीबाबा वैद्यनाथजीके यहाँ धरना दिया। बाबा भोलेनाथकी कृपा-प्रार्थना करती हुई वह बिना कुछ खाये-पिये मन्दिरमें रहने लगीं। हम दोनों भाइयोंने पहले दिन बाजारसे खरीदकर कुछ खा लिया, दूसरे दिन भात न मिलनेसे हमें कष्ट जान पड़ा और हमने भात बनाया, किन्तु उतारनेके समय भातसे भरी हाँडी उलट गयी और हम बिना खाये ही रह गये। हमने शिवसे प्रार्थना की कि 'हमें बहुत ही भूख सता रही है, आप शीघ्र ही हमारी माताको आदेश देकर कृतार्थ कीजिये।' कहनेकी आवश्यकता नहीं शिवने उसी रातको हमारा क्रन्दन सुना और

देकर कृतार्थ किया। बादको जब मेरा रोग बहुत बढ़ गया, तब कलकत्तेके प्रसिद्ध डाक्टर R. L. Dutta ने जवाब दे दिया तथा मुझे तीन दिन घरसे बाहर तुलसीके तले रक्खा गया। उस समय माताने कहा कि 'दत्त साहेबने जवाब दे दिया है परन्तु बाबा वैद्यनाथने आदेश किया है कि तुम्हारा पुत्र अकालमें ही कालके गालमें नहीं जायगा, इस आदेशकी बात मेरे द्वारा कहलाकर माताने मुझे दूसरे डाक्टरको दिखानेके लिये कहा और साथ ही यह भी कहा कि 'कोई भी डाक्टर इलाज करें, मेरा लड़का अवश्य बच जायगा। तो भी एक डाक्टरका इलाज कराना चाहिये—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।' इसी समय एक दिन डाक्टर बाबूने मेरे बेलेडोना टिंचर मालिश करनेकी व्यवस्था की, परन्तु कम्पाउण्डरने भूलसे उसे खानेकी दवा बतलाकर भेज दिया। मेरी माता अँगुलीसे दवा उठाकर मुझे खिलाना चाहती थी, परन्तु दवामें अत्यन्त दुर्गन्ध पाकर डाक्टरको बिना दिखाये खिलाना उचित नहीं समझा और उसको अलग रख दिया। कहना नहीं होगा कि भगवत्कृपासे इस बार भी मेरे प्राण बच गये। उनके इस विश्वासकी तथा मेरे बचनेकी यह बात आज भी मेरे हृदय पटपर अङ्कित है। शिवने हमारी पुकार सुनी। बाल्यकालमें ही उनकी कृपापर मेरा दृढ़ विश्वास हो गया, ग्यारह महीने रोग भुगतकर मैंने पथ्य लिया। और भगवत्कृपासे मैं अबतक जीवित हूँ।

परिश्रमका अभ्यास—अत्यन्त गरीब होनेके कारण ज्योतिषियोंने तथा दो एक आत्मीय स्वजनोंने कहा—इसके नसीबमें विद्या नहीं है, यह कभी इण्ट्रेंस भी पास नहीं कर सकेगा, इसप्रकार कई तरहकी असुविधा होनेके कारण मैं पढ़ना छोड़कर १३ वर्षकी अवस्थामें New Glenes चायबागानमें नौकरी करने जलपाईगुड़ी चला गया। पाँच महीने बिना वेतन काम सीखनेपर १५) महीना वेतन हुआ। उसमेंसे १०) मैं माताको भेजता था और ५) में अपना सारा काम चलाता था। मैंने सिर्फ दस महीने यह नौकरी की। सुबह ६ बजेसे ११ बजेतक, फिर १२ बजेसे ८ बजेतक तथा पुनः रातको ९ बजेसे २ बजेतक काम करता था। इसप्रकार १८ घण्टा फैक्टरीमें चाय तैयार करता था। वेतन केवल १५) मासिक था। भगवान्‌की यह विशेष कृपा थी क्योंकि इसीके कारण मुझमें परिश्रम करनेकी शक्ति आ गयी और अभ्यास हो गया। लड़कपनमें यदि इसप्रकार परिश्रम करनेका अभ्यास न होता तो मैं कभी इतना कार्य नहीं कर सकता।

ईश्वर निर्भरताकी शिक्षा—रुड़कीमें कोई अनुचित कार्य न करनेपर भी तीन वर्ष अध्ययन करनेके बाद मुझपर मिथ्या दोषारोपण कर मुझे कालेजसे निकाल दिया गया। एक सप्ताहके बाद ही मुझे गारण्टीड् नौकरी मिलनेवाली थी, इसी समय मुझपर यह आघात लगा। मैंने लाचार होकर गवर्नर जनरलके समीप मेमोरियल भी भेजा परन्तु कोई फल न हुआ। भगवान्‌की इच्छा दूसरी ही थी। घर द्वार सर्वस्व बन्धक रखकर ऋण लेकर पढ़ने गया था, सोचा था कि निश्चय ही कृतकार्य होऊँगा। हठात् ऐसा क्यों हो गया, उस समय मैं बहुत सोचनेपर भी नहीं समझ सका। ऐसी अवस्थामें मेरे मनमें धर्मत्याग या आत्महत्या करनेकी बात न आयी हो, ऐसी बात नहीं है। सम्भवतः मुझसे पहले कोई भी छात्र कालेजमें इसप्रकार अपमानित नहीं हुआ होगा, इसप्रकारकी तुलनामूलक धारणा मुझे और भी अधीर बनाये डालती थी। किन्तु 'शिव अशिव नहीं हो सकते' इस दृढ़ विश्वासके सहारेसे ही मैंने धैर्य धारण किया, किसी कर्मफलका भोग था, हो गया। 'भोगादेव क्षयः' 'भोगनेसे भोगोंका नाश होता है', इस विचारसे मुझे विशेष सान्त्वना मिली। मैं उत्साहके साथ पढ़ने लिखने एवं अन्यान्य कर्मोंमें लग गया। मुझे भगवान्‌के ये शब्द याद आ गये—

> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
> (गीता ३।३०)

अर्थात् 'मुझमें समस्त कर्मोंको अध्यात्म चित्तसे निक्षेप करके, आशा ममता रहित तथा शोक शून्य होकर युद्ध करो।'

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
> (गीता २।४७)

अर्थात् 'तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, कर्मफलमें कदापि नहीं। तुम कर्मफलके हेतु न बनो और न कभी कर्म न करनेमें ही तुम्हारी प्रवृत्ति हो।'

आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे मैं पुनः पुनः इसी कालेजके *Final* अर्थात् अन्तिम परीक्षाका परीक्षक

निर्वाचित होता रहा। एवं इसी रुड़की-कालेजके प्रिंसपल एवं डाइरेक्टर आफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्सन्ने रुड़कीके इलेक्ट्रिकल इञ्जिनियरिंगके शिक्षकको इलेक्ट्रिकल इञ्जिनियरिंगकी शिक्षा किसप्रकार देनी चाहिये यह जाननेके लिये मेरे पास भेजा।

सरकारी नौकरीसे कुछ दिनोंतक पाप-क्षय करके मैं निर्विघ्न जीवन बिताता तथा कुछ पूँजी भी इकट्ठी कर लेता। बीच-बीचमें भीखकी झोली नहीं उठानी पड़ती। परन्तु रुड़कीमें नौकरी न मिलना बहुत अच्छा हुआ, ऐसा करके भगवान्ने मुझपर कितनी कृपा की, सो कहा नहीं जा सकता। मैं कालेजसे निकाले जानेके बाद वहाँ एक सर्टिफिकेट लेने गया था, परन्तु प्रिंसिपल महोदयने वह भी नहीं दी। उन्होंने 'मैं उस कालेजमें तीन वर्ष पढ़ चुका हूँ' इसका भी प्रमाणपत्र न देकर मुझे Non-Engineer बनाकर संसार-यात्रा-निर्वाह करनेके लिये संसारमें भेज दिया। परन्तु भगवत्कृपासे मैंने आगे चलकर लन्दनकी M. I. E. E. (Chartered Electrical Engineer) और M.I.E. उपाधि प्राप्त की जो इङ्गलैण्ड और भारतका श्रेष्ठ Professional recognition है। अबतक इस उपाधिवाले भारतमें सिर्फ पाँच ही सज्जन हैं, जिनमें जान पड़ता है कि बिना विलायत गये यह भगवत्कृपा मुझपर ही हुई है। भगवान् कृपा करके नाना प्रकारकी शिक्षा देते हैं, चायबगीचेका मजदूर कहाँतक सीख सकेगा इस बातको शिव जानते थे। शिवकी इच्छा वैसी नहीं थी। अपने पैरोंपर खड़े होना होगा। साहसपूर्वक परिश्रम करना होगा। देशके दुःख-दारिद्र्यकी ओर देखकर चलना होगा, अहङ्कार और अभिमानको उतार फेंकना होगा। माँ कालीकी उपासना करनी है तो उसका वाहन शवरूप महादेव होना होगा अर्थात् देहात्मज्ञानको बिल्कुल ही त्याग करना होगा, तभी माँ हमारे वक्षःस्थलपर नाचेगी, ऐसा न करनेसे माँ हमारी कन्यारूपिणी होनेके कारण छोटी बालिका पास आनेमें डरेगी। अन्यथा हिलने-डुलनेसे माँको भय लगता है, इसलिये सर्वथा शव या मृतरूप (अहङ्कार-शून्य) होनेकी शिक्षा दी गयी है।

उनकी कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है—

त्वामाश्रितानां न विपन्नराणा
त्वामाश्रिताह्याश्रयतां प्रयान्ति॥
(चण्डी)

मैं जिस समय रुड़कीमें पढ़ता था, उस समय वहाँकी पढ़ाईकी प्रथासे मेरी श्रद्धा बहुत ही उठ गयी थी, वहाँ गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी नहीं रह गया था। हमारे साहब शिक्षकगण कुत्ते-बिल्लीके समान भी नहीं समझते थे। यह सब देखकर मैंने स्वयं एक इञ्जिनियरिंग-विद्यालय खोलनेका विचार किया था। इस विषयमें मेरे परम बन्धु श्रीयुत प्रमथनारायण विश्वास (Retired Divisional Engineer) महाशय जो अभी जीवित हैं, साक्षी दे सकते हैं। परन्तु धन कहाँसे आवे? भगवान्के राज्यमें धनके लिये कोई सत्कार्य रुका नहीं रह सकता। इसी विश्वासपर मैं कर्म करने लगा। इस उद्देश्यसे मैंने पन्द्रह वर्ष परिश्रम करके जो ग्रन्थ लिखा, उसका तृतीयांश सात खण्डोंमें प्रायः ३००० पृष्ठोंमें प्रकाशित हुआ है। मैंने सन् १९१३ में पूज्यपाद श्रीमान् मदनमोहन मालवीयजीको इञ्जिनियरिंग-कालेजका प्रथम Estimate दिया जो २८७०००) का था। १९१६ में मैंने जो दूसरा Estimate दिया था वह ५०००००) था। इसी वर्ष हिन्दू-युनिवर्सिटी ऐक्ट (Hindu University Act) पास हुआ। महाराज पटियालाके ५०००००) मंजूरी देनेपर सन् १९१८ में पूजनीय मालवीयजीने मुझसे एक और Esimate चाहा, उसे मैंने ४२ विश्वविद्यालयोंके Prospectus पढ़कर छः महीनेमें तैयार किया, वह ८१००००) का था। इस Estimate के छप जानेपर मालवीयजीने विज्ञोंकी सम्मतिका (Expert opinion) संग्रह किया तथा सबकी सम्मतिके अनुसार यह कालेज १९१८ में संस्थापित हुआ। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मेरे स्वप्नको कार्यरूपमें परिणतकर अपनी असीम दया प्रकट की। मेरी १८ वर्षकी वासना पूर्ण हुई तथा १६ वर्षकी साधना सिद्ध हुई। यह कार्य भी भगवत्कार्य ही है। मैं इसप्रकारकी कृपाका पात्र होनेमें सर्वथा अयोग्य होनेपर भी कभी-कभी यह स्मरण हो जाता है कि उन्होंने मुझपर कितनी दया की है, जो मुझे अब कोई कामना नहीं रह गयी है और न किसी प्रकारकी चिन्ताका ही कारण रह गया है।

भगवत्कृपासे माँकी दया होती है—मेरे रुड़कीसे विफलमनोरथ होकर लौटनेके बाद एक दिन माताजी अकेली बैठी मन-ही-मन कुछ कह रही थीं। इतनेमें ही मैं उनके पास चला गया। मैंने पूछा—'आप क्या बोल रही थीं

उन्होंने उत्तर दिया, 'देख, आज मैं तुमको एक आदेश देती हूँ। इसीको तुम मेरी यथार्थ आज्ञा समझना। दूसरे समय यदि मनकी दुर्बलताके कारण मैं और कुछ कह दूँ तो उसे न मानना। सदा स्मरण रखना कि यही मेरी यथार्थ आज्ञा है।' फिर उन्होंने कहा—'इसप्रकार हमलोगोंके अत्यन्त अर्थाभाव है, इस अर्थाभावके कारण यदि कुत्ते-सियार मेरे हाड़-मांसको खा जायँ तो भी तुम मेरी ओर देखकर पढ़ना छोड़ धनकी चेष्टा न करना। अभी कम-से-कम बीस वर्ष और पढ़ना। मैं एक ही गरुड़ प्रसव करना चाहती हूँ, अरुणकी भाँति कच्चे अण्डे तोड़कर निकले हुए बच्चोंका दल नहीं।'

मेरी माताने २१ बार रामायण और १९ बार महाभारत और हितोपदेशका पारायण किया था। भगवत्कृपासे ही ऐसी माँ मुझे मिली थीं।

भगवान्‌पर निर्भरताकी शिक्षा—कलकत्तेमें मेरे बड़े लड़केको टाइफायड हो गया था। ८२ दिनके बाद उसे पथ्य दिया गया था। उस समय मैं बंगाल-टेकनिकल स्कूलमें काम करता था। वहाँ मुझे ११०) मासिक वेतन मिलता था। लड़केकी बीमारीके समय मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं थी। एक दिन मेरी स्त्रीने कहा—'आज मैंने कानकी बाली बन्धक रखकर डाक्टरकी फीस दी है; कल डाक्टरके आनेपर क्या दूँगी?' मैंने अपने साथ काम करनेवाले परम बन्धु श्रीयुक्त पूर्णचन्द्र गङ्गोपाध्याय (जो आज शिवपुर-इञ्जिनियरिंग-कालेजके असिस्टैण्ट प्रोफेसर आफ मेकनिकल-इञ्जिनियरिंग हैं) महाशयसे यह बात कही। उन्होंने कहा—'मेरे पास एक सोनेकी घड़ी है, उसे मेरी स्त्री नहीं जानती, वह मैं आपको देता हूँ, आप उसको बन्धक रखकर अथवा बेचकर अपना काम चलाइये, पीछे देखा जायगा।' उनकी इस बातको सुनकर मैंने उन्हें आन्तरिक धन्यवाद देकर कहा—'भाई, कल आवश्यकता पड़नेपर ले जाऊँगा।' यह कहकर मैं वहाँसे चला आया क्योंकि मुझे उस समय भगवान्‌की यह वाणी याद हो आयी थी—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (गीता ९। २२)

अर्थात् 'अनन्यभावसे चिन्तन करते-करते जो लोग मेरी उपासना करते हैं, उन अपनेमें नित्ययुक्त हुए पुरुषोंका मैं योगक्षेम वहन करता हूँ।' दूसरे मनुष्योंको पुरुषार्थकी आवश्यकता पड़ती है। भगवान्‌के ऊपर यथार्थरूपसे निर्भर करनेसे ही मेरे पुरुषार्थका अन्त हो गया, फिर मेरे लिये जो श्रेय होगा, वह आप ही करें। उस समय शिवके ऊपर अभिमान हो आया और मैंने मनमें निश्चय कर लिया कि उन्हींके भरोसे रहूँगा, जो कुछ होना होगा, हो जायगा। वह सर्वज्ञ प्रभु मानो मेरे निवेदनकी ही बाट देखते थे। अभी एक घण्टा भी नहीं बीता था कि इतनेमें एक मनुष्यने मुझे पुकारकर कहा—'महाराजा कासिमबाजार आपको बुला रहे हैं।' मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल उनसे भेंट की, उन्होंने मुझसे पूछा कि 'आपका वेतन कितना है और कबसे हमारे यहाँ कार्य (Vice-Principal Polytechnic Institute of Maharaja Kasimbazar में) कर रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि 'मैं छः माससे कार्य कर रहा हूँ। फिर उनके यह पूछनेपर कि कितने रुपयेमें मेरा काम चल सकता है, मैंने कहा कि २००) मासिक मेरे लिये यथेष्ट होगा। उन्होंने कृपा करके मुझे डेढ़ सौ रुपये मासिक देनेके लिये कहा। मेरा सब दुःख दूर हो गया। इस वेतन-वृद्धिसे मेरा Credit बढ़ गया, लोग मुझे ऋण देनेपर राजी हो गये, क्योंकि मेरी आमदनी अब ११०) से १५०) हो गयी थी। घण्टेभरके निवेदनसे ही यह कार्य हो गया। दूसरे लोग इसे काकतालीय संयोग कह सकते हैं। किन्तु जिसको अपनी स्त्रीके साथ ऐसी बातचीत होनेपर पुरुषार्थको असाध्य जानकर इसप्रकारके निवेदनसे फल मिल गया वह प्रभुकी कृपाके सम्बन्धमें कदापि अविश्वास नहीं कर सकता। यही मेरी माताकी शिक्षा है। मैंने बारम्बार इसको अजमाया और अबतक कभी विफलमनोरथ नहीं हुआ। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रभु करेंगे वही, जो मङ्गलजनक होगा। हमारी प्रार्थना हमारे इष्टके प्रतिकूल भी हो सकती है। शिव इस बातको समझते हैं, हम नहीं समझते। इसीलिये बहुधा हम अपने इच्छानुसार फल न पानेपर उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्‌को दोष देने लगते हैं।

१९११ ईस्वीके ग्रीष्म-कालमें मेरे बड़े भाई साहेबने मुझे एक शालग्रामकी मूर्ति देकर कहा कि 'नारायणकी पूजा करनेसे एक ही महीनेमें विशेष मङ्गल होगा तथा यथार्थतः कोई अमङ्गल न होगा।' मैं पूजा करने लगा, पर

मङ्गल-अमङ्गलकी बात भूल गया, जिस दिन एक महीना समाप्त हुआ उस दिन मेरी स्त्रीने सबेरे ही मुझसे कहा—'जेठजीके कथनानुसार आज एक महीना पूरा हो गया परन्तु कुछ भी तो नहीं हुआ।' मैंने कहा—शालग्रामजीकी मूर्तिसे मेरे भगवान्‌का नामकीर्तन तो हुआ ही है, यही मङ्गलमय है। तथा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

अर्थात् 'श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वही-वही कर्म करते हैं। वह जो प्रमाणित करता है इतर लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं।'

'मैं नारायणकी सेवा करता हूँ, इसे देखकर हमारे बाल-बच्चे भी भगवत्कीर्तन करेंगे, यही परम लाभ है। तथा यह बात भी याद रखनी चाहिये कि मैं प्रभुके शरणागत हूँ, अतएव यह भी हो सकता है कि उनकी विशेष कृपासे मैं किसी महान् विपत्तिसे बच गया हूँ। विपत्ति आकर चली गयी हो और उनकी कृपासे मुझे उसका कुछ पता भी न लगा हो। अतएव भाई साहबके वचन सभी प्रकारसे सत्य ही तो हुए हैं।' ये बातें हो ही रही थीं कि मेरा बड़ा लड़का आया और गङ्गा-स्नानको जानेके लिये मुझसे अनुमति माँगने लगा। इसके बाद दूसरे और तीसरे लड़केने भी आकर गङ्गा-स्नानके लिये अनुमति चाही। मैंने कहा, 'आज मेरा मन तुमलोगोंको स्नान करनेके लिये जाने देना नहीं चाहता।' इसी बीचमें मेरे टाइपिष्ट शैलेन बाबू आ पहुँचे तथा अपने साथ लड़कोंको गङ्गा-स्नानके लिये भेजनेका अनुरोध करके वे उन्हें साथ ले गये। लगभग दो घण्टे बाद देखता हूँ कि मेरे लड़के तथा शैलेन बाबू धूलि-धूसरित शरीरसे मेरे सामने आ खड़े हुए। पूछनेपर उन्होंने कहा कि हमारे अगस्तकुण्डकी एक गलीके कोनेपर आते ही एक चार तल्ला मकान हमारे सामने ही फटकर क्षणमात्रमें गिर पड़ा और दो-चार सेकण्ड भी यदि हम आगे बढ़े होते तो चारों आदमी दब गये होते और घरभरको सदाके लिये शोकसागरमें डूबना पड़ता। उस मकानके गिरनेसे तीन आदमी, एक घोड़ा और एक साँढ़ ये पाँच प्राणी मर गये।'

शालग्रामजीकी पूजाका सुफल प्रत्यक्ष हो गया। यह लिखते समय मैंने अपने दूसरे और तीसरे लड़केको अलग-अलग ले जाकर पूछा कि यों तो भगवान् सदा ही मुझपर दया करते हैं किन्तु कब उन्होंने सबसे अधिक कृपा की है? इसके उत्तरमें दोनोंने बिना एक दूसरेसे पूछे इसी घटनाको सर्वप्रधान कृपापूर्ण बतलाया।

आज छः वर्ष हुए मेरा एक लड़का कृष्णनारायण १ वर्ष १० मासकी उम्रमें काशी लाभकर मुक्त हो गया। मेरी स्त्रीने उसके शोकमें आहार त्याग दिया। एक ग्लास शर्बत और आधसेर दूधपर दो वर्ष रहनेके बाद उन्हें भयानक बीमारी हो गयी। मुखसे अत्यन्त दुर्गन्धमय लार निकलने लगी। सारे सन्धिस्थान केशके समान काले हो गये; यहाँतक कि जीभतक काली हो गयी। यहाँके सभी अच्छे-अच्छे डाक्टर देखकर कुछ भी नहीं निश्चित कर सके। कलकत्तेके भी खास-खास डाक्टरोंने देखा परन्तु कुछ भी फल न हुआ। दिनमें जब दो-तीन बार नाड़ी छूट जाया करती थी, ऐसे समय काशीके प्रसिद्ध साधु महात्मा श्रीहरिहरबाबाके उपदेशके अनुसार एक दिन शनिवारके प्रातःकाल मैंने स्त्रीसे कहा—'तुम यदि एक काम करो तो उससे आज ही कोई ऐसा अच्छा डाक्टर, कविराज अथवा अच्छी औषध प्राप्त हो जायगी, जिसमें तुम्हारा श्रेय होगा वही होगा।' उनके यह पूछनेपर कि मुझे क्या करना होगा, मैंने कहा कि, 'बस, केवल राम राम जप करो।' उन्होंने समझा कि शायद मेरा मृत्यु समय समीप होनेके कारण ही यह ऐसा कह रहे हैं। किन्तु मैंने उस भावसे नहीं कहा था। मैं जानता हूँ भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(गीता ७। १६)

अर्थात् 'हे भरतर्षभ! हे अर्जुन! सुकृतिशाली चार प्रकारके व्यक्ति मुझे भजा करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।' मुझ-जैसे संसारी मनुष्य Priviledge अथवा अधिकार केवल आर्त्त होनेपर ही है। श्रीरामने मुझको इससे ऊँचा अधिकारी नहीं बनाया। हमारे न चाहनेपर भी वे कृपा करते हैं, इसपर हम उनकी ओर नहीं देखते। कारण यही है, कि अत्यन्त तमभावने हमको घेर रक्खा है, अतः अब कोई उपाय नहीं है।

मध्याह्नके ११ बजे उनकी नाड़ी छूट गयी। अब उनको रामनाम लेनेमें भी असमर्थ देखकर मैंने सारी अवस्था श्रीरामके प्रति निवेदन कर दी। इसी नाड़ी छोड़नेकी अवस्थामें सन्ध्याके समयमें अचानक Captain J. M Gupta M B महाशय (जिनके साथ अबतक केवल दो ही दिनका परिचय था) मोटरसे आये और मकानमें ऊपर आकर मुझसे कहने लगे। 'I came to you as a friend and not in my professional capacity' आपके एक छात्रके द्वारा मैंने सुना कि आपकी स्त्री अत्यन्त पीड़िता हैं, इसे सुनकर मुझसे रहा नहीं गया। मनमें आया कि आप निश्चय ही डाक्टरको दिखलाते हैं, ऐसी अवस्थामें Professional etiquette के लिये बिना बुलाये जाना उचित नहीं है, परन्तु भीतरसे एक ऐसी आवाज आयी जिससे मैं रुक न सका। इसीलिये मैं उन्हें देखनेके लिये आया हूँ।' मैंने तत्काल अपने बन्धु डाक्टर अमरनाथ बन्दोपाध्याय महाशयको भी बुला लिया। दोनोंने मेरी स्त्रीको देखा और गुप्त महाशयने कहा—'भीमबाबू क्या चाहते हैं?' मैंने कहा—इन्हें लखनऊ ले जाया जा सकता है या नहीं। उन्होंने उत्तर दिया Pulse (नाड़ी) ही नहीं है, दरवाजेसे बाहर निकालते ही Heart fail हो जायगा और मणिकर्णिकाको जाना होगा। मैंने कहा कि 'आप जो अच्छा समझें वही करें।' फिर गुप्त महाशयने कहा—'मैंने परिचर्या करनेवालोंसे पूछा था, उन्होंने बतलाया कि आज कुल एक तोला पेशाब हुआ है, और एक तोला दूध भी नहीं पीया है। कई दिनोंसे नींद नहीं आयी, अतएव जिससे नींद आवे और प्रातः कुछ भूख लगे, वही उपाय करना उचित है।' तत्काल ही उन लोगोंने विचारकर औषध दी और उसी सन्ध्याको नींद आ गयी। दूसरे दिन प्रात रोगिणी भूखके कारण कुछ खानेके लिये माँगने लगीं। डाक्टर गुप्त दूसरे दिन प्रातःकाल आकर बोले कि 'कल बीमारीको बिना ही समझे दवा दी थी। अब यह देखना चाहता हूँ कि क्या बीमारी है और इसमें कौन सी औषध देनी चाहिये।' मैंने उनको पहले दिनकी सारी बातें कह सुनायी और कहा 'कल भगवान्‌ने औषध दी है, अब आप धूल भी उठाकर दे देंगे तो यह बच जायगी।' उन्होंने परीक्षा करके कहा कि रोग Typical Scarvey है। कहना नहीं होगा कि श्रीरामकी कृपासे और उनकी चिकित्सासे मेरी स्त्री अत्यन्त शीघ्र रोगमुक्त हो गयीं। मेरी स्त्री श्रीरामकी कृपासे ही अच्छी हुईं, इस बातको डा० अमरनाथ बाबू भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं। क्योंकि उस अवस्थामें रोगीको अच्छा करना मनुष्यके लिये असाध्य था।

मनुष्यका मन अत्यन्त दुर्बल तथा साधारणत अकृतज्ञ है। इसलिये जो हो गया है उसे बहुतेरे Chance या काकतालीय संयोग कहेंगे। परन्तु इसी विश्वासके ऊपर अर्थात् भगवत्कृपाके ऊपर मैंने एक ग्रन्थ लिखा है जो अन्य किसी प्रकार भी मुझसे नहीं लिखाया जा सकता था। प्रभुने यदि उसे मंगलजनक समझा, और मुझमें वास्तविक लोक हित-व्रत देखा तो यह ग्रन्थ प्रकाशित हो जायगा। वे यदि समझेंगे कि उससे मङ्गल नहीं होगा तो वे मङ्गलमय प्रभु इसको कदापि प्रकाश नहीं करेंगे। सहस्रधा प्रार्थनीय मेरे शिव कभी अशिव न होंगे। अतएव इसके प्रकाशित होनेपर भी रामकी कृपा, और प्रकाशित न होनेसे भी राम (भगवान्) की कृपा समझकर मैं धन्य होऊँगा। ग्रन्थ आयुर्वेदकी औषध और वृक्षलतादि-सम्बन्धी (Ayurvedic Materia Medica and Pharmacology) है, अभी छपानेसे अनुमानत १५–१८ खण्डोंमें (प्रत्येक खण्ड ५०० पृष्ठ) समाप्त होगा, इसके लिये मैंने विन्ध्याचल दो वर्ष, हिमालयमें ४ वर्ष और अन्यान्य स्थानोंमें प्रायः १२ वर्षतक शास्त्रोक्त भेषजोंका अनुसन्धान किया है। मैंने इसमें सम्भवत २० वर्षतक १६ घण्टा तथा कुछ वर्ष (प्राय ५ वर्ष) बीस घण्ट प्रतिदिन परिश्रम किया है। इसप्रकार परिश्रम करना मैंने चायबागानमें सीखा था। इञ्जिनियर होते हुए आयुर्वेदोक्त औषधसम्बन्धी पुस्तक लिखनेमें मेरा प्रयोजन केवल भगवत् इच्छा ही है। इसके लिये पहाड़की कन्दराओंमें छ वर्ष घूमना पड़ा। उनकी कृपा न होनेसे इसप्रकार परिश्रम साध्य विषयमें कभी मैं योग नहीं दे सकता था।

परम भावसे विश्वास करनेसे ही वह जीवनको आकर्षण कर लेता है और तभी भक्तिकी प्राप्ति होती है। हममें भक्तिकी मात्रा बहुत ही कम है किन्तु यही होमियोपैथिक हाई डैल्यूशनके समान कार्य करती है, इस बातको मैंने प्रत्यक्ष देखा है। अनाथ बन्धु भगवान् दीनोंके ऊपर बड़ी दया करते हैं, मैं जानता हूँ कि मेरे कोई सहारा नहीं है, इसीसे प्रभुने इतनी कृपा की। मैंने देखा कि आयुर्वेदीय ओषधियोंमें बड़ी गड़बड़ मची है, एकके स्थानमें दूसरी ही चीज व्यवहारको लायी जाती है, इसीलिये

ओषधि-निर्णयका भार भगवान्‌ने मेरे ऊपर दे दिया । यही समझकर यह परिश्रम किया गया । मैंने कभी सोचा ही नहीं कि मेरी पुस्तक प्रकाशित होगी या नहीं, अथवा इसे कोई पढ़ेगा या नहीं । पीछे जब पुस्तक प्रायः समाप्त हो चली तो मैंने देखा कि इस पुस्तकको सचित्र प्रकाशित करनेमें चार लाख रुपये लगेंगे । तब मैं कई देशी नरेशोंके पास गया परन्तु कहीं भी सफलता नहीं हुई । मैंने समझा कि मेरा काम अभी श्रीरामके मन-लायक नहीं हुआ । कुछ और त्याग तथा परिश्रम नहीं करनेसे साधना सिद्ध होनेवाली नहीं है । किन्तु यदि मैं पहले जानता कि चार लाख रुपये न होनेसे यह ग्रन्थ प्रकाशित न होगा तथा यदि मुझे इस ग्रन्थके प्रकाशनसे यश किंवा अर्थ-प्राप्तिकी आशा रहती तो कदापि इस ग्रन्थके लिखनेमें इतना कठोर परिश्रम नहीं करता । भगवान्‌की कृपासे ही इसप्रकारके भाव मेरे मनमें नहीं उठे थे । उनके प्रीत्यर्थ ही मैंने इस काममें हाथ डाला था, प्रकाशित होनेके लिये नहीं ।

शिवने चायबागानसे लौटे हुए कुलीके द्वारा ३० खण्डोंमें ऐसे ग्रन्थ लिखवाये, जिनके छपनेपर १५००० पृष्ठ हो सकते हैं । इसके लिये मैं उनको सहस्रों बार प्रणाम करते हुए कहता हूँ कि—

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

(३९) श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए०

१—इस विश्व-संसारके प्रत्येक अंशको—चाहे वह जड-जगत् हो, चाहे जीव-जगत्, चाहे मनुष्य-समाज—भलीभाँति निरीक्षण करनेसे हमें इस बातका अनुभव होता है कि यह ठाट किसी विराट् सत्ताका प्रकाश है । इसके छोटे-से-छोटे पदार्थके भीतर भी जो सृष्टि-कौशल, रचना-नैपुण्य तथा अनिवार्य नियमका परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट उपलब्ध होता है कि किसी विचारशील सत्ताके द्वारा यह सारा जगत् नियन्त्रित हो रहा है । अतएव हमारे सुख-दुःख उसीके अधीन हैं । जब इस बातकी अनुभूति होती है, तब बच्चे जैसे माताकी गोदका आश्रय मिलनेसे अपने आपको भय-शून्य तथा परम सुखी समझते हैं, वैसे ही इस विपद्-संकुल भव-सागरमें हमारा एक आश्रयदाता है, यह समझकर हम निःशङ्क हो जाते हैं और सन्तोष अनुभव करते हैं, अतएव हमें ईश्वरपर विश्वास रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

२—यदि ज्ञान-बुद्धि-विचार-सम्पन्न कोई महान् सत्ता इस विश्वकी चालक न हो, तो क्या यह अनियमसे ही चल रहा है, क्या यह आकस्मिकताका ही लीला-क्षेत्र है ? यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यकी नैतिक तथा धार्मिक बुद्धि अर्थ-हीन हो जाती और मनुष्य-समाजको उन्नतिकी राहपर चलनेकी आवश्यकता न रहती ।

३—ईश्वर-विश्वास मानव-मनकी एक तीव्र आकांक्षा है । सभीमें यह मनोभाव पाया जाता है । जब मनुष्य अपने आपको असहाय, निःसङ्ग वा व्यथित समझता है, तब वह ऐसे एक देवताको खोजता है, जो उसके दुःखका मोचन कर सकता हो—जिसपर वह निर्भर कर सकता हो । इस देवताकी शरणमें आकर उसे सान्त्वना तथा बल मिलते हैं ।

मनुष्य यह भी चाहता है कि इस जीवनके कष्टोंको झेलते हुए और सत्य तथा शुद्ध राहपर रहते हुए वह उस पार पहुँचेगा तब उसे भविष्य-जीवनमें भी उस देवताका आश्रय मिलेगा, जिससे वह शान्ति और आनन्दका उपभोग कर सकेगा ।

४—आयुकी वृद्धिके साथ-साथ ईश्वरपर मेरा विश्वास दृढ़तर हो रहा है, और आइन्दे उनके आश्रयमें रहनेकी आकांक्षा बढ़ती जा रही है । मेरे जीवन-कालमें मेरी बहुत-सी प्रार्थनाएँ उन्होंने पूर्ण की हैं । आप भले ही हँसे, परन्तु मैं धीरे-धीरे श्रीकृष्ण भगवान्‌को हर वस्तुमें अनुभव करने लगा हूँ, यद्यपि मैं अभीतक रिपुओंके वशमें हूँ ।

(४०) श्रीप्रज्ञानपादजी

आपके प्रश्नोंके जवाब देनेके पहले 'ईश्वर' के अर्थके सम्बन्धमें सुस्पष्ट धारणा होनी चाहिये। 'तत्त्व' या 'सत्य' को 'ईश्वर' का 'प्रत्यय' वाचक समझनेसे 'सत्' ही है और वह है 'एक' और 'अद्वितीय' जिसका लिंग—मैं हूँ। शास्त्रीय भाषामें कहनेमे—

'एकमेवाद्वितीयम्'

'सोऽहमस्मि।'

जो भी कुछ कहा जाय, सब कहनेके मूलमें, सब आपेक्षिक (Relative) सत्यके आधार स्वरूप, मैं हूँ निरपेक्ष (Absolute), पारमार्थिक सत्य। मेरे अस्तित्व-के ऊपर ही 'सब कुछ' (मुझसे अलग, आत्मेतर) का अस्तित्व निर्भर करता है। मैं ही 'सब कुछ'की 'पदवी' हूँ। मैं अपनी 'महिमा' में (स्वे महिम्नि) में स्थित हूँ। परिदृश्य-मान 'संसार' या 'भव' के भीतर ओतप्रोत होकर 'स्थिर' या 'अचल' मैं स्थित हूँ। सुतरां मुझसे 'अलग' कुछ है नहीं, जो सब मालूम होते हैं—वे सब ही सिर्फ 'मानो' हैं—'हैं नहीं,' सिर्फ 'मानो' हैं। सब कुछ मेरी ही 'महिमा' है। मैं जैसा चाहूँ (यदि मैं चाहूँ तो) वैसा ही हो जाय, क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कुछ न रहनेके कारण मेरे संकल्पके विरुद्ध कुछ बाधा हो नहीं सकती। मेरा प्रभाव अप्रतिहत है। जब मैं कुछ 'चाहने वाला' 'सङ्कल्प करनेवाला' मालूम होता हूँ—उस समय मेरे क्रियाशील रूपका उदय होता है,—अर्थात् 'मन' का उदय होता है। वह मन 'अहम्' का अभिमान करता है, अत उसके साथ 'अहंकार' युक्त रहता है, यही अहंकार अथवा मन 'अभिनिवेश' के कारण क्रमश अपने 'व्यापक' रूपसे हटते हटते मानो सीमाबद्ध खण्ड रूपको प्राप्त होता है। उस समय वह अपने व्यक्त, खण्ड, क्षुद्र रूपको ही अपना सत्य रूप समझकर अपने अव्यक्त, अनन्त, बृहत् सत्य रूपको भूल सा जाता है। अत वह अपनी असहाय, उपाधियुक्त अवस्थासे विह्वल होकर अपनेमे अतिरिक्त, आत्मेतर किसी *सर्वशक्तिमान् तथाकथित ईश्वरकी कल्पना* करता है और उससे 'शक्ति', 'दया', 'बल' आदिके लिये प्रार्थना करता है। परन्तु वह कभी भी अपनी सत्य स्थितिसे, जो कि अनन्त, अप्रतिहत-शक्ति है, अलग न हो सकनेके कारण, जभी उसके अन्दर 'तीव्र संकल्प' अथवा किसी विषयके लिये 'तीव्र इच्छा' का उदय होता है, तभी उसके सारे अस्तित्वके अणुओंमें शक्तिका स्फुरण होता है,—उस शक्ति स्फुरणसे, उस हलचलसे उसका अव्यक्त, अनन्तशक्ति, सर्वव्यापक मन जग जाता है और उसकी उस 'तीव्र इच्छा' के अनुसार काम हो जाता है। सुतरां काम वह स्वय ही करता है—पर, अपने अज्ञानके कारण, अपने अव्यक्त रूपका ज्ञान न रहनेके कारण वह उस कामका कर्ता अपनेसे अलग, आत्मेतर ईश्वरको समझ लेता है—यदि वह काम प्रिय हो। कामके 'अप्रिय' होनेसे उसका कर्ता शैतान है, ऐसा समझ बैठता है। इस रीतिसे अपने अज्ञानके कारण, अर्थात् अपने अव्यक्त सत्य रूपके सम्बन्धमें अज्ञानके कारण ही आत्मेतर ईश्वर और शैतानकी कल्पना हो जाती है। किन्तु तत्त्वत मन ही सब कुछ करता है—सब कुछ मन ही है—'सर्वं मन एव' और यह मन सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अनन्त आदि गुणोंसे (जिन गुणोंका आरोप अज्ञान आत्मेतर ईश्वरपर करता है) भूषित है—जिसका दिग्दर्शन 'शिवसंकल्पसूत्रों' में ['तन्मे मन शिवसंकल्प-मस्तु'] यजुर्वेद करता है। थोड़ेमें—

मैं हूँ,— ईश्वर मैं ही हूँ। मुझसे अलग और कुछ नहीं है। अत मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही होता है! अवश्य यह चाहना मेरा होना चाहिये। इसमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' में विरोध न होना चाहिये। 'अव्यक्त' की इच्छाके अनुसार सब कुछ हो रहा है। इस विषयका ज्ञान न रहनेके कारण 'व्यक्त' उसको अपना काम समझ नहीं पाता।

प्रश्नोंका उत्तर—

१ २ ३-ऐसे ईश्वरपर विश्वास न करना निरर्थक है। अपने अस्तित्वके सम्बन्धमें किसका सन्देह है? 'सब कुछ' पर सन्देह हो सकता है, परन्तु सन्देह करनेवाले *'मैं' के अस्तित्वपर सन्देह कौन करेगा?*

४-'दया' शब्द निरर्थक है, आंशिक दृष्टिका, अज्ञान-का फल है। दया निष्ठुरता आदि सभी कुछ खण्ड दृष्टिसे होते हैं। इस जीवनकी प्रत्येक घटना अपनी तात्कालिक इच्छा (अव्यक्त) से ही सम्भव हुई और हो रही है—यह बात अब सुस्पष्ट है।

(४१) ह० भ० पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पाङ्गारकर बी० ए०, सम्पादक 'मुमुक्षु'

ईश्वर-विश्वास प्रकाश है, और अविश्वास अन्धकार है; इसमें एक भावात्मक वस्तु है और दूसरी इसके विपरीत केवल अभावात्मक । मैंने अपने सारे जीवनमें प्रायः प्रकाशमें चलनेकी चेष्टा की है, और इसीलिये अन्धकार-पर विचार करना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है । ईश्वर-में विश्वास ईश्वर-प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है । यह वाणीका विषय नहीं, बल्कि रहस्यमय आनन्दका विषय है; और इस विषयमें मैं अपनी असमर्थताका अनुभव करता हूँ । तथापि उस मराठी कविके अनुसार कि 'पक्षिगण विस्तृत आकाशमें अपनी शक्तिके अनुसार ही उड़ते हैं,उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी शक्तिके अनुसार (अनन्तशक्तिसम्पन्न) भगवान्‌का चिन्तन अथवा गुण-कीर्तन करते हैं' मेरे समान पामर जीव उस प्रयत्नमें लगनेका साहस करता है, जिसमें तुलसीदास और तुकाराम जैसे महान् सन्त असमर्थता प्रकट करते हैं ! भगवत्-सङ्गीत या प्रार्थना आत्माका मंगल-सुर है, उससे गायक भक्त पवित्र और तल्लीन हो जाता है ।

मेरे सामने चार प्रश्न रक्खे गये हैं—

इनमेंसे पहले तीन प्रश्न एक-से हैं और आस्तिकता अथवा नास्तिकतासे सम्बन्ध रखते हैं; चौथा प्रश्न वैयक्तिक है और अधिक उत्कृष्ट है । मेरे विचारसे तर्क, युक्ति अथवा हेतुओंसे नास्तिक पुरुष आस्तिक नहीं बनाये जा सकते; और न तर्कद्वारा आस्तिक ही आस्तिकताकी ओर बढ़ता है । तर्कद्वारा हम प्रेम नहीं करते । हम विश्वास या प्रेम इसीलिये करते हैं कि वैसा किये विना हम रह नहीं सकते । माता-पितामें हमारे प्रेमका कारण तर्क नहीं है । प्रेम सम्भवतः एक अन्तस्तत्त्व है, जिसको कुछ मनुष्य साथ लेकर जन्मते हैं,और कुछ विना साथ लिये । भक्त प्रह्लाद-के विषयमें कहा जाता है कि भगवान्‌में उनका स्वाभाविक प्रेम था—'तस्य नैसर्गिकी रतिः' एकनाथ महाराज, कहते हैं कि वह जन्मसे भक्त थे, जन्मसे ही वह भगवत्-प्रेमी और भगवान्‌के सेवक थे। सम्भव है यह पूर्व जन्मोंके सुकर्मोंका फल हो । शुद्ध, स्वाभाविक और निर्दोष प्रेम एक (ईश्वरप्रदत्त) उपहार है । कहा जाता है कि कवि वीर और दार्शनिक उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते । इसलिये विशिष्टरूपसे भगवान्‌का प्रेमी भी प्रेमको साथ लेकर ही उत्पन्न होता है । इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि अविश्वासी पुरुष कभी विश्वासी बन ही नहीं सकता । मैं एक ऐसे मनुष्यको जानता हूँ जिसने पचास वर्षोंतक ईश्वरकी उपेक्षा करते हुए पापमय जीवन बिताया । अचानक उसका परिवर्तन हुआ और अपने जीवनके अन्तके दस वर्षोंको उसने यथार्थतः ही सन्त-जीवनके रूपमें बिताया । मेरा विचार है कि कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी ईश्वरमें विश्वास, यहाँतक कि प्रेम भी कर सकते हैं । कोई भी ऐसा पापी नहीं हो सकता जो सन्मार्गपर न आ सके, और कोई ऐसा नास्तिक नहीं हो सकता जो आस्तिकताकी ओर न लौट सके । ऊपर जिस मनुष्यका मैंने सङ्केत किया है, उसे अचानक एक धर्मात्मा योगीके सत्सङ्गका सुअवसर मिला और वह छः महीने उनके साथ रहा, अन्तमें एक दिन प्रातः-काल वह पापी एक सन्तके रूपमें परिणत हो गया । मेरा कथन यह है कि नास्तिक पुरुष तर्क और युक्तियोंसे नहीं बल्कि ईश्वर-प्रेमी और धर्मात्मा पुरुषोंके सहवाससे ही आस्तिक बन सकता है । सत्सङ्ग या भगवत्प्रेमी पुरुषोंका सहवास एक महती क्रियात्मिका शक्ति है जो चट्टानोंको तोड़-फोड़कर उसपर पवित्र जलका सोता बहा देती है । अजामिल, अघासुर, व्रजवधू, बकासुर, पिंगला प्रभृति इसके उदाहरण हैं । रामायणके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि इसके सुन्दर उदाहरण हैं । यहाँतक कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपनी स्त्रीके उपालम्भसे सत्पथको प्राप्त हुए हैं । गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

'बिनु सतसङ्ग बिवेक न होई ।'

ईश्वरमें विश्वास करना ईश्वर-प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है । श्रद्धा, भाव, विश्वास, निष्ठा इन सबका एक ही अर्थ है—ईश्वरके अस्तित्वमें अचल विश्वास । श्रद्धाहीनता ईश्वर-प्राप्ति-के समस्त साधनोंपर पानी फेर देती है । विश्वाससे भगवान्-में भक्ति, रति या प्रेम होता है । भगवान् और भगवान्‌की सृष्टिसे प्रेम ही भक्ति है । श्रद्धा ही ईश्वरीय ज्ञानका द्वार है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' कहा है, 'तर्कवान् लभते ज्ञानम्' कदापि नहीं । समस्त तर्क और युक्तियाँ उसके सामने क्षीण हो जाती हैं, अथवा उसमें लीन हो जाती हैं, वह इन सबसे परे है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः ।'

यह बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंसे परे है। जब तुम एक बार उन्हें प्राप्त कर लोगे, तब बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर, यही क्यों, अखिल विश्व उसके द्वारा परिचालित तथा उसीमें स्थित अनुभूत होगा। वस्तुतः प्रभुके सिवा कुछ है ही नहीं। बस, केवल एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही सब कुछ हैं। अपने आपको उसमें मिला देना ही ईश्वर-प्राप्ति है। ऋग्वेदका 'नासदीयसूक्त' और भगवद्गीताका 'ज्ञेय' (अध्याय १५ श्लोक १२ से १८) जहाँतक शब्दकी शक्ति है वहाँतक ईश्वरके परम सत्य भावको अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि ईश्वर भावना नहीं बल्कि सत्य तत्त्व है। उसकी प्राप्तिके लिये उच्चतम साधना आवश्यक है। उसके लिये मनुष्यको किसी मार्गका अनुसरण करना होगा। केवल जानने और विचारनेसे ही काम नहीं चलेगा, बल्कि जीवन और आचरणमें उसमें होना और बनना पड़ेगा। भक्ति या प्रेमके द्वारा आप उस सगुण और निर्गुणस्वरूप परमात्मामें एकत्वको प्राप्त हो सकते हैं। एक ही अनेक है, और अनेक ही एक है। अच्छा, वह मार्ग कौन-सा है? आपको कहाँ मिलेगा? कौन उसे दिखलावेगा? जो उस मार्गसे जाकर वहाँ पहुँचे हैं, उनके सिवा कौन उस मार्गको दिखला सकता है? केवल सन्त-महात्मा ही उस मार्गको दिखला सकते हैं। स्वानुभवके बलपर वह बतलाते हैं कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, उसको खोजो। मार्ग और साध्य दोनों एक ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत, संसारके समस्त धर्मग्रन्थ, तथा साधु महात्माओंके लिखे ग्रन्थोंका स्वाध्याय, नित्य दैनिक सन्ध्या, पवित्र मन्दिरों और तीर्थोंका दर्शन करना, दूषित ग्रन्थों, मनुष्यों और सम्भाषणासे बचना—यह समस्त साधकोंके लिये (विशेषकर प्रारम्भिक साधकोंके लिये) कुछ आवश्यक साधनाएँ हैं। इनसे आत्मा पवित्र होता है, बल्कि यह प्रतीति होती है कि आत्मा सदा ही पवित्र है। ईश्वरका स्वागत करनेके लिये अपने हृदयरूपी मन्दिरका द्वार खोल दो, और फिर देखो कि वह वहाँ पहलेसे ही मौजूद है। तुम्हारे शरीर-यन्त्रका सञ्चालक भी तो वही है। जैसे भक्त ध्रुव कहते हैं—'जो मेरी रसनामें वाणीका सञ्चार करता है, हाथ और पैरोंको चलाता है, मुझे शब्द-श्रवणके योग्य बनाता है, तथा मेरे समस्त शरीरमें व्याप्त है उसको मैं देखता हूँ—उसके लिये मेरा नमस्कार हो।' ईश्वर हमारे भीतर है और बाहर भी। समस्त धर्म साधन हैं। अहङ्कारको नष्ट करके यह अनुभव करना कि केवल वही एक है और वही सब कुछ है, साधन कहलाता है। वही व्यापक और व्याप्य है, वह साकार है और निराकार है। वह सगुण है और निर्गुण है। वही उपास्य और उपासक है। वही सब कुछ है। वह 'सत्यं शिवं अद्वैतं' है। विश्वास, श्रद्धा, प्रेम तथा अनुभूति आत्माके लिये अत्यन्त ही शक्तिप्रद और आनन्दप्रद होते हैं। ईश्वर-विश्वासी सहज ही आन्तरिक शत्रुओंका सामना करता है और शक्तिसम्पन्न होता है। नास्तिकका अवलम्बन क्या हो सकता है? तन, धन, जन और मित्र समय पड़नेपर नहीं ठहरते। बेचारा नास्तिक अकेला रह जाता है! आस्तिकके लिये भगवान् उसकी शक्ति तथा आनन्दके स्तम्भ होते हैं। 'संशयात्मा विनश्यति' और 'न मे भक्तः प्रणश्यति' ये दो दिशाएँ हैं, इनमेंसे तुम जो चाहो, चुन सकते हो।

भगवान्‌ने दुनियाके महान् ग्रन्थ भगवद्गीतामें अपने भक्तोंको बहुतसे आश्वासन-वाक्य दिये हैं—

(१) 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' (९।२२)

(२) 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (१०।१०)

(३) 'तेषामज्ञानजं तमः—नाशयाम्यात्मभावस्थः।' (१०।११)

(४) 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।' (१२।७)

(५) 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' (१८।६६)

आस्तिकके लिये स्वयं श्रीभगवान् इसप्रकार अपने ऊपर जिम्मेवारी लेते हैं। परन्तु नास्तिकके लिये कोई आधार नहीं है! उसे किसके द्वारा और कहाँसे सहायता मिल सकती है? आस्तिकके लिये भगवान्‌के ये आश्वासन किलेबन्दियोंके समान हैं, और वह इनके भीतर जगत्प्रभुके द्वारा रक्षित हुआ सुखसे विश्राम करता है। भगवद्भक्त और भगवत्-प्रेमी माता-पिताकी सन्तान होनेके कारण धार्मिक वातावरणमें पाले-पोसे जाने तथा अपनी सुदूर और विस्तृत यात्रामें धार्मिक पुरुष-स्त्रियोंके सत्सङ्गमें रहनेके कारण, एवं आध्यात्मिक साहित्यके अध्ययनका व्यसनी होनेके कारण मुझे कभी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास

करनेके लिये तर्ककी आवश्यकता नहीं पड़ी। मैं सदा ही अपने शरीरके रग-रगमें उसके अस्तित्वका अनुभव करता था। उसकी दया मेरी मूल-सम्पत्ति है, उसकी करुणा मेरा कवच है, उसका चिन्तन मेरा परम आनन्द है, तथा उसके भक्तोंके साथ सम्भाषण मेरा स्वर्ग है! क्या मछलीको पानीसे प्रेम करनेके लिये शिक्षा देनेकी आवश्यकता है? मैं कह चुका हूँ कि भक्त प्रह्लादका ईश्वरके प्रति नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रेम था। अपने लिये ऐसा कहना असङ्गत जान पड़ता है, परन्तु इसमें सत्यताकी कुछ भी कमी नहीं। जिसप्रकार जलकी धाराके साथ पुष्प बहता जाता है उसी प्रकार मेरा मन भक्ति-गङ्गाके प्रवाहमें प्रवाहित होता चला जा रहा है। मैं भगवान्में विश्वास और भक्ति रखता हूँ। सम्भव है कि मुझे लक्ष्यकी प्राप्ति देरसे हो, परन्तु सन्त-महात्माओंद्वारा सञ्चालित भगवद्भक्तोंकी सेनाका एक तुच्छ सिपाही होनेमें ही मुझे पूरा सन्तोष है। मेरी गाड़ी जो मार्गच्युत हो गयी थी, अब दुरुस्त हो गयी है और अब मैं अपनेको उसकी छत्रछायामें सुखी और सुरक्षित पाता हूँ जो मेरी जीवनरूपी गाड़ीका गार्ड और ड्राइवर दोनों है। मेरे समस्त तर्क, युक्तियाँ और हेतु बहुत पहले श्रद्धाके पात्रमें विलीन हो गये हैं। मेरे मन, बुद्धि तथा आत्मापर उन्होंने अधिकार कर लिया है। बस वही, केवल वही, एकमात्र अकेला वही रह गया है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं है। ओह! उसके चिन्तन और प्रेममें कैसा आनन्दका सागर उछल रहा है। कैसा परमानन्दका स्रोत बहता है।

अब मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैं नास्तिकताके चक्करसे किसप्रकार बचा। सन् १८९४ ई० में मैं पूना फर्ग्युसन-कालेजमें पढ़ता था, वह एक परिवर्तनका युग था। प्राचीनताका स्थान नवीनता ग्रहण कर रही थी। हमारे अधिकांश शिक्षित पुरुष पाश्चात्य आचार-विचारसे प्रभावित हो रहे थे। पचीस वर्षतक महाराष्ट्रके शिक्षितोंके मनपर मिल, स्पेन्सर और हक्सले शासन करते रहे। हमारे अंग्रेजी और लाजिक (तर्कशास्त्र) के अध्यापक फर्ग्युसन-कालेजके प्रिंसिपल श्रीयुत आगरकर महाशय थे। वह एक महान् सज्जन पुरुष थे, तथा सामाजिक सुधारके कर्णधार समझे जाते थे। वह अपने कालेजके विद्यार्थियों तथा साधारण जनतामें अपने सर्वप्रिय पत्र 'सुधारक' द्वारा नवीन भावनाओंका प्रचार करते थे। उन्होंने प्राचीन साहित्य और प्राचीन आचार-विचारोंसे मुख मोड़ लिया था। वह देश-भक्त थे, परन्तु पाश्चात्य सभ्यताका उनके ऊपर पूर्ण प्रभाव था। मुझे विद्यार्थीके रूपमें उनके साथ छः वर्षोंतक रहना पड़ा। वह खुल्लमखुल्ला नास्तिकवादका प्रचार करते थे। हिन्दू-धर्म, शास्त्र और प्रत्येक प्राचीन बातके प्रतिकूल उनके लेखोंका नवयुवकोंके ऊपर बड़ा ही प्रभाव था और अबतक है। युक्ति और तर्क उनके प्रधान अस्त्र थे और उनके द्वारा बड़ी ही निष्ठुरतासे उन्होंने प्राचीन आचार-विचारके ऊपर आक्रमण किया था। उनकी प्रेरणासे अविश्वास (नास्तिकता) का जादू मुझपर भी काम कर गया। मैंने सोचना आरम्भ किया कि *संसार बिना ही ईश्वरके निरालम्ब है। मेरा मन ईश्वर*-विश्वास और अविश्वासके बीच विघूर्णित होने लगा। मेरे घर और कालेजके प्रभावोंमें परस्पर युद्ध मच गया। आस्तिकताकी गोदसे अज्ञानकी ओर जाते समय एक वर्षतक मुझे व्याकुलता और विषादका अनुभव होता रहा। मैं निराश, संशयग्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा। परन्तु मैं तो श्रद्धा, सन्तोंके जीवन और सन्त-साहित्यके प्रचार तथा पुनरुद्धारके लिये नियुक्त किया गया था, अतएव भगवान्ने मुझे नास्तिकताके गर्तसे निकालना चाहा। एक दिन सायंकालके समय मैं पूनासे ३० मील दूर एक पहाड़ीके शिखरपर ध्यान कर रहा था, मैं अचानक इस परिवर्तनशील दृश्य जगत्‌की नश्वरतासे निकलकर नित्य निर्विकार ब्रह्मावस्थामें जा पहुँचा। आधे घण्टेतक मैं अपने आपको पूर्णतया भूल गया और पूर्णानन्दमें निमज्जित हो उठा। वह एक प्रकारकी समाधि थी। यहीं मेरे अन्तर्जीवनमें परिवर्तन हो गया। मुझे एक नवीन जन्म प्राप्त हुआ। यह समाधि-दशा मुझे अकस्मात् और केवल भगवान्‌की दयासे प्राप्त हुई थी। क्योंकि उस समय मैं अपनी ओरसे कोई चेष्टा करने योग्य न था। और न यह वह समाधि थी जो योगाभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है। मैं पथभ्रष्ट हो रहा था। दयामय प्रभुने मुझे बचाया। मैं अनुभव करने लगा कि प्रभुने अपने आपको सदाके लिये मेरे सामने प्रकट कर दिया। मुझे विश्वासके लिये एक आश्रय मिल गया, और मैंने अपने खोये हुए विश्वासको पुनः पा लिया। दूसरे ही दिन मैंने रामदास और तुकारामके ग्रन्थ खरीदे और नवीन दृष्टिसे उनकी भावनाओंमें प्रविष्ट किया। तबसे गीता और भागवत, ज्ञानेश्वर और एकनाथ,

रामदास और तुकाराम मेरे उत्साह वर्द्धक साथी हो गये। अध्ययन और ध्यान, तथा धार्मिक महात्माओंके सत्सङ्गसे मैं अपनेमें शक्तिका अनुभव करता हूँ। मैं उस सुन्दर पथका पथिक हूँ जो ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। मैं आज भी अपने उस पुराने प्रोफेसरको श्रद्धा तथा प्रेमकी दृष्टिसे देखता हूँ। मेरे विषयमें किसीको भ्रान्ति न हो, इसलिये मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मुझे अभीतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई है। मैं अभीतक अपनी उपासनाको ईश्वरीय दयाके साथ दृढ़तापूर्वक बढ़ानेमें समर्थ न हो सका हूँ। इस बातमें मैं अस्थिर और अपराधी हूँ। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि विश्वाससे श्रद्धाकी ओरका तथा श्रद्धासे ईश्वर-प्राप्तिकी ओरका मार्ग सौम्य, सुखप्रद और आनन्दमय है। ईश्वर सचमुच महान् और दयालु है, हम उसे जितना चाहते हैं उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमें संसार-सागरसे उद्धार करनेके लिये चिन्तित रहता है। वह समस्त दीन-दुखी और विपद्ग्रस्त जीवोंको प्यार करता है, उनके लिये उसकी करुणाका पार नहीं। हमारे अपने कल्याणके लिये वह हमलोगोंसे पूर्ण आत्म समर्पणकी आशा करता है। वह विवस्त्रा गोपियोंसे—नि स्वार्थ प्राणियोंसे, जिन्होंने कामनारूपी समस्त वस्त्रोंको दूर फेंक रक्खा है, सदा प्रेम करता है। वह अनुग्रहसे पूर्ण है और माताके वात्सल्य प्रेमसे भी अधिक प्रेमपूर्वक हमारी ओर देखता है। *हमें अपनी ओर बढ़ते हुए देख, वह सदा सहायता* करनेके लिये तैयार रहता है। हमें आगे अर्थात् अन्तरात्मा-की ओर बढ़ना चाहिये। वह हमारे समीप है, हमारे भीतर और बाहर है तथा सृष्टिके प्रत्येक रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। वह हमारी उन्नतिकी निगरानी करता है, और हमें अपनी ओर ले जाता है। हम समस्त प्राणियोंके रूपमें उसके साथ प्रेम करना सीखें। हमें आनन्दित होना चाहिये कि हम उस प्रभुके हैं और उसके भीतर हैं। उपनिषद् कहते हैं कि वह आनन्दस्वरूप है—'रसो वै स।' भगवान् तुकाराम कहते हैं कि वह आनन्द-सिन्धु है।

मुझे अपने प्रारम्भिक जीवनकी एक घटना याद आती है जिससे ईश्वर प्रार्थनाकी महत्ता सिद्ध होती है। उस समय मैं केवल आठ वर्षका था। मेरे पिता रामभाउ अत्यन्त धर्मात्मा पुरुष थे। वह प्रतिदिन प्रातःकाल चार बजे उठते, स्नान करते और फिर दोपहरतक पूजामें बैठे रहते। वह प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका पाठ और विष्णु-सहस्रनामके दस पाठ करते थे। आधुनिक पुरुष उन्हें सम्भवत शिक्षित 'educated' न कहें, क्योंकि वह ग्रामीण थे और केवल टूटी फूटी संस्कृत जानते थे, अंग्रेजीसे बिल्कुल अनजान थे। परन्तु जीवनकी पवित्रता तथा आत्माकी भक्तिकी दृष्टिसे वह अद्वितीय थे। उस समय हम पूनासे १६ मील पश्चिम और आलन्दीसे लगभग १२ मील उत्तर एक गाँवमें रहा करते थे। यह वही आलन्दी तीर्थ है जहाँ गीताके प्रसिद्ध भाष्यकार और महाराष्ट्रके प्राचीन कवि और दार्शनिक ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधि है। उस आठ वर्षकी अवस्थामें मैं मूर्च्छाके रोगसे आक्रान्त था, दिनमें मुझे आठ या दस बार मूर्छा आ जाती थी। मेरी माता तथा मेरे दूसरे सम्बन्धी मेरे जीवनसे निराश हो गये थे। मेरे पिता बहुत ही निःस्पृह थे। एक बार वह लोगोंके बहुत कहने-सुननेपर बाध्य होकर पूनाके चतुर डाक्टरोंको दिखलानेके लिये मुझे ले चले। उन्होंने मुझे बैलगाड़ीमें बिठाया और गाड़ीवानसे पूनाके बदले आलन्दी ले चलनेके लिये कह दिया। इसप्रकार हम आलन्दी पहुँचे। पवित्र इन्द्रायणीमें स्नान किया और ज्ञानेश्वरके मन्दिरमें गये। मेरे पिताने भक्तिपूर्वक पूजा की और मेरे सिरको श्रीज्ञानेश्वरके चरणोंमें रख दिया, तथा *आँखोंमें आँसू भरकर हृदय भरकर जोरसे प्रार्थना करने* लगे—'हे ज्ञानेश्वर! हे मेरी माता! मैं इस लड़केको तुम्हारे चरणोंमें रखता हूँ। मैं तुमसे बढ़कर कोई उत्तम वैद्य नहीं जानता और न तुम्हारे चरणतीर्थसे बढ़कर उपयोगी कोई औषध ही जानता हूँ। मैं इस लड़केको तुम्हारी सेवामें अर्पण करता हूँ। तुम्हीं इसके माता पिता और रक्षक हो, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो इसकी रक्षा करो। यह तुम्हारी दयापर छोड़ दिया जाता है।' सच्चे और यथार्थ प्रार्थीकी प्रार्थना सुनी जाती है, उसकी कामना पूरी होती है। मैं शपथपूर्वक यह घोषित करता हूँ कि तबसे मुझे इस भौतिक शरीरमें एक बार भी मूर्छा न आयी। इस प्रकार मैं अपने जीवनमें एक दुष्ट रोगसे बचा था और बचपनमें ही अपने पूज्य पिताके द्वारा महाराष्ट्रके अवतार और प्रधान सन्त ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें मैं अर्पण कर दिया गया था। ज्ञानेश्वर माताकी जय!

(४२) पण्डित श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिं० मारवाड़ी-संस्कृत-कालेज, काशी

(१)

४—यह उस समयकी घटना है जब मैं चौदह वर्षका था। पञ्जाब गया था। वहाँ मेरे ननिहालके लोग आये और मुझे घोड़ेपर सवार कराकर ले चले। मैंने अपने ठाकुरजीको भी साथ ले लिया था। रास्तेमें मेरे अन्य साथियोंने अपने-अपने घोड़े दौड़ाये। मेरा घोड़ा भी उनके पीछे दौड़ने लगा। मुझे सवारी करनेका पूरा अभ्यास न था, इससे मैं थोड़ी ही दूर जाकर घोड़ेसे गिर पड़ा। पास ही एक नहर बड़े वेगसे बह रही थी, मेरे ठाकुरजा उसमें जा गिरे।

उठनेके बाद मैंने सबसे पहले ठाकुरजीको खोजा। बहुत छान-बीन की, पर पता न लगा। फिर तो मैं अधीर हो उठा। मेरे साथियोंने मुझे बहुतेरा समझाया-बुझाया, पर मेरी अधीरता बढ़ती ही गयी। वह लोग मुझे समझा-बुझाकर अपने घर गये और मैं अपने मामाके घर गया। परन्तु ठाकुरजीका वियोग मुझे असह्य था। मैं अनाथके समान व्याकुल होकर रोता रहा। मुझे खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं होती थी। मेरे मामाके घरमें सब लोग मेरी इस अवस्थासे बहुत ही उदास हो गये। भोजनके लिये जब उन लोगोंने आग्रह किया तो मैंने कह दिया कि अब तो जबतक ठाकुरजी न मिलेंगे, अन्न ग्रहण न करूँगा।

सन्ध्याको मेरे माता-पिता भी आ गये। मुझे रोता हुआ देखकर उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और जबरन् दूध पिलाया। दूधके घूँट बड़ी कठिनाईसे मेरे गलेके नीचे उतरे। रोते-रोते सन्ध्या हो आयी और रोते-ही-रोते मैं रातको सो गया।

सोनेपर मुझे एक स्वप्न दीख पड़ा। एक सुन्दर पुरुष मेरे ठाकुरजीको हाथमें लिये हुए आया और उसने मुझसे कहा—'लो अपने ठाकुरजीको। पहचानो तो, यही न तुम्हारे ठाकुरजी ?' मैंने उनके हाथसे अपने ठाकुरजीको ले लिया और मैं मन-ही-मन आनन्दित हो उठा। परन्तु नींदके टूटते ही न तो वह मनुष्य ही रहा और न ठाकुर-जी ही मेरे पास रहे। मैं पछताने लगा और फिर मुझे निराशाने आ घेरा।

दूसरे दिन प्रातःकाल दो घण्टे दिन चढ़नेपर खबर मिली कि ठाकुरजी मिल गये। घटना इसप्रकार हुई कि जिस समय मेरे ठाकुरजी नहरमें गिरे थे, उस समय उसमें बाढ़ आयी थी। फिर पीछे पानी कम हो गया। वहाँ एक स्त्री अपने एक लड़केको साथ लेकर वस्त्र धोनेके लिये गयी। ठाकुरजीके खोने और मेरे रोनेकी खबर तो फैल ही रही थी, बालकने ठाकुरजीको किनारे पाया और उस स्त्रीने उससे उन्हें लेकर एक आदमीके द्वारा शीघ्र ही मेरे पास भेजवा दिया।

अपने खोये हुए ठाकुरजीको पुनः पाकर मुझे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर तो ठाकुरजीकी पूजा करके और उनका प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हो गया। मुझे इस घटनाका वर्णन भेजते समय डर लग रहा है, कहीं मैं दण्डनीय न बनूँ।

(२)

करीब साठ वर्षकी बात है। बाबू शिवदयालजी अपनी पत्नीको साथ ले पञ्जाबसे काशी पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने यह निश्चय किया कि परमात्मा जैसे रक्खेंगे, वैसे ही रहकर निर्वाह करेंगे पर मोक्षदायिनी काशीको न छोड़ेंगे। महल्ला नीची ब्रह्मपुरीमें उन्होंने एक छोटा-सा मकान् खरीदा। साधारण कारोबार शुरू किया और सदाचारपूर्वक सरलतासे भगवान्का भजन करते हुए भगवद्-शरण होकर जीवन बिताने लगे।

एक दिन रात्रिको उन्हें एक स्वप्न हुआ। आनन्द-कन्द नन्द-नन्दन मुरलीमनोहर श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हें दर्शन देकर कहा—'भाई! मैं तुम्हारे मकानकी दीवालमें हूँ। पास ही नाली बह रही है। उससे बड़ी दुर्गन्ध आती है। मुझे यहाँसे निकालो।' इस स्वप्नके देखते ही शिवदयालजीकी आँखें खुल गयीं। सामने देखा तो वह परम मनोहर मूर्ति गायब है। इस विचित्र स्वप्नसे उन्हें बड़ा ही कुतूहल हुआ। नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठने लगे। सबेरा होते ही उन्होंने कुछ विद्वानोंसे इस विषयपर सम्मति माँगी। एक विद्वान्ने कहा—'भाई! स्वप्नकी बात है, इसमें क्या कहा हाँ आज भगवान्की प्रार्थना करके सोना; यदि

स्वप्न हुआ तो कल विचार किया जायगा।' पण्डितजीको विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने यह कहकर सरल शिवदयालजीको टाल दिया।

उन्होंने वैसा ही किया। सोनेके पूर्व पवित्रतापूर्वक शुद्ध हृदयसे भगवान्‌की प्रार्थना करके सोनेपर पुनः वैसा ही स्वप्न हुआ। भगवान्‌ने पुनः उसी मनोहर मूर्तिसे दर्शन दिया और बोले—'तुम दूसरे लोगोंसे क्यों पूछते हो? क्या मैं तुम्हें व्यर्थ ही आदेश देता हूँ?'

बस, क्या था! शिवदयालजी चौंककर उठ बैठे और भगवद्-स्मरण करते हुए उन्होंने ज्यों-त्यों रात बितायी। प्रातः होते ही राजोंको बुलाकर मकान खुदवाना शुरू कर दिया। उनके इस कामको देखकर पड़ोसके लोग तरह-तरहकी बातें करने और हँसने लगे। इतनेमें एक मजदूरने जैसे ही दीवालमें एक झटका मारा, वैसे ही चूनेके एक ढेलेमें सटी हुई भगवान् वृन्दावन-विहारीलालकी एक मनोहर स्वर्ण-मूर्ति यकायक नीचे गिरी। उस समय वहाँ कितने ही स्त्री-पुरुष-बच्चे खड़े थे। श्रीशिवदयालजीकी छोटी कन्या भी, जिसका नाम मुन्नादेवी था, वहाँ खड़ी थी, उसकी निगाह उस ढेलेमें चिपकी हुई मूर्तिके ऊपर पड़ी और उसने शीघ्र ही कहा—'देखिये बाबूजी, यह क्या चीज है?'

शिवदयालजीने जो भगवान्‌की उस स्वर्णमयी मनोहर मूर्तिको देखा, वह आनन्दसे उछल पड़े। उनके हर्षका पारावार न रहा। वह प्रेम-गद्गद् हो उठे, आँखोंमें अश्रुधारा बह चली। भगवान्‌की उस मूर्तिको ढेलेसे अलग करके विद्वानोंको बुलाकर उन्होंने विधिपूर्वक पूजा करके एक घरमें स्थापित किया। उसी दिनसे दम्पति श्रीभगवान्‌की सेवामें तन-मन-धनसे लग गये। दिन रात ठाकुरजीकी चर्चा और अर्चामें बीतने लगे।

अब भगवान्‌की कृपासे उनके व्यवहारमें भी उन्नति होने लगी। कुछ ही दिनोंमें उनके पास काफी सम्पत्ति हो गयी। उन्होंने उस मकानको नये ढंगसे बनवाया। चौमासा, सर्दी, गर्मीके लिये ठाकुरजीके निमित्त भाँति-भाँतिके सामान, मल्हार आदिके समारोहमें ही उनके दिन बीतने लगे। अब तो उनकी निष्ठा इतनी बढ़ी कि जो कुछ करना होता सब भगवान्‌के आगे निवेदन करते और उनसे जो आदेश होता उसीके अनुसार आचरण करते।

सुख-दुःख, शादी-गमी सब प्रकारके व्यवहारमें ठाकुरजीकी आज्ञाका पालन करते हुए उन्होंने अपने जीवनमें अन्त समयतक भगवान्‌की सेवामें ही शान्ति लाभ किया।•

(४३) स्वामी श्रीसत्यानन्दजी तीर्थ

१—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षस्वरूप चतुर्वर्गकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चारों प्रकारके मनुष्य अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरका आराधन करते हैं। सर्वतोभावसे समाराधन किये गये भगवान् अपने आराधकके वशीभूत होकर उसके सकल मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। भगवान्‌की तुष्टि भगवान्‌को नहीं माननेसे नहीं हो सकती, अतः भगवान्‌की सन्तुष्टिके लिये भगवान्‌को मानना चाहिये तथा भगवान् ही केवल सत्य, आनन्द और ज्ञानस्वरूप हैं। तदतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असत्य, दुःखमय और जड है अतः सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् ही माननेयोग्य हैं। अथच भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामिरूपसे विराजमान होकर उनकी अपनी वासनानुसार उन्हें शुभाशुभ-मार्गमें प्रेरणा करते हैं अतः वह शुभ-मार्गमें ही हमारी बुद्धिवृत्तियोंको प्रेरणा करें—एतदर्थ भी भगवान्‌की अनुकूलता-प्राप्तिके लिये भगवान्‌को मानना चाहिये। जिसके अज्ञानसे यह संसार-जाल विजृम्भमाण हो रहा है और जिसके ज्ञानसे इससे मुक्ति होती है, उस आत्म-तत्त्वके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्‌के चरण ही शरण हैं। अतएव यह कहा गया है—

> यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
> चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
> तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
> साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥

२—पूर्वप्रश्नोत्तरमें ईश्वरको माननेसे जो-जो काम

• पूज्य शास्त्रीजीमहाराजने कृपा करके काशीमें मुझे भगवान्‌की इस मूर्तिके दर्शन कराये थे। —हनुमानप्रसाद पोद्दार

गज-उद्धार



जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेक सरो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकारयो, आये आधे नाम॥

वर्णन किये गये हैं ईश्वरको न माननेसे उनका अलाभ ही प्रथमतः हानि है। केवल यही नहीं, किन्तु आसुरभाव-प्राप्ति-पूर्वक घोरतर नरककी भी प्राप्ति होती है, एवं इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्तिरूप हानिसे वचनेके लिये भी ईश्वर आराधनीय है। ईश्वरको न माननेवाले हिरण्यकशिपु, रावण, कंस प्रभृति असुर जगत्की अशान्तिके हेतु हुए हैं अतः ईश्वरको न माननेसे जगत्की अशान्तिरूप हानि भी होती है।

३–ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे प्रबल प्रमाण श्रुति (वेद) है। अतएव श्रीव्यास भगवान् उत्तर मीमांसामें 'शास्त्र-योनित्वात्' इस सूत्रमें शास्त्र (श्रुति) को ही परमात्मा-के विषयमें प्रमाणरूपसे उपन्यास करते हैं, तथा शास्त्रका कारण भी परमात्माको ही निरूपण करते हैं। ××××

(४४) श्रीमहम्मद हाफिज सय्यद एम० ए०, लन्दन

१–क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना अक्षय शान्ति और सुखका ध्रुव मार्ग है। जिन लोगोंको इस बातका ज्ञान है कि शरीर, मन और बुद्धि नहीं है, बल्कि इनकी अपेक्षा कोई एक महान् वस्तु है, उन्हें अनुभव होने लगता है कि उनके पास मन और बुद्धिकी अपेक्षा कोई अधिक स्थायी वस्तु है जो उनके अन्दर निवास करती है। यह आत्मा है जो विकार, क्षय अथवा मृत्युको नहीं प्राप्त होता। यह सदा सम रहता है। इस आत्माके ज्ञान तथा अनुभवसे मनुष्य कालान्तरमें भगवत्प्राप्ति करता है। जब भगवत्प्राप्ति हो जाती है तब मनुष्य शान्ति, विभूति और आनन्द—सब कुछ पा जाता है जो मानवी प्रयत्नका प्रधान लक्ष्य होता है। हम इन्द्रियोंके विषयरूपी जङ्गलमें इसीलिये भटकते रहते हैं, क्षणिक और तुच्छ वस्तुओंके पीछे दौड़ते रहते हैं—कि कहीं क्षणभरके लिये भी हमें सुख मिल जाय परन्तु जब हमको उनसे सन्तोष नहीं होता, तब हम उनकी अपेक्षा अधिक स्थायी वस्तुकी खोज करते हैं। तब हमारा ध्यान अन्तर्मुख होता है और हम देखते हैं कि हमारे अन्वेषणका विषय हमारा अपना ही आत्मा है। आत्माका वास्तविक स्वभाव आनन्द है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्मामें ही रममाण रहना सीखते हैं वह स्वभावतः प्रभूत आनन्दको प्राप्त करते हैं। हमारा ही आत्मा सबका आत्मा है। आत्मा एक ही है जो समानरूपसे सबके हृदयमें निवास करता है। यही आत्माओंका आत्मा और प्राणोंका प्राण है, यही जीवन है और आभ्यन्तरिक प्रकाश है। इस एक आत्माको जानना ही सबको, ब्रह्मको, परमात्माको जानना है। आत्मा जीवात्माके रूपमें तबतक कदापि यथार्थ शान्ति और सुखका अनुभव नहीं कर सकता, जबतक उसे परमात्माका प्रत्यक्ष नहीं होता। जब मनुष्य अपने दैनिक जीवनमें अपनी वास्तविक सत्ता अर्थात् आत्माका अनुभव करता है तभी उसे परमात्माका प्रत्यक्ष, ज्ञान, विश्वास और निष्ठा होती है।

२–इस प्रश्नका उत्तर भी पहले प्रश्नके उत्तरमें ही आभासित हो चुका है। ऊँचे दृष्टिकोणसे ईश्वरमें विश्वास नहीं करनेसे ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उस मनुष्यकी ही हानि होती है जो विश्वास न रखनेके कारण अपनी सत्ताके शाश्वत स्रोतके साथ सम्बन्ध रखने तथा उसके ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति, शान्ति और आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। निम्न तथा विकासके दृष्टि-कोणसे कोई हानि नहीं है। मनुष्यके विश्वास या अविश्वास-के द्वारा ईश्वरकी वास्तविकता अथवा शाश्वत सत्ताका ह्रास या विकास नहीं होता।

ईश्वरकी सत्ताका चाहे कितना ही खण्डन अथवा निषेध किया जाय इससे उसमें किञ्चित् भी कमी नहीं आ सकती। वह सदा ही विद्यमान रहता है। आज जो ईश्वरमें विश्वास नहीं करते वह कल या दूसरे जीवनमें अपना मत बदल सकते हैं। समय आनेपर सबको विकसित, प्रसरित और उन्नत होना पड़ेगा। मनुष्य जैसे ही विकसित होता जाता है वैसे ही क्रमानुसार ईश्वरकी सत्तामें उसका विश्वास भी बढ़ता जाता है।

३–कोई नहीं; क्योंकि ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो हेतु या प्रमाण सामान्यतः उपस्थित किये जाते हैं वे सन्तोषप्रद नहीं होते। कार्य-कारण-भाव, कर्तृत्व, नियामकता तथा पाप-पुण्य-सम्बन्धी हेतु ईश्वरमें निष्ठा लानेके लिये पर्याप्त नहीं होते। इनपर गम्भीर आक्षेप हो सकते हैं। उनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता। एकमात्र और अत्यन्त निश्चित प्रमाणका

आविर्भाव मनुष्यके मनमें तब होता है जब वह उस आत्मानुभवके मार्गपर चलने लगता है जिसका उल्लेख उपर्युक्त पङ्क्तियोंमें किया जा चुका है।

४-ईश्वरकी दयासे सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी किसी घटनाका वर्णन मैं नहीं करना चाहता, इसप्रकारकी घटनाएँ मेरे लिये सदासे प्रचुर प्रमाणमें होती आयी हैं।

(४५) हनुमानप्रसाद पोद्दार

इन प्रश्नोंपर बहुत बड़े-बड़े प्रातःस्मरणीय पूज्य-चरण महात्माओं और विद्वानोंने उत्तर लिखने-लिखवानेकी कृपा की है, फिर मुझ सरीखा व्यक्ति क्या लिखे? पहले तीन प्रश्नोंपर तो कुछ लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं। कारण, प्रथम तो ईश्वरके स्वरूप और तत्त्वका यथार्थ ज्ञान भगवत्-प्राप्त पुरुषोंको ही होता है। और जिनको होता है वे भी वाणीद्वारा उसका निर्वचन नहीं कर सकते। दूसरे 'ईश्वरांक'में और इन प्रश्नोंके उत्तरमें यथेष्ट बातें कही भी जा चुकी हैं। तीसरे मेरा कोई अधिकार भी नहीं। वास्तवमें अनुभवकी दृष्टिसे तो ऐसे प्रश्न ही नहीं बन सकते। इसके सिवा ईश्वरका जो कुछ वर्णन होता है, वह अधूरा ही होता है। वर्णनका विषय ईश्वर, यथार्थ ईश्वर-स्वरूपसे बहुत ही नीचे उतरा हुआ होता है। जो बुद्धि मन-वाणीके परेकी चीज है, उसका कोई क्या वर्णन करे? निर्गुण रूप स्वसंवेद्य है। सगुण साकार रूप ऐसा मन-मोहक और पागल बना देनेवाला है, जिसको देखकर जनक-जैसे ज्ञानी राजर्षि चकित और उन्मत्त हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणको पहले पहल देखकर राजर्षि जनक, महर्षि श्रीविश्वामित्रसे कहते हैं—

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनि कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक॥
सहज विरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द चकोरा॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥

अतएव इन प्रश्नोंपर मैं कुछ भी न लिखकर, चतुर्थ प्रश्नके उत्तरमें कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ।

सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान्‌की सत्ताका प्राणीमात्रको पल पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है। भगवान्‌की सत्तासे ही सबकी सत्ता है। कहने और सुननेवाला चेतन सत्ता-धारी प्राणी भगवान्‌की सत्ताको अस्वीकार कर ही नहीं सकता, जो करता है वह उन्मत्त प्रलाप करता है और प्रकारान्तरसे भगवत् सत्ताकी ही घोषणा करता है।

इसी प्रकार, हम जिस स्थितिमें स्थित होकर इस समय क्रिया कर रहे हैं, उस स्थितिमें, ईश्वर केवल सच्चिदानन्दघन होनेपर भी, ईश्वरकी दयाका भी वैसे ही पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है जैसे उनकी सत्ताका। भगवान्‌की दयासे मनुष्य अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे महान् विलक्षण अनुभव करता है जिनके सम्बन्धमें सहसा सर्वसाधारणके सामने कहना-सुनना मोहवश अविश्वासके उत्पादन करनेके सिवा और कुछ फल उत्पन्न नहीं करता। जिन दिव्य और अलौकिक रहस्योंको भगवत्-कृपासे भगवत्-प्रेमी जान पाता है, कहा जाता है कि वे इतने गुह्य, इतने सूक्ष्म और इतने गम्भीर होते हैं कि न तो उनकी किसी लौकिक प्रमाणसे सिद्धि की जा सकती है, न किसीकी लौकिक बुद्धिमें वे बातें आ सकती हैं और न उनके प्रकट करनेकी कोई आवश्यकता ही होती है।

इतना सब होनेपर भी वे बातें इतनी सत्य, इतनी प्रत्यक्ष और इतने तथ्यकी होती हैं कि दूसरेको समझाने और उनके सत्य सिद्ध करनेका साधन या उपाय दृष्टिगोचर न रहनेपर भी, जिसको वे प्राप्त होती हैं, उसके लिये वे उतनी ही अपरोक्ष हैं जितना अपने लिये अपना आत्मा। एक मनुष्यको किसी अत्यन्त एकान्त स्थलमें किसीके द्वारा अमर फल प्राप्त हो जाय और वह उसके महान् स्वादका अनुभव करनेके साथ ही उसे खाकर अमर हो जाय, और फिर वह चाहे इस बातको प्रमाणोंसे, युक्तियोंसे सिद्ध न कर सके तो इससे न तो उसका अनुभव मिथ्या होता है और न उसे दूसरेको समझाकर उससे सचाईका प्रमाण-पत्र लेनेकी आवश्यकता ही रहती है। इसी प्रकारकी अनेकों रहस्यमयी बातें भगवत्-कृपासे भक्तोंके अध्यात्म जीवनमें हुआ करती हैं, पर उनका पता उनको और उनके भगवान्‌को ही होता है। भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवत्-कृपाका अधिकाधिक प्रत्यक्ष करता है त्यों ही-त्यों वह भगवत्-रहस्यके राज्यमें प्रवेश करता है, परन्तु—

'भगवतरसिक रसिककी बातें,
रसिक विना कोउ समुझि सकै ना।

ऐसी रहस्यकी बातोंके विषयमें मैं क्या लिखूँ ? मेरी तो यही प्रार्थना है कि दैवीसम्पदासम्पन्न प्रेमी महापुरुषोंके जीवनकी ऐसी, ईश्वरकी दयासे होनेवाली दिव्य घटनाओं-की सत्यतापर पूर्ण विश्वास करनेमें ही लाभ है।

सांसारिक विषयोंमें तो भगवान्‌की दया स्थूल-रूपमें भी दर्शन देती रहती है। परन्तु मनुष्योंको यह एक महाभ्रम हो रहा है कि धन-जन-मान आदि सांसारिक वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही वे भगवान्‌की दया समझते हैं, उनकी अप्राप्ति और विनाशमें नहीं। वास्तवमें भगवान्‌की दया दोनों ही प्रकारसे होती है। कई बार मनुष्यके जीवनमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस समय देखनेमें बड़ी भयानक, अवाञ्छित, दुःखदायिनी और अपनी इच्छाके प्रतिकूल प्रतीत होती हैं और उस समय मनुष्य भ्रम-वश नारदके मोहकी भाँति भगवान्‌को कोसने भी लगता है, परन्तु जब उनका अन्तिम परिणाम प्रकट होता है, तब मोह-निशाका नाश होता है और भगवद्-नुग्रहरूप भुवनभास्करके दिव्य प्रकाशसे उसका मन-पद्म प्रफुल्लित हो उठता है। उस समय उसके रोम-रोममें अपने-आप ही भगवान्‌के प्रति हार्दिक कृतज्ञताकी ध्वनि निकलने लगती है, चित्त उस चिन्ताहरण चतुर-चूड़ामणि-के चिन्तनमें संलग्न हो जाता है। वास्तवमें विषयी पुरुषोंकी दृष्टिमें जो अशुभ घटनाएँ हैं, वही परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ईश्वर-दयाका एक प्रकारका प्रकाश है, जो साधक-के यथार्थ कल्याणके लिये ही संघटित होती हैं।

मनुष्यके जीवनमें इसप्रकारकी अवाञ्छित और मनो-वाञ्छित फलके रूपमें प्रकट होनेवाली दयाके दर्शन अगणित बार होते हैं; मेरे जीवनमें भी ऐसी अगणित घटनाएँ हुई हैं और हो रही हैं। परन्तु न तो उन सबका स्मरण ही रहता है और न, जिनका स्मरण है उन सबके प्रकाश करनेका स्थान, सुअवसर और संकल्प ही है। यहाँ सिर्फ मौतके मुँहसे बचनेकी तीन घटनाओंका वर्णन करना चाहता हूँ, जिनसे भगवान्‌की सत्ताका कुछ पता लगता है।

(क) सन् १८९६ ई० में आसाममें भयानक भूकम्प हुआ था, उस समय मेरी उम्र लगभग चार वर्षकी थी। शिलांग (आसाम) में हमारा कारबार था। मेरे दादाजी कनीरामजी वहाँ रहते थे। पिताजी कलकत्तेका कारबार सँभालते थे। माताजीकी बहुत छोटी उम्रमें मृत्यु हो जानेसे मेरी दादीजीने मुझको पाला। उनका मुझपर जो स्नेह था एवं उन्होंने मेरे लिये जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता। उनके जीवित रहते मैंने इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया, अब पछतानेसे कोई लाभ नहीं। जिनके माता-पिता आदि जीते हैं, उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त है, वे जीभर उनकी सेवा करके आनन्द लूट लें, नहीं तो पीछे मेरी तरह पश्चात्तापके सिवा प्रत्यक्ष सेवाका और कोई साधन नहीं रहेगा। अस्तु। मैं दादीजीके पास शिलांगमें रहता था। मेरी एक बूआ भी वहीं आयी हुई थीं; उनके दो सन्तान थीं—एक कन्या और एक पुत्र। वे दोनों मेरे समवयस्क थे। हम तीनों साथ-साथ खेला करते। भूकम्पके दिन हमारे निकटवर्ती श्रीभजनलाल श्रीनिवासके यहाँ किसी व्रतका उद्यापन था। उनके यहाँ हमें भोजन करने जाना था। बूआजीके दोनों बालकोंने जानेसे इन्कार कर दिया, मैं अकेला ही गया, वे घरपर रह गये। सन्ध्याका समय था, लगभग पाँच बजे होंगे। मैंने श्रीभजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पीछे रसोईमें जाकर भोजन किया, रसोईसे निकलकर गोलेमें घुस ही रहा था कि धरती बड़े जोरसे काँप उठी, मैं चिल्लाया, और मेरे आस-पास पत्थरोंकी वर्षा होने लगी। सारा मकान मिनटोंमें ही ध्वंस हो गया। मैं दब गया। परन्तु आश्चर्य! मेरे चारों ओर पत्थर हैं, उनपर एक तख्ता आ गया और उसके ऊपर पत्थरोंका पहाड़। मैं मानो खोहमें—काली गुफामें पड़ गया। पता नहीं, वायुके आने-जानेका रास्ता कैसे रहा, परन्तु मैं मरा नहीं। भूकम्प बन्द होनेपर मूसलधार वर्षा हुई और उसी समय हमारे बगलके एक गोलेमें आग लग गयी, चारों ओर हाहाकार मचा था। कौन दबा, कौन बचा, कुछ पता नहीं। दादाजी हम तीनों बालकोंकी खोजमें लगे। मेरी बूआके दोनों बालक गोलेके पत्थरोंके नीचे मरे मिले। मेरी बड़ी बूआजीके पौत्र मुझसे कुछ बड़ी उम्रके श्रीराम गोयनकाकी भी लाश मिली, ढूँढ़ते और पुकारते दादाजी भजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पास आये। वे बड़े जोरसे पुकार रहे थे 'मन्नू मन्नू।' मैंने आवाज सुन ली। नन्हा-सा बालक था, भयभीत था, रो रहा था, परन्तु न मालूम किस प्रेरणासे मैंने शक्तिभर जोरसे

उत्तर दिया, 'यहाँ हूँ, जल्दी निकालिये' पत्थरोंका ढेर हटाया गया। मैं निकलकर दादाजीके गोदी चढ़ गया, उन्होंने हृदयसे लगा लिया। दोनों रोने लगे। उनके रोनेके कई अर्थ थे! दादीजी तबतक अपने इष्ट श्रीहनूमान्‌जीको याद कर रही थीं। हनूमान्‌जीने उनकी पुकार सुनी,—बूआजीके बालकोंके दबनेका दुःख क्षणभरके लिये कुछ हलका हो गया।

सबसे शिलागमें पत्थर-चूनेसे मकान नहीं बनते। तख्ते और टीनोंके ही होते हैं।

(ख) सन् १९१९ की बात है, मैं बम्बईमें रहता था। रातको अपने फूफाजी श्रीलक्ष्मीचन्दजी लोहियाके घरपर, जो बम्बईसे कुछ दूर बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवेके शान्ताक्रुज-स्टेशनके प० श्रीशिवदत्तरायजी वकीलके बँगलेमें रहते थे, जाकर खाया और सोया करता था। एक दिनकी बात है। रातको करीब ८ बजे थे, कृष्णपक्षकी अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रेनसे आकर शान्ताक्रुजके प्लाटफार्मपर उतरा। अब तो दोनों ओर प्लाटफार्म हैं, उस समय एक ही ओर था और रोशनीका भी प्रबन्ध नहीं था। म इञ्जिनके सर्चलाइट थी। श्रीशिवदत्तरायजीके बँगलेमें जानेके लिये रेलवे लाइन लाँघकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेवकूफी की। दौड़कर इञ्जिनके सामनेसे लाइन पार करने चला। लोकल ट्रेन एक ही मिनट ठहरती है। मैं नया था, मैंने समझा, गाड़ी छूटनेसे पहले ही मैं लाइन पार जाऊँगा। परन्तु ज्यों ही मैंने लाइनपर पैर रक्खा त्यों ही गाड़ी छूट गयी, परन्तु ईश्वरीय प्रेरणा और प्रबन्धसे उसी समय, किसी अज्ञात पुरुषने मेरा हाथ पकड़कर जोरसे खींच लिया। मैं दूसरी लाइनपर आकर गिर पड़ा, गाड़ी सर्राटेसे निकल गयी। तीन काम एक साथ हुए—मेरा लाइन लाँघने जाना, गाड़ी छूटना और अज्ञात व्यक्तिद्वारा खींचा जाना। एक ही दो सेकण्डके विलम्बमें मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता। परन्तु बचानेवाले प्रभुने उस अँधेरी रातमें उसी जगह पहले ही मुझे बचानेका प्रबन्ध कर रक्खा था। मैं थर-थर काँप रहा था, ईश्वरकी दयालुतापर मेरा हृदय गद्‌गद् हो रहा था। आँखोंसे आँसू बह रहे थे। मैंने स्टेशनके धुँधले प्रकाशमें देखा, एक नौजवान बोहरा मुसलमान खड़ा हँस रहा है और बड़े प्रेमसे कह रहा है—'आइन्दा ऐसी गलती न करना, आज भगवान्‌ने तुम्हारे प्राण बचाये।' मैंने मूक अभिनन्दन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइनपर रोड़ोंमें गिरा था, परन्तु दाहिने पैरमें एक रोड़ा जरा-सा गड़नेके सिवा मुझे कहीं चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चला गया। और ईश्वरको याद करने लगा।

(ग) सन् १९२६ की बात है। मैं लक्ष्मणगढ़ (जयपुर) के सेठ श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवालाके धन और परिश्रमसे स्थापित ऋषिकुलके उत्सवमें शरीक होनेको बम्बईसे जा रहा था। अहमदाबादसे दिल्ली एक्सप्रेसके द्वारा रवाना हुआ। मैं सेकण्ड क्लासमें था, मेरे साथ एक छोटा ब्राह्मण-बालक ऋषिकुलमें भर्ती होने जा रहा था। मैं इधरकी एक सीटपर सोया था और सामनेकी सीटपर वह सोया था। दूसरे दिन सुबह अन्दाज पाँच बजे थे। ब्यावर स्टेशनपर एक टी०टी० महोदय हमारे डिब्बेमें सवार हुए। मैं जिस सीटपर सोया था, उसीपर मेरे पैरोंके पास वे बैठ गये। मैं जग रहा था, अपने पैरोंके पास किसीका बैठना मुझे अच्छा नहीं लगा, इससे शिष्टाचारके नाते मैं उठ बैठा। सोया था तब मेरा सिर सीटकी अन्तिम तीसरी खिड़कीके पास था, जागकर बैठा तो वह खिड़की खाली हो गयी, मैं बीचकी खिड़कीके पास बैठ गया और टी० टी० महोदय इधरकी तीसरी खिड़कीके पास बैठे थे। तीनों खिड़कियाँ बन्द थीं, मैं टी० टी० महोदयके साथ बातें कर रहा था। इतनेहीमें पीछेमे बड़े जोरकी आवाज हुई और दूसरी सीटपर सोये हुए ब्राह्मण-बालकने एक चीख मारी। हमलोग भौंचक्के रह गये। पीछे घूमकर देखा तो मालूम हुआ कि एक बहुत बड़ा पत्थर खिड़कीके काँचके लगा, खिड़कीका बहुत मोटा काँच चूर चूर हो गया और उसके टुकड़े उछल उछलकर सब तरफ बिखर गये। उसीका एक जरा-सा टुकड़ा बालकके सिरमें लगा था, इसीसे उसने चीख मारी थी, मैं सोया होता तो अवश्य ही खिड़कीके पास मेरा सिर रहता और वह जरूर ही पत्थर और काँचकी चोटसे टूट जाता। परन्तु बचानेवालेने टी० टी० महोदयको भेजकर मुझे प्रेरणा की, मैं बैठा हो गया और बच गया। यह घटना अजमेरके पास मकरेरा और सरधना स्टेशनके बीचकी है। टी० टी० महोदयने कहा कि यहाँ अक्सर ऐसी घटनाएँ हुआ करती

हैं। अजमेरमें टी० टी० महोदयने कमरा साफ करवाया। और उन्हींकी कृपासे मैं शीशा तोड़नेके इलजामके बखेड़ेसे सहज ही बच गया।

अपने ही सम्पादकत्वमें निकलनेवाले पत्रमें, अपने ही किये हुए प्रश्नोंके उत्तरमें, अपने ही जीवनकी घटनाओंका वर्णन लिखना धृष्टता है। लिखना नहीं चाहता था, परन्तु कुछ मित्रोंकी इच्छा देखकर अन्तमें संक्षेपमें दो-चार बातें लिख दी हैं। विद्वान् गुरुजन और पाठकगण क्षमा करें।

चित्र-परिचय

भगवदाराधन-(रङ्गीन) ऊपरका मुखपृष्ठ, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, राजा-प्रजा, साधु-संन्यासी स्त्री-पुरुष सब भक्तिभावसे भगवान्‌की अर्चनामें रत हैं।

भगवान् श्रीकृष्णरूपमें-(रङ्गीन) पृ० (ॐ) भगवान् श्रीकृष्णरूपमें बाँसुरी लिये विराज रहे हैं। ध्यान करने योग्य अत्यन्त ही मनोहर छवि है।

महर्षि वेदव्यास-(सादा) पृ० ८, महर्षि वेदव्यास प्रस्थानत्रयीकी रचना कर रहे हैं।

महर्षि पतञ्जलि-(सादा) पृ० ८, योगसूत्र, व्याकरण, महाभाष्य आदि शास्त्रोंके रचयिता महर्षि पतञ्जलि समाधिस्थ बैठे हैं।

भगवान् मत्स्यरूपमें-(रङ्गीन) पृ० २४, भगवान् मत्स्यावतारके रूपमें हैं। विशेष विवरणके लिये 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कपिल-(सादा) पृ० ४०, सांख्यशास्त्रके निर्माता महर्षि कपिल वनमें नदीके तटपर तप कर रहे हैं।

महर्षि जैमिनि-(सादा) पृ० ४०, मीमांसा-शास्त्रके रचयिता महर्षि जैमिनि मण्डपमें बैठे यज्ञ-कुण्डमें हवन कर रहे हैं।

भगवान् कूर्मरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ५६, भगवान् कूर्मावतारके रूपमें हैं 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कणाद-(सादा) पृ० ७२, वैशेषिक-शास्त्रके प्रणेता महर्षि कणाद अपने आश्रमके समीप बैठे ग्रन्थ लिख रहे हैं।

महर्षि गौतम-(सादा) पृ० ७२, न्यायदर्शनके रचयिता महर्षि गौतम अपने आश्रममें बैठे शास्त्रार्थ कर रहे हैं।

भगवान् वराहरूपमें-(रङ्गीन) पृ० ८०, भगवान् वराहावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

देवर्षि नारद-(सादा) पृ० ९६, देवर्षि नारदजी भगवान्‌के प्रेममें मत्त हुए वीणा बजाते हुए हरि-नाम-कीर्तन कर रहे हैं और भगवान् वृक्षकी ओटमें छिपे अपने भक्तकी भावना देखकर मुग्ध हो रहे हैं।

महर्षि शाण्डिल्य-(सादा) पृ० ९६, महर्षि शाण्डिल्य भगवान्‌की आराधना करके सामने बैठे भक्ति-सूत्र लिख रहे हैं।

भगवान् श्रीनृसिंहरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १०४, भगवान् श्रीनृसिंहावतारके रूपमें हैं। भक्त प्रह्लादको गोदमें लेते ही आपका क्रोध शान्त हो गया है और बड़ी ही स्नेह भरी दृष्टिसे आप उसे देख रहे हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

राजा जनक और शुकदेव मुनि-(सादा) पृ० १२०, राजा जनक सिंहासनपर आसीन हैं। बालयोगी श्रीशुकदेव मुनि उनके यहाँ ब्रह्मज्ञान सीखने गये हुए हैं। राजाने उन्हें अपने सामने सुन्दर ऊँचा आसन दिया है। शुकदेव मुनि आसनपर बैठे विदेह महाराज जनकका उपदेश श्रवण कर रहे हैं।

भगवान् वामनरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १२८, भगवान् वामनावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भगवान् परशुरामरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १५२, भगवान् परशुरामावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीरामरूपमें-(रङ्गीन) पृ० १७६, भगवान् श्रीरामावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीबलरामरूपमें-(सादा) पृ० १६२, भगवान् श्रीबलरामजीके रूपमें हल और मूसल लिये विराजमान हैं। पृष्ठ ४६३ देखिये।

नन्दनन्दन-(रङ्गीन) पृ० २००-भगवान् नन्द-नन्दन गौके समीप खड़े वंशी बजा रहे हैं। कैसी मनोहर छवि है!

महर्षि वाल्मीकि-(सादा) पृ० २०८, महर्षि वाल्मीकिजी वनमें मृगछालापर बैठे ध्यान कर रहे हैं, उनके पास वनके हरिण, सिंह, मोर और गौ आदि अपने स्वभावको भूलकर प्रेमपूर्वक विचर रहे हैं।

भगवान् बुद्धरूपमें-(रङ्गीन) पृ० २२४, भगवान् श्रीबौद्धावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भक्त-रक्षा-(सादा) पृ० २४०, द्रौपदीका चीर दुःशासन खींच रहा है, भगवान् अन्तरिक्षसे चीर बढ़ा रहे हैं, प्रसिद्ध कथा है।

भगवान् कल्किरूपमें-(रङ्गीन) पृ० २४८, भगवान् श्रीकल्कि-अवतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

श्रीशङ्कराचार्य-(सादा) पृ० २६४, आचार्यप्रवर श्रीआद्य शङ्कराचार्य महाराज अपनी शिष्य-मण्डलीको उपदेश दे रहे हैं।

श्रीविष्णु भगवान्-(रङ्गीन) पृ० २७२, भगवान् विष्णुरूपमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये कमलासन-पर स्थित हैं।

आदर्श हिन्दू-नारी-(सादा) पृ० २८८, सांसारिक भोग-विलासमें मन न लगानेवाली गृह-कार्यमें दक्ष हिन्दू-रमणी अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌की पूजा कर रही है। ऐसी देवियोंसे ही हिन्दू-गृहकी शोभा बढ़ती है। धन्य है वह परिवार, जहाँ इसप्रकारकी भगवद्भक्तिपरायणा सुशीला नारी निवास करती है।

श्रीनामदेवजी-(सादा) पृष्ठ २८९, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीनामदेवजीने रोटियाँ बनाकर रक्खी थीं, आप लघुशंकाको गये थे कि इतनेमें कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। श्रीनामदेवजी, जो सबमें भगवान् देखते थे, उसके पीछे यह कहते हुए दौड़ रहे हैं कि 'भगवान् रोटियाँ रूखी हैं, मुझे घी लगाने दीजिये तब भोग लगाइये।' भगवान्‌ने कुत्तेका रूप त्यागकर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए अपने चतुर्भुजस्वरूपसे उन्हें दर्शन दिया।

श्रीभगवान् शंकर-(रंगीन) पृष्ठ २९६, भगवान् शंकररूपमें मृगछालापर ध्यानस्थ बैठे हैं।

श्रीरामानुजाचार्य-(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्त विशिष्टाद्वैत-मतके संस्थापक, गीता, दशोपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके प्रमुख भाष्यकार श्रीस्वामी रामानुजाचार्य बैठे भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं।

श्रीवल्लभाचार्य-(सादा) पृष्ठ ३०४-वेदान्तके शुद्धाद्वैत-मतके संस्थापक, श्रीस्वामी वल्लभाचार्यजी बैठे हुए हैं।

श्रीमध्वाचार्य-(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्तके द्वैत-मतके संस्थापक स्वामी श्रीमध्वाचार्यजी शास्त्र-मनन कर रहे हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य-(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्तके द्वैताद्वैत-मतके संस्थापक स्वामी श्रीनिम्बार्काचार्य।

भगवान् शक्तिरूपमें-(रंगीन) पृष्ठ ३२०, भगवान् दशभुजाधारिणी शक्तिके रूपमें महिषासुरका नाश कर रहे हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु-(सादा) पृष्ठ ३३६, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य हरि-नाम-कीर्तनमें तन्मय हो रहे हैं। श्रीचैतन्यदेवकी विस्तृत जीवनी गीताप्रेससे निकल रही है। चैतन्य-चरितावलीके नामसे पहला भाग निकल चुका है।

स्वामी नित्यानन्द-(सादा) पृष्ठ ३३६, महाप्रभु चैतन्यदेवके साथी परम भक्त श्रीनित्यानन्दजी सड़कपर हरि-नाम-कीर्तन करते हुए चले जा रहे हैं।

अद्वैताचार्यजी-(सादा) पृष्ठ ३३७, श्रीचैतन्य महा-प्रभुके साथी अद्वैताचार्यजी हरि-नाम-कीर्तनमें मत्त हो रहे हैं।

भक्त हरिदासजी-(सादा) पृष्ठ ३३७, श्री-भगवन्नामके मतवाले यवन हरिदासजीको धर्मान्ध मुसलमान मार रहे हैं, वे शान्तिसे मार सहते हुए जोर-जोरसे हरि-नाम उच्चारण कर रहे हैं।

भगवान् गणपतिरूपमें-(रंगीन) ३४४, भगवान् श्रीगणेशजीके रूपमें आसीन हैं।

स्वामी श्रीरामानन्दजी-(सादा) पृष्ठ ३६०—उत्तर-भारतमें भगवद्भक्तिके प्रचार करनेवालोंमें अग्रगण्य स्वामी श्रीरामानन्दजी विराजमान हैं।

श्रीकबीरसाहब-(सादा) पृष्ठ ३६०, हिन्दू और मुसल्मानोंमें समानरूपसे सात्त्विक भगवद्भक्तिका प्रचार करनेवाले श्रीकबीरसाहब गद्दीपर आसीन हैं।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी-(सादा) पृष्ठ ३६०, भक्ताग्रगण्य, कविकुल-चूडामणि श्रीरामचरित-मानस-जैसे अमृत ग्रन्थके रचयिता महात्मा गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जी राम-नाम-परायण हो शास्त्रावलोकन कर रहे हैं।

श्रीपयहारीजी और पृथ्वीराज (सादा) पृष्ठ ३६० ।

श्रीज्ञानेश्वर-(सादा) पृष्ठ ३६१, महाराष्ट्रके सन्तोंमें अग्रगण्य गीताकी ज्ञानेश्वरी टीकाके रचयिता भगवान् श्रीज्ञानेश्वर महाराज आसनपर विराजमान हैं ।

श्रीएकनाथ-(सादा) पृष्ठ ३६१, महाराष्ट्रके परम वैष्णव, कवि सन्त श्रीएकनाथजी मृगचर्मपर बैठे ध्यानमग्न हैं । सर्प ऊपर चढ़ रहा है एकनाथजीका जीवन-चरित्र अभी गीताप्रेससे निकला है ।

श्रीतुकाराम-(सादा) पृष्ठ ३६१, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीतुकारामजी महाराज बैठे हरिगुणगानमें रत हो रहे हैं ।

समर्थ श्रीरामदास-(सादा) पृष्ठ ३६१, महाराष्ट्रमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके साथ देशभक्तिका प्रबल प्रचार करनेवाले और छत्रपति महाराज शिवाजीके गुरु समर्थ श्रीरामदास हाथमें माला लिये भगवन्नामका जप करते जा रहे हैं ।

भगवान् सूर्यरूपमें-(रंगीन) पृष्ठ ३६८, भगवान् श्रीसूर्यनारायणके रूपमें रथपर बैठे हैं । रथमें सात घोड़े जुते हुए हैं । सारथि अरुण घोड़ोंको हाँक रहे हैं ।

भगवान् ब्रह्मारूपमें-(रंगीन) पृष्ठ ३९२, भगवान् चतुरानन श्रीब्रह्माजीके रूपमें कमलासनपर बैठे हैं ।

गुरु नानकजी-(सादा) पृष्ठ ४००-पञ्जाबमें भक्तिका प्रचार करनेवाले हिन्दू और मुसलमानोंको समानरूपसे भगवान्‌के भजनकी शिक्षा देनेवाले सिक्खोंके आदिगुरु नानकजी गद्दीपर बैठे भगवान्‌का स्मरण कर रहे हैं ।

श्रीश्रीचन्द्रजी-(सादा) पृष्ठ ४००, गुरु नानकजीके पुत्र तथा उदासीन-सम्प्रदायके संस्थापक श्रीश्रीचन्द्रजी आसनपर बैठे हुए हरिनाम-जप कर रहे हैं ।

श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी-(सादा) पृष्ठ ४००, हिन्दू-जातिके रक्षक तथा सिक्ख-सम्प्रदायके संस्थापक गुरु गोविन्दसिंहजी गद्दीपर बैठे हैं ।

श्रीवनखण्डीजी-(नेपालवाले) (सादा) पृष्ठ४०० ।

स्वामी श्रीरामतीर्थजी-(सादा) पृष्ठ ४०१, जगत्‌में व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षा देनेवाले प्रसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ स्वामी रामतीर्थजी आसनासीन हैं ।

स्वामी सहजानन्दजी (स्वामिनारायण)— (सादा) पृष्ठ ४०१, स्वामिनारायण-सम्प्रदायके संस्थापक।

स्वामी मंगलनाथजी-(सादा) पृष्ठ ४०१, ऋषिकेशके ब्रह्मलीन महात्मा ।

स्वामी सियारामजी-(सादा) पृष्ठ ४०१, हिमालय-प्रदेशके ब्रह्मलीन महात्मा ।

भगवान् अग्निरूपमें-(रंगीन) पृष्ठ ४१६, भगवान् श्रीअग्निदेवके रूपमें बकरेके पीठपर आसीन हैं ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस-(सादा) पृ० ४३२, परम-भागवत ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंसको कौन नहीं जानता । बंगालमें भक्तिभावपूर्ण वेदान्त-धर्मके आप सुप्रसिद्ध उपदेष्टा हो गये हैं ।

श्रीप्रभु जगद्बन्धु-(सादा) पृ० ४३२, बंगालके एक महापुरुष ।

श्रीस्वामी विवेकानन्द-(सादा) पृष्ठ ४३२, परमहंस रामकृष्णके शिष्योंमें स्वामी विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं, इन्होंने वेदान्त-धर्मकी कीर्ति-पताका संसारमें, विशेषकर अमेरिकामें फहराकर हिन्दू शास्त्रोंके प्रति लोगोंमें श्रद्धाका प्रसार किया है ।

प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी-(सादा) पृष्ठ ४३२, बंगालके प्रसिद्ध महात्मा जटिया बाबा ।

स्वामी विशुद्धानन्द-(सादा) पृष्ठ ४३३, काशीके एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा हो गये हैं ।

स्वामी भास्करानन्द-(सादा) पृ० ४३३, काशीके एक परम विद्वान् संन्यासी हो गये हैं ।

तैलङ्ग स्वामी-(सादा) पृ० ४३३, काशीके एक सुप्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं, आपने २५० वर्षसे अधिक उम्रतक जीवित रहकर इस संसारका त्याग किया ।

सिद्धारूढ़ स्वामी-(सादा) पृष्ठ ४३३, महाराष्ट्र-देशके प्रसिद्ध महात्मा ।

भगवान् दत्तात्रेयरूपमें-(रंगीन) पृष्ठ ४४०, भगवान् श्रीयोगिराज दत्तात्रेयके रूपमें विराज रहे हैं ।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-(सादा) पृ० ४५६, याज्ञवल्क्यजी संन्यास लेकर घरसे जाने लगे तब उन्होंने अपनी दोनों पत्नी कात्यायनी और मैत्रेयीको घरका सामान आधा-आधा बाँट दिया, कात्यायनी तो कुछ नहीं बोली, परन्तु मैत्रेयीने कहा कि'भगवन्! क्या इस धनसे मुझे शान्ति मिल जायगी। यदि नहीं तो मुझे वह धन दीजिये, जिससे शान्ति मिले।' बृहदारण्यक उपनिषद्‌में यह कथा बड़ी ही उपदेशप्रद है।

श्रेयार्थी नचिकेता और यमराज-(सादा) पृ०

४५६, कठोपनिषद्की कथा है। यमराजने ब्राह्मण-बालक नचिकेताको बहुत-से भोग-पदार्थ देने चाहे, परन्तु उसने आत्म-तत्त्व जाननेके सिवा और कुछ भी लेना न चाहा, अन्तमें यमराजने उसे ज्ञानोपदेश किया।

गायत्री देवी-(रंगीन) पृष्ठ ४६४, प्रसिद्ध हैं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-(सादा) पृ० ४८८, बंगालके एक महापुरुष।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर-(सादा) पृ० ४८८, ब्राह्मसमाजके संस्थापकोंमें आप बंगालमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर-नामसे प्रसिद्ध हैं।

स्वामी दयानन्द-(सादा) पृ० ४८८, प्रसिद्ध आर्यसमाजके संस्थापक।

केशवचन्द्र सेन-(सादा) पृ० ४८८, नवीन ब्राह्मसमाजके संस्थापक।

ऋषि-आश्रम-(रंगीन) पृ० ४१६, वनमें सरिताके तटपर ऋषियोंका आश्रम सुशोभित हो रहा है। ऋषिवृन्द अपनी-अपनी कुटियोंके सामने बैठे ध्यान कर रहे हैं। एक ऋषि पुष्पपात्र हाथमें लिये पुष्प-चयन कर रहे हैं। आश्रममें एक सिंह अपनी हिंसक वृत्ति छोड़कर बैठा हुआ है, एक ऋषि-बालक उसके पास बैठा हुआ खेल रहा है। एक दूसरा बालक प्रेमपूर्वक हिरणको पकड़े हुए है। दो और बालक हवनकुण्डके समीप कुछ दूरीपर बैठे वेद पढ़ रहे हैं। पुष्पोंसे आश्रमकी छटा अपूर्व हो गयी है। आश्रमकी दूसरी ओर नदीकी उज्ज्वल धारा अपनी निराली छटासे बह रही है। प्राचीनकालके आश्रमोंका कैसा सुन्दर और मनोहर जीवन होता था, उसका कुछ आभास इस चित्रसे मिलता है।

महात्मा ईसा-(सादा) पृष्ठ ५०४, ईसाई-धर्मके संस्थापक और पाश्चात्य देशोंमें भक्तिका प्रचार करनेवाले।

महात्मा ज़रथोस्त्र-(सादा) पृ० ५०४, महात्मा ज़रथोस्त्र पारसी-धर्मके संस्थापक।

सुकरात-(सादा) पृ० ५०५, यूनान-देशमें प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता।

एमर्सन-(सादा) पृ० ५०५, अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एमर्सन।

टालस्टाय-(सादा) पृ० ५०५, रूस-देशमें प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी।

जेम्स एलन-(सादा) पृ० ५०५, आधुनिक युगमें इंगलैण्डमें जेम्स एलन एक प्रसिद्ध व्यावहारिक तत्त्वज्ञानी हो गये हैं।

मीरा-(रंगीन) पृष्ठ ५२१, भगवान्‌की भक्तिमें तन-मन-प्राण न्योछावर करनेवाली जगत्‌की प्रात स्मरणीया नारियोंमें अग्रगण्य मीराको कौन नहीं जानता। यह उसी भक्तिमती मीराका चित्र है। मीरा वीणा हाथमें लिये हरि-गुण-गान कर रही है।

भक्त-वत्सलता-(सादा) पृष्ठ ५३०, महाभारत-युद्ध समाप्त होनेपर शिविर-द्वारपर भगवान्‌ने अर्जुनको पहले रथसे उतरनेको कहा, रथसे उतरते ही घोड़ोंसमेत रथ जल गया, हनूमान्‌जी आकाशमें उड़ गये। भगवान्‌ने कहा, रथ तो द्रोण-भीष्मादिके बाणोंसे पहले ही जल गया था, इसे तो मैंने भस्म होनेसे बचा रक्खा था। महाभारतमें कथा है।

विश्वासी भक्त ध्रुव-(रंगीन) पृष्ठ ५४६, बालक ध्रुव वनमें मृग-चर्मपर बैठे तप कर रहे हैं।

जगत्‌-चतुष्टय-(रंगीन) पृष्ठ ५५६, वर्णन श्री-ज्योतिजीके लेख पृष्ठ ५५६ में देखिये।

सेंट फ्रांसिस-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई महात्मा। भक्तांकमें जीवनी छप चुकी है।

सेंट लूई-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई महात्मा।

सेंट कैथेरिन-(सादा) पृष्ठ ५७९, ईसाई भक्त-स्त्री, भक्तांकमें जीवनी छप चुकी है।

सेंट एलिजाबेथ-(सादा) पृष्ठ ५७९, ईसाई भक्त-स्त्री, कल्याणमें जीवनी निकल चुकी है।

सेंट गेयों-(सादा) पृष्ठ ५७९, ईसाई-भक्त-महिला।

सेंट टेरेसा-(सादा) पृष्ठ ५७९, ईसाई-भक्त-महिला।

प्रेमी भक्त सूरदास-(रंगीन) पृष्ठ ५९४, भगवद्भक्त महात्मा सूरदासजी तम्बूरा और तबला बजाते हुए हरि-गुण-गानमें मत्त हो रहे हैं।

गजराज-उद्धार-(सादा) पृष्ठ ६१०, गजराजको उबारनेके लिये भगवान् गरुड़ छोड़कर आये हैं और ग्राहको चक्रद्वारा मारकर उसका भी उद्धार कर रहे हैं।

1, 1-29

नयी सुविधा — सरल नियम

गीताप्रेसकी शिक्षाप्रद, सुन्दर, सचित्र और सस्ती पुस्तकें

पौने मूल्यमें प्राप्त करनेका उपाय

स्थायी ग्राहक बनानेका प्रबन्ध

अनेक प्रेमी सज्जन प्रायः कहा करते थे कि प्रेससे जो नयी पुस्तकें निकलें, वे हमें वी० पी० से भेज दिया करो। कुछ सज्जनोंको यह शिकायत भी रहा करती थी कि हम प्रेसकी पुस्तकें मँगवाना तो चाहते हैं परन्तु हमें वह पता नहीं लगता कि कब कौन पुस्तक निकली है। अब यह प्रबन्ध किया गया है कि जो सज्जन प्रेसकी सभी पुस्तकें लेना चाहेंगे और स्थायी ग्राहकोंमें नाम लिखा देंगे उन्हें नयी पुस्तकें निकलते ही नीचे लिखे अनुसार पौने मूल्यमें भेज दी जायँगी।

स्थायी ग्राहक बननेके नियम

१–प्रत्येक स्थायी ग्राहकको अपना नाम पता साफ अक्षरोंमें लिख भेजना और १) एक रुपया पहले जमा करा देना पड़ेगा।

यह एक रुपया ग्राहकके नाममें जमा रहेगा। जब वे ग्राहक नहीं रहना चाहेंगे तब रुपया वापस कर दिया जायगा।

२–स्थायी ग्राहकोंको सभी नयी-पुरानी पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जायँगी। डाकखर्च ग्राहकोंको ही देना पड़ेगा। कल्याण, उसके विशेषांक और बाहरकी पुस्तकें स्थायी ग्राहकोंको पौने मूल्यपर नहीं मिल सकेंगी।

३–नयी पुस्तकें प्रकाशित होते ही ग्राहकोंको सूचना भेज दी जायगी और उसके बाद दो सप्ताहके अन्दर वी० पी० जायगी।

किसी सज्जनकी वी० पी० लौट आवेगी तो वी० पी० खर्च उसके नामपर जमा किये हुए १) मेंसे काट लिया जायगा, इसके बाद वे ग्राहक नहीं माने जायँगे। वी० पी० पारसलखर्च बाद देकर जो पैसे बचेंगे वे उन्हें भेज दिये जायँगे। वी० पी० पारसलखर्च एक रुपयेसे ज्यादा होगा तो ग्राहकसे वसूल किया जा सकेगा।

४–डाकखर्चमें बचत होनेके खयालसे एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें वी० पी० से नहीं भेजी जायँगी। इस सम्बन्धमें आवश्यक नियम समय-समयपर घटाये-बढ़ाये जा सकेंगे।

गीताप्रेसकी पुस्तकें

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद

अनुवादक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका

इस ग्रन्थमें क्या है ?

१–मूल भाष्य है

२–भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है।

३–श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है।

४–भाष्यके पदोंको अलग-अलग करके लिखा गया है।

५–भगवान् श्रीकृष्णके दो तिरंगे बड़े और श्रीआद्य-शंकराचार्य भगवान्‌का एक सादा चित्र है।

६–गीतामें आये हुए हरेक शब्दकी पूरी सूची है।

७–बहुत मोटे-चिकने कागजपर बम्बैया टाइपमें छपा है।

८–सस्तेपनमें अपनी जोड़ी नहीं रखता।

साइज २२×२९, ८ पेजी, पृष्ठ ४०४, मूल्य साधारण जिल्द २॥), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द २॥।)

इसपर कुछ सम्मतियाँ

गीता शांकरभाष्य तथा अनुवादसहित विलक्षण छपा है। इसे अपने रूपमें यह उपादेय ग्रन्थ अभीतक नहीं छपा था। अनेक धन्यवाद। ... ऐसे धर्मसंस्कारक ग्रन्थोंका प्रकाशन करके कितने कल्याणभाजन हुए सो कहना कठिन है।

—महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, एम० ए० वाइस चांसलर [इलाहाबाद युनिवर्सिटी]

अनेक धन्यवाद। स्वामी शंकराचार्यके ग्रन्थोंको हिन्दी भाषानुवाद सहित प्रकाशन करनेका उद्योग प्रशंसनीय है। गीता शांकरभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित करके आपने हिन्दू जनताका बड़ा उपकार किया है। बस ही हमारा आधार है। धर्महीमें अरुचि हमारे अधःपतनका कारण है। जिस उद्योगसे यह अधःपतन रुक जाय इससे बढ़कर उपकार क्या हो सकता है?

—रायबहादुर अवधवासी लाला सीताराम जी बी० ए०

आपके भेजे ग्रन्थरत्न श्रीमद्भगवद्गीता-शांकरभाष्य... मिले अनुगृहीत हुआ। गीताके शांकरभाष्यका अनुवाद तो छापकर निश्चय ही बड़ा काम किया है। यह ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी निकले

—श्री रामदास गौड़ एम० ए०

(स्वामी श्रीशंकराचार्यजीके अन्यान्य ग्रन्थोंका भी अनुवाद हो रहा है)

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, पदच्छेद, अन्वय और साधारण भाषाटीकासहित

(बड़ी गीता)

४ बहुरंगे चित्रोंसहित

आकार डिमाई ८ पेजी, मोटा कागज, ५७० पृष्ठ, साफ-शुद्ध छपाई, अक्षर बड़े, हाथ करघेके कपड़ेकी मजबूत जिल्द। मू० १।)

(एक प्रति वी० पी० से मँगानेवालोंको ॥=) डाकखर्च, -) पैकिंग और =) मनिआर्डरफीस—कुल २-) पड़ेगा। समझकर आर्डर दें)

संस्करण सातवाँ (अबतक ५६००० छप चुकी हैं)

बिना अधिक परिश्रमके ही समझ सकते हैं। विद्यार्थियोंके भी बड़े कामकी है। अर्थमें खींचातानी नहीं है। त्यागसे भगवत्प्राप्ति विषयक निबन्ध भी है। गीताके प्रधान और सूक्ष्म विषय भी हैं। ऐसी सस्ती गीता और न मिलेगी।

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, पदच्छेद, अन्वय और भाषाटीकासहित, ४ बहुरंगे चित्रोंसे सुसज्जित।

(मझली गीता)

आकार २२×२९ साइजका सोलहपेजी। चिकना कागज। ४६८ पृष्ठ। सुन्दर शुद्ध छपाई। मूल्य अजिल्द ॥≈) सजिल्द ॥।≈), यह १५००० छप चुकी है [डाक महसूल १ का ।≈), २ का ॥≈), ३ का ॥।≈)]

विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्यायके प्रधान विषय अध्यायके प्रारम्भमें ही और सूक्ष्म विषय प्रत्येक श्लोकके साथ किनारेपर ही दिये गये हैं। वह एक प्रकारसे श्लोकका साराश है। शेष बातें १।) वाली गीताके अनुसार ही हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल श्लोक और भाषाटीकासहित, २ बहुरंगे चित्रोंसे सुसज्जित

(मोटे अक्षरवाली)

आकार २०×३० सोलहपेजी। कागज चिकना। पृष्ठ ३१०। छपाई शुद्ध और सुन्दर। अक्षर मोटे। सुन्दर मुखपृष्ठसहित। मूल्य ॥) प्रथम संस्करण ३२५० सं० १९८७, द्वितीय संस्करण ५००० सं० १९८८।

श्लोक और साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय और त्यागसे भगवत्प्राप्ति नामक निबन्धसहित। इसके अक्षर मोटे और बड़े होनेके कारण यह छोटे बड़े सबके लिये बहुत ही उपयोगी हो गयी है।

श्रीमद्भगवद्गीता (सचित्र)

(मूल)

आकार २२×२९ सोलहपेजी। कागज चिकना। पृष्ठ आड़ेखुलनेवाले १०६। मूल्य अजिल्द ।-) सजिल्द ।≥), माहात्म्य, अंगन्यास, करन्यासमहित। छपाई सफाई शुद्ध और सुन्दर।

अक्षर खूब मोटे हैं। पाठके लिये योग्य है। श्रीभगवान्-

नामक निबन्ध भी जोड़ा गया है। ५१० पृष्ठकी सजिल्द पुस्तकका मूल्य केवल १।) (१-४-०) है। डाकखर्च ग्राहकोंको देना होगा।

एक पुस्तकका डाकखर्च, पैकिंग मनिआर्डरखर्च आदि मिलाकर ॥।-) (० १३-०) होते हैं। कई सज्जन साथ मिलकर अधिक पुस्तकें मँगावेंगे तो खर्चमें किफायत होगी।

श्रीमद्भगवद्गीता

बँगला टीका

मझली गीता ।≈) वालीका बंगला अनुवाद

५००० छप चुकी है

इसमें हिन्दी गीताकी सब बातें बँगलामें लिख दी गयी हैं। इसमें भी भगवान् और अर्जुनका चित्र दूसरा रंग बनाकर लगाया गया है। पदच्छेद, अन्वय, सरल अर्थ, अध्यायके प्रधान विषय, प्रत्येक श्लोकका विषय, गीता माहात्म्य आदि वैसे ही छापे गये हैं। चार सुन्दर रंगीन चित्र हैं। त्यागसे भगवत् प्राप्ति नामक निबन्ध भी जोड़ा गया है। संस्कृत शब्दके सामने ही उसका ठीक अर्थ दिया गया है। थोड़ी बँगला जाननेवाले भी इसे सरलतासे पढ़ सकते हैं। ४४० पृष्ठ हैं, दाम १) सजिल्द १।)

गीता-सूची

गीता साहित्यकी विस्तृत सूची

इसमें गीतापर लिखी गयी २२०० विभिन्न टीका, टिप्पणी, अनुवाद, लेख आदिके लेखक, प्रकाशक, मूल्य, पृष्ठ-संख्या, संस्करण आदि अनेक ज्ञातव्य बातोंका विवरण है। कोई २२ भाषाकी गीताओंका परिचय संग्रह किया गया है। यह पुस्तक बड़े कामकी है। केवल १००० छपी है। खरीदनेवाले जल्दी करें। मूल्य ॥)

गीता-दैनन्दिनी

(छप रही है)

(गीता डायरी सन् १९३३ की)

पाकेट-साइज, पृष्ठ संख्या ४०० से ऊपर मूल्य ।) सजिल्द ।-), यह डायरी जनवरीसे दिसम्बरतककी छप रही है।

इसकी पाँच सालमें २०७७० प्रतियाँ छप चुकी हैं। सन् १९३२ की डायरी तो तीन बार छपनेपर भी साल प्रारम्भ होते होते ही प्रायः समाप्त हो गयी। इसमें मिती, वार, संवत् अंग्रेजी तारीख, बँगला तारीख, प्रधान-प्रधान त्योहार, पर्व, अंग्रेजी कैलेण्डर, हिन्दी तिथि, मनुष्य जीवनका उद्देश्य, यम नियम, हरिनामसे परम शान्ति, शान्ति सन्देश, गीता जयन्ती आदि कुछ जानने योग्य बातें (रेल, डाक, तार, चिट्ठी, पार्सल, रजिस्ट्री, बीमा, वी० पी० आदिके नियम, अदालती स्टाम्पकी दर, इनकमटैक्सकी दर आदि) एक दिनके वेतनका नकशा, रेल पारसलके महसूलकी सूची, ब्याज फैलानेका नकशा, माप-तौलकी सूची (कपड़ा, वजन, अंग्रेजी सिक्का, अंग्रेजी वजन, अंग्रेजी और देशी वजन, जमीनका अंग्रेजी माप, *जमीनका देशी माप, समय, डाक्टरी वजन, डाक्टरी माप, वैद्यक वजन, कागजका माप, द्रव द्रव्योंका वजन) घरेलू नुसखे, अमूल्य वचन आदि उपयोगी बातें भी छापी गयी हैं। दो पेज घरेलू घटनाओंको लिखनेके लिये भी लगाये* गये हैं।

यह प्रत्येक गृहस्थ, प्रत्येक विद्यार्थी और प्रायः हर विभागके मनुष्यके पास रहनेयोग्य है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आपको यह लेनेसे डायरीके साथ साथ सम्पूर्ण गीता भी इसीमें मिल जायगी। एक पन्थ दो काज होंगे। इससे अधिक और क्या लाभ हो सकता है?

बड़े बड़े प्रसिद्ध पत्र-सम्पादकोंने इसकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। स्थानाभावसे यहाँ छाप नहीं सकते।

श्रीमद्भगवद्गीता

मराठी टीका

हिन्दी गीता १।) वालीका मराठी अनुवाद

(छप रहा है)

इसमें हिन्दीकी तरह ही सभी विषय रहेंगे। यह बहुत सरल सुबोध, सुन्दर, सचित्र और सजिल्द होगी। तैयार हो जानेपर 'कल्याण' में सूचना निकल सकेगी। मराठी भाषा भाषी प्रेमीगण धीरज रक्खें।

तत्त्व-चिन्तामणि (सचित्र)

आकार डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ-संख्या ४०६, २ सुन्दर तिरंगे चित्र, अक्षर मोटे और छपाई साफ, मूल्य केवल ॥।-) स० ।)

हमारे पाठक-पाठिकाएँ आपके नामसे चिरपरिचित हैं। ऐसे सज्जनके ग्रन्थपर हमारी ओरसे विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं दीखती। विद्वान् पत्र-सम्पादकोंकी इस तात्त्विक ग्रन्थपर क्या सम्मति है इसका पता निम्नलिखित कुछ वाक्योंसे लग सकेगा—

'इन लेखोंके पढ़नेसे पाठकके हृदयमें अपूर्व शान्ति और विरक्ति तथा ईश्वरके प्रति आस्थाकी भावना बढ़ती है। लेखकके स्वयं साधक होनेसे लेखोंकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।' —कर्मवीर

'यह पुस्तक प्रधानतः गीताके आधारपर जीवन-तत्त्वकी व्याख्या करती है। इसमें क्रियात्मक जीवनके विभिन्न स्वरूपोंका वर्णन है और जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें सफलता प्राप्त करनेके लिये आवश्यक भाँति-भाँतिके धर्मोंका निर्देश किया गया है। इस पुस्तकमें बतलाया गया है कि किसप्रकार गीतोक्त आदर्श धर्मका वाणिज्य-व्यापारमें भी उपयोग हो सकता है और किसप्रकार इन व्यवहारोंके द्वारा भी परमार्थ प्राप्त किया जा सकता है। यह पुस्तक वस्तुतः अपने अधिकारीके हाथमें ज्ञानकी कसौटीके समान है।' —मराठा (अंग्रेजी), पूना

'कल्याणमें जयदयालजी गोयन्दकाके समय-समयपर लिखे २९ निबन्धोंका इस पुस्तकमें संग्रह किया गया है। ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति, भगवान् क्या है, अनन्य प्रेम ही भक्ति है, उपासनाका तत्त्व, धर्म क्या है, कर्मका रहस्य आदि निबन्धोंके नामोंसे ही पुस्तकका प्रतिपाद्य विषय ध्यानमें आनेयोग्य है। धार्मिक ग्रन्थ पढ़नेकी जिनकी रुचि हो, उनको इस ग्रन्थके वाचनसे अच्छा लाभ हो सकता है।' —ज्ञानप्रकाश (मराठी), पूना।

'…गोयन्दकाजीकी 'तत्त्व-चिन्तामणि' मिली। मेरे-लिये बहुत कामकी साबित हुई है। गोयन्दकाजीकी पुस्तकका मेरेपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है, इसप्रकारकी कृतियाँ उन लोगोंके लिये ज्योतिस्तम्भस्वरूप हैं जिनको विस्तीर्ण जीवन-सागरमें उचित मार्ग बतानेवाला कोई रक्षक न हो।……'

—ताराचन्दराय एम० ए०, प्रोफेसर, बर्लिन युनिवर्सिटी।

'तत्त्व-चिन्तामणि' परमार्थ-ग्रन्थमालाका प्रथम पुष्प खिला है। इसके २९ सुशोभित दलोंके ऊपर देखनेवाले तत्त्वजिज्ञासुको प्रत्यक्ष भगवान् ही खड़े होकर अपने प्रज्वलित तेजसे तत्त्वकी चिन्ताको दूर करनेवाला 'चिन्ता-मणि' स्वयं ही पाठक-पाठिकाओंके गलेमें बाँध देते हैं। अभूतपूर्व दृश्य नजर आता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं।'

(भिन्न-भिन्न अरसोंके लगभग नवीन और प्राचीन विषयोंपर प्रामाणिक पुस्तकें लिखनेवाले महाराष्ट्रके महान् विद्वान्) —पं० भानु, बनारसाजा, सतारा।

'तत्त्व-चिन्तामणि' पढ़कर बहुत तृप्ति हुई। इसमें सरल हिन्दीमें साधनाका पथ प्रदर्शित किया गया है। वास्तवमें यह श्रीमद्भगवद्गीताकी ही सुन्दर व्याख्या है। ……साधन-तत्त्व, ध्यान-तत्त्व, जप-तत्त्व आदि अति सुन्दर भावसे प्रतिपादित हुए हैं।…… साधन-मार्गमें चित्त-शुद्धि-प्रभृतिके लिये धर्मकी जो आवश्यकता है, वह सुन्दर भावसे दिखलायी गयी है। छपाई और कागज उत्कृष्ट है। मूल्य नाममात्र ॥।-)…… धर्मजिज्ञासु हिन्दू-मात्रके लिये इस पुस्तकका पठन करना कर्त्तव्य है।

—हितवार्ता (हिन्दी), कलकत्ता।

'गोयन्दकाजीने इन लेखोंमें जो आध्यात्मिक तत्त्व कूट-कूटकर भरा है, वह धार्मिक जिज्ञासुओंके मननयोग्य है। इस पुस्तकके पढ़नेसे मनको एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। पुस्तक उपादेय और संग्रहणीय है।'

—वर्तमान, कानपुर।

'तत्त्व-चिन्तामणि वस्तुतः पठनीय और माननीय ग्रन्थ हुआ है। सचित्र और सस्ते दामोंमें सुलभ होनेके कारण उसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। आदर-णीय गोयन्दकाजी भक्ति-साहित्यकी जो अमर सेवा कर रहे हैं, वह उन्हींके अनुरूप है।'

—श्रीकाशीनाथजी न० सम्पादक 'नवजीवन'।

'तत्त्व-चिन्तामणि' अनेक विचारपूर्ण विषयोंसे परिपूर्ण है। भाषा प्रौढ़ और चित्ताकर्षक है। यह पुस्तक धर्म-जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपकारक है।'

पुस्तकमें धर्मका भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठसे सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। लेखकको अपने मतका प्रचार नहीं करना है, इसलिये उन्हें किसी बातका आग्रह नहीं है। उन्होंने जगतके सत्योंको अपनी आँखोंसे अपने लिये देखनेकी कोशिश की है, यही उनको इसका अधिकारी बना देता है कि उनकी बात सुनी जाय। लेखकीने पृ० जी० वैल्सके लिये लिखा है— Whoever sees the world genuinely through his own eyes challenges the world,' अर्थात् जो सचाईके साथ संसारको स्वयं देखता है, वह औरोंके मतको चुनौती देता है। इसलिये वह नये ढंगसे बात कहता है और यह उसकी प्रकाण्ड योग्यता है। 'तत्त्व चिन्तामणि' इसी ढंगकी पुस्तक है, जो श्रद्धालु मनुष्योंको स्वयं सोचने और सत्कर्म करनेपर बाध्य करती है। यों तो पुस्तकके सभी लेख सुपाठ्य हैं और उनमें धर्मका प्रबल भाव पाया जाता है, तो भी 'ज्ञानकी दुर्लभता', 'निराकार-साकार तत्त्व', 'भगवान् क्या हैं' 'गीतामें भक्ति', 'सच्चा सुख', 'गीतोक्त संन्यास' और 'निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' तथा 'व्यापारसुधारकी आवश्यकता' और 'व्यापारसे मुक्ति' शीर्षक लेख बहुत ही सुन्दर और लाभप्रद हैं। पिछले दो लेख तो अमृत-रूप हैं। —माधुरी

'तत्त्व चिन्तामणि'में (१) गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग (२) सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय (३) श्रीप्रेम भक्तिप्रकाश (४, भगवान् क्या हैं? (५) त्यागसे भगवत् प्राप्ति और (६) धर्म क्या है? नामके लेख भी शामिल हैं। ये लेख अलग अलग पुस्तकाकार भी छपे हैं।

परमार्थ-पत्रावली

(सचित्र)

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके कल्याणकारी ५१ पत्रोंका छोटा सा संग्रह, पृष्ठ १४४ एण्टिक कागज, मूल्य।)

इन चिट्ठियोंमें अनेक लोगोंके अपनी साधन सम्बन्धी कठिनाइयाँ, व्यवहार सम्बन्धी प्रश्न और परमार्थ-सम्बन्धी शङ्काएँ पूछी हैं, उनके उत्तर दिये गये हैं। साधनहीन और भगवत् भजन स्मरण न करनेवालोंको चेतावनी दी गयी है। कई पत्र तो मानसिक रोगोंके लिये खाटी-मीठी हितकारी दवाके समान हैं। इन पत्रोंमें कितने विषयोंके उपदेश आये हैं सो जल्दी लिखकर बता सकना कठिन है। बड़ी ही उपादेय पुस्तक है। छपाई आदि भी साफ है।

यह ग्रन्थ अपने पूजनीय जनों और प्रेमी सज्जनोंको भेंट देने योग्य है।

गीता-निबन्धावली

यह 'गीताके कुछ जानने योग्य विषय' नामक पुस्तकके ६ उपयोगी लेखोंके साथ दूसरे ६ महत्त्वपूर्ण लेख जोड़कर हालहीमें छापी गयी है। गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये उपयोगी संग्रह है। यह गीता परीक्षा समितिकी मध्यमाकी पढ़ाईमें रक्खी गयी है। सुन्दर टाइप, चिकना कागज, पृष्ठ संख्या ८८, मूल्य केवल =)॥

गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग

इसमें अनुभव और युक्तिसे गीताके उक्त दो विषयोंपर बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गयी है। बड़े बड़े गीताप्रेमियों और पण्डितोंने इसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। गीताके इन अत्यन्त जटिल विषयोंको बहुत ही सुगम और सुबोध बना दिया गया है। पृष्ठ ४०, मूल्य केवल -)॥, दो बारमें ७००० छप चुकी है।

सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय।

इस जड़वादके युगमें जिस अलौकिक आनन्दसे लोग विमुख से हो रहे हैं, उसकी प्राप्ति निस्सन्देह इस मनुष्य-देहसे ही हो सकती है, इस विषयपर बड़े उत्तेजक शब्दोंमें जोर दिया गया है। भगवत्प्राप्तिके सुगम साधनोंका बड़े तात्त्विक ढंगसे इसमें विवेचन किया गया है। भगवद्दर्शन, आत्मसाक्षात्कारको असम्भव अथवा कठिन मानकर उपराम हो जानेवाले सज्जन तथा साधन तत्पर साधकोंको इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्यानादिका रहस्यपूर्ण भेद और सरल विधि जाननेके इच्छुकोंको इसे पढ़नेके लिये हमारा विशेष अनुरोध है। मूल्य -)॥ संस्करण दूसरा, १००० छप चुकी है।

श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ जानने योग्य विषय

सुन्दर मोटे टाइपमें छपी हुई, पृष्ठ-संख्या ४३, मू० -)॥ पुस्तकका विषय नामसे ही जान पड़ता है। इसमें सरल सुबोध भाषामें गीताके कुछ विषय समझानेकी चेष्टा

की गयी है। पुस्तक सबके मनन करने योग्य है। इसकी अनेक विद्वानोंने प्रशंसा की है।

(१) गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका स्वरूप (२) जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद (३) कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप (४) अर, अक्षर और पुरुषोत्तम (५) गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद (६) ज्ञान-योग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग। यह ६ निबन्ध इस पुस्तकमें हैं।

सम्मतियाँ

''''''पुस्तक वास्तवमें गीताकी उत्तम कुञ्जी है।

—श्री आर० एम० शास्त्री

'लेखकने'''प्रमाणसहित अपने विचार प्रगट किये हैं। गीताको आद्योपान्त पढ़ चुकनेपर गीताके प्रेमियोंको एक बार इस पुस्तकको भी देखना चाहिये।'

—'कुसुमाकर' बा० ए०, एल-एल० बा०

'गीताको सुबोध बनानेके लिये और समन्वयके लिये ऐसी पुस्तकोंकी बड़ी आवश्यकता है।

—गौरीशङ्कर यानिक एम० ए०

'इस पुस्तकमें गीताके कतिपय जटिल तथा तात्त्विक विषयोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है।'

—आनन्द, लखनऊ

'इसमें गीताके कुछ विषयोंका विवेचन है जो गीताके पढ़ने और समझनेमें सहायता दे सकता है।'

—जयाजी प्रताप, ग्वालियर

गीताका सूक्ष्म विषय

इसमें गीताके प्रत्येक श्लोकका सरल हिन्दीमें सारांश दिया गया है। इस पुस्तिकाको याद कर लेनेपर एक छोटा-सा बालक भी यह बता सकता है कि गीताके किस श्लोकमें क्या विषय है। पाकेट-साइज, पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य -)। २००० छप चुकी है।

श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश

(सातवाँ संस्करण, दो रंगीन चित्रोंसहित)

मनकी उसकी कपटपूर्ण प्रार्थनाओंके लिये जीवात्माके द्वारा भर्त्सना, भगवान्‌के प्रभावका प्रार्थनाके रूपमें कथन तथा साकार ईश्वरकी मानसिक-पूजा आदिका बड़ी रोचक शैलीसे वर्णन किया है। साधक सगुण भगवान्‌के ध्यानमें मग्न होकर किसप्रकार अद्वैतानन्दका अनुभव कर सकता है, इसका रहस्य इस छोटी-सी सारगर्भित पुस्तिकाके पढ़नेसे भलीभाँति मालूम हो सकेगा। श्रीविष्णु भगवान्‌के २ रंगीन चित्र देनेपर भी मूल्य केवल -) ही रखा गया है।

भगवान् क्या हैं ?

भगवान्‌के विषयमें मनुष्योंको अधिकतर जो शङ्काएँ होती हैं, उनका समाधान गीतादि शास्त्रों और अपने अनुभवके आधारपर किया गया है। छोटी-सी पुस्तकमें परमार्थ-तत्त्व भर देनेकी चेष्टा की गयी है। भगवद्ध्यानकी विधियाँ भी लिखी गयी हैं। भाषा सरल है। मूल्य -) इसकी १५००० पुस्तकें छप चुकी हैं।

त्यागसे भगवत्प्राप्ति

गृहस्थमें रहता हुआ भी मनुष्य जिन सात प्रकारके त्यागोंके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है, उनका प्रतिपादन इसमें किया गया है। तीन भूमिकाओंमें विभाजित ये सातों त्याग भगवत्प्रेमियोंके जाननेयोग्य हैं। इसके पठनसे साधक अपने साधनकी स्थितिका अच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मोक्षमन्दिरकी प्राप्तिके लिये यह अवश्य ही पथप्रदर्शक है। मूल्य -), इसकी १०४०० पुस्तकें छप चुकी हैं।

धर्म क्या है ?

नामसे ही पुस्तकके विषयका पता लग जाता है। प्रश्नोत्तरके ढंगपर होनेसे यह पुस्तिका बड़ी रोचक बन गयी है, जाननेयोग्य आवश्यक बातोंका इसमें उल्लेख कर दिया गया है। मूल्य)।, इसकी २६००० पुस्तकें छप चुकी हैं। यह बाँटनेके लिये बड़ी अच्छी चीज है।

गजल गीता

[चौथी बार ५०००० छपी है]

लड़कोंके गानेयोग्य एवं नित्य पाठके योग्य सरल हिन्दीमें गजलके ढंगपर गीताके बारहवें अध्यायके कुछ उपदेशोंका अनुवाद है, इसे लड़के खूब पसन्द करते हैं। मूल्य आधा पैसा मात्र।

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और सम्पादित कुछ पुस्तकें—

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रचित

विनय-पत्रिका

सरल हिन्दी टीका सहित

पृष्ठ लगभग ४५०, चित्र ५ सुनहरी, २ रंगीन १ सादा, मूल्य १) सजिल्द १।)

श्रीगोस्वामीजीके इस विनय, प्रेम और उपदेशपूर्ण ग्रन्थके विषयमें प्रायः सभी कुछ जानते हैं। ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ गोस्वामीजीके भजन कोई न जानता हो। अवश्य ही सन्तोंकी वाणीमें अमिट, चिरस्थायी प्रभाव रहता है, तभी तो हम आजतक उनको गा गाकर लाभ उठाते हैं।

स्वामीजीके पदोंका सरल हिन्दी भाषामें सबके समझने लायक भावार्थ लिखा गया है। प्रचारके विचारसे मूल्य बहुत अनुकूल रक्खा गया है। पुस्तक मोटे अक्षरोंमें छपी है जिससे सबके पढ़ने योग्य है।

व्यक्तिगत सम्मतियाँ

'विनय पत्रिकाकी टीका बड़ी सुन्दर है। मुझे उसने मोह लिया। गोस्वामीजीका भावार्थ आपने सरल भाषामें बड़ी योग्यतासे लिख दिया। बधाई है। मैं इस पुस्तकको अपने सामने सदा रक्खूँगा। मेरी कृतज्ञताको स्वीकार कीजिये।' —[illegible] द्विवेदी

'विनय पत्रिका ... नितान्त सुन्दर है। ...'

—[illegible]

पोद्दारजीने प्रत्येक पदका सुन्दर और सरल भाषामें भावार्थ लिखनेकी चेष्टा की है ... । यदि इस टीकाको सब टीकाओंका सार कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। पुस्तक संग्रह करनेयोग्य है।' —देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर)

मासिक पत्रोंकी सम्मतियाँ

' ... । पोद्दारजीकी यह कृति अत्यन्त सरल तथा सुगम होनेके अतिरिक्त सहजलभ्य भी है। अतएव भक्तजनोंके लिये यह एकदम आवश्यक वस्तु है।' —[illegible]

' ... । यह सरल भाषानुवाद होनेके कारण भाषा भाषियोंके लिये एक उत्तम भक्ति रस धनाका ग्रन्थ हो सकता है। छपाई उत्तम, मूल्य सस्ता तथा भाषा अति सरल होनेसे यह ग्रन्थ भक्तोंके घर रहनेयोग्य है।'

—[illegible]

' इसके अनेक संस्करण अनेक स्थानोंसे निकले हैं पर यह सबमें अच्छा है। मूल्य भी यथासम्भव सस्ता है।' —ब्राह्मणसर्वस्व

' इतना सुन्दर सचित्र और सुलभ संस्करण प्रकाशित करके हिन्दीजनताका निश्चितरूपसे उपकार किया है।' —हिन्दी प्रचारक

इनके सिवा अन्य पत्र पत्रिकाओंकी अनेक सम्मतियाँ स्थानाभावके कारण छापी नहीं जा सकीं।



नैवेद्य

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके

२८ लेख और ६ कविताओंका सचित्र नया सुन्दर ग्रन्थ।

छपाई-कागज बढ़िया पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥=) सजि० ॥।-) इसमें प्रार्थना, चेतावनी, गीता, सत्सङ्ग, स्वराज्य, साधना, तृष्णा वासना, तुम आगे आते, संसार नाटक, सन्त और विघ्न, पहिले अपनी ओर देखो! वशीकरण, सती महिमा, श्रीरुक्मिणीका अनन्य प्रेम, ईश्वरकी ओर झुकें, श्रद्धाकी कमीका कारण, गुरु-शिष्य संवाद, अभिमान, भक्ति रुक्मिणी, कैकयी, द्रौपदी होली और कई विषयोंपर सभी स्त्री और पुरुषोंके योग्य लेख हैं। एक पुस्तक मँगवाकर देखें।

भगवान्का चित्र बड़ा ही सुन्दर है।

हैं, उनके लिये यह पुस्तक बड़ी सहायक और उपयोगी है। प्रत्येक साधकको इसकी एक प्रति सदा अपने पास अवश्य रखनी चाहिये। पृष्ठ ७२, मूल्य ≈)॥, इसमें भगवान् श्रीकृष्णका एक अत्यन्त मनोहर चित्र है। केवल २ वारमें १०००० छप चुकी हैं।

पुस्तक इतनी सुन्दर है कि एक मराठीके मासिक पत्रमें भी हाथों हाथ छप गयी है।

स्वामी श्रीविज्ञानहंसजी लिखते हैं—

'साधन पथ पढ़कर अत्यन्त आनन्द हुआ। आपका परिश्रम और विचार बहुत ही सराहनीय है। साधकोंके लिये सच्चा पथ प्रदर्शक है। अवश्य ही अपने पास रखकर सदा अध्ययन करते रहना चाहिये।'

हिन्दू विश्वविद्यालय काशीके धर्म शिक्षक लिखते हैं—

' साधनमें बड़ी सहायता देनेवाली है। पढ़कर यही विचार मेरे मनमें उठा कि लेखक महाशयने उन सब ही बातोंको बता दिया जिनको साधन पथके पथिकको ध्यानमें रखना चाहिये।'

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी (सचित्र)

(पाँचवाँ संस्करण)

यह पुस्तक कई पाठशालाओंमें पाठ्य पुस्तकके रूपमें पढ़ायी जा रही है। वर्तमान समाजके डाँवाँडोल और दूषित वायुमण्डलको दृष्टिकोणमें रखते हुए यह पुस्तक प्रेमी सज्जनोंके विशेष आग्रहसे लिखी गयी थी। कन्याओंके कोमल हृदयोंमें इसके निरन्तर पाठसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़नेकी सम्भावना है। सधवा स्त्रियोंके धर्मका बड़ी रोचक शैलीसे विशद वर्णन किया गया है। पति सेवाके दिव्य व्रतका पालन करती हुई गृह देवियाँ किसप्रकार मनुष्य जन्मके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गमें तत्पर, अग्रसर और सफल हो सकती हैं, इसका सप्रमाण उल्लेख करके गागरमें सागर भर दिया है। विधवा धर्मका निरूपण भी उत्तमतापूर्वक किया गया है। प्रश्नोत्तरके रूपमें होनेसे यह पुस्तक बड़ी रोचक बन गयी है। दाम्पत्य प्रेम और गृहस्थादर्शको हिन्दूघरोंमें देखनेके इच्छुकोंको इसका प्रचार विशेषरूपसे करना चाहिये। पृष्ठ ५६, मूल्य ≈), नये संस्करणमें एक तिरंगा चित्र भी लगा दिया गया है। ४१००० छप चुकी है।

मनको वशमें करनेके उपाय (सचित्र)

(चौथा संस्करण)

मनका स्वरूप क्या है, साधकको इसके आक्रमणोंका किसप्रकार सामना करना पड़ता है तथा अन्तमें इसपर किसप्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है—इत्यादि जानने योग्य बातोंका उल्लेख बड़ी रोचक शैलीसे किया गया है।

आरम्भमें श्रीविष्णुका एक चित्र भी दिया गया है। मूल्य –)।, इस पुस्तककी अबतक २१००० प्रतियाँ छप चुकी हैं।

ब्रह्मचर्य

(चौथा संस्करण)

इसमें शास्त्र और अनुभवका निचोड़ है। पाठशालाओंमें यह धर्म शिक्षाकी पाठ्य पुस्तक नियत की जा सकती है। ब्रह्मचर्यके महत्त्व और उसके सूक्ष्म तत्त्वोंपर बड़ा मार्मिक विवेचन किया गया है। ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपाय बताये गये हैं। मूल्य –), इसकी २५००० प्रतियाँ छप चुकी हैं।

समाज-सुधार

(तीसरा संस्करण)

समाजके जटिल प्रश्नोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सुधारके प्रधान साधनोंका उल्लेख भी कर दिया गया है। पुस्तक उपयोगी है। पृष्ठ संख्या ४०, मूल्य –), इसकी ८००० पुस्तकें छप चुकी हैं।

कुछ सम्मतियाँ

'विवेककी छाप प्रत्येक वाक्यपर लगी हुई है।'

—बावनशङ्कर याज्ञिक एम०ए०

'इसमें बाल विवाह, वृद्ध विवाह, ब्रह्मचर्याश्रम आदि अनेक विषयोंपर लेखकने जो कुछ लिखा है वह बड़ा सुन्दर लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्र की मर्यादाकी रक्षा करते हुए जिन कुरीतियोंको दूर किया जा सकता है उनपर लेखकने जोर दिया है। पुस्तक पढ़ने योग्य है।'

—ब्राह्मणसर्वस्व, इटावा

'इसमें समाजके अङ्ग प्रत्यङ्गमें धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सुधार लानेके मार्ग दिखाये गये हैं। अस्तु, ग्राह्य है।'

—श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार, बम्बई

'इसमें ··· छोटे-छोटे लेख हैं । ये लेख गम्भीरता और सहिष्णुतासे परिपूर्ण हैं । इसमें किसी पक्षको व्यर्थ ही दोषी नहीं ठहराया गया, किन्तु उचित तर्कसे लेखकने अपनी सम्मतिके औचित्यका बड़ी ही रोचक भाषामें दिग्दर्शन कराया है ··· ··· यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्तिके पढ़ने और लाभ उठाने योग्य है ।'

—प्रताप, कानपुर

आनन्दकी लहरें

इसमें हम दूसरोंको सुख पहुँचाते हुए खुद कैसे सुखी हो सकते हैं, यह बड़े सुन्दर शब्दों, बड़े सुन्दर विचारों, बड़े सुन्दर ढंग और बड़ी सुन्दर छपाईमें बताया गया है । मू० केवल -)॥

सम्मतियाँ

···यह एक पुस्तक तो बड़ी ही सुन्दर है। 'आनन्दकी लहरें' लिखकर ... कमाल किया है ! मुझे तो वह बहुत ही पसन्द आयी । ··· ··· इस सुन्दर पुस्तक-प्रणयनके लिये अनेक साधुवाद ।

—वियोगी हरि

२० पेज मोटे कागजपर मोतीके समान २ अक्षरोंसे सुशोभित पुस्तकमें ··· ··· ने भगवान्-भक्ति-मन्दाकिनीमें आनन्दकी लहरें लहरा दी हैं । आरम्भमें गोपीकुमार मुरलीधरका अभिनव तिरङ्गा चित्र है । ऐसी सुन्दर पुस्तकका मूल्य सिर्फ टेढ़ आना ।

—श्रीजगदीश झा 'विमल'

क्या याद रखना और क्या भूल जाना समझाते हुए कुछ ऐसा बोध दिया गया है कि यदि वह जीवनमें व्यवहार किया जाय तो अवश्य ही यशस्वी बनाता है । ··· ···

मुम्बई समाचार (गुजराती)

दिव्यसन्देश

वर्तमान समयके तामसिक युगमें किन उपायसे शीघ्र भगवत्-प्राप्ति हो सकती है, इस पुस्तिकामें इस बातके सरल उपाय बतलाये गये हैं । मूल्य)।, यह पुस्तक गुजराती, मराठी, बंगला, गुरमुखी और अंगरेजीमें भी मिल सकती है । बाँटनेके लिये बड़ी अच्छी है ।

श्रीवियोगी हरिजीद्वारा लिखित कुछ पुस्तकें—

पवित्र प्रेमकी अपूर्व झाँकी
हृदयकी कलियाँ खिला देनेवाला
प्रेम-योग

दो खण्ड, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटे एण्टिक कागज, मनोहर चित्रसहित मूल्य १।) सजिल्द १॥)

हिन्दी-साहित्य-जगत् श्रीवियोगी हरिजीके नामसे अपरिचित नहीं है । आपहीकी भावुकतापूर्ण लेखनीसे लिखा हुआ यह ग्रन्थ अपने ढंगका एक ही है । सजीव भाषा और दिव्य भावोंसे सना हुआ यह प्रेम-योग प्रेम-साहित्यका एक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रायः सभी धर्मावलम्बियोंके प्रेम-विषयक आदर्श, अनुभवों और मनोहर सूक्तियोंका विचित्र संग्रह है । सन्तों, महात्माओं, भक्तों और अनुभवी कवियोंके प्रेमपर निकले हुए हृदयहारी उद्गारोंका अभूतपूर्व ऐसा आलोचनात्मक विशद संग्रह निस्सन्देह पठनीय है । २९ निबन्ध दो खण्डोंमें बाँट दिये गये हैं । कुछके नाम देखिये—

(१) मोह और प्रेम (२) प्रेमका अधिकारी (३) लौकिकसे पारलौकिक प्रेम (४) प्रेममें अधीरता (५) प्रेममें अनन्यता (६) प्रेमियोंका मन-मजहब (७) प्रेमियोंकी प्रेम-गाथाएं (८) प्रेम-व्याधि (९) प्रेमोन्माद (१०) प्रेम-प्याला (११) प्रेम पन्थ (१२) प्रेम-विरह (१३) प्रेमाश्रु (१४) प्रेमीका हृदय (१५) प्रेमीका मन (१६) कुछ आदर्श प्रेमी (१७) मधुर-रति (१८) स्वदेश-प्रेम ।

कुछ सम्मतियाँ—

आचार्य श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदीकी सम्मति—

'आपकी भेजी हुई तीनों पुस्तकें मिली हैं—प्रेम-योग, मानव-धर्म और साधन-पथ । परमार्थविषयक इतनी अच्छी पुस्तकें हिन्दीमें मैंने नहीं देखीं । ··· जो तत्त्व और ज्ञान संस्कृतके बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें निहित है उसे आपने सभीके लिये कौड़ीमोल सुलभ कर दिया । ··· ···ये पुस्तकें रत्नवत् हैं ।

गोस्वामी तुलसीदासजीके वात्सल्यरसके दिग्दर्शनवाले पैंतीस पृष्ठ पढ़नेमें मेरी जो दशा हुई है उसे मेरा हृदय ही जानता है। प्रायः दो दो चार चार पंक्तियाँ पढ़ते समय मेरी आँखोंसे धाराप्रवाह आँसू बहते थे, बार-बार ऐनक हटा हटाकर मैं उन्हें पोंछता था और फिर आगे पढ़नेका प्रयत्न करता था। कई बार इच्छा हुई कि किसी दूसरी बार कलेजेको कड़ा करके इतने पृष्ठोंका अवलोकन करूँगा, परन्तु पोथी छोड़ना भी नहीं बन सका।

लोकमान्य तिलकद्वारा प्रतिष्ठित और श्रीकेलकरजी द्वारा सम्पादित प्रसिद्ध महाराष्ट्र पत्र 'केसरी' के उद्गार सुनिये—

'प्रेमका अर्थ कामक्रीडा नहीं। प्रेमका स्वरूप तो इससे कितना ही उच्च है। वह कैसा है? इस पुस्तकमें श्रीवियोगी हरिजीने उत्तम और विशद प्रकारसे दिखाया है। 'जो प्रेम शरीरके साथ क्रीडा करता है वह प्रेम नहीं मोह है।' इस तत्त्वको लेखकने भली प्रकार दिखाया है।

• प्रेमके विविध स्वरूपोंका मार्मिक विवेचन किया गया है। दूसरे खण्डमें विश्वप्रेम क्या है, यह दिखाकर सूरदास, तुलसीदासके काव्योंमें वात्सल्यरस कैसा ओत-प्रोत है यह दिखा मातृभक्ति और स्वदेशप्रेमके स्वरूपका वर्णन किया गया है। पुस्तक पठनीय है।'

वैदिक-अन्वेषणकारी श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजीके 'वैदिकधर्म' की सम्मति—

'यदि इस जगत्में कुछ दिव्य वस्तु है तो केवल प्रेम ही है। यदि इस स्थूल जगत्में रहते हुए चैतन्य जगत्का अनुभव करना है तो अपने अन्दर प्रेमकी वृद्धि करना चाहिये। सच्चा, उच्च और दैवी प्रेम कौन-सा है और घातक मोह कौन सा है, यह साधारण मनुष्य नहीं जान सकता।

• जो यह 'प्रेम-योग' पुस्तक पढ़ेंगे वे उच्च प्रेम और हीन मोहका अन्तर जान सकते हैं। पुस्तक गीता प्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है, इतना कहनेमात्रसे इसकी उत्तमताका निश्चय हो सकता है।'

गीतामें भक्ति-योग

(गीताका बारहवाँ अध्याय)

भूमिका लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

साइज २०×३० सोलह पेजी, एण्टिक कागज, भगवान्‌के २ बहुत सुन्दर बहुरंगे चित्र, पृष्ठ-संख्या ११८, सुन्दर साफ छपाई, मूल्य ।-)

आप जैसे भावुक विद्वान्‌द्वारा लिखी गयी पुस्तकके विषयमें विशेष कहना व्यर्थ है। आपके अन्य ग्रन्थोंकी तरह यह पुस्तक भी बहुत सुन्दर हुई है। स्थान-स्थानपर अनेक भगवद्भक्त, हिन्दी कवियोंकी उक्तियाँ देनेसे पुस्तक और भी सुन्दर हो गयी है। भाषा ऐसी मुहावरेदार है कि पढ़ते ही मन प्रसन्न हो जाता है। एक तो गीताके साकार भगवान्‌का वर्णन और दूसरे प्रेम और भक्तिके सरस उदाहरणोंके होनेसे पुस्तक सबके लिये उपयोगी हो गयी है।

सम्मतियाँ

भाषा बहुत सुन्दर और ओजपूर्ण है, जिसका प्रभाव हृदयपर पड़े बिना नहीं रहता। कई स्थलोंपर सन्त, महात्माओंकी वाणियोंसे उद्धरण भी लेखकने दिये हैं जो पुस्तकको और भी आकर्षक बनाते हैं। प्रत्येक गीताप्रेमीको अवश्य पढ़ना चाहिये। पढ़नेपर ही कोई समझ सकता है कि वास्तवमें इस पुस्तकमें कैसी अनूठी सामग्री लेखकने एकत्रित की है। पुस्तकमें दो तिरंगे चित्र दिये गये हैं। पहला 'विश्व विमोहन मोहन' नामका चित्र इतना सुन्दर है कि इस अकेले चित्रको ।-) पाँच आनेमें लेकर कोई पछता नहीं सकता। —देवीप्रसाद गुप्त

गीताके भक्ति प्रकरणसे श्रीवियोगी हरिजीने अपनी स्वाभाविक सरसता एवं भक्तिका सुन्दर मनोहर बाग हरा-भरा किया है जिसमें कई महान् पुरुषोंके उद्गार उत्तम ढंगसे सप्रमाण लहलहा रहे हैं। अति लाभदायक है। —[illegible] विशारद साहित्यालङ्कार

मार्मिक विवेचनात्मक ... है तथापि उसमें साधनात्मक अनुभवका भी अच्छा समावेश किया गया है।

—श्री र० मि० शास्त्री

......विशद व्याख्या अतीव सरल, सुन्दर तथा प्रेम-रसमें सराबोर है। गीता-प्रेमियोंको एक बार देखना चाहिये।......

—हिन्दी-बङ्गवासी, कलकत्ता

गीतेंत कर्मयोग आहे हे सिद्ध करण्याच्या भरांत भक्ति-योगाला गीतेने किती महत्त्व दिलें आहे, इकडे विद्वान् लेखकांचें जावें तितकें लक्ष गेलेलें दिसत नाहीं, 'वियोगी हरि' यांनीं सदरहू ग्रन्थ शांत गीतेच्या त्या कांहींशा अपरिचित भागावर प्रकाश पाडून भक्तिमार्गानुसारी लोकांना समाधानाला एक जागा उत्पन्न केली आहे. विषयच भक्ति-प्रेमाचा असल्यानें आनंदाला उणीव नाहींच.

—गोरक्षण (मराठी), पूना

भजन-संग्रह (पहला भाग)

पृष्ठ-संख्या २००, इसमें चुने हुए भजनोंका संग्रह है। मूल्य केवल =) संस्करण तीसरा, कुछ ही महीनोंमें १५००० छप गया। भक्तोंकी वाणी गंगाकी धाराकी तरह पवित्र होती है। दुःखोंमें पड़े हुए प्राणियोंको इसमें गोता लगानेसे सुख मिलता है। इस वाणीमें बल, साहस, श्रद्धा, प्रेम और भक्ति भरी हुई है।

इस भागमें तुलसीदासजी, सूरदासजी, कबीरजीके चुने हुए रसीले भजन हैं। यह पुस्तक सदा पास रखने योग्य है।

भजन-संग्रह (दूसरा भाग)

इस पुस्तकमें आपको बीस सन्तोंके भजन एक साथ मिल जायँगे। भजन-संख्या २०५, पृष्ठ १८९, मूल्य =)

भजन-संग्रहके इस दूसरे भागको दो खण्डोंमें विभक्त करके छापा गया है।

पहले विभागमें व्रजके महात्माओंकी रसीली वानियाँ, श्रीकृष्ण-प्रेमार्णवमें निमग्न हुए महापुरुषोंके भजन हैं। महात्मा सूरदासजीके पद पहले भागमें आ चुके हैं। इस भागमें अष्टछापके अन्य अनन्य भक्तोंके तथा हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, गदाधर भट्ट, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, व्यासजी, श्रीभट्ट, सूरदास मदनमोहन, नागरीदास, भगवतरसिक, नारायणस्वामी, ललितकिशोरी आदिके 'पद' हैं।

दूसरे खण्डमें अवध्यानुभवी दादूदयाल, रैदास, सुन्दरदास, चरनदास, गुरु नानक, दरियासाहब आदि प्रेमी सन्तोंके अनुभवके रंगमें रँगे हुए कुछ पदोंका संक्षिप्त संग्रह है। वास्तवमें यह शब्द मनुष्यके प्राण-प्राण हैं।

भजन-संग्रह (तीसरा भाग)

कुछ भगवद्भक्त माताओंके चुने हुए भजनोंका छोटा-सा संग्रह, पृष्ठ-संख्या १६०, भजन संख्या १५२, कागज चिकना, छपाई बढ़िया, मूल्य =) मात्र।

(१) मीराबाई, (२) सहजोबाई, (३) दयाबाई, (४) प्रतापबाला, (५) श्रीयुगलप्रिया, (६) रानी रूपकुँवरि आदिके प्रेमपूर्ण चुने हुए भजन हैं। यह संग्रह सबके अपनानेकी चीज है। जिसप्रकार पहले दो भाग बिके, उसी प्रकार यह भी बिकनेकी आशा है।

इसी प्रकार अनेक सन्त-महात्माओंके भजनोंका संग्रह ४-५ भागोंमें प्रकाशित हो सकता है।

श्रीकृष्ण-विज्ञान

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद

(सचित्र)

अनुवादक-पुरोहित रामलालजी

पृष्ठ लगभग २५०, मोटा एण्टिक कागज, साफ सुन्दर छपाई। शुद्धिका भरसक खयाल रक्खा गया है। मूल्य ।) सजिल्द ।।) मात्र। केवल ५२५० छपी है।

यह छन्दोऽनुवाद दस वर्ष पहले अजमेरसे प्रकाशित हुआ था। तब अनेक विद्वानोंने इसकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की थी। इस समय यह अप्राप्य था। अब हमको यह पुस्तक प्रकाशित करनेका अवसर मिला है।

पहले संस्करणमें गीताके मूल श्लोक नहीं थे। इस बार यह कमी दूर कर दी गयी है। प्रत्येक श्लोकके ठीक सामने ही उसका कवितामें अनुवाद छापा गया है। लेखक महोदयने यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन करके पुस्तकको और भी शुद्ध करनेका प्रयत्न किया है। छपाई बड़े सुन्दर ढंगसे की गयी है। भगवान्के दो सुन्दर तिरंगे चित्र भी हैं।

इतना होनेपर भी मूल्य प्रचारार्थ पहलेसे बहुत कम रक्खा गया है।

कुछ सम्मतियाँ छापकर पुस्तकमें जोड़ दी गयी हैं, उनको देखनेसे ही आप कुछ जान सकेंगे कि यह अनुवाद कैसा हुआ है। अधिक क्या कहें!

१—श्रुतिकी टेर (सचित्र)

पृष्ठ संख्या १५०, एण्टिक कागज, सुन्दर छपाई, मूल्य केवल ।)

आरम्भमें एक सुन्दर दुरंगा चित्र भी लगाया गया है।

हमारे पाठकोंको श्रीबाबाजी और उनके उपदेशोंका अधिक परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं। आप-जैसे त्यागी, वैरागी महात्मा अपना अमूल्य समय देकर हमलोगोंके लिये कुछ लिखते हैं, यह उनकी बड़ी दया है। पुस्तक सीधी सादी बोलचालकी-सी कवितामें लिखी गयी है और दो खण्डोंमें विभक्त है। इसमें धर्मशास्त्रके अनुकूल आहार-विहार और वर्तनेकी शिक्षाके साथ-साथ त्याग और भगवत्-प्रेमका उपदेश दिया गया है। पुस्तक प्रत्येक मनुष्यके मनन करने योग्य है।

यह पुस्तक हालहीमें प्रकाशित हुई है। एक प्रति खरीदकर आनन्द उठाइये।

२—वेदान्त-छन्दावली (सचित्र)

पृष्ठ संख्या ७५, छपाई साफ और सुन्दर, मूल्य केवल =)॥

हाथों हाथ दो संस्करण छप गये।

इसमें बाबाजीके आध्यात्मिक विचार और वेदान्तके विचारणीय प्रश्न और उपदेश हैं, जिनको समझकर दुःख और शोकसे छुटकारा पा सकते हैं। पुस्तक बोलचालकी साधारण भाषाकी कवितामें लिखी गयी है इससे सबकी समझमें आने योग्य है। आरम्भमें श्रीशुकदेवजीका सुन्दर चित्र है। कुछ कविताओंके नाम देखिये—

(१) हो जा अजर ! हो जा अमर ! (२) सुखसे विचर ! (३) आश्चर्य है ! आश्चर्य है !! (४) सब हानि-लाभ समान हैं ! (५) बस, आपमें लवलीन हो। (६) छोड़ूँ किसे पकड़ूँ किसे ? (७) बन्धन यही कहलाय है। (८) ममता-अहंता छोड़ दे (९) मत भोगमें आसक्त हो (१०) यह ही परम पुरुषार्थ है (११) सोचका क्या काम है ? आदि।

मंगलाचरणसहित ३६ कविताएँ हैं। ८००० छप चुकी है।

एक सम्मति—

'स्वामीजीने यह पुस्तक इस उद्देश्यसे लिखी है कि सभी वर्ण-आश्रमके स्त्री-पुरुषोंके लिये एक वेदान्त-प्रतिपादक छोटा-सा पद्यात्मक ग्रन्थ सुलभ हो जावे। " ...... " प्रत्येक पद्यकी भाषा बड़ी सरल, सरस और सारगर्भित है। वेदान्तपर ऐसी अच्छी और छोटी पुस्तक हमारे देखनेमें अभीतक नहीं आयी थी। प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषीको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। अवधूत-शिरोमणि श्रीशुकदेवजीका भी एक सुन्दर चित्र इस पुस्तकमें दिया गया है, कागज, छपाई आदि उत्तम हैं।'

—देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०

लेखक—चतुर्वेदी प० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा, साहित्यभूषण एम० आर० ए० एस०, पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी।

भागवतरत्न प्रह्लाद (सचित्र)

पृष्ठ ३४०, एण्टिक कागज, सुन्दर साफ छपाई, ३ रंगीन और ४ सादे चित्र, भाषा सरल और अक्षर बड़े सबके पढ़ने योग्य, मूल्य केवल १) सजिल्द १।) हालहीमें छपा है।

ऐसा कौन हिन्दू है जो भक्तरत्न श्रीप्रह्लादजीका पावन-चरित्र सुनकर एक बार प्रेमसे पुलकित न हो उठे ? उनके चरित्रमें जो बात है वह अन्यत्र कहीं नहीं। उनके प्रेमसे स्वयं भगवान्‌को आग, पानी और पत्थरमें भी प्रकट होना पड़ा। भगवान् और भक्तोंकी लीला देखने, सुनने, पढ़नेसे मन-प्राण पवित्र हो जाते हैं। यह पावन-चरित्र हम माँ, बहिन, बेटी, भाई, भौजाई और बाल-बच्चे सबके हाथोंमें बिना किसी प्रकारके सङ्कोचके पढ़नेके लिये दे सकते हैं। यदि हमारे सामने सदा प्रह्लादका-सा आदर्श रहे तो हम कितने उन्नत हो सकते हैं !

यह चरित्र बहुत प्रामाणिकरूपसे अनेक प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थों और इतिहास एवं भूगोल-शास्त्रके आधारपर लिखा गया है। इस विषयकी इतनी प्रामाणिक खोजपूर्ण पुस्तक हमारी समझसे दूसरी नहीं लिखी गयी। यह चरित्र पढ़ते-पढ़ते आपमें आत्म-विचार, भगवान्‌की परम दयापर श्रद्धा और सच्चे 'सत्याग्रह' के भाव उत्पन्न होंगे।

(७) पाञ्चरात्र और देवर्षि नारद—पाञ्चरात्रकी नारद संहिता—पाञ्चरात्रकी प्राचीन परम्परा और उसका संक्षिप्त विवरण ।

(८) देवर्षि नारदजीके ज्योतिष सम्बन्धी अपूर्व विचार —त्रिस्कन्ध ज्योतिषकी प्राचीनता—समस्त आर्य ज्योतिषपर देवर्षि नारदके ज्योतिर्ज्ञानकी छाया ।

(९) महाभारतकालमें देवर्षि नारदका महत्त्व—देवर्षि नारदके राजनीतिक विचार—नारदजी द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको प्रश्नके बहाने उपदेश ।

(१०) देवर्षि नारदके आध्यात्मिक विचार—शुकदेवजीको ज्ञानोपदेश ।

(११) भक्तिका नारदजी द्वारा संसार-व्यापी प्रचार, तुलसीकृत रामायण और भक्ति-सूत्र—भिन्न भिन्न भक्ति सूत्रोंमें भक्तिके भिन्न भिन्न लक्षण ।

(१२) देवर्षि नारद और सामान्य मानव धर्म—सनातन धर्मके तीस लक्षण—गार्हस्थ्य-जीवनमें परम धर्म-पालनपर नारदीय उपदेश । इत्यादि इत्यादि ।

ऐसा एक भी हिन्दू न होगा, जिसने नारदजीका नाम न सुना हो । इस गम्भीर पुस्तकको पढ़कर नारदजीका यह यथार्थ परिचय मिलता है कि वे आपसमें लोगोंको लड़ाने भिड़ानेवाले नहीं, पर तारनेवाले हैं । हाँ, उनके मार्ग नाना प्रकारके हैं ।

इसके लेखोंके नमूने "कल्याण" के वर्ष ६ के मार्गशीर्ष और माघके अंकोंमें निकल चुके हैं । श्रीनारदजीकी जीवनी अभीतक और कहींसे भी प्रकाशित नहीं हुई है । एक पुस्तक मँगवाकर लाभ उठाइये ।



सचित्र

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड१)

(लेखक— श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

श्रीचैतन्यदेवकी इतनी बड़ी सविस्तर जीवनी अभी तक हिन्दीमें कहीं नहीं छपी । भगवान् और उनके भक्तों-के गुणगानसे भरी हुई इस जीवनीको पढ़कर सभी सज्जन लाभ उठावें । इसकी भाषा सुन्दर है । छपाई उत्तम है । वर्णन सरस है । श्रीचैतन्यदेवकी लीलाओंके विषयमें तो कहना ही क्या ? जिन्होंने एक बार भी थोड़ी सुनी है, उनका चित्त ही जानता है ।

सम्पूर्ण पुस्तक पाँच खण्डोंमें समाप्त होगी । पहला खण्ड तैयार है । इस खण्डमें ३८ अध्याय और ४० विषय हैं, सुन्दर ६ रंगीन चित्र हैं । पृष्ठ-संख्या ३६०, एण्टिक कागज, बढ़िया छपाई, मूल्य ॥=) मात्र सजिल्द१=) ।

दूसरा खण्ड भी छप रहा है । इन्हें पढ़कर लाभ उठानेकी प्रार्थना है ।

श्रीमद्भागवतान्तर्गत

एकादश स्कन्ध

(सचित्र-सटीक)

भगवान् व्यासजीको भी शान्ति देनेवाले इस महत्वपूर्ण पुराणको कौन नहीं जानता ? भागवतमें दशम और एकादश स्कन्ध सर्वोपरि हैं। एकादश स्कन्धके उपदेशोंमेंसे कुछको भी काममें लानेसे जीवन सफल हो सकता है। भागवत-जैसे शान्तिदायक ग्रन्थके लिये अधिक क्या लिखा जाय ?

इसको प्रेमसे पढ़कर लाभ उठाइये। सुन्दर छपाई, एंटिक कागज, लगभग ४२० पेजकी पुस्तकका दाम केवल ॥|) मात्र है, सजिल्द १)

श्रीशंकराचार्यजीकी पुस्तकें

श्रीमद्भगवद्गीता

शांकरभाष्य और उसके हिन्दी-अनुवाद-सहित, मू० २॥) सजिल्द २॥|) (देखिये सूचीका १ ला पृष्ठ)

विवेक-चूडामणि

अनुवादक—श्रीमुनिलाल

मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित -श्रीशंकराचार्य-जीका एक चित्र भी लगाया गया है।

इस प्रसिद्ध परमार्थ विषयक उपयोगी ग्रन्थका यह २२४ पृष्ठोंका सस्ता संस्करण केवल ।≡) सजिल्द ॥≈) में निकाला गया है।

विवेक-चूडामणिपर कुछ सम्मतियाँ

……यह हिन्दी-अनुवाद-सहित उत्तम पुस्तक मुमुक्षु पुरुषोंके अत्यन्त लाभकी चीज है। —भक्ति, मासिक)

………अनुवाद अच्छा है… । —श्रीवासुदेवशरणजी

…… ''विवेक-चूडामणि निकालकर''……वह काम किया जो शायद और किसीसे कदापि इस तरह न हो सकता। भाई मेरे, विवेक-चूडामणि तो मेरे कण्ठका हार है। आपकी पुस्तक सदा मेरे हाथके पास ही रहेगी।

—आचार्य श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी

प्रश्नोत्तरी सटीक

संस्करण तीसरा, २०००० छप चुकी है।

स्वामी श्रीशंकराचार्यजीकी प्रश्नोत्तरी प्रसिद्ध है। इसमें उसीके मूल श्लोक और अनुवाद हैं। टीका प्रश्न और उत्तरके रूपमें बड़े सुन्दर ढंगसे सजायी गयी है, बड़ी उपादेय पुस्तक है। मू०)॥

प्रबोध-सुधाकर (हिन्दी-अनुवाद-सहित)

सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य ≶)॥, मोटे अक्षर सुन्दर छपायी।

इस छोटे-से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें विषय-भोगोंकी तुच्छता दिखाते हुए, मनको वशमें करनेके उपाय बताते हुए, आत्मसिद्धिके उपाय बताये गये हैं। सुगम साधनसे भगवान्‌के साकार और निराकार ध्यानका बड़ा सुन्दर वर्णन है। भगवान्‌का सुन्दर चित्र भी है।

कुछ सम्मतियाँ

…प्रबोध-सुधाकरका अनुवाद अच्छा है।…

—श्रीवासुदेवशरणजी

…प्रबोध-सुधाकरमें श्रीआद्यशंकराचार्यजीके मुख्य सिद्धान्त हैं।…उसका सरल हिन्दीमें अनुवाद किया है। पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। —जगदीश झा 'विमल'

कैलासवासी शंकराचार्य महाराजके सागर-से सिद्धान्तों-को इस छोटी-सी गागरमें भर दिया है। देह और विषयोंमें आसक्ति न रखते हुए मनोनिग्रह कितना आवश्यक है यह इस पुस्तकमें समझाया गया है।…भाषान्तर सरल होनेसे गुजराती भी पढ और समझ सकते हैं।

—मुम्बई समाचार (गुजराती दैनिक)

अपरोक्षानुभूति

मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित, श्रीउड़िया-स्वामीजीका एक चित्र भी लगाया गया है।

यह वेदान्तकी छोटी-सी सुन्दर विचारणीय पुस्तिका है। छपाई साफ सुन्दर है, टाइटल भी मनोहर है। मूल्य केवल ≈)॥

चित्र

छोटे, बड़े रंगीन और सादे चित्र

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीशिवके दिव्य दर्शन।

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें, वह वस्तु हमारे लिये संग्रहणीय है। किसी भी उपायसे हमें भगवान् सदा स्मरण होते रहें तो हमारा धन्य भाग हो। भक्त और भगवान्‌के स्वरूप एवं उनकी मधुर मोहिनी लीलाओंके सुन्दर दृश्य चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत् स्मरणमें लग जाता है और हम सांसारिक पाप तापोंको भूल जाते हैं।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। इनका संग्रह कर प्रेमसे जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्‌को याद कर अपने मन प्राणको प्रफुल्लित कीजिये। भगवान्‌की मोहिनी मूर्तिका ध्यान कीजिये।

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

विश्व विमोहन श्रीकृष्णका (तिरंगा) बड़ा चित्र, मूल्य ।=)

कागज साइज १८ इञ्च चौड़ा, २२ इञ्च लम्बा।

चित्र साइज १५॥ इञ्च चौड़ा, १६॥ इञ्च लम्बा।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय पैकिंग सहित ॥।=) लगता है, २ का १।-) ३ का १॥) [जीनमें १=॥।) सैकड़ा कमीशन दी गयी है] ६ लेनेमें २५% कमीशन और १२ लेनेमें ५०% कमीशन दी जायगी। डाकखर्च आदि ग्राहकका लगेगा। इकट्ठे मँगानेमें सुभीता रहेगा।

१५×२० इञ्चके बड़े रंगीन चित्र, दाम प्रत्येकका =)॥ मात्र

श्रीचैतन्यके हरिनाम संकीर्तनका चित्र—बढ़िया आर्टपेपरपर ११॥×१३॥ इञ्चके ब्लाकसे छापा गया है। कीर्तनका बड़ा सुन्दर छपा हुआ चित्र है।

श्रीराम चतुष्टय—११॥×१४॥ इञ्चके ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर बहुत सुन्दर सीधा छपा हुआ चित्र है।

श्रीनन्दनन्दन—यह भी ११॥×१४। इञ्चके बड़े ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर सीधा चित्र है।

कमीशन ६ लेनेमें २५%, १२ पर ५०%, पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग।

कागजका साइज १० इञ्च चौड़ा १५ इञ्च लम्बा (छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे गये हैं)

बहुरंगे चित्र, दाम प्रत्येकके)॥।

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीराम रूपमें)
सदाप्रसन्न राम
कमल-लोचन राम
श्रीरामावतार
भगवान् श्रीरामकी बाल-लीला
भगवान् श्रीराम और काक-भुशुण्डि
अहल्योद्धार
परशुराम-राम
श्रीसीताराम
कौशल्या-भरत
श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका गंगा पार होना
श्रीरामके चरणोंमें भरत
कैकेयीकी क्षमा-याचना
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
श्रीसीताजीके गहने
सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
सीताजीकी अग्नि-परीक्षा
मारुति-प्रभाव
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
विश्व-विमोहन श्रीकृष्ण
श्रीश्यामसुन्दर
श्रीनन्दनंदन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
जगमोहन
गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
मोहन
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
दर्शन-भिक्षा
तृणावर्त-उद्धार
श्रीकृष्ण-कलेवा
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-सेवक श्रीकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
भव-सागरसे उद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन

राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
सेवक श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
सारथि श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
जयद्रथ-वध
संहार-लीला
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
श्रीविष्णु
भगवान्-मत्स्यरूपमें
भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान्-वाराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें

भगवान्-परशुरामरूपमें
भगवान्-बुद्धरूपमें
भगवान्-कल्किरूपमें
भगवान्-ब्रह्मा रूपमें
भगवान्-श्रीविष्णुरूपमें
भगवान्-श्रीशिवरूपमें
भगवान्-दत्तात्रयरूपमें
भगवान्-सूर्यरूपमें
भगवान्-गणपतिरूपमें
भगवान्-अग्निरूपमें
भगवान्-शक्तिरूपमें
श्रीगायत्री देवी
दास भक्त हनुमानजी
विश्वासी भक्त ध्रुव
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अर्जुन शस्त्रागारमें
दानवीर कर्ण
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
प्रेमी भक्त-सूरदासजी
गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी-भक्त रसखान
ऋषि-आश्रम

एकरंगे चित्र, दाम प्रत्येकका)॥

आदर्श वैश्य नन्दजी
शिशु-लीला
शकटासुर-उद्धार
नल-कूबर-कृत स्तुति
नवनीत-वितरण
वन-भोजन
कालियनागपर कृपा
दावानल
गोवर्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीलाडलीलालजी
कुवलयापीड-उद्धार

कंस-उद्धार
भगवान् श्रीकृष्ण और जिज्ञासु भक्त उद्धव
श्रीकृष्ण-द्रौपदी
फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण
धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण
भक्त-भजनकारी श्रीकृष्ण
उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
योगेश्वर श्रीकृष्ण
भगवान्की शरणागतिसे सबका उद्धार

भगवान् विभूतिमें
भक्तोद्धारक भगवान्
विश्वामित्रकी राम-भिक्षा
अहल्योद्धार
सोहै राम-सियाकी जोरी
श्रीराम और केवट
सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद
राम-विलाप
शरणागत भक्त विभीषण
सीता-वनवास
रामायण-शिक्षा
सीताका पाताल-प्रवेश

देवर्षि नारदको व्याध (वाल्मीकि) बाँध रहा है
धन्विक भीलको भगवद्दर्शन
भक्त-सुधन्वा
श्रीश्रीनित्यानन्द हरिदासका नाम-वितरण
शरणागत भक्त सूरदासजी
परम भक्तिमती मीराबाई
सन्त तुकाराम
मालीमें (फूल-फूलमें भगवान्)

बहुरंगे चित्र, कागजका साइज ५×७॥ इञ्च, दाम प्रत्येकके)॥

नृसिंह भगवान्
विष्णु भगवान्
शेषशायी
व्रज-नव-युवराज

चित्र

छोटे, बड़े रंगीन और सादे चित्र

श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीशिवके दिव्य-दर्शन।

जिसको देखकर हमें भगवान् याद आवें, वह वस्तु हमारे लिये संग्रहणीय है। किसी भी उपायसे हमें भगवान्‌का सदा स्मरण होते रहें तो हमारा धन्य भाग हो। भक्तों और भगवान्‌के स्वरूप एवं उनकी मधुर मोहिनी लीलाओंके सुन्दर दृश्य चित्र हमारे सामने रहें तो उन्हें देखकर थोड़ी देरके लिये हमारा मन भगवत्-स्मरणमें लग जाता है और हम सांसारिक पाप-तापोंको भूल जाते हैं।

ये सुन्दर चित्र किसी अंशमें इस उद्देश्यको पूर्ण कर सकते हैं। इनका संग्रह कर प्रेमसे जहाँ आपकी दृष्टि नित्य पड़ती हो, वहाँ घरमें, बैठकमें और मन्दिरोंमें लगाइये एवं चित्रोंके बहाने भगवान्‌को यादकर अपने मन-प्राणको प्रफुल्लित कीजिये। भगवान्‌की मोहिनी मूर्तिका ध्यान कीजिये।

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

विश्व विमोहन श्रीकृष्णका (तिरंगा) बड़ा चित्र, मूल्य ।=)

कागज साइज १८ इञ्च चौड़ा, २२ इञ्च लम्बा।

चित्र साइज १५॥ इञ्च चौड़ा, १६॥ इञ्च लम्बा।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। एक मँगानेपर मूल्य, डाकव्यय-पैकिंग-सहित ॥।=) लगता है, २ का ११-) ३ का ३॥) [मोलमें १८॥) सैकड़ा कमीशन दी गयी है] ६ लेनेसे २५% कमीशन और १२ लेनेसे ५०% कमीशन दी जायगी। डाकखर्च आदि ग्राहकका लगेगा। इकट्ठे मँगानेमें सुभीता रहेगा।

१५×२० इञ्चके बड़े रंगीन चित्र, दाम प्रत्येकका ≠)॥ मात्र

श्रीचैतन्यके हरिनाम संकीर्तनका चित्र—बढ़िया आर्टपेपरपर ११॥×१३॥ इञ्चके ब्लाकसे छापा गया है। कीर्तनका बड़ा सुन्दर छपा हुआ चित्र है।

श्रीराम-चतुष्टय—११॥×१४॥ इञ्चके ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर बहुत सुन्दर सीधा छपा हुआ चित्र है।

श्रीनन्दनन्दन—यह भी ११॥×१४। इञ्चके बड़े ब्लाकसे बढ़िया आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर सीधा चित्र है।

कमीशन ६ लेनेसे २५%, १२ पर ५०%, पैकिंग, डाकखर्च आदि अलग।

कागजका साइज १० इञ्च चौड़ा, १५ इञ्च लम्बा (छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे गये हैं)

सुनहरी चित्र, दाम -)॥ प्रति चित्र

युगलछवि   तन्मयता

बहुरंगा चित्र, दाम -) प्रति चित्र

कौशल्या-नारायण	मुरली-मनोहर	श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु	पवन-कुमार
अहल्योद्धार	गोपीकुमार	देवदेव भगवान् महादेव	श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
भक्त मनचोर	जगद्गुरु श्रीकृष्ण	शिवजीकी विचित्र बरात	राम जटायु (दोरंगा))॥।
वृन्दावन-विहारी	कौरव-सभामें विराट् रूप	शिव परिछन	रामसियाकी जोरी सादा)॥।
गोपाल कृष्ण	श्रीकृष्णार्जुन	ध्रुव-नारायण	कर नवनीत लिये „)॥।

कागजका साइज ७॥×१० इञ्च,

सुनहरी चित्र -)। प्रति चित्र

श्रीरामपञ्चायतन	चरणपादुका-पूजन	वेणुधर
श्रीराम-सीता पुष्प वाटिकामें	बँधे नटवर	बाबा भोलेनाथ

बहुरंगे चित्र, दाम प्रत्येकका)॥

श्रीरामचतुष्टय (भगवान् श्रीराम रूपमें)
सदाप्रसन्न राम
कमल-लोचन राम
श्रीरामावतार
भगवान् श्रीरामकी बाल-लीला
भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
अहल्योद्धार
परशुराम-राम
श्रीसीताराम
कौशल्या-भरत
श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजीका गंगा पार होना
श्रीरामके चरणोंमें भरत
कैकेयीकी क्षमा-याचना
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
श्रीसीताजीके गहने
सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
सीताजीकी अग्नि-परीक्षा
मारुति-प्रभाव
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण
विश्व-विमोहन श्रीकृष्ण
श्रीश्यामसुन्दर
श्रीनन्दनंदन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
जगन्नाथ
गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
मोहन
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
दर्शन-भिक्षा
तृणावर्त-उद्धार
श्रीकृष्ण-कलेवा
वात्सल्य
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-सेवक श्रीकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
भव-सागरसे उद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार
कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन

राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
सेवक श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
सारथि श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
जयद्रथ-वध
संहार-लीला
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
नृग-उद्धार
परमधाम-गमन
श्रीविष्णु
भगवान्-मत्स्यरूपमें
भगवान्-कूर्मरूपमें
भगवान्-बाराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान्-वामनरूपमें

भगवान्-परशुरामरूपमें
भगवान्-बुद्धरूपमें
भगवान्-कल्किरूपमें
भगवान्-ब्रह्मा रूपमें
भगवान्-श्रीविष्णुरूपमें
भगवान्-श्रीशिवरूपमें
भगवान्-दत्तात्रयरूपमें
भगवान्-सूर्यरूपमें
भगवान्-गणपतिरूपमें
भगवान्-अग्निरूपमें
भगवान्-शक्तिरूपमें
श्रीगायत्री देवी
दास भक्त हनुमानजी
विश्रामी भक्त ध्रुव
गुरु द्रोणाचार्य
भीष्मपितामह
अर्जुन शस्त्रागारमें
दानवीर कर्ण
अजामिल-उद्धार
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
प्रेमी भक्त-सूरदासजी
गोस्वामी तुलसीदासजी
मीरा (कीर्तन)
मीराबाई (जहरका प्याला)
प्रेमी-भक्त रसखान
ऋषि-आश्रम

एकरंगे चित्र, दाम प्रत्येकका)॥

आदर्श वैश्य नन्दजी
शिशु-लीला
शकटासुर-उद्धार
नल-कूबर-कृत स्तुति
नवनीत-वितरण
वन-भोजन
कालियनागपर कृपा
दावानल
गोवर्धन-धारण
श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा
श्रीलाडलीलालजी
कुवलयापीड-उद्धार

कंस-उद्धार
भगवान् श्रीकृष्ण और जिज्ञासु भक्त उद्धव
श्रीकृष्ण-द्रौपदी
फल-पत्र-भोजी श्रीकृष्ण
धर्म-तत्त्वज्ञ श्रीकृष्ण
भक्त-भजनकारी श्रीकृष्ण
उत्तरा-गर्भ-रक्षक श्रीकृष्ण
योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण
योगेश्वर श्रीकृष्ण
भगवान्की शरणागतिसे भवका उद्धार

भगवान् विभूतिमें
भक्तोद्धारक भगवान्
विश्वामित्रकी राम-भिक्षा
अहल्योद्धार
सोहे राम-सियाकी जोरी
श्रीराम और केवट
सुतीक्ष्णका प्रेमोन्माद
राम-विलाप
शरणागत भक्त विभीषण
सीता-वनवास
रामायण-शिक्षा
सीताका पाताल-प्रवेश

देवर्षि नारदको व्याध (वाल्मीकि) बाँध रहा है
वञ्चिक भीलको भगवद्दर्शन
भक्त-सुधन्वा
श्रीश्रीनित्यानन्द हरिदासका नाम-वितरण
शरणागत भक्त सूरदासजी
परम भक्तिमती मीराबाई
सन्त तुकाराम
मालीसे (फुल-फूलमें भगवान्)

बहुरंगे चित्र, कागजका साइज ५×७॥ इञ्च, दाम प्रत्येकके)॥

नृसिंह भगवान्
विष्णु भगवान्
शेषशायी
व्रज-नव-युवराज

२२२, चित्र सुनहरी ५, बहुरंग १६, सादे १७५००। मूल्य डाक महसूल सहित २॥=) है।

सम्मतियाँ—

हिन्दीमिलाप (दैनिक) जो सुन्दर और विद्वत्ता पूर्ण लेख लिख गये हैं उनके पाठसे सब लोग ही लाभ उठा सकते हैं। उनका भाव श्रीकृष्णके प्रति और भी दृढ़ हो सकता है। हिन्दू शास्त्र और धर्म ग्रन्थोंके उच्च श्रेणीके भावोंका पता लग सकता है। * * हम चाहते हैं कि हमारे नवयुवक विशेषरूपसे इधर अधिक ध्यान दें हमें पूर्ण विश्वास है कि उनके लिये 'श्रीकृष्णांक' के अमूल्य लेख बहुत सहायक हो सकते हैं।

PIONEER The articles and peoms togather number hundreds by a large number of writers including men like Pandit Madan Mohan Malaviya Many of the articles are very good and readable The illustrations are all very beautiful and in themselves amply repay the price of the annual

SEARCH LIGHT is full of very interesting and informing articles containing new ideas and new interpretations of the various aspects of life and teaching of Lord Shri Krishna In short it is an excellent publication in every way we commend it to all interested in study of the life and the teachings of Lord Shri Krishna

केसरी (मराठी अर्धसाप्ताहिक)—यांत श्रीकृष्ण चरित्रा विषयीं अमुक विषय आला नाहीं असें सहसा झालेंच नाहीं 'कल्याण' मासिकानें श्रीकृष्णचरित्राचा जो सुधासागर निर्माण केला आहे त्यांत महाराष्ट्रीयांनींहि थोडीफार भर घातली आहे। अङ्क समाद्य आहे।

कर्मवीर (साप्ताहिक) हिन्दीमें यह पत्र अपने ढंगका अनूठा है। विशेषता यह है कि इसमें विज्ञापन नहीं छापे जाते। हिन्दी भावी भक्त, पाठकों और प्रेमियोंको कृष्ण प्रेमका एक मधुर खजाना देता है।

NEW INDIA (Edited by Annie Besant) The number is a veritable mine of useful information original interpretation and healthy instruction and will serve as a handy reference-book concerning the many aspects of the Divine Man and His message

---

केवल दो-तीन सप्ताहमें प्रकाशित होनेवाली

नयी पुस्तकें

(१) श्रीएकनाथ चरित्र

(सचित्र)

लेखक—श्रीहरि भक्ति परायण प० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, भाषान्तरकार श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे।

हिन्दीमें एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक हमने नहीं देखी। यह एक परम भागवतका प्रसिद्ध लोकप्रिय पावन चरित्र पढ़कर उनके उपदेश सुनकर पवित्र होइये। मूल्य लगभग ॥) आठ आनामात्र, छपाई सफाई सुन्दर, मोटा एण्टिक कागज।

(२) श्रीरामकृष्ण परमहंस

(सचित्र)

लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी।

परमहंसदेवका नाम भारतवर्षमें ही नहीं संसारके अनेक भागोंमें प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञान भरे उपदेशोंका संग्रह है। छपाई साफ सुन्दर, मूल्य लगभग ।=), मोटा एण्टिक कागज।

यह भी छप रही हैं

(३) ज्ञानयोग—सन्त श्रीभवानीशङ्करजी महाराजके ज्ञानयोग सम्बन्धी उपदेश।

(४) श्रुति-रत्नावली—श्रीभोलेबाबाजीद्वारा संग्रहीत श्रुतियोंकी अर्थसहित बड़ी ही सुन्दर, संग्रहणीय पुस्तिका है। श्रुतियोंकी एक अकारादि सूची भी लगायी जायगी।

(५) श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २) आदि आदि।

श्रीहरिः

ईश्वरकी प्राप्तिमें चार बड़े विघ्न

१—मांसाहार, २—खर्चीला जीवन, ३—विद्याका मद, ४—श्रद्धाका अभाव

१—मांसाहारी सब जीवोंमें कभी भगवान्‌को व्यापक नहीं देख सकता, मांस-लोलुप निर्दय हो जाता है, इससे वह ईश्वरकी दयाका अधिकारी नहीं होता। मांसाहारीका स्वास्थ्य खराब रहता है, जिससे वह भजन नहीं कर सकता। मांसाहारीकी चित्तवृत्तियाँ तामसिक रहती हैं, जिससे वह भगवान्‌में नहीं लग सकतीं। अतएव मांसाहारका सर्वथा त्याग करो।

२—खर्चीला और विलासी जीवन पापका घर है। जो अधिक खर्च करता है और शौकका सामान जुटानेमें लगा रहता है, उसे दिन-रात धनकी चिन्तामें ही जीवन बिताना पड़ता है, कहीं भूलेभटके सत्संग या अच्छे स्थानमें चला जाता है तो वहाँ भी धनकी ही बात सोचता है। अतएव सादा-सीधा जीवन बिताओ और बहुत ही कम खर्च करो।

३—विद्याका मद मनुष्यको सरल सन्तोंकी वाणीमें विश्वास नहीं करने देता, वह शास्त्रार्थ और दूसरेकी उक्तियोंके खण्डनमें ही जीवन बितानेको बाध्य करता है, नम्रतासे किसी भी अच्छी शिक्षाको ग्रहण नहीं करने देता। अतएव विद्याका घमण्ड छोड़कर जीवनको उन्नत बनानेवाली शास्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करो।

४—श्रद्धाका अभाव मनुष्यको सर्वथा ईश्वर-विमुख कर देता है। कारण सबसे पहले परमात्मामें विश्वास करनेके लिये शास्त्रवचन और आप्तवाक्यमें श्रद्धा करनी पड़ती है। विश्वास किये बिना प्राप्तिका साधन नहीं होता और साधन बिना प्राप्ति नहीं होती। अतएव शास्त्र, संत और आत्मापर विश्वास करो।

/२२२, चित्र सुनहरी ५, बहुरंगे १६, सादे मूल्य डाक-महसूल-सहित २॥≈) है ।
/१७५०० ।

सम्मतियाँ—

हिन्दीमिलाप (दैनिक)…………जो सुन्दर और विद्वत्ता-पूर्ण लेख लिखे गये हैं उनके पाठसे सब लोग ही लाभ उठा सकते हैं । उनका भाव श्रीकृष्णके प्रति और भी दृढ़ हो सकता है । हिन्दू-शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थोंके उच्च श्रेणीके भावोंका पता लग सकता है ।…………हम चाहते हैं कि हमारे नवयुवक विशेषरूपसे इधर अधिक ध्यान दें…… हमें पूर्ण विश्वास है कि उनके लिये 'श्रीकृष्णांक' के अमूल्य लेख बहुत सहायक हो सकते हैं ।

PIONEER…. ….The articles and peoms togather number hundreds, by a large number of writers, including men like Pandit Madan Mohan Malaviya. Many of the articles are very good and readable,… The illustrations are all very beautiful and in themselves amply repay the price of the annual.

SEARCH LIGHT……is full of very interesting and informing articles containing new ideas and new interpretations of the various aspects of life and teaching of Lord Shri Krishna………In short it is an excellent publication in every way…… we commend it to all interested in study of the life and the teachings of Lord Shri Krishna.

केसरी (मराठी अर्धसाप्ताहिक)—यांत श्रीकृष्ण-चरित्रा विषयीं अमुक विषय आला नाहीं असें सहसा झालेंच नाहीं……'कल्याण' मासिकानें श्रीकृष्णचरित्राचा जो सुधा-सागर निर्माण केला आहे त्यांत महाराष्ट्रीयांनीहि थोडीफार भर घातली आहे ।……अङ्क संग्राह्य आहे ।

कर्मवीर (साप्ताहिक) हिन्दीमें यह पत्र अपने ढंगका अनूठा है । विशेषता यह है कि इसमें विज्ञापन नहीं छापे जाते ।……हिन्दी भाषी भक्तों, पाठकों और प्रेमियोंको कृष्ण-प्रेमका एक मधुर खजाना देता है ।

NEW INDIA (Edited by Annie Besant) ……The number is a veritable mine of useful information, original interpretation and healthy instruction, and will serve as a handy reference-book concerning the many aspects of the Divine Man and His message

---

केवल दो-तीन सप्ताहमें प्रकाशित होनेवाली

नयी पुस्तकें

(१) श्रीएकनाथ चरित्र

(सचित्र)

लेखक—श्रीहरि-भक्ति-परायण पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, अनुवादकर्त्ता श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे ।

हिन्दीमें एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक हमने नहीं देखी । यह एक परम भागवतका प्रसिद्ध लोकप्रिय पावन चरित्र पढ़कर उनके उपदेश सुनकर पवित्र होइये । मूल्य लगभग ॥) आठ आनामात्र, छपाई-सफाई सुन्दर, मोटा एण्टिक कागज ।

(२) श्रीरामकृष्ण परमहंस

(सचित्र)

लेखक—स्वामी श्रीचिदात्मानन्दजी ।

परमहंसदेवका नाम भारतवर्षमें ही नहीं संसारके अनेक भागोंमें प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञान-भरे उपदेशोंका संग्रह है । छपाई साफ सुन्दर, मूल्य लगभग ।≈), मोटा एण्टिक कागज ।

यह भी छप रही हैं

(३) ज्ञानयोग—सन्त श्रीभवानीशङ्करजी महाराजके ज्ञानयोग सम्बन्धी उपदेश ।

(४) श्रुति-रत्नावली—श्रीभोलेबाबाजीद्वारा संग्रहीत श्रुतियोंकी अर्थसहित बड़ी सुन्दर, संग्रहणीय पुस्तिका है । श्रुतियोंकी एक अकारादि सूची भी लगायी जायगी ।

(५) श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २) आदि आदि ।

श्रीहरिः

ईश्वरकी प्राप्तिमें चार बड़े विघ्न

१—मांसाहार, २—खर्चीला जीवन, ३—विद्याका मद, ४—श्रद्धाका अभाव

१—मांसाहारी सब जीवोंमें कभी भगवान्‌को व्यापक नहीं देख सकता, मांस-लोलुप निर्दय हो जाता है, इससे वह ईश्वरकी दयाका अधिकारी नहीं होता। मांसाहारीका स्वास्थ्य खराब रहता है, जिससे वह भजन नहीं कर सकता। मांसाहारीकी चित्तवृत्तियाँ तामसिक रहती हैं, जिससे वह भगवान्‌में नहीं लग सकतीं। अतएव मांसाहारका सर्वथा त्याग करो।

२—खर्चीला और विलासी जीवन पापका घर है। जो अधिक खर्च करता है और शौकका सामान जुटानेमें लगा रहता है, उसे दिन-रात धनकी चिन्तामें ही जीवन बिताना पड़ता है, कहीं भूलेभटके सत्संग या अच्छे स्थानमें चला जाता है तो वहाँ भी धनकी ही बात सोचता है। अतएव सादा-सीधा जीवन बिताओ और बहुत ही कम खर्च करो।

३—विद्याका मद मनुष्यको सरल सन्तोंकी वाणीमें विश्वास नहीं करने देता, वह शास्त्रार्थ और दूसरेकी उक्तियोंके खण्डनमें ही जीवन बितानेको बाध्य करता है, नम्रतासे किसी भी अच्छी शिक्षाको ग्रहण नहीं करने देता। अतएव विद्याका घमण्ड छोड़कर जीवनको उन्नत बनानेवाली शास्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण करो।

४—श्रद्धाका अभाव मनुष्यको सर्वथा ईश्वर-विमुख कर देता है। कारण सबसे पहले परमात्मामें विश्वास करनेके लिये शास्त्रवचन और आप्तवाक्यमें श्रद्धा करनी पड़ती है। विश्वास किये बिना प्राप्तिका साधन नहीं होता और साधन बिना प्राप्ति नहीं होती। अतएव शास्त्र, संत और आत्मापर विश्वास करो।